नवजागरण हुआ
ौर राष्ट्रभक्ति की
धर्म, संस्कृति तथा
आ है; और भारत
कुछ श्रेय महर्षि
ाज को दिया जाना
एक सशक्त
का कार्यक्षेत्र किसी
ो सीमित नहीं है।
—सब वर्गों के लोग
त तथा विदेशों में
पाँच हजार से
लगभग
ार्यसमाज द्वारा
में प्रकाशित किया
स्तृत इतिहास
और उसमें महर्षि
ोगदान का सजीव
हास की वैज्ञानिक

हावसान के समय
ी कुल संख्या ८६
ाल में ५५०० के
बाहर मॉरीशस,
ाना, दक्षिणी अफ्रीका,
ड आदि देशों में भी
त हैं। आर्यसमाज का
किस प्रकार हुआ,
चारकों ने महर्षि
ों का देश-विदेश में
माज कैसे एक
न बन गया—इसी
'इतिहास के इस

71

15.1





आर्यसमाज का इतिहास

द्वितीय भाग

(आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार सन् १८८३ से सन् १९४७ तक)

प्रधान सम्पादक

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार, विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड, डी. लिट्.

भूतपूर्व वाइस-चान्सलर व प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार

लेखक

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार, डी. लिट्.

(अध्याय १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, १८, १९, २०, २१, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०)

तथा

प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार, एम. ए.

भूतपूर्व प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार

(अध्याय ९, १०, ११, १२, १३, १४, १६, १७, २२)

तथा

डाक्टर भवानीलाल भारतीय, एम. ए., पी-एच. डी.

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द पीठ, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

(अध्याय १५)

आर्य स्वाध्याय केन्द्र

ए-१/३२, सफदरजंग एन्क्लेव, नयी दिल्ली-२९

प्रकाशक :
आर्य स्वाध्याय केन्द्र
ए-१/३२, सफदरजंग एन्क्लेव,
नयी दिल्ली-११००२६
दूरभाष ६०१५३६

इतिहास की सामग्री के प्रधान समाहर्ता (संग्रहकर्ता)
ब्रह्मचारी नन्द किशोर विद्यावाचस्पति एम. ए.
सार्वदेशिक दयानन्द संन्यास-वानप्रस्थ मण्डल
गीता आश्रम, ज्वालापुर (हरद्वार)

प्रथम संस्करण : सन् १९८४
मूल्य : १००.०० रुपये

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२
(भारत)

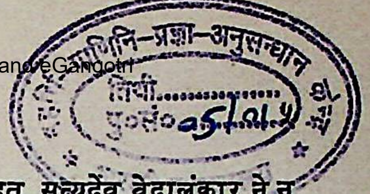


निवेदन

गत डेढ़ शताब्दी में भारत में जो नवजागरण हुआ है; स्वराज्य, स्वदेशी, देश-प्रेम और राष्ट्रभक्ति की जो भावना उत्पन्न हुई है; अपने धर्म, संस्कृति तथा भाषा के प्रति प्रेम व गौरव की अनुभूति का जो प्रादुर्भाव हुआ है; और भारत जो आज स्वतन्त्र है, उसका बहुत कुछ श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज को दिया जाना सर्वथा युक्तिसंगत है। आर्यसमाज कोई नया मत, सम्प्रदाय व पन्थ नहीं है। वह एक सशक्त सार्वभौम जन-आन्दोलन है। इसका कार्यक्षेत्र किसी एक जाति, प्रदेश या वर्ग तक ही सीमित नहीं है। धनी व निर्धन, सवर्ण व दलित—सब वर्गों के व्यक्ति आर्य-समाज के सदस्य हैं। आर्यसमाज की दृष्टि में कोई व्यक्ति अछूत या नीच नहीं है। सब को शिक्षा द्वारा योग्यता प्राप्त करने का एक समान अवसर दिया जाना चाहिये, और प्रत्येक मनुष्य की सामाजिक स्थिति और आर्थिक आमदनी का निर्धारण उसकी योग्यता के अनुसार किया जाना चाहिये। समाज का वर्तमान संगठन न्याय पर आधारित नहीं है। संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, और इसके लिए वह आवश्यक समझता है कि सबकी शारीरिक और आत्मिक हो, समाज में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध न्याय पर आधारित हों, और मनुष्य केवल अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझे। इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी, और इस सम्बन्ध में गत एक शताब्दी के लगभग समय में आर्यसमाज ने जो कार्य किया है, वह वस्तुतः बहुत महत्त्व का है। शिक्षा के प्रसार, कुरीतियों के निवारण, दलितोद्धार, पाखण्ड के खण्डन, निरर्थक रूढ़ियों के निराकरण, सामाजिक न्याय और समता की स्थापना, राष्ट्रीयता व देशप्रेम के विकास आदि के लिए जो ठोस कार्य गत एक शताब्दी में आर्य-समाज द्वारा किया गया है, वह किसी भी अन्य संस्था या संगठन ने नहीं किया। आर्य-समाज का कार्यक्षेत्र विदेशों में भी विस्तृत हो चुका है। मारीशस, फीजी, सुरीनाम, त्रिनिदाद, केनिया, दक्षिणी अफ्रीका, थाईलैण्ड, सिंगापुर, बरमा, हालैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, गुयाना, अमेरिका, तंजानिया आदि सर्वत्र आर्यसमाजों का एक जाल-सा बिछ गया है। और भारत का कोई भी राज्य व प्रदेश ऐसा नहीं रहा है, जहाँ आर्यसमाज विद्यमान न हों। देश-देशान्तर में कार्यरत आर्यसमाजों की संख्या अब साढ़े पाँच हजार से भी ऊपर पहुँच गयी है, और दो हजार के लगभग शिक्षण-संस्थाओं (कॉलिज, स्कूल, गुरुकुल, कन्या विद्यालय आदि) का संचालन आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा है।

पर खेद है, कि आधुनिक इतिहास के लेखकों ने भारत के नवजागरण तथा विश्व के प्रगतिशील आन्दोलनों का वृत्तान्त लिखते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज के साथ न्याय नहीं किया है। इसका कारण यह है, कि अभी तक उच्च कोटि के ऐसे ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में नहीं लिखे गये, जिनमें कि महर्षि के मौलिक व प्रगतिशील विचारों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया गया हो, और जिन द्वारा भारत के नव-जागरण में आर्यसमाज के कर्तृत्व पर उस शैली से प्रकाश डाला गया हो, जो आधुनिक इतिहास-लेखकों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यह विचार किया गया, कि आर्यसमाज का एक ऐसा विस्तृत इतिहास सम्पादित व प्रकाशित किया जाए, जिसमें कि वैज्ञानिक व युक्तिसंगत रूप में यह प्रकाश में लाया जाए कि इस समाज की स्थापना किन परिस्थितियों में और किन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर की गयी थी; उसका प्रचार व प्रसार किस प्रकार हुआ; उसके कार्यकलाप में कैसे निरन्तर वृद्धि होती गयी; शिक्षा तथा समाज सुधार के लिए उस द्वारा क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया; पाखण्ड और अन्धविश्वासों का निराकरण कर किस प्रकार उसने धर्म के सत्य स्वरूप का प्रतिपादन किया, भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में आर्यसमाज और उसके सभासदों का क्या योगदान रहा, किस प्रकार आर्यसमाज ने एक विश्वव्यापी सार्वभौम आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया, अपने महान् उद्देश्यों की पूर्ति में उसे कितनी सफलता प्राप्त हुई, और भविष्य में उसे क्या कुछ करना है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इतिहास को 'पाँचवाँ वेद' कहा गया है। उसका प्रयोजन सब सत्ताओं, घटनाओं तथा तथ्यों को उनके 'यथा-वत्' रूप में प्रकट कर देना है। महाभारत में इतिहास की उपमा एक दीपक से दी गयी है, जो किसी भी पक्षपात व पूर्वाग्रह के बिना श्वेत को श्वेत और काले को काला दिखा-कर प्रत्येक बात के यथावत् स्वरूप को प्रदर्शित कर देता है। "आर्यसमाज का इतिहास" द्वारा भी विश्व के इस महत्त्वपूर्ण आधुनिक संगठन व आन्दोलन के यथार्थ स्वरूप की ओर संसार के सुशिक्षित व उद्बुद्ध लोगों का ध्यान आकृष्ट होगा, और आर्यसमाज के विद्वान्, नेता तथा कार्यकर्ता भी भविष्य के लिए कुछ प्रेरणा व मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

पर आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास को तैयार करने का कार्य इतना महान् है, कि कोई व्यक्ति अकेले इसे सम्पन्न नहीं कर सकता। यह कार्य जहाँ अत्यन्त श्रम साध्य है, वहाँ साथ ही इसके लिए धन की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से न ऐसे इतिहास लिखवाये जा सकते हैं, और न कोई प्रकाशक उनका प्रकाशन ही कर सकता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन प्रायः यूनिवर्सिटियों व सरकार से सहायता प्राप्त संस्थानों द्वारा ही किया जाता है। निस्सन्देह, यह अधिक उत्तम होता कि आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास को सम्पादित व प्रकाशित करने का कार्य किसी यूनिवर्सिटी, संस्थान व शक्तिशाली एवं साधन-सम्पन्न आर्य संगठन द्वारा किया जाता। पर जब उन द्वारा इस ओर ध्यान नहीं दिया गया, तो अपने अत्यन्त सीमित साधनों से हमने इसे शुरू कर दिया, और हमें इस बात की प्रसन्नता है, कि अनेक आर्य नर-नारियों ने इस कार्य के महत्त्व व उपयोगिता को अनुभव किया और हमारी सब प्रकार से सहायता की। स्वामी ओमानन्द सरस्वती इतिहास के विश्वविख्यात विद्वान् हैं। इस 'इतिहास' के प्रचार व विक्रय के लिए उन्होंने जिस उत्साह के साथ हमारी सहायता की, उसके प्रति शब्दों



द्वारा कृतज्ञता प्रकट कर सकना सम्भव ही नहीं है। पण्डित सत्यदेव वेदालंकार ने न केवल स्वयं ही इस 'इतिहास' का संरक्षक होना स्वीकार किया, अपितु अपने बन्धुओं तथा मित्रों को भी संरक्षक बनने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार जहाँ स्वयं इस 'इतिहास' के संरक्षक बने, वहाँ साथ ही उन्होंने अपने भाई, भावज तथा कितने ही मित्रों को इसका 'प्रतिष्ठित सदस्य' बनने की प्रेरणा प्रदान की। कलकत्ता के आर्यबन्धु श्री पूनमचन्द आर्य ने इस 'इतिहास' के लिए आर्थिक साधन जुटाने के सम्बन्ध में जो कार्य किया है, उसकी जितनी भी सराहना की जाए, कम है। कलकत्ता और बम्बई में उन्होंने कितने ही सज्जनों को हमारा संरक्षक तथा प्रतिष्ठित सदस्य बनाने का सफल प्रयत्न किया, और स्वयं प्रतिष्ठित सदस्य बनकर अपनी दिवंगत सहधर्मिणी की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनकी ओर से भी प्रतिष्ठित सदस्यता की धनराशि प्रदान करने की कृपा की। कलकत्ता और बम्बई के श्री गजानन्द आर्य, श्री तिलकराज अग्रवाल, सेठ भगवती प्रसाद खेतान, श्री प्रकाशचन्द्र त्यागी, श्री सीताराम आर्य, श्री गणपतराय आर्य, श्री प्रकाशचन्द मूना, श्री बजरंगलाल आर्य, श्री ओंकारनाथ आर्य आदि महानुभावों ने जिस उदारता तथा सहृदयता से इस 'इतिहास' के स्वयं संरक्षक या प्रतिष्ठित सदस्य बनकर और अन्य महानुभावों को हमें आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए प्रेरित कर हमारे साथ जो सहयोग किया है, उसके लिए हम किन शब्दों में उनका धन्यवाद करें? आर्यसमाज एक सशक्त जन-आन्दोलन है। जहाँ बड़े-बड़े धनपति उसके सदस्य हैं, वहाँ मध्यवित्त के ऐसे व्यक्तियों की भी उसमें कमी नहीं है, जो धर्म और समाज के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। ऐसे सच्चे आर्यों का भी हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। पण्डित बृजलाल शास्त्री, आचार्य यशपाल और श्री योगेन्द्रनाथ अवस्थी ऐसे ही आर्य सज्जन हैं, धनी न होते हुए भी जिन्होंने हमारे कार्य की उपयोगिता को अनुभव कर अपनी शक्ति से बाहर जाकर हमारा 'प्रतिष्ठित सदस्य' बनने की कृपा की, और अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया। श्री स्वामी सर्वानन्द सरस्वती, डा० हरिप्रकाश और पण्डित मनोहर विद्यालंकार सदृश जिन अन्य आर्य नेताओं व विद्वानों का सक्रिय सहयोग इस 'इतिहास' के लिए हमें प्राप्त हुआ है, उनके प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। जिन नर-नारियों ने हमारे संरक्षक व प्रतिष्ठित सदस्य बनकर हमें आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के प्रयोजन से उनके सचित्र परिचय इस 'इतिहास' के सातों भागों में प्रकाशित किये जा रहे हैं। किसी प्रियजन की स्मृति को चिरस्थायी बनाने और अपने सुकृतों की सुरभि का दूर-दूर तक विस्तार करने का यह भी एक सशक्त साधन है। इस प्रकार के ग्रन्थों का स्थायी मूल्य होता है। उन्हें पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा जाता है, और देश-विदेश के लाखों पाठक उन्हें पढ़ते हैं। इस प्रकार के उपयोगी साहित्य के प्रणयन में सहायता देने वाले नर-नारियों से भी वे परिचय प्राप्त करते हैं, और उनके प्रति नतमस्तक भी होते हैं। हमें विश्वास है, कि इस 'इतिहास' द्वारा इन दानी व्यक्तियों की स्मृति भी चिरकाल तक स्थिर रहेगी। अब तक जो हम इस 'इतिहास' के तीन भाग प्रकाशित कर सके हैं, उसके लिए आवश्यक धनराशि मुख्यतया संरक्षकों और प्रतिष्ठित सदस्यों द्वारा ही प्राप्त हुई है। पुस्तकों की बिक्री अभी बहुत कम हुई है। वर्तमान समय में आर्यसमाजों की कुल संख्या ५५०० के

लगभग है, और आर्य शिक्षण-संस्थाएँ २००० से भी अधिक हैं। इनमें से बहुत से समाज व संस्थाएँ आर्थिक दृष्टि से संतोषप्रद दशा में हैं, उनके अपने भव्य व विशाल भवन हैं, और उनके साथ पुस्तकालय भी विद्यमान हैं। यदि केवल एक हजार आर्यसमाज या शिक्षण-संस्थाएँ इस 'इतिहास' को अपने पुस्तकालयों के लिए खरीद लें या इसके सातों भागों के ग्राहक बन जाएँ, तो हमारी आर्थिक समस्या का समाधान हो जाता है, और हमें किसी से आर्थिक सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर खेद इस बात का है, कि आर्यसमाज में पुस्तकों की माँग बहुत कम है। समाजों द्वारा प्रचार के अन्य साधनों पर पर्याप्त खर्च किया जाता है, पर पुस्तकों के संग्रह और जनता को पुस्तकों के माध्यम से अपनी गतिविधि एवं मन्तव्यों से परिचय कराने का उनकी दृष्टि में अधिक महत्त्व नहीं है। दिल्ली में २५० के लगभग आर्यसमाज विद्यमान हैं। पर उनमें से केवल दस-बारह ने ही अपने पुस्तकालयों के लिए इस 'इतिहास' को खरीदा है। प्रायः यही दशा अन्य भी अनेक प्रदेशों की है। पर आर्य जनता में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो इस 'इतिहास' के महत्त्व को समझते हैं, और इसके प्रचार के लिए सब सम्भव प्रयत्न कर रहे हैं। ज्यों ही इस 'इतिहास' का कोई नया भाग प्रकाशित होता है, स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती उसकी एक सौ प्रतियाँ खरीद लेते हैं, और उनके बिक जाने पर और प्रतियाँ मंगा लेते हैं। डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के प्रशासक-सचिव श्री दरबारीलाल इस 'इतिहास' की २८ प्रतियों के स्थायी ग्राहक हैं, और इससे अधिक प्रतियों के आर्डर भी उनसे प्राप्त होते रहते हैं। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल इस 'इतिहास' के प्रचार के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। आर्य जगत् के यशस्वी सम्पादक श्री क्षितीश कुमार वेदालंकार इस 'इतिहास' को लोकप्रिय बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, जालन्धर द्वारा भी 'इतिहास' के सातों भागों के सात स्थायी ग्राहक बनाये जा चुके हैं, और फुटकर ढंग से भी सभा द्वारा इसकी बिक्री की जाती रही है। कलकत्ता, बम्बई, रायपुर (मध्यप्रदेश), हिन्डोन (राजस्थान), जबलपुर (मध्यप्रदेश) आदि अनेक नगरों के आर्यसमाजों तथा आर्य सज्जनों ने भी 'इतिहास' के स्थायी ग्राहक बनाने के लिए सराहनीय प्रयत्न किया है। केवल चार सौ रुपये अग्रिम प्रदान कर देने पर 'इतिहास' के सातों भाग (प्रकाशित होने के साथ-साथ) प्राप्त किये जा सकते हैं, जिससे एक भाग का मूल्य ६० रुपये से भी कम पड़ता है, जो कागज, छपाई तथा जिल्द के वास्तविक खर्च से भी कम है। तीन भाग (मूल्य ३०० रुपये) तो उन्हें ग्राहक बनने के साथ ही प्रदान कर दिए जाते हैं। धीरे-धीरे आर्य नर-नारियों को यह विश्वास होता जा रहा है, कि 'आर्य स्वाध्याय केन्द्र' को प्रदान किया गया रुपया व्यर्थ नहीं जायेगा; विश्वकोष के समान विशाल इस 'इतिहास' के सातों भाग उन्हें प्राप्त हो जाएँगे, और उनके धन का सदुपयोग ही होगा। हमें आशा है, कि 'इतिहास' के प्रकाशित तीन भागों को देखकर आर्यजनों को संतोष होगा, और संरक्षक, प्रतिष्ठित तथा सहायक सदस्य बनकर हमारे साथ सहयोग करने में उन्हें कोई संकोच नहीं रह जाएगा।

'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए अलभ्य सामग्री एकत्र करने में जिन सज्जनों ने हमारी सहायता की है, उनमें ब्रह्मचारी नन्द किशोर मुख्य हैं। सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि की कोई भी परवाह न कर वह निरन्तर इसके लिए भ्रमण करते रहे हैं। स्वल्पवय के

ब्रह्मचारी होते हुए भी वह यथार्थ में 'परिव्राजक' हैं। उन्हें महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराने में आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, श्री महेन्द्रकुमार सर्राफ (तीतरों), पण्डित अमृतलाल शर्मा (गुरुकुल होशंगाबाद), श्री चन्द्रदेव पुरोहित (भगवानपुर), श्री गौरीशंकर साधक (भोपाल), श्री विजयसिंह गायकवाड़ (जबलपुर), श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव आदि महानुभावों का विशेष कर्तृत्त्व रहा है। श्री धर्मवीर विद्यालंकार और श्री प्रसन्नकुमार शास्त्री भी 'इतिहास' के लिए सामग्री जुटाने में उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील रहे हैं। इन सबको हार्दिक धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। आर्यसमाजों की स्थापना और प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमने एक प्रश्नावली विविध आर्यसमाजों के पते पर भेजी थी। देश-विदेश में विद्यमान आर्यसमाजों की संख्या इस समय ५५०० के लगभग है। हमें खेद है, कि इनमें से कुछ सौ ने ही प्रश्नावली के उत्तर लिखकर भेजने का कष्ट स्वीकार किया। विशेषतया, बड़े तथा समृद्ध आर्यसमाजों ने तो इस सम्बन्ध में हमारे पत्रों व प्रश्नावली पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। पर छोटे नगरों और गाँवों के आर्यसमाजों के पदाधिकारियों ने बड़े उत्साह तथा विस्तार के साथ अपने समाजों के विवरण भेजने की कृपा की। आर्यसमाज वस्तुतः एक व्यापक जन-आन्दोलन है, जिसकी वास्तविक शक्ति व प्रभाव छोटे नगरों एवं गाँवों में ही केन्द्रित है। आर्यसमाज के यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादित करने में हमें इन विवरणों से बहुत सहायता मिली है। हम उन सैकड़ों सज्जनों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कि अपने क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में समुचित जानकारी हमें भेजी है। स्थान की कमी के कारण इस सब सामग्री का हम सम्पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर सके हैं। पर यह सब हमारे पास सुरक्षित है। हमारा विचार है, कि इस 'इतिहास' का एक अतिरिक्त (परिशिष्ट) भाग पृथक् रूप से प्रकाशित किया जाये, जिसमें अधिक-से-अधिक आर्यसमाजों का विवरण (उनकी स्थापना, प्रगति, कार्यकलाप आदि) का विवरण हो, और साथ ही उनके कार्यकर्ताओं व प्रचारकों के सचित्र परिचय भी जिसमें दिये जाएँ। 'इतिहास' का यह आठवाँ परिशिष्ट भाग एक 'आर्य डाइरेक्टरी' के रूप में होगा, जिसमें उस सब सामग्री का यथोचित रूप से उपयोग कर लिया जायेगा, जो हमारे पास एकत्र है। हमें आशा है कि भविष्य में अन्य आर्यसमाजों के विवरण भी हमें प्राप्त हो जाएँगे, जिससे कि आर्यसमाज की एक सर्वाङ्गपूर्ण डाइरेक्टरी का प्रकाशन सम्भव हो सकेगा।

'इतिहास' के अन्य भागों के समान इस भाग में भी हमने कतिपय ऐसे संन्यासियों, महात्माओं, विद्वानों, नेताओं तथा प्रचारकों के चित्र दिये हैं, आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पर ऐसे महानुभावों की संख्या इतनी अधिक है, कि एक ही भाग में उन सबके चित्र दे सकना क्रियात्मक नहीं है। कुछ सज्जन ऐसे भी हैं, जो वैदिक धर्म के प्रचारक व आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पदाधिकारी होने के साथ-साथ आर्य शिक्षण-संस्थाओं के संचालक एवं वैदिक विद्वान् भी थे। उदाहरण के लिए आचार्य रामदेव और पण्डित विश्वम्भरनाथ जहाँ पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उच्च पदाधिकारी रहे, वहाँ साथ ही वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संचालक व मुख्याधिष्ठाता भी रहे। इनके चित्र इस 'इतिहास' के तृतीय भाग (शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप) में दिये गये हैं, अतः इस भाग में उन्हें नहीं दिया गया। इसी प्रकार आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के कितने ही पदाधिकारी डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के

अधिकारी व डी० ए० वी० कॉलिजों के प्रिंसिपल भी रहे। उनके चित्र भी इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में दिये गये हैं। यही बात अन्य अनेक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पदाधिकारियों तथा प्रतिष्ठित संन्यासी-महात्माओं व प्रचारकों के सम्बन्ध में भी है। हमारा प्रयत्न होगा, कि इस 'इतिहास' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित होने वाले पृथक् भाग में सभी आर्य नेताओं, विद्वानों, प्रचारकों तथा कार्यकर्ताओं के चित्र प्रकाशित कर दिये जाएँ। अनेक सज्जनों ने विविध प्रदेशों के आर्य नेताओं व कार्यकर्ताओं आदि के जो चित्र हमें भेजे हैं, वे सब हमारे पास सुरक्षित हैं। हम विश्वास दिलाते हैं, कि उन्हें हम यथा-स्थान अवश्य ही प्रकाशित करेंगे।

"आर्यसमाज का इतिहास" के अन्य प्रकाशित भागों के समान इस भाग के मुद्रण में भी अजय प्रिंटर्स के स्वामी श्री अमरनाथ, श्री सांवलदास तथा श्री अजय जी ने जो तत्परता प्रदर्शित की और हमें जिस ढंग से सहयोग दिया, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के मुद्रण में उनकी भावना केवल व्यापारिक न होकर आत्मीयता की भी रही है, जिसके लिए हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं। आर्य स्वाध्याय केन्द्र 'आर्यसमाज का इतिहास' के लेखन, सम्पादन तथा प्रकाशन का जो महान् कार्य प्रारम्भ कर सका, और उसके इस नये भाग को जो वह जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ, उसका श्रेय उन अनगिनत आर्य नर-नारियों को अवश्य दिया जाना चाहिये जिनका प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त होता रहा और जिनकी शुभकामनाएँ हममें शक्ति व उत्साह का संचार करती रहीं। हमें आशा है, कि मंगलमय भगवान् की कृपा तथा आर्य जनता की शुभकामना से हम इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा कर सकने में समर्थ होंगे। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का प्रमुख कर्तव्य है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इतिहास को भी पाँचवाँ वेद कहा गया है। इसे भी आर्य नर-नारियों द्वारा समुचित महत्त्व दिया ही जाना चाहिये। हमें जरा भी सन्देह नहीं है, कि आर्य जनता इस 'इतिहास' के प्रति अपने कर्तव्य के पालन में कदापि प्रमाद नहीं करेगी।

सत्यकेतु विद्यालंकार

२८ एप्रिल, १९८४ निदेशक, आर्य स्वाध्याय केन्द्र,

नयी दिल्ली।

आर्यसमाज का इतिहास

(द्वितीय भाग)

विषय-सूची

———

प्रस्तावना

गत एक शताब्दी में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार व विस्तार हुआ है, उससे कोई भी संगठन सन्तोष अनुभव कर सकता है। सन् १८८३ में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती का देहावसान हुआ, आर्यसमाजों की कुल संख्या ६० से भी कम थी। एक शताब्दी बाद सन् १९८३ में यह संख्या बढ़कर ५५०० से भी अधिक हो गयी। भारत का कोई भी राज्य या प्रदेश ऐसा नहीं रहा, जहाँ आर्यसमाज स्थापित न हो या जहाँ वैदिक धर्म का प्रचार न किया जा रहा हो। भारत से बाहर अन्य देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में भी सैकड़ों की संख्या में आर्यसमाज स्थापित हुए, और मारीशस, फीजी, दक्षिणी अफ्रीका, केनिया, तंजानिया, सुरीनाम, बरमा, थाईलैण्ड, सिंगापुर, गुयाना, त्रिनिदाद, ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा आदि सर्वत्र आर्यसमाजों का जाल-सा बिछ गया। आर्यसमाज के इस असाधारण विस्तार के लिए उसके प्रचारक, विद्वान्, संन्यासी, नेता और कार्यकर्ता यदि अभिमान अनुभव करें, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। 'आर्यसमाज का इतिहास' के इस भाग में समाज के इसी प्रचार-प्रसार का क्रमबद्ध विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। हम चाहते थे, कि आर्यसमाज का एक सदी का यह शानदार इतिहास एक ही भाग में दे दिया जाये। पर यह सम्भव नहीं हुआ, क्योंकि यह विषय अत्यन्त विस्तृत है, और इस सम्बन्ध में इतनी अधिक सामग्री हमें प्राप्त हो चुकी है, कि उसे संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने में भी कई हजार पृष्ठों की आवश्यकता होगी। अतः हमने निश्चय किया कि इस भाग में केवल सन् १८८३ से सन् १९४७ तक के आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का ही विवरण दिया जाए, और बाद के काल पर एक अन्य भाग में पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाये। आर्यसमाज के इतिहास में सन् १९४७ का विशेष महत्त्व है। इस साल भारत का विभाजन हुआ, और पाकिस्तान के रूप में एक ऐसे पृथक् राज्य का निर्माण हो गया, जिसमें आर्यों के लिए निवास कर सकना सम्भव नहीं रहा। लाहौर, मुलतान, लायलपुर, रावलपिण्डी, पेशावर, क्वेटा, हैदराबाद, कराँची, गुजरांवाला आदि अनेक नगर जो आर्यसमाजों तथा आर्य शिक्षण-संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, वे पाकिस्तान में चले गये और वहाँ के आर्यों को विवश होकर भारत चले आना पड़ा। इससे आर्यसमाज को भीषण आघात पहुँचा, और उसके कार्यकलाप में गम्भीर बाधा उपस्थित हो गयी। सन् १९४७ में भारत से ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ, और वह स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ हुआ। इस घटना ने भी आर्य-समाज के आन्दोलन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया, और उसके कार्यकलाप व गति-विधि में कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अतः यह समुचित ही है, कि आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विवरण इस 'इतिहास' के दो भागों में दिया जाए, और पहले भाग में

केवल सन् १९४७ तक का ही वृत्तान्त हो। सन् १८८३ से १९४७ तक के आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का जो विवरण इस भाग में दिया गया है, उसमें अनेक कमियाँ रह गयी हैं, जिसका मुख्य कारण इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण आधार-सामग्री का विलम्ब से प्राप्त होना है। कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनके सम्बन्ध में समुचित जानकारी हम अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं। उसके लिए हमारा प्रयत्न जारी है। हम यत्न करेंगे, कि इतिहास के एक अगले भाग में उस सब सामग्री का समावेश कर दिया जाए, ताकि इस भाग की कमियों को दूर किया जा सके।

यद्यपि भारत में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का वृत्तान्त इस भाग में सन् १९४७ तक का ही दिया गया है, पर मारीशस, फीजी व सुरीनाम सदृश कतिपय विदेशी राज्यों में आर्यसमाज के कार्यकलाप का सन् १९४७ के बाद का विवरण भी दे दिया गया है, क्योंकि भारत के विभाजन तथा स्वराज्य प्राप्ति सदृश घटनाओं ने उन देशों में आर्यसमाज की प्रगति को प्रभावित नहीं किया। पर यह वृत्तान्त बहुत संक्षेप से दिया गया है, और 'इतिहास' के जिस भाग में सन् १९४७ के बाद के काल में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का वृत्तान्त दिया जायेगा, उसमें आधुनिक समय में विदेशों में आर्यसमाज की प्रगति पर और भी अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

गत एक शताब्दी में आर्यसमाज का जो असाधारण विस्तार हुआ है, उसका प्रधान श्रेय उन साधु-संन्यासियों, प्रचारकों तथा आस्थावान् कार्यकर्ताओं को है, जिन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूरा करने के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। हमने प्रयत्न किया है, कि इनका कर्तृत्व स्पष्ट रूप से पाठकों के सम्मुख आ जाये। दलितोद्धार, सामाजिक कुरीतियों का निवारण, अनाथों और असहायों का भरण-पोषण, प्राकृतिक विपत्तियों तथा महामारियों से त्रस्त जनसाधारण की सेवा और न्याय पर आधारित समाज संगठन के निर्माण आदि जिस कार्यकलाप के कारण आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सहायता मिली, उस पर भी इस ग्रन्थ में समुचित रूप से प्रकाश डाला गया है। विचार-स्वातन्त्र्य और लोकतन्त्रवाद का अनुसरण करने वाली संस्थाओं में दलबन्दी तथा मतभेदों का प्रादुर्भूत हो जाना सर्वथा स्वाभाविक होता है। आर्यसमाज भी इनसे बचा नहीं रह सका। आर्यसमाज के इतिहास के इस पहलू की भी इस ग्रन्थ में उपेक्षा नहीं की गयी है। हमने प्रयत्न किया है, कि आर्यसमाज के कार्यकलाप एवं गति-विधि का पूर्वाग्रह से पूर्णतया विरहित होकर निष्पक्ष रूप से प्रतिपादन किया जाये। हमें इसमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं। जैसा कि इस 'इतिहास' के पूर्व प्रकाशित भागों में भी हमने लिखा था, 'इतिहास' कभी भी पूर्ण नहीं हुआ करता। ज्यों-ज्यों नये तथ्य प्रकाश में आते जाते हैं, उसमें संशोधन व परिवर्धन होते रहते हैं। इस इतिहास के सम्बन्ध में भी यही बात है। भावी संस्करणों में इसकी कमियों को दूर किया जा सकेगा, और इसे देखकर अन्य विद्वान् इतिहासकारों को यह प्रेरणा प्राप्त होगी, कि वे आर्यसमाज का और भी अधिक विस्तृत व निर्दोष इतिहास पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें।

२९-४-१९८४

सत्यकेतु विद्यालंकार
प्रधान सम्पादक
'आर्यसमाज का इतिहास'।



आर्यसमाज के संस्थापक

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

आर्यसमाज की सार्वभौम मूर्धन्य सभाओं के प्रधान



श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ
प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
नयी दिल्ली



स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती
प्रधान, परोपकारिणी सभा
अजमेर

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) आर्यसमाज का विस्तार

सन् १८७५ में बम्बई में प्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान (सन् १८८३) के समय तक आर्यसमाजों की कुल संख्या ८६ के लगभग थी, जो एक शताब्दी बाद अब ५,५०० से ऊपर पहुँच चुकी है। गत एक सदी में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार व विस्तार हुआ है, उस पर कोई भी सभा या संस्था सन्तोष व गर्व अनुभव कर सकती है। आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र किसी एक देश, राज्य, जाति या वर्ग तक ही सीमित नहीं है। भारत के प्रायः सभी राज्यों व प्रदेशों में अब आर्यसमाज स्थापित हो चुके हैं, और फीजी, मॉरीशस, दक्षिणी अफ्रीका, केनिया, तंजानिया, सुरीनाम, ट्रिनिदाद, सिंगापुर, थाईलैण्ड, गुयाना, नीदरलैण्ड, बरमा, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा आदि कितने ही विदेशी राज्यों में भी आर्यसमाज विद्यमान है। विदेशों में भी आर्यसमाज का कितना अधिक प्रचार है, इसे सूचित करने के लिए यही लिख देना पर्याप्त होगा, कि मॉरीशस जैसे छोटे-से राज्य में इस समय ४०० के लगभग आर्यसमाजों की सत्ता है। आर्यसमाज के सदस्य व महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी सभी जातियों व वर्गों के लोगों में हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय सदृश उच्च वर्णों के व्यक्ति ही नहीं, अपितु पुराने हिन्दू समाज में जाट, गूजर, कायस्थ आदि जिन अनेक जातियों को ब्राह्मणों व क्षत्रियों की तुलना में हीन समझा जाता था, उनमें भी आर्यसमाज का व्यापक रूप से प्रचार है। अछूत समझे जाने वाले जिन लोगों को आजकल 'हरिजन' कहा जाता है, वे भी आर्यसमाज में अच्छी बड़ी संख्या में हैं। गत शताब्दी में भारत में धार्मिक सुधारणा और नवजागरण के जो भी आन्दोलन चले, उनमें से किसी ने भी सर्वसाधारण जनता को उतने व्यापक रूप में प्रभावित नहीं किया, जितना कि आर्यसमाज ने किया है।

पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि आर्यसमाज के कार्य का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। उसका लक्ष्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' है। उसे सम्पूर्ण संसार या मानव समाज को 'आर्य' बनाना है। 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।' महात्मा गौतम बुद्ध ने जिस धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया था और उसके लिए जिस भिक्षु संघ की स्थापना की थी, उसका उद्देश्य बहुत-से मनुष्यों का सुख व हित सम्पादित (बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय) करना था। पर आर्यसमाज का उद्देश्य सबका—मनुष्य मात्र का, सम्पूर्ण संसार का, हित-सुख एवं कल्याण सम्पादित करना है, और यह तभी सम्भव हो सकेगा, जबकि सब मनुष्यों की 'शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक

उन्नति हो जाए, और प्रत्येक व्यक्ति यह भली-भाँति समझ ले, कि उसे 'अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये'। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का जो यह उद्देश्य निर्धारित किया है, वह अत्यन्त महान् तथा व्यापक है। उसकी पूर्ति के लिए सब मनुष्यों को ऐसा अवसर देने की व्यवस्था करनी होगी, जिससे कि वे अपने शरीर, मन एवं आत्मा को उन्नत कर अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकें, और अपनी जो अन्तर्निहित शक्ति, सामर्थ्य व क्षमता है, उसे भली-भाँति विकसित कर सकें। साथ ही, मनुष्यों की सामूहिक उन्नति पर भी आर्यसमाज को ध्यान देना होगा। सामूहिक जीवन की उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि समाज का निर्माण इस ढंग से हो जिसमें कि सबके प्रति न्याय हो सके। जब तक सब मनुष्य अपनी योग्यता, रुचि एवं क्षमता (गुण, कर्म, स्वभाव) के अनुरूप कार्य एवं सामाजिक स्थिति प्राप्त न कर सकें, समाज का संगठन न्याय पर आधारित नहीं हो सकता। सब मनुष्यों की शारीरिक और आत्मिक उन्नति के अतिरिक्त जो सामाजिक उन्नति महर्षि दयानन्द सरस्वती को अभीष्ट थी, उसके लिए समाज के संगठन को न्याय पर आधारित करना होगा। इसका साधन गुणकर्मानुसार वह वर्ण-व्यवस्था है, जिसका निरूपण महर्षि ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट एवं विशद् रूप से किया है। शक्ति और योग्यता या गुण, कर्म, स्वभाव में सब मनुष्य एक सदृश नहीं होते। अतः उनमें वर्णों या वर्गों का होना स्वाभाविक है। पर उनका आधार जन्म न होकर गुण, कर्म और स्वभाव का भेद होना चाहिये, महर्षि का यही मन्तव्य है। सबको शिक्षा प्राप्त करने का पूर्णतया समान व एकसदृश अवसर होने पर भी उनमें गुण, कर्म, स्वभाव के जो अन्तर हों, उनके अनुसार उनका वर्ण निर्धारित किया जाए और अपने वर्ण के अनुरूप सबको काम-धन्धा, कार्य, व्यवसाय एवं सामाजिक स्थिति प्राप्त हो, महर्षि द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था का यही स्वरूप है। आर्यसमाज द्वारा अनेकविध सामाजिक बुराइयों को दूर करने का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया गया है, उसके प्रयत्न से छूत-अछूत और सामाजिक ऊँच-नीच में पर्याप्त कमी आयी है, पर अभी वह गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कर समाज संगठन के स्वरूप को परिवर्तित कर सकने में समर्थ नहीं हुआ है। उस द्वारा अभी इसके लिए पर्याप्त प्रयत्न भी नहीं किया गया है।

यह सही है, कि भारत के अतिरिक्त बहुत-से विदेशी राज्यों में भी आर्यसमाज स्थापित हैं। पर उनके सभासद् प्रायः भारतीय मूल के व्यक्ति ही हैं। मॉरीशस, फीजी, सुरीनाम, केनिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि में जो हजारों लोग महर्षि के अनुयायी हैं, उनमें वहाँ के मूल निवासियों की संख्या नगण्य है। अफ्रीका के हबशी और बरमा के बरमी लोगों में अभी वैदिक धर्म का प्रचार नहीं हुआ है। अफ्रीका महाद्वीप के लाखों मूल निवासी नीग्रो या हबशी लोग इस्लाम तथा क्रिश्चिएनिटी को अपना चुके हैं। वहाँ के गिरजाघरों और मसजिदों में हबशी लोग उपासना व नमाज के लिए उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते हैं, पर वहाँ के आर्यसमाज मन्दिरों में कभी ही कोई नीग्रो दिखायी पड़ेंगे। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा के गौरांग लोग भी अभी आर्य-समाज के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुए हैं। हिन्दू-धर्म की वैष्णव पूजाविधि के प्रति वे अवश्य आकृष्ट हुए हैं। इसी कारण 'हरेराम, हरेकृष्ण' का आन्दोलन उनमें पर्याप्त सफल हुआ है। योग-साधना ने भी गौरांग लोगों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त

की है, और अब कुछ अमेरिकन सिक्ख सम्प्रदाय के भी अनुयायी होने लग गये हैं। पर आर्यसमाज के सम्बन्ध में अभी यह नहीं कहा जा सकता। लन्डन आदि पाश्चात्य नगरों में आर्यसमाज के जो सत्संग होते हैं, उनमें कभी-कभी कुछ गौरांग व्यक्ति अवश्य सम्मिलित होने लगे हैं, पर अभी यह स्थिति नहीं आयी है, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाएँ उनमें जड़ पकड़ने लग गयी हों। आर्यसमाज को स्थापित हुए अभी बहुत कम समय हुआ है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी उसे बहुत समय तक प्रयत्न करना होगा। पर इस प्रयत्न का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में उन धार्मिक आन्दोलनों से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, जो संसार में अपना 'धर्म साम्राज्य' स्थापित करने में समर्थ हुए, और मानव जाति का बहुत बड़ा भाग जिनका अनुयायी है।

(२) संसार के 'धर्म साम्राज्य'

वर्तमान समय में तीन ऐसे धर्म या मत हैं, जिनके अनुयायी किसी एक देश, जाति या नस्ल तक सीमित नहीं हैं। ये धर्म बौद्ध, इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी हैं। यूरोप और अमेरिका के प्रायः सभी निवासी क्रिश्चियन हैं, और इस धर्म के अनुयायी एशिया तथा अफ्रीका के देशों में भी पर्याप्त बड़ी संख्या में हैं। अमेरिका महाद्वीप के देशों में नीग्रो या कृष्णांग लोगों का भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास है, पर प्रायः वे सब क्रिश्चिएनिटी को अपना चुके हैं। यूरोप और अमेरिका में अनेक नस्लों व जातियों के लोग निवास करते हैं, वहाँ की भाषाओं के भी अनेक भेद हैं। इसी कारण वहाँ बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता है, जिनमें बहुधा युद्ध भी होते रहे हैं और राजनीतिक विरोध व विद्वेष उनमें अब भी कम नहीं है। पर धर्म की दृष्टि से वे सब एक हैं, और सब क्रिश्चिएनिटी में समान रूप से आस्था रखते हैं। क्रिश्चिएनिटी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है, और मध्य युग में इन सम्प्रदायों में घोर विद्वेष भी रहा है। पर जो लोग क्रिश्चियन नहीं हैं, उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए वे सब समान रूप से प्रयत्नशील हैं, और यूरोप तथा अमेरिका के विविध राज्य इस धर्म के प्रचार-प्रसार को अपने लिए हितकर समझते हैं। वस्तुतः, क्रिश्चियन लोग अपना एक विशाल धर्म-साम्राज्य बनाने में सफल हुए हैं, और उनका यह धार्मिक व सांस्कृतिक साम्राज्य गौरांग लोगों के उत्कर्ष में अत्यधिक सहायक रहा है। पाश्चात्य देशों के जो विशाल राजनीतिक साम्राज्य अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में स्थापित हुए थे, उन सबका अब प्रायः अन्त हो चुका है। पर क्रिश्चियन मिशनरियों ने राजशक्ति की छत्रछाया में जो धार्मिक व सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किये थे, वे अब भी न केवल कायम ही हैं, अपितु भली-भाँति फल-फूल भी रहे हैं, और उनके वर्चस्व में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। एशिया और अफ्रीका के बड़े भाग पर इस्लाम का भी धार्मिक साम्राज्य विद्यमान है। अरब, ईजिप्ट, ईरान, लिबिया, अल्जीरिया, मोरक्को, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, मलायीशिया, इण्डोनेशिया, बंगलादेश आदि कितने ही राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। भारत, चीन, बरमा और रूस आदि में भी मुसलमानों का पर्याप्त संख्या में निवास है, और नस्ल, जाति एवं रंग आदि के भेदभाव की परवाह न कर इस्लाम के अनुयायी सर्वत्र परस्पर एक होने की अनुभूति रखते हैं। अफ्रीका महाद्वीप के कृष्णांग नीग्रो लोगों में भी इस धर्म का प्रचार है, और यूरोप व अमेरिका के गौरांग लोगों में भी इसने प्रवेश शुरू

कर दिया है। जापान, कोरिया, विएत-नाम, थाईलैण्ड, तिब्बत और श्रीलंका की जनता बौद्ध धर्म की अनुयायी है, और धर्म की दृष्टि से चीन को भी बौद्ध कहा जा सकता है, यद्यपि कम्युनिज़म के कारण वहाँ के लोगों के जीवन में धर्म का अधिक स्थान नहीं रहा है। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी के समान बौद्ध धर्म का भी अपना धर्म-साम्राज्य है, और उसके भिक्षु तथा प्रचारक भारत सदृश उन देशों में इस धर्म की पुनः स्थापना में तत्पर हैं, जहाँ पहले इसका व्यापक रूप से प्रचार रह चुका है। बौद्ध, क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम इन तीन धर्मों का सम्बन्ध किसी देश, नस्ल या जाति के साथ नहीं है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी नस्ल, देश या जाति का हो, इन्हें अंगीकार कर बौद्ध, ईसाई या मुसलमान बन सकता है।

पर कतिपय धर्म ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध किसी देश व जाति के साथ है। कोई मनुष्य यहूदी और पारसी धर्मों में दीक्षित नहीं हो सकता। वह यहूदी या पारसी के रूप में जन्म ग्रहण करता है और कोई बाह्य व्यक्ति इन धार्मिक समुदायों में प्रवेश नहीं कर सकता। यही दशा सनातन हिन्दू धर्म और जैन धर्म की भी है। इनके अनुयायी ईसाई, मुसलमान या बौद्ध तो बन सकते हैं, पर किसी विधर्मी के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह वैष्णव, शैव या जैन धर्म की दीक्षा लेकर उनके समाज का अंग बन सके। इसके कुछ अपवाद अवश्य हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रचार के कारण अब हिन्दुओं में भी विधर्मियों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति विकसित होने लग गयी है। पर सामान्यतया इन धर्मों के द्वार विधर्मियों के लिए बन्द रहते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धार्मिक सुधारणा के जिस आन्दोलन का प्रारम्भ किया था, उसमें वैदिक धर्म के द्वार सबके लिए खोल दिए गये हैं। यह ऐतिहासिक तथ्य है, कि कभी वैदिक धर्म का प्रचार केवल भारत तक ही सीमित नहीं था। उस समय वैदिक धर्म का धार्मिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्य अत्यन्त व्यापक रूप से स्थापित था, और पृथिवी के प्रायः सभी देश उसके अन्तर्गत थे। इस अत्यन्त प्राचीन काल के धर्म-साम्राज्य के सम्बन्ध में अभी बहुत कम जानकारी उपलब्ध है, पर अब से दस-बारह सदी पूर्व तक भी वैदिक धर्म के अन्यतम रूप वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के धार्मिक-साम्राज्य दक्षिण-पूर्वी और पूर्वी एशिया के विशाल भूखण्ड में विद्यमान थे, और बौद्ध, मुस्लिम तथा क्रिश्चियन धर्मों के समान कितनी ही नस्लों, जातियों तथा देशों के लोग इन धर्मों के अनुयायी थे। यदि महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए 'धर्मचक्र' का प्रवर्तन किया था, तो भागवत धर्म के आचार्य कृष्ण ने 'सुदर्शन चक्र' का प्रवर्तन कर वैदिक धर्म के सर्वत्र प्रचारित होने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पर मध्यकाल की परिस्थितियों के कारण वैदिक व भागवत धर्मों का प्रचार केवल भारत तक सीमित रह गया था, और उनमें 'धर्मचक्रवर्ती' होने या अपना 'धर्म साम्राज्य' स्थापित करने की जो प्रवृत्ति थी, उसका लोप हो गया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उस प्रवृत्ति का पुनः प्रादुर्भाव किया, और वैदिक धर्म का द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिया। उन्होंने अपने कार्य को जारी रखने के लिए जिस आर्यसमाज की स्थापना की, उसे केवल हिन्दू धर्म में ही सुधार नहीं करना है, केवल हिन्दू समाज की कुरीतियों व अन्ध-विश्वासों को ही दूर नहीं करना है, अपितु सम्पूर्ण संसार व सम्पूर्ण मानव समाज को सत्य धर्म का मार्ग प्रदर्शित कर सबका हित-कल्याण सम्पादित करना है। महर्षि वैदिक धर्म के उसी

चक्रवर्तित्व को पुनः स्थापित करना चाहते थे, देश, नस्ल, जाति और रंग की सब सीमाओं को अतिक्रान्त कर जिसका कभी भूमण्डल पर सर्वत्र प्रचार था और जिसका अनुसरण कर सब मनुष्य 'आर्य' हो गये थे। इस दिशा में अभी आर्यसमाज कोई विशेष कार्य नहीं कर सका है। पर उसके उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकेगी, जब आर्यसमाज द्वारा विभिन्न देशों के उन निवासियों में भी वैदिक धर्म का प्रचार कर दिया जाएगा, रंग, नस्ल, भाषा आदि की दृष्टि से जो भारतीयों से सर्वथा भिन्न हैं। भारत में भी बहुत-से ऐसे लोगों का निवास है, जिन्हें जनजातियाँ तथा अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है, और क्रिश्चियन मिशनरी जिन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए सतत प्रयत्न में तत्पर हैं। आर्यसमाज को भविष्य में यह कार्य कैसे करना है, इस सम्बन्ध में उन धार्मिक आन्दोलनों से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, जो अपने धर्म-साम्राज्य बनाने में समर्थ हुए थे। यह जान लेना बहुत उपयोगी होगा, कि इनके प्रचार की क्या पद्धति थी, किस प्रकार ये विविध रंगों व जातियों के लोगों को प्रभावित करते थे और वे कौन-से कारण थे, जिनसे कि ये करोड़ों नर-नारियों को आत्मसात् करने में समर्थ हुए। इनमें भी बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि इस धर्म का प्रादुर्भाव भारत में हुआ था, और शुरू में यह अनेक अंशों में उसी प्रकार से सत्य सनातन आर्य धर्म का एक रूप था, जैसे कि आर्यसमाज है। महात्मा बुद्ध अपने धर्म को 'आर्य मार्ग' कहा करते थे, और उसका प्रचार करते हुए 'सनातन धर्म' शब्द का भी प्रयोग किया करते थे। भारत में सत्य सनातन आर्य धर्म से ही प्रादुर्भूत होकर बौद्ध धर्म किस प्रकार विश्व के विभिन्न देशों में व्याप्त हो गया और कैसे उसने विविध नस्लों व जातियों को आत्मसात् कर लिया, इसके अनुशीलन से आर्यसमाज भविष्य के लिए अपना मार्ग खोज सकता है।

(३) बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार-कार्य काशी के समीप सारनाथ में प्रारम्भ किया था। अपने शिष्यों को पहला उपदेश देते हुए उन्होंने कहा था—"भिक्खुओ, तुम अब चलो, भ्रमण करो, बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, देवों और मनुष्यों के कल्याण के लिए भ्रमण करो।...उस धर्म का प्रचार करो जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त या पर्य-वसान में भी कल्याणकारी है।" अपने धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने भिक्षुओं को प्रयुक्त किया था। इसी प्रयोजन से उन्होंने भिक्षु संघ की स्थापना की थी। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने गृहस्थों पर निर्भर रहना उचित नहीं समझा था। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्य मात्र के हित-कल्याण में अपने जीवन को खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे। बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों तथा उनके संघों के वातावरण में ही व्यतीत किए थे। वह गणराज्यों व संघों की कार्यप्रणाली से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नये धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे 'संघ' नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए उन्होंने स्वाभाविक रूप से अपने समय के संघ राज्यों का अनुसरण किया और उन्हीं के नियमों तथा कार्य-विधि को

अपनाया। विविध स्थानों पर उन्होंने भिक्षुओं के संघ स्थापित किये। प्रत्येक स्थान का संघ अपने आपमें पृथक्, स्वतन्त्र व स्वायत्त सत्ता रखता था। भिक्षु लोग संघ सभा में एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। महात्मा बुद्ध ने संघ के लिए सात अपरिहारणीय धर्मों का उपदेश किया था—(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना। (२) एक ही बैठक करना, एक ही उत्थान करना और एक ही संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना। (३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन न करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना। (४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मानकर उनका पूजन करना, उनकी बात को सुनना तथा ध्यान देने योग्य समझना। (५) पुनः-पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं आना। (६) वन की कुटियों में निवास करना। (७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें। भिक्षुओं के लिए यह आवश्यक था, कि वे संघ के सब नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करें तथा संघ के प्रति भक्ति रखें। इसीलिए भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञाएँ लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में आने का वचन देना होता था (बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि)। संघ में सम्मिलित हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य-मात्र के हित-कल्याण के महान् उद्देश्य को सम्मुख रखकर ही भिक्षु संघ की स्थापना की गई थी। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए भिक्षुओं से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की अपेक्षा रखी जाती थी। महात्मा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आर्य मार्ग जो न केवल भारत में ही, अपितु संसार के कितने ही देशों में प्रचारित हुआ, उसमें भिक्षु संघ का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व था। संघ का कोई केन्द्रीय कार्यालय नहीं था, और न कोई ऐसा सार्वभौम या सार्वदेशिक संगठन था, जिसमें कि स्थानीय संघों के प्रतिनिधि एकत्र होते हों। उस युग में वर्तमान समय के सदृश आने-जाने तथा संचार के साधनों का अभाव था। इस दशा में यह सम्भव भी नहीं था, कि किसी केन्द्रीय संघ का संगठन हो सके। महात्मा बुद्ध एवं उनके शिष्यों द्वारा संघ की कार्यविधि तथा भिक्षुओं की जीवनचर्या के जो नियम निर्धारित किये गये थे, उन्हीं के अनुसार स्थानीय संघों का कार्य हुआ करता था। भिक्षु लोग प्रायः परिभ्रमण करते रहते थे। वे किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे। अतः भ्रमण करते हुए भिक्षु जहाँ कहीं होते, वहीं के स्थानीय संघ में ठहर जाते और वहीं प्रार्थना-उपासना आदि में सम्मिलित हो जाते। इस प्रकार भिक्षु संघ का रूप एक ढंग से 'चातुर्दिश' या सार्वभौम हो जाता था, क्योंकि उसमें उपस्थित भिक्षु किस देश का है या कौन-सी भाषा बोलने वाला है, इसका कोई विचार वहाँ नहीं किया जाता था। प्रत्येक संघ के स्वायत्त होने के कारण और किसी केन्द्रीय संगठन के अभाव में उनमें अनेकविध विभिन्नताओं तथा मतभेदों का विकसित हो जाना स्वाभाविक था, जिन्हें दूर करने के लिए बौद्धों द्वारा ऐसी अनेक 'संगीतियों' (महासभाओं) का आयोजन किया गया, जिनमें विविध स्थानीय संघों के भिक्षुओं ने एक साथ बैठकर अपने धार्मिक मन्तव्यों व जीवनचर्या पर विचार-

विमर्श किया। सांसारिक जीवन के सुख-भोग का परित्याग कर मनुष्यों के हित-कल्याण का सम्पादन करने का जो लोग व्रत लेते थे, वही भिक्षु बनकर संघ में सम्मिलित होते थे। वे भैक्षचर्या द्वारा जीवन निर्वाह करते थे, और धन-सम्पत्ति के संचय व भोग को गर्ह्य समझते थे। उनके सेवाव्रत तथा पवित्र जीवन से प्रभावित होकर गृहस्थ लोग उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कोई कसर नहीं उठा रखते थे। अनाथ-पिण्डक सदृश अनेक ऐसे भी धनी गृहस्थ थे, जिन्होंने श्रद्धावश कोटि-कोटि धनराशि बुद्ध तथा संघ के लिए न्यौछावर कर दी थी। भिक्षुणियों के लिए भी पृथक् संघ की सत्ता थी। महात्मा बुद्ध ने उन्हें भी भिक्षुव्रत लेकर मानवों की सेवा में अपना जीवन लगा देने की अनुमति प्रदान कर दी थी। यह सही है, कि अनाथपिण्डक सदृश धन-पतियों से कोटि-कोटि धन प्राप्त कर बौद्ध भिक्षुओं का जीवन पहले के समान सादा व तपस्यामय नहीं रह गया था। ऐसा भी समय आया, जबकि संघों में भौतिक सुख-भोग के सब साधन संचित हो गये थे, और बौद्ध भिक्षु विलास का जीवन बिताने लग गये थे। पर बौद्ध धर्म का देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर में जो प्रचार हुआ, वह उन भिक्षुओं के कर्तृत्व का परिणाम था, जिन्होंने कि सांसारिक सुख-भोग का परित्याग कर और एक उच्च आदर्श को सम्मुख रखकर भिक्षुव्रत ग्रहण किया था।

प्रायः यह समझा जाता है, कि राजा अशोक के संरक्षण, साहाय्य तथा प्रयत्न से बौद्ध धर्म का सर्वत्र प्रचार हुआ, और इस चक्रवर्ती सम्राट् ने अपनी राजशक्ति को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए प्रयुक्त किया। पर तथ्य यह है, कि मौर्य साम्राज्य के अमात्यों ने राजकोष से एक पैसा भी बौद्ध संघ को नहीं देने दिया था। दिव्यावदान में कथा आती है, कि राजा अशोक के पास जो भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, वह सब उसने बौद्ध संघ को दान दे दी थी। वह जिन पात्रों में भोजन करता था, वे सब भी उसने संघ को प्रदान कर दिये थे। जब उसके पास अपनी निजी सम्पत्ति में कुछ भी शेष नहीं बचा, तो उसने राजकोष से धन देने का विचार किया। उस समय अशोक का पौत्र सम्प्रति युवराज पद पर था। अमात्यों ने उसे कहा कि राजा अशोक कुर्कुटाराम विहार (पाटलिपुत्र का बौद्ध संघ) के लिए राजकोष से धन भिजवाना चाह रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही निर्भर होती है। अतः उसे राजकोष से संघ को धन नहीं देने देना चाहिये। इस पर कुमार सम्प्रति ने भाण्डागारिक (राजकोषाध्यक्ष) को राजकोष से धन देने को मना कर दिया। जब यह बात अशोक को ज्ञात हुई, तो वह बहुत उद्विग्न हुआ। उसने अमात्यों को एकत्र किया, और उनसे पूछा 'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' इसपर प्रधानामात्य ने आसन से उठकर और यथोचित रीति से अशोक के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर उत्तर दिया—'आप ही राज्य के स्वामी हैं।' यह सुनकर अशोक की आँखों से आँसू बहने लगे। आँसुओं से अपने वदन को गीला करते हुए उसने कहा—'तुम मेरा लिहाज करके झूठ-मूठ क्यों कह रहे हो, कि मैं ही राजा हूँ। मुझसे तो राज्य छिन गया है। मेरे पास तो अपना केवल यह आधा आँवला ही शेष रह गया है। मेरा केवल इसी पर स्वामित्व है।' इस कथा से संकेत मिलता है, कि राजा अशोक बौद्ध संघ के लिए राजकोष से धन नहीं दे सका था। उसने शस्त्र शक्ति द्वारा अन्य देशों की विजय की नीति का परित्याग कर धर्मविजय की जिस नीति को अपनाया था, उसका उद्देश्य भी बौद्ध धर्म का प्रचार करना नहीं था। मागध साम्राज्य

की अपार शक्ति का प्रयोग अशोक विश्व विजय के लिए कर सकता था। मौर्यों के प्रभुत्व का विस्तार करते हुए उसने कलिंग (उड़ीसा) पर आक्रमण किया था। उस देश को जीतने में लाखों आदमी मारे गये, लाखों कैद हुए, लाखों स्त्रियाँ विधवा हुईं और लाखों बच्चे अनाथ हुए। यह देखकर अशोक के मन में विचार आया कि जिससे धन-जन का इस प्रकार विनाश हो, वह विजय निरर्थक है। उससे उसे बहुत दुःख तथा अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस ढंग से उसकी विजय नहीं करेगा। मागध साम्राज्य के दक्षिण में उस समय चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यों की स्थिति थी, और उसके उत्तर-पश्चिम में अनेक यवन राज्यों की। मौर्यों की सैन्य शक्ति और राजकोष का प्रयोग इनकी विजय के लिए किया जा सकता था। पर कलिंग विजय के बाद अनुताप की जो भावना अशोक के हृदय में उत्पन्न हुई, उसके कारण उसने शस्त्रविजय का परित्याग कर धर्मविजय की नीति को अपनाया और धर्म द्वारा पड़ोस के राज्यों की विजय का प्रयत्न प्रारम्भ किया। जिस 'धर्म' से वह अपने साम्राज्य के समीपवर्ती देशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहा था, वह कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं था। धर्म के जो सर्वसम्मत सिद्धान्त हैं, अशोक को 'धर्म' से वही अभिप्रेत थे। अपनी धर्मलिपियों (शिलालेखों) में उसने स्वयं 'धर्म' के अभिप्राय को स्पष्ट किया है। "धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाए, माता-पिता की सेवा की जाए, मित्र, परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाए और प्राणियों की हिंसा न की जाए।" "धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहें, बहुत-से अच्छे काम करें, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करें।" "माता और पिता की सेवा करनी चाहिये। प्राणियों के प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये, और सबको अपने जाति भाइयों के प्रति उचित बरताव करना चाहिये।" अशोक ने शस्त्रविजय का परित्याग कर जिस धर्मविजय का प्रारम्भ किया था, वह बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था। उस द्वारा वह एक ऐसे उच्च जीवन का आदर्श जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा था, जिससे किसी भी सम्प्रदाय को विरोध नहीं हो सकता। सबसे पूर्व अशोक ने अपने साम्राज्य में धर्म-विजय के लिए, प्रजा को धर्मानुकूल जीवन बिताने के लिए प्रेरित करने के प्रयोजन से धर्म-महामात्त्रों की नियुक्ति की। अशोक अपनी प्रजा को यह समझाना चाहता था, कि वह केवल अपने सम्प्रदाय का ही आदर न करें, अपितु अन्य मत-मतान्तरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मत-सम्प्रदाय वाले वाणी के संयम से काम लें और परस्पर मेलजोल से रहें। धर्म-महामात्त्रों का यही कार्य था, कि वे जनता को धर्म के सही स्वरूप से अवगत करें, और उसके अनुसार बरतने के लिए प्रेरित करें। अपने राजकर्मचारियों को भी अशोक ने यह आदेश दिया था, कि वे जनता के हितकल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दण्ड न दें और किसी के प्रति कठोरता का बरताव न करें। विभिन्न सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों में मेलजोल पैदा करने का भी अशोक ने प्रयत्न किया था। वह सब सम्प्रदायों का आदर करता था और यह मानता था कि इन सबके सारभूत तत्त्व एक ही हैं। यदि विविध सम्प्रदायों के

सारतत्त्वों पर ही बल दिया जाए, तो उनमें विरोध व विद्वेष की गुंजाइश ही नहीं रह जाएगी।

राजा अशोक द्वारा धर्म-महामात्रों की नियुक्ति केवल मौर्य साम्राज्य में ही नहीं, अपितु चोल, पाण्ड्य, केरल आदि दक्षिणी स्वतन्त्र राज्यों और उत्तर-पश्चिम के यवन राज्यों में भी की गयी थी। इन विदेशी राज्यों में वहाँ के निवासियों के हित-कल्याण के लिए अशोक ने अनेकविध कार्य किये थे। इन कार्यों को उसने इस प्रकार सूचित किया है—"मैंने सब जगह मार्गों पर बरगद के वृक्ष लगवा दिये हैं, ताकि पशुओं और मनुष्यों को छाया मिल सके। आमों की वाटिकाएँ लगवा दी हैं। आठ-आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाये हैं, और सरायें बनवायी हैं। जहाँ-तहाँ पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए बहुत-से प्याऊ बैठा दिये हैं।...मैंने यह सब इसलिए किया है कि लोग धर्म का आचरण करें।" केवल अपने साम्राज्य में ही नहीं, अपितु पड़ोस के विदेशी राज्यों में भी अशोक ने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था की थी। चिकित्सा के लिए जिन औषधियों की आवश्यकता थी, उन्हें सर्वत्र भिजवाया गया था। विदेशों में अशोक द्वारा जो धर्म-महामात्र नियत किये गये थे, वे 'अन्तमहामात्र' कहाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों के लिए चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से लोगों का हित और कल्याण सम्पादित करना था। उस युग के राजा प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहा करते थे। प्रजा के सुख और हित पर वे विशेष ध्यान नहीं देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोगों के हृदय में उस देश और उसके धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हुआ, जिसके राजा द्वारा उनके हित-सुख के लिए ये कार्य कराये जा रहे थे। विदेशी राज्यों की विजय का यह एक नया साधन था, जिसे अशोक ने प्रयुक्त किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण इन देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त होने में सहायता अवश्य मिली होगी। पर यह असंदिग्ध है कि उसने अपनी राजशक्ति और राजकोष का प्रयोग किसी धर्म-विशेष के प्रचार के लिए नहीं किया था। वह खून की एक बूंद भी बहाये बिना पड़ोस के स्वतन्त्र राज्यों में भारतीय धर्म और संस्कृति का सिक्का जमाने में समर्थ हो गया था, और सर्वत्र उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यही उसकी धर्मविजय थी, और इसी द्वारा वह अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में अशोक की यह धर्म-विजय इस रूप में अवश्य सहायक हुई, कि अन्तमहामात्रों द्वारा सम्पादित लोकहित के कार्यों के कारण विविध देशों और प्रदेशों के निवासी भारतीयों को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे, और जब बौद्ध भिक्षु तथा स्थविर वहाँ धर्म-प्रचार के लिए गये, तो लोगों ने उनकी बात को ध्यान से सुना, और उनके मन्तव्यों की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर वे उनके अनुयायी बन गये।

राजा अशोक के समय भारत के विविध प्रदेशों तथा पड़ोस के विदेशी राज्यों में बौद्ध धर्म का जो असाधारण गति से प्रचार हुआ, उसका प्रधान श्रेय उन भिक्षुओं को है, जो आचार्य उपगुप्त की प्रेरणा से देश-विदेश में धर्म-प्रचार के लिए गये थे।

यह उपगुप्त (जिसे मोद्गलिपुत्र तिष्य भी कहा गया है) बौद्ध धर्म का महान् आचार्य था, और राजा अशोक को उसी ने बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। अशोक इस आचार्य का परम भक्त था। उपगुप्त गुप्त नाम के गान्धिक के पुत्र थे, और मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उनका निवास था। अशोक के निमन्त्रण पर उपगुप्त जलमार्ग द्वारा (यमुना नदी से और फिर गंगा से) पाटलिपुत्र गये। वहाँ उनका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। सम्पूर्ण नगर को सजाया गया, और अशोक स्वयं उनके स्वागत के लिए साढ़े तीन कोस आगे तक गये। ज्यों ही आचार्य (स्थविर) उपगुप्त को अशोक ने देखा, वह उनके पैरों पर गिर पड़ा, और हाथ जोड़कर कहा—"जब मैंने शत्रु-गणों का विनाश कर शैलों समेत उस पृथिवी को प्राप्त किया, समुद्र जिसके आभरण हैं और जिसपर शासन करने वाला अन्य कोई नहीं है, तब भी मुझे वह सुख प्राप्त नहीं हुआ था, जो आज आपके दर्शन से प्राप्त हो रहा है।"

विशाल मागध साम्राज्य के एकच्छत्र प्रतापी सम्राट् अशोक ने जिस स्थविर का चरणों पर गिरकर अभिवादन किया था, वह कितना तपस्वी और संयमी था, इस सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य की एक कथा उल्लेखनीय है। जब भिक्षु उपगुप्त भैक्षचर्या करते हुए नगर की वीथियों में आया करते थे, तो आम्रपाली नाम की एक गणिका उनके सुन्दर तेजस्वी रूप को देखकर उनपर मुग्ध हो गयी। उसने दासी भेजकर उन्हें अपने पास बुलवाया। जब उपगुप्त भिक्षा ग्रहण करने के लिए उसके पास पहुँचे, तो उसने कहा—"मैंने भिक्षा देने के लिए आपको नहीं बुलाया है। मैं स्वयं अपने आपको समर्पित करना चाहती हूँ। मैं आपके साथ अभिसार की इच्छुक हूँ।" इस पर उपगुप्त ने स्मित हास्य से उत्तर दिया—"अभी मुझसे अभिसार का आपका समय नहीं आया है।" कुछ वर्ष बाद जब आम्रपाली रोगग्रस्त हो गयी, उसका सब शारीरिक आकर्षण नष्ट हो गया और विवश होकर वह सड़क के किनारे लेटकर भीख माँगने लगी, तो उपगुप्त ने उसके पास आकर कहा—"मैं आ गया हूँ, देवि, तुम्हारे और मेरे अभिसार का समय अब आ गया है।" वह उसे अपने साथ विहार में ले गये। वहाँ उन्होंने उसकी चिकित्सा करवाई और भिक्षुणी व्रत में दीक्षित कर उसे मनुष्य-मात्र की सेवा में लगा दिया। राजा अशोक के समय में देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार का जो महान् आयोजन हुआ था, उसके संचालक यह आचार्य उपगुप्त ही थे। उन द्वारा धर्म-प्रचारकों की नौ मण्डलियाँ तैयार की गयी थीं, जिन्हें विविध प्रदेशों व देशों में प्रचार-कार्य के लिए भेजा गया था। ये मण्डलियाँ किन-किन भिक्षुओं के नेतृत्व में किन-किन देशों में गयीं, बौद्ध-साहित्य के अनुसार इसका विवरण निम्नलिखित है—आचार्य मज्झन्तिक के नेतृत्व में काश्मीर और गान्धार में, महादेव के नेतृत्व में महिशमण्डल में, स्थविर रक्खित के नेतृत्व में बनवास में, स्थविर योनक धम्मरक्खित के नेतृत्व में अपरान्तक में, महा-धम्मरक्खित के नेतृत्व में महाराष्ट्र में, स्थविर महारक्खित के नेतृत्व में योन लोक (यवन देश) में, स्थविर मज्झिम और कस्सप के नेतृत्व में हिमवन्त प्रदेश में, स्थविर श्रोण और उत्तर के नेतृत्व में सुवर्ण-भूमि में और महामहिन्द (महेन्द्र) के नेतृत्व में श्रीलंका में। इन प्रचारक-मण्डलियों ने विविध देशों में जाकर जिस ढंग से बौद्ध धर्म का प्रचार किया, इसका विवरण भी बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध है, पर यहाँ उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने योग्य बात यह है, कि आचार्य उपगुप्त की

प्रेरणा से जिन व्यक्तियों ने भिक्षुव्रत ग्रहणकर धर्म-प्रचार का कार्य हाथों में लिया था, उनमें राजकुल के अत्यन्त सम्भ्रान्त व्यक्ति भी थे। जो प्रचारक-मण्डली श्रीलंका में कार्य के लिए गयी थी, उसके नेता महेन्द्र राजा अशोक के पुत्र थे। महेन्द्र की माता का नाम असन्धिमित्रा था। वह विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। इस रानी से अशोक की एक पुत्री भी थी, जिसका नाम संघमित्रा था। संघमित्रा भी भिक्षुणी व्रत ग्रहणकर अपने भाई महेन्द्र के साथ श्रीलंका में धर्म-प्रचार के लिए गयी थी। 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तद्देवेतरो जन:' बड़े आदमी जैसा आचरण करते हैं, अन्य लोग उसी का अनुकरण करते हैं। जब बड़े-से-बड़े आदमी, यहाँ तक कि राजकुमार और राजकुमारियाँ भी धर्म-प्रचार के कार्य में अपने जीवन को लगाने के लिए उद्यत हों, तो उनके उदाहरण को सम्मुख रखकर अन्य लोग भी इसके लिए प्रवृत्त होंगे और प्रचार-कार्य को अत्यन्त सम्मान व गौरव की दृष्टि से देखा जाएगा। बौद्ध धर्म का जो देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर में इतने व्यापक रूप से प्रचार हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि अत्यन्त कुलीन व सम्भ्रान्त वर्ग के स्त्री-पुरुष भी उसके लिए जी-जान से संलग्न रहे थे। केवल महेन्द्र ही नहीं, अपितु कितने ही अन्य राजकुमारों ने भी राजसी ठाठ तथा सांसारिक सुख-वैभव का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर लिये थे, और अपने को बौद्ध धर्म के उत्कर्ष व प्रचार के लिए समर्पित कर दिया था। मध्य एशिया और चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले आचार्य कुमारजीव (चौथी सदी ईस्वी) का पिता कुमारायण एक भारतीय राज्य के अमात्य का पुत्र था। उसकी पत्नी मध्य एशिया के एक राजा की वहिन थी। उन्होंने अपने पुत्र कुमारजीव को वेद-शास्त्रों और बौद्ध ग्रन्थों की उच्च शिक्षा प्रदान की थी, और उसने अपने जीवन को धर्म-प्रचार के कार्य में लगा देने में गौरव अनुभव किया था। इण्डोनीसिया के विविध द्वीपों तथा चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय गुणवर्मा नामक विद्वान् आचार्य को प्राप्त है। वह काश्मीर का युवराज था, पर भिक्षु वन गया था। गुणवर्मा का समय पाँचवीं सदी ईस्वी में है। इसी प्रकार के अन्य भी कितने ही व्यक्ति ऐसे हुए, जो राज-कुलों व धनी सम्भ्रान्त परिवारों में उत्पन्न हुए थे, पर जिन्होंने भिक्षु बनकर बौद्ध धर्म के प्रचार में अपना जीवन लगा दिया था।

बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार के लिए भारतीय स्थविरों और भिक्षुओं ने अपने धर्म-ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद कराने के कार्य को बहुत महत्त्व दिया था। साहित्य प्रचार का सशक्त साधन होता है। इसीलिए संस्कृत एवं पालि भाषाओं के बौद्ध-ग्रन्थों को चीनी व तिब्बती आदि भाषाओं में अनूदित करने पर बौद्ध-प्रचारकों ने विशेष ध्यान दिया। गुणवर्मा के कुछ समय पश्चात् सन् ४३५ में आचार्य गुणभद्र भारत से चीन गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने ७८ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनके बाद ४८१ ईस्वी में धर्मजात यश और छठी सदी में धर्मरुचि, बौधिरुचि, रत्नयति और गौतम प्रज्ञारुचि चीन गये, और वहुत-से बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में उन्होंने अनुवाद किया। भारतीय पण्डितों के निरन्तर चीन जाते रहने का यह परिणाम हुआ, कि उस देश के विहारों में हजारों की संख्या में भारतीय भिक्षु व स्थविर निवास करने लगे। चीन की एक अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी के प्रारम्भ में उस देश में जो भारतीय भिक्षु निवास कर रहे थे, उनकी संख्या तीन हजार के लगभग थी। छठी सदी में जो

अन्य बहुत-से भारतीय प्रचारक चीन गये, उनमें जिनगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। वह पेशावर का रहने वाला था, और उसने भारतीय धर्मग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिए एक संघ की स्थापना की थी। इस संघ में बहुत-से भारतीय तथा चीनी विद्वान् सम्मिलित थे, और उन्होंने सैकड़ों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। तिब्बत में बौद्ध धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें भी बौद्ध धर्मग्रन्थों के तिब्बती भाषा में किये गये अनुवादों से बहुत सहायता मिली। इस कार्य के लिए जो बहुत-से भारतीय विद्वान् तिब्बत गये, उनमें जिनमित्र, शीलेन्द्र बोधि, प्रज्ञावर्मन्, सुरेन्द्र बोधि आदि मुख्य थे। बहुत-से बौद्ध-ग्रन्थ संस्कृत भाषा के मूलरूप में इस समय उपलब्ध नहीं हैं, पर उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद अब भी विद्यमान हैं। विदेशों में बौद्ध प्रचारकों की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था, कि उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों को विविध देशों की भाषाओं में उपलब्ध कराने के कार्य पर विशेष ध्यान दिया था।

कोई नया धार्मिक आन्दोलन तभी सफल होता है, जब उसके पास कोई ऐसा सन्देश हो, ऐसा कार्यक्रम हो, जिसे लोग अपने लिए हितकर समझें, जिससे उनका हित-कल्याण सम्पादित हो, और जो उन्हें उन्नति के मार्ग पर ले जाये। जिस समय बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, भारत के समाज और धर्म में अनेकविध विकृतियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। मनुष्य की सामाजिक स्थिति का आधार जन्म को माना जाने लगा था, और जन्म के कारण ही किसी को उच्च या नीच समझा जाता था। महात्मा बुद्ध समाज में ऊँच-नीच के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में कोई भी मनुष्य नीच या अछूत नहीं था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठी, शूद्र, वेश्या एवं अन्त्यज—सब एक समान स्थान रखते थे। बौद्ध-साहित्य में कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नाम के ब्राह्मण बुद्ध के पास आए और उनसे पूछा—हम दोनों में इस प्रश्न पर विवाद हो गया है कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—"हे वासत्थ! जो मनुष्य गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। किसी विशेष माता के पेट से जन्म होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहूँगा। जो भी व्यक्ति क्रोधरहित है, अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, जो अकिंचन है, जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई अब्राह्मण के घर में जन्म लेने से अब्राह्मण होता है। अपने कर्मों से ही कोई आदमी ब्राह्मण बन जाता है, और कोई अब्राह्मण। अपने कर्म से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है और कोई सेवक है।" जन्म के आधार पर ऊँच-नीच के निर्धारण के कारण भारत के समाज में जो बुराई प्रादुर्भूत हो गयी थी, बुद्ध ने उसका उग्र रूप से विरोध किया और एक ऐसे समाज का निर्माण करने का प्रयत्न किया, जिसमें ऊँच-नीच व छूत-अछूत का कोई भेद नहीं था, जिसमें सबकी एक समान स्थिति थी, और कर्म के कारण ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र माना जाता था। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए वर्ण या जाति का कोई भी विचार नहीं रखा जाता था, और सब कोई विद्या एवं सत्याचरण द्वारा स्थविर या भिक्षु का गौरवमय पद

प्राप्त कर धर्मगुरु की स्थिति को पहुँच सकते थे। जिस सामाजिक संगठन में मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या को उनके जन्म के कारण नीच समझा जाता हो, उसके लिए बुद्ध की यह शिक्षा कितनी क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील थी, और जनता के बड़े भाग ने कितने उत्साह तथा उल्लास से उसका स्वागत किया होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। जिस बात से मनुष्यों को अपना स्पष्ट लाभ प्रतीत होता हो, उसे अपनाने में वे देर नहीं करते। महात्मा बुद्ध के मन्तव्य बहुसंख्यक जनता के लिए कल्याणकारी थे, वे न्याय तथा सत्य पर आधारित थे। इसीलिए उनका प्रचार् सुगमता के साथ हो सका।

महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बहुत जटिल रूप धारण कर चुका था। उनमें पशुओं की बलि भी दी जाने लगी थी। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण लोग अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों पर विश्वास नहीं था। एक उपदेश में उन्होंने कहा था—"वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भरकर बह रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यक कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खड़ा हुआ यह प्रार्थना करना प्रारम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे, इस पार आ जाओ। क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से वह किनारा उसके पास चला आएगा? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार त्रयी विद्या में निष्णात एक ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रिया रूप में अपने अन्दर नहीं लाता जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणों का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आयेंगे। क्या इनकी प्रार्थना से कोई लाभ होगा?" यज्ञों में विविध देवताओं का आवाहन कर ब्राह्मण लोग जो उनकी स्तुति करते थे, आहुति द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते थे, बुद्ध उसे निरर्थक समझते थे। उनका मन्तव्य था, कि सद् आचरण तथा सद्गुणों से ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड का जो रूप उस समय विकसित हो गया था, उसका उनकी दृष्टि में कोई लाभ नहीं था। उनका मत था, कि जब तक चरित्र शुद्ध न हो, धन की तृष्णा दूर न हो, और काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह आदि पर विजय न कर ली जाये, केवल याज्ञिक अनुष्ठान व्यर्थ है। वह मध्य मार्ग का अनुसरण करने के पक्षपाती थे। वह उपदेश करते थे, कि "इन दो अतियों (चरम कोटियों) का सेवन नहीं करना चाहिये, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को अत्यधिक कष्ट देना। इन दोनों अतियों के बीच मैंने मध्य मार्ग दिखाया है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शक्ति प्रदान करने वाला है।" इस मध्य मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान या समाधि। इसमें सन्देह नहीं कि इन आठ बातों का पूर्णरूप से आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को आदर्श व कल्याणमय बना सकता है। अत्यधिक भोग-विलास और अत्यधिक तप—दोनों को हेय मानकर महात्मा बुद्ध ने जिस मध्य मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, उसका सार संयम तथा सदाचारमय जीवन ही था। इसके लिए न किसी

जटिल कर्मकाण्ड की आवश्यकता थी, और न किसी पुरोहित की। सब कोई स्वयं इसका अनुसरण कर सकते थे, इसकी साधना कर सकते थे। बुद्ध ने जिस धार्मिक आन्दोलन का भारत में प्रारम्भ किया था, वह अत्यन्त सरल था। सर्वसाधारण जनता ने उसे अपने लिए कल्याणकर समझा, क्योंकि उसमें न कोई जन्म के कारण ऊँचा माना जाता था, न कोई नीच। उसमें किसी जटिल तथा व्ययसाध्य कर्मकाण्ड को भी स्थान नहीं था, और न उसकी साधना के लिए घोर तपस्या की ही आवश्यकता थी। परिणाम यह हुआ, कि उनका धर्म निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त होता गया, और सर्वस्वत्यागी तथा मानवमात्र के हित-कल्याण में रत स्थविरों और भिक्षुओं के पुरुषार्थ के कारण समयान्तर में वह भारत का सर्वप्रधान धर्म बन गया।

बरमा, मध्य एशिया आदि जिन अन्य देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, वहाँ के निवासी सभ्यता की दृष्टि से भारत की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे। बौद्ध भिक्षुओं ने उनमें केवल एक उत्कृष्ट धर्म का ही सूत्रपात नहीं किया, अपितु एक उच्च सभ्यता और उच्च प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को भी वे अपने साथ इन देशों में ले गये। आचार्य उपगुप्त के आयोजन से जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में धर्म-प्रचार के लिए गये थे, उनमें से सुवर्णभूमि भेजे गये आचार्य उत्तर और स्थविर सोण के कार्य के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थ महावंश में लिखा है—"उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल में यह अवस्था थी, कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता था, उसी क्षण एक राक्षसी आकर उसे खा जाती थी। जिस समय स्थविर सुवर्णभूमि पहुँचे, राजकुल में एक बालक उत्पन्न हुआ। लोगों ने समझा कि ये स्थविर राक्षसी के सहायक हैं। अतः वे उन्हें घेरकर मारने के लिए तैयार हो गये। स्थविरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया और कहा—हम तो शील से युक्त श्रमण है, राक्षसी के सहायक नहीं हैं। उसी समय राक्षसी अपने साथियों के साथ समुद्र से निकली। इसपर सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर स्थविरों ने अपने अलौकिक प्रभाव द्वारा उस राक्षसी को नष्ट कर दिया, और सर्वत्र अभय की स्थापना की। तब उन्होंने ब्रह्मजाल सूत्र का उपदेश किया, जिसे सुनकर बहुत-से लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया।...इस समय के बाद सुवर्णभूमि के राजवंश में जो भी कुमार उत्पन्न हुए (स्थविर सोण और उत्तर के नाम पर) सोणुत्तर कहाए।" महावंश का यह आलंकारिक वर्णन इस तथ्य को सूचित करता है, कि सुवर्णभूमि के राजकुल में कोई बच्चा जीवित नहीं रह पाता था, जन्म होते ही रोगरूपी राक्षसी उसे खा लेती थी। वहाँ के निवासियों को इस रोग की चिकित्सा का ज्ञान नहीं था। पर स्थविर सोण और उत्तर चिकित्साशास्त्र में निष्णात थे। उनकी चिकित्सा के कारण रोगरूपी राक्षसी से राजकुमार की रक्षा हुई। परिणाम यह हुआ कि न केवल उस देश के निवासी उन आचार्यों की शिक्षाओं की ओर आकृष्ट ही हुए, अपितु वहाँ नये ज्ञान-विज्ञान का भी प्रवेश हुआ। भारत के पूर्व एवं दक्षिण-पूर्व में जो अनेक देश व द्वीप हैं, प्राचीन समय में उन्हीं को सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप कहा जाता था।

काश्मीर और गान्धार में प्रचार के लिए गये स्थविर मज्झन्तिक के सम्बन्ध में महावंश में लिखा है, कि 'अभवाल' नामक नागराज अपने प्रभाव से वहाँ की फसलों को नष्ट कर रहा था, पर स्थविर ने अपने उत्कृष्ट सामर्थ्य से नागराज को अपने वश में कर लिया और उन देशों की फसलें नष्ट होने से बच गईं। इस वर्णन में भी आलंकारिक

रूप से यह सूचित किया गया है कि काश्मीर और गान्धार में बहुधा बाढ़ों का जो प्रकोप रहता था, बौद्ध स्थविर ने उसका निवारण कर वहाँ की फसलों को नष्ट होने से बचाया था, और उनके इस विज्ञान व शिल्प से प्रभावित होकर बहुत-से लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। स्थविर मज्झन्तिक द्वारा काश्मीर में बौद्ध धर्म के प्रचार की बात का उल्लेख चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग ने भी किया है। उसके अनुसार महात्मा बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी, कि "मेरे निर्वाण के बाद अर्हत मध्यान्तिक इस देश में एक राज्य स्थापित करेगा, यहाँ के लोगों को सभ्य बनायेगा और अपने प्रयत्न से बुद्ध के शासन का विस्तार करेगा।" इसमें सन्देह नहीं, कि मज्झन्तिक सदृश स्थविर जहाँ धर्म-प्रचारक थे, वहाँ अनेकविध ज्ञान-विज्ञान में भी निष्णात थे, और उन द्वारा एक उत्कृष्ट सभ्यता का अनेक विदेशी राज्यों में प्रवेश हुआ था। इन स्थविरों के महान् कार्य को महावंश ने कितने सुन्दर रूप में उल्लिखित किया है—"अमृत से भी बढ़कर आनन्द 'सुख का परित्याग कर इन सिद्ध स्थविरों ने सुदूरवर्ती देशों में सब प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए संसार का हितसाधन किया था। निस्सन्देह, ये स्थविर धन्य हैं।" जिस धर्म के प्रचारक अपने धार्मिक मन्तव्यों तथा पूजा-पद्धति के प्रचार के साथ-साथ नये ज्ञान-विज्ञान और उच्च संस्कृति को भी प्रचारित करते हैं, अपना धर्म साम्राज्य स्थापित कर सकना उनके लिए सुगम हो जाता है। जिन विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, उनके निवासी ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों की तुलना में पिछड़े हुए थे। बौद्ध भिक्षु और स्थविर उनमें उत्कृष्ट संस्कृति और नये ज्ञान-विज्ञान को भी अपने साथ ले गये। उनकी असाधारण सफलता का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का जो वृत्तान्त ऊपर दिया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि इस धर्म का देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जो विस्तार हुआ, उसमें उन स्थविरों और भिक्षुओं का कर्तृत्व सर्वप्रधान था, जो एक उच्च लक्ष्य को सम्मुख रखकर सब सांसारिक सुख-वैभव का परित्याग करने को उद्यत हो गये थे। ये स्थविर और भिक्षु सदाचार, त्याग और संयम का जीवन बिताते थे, और मनुष्य-मात्र का हित-कल्याण सम्पादित करना अपना कर्तव्य समझते थे। ये राजाओं तथा सम्भ्रान्त धनिकों के सामने सिर नहीं झुकाते थे, अपितु चक्रवर्ती सम्राट् तक इनके चरणों का स्पर्श किया करते थे। समाज में इनका स्थान सर्वोपरि था। यह सही है, कि अशोक सदृश राजाओं की नीति से बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायता अवश्य प्राप्त हुई, पर यह सहायता प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप से थी। प्रचारक वर्ग के उत्कृष्ट जीवन के साथ-साथ महात्मा बुद्ध के उन मन्तव्यों व शिक्षाओं से भी इस धर्म के प्रचार में बहुत सहायता प्राप्त हुई, जिनसे जनता को स्पष्ट लाभ था। किसी भी समाज में उन लोगों की संख्या बहुत अधिक होती है, जो कृषक, श्रमिक और शिल्पी के रूप में अपना निर्वाह करते हैं। यदि सुशिक्षित (ब्राह्मण) लोग इन्हें अपने से हीन समझने लगें, इन्हें नीची निगाह से देखने लगें, तो उनके इस कार्य को कदापि उचित नहीं माना जा सकता। फिर यदि ब्राह्मण वर्ग ऐसा हो जाये, जो शिक्षित भी न हो और केवल जन्म के आधार पर अपने उच्च होने का दावा करने लगे, तब तो समाज का स्वरूप अत्यन्त दूषित हो जाता है। बुद्ध ने भारतीय समाज के इसी दूषित रूप के सुधार का प्रयत्न किया था, जिसके कारण सभी

वर्गों के लोग उनके अनुयायी हो गये और उनके धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ। बौद्ध स्थविरों ने अनेक शिक्षा-संस्थाओं की भी स्थापना की थी, जिनमें नालन्दा, विक्रमशिला आदि अनेक ऐसे विश्वविद्यालय भी थे, जिनमें हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। ये भी बौद्ध धर्म के प्रसार में बहुत सहायक हुए। बौद्धों द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयों में केवल बौद्ध धर्म की शिक्षा ही नहीं दी जाती थी; अपितु वेद, षड्दर्शन, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, संगीत, नृत्य आदि अन्य विषयों की शिक्षा भी वहाँ दी जाती थी। उस युग में जो भी ज्ञान-विज्ञान था, सबका उनमें अध्ययन-अध्यापन होता था। इसी कारण उनके आचार्य व प्राध्यापक अपने ज्ञान के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। जब वे कहीं धर्म-प्रचार के लिए जाते, तो जनता का उनसे प्रभावित होना अवश्यम्भावी था। उनके ज्ञान से आकृष्ट होकर ही बहुत-से विद्यार्थी चीन आदि देशों से विद्याध्ययन के लिए भारत आये थे, और बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने देश में उसके प्रचार के लिए प्रयत्नशील हुए थे।

भारत से बाहर जैन धर्म का अधिक प्रचार नहीं हुआ, यद्यपि अनेक जैन मुनि व आचार्य शकस्थान आदि में प्रचार के लिए गये थे और वहाँ उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई थी। पर भारत के विविध प्रदेशों में वर्धमान महावीर की शिक्षाओं का व्यापक रूप से प्रचार रहा है, और प्राचीन समय के अनेक प्रतापी राजा भी इस धर्म के अनुयायी थे। जैन धर्म के प्रचार में भी मुनियों का कर्तृत्व प्रधान था। उनके 'संदोह' विविध प्रदेशों में घूम-घूमकर जैन धर्म का प्रचार किया करते थे, और उनके सदाचारमय उत्कृष्ट जीवन से आकृष्ट होकर जनता उनकी अनुयायी हो जाती थी। जैन धर्म में भी जन्म के आधार पर किसी को उच्च या नीच नहीं माना जाता था। किसी भी जाति या कुल में उत्पन्न व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर और संयम तथा सदाचार का जीवन अपनाकर मुनि तथा आचार्य का पद प्राप्त कर सकता था। जैन धर्म के प्रचार में यह बात भी बहुत सहायक हुई।

दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में भारत में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ था, और बौद्ध धर्म के प्रभाव में क्षीणता आने लग गई थी। पर महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यमा प्रतिपदा या अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग का भारत से जो लोप हुआ, उसमें आचार्य शंकर का कर्तृत्व प्रधान कारण था। उनके प्रयत्न से वेदों के अपौरुषेयत्त्व और ईश्वर की सत्ता में जनता का विश्वास पुनः स्थापित हुआ, और शैव भागवत सम्प्रदाय भारत का सर्वाधिक प्रचलित धर्म हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि बुद्ध के समान शंकराचार्य भी अपना ऐसा विशाल धार्मिकसाम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे, जिसके चार प्रधान केन्द्र या पीठ भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम क्षेत्रों में सर्वत्र विद्यमान थे।

शंकराचार्य ने अपने धर्म के प्रचार के लिए मुख्यतया दो साधन अपनाये थे—शास्त्रार्थ और संन्यासियों के मठों या आश्रमों की स्थापना। उन्होंने दूर-दूर के प्रदेशों में भ्रमण कर बौद्ध आचार्यों से शास्त्रार्थ किए और श्रुति के प्रामाण्य तथा ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। उनकी विद्वत्ता और अकाट्य युक्तियों की धाक इन शास्त्रार्थों के कारण सर्वत्र जम गयी, और उस युग के विचारशील लोग उनके अनुगामी होने लगे। एक ओर जहाँ शंकर ने तर्क और युक्ति प्रमाणों का आश्रय लेकर अपने मन्तव्यों का

प्रतिपादन किया, वहाँ साथ ही उन द्वारा स्थापित संन्यासी-सम्प्रदाय ने जनसाधारण की सेवा तथा हित-कल्याण का वह कार्य प्रारम्भ कर दिया, बौद्ध भिक्षु व स्थविर जिसकी ओर से अब तक विमुख हो चुके थे। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में भिक्षु-संघ बहुत सहायक हुआ था, क्योंकि उस द्वारा जनसाधारण का हित-कल्याण सम्पादित किया जाता था। पर बाद में जब अनाथपिण्डक सदृश सम्भ्रान्त व धनी गृहस्थों ने श्रद्धावश संघ को अपार धन प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया, तो बौद्ध विहारों में निवास करने वाले स्थविर व भिक्षु जनसेवा के अपने कर्तव्य की उपेक्षा कर सुख-वैभव के साथ जीवन विताने लग गये। परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण लोगों से उनके सम्पर्क व प्रभाव में कमी आती गयी। इस दशा में शंकराचार्य ने जिस संन्यासी सम्प्रदाय की स्थापना की, उसके सदस्य प्राचीन वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्श के अनुसार परिव्राजकों का जीवन विताते थे, और गृहस्थों को सन्मार्ग का उपदेश देना तथा जनता का हित-कल्याण सम्पादित करना अपना कर्तव्य मानते थे। आवश्यकता पड़ने पर इन संन्यासियों ने विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं से देश की रक्षा करने के लिए युद्ध भी किये, और एक ऐसे संगठन का भी निर्माण किया, जिसके सदस्य शस्त्र धारण कर आततायियों और दस्युओं का दमन करने के लिए सदा तत्पर रहा करते थे। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जनता बौद्ध-विहारों में सुख-वैभव के साथ जीवन विताने वाले स्थविरों और भिक्षुओं की तुलना में इन संन्यासियों की ओर अधिक आकृष्ट होने लगे, और उन द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मन्तव्यों तथा पूजा-पद्धति का अनुसरण करने में प्रवृत्त हो जाये। भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास तथा शंकर आदि विविध आचार्यों द्वारा निरूपित वैदिक सम्प्रदायों की स्थापना में यह बात बहुत सहायक सिद्ध हुई।

(४) क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम का प्रचार-प्रसार

जिन कारणों और जिन साधनों से कोई धार्मिक आन्दोलन अपना धार्मिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ होता है, बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के विवरण से वे भली-भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम भी अपने धार्मिक साम्राज्यों का निर्माण करने में समर्थ हुए हैं, और अपने इन साम्राज्यों का और भी अधिक विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अतः इनके प्रचार-कार्य पर भी अत्यन्त संक्षेप के साथ प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

क्राइस्ट का जन्म जूडिया में हुआ था, जो उस समय रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। रोमन सम्राट् अपने को देवता व परमेश्वर मानते थे। रोमन लोगों के धर्म में देवी-देवताओं की पूजा का प्रमुख स्थान था, और रोमन सम्राट् भी अपने दैवी होने का दावा किया करते थे। मनुष्यों की स्थिति देवताओं से हीन होती है, और उनकी इच्छा के सम्मुख मनुष्य की इच्छा का कोई महत्त्व नहीं होता। मनुष्यों का हित इसी में है, कि वे दैवी-विधान को आस्थापूर्वक स्वीकार करते रहें। क्योंकि रोमन सम्राट् भी देवता है, अतः उसकी आज्ञाओं को आँख मूंदकर मानते जाना उसकी प्रजा का परम कर्तव्य है। क्राइस्ट इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उनका कहना था, कि परमेश्वर एक है। वह सबका पिता है, और सब मनुष्य उसके पुत्र हैं। उनमें राजा-प्रजा, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद नहीं है। सब एक-दूसरे के बराबर हैं। हमें संसार

में ईश्वर का स्वर्गीय राज्य स्थापित करना है, किसी मनुष्य को ईश्वर या देवता मानकर उसके शासन को आँख मूंदकर स्वीकार नहीं कर लेना है। ईश्वर सबके प्रति समान रूप से कृपालु है। जैसे सूर्य बिना किसी भेदभाव के सबको समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है, वैसे ही ईश्वर की कृपा सबको समान रूप से प्राप्त होती है। परमपिता के राज्य में न कोई उच्च है, न कोई नीच है, और न किसी की विशिष्ट स्थिति है। शासक-वर्ग और धनी लोगों की विशिष्ट व सम्मानास्पद स्थिति क्राइस्ट को स्वीकार नहीं थी। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वत्व भी उन्हें समुचित प्रतीत नहीं होता था। उनका मन्तव्य था, कि जैसे सब मनुष्य परमेश्वर के पुत्र व प्रजा हैं, वैसे ही सब सम्पत्ति भी परमेश्वर की ही है। बाइबल की एक कथा के अनुसार एक धनी व्यक्ति उनके पास आकर बोला—मैं आपकी आज्ञाओं को जानता हूँ। किसी की हिंसा मत करो, व्यभिचार न करो, चोरी न करो, झूठी साक्षी न दो, किसी को धोखा न दो, और अपने माता-पिता की सेवा करो। मैं इन सब आज्ञाओं का भली-भाँति पालन करता हूँ। यह सुनकर क्राइस्ट ने उसकी ओर स्नेहपूर्वक देखा और कहा—तुममें अब भी एक कमी रह गयी है। जो सम्पत्ति तुम्हारे पास है उस सबको बेच दो और उससे जो धन मिले, उसे गरीबों में वितरण कर दो। उस धनी व्यक्ति को यह कहकर क्राइस्ट ने चारों ओर देखा और अपने शिष्यों से कहा—ऊँट के लिए सुई के नक्के में से गुजर सकना सुगम है, पर धनी लोगों के लिए परमेस्वर के राज्य में प्रवेश कर सकना सम्भव नहीं है। इन शिक्षाओं के कारण सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्तियों द्वारा क्राइस्ट का विरोध किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। जूडिया के राजपदाधिकारी उसके विरुद्ध थे, क्योंकि वह रोमन सम्राट् को दैवी मानने को तैयार नहीं था। वहाँ के सम्पन्न लोगों का भी उनसे विरोध था। पर जहाँ तक सर्वसाधारण जनता का सम्बन्ध है, उसे क्राइस्ट की शिक्षाएँ अच्छी प्रतीत होती थीं। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से लोग उनके अनुयायी हो गये। रोमन साम्राज्य के स्थानीय शासक ने समझा, कि सम्राट् को दैवी न मानकर और उसकी पूजा को अनुचित बताकर क्राइस्ट विद्रोह का झण्डा खड़ा कर रहा है। क्राइस्ट द्वारा जिस ईश्वर या स्वर्ग के राज्य (किंगडम ऑफ हैवन) की स्थापना का प्रचार किया जा रहा था, उसके सही अभिप्राय को न समझकर रोमन सम्राट् के जूडिया-स्थित प्रतिनिधि ने क्राइस्ट को विद्रोही घोषित कर एक साधारण बागी व अपराधी के समान शूली पर चढ़ा दिया। पर क्राइस्ट की शिक्षाओं के कारण जूडिया के निर्धन, असहाय और दलित लोगों में आशा का जो संचार हो रहा था और वे स्वर्ग के राज्य में अपनी दशा के सम्बन्ध में जो सुनहरे सपने देखने लग गये थे, क्राइस्ट के बलिदान के साथ उनका अन्त नहीं हो गया। वस्तुतः, क्राइस्ट द्वारा एक जबरदस्त आन्दोलन का सूत्रपात किया गया था, जिसकी शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गयी, और केवल जूडिया में ही नहीं, अपितु रोमन साम्राज्य के अन्य भी अनेक देशों में उसका विस्तार होता गया। रोमन सम्राट् न केवल निरंकुश थे, पर साथ ही अत्याचारी भी थे। उनके राजपदाधिकारी तथा कर्मचारी भी जनता पर मनमाने अत्याचार किया करते थे। इस दशा में क्राइस्ट के अनुयायियों को उन्होंने अपना रक्षक व सहायक माना, क्योंकि वे उन्हें स्वर्ग के राज्य के रूप में एक नये सुवर्णीय युग के सूत्रपात की आशा दिला रहे थे, एक ऐसे युग की जिसमें कोई भी व्यक्ति सम्पत्तिशाली व विशेषाधिकार सम्पन्न नहीं होगा, सबकी दशा समान होगी और ऊँच-

नीच का कोई भेद नहीं रहेगा। रोमन सम्राट् द्वारा इस नये आन्दोलन को कुचलने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया, क्रिश्चियन लोगों पर घोर अत्याचार किये गये, पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई। क्रिश्चियन लोगों की संख्या तथा शक्ति में निरन्तर वृद्धि होते जाने के कारण अन्त में रोमन सम्राट् कान्स्टेन्टाइन (चौथी सदी ईस्वी) ने इस नये धर्म में दीक्षित हो जाने में ही अपना हित समझा। अब क्रिश्चिएनिटी ने रोमन साम्राज्य के राजधर्म की स्थिति प्राप्त कर ली और इससे उसके उत्कर्ष में और अधिक सहायता मिली। यह सही है, कि कान्स्टेन्टाइन ने क्रिश्चियन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भरपूर सहयोग दिया, पर यह भी सत्य है कि तीन सदियों तक इस धर्म के अनुयायियों पर घोर अत्याचार होते रहे और उसका जो भी प्रचार हुआ, वह उन साधुओं व भिक्षुओं के परिश्रम का परिणाम था, जो सांसारिक जीवन के सब सुख-भोगों का परित्याग कर स्वेच्छापूर्वक भिक्षु जीवन ग्रहण करते थे और धर्म-प्रचार के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देने के लिए उद्यत रहते थे। क्राइस्ट के देहावसान के कुछ समय पश्चात् ही ईसाई मिशनरियों ने दूर-दूर के देशों में धर्म-प्रचार के लिए जाना प्रारम्भ कर दिया था। पहली सदी ईस्वी में उनका एक प्रचारक दक्षिणी भारत के समुद्र तट पर भी आ पहुँचा था, और उस द्वारा वहाँ क्रिश्चिएनिटी का बीजारोपण भी कर दिया गया था।

जब तक क्रिश्चिएनिटी को रोमन साम्राज्य के राजधर्म की स्थिति प्राप्त नहीं हुई, उसका जो भी प्रचार-प्रसार हुआ, वह साधुओं तथा भिक्षुओं द्वारा ही किया गया था। पर बाद में उसके लिए राजशक्ति भी प्रयुक्त की गयी। ईसाइयों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट। मध्यकालीन यूरोप के जो राजा रोमन कैथोलिक थे, उन्होंने अपनी प्रोटेस्टेन्ट प्रजा पर अमानुषिक अत्याचार किये। वे यह सहन नहीं कर सकते थे, कि उनके राज्य का कोई निवासी ऐसे सम्प्रदाय का अनुयायी हो, जो राजा का अपना धर्म न हो। इसी प्रकार प्रोटेस्टेन्ट राजाओं द्वारा रोमन कैथोलिक प्रजा पर अत्याचार किए गये। जब मध्यकाल के अन्त में एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन राज्यों ने अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया, तो उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपने धर्म में बलपूर्वक दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया। भारत के लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से समुचित रूप से उन्नत थे। उसके जिस प्रदेश पर पोर्तुगीजों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ के निवासियों पर उन्होंने क्रिश्चियन होने के लिए शक्ति भी प्रयुक्त की। अफ्रीका महाद्वीप के लोग सभ्यता के क्षेत्र में बहुत पिछड़े हुए थे। उन्हें ईसाई बनाने के लिए यूरोपियनों ने जहाँ बल का प्रयोग किया, वहाँ साथ ही उनके मध्य वे एक उच्चतर सभ्यता एव उत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान के वाहक के रूप में भी प्रविष्ट हुए, और इस प्रकार उन्हें नीग्रो लोगों को क्रिश्चियन बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। राजकीय शक्ति का साहाय्य प्राप्त होते हुए भी क्रिश्चियन मिशनरी अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने में जो इतने अधिक सफल हुए, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उनका जनता के हित-कल्याण का सम्पादन करना भी था। क्रिश्चियन मिशनरियों ने स्थान-स्थान पर शिक्षण-संस्थाओं तथा चिकित्सालयों की स्थापना की और रंग, जाति, छूत-अछूत का भेदभाव न कर सबके हित-सुख के लिए प्रयत्न किया। उन्होंने विशेष रूप से उन वर्गों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, जिनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीन थी, और या जो सभ्यता के क्षेत्र में बहुत पिछड़े हुए थे। चिकित्सा की व्यवस्था कर, पढ़ना-लिखना सिखा-

कर और अनेकविध उद्योग-धन्धों में प्रशिक्षित कर क्रिश्चियन मिशनरियों ने उन्हें समाज में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर सकने के योग्य बनाया, जिसके परिणामस्वरूप उनका ईसाई मत के प्रति आकृष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। साहित्य के सृजन पर भी मिशनरियों ने बहुत ध्यान दिया। संसार की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो, जिसमें बाइबल का अनुवाद प्रकाशित न हुआ हो। धर्म-प्रचार के लिए ईसाइयों ने सरल भाषा में बहुत-सी पुस्तकों को प्रकाशित किया, और उन्हें नाममात्र मूल्य पर या सर्वथा मुफ्त जनता तक पहुँचाया। उन्होंने इस बात की परवाह नहीं की, कि जिन मन्तव्यों का वे प्रचार कर रहे हैं, वे कहाँ तक युक्तिसंगत या विज्ञानसम्मत हैं। उन्होंने युक्ति व तर्क को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना कि लोगों के हित-कल्याण के सम्पादन को। क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में यह बात बहुत सहायक सिद्ध हुई। वर्तमान समय में क्रिश्चियन मिशनरियों के पास धन की कोई कमी नहीं है। पाश्चात्य संसार के पूँजीवादी लोग क्रिश्चिएनिटी के प्रचार को अपने उद्योगों और आर्थिक समृद्धि के लिए सहायक समझते हैं, क्योंकि इस धर्म को अपना लेने पर अफ्रीका आदि देशों के निवासी जिस प्रकार की सभ्यता का पाठ पढ़ते हैं, उस द्वारा उन्हें बहुत-सी ऐसी वस्तुओं के उपभोग की आदत पड़ जाती है, जिनका उत्पादन पाश्चात्य देशों के कल-कारखानों में होता है। अफ्रीका के नीग्रो पहले कोट-पतलून नहीं पहनते थे। भोजन के लिए वे क्राकरी, कटलरी का उपयोग नहीं करते थे, और चिकित्सा के लिए ऐलोपैथिक औषधियाँ प्रयोग में नहीं लाते थे। क्रिश्चियन मिशनरियों ने उन्हें अपने धर्म के साथ-साथ इन वस्तुओं का प्रयोग भी सिखाया, और इन्हें वे यूरोप और अमेरिका से मँगाने लगे। अफ्रीका जैसे विशाल देश में इनकी माँग बढ़ जाने के कारण पाश्चात्य देशों के कल-कारखानों की बहुत उन्नति हुई। पाश्चात्य पूँजीपति जो क्रिश्चियन मिशनरियों को भरपूर आर्थिक सहायता देते हैं, उसका एक कारण उनका आर्थिक स्वार्थ भी है। पूँजीपतियों से प्रभूत परिमाण में धन प्राप्त कर ईसाई प्रचारक जंगलों और दुर्गम स्थानों पर भी जीवन की सब सुविधाएँ जुटा लेते हैं, और उनके लिए पिछड़े हुए लोगों की सेवा एवं हित कर सकना सुगम हो जाता है। पर धर्म-प्रचार के लिए जिस लगन, त्याग तथा सेवाभाव की आवश्यकता है, वह भी क्रिश्चियन मिशनरियों में विद्यमान है, और वे एक उच्च आदर्श को भी अपने कार्य में सम्मुख रखते हैं, यद्यपि आधुनिक युग की सुविधाओं को उपलब्ध कर सकने के कारण उनका कार्य उतना कष्टसाध्य नहीं रह जाता, जैसाकि मध्य युग के धर्म-प्रचारकों का था।

बौद्ध और क्रिश्चियन धर्मों के समान इस्लाम का भी विशाल धार्मिक व सांस्कृतिक साम्राज्य है। इस धर्म का प्रादुर्भाव हजरत मुहम्मद (५७१-६२२ ईस्वी) द्वारा अरब में किया गया था। प्राचीन अरब लोग अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे, और बहुत-से छोटे-छोटे कबीलों में बँटे हुए थे। मुहम्मद ने अरब के पुराने धर्म में अनेक सुधार किए और छोटे-छोटे राज्यों व कबीलों में बँटे हुए अपने देश को एक सुसंगठित व शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिणत किया। मुहम्मद का मन्तव्य था, कि ईश्वर एक है। उसकी मूर्ति नहीं होती और उसकी उपासना के लिए मन्दिर की कोई आवश्यकता नहीं। सब मनुष्य एक-दूसरे के बराबर हैं, जन्म के कारण कोई ऊँचा या नीच नहीं होता। ईश्वर पैगम्बरों द्वारा मनुष्यों को ज्ञान देता है और सन्मार्ग का प्रदर्शन करता है। मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम पैगम्बर थे, जिनको अपना साधन बनाकर उसने सच्चे धर्म का उपदेश किया है।

यह धर्म कुरान में संकलित है। ईश्वर (अल्लाह) और उसके रसूल मुहम्मद पर ईमान लाने तथा कुरान को अपना धर्मग्रन्थ मानने से ही मनुष्यों का कल्याण सम्भव है। जो ऐसा करें, वे मुसलमान हैं। इनमें ऊँच-नीच या छोटाई-बड़ाई नहीं होती। ये सब परस्पर बराबर होते हैं। मुसलमान हो जाने पर मालिक और गुलाम का भेद भी नहीं रहता। अल्लाह और रसूल पर ईमान न रखना कुफ्र है, और कुफ्र करने वाला काफिर है। मुहम्मद के इन विचारों का शुरू में बहुत विरोध हुआ और विवश होकर उन्हें मक्का से हिजरत कर (सन् ६२२) मदीना चले जाना पड़ा। वहाँ उनका स्वागत हुआ, और बहुत-से लोग उनके अनुयायी हो गये। सात साल मदीना में रहकर मुहम्मद ने वहाँ के लोगों को संगठित किया और बाद में मक्का को भी अपने अधिकार में ले लिया। कुछ ही समय में सारा अरब मुहम्मद के प्रभुत्व में आ गया। मुहम्मद केवल धर्मसुधारक ही नहीं थे। अरब के विविध कबीलों को एक सूत्र में संगठित कर उन्होंने एक शक्तिशाली अरब राज्य का निर्माण किया, और अरब लोगों में नवजीवन तथा अनुपम स्फूर्ति का संचार किया।

मुहम्मद के कर्तृत्त्व से अरब में जिस नवशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ था, उनके उत्तराधिकारियों (खलीफाओं) ने उसका उपयोग अरब तथा इस्लाम के उत्कर्ष के लिए किया। सातवीं सदी के चतुर्थ दशक में अरब के पड़ोस में एक ओर ईरान और दूसरी ओर रोमन साम्राज्य की सत्ता थी। ये दोनों राज्य सर्वथा शक्तिहीन तथा खोखले हो चुके थे। इनका सामाजिक संगठन अत्यन्त दूषित था, और उनके निवासियों में गुलामों की संख्या बहुत अधिक थी। अरबों के सामने वे नहीं ठहर सके, और परास्त हो गये। ईरान तथा पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन प्रदेशों की बहुसंख्यक जनता ने, जो गुलामों के रूप में थी, इस्लाम का स्वागत किया, क्योंकि मुसलमान होते ही वे दासत्व से मुक्त हो जाते थे और उनमें तथा उनके विजेता व नये शासकों (अरबों) में धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से कोई भेद नहीं रह जाता था। ईरान, सीरिया, पैलेस्टाइन, ईजिप्ट तथा एशिया माइनर में इस्लाम इस प्रकार तेजी से फैल गया, जैसे कि सूखे जंगल में आग फैलती है। ईजिप्ट को जीतकर अरब सेनाएँ उत्तरी अफ्रीका में निरन्तर आगे बढ़ती गयीं, और ७२० ईस्वी में उन्होंने स्पेन को भी जीत लिया। इस्लाम के इस असाधारण उत्कर्ष में दो तत्त्व काम कर रहे थे, अरबों की अनुपम संगठित सैन्य शक्ति और हजरत मुहम्मद की वे शिक्षाएँ जो आक्रान्त देशों की बहुसंख्यक जनता को आकर्षक, हितकर तथा ग्राह्य प्रतीत होती थीं। पश्चिम में अरब लोग स्पेन तक विजय करने में समर्थ हुए थे, और पूर्व में उन्होंने अफगानिस्तान (जिसे उस समय उद्यान देश कहते थे) और मध्य एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। पर मध्य एशिया और उसके समीपवर्ती देशों पर अरबों का अधिकार देर तक कायम नहीं रहा। उनके साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर तुर्कों के आक्रमण शुरू हो गये, और अरब उनके सम्मुख नहीं टिक सके। राजनीतिक दृष्टि से अरब लोग तुर्कों से परास्त हो गये थे, पर धर्म और संस्कृति में उन्होंने तुर्कों को पराजित कर दिया। तुर्क जाति के लोग वीर और उद्दण्ड साहसी थे, पर धर्म, सभ्यता और संस्कृति में उन्होंने वैसी उन्नति नहीं की थी, जैसी कि बौद्ध चीनियों और मुस्लिम अरबों ने की थी। जो तुर्क बौद्धों के सम्पर्क में आए, उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और जिन तुर्क आक्रान्ताओं का अरबों के साथ सम्पर्क हुआ, उन्होंने इस्लाम को अपना लिया। तुर्क लोग जो मुसलमान

बने, उसका कारण अरबों द्वारा बल का प्रयोग नहीं था। सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति में अरब लोग तुर्कों की तुलना में उत्कृष्ट थे। इसीलिए तुर्कों ने उनके धर्म को ग्रहण कर लिया था। जिस प्रकार शक, कुशाण और हूण आक्रान्ता भारतीय धर्मों तथा संस्कृति के सम्पर्क में आकर शैव, वैष्णव व बौद्ध हो गये थे, वैसे ही तुर्क आक्रान्ता अरब साम्राज्य को ध्वंस करके भी उसके सम्पर्क के कारण मुसलमान बन गये थे। भारत पर भी अरबों ने आक्रमण किये, पर न वे इस देश को जीत सके और न यहाँ अपने धर्म का प्रचार ही कर सके। उनके बाद तुर्क, अफगान और मुगल आक्रान्ता भारत के अच्छे बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में अवश्य सफल हुए, पर इस देश की बहुसंख्यक जनता को वे इस्लाम का अनुयायी नहीं बना सके, यद्यपि उनके हाथों में सदियों तक राजशक्ति रही। इसका कारण यह था, कि इस देश का धर्म इस्लाम की तुलना में हीन नहीं था और यहाँ के लोग इतने भीरु भी नहीं थे कि शक्ति के सम्मुख झुककर अपने धर्म का परित्याग कर देते। भारत के जो लोग मुसलमान बने, उन्हें इस धर्म का अनुयायी बनाने में उन सन्तों, पीरों और फकीरों का कर्तृत्व महत्त्व का था, जो बौद्ध स्थविरों के समान अपने त्यागमय जीवन तथा सेवाभाव से जनता को प्रभावित करने में तत्पर थे। साथ ही मुसलमानों में भाईचारे की भावना और छूत-अछूत का अभाव—ऐसे तत्त्व थे, जो हिन्दू समाज के उन वर्गों को आकृष्ट करते थे जिन्हें नीच या अछूत समझा जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के बहुत-से मुस्लिम सुलतान निरंकुश होने के साथ-साथ धर्मान्ध भी थे, और उन्होंने हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किये। उनका यह प्रयत्न भी रहा, कि राजशक्ति का प्रयोग कर लोगों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाएँ। पर उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। यह इसी से स्पष्ट है, कि दिल्ली और आगरा के समीपवर्ती प्रदेश में मुसलमानों की संख्या कभी २० प्रतिशत से अधिक नहीं हुई। भारतीय जनता के उन्हीं वर्गों में इस्लाम का अधिक प्रचार हुआ, जिनकी सामाजिक स्थिति हीन थी, और मुस्लिम पीर और फकीर जिनमें कार्य करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। वही धार्मिक आन्दोलन व्यापक रूप धारण करता है, उसी का धार्मिक साम्राज्य स्थापित होता है, जिसके पास जनता को देने के लिए कोई तात्त्विक वस्तु हो, जिसे अपना लेने से लोग कोई प्रत्यक्ष व स्पष्ट लाभ अनुभव करें, और जिससे उन्हें सामाजिक न्याय प्राप्त करने की आशा हो। दार्शनिक सिद्धान्तों का युक्तिसंगत होना और धार्मिक मन्तव्यों का उत्कृष्ट होना सुशिक्षित विवेकशील व्यक्तियों को अवश्य प्रभावित करते हैं, पर सर्वसाधारण लोगों में उनके सत्यासत्य का निर्णय कर सकने या समझने की क्षमता ही नहीं होती। बौद्ध और क्रिश्चियन धार्मिक आन्दोलन जो इतने व्यापक रूप में सफल हुए, उसका कारण उनके मन्तव्यों का युक्तिसंगत व विज्ञान-सम्मत होना नहीं था। उसका प्रधान कारण यही था, कि उन्हें स्वीकार कर लेने में सर्वसाधारण लोग अपने हित-कल्याण की आशा रखते थे। यह सही है, कि इन धार्मिक आन्दोलनों की प्रगति में समय-समय पर अनेकविध बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। परस्पर के मतभेदों, गुटबन्दियों तथा विरोधों से उनमें शिथिलता आयी, और उनका मूल धर्म बहुत-से सम्प्रदायों तथा मत-मतान्तरों में विभक्त हो गया। गृहस्थों से अपार धन दान में प्राप्त कर उनके स्थविर, भिक्षु, साधु और पीर भोग-विलास में भी मस्त हो गये, और उन्होंने जन-कल्याण की तुलना में व्यक्तिगत सुख-समृद्धि को अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया। पर इन सब विघ्न-

बाधाओं के बावजूद इनकी प्रगति रुकी नहीं, क्योंकि इन द्वारा ऐसे मन्तव्यों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया जाता रहा, जिनके प्रति सर्वसाधारण लोग आकर्षण अनुभव करते थे, और जिनसे उन्हें कुछ लाभ भी पहुँचता था। साथ ही इन धर्मों में कतिपय आचार्य, स्थविर आदि ऐसे धार्मिक नेता भी उत्पन्न होते रहे, जिन्होंने कि इनकी विकृतियों को दूर कर इनमें नवजीवन का संचार किया। बौद्ध धर्म में एक ऐसे महान् आचार्य उपगुप्त थे, जिनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। उन्होंने बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों तथा विरोधों को दूर कर उसे सुव्यवस्थित रूप दे सकने में अनुपम सफलता प्राप्त की थी।

वर्तमान समय में हिन्दू (आर्य) धर्म का कोई धार्मिक साम्राज्य नहीं है। भारत में भी इसके क्षेत्र में कमी आती जा रही है। पर अब से कुछ सदी पूर्व हिन्दुओं का भी विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य विद्यमान था, जिसमें इण्डोनीसिया, विएत-नाम, लाओस, मलायीसिया आदि कितने ही देश अन्तर्गत थे। कुछ अधिक प्राचीन काल में पश्चिम तथा उत्तर के अफगानिस्तान, मध्य एशिया आदि प्रदेशों में भी इस धर्म का प्रचार था, और बहुत प्राचीन युग में—महाभारत युद्ध तक के काल में तो पृथिवी के प्रायः सभी देशों में सत्य सनातन वैदिक धर्म अथवा उससे प्रभावित सम्प्रदायों की सत्ता थी। इसका कारण यही था, कि उस समय वैदिक धर्म में उन विकृतियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, जिनसे कि उसके अनुयायियों में जन्म के आधार पर ऊँच-नीच के भेद विकसित हो गये, और सबके सुख-हित के आदर्श का परित्याग कर उसके आचार्य व धार्मिक नेता स्वार्थ-साधन में तत्पर हो गये।

(५) आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार की प्रगति

जिस उद्देश्य को सम्मुख रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी, वह अत्यन्त महान् है। इस समाज को सम्पूर्ण संसार का उपकार करना है और समस्त मानव जाति का सुख, हित और कल्याण सम्पादित करना है। साथ ही, उसे भी एक ऐसे धार्मिक व सांस्कृतिक साम्राज्य को स्थापित करना है, जिसमें नस्ल, जाति, रंग आदि के भेदभाव के बिना सब मनुष्य सम्मिलित हों, और केवल अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न होकर सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझते हों। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्यसमाज इस दिशा में पग अवश्य उठा रहा है, पर अभी उसका कार्यक्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत नहीं है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उसे स्थापित हुए अभी एक सदी से कुछ ही अधिक समय हुआ है। धार्मिक आन्दोलनों के लिए यह समय कुछ भी नहीं है। महात्मा बुद्ध ने जिस महान् प्रगतिशील व लोकहितकारी धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, उनके जीवनकाल में उसका क्षेत्र मगध तक ही सीमित था। बाद में उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों में भी उसका प्रचार हुआ। पर उसका विशेष रूप से विस्तार बुद्ध के निर्वाण के तीन शताब्दी पश्चात् शुरू हुआ। तब दक्षिणी भारत तथा भारत के सीमान्तवर्ती राज्यों में उसका प्रचार हुआ। पर चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, मध्य एशिया, थाईलैण्ड आदि विदेशी राज्यों में उसका प्रवेश होने में सात-आठ सदियाँ लग गयीं। अरब साम्राज्य से बाहर के विविध देशों में इस्लाम का जो उत्कर्ष हुआ, उसमें भी कई सदियों का समय लगा था। क्राइस्ट के देहावसान के पश्चात्

बहुत पर्याप्त समय तक उन द्वारा प्रतिपादित धर्म बहुत सीमित क्षेत्र में प्रचलित था, यद्यपि कतिपय महत्त्वाकांक्षी व साहसी प्रचारकों ने सुदूरवर्ती देशों में भी धर्म-प्रचार के लिए जाना शुरू कर दिया था। पर क्रिश्चिएनिटी का जो विशाल साम्राज्य वर्तमान समय में है, उसको स्थापित हुए अधिक समय नहीं हुआ है। इस दशा में आर्यसमाज से यह आशा करना कि सौ साल के लगभग समय में वह विश्वव्यापी धार्मिक आन्दोलन के रूप में विकसित हो जाये, समुचित नहीं है। अभी आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र का भारतीयों तक ही मुख्यतया सीमित होना सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि पहले इस देश के समाज तथा धर्म को वैदिक आदर्शों के अनुसार परिवर्तित करने के बाद ही विदेशी व विजातीय लोगों को प्रभावित कर सकना सम्भव होगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का जिस रूप में निरूपण किया है, उसे क्रियान्वित कर देने पर ऊँच-नीच, आर्थिक विषमता और बेरोजगारी आदि सब समस्याओं का समाधान किया जा सकता है, और उस द्वारा एक ऐसे सामाजिक और आर्थिक संगठन का निर्माण कर सकना सम्भव हो जाता है जो पूर्णतया न्याय पर आधारित हो। सबसे पूर्व आर्यसमाज को गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के आदर्श को क्रियान्वित कर भारत में एक ऐसा सामाजिक संगठन स्थापित करना होगा, जो न्याय पर आधारित हो, जिसमें प्रत्येक मनुष्य की सामाजिक स्थिति और आर्थिक आमदनी उसकी योग्यता व क्षमता के अनुरूप हो, और जिसमें सबको योग्यता प्राप्त करने और उन्नति करने का समान अवसर मिलता हो। यह स्वाभाविक है, कि अन्य देश महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित इस व्यवस्था के प्रति आकृष्ट हों, और कम्युनिज्म तथा पूँजीवाद में जो कटु संघर्ष आजकल सम्पूर्ण विश्व में चल रहा है, उसका अन्त करने के लिए वर्णव्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज को सब कोई अनुकरणीय समझने लगें। इतिहास में अबतक जिन धार्मिक आन्दोलनों ने व्यापक रूप धारण किया है, वे सब अपने समय की किन्हीं विकट समस्याओं का समाधान कर तथा जनता की किसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को पूर्ण करके ही विश्व के बड़े भाग को अपने प्रभाव में लाने में समर्थ हुए हैं। वर्तमान समय की सबसे विकट व महत्त्वपूर्ण समस्या न्याय पर आधारित समाज का निर्माण करने की है। आर्यसमाज के पास ऐसा कार्यक्रम है, जो इस समस्या का हल कर सकता है। अपना धार्मिक साम्राज्य स्थापित करने की दिशा में अग्रसर होने के लिए आर्यसमाज को इसके लिए प्रयत्न करना होगा। वैदिक धर्म जिन नैतिक मान्यताओं, सदाचार के नियमों तथा जीवन के आदर्शों का प्रतिपादन करता है, उनका अनुसरण करने के लिए भी यह आवश्यक है कि समाज के संगठन को गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था पर आधारित किया जाए। वर्णाश्रम व्यवस्था का मूल स्वधर्म का पालन है। जब वर्णों का निर्धारण गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार हो, सबको अपनी अन्तर्निहित क्षमता को विकसित करने का समान अवसर हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण व आश्रम के स्वधर्म का पालन करने के लिए कटिबद्ध हो, तो सामाजिक अशान्ति और वर्ग-संघर्ष की गुंजाइश ही नहीं रहती। अपनी भावी नीति एवं कार्यक्रम का निर्धारण करते हुए आर्यसमाज को यह तथ्य दृष्टि में रखना होगा। वर्तमान समय में संसार में जो घोर अशान्ति है, उसका एक कारण भौतिकवाद (मैटीरियलिज्म) की अतिशयता भी है। पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवाद पर आधारित है, और सांसारिक सुख-वैभव को ही उस द्वारा जीवन का लक्ष्य माना जाता है।

अध्यात्मवाद के लिए उसमें स्थान नहीं है। मानव जीवन में सांसारिक सुख-वैभव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा कलात्मक बनाने के लिए मनुष्यों को प्रयत्न करना ही चाहिये। पर साथ ही उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि सांसारिक सुख ही जीवन के एकमात्र व चरम लक्ष्य नहीं हैं। मनुष्य का वास्तविक कल्याण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय में ही है, और यह समन्वय वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा ही सही रूप में स्थापित किया जा सकता है। वर्णव्यवस्था के चातुर्वर्ण्य में सबसे ऊँची स्थिति उन ब्राह्मणों की है, जो अकिञ्चनता और त्याग का जीवन बिताते है। उद्योगपतियों और धनियों (वैश्यों) का स्थान चातुर्वर्ण्य में तीसरा है। आश्रम व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को सांसारिक सुखों तथा शारीरिक विषयों के भोग का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है। गृहस्थ आश्रम इसी के लिए है, पर मनुष्यों को अपना सारा जीवन गृहस्थी के रूप में न विताकर वानप्रस्थ और संन्यासी भी होना चाहिये, ताकि अध्यात्म का भी वे साधन कर सकें। मनुष्य का सच्चा सुख इसी में है। भौतिकवाद से परेशान होकर ही आज पाश्चात्य लोग कृष्ण-चेतना सदृश आन्दोलनों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं, और अध्यात्मवाद के भारतीय आदर्श में शान्ति की तलाश करने लगे हैं। पर अकेले अध्यात्मवाद से भी मानव समाज का कल्याण नहीं हो सकता। उसे भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों की आवश्यकता है, एक समन्वयात्मक रूप में। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है, उसी द्वारा एक ऐसा समाज स्थापित किया जा सकता है, जो न्याय पर आधारित हो, और साथ ही जिसमें मनुष्यों को सांसारिक सुख-वैभव के भोग तथा अध्यात्म सुख—दोनों की प्राप्ति का समुचित अवसर मिलता हो। आधुनिक समय की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति का मार्ग प्रदर्शित कर आर्यसमाज उसी ढंग से अपना धार्मिक व सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित कर सकता है, जैसाकि कभी वौद्धों ने किया था, और जैसा कि अत्यधिक प्राचीन काल में वैदिक धर्म का भी था।

आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार इस समय तक हुआ है, उसमें बहुत-से वीतराग व तपस्वी संन्यासियों, विद्वान् पण्डितों और उत्साह सम्पन्न प्रचारकों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा है। कितने ही व्यक्तियों ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अपने जीवन की भी बलि दी है। लोकतन्त्रवाद पर आधारित आर्यसमाज का संगठन भी इसके कार्य में सहायक हुआ है, क्योंकि उसके कारण साधारण गृहस्थों को भी धर्म-प्रचार के कार्य में सहायक होने का अवसर प्राप्त हुआ है, और उनकी योग्यता व कार्यक्षमता का भी आर्यसमाज लाभ उठा सका है। इस ग्रन्थ में हमें उन सब साधनों व तत्त्वों का विवेचनात्मक रूप से विवरण देना है, जिनसे गत एक सदी में आर्यसमाज इतनी तेज गति से अपना प्रचार-प्रसार कर सका है, कि सन् १८८३ के ८६ आर्यसमाज अब संख्या में ५,५०० से भी ऊपर पहुँच गये हैं।

दूसरा अध्याय

पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार

(१८८३—१९००)

(१) महर्षि के देहावसान के पश्चात् के कुछ वर्ष

सन् १८८३ में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती का देहावसान हुआ, ८६ के लगभग आर्यसमाज भारत के विविध प्रदेशों में स्थापित हो चुके थे। इनमें से १९ आर्यसमाज पंजाब में थे। वर्तमान समय में पंजाब एक छोटा-सा राज्य है। हरयाणा उससे पृथक् हो चुका है, और भारत के विभाजन (१९४७) के परिणामस्वरूप पंजाब का एक अच्छा बड़ा भाग पाकिस्तान में चला गया है। उन्नीसवीं सदी में पंजाब एक बहुत बड़ा प्रान्त था। हरयाणा, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के अनेक भाग उसके अन्तर्गत थे, और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त भी उसी का अंग था। यही कारण है, कि जब सन् १८८६ में पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा का संगठन हुआ, तो इन सब क्षेत्रों के आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों को उसमें सम्मिलित किया गया था। इस अध्याय में इसी विशाल प्रान्त में आर्यसमाजों के प्रसार तथा वैदिक धर्म के प्रचार पर प्रकाश डालना है।

महर्षि का देहावसान अकस्मात् ही हो गया था। उनके शिष्य व अनुयायी यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उन जैसा बाल ब्रह्मचारी और सिद्ध योगी इतनी जल्दी इस संसार से विदा हो जाएगा। महर्षि की मृत्यु के समाचार से आर्य जनता किस प्रकार विक्षुब्ध हो गयी थी, इसका कुछ अनुमान उस समय के आर्य समाचार-पत्रों से किया जा सकता है। मेरठ के 'आर्यसमाचार' (उर्दू) ने लिखा था—"रो, रो, ए बदबख्त आर्यावर्त्त, खूब दिल खोल कर रो ले। आज तेरी फजलियत का सूरज डूब गया। जिस जुल्मोतेज हालत ने तुझ को इस नौबत पर पहुँचाया था, उससे ज्यादा जमाना स्याह इस वक्त तेरी नजर के रोबरू मौजूद है। जिस फ़खरे मुल्क पर तुझको नाज था, वही आज तुझमें से उठ चला। लख्खां तमन्नाओं का खून हो गया।" लाहौर से प्रकाशित होने वाले देशोपकारक ने अपने दुःख को इस प्रकार प्रकट किया था—"ऐ आर्यावर्त्त, तेरी बदकिस्मती पर मुझे रोना आता है। ऐ आर्यावर्त्त, तेरी यतीमी पर मेरा दिल खून होता है। ऐ आर्यावर्त्त, तेरी बेक्सी पर मुझे गैरत आती है। ऐ आर्यावर्त्त, तेरी बेपरोवाली पर मेरा दिल कुम्हलाया जाता है। कैसी जल्दी तेरे प्यार के सरचश्मे को बन्द कर दिया गया।" इसमें सन्देह नहीं, कि महर्षि का अकस्मात् देहावसान आर्यसमाज के लिए वज्रपात के समान था। इस कारण आर्यसमाजियों में निराशा का संचार हो गया था। महर्षि द्वारा जिस महान् कार्य का प्रारम्भ किया गया था, उसका संचालन अब कौन करेगा और उनके मिशन को कैसे पूरा किया जा सकेगा, यह समस्या सबके सामने थी। महर्षि ने किसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था। उन्होंने कोई ऐसी गद्दी कायम नहीं की थी

जिस पर उनका कोई पट्ट-शिष्य अधिकार कर लेता। अभी आर्यसमाज का कोई केन्द्रीय संगठन भी नहीं बना था। इस दशा में आर्यसमाजियों का निराशा अनुभव करना स्वाभाविक ही था। पर यह दशा देर तक नहीं रही। प्रत्येक आर्यसमाजी ने यह अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया कि महर्षि के मिशन को आगे बढ़ाना उसका कर्तव्य है। उसमें उत्तरदायित्व और कर्तव्यपालन की भावना विकसित हुई, और वह अपने को महर्षि का उत्तराधिकारी समझने लगा। महर्षि द्वारा भारत में एक नये युग का सूत्रपात किया गया था। वेदशास्त्रों में जो सत्य ज्ञान विद्यमान था, उसे उन्होंने सर्वसाधारण की भाषा में जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था। अब सब कोई के लिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना और सत्यासत्य का निर्णय कर सकना सम्भव हो गया था। अब उन्हें धर्म के ज्ञान के लिए पण्डितों पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। महर्षि से पहले के पण्डित संस्कृत पढ़ते अवश्य थे, पर वेदशास्त्रों के अभिप्राय को वे न स्वयं समझते थे, और न अपने शिष्यों को समझा सकते थे। पर अब यह दशा नहीं रह गयी थी। आर्यसमाजी लोग स्वयं वेदशास्त्रों का अध्ययन करते थे, उनके अर्थ को समझते थे, और उनके मन्तव्यों का प्रतिपादन करने में समर्थ होते थे। इस दशा में उन्हें किसी अन्य गुरु या आचार्य की तलाश करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि किसी भी गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक के बिना भी आर्य लोग महर्षि के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कटिबद्ध हो गये। इस युग के आर्य किस प्रकार समाज के मन्तव्यों के लिए सचेष्ट थे और किसी उपदेशक व धर्माचार्य के अभाव में स्वयं ही धर्म-प्रचार के लिए तत्पर रहते थे, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। सन् १८८३ का अन्त होने से पूर्व ही मौलाना मुहम्मद बलाल तथा मुंशी अब्दुल्ला नामक दो मुस्लिम विद्वानों ने कालका में यह कहना शुरू कर दिया कि "हमने पण्डित दयानन्द के वह खाके उड़ा दिये हैं कि याद करेंगे।" इसपर कालका के आर्य सभासद् पण्डित गोपीचन्द और लाला खुशीराम उनका सामना करने के लिए मैदान में आ गये। देर तक उन्होंने मौलवियों से शास्त्रार्थ किया। निर्णायकों का यह निर्णय था कि "मौलवी साहब से पण्डित साहब के सवालात का जवाब नहीं दिया गया।" गोपीचन्दजी और खुशीरामजी न समाज के उपदेशक थे, और न उन्होंने संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों में उच्च योग्यता ही प्राप्त की थी। पर महर्षि के ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा सत्यासत्य की समीक्षा करने की जो क्षमता उनमें उत्पन्न हो गयी थी, उसीके कारण वे इस्लाम के विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त करने में समर्थ हुए थे। इन आर्य सभासदों के समान कितने ही अन्य आर्य सज्जन थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार तथा विधर्मियों के आक्षेपों का युक्तिसंगत रूप से उत्तर देने में तत्पर थे। यथार्थ बात यह है, कि इस काल में प्रत्येक आर्य उपदेशक और प्रचारक भी था। महर्षि के मिशन को पूरा करना वह अपना कर्तव्य समझता था, और धर्म-प्रचार के लिए किसी उपदेशक की अपेक्षा न कर स्वयं उसके लिए तत्पर रहता था।

साधारण आर्य गृहस्थ आर्यसमाज के कार्य के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील रहते थे, इस सम्बन्ध में जालन्धर आर्यसमाज के लाला देवराज और लाला मुंशीराम का उदाहरण देना उपयुक्त होगा। ये दोनों आर्य सज्जन जालन्धर के स्थानीय आर्यसमाज में तो उपदेश आदि दिया ही करते थे, अपितु प्रचार-कार्य के लिए समीप के विविध स्थानों

पर भी जाते रहते थे। जहाँ आर्यसमाज न होता, वहाँ जाकर ये नया समाज स्थापित कर आते थे, और जहाँ समाज होता वहाँ आर्य सभासदों से मिलकर उनमें नवीन उत्साह का संचार करते थे। लाला देवराज पर आर्यसमाज की ऐसी धुन सवार थी, कि वह स्वयं भजन बना-बनाकर गाया करते और हर समय समाज के कार्य में लगे रहते। यह बात उनके पिताजी को पसन्द नहीं थी। जब पिता के समझाने पर लाला देवराज ने समाज के कार्य में डूबे रहना वन्द नहीं किया तो उन्हें घर से निकाल दिया गया। पर इससे युवक देवराज हतोत्साह नहीं हुए। उन्होंने पिता की सम्पत्ति की परवाह न कर स्वतन्त्र रूप से आजीविका कमाने का निश्चय किया। वह पंजाब छोड़कर बरमा के लिए चल पड़े। अभी वह कलकत्ता ही पहुँचे थे, कि पिता के आदमी उन्हें घर वापस लौटा लाए। केवल लाला देवराज ही नहीं, अपितु जालन्धर के दो अन्य आर्य सज्जनों—पं० श्रीपति और लाला दौलतराम—पर भी आर्यसमाज का कार्य छोड़ देने के लिए उनके माता-पिता ने जोर डाला, पर वे इससे सहमत नहीं हुए। उन्हें अपना घर छोड़ देना मंजूर था, पर आर्यसमाज के कार्य को बन्द करना नहीं। इसी प्रकार के बहुत-से आर्य थे, जिनके त्याग और लगन के कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के वाद के वर्षों में आर्यसमाज निरन्तर उन्नति करता गया, यद्यपि उस समय प्रचार-कार्य के लिए आवश्यक आर्थिक साधनों का सर्वथा अभाव था, और ऐसे विद्वानों की भी वहुत कमी थी, जो प्रचार-कार्य में विशेष कुशलता रखते हों।

महर्षि के देहावसान के तत्काल पश्चात् के वर्षों में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार कितनी तेजी के साथ हुआ, इसका अनुमान इस बात से भली-भाँति किया जा सकता है, कि सन् १८८५ के जुलाई मास तक भारत के आर्यसमाजों की कुल संख्या २०० हो गयी थी। यह संख्या लाहौर की 'आर्यपत्रिका' में दी गयी रिपोर्ट के अनुसार है। कुछ मास बाद 'आर्यपत्रिका' ने आर्यसमाजों की संख्या २५० लिखी है। अक्तूबर, १८८३ में कुल आर्यसमाज ९० से कम ही थे। दो साल के लगभग समय में उनकी संख्या का २५० हो जाना यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि इस काल में समाज का कार्य कितनी तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था। आर्य गृहस्थों के अतिरिक्त अनेक साधु-संन्यासी भी इस काल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए मैदान में आ गये थे। महर्षि के जीवनकाल में स्वामी आत्मानन्द, स्वामी ईश्वरानन्द और स्वामी सहजानन्द नाम के तीन संन्यासी आर्यसमाज के प्रचार में तत्पर थे। ये तीनों महर्षि के शिष्य थे, और उन्होंने उन्हीं से संन्यास आश्रम की दीक्षा ली थी। महर्षि के देहावसान के पश्चात् भी ये धर्म-प्रचार के कार्य में लगे रहे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संन्यासी भी थे, जिनके प्रचार-कार्य का उल्लेख इस काल के आर्य समाचार-पत्रों में विद्यमान है। ये स्वामी कृष्णानन्द, स्वामी भास्करानन्द, स्वामी मौजानन्द, स्वामी गोकुलानन्द, स्वामी सदानन्द, स्वामी गिरानन्द, साधु रमताराम, स्वामी आलाराम, स्वामी अक्षयानन्द, स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी अमरानन्द, और स्वामी स्वात्मानन्द आदि थे। ब्रह्मचारी रामानन्द महर्षि के साथ रहा करते थे, और उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी महर्षि द्वारा ही की गयी थी। बाद में उन्होंने संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लिया था, और उनका नया नाम शंकरानन्द हुआ था। वह भी समाज के कार्य में तत्पर थे। साधु रमताराम ने महर्षि के स्मारक रूप में स्थापित डी० ए० वी० कॉलिज के लिए जनता में उत्साह उत्पन्न करने तथा स्थान-स्थान पर 'धर्म-

घट' रखवाकर उन द्वारा आटा एकत्र करने के लिए बहुत कार्य किया था। ये जो इतने सारे साधु-संन्यासी इस काल में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए मैदान में आ गये थे, उनमें सब ऐसे नहीं थे जिनकी वैदिक धर्म तथा महर्षि के मन्तव्यों में समुचित आस्था हो। क्योंकि इस काल में आर्यसमाजियों में अनुपम उत्साह था, और वे वैदिक धर्म के किसी भी प्रचारक का स्वागत करने को तैयार थे, अतः इस दशा का कुछ लोगों ने अनुचित लाभ भी उठाया और वे साधु या प्रचारक बनकर यत्र-तत्र भ्रमण करने लग गये। इसीलिए कतिपय व्यक्तियों से सावधान रहने की सूचनाएँ भी इस युग के आर्य समाचार-पत्रों में प्रकाशित हैं। ऐसे एक व्यक्ति स्वामी आलाराम थे। पौराणिक मत के खण्डन में उन्होंने कुछ पुस्तिकाएँ लिखी थीं, और पंजाब के द्वाबे में उन्होंने कतिपय आर्यसमाज भी स्थापित किए थे। पर महर्षि के मन्तव्यों के प्रति उनकी समुचित आस्था नहीं थी। इसीलिए समाचार-पत्रों में यह घोषणा की गयी कि स्वामी आलाराम के सिद्धान्तों के लिए आर्यसमाज उत्तरदायी नहीं है। बाद में वह कट्टर सनातनी बन गये और आर्यसमाज से शास्त्रार्थ भी करने लगे। इसी प्रकार स्वामी ईश्वरानन्द और स्वामी स्वात्मानन्द भी बाद में आर्य सिद्धान्तों से विमुख हो गये थे।

यद्यपि पंजाब में अनेक आर्यसमाज इस समय विद्यमान थे, पर उन सबके वार्षिकोत्सव नहीं हुआ करते थे। इसका कारण साधनों की कमी थी। सब आर्यसमाजों के पास इतना धन नहीं होता था, कि दूर-दूर से विद्वानों को बुला सकें और बाहर से आये हुए आर्य नर-नारियों का आतिथ्य कर सकें। लाहौर और अमृतसर सदृश बड़े नगरों के समाज ही वार्षिकोत्सवों का आयोजन कर सकते थे। पर उस समय ये उत्सव अच्छे बड़े धार्मिक मेलों के समान हुआ करते थे, जिनमें आर्य नर-नारी बड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के बाद के वर्षों में पंजाब के आर्य सज्जनों की शक्ति विशेष रूप से डी० ए० वी० स्कूल तथा कॉलिज की स्थापना में लग गयी थी। इस शिक्षण संस्था की स्थापना महर्षि के स्मारक रूप में की गयी थी, और आर्य जनता में इसके लिए अत्यधिक उत्साह था। पंजाब के आर्यसमाज में कोई भी ऐसा व्यक्ति या वर्ग नहीं था, जो इसके विरुद्ध हो। सभी इसके लिए धन एकत्र करने और इसे सफल बनाने के लिए जी-जान से कटिबद्ध थे। पर इस काल में आर्यसमाज का कार्य-कलाप केवल डी० ए० वी० शिक्षण संस्था की स्थापना के प्रयत्न तक ही सीमित नहीं था। वेद-प्रचार के साथ-साथ शुद्धि तथा अछूतोद्धार के लिए भी आर्यसमाज की शक्ति प्रयुक्त हो रही थी। महर्षि का देहावसान हुए अभी छह मास भी नहीं हुए थे, कि अमृतसर से ३५ मुसलमानों तथा ईसाइयों ने शुद्धि द्वारा आर्यसमाज में प्रवेश कर लिया था। यह समाचार मेरठ के आर्य समाचार ने बड़े सन्तोष के साथ प्रकाशित किया था। रावलपिण्डी, अमृतसर आदि अन्य स्थानों के अनेक विधर्मियों द्वारा भी वैदिक धर्म में दीक्षित होने के समाचार इस काल के समाचार-पत्रों में विद्यमान हैं। महर्षि के जीवनकाल में शुद्धि के जिस सिलसिले का प्रारम्भ हुआ था, वह अब निरन्तर आगे बढ़ रहा था। आर्य-समाज के प्रचार के कारण अब ईसाइयों व मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को अपने धर्मों में दीक्षित कर सकना सुगम रह ही नहीं गया था। इसके विपरीत अब विधर्मियों ने हिन्दू बनना भी प्रारम्भ कर दिया था। महर्षि जन्म के आधार पर किसी को ऊँचा या

नीचा अथवा अछूत नहीं मानते थे। पर हिन्दू समाज का एक बड़ा भाग जन्म से अछूत समझा जाता था। इस वर्ग के लोगों को मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। साथ ही हिन्दुओं में कतिपय ऐसी जातियाँ भी थीं, जिनके अनेक रीति-रिवाज मुसलमानों से मिलते थे। महर्षि ने अपने जीवनकाल में ही अछूतों व दलितों का उद्धार करने तथा उन्हें समाज में समुचित स्थान दिलाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दू जाति के संगठन तथा उसमें नव जीवन का संचार करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी था। इसीलिए महर्षि के देहावसान के पश्चात् आर्यसमाज ने इस ओर भी ध्यान दिया। पंजाब में दलितोद्धार आन्दोलन के प्रमुख नेता पण्डित गंगाराम थे। वह बजवाड़े के निवासी थे, परन्तु उनके जीवन का अधिक भाग मुजफ्फरगढ़ में व्यतीत हुआ था। वहाँ वह ओवरसियर के पद पर नियुक्त थे। मुजफ्फरगढ़ जिले में कार्य करते हुए पण्डित गंगाराम का ध्यान 'ओड' नाम की एक जाति की ओर आकृष्ट हुआ, जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की समझी जाती थी। उनके अधिकतर रीति-रिवाज हिन्दुओं जैसे थे, पर वे अपने मुर्दों को जलाने के बजाय दबाया करते थे। हिन्दू इन्हें अछूत मानते थे। साधारणतया, उन्हें 'ओड' नाम से जाना जाता था, पर उनका पुराना नाम 'भगीरथ' था। पण्डित गंगाराम ने उनकी परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को देखकर यह विचार किया, कि उन्हें हिन्दू समाज से पृथक् रखना सर्वथा अनुचित है। इसीलिए उन्होंने ओड लोगों को शुद्ध करके यज्ञोपवीत धारण कराना प्रारम्भ कर दिया। देहातों में इस शुद्धि कार्य में कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं हुई। पर जब मुलतान नगर में बड़े पैमाने पर ओडों की शुद्धि का आयोजन किया गया तो उसका बहुत विरोध हुआ। पण्डित गंगाराम ने समीप की सब बस्तियों के ओडों को शुद्धि का निमन्त्रण दे दिया था, और आर्यसमाज मन्दिर में शुद्धि संस्कार की व्यवस्था कर दी गई थी। पर मुलतान के हिन्दुओं ने इस योजना का स्वागत नहीं किया। सनातनी लोग तो इसके विरुद्ध थे ही, बिरादरी के भय से आर्यसमाजी भी समाज मन्दिर में ओडों की शुद्धि की अनुमति देने को उद्यत नहीं हुए। पर पण्डित गंगाराम इससे हताश नहीं हुए। मुलतान आर्यसमाज के प्रधान लाला चेतनानन्द थे। पण्डितजी की प्रेरणा से उन्होंने यह स्वीकार कर लिया, कि किसी अन्य स्थान पर शुद्धि कर ली जाए। इस निर्णय के अनुसार शहर के बाहर नहर के किनारे लाला जसवन्त राय के बंगले पर ओडों का शुद्धि संस्कार सम्पन्न हुआ। न केवल मुलतान, अपितु पंजाब के लिए यह एक नई बात थी, कि अच्छी बड़ी संख्या में अछूत लोगों को हिन्दू समाज में समान स्थिति प्रदान की गयी थी। पण्डित गंगाराम ने ओडों को शुद्ध करके ही उनके प्रति अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली। उनकी दशा को उन्नत करने के लिए उन्होंने मुजफ्फरगढ़ में एक पाठशाला भी स्थापित की, ताकि ओड बच्चे शिक्षा प्राप्त कर जीवन संघर्ष में आगे बढ़ सकें। पण्डित गंगाराम द्वारा दलित ओडों के उद्धार के परिणामस्वरूप इस जाति के लोग आगे चलकर प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त हुए, और उनमें से कतिपय ने 'पण्डित' का पद भी प्राप्त किया। बाद में अन्य भी अनेक स्थानों पर दलितोद्धार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। शुद्धि और दलितोद्धार ये दो अन्य कार्य थे, जिनके लिए आर्यसमाजी लोग विशेष रूप से प्रयत्नशील हुए।

सन् १८८५ में डी० ए० वी० स्कूल एण्ड कॉलिज सोसायटी का संगठन हुआ था, और एक साल बाद पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का। इन संस्थाओं के कारण पंजाब के आर्यसमाज दो केन्द्रीय संगठनों में गठित हो गये थे, और विविध नगरों के आर्य परस्पर सहयोग से महर्षि के मिशन को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने लग गये थे। महर्षि के देहावसान के बाद के दो ढाई वर्षों का समय ऐसा था, जब आर्य लोग किसी संगठन के अभाव में भी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर रहे थे। प्रतिनिधि सभा तथा कॉलिज सोसायटी के निर्माण के पश्चात् यह कार्य अधिक सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न किया जाने लगा।

(२) आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना

सन् १८७५ में बम्बई में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी। उनके जीवनकाल में ही भारत के विविध प्रदेशों में स्थापित आर्यसमाजों की संख्या ८० से ऊपर हो गयी थी। पर ये सब समाज अपने आपमें स्वतन्त्र थे। उनका कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। पर एप्रिल, १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के समय समाज के जो २८ नियम स्वीकार किये गये थे, उनमें तीसरा नियम निम्नलिखित था—"इस समाज में देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।" इस नियम से स्पष्ट है, कि प्रारम्भ से ही महर्षि का विचार आर्यसमाज को अत्यन्त व्यापक रूप से संगठित संस्था बनाने का था, और वे यह चाहते थे कि विविध नगरों तथा ग्रामों के आर्यसमाजों की स्थिति एक प्रधान (केन्द्रीय) समाज की शाखा-प्रशाखाओं की हो। उन्हें अपने जीवनकाल में आर्यसमाज को इस रूप में संगठित करने का अवसर नहीं मिला। पर उनके अनुयायियों के सम्मुख यह विचार विद्यमान रहा, और इसीलिए महर्षि के देहावसान के पश्चात् दिसम्बर, १८८३ में परोपकारिणी सभा का जो अधिवेशन अजमेर में हुआ, वहाँ इस विचार को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया। परोपकारिणी सभा का निर्माण महर्षि ने स्वयं किया था, और उन्होंने ही उसके सदस्यों की नियुक्ति की थी। सभा के नियमों के अनुसार मृत्यु, त्यागपत्र या किसी अन्य कारण से किसी सदस्य का स्थान रिक्त हो जाने पर उसकी पूर्ति का अधिकार सभा को ही था। पर इस अधिवेशन में परोपकारिणी सभा के सदस्यों ने अनुभव किया कि इस व्यवस्था से सभा का सम्बन्ध व सम्पर्क देश के आर्यसमाजों के साथ नहीं होने पाएगा, अतः एक ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे कि सभा के रिक्त स्थानों की पूर्ति आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों द्वारा की जाया करे। इसी बात को दृष्टि में रखकर श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने यह प्रस्ताव किया, कि देश में विद्यमान विविध आर्यसमाजों की एक सभा संगठित की जाये, और भविष्य में परोपकारिणी सभा में रिक्त स्थानों की पूर्ति इस प्रकार की जाये जिससे कि उसके कम-से-कम आधे सदस्य आर्यसमाजों का प्रतिनिधित्व करने वाले हों। रायबहादुर श्री सुन्दरलाल ने श्री रानाडे के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। यह प्रस्ताव स्वीकृत तो हो गया, पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। इस प्रकार आर्यसमाजों का एक केन्द्रीय संगठन स्थापित करने का प्रथम प्रयास सफल तो नहीं हुआ, पर ऐसे संगठन की आवश्यकता को अनुभव किया जाता रहा। सन् १८८४ के सितम्बर मास में बम्बई आर्यसमाज के उपप्रधान श्री सेवकलाल कृष्णदास

द्वारा आर्यसमाजों के नाम एक परिपत्र जारी किया गया, जिसमें कि भारत-भर के आर्यसमाजों को परस्पर सहयोग करने के प्रयोजन से एक सूत्र में सम्बद्ध हो जाने की उपयोगिता का प्रतिपादन कर यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था कि एक ऐसा 'प्रधान' समाज बनाया जाए, जिसमें कि सब आर्यसमाजों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। भारत में आर्यसमाजों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। किसी एक समाज के पास इतने साधन नहीं थे कि वह अकेला उस महान् कार्य को सम्पादित कर सके, जिसका सूत्रपात महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया था। विविध आर्यसमाजों को एक सूत्र में सम्बद्ध होकर अपने केन्द्रीय संगठन या प्रतिनिधि सभा का निर्माण करना चाहिये, श्री सेवकलाल कृष्णदास के परिपत्र से यह विचार आर्य जनता के सम्मुख स्पष्ट रूप से प्रस्तुत हो गया, और पंजाब में 'आर्यपत्रिका' तथा उत्तरप्रदेश (उस समय पश्चिमोत्तर प्रान्त) में 'आर्यसमाचार' ने इसके समर्थन में लेख लिखने प्रारम्भ कर दिये। उस समय मेरठ आर्यसमाज के प्रधान श्री लक्ष्मणस्वरूप थे। मेरठ समाज की स्थापना भी महर्षि द्वारा की गयी थी, और उस काल के आर्यसमाजों में उसका विशिष्ट व प्रधान स्थान था। श्री लक्ष्मणस्वरूप ने जून, १८८५ में प्रस्ताव किया कि उत्तरप्रदेश के सब समाजों के प्रतिनिधि एकत्र होकर अपने केन्द्रीय संगठन के निर्माण के प्रश्न पर विचार-विमर्श करें। पंजाब के आर्य सज्जन भी समाज के केन्द्रीय संगठन के लिए प्रयत्न में लगे थे। १७ और १८ अक्तूबर, १८८५ को अमृतसर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव था। उसमें सम्मिलित होने के लिए विविध आर्यसमाजों को भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए निमन्त्रित किया गया था। इस निमन्त्रण को स्वीकार कर २० आर्यसमाजों के प्रतिनिधि अमृतसर में एकत्र हुए, और उन्होंने समाजों के केन्द्रीय संगठन बनाने के सम्बन्ध में विचार किया। लाहौर और अमृतसर आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय संगठन या आर्य प्रतिनिधि सभा की नियमावली का प्रारूप भी तैयार किया हुआ था। पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के पाँच आर्यसमाजों के प्रतिनिधि भी इस अवसर पर अमृतसर में उपस्थित थे, और उन्होंने भी केन्द्रीय संगठन विषयक विचार-विमर्श में भाग लिया था। यह निश्चय किया गया, कि लाहौर आर्यसमाज प्रस्तावित नियमावली को सब आर्यसमाजों के पास विचारार्थ भेज दे, और लाहौर समाज के आगामी वार्षिकोत्सव पर विविध समाजों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन इस प्रयोजन से बुलाया जाए, ताकि केन्द्रीय संगठन के नियमों का अन्तिम रूप से निर्धारण किया जा सके। अमृतसर समाज के वार्षिकोत्सव (१८८५) पर लाहौर समाज की ओर से केन्द्रीय संगठन की नियमावली का जो प्रारूप प्रस्तुत किया गया था, उसे पण्डित गुरुदत्त तथा श्री हंसराज ने तैयार किया था। इस नियमावली के अनुसार लाहौर आर्यसमाज को 'प्रधान समाज' की स्थिति प्रदान की गयी थी, और अन्य सब समाजों को उसकी शाखा-प्रशाखाएँ रखा गया था। पर अन्य अनेक आर्य सज्जन इससे सहमत नहीं थे। उनका विचार था, कि लाहौर आर्यसमाज की स्थिति भी अन्य समाजों के समकक्ष होनी चाहिये, और केन्द्रीय संगठन में उसका प्रतिनिधित्व भी उन्हीं नियमों के अनुसार होना चाहिये, जिनके अधीन अन्य सब समाजों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। आर्यसमाज के केन्द्रीय संगठन (आर्य प्रतिनिधि सभा) का स्वरूप क्या हो और उसके क्या नियम हों—इस प्रश्न पर सन् १८८५-८६ में विविध आर्यसमाजों तथा आर्य पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर विचार होता रहा। अमृतसर में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार लाहौर आर्यसमाज ने प्रस्तावित प्रतिनिधि सभा

की नियमावली का प्रारूप तैयार कर उसे सब समाजों में भेज दिया, और उसकी ओर से श्री हंसराज ने, जो उस समय लाहौर समाज के मन्त्री थे, अगस्त, १८८६ में यह सूचना प्रकाशित की, कि ४ और ५ अक्तूबर, १८८६ को विविध आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों की एक बैठक लाहौर में की जायेगी। नियत दिन यह बैठक हुई, और उसमें पंजाब के निम्नलिखित सोलह आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित हुए, दिल्ली, कोहाट, रावलपिण्डी, गुजरांवाला, अमृतसर, फीरोजपुर छावनी, होशियारपुर, पेशावर, दीनानगर, गुजरात, जेहलम, शिमला, रायकोट, जालन्धर, लाहौर और लुधियाना। इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के मेरठ, प्रयाग और सहारनपुर के आर्यसमाजों के भी पाँच प्रतिनिधि इस बैठक में उपस्थित थे। यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि सन् १८८६ में दिल्ली, शिमला आदि भी पंजाब के अन्तर्गत थे।

लाहौर में एकत्र आर्य प्रतिनिधियों ने समाज के केन्द्रीय संगठन (आर्य प्रतिनिधि सभा) के निर्माण का अन्तिम रूप से निश्चय कर उसकी नियमावली निर्धारित की। इसी बैठक में प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारियों को भी निर्वाचित किया गया। लाला साईंदास सभा के प्रधान चुने गये, और लाला मदनसिंह को उसका मन्त्री एवं लाला जीवनदास को कोषाध्यक्ष निर्वाचित किया गया। साथ ही, अन्तरंग सभा के सदस्यों को भी चुन लिया गया। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की पहली अन्तरंग सभा के सदस्य निम्नलिखित आर्य सज्जन थे—पण्डित शिवदत्तराम अमृतसर, लाला नारायणदास गुजरांवाला, लाला मुरलीधर होशियारपुर, लाला साईंदास लाहौर, लाला जीवनदास लाहौर, लाला लालचन्द लाहौर, लाला मदनसिंह लाहौर, बाबू रूपसिंह कोहाट, लाला ईश्वरदास रावलपिण्डी, लाला गंगाराम फीरोजपुर छावनी, लाला उमरावसिंह दिल्ली, लाला मूलचन्द पेशावर और लाला तुलसीराम लुधियाना। इनके अतिरिक्त मुलतान तथा फीरोजपुर सिटी के आर्यसमाजों का भी एक-एक सदस्य अन्तरंग सभा में लिये जाने का निश्चय कर लिया गया था। अन्तरंग सभा के सदस्यों की यह सूची 'आर्य पत्रिका' के २६ अक्तूबर, १८८६ के अंक से ली गयी है। इसमें मुलतान तथा फीरोजपुर सिटी के सदस्यों के नाम नहीं दिये गये। पर सन् १८९२-९३ की सभा की रिपोर्ट में पिछले वर्षों के अन्तरंग सदस्यों के जो नाम दिये गये हैं, उनमें १८८५ के सदस्यों के नामों का उल्लेख करते हुए मुलतान के लाला काशीराम वकील तथा फीरोजपुर सिटी के पण्डित मूलराज के नाम दिये गये हैं, जिससे पंजाब प्रतिनिधि सभा की प्रथम अन्तरंग सभा के सब सदस्यों के नाम हमें ज्ञात हो जाते हैं।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की प्रथम नियमावली में सभा के कार्य निम्नलिखित शब्दों में निर्धारित किये गये थे—(१) जो सर्माया (सम्पत्ति) समाजों के चन्दे से जमा हो या किसी और तरह पर खुद (स्वयं) प्रतिनिधि सभा जमा करे या किसी जायदाद मुतअल्लिका या ज़ेर इहतिमाम सभा (सभा से सम्बद्ध अथवा उसके प्रबन्धाधीन दायाद्य) से हासिल हो, उसका सर्फ (व्यय) करना या बदलना या मुन्तकिल (परिवर्तन) करना। (२) तमाम ऐसी जायदाद का इहतिमाम (प्रबन्ध) करना जो बहैसियत प्रतिनिधि सभा या उससे मुतअल्लिक (सम्बद्ध) हो या कोई आर्यसमाज उसके नाम मुन्तकिल करे या सभा किसी और निहज (प्रकार) से हासिल करे। (३) किसी ऐसे मामले में अपनी राय जाहिर करना जिसके मुतअल्लिक कोई आर्यसमाज उससे राय तलब करे, मगर शर्त यह

है कि प्रतिनिधि सभा की राय किसी मज़हबी मसले की निस्बत नातिक (अन्तिम) नहीं होगी कि ऐसे अमूर (विषयों) में वेद और सत् शास्त्र ही सनद (प्रमाण) समझे जाएँगे। साथ ही, एक नियम के अनुसार यह भी निश्चय किया गया, कि प्रतिनिधि सभा एक कुतुबखाना (पुस्तकालय) रखेगी। सभा का प्रधान कार्यालय लाहौर में रखा जाना भी तय कर लिया गया। उस समय लाहौर आर्यसमाज का मन्दिर बच्छोवाली बाजार में था। वहीं सभा के कार्यालय को भी स्थापित कर दिया गया। प्रारम्भ में सभा के पास आर्थिक साधनों की बहुत कमी थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्मारक रूप में डी० ए० वी० शिक्षण-संस्था स्थापित किये जाने का विचार उस समय जनता को बहुत आकृष्ट कर रहा था। १ जून, १८८६ को इस शिक्षणालय का कार्य प्रारम्भ भी हो गया था, और आर्य नेता इसे सफल बनाने तथा इसके लिए धन जुटाने में संलग्न थे। इस दशा में अक्तूबर, १८८६ में स्थापित आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए धन एकत्र करने की ओर यदि उनका विशेष ध्यान न हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात भी नहीं। फिर भी उसने उत्साह के साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया, और अपना खर्च चलाने के लिए आर्य-समाजों से दशांश लेना शुरू किया। सन् १८९२-९३ की सभा की रिपोर्ट में उस वर्ष का जो आय-व्यय दिखाया गया है, उसमें 'दस बंध' नाम से जो आय उल्लिखित है, वह आर्यसमाजों से प्राप्त दशांश ही है। सन् १८९५ के दिसम्बर मास में सभा की रजिस्टरी भी करा दी गई। इस समय उसके निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये—(१) वेदों और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के पढ़ाने और आर्योपदेशक तैयार करने के लिए एक विद्यालय कायम करना। (२) धार्मिक और पदार्थविद्या सम्बन्धी पुस्तकों का एक पुस्तकालय खोलना जिसमें सर्वसाधारण लोग पुस्तक देख सकें। (३) वेदों के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए लघु पुस्तक आदि छापना-छपवाना। (४) पंजाब और दीगर मुकामात में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न करना। (५) वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तजावीज़ सोचना और उनके अनुसार प्रबन्ध करना।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रथम प्रधान लाला साईंदास थे। जब तक वह जीवित रहे, सभा के वही प्रधान रहे। जून, १८९० में उनका देहावसान हो जाने पर लाला ईश्वरदास सभा के प्रधान निर्वाचित हुए, और फिर १८९२ में लाला हंसराज। बाद में उनका स्थान लाला मुंशीराम ने ले लिया। सभा के प्रथम मन्त्री लाला मदनसिंह थे। उनके पश्चात् लाला जीवनदास तथा लाला मुरलीधर इस पद पर निर्वाचित हुए। प्रारम्भ में प्रतिनिधि सभा के पास आर्थिक साधनों की बहुत कमी थी, अतः उसके कार्यालय में वैतनिक कर्मचारियों को रख सकना सम्भव नहीं था। पत्र-व्यवहार आदि का सब कार्य प्रधान और मन्त्री स्वयं ही कर लिया करते थे। पर ज्यों-ज्यों कार्य में वृद्धि होती गई, कर्मचारी भी नियुक्त कर लिये गये। सन् १८९५ में सभा के कार्यालय में एक लेखक की नियुक्ति की गई, और दो वर्ष बाद १८९७ में एक गणक की भी। पर कार्यालय का कार्य प्रधानतया अब भी सभा के पदाधिकारियों द्वारा ही किया जाता रहा।

वैदिक धर्म का प्रचार आर्यसमाज का मुख्य कार्य था। स्थानीय आर्यसमाजों के साथ-साथ प्रतिनिधि सभा को भी इसके लिए प्रयत्नशील होना था। पर प्रारम्भ में आर्यसमाज के पास कोई वैतनिक उपदेशक नहीं होते थे। समाज के सदस्यों में वैदिक धर्म के लिए अनुपम उत्साह था, और वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का

अध्ययन करने के लिए भी तत्पर रहते थे। इसी का यह परिणाम था, कि आर्य सभासद् स्वयं ही प्रचारक भी हुआ करते थे, और विधर्मियों के साथ शास्त्रार्थ के लिए भी उद्यत रहते थे। समाज के साप्ताहिक सत्संगों में सन्ध्या, हवन, प्रार्थना, उपदेश आदि भी प्रायः सभासदों द्वारा ही कर दिये जाते थे। कतिपय आर्य संन्यासी उस समय धर्म-प्रचार के लिए अवश्य सचेष्ट थे, पर उनकी संख्या अधिक नहीं थी। यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, कि आर्यसमाज को वैतनिक उपदेशक नियत करने चाहियें, ताकि धर्म-प्रचार का कार्य तेजी के साथ हो सके। इसीलिए सबसे पूर्व पण्डित मणिराम को पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी सेवा में उपदेशक नियुक्त किया। यही पण्डितजी बाद में महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि के नाम से विख्यात हुए। वैतनिक उपदेशकों द्वारा वेद-प्रचार का कार्य तभी कराया जा सकता था, जब सभा के पास एक ऐसी निधि हो, जिससे उन्हें नियमपूर्वक वेतन दिये जा सकें। इसीलिए ३ जून, १८६४ की सभा की अन्तरंग सभा की बैठक में लाला मुंशीराम ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि वेदों की शिक्षा तथा प्रचार का सन्तोषजनक प्रबन्ध करने के लिए 'वेद प्रचार फण्ड' नाम से एक स्थिर निधि की स्थापना की जाए। इस फण्ड की योजना तैयार करने के लिए एक उपसमिति बना दी गयी, जिसकी रिपोर्ट पर विचार कर आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने २ सितम्बर, १८६४ के अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया—"चूंकि इस सभा की मौजूदा आमदनी वैदिक धर्म के प्रचार के यथोचित प्रबन्ध के लिए काफी नहीं है, इसलिए जरूरी है कि इस मतलब के लिए सभा हाज़ा के ज़ेर इहतिमाम वेदप्रचार फण्ड नामी एक फण्ड खोला जाये, जिसके अगराज़ ये होंगे—(१) उपदेश करना-कराना और पुस्तक आदि तैयार कराकर ज़ारी करना। (२) उपदेशकों और उपदेशिकाओं को तैयार करना। (३) आर्य धर्म की वृद्धि और उन्नति के लिए एक पुस्तकालय कायम करना। (४) लाहौर के विद्यार्थियों के लिए एक आश्रम खोलना।" सभा ने केवल उपदेशक तैयार करने का ही निश्चय नहीं किया, अपितु इस बात पर भी ध्यान दिया कि उनके भरण-पोषण की भी समुचित व्यवस्था की जाये। उसका विचार था, कि उपदेशकों को इस कदर आजीविका दी जाये, जिससे कि उनका 'गुजारा बमै अयाल (परिवार सहित) माकूल तौर पर हो सके।' वेद-प्रचार फण्ड इसी उद्देश्य से खोला गया था, ताकि उससे सभा वैतनिक उपदेशक रख सके और उन द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य भली-भाँति कराया जाए। इसी फण्ड का यह परिणाम हुआ, कि सन् १८६७ में १५ उपदेशक सभा की सेवा में रहकर वेद-प्रचार कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने से पूर्व ही पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा सुव्यवस्थित रूप से स्थापित हो गयी थी, और उसके कार्यकलाप में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी।

(३) पंजाब के आर्यसमाज के दो भाग या दल

पर पंजाब के सब आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध नहीं थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती का देहावसान हुए अभी पाँच वर्ष भी नहीं हुए थे, कि पंजाब के आर्यसमाजियों में मतभेद उत्पन्न होने प्रारम्भ हो गये थे, और शीघ्र ही उन्होंने उग्र विरोध का रूप प्राप्त कर लिया था। इन्हीं के कारण पंजाब में आर्यसमाजों का एक अन्य केन्द्रीय संगठन 'आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा' नाम से स्थापित हुआ। यद्यपि इस

सभा का निर्माण सन् १८६४ में हुआ था, पर उससे बहुत पहले ही पंजाब के आर्यसमाजी स्पष्ट रूप से परस्पर विरोधी दो पार्टियों में संगठित होने लग गये थे।

पंजाब में आर्यों में मतभेदों के प्रादुर्भूत होने और उनके दो पार्टियों में विभक्त हो जाने के अनेक कारण थे। प्रधान कारण डी० ए० वी० स्कूल और कॉलिज की पाठविधि के सम्बन्ध में विचारों में भेद था। इन शिक्षण-संस्थाओं में संस्कृत तथा वेद-वेदांगों की पढ़ाई को कितना स्थान दिया जाए, इस प्रश्न पर आर्यसमाज के नेता एकमत नहीं थे। डी० ए० वी० संस्थाओं की शिक्षानीति के सम्बन्ध में मतभेद पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। इन संस्थाओं की स्थापना की जो योजना आर्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत की गई थी, उसमें इनका प्रथम उद्देश्य "प्राचीन संस्कृत साहित्य का उच्च स्तर तक अध्ययन तथा वेद-विद्या के ग्रन्थों की शिक्षा" निर्धारित किया गया था, और दूसरे उद्देश्य के रूप में "जीविकोपार्जन तथा पाश्चात्य विद्याओं के ज्ञान के लिए अंग्रेजी की शिक्षा" को स्थान दिया गया था। इसी दृष्टि से इस शिक्षण-संस्था का नाम 'एंग्लो-वैदिक' रखा गया था, जिससे इसके दोनों उद्देश्य स्पष्ट हो जाते थे। इन उद्देश्यों के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था। पर प्रश्न यह था, कि डी० ए० वी० संस्थाओं में 'एंग्लो' का कितना स्थान हो, और 'वैदिक' का कितना? इसी प्रश्न पर जो मतभेद विकसित हुआ, उसने पंजाब के आर्यसमाजियों को दो दलों में विभक्त कर दिया। लाला लालचन्द, लाला हंसराज और लाला लाजपतराय आदि जिन आर्य सज्जनों के हाथों में डी० ए० वी० कॉलिज की वागडोर थी, उनके सम्मुख उसके स्वरूप के सम्बन्ध में ये विचार थे—(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दू जाति की ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमणों से रक्षा करना चाहते थे। मुसलमानों का आक्रमण प्रायः ग्रामों में होता था, पर ईसाई लोग अपने स्कूलों और कॉलिजों द्वारा नगरों के हिन्दुओं पर आक्रमण में तत्पर थे। डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना का एक प्रयोजन यह था कि नगरों के शिक्षित वर्ग पर क्रिश्चिएनिटी के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जाये। (२) सरकारी शिक्षा में धर्म को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। डी० ए० वी० कॉलिज में सामान्य शिक्षा के साथ-साथ धर्म-शिक्षा को भी समुचित स्थान दिया जाये। इसके अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाये, और प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी भाषा ही हो। (३) कॉलिज को आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का साधन बनाया जाये। वहाँ जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करें, वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से परिचित व प्रभावित हों।

यह स्वीकार करना होगा, कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में स्थापित यह कॉलिज ही एकमात्र ऐसा शिक्षणालय उस समय था, जिसमें सामान्य शिक्षा के साथ-साथ वैदिक धर्म की शिक्षा को भी स्थान प्राप्त था, जिसमें संस्कृत और हिन्दी की पढ़ाई पर विशेष बल दिया जाता था, और जिसका वातावरण आर्यसमाज के नैतिक मन्तव्यों के अनुरूप था। पर आर्यसमाज का एक वर्ग इससे सन्तुष्ट नहीं था। पण्डित गुरुदत्त इस वर्ग के प्रधान नेता थे। वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की तुलना में संस्कृत तथा प्राचीन शास्त्रों की शिक्षा को अधिक महत्त्व देते थे, और महर्षि के स्मारक के रूप में स्थापित इस शिक्षण-संस्था में वेदशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की ही व्यवस्था करना चाहते थे। पण्डित गुरुदत्त और उनके साथी डी० ए० वी० स्कूल तथा कॉलिज की पाठविधि

में ऐसे परिवर्तन कराने के लिए प्रयत्नशील थे, जिनसे कि उसमें प्राचीन भारतीय ज्ञान एवं वेदशास्त्रों की शिक्षा प्रधान स्थान प्राप्त कर सके। पर लाला (महात्मा) हंसराज तथा उनके साथी इससे सहमत नहीं थे। डी० ए० वी० शिक्षण-संस्था की शिक्षानीति के सम्बन्ध में मतभेद पंजाब के आर्यों में दलबन्दी के प्रादुर्भाव का एक प्रधान कारण था। पण्डित गुरुदत्त के अनुयायियों द्वारा ही बाद में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की गयी, जिसका मुख्य उद्देश्य महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति को क्रियान्वित करना था, और जिसकी पाठविधि में वेदशास्त्रों को प्रधान स्थान दिया गया था। शिक्षा-नीति विषयक मतभेद के कारण पंजाब में जो दो पार्टियाँ बनीं, वे कॉलिज पार्टी तथा गुरुकुल पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उनके ये नाम ही शिक्षा-विषयक उनके मतभेद के परिचायक हैं।

शिक्षा सम्बन्धी नीति के अतिरिक्त एक अन्य प्रश्न भी था, जिस पर पंजाब के आर्यों में मतभेद प्रादुर्भूत हुआ। यह प्रश्न मांस-भक्षण के सम्बन्ध में था। मांस का सेवन वेद तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुरूप है या नहीं, और क्या मांस-भक्षण करने वाले व्यक्ति भी आर्यसमाज के सदस्य हो सकते हैं, यह प्रश्न था जिस पर पंजाब के सब आर्य-समाजी एकमत नहीं थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुसार दो प्रकार के पदार्थ अखाद्य हैं, एक मांस-मछली आदि जिनकी प्राप्ति के लिए प्राणियों की हिंसा करनी होती है, और दूसरे वे जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों। मांस के लिए प्राणियों की हिंसा करनी होती है, अतः मांस-भक्षण उचित नहीं है। सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्य, तथा अपने पत्रों और व्याख्यानों में महर्षि ने मांस-भक्षण का विरोध किया है, और गौ आदि पशुओं की रक्षा पर बहुत जोर दिया है। महर्षि के पत्रों में एक पत्र ब्रह्मचारी रामानन्द का मिलता है, जिसे उन्होंने सरदार रूपसिंह को लिखा था। रूपसिंह ने महर्षि से कुछ प्रश्न किये थे, जिनका उत्तर रामानन्द ने उनकी ओर से दिया था। ब्रह्मचारी रामानन्द महर्षि के साथ रहकर उनकी सेवा किया करते थे। १३ दिसम्बर, १८८१ को ब्रह्मचारी जी ने रूपसिंह को लिखा था—"मांस खाना बहुत बुरा है और वेदादि सत्यशास्त्रों में उसका कहीं विधान नहीं है।" यह बात महर्षि की ओर से ही रूपसिंह को लिखी गई थी। महर्षि का जन्म एक निरामिषभोजी परिवार में हुआ था, और मांस-भक्षण से उन्हें घृणा थी। यही कारण है, कि जब टिहरी में एक पुजारी ने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित किया और भोजन में मांस भी प्रस्तुत किया, तो उसे देखकर उन्हें अत्यधिक ग्लानि हुई थी। इसका उल्लेख उन्होंने अपने आत्मचरित में भी किया है। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि महर्षि के अनुयायी भी मांस-भक्षण के विरोधी हों। यही कारण है, कि आर्य-समाज की वेदी से तथा आर्य पत्र-पत्रिकाओं में मांस-भक्षण के विरोध में प्रचार किया जाता था, और उसके प्रभाव में आकर वे आर्य भी मांस का परित्याग कर दिया करते थे, जो पहले उसके सेवन के अभ्यस्त थे। आर्यसमाज में प्रवेश से पूर्व लाला मुंशीराम मदिरा और मांस का सेवन किया करते थे। सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास के भक्ष्या-भक्ष्य प्रकरण को पढ़कर उनके मन में मांस-भक्षण के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई, और सायं के समय जब वह भोजन के लिए बैठे, तो प्रतिदिन के समान मांस का कटोरा भी उनके सामने रखा गया। पर महर्षि की शिक्षा के प्रभाव से वह मांस-भक्षण के इतने विरोधी हो गये थे, कि उन्होंने मांस के कटोरे को सामने की दीवार से दे मारा। उनके साथियों

को इस पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने समझा कि रसोइये से कुछ भूल हो गयी है। वे उसे भला-बुरा कहने लगे। इस पर मुंशीरामजी ने कहा—"रसोइये विचारे को कुछ मत कहो। एक आर्य के मत में मांस-भक्षण भी महापाप है। मैं मांस का अपनी थाली में रखा जाना सह नहीं सकता।" लाला मुंशीराम के समान अन्य भी बहुत-से आर्यों की मांस-भक्षण के प्रति यही भावना थी। उन दिनों के आर्य समाचार-पत्रों में उन व्यक्तियों के समाचार बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रकाशित किये जाते थे, जिन्होंने आर्यसमाज के प्रभाव में आकर मांस तथा मदिरा का परित्याग कर दिया होता था। ८ मई, १८८८ के आर्य गजट (उर्दू) में यह समाचार छपा था—"लाला रामचन्द्र साहब कानूनगो तहसील बल्लभगढ़ ने गोश्त और शराब से इजतिनाब (परहेज) फ़रमा कर और मखलूकपरस्ती (सृष्टिपूजा) व बुतपरस्ती बगैरा ज़माइम (बुराइयों) से ताइब होकर वेद-धर्म को कबूल किया। मुबारिक।" २४ अगस्त, १८८८ के आर्य गजट का यह समाचार भी उद्धरण के योग्य है—"सरदार बिशनसिंह साहब मेम्बर आर्यसमाज मुजफ्फरगढ़ ने समाज में दाखिल होते ही गोश्त व शराब क़तअन व कताख़्त तर्क कर दिया। आफरीन आपकी हिम्मत पर।" गजट के इसी अंक में एक अन्य समाचार है—"सिर्सा जिला अल्लाहाबाद में स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती महाराज ने गोरक्षा के बारे में निहायत मुअस्सिर व्याख्यान दिया जिससे लोगों के दिल में बहुत कुछ रहम पैदा हो गया, यहाँ तक कि मौलवी मनसब अली साहब जो व्याख्यान सुनने के गरज से तशरीफ लाये थे, उनके दिल में इस कदर रहम पैदा हुआ कि कुल हाजरीन के रूबरू इकरार किया कि आज से मैंने हरेक किस्म का गोश्त खाना तर्क कर दिया। अब ता व जिन्दगी नहीं खाऊँगा। नीज़ ता व ज़ीस्त दो रुपया साल व-इमदाद गोरक्षा सभा हरिद्वार देना कबूल फरमाया। परमेश्वर मौलवी साहब के इरादे में इस्तिक़लाल वख़्शे।" इसी प्रकार के अन्य बहुत-से समाचार उस समय के पत्रों (आर्य पत्रिका, आर्य समाचार, सद्धर्म प्रचारक आदि) में प्रकाशित हैं। इन पत्रों में मांस-भक्षण के विरोध में अनेक लेख भी लिखे जाते थे। कतिपय आर्य विद्वान् व नेता पेम्फ्लेट व पत्रिकाएँ लिखकर भी मांस-भक्षण के विरुद्ध प्रचार में तत्पर थे। सन् १८८७ से १८९२ तक प्रकाशित हुई अंग्रेजी, उर्दू एवं हिन्दी की अनेक पुस्तिकाएँ इस समय भी उपलब्ध हैं, जिनमें लाला आत्माराम द्वारा लिखित "क्या मांस-भक्षण आर्य-धर्मानुकूल है", लाला दुर्गाप्रसाद की पुस्तिका 'स्पिरिचुएल एडवान्टेज ऑफ वेजीटेरियनिज़्म' व 'मनु एण्ड वेजीटेरियनिज़्म', मुंशी रामकिशन की 'संगीत मांसवर्जन' और पण्डित के० एल० शास्त्री की पुस्तिका 'मांस-भक्षण निषेध' उल्लेखनीय हैं। इन तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक पुस्तिकाओं में यह प्रतिपादित किया गया था, कि जहाँ मांस-भक्षण वेदशास्त्रों के विरुद्ध है, वहाँ साथ ही वह शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक भी है।

आर्यसमाज के विविध विद्वान् व कार्यकर्ता जिस ढंग से मांस-भक्षण के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे, उसके कारण यह प्रश्न उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था कि क्या समाज के सभासदों के लिए निरामिषभोजी होना आवश्यक है, और क्या मांस-भक्षकों के लिए आर्यसमाज का सदस्य होना निषिद्ध कर देना चाहिये। यह सही है, कि प्रारम्भ में आर्यसमाज में ऐसे व्यक्ति भी सदस्य बने थे, जो मांस-भक्षक थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७७ में लाहौर में जिस आर्यसमाज की स्थापना की थी, उसके अनेक सदस्य

आमिषभोजी भी थे। महर्षि ने ऐसी कोई शर्त नहीं रखी थी, कि केवल निरामिषभोजी व्यक्ति ही समाज के सदस्य बन सकें। बाबू मूलराज मांस-भक्षक थे, पर महर्षि ने उन्हें परोपकारिणी सभा का न केवल सदस्य ही मनोनीत किया था, अपितु उसका उपप्रधान भी बनाया था। पर यह होते हुए भी सन् १८८७ के लगभग पंजाब के अनेक आर्यों द्वारा यह आन्दोलन शुरू किया गया, कि आर्यसमाजियों के लिए निरामिषभोजी होना अनिवार्य होना चाहिये। पण्डित गुरुदत्त, लाला दुर्गाप्रसाद और लाला मुंशीराम इनके नेता थे। पण्डित गुरुदत्त मांस-भक्षण के कट्टर विरोधी थे। मार्च, १८६० में जब वह भयंकर रूप से बीमार थे, डॉक्टरों ने परामर्श दिया, कि मांस के सेवन से उन्हें लाभ पहुँच सकता है। इस पर पण्डितजी ने हँसते हुए उत्तर दिया—"क्या मांस खाकर मैं अमर हो जाऊँगा? क्या इसके पश्चात् फिर मृत्यु नहीं आएगी? यदि ऐसा न हो, तो केवल अपने शरीर की रक्षा की सम्भावना मात्र के लिए एक अन्य प्राणी का निश्चित घात कर देने का क्या अर्थ है?" जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, लाला मुंशीराम को सत्यार्थ-प्रकाश पढ़कर मांस-भक्षण से ग्लानि उत्पन्न हो गयी थी, और वह निरामिष भोजन के प्रबल पक्षपाती बन गये थे। धीरे-धीरे आर्यसमाज में उन लोगों की शक्ति बढ़ती गयी, जो मांस-भक्षण के विरोधी थे और जिनका यह मन्तव्य था कि मांस-भक्षकों को आर्यसमाज का सभासद् नहीं बनाया जाना चाहिये। अनेक आर्यसमाजों ने भी इस आशय के प्रस्ताव स्वीकृत करने प्रारम्भ कर दिये थे। सद्धर्मप्रचारक के १५ मार्च, १८६० के अंक में क्वेटा आर्यसमाज द्वारा मांस-भक्षकों को समाज का सदस्य न बनाने का प्रस्ताव स्वीकृत किये जाने पर प्रसन्नता प्रकट की गयी, और यह आशा की गयी कि क्वेटा आर्यसमाज का अनुकरण कर अन्य समाज भी इस प्रकार के प्रस्ताव स्वीकृत करेंगे। सद्धर्मप्रचारक के सम्पादक लाला मुंशीराम की यह आशा पूर्ण हुई, और पेशावर, जालन्धर आदि अन्य अनेक नगरों के आर्यसमाजों ने भी मांस-भक्षकों को समाज के सदस्य बनाने के विरोध में प्रस्ताव स्वीकृत किये। ३० जुलाई, १८८९ को लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में भी इस आशय का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, कि मांस और मदिरा का सेवन करने वाले व्यक्तियों को आर्यसभासद् न बनाया जाये। यदि कोई व्यक्ति चिकित्सक के परामर्श से इनका सेवन करता हो, तो उसे अपवाद रूप से सभासद् बनाया जा सके, यह भी प्रस्ताव में उल्लिखित कर दिया गया था। लाला हंसराज ने इस पर यह संशोधन प्रस्तुत किया, कि आर्यसमाज के दस नियमों को मानना ही आर्य सभासद् बनने के लिए पर्याप्त होना चाहिये। मूल प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। संशोधित प्रस्ताव के पक्ष में आठ वोट आये और विरोध में पाँच। इस प्रकार लाहौर आर्यसमाज ने क्वेटा, पेशावर और जालन्धर के समाजों के समान केवल निरामिष भोजियों को ही आर्य सभासद् बनाने की बात स्वीकृत नहीं की। यद्यपि मांस-भक्षण के विरोधी आर्य सज्जन अधिक सक्रिय थे, पर उसके पक्ष-पाती भी देर तक इस प्रश्न के सम्बन्ध में उदासीन व निष्क्रिय नहीं रहे। उन्होंने भी मांस-भक्षण के पक्ष में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। लाला हंसराज के बड़े भाई लाला मुल्कराज भल्ला थे। हंसराजजी के कारण उनका भी आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। लाला मुल्कराज मांस-भक्षण के प्रबल पक्षपाती थे। उनका विचार था, कि हिन्दू जाति की वर्तमान निर्बलता का एक कारण जैन धर्म का अहिंसा-प्रचार भी है। मांस-भक्षण के पक्ष में उन्होंने अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित कराईं, जिनमें यह प्रतिपादित किया गया

था, कि मांस का सेवन स्वास्थ्य के लिए हितकर तथा वेदविहित है। उन्होंने हिन्दुओं को मांस-भक्षण के लिए प्रेरित करने के प्रयोजन से कुछ उर्दू कविताओं की भी रचना की, जो बहुत लोकप्रिय हुईं। ३ अक्तूबर, १८९१ के सद्धर्मप्रचारक में 'फलाहारी का लाला मुल्कराज को शास्त्रार्थ के लिए चेलेञ्ज' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि लाला मुल्कराज के आन्दोलन ने पंजाब के आर्य-समाजियों में कितना उद्वेग उत्पन्न कर दिया था, और वे किस प्रकार मांस-भक्षण के प्रश्न पर दो दलों में विभक्त होते जा रहे थे। धर्मशाला आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव (१८९१) पर भी मांस-भक्षण के प्रश्न पर विवाद हुआ था, और वहाँ लाला मुंशीराम ने निरामिष भोजन का प्रबल रूप से समर्थन किया था। पर इससे धर्मशाला के आर्यों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, और उनकी यही सम्मति बनी रही, कि धर्म के साथ भोजन का कोई सम्बन्ध नहीं है। २९ नवम्बर, १८९१ को लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर मांस-भक्षण के पक्ष में लिखी गयी अंग्रेजी भाषा की एक पुस्तिका का वितरण किया गया। पंजाब के आर्यसमाजियों का एक वर्ग मांस-भक्षण के पक्ष में प्रचार करने में तत्पर था, इस बात को दृष्टि में रखकर लाला मुंशीराम ने १२ दिसम्बर, १८९१ के सद्धर्म-प्रचारक के अंक में आर्य सज्जनों को इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट करने के लिए निमन्त्रित किया। इस पर गुज्जर खाँ आर्यसमाज के लाला रलाराम ने 'प्रचारक' के ६ फरवरी, १८९२ के अंक में सत्यार्थप्रकाश के वे सब स्थल एकत्र कर प्रकाशित करा दिये, जिनमें महर्षि ने मांस-भक्षण का निषेध किया है। इसी बीच जालन्धर के लाला शंकरदास ने अपने लेखों द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया, कि अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में मांस-भक्षण का विधान है। गुजरांवाला आर्यसमाज के प्रधान लाला केवलकृष्ण ने इसके जवाब में लेख लिखकर शंकरदासजी के विचारों का खण्डन किया। लाहौर आर्यसमाज के सन् १८९२ के वार्षिकोत्सव में मांस-भक्षण विषयक विवाद ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। परोपकारिणी सभा के उपप्रधान लाला मूलराज इस उत्सव में उपस्थित थे। उन्होंने अपने व्याख्यान में यह मत प्रस्तुत किया, कि शाकाहारी भोजन का आर्य धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे लोग भी आर्यसमाज के सभासद् हो सकते हैं, जो मांस-भक्षण करते हैं। उन्होंने अपना उदाहरण देकर जोर के साथ कहा, कि मैं मांस खाता हूँ, और लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के समय से ही उसका सभासद् हूँ। अपने व्याख्यान के पश्चात् लाला मूलराज ने 'मांस प्रचार का सिलसिला' नाम की एक पुस्तिका का भी वितरण किया। इसमें मांस-भक्षण का प्रबल रूप से समर्थन किया गया था। जिस उग्र रूप से लाला मूलराज आर्यसमाज की वेदी से मांस-भक्षण का समर्थन कर रहे थे, उसे अनेक आर्य सहन नहीं कर सके। लाला जीवनदास और महाशय रैमल ने उनके विचार का खण्डन किया। लाला शंकरदास भी इस समय चुप नहीं रह सके। वह मांस-भक्षण के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में कुछ आपत्तिजनक शब्द कह दिये, जिस पर जनता विक्षुब्ध हो गयी और वार्षिकोत्सव का वातावरण शान्तिमय नहीं रह सका।

मांस-भक्षण के पक्षपातियों के लिए यह प्रतिपादित कर सकना सुगम नहीं था, कि महर्षि ने मांस खाने का विरोध नहीं किया है। वे यह कहते थे, कि मांस के सम्बन्ध में सब आर्यों को अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखने का अधिकार है, और आर्य सभासद् होने

के लिए मांस-भक्षण का परित्याग अनिवार्य नहीं होना चाहिये। उनकी सम्मति में आर्य-समाज का सभासद् होने के लिए उसके दस नियमों का मानना ही पर्याप्त था, और इन नियमों में मांस खाने का कहीं निषेध नहीं है। आर्य सभासद् के लिए केवल दस नियमों का मानना ही पर्याप्त है, और वेद, ईश्वर का स्वरूप, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, जात-पाँत, वर्ण-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के जो मन्तव्य हैं, उन्हें अविकल रूप से मानने या न मानने के बारे में आर्यों को स्वतन्त्रता होनी चाहिये—जो यह विचार इस समय लाला मूलराज और उनके साथियों द्वारा प्रकट किया जा रहा था, वह मांस-भक्षण की तुलना में भी अधिक महत्त्व का था। पंजाब के आर्यों में इस सम्बन्ध में भी विवाद शुरू हो गया। सद्धर्मप्रचारक सदृश आर्य पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय में लेख प्रकाशित होने लगे। इस प्रश्न पर तीन मत थे। कुछ लोग महर्षि को निर्भ्रान्त मानते थे, और यह कहते थे कि महर्षि ने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह पूर्णतया प्रामाणिक है। वेद-मन्त्रों के अभिप्राय को समझने के लिए भी हमें निरपवाद रूप से महर्षिकृत वेद-भाष्य पर निर्भर रहना चाहिये। दूसरा मत उन लोगों का था, जो अपनी बुद्धि व विवेक को महत्त्व देते थे और किसी भी व्यक्ति के कथन को प्रमाण रूप से स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। महर्षि के स्वमन्तव्यामन्तव्य तथा सत्यार्थप्रकाश आदि को भी वे उसी अंश तक मानने के पक्ष में थे, जहाँ तक कि बुद्धि और तर्क द्वारा वे स्वीकार्य प्रतीत हों। तीसरा मत मध्यमार्ग का था। इस मत के लोगों का कथन था, कि महर्षि के मन्तव्य व ग्रन्थ तब तक अवश्य प्रामाणिक हैं, जब तक कि उनमें किसी अशुद्धि व भूल को स्पष्टतया प्रतिपादित न कर दिया जाये। पण्डित गुरुदत्त प्रथम मत के प्रबल पक्षपाती थे। उनकी सम्मति में महर्षि का एक-एक शब्द सत्य था। सन् १८९० में गुरुदत्तजी का देहावसान हो चुका था, पर उनके अनुयायियों की आर्यसमाज में कोई कमी नहीं थी। लाला मूलराज दूसरे मत के प्रतिपादक थे। वह न केवल मांस-भक्षण के ही समर्थक थे, अपितु यह भी मानते थे कि आर्य सभासदों को विचार तथा आचरण की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। क्योंकि लाला मूलराज मांस-भक्षण का प्रचार भी करते थे, अतः आर्यसमाजियों के सम्मुख यह नयी समस्या उत्पन्न हुई कि क्या ऐसा व्यक्ति भी आर्यसमाज का सभासद् रह सकता है, जो महर्षि के मन्तव्यों के विरुद्ध प्रचार करता हो। उन्हें लाहौर समाज की सदस्यता से पृथक् कर देने का प्रस्ताव अन्तरंग सभा में प्रस्तुत किया गया, पर वह स्वीकृत नहीं हो सका। इसका कारण यह था, कि मांस-भक्षण के विरोधी कतिपय सदस्यों का यह कथन था, कि आर्यसमाज के नियमों में किसी सभासद् को समाज से बहिष्कृत करने का कहीं विधान नहीं है।

मांस-भक्षण के प्रश्न पर पंजाब के आर्यों में जो मतभेद था, वह निरन्तर उग्र रूप धारण करता गया। डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षानीति से असन्तुष्ट होकर आर्यसमाज का जो वर्ग इस शिक्षणालय के संचालकों के विरुद्ध आन्दोलन में तत्पर था, वह उन पर मांस-भक्षण का भी आरोप लगाने लगा, क्योंकि लाला साईंदास और महात्मा हंसराज (कॉलिज के प्रिंसिपल) दोनों आमिषभोजी थे। शीघ्र ही वह समय आ गया, जबकि लाहौर आर्यसमाज में मांस-भक्षण के पक्षपाती तथा विरोधी लोगों के लिए एक साथ रह सकना सम्भव नहीं रहा, और सन् १८९३ में लाहौर के अनारकली क्षेत्र में उन

लोगों ने एक पृथक् समाज स्थापित कर लिया, जिन्हें मांस-भक्षण से कोई विरोध नहीं था, और जो डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षानीति को सन्तोषजनक समझते थे।

मांस-भक्षण के प्रश्न को लेकर आर्यसमाज में जो विवाद चल रहा था, वह पंजाब तक ही सीमित नहीं रहा। जोधपुर राज्य के दीवान व प्रशासक सर प्रतापसिंह महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त और वैदिक धर्म के अनुयायी थे। पर उनका मत था, कि क्षत्रिय राजपूतों को वीरता की अपनी परम्परा को कायम रखने के लिए मांस अवश्य खाना चाहिये। वह चाहते थे, कि आर्य विद्वान् भी मांस-भक्षण का समर्थन करें। स्वामी प्रकाशानन्द के रूप में उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल भी गया, जो मांस भोजन का समर्थन करने तथा उसके पक्ष में अन्य विद्वानों की सम्मति प्राप्त कराने के लिए तैयार हो गया। आगरा कॉलिज के संस्कृत के हेड पण्डित श्री ठाकुर प्रसाद ने 'राजस्थान समाचार' में लेख लिखकर मांस-भक्षण को वेदानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया। बम्बई के स्वामी गट्टूलाल तथा स्वामी अचेतानन्दजी भी मांस-भक्षण का समर्थन करने को उद्यत हो गये। इन विद्वानों के समर्थन से प्रोत्साहित होकर जोधपुर आर्यसमाज ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि "प्रतिष्ठित आर्यसमाजी और सद्‌गृहस्थों से यह पता चला है कि वेदों में मांस-भक्षण लिखा है और स्वामीजी के ग्रन्थों से विदित हुआ है कि हानिकारक जीवों को मारने की आज्ञा वेदों में है, इसलिए हमारा समाज मांस-भक्षण को पाप नहीं समझता और सब समाजों से निवेदन है कि मांस-भक्षण को पाप मानने वालों के व्याख्यान कराने की आवश्यकता नहीं।" जोधपुर आर्यसमाज द्वारा मांस-भक्षण के समर्थन में पाँच पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की गईं। जोधपुर में मांस-भक्षण को जो समर्थन प्राप्त हो रहा था, उससे स्वामी प्रकाशानन्द बहुत उत्साहित हुए और उन्होंने मेरठ से पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० तथा इलाहाबाद से पण्डित भीमसेन को इस आशा से जोधपुर निमन्त्रित किया, ताकि आर्यसमाज के इन प्रतिष्ठित विद्वानों का समर्थन भी मांस-भक्षण के लिए प्राप्त किया जा सके। ये दोनों विद्वान् अगस्त, १८९३ में जोधपुर पहुँच गये। पण्डित भीमसेन महर्षि के शिष्य थे, और उन दिनों 'आर्य सिद्धान्त' नामक पत्र का सम्पादन कर रहे थे। आर्यसमाज के क्षेत्र में उनको बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह सर प्रतापसिंह से मिले, और उनके प्रभाव में आकर यह कह आए, कि वेद में मांस-भक्षण का खण्डन तो है, पर क्योंकि हिंस्र पशुओं को मारना पाप नहीं है, अतः उनका मांस खाने में भी कोई दोष नहीं। पर पण्डित गंगाप्रसाद किसी भी रूप में मांस-भक्षण का समर्थन करने को उद्यत नहीं हुए। इसी बीच में पण्डित लेखराम भी जोधपुर पहुँच गये थे। वह मांस भोजन के प्रबल विरोधी थे। उनके कारण जोधपुर तथा राजस्थान के अन्य आर्य क्षेत्रों में स्वामी प्रकाशानन्द के प्रभाव में कमी आ गई, और आर्य जनता में यह विचार जोर पकड़ने लग गया, कि मांस-भक्षण महर्षि के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इसी कारण अजमेर आर्यसमाज ने मांस खाने वाले व उसका समर्थन करने वाले व्यक्तियों को समाज की सभासदी से पृथक् कर देने का प्रस्ताव भी स्वीकृत किया। २८ दिसम्बर, १८९३ को यह विषय परोपकारिणी सभा के सम्मुख भी उपस्थित हुआ। इस सभा ने कोई निर्णय करने से पूर्व यह उपयोगी समझा, कि इस सम्बन्ध में विभिन्न आर्यसमाजों की सम्मतियाँ एकत्र कर ली जाएँ। केवल जोधपुर समाज की सम्मति ही मांसाहार के पक्ष में थी। आर्यसमाजों के बहुमत से परोपकारिणी सभा ने भी अपनी

सहमति प्रकट की, और उसने भी यह निर्णय किया कि मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है।

यद्यपि पंजाब से बाहर अन्य प्रान्तों में मांस-भक्षण के प्रश्न को लेकर आर्य-समाजियों में दलबन्दी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, पर पंजाब में इसके कारण विरोध-भाव में निरन्तर वृद्धि होती गई। डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षानीति तथा मांस-भक्षण—ये दो विषय थे, जिन्हें लेकर पंजाब के आर्यसमाजियों के लिए एक साथ व एक संगठन के अधीन रहकर कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा। सन् १८९३ तक लाहौर में केवल एक ही आर्यसमाज था, और दोनों मतों के व्यक्ति उसी के सदस्य थे। पंजाब के आर्यसमाजों के जिस संगठन का निर्माण आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से सन् १८८६ में हुआ था, उसमें भी दोनों मतों के सदस्य थे। पर उनमें जिस ढंग से विरोध बढ़ता जा रहा था, उसके कारण वे देर तक एक साथ काम नहीं कर सके। मार्च, १८९३ में लाला मुंशीराम ने प्रस्ताव किया, कि कोई मांसाहारी व्यक्ति आर्य प्रतिनिधि सभा का सदस्य न हो सके। पर यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। चार मास बाद अगस्त में उन्होंने मांस-भक्षण के पक्ष में लाला मूलराज के प्रचार की निन्दा का प्रस्ताव उपस्थित किया। यद्यपि यह प्रस्ताव भी स्वीकृत नहीं हुआ, पर उसके पक्ष में जो वोट आए उनसे यह स्पष्ट हो गया कि आर्य प्रतिनिधि सभा में मांस-भक्षण के विरोधियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। पंजाब के आर्यसमाजों में लाहौर का समाज सर्वप्रधान था, और आर्य प्रतिनिधि सभा में उसके सदस्यों की संख्या सबसे अधिक थी। लाहौर का समाज किस पक्ष के हाथों में रहे, यह बात बड़े महत्त्व की थी। अतः उसके पदाधिकारियों के चुनाव को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हो गया, और दोनों पक्ष इस समाज को अपने अधिकार में रखने के लिए प्रयत्न करने लगे। पहले लाहौर आर्यसमाज के प्रधान लाला साईंदास थे। सन् १८९० में उनकी मृत्यु हो जाने पर लाला हंसराज उनके उत्तराधिकारी चुने गये थे। वह मांस-भक्षण समर्थक दल के थे। सितम्बर, १८९३ में मांस-भक्षण विरोधी दल के उम्मीदवार लाला दुर्गा प्रसाद समाज के प्रधान निर्वाचित हो गये। परिणाम यह हुआ, कि लाहौर आर्यसमाज से कॉलिज पार्टी या मांस पार्टी के वर्चस्व का अन्त हो गया, और यह अनुभव किया जाने लगा कि अब दोनों दल एक साथ मिलकर काम नहीं कर सकते। इस दशा में कॉलिज पार्टी के लोगों ने यही उचित समझा, कि वे अपना एक पृथक् समाज बना लें। वे भक्त ईश्वरदास के मकान पर एकत्र हुए, और विचार-विमर्श के अनन्तर उन्होंने निश्चय किया कि एक स्थान किराये पर लेकर वहीं अपना साप्ताहिक सत्संग कर लिया करें। उन्होंने अपने समाज के पदाधिकारियों का भी चुनाव कर लिया, जिसमें लाला लाजपत राय को प्रधान, लाला संगमलाल को उपप्रधान और लाला बुड्डामल को मन्त्री नियत किया गया। अनारकली के क्षेत्र में एक मकान किराये पर लेकर इस नये समाज का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया, और इस प्रकार लाहौर में दो समाज हो गये—बच्छोवाली का पुराना समाज जो मांस विरोधी या घास पार्टी के हाथों में था, और अनारकली का नया समाज (स्थापना सितम्बर, १८९३) जिस पर मांस पार्टी का प्रभुत्व था।

लाहौर में दो आर्यसमाजों की स्थापना हो जाने के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। उनमें सबसे मुख्य डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी में लाहौर आर्यसमाज के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में थी। उस समय डी० ए० वी० कॉलिज पंजाब के आर्यों की

प्रमुख संस्था थी, और उसकी मैनेजिंग कमेटी में विविध आर्यसमाजों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। लाहौर आर्यसमाज के प्रतिनिधि इसमें सर्वाधिक संख्या में थे। अब समस्या यह उपस्थित हुई, कि डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी में बच्छोवाली समाज के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाए, या अनारकली समाज के प्रतिनिधियों को। फरवरी, १८९४ की कमेटी की बैठक में लाला मुंशीराम ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि लाहौर के दोनों समाजों में से किसी के भी प्रतिनिधि कमेटी की बैठक में भाग न लें। यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता, तो डी० ए० वी० कमेटी में लाला हंसराज के अनुयायी बहुसंख्या में न रह पाते। लाला मुंशीराम स्वयं जालन्धर आर्यसमाज के प्रतिनिधि थे। पर उनके प्रस्ताव के पक्ष में केवल ६ वोट आए, जबकि विपक्ष के वोटों की संख्या १८ थी। अब लाला मूलराज ने यह प्रस्ताव किया, कि अनारकली आर्यसमाज को ही डी० ए० वी० कमेटी में प्रतिनिधित्व के लिए लाहौर का वैध समाज स्वीकृत कर लिया जाए। इस पर लाला मुंशीराम और उनके साथी कमेटी की बैठक से उठकर चले गये, जिसके कारण उसका कोरम नहीं रह गया। सायंकाल कमेटी की बैठक फिर की गई, जिसमें कोरम पूरा था। अब लाला मूलराज के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया गया। इसके बाद दोनों दलों में जिस उग्र संघर्ष का प्रारम्भ हुआ, उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। मई, १८९४ में डी० ए० वी० सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर स्थिति इतनी बिगड़ गयी थी, कि मार-पीट तक की नौबत आ गई। लाला मुंशीराम के अनुयायियों का एक समूह पण्डित रामभजदत्त चौधरी के नेतृत्व में "सदाकत के लिये गर जान जाती है तो जाने दो" यह गीत गाता हुआ डी० ए० वी० कॉलिज जा पहुँचा। उसे द्वार पर ही रोक दिया गया। वहाँ लाठी चल गयी, जिसके कारण सोसायटी का अधिवेशन नहीं हो सका। अगले दिन जब फिर अधिवेशन हुआ, तो बच्छोवाली समाज का प्रतिनिधि मण्डल उसमें गया ही नहीं। अब डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी पर लाला हंसराज और उनके साथियों का प्रभुत्त्व निरपवाद रूप से स्थापित हो गया। लाला मुंशीराम ने यही उचित समझा, कि अब कॉलिज के मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए। आर्य प्रतिनिधि सभा में उनका बहुमत था, और वह उसके प्रधान भी थे। उन्होंने यही श्रेयस्कर समझा, कि अपना ध्यान आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप पर केन्द्रित किया जाए, और उस द्वारा वेद-प्रचार के कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाए। पंजाब के आर्यसमाजियों की दलबन्दी केवल लाहौर तक ही सीमित नहीं रही। अन्यत्र भी दोनों दलों के समर्थकों में संघर्ष प्रारम्भ हो गये, और अनेक नगरों में लाहौर के समान ही दो पृथक् समाजों की स्थापना शुरू हो गयी। पंजाब के आर्यसमाजियों में जो मतभेद व विरोध विद्यमान थे, उन्होंने अब स्पष्ट व मूर्त रूप धारण कर लिया था। यह दशा समाज के सभी विचारशील व्यक्तियों को चिन्ताजनक प्रतीत होती थी, पर इसे ठीक करने का कोई उपाय दिखायी नहीं देता था। मई, १८९४ से मार्च, १८९७ तक यही दशा रही। ६ मार्च, १८९७ को एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा पण्डित लेखराम की हत्या कर दी गयी थी। पण्डितजी आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता थे। यद्यपि वह मांसाहार के विरोधी थे, पर लाला हंसराज और उनके साथी भी उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके अन्त्येष्टि संस्कार में लाहौर के हजारों नर-नारी सम्मिलित हुए, और आर्यसमाज के दोनों दलों के लोगों ने उनके प्रति समान रूप से

श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। अपने वीर नेता की इस निर्मम हत्या के कारण सब आर्यों के हृदय विक्षुब्ध व शोकातुर हो गये थे। उन्होंने निश्चय किया, कि अपने भेदभाव को भुलाकर परस्पर सहयोग से कार्य करें, और पण्डित लेखराम के उस मिशन को पूरा करें, जिसके लिए उन्होंने अपने जीवन की बलि दे दी थी। उन्होंने परस्पर मिलकर यह समझौता किया, कि अगले तीन साल तक आर्य प्रतिनिधि सभा में कोई ऐसी बात पेश नहीं की जाएगी जो कॉलिज पार्टी के लाला हंसराज, लाला लालचन्द, लाला ईश्वरदास, लाला मुरलीधर और लाला लाजपतराय को अस्वीकार्य हो, और डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी में कोई ऐसा निर्णय नहीं किया जाएगा, जिससे दूसरे दल के लाला मुंशीराम, लाला रामकृष्ण, लाला रलाराम, राय पैड़ाराम और लाला देवराज असहमत हों। प्रतिनिधि सभा तथा डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी से सम्बद्ध अन्य बातों के सम्बन्ध में भी समझौता कर लिया गया। पर यह समझौता देर तक कायम नहीं रह सका। जब लोगों के मनों में एक दूसरे के प्रति विरोध व सन्देह की भावना प्रादुर्भूत हो जाती है, तो उसे दूर कर सकना सुगम नहीं होता। पंजाब के आर्यसमाज के दोनों दलों में जो समझौता पण्डित लेखराम के बलिदान के समय सम्पन्न हुआ था, वह भी देर तक कायम नहीं रहा। उनमें फिर विरोध व विवाद प्रारम्भ हो गया, और दोनों पक्ष एक दूसरे से पृथक् होकर कार्य करने में प्रवृत्त हो गये। कॉलिज पार्टी (मांस पार्टी) का डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी पर प्रभुत्त्व था। अब उसकी शक्ति प्रधानतया इस संस्था के विकास में लगने लग गई। आर्य प्रतिनिधि सभा पर दूसरी पार्टी (जिसे घास पार्टी व महात्मा पार्टी कहा जाता था) का अधिकार था। उसने वेद-प्रचार को अपना प्रधान कार्य बनाया। दोनों पार्टियों के कार्यक्षेत्र अब पृथक् हो गये थे और उनके हाथों में समाज के दो पृथक् संगठन भी आ गये थे।

पंजाब के आर्यसमाज में जो यह विभाजन हुआ, उसके परिणामों का भी कुछ विवेचन करना उपयोगी है। दलबन्दी के कारण लोगों में प्रतिस्पर्धा की भावना विकसित होती है, जिससे वे अधिक तत्परता के साथ कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं। विभाजन के इस युग में पंजाब आर्यसमाज की दोनों पार्टियों का यह प्रयत्न रहता था, कि वे अधिक-से-अधिक उत्साह व लगन से कार्य करें, और आर्य जनता में लोकप्रियता प्राप्त करें। कॉलिज पार्टी डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं को वैदिक धर्म के प्रचार तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूरा करने का एक सशक्त साधन समझती थी, और उसने अपनी सारी शक्ति इनके विकास व प्रसार में लगा दी थी। इसके विपरीत महात्मा पार्टी ने अपना सब ध्यान वेद-प्रचार पर केन्द्रित किया हुआ था। शिक्षा का महत्त्व उसकी दृष्टि में भी था। डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं द्वारा स्त्री-शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। महात्मा पार्टी का ध्यान इस ओर गया। उस समय पंजाब में कन्याओं को पढ़ाने की प्रथा नहीं थी। सनातनी हिन्दुओं और आर्यसमाजियों में जहाँ मूर्ति पूजा सदृश विषयों पर शास्त्रार्थ होते थे, वहाँ कन्याओं की शिक्षा पर भी उनमें विवाद चलता था। आर्यसमाज स्त्री-शिक्षा के पक्ष में था। महर्षि ने उसका प्रबल रूप से समर्थन किया था। डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी से पृथक् होकर महात्मा पार्टी ने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। सन् १८८६ में जालन्धर में एक जनाना स्कूल स्थापित हुआ था, जिसकी स्थिति संतोषजनक नहीं थी। महात्मा पार्टी ने उसका

संचालन अपने हाथों में लेकर उसे 'कन्या महाविद्यालय' के रूप में विकसित करना प्रारम्भ कर दिया। समयान्तर में यह महाविद्यालय पंजाब में स्त्री-शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण आर्य केन्द्र बन गया। इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में इसके विकास व महत्त्व पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ इसका उल्लेख केवल इस प्रयोजन से किया जा रहा है, ताकि महात्मा पार्टी के कार्य-कलाप में शिक्षा का भी स्थान प्राप्त था, यह स्पष्ट हो सके। क्योंकि इस पार्टी के लोग डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षानीति व पाठविधि से असन्तुष्ट थे, अतः बाद में उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की, जिस द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिक्षाविषयक मन्तव्यों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार पंजाब आर्यसमाज की दोनों पार्टियाँ अपने-अपने ढंग से कार्य करने में प्रवृत्त हो गयीं, और उनका यह यत्न रहा, कि अधिक-से-अधिक आर्यों को अपने प्रभाव में ले आएँ। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनमें कार्यक्षमता उत्पन्न हुई, जिसे आर्यसमाज के लिए लाभदायक भी कहा जा सकता है। लाला लाजपत राय ने अपने जीवनचरित्र में इस बात को निम्नलिखित ढंग से प्रकट किया है—"वहाँ हिम्मत, उत्साह और साहस से उन्होंने, दोनों दलों के लोगों ने, समाज की सेवा में वे त्याग किए जो इतिहास में पूजा के योग्य हैं और सदा रहेंगे। बूढ़े और युवक, अमीर और गरीब सबने अपनी शक्ति और हैसियत से वढ़कर काम किया। कॉलिज की सहायता के लिए सब एक-एक महीने की आमदनी पहले ही दे चुके थे। वहुत-से नियमित रूप से चन्दा भी देते थे, किन्तु अब फिर नये सिरे से चन्दे लिये गए और सबने खुशी-खुशी दिये। महात्मा दल ने वेद-प्रचार कोष, कन्या महाविद्यालय और स्थानीय स्कूलों के लिए उसी हौसले से चन्दे दिये। लोगों को यह सन्देह होने लगा कि कदाचित् दोनों दल अपना चन्दा बढ़ाने के लिए ही लड़ रहे हैं।...लाला हंसराज और लाला मुंशीराम ने भी अपने दायित्व को वहुत उत्साह, हिम्मत और सहनशीलता के साथ निभाया, और अपने-अपने दल की सेवा में अपने को मिटा दिया।"

पर इस विरोध व दलबन्दी से अनेक हानियाँ भी हुईं। दोनों पार्टियों की ओर से अपनी पत्र-पत्रिकाओं में विरोधी पक्ष पर इस ढंग से आक्षेप किये जाने लगे, जिन्हें सभ्योचित नहीं कहा जा सकता। इससे सर्वसाधारण लोगों की आर्यसमाज के प्रति आस्था व प्रेम में कमी आने लगी। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। स्वामी रामतीर्थ ने आर्यसमाज और डी० ए० वी० कॉलिज के कार्य से प्रभावित होकर यह निर्णय किया था, कि वह केवल दस रुपये मासिक लेकर जन्म भर डी० ए० वी० कॉलिज की सेवा करेंगे। पर इस निर्णय के अगले दिन उन्होंने एक आर्यसमाजी पत्र में लाला हंसराज के विषय में एक ऐसा लेख पढ़ा, जिसके बाद उन्होंने अपना विचार बदल दिया और कॉलिज कमेटी को यह लिख भेजा कि जिस आर्यसमाज में अपने सेवकों के प्रति यह व्यवहार होता है, वह उसमें कदापि काम नहीं करेंगे। यह सत्य है, कि पार्टीबाजी से प्रेरित होकर दोनों पक्ष एक-दूसरे पर छींटाकशी करने में तत्पर हो गये थे और वह भी अशिष्ट भाषा में। साथ ही, दोनों पार्टियाँ अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करने में भी तत्पर हो गई थीं। इस सम्बन्ध में लाला मुंशीराम द्वारा 'सद्धर्मप्रचारक' (सन् १९०९) में लिखे गये कुछ वाक्य उद्धरण के योग्य हैं—"यदि घरेलू युद्ध की आरम्भिक तिथि से पहले की अवस्था के साथ उसके बाद की अवस्था की तुलना

की जाए, तो नफे नुकसान का हाल भली प्रकार विदित हो जाएगा। ऐसे आदमियों को अपनी ओर से पिछला चन्दा दाखिल करके आर्य सभासद् बनाया गया जिन्होंने तीन-तीन, चार-चार वर्षों में समाज-मन्दिर में पैर भी नहीं रखा था। अन्तरंग सभा की सम्मतियाँ विषय की उत्तमता के विचार से नहीं दी जाती थीं, प्रत्युत पार्टी के हानि-लाभ के विचार से दी जाती थीं। अपनी मतलब सिद्धि के लिए घृणित से घृणित साधनों का भी प्रयोग होने लग गया था। जो लोग पहले सोसायटी के डर से दुराचारों से डरते थे, वे खुल्लमखुल्ला दुराचार करने लग गये। क्या कोई इनकार कर सकता है कि इस झगड़े का असर दोनों दलों के आर्यसामाजिक पुरुषों पर नहीं पड़ा? उपदेशकों के आचरणों पर भी कोई अंकुश नहीं रहा। मैं आधी दर्जन से अधिक ऐसे दृष्टान्त बता सकता हूँ कि जहाँ प्रतिनिधि सभा के दुराचार के कारण निकाले हुए उपदेशक मांस पार्टी ने अंगीकार कर लिये। दूसरी पार्टी वाले ऐसे उपदेशकों के नाम बतला सकेंगे जिनको उधर से निकाले जाने पर घास पार्टी में शरण मिली। अव्यवस्था का राज्य चारों ओर दिखायी देता है, और परस्पर के अविश्वास की कोई सीमा नहीं रही। एक प्रान्त की संस्था के विरुद्ध दूसरे प्रान्त वाले बिना रोक-टोक के काम करते हैं। विविध प्रान्तों के नेताओं का आपस में ऐसा अविश्वास है कि उसके रहस्य पर से परदा हटाना सहस्रों सरल हृदयों पर ठेस लगाना होगा। कोई गिरा से गिरा हुआ दुराचारी भी देखने में नहीं आता, जिसके पीछे दस-बीस आदमी न लग जाएँ और वह सारी आर्यसामाजिक संस्थाओं को अंगूठा न दिखा सकें।" यह स्वीकार करना होगा कि पंजाब के आर्यसमाज में दलबन्दी का जो स्वरूप हो गया था, उसे किसी भी दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता। पारस्परिक विरोध को दूर कर एकता स्थापित करने के जो भी प्रयत्न किए गये, सफल नहीं हो सके। लाहौर में तो दो आर्यसमाज स्थापित हो ही गये थे, अन्यत्र भी दोनों पार्टियों ने अपने-अपने समाज खोलने शुरू कर दिये, और कुछ ही वर्षों में पंजाब के प्रायः सभी बड़े नगरों में दो-दो आर्यसमाज स्थापित हो गये। क्योंकि आर्य प्रतिनिधि सभा महात्मा पार्टी के हाथों में थी, अतः कॉलिज पार्टी के लोगों ने अपने आर्यसमाजों का एक पृथक् केन्द्रीय संगठन बनाने का निश्चय किया, जिसकी स्थापना सन् १८९४ में 'आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा' के नाम से कर दी गई।

पंजाब में आर्यसमाज के दो दलों और उनके मतभेदों के विषय को समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है कि समयान्तर में इस विरोध की उग्रता में कमी आती गई थी। कॉलिज पार्टी (मांस पार्टी) में ऐसे लोग तो बहुत थे, जो मांस खाते थे या मांस भक्षण को पाप नहीं मानते थे। पर स्वामी प्रकाशानन्द तथा लाला मूलराज के समान माँस-भक्षण का प्रचार करने वाले व्यक्ति अधिक नहीं थे। ऐसे लोग भी बहुत कम थे, जो मांस-भक्षण को वेद-विरुद्ध न मानते हों। इस दशा में दोनों दलों में भेद यह रह गया, कि महात्मा पार्टी की आर्य प्रतिनिधि सभा का द्वार मांसाहारियों के लिए बन्द था, और दूसरी पार्टी की प्रतिनिधि सभा तथा आर्यसमाजों में ऐसे व्यक्ति भी सदस्य हो सकते थे जो मांस खाते हों। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, मांस-भक्षण के विषय में दोनों दलों में कोई भेद नहीं रह गया, यद्यपि व्यवहार में यह भेद जारी रहा। शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में भी दोनों दल एक-दूसरे के समीप आते गये। डी० ए० वी० कॉलिज में एक वेद विभाग खोला गया, और वेदशास्त्रों एवं प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन व शोध पर समु-

चित ध्यान दिया जाने लगा। दूसरी ओर महात्मा पार्टी द्वारा भी अनेक ऐसे स्कूल और कॉलिज खोले जाने शुरू किये गये जिनमें सरकार द्वारा निर्धारित पाठविधि के अनुसार पढ़ाई होती थी और जिनका स्वरूप डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं के सदृश ही था। प्रारम्भ में शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में इन दलों में जो मतभेद था, उसके कारण महात्मा पार्टी ने जब गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना कर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रचार के लिए विशेष आन्दोलन शुरू किया, तो यह पार्टी 'गुरुकुल पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

(४) पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार

महर्षि दयानन्द सरस्वती का देहावसान अक्तूबर, १८८३ में हुआ था, और मार्च, १८९० में पण्डित गुरुदत्त का। पंजाब के आर्यसमाज के इतिहास में १८८३ से १८९० तक के सात वर्षों के लगभग काल को 'गुरुदत्त काल' कहा जाता है, क्योंकि इस काल में वह पंजाब के आर्य नेताओं में प्रमुख थे, और डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना और विकास में भी उनका कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। इस काल में पंजाब में वैदिक धर्म का जो प्रचार हुआ और आर्यसमाज का जिस ढंग में विस्तार हुआ, उस पर इस अध्याय के प्रथम प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है। पण्डित गुरुदत्त के जीवन काल में पंजाब के आर्यसमाजों के दो महत्त्वपूर्ण संगठन थे—डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी और आर्य प्रतिनिधि सभा। डी० ए० वी० सोसायटी का सब ध्यान शिक्षण-संस्थाओं पर केन्द्रित था, और प्रतिनिधि सभा भी उन्हीं लोगों के हाथों में थी जिन द्वारा डी०ए०वी० कॉलिज का संचालन किया जा रहा था। पर आर्य नेताओं में एक ऐसे वर्ग की सत्ता थी, जो स्कूलों और कॉलिजों की तुलना में धर्म-प्रचार को अधिक महत्त्व देते थे। इनमें लाला रलाराम का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनका कहना था, कि आर्यसमाज धर्म-प्रचार के कार्य पर समुचित ध्यान नहीं दे रहा है। 'वेदाध्ययन प्रेरक' पत्र के अगस्त, १८९४ के अंक में लाला रलाराम ने लिखा था—"जरा दुनिया के इतिहासों की तरफ देखिये। इस वक्त हिन्दुओं के अलावा तीन मजाहिब आला और दुनिया में मौजूद हैं। अव्वल बुद्ध, दोम नसारा, सोम इसलाम। वानियान-इ-मजाहिब वाला यानी शाक्य मुनि गौतम बुद्ध, हजरत ईसा और मुहम्मद साहिब अरबी या उनके शागिर्दों ने क्या अपने-अपने मजाहिब का प्रचार स्कूलों के जरिए किया था? क्या पंजाब में कोई मद्रिसा गुरु नानक साहिब ने भी जारी किया था? खुद स्वामी जी ने भी प्रचार का जरीया मद्रिसे नहीं बनाए। अलबत्ता विलायती पादरियों ने ईसवी मजहब के प्रचार के लिये मद्रिसे बनाए। लेकिन उन्हें जिस कदर कामयाबी हासिल हुई, वह सब पर जाहिर और रौशन है।" आर्यसमाज का कार्य शिक्षा का प्रसार न होकर धर्म-प्रचार करना है, अपने इस मन्तव्य को लाला रलाराम ने 'वेदाध्ययन प्रेरक' के इसी अंक में निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादित किया था—"और भी बहुत-सी जरूरतें मुल्क में महसूस हो रही हैं। फिर आर्यसमाज किस-किस को पूरा करे और किस-किस को छोड़े? आर्यसमाज एक धर्म-सभा है और उसका उद्देश्य धर्म-प्रचार है। धर्म को छोड़कर खास कर जबकि उसकी अज-हद जरूरत मुल्क में पाई जाती हो, औरों के पीछे दौड़ना (बावजूदे कि उन दीगर जरूरतों को पूरा करने के लिये दीगर वसायल मौजूद हैं या मुहय्या हो सकते है) अक्ल-मन्दी और दूर-अन्देशी से वईद है।" लाला मुंशीराम आदि अन्य अनेक आर्य नेता भी

इसी विचार के थे। इसी के परिणामस्वरूप लाहौर में वेद-प्रचार फण्ड की स्थापना की गई (सितम्बर, १८९४)। इस फण्ड के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। इस फण्ड में धन एकत्र कर उसका उपयोग धर्म-प्रचार के प्रयोजन से उपदेशकों की नियुक्ति और जनता को आर्यसमाज के मन्तव्यों से परिचित व प्रभावित कराने के लिये पुस्तिकाओं के प्रकाशन के लिए किया गया। यही कारण है, कि १८९४ के बाद पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार-कार्य में विशेष उन्नति हुई, और बहुत-से नये आर्यसमाज स्थापित हुए। यद्यपि इस काल में पंजाब के आर्यसमाजियों का गृहकलह उग्र रूप धारण करता गया, पर इसके कारण वेद-प्रचार के कार्य में विशेष बाधा उपस्थित नहीं हुई। कॉलिज पार्टी के लोग शिक्षा के प्रसार पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते रहे, और महात्मा पार्टी के लोग धर्म-प्रचार पर।

पंजाब के आर्यसमाज के इतिहास में सन् १८९० से १८९७ तक के काल को 'लेखराम काल' कहा जाता है, क्योंकि इस समय में पण्डित लेखराम वहाँ समाज के मूर्धन्य नेता थे, और उनके प्रचार-कार्य द्वारा आर्यसमाज में अनुपम जीवनी शक्ति का संचार हुआ था। जिन विद्वानों, साधु-संन्यासियों तथा प्रचारकों ने इस काल में और इसके बाद के वर्षों में पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से उद्योग किया, उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के पुरुषार्थ से उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में पंजाब में आर्यसमाज का विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ।

पण्डित लेखराम का जन्म सन् १८५८ में जेहलम जिले के सैयदपुर ग्राम में हुआ था। वह एक प्रतिष्ठित सारस्वत ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनकी शिक्षा उर्दू और पर्शियन में हुई थी। १७ वर्ष की आयु में वह पुलिस की सर्विस में ले लिये गये, और वहाँ उनकी निरन्तर पदोन्नति होती गई। पर वह देर तक सरकारी सर्विस में नहीं रहे। शुरू से ही उनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। इस्लाम के धर्मग्रन्थों का उन्होंने गम्भीरता के साथ अध्ययन किया था। बाद में मुंशी अलखधारी की पुस्तकों से उन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके ग्रन्थों से परिचय हुआ, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा हो गई। इसी के परिणामस्वरूप सन् १८८० में उन्होंने पेशावर में आर्यसमाज की स्थापना की। भारत के मुसलिम बहुल उत्तर-पश्चिमी प्रदेश का यह पहला आर्यसमाज था। महर्षि के प्रति भक्ति से प्रेरित होकर उनके दर्शन के लिए वह अजमेर गये, और वहाँ से लौटकर उन्होंने अपने को समाज के कार्य के लिए समर्पित कर दिया। अभी उन्होंने पुलिस की सर्विस का परित्याग नहीं किया था, पर सर्विस में रहते हुए भी वह जहाँ कहीं जाते, धर्म-प्रचार भी साथ-साथ करते रहते। १८८३ में महर्षि के देहावसान के पश्चात् उन्होंने सरकारी सर्विस से त्याग-पत्र दे दिया, और अपना सारा समय वैदिक धर्म के प्रचार तथा समाज-सेवा में लगाना प्रारम्भ कर दिया। उनकी प्रेरणा से पेशावर आर्यसमाज द्वारा 'धर्मोपदेश' नामक एक पत्र प्रकाशित किया गया, जिसके खर्च का बोझ मुख्यतया लेखराम जी पर ही था। उस समय पश्चिमी पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश में अहमदिया या कादियानी सम्प्रदाय का जोर बहुत बढ़ रहा था। इसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी थे, जो अपने को 'खुदा का पैगम्बर' मानते थे। उनका दावा था, कि उन्हें खुदा की ओर से इलहाम होता है, और

वह मोजज़े (चमत्कार) कर सकते हैं। बहुत-से मुसलिम मौलवी उनके इस दावे के विरोधी थे, पर मिर्जा गुलाम अहमद के अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई, और बहुत-से नगरों में उसके केन्द्र स्थापित हो गये। आर्यसमाज कादियानी लोगों के मन्तव्यों को स्वीकार करने को उद्यत नहीं था। पंजाब के जिस क्षेत्र में कादियानी सम्प्रदाय का गढ़ था, वहाँ आर्यसमाज का भी अच्छा प्रचार था। जब आर्यसमाज द्वारा मिर्जा गुलाम अहमद के दावों का विरोध किया जाने लगा, तो वह समाज से बहुत रुष्ट हो गया और उस पर अनेकविध आक्षेप करने लगा। इसी समय पण्डित लेखराम का ध्यान अहमदिया सम्प्रदाय की ओर गया। उन्होंने गुलाम अहमद का एक विज्ञापन देखा, जिसमें उसने अपने को खुदा का पैगम्बर घोषित किया था, और यह चुनौती दी थी कि कोई उसके चमत्कारों को झूठा सिद्ध करके दिखाए। इस विज्ञापन में यह भी कहा गया था, कि यदि कोई गैर-मुसलिम कादियाँ में एक वर्ष रहकर उसके चमत्कारों का कायल न हो जाये, तो उसे जुरमाने के रूप में चौबीस सौ रुपये दिये जायेंगे। इस विज्ञापन को पढ़कर पण्डित लेखराम ने मिर्जा गुलाम अहमद को उनकी चुनौती स्वीकार करने की सूचना भेज दी। वह कादियाँ गये, और मिर्जा से अपने चमत्कार दिखाने को कहा। पर वह टालमटोल करता रहा। इस पर पण्डितजी ने कादियाँ में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अनेक व्याख्यान दिये, और वहाँ आर्यसमाज भी स्थापित कर दिया। प्रचार कार्य के लिये उन्होंने विशेष रूप से लेखनी का आश्रय लिया, और उन आक्षेपों के उत्तर में लेख तथा पुस्तकें लिखनी प्रारम्भ कीं, जो अहमदिया सम्प्रदाय तथा इस्लाम द्वारा आर्यसमाज और वैदिक धर्म पर किये जा रहे थे। इस्लाम के मन्तव्यों की युक्तिसंगत रूप से आलोचना और वैदिक धर्म के निरूपण में उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। ये प्रायः उर्दू भाषा में लिखे गये थे, अतः मुसलमानों ने भी इन्हें पढ़ा और इनसे वे बहुत प्रभावित हुए। पण्डित लेखराम केवल उत्कृष्ट लेखक ही नहीं थे, अपितु कुशल व प्रभावशाली वक्ता भी थे। शास्त्रार्थ में भी वह अत्यन्त प्रवीण थे। लेखन, व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ तीनों का आश्रय लेकर उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया, जिसके कारण पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में आर्यसमाज की धूम मच गई। सन् १८८८ में आर्य प्रतिनिधि सभा ,पंजाब ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र लिखने का कार्य उनके सुपुर्द किया। महर्षि का देहावसान हुए अब पाँच वर्ष हो चुके थे। अभी ऐसे व्यक्ति विद्यमान थे, जिनसे महर्षि के जीवन के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त की जा सकती थी। लेखरामजी ने इसके लिए उन सब स्थानों की यात्रा की, जिनके साथ महर्षि का सम्बन्ध रहा था। वह गुजरात, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, पंजाब, राजस्थान आदि सर्वत्र गये, और महर्षि के जीवन-चरित्र के विषय में तथ्य एकत्र किये। इस प्रकार सर्वत्र भ्रमण कर उन्होंने महर्षि का जो जीवन-चरित्र तैयार किया तथा जो सामग्री एकत्र की, आर्यसमाज के साहित्य में उसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू लोगों को मुसलमान होने से बचाना लेखरामजी के कार्यकलाप का एक मुख्य अंग था। उन्होंने कितने ही हिन्दुओं को इस्लाम ग्रहण करने से बचाया। यही नहीं, अनेक मुसलमानों की शुद्धि कर उन्होंने उन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित भी किया। इस पर धर्मान्ध मुसलमानों का उनका घोर विरोधी हो जाना स्वाभाविक ही था। उन्होंने अनेक बार उनपर आक्रमण करने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सके। पर वे अपने यत्न में लगे रहे। मार्च, १८९७ के

प्रारम्भ में एक मुसलमान उनसे मिलने के लिये आया, और उसने शुद्ध होने की इच्छा प्रकट की। पण्डितजी ने उस पर विश्वास कर लिया, और उसे अपने पास रहने की अनुमति प्रदान कर दी। ६ मार्च को जब लेखराम जी महर्षि का जीवन-चरित्र लिख रहे थे, वह मुसलमान उनके पास आकर कुर्सी पर बैठ गया। ज्यों ही थककर उन्होंने कलम नीचे रखा और अंगड़ाई लेने लगे, उस हत्यारे ने छुरी निकालकर उनके पेट में घोंप दी। घायल दशा में पण्डितजी को होस्पिटल ले जाया गया, पर उनकी प्राणरक्षा नहीं की जा सकी। रात के दो बजे उनके भौतिक शरीर का अन्त हो गया। उनके अन्तिम शब्द ये थे—"आर्यसमाज में तहरीरी काम बन्द नहीं होना चाहिये।" उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में पंजाब में जिस आस्था और लगन से वैदिक धर्म का प्रचार किया जा रहा था, उसकी कुछ झलक पण्डित लेखराम के कार्य से प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने अपने तन-मन-धन को आर्यसमाज के लिए समर्पित कर दिया था, और त्याग तथा बलिदान का महान् आदर्श जनता के सम्मुख उपस्थित किया था, उनकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी भी पति के समान ही धार्मिक, त्यागी एवं तपस्विनी थीं। उनकी त्याग-भावना का कुछ अनुमान इस एक बात से किया जा सकता है, कि अपने पति की बीमा पालिसी के जो दो हजार रुपये उन्हें प्राप्त हुए थे, वे सब उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी को भेंट कर दिये थे। आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पण्डितजी की स्मृति में 'लेखराम स्मारक निधि' की स्थापना की गई, जिसके कारण वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त साधन उपलब्ध कराने में बहुत सहायता प्राप्त हुई। पण्डित लेखराम के बलिदान से न केवल आर्यसमाज की दोनों पार्टियों में कुछ समय के लिए विरोधभाव का अन्त हो गया, अपितु महर्षि के मिशन को पूरा करने के कार्य में वे चौगुने उत्साह से प्रवृत्त भी हो गईं।

जिन अन्य सन्त-महात्माओं ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष तत्परता प्रदर्शित की, उनमें पण्डित कृपाराम का विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म जगरांव (जिला लुधियाना) के एक ब्राह्मण परिवार में सन् १८६१ में हुआ था। बाद में वह स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए, और उन्होंने अनेक गुरुकुलों की स्थापना की। इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में उन का जीवन-परिचय पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। संन्यास आश्रम में प्रवेश (सन् १९०१) के पश्चात् उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया उत्तरप्रदेश में हो गया था, पर उस से पूर्व उन्होंने पंजाब में भी धर्मप्रचार का बहुत काम किया था। प्रचार कार्य के लिए उन्होंने 'तिमिरनाशक' (१८८९), 'वेद प्रचारक' (१८९४) और 'वैदिक धर्म' (१८९७) सदृश अनेक पत्र भी प्रकाशित किये थे, और व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों द्वारा आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाया था। उन्होंने एक प्रिंटिंग प्रेस भी इस प्रयोजन से खोला था, ताकि धर्म-प्रचार के लिए उपयुक्त पुस्तकें सस्ते मूल्य पर बेची जा सकें। पण्डित आर्यमुनि (मणिराम) को आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा वैतनिक उपदेशक नियुक्त किया गया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। वैदिक विद्वान् के रूप में उन्होंने असाधारण ख्याति प्राप्त की। उपनिषदों और दर्शनों पर हिन्दी में भाष्य लिखकर आर्यमुनिजी ने सर्वसाधारण जनता के लिए उनका पठन-पाठन सुगम कर दिया। इस क्षेत्र में उनके कार्य की महत्ता को सरकार ने भी स्वीकार किया, और उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से सम्मानित किया। पर पण्डित आर्यमुनि ने आर्यसमाज के उपदेशक के रूप में ही कार्यक्षेत्र में प्रवेश

किया था, और उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में वैदिक धर्म के प्रचार-कार्य में भी उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। इस युग के आर्य प्रचारकों में पण्डित गणपति शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह राजस्थान के चूरू नामक नगर के निवासी थे, और उनकी शिक्षा काशी में हुई थी। वह अत्यन्त उत्कृष्ट वक्ता थे, और उनके भाषणों से जनता मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। शास्त्रार्थ में वह अत्यन्त प्रवीण थे। उनकी युक्तियों के सम्मुख विरोधियों के लिए ठहर सकना सम्भव नहीं रहता था। स्त्री-शिक्षा के वह प्रबल समर्थक थे, और परदा प्रथा के विरुद्ध थे। इसीलिए वार्षिकोत्सव आदि में स्त्रियों को परदे या चिक के पीछे बिठाने का वह विरोध किया करते थे। उनका कथन था, कि यदि पुरुषों के व्याख्यानों में स्त्रियाँ परदे के पीछे बैठती हैं, तो स्त्रियों के व्याख्यानों में पुरुषों को भी परदे के पीछे बिठाना चाहिये। शर्मा जी वैतनिक रूप से प्रचार-कार्य करने के भी विरुद्ध थे। इसी कारण अपना जीवन निर्वाह करने के लिए सन् १८९९ में उन्होंने दिल्ली में एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की थी, यद्यपि वह सफल नहीं हो सका था। वस्तुतः, पण्डित गणपति शर्मा ब्राह्मणों के त्यागमय जीवन के उत्कृष्ट उदाहरण थे। विपक्षी भी उनकी योग्यता का लोहा मानते थे, और उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका कार्यक्षेत्र प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में व्याप्त था। पंजाब में भी उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये, और व्याख्यानों द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य में बहुत सहायता की।

जिन संन्यासी-महात्माओं ने इस काल में पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया, उनमें स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द के नाम विशेष महत्त्व के हैं। स्वामी नित्यानन्द राजस्थान के जोधपुर राज्य के जालौर ग्राम के निवासी थे। १७ वर्ष की आयु में उन्होंने घर का त्याग कर संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। स्वामी विश्वेश्वरानन्द को उन्होंने अपना गुरु धारण किया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के पश्चात् इन दोनों संन्यासियों का प्रवेश आर्यसमाज में हुआ, और इन्होंने अपना सारा जीवन वैदिक धर्म के प्रचार में लगा दिया। स्वामी नित्यानन्द का रियासती राजाओं पर विशेष प्रभाव था। इन्दौर, बड़ौदा, नृसिंहगढ़, उदयपुर, शाहपुर आदि अनेक रजवाड़ों में उन्हें राजगुरु माना जाता था। माइसूर के महाराजा उनके भाषण पर इतने मुग्ध हो गये थे, कि उन्होंने उनसे यथेष्ट उपहार माँगने के लिए कहा था। स्वामी नित्यानन्द का कार्यक्षेत्र प्रधानतया राजस्थान तथा दणिक्षी भारत में रहा, अतः उनके जीवन-चरित्र व कर्तृत्त्व पर इसी भाग में इन प्रदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार का उल्लेख करते हुए अन्यत्र प्रकाश डाला गया है। स्वामी जी कुछ समय के लिए उत्तरी भारत भी आये थे, और वहाँ काश्मीर तथा पंजाब में भी उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये थे। उत्तरी भारत में सबसे पहले उन्होंने काश्मीर में और फिर रावलपिण्डी तथा लाहौर में वैदिक धर्म का प्रचार किया। वह पंजाब के प्रायः सभी बड़े नगरों में गये। अम्बाला, जालन्धर, होशियारपुर, अमृतसर, पठानकोट, गुजरांवाला, पेशावर, कोहाट, मुजफ्फरगढ़, मुलतान, डेरागाजी खाँ, बन्नू, कसूर आदि सर्वत्र उन्होंने आर्यसमाज का प्रचार करते हुए भ्रमण किया। स्वामी नित्यानन्द सरस्वती अत्यन्त गम्भीर विद्वान् थे, और उनके भाषणों को सुनकर जनता मन्त्रमुग्ध हो जाया करती थी। शास्त्रार्थ में भी वह प्रवीण थे। पंजाब में प्रचार करते हुए वह नाभा भी गये। वहाँ के राजा हीरासिंह की धर्म में रुचि थी। वह स्वामीजी के व्याख्यानों में उपस्थित हुआ करते थे, और

उनके निवास आदि की व्यवस्था भी रियासत की ओर से की गयी थी। उन दिनों ईश्वरानन्द नाम के एक सनातनी साधु नाभा आये हुए थे, और आर्यसमाज के मन्तव्यों का खण्डन कर रहे थे। राजा हीरासिंह ने उन्हें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए आमन्त्रित किया, पर ईश्वरानन्द टालमटोल करते रहे। उत्तरी भारत की यात्रा में ही स्वामी नित्यानन्द ने 'पुरुषार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आर्य सिद्धान्तों के समर्थन में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें इसका सम्मानित स्थान है। इससे स्वामीजी के गम्भीर पाण्डित्य का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। पंजाब में स्वामी नित्यानन्द दो बार आये थे, १८९१ में और १८९६ में।

इस युग के एक अन्य प्रचारक व कार्यकर्ता मास्टर आत्माराम अमृतसरी थे। वह पहले डी० ए० वी० स्कूल में अध्यापक थे, और फिर अमृतसर के भ्रातृ स्कूल में मुख्याध्यापक हो गये। सन् १८९५ में वह आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री निर्वाचित हुए, और भाषणों तथा लेखों द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर हो गये। पण्डित लेखराम द्वारा लिखित महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी के अनेक भाग इन्हीं द्वारा सम्पादित किए गये थे। आत्माराम जी मांस-भक्षण के कट्टर विरोधी थे। यही कारण है, कि जब पंजाब के आर्यसमाजी दो पार्टियों में विभक्त हो गये, तो उन्होंने घास पार्टी या महात्मा पार्टी का साथ दिया। इस पार्टी के उत्कर्ष में उनका कर्तृत्व महत्त्व का था। लाला दुर्गाप्रसाद के साथ मिलकर उन्होंने एक वेजीटेरियन सोसायटी भी संगठित की थी। बाद में स्वामी नित्यानन्द के सुझाव पर मास्टर आत्माराम को बड़ौदा रियासत द्वारा अपने क्षेत्र में कार्य करने के लिए निमन्त्रित कर लिया गया था। वहाँ जाकर उन्होंने गुजरात तथा बम्बई में आर्यसमाज के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका विवरण अन्यत्र यथास्थान दिया गया है। पर पहले उनका कार्यक्षेत्र पंजाब ही था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग के प्रचारकों में लाला चिरंजीलाल का नाम भी उल्लेखनीय है। १९ वर्ष की आयु में उन्होंने लुधियाना में महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन किए थे। उनके व्याख्यानों से लाला जी इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचारक होने का निश्चय कर लिया। वह अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। साधारण उर्दू के अतिरिक्त उन्हें कुछ और पढ़ने का अवसर नहीं मिला था। वह पंजाबी में कविताएँ लिखा करते, और उन्हें उर्दू में छपवा लेते। अपनी कविताओं को गा-गाकर वह धर्म का प्रचार किया करते थे, और उनकी बिक्री से जो आय होती थी, उसी से अपना खर्च चलाते थे। उनकी कविताएँ मूर्तिपूजा, श्राद्ध, मद्यपान, कन्याविक्रय तथा अनपढ़ ब्राह्मणों की करतूतों पर हुआ करती थीं। जब वह उन्हें सुरीली आवाज में गाते, तो लोगों पर उनका बहुत प्रभाव पड़ता था। उस युग के आर्य प्रचारकों में कितनी लगन थी, और वे किस प्रकार सब तरह के संकटों का सामना कर आर्यसमाज के कार्य में तत्पर रहते थे, इसके लिए लाला चिरंजीलाल के जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करना उपयोगी होगा। लुधियाना के कुछ मुसलमानों ने एक हिन्दू लड़की को बलपूर्वक मुसलमान बनाना चाहा। यह जानकर मुसलमानों से भरी मसजिद में वह अकेले घुस गये, और उस लड़की को वहाँ से निकाल लाए। यह करते हुए उनपर लाठियों की बौछार होती रही। उनका शरीर घायल हो गया, पर लड़की के धर्म की रक्षा हो गयी। एक बार दसहरे के मेले पर 'दोलू' नामक एक व्यक्ति ने लालाजी पर घातक आक्रमण किया। पर उन्होंने उसकी जरा भी

परवाह नहीं की। वह अपने स्थान पर अडिग बैठे रहे। अन्त में दोलू को पश्चात्ताप हुआ, और उसने लालाजी से क्षमायाचना की। लालाजी को जब कभी यह समाचार मिलता कि फलां जगह पर कोई हिन्दू ईसाई या मुसलमान बन रहा है, वह तुरन्त वहाँ पहुँच जाते, और प्रेरणा व प्रचार द्वारा उसे विधर्मी होने से बचा लेते। उनके प्रचार-कार्य का क्षेत्र दक्षिण-पश्चिमी पंजाब में डेरा गाजी खाँ आदि तक विस्तृत था। वह अत्यन्त निर्भीक व साहसी थे। विरोधियों ने उन्हें अनेक बार विष भी दिया, पर उसे वह पचा गये। पर अन्त में विष ही उनके लिए घातक सिद्ध हुआ। सन् १८९३ में उनकी मृत्यु हुई। साधारण पढ़े-लिखे लोग भी इस काल में किस ढंग से वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर थे, लाला चिरंजीलाल इसके उदाहरण हैं।

इस युग के आर्य प्रचारकों में पण्डित पूर्णानन्द और पण्डित दौलतराम भी मुख्य थे। पूर्णानन्दजी सिन्ध के निवासी थे, और उस प्रदेश में उन्होंने बहुत कार्य किया। पण्डित दौलतराम धर्म-प्रचार के लिए कथाओं का आश्रय लिया करते थे, और उनकी कथाएँ बहुत लोकप्रिय हुआ करती थीं। बाद में उन्होंने संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लिया था। भक्त रैमल एक अन्य आर्य थे, जिनका सादा जीवन लोगों को बहुत आकृष्ट करता था। अपने सिद्धान्तों पर उन्हें दृढ़ विश्वास था। वह हिन्दू म्युचुअल सोसायटी के सदस्य थे, पर उनकी सम्मति में "हिन्दू" शब्द आर्य सिद्धान्त के प्रतिकूल था। उन्होंने इसी कारण इस सोसायटी की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। यदि कोई आर्य संस्था उन्हें उर्दू में पत्र भेजती, तो वह उसे पढ़ने से इनकार कर देते थे। उनका कहना था, यह आर्यभाषा नहीं है। यह कल्पना सहज में ही की जा सकती है, कि ऐसे कट्टर सिद्धान्तवादी व्यक्तियों का अपने मन्तव्यों के अनुरूप जीवन उस समय लोगों को कितना अधिक प्रभावित करता होगा। ऊँची स्थिति के आर्य लोग भी उस समय वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए सदा तत्पर रहा करते थे। ऐसे महानुभावों में लाला मुंशीराम, प्रोफेसर शिवदयालु और लाला बदरीदास के नाम उल्लेखनीय हैं। मुंशीरामजी सन् १८९२ में आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुने गये थे। इस समय से वह अपना सब समय आर्यसमाज के कार्य में ही लगाने लगे। आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर वह उपस्थित हुआ करते, और वहाँ व्याख्यान दिया करते। वैदिक धर्म के प्रचारक के रूप में उनकी अच्छी ख्याति हो गयी थी। पंजाब के बाहर भी वह धर्मोपदेश व प्रचार के लिए जाया करते थे। वह कहा करते थे, कि भाड़े की टट्टुओं से धर्म-प्रचार नहीं हो सकता। इसलिए वह आर्यों से अपील किया करते थे कि वे स्वेच्छा से अवैतनिक रूप में प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हों। प्रतिनिधि सभा के प्रधान होकर उन्होंने अवैतनिक उपदेशक के अपने आदर्श को क्रियान्वित कर दिखाया। महीने में बीस-बीस दिन और कभी-कभी पूरे तीस दिन वह दौरा करने और आर्यसमाजों में व्याख्यान देने में लगाने लगे। उन्हें प्रचार की धुन थी, और वह लाहौर से राजपूताना, राजपूताना से पेशावर, पेशावर से कलकत्ता और कलकत्ता से हरिद्वार तक के दौरे लगाया करते थे। मुंशीरामजी इन दौरों को धर्मयात्रा कहा करते थे। दौरों से जो समय बचता, उसे वह सद्धर्मप्रचारक के सम्पादन में लगाते थे। उर्दू भाषा में प्रकाशित यह पत्र धर्म-प्रचार का उत्कृष्ट साधन था। प्रोफेसर शिवदयालु भी अपना बहुत-सा समय आर्यसमाज के कार्य में लगाया करते थे। सन् १८९५ में उन्होंने मास्टर आत्माराम के साथ शिमला से फीरोजपुर तक

धर्म-प्रचार के लिए भ्रमण किया था। यह उनके आर्यसमाजी जीवन का प्रारम्भ काल था। बाद में उन्होंने आर्य विद्वान् व कर्मठ कार्यकर्ता के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। लाला बदरीदास जालन्धर के निवासी थे। वह अंग्रेजी में व्याख्यान दिया करते थे, जिनका शिक्षित वर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ता था। कन्या विद्यालय, जालन्धर के संचालकों में इनका भी स्थान था। बाद में आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान की स्थिति में उन्होंने चिरकाल तक पंजाब में आर्यसमाज का नेतृत्त्व किया। पण्डित लेखराम के बलिदान के पश्चात् जब सद्धर्मप्रचारक के परिशिष्ट के रूप में 'आर्य मुसाफिर' का प्रकाशन शुरू हुआ, तो बदरीदासजी ही उसके सम्पादक नियुक्त हुए। इस काल में पण्डित लालमन, पण्डित कल्याणदत्त, भाई जगत्सिंह और पण्डित राजाराम शास्त्री आदि अन्य भी अनेक विद्वान् पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर थे। इन्हीं सब प्रचारकों व अन्य आर्य कार्यकर्त्ताओं के कर्तृत्त्व का यह परिणाम था, कि प्रतिवर्ष पंजाब में नये-नये आर्यसमाज स्थापित होते जाते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा की सन् १८९८ की रिपोर्ट में लिखा है, कि उस वर्ष १०० नये समाज स्थापित हुए थे।

वैदिक धर्म के प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण साधन इस काल में शास्त्रार्थ थे। प्रतिनिधि सभा के वार्षिक वृत्तान्तों में प्रति वर्ष पाँच-छह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थों का उल्लेख मिलता है। १८९८ में यह संख्या चौदह तक पहुँच गयी थी। इन विशेष शास्त्रार्थों के अतिरिक्त साधारण शास्त्रार्थ तो समाजों के वार्षिकोत्सवों तथा अन्य अवसरों पर होते ही रहते थे। क्रिश्चियन पादरी, मौलवी, सनातनी पण्डित— सभी को आर्य विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित करते थे, और युक्तियों व प्रमाणों से उन्हें परास्त कर वैदिक धर्म की उत्कृष्टता का सिक्का जनता के हृदयों पर जमाया करते थे। पण्डित गणपति शास्त्री सदृश शास्त्रार्थमहारथियों के अतिरिक्त लाला बख्शीस राम और पण्डित गिरिधारीलाल आदि अन्य भी अनेक पण्डित आर्यसमाज की ओर से शास्त्रार्थ के लिए सदा उद्यत रहा करते थे। उस समय वैदिक धर्म के प्रचार के लिए मेलों का भी आर्यसमाज द्वारा उपयोग किया जाता था। हिन्दुओं के जो मेले समय-समय पर विविध स्थानों पर लगा करते, आर्यसमाजी वहाँ अपने कैम्प लगा लिया करते और भजनों तथा उपदेशों द्वारा खूब प्रचार किया करते। उस समय के आर्य समाचार-पत्र मेलों में प्रचार के वृत्तान्त से परिपूर्ण हैं। सन् १८९१ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। महर्षि के देहावसान के पश्चात् हरिद्वार में यह पहला कुम्भ था। लाला मुंशीराम ने इस अवसर पर धर्म-प्रचार के लिए सद्धर्म प्रचारक में आर्य जनता से अपील की। पण्डित लेखराम उस समय कलकत्ता में थे। उन्होंने वहीं से इस अपील का समर्थन किया। लाला मुंशीराम के प्रयत्न से आर्य जनता हरिद्वार में धर्म-प्रचार का सब भार उठाने को तैयार हो गयी, और मुंशीरामजी ने वहाँ जाकर डेरा जमा लिया। तीन दिन बाद लेखरामजी भी कलकत्ता से वहाँ पहुँच गये। अनेक साधु-संन्यासी और उपदेशक भी धर्म-प्रचार के कार्य में सहयोग देने के लिए हरिद्वार में एकत्र हो गये। इनमें स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, पण्डित पूर्णानन्द, स्वामी नित्यानन्द, पण्डित आर्य-मुनि और ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। इतने विद्वानों के वहाँ होने के कारण प्रचार की खूब धूम रही, और वैदिक धर्म का संदेश लाखों नर-नारियों तक पहुँच गया। हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर आर्यसमाज के प्रचार-कार्य की रिपोर्ट पण्डित लेखराम

ने स्वयं तैयार की, और उसे पुस्तिका के रूप में भी छपवा दिया। कुम्भ जैसे विशेष मेलों के अतिरिक्त साधारण मेलों पर भी आर्यसमाज द्वारा धर्म-प्रचार की व्यवस्था की जाया करती थी। आर्य प्रतिनिधि सभा की सन् १८९८ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है, कि उस वर्ष बारह मेलों में सभा द्वारा प्रचार-कार्य का आयोजन किया था। आर्यसमाज का प्रचार-कार्य तभी सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता था, जबकि उसके सभासद् क्रियात्मक जीवन में भी धार्मिक मन्तव्यों के अनुसार कार्य किया करें। अतः यह यत्न भी किया जाता था, कि समाज के सभासद् ऐसे ही व्यक्ति हो सकें, जिनका जीवन धर्मानुकूल हो। इसका एक प्रमाण यह है, कि जालन्धर के आर्यसमाज ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया था, कि ऐसा मनुष्य उसका सभासद् न हो सके, जो अपनी सन्तान का विवाह शास्त्रविहित आयु से पहले कराये।

पंजाब के आर्यसमाज के इतिहास में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में वहाँ आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार अत्यधिक वेग से हुआ। एक ओर कॉलिज पार्टी द्वारा डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं का उत्साहपूर्वक विकास किया जा रहा था, और हजारों विद्यार्थी उनमें सामान्य शिक्षा के साथ-साथ वैदिक धर्म से भी परिचय प्राप्त कर रहे थे। वैदिक धर्म के वातावरण में किशोरवय बालकों को शिक्षा देकर डी० ए० वी० संस्थाओं ने उनके हृदयों में आर्यसमाज के लिए जो प्रेम व उत्साह उत्पन्न किया, उसके परिणामस्वरूप बहुत-से ऐसे सुशिक्षित व्यक्ति पंजाब के सार्वजनिक जीवन में आये, जिन्होंने विविध क्षेत्रों में उच्च स्थिति प्राप्त कर वैदिक धर्म के उत्कर्ष तथा समाज-सेवा को भी सदा अपनी दृष्टि में रखा। दूसरी ओर महात्मा पार्टी ने वेद प्रचार, स्त्रीशिक्षा तथा समाज सुधार पर विशेष ध्यान दिया, और सर्वत्र आर्य-समाजों का जाल-सा बिछा दिया। आर्यसमाज के कार्यकलाप के कारण उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पंजाब का धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से कायापलट हो गया था, और सर्वत्र देश की उन्नति, धर्म-प्रचार तथा समाज सुधार के लिए आर्य लोग जी-जान से प्रयत्नशील हो गये थे। निस्सन्देह, आर्यसमाज के इतिहास में अब उस काल का प्रारम्भ हो गया था, जिसे समाज का स्वर्णयुग कह सकते हैं। यद्यपि इस काल में पंजाब का आर्यसमाज दो पार्टियों में विभक्त था, और उन पार्टियों में संघर्ष व विरोध भी होता रहता था, पर दोनों दल अपने-अपने ढंग से कार्य में तत्पर थे और उनमें प्रतिद्वन्द्विता की जो भावना थी, वह एक प्रकार से आर्यसमाज के मिशन के लिए हितकर ही सिद्ध हो रही थी।

दलितोद्धार का जो कार्य पण्डित गंगाराम ने मुजफ्फरगढ़ और मुलतान में प्रारम्भ किया था, इस काल में आर्यसमाज द्वारा वह और आगे बढ़ाया गया। ओडों के समान ही पंजाब में एक अन्य जाति रहतियों की थी, जिसे अछूत माना जाता था। रहती लोग केश रखा करते थे, और उनका रहन-सहन सिक्खों के सदृश था। पर सिक्ख भी उन्हें अछूत समझते थे। इन्हें शुद्ध कर हिन्दू (आर्य) समाज का अंग बनाने की ओर आर्यसमाज ने ध्यान दिया। सन् १८९३ में गुरुदासपुर में पहले-पहल रहतियों की शुद्धि की गयी। पर अछूतों को समाज में समान स्थान देना एक ऐसी बात थी, जो आर्यों को भी सुगमता से समझ में नहीं आती थी। सदियों के बद्धमूल संस्कारों को बदल सकना कठिन होता है। यही कारण था, जो शुरू में पंजाब के आर्यसमाजियों ने भी रहतियों की शुद्धि का स्वागत नहीं किया। ३ मार्च, १८९९ को लाला मुंशीराम ने जालन्धर आर्यसमाज की अन्तरंग

सभा में रहतियों की शुद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया। सभा ने स्वयं कोई निर्णय न कर इसे आर्य प्रतिनिधि सभा के पास भेज दिया। पर प्रतिनिधि सभा द्वारा इस सम्बन्ध में कोई फैसला करने से पूर्व ही जालन्धर समाज ने बहुमत से रहतियों की शुद्धि के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया (२३ एप्रिल, १९००)। इस पर लाला मुंशीराम ४० रहतियों को शुद्धि के लिए लाहौर ले गये। लाहौर पंजाब की राजधानी था, और वहाँ बहुत-से ऐसे लोगों का निवास था, जो अन्य स्थानों से आकर वहाँ बस गये थे। उनपर अपनी बिरादरी का अधिक प्रभाव नहीं था। बिरादरी के दबाव के कारण ही जालन्धर के आर्यसमाजी रहतियों की शुद्धि के लिए तैयार नहीं हुए थे। बिरादरी के प्रभाव से मुक्त होने के कारण लाहौर के आर्यों ने रहतियों की शुद्धि की बात मान ली, और ३ जून, १९०० को सामूहिक रूप से वहाँ रहतियों की शुद्धि की गयी। रहतियों की शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम आर्यसमाजियों और सिक्खों में विरोध भाव के रूप में प्रकट हुआ। इससे पूर्व शुद्धि के कार्य में सिक्ख और आर्य परस्पर सहयोग से कार्य किया करते थे। मुसलमानों को उनके पुराने धर्म में वापस ले आना दोनों वर्गों के लोगों को समान रूप से स्वीकार्य था। क्योंकि रहतिये केश रखते थे, और उनके रीति-रिवाज सिक्खों से मिलते-जुलते थे, अतः सिक्खों को यह सहन नहीं हुआ, कि वे केश कटाकर आर्य बन जाएँ, यद्यपि वे रहतियों को अछूत मानते थे और उनके साथ कोई व्यवहार नहीं रखते थे। सिक्ख नेता भगतसिंह ने जब रहतियों को आर्यसमाज द्वारा शुद्ध किये जाने के विरुद्ध समझाना चाहा, तो उनके प्रमुख नगीनासिंह ने उत्तर दिया, कि यदि सिक्ख हमारे साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार हों, तो हम उनकी बात मान लेंगे। पर यह कहाँ सम्भव था? लाहौर में बड़े धूमधाम के साथ उनकी शुद्धि की गई। लाहौर आर्यसमाज में शुद्धि का यह दृश्य देखने योग्य था। रहतियों को वेदी पर बिठाया गया था, और छह नाई उनके केश काटने तथा सिर का मुण्डन कर रहे थे। सैकड़ों नर-नारी शुद्धि को देखने के लिए समाज मन्दिर में उपस्थित थे। उनमें कुछ सिक्ख भी थे। अपने पन्थ के अनुयायियों को इस प्रकार आर्यसमाज में प्रवेश होते देखकर उनके आक्रोश का कोई ठिकाना नहीं रहा था। दोपहर होते-होते शुद्धि की खबर सारे लाहौर में फैल गई। स्थान-स्थान पर सिक्खों की सभाएँ हुईं, जिनमें आर्यसमाज के इस कृत्य के विरोध में प्रस्ताव स्वीकृत किए गये। सनातनी हिन्दू तो शुद्धि के विरोधी थे ही, अब सिक्खों ने भी उसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। ८ अगस्त, सन् १९०० के 'खालसा' पत्र के अंक में स्पष्ट रूप से यह आशंका प्रकट की गई थी, कि आर्यसमाजियों के इस कृत्य के परिणामस्वरूप पंजाब में शान्ति भंग हो सकती है, और आर्य लोग वातावरण को विक्षुब्ध करने पर तुले हुए हैं। रहतियों की शुद्धि के प्रश्न को लेकर दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आक्षेप करने लगे, और दोनों द्वारा अनेकविध पुस्तिकायें इस प्रयोजन से प्रकाशित की जाने लगीं, ताकि अपने पक्ष की पुष्टि की जा सके। आर्यसमाज से प्रति विरोध की जो भावना इस समय सिक्खों में प्रादुर्भूत हो रही थी, शीघ्र ही उसने एक अन्य रूप प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक सिक्ख यह प्रतिपादित करने लगे, कि वे हिन्दू नहीं हैं, और इस्लाम व क्रिश्चिएनिटी के समान सिक्खों का भी अपना पृथक् धर्म है। साथ ही, सिक्खों की भाषा पंजाबी है, जिसे गुरुमुखी लिपि में लिखा जाना चाहिये—यह विचार भी अब जोर पकड़ने लग गया। आर्यसमाजी कहते थे, कि उनकी भाषा हिन्दी है, और उसकी लिपि देवनागरी

है। पंजाब के कतिपय आर्यसमाजी पंजाबी को अपनी भाषा मानने को तो उद्यत थे, पर उनका मत था कि पंजाबी को गुरुमुखी में न लिखकर देवनागरी में लिखा जाना चाहिये। सिक्खों और आर्यसमाजियों के इस विरोध में निरन्तर वृद्धि होती गई, पर इससे रहतियों की शुद्धि का काम बन्द नहीं हुआ। इसके पश्चात् सन् १९०० में ही लायलपुर और रोपड़ में रहतियों की शुद्धि कर उन्हें 'आर्य' बनाया गया। इस एक वर्ष में जो रहती शुद्ध किये गये, उनकी संख्या १०० के लगभग थी। रोपड़ में हुई रहतियों की शुद्धि के कारण आर्यों को बहुत कष्ट उठाने पड़े। उन्हें अपनी बिरादरियों से बहिष्कृत कर दिया गया। अन्य हिन्दुओं ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, यहाँ तक कि उन्हें कुओं से पानी भी नहीं लेने दिया गया। कुएँ का पानी न मिलने के कारण रोपड़ आर्यसमाज के प्रधान श्री सोमनाथ की वृद्धा माता को अपने प्राण तक देने पड़ गये। कुओं के अतिरिक्त अन्य स्थानों से जो जल उपलब्ध था, वह उन्हें अनुकूल नहीं पड़ता था। वे रोगी हो गईं, उनका रोग निरन्तर बढ़ता गया। रुग्ण माता के दुःख को देखकर सोमनाथजी सनातनी हिन्दुओं से समझौता करने को तैयार हो गये, पर जब यह बात उनकी माताजी को ज्ञात हुई, तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि मुझे तो आज भी मरना है और कल भी। फिर इस नश्वर शरीर के लिये मेरा पुत्र धर्म से क्यों डिगे? माता ने प्राण दे दिये, पर पुत्र को धर्म मार्ग से च्युत नहीं होने दिया। जैनियों और सनातनियों ने 'आर्य चमारों' का जो बहिष्कार किया हुआ था, उसके समाचार 'जैनधर्म श्रावक' और 'सनातन धर्म गजट' पत्रों में विशद् रूप से प्रकाशित किये। पर इस सबसे दलितोद्धार का आन्दोलन बन्द नहीं हुआ। रहतियों की शुद्धि निरन्तर जारी रही। अन्य समाजों द्वारा भी उन्हें 'आर्य' बनाया जाता रहा। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में पंजाब में आर्यसमाज के कार्यकलाप का एक महत्त्वपूर्ण अंग दलितोद्धार भी रहा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वैदिक संस्कारों की जो पद्धति प्रतिपादित की थी, आर्यसमाजियों की दृष्टि में उसका बहुत महत्त्व था। उनका प्रयत्न रहता था, कि बिरादरी की परवाह न कर विवाह आदि सब संस्कार वैदिक रीति से ही कराये जायें। इसके लिए भी उन्हें अनेकविध कष्ट उठाने पड़ते थे। पुरानी रूढ़ियों में जकड़े हुए बिरादरी के लोग उग्र रूप से उनका विरोध करने में तत्पर रहते थे। कपूरथला में महाशय कृपाराम की पुत्री का विवाह था। वह आर्यसमाजी थे, अतः उन्होंने वैदिक रीति से विवाह-संस्कार करने का निश्चय किया। पर पारिवारिक जन इसके विरुद्ध थे। लोग कहते थे, कि आर्यसमाजियों में तो रुमाल बदलकर विवाह हो जाता है। लाला मुंशीराम इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने संस्कारविधि खोलकर दिखाया, कि आर्यसमाज में भी वैदिक मन्त्रों द्वारा ही विवाह की विधि सम्पन्न की जाती है। पर इससे भी सनातनियों को संतोष नहीं हुआ। वरपक्ष की ओर से नवग्रह पूजा पर जोर दिया जाता रहा, और कृपारामजी की माता भी इस पूजा के लिये आग्रह करती रहीं। पर जब कन्या ने पौराणिक पूजा में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया, तभी यह विवाह वैदिक विधि से सम्पन्न किया जा सका। अन्त्येष्टि संस्कार की एक घटना का भी इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी है। कपूरथला के एक आर्यसमाजी महाशय गोविन्दसहाय की माताजी की मृत्यु हो गयी। गोविन्दसहायजी उनका अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीति से कराना चाहते थे। हिन्दू जनता के विरोध के कारण अर्थी आदि का सामान हिन्दुओं

की दुकानों से क्रय करना जब सम्भव नहीं हुआ, तो मुसलमानों की दुकानों से यह सामान खरीदना पड़ा, और अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक विधि से ही किया गया।

वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप को प्रगति देने के लिए अनेक नये समाचार-पत्र भी इस काल में पंजाब से प्रकाशित होने शुरू हुए। 'आर्य पत्रिका', 'वैदिक मैगजीन' और 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त्त' अंग्रेजी भाषा के पत्र थे, और 'सद्धर्म प्रचारक', 'धर्मोपदेश' और 'आर्य गजट' उर्दू के। इन विविध पत्रों का प्रकाशन उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। इन द्वारा आर्य-समाज के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता मिली। आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं पर इस 'इतिहास' के एक अन्य भाग में विशद् रूप से प्रकाश डाला गया है।

(५) नये आर्यसमाजों की स्थापना

सन् १८८६ में भारत में आर्यसमाजों की कुल संख्या २५० के लगभग हो गयी थी, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। महर्षि के देहावसान के बाद के तीन वर्षों में जो नये आर्यसमाज स्थापित हुए थे, उनमें से कितने पंजाब में थे, यह ज्ञात नहीं है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि नये स्थापित हुए आर्यसमाजों में बहुत-से पंजाब में थे, और प्रतिवर्ष उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई थी। उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व जो अनेक नये समाज पंजाब में स्थापित हुए, उनमें से कुछ का उल्लेख करना यह प्रदर्शित करने के लिये उपयोगी है, कि उस काल में पंजाब की जनता में आर्यसमाज के लिए कैसा उत्साह था। साथ ही, इसी प्रसंग में कतिपय ऐसे समाजों की स्थापना का उल्लेख भी उपयोगी है, जो महर्षि के जीवनकाल में ही स्थापित हो गये थे, पर उन स्थानों पर थे, जहाँ महर्षि स्वयं नहीं गये थे, और उनके अनुयायियों द्वारा स्वतन्त्र रूप से जिनकी स्थापना की गयी थी।

पंजाब के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में मुजफ्फरगढ़ जिला है, जो अब पाकिस्तान में है। वहाँ पण्डित गंगाराम ने दलितोद्धार के लिए बहुत काम किया था। महर्षि के जीवन-काल में ही वह वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये थे, और उन्होंने आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। मुजफ्फरगढ़ शहर के आर्यसमाज की स्थापना पण्डित गंगाराम द्वारा ही की गई थी, और वह भी सन् १८८० में। वहाँ का समाज पंजाब के सबसे पुराने आर्यसमाजों में से था, और उसे केन्द्र बनाकर मुजफ्फरगढ़ जिले में व्यापक रूप से वैदिक धर्म का प्रचार किया गया था। इसी का यह परिणाम था, कि सन् १९३५ तक इस जिले में २० के लगभग ऐसे आर्यसमाज स्थापित हो गये थे, जो पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। आर्य प्रादेशिक सभा से सम्बद्ध समाज इनके अतिरिक्त थे। मुजफ्फरगढ़ जिले के आर्यसमाजों में एक कोट अद्दू में था, जो उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही स्थापित हो चुका था। इस समाज की स्थापना भी पण्डित गंगाराम के प्रचार के कारण हुई थी, और पण्डित बिहारीलाल तहसीलदार का भी उसमें विशेष कर्तृत्त्व था। इस जिले का एक अन्य समाज दारा दीनपनाह में था, जो सन् १८८६ में स्थापित हो गया था। पण्डित लेखराम का इस समाज से विशेष सम्बन्ध रहा है। मुजफ्फरगढ़ जिले के पश्चिम में डेरा गाजी खाँ की स्थिति है, और झंग, मिन्टगोमरी आदि अन्य अनेक जिले लाहौर के दक्षिण व दक्षिण-पश्चिम में हैं, जो सब अब पाकिस्तान में चले गये हैं। इनमें

भी वैदिक धर्म का प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। डेरा गाजी खाँ में ३ जून, १८८६ को आर्यसमाज स्थापित हुआ था, और उसके लिए भक्त रैमल ने बहुत पुरुषार्थ किया था। स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में राय ठाकुर दत्त धवन तथा लाला दौलतराम इस समाज के संचालक रहे। इस क्षेत्र के हिन्दू अत्यन्त रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासों में ग्रस्त थे। इस कारण शुरू में पौराणिक हिन्दुओं द्वारा आर्यसमाज का उग्र रूप से विरोध किया गया। महर्षि के अनुयायियों ने किस ढंग के विरोध का सामना कर डेरा गाजी खाँ में आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाया, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक बार जब लाला दौलतराम ने अपने घर पर यज्ञ का आयोजन किया, तो पौराणिक पण्डितों के उकसाने पर स्त्रियों ने यज्ञ के स्थान पर चारपाइयाँ बिछा दीं, और सैकड़ों स्त्री-पुरुष वहाँ दरवाजे पर खड़े हो गये, ताकि कोई आर्यसमाजी अन्दर न जाने पाए। इतना विरोध होते हुए भी जब यज्ञ की विधि सम्पन्न हो गयी, तो पौराणिकों ने आर्यसमाज के सदस्यों पर यह मुकदमा दायर कर दिया, कि उन्होंने हमारी स्त्रियों से छेड़-छाड़ की है। क्योंकि मुकदमा सर्वथा झूठा था, अतः वह खारिज कर दिया गया, और डेरा गाजी खाँ के डिप्टी कमिश्नर ने पुलिस को यह आदेश दे दिया, कि भविष्य में यज्ञों में किसी प्रकार का विघ्न न डालने दिया जाए। बाद में एक बार फिर पौराणिकों ने वैदिक विधि से यज्ञ व संस्कार आदि में विघ्न डालने का प्रयत्न किया। दीवान चूहड़मल के पुत्र के मुण्डन संस्कार के अवसर पर पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट को स्वयं आकर व्यवस्था करनी पड़ी। डेरा गाजी खाँ के आर्य अपने क्षेत्र में धर्म-प्रचार के लिए बहुत प्रयत्नशील रहे। सन् १८९० में समाज के सदस्य मास्टर हाकिम राय ने पादरी खड्गसिंह के साथ शास्त्रार्थ किया था, और सन् १८९५ में पण्डित लेखराम ने पादरी अब्दुल कादरशाह से। विधर्मियों की शुद्धि के लिए भी इस समाज द्वारा बहुत कार्य किया गया। डेरा गाजी खाँ जिले में जामपुर, राजनपुर और कोट छुट्टा आदि अन्य भी अनेक नगरों में उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने से पूर्व ही आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। डा० नौनीतराम और लाला चोथूराम ने सन् १८९० में राजनपुर में आर्यसमाज का बीजारोपण किया था, और पण्डित चिरञ्जीलाल ने अक्तूबर, १८९३ में जामपुर के आर्यसमाज की स्थापना की थी। जामपुर के आर्यसमाजियों में वैदिक धर्म के लिए कितना उत्साह था, यह इस बात से समझा जा सकता है, कि संस्कृत भाषा न जानते हुए भी वहाँ के आर्य सभासद् पण्डित विश्वम्भर दत्त ने सम्पूर्ण संस्कारविधि कण्ठस्थ कर ली थी, और किसी पुरोहित की सहायता के बिना सब संस्कार वह वैदिक विधि से कराने लग गये थे। विधर्मियों से शास्त्रार्थ करने तथा धर्मच्युत व्यक्तियों को शुद्ध कर हिन्दू बनाने में भी जामपुर आर्य-समाज सदा तत्पर रहा। प्रारम्भ के वर्षों में सर्वसाधारण लोगों में आर्यसमाज के सम्बन्ध में कैसे-कैसे भ्रम थे, यह कोट छुट्टा में समाज की स्थापना के विवरण से स्पष्ट हो जाएगा। सन् १८९० के लगभग की बात है, कोट छुट्टा में बड़े जोर-शोर से यह चर्चा होने लगी, कि डेरा गाजी खाँ में कुछ समाजी आ गये हैं, और वहाँ के पौराणिक पण्डितों को उन्होंने भगा दिया है। लोग बातें करने लगे, आर्यसमाजी होते कौन हैं ? उनकी शकल-सूरत कैसी होती है, वे क्या खाते-पीते हैं, और क्या करते हैं ? कोई कहता, कि उनकी शकल होती तो मनुष्यों जैसी है, पर उनके सिर पर सींग होते हैं। वे

मांस नहीं खाते, और ब्राह्मणों से लड़ते हैं। सन् १८९६ में चौधरी नेमराज आर्यसमाज के प्रचार के लिए पण्डित बिहारीलाल को कोट छुट्टा ले आये। यह जानकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ, और वे आर्यसमाजी की शक्ल देखने के लिए एकत्र होने लगे। पर उन्हें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ, कि पण्डित बिहारीलाल के सिर पर सींग नहीं हैं। लोग पण्डितजी के व्याख्यान को सुनकर बहुत प्रभावित हुए, और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गयी।

दक्षिणी व दक्षिण-पश्चिमी पंजाब तथा उससे लगे हुए प्रदेशों के जिन नगरों में उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व आर्यसमाज स्थापित हो गये थे, उनमें कमालिया, लायलपुर, सक्खर, क्वेटा और झंग मघियाना के नाम उल्लेखनीय हैं। कमालिया में समाज की स्थापना पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित चिरञ्जीलाल तथा पण्डित लालमन के प्रचार के परिणामस्वरूप सन् १८९० में हुई थी। शीघ्र ही कमालिया वैदिक धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, और वहाँ पौराणिक पण्डितों से अनेक शास्त्रार्थ भी होते रहे। आर्यसमाज की ओर से पण्डित पूर्णानन्द और पण्डित आत्माराम जैसे विद्वान् वहाँ शास्त्रार्थ के लिए गये थे। एक शास्त्रार्थ 'क्या पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार है?' विषय पर भी हुआ था, जिसमें आर्यसमाज का पक्ष पण्डिता द्रौपदी द्वारा प्रस्तुत किया गया था। यह शास्त्रार्थ चार दिन होता रहा था, और जनता पर इसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा था, कि ३५० स्त्रियों ने इससे प्रभावित होकर सामूहिक रूप से अपना यज्ञोपवीत संस्कार कराया था। लायलपुर में आर्यसमाज सन् १८९८ में स्थापित हुआ था। उसके पहले प्रधान लाला बालकराम थे, और मन्त्री महाशय गणपतराय। इन दोनों के पुरुषार्थ से ही वहाँ समाज की नींव पड़ी थी, और इन्हीं द्वारा उसे एक सशक्त व सक्रिय संस्था का रूप प्राप्त हुआ। झंग मघियाना में सन् १८९० में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व मुंशी सवाया-राम का था। वह जीवन भर झंग मघियाना समाज के कर्ता-धर्ता रहे। उनके पुरुषार्थ के कारण समाज की स्थापना के कुछ वर्ष पश्चात् उसके वार्षिकोत्सव भी होने प्रारम्भ हो गये, जिनमें महात्मा मुंशीराम, स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द सदृश आर्य नेता भी पधारते रहे। सन् १९०० तक इस आर्यसमाज का अपना भवन भी तैयार हो गया था। सक्खर सिन्ध में है, और क्वेटा बिलोचिस्तान में। पंजाब के साथ-साथ सिन्ध में भी वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, और उसके अन्यतम नगर सक्खर में सन् १८९२ में आर्यसमाज की स्थापना भी हो गयी थी। सक्खर आर्यसमाज को स्थापित करने का श्रेय श्री बी० आर० चैटर्जी को प्राप्त है। यह बंगाली सज्जन रेलवे की सर्विस में थे। उन्होंने एक मकान किराये पर लेकर वहाँ साप्ताहिक सत्संग लगाने शुरू कर दिये। जब वह बंगाल वापस चले गये, तो मुखी हेमनदास गन्नोमल ने आर्यसमाज का कार्य सँभाल लिया, और उत्साह के साथ सब काम करते रहे। श्री गणेशदास रतड़ा के प्रयत्न से सन् १८८४ में क्वेटा में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। शुरू में साप्ताहिक सत्संग किराये के मकान में लगा करते थे, पर बाद में पण्डित हरिकृष्ण के प्रयत्न से समाज मन्दिर के लिए सरकार से भूमि प्राप्त कर ली गयी, और वहाँ एक विशाल व भव्य मन्दिर का निर्माण कराया गया। बिलोचिस्तान के प्रदेश में क्वेटा का आर्यसमाज वैदिक धर्म के प्रचार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व सशक्त केन्द्र था।

उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले पंजाब व उसके समीपवर्ती प्रदेशों के अन्य भी कितने ही नगरों में आर्यसमाजों की स्थामना हो गयी थी। सन् १८६४ में कपूरथला में लाला मुंशीराम के उद्योग से आर्यसमाज स्थापित हुआ था। यह नगर जालन्धर से अधिक दूर नहीं है। मुंशीरामजी जालन्धर के निवासी थे, और उनके कारण यह नगर महात्मा पार्टी का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। शुरू में पौराणिक लोगों ने कपूरथला में आर्यसमाज का बहुत विरोध किया। उन्हें यह सह्य नहीं था, कि कोई व्यक्ति विवाह या अन्त्येष्टि सदृश संस्कारों के लिए वैदिक पद्धति का अनुसरण करे। लाला अमरनाथ सरना ने जब अपनी माता का अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीति से करना चाहा, तो सारे शहर में हलचल मच गयी। लोग उनका विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए। कपूरथला एक रियासत थी। वहाँ की सरकार भी वैदिक रीति से दाह संस्कार के विरुद्ध थी। जब यह समाचार जालन्धर के आर्यसमाजियों को ज्ञात हुआ, तो लाला मुंशीराम के नेतृत्त्व में बहुत-से आर्य कपूरथला पहुँच गये। उन्होंने वहाँ के कोतवाल को समझाया, कि कोई ऐसा कानून नहीं है, जिसके अधीन वैदिक रीति से अन्त्येष्टि संस्कार को रोका जा सके। इसपर पुलिस और सेना के प्रबन्ध में लाला अमरनाथ सरना की माताजी के शव का दाह संस्कार वैदिक रीति से करा सकना सम्भव हुआ। कपूरथला की पौराणिक जनता जो जोर जबर्दस्ती नहीं कर सकी, उसका कारण पुलिस का बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होना ही था। बाद में पौराणिकों ने आर्यों का बायकाट कर दिया, जिसके कारण उनके लिए अपने शहर में खाने-पीने का सामान तक प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा। दो मास तक वे सब सामान जालन्धर जाकर खरीदते रहे। प्रारम्भ में आर्यसमाजियों को किस प्रकार के विरोध का सामना करना पड़ता था, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। जालन्धर जिले में करतारपुर नाम का एक नगर है, वहाँ भी सन् १८६४ में ही आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। कपूरथला के समान वहाँ भी आर्यों को पौराणिकों के विद्वेष का सामना करना पड़ा। जब वहाँ पण्डित लेखराम धर्म-प्रचार के लिए गये, तो पौराणिकों ने उनपर पत्थरों की वर्षा की। इसपर पण्डितजी ने अपनी पगड़ी उतारकर कहा—मुझे पत्थर खाने में बड़ा आनन्द आ रहा है। ऐसा भा समय आएगा, जबकि मेरे मिशन के प्रचारकों पर लोग फूल बरसाएँगे। पण्डितजी की भविष्यवाणी पूर्ण हुई, और शीघ्र ही सन् १८६४ में वहाँ समाज स्थापित हो गया। करतारपुर स्वामी विरजानन्द सरस्वती की जन्मभूमि है। इस कारण महर्षि के अनुयायियों की दृष्टि में उसका विशेष महत्त्व है। आगे चलकर वहाँ के आर्यसमाज ने बहुत उन्नति की। जालन्धर शहर का आर्यसमाज बहुत पुराना है। सन् १८६२ में वहाँ स्त्री आर्यसमाज भी स्थापित हो गया था। लाला मुंशीराम और लाला देवराज सदृश आर्य नेताओं के कारण जालन्धर शहर के आर्यसमाज का बहुत महत्त्व था, और उसे लाहौर समाज का प्रतिद्वन्द्वी माना जाता था। सन् १८८६ में जालन्धर छावनी में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। इसके लिए लाला नारायणदास ने बहुत प्रयत्न किया था। जालन्धर जिले के राहों और नवांशहर के समाजों की स्थापना भी उन्नीसवीं सदी में हो गयी थी। सन् १८८४ में राहों के आर्य विचारों के कुछ सज्जनों ने एक दूकान किराये पर लेकर वहाँ सत्संग लगाने शुरू कर दिये थे, और इस प्रकार वहाँ आर्यसमाज की नींव डाल दी थी। सन् १८६१ में स्वामी योगेन्द्रपाल वहाँ पधारे, और तीन दिन तक उनके व्याख्यान होते रहे। उनके प्रचार से राहों के आर्यों में उत्साह का

संचार हुआ, और उन्होंने समाज मन्दिर के निर्माण का निश्चय कर लिया। जब यह बात पौराणिकों और मुसलमानों को ज्ञात हुई, तो वे आर्यों का विरोध करने को तत्पर हो गये। मुसलमानों ने मौलाना सनाउल्ला अमृतसरी को आर्यों के साथ शास्त्रार्थ के लिए राहों बुलाया। पर जब मौलाना ने मुकाबले में स्वामी योगेन्द्र पाल को देखा, तो शास्त्रार्थ की उनकी हिम्मत नहीं रह गयी, और वह वापस चले गये। राहों में स्वामीजी ने मांस-भक्षण के विरुद्ध जो व्याख्यान दिये, उनसे वहाँ के मुसलिम राजपूत बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक अन्य मौलाना को राहों बुलाया, और यह घोषित किया, कि यदि हमारे मुसलिम विद्वान् स्वामीजी की युक्तियों का उत्तर देकर मांस-भक्षण को समुचित सिद्ध न कर देंगे, तो हम वैदिक धर्म को स्वीकार कर आर्य बन जाएँगे। स्वामीजी का मौलाना साहब से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें आर्यसमाज की विजय हुई। इसपर मुसलिम राजपूत शुद्ध होने के लिए तैयार हो गये। पर पौराणिक पण्डितों ने राजपूतों के घर जाकर उन्हें यह बताया, कि मांस-भक्षण का विधान तो वेदों में भी है। उनके इस प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि राहों के राजपूत मुसलमान आर्य होते-होते रह गये। नवां-शहर में आर्यसमाज की स्थापना सन् १८९७ में हुई थी। लाला मुंशीराम, लाला देवराज तथा पण्डित पूर्णानन्द आदि आर्य विद्वान् व कार्यकर्त्ता जालन्धर से वहाँ धर्मप्रचार के लिए जाते रहते थे, और उन्हीं के प्रयत्न से वहाँ आर्यसमाज स्थापित हुआ था। नवां-शहर में भी पौराणिकों द्वारा आर्यों का बहिष्कार किया गया था। रहतियों की शुद्धि का तो वे उग्र रूप से विरोध किया करते थे। जालन्धर जिले के एक अन्य नगर नूरमहल में लाला मुंशीराम आदि के प्रयत्न से नवां शहर से पहले सन् १८९० में आर्यसमाज स्थापित हो गया था। प्रारम्भ के दिनों में लाला तुलसीदास तथा लाला दौलतराम वहाँ समाज के प्रधान कार्यकर्त्ता थे। उन्हें भी पौराणिकों के उग्र विरोध का सामना करना पड़ा था। पर धीरे-धीरे नूरमहल में आर्यसमाज की शक्ति बढ़ती गयी, और वह वैदिक धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना गया।

जालन्धर के पूर्व में लुधियाना जिला है। वहाँ भी उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले ही अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी। लुधियाना नगर में तो महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में ही समाज स्थापित हो गया था। महर्षि वहाँ गये भी थे (मार्च, १८७७), और वहाँ उन्होंने व्याख्यान भी दिये थे। लुधियाना में आर्यसमाज की स्थापना तथा उसके कार्यकलाप को आगे बढ़ाने में लाला रामजीदास खजानची, लाला शिवसरनदास ठेकेदार, लाला लाजपतराय थापर, बाबू उमाप्रसाद, लाला तुलसीराम और लाला केदारनाथ थापर आदि ने सराहनीय कार्य किया था। रहतियों की शुद्धि में तो इस समाज का योगदान था ही, पर ईसाइयों तथा मुसलमानों को शुद्ध कर आर्य बनाने में भी यह प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहा। लुधियाना जिले के रायकोट, भैनी रोड़ा तथा खन्ना नगरों में भी उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी। रायकोट में समाज की स्थापना लाला मुंशीराम ने सन् १८९४ में की थी। प्रारम्भ में साप्ताहिक संत्सग लाला नन्दीलाल के घर पर हुआ करते थे, और उनमें पण्डित गंडाराम द्वारा सत्यार्थप्रकाश की कथा की जाती थी। खन्ना में और भैनी रोड़ा में भी सन् १८९४ के लगभग ही समाज स्थापित हुए थे।

उन्नीसवीं सदी में पंजाब में स्थापित हुए अन्य आर्यसमाजों में मुकेरियाँ,



गुजराँवाला, गुरुदासपुर, जलालपुर नौ, जफरवाल, घरोटा, कोट नैना, कोट कपूरा, किला शोभासिंह, अमृतसर, लाहौर, कसूर, डस्का, डिंगा, दीनानगर, पिण्ड दादनखाँ, फीरोजपुर, बरनाला, मक्कर, भटिण्डा, भेरा, मजीठा, रावलपिण्डी, मरी, महलावालाँ, बहरामपुर, सियालकोट, हाफिजाबाद, शर्कपुर (शेखूपुरा), शकरगढ़ (गुरुदासपुर) और मोरिण्डा के समाज उल्लेखनीय हैं। इनमें लाहौर (वच्छोवाली), गुजराँवाला, गुरुदासपुर, कसूर आदि के आर्यसमाजों की स्थापना महर्षि के देहावसान से पहले हो चुकी थी। पर उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व जो अन्य अनेक आर्यसमाज पंजाब में स्थापित हुए, उनमें से कतिपय का संक्षिप्त परिचय उपयोगी है। सन् १८७७ में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुदासपुर गये थे, तो उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए मुकेरियाँ के भी कुछ सज्जन वहाँ आये थे। वे महर्षि के विचारों से बहुत प्रभावित हुए, और मुकेरियाँ में वैदिक धर्म के मन्तव्यों की चर्चा होने लग गई। फरवरी, १८९० में आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रचारक भाई हरनामसिंह प्रचार के लिए मुकेरियाँ गये और उनके प्रचार के कारण हकीम रामशरणदास और उनके आर्य विचारों के साथियों ने एकत्र होकर भजन-कीर्तन तथा सत्यार्थप्रकाश की कथा करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार वहाँ आर्यसमाज की नींव पड़ी। इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिससे मुकेरियाँ में वैदिक धर्म के प्रचार को बहुत बल मिला। वहाँ के वकील लाला मथुरादास की माताजी का देहावसान हो जाने पर उनके शव का दाह-संस्कार पौराणिक रीति से करा दिया गया, क्योंकि तब मथुरादास जी बाहर गये हुए थे। वह आर्य विचारों के व्यक्ति थे, चौथ के अवसर पर जब वह मुकेरियाँ आए, तो उन्होंने पुराने ढंग से स्यापा करने के बजाय हवन तथा भजन-कीर्तन शुरू कराया, जिससे उनकी बिरादरी के पौराणिक लोग बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने सनातन धर्म सभा, लाहौर के उपदेशक पण्डित गण्डाराम को मुकेरियाँ बुलाया, ताकि वह आर्यसमाजियों को शास्त्रार्थ में परास्त करें, और पौराणिक क्रियाकर्म के प्रति जनता में श्रद्धा की कमी न आने दें। जब यह बात लाला मुंशीराम को ज्ञात हुई, तो वह जालन्धर के बहुत-से आर्य पुरुषों को साथ लेकर मुकेरियाँ आ गये। इनमें पण्डित पूर्णानन्द सदृश विद्वान् भी थे। पण्डित गण्डाराम को इन आर्य विद्वानों से शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं हुआ, और वह मुकेरियाँ छोड़कर अन्यत्र चले गये। इसके बाद मुकेरियाँ में वैदिक धर्म की धूम मच गयी, और वहाँ के आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव मार्च, १८९१ में बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। जलालपुर नौ गुजराँवाला जिले में है। लाला दयाराम मल्होत्रा के प्रयत्न से वहाँ सन् १८९३ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। यह समाज अत्यन्त जागरूक व उत्साहसम्पन्न होकर वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर रहा। पण्डित पूर्णानन्द, स्वामी योगेन्द्रपाल तथा श्री आत्माराम सदृश आर्य विद्वानों को बुलाकर वहाँ के आर्यसमाजियों द्वारा पौराणिक तथा मुसलमानों से अनेक शास्त्रार्थ कराये गये, और बालकों व बालिकाओं की शिक्षा के लिए आर्य शिक्षण-संस्थाएँ भी स्थापित की गईं। गुजराँवाला जिले के हाफिजाबाद में भी सन् १८९५ के लगभग आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी। उत्तरी पंजाब का सियालकोट नगर अब पाकिस्तान में है, पर कभी वह वैदिक धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। वहाँ सन् १८८४ में लाला लाभाराम वकील तथा लाला भीमसेन वकील द्वारा आर्यसमाज की स्थापना की गई थी। सन् १८८६ में जब सियालकोट आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव हुआ, तो उसमें

सहभोज की भी व्यवस्था की गई थी। सब जातियों व वर्गों के लोग छुआछूत और ऊँच-नीच के भेदभाव को भुलाकर उसमें सम्मिलित हुए थे। मेघ नाम की अछूत माने जाने वाली जाति के उद्धार का आन्दोलन सियालकोट से ही लाला गंगाराम द्वारा प्रारम्भ किया गया था। सियालकोट जिले के डस्का में सन् १८८४ में और जफरवाल में १८८७ में आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। डस्का में समाज की स्थापना पण्डित लेखराम द्वारा की गई थी, और जफरवाल में स्वामी आलाराम ने। ये दोनों समाज भी मेघोद्धार आन्दोलन के सशक्त केन्द्र थे। गुरुदासपुर में महर्षि की उपस्थिति में ही सन् १८७७ में आर्यसमाज स्थापित हो गया था। कुछ वर्ष पश्चात् जिले के अन्य अनेक नगरों में भी समाजों की स्थापना शुरू हो गई। सन् १८९६ में पण्डित मथुराप्रसाद आर्योपदेशक कोट नैनां गये, और वहाँ उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया। कुछ समय बाद भाई परमानन्द और पण्डित राजाराम शास्त्री आदि अन्य अनेक आर्य विद्वान् वहाँ गये, और उनके प्रयत्न से कोट नैनां में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। अगले वर्ष सन् १८९७ में शकरगढ़ में भी समाज स्थापित हो गया। वहाँ भी वैदिक धर्म-प्रचार के सूत्रपात का श्रेय पण्डित मथुराप्रसाद को ही प्राप्त है। शकरगढ़ के आर्य सज्जनों में धर्म-प्रचार के लिए इतना उत्साह था, कि कुछ वर्ष पश्चात् समीप के दूबोचक, खानेवाल, नूरकोट, नेनेकोट, बारामंगा, कंजरूड़, सुखौचक और इखलासपुर आदि में भी आर्यसमाज स्थापित हो गये और गुरुदासपुर जिला वैदिक धर्म का सशक्त केन्द्र बन गया। मेघों की शुद्धि में भी इस जिले के आर्यसमाजों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा। गुरुदासपुर जिले के श्रीगोविन्दपुर नगर का पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास में विशिष्ट स्थान रहा है। सभा के भूतपूर्व प्रधान पण्डित विश्वम्भरनाथ और मन्त्री पण्डित भीमसेन विद्यालंकार श्रीगोविन्दपुर के ही निवासी थे। वहाँ के आर्यसमाज की स्थापना भी उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले ही हो गई थी। इस नगर में समाज को स्थापित करने में स्वामी आत्मानन्द तथा श्री काशीराम का प्रमुख कर्तृत्व था। गुरुदासपुर जिले में एक अन्य नगर घरोटा है, जहाँ सन् १८९५ में आर्यसमाज का बीजारोपण हो गया था। अमृतसर में महर्षि दयानन्द सरस्वती धर्म-प्रचार के लिए गये थे, और वहाँ सन् १८७७ में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। पण्डित लेखराम के बलिदान के पश्चात् महात्मा पार्टी ने अमृतसर में अपना समाज पृथक् रूप से स्थापित कर लिया था, क्योंकि महर्षि के समय का समाज कॉलिज पार्टी के हाथों में था। अमृतसर जिले में मजीठा, महलांवाला आदि कुछ अन्य नगरों में भी उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। सन् १८८१ में पण्डित खड्गसिंह धर्म-प्रचार के लिए मजीठा गये थे। वहाँ राणा सूरतसिंह की अध्यक्षता में उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये थे, जिनमें आर्यसमाज के नियमों का वितरण भी किया गया था। कुछ समय पश्चात् स्वामी आलाराम मजीठा गये, और उनके प्रयत्न से वहाँ व्यवस्थित रूप से आर्यसमाज की स्थापना हो गयी (सन् १८८८)। राजा सूरतसिंह के चाचा सरदार मघरसिंह मजीठा आर्यसमाज के प्रथम प्रधान चुने गये थे। जब यह समाचार पौराणिक लोगों ने सुना, तो सनातन धर्म महामण्डल, लाहौर की ओर से पण्डित दीनानाथ और पण्डित काशीनाथ मजीठा आये, और उन्होंने वहाँ महर्षि पर आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये। इस पर आर्यसमाज ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। आर्यसमाज की ओर

से पण्डित लेखराम और पण्डित लाजूराम शास्त्रार्थ के लिए मजीठा आ गये। पण्डित लाजूराम संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, और उसी वर्ष उन्होंने काशी से व्याकरणाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सनातनी पण्डित उनके सम्मुख नहीं टिक सके। मजीठा में जैनियों और ईसाइयों से भी आर्यसमाजियों के अनेक शास्त्रार्थ हुए। महलांवाला में स्वामी धीरानन्द सरस्वती ने सन् १८८८ में आर्यसमाज की स्थापना की थी।

रावलपिण्डी अब पाकिस्तान में है। पर भारत के विभाजन से पूर्व वह भी आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ अनेक आर्यसमाज विद्यमान थे। रावलपिण्डी नगर के दो समाज (सदर बाजार और शहर) उन्नीसवीं सदी में ही स्थापित हो गये थे। सदर बाजार आर्यसमाज की स्थापना महर्षि के जीवनकाल में उनके उपदेशों से प्रभावित होकर लाला मुरलीधर और पण्डित सीताराम आदि सज्जनों द्वारा कर दी गयी थी। पण्डित लेखराम और स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती की इस समाज पर विशेष कृपा थी। रावलपिण्डी का शहर आर्यसमाज भी बहुत सक्रिय था। आर्य उपदेशक तैयार करने के लिए उस द्वारा एक महाविद्यालय भी स्थापित किया गया था, जिसके आचार्य पण्डित मुक्तिराम थे। रावलपिण्डी जिले में मरी एक अत्यन्त रमणीक तथा स्वास्थ्यप्रद नगर है, जो मसूरी तथा शिमला के समान हिमालय की पर्वतमाला पर स्थित है। सन् १८९५ में पंजाब के सैनिक दफ्तर वहाँ स्थापित होने शुरू हुए थे, जिनके कर्मचारियों में अनेक आर्यसमाजी विचारों के भी थे। उन्होंने वहाँ समाज की स्थापना कर दी, और उसके लिए 'कृपाराम एण्ड सन्स' नामक व्यापारी संस्थान के मालिक लाला कृपाराम साहनी ने अपना एक मकान दान दे दिया। आगे चलकर मरी के समाज ने अच्छी उन्नति की, और पार्वत्य प्रदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बहुत उपयोगी कार्य किया।

पटियाला रियासत के भटिण्डा और बरनाला, शाहपुर जिले के भेरा, गुजरात जिले के डिंगा और दौलतनगर तथा जेहलम जिले के पिण्ड दादन खाँ में भी सन् १९०० से पहले आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी। भटिण्डा में राय बहादुर लाला मक्खन लाल, श्री जीवाराम तथा बाबू भगवानदास के प्रयत्न से सन् १८९४ में आर्यसमाज का बीजारोपण हुआ था, और शीघ्र ही वहाँ के आर्यसमाजी वैदिक धर्म के-प्रचार में सक्रिय हो गये थे। भटिण्डा के क्षेत्र में धानक नाम की एक जाति का निवास था, जिसे अछूत समझा जाता था, और जिसके व्यक्ति कुओं पर पानी भी नहीं भर सकते थे। आर्यसमाज द्वारा हजारों धानक शुद्ध किये गये। सनातनियों ने इसका विरोध किया, और आर्यसमाजियों का बायकाट कर उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया। कुओं से जल भर सकने का प्रश्न अदालत में ले जाया गया, जिसमें आर्यसमाज की विजय हुई। पटियाला रियासत के एक अन्य नगर बरनाला में जुलाई, १८९९ में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। इसमें श्री जीवाराम, बाबू शिवचरणदास और लाला नारायणदत्त का विशेष कर्तृत्त्व था। शाहपुरा जिले के भेरा नगर में महर्षि के जीवनकाल (सन् १८८२) में ही आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसके लिए लाला हंसराज साहनी वकील ने बहुत पुरुषार्थ किया था। एप्रिल, १८९२ में वहाँ समाज मन्दिर के लिए भूमि भी खरीद ली गई थी, और शीघ्र ही आर्यसमाज का भव्य भवन बनकर तैयार हो गया था। गुजरात जिले में डिंगा नामक नगर है, वहाँ पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित आर्यमुनि के प्रचार के परिणामस्वरूप सन् १८८९ में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। पण्डितजी ने वहाँ पौराणिकों

से शास्त्रार्थ भी किये थे, जिनके कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों की सचाई की धाक जम गयी थी। गुजरात जिले के एक अन्य नगर दौलतनगर में भी उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही आर्यसमाज की नींव पड़ गयी थी, और पण्डित पूर्णानन्द आदि आर्य विद्वान् वहाँ धर्म-प्रचार के लिए जाने लग गये थे। जेहलम जिले का पिण्ड दादन खाँ नगर चिरकाल से आर्यसमाज का केन्द्र था। वहाँ सन् १८८७ में समाज स्थापित हो गया था, जिसके लिए श्री हरभगवानदास मेहता तथा लाला गुरुसहायमल आदि ने बहुत श्रम किया था। इस समाज के कार्यकर्ताओं ने शुद्धि और विधवा विवाह के कार्यों में अनुपम उत्साह प्रदर्शित किया था। उन्नीसवीं सदी में जो अन्य अनेक आर्यसमाज पंजाब में स्थापित हुए, उनमें मियांवाली जिले के अन्यतम नगर भक्कर के समाज का उल्लेख भी आवश्यक है। इसकी स्थापना सन् १८९५ में हो गई थी। समीप के देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए भक्कर के आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इसी प्रयोजन से इस समाज द्वारा एक पृथक् उपदेशक की भी नियुक्ति की गयी थी। फरीदकोट के कोट कपूरा नगर में सन् १८९२ में आर्यसमाज का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, और कुछ समय पश्चात् वहाँ समाज की भी स्थापना हो गयी थी।

पंजाब के साथ ही उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू-काश्मीर के भी उन आर्यसमाजों का उल्लेख कर देना उपयोगी होगा, जिनकी स्थापना उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व हो चुकी थी। पेशावर में आर्यसमाज की स्थापना पण्डित लेखराम द्वारा की गयी थी। शुरू में साप्ताहिक सत्संग पण्डितजी के घर पर ही लगा करता था। बाद में करीमपुरा मुहल्ले में एक मकान समाज के लिए किराये पर ले लिया गया, और कुछ समय पश्चात् मुहल्ला लाहौरिया की केशोमल धर्मशाला में आर्य-समाज के साप्ताहिक सत्संग होने लगे। १५ मई, सन् १८८९ को समाज का अपना मन्दिर बनना शुरू हो गया, और सन् १८९१ में समाज का आठवाँ वार्षिकोत्सव अपने ही भवन में मनाया गया। पेशावर आर्यसमाज प्रारम्भ से ही बहुत सक्रिय था, और भारत के सीमावर्ती प्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार का वह मुख्य केन्द्र था। उस द्वारा समाज के कार्य के लिए एक पुरोहित रखने की व्यवस्था कर ली गयी थी, और पण्डित मूलराज को इस पद पर नियुक्त कर दिया गया था। पेशावर आर्यसमाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में रायबहादुर पण्डित ईश्वरदास, डा० सीताराम, लाला मेहरचन्द, लाला दुनीचन्द, पण्डित गंडाराम, लाला मेहरचन्द मल्होत्रा, बाबू मूलचन्द और बाबू केशोमल के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि पण्डित लेखराम चिरकाल तक पेशावर में नहीं रहे, और उनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया, पर इसमें सन्देह नहीं, कि पेशावर के आर्यसमाजियों ने उसी आस्था तथा उत्साह से वहाँ आर्यसमाज के कार्य को जारी रखा, पण्डितजी ने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था। कुछ समय पश्चात् सीमाप्रान्त के कोहाट नगर में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी।

जम्मू-काशमीर राज्य में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक दो नगरों में आर्यसमाज स्थापित हुए थे—जम्मू और श्रीनगर। लाला मेलाराम के पुरुषार्थ से सन् १८९१ में जम्मू में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, और उसके प्रारम्भ के कार्यकर्ताओं में पण्डित गणेशदास शास्त्री और डाक्टर जगन्नाथ मुख्य थे। शुरू में साप्ताहिक सत्संग लाला मेलाराम के घर पर ही हुआ करते थे, पर बाद में एक मकान समाज के लिए किराये

पर ले लिया गया, और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में समाज का अपना भवन भी तैयार करा लिया गया। दलितोद्धार के कार्य में जम्मू आर्यसमाज बहुत सक्रिय रहा है। जम्मू के एक वर्ष पश्चात् सन् १८९२ में श्रीनगर में भी आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसने बाद में अच्छी उन्नति की।

हिमाचल प्रदेश के भी दो नगरों में ही उन्नीसवीं सदी में आर्यसमाजों की सत्ता थी, शिमला और डलहौजी में। शिमला में सन् १८८१ में समाज स्थापित हुआ था, और डलहौजी में सन् १८९८ के लगभग। डलहौजी हिमालय पर्वत शृंखला में स्थित एक सुन्दर नगरी है, जो पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है। चौधरी रामभजदत्त सदृश अनेक आर्य भी ग्रीष्म ऋतु में वहाँ जाया करते थे। उन्होंने वहाँ अपने निवासस्थान पर ही सत्संग प्रारम्भ कर दिया था, जिसमें अन्य नर-नारी भी सम्मिलित होने लग गये थे। यह सिलसिला सन् १८९८ में शुरू हुआ था, और इसीसे डलहौजी में आर्यसमाज की स्थापना हुई। कुछ समय बाद महाशय इन्द्रराम ने बैलून बाजार में एक चौबारा किराये पर लेकर वहाँ समाज की व्यवस्थित रूप से स्थापना कर दी, और एक प्राइमरी स्कूल भी खोल दिया।

जिस काल का आर्यसमाजों की स्थापना का विवरण इस अध्याय में दिया जा रहा है, उसमें हरयाणा और दिल्ली भी पंजाब के अन्तर्गत थे। आर्यसमाज की दृष्टि से हरयाणा का बहुत महत्त्व है, अतः वहाँ के विविध नगरों में समाजों की स्थापना एवं विकास का वृत्तान्त एक पृथक् अध्याय में दिया गया है। वर्तमान समय में दिल्ली भी आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, और उसकी आर्य प्रतिनिधि सभा भी पृथक् है। पर सन् १९०० तक इस क्षेत्र में केवल एक आर्यसमाज की सत्ता थी, जिसकी स्थापना सन् १८८४ के लगभग दरियागंज में हुई थी। प्रारम्भ काल में उसके प्रधान कार्यकर्ता राय साहब लाला केदारनाथ तथा राय साहब लाला दामोदरदास थे। उस समय समाज के साप्ताहिक सत्संग लाला कन्हैयालाल के मकान पर हुआ करते थे। बाद में चरखेवालां मुहल्ले में लाला बुद्धसिंह के मकान पर समाज के अधिवेशनों की व्यवस्था की गयी। कुछ वर्ष पश्चात् चावड़ी बाजार में वह स्थान आर्यसमाज के लिए क्रय कर लिया गया, जहाँ चिरकाल तक समाज मन्दिर रहा, और जहाँ से दिल्ली के क्षेत्र में वैदिक धर्म का निरन्तर प्रचार-प्रसार होता रहा।

जिन आर्यसमाजों का इस अध्याय में विवरण दिया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक समाज उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व पंजाब तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में स्थापित हो चुके थे। उनका विवरण इस समय इस कारण उपलब्ध नहीं है, क्योंकि सन् १९४७ में भारत के विभाजन के कारण आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य प्रादेशिक सभा के पुराने रिकार्ड पाकिस्तान में ही रह गये थे। साथ ही, इस प्रसंग में यह निर्देश कर देना भी आवश्यक है, कि इस अध्याय में केवल उन्हीं आर्यसमाजों का उल्लेख किया गया है, जो पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। अनेक ऐसे समाज जो उन्नीसवीं सदी में स्थापित हो चुके थे, आर्य प्रादेशिक सभा के साथ भी सम्बद्ध थे। एक पृथक् अध्याय में आर्य प्रादेशिक सभा के संगठन तथा उससे सम्बद्ध आर्यसमाजों का विवरण देते हुए इन पुराने आर्यसमाजों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

तीसरा अध्याय

आर्यसमाज के आन्दोलन तथा कार्यकलाप का स्वरूप

(१) त्यौहार, संस्कार और पूजापद्धति

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किसी नये धर्म, सम्प्रदाय, मत या पंथ का प्रवर्तन नहीं किया था। वह सत्य सनातन वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित करना चाहते थे। उनका मन्तव्य था, कि उन्नीसवीं शताब्दी में आर्य (हिन्दू) धर्म का जो रूप प्रचलित था, उसकी बहुत-सी बातें वेद-विरुद्ध थीं। उस समय के हिन्दू धर्म में पूजा की जो पद्धति थी, जिस ढंग से त्यौहार मनाये जाते थे और विवाह आदि संस्कार जिस प्रकार सम्पन्न किये जाते थे, वे वेदानुकूल नहीं थे। यही कारण है, कि जब आर्यसमाज ने एक जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण करना शुरू किया, तो उस द्वारा त्यौहार मनाने, संस्कार करने तथा ईश्वर की प्रार्थना व उपासना करने आदि की भी ऐसी पद्धति को अपनाया गया, जो पुराने ढंग के हिन्दुओं की पद्धति से बहुत भिन्न थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि आर्यसमाज के पृथक् व्यक्तित्व का विकास होने लगा, और पौराणिक हिन्दू आर्यसमाजियों को न केवल हिन्दुओं से भिन्न ही समझने लगे, अपितु उनका बहिष्कार करने के लिए भी तत्पर हो गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती मूर्तिपूजा और श्राद्ध के विरोधी थे। ईश्वर को वह निराकार व अजन्मा मानते थे, राम और कृष्ण को वह ईश्वर के अवतार नहीं मानते थे, और जन्म के आधार पर किसी का ब्राह्मण या शूद्र होना भी उन्हें स्वीकार नहीं था। इसमें सन्देह नहीं, कि महर्षि के धर्म व दर्शन सम्बन्धी मन्तव्य प्रचलित हिन्दू धर्म के मन्तव्यों से बहुत भिन्न थे, पर इन भिन्नताओं के कारण उन्होंने अपने को हिन्दू समाज से पृथक् नहीं कर लिया था, और न उन्हें यह अभीष्ट ही था कि ब्राह्मसमाज के समान आर्यसमाज भी अपने को हिन्दुओं से पृथक् कर ले। उनका विचार था, कि वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को युक्तियों और प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित कर हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों, अन्धविश्वासों, पाखंड तथा मिथ्या धारणाओं का निवारण किया जा सकता है और इस प्रकार वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित कर सकना सम्भव व क्रियात्मक है। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रायः सभी अनुयायियों का सम्बन्ध ऐसे परिवारों के साथ था, जो कट्टर पौराणिक थे। यह अधिक कठिन नहीं था, कि इन परिवारों का कोई व्यक्ति ईश्वर को निराकार व अजन्मा मानने लगे और मूर्तिपूजा का परित्याग कर संध्या-उपासना द्वारा ईश्वर की पूजा में प्रवृत्त हो जाये। पर अपने परिवार व बिरादरी की परम्परागत प्रथा के विरुद्ध जाकर महर्षि

द्वारा प्रतिपादित पद्धति से विवाह आदि संस्कार करना सुगम नहीं था। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी परिवार तथा बिरादरी का सदस्य होता है और अपने सामुदायिक हित-कल्याण के लिए उन पर निर्भर भी रहता है। इसीलिए परिवार व बिरादरी की प्रथाओं व मर्यादाओं का अतिक्रमण कर सकना सुगम नहीं होता। पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दू परिवारों व बिरादरियों की बहुत-सी प्रथाएँ इतनी दूषित थीं, कि महर्षि के अनुयायियों के लिए उनका पालन कर सकना असम्भव था। उस समय बालविवाह प्रचलित था, स्त्रियों को परदे में रखा जाता था, विवाह के अवसर पर वेश्याओं के नाचगान का रिवाज था, मृतक भोज की प्रथा थी और किसी भी दशा में विधवाओं को विवाह की अनुमति नहीं थी। होली सदृश त्यौहारों के अवसर पर गन्दे अश्लील गीत गाये जाते थे, शराब पी जाती थी, और गाली-गलौच के साथ एक-दूसरे पर कीचड़ फेंका जाया करता था। महर्षि के अनुयायी इन कुरीतियों को कैसे सह सकते थे? परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने नये ढंग से त्यौहार मनाने शुरू किये और विवाह आदि संस्कारों के लिए उस पद्धति को अपनाया, जिसका प्रतिपादन महर्षि ने संस्कारविधि में किया है। आर्यसमाजियों का उस समय होली मनाने का क्या ढंग था, इसका विवरण आर्य पत्रिका (लाहौर) के ३० मार्च, सन् १८८६ तथा १५ मार्च, १८८७ के अंकों में विद्यमान है। उसके अनुसार इस त्यौहार को मनाने के लिए समाज मन्दिर को पत्र-पुष्पों तथा लताओं से भली-भाँति सजाया जाता था, और उत्सव में सम्मिलित होने के लिए नगर के प्रतिष्ठित व शिक्षित व्यक्तियों को निमन्त्रण-पत्र भेजे जाते थे। ९ मार्च, १८८७ को लाहौर आर्यसमाज द्वारा होली का जो त्यौहार मनाया गया था, उसमें सबसे पहले महात्मा हंसराज ने प्रार्थना-उपासना की थी, और फिर हवन हुआ था। उसके बाद होली के भजन गाये गये थे, और परस्पर प्रेम तथा उल्लास के वातावरण में उत्सव सम्पन्न हुआ था। यद्यपि होली के हुड़दंग के कारण लोगों के लिए समाज मन्दिर आ सकना सुगम नहीं था, फिर भी बहुत-से नर-नारी परिष्कृत ढंग से होलिका के पर्व को मनाने के लिए वहाँ एकत्र हो गये थे। आर्यसमाज का यह मन्तव्य है, कि होली का त्यौहार नई फसल की खुशी में सामूहिक उत्सव मनाने के प्रयोजन से शुरू हुआ था। मार्च मास में रबी की फसल पककर तैयार हो जाती है, गेहूँ, जौं आदि अन्न तब किसान के घर पर आने लगते हैं। उसकी महीनों की मेहनत सफल हो जाती है, और शीत ऋतु का अन्त होकर बसन्त की बहार शुरू होने लगती है। प्रकृति में सर्वत्र उल्लास छा जाता है। ऐसे समय यदि मनुष्य भी सामूहिक रूप से उत्सव मनाने में प्रवृत्त हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? प्राचीन समय में होली के त्यौहार का मनाया जाना इसी कारण शुरू हुआ था। तब इस उत्सव के अवसर पर सामूहिक रूप से यज्ञ किया जाता था, जिसमें नये अन्न की आहुतियाँ दी जाती थीं, और लोग संगीत व नृत्य द्वारा मनोरंजन किया करते थे। पर बाद में उसका स्वरूप अत्यन्त घिनौना हो गया था। आर्यसमाज ने उसमें सुधार किया, और एक नये ढंग से होली मनाना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार अन्य त्यौहारों व पर्वों के मनाने के ढंग में भी सुधार किये गये। सबमें यज्ञ के अनुष्ठान को प्रमुख स्थान दिया गया, और आर्यसमाजियों का यह प्रयत्न रहा, कि त्यौहारों के वैज्ञानिक स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाये, और उनके मनाये जाने की अपनी पद्धति की शास्त्रों के प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा पुष्टि की जाये।

हिन्दू लोगों में नामकरण, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि आदि संस्कारों का विशेष महत्त्व है। इनकी पद्धति सब प्रदेशों व सब जातियों में एक सदृश नहीं है, पर विवाह आदि की जो पद्धति उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित थी, महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत में वह वेदानुकूल नहीं थी। इसीलिए उन्होंने संस्कारविधि लिखकर जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य को जो विविध संस्कार करने होते हैं (जिनकी संख्या महर्षि के अनुसार सोलह है), उनकी एक ऐसी पद्धति निर्धारित कर दी थी, जो वेदशास्त्रों पर आधारित थी। इसे सब प्रदेशों और सब जातियों में समान रूप से प्रयुक्त किया जा सकता था। हिन्दू समाज में धार्मिक अनुष्ठान व कर्मकाण्ड के लिए पुरोहित का अत्यधिक महत्त्व था और पुरोहित का कार्य केवल ऐसे व्यक्ति ही कर सकते थे, जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हों। उस समय ब्राह्मण भी प्रायः अशिक्षित व निरक्षर हुआ करते थे, और शास्त्रों का उनको ज्ञान तो नाममात्र का ही हुआ करता था। इस दशा में विवाह आदि संस्कारों में बहुत-सी ऐसी बातों का समावेश हो गया था, जो न केवल वेद-विरुद्ध ही थीं, अपितु अत्यन्त हास्यास्पद व असंगत भी होती थीं। आर्यसमाज में पौरोहित्य के लिए जन्म से ब्राह्मण होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। कोई भी व्यक्ति संस्कारविधि पढ़कर, वेद-मन्त्रों का सही उच्चारण सीखकर और महर्षि द्वारा प्रतिपादित पद्धति को भली-भाँति समझकर संस्कार करा सकता था। इसके लिए संस्कृत का पण्डित होना भी आवश्यक नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि आर्यसमाजों के पदाधिकारी तथा साधारण सभासद् भी संस्कारविधि के अनुसार संस्कार कराने लगे, और उनके लिए ब्राह्मण पुरोहितों की आवश्यकता नहीं रह गयी। निस्सन्देह, यह एक क्रान्तिकारी बात थी, जिसे स्वीकार कर सकना या सह सकना हिन्दू बिरादरियों के लिए सुगम नहीं था। यही कारण है, कि जब आर्यसमाजी लोग महर्षि द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुसार संस्कार करने के लिए प्रवृत्त हुए, तो उनका घोर विरोध हुआ। इस विरोध की उग्रता का एक कारण यह भी था, कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित पद्धति को अपना लेने पर ब्राह्मण पुरोहितों की आजीविका में बाधा पड़ती थी। मनुष्यों के लिए परम्परागत प्रथाओं के विरुद्ध आचरण करना और रूढ़ियों को तोड़ सकना सुगम नहीं होता, विशेषतया उस दशा में जब एक वर्ग को उससे आर्थिक हानि भी पहुँचती हो। पर आर्यसमाजियों ने इसकी कोई परवाह नहीं की, और वे संस्कारविधि के अनुसार संस्कारों को सम्पन्न कराने के लिए प्रवृत्त हो गये। सोलह संस्कारों में अंत्येष्टि संस्कार ऐसा है, जिसके साथ बहुत-से व्यक्तियों का सम्बन्ध होता है। दिवंगत व्यक्ति किसी का पिता या माता, किसी का पति या पत्नी, किसी का भाई या बहन, किसी की संतान तथा किसी का निकट सम्बन्धी होता है। उसकी और्ध्वदैहिक क्रिया से इन सबका सम्बन्ध होता है, और सब कोई दिवंगत आत्मा की सद्गति की कामना करते हैं। पुरानी प्रथा के अनुसार अंत्येष्टि संस्कार में पिंडदान आदि की जो विधियाँ थीं, लोग उन्हें मृत व्यक्ति की सद्गति के लिए आवश्यक मानते थे। इस दशा में यदि परिवार का कोई एक व्यक्ति आर्यसमाजी हो गया हो, और अन्य लोग पौराणिक विचारों के हों, तो अकेले आर्यसमाजी के लिए सारे परिवार तथा बिरादरी के विरोध में संस्कारविधि के अनुसार अंत्येष्टि संस्कार कर सकना कितना कठिन था, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। उसे न केवल पुरोहित वर्ग के विरोध का ही सामना करना था, अपितु साथ ही अन्य पारिवारिक जनों के इस आक्षेप का भी कि पिंडदान आदि के

अनुष्ठान न करने से मृत व्यक्ति की सद्गति नहीं होने पायेगी। पर उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण के आर्यसमाजियों में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के प्रति इतनी अगाध आस्था थी, कि उन्होंने परिवार व बिरादरी के विरोध की कोई भी परवाह न कर संस्कारविधि में प्रतिपादित पद्धति को अपनाया और इस प्रकार अपने विशिष्ट व्यक्तित्व व पृथक् अस्तित्व को पौराणिक हिन्दू समाज से भिन्न रूप में स्थापित कर लिया। इस विषय में पहल सम्भवतः पण्डित गुरुदत्त द्वारा की गयी थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी थी, कि वह अंत्येष्टि आदि सभी संस्कारों के लिए वैदिक पद्धति का ही अनुसरण करेंगे। गुरुदत्तजी का जन्म मुलतान की अरोड़ा बिरादरी में हुआ था। इस बिरादरी में सम्पन्न व प्रतिष्ठित लोगों की कोई कमी नहीं थी। वे पौराणिक पण्डितों के प्रभाव में थे, और यह सहन करने को तैयार नहीं थे कि उनकी बिरादरी का कोई व्यक्ति पुरानी परम्पराओं का अतिक्रमण करे। उन्होंने गुरुदत्तजी को बिरादरी से बहिष्कृत करने की धमकियाँ दीं, उन पर सब प्रकार से दबाव डाला गया, पर पण्डित गुरुदत्त अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए, बिरादरी के घोर विरोध और सामाजिक बहिष्कार की धमकियों के बावजूद उन्होंने अपने माता-पिता का अंत्येष्टि संस्कार वैदिक विधि से कराके यह प्रमाणित कर दिया कि आर्यसमाजियों की महर्षि के मन्तव्यों के प्रति कितनी प्रगाढ़ आस्था होती है। ऐसा करते हुए पण्डितजी ने अपने परिवार के अन्य सदस्यों के विरोध की भी परवाह नहीं की। कपूरथला, गुजरांवाला आदि के कितने ही अन्य भी ऐसे आर्यसमाजी थे, जिन्होंने गुरुदत्तजी के उदाहरण को सम्मुख रखकर वैदिक पद्धति से अपने आत्मीयों के अंत्येष्टि संस्कार कराये। ऐसे कतिपय व्यक्तियों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया भी जा चुका है।

अंत्येष्टि संस्कार के समान विवाह संस्कार के लिए भी आर्यसमाजियों द्वारा संस्कारविधि में प्रतिपादित पद्धति का अनुसरण किया जाने लगा। पर विवाह का सम्बन्ध एक विशिष्ट विधि के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बातों के साथ होता है, यथा वैवाहिक सम्बन्ध का निर्धारण किस प्रकार किया जाये, विवाह के समय वर-वधु की आयु क्या हो, विधवा का पुनर्विवाह हो या नहीं, और विवाह में दहेज या लेनदेन किस रूप में व किस अंश तक हो। पुरानी पद्धति से हिन्दुओं में जो विवाह होते थे, उनमें वर और वधु, दोनों पक्षों को बहुत खर्च करना होता था, वेश्याओं का नृत्य कराया जाता था, बरात में सैकड़ों आदमी ले जाये जाते थे, और दहेज की राशि पहले ही निर्धारित कर ली जाती थी। विवाह की पद्धति में भी कितनी ही ऐसी बातें थीं, जो अंधविश्वासों पर आधारित थीं। विवाह सम्बन्ध का निर्धारण प्रायः नाइयों द्वारा किया जाता था, और वर तथा वधु की जन्मपत्रियों का मिलान कर सम्बन्ध तय होता था। विवाह छोटी आयु में ही कर दिये जाते थे। आर्यसमाज ने इन सबके विरुद्ध आवाज उठायी। विवाह-सम्बन्ध के निर्धारण के लिए अब गुण, कर्म, स्वभाव की समानता को महत्त्व दिया जाने लगा, और उपयुक्त वर या वधु के चयन के लिए समाचार-पत्रों में विज्ञापन देने प्रारम्भ किये गये। उस समय आर्यसमाज की जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं, सबमें विवाह-विज्ञापन निकलने शुरू हो गये। विवाह सम्बन्ध के निर्धारण का यह एक नया ढंग था, जिसका प्रारम्भ आर्यसमाज द्वारा ही किया गया था। सन् १८८३ में आर्यपत्रिका (लाहौर) में एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक ऐसे आर्य सज्जन की

आवश्यकता विज्ञापित की गयी थी, जिसका स्वास्थ्य उत्तम हो, जो सदाचारी हो और यह प्रतिज्ञा करने को तैयार हो कि वह कभी बहुविवाह नहीं करेगा। इसी प्रकार ४ मई, १८८६ के आर्यपत्रिका के अंक में एक ऐसी वधु के लिए विज्ञापन छपा था, जो पूर्णतया वैदिक पद्धति से विवाह संस्कार कराने के लिए उद्यत हो। विवाह विज्ञापनों का जो सिलसिला सन् १८८३ में शुरू हुआ, वह निरन्तर जारी रहा, और कोई भी ऐसी आर्य पत्र-पत्रिका नहीं रही जिसमें ये विज्ञापन प्रकाशित न होते हों। इसका परिणाम यह हुआ, कि आर्यसमाजी परिवारों में विवाह सम्बन्ध के निर्धारण के लिए पुरोहितों व नाइयों का महत्त्व कम होता गया, और जन्मपत्री के स्थान पर वर-वधु के गुण, कर्म, स्वभाव की समता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुसार पुरुषों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु २५ है, और स्त्रियों के लिए १६। पर हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, और आर्यसमाज द्वारा उसका घोर विरोध किया जाता था। यद्यपि आर्यसमाजी बाल-विवाह के विरुद्ध थे, पर समय और समाज की परिस्थितियों के कारण अनेक बार उनके लिए अपने विश्वास के अनुसार कार्य कर सकना कठिन भी हो जाता था। ११ अगस्त, १८८४ के 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त्त' में एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक सक्सेना कायस्थ परिवार के तीन बालकों के लिए योग्य वहुओं की आवश्यकता प्रकट की गयी थी। इन बालकों की आयु १६, १४ और १२ वर्ष थी, और ये अजमेर के गवर्नमेण्ट स्कूल के विद्यार्थी थे। इनके पिता आर्यसमाजी थे, और आर्य परिवारों की सजातीय कन्याओं के साथ ही इनका विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। विज्ञापन में उन्होंने स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया था, कि इन बालकों का विवाह तो २५ वर्ष की आयु में ही होगा, पर परिवार के लोगों की इच्छा की पूर्ति के लिए वह इनकी सगाई अभी कर देना चाहते हैं। यह विज्ञापन इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है, कि सभी आर्यसमाजी महर्षि की शिक्षाओं व आदेशों का पालन करने में पण्डित गुरुदत्त के समान कट्टर नहीं थे। पर उस युग के लिए, जबकि बाल-विवाह का सर्वत्र प्रचलन था, यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है, कि छोटी आयु में सगाई की रस्म अदा कर देने के बावजूद आर्यसमाजी लोग २५ वर्ष से कम आयु में अपने पुत्रों के विवाह के लिए किसी भी दशा में तैयार नहीं होते थे।

विधवाओं की दुर्दशा की ओर आर्यसमाज का शुरू से ही ध्यान था। इसीलिए उस द्वारा विधवा विवाह का न केवल समर्थन ही किया जाता था, अपितु उसके लिए आन्दोलन करना भी आर्यसमाज के कार्यकलाप का अन्यतम अंग था। महर्षि के जीवनकाल में ही आर्यसमाजियों ने विधवा विवाह के पक्ष में पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी थीं। ऐसी एक पुस्तिका सन् १८८२ में मुंशी जीवनदास ने प्रकाशित की थी, और एक सन् १८८३ में पण्डित लेखराम ने। इसी समय आर्यसमाजी पत्र-पत्रिकाओं में विधवाओं के विवाहों के समाचार भी छपने लग गये थे। ऐसा एक समाचार 'आर्य' (लाहौर) के मार्च, १८८२ के अंक में प्रकाशित हुआ था, जिसमें खत्री परिवार की एक विधवा के विवाह का उल्लेख है। कौन विधवा पुनर्विवाह के लिए उद्यत है, इस बात की जानकारी प्राप्त कर सकने में अनेकविध कठिनाइयाँ थीं, अतः 'द सोशल रिफार्मर एण्ड मेरिज एडवर्टाइजर' नाम से एक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया, जिसमें पुनर्विवाह के लिए उद्यत विधवाओं की सूची के लिए पूरा एक पृष्ठ नियत था। इस पत्र द्वारा विधवाओं के

पुनर्विवाह में बहुत सहायता मिली, और पंजाब के अनेक आर्यसमाजों में विधवाओं के विवाह उत्साह व धूमधाम के साथ सम्पन्न होने लग गये। अमृतसर आर्यसमाज इस कार्य में सबसे आगे था। १० सितम्बर, १८८५ को वहाँ अरोड़ा जाति की एक विधवा का विवाह धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ, जिसे देखने के लिए सैकड़ों की संख्या में नर-नारी उपस्थित हुए थे। 'आर्यपत्रिका' ने इस विवाह का समाचार देते हुए लिखा था, कि समाज मन्दिर स्त्री-पुरुषों से खचाखच भरा हुआ था, पड़ोस की इमारतों की छतों और छज्जों पर भी स्त्री-पुरुषों की भीड़ थी। सब कोई एक उच्च कुल की विधवा के पुनर्विवाह में दिलचस्पी ले रहे थे। सन् १८८६ में अमृतसर आर्यसमाज में एक ब्राह्मण विधवा का विवाह संस्कार किया गया था, जिसके पिता एक गाँव में पुजारी थे। लाहौर और कोहाट सदृश अन्य नगरों के आर्यसमाजों द्वारा भी अनेक विधवाओं के विवाह कराये गये थे, जिनके समाचार 'आर्यपत्रिका' आदि पत्र-पत्रिकाओं में विद्यमान हैं। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस युग में आर्यसमाज द्वारा 'अक्षतयोनि' बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का ही प्रचार किया जा रहा था, बाल-बच्चों वाली विधवाओं के विवाह का नहीं, क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'अक्षतयोनि' विधवाओं के पुनर्विवाह का ही समर्थन किया है। पर बाद में विधवाओं की दुर्दशा को दृष्टि में रखकर आर्यसमाज ने बड़ी आयु व बाल-बच्चों वाली विधवाओं के विवाह का समर्थन भी प्रारम्भ कर दिया था। २५ फरवरी, सन् १८९४ के 'ट्रिब्यून' पत्र में लाहौर आर्यसमाज के तत्त्वावधान में हुए एक ऐसी विधवा के विवाह का समाचार प्रकाशित है जो बड़ी आयु की थी और जिसकी पहले पति से एक सन्तान भी थी। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही आर्यसमाज द्वारा सब प्रकार की विधवाओं के पुनर्विवाह को वाञ्छनीय समझा जाने लगा था, और सम्भवतः क्रियात्मक दृष्टि से यह बात अनुचित भी नहीं थी।

पुरानी पौराणिक परिपाटी के अनुसार विवाह के अवसर पर अश्लील गीत भी गाये जाते थे और दहेज की प्रथा भी उस समय विद्यमान थी। आर्यसमाज द्वारा इनका विरोध किया गया, और आर्यपरिवारों में विवाह संस्कार के लिए उसी पद्धति को अविकल रूप से अपनाया जाने लगा, जिसका विधान महर्षि ने संस्कारविधि में किया है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि अंत्येष्टि संस्कार के समान विवाह संस्कार में भी आर्य-समाजियों का व्यक्तित्व भिन्न रूप में विकसित होने लगा, और वे पुरानी बिरादरियों से पृथक् होते गये। स्त्री-शिक्षा ने इस पृथक्त्व में विशेष रूप से सहायता पहुँचाई। महर्षि दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य था, कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षित होना चाहिये, और उनकी शिक्षा के लिए भी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिये। उस युग के लिए यह बात भी अत्यन्त क्रान्तिकारी थी और पौराणिकों द्वारा स्त्री-शिक्षा का उग्र रूप से विरोध भी किया जा रहा था। पर उसकी परवाह न कर आर्यसमाज ने कन्याओं की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ स्थापित करनी प्रारम्भ कर दीं। सन् १८८५ तक अमृतसर आर्यसमाज द्वारा तीन कन्या पाठशालाएँ स्थापित की जा चुकी थीं। इसी समय के लगभग लाहौर और जालन्धर के समाजों द्वारा भी कन्या पाठशालाएँ खोली गयीं, और आर्यसमाजों द्वारा सर्वत्र स्त्री-शिक्षा के लिए प्रचार व आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया।

आर्यसमाज की पूजा-पद्धति भी परम्परागत हिन्दू पूजा-पद्धति से अत्यन्त भिन्न थी। उसमें न मन्दिरों के लिए कोई स्थान था, और न उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों व प्रतिमाओं का। निराकार व अजन्मा परमात्मा की पूजा का महर्षि द्वारा प्रतिपादित साधन प्रार्थना, उपासना व संध्या का था, जिसके लिए किसी मन्दिर की आवश्यकता नहीं थी। आर्य लोग न गंगा आदि नदियों में स्नान करने से पापों की मुक्ति की बात स्वीकार करते थे, और न तीर्थयात्रा द्वारा पुण्य लाभ की! वे पाखण्ड का खण्डन करने के लिए सदा उद्यत रहते थे, और पौराणिकों की कितनी ही बातों को वे पाखण्ड समझते थे। इस दशा में उनका सनातनी हिन्दुओं से विरोध हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। यह विरोध निरन्तर बढ़ता गया, और पौराणिक विद्वान् व पण्डित आर्यसमाज को अपने धर्म का प्रधान शत्रु मानने लगे। आर्यसमाज जन्म के कारण न किसी को उच्च मानता था, और न नीच। उसकी दृष्टि में कोई भी मनुष्य अछूत नहीं था। जन्म के ब्राह्मण की उत्कृष्टता आर्यों को स्वीकार्य नहीं थी। आर्य लोग अछूतों व दलितों के उद्धार में तत्पर थे, और शुद्धि द्वारा विधर्मियों को अपने समाज में सम्मिलित करने के लिए प्रयत्नशील थे। स्त्रियों और शूद्रों का भी उन द्वारा उपनयन संस्कार कराया जा रहा था, और वे भी वेदशास्त्रों के पठन-पाठन के अधिकारी हैं, इस मन्तव्य का उन द्वारा प्रचार किया जा रहा था। सनातनी हिन्दुओं से न उनकी सामाजिक क्षेत्र में एकता थी, न पूजा-पद्धति में और न त्यौहारों व संस्कारों में। फिर भी आर्यसमाज अपने को हिन्दू-समाज का अंग मानता रहा, क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रचलित पौराणिक धर्म सत्य सनातन वैदिक धर्म का ही विकृत रूप था, और उनका प्रयत्न था कि इस धर्म में सुधार कर विशुद्ध वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की पुनः स्थापना की जाये। महर्षि के देहावसान के बाद की आधी शताब्दी में आर्यसमाजियों पर पौराणिकों द्वारा कितने ही आक्षेप किये गये। केवल आक्षेप ही नहीं, अपितु उन द्वारा आर्यसमाज के विरुद्ध अनेकविध जघन्य उपायों का भी आश्रय लिया गया, पर यह सब होते हुए भी ब्राह्मण समाज के समान आर्यसमाज ने अपने को हिन्दुओं से पूर्णतया पृथक् कर लेने का कोई प्रयत्न नहीं किया। बाद में वह समय भी आ गया, जबकि सनातनी हिन्दू भी आर्यसमाज को अपना प्रधान संरक्षक मानने लग गये और उसके प्रति उनके विरोध में निरन्तर कमी आती गयी।

(२) पौराणिकों से संघर्ष

आर्यसमाज जिस ढंग से महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के प्रचार के लिए प्रयत्नशील था, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि पौराणिकों में भी जागृति प्रादुर्भूत होने लगी, और वे भी संगठित रूप से अपने धार्मिक विश्वासों को युक्तियों और प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित करने के लिए तत्पर हो गये। महर्षि के भी पौराणिक पण्डितों से अनेक शास्त्रार्थ हुए थे, पर उस समय न महर्षि के अनुयायी संगठित थे और न सनातन धर्मियों के किसी संगठन की तब सत्ता थी। महर्षि के अनुयायी तो सन् १८७६ में आर्यसमाज के रूप में संगठित होने शुरू हो गये थे, पर सनातनियों के संगठनों का निर्माण महर्षि के देहावसान के पश्चात् सन् १८८५ के लगभग प्रारम्भ हुआ। उनका प्रधान संगठन भारत धर्म महामंडल या सनातन धर्म महामंडल था, जिसका केन्द्रीय

कार्यालय वाराणसी में था। पण्डित दीनदयालु इसके प्रधान नेता थे। इसकी शाखाएँ पंजाब के लाहौर, जालन्धर, लुधियाना, होशियारपुर, फिल्लौर आदि विविध नगरों में विद्यमान थीं, और धीरे-धीरे यह मंडल पंजाब में आर्यसमाज के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी की स्थिति प्राप्त करने लग गया था। पौराणिक मन्तव्यों के प्रचार के लिए इस द्वारा व्याख्यान, शास्त्रार्थ, पुस्तिकाओं का प्रकाशन आदि उन्हीं साधनों को प्रयुक्त किया जा रहा था, जिन द्वारा आर्यसमाजी लोग महर्षि के मन्तव्यों के प्रचार में तत्पर थे। मंडल की ओर से भी अनेक उपदेशक व प्रचारक पौराणिक मन्तव्यों के प्रचार के लिए नियुक्त थे। वे मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, अवतारवाद आदि की युक्तियों व प्रमाणों से पुष्टि करते, और आर्यसमाजी विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दिया करते। मंडल द्वारा कितनी ही पुस्तिकाएँ भी पौराणिक मंतव्यों के समर्थन में प्रकाशित की गयीं। पण्डित गोकुलचन्द और स्वामी केशवानन्द सदृश सुयोग्य व उत्साहसम्पन्न साथियों के सहयोग से पण्डित दीनदयालुजी सर्वत्र पौराणिक धर्म की जड़ को मजबूत करने के लिए प्रयत्नशील थे। पण्डित दीनदयालु न केवल संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के विद्वान् ही थे, अपितु लोकप्रिय वक्ता भी थे। उनके व्याख्यानों को सुनकर श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। वे शास्त्रार्थों को अधिक पसन्द नहीं करते थे, और अपने मंतव्यों के प्रतिपादन के लिए प्रभावोत्पादक मधुर वाणी में अधिक विश्वास रखते थे। पर सनातन धर्म महामंडल के सभी प्रचारक पण्डित दीनदयालु जैसे नहीं थे। अनेक सनातनी प्रचारक कलहप्रिय और झगड़ालू प्रकृति के भी थे, और ये आर्यसमाजियों पर झूठे व घृणित आक्षेप करने में भी संकोच नहीं करते थे। ऐसे एक प्रचारक पण्डित गोपीनाथ थे, जो 'अखबारे-आम' के संचालक तथा 'सनातन धर्म गजट' के संपादक थे। वह कश्मीरी पण्डित थे, और उस समय के अन्य कश्मीरी पण्डितों के समान उर्दू लिखने और बोलने में बहुत प्रवीण थे। सनातन धर्म महामंडल में अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाने के लिए उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज पर कटु आक्षेप करना और भरपेट गालियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। उन द्वारा संपादित 'सनातन धर्म गजट' का एन ही कार्य था, आर्यसमाज को गाली देना। पण्डित गोपीनाथ अपने व्याख्यानों और लेखों में आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के लिए भी ललकारते रहते थे। उन दिनों लाला मुंशीराम जालन्धर आर्यसमाज और पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा-दोनों के प्रधान थे। उन्होंने पण्डित गोपीनाथ को पत्र लिखकर सूचना दी कि वह जिस जगह चाहें, आर्यसमाज शास्त्रार्थ के लिए तैयार है। लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर नवम्बर, सन् १८९८ में शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ, जिसका विषय 'मूर्ति-पूजा तथा वेद' था। इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की ओर से लाला मुंशीराम थे, और सनातन धर्म महामंडल की ओर से पण्डित गोपीनाथ। शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा, और उसमें आठ-दस हजार की उपस्थिति होती रही। एक मास बाद जालन्धर में इन्हीं दो विद्वानों में पुनः शास्त्रार्थ हुए, जिनके विषय मृतक श्राद्ध, मूर्तिपूजा और वर्णव्यवस्था थे। लाला मुंशीराम एक कुशल प्रबन्धकर्ता होने के साथ-साथ सुयोग्य विद्वान् एवं कुशल वक्ता भी हैं, यह इन शास्त्रार्थों द्वारा भली-भाँति सिद्ध हो गया, और उनके पाण्डित्य का सिक्का सब कोई मानने लग गये। साथ ही, जनता ने यह भी समझ लिया कि पण्डित गोपीनाथ शास्त्रार्थ में लाला मुंशीराम का मुकाबला कर सकने में

असमर्थ रहे, और उनका बार-बार शास्त्रार्थ के लिए आर्यसमाज को चुनौती देना सर्वथा निरर्थक है। शास्त्रार्थ में आर्यसमाज को परास्त कर सकने में विफल होकर पण्डित गोपीनाथ ने एक जघन्य उपाय का आश्रय लिया। सन् १८९८ की होली के अवसर पर उन्होंने अखबारे आम और सनातन धर्म गजट में 'होली के चुटकले' शीर्षक से आर्यसमाज का मजाक उड़ाया, जो बहुत गन्दा व उत्तेजनाजनक था। इस पर सरकार की ओर से गोपीनाथजी पर मुकदमा चलाया गया, जिसमें उन्हें तीन महीने जेल की सजा हुई। पण्डित गोपीनाथ को इस मुकदमें में जो मुँह की खानी पड़ी थी, उससे उद्विग्न होकर उन्होंने सन् १९०१ में महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज पर अपने पत्र 'अखबारे-आम' में पुनः गन्दे आक्षेप करने शुरू किये, जिनका उत्तर लाला मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' में दिया। इस पर पण्डित गोपीनाथ ने लाला मुंशीराम और उनके सहायक लाला वजीरचन्द पर 'प्रचारक' के लेखों के आधार पर मान-हानि का मुकदमा दायर कर दिया। यद्यपि 'सद्धर्म प्रचारक' लाला मुंशीराम का व्यक्तिगत समाचार-पत्र था, पर यह मुकदमा व्यक्तिगत नहीं रह सका। इसने आर्यसमाज और सनातन धर्म महामंडल के मुकदमें का रूप धारण कर लिया, और जनता उत्सुकता के साथ उसके निर्णय की प्रतीक्षा करने लगी। इसे आर्यसमाज और सनातन धर्म का अदालती शास्त्रार्थ मान लिया गया, और इसे देखने के लिए दूर-दूर से लोग लाहौर आने लगे। मुकदमा लाहौर के फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट मिस्टर कैलवर्ट की अदालत में पेश जा, जिसमें रायजादा भगतराम, लाला रोशनलाल, लाला रामकृष्ण और पण्डित रामभजदत्त चौधरी लाला मुंशीराम के वकील थे, और मिस्टर पैटमैन आदि अनेक वकील पण्डित गोपीनाथ की पैरवी कर रहे थे। सद्धर्म प्रचारक के जिन लेखों के आधार पर यह मुकदमा चलाया गया था, उनसे यह ध्वनि निकलती थी कि पण्डित गोपीनाथ दुराचारी हैं। अदालत में दुराचार के आरोप को सिद्ध करना बहुत कठिन होता है। पर मुंशी करीम बख्श नामक एक व्यक्ति ने लाला मुंशीराम के हाथ में चुपके से कागजों का एक पुलिंदा पकड़ा दिया, जिसमें गोपीनाथ के दुराचारी होने के लिखित प्रमाण विद्यमान थे। मुंशी करीम बख्श ने अदालत में गवाही भी दी, जिसमें उन्होंने यह बताया कि पण्डित गोपीनाथ मद्यपान करते हैं, गौमांस खाते हैं और अनेक वेश्याओं के साथ भी उनका सम्बन्ध है। मजिस्ट्रेट ने मुकदमें के फैसले में लाला मुंशीराम और उनके सहायक को निर्दोष मानते हुए यहाँ तक कह दिया, कि गोपीनाथ एक धोखेबाज आदमी है, जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए हिन्दू जनता को धोखा देता रहा है। लाला मुंशीराम की प्रशंसा करते हुए मजिस्ट्रेट ने यह भी कहा कि एक सार्वजनिक व्यक्ति के आचार-व्यवहार का भंडाफोड़ करके उन्होंने न केवल आर्यसमाज की ही, अपितु सम्पूर्ण हिन्दू जाति की सेवा की है। इस मुकदमे से आर्यसमाज के प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई, और पण्डित गोपीनाथ के लिए जनता को मुँह दिखाना कठिन हो गया।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में पौराणिक लोग आर्यसमाज के सबसे प्रबल विरोधी थे। इसका कारण यह था, कि आर्यसमाज के प्रचार के कारण सनातन धर्म के पण्डितों और ब्राह्मण वर्ग के प्रभाव में निरन्तर कमी आ रही थी, और वैदिक धर्म का एक ऐसा स्वरूप जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा था, जिससे धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के नेतृत्व का अन्त होने लग गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक ही था,

कि पौराणिक पण्डितों द्वारा न केवल अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए ही प्रयत्न किया जाए, अपितु वे महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज पर घृणित आक्षेप भी करने लगे। इस काल में सनातनी लोग महर्षि को किस रूप में पण्डित वर्ग के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे, इसे स्पष्ट करने के लिए पण्डित राममोहन शर्मा द्वारा लिखित 'महामोह-विद्रावण' नामक संस्कृत ग्रन्थ का एक उदाहरण देना पर्याप्त है। महर्षि की काशीयात्रा का विवरण देते हुए इस ग्रन्थ में कहा गया था, कि एक बार भिक्षु वेष धारण किये हुए एक व्यक्ति वहाँ आया, और वह कीचड़ से निकले हुए सूअर के समान धर्म-रूपी वनस्पति का जड़ों को उखाड़ने लगा, तथा काशी आदि पवित्र तीर्थों की भूमि को खोदने लगा। उसके मुख से देवी-देवताओं की निन्दा के शब्द ऐसे निकल रहे थे, मानो सूअर घुर-घुर कर रहा हो। संस्कृत भाषा में लिखी ऐसी पुस्तकों का सर्वसाधारण जनता पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, पर पण्डितमण्डली उन्हें पढ़कर बहुत प्रसन्न होती थी। उस समय आर्यसमाज में संस्कृत के पण्डितों की बहुत कमी थी। महर्षि के शिष्यों में पण्डित भीमसेन और पण्डित ज्वालादत्त प्रधान थे, और उन्होंने महर्षि द्वारा स्थापित पाठशालाओं में ही संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की थी। वेदभाष्य आदि महर्षिकृत ग्रन्थों के मुद्रण व प्रकाशन में भी इनका कर्तृत्व महत्त्व का था। उन्होंने अनुभव किया, कि महामोहविद्रावण सदृश ग्रन्थों का उत्तर देने के लिए कोई ठोस कदम उठाना चाहिये। इसी प्रयोजन से बाबू विश्वेश्वर सिंह के साहाय्य से पण्डित भीमसेन द्वारा जुलाई, १८८६ में 'आर्य धर्म सभा' की स्थापना की गई, और उसकी ओर से 'आर्य सिद्धान्त' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया गया। इस पत्र का सम्पादन पण्डित भीमसेन और पण्डित ज्वालादत्त द्वारा ही किया जाता था। आर्य धर्म सभा का कार्यालय प्रयाग में था, और प्रारम्भ में उसके ३६ सभासद् थे। कोई भी आर्यसमाजी इस सभा का सदस्य बन सकता था, पर सभासदों के लिए संस्कृत का ज्ञान होना आवश्यक रखा गया था। यद्यपि यह सभा देर तक कायम नहीं रह सकी, और आर्यसिद्धान्त पत्र भी कुछ वर्ष बाद बन्द हो गया, पर संस्कृतज्ञ आर्य विद्वान् उस समय पौराणिक पण्डितों के आक्षेपों का पण्डितों के ढंग पर उत्तर देने के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील थे, यह बात इससे भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

कुछ समय पश्चात् पौराणिकों ने आर्यसमाज के विरोध के पुराने ढंग को परिवर्तित किर दिया और सनातन धर्म महामंडल की स्थापना कर व्याख्यानों तथा पुस्तिकाओं द्वारा अपने मन्तव्यों के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ किया। मंडल की शाखाएँ स्थान-स्थान पर स्थापित की गईं, और उन द्वारा उपदेशकों व प्रचारकों की नियुक्ति कर आर्यसमाज का मुकाबला किया जाने लगा। पण्डित दीनदयालु के इस सम्बन्ध में कर्तृत्व का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह बड़े सशक्त ढंग से मूर्तिपूजा तथा श्राद्ध आदि पौराणिक मन्तव्यों का प्रतिपादन करते थे, और उनके व्याख्यानों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता था। पर पण्डित गुरुदत्त और स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती सदृश आर्य विद्वान् सनातन धर्म महामंडल के प्रचार के उत्तर में व्याख्यान देने में सदा जागरूक रहते थे, जिसके कारण पंजाब के लाहौर आदि नगरों में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था, जिसमें लोग दोनों पक्षों की युक्तियों को ध्यानपूर्वक सुनते थे और सत्यासत्य का स्वयं निर्णय करने का प्रयत्न किया करते थे। अपने मन्तव्यों का प्रचार

करते हुए अब पौराणिक पण्डितों ने भी गाली-गलौच की अपेक्षा प्रमाणों और युक्तियों का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया था, यद्यपि उनके तर्क की तुलना में आर्यसमाजी विद्वानों के तर्क अधिक प्रबल होते थे, और इसीलिए जनता पर उनका अधिक प्रभाव पड़ता था। पौराणिकों और आर्यसमाजियों के इसी संघर्ष के कारण उस युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें स्थान-स्थान पर सनातन धर्म महामंडल और आर्यसमाज के प्रतिनिधियों में शास्त्रार्थ हुआ करते थे, और उनके कारण हिन्दुओं में एक नये ढंग की चेतना का प्रादुर्भाव होने लग गया था। साथ ही, जहाँ कहीं पौराणिक लोग प्रचार का आयोजन करते, आर्यसमाजी भी वहाँ पहुँच जाते थे और सनातनी मन्तव्यों का खण्डन प्रारम्भ कर देते थे। ऐसी कुछ घटनाओं तथा शास्त्रार्थों का यहाँ उल्लेख करना उस संघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी है, जो इस काल में पौराणिकों और आर्यसमाजियों में हो रहा था।

सन् १८८९ के एप्रिल मास में वृन्दावन में एक मेला था, जिसमें सनातन धर्म महामंडल द्वारा धर्म-प्रचार का आयोजन किया गया। दूर-दूर से पौराणिक पण्डितों को इसके लिए वृन्दावन निमन्त्रित किया गया था। मथुरा आर्यसमाज की ओर से मंडल के प्रचार-कार्य का जवाब देने की व्यवस्था की गई, और उसके प्रयत्न से २०० के लगभग आर्य सज्जन वृन्दावन में एकत्र हो गये। वहाँ उन्होंने अपना पृथक् मण्डप बना लिया, जिसमें आर्य विद्वानों के व्याख्यान होने लगे। स्वामी स्वात्मानन्द सरस्वती के प्रवचनों की वृन्दावन में धूम मच गई, और वृन्दावन जैसे पौराणिक धर्म के गढ़ में भी आर्यसमाज का ध्वजा फहराने लगी। पण्डित दीनदयालु के अतिरिक्त सनातन धर्म महामंडल के एक अन्य विद्वान् नेता थे, जिनका नाम स्वामी केशवानन्द था। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, और साथ ही कुशल वक्ता भी थे। साधुओं की एक मण्डली उनके साथ रहा करती थी। स्वामीजी की सवारी चार घोड़ों की गाड़ी में निकला करती थी, जिसके आगे-पीछे गेरुआ वस्त्र धारण किये साधु-संन्यासी चला करते थे। वह जहाँ कहीं जाते, उनकी शान को देखकर जनता बहुत प्रभावित होती। स्वामी केशवानन्द सन् १८८९ में प्रचार के मैदान में उतरे थे। वह जिस धूमधाम से पौराणिक धर्म का प्रचार कर रहे थे, आर्यसमाजियों के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ। लाहौर में उनके व्याख्यानों के उत्तर में पण्डित गुरुदत्त, स्वामी स्वात्मानन्द, लाला मुरलीधर और मास्टर दुर्गाप्रसाद आदि आर्य विद्वानों के व्याख्यान हुए, जिनके कारण स्वामी केशवानन्द का प्रभाव कम हो गया। रावलपिण्डी, अमृतसर आदि वहाँ कहीं भी वह प्रचार के लिए जाते, आर्यसमाजी भी वहाँ पहुँच जाते और स्वामीजी के किये कराये पर पानी फेर देते। पौराणिकों और आर्यसमाजियों के इस संघर्ष का प्रभाव उस युग के संभ्रान्त वर्ग पर भी पड़ना प्रारम्भ हो गया था। हिमाचल प्रदेश में मण्डी नाम की एक रियासत थी। उसके राजा दिसम्बर, १८८९ में जालन्धर आये। वहाँ उन्होंने सनातन धर्म महामंडल तथा आर्यसमाज दोनों को निमन्त्रित किया। दोनों के प्रतिनिधि राजा साहब से मिलने के लिए उनके डेरे पर गये। सनातनियों की ओर से उन्हें यज्ञोपवीत और इलायची भेंट की गई, और आर्यसमाज की ओर से ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश। औपचारिक भेंट के पश्चात् धर्मचर्चा प्रारम्भ हुई, जिसमें सनातनी और आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा अपने-अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत किया गया।

अगले दिन आर्यसमाज के पण्डित मनीराम तथा सनातनी पण्डित श्रीकृष्ण का संस्कृत तथा हिन्दी में शास्त्रार्थ भी हुआ, जिसमें आर्यसमाज की युक्तियों से मण्डी नरेश पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस समय जो चर्चा मण्डी के राजा साहब के सम्मुख हुई, उसकी एक बात उल्लेखनीय है। सनातनी पण्डित ने राजा साहब के लिए जब 'वेदमूर्ति' विशेषण का प्रयोग किया, तो आर्यसमाज के पण्डित ने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा, कि वेदमूर्ति केवल ईश्वर ही है, अतः किसी अन्य के लिए इस शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। इस बात से मण्डी नरेश बहुत प्रभावित हुए, क्योंकि इससे आर्यसमाजियों की स्वतन्त्र प्रकृति तथा सिद्धान्त-प्रेम परिलक्षित होता था।

प्रारम्भ में आर्यसमाज के पास वेदशास्त्रों के गम्भीर विद्वानों की कमी थी। महर्षि के देहावसान के पश्चात् उनके अनुयायियों में कोई भी ऐसा नहीं था, जिसे संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित कहा जा सके। महर्षि के अन्यतम शिष्य पण्डित भीमसेन को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था, पर वह धीरे-धीरे आर्यसमाज से दूर हटते चले गये थे, और उन्होंने मांस-भक्षण का समर्थन भी प्रारम्भ कर दिया था। बाद में उन्होंने आर्य-सिद्धान्त पत्र को बन्द कर 'ब्राह्मण सर्वस्व' पत्र प्रकाशित करना शुरू किया, जिसमें कि जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था का समर्थन किया जाता था, और अन्य पौराणिक मन्तव्यों की भी पुष्टि की जाती थी। इसी प्रकार महर्षि के अन्य अनेक शिष्य व अनुयायी भी समयान्तर में आर्यसमाज से पृथक् हो गये, जिसके कारण ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम हो गई, जो पौराणिक पण्डितों तथा अन्य विधर्मी विद्वानों से योग्यतापूर्वक शास्त्रार्थ कर सकें। पर इससे आर्यसमाजी निराश नहीं हुए। संस्कृत भाषा में विशेष योग्यता न रखने वाले आर्य सभासदों ने भी सत्यार्थप्रकाश आदि महर्षिकृत ग्रन्थों का अध्ययन कर स्वयं विपक्षियों से शास्त्रार्थ करना शुरू कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के नौवें दशक में अनेक ऐसे शास्त्रार्थ हुए, जिनमें आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व साधारण आर्य सभासदों द्वारा किया गया था। पर यह दशा देर तक नहीं रही। शीघ्र ही आर्यसमाज के कतिपय ऐसे प्रचारक मैदान में आ गये, जो संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनमें स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी नित्यानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, पण्डित गणपति शास्त्री, पण्डित आर्यमुनि, पण्डित तुलसीराम स्वामी, मास्टर आत्माराम और पण्डित पूर्णानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में इनके महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व का उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया गया है। यहाँ इनके नामों के उल्लेख का प्रयोजन केवल यह है, कि पौराणिकों से जो शास्त्रार्थ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में हुए, उनमें आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व प्रायः इन्हीं द्वारा किया गया था और इन्हीं के प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण सनातन धर्म महामण्डल सदृश पौराणिक संगठनों के पण्डित अपने प्रचार-कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सके थे। यह बात महत्त्व की है, कि आर्यसमाज से निरन्तर सम्पर्क में आते रहने के कारण पौराणिक पण्डितों को भी अपने मन्तव्यों की नवीन व्याख्या करने के लिए विवश होना पड़ा था। अब वे मूर्तिपूजा का यह कहकर समर्थन करने लगे, कि मूर्ति भगवान् की प्रतीक मात्र है, और मूर्ति की पूजा से उपास्य परमेश्वर में ध्यान लगाने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार अन्य मन्तव्यों की भी वे इस ढंग से व्याख्या करने लगे, जिसे पूर्णतया असंगत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ, कि

कालान्तर मेंसनातनियों और आर्यसमाजियों में विरोध कम होता गया। नये ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के कारण पौराणिकों ने अपनी सामाजिक प्रथाओं, विश्वासों और रूढ़ियों में भी परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज से उनकी दूरी निरन्तर कम होती गई।

(३) देवसमाज से संघर्ष

उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण में पंजाब के आर्यसमाज को जिन विरोधियों से संघर्ष करना पड़ा, देवसमाज भी उनमें एक था। इस समाज के संस्थापक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री थे। उनका जीवन एक स्कूल मास्टर के रूप में प्रारम्भ हुआ था। लाहौर में निवास करते हुए वह ब्राह्मसमाज के सम्पर्क में आये थे, और उसके सदस्य हो गये थे। धीरे-धीरे ब्राह्मसमाज में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, और उनकी गिनती पंजाब के ब्राह्मसमाजी नेताओं में होने लगी। सन् १८७७-७८ में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती लाहौर में थे, अग्निहोत्री जी का भी उनसे सम्पर्क हुआ था। उन्हें महर्षि तथा आर्यसमाज के मन्तव्य स्वीकार्य नहीं थे, और वह उनका उग्र रूप से विरोध करने में तत्पर हो गये थे। 'बिरादरे हिन्द' नाम से वह एक मासिक पत्र प्रकाशित किया करते थे, जिसमें वह आर्यसमाज के विरुद्ध लेख लिखते थे, और पुस्तिकाओं तथा व्याख्यानों द्वारा भी महर्षि के मन्तव्यों का विरोध करते रहते थे। सन् १८७९ में वह ब्राह्मसमाज के प्रचारक हो गये थे, और अपना सब समय उस समाज के प्रचार-कार्य में लगाने लग गये थे। ब्राह्मसमाज के लिए उन्हें इतनी लगन थी, कि २० दिसम्बर, सन् १८८२ के दिन उन्होंने सांसारिक जीवन की सब उत्तरदायिताओं की उपेक्षा कर संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लिया था। संन्यासी बन जाने पर उनका नाम शिवनारायण अग्निहोत्री के स्थान पर सत्यानन्द अग्निहोत्री हो गया था, और ब्राह्मसमाज में उन्हें अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा था। सत्यानन्दजी चाहते थे, कि वह पंजाब में समाज के सर्वोच्च नेता की स्थिति प्राप्त कर लें। पर इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्य प्रमुख ब्राह्मसमाजियों से उनका विरोध हो गया, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८८४ में उन्होंने समाज से अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया। पर धर्मगुरु बनने की उनकी जो महत्त्वाकांक्षा थी, ब्राह्मसमाज से पृथक् हो जाने पर उसका अन्त नहीं हो गया। अब उन्होंने हिन्दुओं के एक ऐसे सम्प्रदाय व पन्थ के प्रवर्तन का निश्चय किया, जिसमें उनकी स्थिति 'गुरु' की हो और सब कोई उन्हें निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करें। १० फरवरी, १८८४ के दिन सत्यानन्द अग्निहोत्रीजी द्वारा 'देवसमाज' नाम से एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की औपचारिक रूप से घोषणा कर दी गई। इस समाज के तीन प्रकार के सदस्य रखे गये, सहायक सदस्य जो १० रुपये वार्षिक चन्दा देते हों और जिन्हें अग्निहोत्रीजी का नेतृत्व स्वीकार हो, नवजीवनयाफ्ता सदस्य, जो आमदनी का दसवाँ हिस्सा चन्दा दें और देवसमाज के मन्तव्यों के अनुसार जीवन बिताने को उद्यत हों, और तीसरे प्रकार के वे सदस्य जो 'देवधर्म' के प्रचार के लिए अपना तन-मन-धन समर्पित कर देने की शपथ ग्रहण करें। सत्यभाषण, सदाचारमय पवित्र जीवन, निरामिष भोजन, मद्यसेवन का परित्याग और इसी प्रकार अन्य नैतिक बातों पर देवसमाज में बहुत जोर दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि देवसमाज के ये मन्तव्य भारत की प्राचीन धार्मिक

परम्परा के अनुकूल थे, किसी भी हिन्दू को इनसे विरोध नहीं हो सकता था। पर श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री किसी ग्रन्थ को प्रमाण रूप से स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। उनका कथन था, कि वही सच्चे गुरु हैं और सबको उन्हीं का अनुसरण करना चाहिये। वह स्वयं प्रमाणरूप हैं, और वही सब धर्म व नैतिक शिक्षाओं के मूल स्रोत हैं। देव-समाजियों को उन्हीं के कथन को प्रमाणरूप से स्वीकार करना चाहिये, किसी अन्य ग्रन्थ की उनके समाज में कोई प्रामाणिकता नहीं थी। क्योंकि अग्निहोत्रीजी ब्राह्मसमाज के नेता रह चुके थे, और पंजाब के लोग एक धर्म-प्रचारक के रूप में चिरकाल से उनसे परिचित थे, अतः अपने नये सम्प्रदाय के प्रचार में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई। बहुत-से लोग उनके समाज में सम्मिलित हो गये, और उन्हें धन की भी कोई कमी नहीं रही। शीघ्र ही, लाहौर में देवसमाज का एक विशाल भव्य मन्दिर बनकर तैयार हो गया, और उसे केन्द्र बनाकर पंजाब के अन्य नगरों में भी देवसमाजों की स्थापना होने लगी। वहाँ से ऐसा बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित किया जाने लगा, जिसमें देवसमाज के मन्तव्यों का आकर्षक रूप में प्रतिपादन किया जाता था। श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री यह भली-भाँति जानते थे, कि उनके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा आर्यसमाज है। महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुडम के प्रबल विरोधी थे, और वेदों को वह स्वतःप्रमाण मानते थे। उनके अनुयायी व शिष्य किसी ऐसे धार्मिक आन्दोलन को सहन नहीं कर सकते थे, जो किसी व्यक्ति को गुरु व प्रमाणरूप मानता हो, और जिस में वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार न किया जाता हो। अग्निहोत्रीजी को ज्ञात था, कि उनके देवसमाज का सबसे प्रबल विरोध आर्यसमाज द्वारा किया जायेगा, अतः उन्होंने महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज पर अनेकविध आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये। उन्होंने आर्यसमाज के विरोध में अठारह पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं, जिनमें दयानन्दी वेदों में जिनाकारी की तालीम, पण्डित दयानन्द का संन्यास, पण्डित दयानन्द का नया पन्थ, दयानन्द का कलजुगी धर्म, वैदिक महापोप, महापोपों की समाज और पण्डित दयानन्द का पाखण्ड उल्लेखनीय हैं। इनमें किस ढंग के गन्दे आक्षेप महर्षि तथा आर्यसमाज पर किये गये थे, इसका कुछ अनुमान इन पुस्तिकाओं के नामों से ही किया जा सकता है। श्री अग्निहोत्री अपने समाचार-पत्र तथा व्याख्यानों द्वारा भी महर्षि और आर्यसमाज पर कीचड़ उछालने में तत्पर थे। आर्यसमाजियों के लिए भी इस दशा में चुप रह सकना सम्भव नहीं था। लाला राधाकिशन, लाला मुरलीधर, श्री दुर्गा प्रसाद और पण्डित रामभजदत्त चौधरी आदि आर्य विद्वानों ने भी अग्निहोत्रीजी की पुस्तिकाओं के उत्तर में अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं और आर्यसमाज तथा देवसमाज का विरोध निरन्तर अधिकाधिक उग्र रूप धारण करता गया। इस उग्रता का एक कारण यह था, कि श्रीसत्यानन्द अग्निहोत्री को महर्षि दयानन्द सरस्वती पर गबन, दुराचार, दम्भ और पाखण्ड के आरोप लगाने में भी संकोच नहीं था। जिस ढंग से गन्दे आक्षेप वह महर्षि पर कर रहे थे, उसे सह सकना किसी भी आर्यसमाजी के लिए सम्भव नहीं हो सकता था।

देवसमाज में सर्वोच्च स्थिति 'गुरु' की थी, और इस समाज के सदस्य श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री को ही अपना गुरु मानते थे। पर वह इतने से भी सन्तुष्ट नहीं थे। सन् १८९२ में अग्निहोत्रीजी ने अपने को 'भगवान् देवात्मा' घोषित कर दिया, और यह उपदेश देना शुरू किया कि देवसमाजियों को ईश्वर के साथ-साथ उनकी (देवात्मा की) भी

पूजा करनी चाहिये । मन्दिर में जैसे मूर्ति की पूजा की जाती है, भक्त लोग जिस ढंग से मूर्ति की आरती उतारते हैं, वैसे ही देवसमाजी सत्यानन्दजी अग्निहोत्री की पूजा करने लगे। किसी मनुष्य की आरती उतारना लोगों के लिए एक नयी बात थी। उसे देखने के लिए सैकड़ों दर्शक एकत्र हो जाया करते थे। पर सत्यानन्दजी के लिए अपने को भगवान् के समकक्ष प्रतिपादित करके भी सन्तोष नहीं हुआ। सन् १८९५ में उन्होंने घोषणा कर दी, कि वह स्वयं भगवान् हैं। उनके अतिरिक्त किसी अन्य परमात्मा या भगवान् की सत्ता नहीं है और देवसमाजियों को केवल उन्हीं की परमगुरु या 'भगवान् देवात्मा' के रूप में पूजा करनी चाहिये। परमात्मा की सत्ता को न मानने के कारण अब देवसमाज एक नास्तिक सम्प्रदाय बन गया, और गुरु (भगवान् देवात्मा) सत्यानन्द अग्निहोत्री से उच्चतर किसी सत्ता के लिए देवसमाज में स्थान नहीं रह गया। पर पंजाब में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो गुरुडम में विश्वास रखने वाले इस नास्तिक सम्प्रदाय के भी अनुयायी थे। इसका कारण यह था, कि इस समाज के अनेक मन्तव्य समय की प्रवृत्तियों के अनुकूल तथा प्रगतिशील थे। देवसमाज में सामाजिक ऊँच-नीच व छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं था, जातिभेद का वह विरोध करता था, बालविवाह और परदा प्रथा के वह विरुद्ध था, स्त्री-शिक्षा का वह पक्षपाती था और बालकों व बालिकाओं की सह-शिक्षा का वह समर्थन करता था। सदाचार और नैतिक आदर्शों पर वह बल देता था, और विवाह आदि में धन का अपव्यय करने का वह विरोध करता था। हिन्दुओं के लिए किसी को गुरु मान लेना कोई नयी बात नहीं थी। अग्निहोत्रीजी को भी गुरु मानने में उन्हें विशेष विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती थी। पर ईश्वर की सत्ता से इंकार करना एक ऐसी बात थी, जिसे स्वीकार कर लेना हिन्दुओं के लिए सुगम नहीं था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि देवसमाज जन आन्दोलन का रूप ग्रहण नहीं कर सका, और उसके प्रचार में विशेष बल व आकर्षण नहीं रह गया। यही कारण है, कि आर्यसमाज को उसका विरोध करने व उसके मन्तव्यों का खण्डन करने की अधिक आवश्यकता नहीं रह गई, और उसके प्रभाव में निरन्तर कमी आती गई। सन् १९११ की जनगणना के अनुसार देवसमाजियों की कुल संख्या २५०० के लगभग थी, जो आर्यों की जनसंख्या की तुलना में सर्वथा नगण्य थी।

(४) आर्यसमाज और अन्य धार्मिक सम्प्रदाय

महर्षि दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए जब लाहौर गये थे, तब वहाँ दो धार्मिक सम्प्रदाय अपनी शक्ति की वृद्धि में विशेष रूप से तत्पर थे, ब्राह्मसमाज और क्रिश्चिएनिटी। उस समय तक ब्राह्मसमाज का भारत की प्राचीन धार्मिक परम्पराओं के साथ सम्बन्ध विद्यमान था, यद्यपि उसके नेता समाज सुधार आदि के लिए पाश्चात्य जगत् एवं क्रिश्चियन मिशनरियों से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे। महर्षि दयानन्द भी सामाजिक कुरीतियों के निवारण तथा धार्मिक अन्धविश्वासों के खण्डन में तत्पर थे, अतः प्रारम्भ में पंजाब के ब्राह्मसमाजियों ने उनका स्वागत किया और अपने सत्संगों में उन्हें भाषण देने के लिए निमन्त्रित भी किया। पर ब्राह्मसमाजियों और महर्षि के मन्तव्यों में अनेक ऐसी मौलिक भिन्नताएँ थीं, जिनके कारण उनमें पारस्परिक सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका। महर्षि के लाहौर आगमन से पूर्व पंजाब में ब्राह्मसमाज ही एकमात्र ऐसा धार्मिक

संगठन था, जो बालविवाह सदृश सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रचार करने में तत्पर था, और जिसके मन्तव्य नये ज्ञान-विज्ञान व आधुनिक शिक्षा से प्रभावित थे। उस द्वारा ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ भी स्थापित की जा रही थीं, जिनमें नये ज्ञान-विज्ञान के पठन-पाठन की व्यवस्था थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पंजाब के युवक उसकी ओर आकृष्ट होने लगें। पर आर्यसमाज की स्थापना के कारण इस दशा में परिवर्तन आने लगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा जिस धार्मिक आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया था, उसमें जहाँ नयी रोशनी और आधुनिक प्रगतिशील विचारधारा के सब तत्त्व विद्यमान थे, वहाँ साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं को भी उसमें समुचित स्थान प्राप्त था। परम्परागत हिन्दू समाज के अंग रहते हुए और प्राचीन आर्य धर्म में अगाध आस्था रखते हुए भी उस द्वारा आधुनिकता के सब लाभ प्राप्त किये जा सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब के युवक आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने लगे और ब्राह्मसमाज के प्रति उनके झुकाव में कमी आती गयी। ब्राह्मसमाजियों के लिए इससे उद्विग्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज पर आक्षेप करने शुरू कर दिये, और इसके लिए व्याख्यानों के आयोजन के साथ-साथ ऐसी पुस्तिकाओं का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया जिनमें महर्षि के मन्तव्यों की उग्र रूप से आलोचना की जाती थी। उस समय पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री पंजाब के ब्राह्म-समाज के मुख्य नेता थे और उनके प्रधान सहायक लाला काशीराम थे। इन दोनों ने समाचार-पत्रों में लेख लिखकर, पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर और स्थान-स्थान पर व्याख्यान देकर आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया, और बंगाल के ब्राह्मसमाजी नेता भी पंजाब आकर इस कार्य में उनकी सहायता करने लगे। इस दशा में आर्य-समाजियों ने भी उनके आरोपों का उत्तर देने और उनके मन्तव्यों की त्रुटियों को प्रदर्शित करने के लिए पुस्तिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। ये पुस्तिकायें प्रधान-तया लाला राधाकिशन और लाला मनोहर लाल द्वारा लिखी गयी थीं। इनकी पहली पुस्तिका "असरार ब्राह्म पन्थ" थी, जो सन् १८८६ में प्रकाशित हुई थी। इसमें ब्राह्म प्रचारकों द्वारा आर्यसमाज पर किये जा रहे आरोपों का मुँह तोड़ उत्तर दिया गया था। इसके बाद जो अन्य पुस्तिकाएँ लाला राधाकिशन ने स्वयं या लाला मनोहर लाल के सहयोग से लिखीं, उनमें "ब्राह्मसमाज की असलियत" तथा 'आर्यसमाज और ब्राह्म-समाज की तालीम' उल्लेखनीय हैं। पुस्तिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं और व्याख्यानों द्वारा आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज जो एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार में तत्पर थे, उसके कारण इन दोनों संस्थाओं में विरोध निरन्तर बढ़ता गया। वे कौन से कारण थे, जिनसे आर्यसमाज राजा राममोहनराय द्वारा स्थापित मन्तव्यों को देश और जाति के लिए हानिकारक समझता था, यह ४ जुलाई, १८८५ के आर्य पत्रिका के एक लेख से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इस लेख में यह कहा गया था कि राजनीतिक दृष्टि से तो हम विदेशियों द्वारा परास्त कर ही दिये गये हैं, पर सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा क्यों न करें? हम अपनी उन प्रथाओं, मान्यताओं और रीति-रिवाजों का क्यों परित्याग कर दें, जो विदेशी प्रथाओं आदि की तुलना में यदि अधिक उत्कृष्ट न हों तो हीन भी नहीं हैं। हमारी संस्कृति सब प्रकार से उत्तम व आदर्श है, केवल हमारा अपना ही अधःपतन हो गया है। अतः हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये

कि अपनी प्रथाओं, रीति-रिवाजों और मान्यताओं में आस्था रखते हुए अपने सुधार का प्रयत्न करें। ब्राह्मसमाज पर आर्यसमाज का मुख्य आक्षेप यही था कि उसके अनुयायी अपनी संस्कृति तथा परम्पराओं का परित्याग कर पाश्चात्य लोगों तथा ईसाइयों का अन्धानुकरण करने में तत्पर हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का यह मन्तव्य था कि हिन्दू समाज में जो बुराइयाँ इस समय विद्यमान हैं, जो अन्ध-विश्वास इस देश में प्रचलित हो गये हैं, धर्म ने जिस ढंग से पाखण्ड का रूप प्राप्त कर लिया है, उसका एक मात्र कारण यह है कि सत्य सनातन वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के वास्तविक विशुद्ध रूप को हम भूल गये हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे पुनः स्थापित किया जाए। उसका परित्याग कर विदेशी व विधर्मी मान्यताओं व संस्कृति को अपना लेने का यही परिणाम होगा कि हम सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में भी दूसरों के गुलाम हो जाएँगे।

पर आर्यसमाज को ब्राह्मसमाज से संघर्ष करने की देर तक आवश्यकता नहीं रही। पंजाब और समीपवर्ती अन्य प्रदेशों में ब्राह्मसमाज का प्रभाव निरन्तर घटता गया, और उसके अनुयायियों में निरन्तर कमी होती गयी। इसके अनेक कारण थे। ब्राह्मसमाज का नेतृत्व मुख्यतया बंगालियों के हाथों में था, जिनका पंजाब में प्रवेश अंग्रेज विजेताओं के साथ हुआ था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब पंजाब पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो वहाँ के प्रशासन के सम्भालने में सहायता के लिए वे बंगालियों को अपने साथ ले गये, क्योंकि उस समय बंगाल को अंग्रेजों के अधीन हुए तीन चौथाई सदी बीत चुकी थी, जिसके कारण बहुत-से बंगाली अंग्रेजी भाषा सीख गये थे। अंग्रेजी शासन में आ जाने के पश्चात् पंजाब में बहुत-से बंगाली कर्मचारी नियुक्त किये गये, और शिक्षा, वकालत, चिकित्सा आदि के कार्य भी मुख्यतया बंगालियों द्वारा किये जाने लगे। यह बात पंजाबियों को पसन्द नहीं थी। पंजाब में ब्राह्मसमाज का प्रवेश बंगालियों द्वारा ही हुआ था, अतः इस धार्मिक आन्दोलन के प्रति भी पंजाबियों का विशेष झुकाव नहीं था। वे इसका सम्मान व समर्थन अवश्य करते थे, क्योंकि इस द्वारा समाज सुधार के लिए प्रयत्न और प्रगतिशील विचारों के पक्ष में आन्दोलन किया जा रहा था। पर जब आर्यसमाज ने पंजाब में कार्य प्रारम्भ किया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वहाँ के लोग एक ऐसे आन्दोलन के प्रति आकृष्ट होने लगें, जिसका संचालन मुख्यतया पंजाबियों द्वारा ही किया जा रहा था, जिसके मन्तव्य अत्यन्त प्रगतिशील थे और जो सामाजिक सुधारों के प्रतिपादन के लिए उन धर्मग्रन्थों का आश्रय ले रहा था जिन पर परम्परागत रूप से उनकी असीम श्रद्धा थी। परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मसमाज का वर्चस्व कम होता गया, और पंजाब के शिक्षित वर्ग पर आर्यसमाज के प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती गयी।

ब्राह्मसमाज और देवसमाज के जिन आन्दोलनों व सम्प्रदायों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे अधिक पुराने नहीं थे। उनका प्रादुर्भाव उन्नीसवीं सदी में ही हुआ था। पर सिक्ख पन्थ के रूप में एक अन्य सम्प्रदाय की पंजाब में सत्ता थी, जिसे प्रारम्भ हुए कई सदियाँ बीत चुकी थीं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में अन्य हिन्दू सम्प्रदायों की समीक्षा करते हुए सिक्ख मत पर भी विचार-विमर्श किया है। अन्य अनेक हिन्दू सम्प्रदायों की तुलना में इस मत में कुरीतियों व

अन्धविश्वासों की कुछ कमी अवश्य थी। जिस ढंग का जातिभेद और सामाजिक ऊँच-नीच व छूत-अछूत का भेद-भाव सनातनी हिन्दुओं में था, वैसा सिक्खों में नहीं था। वे मनुष्य-मात्र की समता में विश्वास रखते थे, ईश्वर को निराकार मानते थे, और अपने मन्दिरों (गुरुद्वारों) में देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित नहीं करते थे। महर्षि के सुधारवादी व प्रगतिशील मन्तव्य उन्हें अपने विचारों के अनुकूल प्रतीत होते थे और आर्यसमाजी भी यह स्वीकार करते थे कि मध्य युग में सिक्ख गुरुओं ने हिन्दूधर्म और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह के बलिदान की चर्चा आर्य विद्वानों द्वारा बड़े सम्मान के साथ की जाती थी। इस दशा में यदि सिक्ख और आर्यसमाजी एक दूसरे के प्रति सहानुभूति व सहयोग की भावना रखने लगे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। महर्षि जब धर्म-प्रचार करते हुए पंजाब का भ्रमण कर रहे थे, तो अनेक सिक्खों ने उनके साथ सहयोग किया था। भाई जवाहर सिंह इनमें मुख्य थे। महर्षि की शिक्षाओं में उनका विश्वास था। लाहौर में जब आर्यसमाज की स्थापना हुई, तो जवाहरसिंह न केवल उसके सभासद् ही बने, अपितु उसके मन्त्री भी नियुक्त हुए। दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलिज के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से जो समिति बनायी गयी थी, भाई जवाहरसिंह उसके भी मन्त्री थे। कुछ समय वह परोपकारिणी सभा के भी सदस्य रहे थे। भाई दत्तसिंह ज्ञानी, भाई मायासिंह और भगत लक्ष्मणसिंह सदृश कितने ही अन्य सिक्ख भी आर्यसमाज के सदस्य बन गये थे, क्योंकि वे भली-भाँति अनुभव करते थे कि महर्षि द्वारा जिस आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया है, वह वस्तुतः हिन्दू जाति के हित-कल्याण के लिए है।

पर सिक्खों और आर्यसमाजियों में सद्भावना व सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका। शीघ्र ही उनमें विरोध का प्रादुर्भाव हो गया। आर्यसमाजी प्रचारक जिस ढंग से महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार कर रहे थे, उसमें वे मूर्ति-पूजा के सब प्रकारों का विरोध किया करते थे। सिक्ख देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा तो नहीं करते थे, पर गुरु ग्रन्थ साहब की वे प्रायः उसी ढंग से पूजा करते थे, जैसे लोकोत्तर सत्ताओं की की जाती है। आर्यसमाज को यह अनुचित प्रतीत होता था। गुरुद्वारों में गुरु ग्रन्थ साहब के सम्मुख जो मत्था टेका जाता है, वह भी आर्यसमाजियों की दृष्टि में मूर्ति-पूजा का ही एक प्रकार था। आर्यसमाजी प्रचारक यह भी कहते थे, कि वेदशास्त्रों की शिक्षाओं व मन्तव्यों को अधिगत करने के लिए संस्कृत पढ़ना अनिवार्य है। संस्कृत में पाण्डित्य प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति धर्म के सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। क्योंकि नानक सदृश गुरु संस्कृत के पण्डित नहीं थे, अतः उनकी शिक्षाओं व शब्दों का वह महत्त्व नहीं हो सकता जो प्राचीन ऋषि-मुनियों की सूक्तियों का है। आर्य प्रचारकों का यह भी कहना था, कि सिक्ख लोग समय की परिस्थितियों के अनुसार अपने को परिवर्तित नहीं कर रहे हैं। नये ज्ञान-विज्ञान के आलोक के प्रभाव से पुरानी मान्यताओं और प्रथाओं में जो महत्त्वपूर्ण व क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, सिक्ख अभी तक उनसे अछूते हैं। आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों और अन्य अवसरों पर जब सिक्खों की भी आलोचना की जाने लगी, तो यह सिक्खों को अच्छा नहीं लगा। २५ नवम्बर, सन् १८८८ के दिन लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्री गुरुदत्त ने विविध मत-मतान्तरों की आलोचना करते हुए अपना यह मत प्रकट किया

था, कि अन्य सब सुधारक व सन्त महर्षि दयानन्द सरस्वती की तुलना में बहुत पीछे हैं। इस प्रसंग में उन्होंने केशवचन्द्र सेन के साथ गुरु गोविन्दसिंह का नाम भी ले दिया था। इसी सभा में पण्डित लेखराम और लाला मुरलीधर ने भी श्री गुरुदत्त के विचार के समर्थन में भाषण दिये। सिक्ख पंथ की आलोचना को सुनकर सिक्खों को कितना उद्वेग हुआ, इसका अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि भाई जवाहरसिंह, भाई दत्तसिंह ज्ञानी और भाई मायासिंह ने इसके तुरन्त बाद लाहौर आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और वे सिंह सभा के सभासद् बन गये। उस समय तक सिक्खों में भी जागृति का प्रादुर्भाव होना शुरू हो चुका था और उन्होंने भी सिंह सभा के रूप में अपना संगठन बना लिया था। वार्षिकोत्सव के समाप्त होने के कुछ दिन बाद ही सिक्खों ने भी लाहौर में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया, और उसमें आर्यसमाज की कटु आलोचना की गयी। इस आलोचना के प्रधान लक्ष्य पण्डित गुरुदत्त थे। धीरे-धीरे आर्यसमाजियों और सिक्खों में वैमनस्य बढ़ता गया और सार्वजनिक सभाओं के अतिरिक्त पुस्तिकाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी दोनों एक-दूसरे की आलोचना करने में तत्पर हो गये। आर्यसमाज द्वारा हिन्दुओं में अपने धर्म व संस्कृति के प्रति गौरव की जो भावना प्रादुर्भूत की जा रही थी, सामाजिक कुरीतियों के निवारण और सुधार के लिए जो आन्दोलन चलाये जा रहे थे और अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा था, सिक्ख लोगों पर भी उसका प्रभाव पड़ा और वे भी अपने को संगठित करने तथा पृथक् रूप से अपना विकास करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। सिक्खों में जो नव-चेतना उत्पन्न होनी शुरू हुई, आर्यसमाज का भी उसमें परोक्ष कर्तृत्व था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार करते हुए आर्यसमाज को जिन विधर्मियों के विरोध का सामना करना पड़ा, क्रिश्चियन मिशनरी उनमें मुख्य थे। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना का प्रारम्भ अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था। ज्यों-ज्यों इस देश में ब्रिटिश प्रभुत्व का विस्तार होता गया, क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार-क्षेत्र में भी वृद्धि होती गयी। भारत में जो विविध ईसाई मिशन स्थापित थे, वे केवल अपने धर्म का ही प्रचार नहीं करते थे, अपितु पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की उत्कृष्टता का भी प्रतिपादन किया करते थे। भारतीय धर्मों को वे हीन दृष्टि से देखते थे, और यह प्रचार करते थे कि यूरोप के गौरांग लोगों को परमेश्वर ने एशिया और अफ्रीका के निवासियों को सभ्य बनाने का कार्य सुपुर्द किया है। क्रिश्चियन मिशनरियों को अंग्रेजों की राजशक्ति की सहायता प्राप्त थी, क्योंकि उनका प्रचार भारत में विदेशी शासन की जड़ें जमाने में सहायक था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जहाँ भारतीयों को अपने अतीत गौरव का बोध कराया, वहाँ साथ ही यह भी प्रतिपादित किया कि सत्य सनातन आर्य धर्म के मन्तव्य पूर्णतया वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं और उनकी सत्यता से इन्कार कर सकना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत क्रिश्चिएनिटी के मन्तव्य न केवल विज्ञानविरुद्ध ही हैं, अपितु तर्कसंगत भी नहीं हैं। क्रिश्चियन पादरियों से महर्षि के अनेक वार शास्त्रार्थ व विचार-विमर्श हुए थे। उनके देहावसान के पश्चात् आर्यसमाजियों ने इस सिलसिले को जारी रखा। ईसाई प्रचारक अपने धर्म का प्रचार करने के लिए जहाँ कहीं जाते, आर्यसमाजी वहाँ उनका सामना करने के लिए तैयार

मिलते। ईसाइयों के प्रचार-मंडप की बराबरी में आर्यसमाजी भी अपना डेरा जमा लेते और मिशनरियों का डटकर मुकाबला किया करते। क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार को निष्फल बनाने के लिए आर्यों में कितनी लगन थी, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त है। १८८६ में दसहरे से पहले ही लाला मुंशीराम वकालत की परीक्षा देने के लिए जालन्धर से लाहौर जाने वाले थे। पर उन्हें ईसाइयों का मुकाबला करने के लिए जालन्धर रुक जाना पड़ा। दशहरे के अवसर पर ईसाई लोग अपने धर्म का प्रचार किया करते थे। जिस मैदान में रामलीला हुआ करती थी, वहाँ वे अपना खेमा लगा लेते थे। जालन्धर के आर्यसमाज ने सन् १८८६ के दसहरे पर उनका मुकाबला करने का निश्चय किया और जहाँ ईसाइयों ने अपना खेमा लगाया था उसके बराबर में ही अपना प्रचार-मंडप बना लिया। उन दिनों जालन्धर के मिशन स्कूल के हैड मास्टर लाला भक्तराम थे, जो जालन्धर आर्यसमाज के उपप्रधान भी थे। उन्होंने अपने हाथ से आर्यसमाज के खेमे के खूटे गाड़े और उस पर 'ओ३म्' का झण्डा लगाया। वैदिक धर्म के प्रचार की वहाँ खूब धूम रही। आर्यसमाज का मंडप सदा खचाखच भरा रहता था, और वहाँ के व्याख्यानों ने जमींदारों और साहूकारों के लड़कों को भी वहुत प्रभावित किया था। सामने का ईसाइयों का ख़ेमा खाली पड़ा रहता था। जो दो-तीन व्यक्ति वहाँ आते भी थे, वे आर्यसमाज के प्रचार-मंडप को देखकर उसकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। आर्यसमाज के प्रचार के कारण क्रिश्चियन मिशनरियों के सब प्रयत्न पूर्णतया असफल होने लग गये थे।

उस समय क्रिश्चियन पादरियों और आर्यसमाजियों में जो संघर्ष चल रहा था, उसके विवरण "आर्य पत्रिका" में विद्यमान हैं। ये संघर्ष प्रायः मेलों के अवसर पर हुआ करते थे। मेलों में दूर-दूर से नर-नारी बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं, और इस अवसर का धर्म-प्रचार के लिए सुगमता से प्रयोग किया जा सकता है। १५ मई, १८८८ के आर्य पत्रिका के अंक में पिण्ड दादन खाँ (जिला जेहलम) के एक मेले का वर्णन है, जिसमें पेशावर, फीरोजपुर और जेहलम के वहुत-से आर्यसमाजी प्रचार के लिए आये थे। उनका उद्देश्य वहाँ ईसाई पादरियों के प्रचार का मुकाबला करना था। उन्होंने अपने को अनेक पार्टियों में विभक्त कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। जहाँ कहीं ईसाई पादरी प्रचार कर रहे होते, वे वहीं पहुँच जाते। उन्हें देखकर पादरी की वोलती बन्द हो जाती और वह आर्यों को बुरा-भला कहता हुआ वहाँ से चला जाता। क्रिश्चियन मिशनरियों का विरोध आर्यसमाजियों द्वारा केवल मेलों में ही नहीं किया जा रहा था, सड़कों और गलियों में भी वे ईसाई धर्म का खण्डन करने में तत्पर रहते थे। उनकी भजन-मण्डलियाँ घूम-घूमकर वैदिक धर्म का प्रचार तथा क्रिश्चिएनिटी का खण्डन किया करती थीं, जिसके परिणामस्वरूप ईसाइयों ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि कुलीन व सुशिक्षित वर्ग के व्यक्तियों को अपने धर्म में ला सकना उनके लिए सुगम नहीं है। इसीलिए उन्होंने अब दलित व अछूत लोगों में प्रचार करने पर विशेष ध्यान देना शुरू किया, और इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। हिन्दू समाज में अछूत जातियों की जो दुर्दशा थी, उससे लाभ उठाकर ईसाइयों के लिए उन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर सकना अधिक कठिन नहीं था। अछूतों को ईसाई बनाने में उन्हें जो असाधारण सफलता हुई, उसे सूचित करने के लिए यही लिखना पर्याप्त है कि सन् १८८१ में सियालकोट जिले

में ईसाइयों की कुल संख्या २५३ थी, जो दस साल बाद सन् १८९१ में बढ़कर ६,७११ हो गयी थी। जिन हज़ारों नर-नारियों ने दस साल की इस अवधि में ईसाई मत को स्वीकार कर लिया था, उनमें बहुत बड़ी संख्या अछूत समझे जाने वाले लोगों की ही थी। अछूत जातियों में ईसाई मत के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर आर्यसमाजियों ने भी यह समझ लिया, कि हिन्दू जाति के इस दलित वर्ग का उद्धार किये विना विधर्मियों के प्रयत्न को विफल कर सकना असम्भव है। अतः इस दृष्टि से भी उन्होंने अछूतोद्धार पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया और मेघ, रहतिये, चमार आदि दलित वर्ग के लोगों में काम करना आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्यसमाज के प्रचार के परिणामस्वरूप क्रिश्चियन मिशनरियों के लिए हिन्दुओं के सम्भ्रान्त व शिक्षित वर्ग को अपने धर्म का अनुयायी बना सकना सुगम नहीं रहा था और वे अपने ध्यान को दलित वर्ग में केन्द्रित करने के लिए विवश हो गये थे। ईसाई मिशनों द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाएँ अब भी विद्यमान थीं, पर उनके मुकाबले में आर्यसमाजियों ने भी डी० ए० वी० तथा अन्य शिक्षणालय खोलने शुरू कर दिये थे। इनमें शिक्षा की वे सब सुविधाएँ विद्यमान थीं, जो क्रिश्चियन स्कूलों में थीं। पर इनका वातावरण आर्य धर्म व संस्कृति का था। हिन्दुओं को अब यह आवश्यकता नहीं रह गयी थी कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिए अपने बच्चों को वे क्रिश्चियन स्कूलों में भेजें। जो बच्चे उनके शिक्षणालयों में पढ़ भी रहे थे, उन्हें ईसाई मत से प्रभावित कर सकना अब कठिन होता जा रहा था, क्योंकि आर्य विद्वानों व उपदेशकों के प्रचार के कारण उन्हें भी अपने धर्म व संस्कृति की उत्कृष्टता का बोध होता रहता था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस्लाम की दशा ऐसी नहीं थी कि उसके धर्माचार्य जनता को अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिए अधिक प्रयत्न कर सकें। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। मध्य काल में भारत की जो राजशक्ति मुसलिम जमींदारों, नवाबों, रईसों और मौलवियों के हाथों में थी, अब वे उससे वंचित हो गये थे, जिसके कारण उनमें एक प्रकार की मुर्दनी-सी छायी हुई थी। जैसी दुर्दशा उस समय हिन्दू जाति की थी, प्रायः वैसी ही मुसलमानों की भी थी। वे भी कुरीतियों, अन्धविश्वासों व पाखण्ड के शिकार थे, और ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से विरहित थे। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि मुसलमान भी अपनी इस दुर्दशा को अनुभव करने लगें और उनमें भी कुछ ऐसे मेधावी व प्रगतिशील नेता उत्पन्न हों जो उनमें नवजीवन के संचार का प्रयत्न करें। सर सैयद अहमद खाँ इसी प्रकार के मुसलिम नेता थे। वह महर्षि दयनान्द सरस्वती के समकालीन थे, और महर्षि के साथ उनका सम्पर्क भी रहा था। सर सैयद सुधारवादी और प्रगतिशील विचारों के थे और उन्होंने मुसलमानों की कुरीतियों एवं निरर्थक रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज भी उठायी थी, पर इस्लाम के अनुयायियों की बहुसंख्या ने उनके विचारों का स्वागत नहीं किया। पर उनमें ऐसे आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जो कट्टरपन्थी होने के साथ-साथ इस्लाम में नवजीवन का संचार करने के लिए प्रयत्नशील थे। इनमें एक कादियानी मत था, जिसका आर्यसमाज के साथ विशेष सम्बन्ध है। क्योंकि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में कादियानी लोगों और आर्यसमाजियों के विरोध व संघर्ष ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया था।

इस मत के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे, जो सन् १८३८ में पंजाब के कादियाँ नामक नगर में उत्पन्न हुए थे। इस्लाम की तत्कालीन दुर्दशा को देखकर उन्होंने निश्चय किया कि वह मुसलमानों के विलुप्त गौरव की पुनः स्थापना में अपनी सब शक्ति लगा देंगे। सन् १८७९ में उन्होंने इस्लाम में नवजीवन के संचार का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। उनका कथन था, कि वह इस्लाम के अन्तिम मसीहा हैं, और इस्लाम के पुनरुद्धार के लिए ही परमेश्वर ने उन्हें पृथिवी पर भेजा है। मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा मुसलमानों में सामाजिक सुधार तथा कुरीतियों के निवारण के लिए भी प्रचार किया गया था। इस्लाम की निर्बलता के कारणों की समीक्षा कर वह ऐसे साधन प्रतिपादित कर रहे थे, जिनसे मुसलमान पुनः शक्तिसम्पन्न हो सकें। पर यह करते हुए उन्हें पुराणपन्थी कट्टर मुसलिम धर्माचार्यों का सामना करना पड़ा, विशेषतया इस प्रश्न पर कि उन्हें भी इस्लाम का मसीहा स्वीकार किया जा सकता है या नहीं। मुसलिम मन्तव्यों के अनुसार मुहम्मद अन्तिम पैगम्बर व मसीहा थे, और उन द्वारा परमेश्वर ने जो ज्ञान दिया, वह पूर्ण व निर्भ्रान्त है। अतः भविष्य में किसी अन्य पैगम्बर के होने या न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस्लाम में नवजीवन का संचार करने के लिये मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती पर भी अनेकविध आक्षेप किये जा रहे थे, जिनका उत्तर देना आर्य विद्वान् अपना कर्तव्य मानते थे। इसीलिए सन् १८८७ में पण्डित लेखराम ने एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें मिर्जा गुलाम अहमद के मन्तव्यों की तर्कसंगत रूप से समालोचना की गयी थी। इसके प्रत्युत्तर में मिर्जा ने "सुरमाए चश्माए-आर्या" नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की। लेखरामजी ने उसके उत्तर में "नुस्खाये-खब्त-अहमदिया" का प्रकाशन किया। इस प्रकार पण्डितजी और मिर्जा साहब में पुस्तिकाओं का एक द्वन्द्व युद्ध शुरू हो गया। इस्लाम के सम्बन्ध में पण्डित लेखराम द्वारा लिखी गयी पुस्तिकाओं में "रिसालाए-जिहाद यानी दीने मुहम्मदी की बुनियाद' का विशेष महत्त्व था। इसमें इस्लाम के विस्तार का ऐतिहासिक दृष्टि से विवरण देकर यह प्रदर्शित किया गया था कि अन्य धर्मों के अनुयायियों को किस प्रकार बल का प्रयोग कर मुसलमान बनाया गया, कैसे उनके धर्म-स्थानों को ध्वंस किया गया, स्त्रियों और बच्चों के प्रति मुसलिम आक्रांताओं का कैसा नृशंस बरताव रहा और विश्व में जो आज इस्लाम का इतना अधिक प्रचार है, उसके लिए कैसे खून की नदियाँ बहायी गयीं। पण्डित लेखराम का विचार था, कि मुसलमानों ने तलवार के जोर पर अपने धर्म का प्रचार किया था और लोगों को जबर्दस्ती अपने धर्म का अनुयायी बनने के लिए विवश किया था। अपने इस विचार की पुष्टि में मध्य काल के मुसलिम ऐतिहासिकों के ग्रन्थों से कितने की प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किये थे। उनका यह भी कहना था कि भारत के बहुसंख्यक मुसलमान ऐसे हैं, जिनके पूर्वपुरुष हिन्दू थे, और जिन्हें मुसलिम आक्रांताओं तथा शासकों ने बलपूर्वक मुसलमान बना लिया था। पण्डित लेखराम ने इस तथ्य की ओर भारत के मुसलमानों का ध्यान खींचते हुए उनसे अपील की थी, कि वे अब अपने पुरखों के धर्म में वापस लौट आएँ। मिर्जा गुलाम अहमद तथा उनके अनुयायियों ने इन बातों का उत्तर देने का प्रयत्न अवश्य किया, पर ऐतिहासिक सचाई को अन्यथा सिद्ध कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। युक्तियों द्वारा पण्डित लेखराम के विचारों का खण्डन कर सकने में असमर्थ होकर उन्होंने अन्य उपायों का आश्रय लेना प्रारम्भ कर

दिया। सन् १८९० में बम्बई के कतिपय मौलवियों ने पण्डितजी को यह धमकी दी कि उन्होंने जिन पुस्तकों में इस्लाम और उसके पैगम्बर की तौहीन की है, उन्हें तुरन्त उनके सुपुर्द कर दिया जाए, अन्यथा उनके खिलाफ कानूनी कार्रवाई की जाएगी। अगस्त, १८९२ में लाहौर के कुछ मुसलमानों ने पण्डितजी को एक नोटिस दिया, जिसमें यह कहा गया था कि वह अपनी सब पुस्तकों को जला दें, उनमें इस्लाम के बारे में जो कुछ लिखा गया है सार्वजनिक रूप से उसका प्रतिवाद करें और मुसलमानों से क्षमा-प्रार्थना करें। यदि वह ऐसा नहीं करेंगे तो यह मामला अदालत में ले जाया जाएगा। पण्डितजी के खिलाफ मुकदमे दायर कर भी दिये गये। मिर्जापुर, इलाहाबाद, अमृतसर, लाहौर, मेरठ और दिल्ली में एक के बाद एक मुकदमे उन पर चलाये गये, पर उनमें मुसलमानों को सफलता प्राप्त नहीं हुई। दिल्ली के मजिस्ट्रेट ने उन पुस्तकों को मँगाकर स्वयं पढ़ा, जिनके आधार पर पण्डितजी के विरुद्ध मुकदमा दायर किया गया था, और उन्हें निर्दोष पाया। पण्डितजी ने मुकदमों और धमकियों की कोई परवाह नहीं की। वह पूर्ववत् इस्लाम के मन्तव्यों के खण्डन तथा वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर रहे।

पण्डित लेखराम के कार्यकलाप से मिर्जा गुलाम अहमद का रुष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक था। जब उन्होंने देखा कि धमकियों और अदालती नोटिसों का पण्डितजी पर कोई असर नहीं पड़ता, तो उन्होंने "मुबाहिला" के उपाय का आश्रय लिया। इस्लाम में मुबाहिला शापों के समुच्चय को कहते हैं। मिर्जा साहब अपने को ईश्वर का अवतार और इस्लाम का मसीहा तो मानते ही थे और यह भी समझते थे कि उन्हें दैवी शक्तियाँ प्राप्त हैं। उन्होंने घोषणा की कि यदि मैं सच्चा हूँ तो लेखराम पर एक वर्ष के अन्दर-अन्दर परमेश्वर की मार पड़े, जिससे कि वह सीधे रास्ते पर आ जाएँ। परमेश्वर की मार तो पण्डितजी पर नहीं पड़ी, पर कादियानी लोगों का षड्यंत्र अवश्य सफल हुआ। मार्च, १८९७ में एक धर्मान्ध मुसलमान ने किस प्रकार उनकी हत्या कर दी, इस पर यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में आर्यसमाजियों और मुसलमानों (विशेषतया मिर्जा अहमद के अनुयायी कादियानी लोगों) में विरोध भाव ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया था। इस विरोध की उग्रता का एक कारण यह भी था कि इस समय शुद्धि द्वारा विधर्मियों को हिन्दू (आर्य) समाज में सम्मिलित करने में भी आर्य प्रचारकों को अच्छी सफलता प्राप्त होने लग गयी थी। मुसलमानों और ईसाइयों को शुद्ध कर हिन्दू बनाने की प्रक्रिया महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी, और महर्षि ने स्वयं भी शुद्धियाँ करायी थीं। पर आर्यसमाज के प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि जिन हिन्दुओं ने किन्हीं कारणों से क्रिश्चिएनिटी व इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे शुद्धि द्वारा पुनः हिन्दू बनने लगे। पादरियों और मौलवियों का इससे उद्विग्न होना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज द्वारा प्रवर्तित शुद्धि आन्दोलन इस काल में कितना जोर पकड़ रहा था, यह इसी से सूचित हो जाता है कि अकेले अमृतसर में सन् १८८४ में उन्तालीस और सन् १८८५ में पचपन शुद्धियाँ हुई थीं। ये संख्याएँ चाहे बड़ी न हों, पर ये हिन्दू समाज की एक नई प्रवृत्ति को सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं। क्रिश्चियन मिशनरी और मुसलिम धर्माचार्य अब यह जान गये थे कि आर्यसमाज के रूप में हिन्दुओं में एक ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया है जिसके कारण भारतीय जनता को ईसाई या

मुसलमान बना सकना सुगम नहीं रहा है। वस्तुतः, अब आर्यसमाज एक ऐसी शक्ति बन गया था जो सत्य सनातन वैदिक धर्म के लुप्त गौरव की पुनःस्थापना के लिए सब विरोधियों व विधर्मियों से संघर्ष करने के लिए उद्यत थी।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि महर्षि के जीवनकाल में मुसलमानों का उस धार्मिक आन्दोलन से अधिक विरोध नहीं था, जिसे महर्षि द्वारा प्रारम्भ किया गया था। धर्म का प्रचार करते हुए जब महर्षि लाहौर गये थे, तो उन्होंने एक मुसलमान (डॉक्टर रहीम खाँ) की कोठी पर निवास किया था, और वहीं उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। समाज के प्रारम्भिक सत्संग डॉक्टर रहीम खाँ की कोठी पर ही होते भी रहे थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में जब महर्षि राजपूताना गये, तो जोधपुर में वह एक मुसलमान (श्री फैजुल्ला खाँ) के घर पर रहे थे। दिल्ली दरबार के अवसर पर उन्होंने प्रसिद्ध मुसलमान नेता सर सैयद अहमद खाँ से इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया था, कि विविध धर्मों व सम्प्रदायों के लोग किस प्रकार परस्पर सहयोग द्वारा समाज सुधार तथा देश की उन्नति के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। महर्षि के मुसलमानों से अनेक शास्त्रार्थ हुए थे, पर उनमें न कटुता थी और न विद्वेष की भावना। वास्तविकता यह है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित बहुत-से मन्तव्य मुसलमानों को समुचित व ग्राह्य प्रतीत होते थे। ईश्वर एक है, वह निराकार है, उसकी मूर्ति नहीं हो सकती, मूर्तिपूजा अनुचित है, सब मनुष्य एक समान हैं, और उनमें ऊँच-नीच या छूत-अछूत का भेद ठीक नहीं है—ये व इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बातें मुसलमानों को अच्छी लगती थीं। पर बाद में जब आर्यसमाज का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, और उस द्वारा सत्य सनातन वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति की पुनःस्थापना के लिए सशक्त प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, तो मुसलमान उसे अपने धर्म तथा संस्कृति के लिए विघातक समझने लगे। यद्यपि आर्यसमाज तथा इस्लाम के मन्तव्यों में अनेक समताएँ हैं, पर जहाँ तक सांस्कृतिक परम्पराओं और धर्म के आदि-स्रोत का सम्बन्ध है, उनमें इतना अन्तर है कि उसे दूर कर सकना प्रायः असम्भव है। यही कारण है, कि आर्यसमाज की बढ़ती हुई शक्ति को मुसलमान आशंका और भय की दृष्टि से देखने लगे, और उसके दमन के लिए उन्होंने आर्य नेताओं तथा प्रचारकों के ऊपर घातक आक्रमण भी प्रारम्भ कर दिये। आर्य समाज और इस्लाम का यह विरोधभाव महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के कुछ समय पश्चात् ही शुरू हो गया था। वस्तुतः, यह विरोध दो संस्कृतियों और दो धार्मिक परम्पराओं में था। जहाँ तक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, धार्मिक परम्पराओं तथा धर्म के मूलस्रोत का सम्बन्ध है, उनमें सनातनी हिन्दुओं और आर्य-समाजियों में अधिक अन्तर नहीं था। इसीलिए वे एक दूसरे के समीप आते गये, और उनके विरोध में कमी आती गयी। पर इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी से धर्म के मूलस्रोत तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में आधारभूत भेद की सत्ता के कारण इन धर्मों का आर्य-समाज से विरोध निरन्तर बढ़ता ही गया।

चौथा अध्याय

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यकलाप

(सन् १९०० से १९४७ तक)

(१) वैदिक धर्म के प्रचार की प्रगति

सन् १८८६ में पंजाब के सब आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा के रूप में एक केन्द्रीय संगठन में संगठित हो गये थे। प्रतिनिधि सभा के प्रथम प्रधान लाला साईंदास थे। डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की पाठ-विधि और मांस-भक्षण आदि के प्रश्नों पर पंजाब के आर्यसमाजियों में जो मतभेद थे, उन्होंने दो परस्पर-विरोधी पार्टियों का प्रादुर्भाव कर दिया था, और उनके कारण पंजाब के आर्यों में एकता का अन्त हो गया था। फिर भी आठ वर्ष के लगभग पंजाब में एक ही प्रतिनिधि सभा की सत्ता रही, और वहाँ के सब आर्यसमाज उसी के साथ सम्बद्ध रहे। पर यह दशा देर तक कायम नहीं रह सकी। पंजाब की दोनों पार्टियों, जिन्हें कॉलिज पार्टी (मांस पार्टी) और महात्मा पार्टी (घास पार्टी) कहा जाता था—के लिए जब एक संगठन में रहकर कार्य करना सम्भव नहीं रह गया, तो कॉलिज पार्टी के आर्यसमाजियों ने अपना पृथक् केन्द्रीय संगठन बना लिया, जिसे "आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा" कहते हैं। क्योंकि आर्य प्रतिनिधि सभा में महात्मा पार्टी के सदस्यों की बहुसंख्या थी और उन्हीं के उम्मीदवार प्रधान, मन्त्री आदि विशिष्ट पदों पर निर्वाचित होते थे, इसी कारण कॉलिज पार्टी को अपना पृथक् केन्द्रीय संगठन बनाने के लिए विवश होना पड़ा था। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १८९४ में हुई थी, और उसका प्रधान कार्यालय भी लाहौर में था। जिन आर्यसमाजों के बहुसंख्यक सभासद् कॉलिज पार्टी के थे, वे प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध हो गये और इस पार्टी द्वारा जो भी नये समाज स्थापित किये जाते रहे, वे भी उसी के साथ सम्बद्ध होते गए। इस प्रकार पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार और प्रसार दो विभागों में विभक्त हो गया। दोनों सभाएँ पृथक् रूप के वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर हो गयीं। यद्यपि दोनों सभाओं के उद्देश्य एकसमान थे, पर उनकी पूर्ति के लिए वे विभिन्न साधनों को अपनाती रहीं, और उनका यह भी प्रयत्न रहा, कि अपने कार्यक्षेत्र एक-दूसरे से पृथक् रखें।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस सभा का कार्यक्षेत्र केवल पंजाब तक ही सीमित नहीं था। राजस्थान, बंगाल, कोचीन और मलाबार आदि के भी अनेक आर्यसमाज उसके साथ सम्बद्ध थे। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य

प्रादेशिक सभा—दोनों के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या सैकड़ों में थी, जिससे इनके संगठन की विशालता व व्यापकता का सहज में अनुमान किया जा सकता है। इस अध्याय में हमें केवल पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का विवरण देना है। सन् १८७६ में इस सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या केवल १५० थी। पर सन् १९३५ में ५०४ समाज इसके साथ सम्बद्ध थे। संख्या में इस कमी का कारण यह है कि अब जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और हरयाणा में पृथक् प्रतिनिधि सभाएँ स्थापित हो गयी हैं, और भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप सिन्ध, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त और पश्चिमी पंजाब (जो अब पाकिस्तान में है) में आर्यसमाजों की सत्ता सम्भव नहीं रही।

कॉलिज पार्टी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना को वैदिक-धर्म के प्रचार का सशक्त साधन समझती थी। इसीलिए उस द्वारा डी० ए० वी० स्कूलों व कॉलिजों की स्थापना पर विशेष ध्यान दिया जा रहा था। पर महात्मा पार्टी के नेताओं का विचार था कि सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करना आर्यसमाज का कार्य नहीं है। उस द्वारा ऐसे विद्यालय अवश्य खोले जा सकते हैं, जिनमें संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता हो, और जिन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचारक व पुरोहित तैयार किये जाएँ। महात्मा पार्टी का कहना था, कि आर्यसमाज एक धर्म-सभा है, और उसका उद्देश्य धर्म-प्रचार है। इसी विचार को सम्मुख रखकर २६ मई, १८९४ को अनेक आर्य नेता लाहौर के आर्य-समाज मन्दिर में एकत्र हुए और उन्होंने वेद-प्रचार के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया। इस समय तक पंजाब प्रतिनिधि सभा में महात्मा पार्टी का बहुमत हो चुका था और लाला मुंशीराम उसके प्रधान चुन लिये गये थे। उनके नेतृत्व में आर्यसमाजियों ने निश्चय किया कि पंजाब प्रतिनिधि सभा अपना ध्यान प्रधानतया वेद-प्रचार पर ही लगाये और इसके लिए "वेद-प्रचार फण्ड" नाम से एक पृथक् निधि स्थापित की जाये। ३ जून, १८९४ को प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा की बैठक थी। उसमें लाला मुंशीराम ने इस विचार को प्रस्तुत किया, जिसका अन्य सदस्यों ने उत्साहपूर्वक स्वागत किया। वेद-प्रचार फण्ड की योजना तैयार करने के लिए एक समिति का गठन कर दिया गया। समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् प्रतिनिधि सभा द्वारा अपने २ सितम्बर, १८९४ के अधिवेशन में जो निश्चय किये गये, उनमें वेद-प्रचार फण्ड की स्थापना का निर्णय करते हुए आर्यसमाजों से यह सिफारिश भी की गयी कि वे अपने वार्षिकोत्सवों पर केवल वेद-प्रचार फण्ड के लिए ही अपील किया करें और अन्य अवसरों पर भी इसी फण्ड के लिए धन एकत्र करने का प्रयत्न किया जाये। इस समय से आर्य प्रतिनिधि सभा ने (जिस पर महात्मा पार्टी का प्रभुत्व था) वेद-प्रचार को ही अपना प्रधान कार्य बना लिया। उस द्वारा जो शिक्षण-संस्थाएँ (उपदेशक विद्यालय व गुरुकुल) भी खोली गयीं, उनका मुख्य प्रयोजन भी वेद-प्रचार में सहायक होना ही था। कॉलिज पार्टी अपनी सब शक्ति डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना व विकास में प्रयुक्त करने में तत्पर हो गयी, क्योंकि उन्हें वह वैदिक धर्म के प्रचार का सशक्त साधन मानती थी। जब इस पार्टी ने अपनी पृथक् केन्द्रीय सभा संगठित कर ली, तब यह सभा भी इसी कार्य पर विशेष ध्यान देने लगी। परिणाम यह हुआ, कि दोनों प्रतिनिधि सभाओं के कार्यकलाप में भेद हो गया, और दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हो गये।

वेद-प्रचार फण्ड की स्थापना हो जाने के कारण आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए यह सम्भव हो गया कि वह वेद-प्रचार पर समुचित ध्यान दे सके। इस निधि में धन की मात्रा निरन्तर बढ़ती गयी और उसके साथ ही प्रचार कार्य में भी तेजी आती गयी। आर्य जनता में वेद-प्रचार फण्ड के लिए इतना उत्साह था कि प्रतिवर्ष कई हजार रुपये उसके लिए एकत्र हो जाते थे। सन् १९११ में इस फण्ड में ६१९५ रुपये एकत्र हुए थे, सन् १९१२ में १३,९७१ और सन् १९१३ में १६,१४५। इस फण्ड के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से प्रतिनिधि सभा के डेपुटेशन आर्यसमाजों में जाया करते थे। लाला धर्मचन्द्र, महाशय कृष्ण और मास्टर लक्ष्मणदास सदृश आर्य सज्जनों को इस कार्य के लिए अत्यधिक उत्साह था। वेद-प्रचार फण्ड में वृद्धि के साथ-साथ उपदेशकों की संख्या भी बढ़ती गयी। जहाँ सन् १८९६ में केवल १५ उपदेशक प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में धर्म-प्रचार का कार्य कर रहे थे, २० वर्ष बाद सन् १९१६ में २४ उपदेशक और १५ भजनोपदेशक प्रचार के लिए नियुक्त कर लिये गये थे। पर प्रतिनिधि सभा धर्म-प्रचार के लिए केवल वैतनिक उपदेशकों पर ही निर्भर नहीं थी। उसके अधिकारी एवं सदस्य भी समय-समय पर प्रचार-कार्य पर जाते रहते थे। लाला मुंशीराम अनेक वर्षों तक प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे थे। वह न केवल समाजों के वार्षिकोत्सवों पर व्याख्यान ही दिया करते थे, अपितु विधर्मियों से शास्त्रार्थ के लिए भी सदा उद्यत रहते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में प्रोफेसर शिवदयालु सभा के मन्त्री थे। उन्होंने शिमला से लगाकर फीरोजपुर तक स्थान-स्थान पर धर्म-प्रचार किया था। उन्हें समाचार मिला कि मद्रास में शनार और मारवाड़ जातियों के लोगों में मन्दिर प्रवेश के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो गया है, जिसमें बहुत से मनुष्य मारे गये हैं और लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो गयी है। शिवदयालुजी इसकी जाँच के लिए मद्रास गये, और दक्षिणी भारत की इस यात्रा में बम्बई, हैदराबाद, मद्रास, त्रिचनापली और मदुरा आदि नगरों में व्याख्यान दिये। उनके प्रयत्न से त्रिचनापली और मदुरा सदृश तमिल संस्कृति के केन्द्रों में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। सत्यार्थप्रकाश (अंग्रेजी) की प्रतियाँ दक्षिणी भारत में वितरित की गयीं, और उस क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्य को बढ़ाने के लिए एक ऐसे उपदेशक की नियुक्ति कर दी गयी, जो दक्षिण की भाषाओं को भली-भाँति जानते थे। इन्हीं उपदेशक महोदय (श्री सोमनाथ राव) ने सत्यार्थप्रकाश का तेलगू भाषा में अनुवाद भी किया और इस प्रकार उस प्रदेश में आर्यसमाज की प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने में अनुपम सहायता की। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के पश्चात् के वर्षों में जो अनेक साधु-संन्यासी एवं विद्वान् वैदिक धर्म के प्रचार में जी-जान से संलग्न हो गये थे, बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में भी उनका कार्य जारी रहा। स्वामी नित्यानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, पण्डित आर्यमुनि और पण्डित पूर्णानन्द इनमें मुख्य थे। पर इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक विद्वान् व संन्यासी इस काल में आर्यसमाज के क्षितिज पर प्रकट होने शुरू हुए, जिन्होंने महर्षि के मिशन को आगे बढ़ाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इनमें डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी अच्युतानन्द, स्वामी सत्यानन्द, स्वामी योगेन्द्रपाल और पण्डित जगन्नाथ निसत्तरत्न के नाम उल्लेखनीय हैं।

पंजाब का आर्यसमाज जो दो पार्टियों में विभक्त हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि एक पार्टी (महात्मा पार्टी) के नेता आर्य सिद्धान्तों और उनके अनुरूप आचरण को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उन्हें यह सह्य नहीं था, कि कोई ऐसा व्यक्ति आर्यसमाज का सभासद् हो सके, जो मांस-भक्षण करता हो। अपने विश्वासों और आचरण में वे अत्यन्त कट्टर थे। पण्डित लेखराम के बलिदान के पश्चात् समाज के दोनों दलों में किस प्रकार ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था, इस पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है। इन कट्टर आर्यों को यह बात भी अच्छी नहीं लगी थी। उनका कहना था, कि मेल-मिलाप का यही परिणाम होगा कि आर्यसमाज का नेतृत्व एक बार फिर ऐसे व्यक्तियों के हाथों में आ जाएगा जिनके मन्तव्य व आचरण अविकल रूप से महर्षि की शिक्षा के अनुरूप न हों। पंजाब के इन कट्टर आर्य युवकों में डा० चिरंजीलाल प्रमुख थे। उनका मन्तव्य था, कि जहाँ तक विश्वास व आचरण का प्रश्न है उन पर किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया जाना चाहिये। वे चाहते थे, कि आर्यसमाजी परिवारों में सब संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से किये जाया करें। आर्यसमाजियों के विवाह-सम्बन्ध आर्य-समाजियों में ही हों, स्त्रियों और पुरुषों को सामाजिक जीवन में समानता दी जाये, परदे की प्रथा हटा दी जाये, आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों पर स्त्रियों के बैठने के स्थान के आगे परदे लगा देने का जो रिवाज था उसका अन्त किया जाए और आर्यों के क्रियात्मक जीवन में पौराणिकता का कोई भी अंश शेष न रहने दिया जाये। अपने विचारों का सशक्त रूप से प्रचार करने के लिए डॉक्टर चिरंजीलाल और उनके साथियों ने अपना एक पृथक् समुदाय बना लिया था, जिसमें प्रवेश संस्कार के अवसर पर सिर मुंडाना आवश्यक था। लोग इस सम्प्रदाय को "सिर मुन्नी" कहने लगे, जिसका परिष्कृत रूप "आर्य शिरोमणि सभा" हो गया। शिरोमणि सभा में प्रवेश के समय प्रवेशार्थी का नाम बदलकर विशुद्ध संस्कृत का कर दिया जाता था। इसीलिए डॉक्टर चिरंजीलाल का नाम डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज रख दिया गया, और श्री नौनन्दराय का धर्मवीर। इसी प्रकार गुरुबख्शसिंह को गुरुदेव, राधाकृष्ण को लक्ष्यवीर और लब्भूराम को महावीर बना दिया गया। शिरोमणि सभा के सदस्य वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अत्यधिक उत्साह से कार्य में तत्पर थे। डॉक्टर भारद्वाज ने पंजाब से बाहर अन्यत्र भी आर्यसमाज का कार्य शुरू किया और बड़ौदा में अछूत माने जाने वाले ढेढ लोगों की शुद्धि में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पर उन द्वारा स्थापित शिरोमणि सभा देर तक कायम नहीं रह सकी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में वह उच्च शिक्षा के लिए इंगलैण्ड चले गये थे और उनकी अनुपस्थिति में इस सभा का कार्य शिथिल पड़ गया। इंगलैण्ड में रहते हुए डॉक्टर भारद्वाज ने सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी में अनुवाद किया और इस ढंग से विदेश में भी आर्यसमाज के कार्य को जारी रखा। सन् १९०४ में भारत वापस लौटने पर उन्होंने शिरोमणि सभा को पुनः उज्जीवित करने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सके। वैदिक धर्म के प्रचार की धुन के कारण उनके लिए कहीं जमकर बैठ सकना सम्भव नहीं था। कुछ समय उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी में कार्य किया और फिर सन् १९१० में बरमा चले गये। चिकित्सा के साथ-साथ वह धर्म-प्रचार में भी व्यस्त रहा करते थे। उनके प्रयत्न से बरमा में भी अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए। बरमा से वह मारीशस गये (सन् १९१२)। वहाँ वैदिक धर्म का जो प्रचार है, उसका बहुत कुछ श्रेय डॉक्टर भारद्वाज को ही प्राप्त है। उनकी प्रेरणा व प्रयत्न से

मॉरीशस में भी आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। दिसम्बर, १९१५ में वह मॉरीशस से भारत लौट आये और अपना सब समय पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार में लगाने लगे। वह चिकित्सा का कार्य अवश्य करते थे, पर रोगियों से कोई फीस नहीं लेते थे। आर्यसमाज का यह दुर्भाग्य था कि डॉक्टर भारद्वाज देर तक जीवित नहीं रहे। सन् १९१६ में उनका देहान्त हो गया। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में जिन महानुभावों ने पूर्ण निष्ठा के साथ पंजाब में आर्यसमाज की सेवा की, डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज का नाम उनमें सुवर्णाक्षरों से लिखा जाएगा। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में भी उनका स्थान महत्त्व का था। सन् १९०८ में वह उसके मन्त्री चुने गये थे। मन्त्रित्व के अपने काल में उन्होंने सभा की कार्यवाही पंजिका को हिन्दी में लिखवाना शुरू किया। पंजाब के आर्यसमाजी क्षेत्र में उर्दू का स्थान जो हिन्दी को प्राप्त हुआ, उसमें भी डॉक्टर भारद्वाज का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जो अनेक संन्यासी एवं विद्वान् आर्यसमाज के कार्य में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे और जिनके प्रयत्न से पंजाब में वैदिक धर्म के प्रचार में विशेष सहायता मिली, उनका भी यहाँ संक्षेप के साथ उल्लेख आवश्यक है। इस युग के आर्य संन्यासियों में स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान था। सन् १८७७ में जब पंजाब में महर्षि द्वारा आर्यसमाज की स्थापना की गयी, उसी वर्ष लुधियाना जिले के एक सिक्ख परिवार में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी का जन्म हुआ था। उनका जन्मनाम केहरसिंह था। उस युग की प्रथा के अनुसार बचपन में ही उनका विवाह कर दिया गया था। पर केहरसिंहजी की रुचि न भौतिक सुख-समृद्धि में थी और न उन्हें गृहस्थ-आश्रम का ही कोई आकर्षण था। धन-सम्पत्ति से उन्हें जरा भी ममता नहीं थी। पत्नी का देहान्त हो जाने पर सन् १८९६ में उन्होंने घर का परित्याग कर दिया, और १९०० में संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली। संन्यासी हो जाने पर उन्हें 'प्राणपुरी' नाम दिया गया। स्वामी प्राणपुरी कुछ वर्ष देशाटन करने के साथ-साथ संस्कृत भाषा तथा शास्त्रों के पठन-पाठन में भी तत्पर रहे। इसी समय वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज से उनका परिचय हुआ, और महर्षि के मन्तव्यों से वह इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना सर्वस्व समर्पित कर देने का निश्चय कर लिया। 'प्राणपुरी' से वह 'स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती' बन गये, और देश-विदेश में वैदिक धर्म का प्रचार करने में तत्पर हो गये। वह एक सच्चे वीतराग संन्यासी थे, उनका जीवन अत्यन्त तपस्यामय था। गृह-त्याग करते ही उन्होंने देशाटन प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९०१ में वह मलाया, सिंगापुर, बोर्नियो, फिलिप्पीन द्वीप-समूह और हांगकांग आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों की यात्रा के लिए चले गये थे। वहाँ अपना समय उन्होंने धर्म-चर्चा में तो लगाया ही था, पर साथ ही इन देशों की सभ्यता व संस्कृति का भी उन्होंने गम्भीरता से अध्ययन किया था। सन् १९०४ में विदेश से वापस आकर उन्होंने मुख्यतया पंजाब में प्रचार का कार्य किया और फिर सन् १९१४ में डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज की प्रेरणा से मॉरीशस चले गये। वहाँ से वह सन् १९१६ में भारत लौटे और उसके बाद बरमा (१९२०) तथा पूर्वी अफ्रीका (१९२१) की यात्रा की। विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विवरण देते हुए वहाँ स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी के कर्तृत्व का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। सन् १९४९-५० में वह एक बार

फिर पूर्वी अफ्रीका तथा मॉरीशस में प्रचार के लिए गये थे, और वहाँ आर्यसमाज को सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के आर्य संन्यासियों में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के वह स्तम्भ थे। दीनानगर में उन्होंने जिस दयानन्द मठ की स्थापना की थी, वह आज तक भी वैदिक धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है और उसकी अनेक शाखाएँ भी विविध स्थानों पर स्थापित हो चुकी हैं। आर्यसमाज के कितने की संन्यासी और विद्वान् स्वामीजी को अपना गुरु मानते हैं, और उनके तपोमय व पुनीत जीवन से प्रेरणा तो सभी आर्य प्राप्त करते हैं।

स्वामी सर्वदानन्द का जन्म होशियारपुर जिले में हुआ था। उनका जन्म का नाम चन्दूलाल था और उनका परिवार शैव धर्म का अनुयायी था। पर चन्दूलालजी देर तक घर पर नहीं रहे। ३२ वर्ष की आयु में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया, और चन्दूलाल से सर्वदानन्द बन गये। प्रारम्भ में वह कट्टर वेदान्ती थे। साधु होकर वह देशाटन को चल पड़े और चित्रकूट पहुँचकर बीमार पड़ गये। जब वह रोगशय्या पर पड़े थे, तो एक आर्यसमाजी ने उनकी जी-जान से सेवा की। स्वस्थ होकर जब वह चित्रकूट से चलने लगे, तो इस आर्य ने रूमाल में लपेटकर सत्यार्थप्रकाश की प्रति भेंट कर उनसे प्रार्थना की, कि इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने की अवश्य कृपा करें। भक्त सेवक की प्रार्थना को सर्वदानन्दजी नहीं टाल सके। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश को पढ़ा। उसे पढ़कर वेदान्त पर से उनका विश्वास उठ गया और वह आर्यसमाजी बन गये। अब उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया, और शीघ्र आर्यसमाज के प्रचारकों में उन्होंने उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। स्वामी सर्वदानन्द का जीवन तपस्यामय था और उनके व्याख्यान बहुत प्रभावशाली हुआ करते थे। जिला अलीगढ़ के हरदुआगंज नगर के समीप काली नदी के तट पर उन्होंने एक आश्रम की स्थापना की थी जो अब तक विद्यमान है, और वेद शास्त्रों के पठन-पाठन तथा प्रचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

वीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के आर्यसमाजी संन्यासियों में स्वामी सत्यानन्दजी का अपना विशिष्ट स्थान था। उनकी वाणी अत्यन्त मधुर थी और उनके उपदेशों को श्रोता लोग मंत्रमुग्ध होकर सुना करते थे। वह पहले जैन धर्म के अनुयायी थे और उस धर्म में उन्हें गुरु या मुनि की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पर वह जैनियों के मन्तव्यों से सन्तुष्ट नहीं थे। जैन धर्म में सृष्टि के कर्ता एवं पालक के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। सत्यानन्दजी विश्व की संचालिका अनिर्वचनीय शक्ति को न मानने वाले सम्प्रदाय से सन्तोष अनुभव नहीं करते थे। इसीलिए दिसम्बर, सन् १८९९ में उन्होंने वैदिक धर्म को ग्रहण कर लिया, और आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये। उन्होंने वैदिक साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया, और उपनिषद्, गीता तथा रामायण आदि पर कथाएँ करने लगे। उनकी कथाएँ आर्यसमाज के प्रचार में बहुत सहायक हुईं।

स्वामी दर्शनानन्द (पण्डित कृपाराम) ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में ही वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९०१ में उन्होंने स्थायी रूप से संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लिया था और मई, १९१३ में देहावसान होने तक वह उत्तरी भारत के विविध प्रदेशों में वेदशास्त्रों की शिक्षा तथा प्रचार के लिए संशक्त प्रयत्न करते रहे। गुरुकुल शिक्षा पद्धति को सबसे पहले उन्होंने ही पुनः स्थापित किया

था। उन्होंने जो अनेक गुरुकुल खोले और धर्म-प्रचार के लिए जिन पत्र-पत्रिकाओं का संचालन किया, उनका विवरण इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में दिया गया है। पर दर्शनानन्दजी का कार्यक्षेत्र केवल गुरुकुलों की स्थापना और साहित्य निर्माण तक ही सीमित नहीं था, वह आर्यसमाज के शास्त्र-महारथी भी थे। उन्होंने पौराणिकों, ईसाइयों, मुसलमानों और जैनियों—सब में कितने ही शास्त्रार्थ किए। सन् १६११ में उन्होंने "भारत सुदशा प्रवर्तक" में एक विज्ञप्ति प्रकाशित करायी थी, जिस द्वारा सब धर्मों के विद्वानों को किसी भी विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए चैलेंज दिया गया था।

इस युग में एक अन्य आर्य संन्यासी स्वामी अच्युतानन्दजी महाराज थे, जिनका कार्यक्षेत्र भी प्रधानतया पंजाब था।

पण्डित गणपति शर्मा ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में ही आर्य विद्वान् एवं प्रचारक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। सन् १६१२ में उनका देहावसान हुआ। आर्यसमाज की उन्हें इतनी धुन थी, कि एक बार १०३ डिग्री के ज्वर में ही उन्होंने वैदिक धर्म पर व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। जब एक सज्जन ने उनका ध्यान ज्वर की ओर आकृष्ट किया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि प्रचार करते-करते यह शरीर छूट जाए तो इससे अच्छी इसकी और क्या सद्गति हो सकती है। शास्त्रार्थ में कुशलता के लिए उनकी बहुत ख्याति थी। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में भी उनकी अगाध आस्था थी। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के एक वार्षिकोत्सव पर उन्होंने अपनी धर्मपत्नी के सब आभूषण दान कर दिये थे। वैदिक धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित शिवशंकर काव्यतीर्थ पहले पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में ही उपदेशक थे, पर बाद में वह गुरुकुल काँगड़ी में प्राध्यापक होकर चले गये थे। उन्होंने वेद-शास्त्रों पर उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके ग्रन्थों को आर्यसमाज के साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। जब पण्डितजी रुग्ण होने के कारण कार्य में असमर्थ हो गये, तब प्रतिनिधि सभा ने उनकी आर्थिक सहायता की थी। पण्डित गणपति शर्मा के समान पण्डित पूर्णानन्द ने भी उन्नीसवीं सदी में ही आर्यसमाज के विद्वान् तथा प्रचारक के रूप में बहुत ख्याति प्राप्त कर ली थी। बीसवीं सदी में भी वह पूर्ण लगन के साथ वैदिक धर्म के प्रचार तथा विधर्मियों से शास्त्रार्थ करने में तत्पर रहे। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने विदेशों की भी यात्रा की। इस काल के अन्य आर्य प्रचारकों में पण्डित हरनाम सिंह, श्री मेहता जैमिनी, स्वामी योगेन्द्रपाल, स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द, पण्डित धनीराम, पण्डित मेलाराम, डा० केशवदेव शास्त्री और मास्टर लक्ष्मण रामनगरी का उल्लेख करना भी आवश्यक है। पण्डित हरनामसिंह के प्रचार का क्या ढंग था, और धर्मविरुद्ध व्यवहार उन्हें कितना असह्य था, इसे स्पष्ट करने के लिए एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। एक बार जब वह करनाल जिले के बहानूखेड़ी गाँव में प्रचार करने के लिए गये हुए थे, उन्हें समाचार मिला कि ६५ वर्ष का एक वृद्ध ११ वर्ष की एक कन्या के साथ विवाह कर रहा है। पण्डितजी ने अपने व्याख्यानों से इस अनमेल विवाह के विरुद्ध ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया, कि बरातियों को खाली हाथ वापस जाना पड़ा। अवसर पाकर वर पक्ष के लोगों ने पण्डितजी पर लाठियों से आक्रमण किया। पर उनपर इसका कोई असर नहीं हुआ। वह इस विवाह के विरोध में डटे रहे। श्री मेहता जैमिनी का कार्यकाल भी मुख्यतया बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही था। उन्होंने विदेशों में

वैदिक धर्म के प्रचार के लिए दूर-दूर तक यात्राएँ कीं। पण्डित पूर्णानन्द आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में कार्यरत थे, पर सन् १९०८ के आसपास वह अफ्रीका के अनेक देशों में भी प्रचार के लिए गये थे। ठाकुर प्रवीणसिंह की उन दिनों भजनोपदेशक के रूप में अच्छी ख्याति थी। वह भी अनेक विदेशों में प्रचारार्थ गये थे। पण्डित केशवदेव शास्त्री को किशोरावस्था से ही आर्यसमाज की लगन थी। वह चिकित्सा विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका गये थे, और वहाँ रहते हुए भी उन्होंने आर्यसमाज के कार्य को जारी रखा था। सन् १९१४ में उन्होंने लिखा था, कि उनके प्रयत्न से अमेरिका में दो आर्यसमाज स्थापित हो गये हैं। भारत वापस लौटकर शास्त्रीजी जहाँ चिकित्सा-कार्य में व्यापृत रहे, वहाँ साथ ही वैदिक धर्म के प्रचार की ओर भी ध्यान देते रहे। पण्डित पूर्णानन्द और ठाकुर प्रवीणसिंह पंजाब प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। विदेशों में प्रचार के लिए भी वे सभा के सुझाव पर ही गये थे। इसी प्रसंग में कतिपय अन्य ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख भी आवश्यक है, जो प्रतिनिधि सभा के उपदेशक तो नहीं थे, पर समाज के प्रचार-कार्य में सदा संलग्न रहते थे। लाला मुंशीराम इनमें मुख्य थे। जब वह प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे, तब तो विविध आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर प्रचार के लिए जाते-आते रहते ही थे, पर जब वह गुरुकुल काँगड़ी के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य हो गये, तब भी धर्म-प्रचार के लिए समय निकालते रहे। कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज, जालन्धर के विख्यात वकील लाला बदरीदास, आर्य मुसाफिर के सम्पादक लाला वजीरचन्द, पण्डित जगन्नाथ निरुक्तरत्न, पण्डित विष्णुदत्त वकील और पण्डित रामभजदत्त चौधरी आदि कितने ही आर्य सज्जन इस युग में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे। वस्तुतः, इस काल में भी प्रायः सभी आर्य सभासद् अपनी योग्यता व सामर्थ्य के अनुसार वैदिक धर्म के प्रचार में हाथ बँटाते रहते थे। इस कार्य को करते हुए न उन्हें अपनी सुख-सुविधा की परवाह रहती थी और न धन की। अनेक बार तो उनके जीवन के लिए भी खतरा उत्पन्न हो जाता था, और उन्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ जाता था। पण्डित तुलसीराम फरीदकोट के स्टेशन मास्टर थे। वह अपने शहर में वैदिक धर्म के प्रचार की व्यवस्था करते रहते थे। सन् १९०३ में उन्होंने पण्डित हरनामसिंह के व्याख्यान कराये। इनमें पौराणिकों और जैनियों के मन्तव्यों का जो खण्डन किया गया, उससे गोपीराम नाम का एक पौराणिक आवेश में आ गया। रेलवे स्टेशन जाकर वह तुलसीराम से उलझ पड़ा और जब वह किसी काम पर फरीदकोट शहर आये, तो उनके पेट में छुरा भोंक दिया। इस प्रकार एक ऐसे आर्यसमाजी ने जो उपदेशक व वैदिक विद्वान् न होते हुए भी समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता थे, महर्षि के मिशन के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। महर्षि के मन्तव्यों के अनुसार स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही वेद शास्त्र पढ़ने तथा विद्या ग्रहण करने का अधिकार है। इसी का यह परिणाम था, कि अनेक स्त्रियाँ भी समुचित शिक्षा प्राप्त कर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए मैदान में उतर आयी थीं। ऐसी एक महिला माई भगवती थीं, जिन्होंने कि होली आदि त्यौहारों तथा विवाह सदृश अवसरों पर गाये जाने वाले गन्दे व अश्लील गीतों के विरुद्ध बहुत प्रचार किया था और स्वयं ऐसे गीत बनाये थे, जो विविध अवसरों के लिए उपयुक्त होने के साथ-साथ पूर्णतया निर्दोष व शिक्षाप्रद थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार

में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्त्रियों में जागृति उत्पन्न हो जाने के कारण अब पंजाब में स्त्री आर्यसमाज भी स्थापित होने शुरू हो गये थे, और इन समाजों के तत्त्वावधान में महिलाएँ भी उपदेशिका का कार्य करने लग गयी थीं। ऐसी एक उपदेशिका श्रीमती गंगादेवी थीं, जिन्हें अमृतसर स्त्रीसमाज द्वारा प्रचार के लिए नियुक्त किया गया था।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय पहले बच्छोवाली समाज (लाहौर) में था। पर धीरे-धीरे उसका कार्यकलाप इतना अधिक हो गया, कि उसके लिए पृथक् भवन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसलिए पहले एक इमारत किराये पर ले ली गयी, और अपने भवन के निर्माण के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया गया। इसी का परिणाम वह "गुरुदत्त भवन" था, जिसमें न केवल आर्य प्रतिनिधि सभा का केन्द्रीय कार्यालय ही स्थित था, अपितु एक विशाल पुस्तकालय तथा "गुरुदत्त विद्यार्थी आश्रम" भी विद्यमान थे। सभा की इस भव्य इमारत का निर्माण सन् १९११ में शुरू हुआ था, और १९२० में यह बनकर तैयार हो गयी थी।

(२) दलितोद्धार और शुद्धि

वेद-प्रचार के अतिरिक्त तीन अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य थे, जो पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप के अंग थे—गुरुकुल काँगड़ी का संचालन, दलितोद्धार और शुद्धि। शिक्षाविषयक नीति एवं पठन-पाठन विधि एक ऐसा प्रश्न था, जो पंजाब के आर्यसमाजियों में विरोध एवं दलबन्दी का अन्यतम कारण था। पण्डित गुरुदत्त और उनके साथी डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं से असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनमें संस्कृत तथा वेद-शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया था। इसीलिए बाद में लाला मुंशीराम ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की, जिसकी शिक्षाविषयक नीति तथा पठन-पाठन विधि को महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया गया था। समयान्तर में गुरुकुल काँगड़ी की अनेक शाखाएँ हरयाणा तथा पंजाब में स्थापित हुईं, जो सब शुरू में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रबन्ध व नियन्त्रण में थीं। गुरुकुल पद्धति के इन शिक्षणालयों का संचालन सभा द्वारा ही किया जाता था। बाद में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा ऐसे स्कूल और कॉलिज भी स्थापित किए गये, जिनमें डी०ए०वी० शिक्षण-संस्थाओं के सदृश सामान्य व प्रचलित शिक्षा दी जाती थी। सभा के शिक्षा-विषयक कार्यकलाप का इस "इतिहास" के तृतीय भाग में विशद् विवरण दिया गया है। यहाँ उसका निर्देश कर देना ही पर्याप्त है।

ओड, रहतिये आदि अछूत समझे जाने वाले लोगों के उद्धार का जो प्रयत्न आर्यसमाज द्वारा उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में किया गया था, उसका विवरण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भी दलितोद्धार का वह कार्य पूर्ववत् जारी रहा। ओड जाति का निवास प्रधानतया मुजफ्फरगढ़ जिले में था। उन्हीं के उद्धार के लिए सन् १८८८ में पण्डित गंगाराम ने आन्दोलन शुरू किया था। मुजफ्फरगढ़ जिले में मोहतम नाम की एक अन्य जाति थी, उसे भी अस्पृश्य माना जाता था। सन् १९०९ में गंगारामजी ने मोहतमों के उद्धार का भी बीड़ा उठाया, और उनकी शिक्षा के लिए मोचीवाली ग्राम में एक पाठशाला खोल दी, जो आगे चलकर

"आर्य मुसाफिर दलितोद्धार पाठशाला" के नाम से प्रसिद्ध हुई। सिन्ध में "वसिष्ठ" नामक एक अछूत जाति का निवास था। उस समय सिन्ध भी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के क्षेत्र में था। उसके तत्त्वावधान में सन् १६११ में खैरपुर नाथनशाह गाँव में वसिष्ठों की शुद्धि करायी गयी, जिसके कारण ऊँचे कुलों के हिन्दुओं ने आर्यों का बहिष्कार कर दिया। एक शुद्ध हुए वसिष्ठ का यज्ञोपवीत उतारकर फेंक दिया गया, और उसके शरीर पर गरम लोहे से यज्ञोपवीत अंकित कर दिया गया। पर इससे वसिष्ठों की शुद्धि एवं उद्धार के आन्दोलन को रोका नहीं जा सका। पण्डित भक्तराम ने मीरपुर (सिन्ध) के क्षेत्र में ४६ गाँवों के वसिष्ठों की शुद्धि की। इस प्रकार सिन्ध में जो वसिष्ठ शुद्धि द्वारा "आर्य" वना लिये गये, उनकी संख्या दस हजार के लगभग थी। गुरुदासपुर जिले में दो अछूत जातियां प्रमुख थीं—रहतिये और डूमने। वहाँ रहतियों की शुद्धि सन् १८६३ में शुरू हो गयी थी और इस कार्य के लिए बाबू तेजासिंह और बाबू कालीप्रसन्न चैटर्जी लाहौर से माधोपुर (जि० गुरुदासपुर) गये थे। पर इस जिले की अछूत जातियों में डूमनों की संख्या सबसे अधिक थी। उनमें कार्य करने के लिए पंजाव आर्य प्रतिनिधि सभा ने महाशय रौनकराम की नियुक्ति की। दीनानगर के आर्यसमाज को केन्द्र वनाकर उन्होंने डूमनों के उद्धार के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् महाशय गोकुलराम भी उनकी सहायता के लिए दीनानगर पहुँच गये। इन दोनों के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि २८ जुलाई, १६१२ को ६०० डूमनों का शुद्धि संस्कार बड़ी धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ। महात्मा मुंशीराम और पण्डित रामभजदत्त इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। पण्डितजी गुरुदासपुर जिले के निवासी थे। उन्हें अछूतों, विशेषतया डूमनों की शुद्धि में इतनी रुचि हो गयी कि अन्य सब काम छोड़कर वह इस काम के लिए जहाँ कहीं भी आवश्यकता हो, जा पहुँचते थे। डूमने उन्हें अपना गुरु मानते थे। शुद्ध हुए डूमनों को "महाशय" कहा जाता था। गुरुदासपुर जिले के मुसलमानों को डूमनों का आर्य या महाशय बन जाना सह्य नहीं हुआ। वे उन पर अत्याचार करने लगे, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से डूमने बहुत निर्बल थे। पण्डित रामभजदत्त ने डूमनों को मुसलमानों की ज्यादतियों से बचाने के लिए उनके गाँवों का दौरा किया और बीमार होते हुए भी नरोट जैलम सिंह तथा खतलौट ग्रामों में भाषण दिये। डाक्टरों के परामर्श की परवाह न कर बीमारी की दशा में भी रामभजदत्तजी जो डूमनों के गाँवों में भ्रमण कर रहे थे, उससे उनका रोग बढ़ गया और इसी कारण उनकी मृत्यु भी हो गयी। वस्तुतः, अछूतोद्धार के लिए उन्होंने अपने प्राणों की वलि दे दी थी। इस प्रकार के सशक्त आन्दोलन व कार्य का ही यह परिणाम हुआ, कि एक लाख के लगभग डूमने शुद्ध होकर 'महाशय' बन गये, और गुरुदासपुर जिले में एक भी डूमना ऐसा नहीं रहा, जिसे शुद्ध न कर दिया गया हो। उनकी सामाजिक व आर्थिक दशा के सुधार के लिए एक सभा भी आर्यसमाज द्वारा संगठित कर दी गयी, जिसे "महाशय कौमी सुधार सभा" कहा जाता था। पण्डित रामभजदत्त ने डूमनों के क्षेत्र का सन् १६२३ में दौरा किया था। उनके देहावसान के पश्चात् भी गुरुदासपुर जिले में दलितोद्धार का कार्य उत्साहपूर्वक होता रहा। इसी प्रयोजन से जुलाई, १६२६ में दीनानगर में एक कांफ्रेंस का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता महाशय कृष्ण ने की थी। अछूत समझे जाने वाले लोगों ने, जिन्हें आर्यसमाज ने "महाशय"

बना दिया था, इस कान्फ्रेंस में बड़े उत्साह से भाग लिया। इस क्षेत्र के मराड़ा गाँव में महाशयों के लिए एक पाठशाला भी स्थापित कर दी गयी थी, जिसमें दस्तकारी का काम भी सिखाया जाता था। बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा चार क्षेत्रों में दलितोद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था, मुजफ्फरगढ़ और मुलतान में ओडों तथा मोहतमों की शुद्धि का, जालन्धर और लुधियाना में रहतियों की शुद्धि का, सिन्ध में वसिष्ठों की शुद्धि का और गुरुदासपुर में डूमनों की शुद्धि का। पर अछूतों को शुद्ध कर हिन्दू (आर्य) समाज का अंग बना लेने का कार्य इन्हीं क्षेत्रों व जातियों तक ही सीमित नहीं रहा। कुछ समय पश्चात् दलितोद्धार का कार्य बहुत व्यापक रूप से प्रारम्भ कर दिया गया। पंजाब के सियालकोट, गुरुदासपुर और गुजरात जिलों में एक अन्य अछूत जाति का निवास था, जिसे "मेघ" कहते थे। जम्मू-काशमीर रियासत में भी मेघों की आबादी थी। सन् १९११ की जनगणना में इस जाति के लोगों की संख्या १,१५,४२९ लिखी गयी है और सन् १९२१ की जनगणना की रिपोर्ट में तीन लाख के लगभग। यद्यपि मेघों का पेशा कपड़ा बुनना था, पर हिन्दू उन्हें अस्पृश्य मानते थे। हिन्दू न उनके हाथ का खाना खाते थे, न उन्हें मन्दिरों में जाने देते थे, और न उन्हें अपने कुओं से पानी भरने देते थे। मेघों को कोई हिन्दू अपने घर में नौकर भी नहीं रखता था, क्योंकि उनके स्पर्श मात्र से ही उन्हें अपवित्र हो जाने का भय बना रहता था। उनकी इस हीन दशा की ओर लाला गंगाराम वकील का ध्यान आकृष्ट हुआ। गंगारामजी सियालकोट के निवासी थे, और वहाँ के आर्यसमाज की जान थे। उनकी प्रेरणा से सन् १९०३ के प्रारम्भ में सियालकोट समाज ने मेघों को शुद्ध कर हिन्दू समाज में समुचित स्थान दिलाने का संकल्प किया, और इसके लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। १९०३ के मार्च मास के अन्तिम सप्ताह में सियालकोट आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव था। निश्चय किया गया, कि उस अवसर पर मेघों की शुद्धि का श्रीगणेश कर दिया जाए। न केवल सनातनी हिन्दुओं ने ही, अपितु ईसाइयों और मुसलमानों ने भी इसका विरोध किया, पर आर्य लोग अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए। २८ मार्च, १९०३ को २०० मेघों की शुद्धि कर दी गयी। पर आर्यसमाज के इस कार्य को सवर्ण हिन्दू और मुसलमान सह नहीं सके। सियालकोट के राजपूत और मुसलमान जमींदारों के सम्मुख मेघों की स्थिति अर्ध-दासों के समान थी। वह उन्हें दबाकर रखते थे और किसी भी दशा में उन्हें बराबरी का दर्जा देने को तैयार नहीं थे। मेघ उन्हें "गरीब नवाज" कह कर बुलाया करते थे। शुद्ध हुए मेघों ने उन्हें "नमस्ते" करना शुरू किया, जिसे उन्होंने अपना अपमान समझा। उनका कहना था, कि "नमस्ते" से बराबरी का संकेत मिलता है। परिणाम यह हुआ कि राजपूतों ने शुद्ध हुए मेघों को लाठियों से पीटा और मुसलमान जमींदारों ने उन्हें न अपने कुओं में पानी भरने दिया और न अपने पृथक् कुएँ खोदने दिये। मेघों पर झूठे मुकदमे भी चलाये गये। पर इन अत्याचारों से शुद्धि का काम बन्द नहीं हुआ। आर्यसमाजी जी-जान से मेघों की सहायता के लिए कटिबद्ध थे। वे उनके साथ खान-पान का व्यवहार करते थे, पर्वों और संस्कारों के अवसर पर उनसे मिलते-जुलते थे, और उनमें शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्नशील थे। आर्यों ने उन्हें मेघ के स्थान पर "आर्यभक्त" कहना शुरू कर दिया था। मेघ लोग अनेकविध शिल्प सीखकर अपनी आर्थिक दशा को उन्नत कर सकें, इस प्रयोजन से आर्यसमाज

द्वारा उनके लिए एक दस्तकारी स्कूल भी खोल दिया गया था। धीरे-धीरे मेघों के उद्धार का कार्य इतना बढ़ गया कि सन् १९१० में इसके लिए "आर्य मेघोद्धार सभा" नाम से एक पृथक् सभा स्थापित कर दी गयी, जिसके प्रधान राय ठाकुरदत्त धवन और मंत्री लाला गंगाराम वकील थे। यद्यपि इस सभा में सियालकोट आर्यसमाज का प्रमुख स्थान था, पर अन्य समाजों के प्रतिनिधियों को भी इसमें सम्मिलित किया गया था।

मेघों की दशा को सुधारने के लिए आर्यसमाज द्वारा जो अनेकविध कार्य किये गये, उनमें शिक्षा-प्रसार मुख्य था। उन्हें शिल्प की शिक्षा देने के प्रयोजन से जो दस्तकारी स्कूल खोला गया था, वह बाद में एक हाईस्कूल के रूप में परिवर्तित हो गया। उसके साथ एक आश्रम भी खोल दिया गया, जिसमें रहने वाले छात्रों को केवल आटा ही अपने घरों से लाना होता था, उनकी अन्य सब आवश्यकताएँ आर्यसमाज द्वारा पूरी की जाती थीं। हाईस्कूल के अतिरिक्त आर्य मेघोद्धार सभा के तत्त्वावधान में देहात में सात प्राइमरी स्कूल भी खोले गये, जिनके कारण मेघ लोगों को शिक्षा प्राप्त करने की अच्छी सुविधा प्राप्त हो गयी थी। सन् १९०६ में सियालकोट आर्यसमाज के प्रधान लाला देवीदयाल ने २००० रुपये इस प्रयोजन से दान दिये, ताकि उनके सूद से मेघ विद्यार्थियों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था की जा सके। इससे गुरुकुल गुजरांवाला में दो मेघ बालक निःशुल्क दाखिल किये गये, और वहाँ उन्होने उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् १९०९ में लाला ज्ञानचन्द्र पुरी ने मेघ बालकों को वेदशास्त्रों की शिक्षा दिलाने के सम्बन्ध में कुछ लेख "प्रकाश" पत्र में प्रकाशित किये, जिन्हें पढ़कर डेरा इस्माईल खाँ के पुस्तक विक्रेता श्री सायरूंसिंह ने गुरुकुल काँगड़ी में एक मेघ बालक को शिक्षा दिलाने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान कर दी। इससे "आर्य भक्त" महाशय केसरचन्द के पुत्र ईश्वरदत्त को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया गया, और वह वहाँ चौदह वर्ष नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १९२५ में स्नातक हुए। इस प्रकार आर्यसमाज के प्रयत्न से जो मेघ बालक उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकने में समर्थ हो गये थे, उनमें अछूतपना नाम को भी नहीं रहा था। उनके विवाह उच्च जातियों में हुए और अध्यापक सदृश प्रतिष्ठित पदों पर उनकी नियुक्ति हुई।

अछूत समझे जाने वाली जातियों की आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिए सरकार द्वारा भूमि प्रदान करने का निश्चय किया गया था, ताकि वहाँ मेघ सदृश अछूत जातियों के लोग खेती कर सकें। इसीलिए सन् १९१० में क्रिश्चियन सोसायटियों को ५५०० एकड़ और मुक्ति फौज (साल्वेशन आर्मी) को २००० एकड़ कृषियोग्य भूमि दे दी गयी थी, और वहाँ उन्होंने अछूतों को बसाकर अपने धर्म के प्रभाव में लाना प्रारम्भ कर दिया था। आर्य मेघोद्धार सभा ने भी शुद्ध हुए मेघों (आर्यभक्तों) के लिए सरकार से भूमि प्राप्त करने का प्रयत्न किया, और उसमें वह सफल भी हो गयी। खानेवाल स्टेशन के समीप एक अच्छा बड़ा भूखण्ड मेघोद्धार सभा को दे दिया गया, जहाँ उसने "आर्यनगर" नाम से एक नयी बस्ती बसाने की योजना बनायी। बहुत-से आर्यभक्त परिवार वहाँ खेती के लिए बस गये। आर्यसमाज ने उनके हित-कल्याण पर भी समुचित ध्यान दिया। बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिए वहाँ पाठशालाएँ खोली गयीं और चिकित्सा के लिए एक हॉस्पिटल। समुचित मूल्य पर वस्तुओं की उपलब्धि के लिए वहाँ एक सहकारी भण्डार भी खोल दिया गया और आर्यनगर में एक आर्यसमाज भी स्थापित कर दिया गया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि आर्यनगर एक आदर्श बस्ती

बन गया। आर्यसमाज द्वारा संचालित अछूतोद्धार आन्दोलन के कारण अछूत समझे जाने वाली जातियों की आर्थिक और सामाजिक दशा में किस प्रकार उन्नति हो रही थी, इस विवरण से उसका सहज में ही अनुमान किया जा सकता है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में अछूतोद्धार के आन्दोलन को यद्यपि पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी, पर उसे बहुत-सी बाधाओं और विरोध का भी सामना करना पड़ा था। बहुधा यह विरोध अत्यन्त उग्र रूप भी धारण कर लेता था, और उसके कारण आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं को जीवन की बलि तक दे देनी पड़ती थी। अछूतों की दशा के सुधार के लिए जिन आर्यों ने अपने तन-मन-धन को स्वाहा कर दिया, उनमें महाशय रामचन्द्र को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। वह जम्मू-काश्मीर राज्य के कठुवा जिले के निवासी थे, और सन् १८९६ में उनका जन्म हुआ था। साधारण शिक्षा प्राप्त कर वह सरकारी सेवा में खजानची के पद पर नियुक्त हो गये थे। वह कट्टर आर्यसमाजी थे, और दलितोद्धार की उन्हें धुन थी। जहाँ कहीं उन्हें खजानची के कार्य पर भेजा जाता, यदि वहाँ आर्यसमाज न होता तो वह वहाँ उसकी स्थापना कर देते। बसोहली और साम्बा में उन्हीं के पुरुषार्थ से आर्यसमाज स्थापित हुए थे। कठुआ में सन् १९१० में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी, पर वहाँ भी वैदिक धर्म के प्रचार के कार्य में महाशय रामचन्द्र ने अनुपम उत्साह प्रदर्शित किया। सन् १९२२ में उनकी बदली अखनूर हो गयी। वहाँ भी उन्होंने आर्यसमाज का कार्य शुरू कर दिया। अखनूर और उसके आसपास के पहाड़ी प्रदेश में मेघों की अनेक बस्तियाँ थीं। उन्होंने एक मकान किराये पर लेकर मेघों के लिए पाठशाला खोल दी। खजानची के काम से उन्हें जब भी फुरसत मिलती, वह मेघों की उन्नति के कार्य में लग जाते। आधी रात तक उनकी बस्तियों में घूमना, उन्हें पढ़ाना, रोगियों को दवा देना और उनके सुख-दुःख में शामिल होना उनका रोज का काम था। महाशयजी का यह कार्य ऊँची जाति के हिन्दू नहीं सह सके। विशेषतया, मेघों की शिक्षा से उन्हें सख्त ऐतराज था। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने आर्यसमाजियों का बहिष्कार कर दिया। उच्च जातियों के हिन्दू लोगों ने उनसे सब नाते तोड़ दिये, जिससे परेशान होकर अन्य आर्यसमाजी तो इस समझौते के लिए तैयार हो गये, कि मेघों की पाठशालाएँ बस्तियों से दूर खोली जाएँ, बस्ती के अन्दर नहीं, पर महाशय रामचन्द्र इससे सहमत नहीं हुए। उनका कहना था कि कोई भी मनुष्य या जाति अछूत नहीं है, अतः मेघों के बच्चों को अछूत समझकर उनके अन्य बच्चों से मिलने-जुलने में क्यों रुकावट डाली जाये। उनके प्रयत्न से मेघों की पाठशाला के लिए जमीन प्राप्त हो गयी, और उस पर उपयुक्त इमारत भी बनकर तैयार करा ली गयी। अखनूर की पाठशाला की सफलता से समीप की अन्य बस्तियों के मेघों में भी उत्साह का संचार हुआ, और वे भी पाठशालाएँ खोलने के लिए प्रयत्न करने लग गये, अखनूर से चार मील की दूरी पर बटौहड़ा की बस्ती है। वहाँ के मेघों ने महाशयजी को पाठशाला स्थापित करने के लिए निमन्त्रित किया। उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर वह ३१ दिसम्बर, १९२२ को बटोहड़ा पहुँचे। कुछ आर्य सज्जन और विद्यार्थी 'ओ३म्' के झण्डे लिये हुए उनके साथ थे। उन्हें देखकर राजपूत लोग भड़क गये, और उन्होंने लाठियाँ लेकर आर्यों पर हमला कर दिया। पर रामचन्द्रजी इससे घबराये नहीं। उन्होंने १४ जनवरी, १९२३ को पाठशाला खोलने का दिन नियत कर दिया, और उसके लिए लाहौर से एक उपदेशक भी बुला लिया। जम्मू से भी कतिपय

प्रतिष्ठित आर्य सज्जन बटोहड़ा आ गये। वहाँ के राजपूतों को यह भली-भाँति ज्ञात था कि मेघोद्धार का जो कार्य उनके क्षेत्र में किया जा रहा है, उस सबके मूल में महाशय रामचन्द्र ही हैं। उन्होंने उनकी हत्या का षड्यन्त्र किया, और डेढ़ सौ के लगभग व्यक्तियों ने भालों, बरछों और लाठियों से उन पर आक्रमण कर दिया। घायल दशा में उन्हें सरकारी हॉस्पिटल पहुँचाया गया, जहाँ २० जनवरी, १९२३ के दिन उनकी मृत्यु हो गयी। महाशय रामचन्द्र जब तक जीवित रहे, अछूतोद्धार के लिए जी-जान से प्रयत्न करते रहे और इसी के लिए उन्होंने अपने जीवन की भी आहुति दे दी। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने उनकी स्मृति को स्थायी रखने के लिए एक 'रामचन्द्र स्मारक' की स्थापना की और उस स्थान पर प्रति वर्ष मेला लगाना शुरू किया, जहाँ उनका बलिदान हुआ था। महाशय रामचन्द्र के बलिदान से अछूतोद्धार आन्दोलन को बहुत बल मिला। इससे पौराणिक व रूढ़िवादी राजपूतों के विरुद्ध रोष की लहर फैल गयी और सर्वत्र उनके घृणित कार्य की निन्दा की जाने लगी। उसी साल जम्मू में एक विशाल शुद्धि सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता महाशय कृष्ण ने की थी। हजारों नर-नारी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए और उन्होंने छुआछूत को जड़ से मिटा देने का संकल्प किया। जम्मू, बुटहरा, बरकतपुर और ऊधमपुर आदि स्थानों पर उन्हीं दिनों ऐसी पाठशालाएँ खोली गयीं, जिनमें अछूत जातियों के बच्चों की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था थी। अछूतोद्धार के कार्य में नयी शक्ति के संचार के प्रयोजन से मार्च, १९२३ में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने "पंजाब दयानन्द दलितोद्धार मण्डल" की स्थापना की। सन् १९२६ की मण्डल की रिपोर्ट से ज्ञात होता है, कि उसके प्रयत्न से उस वर्ष तक अकेले सियालकोट जिले में आठ हजार चमार आर्यसमाज में सम्मिलित हो चुके थे और वहाँ के बटवालों में भी उत्साहपूर्वक कार्य किया जा रहा था। इस जाति के सौ के लगभग व्यक्तियों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया था, पर मण्डल ने उन्हें शुद्ध कर आर्य बना लिया। लायलपुर, गुरुदासपुर आदि जिलों में भी यह मण्डल अत्यन्त सक्रिय था। गुरुदासपुर जिले में दस स्थानों पर मण्डल द्वारा उत्सव किए गये, और १८१६ चमारों की शुद्धि की गयी। मण्डल की १९२६ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है, कि उस द्वारा बावरियों और साँसियों में भी कार्य किया जा रहा था। ये जातियाँ जरायम-पेशा थीं, और इनमें प्रचार का अभिप्राय इन्हें अपराध-वृत्ति से दूर हटाकर सभ्य जीवन बिताने के लिए प्रेरित करना भी था। दलितोद्धार के कार्य को और अधिक सशक्त बनाने के प्रयोजन से मई, १९३० में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने "दयानन्द दलितोद्धार सभा" नाम से एक पृथक् संगठन के निर्माण का निश्चय किया। इस सभा ने अपने कार्यक्षेत्र को बारह मण्डलों में विभक्त कर प्रत्येक मण्डल का एक-एक अधिष्ठाता नियुक्त किया, और अछूतोद्धार की उत्तरदायिता उन्हीं पर छोड़ दी गयी। ये मण्डल जम्मू, गुरुदासपुर, मुलतान, फीरोजपुर, सियालकोट, शिमला, लाहौर, लुधियाना, किस्टवार, मीरपुर, बटाला और रामसू के थे। इनके प्रयत्न से सन् १९३० में ५३००, १९३१ में १०००, १९३२ में १७०० और १९३३ में १५३० नर-नारियों को शुद्ध कर आर्य बनाया गया था। सन् १९३३ के पश्चात् भी यह सभा अछूतोद्धार के लिए निरन्तर प्रयत्न करती रही, यद्यपि महात्मा गांधी तथा कांग्रेस द्वारा संचालित हरिजन आन्दोलन के कारण बाद में इनके कार्य में कुछ शिथिलता आने लग गयी थी। लोग गांधीजी के हरिजन आन्दोलन की ओर अधिक

आकृष्ट होने लग गये थे, जिसका प्रभाव आर्यसमाज की दलितोद्धार सभा के कार्य पर पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। दलितों के उद्धार के लिए जो कष्ट आर्यसमाजियों ने उठाये, इस प्रकरण में उनका भी कुछ निर्देश आवश्यक है। अछूत समझे जाने वाले लोगों के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या पानी की थी, क्योंकि ऊँची जाति के लोग उन्हें कुओं से पानी नहीं भरने देते थे। आर्यसमाज ने आन्दोलन कर बहुत-से स्थानों पर अछूतों को कुओं से पानी प्राप्त करने की सुविधा प्रदान कराई, और जहाँ ऐसा कर सकना सम्भव नहीं हुआ, वहाँ उनके लिए नये कुओं का निर्माण कराया। उस समय पुराने ढंग के हिन्दुओं का यह हाल था, कि वे हिन्दू अछूतों को तो कुओं पर नहीं चढ़ने देते थे, पर यदि वे मुसलमान हो जाएँ तो वे निःसंकोच कुओं का उपयोग कर सकते थे। आर्य उपदेशकों ने इसकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और उनके समझाने पर बहुत-से स्थानों पर ऊँची जाति के हिन्दू अछूतों को अपने कुओं से पानी लेने देने के लिए उद्यत हो गये। पर ऐसे उदाहरण भी विद्यमान हैं जबकि अछूतों तथा उनके सहायक आर्यों के विरुद्ध ऊँची जाति के लोगों ने हिंसात्मक साधनों को प्रयुक्त किया। ऐसी कतिपय घटनाओं का उल्लेख इसी अध्याय में आर्यसमाजों के विस्तार का विवरण देते हुए किया भी गया है।

दलितोद्धार का कार्य केवल पंजाब तक ही सीमित नहीं था। संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) आदि अन्य प्रदेशों में भी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता अछूत समझे जाने वाले लोगों की शुद्धि तथा उन्हें हिन्दू समाज में समुचित स्थान प्रदान कराने के लिए प्रयत्नशील थे। स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) ने आवश्यकता अनुभव की, कि इस कार्य को अखिल भारतीय स्तर पर सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए दिल्ली में एक केन्द्रीय संगठन का निर्माण किया जाये। इसीलिए सन् १९२४ में उन्होंने अखिल भारतीय दलितोद्धार सभा की स्थापना की, जिसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में था। डॉक्टर सुखदेव इस सभा के मन्त्री थे और प्रधान का पद स्वामीजी ने स्वयं ग्रहण किया था। इस समय तक महात्मा मुंशीराम संन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी श्रद्धानन्द बन चुके थे, और गुरुकुल काँगड़ी के मुख्याधिष्ठाता पद से भी उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था। दिल्ली में रहकर वह हिन्दू संगठन तथा शुद्धि के आन्दोलनों का संचालन कर रहे थे, और दलितोद्धार सभा की स्थापना उन्होंने इसी प्रयोजन से की थी, कि हिन्दू जाति के इस बड़े भाग की दुर्दशा को दूर कर हिन्दुओं की शक्ति में वृद्धि की जाए।

अछूत समझे जाने वाले लोगों की शुद्धि करना और उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराना उतना कठिन नहीं था, जितना कि उन्हें सवर्ण लोगों के समकक्ष स्थिति प्रदान कर अपने समाज में सम्मिलित करना। जातिभेद हिन्दू जाति की विशेषता है। हिन्दू लोग ब्राह्मण, राजपूत, वैश्य, कायस्थ, जाट आदि जातियों में विभक्त हैं और प्रत्येक जाति या बिरादरी की अपनी-अपनी परम्परागत प्रथाएँ व रीति-रिवाज हैं। विवाह तथा खान-पान आदि के सम्बन्ध में उनकी अपनी पृथक् मर्यादाएँ व मान्यताएँ हैं। कुछ जातियाँ ऊँची मानी जाती हैं, और कुछ की सामाजिक स्थिति हीन समझी जाती है। स्थिति का निर्धारण कर्म से न होकर जन्म के आधार पर होता है। अछूत लोगों की शुद्धि कर लेने पर भी यह समस्या बनी रही, कि हिन्दू समाज में उनकी क्या स्थिति हो, उन्हें किस वर्ण में गिना जाये और उनके साथ सामाजिक व्यवहार का क्या स्वरूप हो। यह तो स्पष्ट था कि जाति-पाँति के भेदभाव से ग्रस्त पुराने ढंग के हिन्दू समाज में शुद्ध हुए इन 'अछूत'

लोगों को बराबरी का व समुचित स्थान प्राप्त करा सकना सम्भव नहीं था। अतः कतिपय आर्य नेताओं ने यह विचार करना प्रारम्भ किया कि आर्यसमाजियों को पुरानी जातियों की उपेक्षा कर अपनी पृथक् बिरादरी बना लेनी चाहिये। ५ मई, १६०० के अंक में 'आर्य पत्रिका' द्वारा यह विचार इस प्रकार प्रकट किया गया था—"आवश्यकता इस बात की है कि एक वैदिक सोसायटी या समाज बना लिया जाये, जिसे आर्य बिरादरी, आर्य जाति, आर्य भ्रातृसभा या आर्य धर्म सभा सदृश किसी भी नाम से कहा जा सकता है।" पर यह विचार क्रियान्वित नहीं हो सका। आर्यसमाजी लोग भी अपनी जन्मगत जाति से पृथक् होने और सब जातियों के लोगों के साथ मिलकर एक नयी बिरादरी बनाने को उद्यत नहीं हुए। शुद्धि और अछूतोद्धार के कार्य को व्यापक रूप से करने में यह बाधा अवश्य थी, पर क्योंकि अब मेघ, डोम आदि जातियों की बड़े पैमाने पर सामूहिक रूप से शुद्धि प्रारम्भ कर दी गयी थी, अतः "आर्य भक्त" व "महाशय" आदि नामों में उनकी पृथक् बिरादरियाँ बनती गयीं, जिन्हें कम-से-कम आर्यसमाजी लोग अछूत व हीन नहीं मानते थे और शिक्षा आदि द्वारा जिनके लोगों की दशा को उन्नत करने के लिए वे सशक्त रूप से प्रयत्न कर रहे थे।

विधर्मियों (मुसलमानों और ईसाइयों) की शुद्धि का काम महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही प्रारम्भ कर दिया गया था। उनके देहावसान के पश्चात् भी आर्यसमाजी प्रचारक इस कार्य में तत्पर रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में अमृतसर, लाहौर, गुजरांवाला, रावलपिण्डी और क्वेटा आदि के आर्यसमाजों द्वारा अनेक ईसाइयों तथा मुसलमानों की शुद्धि की गयी थी। अकेले अमृतसर आर्यसमाज में सन् १८८४ में ३९ और १८८५ में ५५ विधर्मी व्यक्ति शुद्ध होकर वैदिक धर्म के अनुयायी बन गये थे। कतिपय पौराणिक पण्डित भी इस कार्य में आर्यसमाज की सहायता करने लगे थे, क्योंकि उन्होंने इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था कि जो हिन्दू किन्हीं कारणों से मुसलमान या ईसाई बन गये थे, उन्हें अपने पुराने धर्म में वापस आने का अवसर प्रदान किया ही जाना चाहिये। ऐसे पण्डितों में श्री तुलसीराम का नाम उल्लेखनीय है। उनके सहयोग से जिन विधर्मियों को शुद्ध कर हिन्दू बनाया गया, उन्हें गंगा में स्नान करने के लिए हरद्वार भेजा जाता था, और वहाँ पौराणिक विधि से उन्हें प्रायश्चित्त कराया जाता था। पर यह दशा देर तक नहीं रही। आर्यसमाजियों ने शुद्धि संस्कार की अपनी पृथक् विधि बना ली, और उसी के अनुसार विधर्मियों की शुद्धि प्रारम्भ कर दी। इस विधि में यज्ञ-हवन के पश्चात् यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है, और फिर गायत्री मन्त्र की शिक्षा दी जाती है। शुद्ध हुए व्यक्ति का नाम भी बदल दिया जाता है। शुद्ध हुए व्यक्ति को समाज का अंग स्वीकृत कर लिया गया है, इसे प्रमाणित करने के लिए उससे हलवा या कोई अन्य खाद्य पदार्थ बँटवाया जाता है, जिसे सब उपस्थित नर-नारी ग्रहण करते हैं। उन्नीसवीं सदी में विधर्मियों की जो अनेक शुद्धियाँ आर्यसमाज द्वारा की गयीं, उनका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। बीसवीं सदी में भी यह सिलसिला जारी रहा, और शुद्धियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सन् १६०३ में गुजरांवाला आर्यसमाज ने एक मुस्लिम युवक को शुद्ध कर आर्य बनाया था, जिसकी कुछ वर्षों तक बहुत चर्चा रही। इस युवक का नाम अब्दुल गफूर था। वह एक सुशिक्षित व्यक्ति था और एक इस्लामिया स्कूल का मुख्याध्यापक

था। पर उसकी मनोवृत्ति अत्यन्त अस्थिर थी। इसी कारण उसने अनेक धर्म बदले। कुछ समय वह ईसाई रहा और कुछ समय ब्राह्मसमाजी तथा देवसमाजी। फिर उसने आर्यसमाज में प्रवेश कर लिया और अब्दुल गफूर से "धर्मपाल" बन गया। वह एक कुशल वक्ता और प्रभावशाली लेखक भी था। कुछ समय तक उसने आर्यसमाज में बहुत सम्मान प्राप्त किया। पर शीघ्र ही अपनी आदत के अनुसार उसने वैदिक धर्म का भी परित्याग कर दिया, और आर्यसमाज तथा उसके कार्यकर्त्ताओं पर घृणित आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये। डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज ने उसे अपने घर में आश्रय दिया था। उसने उनपर भी दोष लगाने शुरू कर दिये, जिसके कारण उसे अदालत द्वारा सजा भी दी गयी। "धर्मपाल" तो देर तक आर्यसमाज में नहीं रहा, पर इससे शुद्धि आन्दोलन को विशेष क्षति नहीं हुई। शुद्धि का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया, और पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा भी अनेक विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाया जाता रहा। सन् १९०९ में दिल्ली आर्यसमाज के उत्सव पर डेकी नाम के एक यूरोपियन की शुद्धि कर उसे "धर्मदेव" नाम दिया गया। वैदिक धर्म में उसकी निष्ठा स्थायी रही। पर ईसाई और मुसलमान आदि विधर्मियों को शुद्ध कर वैदिक धर्म का अनुयायी बनाने का जो महान् कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया, उसका प्रधान केन्द्र पंजाब न होकर संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) और दिल्ली थे। उसका स्वरूप अखिल भारतीय था। स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में हिन्दू संगठन और शुद्धि के जो सशक्त आन्दोलन संचालित किये गये थे, उन पर इस ग्रन्थ के एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इस भारतव्यापी आन्दोलन से पंजाब का जो भाग विशेष रूप से प्रभावित हुआ था, वह भी अब हरयाणा के रूप में एक पृथक् राज्य है।

(३) जनता की सेवा तथा समाज सुधार के विविध कार्य

समाज सुधार के सम्बन्ध में आर्यसमाज का कार्य केवल अछूतोद्धार तक ही सीमित नहीं था। अनाथों, बेसहारा अबलाओं और विधवाओं की सहायता तथा संरक्षण के लिए भी आर्यसमाज द्वारा महत्त्वपूर्ण व उपयोगी कार्य किया गया। क्रिश्चियन मिशन अपने धर्म का प्रचार करने के लिए अनाथालयों को स्थापित किया करते थे। जिन बच्चों का कोई अभिभावक न हो, ईसाई अनाथालयों में उनका पालन-पोषण किया जाता था। वे क्रिश्चियन वातावरण में बड़े होते थे, और स्वाभाविक रूप से क्रिश्चियन धर्म को अपना लेते थे। अनाथ बच्चों की समस्या की ओर महर्षि दयानन्द सरस्वती का ध्यान गया था और उन्होंने फीरोजपुर में एक आर्य अनाथालय की स्थापना भी की थी (सन् १८६६)। हिन्दू जाति का यह प्रथम अनाथालय था जिसे आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने स्थापित किया था। यह संस्था अब बहुत विकसित हो चुकी है और इसका संचालन प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जा रहा है। इस अनाथालय द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया, उसका उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया गया है। उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में अनाथों की समस्या ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया था, क्योंकि मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान आदि के दुर्भिक्षों के कारण इन प्रदेशों के बहुत-से बच्चे अनाथ हो गये थे। फीरोजपुर के आर्य अनाथालय ने तो इन अनाथों की रक्षा व पालन-पोषण के लिए भगीरथ प्रयत्न किया ही था, पर महात्मा पार्टी के आर्यसमाजियों का भी इस समस्या की ओर

ध्यान गया, और जालन्धर आर्यसमाज के सहयोग से वहाँ के कन्या महाविद्यालय ने एक कन्या अनाथालय की स्थापना की। मध्य प्रदेश के दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्र से लायी गयी उन्नीस कन्याएँ इस अनाथालय में प्रविष्ट की गयीं। इन्हें शिक्षा की वे सब सुविधाएँ दी गयीं, जो कन्या महाविद्यालय की छात्राओं को प्राप्त थीं। जालन्धर के इस कन्या अनाथालय की स्थापना सन् १८६० में की गयी थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में मुजफ्फरगढ़ जिले में अछूतोद्धार का जो प्रयत्न पण्डित गंगाराम द्वारा प्रारम्भ किया गया था, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दलितों का उद्धार करते हुए पण्डितजी का ध्यान अनाथों की ओर भी आकृष्ट हुआ, और सन् १९०५ में उन्होंने सिन्ध के एक अनाथ बालक को उस पाठशाला में प्रविष्ट कर दिया, जिसकी स्थापना उन्होंने अछूत बच्चों की शिक्षा के लिए मुजफ्फरगढ़ में की थी। इस बालक के भरण-पोषण की व्यवस्था भी वहाँ के आर्यसमाज द्वारा कर दी गयी। इस प्रकार वहाँ एक अनाथालय की भी नींव रखी गयी, जो सन् १९०६ में एक पृथक् व सुव्यवस्थित संस्था के रूप में विकसित हो गया। पण्डित गंगाराम सरकारी सर्विस में थे। उन्होंने अनुभव किया कि सर्विस में रहते हुए वह अनाथालय पर समुचित ध्यान नहीं दे सकते। सर्विस से त्याग-पत्र देकर वह अनाथों तथा अछूतों की सेवा तथा उद्धार के कार्य में लग गये और उनके प्रयत्न से मुजफ्फरगढ़ के अनाथालय का खूब विकास हुआ। सन् १९१६ में उसकी शाखा लाहौर में खोल दी गयी। सन् १९२६ में उसे रावी रोड पर ले जाया गया, जहाँ महाशय शालिग्राम ने अपनी एक इमारत इसके लिए दान दे दी थी। क्योंकि यह अनाथालय पंजाब की राजधानी में स्थित था, अतः स्वाभाविक रूप से इसकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी, और यह मुजफ्फरगढ़ के मूल अनाथालय से अधिक महत्त्व प्राप्त कर गया। सन् १९२६ में ही "पंजाब अनाथ रक्षिणी सभा" नाम से एक पृथक् संस्था की रजिस्ट्री करा दी गयी और लाहौर के अनाथालय का प्रबन्ध उसके सुपुर्द कर दिया गया। सन् १९११ में पण्डित गंगाराम ने गुरुकुल बेट सोहनी स्थापित किया, जिसका उद्देश्य अछूतों तथा अनाथों को निःशुल्क शिक्षा देना था। शुरू में यह गुरुकुल मुजफ्फरगढ़ के अनाथालय की प्रबन्ध समिति के अधीन रहा, पर बाद में काँगड़ी गुरुकुल की शैली पर इसका विकास किया गया और उसका प्रबन्ध पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के हाथों में दे दिया गया। पण्डित गंगाराम द्वारा लायलपुर, झंग, मिण्टगुमरी और बसोहली (जम्मू) में भी अनाथालय स्थापित किये गये थे। इनमें लायलपुर का अनाथालय बहुत अच्छी दशा में था। उसका अपना भव्य भवन था, जिसकी आधारशिला स्वामी सत्यानन्द द्वारा रखी गयी थी। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब या महात्मा पार्टी से सम्बन्ध रखने वाला एक आर्य अनाथालय पटौदी हाउस दिल्ली में सन् १९१९ में स्थापित हुआ था। समयान्तर में इसने बहुत उन्नति की, और सामान्य शिक्षा के साथ-साथ अनेकविध कलाओं तथा शिल्पों को सिखाने की भी वहाँ व्यवस्था की गयी। महामारी, दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक विपत्तियों के अवसर पर जनता की सहायता के कार्य में भी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्यसमाज के अन्य संगठनों ने पूरे उत्साह के साथ हाथ बटाया। सन् १९०१ से १९०६ तक पंजाब में प्लेग का प्रकोप रहा, जिसमें स्थानीय आर्यसमाजों द्वारा जहाँ ओषधि आदि से रोगियों की चिकित्सा की गयी, वहाँ साथ ही हवन से वायु-शुद्धि के लिए भी प्रयत्न किया गया। ४ एप्रिल, सन् १९०५ के दिन काँगड़ा में भूकम्प

आया था, जिसके कारण धन जन की बहुत क्षति हुई थी। भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए आर्यसमाजों द्वारा स्वयं-सेवक भेजे गये, और काँगड़ा रिलीफ फण्ड की स्थापना की गयी, जिसमें १३,५१,६४६ रुपया एकत्र हो गया। उस समय की यह राशि आज के करोड़ों रुपये के बराबर थी। सन् १६१७-१८ में गढ़वाल में दुर्भिक्ष पड़ा। गढ़वाल बिजनौर जिले के साथ लगा हुआ है, और गुरुकुल काँगड़ी बिजनौर के उत्तरी भाग में स्थित था। स्वामी श्रद्धानन्द के लिए अपने पड़ोस की इस प्राकृतिक विपत्ति की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ, और उन्होंने दुर्भिक्ष के निवारण के लिए समाचार-पत्रों में एक अपील प्रकाशित की। स्वामीजी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के सर्वमान्य नेता थे। उनकी अपील पर आर्यसमाजों ने दिल खोलकर धन दिया, और शीघ्र ही सत्तर हजार रुपये गढ़वाल के दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता के लिए एकत्र हो गये। गुरुकुल काँगड़ी के बहुत से प्राध्यापक, कर्मचारी और विद्यार्थी जनता की सेवा के लिए गढ़वाल पहुँच गये और १६१८ की ग्रीष्म ऋतु में उन्होंने वहाँ खूब काम किया। गढ़वाल के भीषण दुर्भिक्ष के अवसर पर जनता की सहायता के लिए महात्मा हंसराज ने भी अपील की थी, और आर्यसमाज की दोनों पार्टियों ने इस सम्बन्ध में सहयोग से कार्य किया था। जून, १६३४ में बिहार में एक भयंकर भूकम्प आया था जिसके कारण कितने ही नगर और गाँव पूरी तरह से नष्ट हो गये थे। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस दैवी विपत्ति से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए एक उपसमिति का निर्माण किया। पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा उसके प्रधान थे। वह पण्डित ज्ञानचन्द्र को साथ लेकर भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए बिहार गये। वहाँ वस्त्र और भोजन बिना मूल्य बाँटे गये और जो लोग बेघरबार हो गये थे, उनके लिए झोपड़ियों का निर्माण कराया गया। लाहौर के उत्साही आर्य कार्यकर्ता महाशय बोसाराम और महाशय श्यामलाल बिहार में रहकर भूकम्प पीड़ितों की सहायता करते रहे। सन् १६३५ में क्वेटा में भूकम्प आया, जिसमें प्रायः सम्पूर्ण क्वेटा नगर नष्ट हो गया। हजारों नर-नारी मृत्यु के ग्रास बने, और करोड़ों की सम्पत्ति विनष्ट हो गयी। क्वेटा का आर्यसमाज बिलोचिस्तान में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रधान केन्द्र था। वहाँ उसका विशाल व भव्य भवन था। वह भी भूकम्प के कारण पृथ्वी के गर्भ में समा गया। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से क्वेटा में भी भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए व्यवस्था की गयी। इसके लिए जो उपसमिति बनायी गयी, उसके भी पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा ही प्रधान थे।

दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प आदि की प्राकृतिक विपत्तियों और प्लेग सदृश महामारियों से पीड़ित जनता की सेवा के लिए पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के समान आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा भी बहुत व्यापक रूप से कार्य किया गया था। महात्मा हंसराज के नेतृत्त्व में किये गये इस सेवाकार्य का विवरण अगले अध्याय में पृथक् रूप से दिया गया है।

समाज सुधार के लिए जो अनेकविध कार्य पंजाब में आर्यसमाज द्वारा किये गये, उनमें विधवा-विवाह का समर्थन, विधवाओं और असहाय स्त्रियों की सहायता के लिए आश्रमों व सभाओं की स्थापना, बाल विवाह का विरोध, जात-पाँत तोड़कर विवाह सम्बन्ध व सामाजिक व्यवहार का प्रचलन और अनेकविध सामाजिक कुरीतियों का निवारण मुख्य है। इन सबके लिए जो आन्दोलन हुए, उनका क्षेत्र बहुत व्यापक था और उनके लिए पृथक् रूप से स्थापित विविध संगठन केवल पंजाब तक ही सीमित नहीं थे,

अतः उन पर अन्यत्र यथास्थान प्रकाश डाला जायेगा। पर यहाँ कुछ ऐसे कार्यकलापों का उल्लेख आवश्यक है जो प्रधानतया पंजाब तक ही सीमित थे। जात-पाँत के भेदभाव को मिटाने के लिए डॉ० चिरंजीव भारद्वाज ने जिस "आर्य शिरोमणि सभा" का गठन किया था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में लाहौर में "जात पाँत तोड़क मण्डल" की स्थापना हुई, जिसके प्रमुख नेता पण्डित सन्तराम बी० ए० थे। यद्यपि यह मण्डल आर्यसमाज के संगठन के अन्तर्गत नहीं था, पर इसका संचालन आर्यसमाजियों द्वारा ही किया जा रहा था। यह मण्डल जात-पाँत तोड़कर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आन्दोलन करता था। जन्म के आधार पर जाति-भेद के स्थान पर गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य को सम्मुख रख कर सन् १९३४ में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने लाहौर में "वर्णाश्रम संघ" स्थापित किया। इस संघ द्वारा यह यत्न किया गया, कि युवक और युवतियों के वर्णों का निर्धारण गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार किया जाए। पण्डित बुद्धदेव ने अनेक व्यक्तियों को गुणकर्मानुसार वर्णों की दीक्षा भी दी थी और संघ के उद्देश्य की पूर्ति के प्रयोजन से मेरठ (उत्तरप्रदेश) में प्रभात आश्रम भी स्थापित किया था।

(४) पंजाब में आर्यसमाजों का विस्तार

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पंजाब में आर्यसमाजों का बहुत तेजी के साथ विस्तार हुआ, और बहुत-से नये आर्यसमाज स्थापित हुए। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या सन् १९३५ तक ५०४ हो गयी थी और सन् १९४१ में यह संख्या ६०० तक पहुँच गयी थी। इन सब समाजों की स्थापना कब और किन नर-नारियों के प्रयत्न से हुई, इसका पूरा विवरण इस समय उपलब्ध नहीं है। सन् १९४७ में भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप सभा का बहुत-सा पुराना रिकार्ड नष्ट हो गया है और ऐसे व्यक्ति भी इस समय बहुत कम जीवित हैं, जिन्हें इन समाजों के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में कोई जानकारी हो। फिर भी जिन कतिपय आर्यसमाजों की स्थापना आदि के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकी है, उसका उल्लेख आर्यसमाज आन्दोलन के प्रारम्भिक रूप को समझने में सहायक होगा।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध समाजों में सोनीपत के आर्यसमाज की स्थापना सन् १९०१ में डॉक्टर महाराज कृष्ण के प्रयत्न से हुई थी। कुछ वर्ष तक यह समाज बहुत सक्रिय रहा, परं जब डॉक्टर महाराज कृष्ण दिल्ली आकर बस गये, तो इसके कार्य में शिथिलता आ गयी। सन् १९१६ में लाला जगन्नाथ द्वारा इस समाज में नवजीवन का संचार किया गया और शीघ्र ही उसका अपना भवन तैयार कर लिया गया। सन् १९०२ में स्थापित समाजों में शोरकोट (झंग), दीपालपुर (मिण्टगुमरी) और धनिये का बाँगर (गुरुदासपुर) के आर्यसमाज उल्लेखनीय हैं। सभा के उपदेशक पण्डित रामरत्न शोरकोट में धर्म-प्रचार के लिए गये थे। उनके प्रचार तथा लाला कालाराम हेडमास्टर और महाशय अरुड़चन्द आदि सज्जनों के प्रयत्न से सन् १९०२ में वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया था, और उसी वर्ष वहाँ समाज मन्दिर का भी निर्माण कर लिया गया था। इस समाज के साथ पुत्री पाठशाला भी विद्यमान थी और एक वाचनालय भी। ओडों की शुद्धि का भी यह समाज केन्द्र था। दीपालपुर में मुंशी सुखराम

दास, लाला लछमनदास और बाबू परमेश्वरीदास आदि सज्जन वैदिक धर्म से प्रभावित थे, और एक साथ बैठकर सन्ध्योपासना किया करते थे। इन्हीं द्वारा वहाँ सन् १९०२ में आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी। गुरुदासपुर जिले की घनिये की बाँगर नगरी में सन् १९०२ में ही आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी, जिसके लिए पण्डित सोमराज ने बहुत प्रयत्न किया था। महाशय मूलचन्द इस समाज के प्रथम प्रधान थे, और श्री ठाकुरसिंह प्रथम मन्त्री। सन् १९०३ में इस समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ था, जिसमें मुसलमानों और ईसाइयों से शास्त्रार्थ भी हुए थे। सन् १९०३ में करनाल जिले के सालवन और रादौर नगरों में, पटियाला के तलवंडी नगर में, गुड़गाँवा जिले के बहूड़ा में, हिमाचल प्रदेश की डगसाई नगरी में और सरगोधा तथा फरीदकोट में आर्यसमाज स्थापित हुए थे। सालवन (करनाल) में समाज की स्थापना का श्रेय सभा के उपदेशक पण्डित शम्भुदत्त को प्राप्त है। वह वहाँ कई वर्ष से धर्म-प्रचार कर रहे थे। दो वर्ष बाद सन् १९०५ में जब सालवन समाज का वार्षिकोत्सव हुआ, तो पण्डित गणपति शर्मा भी वहाँ गये थे, और उनके व्याख्यानों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था। रादौर (करनाल) में समाज की स्थापना श्री लालाराम के पुरुषार्थ से हुई थी। पण्डित गंगादत्त वहाँ प्रचार के लिए गये थे, और उनके व्याख्यानों की वहाँ धूम मच गयी थी। इस समाज के प्रथम वार्षिकोत्सव में पण्डित पूर्णानन्द और पण्डित हरनामसिंह सदृश विख्यात आर्य विद्वान् भी पधारे थे। गुड़गाँवा जिले के बहूड़ा नगर में भी सन् १९०३ में आर्यसमाज स्थापित हो गया था। कुछ वर्ष पश्चात् वहाँ वैदिक कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी थी, और चमारों की शुद्धि कर उन्हें आर्य बनाना भी प्रारम्भ कर दिया गया था। डगसाई (हिमाचल प्रदेश) में बाबू नानकचन्द वर्मा के पुरुषार्थ से आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। समीप के पार्वत्य प्रदेश में इस समाज ने बहुत कार्य किया और शुद्धि-आन्दोलन में भी सक्रिय रूप से भाग लिया। सरगोधा अब पाकिस्तान में है, पर भारत विभाजन से पूर्व वहाँ का आर्यसमाज बहुत सक्रिय था और उस द्वारा एक पुत्री पाठशाला भी चलायी जा रही थी। इस समाज की स्थापना पण्डित परसराम (बाद में स्वामी निजात्मानन्द) के पुरुषार्थ से हुई थी और शुरू में समाज के अधिवेशन भी उन्हीं की दुकान पर हुआ करते थे। सन् १९०४ में इस समाज का अपना भवन बनना प्रारम्भ हो गया था। उसकी आधारशिला सर माल्कम हेली द्वारा रखी गयी थी, जो उन दिनों सरगोधा में सेटलमेंट ऑफिसर थे। बाद में सर हेली ने बहुत उन्नति की, और वह पंजाब के गवर्नर पद तक पहुँच गये। सन् १९०६ में सरगोधा समाज में पुत्री पाठशाला की स्थापना हुई, और १९०८ में उसका प्रथम वार्षिकोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया। बाद में इस आर्य-समाज ने बहुत उन्नति की। सरगोधा के आर्यों को समाज के लिए इतना उत्साह था कि वहाँ दैनिक सत्संग हुआ करता था। फरीदकोट में आर्यसमाज की स्थापना पण्डित तुलसीराम के प्रयत्न से हुई थी। उनके कर्तृत्व का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने अपने प्राणों की बलि दे दी थी। सन् १९०४ में स्थापित हुए दो आर्यसमाजों के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध है, जम्मू-काश्मीर राज्य में ऊधमपुर और गुरुदासपुर जिले में घुमान के समाजों की। ऊधमपुर में आर्यसमाज की स्थापना तो सन् १९०४ में हो गयी थी, पर प्रारम्भ के वर्षों में उसका कार्य प्रायः शिथिल रहा। सन् १९२२ में उसमें तीव्रता आने लगी, और ऊधमपुर भी

मेघों की शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। अनेक मुसलिम परिवारों को भी वहाँ की समाज ने शुद्ध किया। घुमान (गुरुदासपुर) में आर्यसमाज की स्थापना में बावा गुलाबदास हकीम का विशेष कर्तृत्त्व था। वही उस समाज के प्रथम प्रधान थे। बाद में बाबा दासराम ने इस समाज को केन्द्र बनाकर समीपवर्ती ग्रामों में बहुत प्रचार किया, और विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थ भी किये। सन् १९०५ में स्थापित आर्यसमाजों में मीरपुर (जम्मू), सनावां (मुजफ्फरगढ़), रामामण्डी (पटियाला), भूपालवाला (सियालकोट), पेशावर शहर (आसिया) और चविण्डा (सियालकोट) के समाज उल्लेखनीय हैं। मीरपुर में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रारम्भ डाक्टर करुणाशंकर और पण्डित सन्तराम वकील के पुरुषार्थ से हुआ था और उन्हीं के प्रयत्न से वहाँ १९०५ में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। कुछ समय बाद ही वहाँ पुत्री पाठशाला खोल दी गयी, और समीप के प्रदेश में उत्साहपूर्वक धर्म का प्रचार किया जाने लगा। इसी के परिणामस्वरूप बाद में कोटली और पुंछ आदि में भी समाज स्थापित हुए। शुद्धि के कार्य में भी इस समाज ने बहुत तत्परता प्रदर्शित की। अछूत समझे जाने वाली वसिष्ठ जाति के अनेक परिवारों की मीरपुर समाज ने शुद्धि की, और पौराणिकों के उग्र विरोध का बड़ी वीरता के साथ सामना किया। इस क्षेत्र में शुद्धि का जो कार्य हुआ, उसका प्रधान श्रेय सभा के उपदेशक पण्डित भक्तराम को प्राप्त है। सनावां (मुजफ्फरगढ़) में समाज की स्थापना लाला रामचन्द और लाला मुलतानीराम के पुरुषार्थ से हुई थी (१९०५) और तीन वर्ष पश्चात् वहाँ आर्य कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी थी। इस आर्यसमाज के कार्यकर्ता अत्यन्त उत्साही थे। इसी कारण सन् १९०५ में ही वहाँ समाज भवन के निर्माण का भी श्रीगणेश कर दिया गया था। वहाँ दैनिक सत्संग की प्रथा भी शुरू कर दी गयी थी और समाज द्वारा एक पुस्तकालय भी स्थापित कर दिया गया था। पटियाला के रामामण्डी नगर में पण्डित अमीचन्द उपदेशक की प्रेरणा से आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट के आधार पर समाज के सक्रिय कार्यकर्ता पण्डित परसराम और महाशय रौनकसिंह को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था और उनके विरुद्ध राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया था। इस मुकदमे का उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया गया है। हिन्दी पाठशाला, कन्या पाठशाला और एंग्लो वैदिक मिडल स्कूल सदृश शिक्षण-संस्थाएँ भी इस समाज द्वारा स्थापित की गयीं थीं। भूपालवाला (सियालकोट) के प्राइमरी स्कूल में लाला देवीदास अध्यापक थे। उन्हीं के पुरुषार्थ से वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई। शिक्षा के क्षेत्र में इस समाज ने बहुत सराहनीय कार्य किया। उस द्वारा एक शिक्षणालय खोला गया, जो सन् १९१९ में हाई स्कूल के स्तर तक पहुँच गया था। पण्डित मूलराज इस समाज के प्रथम प्रधान थे। पेशावर में आर्यसमाज की स्थापना उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में ही हो गयी थी और सन् १८८९ में उसका अपना मन्दिर भी बनना शुरू हो गया था। पेशावर शहर के एक अन्य भाग मुहल्ला ककड़ा में सन् १९०५ में 'आर्य संगत' नाम से एक अन्य संगठन का निर्माण हुआ, जो बाद में आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गया। चविण्डा (सियालकोट) में आर्यसमाज की स्थापना (१९०५) होने पर सनातनियों ने उसका इतना विरोध किया, कि उनके बहकावे में कहारों ने आर्य-समाजियों के घरों में पानी भरना भी बन्द कर दिया। इस दशा में वहाँ के आर्य नेता महाशय टेकचन्द कई दिनों तक स्वयं आर्य घरों में पानी भरते रहे। बाद में यह समाज

बहुत शक्तिशाली हो गया, और इसके तत्त्वावधान में दलितोद्धार के कार्य की बहुत प्रगति हुई। सन् १९०५ में ही बंगा (जालन्धर) में भी आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसके लिए बाबा गंगाकिशन ने बहुत पुरुषार्थ किया था। १९१२ में वहाँ एक हिन्दी पाठशाला भी खोल दी गयी, और कुमार सभा की स्थापना द्वारा युवकों में धर्म-प्रचार का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया।

सन् १९०६ में कैमलपुर और पिण्डी भट्टियाँ (गुजरांवाला) में आर्यसमाज स्थापित हुए थे। कैमलपुर उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (पाकिस्तान) में है। बाबू नत्थूराम, लाला ढेराशाह और बाबू अच्छरु राम ने वहाँ आर्यसमाज की स्थापना के लिए बहुत कार्य किया। कुछ वर्ष पश्चात् सन १९१२ में वहाँ समाज द्वारा एक कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी। पिण्डी भट्टियाँ में प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित दौलतराम और ठाकुर प्रवीणसिंह ने बड़ी लगन के साथ वैदिक धर्म का प्रचार किया था, और उसी के परिणामस्वरूप वहाँ समाज की स्थापना हुई थी। सन् १९०६ में इस आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ, जिसमें स्वामी योगेन्द्रपाल ने इस्लाम पर व्याख्यान दिये, और पण्डित धर्मदेव ने सिक्ख पंथ के ग्रन्थी सरदार करतारसिंह लासायी से शास्त्रार्थ किया। इस उत्सव में एक शास्त्रार्थ पौराणिकों से वेदान्त के विषय पर भी हुआ, जिसमें सभा के उपदेशक पण्डित विश्वनाथ ने आर्यसमाज के पक्ष को प्रस्तुत किया था। इन शास्त्रार्थों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा, और पिण्डी भट्टियाँ में आर्यसमाज की जड़ सुदृढ़ हो गयी। इसी कारण सन् १९०६ में वहाँ आर्य पुत्री पाठशाला स्थापित हुई, और सन् १९१६ में गौशाला। एक आर्य कुमार पाठशाला भी इस समाज द्वारा खोली गयी, पर वह केवल दो साल तक चल सकी। सन् १९२९ में इस नगरी में स्त्री समाज भी स्थापित हो गया था। सन् १९०६ में दौलतनगर (गुजरात) और भागियाँ (शेखूपुरा) में आर्य-समाजों की स्थापना हुई थी। दौलतनगर में वैदिक धर्म का प्रचार सन् १९०६ से पहले ही शुरू हो गया था और १८९६ में वहाँ एक आर्य मिडल स्कूल भी खोल दिया गया था। सन् १९०५ में पण्डित पूर्णानन्द ने वहाँ बरकत राम नाम के एक व्यक्ति की शुद्धि भी की थी। मुसलमानों के प्रभाव से इसने इस्लाम ग्रहण कर लिया था। १९०६ में दौलत-नगर में औपचारिक रूप से आर्यसमाज की स्थापना हुई, और उसके लिए भवन भी तैयार कर लिया गया। इस समाज द्वारा मेघों की शुद्धि के लिए भी बहुत प्रयत्न किया गया। सन् १९१० में गुलाबू नाम के एक मेघ को शुद्ध करके आर्य बना लिया गया था। जब उसकी मृत्यु हुई, तो सनातनियों ने उसके शव को श्मशान में दाह करने से रोकना चाहा। पर आर्यसमाजी इससे घबराये नहीं, सनातनियों के उग्र विरोध के बावजूद उन्होंने गुलाबू का वैदिक रीति से अन्त्येष्टि संस्कार किया। इस पर पौराणिक हिन्दुओं ने आर्यों का बहिष्कार कर दिया, पर आर्य अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहे, और बहिष्कार की कोई परवाह न कर शुद्धि के कार्य में उन्होंने शिथिलता नहीं आने दी। सन् १९१३ में वहाँ सनातनियों के साथ एक बड़ा शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित चाननराम और पण्डित राजाराम थे। इस शास्त्रार्थ से जनता पर वैदिक धर्म का प्रभाव बहुत बढ़ गया, और न केवल अछूतों को ही, अपितु मुसलमानों को भी शुद्ध कर हिन्दू बनाने का श्रीगणेश हो गया। कुछ समय पश्चात् दौलतनगर में स्त्री समाज भी स्थापित किया गया। भागियाँ में आर्यसमाज की स्थापना एप्रिल, १९०६ में हुई थी। शुद्धि के लिए

इस समाज ने बहुत अच्छा कार्य किया। सन् १९१८ में उस द्वारा एक बड़े सहभोज का आयोजन किया गया था, जिसका भोजन मेघों द्वारा तैयार किया गया था। अगले वर्ष १९१९ में प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित पूर्णानन्द का वहाँ शुद्धि के विषय पर पौराणिक पण्डित रामचन्द्र से शास्त्रार्थ हुआ था, जिसका जनता पर बहुत उत्तम प्रभाव पड़ा था। इस समाज के पुराने कार्यकर्ताओं में महाशय मथुरादास और महाशय वजीरचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९०८ में स्थापित आर्यसमाजों में तख्तहजारा (जिला सरगोधा) का समाज उल्लेखनीय है। वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार सन् १९०१ में श्री प्रभुदयाल द्वारा प्रारम्भ कर दिया गया था। पर सन् १९०८ में जब पण्डित भोज-राजेश्वर वहाँ पधारे, तो आर्यसमाजी विचार के लोगों में नयी शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया। पण्डितजी ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध अनेक व्याख्यान दिये, जिनके कारण पौराणिकों में खलबली मच गयी। उनके वहकाने पर कुछ लोगों ने गाली-गलौच प्रारम्भ कर दी, और पण्डितजी के विरुद्ध बल प्रयोग का भी प्रयत्न किया, पर इससे आर्यसमाज का कार्य बन्द नहीं हुआ और वहाँ औपचारिक रूप से आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी। सन् १९०९ में स्थापित हुए आर्यसमाजों में केवल दो के विषय में जानकारी उपलब्ध है, गोजरा (लायलपुर) और इन्दौरा (काँगड़ा) के आर्यसमाजों की। गोजरा में बाबू नाथाराम ने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था। बाद में स्वामी सर्वदानन्द वहाँ पधारे, और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर लोगों ने आर्यसमाज की स्थापना की। शुद्धि के क्षेत्र में गोजरा आर्यसमाज द्वारा बहुत सराहनीय कार्य किया गया था। चमार, बूटवाल, मेघ और डोम आदि जातियों के साथ-साथ ईसाई आदि विधर्मियों में भी गोजरा के आर्यों ने शुद्धि का कार्य किया, और सैकड़ों नर-नारियों को अपने धर्म में स्थिर रहने के लिए प्रेरित किया। इस आर्यसमाज के तत्त्वावधान में एक कन्या पाठशाला, आर्यकुमार सभा और पुस्तकालय सदृश संस्थाएँ भी विद्यमान थीं। काँगड़ा जिले के इन्दौरा नामक नगर में भी सन् १९०९ में आर्यसमाज स्थापित हो गया था। शुद्धि और विधवा विवाह के कामों में इस समाज का विशेष कर्तृत्त्व था। उसके मंदिर के लिए श्रीमती दुर्गादेवी ने भूमि प्रदान की थी, और चौधरी रामसिंह रईस ने आर्थिक सहायता। जड़ांवाला (लायलपुर), वस्ती गुजाँ (जालन्धर) और फतेहगढ़ चूढ़िया (गुरुदासपुर) में सन् १९१० में आर्यसमाज स्थापित हुए थे। जड़ांवाला में आर्यसमाज की स्थापना तथा विकास में श्री मेहता जैमिनी, बाबू गंगाकिशन, बाबू किशनचन्द, पण्डित बनवारीलाल, बाबू मेवाराम और लाला रामचन्द का विशेष कर्तृत्त्व था। इस समाज ने शुद्धि के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया और बहुत से अछूतों को शुद्ध कर आर्य वनाया। सन् १९२८ में वहाँ एक अछूतोद्धार कान्फ्रेंस बड़ी धूमधाम के साथ हुई थी, जिसकी अध्यक्षता पण्डित नेकीराम शर्मा ने की थी। अछूत जातियों के बालकों के लिए एक पाठशाला भी इस समाज द्वारा चलायी जा रही थी। जड़ांवाला में शुद्धि का कार्य केवल अछूत जातियों तक ही सीमित नहीं रहा। अनेक जन्म के मुसलमानों को भी वहाँ के आर्यसमाज ने शुद्ध किया। वस्ती गुजाँ में आर्यसमाज की स्थापना तथा कार्यकलाप में लाला भय्यादास, महाशय फकीरचन्द, लाला दीवानचन्द, लाला मलावाराम और डॉक्टर वजीरचन्द का प्रमुख कर्तृत्त्व था। इस समाज द्वारा जहाँ एक प्राइमरी स्कूल की स्थापना की गयी, वहाँ साथ ही "वज्राङ्ग एसोसियेशन" नाम से एक अन्य संस्थान का

भी निर्माण किया गया, जिसमें नवयुवकों को व्यायाम के लिए प्रेरित किया जाता था। फतेहगढ़ चूढिया में आर्यसमाज की स्थापना पण्डित पूर्णानन्द और ठाकुर प्रवीणसिंह के प्रचार का परिणाम थी। समाज के प्रचार ने वहाँ इतना प्रभाव उत्पन्न किया, कि मौलवी मुहम्मद लतीफ अपनी पत्नी तथा पुत्री के साथ शुद्ध होकर आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गया, और उसका नाम बदलकर महाशय वेदप्रकाश रख दिया गया। इससे हिन्दू लोग बहुत उद्विग्न हुए और उन्होंने आर्यों का बहिष्कार कर दिया। पर इससे आर्यसमाज के कार्य में कोई रुकावट नहीं आयी, और आर्य लोग पूर्ववत् उत्साह के साथ प्रचार तथा शुद्धि में तत्पर रहे।

सन् १९१० के पश्चात् जो बहुत से आर्यसमाज पंजाब में स्थापित हुए उन सब का उल्लेख कर सकना न इस "इतिहास" में सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। पर कतिपय आर्यसमाजों का यहाँ केवल इस कारण उल्लेख किया जा रहा है, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी महत्त्व की बात के साथ था। रावलपिण्डी जिले में चोहा-भक्तां आर्यसमाज (स्थापना वर्ष १९१२) का महत्त्व इस कारण है, क्योंकि उसके क्षेत्र में स्वामी दर्शनानन्द ने एक गुरुकुल की स्थापना की थी। यह गुरुकुल पोठोहार नाम से प्रसिद्ध था और पण्डित मुक्तिराम चिरकाल तक इसके आचार्य रहे थे। सन् १९१२ में स्थापित जबालपुर कीकनां (जिला जेहलम) समाज में आर्य सभासदों को सन्ध्या-हवन सिखाने तथा धर्मग्रन्थों को पढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वहाँ सत्संग भी प्रतिदिन हुआ करता था। सियालकोट जिले की सनखतरा बस्ती में सन् १९१३ में आर्यसमाज की नींव पड़ी। वहाँ समाज का प्रभाव इतना बढ़ गया कि कुछ वर्ष पश्चात् ५०० के लगभग चमारों को शुद्ध कर आर्य बना लिया गया। दलितोद्धार और शुद्धि के लिए वहाँ इतना उत्साह था कि पण्डित नत्थूराम सदृश आर्य अपने व्यापार-व्यवसाय की ओर ध्यान न देकर शुद्धि के कार्य में ही लगे रहा करते थे। उनके प्रयत्न से सियालकोट जिले के हजारों डोम शुद्ध होकर आर्यसमाजी बन गये। नत्थूरामजी के प्रधान सहयोगी लाला बुद्धामल थे और प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित रामस्वरूप को उन्होंने अपने क्षेत्र में काम करने के लिए बुला लिया था। सनखतरा के समीप दूधोचक, सूद, लुडयाल, डला, फत्तोवाल, मंचारा और भलोर ब्रह्मनां आदि ग्रामों में चमार, मेघ आदि अछूत समझे जाने वाले लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। इन सबकी शुद्धि कर दी गयी। सनखतरा के आर्यों में वैदिक धर्म के प्रति कितनी लगन थी, इसका अनुमान करने के लिए यही निर्दिष्ट कर देना पर्याप्त है कि वहाँ आर्यसमाज मन्दिर की आवश्यकता को अनुभव कर बुद्धामलजी ने अपना एक मकान समाज को दान दे दिया था। गुरुदासपुर जिले के धर्मकोट रन्धावा में भी सन् १९१३ में ही आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इसमें महाशय बुआदित्तामल, महाशय काशीराम और महाशय पूर्णचन्द्र का कर्तृत्व विशेष महत्त्व का था। यह आर्यसमाज भी ऐसे क्षेत्र में स्थित था, जहाँ अछूतों का बड़े पैमाने पर शुद्धि की जा रही थी, और जिसके कारण सनातनी लोग आर्यसमाज का उग्र रूप से विरोध करने में तत्पर थे। अक्तूबर, १९१४ में जब धर्मकोट रन्धावा में दशहरे का मेला लगा हुआ था, लब्भूराम नाम का एक शुद्ध हुआ मेघ मेला देखने के लिए आया। महाशय पूर्णचन्द उसे अपने घर ले गये, और वहाँ उसने चौके में बैठकर भोजन किया। इस पर बिरादरी के लोगों ने पूर्णचन्द और उनके साथियों को जाति से बहिष्कृत कर दिया,

और उन्हें कुओं से पानी भरने से भी रोकने लगे। पर आर्यों ने इसकी कोई चिन्ता नहीं की और सनातनियों का डटकर मुकाबला करते रहे। धर्मकोट रन्धावा के आर्यसमाजी मुसलमानों की शुद्धि के लिए भी प्रयत्नशील थे। स्वामी विशानानन्द एक प्रसिद्ध आर्य संन्यासी थे, जो जन्म के मुसलमान थे। वह इसी नगर के निवासी थे, और महाशय काशीराम तथा महाशय पूर्णचन्द सदृश निष्ठावान् आर्यसमाजियों के सम्पर्क में आ कर उन्होंने वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया था। सन् १९१४ की बात है कि एक हिन्दू युवक मुसलिम युवती से विवाह करने के लिए स्वयं मुसलमान हो जाने को उद्यत था। पर आर्यसमाजियों ने न केवल उसे ही मुसलमान होने से बचाया, अपितु उस युवती को शुद्ध कर उन दोनों का विवाह भी करा दिया। इस शुद्धि से सनातनी हिन्दुओं को बहुत उद्वेग हुआ और वे आर्यों का बहिष्कार करने के लिए उठ खड़े हुए। पर आर्यसमाजी अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहे। धर्मकोट रन्धावा में आर्यसमाज द्वारा सन् १९२० में एक पुत्री पाठशाला की स्थापना की गयी और युवक वर्ग में कार्य करने के प्रयोजन से "आर्य युवक समाज" का भी गठन किया गया। पंजाब में आर्यसमाज के इतिहास में सन् १९१५ का इस दृष्टि से विशिष्ट स्थान है, कि इस वर्ष वहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण व सक्रिय आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। हिमाचल प्रदेश का एक नगर चम्बा है। वहाँ पहले 'मित्र सभा' नाम से एक संगठन विद्यमान था, जिसके सदस्य सुधारवादी व प्रगतिशील विचारों के थे। ये समय-समय पर आर्य विद्वानों को भी विचार-विनिमय तथा भाषणों के लिए बुलाते रहते थे। उनके निमन्त्रण पर मास्टर दुर्गाप्रसाद, महात्मा हंसराज, पण्डित जगतसिंह, पण्डित गणपति शर्मा तथा श्री रामभजदत्त सदृश आर्य विद्वान् समय-समय पर चम्बा जाकर धर्म का प्रचार करते रहे। इस प्रकार वहाँ आर्यसमाजी विचारों का बीजारोपण हो गया और ईसाइयों के लिए उस पहाड़ी प्रदेश में अपने धर्म का प्रचार कर सकना सम्भव नहीं रहा। इसी प्रसंग में श्री योगेन्द्रपाल चम्बा गये और वहाँ उनके १८ व्याख्यान हुए। जनता पर इनका इतना अधिक प्रभाव पड़ा, कि बहुत से ईसाई हुए व्यक्ति शुद्ध होकर पुनः अपने पुराने धर्म में वापस लौट आए। मित्र सभा ही बाद में आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गयी और इस द्वारा अछूतोद्धार के कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। चम्बा और उसके समीपवर्ती प्रदेश में हाली नामक एक अछूत जाति का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। इनकी शुद्धि पर आर्यसमाज ने विशेष ध्यान दिया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार चम्बा के क्षेत्र में आर्यों की संख्या ८३६६ तक पहुँच गयी थी, जबकि दस साल पूर्व सन् १९२१ में वहाँ केवल ४८ आर्य थे। चम्बा आर्यसमाज को अछूतों की शुद्धि के कार्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सनातनी हिन्दू उनपर कठोर अत्याचार करने में तत्पर थे। उस समय चम्बा एक रियासत थी। वहाँ की सरकार भी शुद्धि की विरोधी थी। उस द्वारा शुद्ध हुए हालियों पर कभी जुरमाने किये जाते और कभी उनका चालान कर दिया जाता। उनके लिए पनचक्की का प्रयोग और पानी लाने का मार्ग भी बन्द कर दिया गया। एक ग्राम में आर्यों के विरुद्ध यह रिपोर्ट की गयी कि उन्होंने नागदेवता को बलि नहीं चढ़ायी है। हिमाचल प्रदेश में देवी-देवताओं को बलि देकर सन्तुष्ट करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। पर आर्यों का कहना था कि जीवहिंसा पाप है, और देवी-देवताओं को मानना व उन्हें बलि देना वैदिक धर्म के अनुकूल नहीं है। पर उनकी एक न सुनी गयी।

उनपर जुरमाना कर दिया गया और जुरमाने से वसूल हुई रकम से नाग देवता को बलि दे दी गयी। आर्यों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उसे सहन न कर पण्डित रामशरण ने रियासत की सर्विस से त्यागपत्र दे दिया और अपनी सब शक्ति व समय वैदिक धर्म के प्रचार में लगाने लगे। आर्यसमाज को प्रचार-कार्य में कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, इसे समझने के लिए चम्बा आर्यसमाज की प्रगति का अनुभव बहुत उपयोगी है। काँगड़ा के पर्वतीय प्रदेश में डेरा गोपीपुर नाम की एक नगरी है, जहाँ १९१५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। लाला किशोरीलाल सूद का इसमें विशेष कर्तृत्व था। आर्यसमाज द्वारा लोग जहाँ धर्म का ज्ञान प्राप्त करते थे, वहाँ देशप्रेम, राष्ट्रीयता और स्वदेशी की भावना भी उससे प्रचारित की जाती थी। इसीलिए अनेक आर्यसमाजों में लाला लाजपत राय और लोकमान्य तिलक सदृश राष्ट्रीय नेताओं के चित्र भी लगाये जाया करते थे। सन् १९१८ में काँगड़ा का डिप्टी कमिश्नर जब डेरा गोपीपुर आया, तो आर्यसमाज भवन में लगे इन चित्रों को देखकर भड़क गया। उसने इन्हें उतरवा दिया और पुस्तकालय को बन्द कर पुलिस का पहरा बिठवा दिया। पुस्तकालय की तलाशी ली गयी और आर्यसमाज के सदस्यों को डराया-धमकाया गया। लाला किशोरी लाल को हिरासत में ले लिया गया, और जिला बोर्ड के स्कूल के हेडमास्टर को केवल इस कारण मुअत्तल कर दिया गया, क्योंकि वह आर्यसमाजी थे। इन सब विघ्न-बाधाओं के बावजूद डेरा गोपीपुर का आर्यसमाज निरन्तर उन्नति करता गया और उस द्वारा जानकी कन्या पाठशाला, पुस्तकालय व वाचनालय तथा आर्य युवक समाज स्थापित किए गये। जानकी कन्या पाठशाला की स्थापना लाला किशोरीलाल ने अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती जानकीदेवी की पुण्य स्मृति में मार्च, सन् १९१६ में की थी। सन् १९१९ में इस समाज के एक एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल को स्थापित किया था। काँगड़ा जिले की ही एक अन्य नगरी टौणी देवी में भी सन् १९१६ में ही आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। उस समय वहाँ महाशय गुरुबख्श राम तथा ठाकुर निरंजनसिंह समाज के प्रधान कार्यकर्ता थे। उन्होंने शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया, जिसके कारण उन्होंने एक आर्य स्कूल तथा एक कन्या पाठशाला की स्थापना की, जिनसे जनता को बहुत लाभ हुआ। पंजाब में लाहौर (बच्छोवाली) का आर्यसमाज सबसे पुराना था, जिनकी स्थापना जून, १८७७ में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा की गयी थी। बाद में वहाँ अन्य अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए। सन् १९१५ में लाहौर में किला गूजरसिंह और काह्नानौ में समाजों की स्थापना हुई थी। किला गूजरसिंह में पहले एक "आर्य क्लब" था, जिसके प्रधान श्री रामप्रसाद थे। बाद में पण्डित गंगाप्रसाद के प्रयत्न से इसे आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। शुद्धि, दलितोद्धार, अन्तर्जातीय भोज आदि समाज सुधार के कार्यों में इस समाज द्वारा सक्रिय रूप से भाग लिया गया और एक आर्य पुत्री पाठशाला भी चलायी गयी। काह्नानौ में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की स्थापना का प्रधान श्रेय पण्डित कृष्ण को प्राप्त है। यही बाद में संन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी धीरानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। धीरानन्दजी ने आर्यसमाज के लिए बहुत कार्य किया। उनके प्रयत्न से लाहौर, अमृतसर और गुरुदासपुर जिलों में नौ आर्यसमाज और छह कन्या पाठशालाएँ स्थापित हुई थीं। शुद्धि और विधवा विवाह का कार्य भी उन्होंने बड़े उत्साह के साथ किया था। वह चिरकाल तक आर्य

प्रतिनिधि सभा, पंजाब में अवैतनिक उपदेशक के रूप में कार्य करते रहे थे। बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में स्थापित आर्यसमाजों में लखपुर (कपूर्थला), तलागंज (कैमलपुर), दिल्ली हनुमान रोड, डेरा बाबा नानक (गुरुदासपुर), जलालपुर पीरवाला (मुलतान), चीचावन्ती (मिण्टगुमरी) और कोककुली (रोहतक) के समाज उल्लेखनीय हैं। लखपुर का आर्यसमाज सन् १९१९ में स्थापित हुआ था। उस द्वारा आर्य पुत्री पाठशाला भी चलायी गयी थी, और एक पुस्तकालय भी खोला गया था। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (पाकिस्तान) में स्थित लखपुर नगरी में पण्डित भोजराजेश्वर द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया गया था, जिसके परिणामस्वरूप फरवरी, १९२० में वहाँ हकीम कृष्णलाल के घर पर आर्यसमाज स्थापित हो गया था। बाद में समाज का अपना भवन बन गया, और वहाँ दैनिक रूप से सत्संग होने लगे। समयान्तर में इस समाज ने बहुत उन्नति की, और इसके सभासदों की संख्या एक सौ तक पहुँच गयी थी। समाज द्वारा "आर्य सहायक सभा" नाम से एक पृथक् संस्था का निर्माण किया गया, जिसका उद्देश्य अनाथों, विधवाओं और पीड़ितों की सहायता करना था। आर्य पुत्री पाठशाला और पुस्तकालय भी इस समाज ने स्थापित किए थे और आर्य वीर दल तथा आर्य स्त्री समाज की भी वहाँ स्थापना कर दी गयी थी। वर्तमान समय में दिल्ली में आर्यसमाजों की संख्या २०० के लगभग है। पर इनमें से बहुत से समाज भारत के विभाजन के पश्चात् स्थापित हुए हैं। पुराने आर्यसमाजों में हनुमान रोड, नयी दिल्ली का समाज भी एक है, जिसकी स्थापना ८ जनवरी, १९२० के दिन हुई थी। शुरू में यह समाज रायसीना में लाला श्रद्धाराम के मकान में था, जहाँ स्वामी अच्युतानन्द तथा पण्डित रामचन्द्र देहलवी की उपस्थिति में इसे स्थापित किया गया था। श्री श्रद्धाराम इस समाज के प्रथम प्रधान थे, और महाशय हरनारायणसिंह वर्मा मन्त्री। १९२८ में लाला नारायणदत्त ठेकेदार के प्रयत्न से हनुमान रोड पर वह भूमि समाज को प्राप्त हुई, जहाँ अब विशाल समाज-भवन विद्यमान है। यह भवन सन् १९३३ में बनकर तैयार हो गया था। उस पर कुल लागत ५५,००० रुपये आयी थी, जिसे श्रीमती सतभ्रावाँ देवी ने अपने स्वर्गीय पति लाला दीवानचन्द की पुण्य स्मृति में प्रदान किया था। इस समाज-भवन का उद्घाटन आर्य सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन प्रधान महात्मा नारायण स्वामी द्वारा किया गया था। नयी दिल्ली के विकास व विस्तार के साथ-साथ आर्यसमाज हनुमान रोड के महत्त्व में भी वृद्धि होती गयी और समयान्तर में यह भारत की राजधानी में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का सशक्त केन्द्र बन गया। दिल्ली में पृथक् रूप से आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो जाने पर उस सभा का कार्यालय भी इसी समाज में कायम कर दिया गया। मिण्टगुमरी जिले में चीचावन्ती का समाज वैदिक धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसकी स्थापना सन् १९१९ में लाला जगन्नाथ के पुरुषार्थ से हुई थी। यद्यपि यह आर्यसमाज एक ऐसे प्रदेश में स्थित था जहाँ उर्दू भाषा का प्राधान्य था, पर इसकी सब कार्यवाही हिन्दी में की जाती थी और उस समाज का एक पुस्तकालय भी स्थापित था जिसमें हिन्दी साहित्य तथा धर्मग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। अछूतों की शुद्धि के कार्य में यह समाज सचेष्ट था, और इसके तत्त्वावधान में प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित सत्यदेव और पण्डित शान्तिप्रकाश ने मुसलमानों से तथा पण्डित रामदयालु शास्त्री ने पौराणिकों से अनेक शास्त्रार्थ किये थे। लायलपुर जिले के चक झुमरा आर्यसमाज की

स्थापना भी बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में हो गयी थी। इस नगरी में पहले एक सेवा-समिति का संगठन किया गया था, जिसमें आर्यसमाजियों के साथ-साथ सनातनी लोग भी सम्मिलित थे। इस समिति द्वारा एक पाठशाला भी चलायी जा रही थी, जिसमें छात्राओं को वैदिक पद्धति से सन्ध्या-हवन भी कराया जाता था। यह बात सेवा समिति के सनातनी सदस्यों को सहन नहीं हुई। उन्होंने समिति की बैठक बुलाकर यह प्रस्ताव पेश किया कि पाठशाला में सन्ध्या-हवन वैदिक पद्धति से न हुआ करें, और वहाँ परस्पर अभिवादन के लिए "नमस्ते" शब्द का प्रयोग न किया जाए। आर्यसमाजी इन प्रस्तावों को स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। वे सेवा समिति से पृथक् हो गये और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर दी। चक झुमरा के इस समाज ने दलितोद्धार के लिए बहुत कार्य किया। इस द्वारा सैकड़ों मेघों और वटवालों को शुद्ध करके आर्य बनाया गया, और उनके प्रति समानता का बरताव किया गया। चक झुमरा समाज के एक सक्रिय कार्यकर्ता महाशय बूडीमल थे। सन् १९२३ में उन्होंने अपने नये मकान का गृह प्रवेश संस्कार कराया और उसमें शुद्ध हुए आर्य भाइयों को भी निमन्त्रित किया। सनातनियों ने इसका घोर विरोध किया और महाशयजी के मकान पर पिकेटिंग की, ताकि कोई सवर्ण हिन्दू गृह प्रवेश संस्कार में सम्मिलित न हो सके। पर इतने घोर विरोध के बावजूद सवा सौ के लगभग व्यक्तियों ने शुद्ध हुए दलितों के साथ भोजन किया। पर धीरे-धीरे सनातनी लोगों ने भी यह अनुभव कर लिया कि दलितोद्धार में ही हिन्दू जाति का हित है। वे शुद्धि-कार्य में सहयोग देने लगे, और चक झुमरा के होटलों तथा दुकानों पर शुद्ध हुए दलितों को काम पर रखा जाने लगा।

सन् १९४७ के भारत-विभाजन से पहले के काल में जो अन्य अनेक आर्यसमाज पंजाब में स्थापित हो चुके थे, उनमें बहुत-से उस प्रदेश में थे, जो अब पाकिस्तान में है। उस समय मुलतान, मुजफ्फरगढ़, लायलपुर, सरगोधा, मिण्टगुमरी, रावलपिण्डी, पेशावर, लाहौर, सियालकोट आदि जिलों में वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार था, और वहाँ अनेक सशक्त आर्यसमाजों की सत्ता थी। सन् १९२० के बाद स्थापित हुए ऐसे कुछ समाजों का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है, क्योंकि अब तो उनका नाम ही शेष रह गया है। मुलतान जिले के कवीरवाला कसबे में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पण्डित मुनीश्वरदेव जुलाई, १९३४ में गये थे। दो दिन तक वह वहाँ प्रचार करते रहे। पौराणिकों ने उन पर ईंटें, पत्थर और रोड़े फेंके, तथा अनेक प्रकार से उन का विरोध किया, पर इससे आर्यसमाजी विचारों के लोग घबराये नहीं। उन्होंने और भी अधिक उत्साह से वैदिक धर्म के प्रचार का निश्चय किया। उनके निमन्त्रण पर खाने-वाल आर्यसमाज के अनेक पदाधिकारी पण्डित देशराज को साथ लेकर कबीरवाला आ गये और उन्होंने संकीर्तन तथा व्याख्यानों द्वारा प्रचार प्रारम्भ कर दिया। सनातनी लोग उनके विरोध के लिए तुले हुए थे। उन्होंने ताँगे वालों को खानेवाल से आर्यों को लाने से रोका और ढोल बजाने वालों को आर्यों के संकीर्तन में नहीं जाने दिया। पर इस सबका आर्यसमाजियों पर कोई असर नहीं पड़ा, और ५ अगस्त, १९३१ को कबीरवाला में आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी। पण्डित ज्ञानचन्द बी० ए० इस अवसर पर उपस्थित थे, और उन्हीं के कर कमलों से आर्यसमाज स्थापित हुआ था। समाज का पहला वार्षिकोत्सव सितम्बर, १९३५ में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। खानेवाल,

सराय सिद्धू और मियां चन्नू के समाजों ने इस उत्सव में कबीरवाला के आर्य बन्धुओं की दिल खोलकर सहायता की। सराय सिद्धू का आर्यसमाज सन् १९२९ में स्थापित हुआ था और स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती ने वहाँ के समाज-मन्दिर की आधारशिला रखी थी। समीपवर्ती आर्यसमाजों की सहायता व सहयोग के कारण कबीरवाला में समाज के वार्षिकोत्सव को असफल बनाने के पौराणिकों के सब प्रयत्न असफल रहे। इस उत्सव के अवसर पर एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि भायाना जाति के लोगों पर इस उत्सव का बहुत प्रभाव पड़ा। भायाना लोग सिक्ख पंथ के अनुयायी थे, और श्रद्धालु हिन्दुओं को गन्डे-तावीज आदि देकर आजीविका चलाया करते थे। उन्हें हिन्दू अपना गुरु मानते थे। इनका निवास प्रधानतया बलावलपुर गाँव में था, जो कबीरवाला तहसील के अन्तर्गत था। भायाना लोग अब गुरुआई का दावा छोड़कर वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये, और कबीरवाला समाज के सहयोग से उनके गाँव बलावलपुर में भी एक मार्च, १९३६ को आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। घरोटा (गुरुदासपुर) में वैदिक धर्म का प्रवेश तो बहुत पहले ही हो गया था। पर समाज की स्थापना वहाँ एप्रिल, १९२८ में हुई थी। अछूतोद्धार के लिए इस समाज द्वारा बड़े उत्साह के साथ कार्य किया गया और वहाँ के आर्यसमाजियों ने शुद्ध हुए लोगों के साथ निःसंकोच खान-पान का व्यवहार शुरू कर दिया। इससे मुसलमान बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने हिन्दुओं के घरों का खाना-पीना बन्द कर दिया। स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी घरोटा आर्यसमाज बहुत सक्रिय था। उस द्वारा एक आर्य कन्या पाठशाला स्थापित थी, और स्त्री समाज भी वहाँ पृथक् रूप से विद्यमान था। सियालकोट जिले के जफरवाल नगर का आर्यसमाज भी अछूतोद्धार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। मेघोद्धार सभा द्वारा वहाँ एक पाठशाला खोली गयी थी, जिसमें अछूत समझे जाने वाली जातियों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे। सन् १९३३ में जफरवाल समाज द्वारा राजियाँ ग्राम में ६०० बटवालों की शुद्धि की गयी थी। बटवाल भी अछूत माने जाते थे। इस समाज की एक घटना उल्लेखनीय है। अमृतसर आर्यसमाज के पुरोहित पण्डित मदनमोहन वहाँ प्रचार के लिए आये हुए थे। मांस-भक्षण के विरुद्ध व्याख्यान देते हुए पण्डितजी ने घोषणा की, कि मैं उस मुसलमान के हाथ का भी भोजन खाने को तैयार हूँ जो निरामिषभोजी और सदाचारी हो। इसपर व्याख्यान में उपस्थित एक मौलवी ने खड़े होकर कहा—मैं निरामिषभोजी हूँ, क्या आप मेरे हाथ का भोजन खाने को तैयार हैं? मदनमोहनजी का उत्तर "हाँ" में था। अगले दिन मौलवी साहब अपने हाथ से तैयार किया हुआ भोजन ले आये। पण्डितजी ने सबके सामने उसका भक्षण किया।

दिल्ली में करोलबाग आर्यसमाज की स्थापना सन् १९३१ में हुई थी। भारत के विभाजन के पश्चात् इस समाज की बहुत उन्नति हुई, और यह भी राजधानी के बड़े आर्यसमाजों में गिना जाने लगा। पर १९४६ से पूर्व भी करोलबाग समाज बहुत सक्रिय था। उस द्वारा एक पुत्री पाठशाला चलायी जा रही थी और दलितोद्धार का कार्य भी उत्साहपूर्वक किया जा रहा था। देहली के क्षेत्र में ही नरेला आर्यसमाज की सत्ता है। वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार तो चिरकाल से हो रहा था और सन् १९१४ में वहाँ समाज की स्थापना भी हो गयी थी। पर यह समाज देर तक सक्रिय नहीं रह सका। सन् १९३१ में इसे पुनरुज्जीवित किया गया और महात्मा नारायण-

स्वामीजी द्वारा उसके भवन की आधारशिला रखी गयी। बाद में इस समाज ने बहुत उन्नति की। इस द्वारा सैकड़ों अछूतों की शुद्धि की गयी। बहुत-से ईसाइयों को वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया गया, और नौमुसलिमों को भी शुद्ध कर हिन्दू समाज में सम्मिलित किया गया। आर्य वीर दल, आर्य कुमार सभा, व्यायामशाला, रात्रि पाठशाला, शिल्प शिक्षणालय और औषधालय सदृश अनेक संस्थाएँ भी इस समाज द्वारा स्थापित की गयीं, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता में वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। ननकाना साहिब (जिला शेखूपुरा) सिक्खों का सबसे बड़ा तीर्थ है, और अब पाकिस्तान के अन्तर्गत है। सन् १६२५ में वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी, जिसके लिए श्री मेवाराम, डॉक्टर सोहनलाल और श्री लखमीदास ने बहुत प्रयत्न किया था। स्थापना काल से ही यह समाज दलितोद्धार के कार्य में विशेष रूप से तत्पर रहा। जून, १६२५ में इस द्वारा बटवालों की शुद्धि की गयी और एप्रिल, १६२६ में चमारों की। सनातनी हिन्दुओं ने इसका उग्र रूप से विरोध किया, पर वे शुद्धि को रोक सकने में असमर्थ रहे। सन् १६३४ में जब ननकाना साहिब के आर्यसमाज ने अन्य स्थानों पर बटवालों की शुद्धि का कार्य प्रारम्भ किया, तो मुसलमानों ने उसमें अनेक बाधाएँ डालीं। पर इस विरोध के बावजूद २५० के लगभग बटवाल शुद्ध होकर आर्य बन गये। डोम आदि अन्य जातियों में शुद्धि के कार्य में भी इस समाज को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। सियालकोट जिले की मालोमेह बस्ती में सन् १६२४ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। इस क्षेत्र में अछूत समझे जाने वाले लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है। अतः मालोमेह समाज ने अछूतों को शुद्ध करने तथा उनकी दशा को सुधारने पर विशेष ध्यान दिया। शुरू में आर्यों का बड़ा विरोध हुआ और उन्हें अनेकविध कष्ट सहने पड़े। पर कुछ ही समय में जनता दलितोद्धार के पक्ष में हो गयी। सन् १६३० तक इस क्षेत्र के सब कुएँ अछूतों के लिए खोल दिए गये थे और हिन्दुओं को शुद्ध हुए लोगों के साथ खान-पान का व्यवहार करने में कोई संकोच नहीं रहा था। मई, १६२६ में इस समाज द्वारा एक मुसलमान की भी शुद्धि की गयी थी, जिसके कारण मुसलमानों में बहुत आक्रोश उत्पन्न हो गया था। पर मालोमेह के आर्यसमाजी इससे जरा भी विचलित नहीं हुए और शुद्धि के कार्य को उत्साहपूर्वक करते रहे। पंजाब का जो प्रदेश अब पाकिस्तान के अन्तर्गत है, उसमें कितने ही आर्यसमाज बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में स्थापित हो गये थे, जिनका अब नाम निशान तक शेष नहीं है। सियालकोट जिले के नौनार, पटियाला और रोडस, मुलतान जिले के बहाड़ी और सराय सिद्धू, मियाँवाली जिले के काला बाग और वान भचरी, झम जिले का रजोआ, पेशावर का रिसालपुर रावलपिण्डी (लाल कुरती) और शेखूपुरा जिले का साँगला हिल ऐसे स्थान हैं जो अब पाकिस्तान में हैं पर जहाँ भारत-विभाजन से पूर्व आर्यसमाज सुचारु रूप से सक्रिय थे। बहाड़ी (मुलतान) आर्यसमाज के कार्य-कलाप के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उस द्वारा जरायम पेशा जातियों के सवा सौ के लगभग व्यक्तियों की शुद्धि की गयी थी। इस समाज के जो अनेक सदस्य पहले मांस-भक्षण किया करते थे, उन्होंने वैदिक धर्म की शिक्षा का अनुसरण कर मांस खाना छोड़ दिया था। वान मचरी (मियांवाली) में फरवरी, १६२४ में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इस क्षेत्र में प्रचार का श्रेय विभिन्न आर्य उपदेशकों के अतिरिक्त श्रीमती द्रोपदी देवी उपदेशिका को भी है, जिनके प्रयत्न

से स्त्रियों में विशेष रूप से कार्य हुआ था, और एक कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी थी। रजोआ (जिला झंग) में महाशय गोविन्दराम के पुरुषार्थ से आर्यसमाज स्थापित हुआ था। इस समाज ने एक भजन मण्डली बना रखी थी, जो समीप के प्रदेश में प्रचार का कार्य किया करती थी। महर्षि के मन्तव्यों से प्रभावित होकर रजोआ के डॉक्टर कृष्ण गोपाल ने अपनी बहन का विवाह जात-पाँत तोड़कर कर दिया था, जिस पर बिरादरी ने उनका बहिष्कार कर दिया। वह किराये की दूकान पर चिकित्सा का कार्य किया करते थे। उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया, और कत्ल की धमकी भी दी गयी। पर इस सबके बावजूद वह अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहे, और रजोआ में आर्यसमाज की निरन्तर प्रगति होती गयी। रिसालपुर (पेशावर) में सन् १९२६ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के इस नगर में प्रारम्भ के दिनों में महाशय रामकिशन, श्री मुंशीराम और महाशय दीवानचन्द समाज के मुख्य कार्यकर्ता थे। सनातनी लोगों को अपने नगर में आर्यसमाज का स्थापित किया जाना पसन्द नहीं आया। वे उसका सब प्रकार से विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए, यहाँ तक कि सनातनी हलवाइयों ने आर्यों को अपने बरतनों में दूध देना भी बन्द कर दिया। इस पर आर्यसमाजियों ने अपनी दूकान खोल लीं। धीरे-धीरे सनातनियों के विरोध में कमी आती गयी, और समाज का कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। रावलपिण्डी शहर और रावलपिण्डी सदर में चिरकाल से आर्यसमाजों की सत्ता थी। पर बींसवी सदी के तृतीय दशक के प्रारम्भ में रावलपिण्डी के लाल कुरती बाजार में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई। पण्डित मुक्तिराम और स्वामी वेदानन्द तीर्थ सदृश आर्य विद्वान् इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। ११ सितम्बर, १९२६ को वहाँ आर्यसमाज मन्दिर तथा आर्य कन्या पाठशाला की आधारशिला रखी गयी। इनके लिए कैंटूनमेंट बोर्ड से भूमि प्राप्त कर ली गयी थी, जिसके लिए मेसर्स कृपाराम ब्रदर्स के मालिक लाला हरिराम ने बहुत परिश्रम किया था। इस समाज द्वारा अछूत समझे जाने वाले लोगों में बहुत कार्य किया गया। सैकड़ों रायदासियों को यज्ञोपवीत धारण कराये गये, और बाल्मीकियों को ईसाई होने से बचाया गया। एक वाल्मीकि सभा भी स्थापित कर दी गयी, जिसमें महाशय धर्मदत्त, महाशय रामलाल और महाशय हंसराज ने बड़ी लगन के साथ कार्य किया। इस सभा द्वारा कितने ही ऐसे बाल्मीकियों को पुनः वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया गया जो ईसाई हो गये थे। सन् १९२५ में स्थापित सांगला हिल (जिला शेखूपुरा) आर्यसमाज भी अछूतोद्धार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसके कार्य से प्रभावित होकर अनेक सनातनी तथा मुसलमान भी वैदिक धर्म के महत्त्व को समझने लगे थे और समाज-मन्दिर के निर्माण में उन्होंने आर्थिक सहायता भी प्रदान की थी।

जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, भारत के विभाजन के समय सन् १९४७ में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों की कुल संख्या ५०० के लगभग थी। इनमें से कतिपय आर्यसमाजों का जो विवरण इस अध्याय तथा पिछले एक अध्याय में दिया गया है, उससे कुछ बातें भली-भाँति स्पष्ट हो जाती हैं। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक, विशेषतया सन् १९२०-२१ तक आर्यसमाज का स्वरूप एक सशक्त आन्दोलन का था, जो सर्वसाधारण जनता को प्रभावित कर रहा था, जिस द्वारा

अछूत माने जाने वाले लोगों की दशा में सुधार तथा समाज में उन्हें समान स्थिति दिलाने का व्यापक प्रयत्न किया जा रहा था, स्त्री-शिक्षा जिसके कार्यक्रम का आवश्यक अंग था, जिसके कारण प्रायः सभी आर्यसमाजों के साथ कन्या पाठशालाएँ स्थापित की जा रही थीं और जिस द्वारा सामाजिक कुरीतियों के निवारण तथा मिथ्या मत-मतान्तरों के खण्डन के लिए अनेकविध साधनों को प्रयुक्त किया जा रहा था। यह सर्वांश स्वाभाविक था कि पौराणिक, मुसलमान और ईसाई आर्यसमाज के प्रगतिशील सुधारवादी कार्य-कलाप का विरोध करें। अनेक स्थानों पर यह विरोध अत्यन्त उग्र एवं गर्ह्य रूप में भी प्रकट हुआ, और आर्य प्रचारकों व कार्यकर्ताओं पर आक्रमण करने तथा उनकी हत्या तक कर देने में विरोधियों ने संकोच नहीं किया। पर इस सबसे आर्यसमाज का कार्य रुका नहीं। वह निरन्तर जोर पकड़ता गया और भारत के एक ऐसे भाग में, जहाँ मुसलमानों का बहुमत था, आर्यसमाज ने हिन्दुओं में ऐसी शक्ति का संचार कर दिया, जिससे कि वे न केवल आत्मरक्षा ही कर सके, अपितु विधर्मियों को भी आत्मसात् करने में प्रवृत्त होने लगे।

(५) आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की अर्ध-शताब्दी

पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १८८५ में हुई थी। सन् १९३५ में उसे स्थापित हुए पचास वर्ष पूरे हो चुके थे। प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने अक्टूबर, १९३४ के अधिवेशन में निश्चय किया, कि दिसम्बर, १९३५ में सभा की अर्द्ध-शताब्दी धूमधाम के साथ मनाई जाए। अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव की तैयारी के लिए एक उपसमिति बना दी गई, जिसके प्रधान आचार्य रामदेव थे। महाशय कृष्ण, पण्डित विश्वम्भरनाथ, पण्डित भीमसेन विद्यालंकार, पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा और पण्डित चमूपति आदि आर्य नेताओं को इस उपसमिति का सदस्य बनाया गया था। आचार्य रामदेव ने सन् १९३२ में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य पद से त्यागपत्र दे दिया था, और वह सार्वजनिक जीवन के व्यापक क्षेत्र में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये थे। महात्मा गांधी द्वारा प्रारम्भ किए गये सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया था, और एक वर्ष की जेलयात्रा भी की थी। सन् १९३५ में वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए थे, और अर्द्ध-शताब्दी समारोह का सब कार्यभार उन्हीं के सशक्त कन्धों पर था। यद्यपि यह महोत्सव दिसम्बर, १९३५ में मनाया जाना था, पर उस समय लाहौर का वातावरण बहुत अशान्त था, और सिक्खों तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिक तनाव बहुत बढ़ा हुआ था। अर्ध-शताब्दी महोत्सव का प्रारम्भ नगर-कीर्तन के जुलूस के साथ होना था, पर लाहौर के तनावपूर्ण वातावरण को दृष्टि में रखकर सरकार उसके लिए अनुमति देने को तैयार नहीं हुई थी। अतः विवश होकर इस महोत्सव की तिथियाँ बदल देनी पड़ीं, और उसे ३ एप्रिल से १३ एप्रिल, १९३६ तक की तारीखों में मनाने का निश्चय किया गया। उत्सव का प्रारम्भ ब्रह्म पारायण यज्ञ से हुआ। ४ एप्रिल को सभा के प्रधान आचार्य रामदेव ने रेडियो पर भाषण दिया, जिसमें आर्यसमाज के कार्यकलाप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा—"आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐसे समय जन्म लिया, जबकि लोग भौतिकवाद की ओर झुक रहे थे और वेदादि शास्त्रों को जंगलियों की बातें मानते थे। महर्षि ने

इनके विरुद्ध आन्दोलन किया, और लोगों को ईश्वर, जीव और वेद के यथार्थ सत्य स्वरूप को बताया।…हिन्दू जाति के लोग पहले जहाँ अंग्रेजों के पास उनकी संस्कृति का पाठ पढ़ने के लिए जाया करते थे, वे अब महर्षि की कृपा से अपनी पैतृक संस्कृति पर गर्व करना सीख गये हैं। महर्षि ने लोगों को आर्य संस्कृति तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विचार दिये, और राजनीतिक शब्दशास्त्र को 'स्वराज्य' शब्द दिया। आजकल क्या दास, क्या विधवाएँ, क्या शिक्षित स्त्रियाँ और क्या बालक-बालिकाएँ सभी आर्यसमाज, जिसने इतना उपकार किया है, के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यह सभा गुरुकुल काँगड़ी, कन्या गुरुकुल देहरादून, वेद प्रचार निधि और दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर को चला रही है। कन्या महाविद्यालय जालन्धर तथा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर इस सभा ने ही स्थापित किए थे। यह सभा उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर जा रही है। ईश्वर करे, कि ग्रामसुधार, वेदभाष्य, मेडिकल मिशन और आदर्श नगर—इन आयोजनों को, जिनको लेकर सभा अपनी स्वर्ण जयन्ती मना रही है, भारतीयों तथा अन्य भारतप्रशंसक बाहर के लोगों का नैतिक तथा आर्थिक सहयोग प्राप्त हो।" प्रतिनिधि सभा के प्रधान आचार्य रामदेव ने अपने भाषण में जहाँ सभा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का उल्लेख किया था, वहाँ साथ ही उसके भावी कार्यकलाप के लिए भी जनता से सहयोग की अपील की। उस समय सभा के संचालक अनुभव करते थे, कि आर्यसमाज की भावी उन्नति के लिए ग्रामों का सुधार, चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा और एक आदर्श नगर की स्थापना बहुत उपयोगी होगी और वेदों का एक ऐसा भाष्य भी प्रकाशित करना होगा जिस द्वारा सर्वसाधारण लोग इस ईश्वरीय ज्ञान के यथार्थ स्वरूप से अवगत हो सकें।

स्वर्ण जयन्ती या अर्द्ध-शताब्दी का मुख्य कार्यक्रम १० से १३ एप्रिल तक हुआ। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान महात्मा नारायणस्वामी ने १० एप्रिल के दिन 'ओ३म्' का झण्डा फहराया और ११ एप्रिल को सायं के समय जुलूस निकाला गया। आर्यसमाज के गुरुकुलों, स्कूलों, कन्या पाठशालाओं, विद्यालयों तथा अनाथालयों के हजारों छात्र एवं छात्राएँ अपने नियत वेश में इस जुलूस में चल रही थीं, और सहस्रों की संख्या में आर्य नर-नारी इसमें भाग ले रहे थे। जुलूस बहुत शानदार था। स्वर्ण जयन्ती महोत्सव में अनेक सम्मेलन हुए, जिनमें आर्य सम्मेलन, वेद सम्मेलन, शिक्षा सम्मेलन, ब्रह्मचर्य सम्मेलन, व्यायाम सम्मेलन और धर्म चर्चा सम्मेलन मुख्य थे। आर्य सम्मेलन की अध्यक्षता श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने की, और शिक्षा सम्मेलन की महात्मा हंसराज ने। जिस आर्य प्रतिनिधि सभा की यह स्वर्ण जयन्ती मनायी जा रही थी, वह गुरुकुल पार्टी की थी और पंजाब के आर्यसमाजियों में दलबन्दी का मुख्य कारण डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की शिक्षानीति और पाठविधि विषयक मतभेद ही था। महात्मा हंसराज कॉलिज पार्टी के महान् नेता थे। शिक्षा सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए उन्हें निमन्त्रित करना यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि इस समय (सन् १९३६) तक पंजाब के आर्यसमाजियों की इन पार्टियों में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह गया था, और गुरुकुल पार्टी भी स्कूलों तथा कॉलिजों की स्थापना में तत्पर हो गई थी। वेद सम्मेलन के अध्यक्ष पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर थे, और उसमें पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार और पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति आदि वैदिक विद्वानों के व्याख्यान हुए थे। श्री विनोबा भावे भी सभा की स्वर्णजयन्ती में

सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने ब्रह्मचर्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। इस महोत्सव के अवसर पर एक आर्यभाषा सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द ने इसका सभापति पद ग्रहण किया था। सम्मेलन में स्वीकृत एक प्रस्ताव द्वारा आर्यजनों से अनुरोध किया गया था, कि वे अपने बच्चों को हिन्दी की शिक्षा दें, और अपना सब पत्र-व्यवहार आदि हिन्दी में ही किया करें। १३ एप्रिल को सम्पन्न हुए महिला सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती विद्यावती सेठ (आचार्या, कन्या गुरुकुल, देहरादून) ने की थी, और ग्राम प्रचार सम्मेलन की डॉक्टर भक्तराम सहगल ने। ग्राम प्रचार सम्मेलन का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व था, क्योंकि अब आर्यसमाज के नेता यह भली-भाँति अनुभव करने लगे थे, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के सन्देश को ग्रामों तक पहुँचाये बिना आर्यसमाज के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकना सम्भव नहीं है। स्वर्ण जयन्ती के प्रधान आचार्य रामदेव ने भी इस तथ्य की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया था, और ग्राम प्रचार सम्मेलन में आर्य समाजों से अनुरोध किया गया था, कि वे अपने तत्त्वावधान में 'ग्राम वेद प्रचारिणी' सभाओं का संगठन करें, ताकि देहाती जनता में वैदिक धर्म का समुचित रूप से प्रचार किया जा सके। सेठ शूरजी वल्लभदास स्वयं तो स्वर्ण जयन्ती महोत्सव में सम्मिलित नहीं हो सके थे, पर उन्होंने अपना भाषण भेज दिया था, जिसे महोत्सव में पढ़कर सुना भी दिया गया था। इसमें उन्होंने सुझाव दिया था कि आर्यसमाज की एक उपशाखा 'व्यवसाय आर्यसमाज' के नाम से स्थापित की जानी चाहिये, जिस द्वारा आर्यसमाजियों को व्यवसाय में उन्नति करने में सहायता दी जाया करे। सेठजी एक सफल उद्योगपति तथा सम्पन्न व्यापारी थे। वह शिल्प, उद्योग, व्यापार और व्यवसाय के महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। वह जानते थे, कि सांसारिक जीवन में उन्नति के लिए धन के उपार्जन का कितना अधिक उपयोग है, और उसके लिए शिल्प तथा व्यवसाय कितने सहायक हो सकते हैं। आर्यसमाजी युवक उद्योग-धन्धों में प्रवीणता प्राप्त कर जहाँ अपनी व्यक्तिगत उन्नति कर सकेंगे, वहाँ साथ ही समाज की समृद्धि व उन्नति में भी सहायक हो सकेंगे—इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने 'व्यवसाय आर्यसमाज' की स्थापना का सुझाव प्रस्तुत किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का यह स्वर्णजयन्ती या अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव बहुत उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। पंजाब के कोने कोने से तो आर्य नर-नारी इसमें सम्मिलित हुए ही थे, पर दूर-दूर के प्रदेशों से भी बहुत-से व्यक्ति इस अवसर पर लाहौर आये थे, और वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए नया उत्साह लेकर अपने घर वापस गये थे। इस महोत्सव की सफलता का प्रधान श्रेय प्रतिनिधि सभा के प्रधान आचार्य रामदेव और मन्त्री पण्डित भीमसेन विद्यालंकार को प्राप्त है, जिन्होंने कि अपने स्वास्थ्य की जरा भी परवाह न कर इसके लिए दिन-रात अनथक परिश्रम किया था।

सभाएँ और संस्थाएँ प्रायः अपनी रजत-जयन्ती, स्वर्ण-जयन्ती, हीरक-जयन्ती और शताब्दी मनाया करती हैं। इन उत्सवों के समय इन सभाओं व संस्थाओं को अपने विगत कार्यकलाप का सिंहावलोकन करने और भविष्य के लिए मार्ग निर्धारित करने का अवसर प्राप्त होता है। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्वर्ण-जयन्ती मनाते समय आर्यसमाज के इस महत्त्वपूर्ण संगठन के तत्कालीन नेता अपनी संस्था की गतिविधि व कार्यकलाप से अवश्य सन्तोष अनुभव कर सकते थे। उस समय पंजाब में गुरुकुल पार्टी

के जो समाज थे, उनकी संख्या ५०० से भी अधिक थी, और प्रतिनिधि सभा के अधीन ८० के लगभग प्रचारक व भजनोपदेशक वेद-प्रचार के कार्य में तत्पर थे। अवैतनिक रूप से उपदेशक का कार्य करने वाले महानुभाव इनसे अतिरिक्त थे। सभा द्वारा अनेक गुरुकुलों का संचालन किया जा रहा था, जिसके लिए 'आर्य विद्या सभा' पृथक् रूप से संगठित थी। प्रतिनिधि सभा की एक 'शिक्षा-समिति' भी थी, जिस द्वारा कितने ही हाई स्कूल, मिडल स्कूल तथा प्राइमरी स्कूल चलाये जा रहे थे। सन् १९३६ में इस शिक्षा-समिति के अधीन १० हाई स्कूल, ४२ मिडल स्कूल और ४८ प्राइमरी स्कूल थे, और एक कॉलिज (दयानन्द मथुरादास कॉलिज, मोगा) भी इसके तत्त्वावधान में स्थापित हो गया था। वैदिक धर्म के प्रचारक तैयार करने के लिए सभा द्वारा जिस उपदेशक विद्यालय की स्थापना की गयी थी, वह भी इस समय अच्छी उन्नत दशा में था। स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती उसके आचार्य थे, और स्वामी वेदानन्द मुख्याध्यापक। जो छात्र दो वर्ष शिक्षा प्राप्त कर उपदेशकों के लिए नियत पाठविधि की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते थे, उन्हें सिद्धान्तभूषण की उपाधि प्रदान की जाती थी, और तीन वर्ष का कोर्स उत्तीर्ण कर लेने पर सिद्धान्त शिरोमणि की। लाहौर में सभा द्वारा एक विद्यार्थी आश्रम भी स्थापित था, जिसमें ६० से भी अधिक विद्यार्थी आर्यसमाज के वातावरण में रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। दलितोद्धार, शुद्धि तथा प्राकृतिक विपत्तियों से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए जो कार्य सभा द्वारा किया जाता रहा था, उसका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। उसका महत्त्व भी कम नहीं है। दयानन्द दलितोद्धार सभा के अधीन इस समय १६ प्रचारक कार्यरत थे, और उस द्वारा सात पाठशालाएँ भी चलायी जा रही थीं। सन् १९३४ में बिहार में भयंकर भूकम्प आया था, और सन् १९३५ में क्वेटा में। इन प्राकृतिक विपत्तियों के कारण धन-जन का जो विनाश हुआ, वह कल्पनातीत था। भूकम्प पीड़ित लोगों की सेवा और सहायता के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा भी समुचित व्यवस्था की गयी थी, और यह कार्य पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा 'अमृतधारा' के नेतृत्त्व में सम्पन्न हुआ था। प्रतिनिधि सभा का सब कार्यकलाप इस समय तक लाहौर के गुरुदत्त भवन में केन्द्रित हो चुका था। न केवल लाहौर अपितु पंजाब के सार्वजनिक जीवन में गुरुदत्त भवन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्यसमाज की गतिविधि तथा कार्य-कलाप का वह प्रधान केन्द्र था, और कितनी ही आर्य संस्थाओं की वहाँ सत्ता थी। 'आर्य' नाम का साप्ताहिक पत्र भी वहाँ से प्रकाशित होता था। यह पत्र हिन्दी में था। इसके अतिरिक्त 'वैदिक मैगजीन' नाम से अंग्रेजी की एक मासिक पत्रिका भी आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित की जाती थी, जिसका प्रारम्भ पण्डित गुरुदत्त द्वारा किया गया था। उनकी मृत्यु पर यह पत्रिका बन्द हो गयी थी, पर आचार्य रामदेव ने गुरुकुल काँगड़ी से उसे पुनः प्रकाशित करना शुरू किया था। जब रामदेवजी गुरुकुल छोड़कर लाहौर चले आए, तो वैदिक मैगजीन भी लाहौर से ही प्रकाशित होने लगी। जिस प्रतिनिधि सभा का कार्यकलाप इतना विस्तृत व महत्त्वपूर्ण हो, उसकी स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर यदि उसके प्रधान गौरव व सन्तोष अनुभव करें, तो यह सर्वथा उचित ही था।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास के लेखकों ने सन् १९२७ से सन् १९३६ तक के काल को 'आचार्य रामदेव काल' का नाम दिया है। शुरू में पंजाब के आर्यसमाज का नेतृत्त्व क्रमशः पण्डित गुरुदत्त और पण्डित लेखराम के हाथों में रहा था, और

सन् १८९९ में लेखरामजी के बलिदान के पश्चात् महात्मा मुंशीराम आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के सर्वमान्य नेता व संचालक हो गये थे। दिसम्बर, १९२६ में धर्म की बलिवेदी पर उनका भी बलिदान हो गया। सन् १८९९ से १९२६ तक के २७ वर्षों की अवधि में महात्मा मुंशीराम (जो सन् १९१७ में संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेने के कारण स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती हो गये थे) बहुत कम समय सभा के प्रधान पद पर रहे, पर उसकी गतिविधि व कार्यकलाप के संचालन में उनका विशेष हाथ रहा। यही कारण है, जो इस काल को महात्मा मुंशीराम काल (१८९९ से १९१७ तक) और स्वामी श्रद्धानन्द काल (१९१७ से १९२६ तक) के नाम से कहा गया है। पंजाब के आर्यसमाज की गुरुकुल पार्टी में आचार्य रामदेव का स्थान अत्यन्त महत्त्व का था। महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की थी, पर एक विशाल व विश्वविख्यात शिक्षण-संस्था के रूप में उसे विकसित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य रामदेव द्वारा ही किया गया था। अतः यह स्वाभाविक ही था, कि महात्माजी (स्वामी श्रद्धानन्द) के बलिदान के पश्चात् पंजाब प्रतिनिधि सभा का नेतृत्त्व रामदेवजी के हाथों में आ जाये। सन् १९३२ में उन्होंने गुरुकुल के आचार्य पद से त्यागपत्र देकर अधिक विस्तृत कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर लिया था, और सन् १९३५ में वह प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुन लिये गये थे। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव जो सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका, वह उन्हीं के अनुपम उत्साह व कार्यक्षमता का परिणाम था।

स्वर्ण जयन्ती के पश्चात् आचार्य रामदेव रोगी रहने लगे थे, और सक्रिय रूप से आर्यसमाज का कार्य करने के योग्य नहीं रहे थे। इस दशा में वह देहरादून चले गये थे, और कन्या गुरुकुल में निवास करने लगे थे। दिसम्बर, १९३९ तक वह जीवित रहे, पर आर्यसमाज के इतिहास में इनके नेतृत्त्व का काल स्वर्णजयन्ती के साथ ही सन् १९३६ में समाप्त हो गया था।

(५) पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारी

आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १८८५ में हुई थी, और उसके पहले प्रधान लाला साईंदास थे। सन् १९०० में उनका देहावसान हो जाने पर लाला ईश्वरदास सभा के प्रधान निर्वाचित हुए, और फिर सन् १८९२ में महात्मा हंसराज। जब पंजाब के आर्यसमाजियों के दो पार्टियों में विभक्त हो जाने के कारण कॉलिज पार्टी सभा से पृथक् हो गयी, तो महात्मा मुंशीराम सभा के प्रधान नियुक्त हुए। काँगड़ी में जब गुरुकुल की स्थापना हुई, तो मुंशीरामजी ही सभा के प्रधान थे। पर गुरुकुल का काम इतना अधिक व महत्त्व का था, कि उसके लिए उन्होंने सभा के प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर पण्डित रामभजदत्त चौधरी प्रधान निर्वाचित हुए (सन् १९०२)। वह एक वर्ष तक सभा के प्रधान पद पर रहे। सन् १९०३ में सभा का जो नया चुनाव हुआ, उसमें निर्विवाद रूप से प्रधान का निर्वाचन नहीं हो सका। कॉलिज पार्टी तो इस समय तक पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से पृथक् हो चुकी थी, पर महात्मा (गुरुकुल) पार्टी के नेताओं में भी अनेकविध मतभेद उत्पन्न होने शुरू हो गये थे। लाला रलाराम और राय ठाकुरदत्त धवन का विचार था, कि आर्यसमाज का कार्य केवल वेद-प्रचार करना है, सामान्य शिक्षा देना नहीं। अतः गुरुकुल में भी ऐसी शिक्षा की ही व्यवस्था की

जानी चाहिये, जिससे वैदिक धर्म के प्रचारक उत्पन्न हो सकें। पर महात्मा मुंशीराम गुरुकुल काँगड़ी को एक आदर्श शिक्षण-संस्था बनाना चाहते थे। सभा के कतिपय सदस्यों की यह भी सम्मति थी, कि पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थापित गुरुकुल पंजाब में ही होना चाहिये, अन्य प्रदेश में नहीं। महात्मा मुंशीराम ने गंगा के तटवर्ती जिस स्थान को गुरुकुल के लिए चुना था, वह उत्तरप्रदेश के बिजनौर जिले में था। यह बात पंजाब के अनेक आर्यसमाजियों को पसन्द नहीं आई थी। परिणाम यह हुआ, कि प्रतिनिधि सभा में मतभेद विकसित हो गये, और पदाधिकारियों के चुनाव में भी संघर्ष का प्रारम्भ हो गया। एक दल के नेता महात्मा मुंशीराम थे, और उनके विरोधी दल का नेतृत्व लाला रलाराम और राय ठाकुरदत्त धवन के हाथों में था। महात्मा मुंशीराम सभा के प्रधान नहीं बनना चाहते थे, क्योंकि उनकी सब शक्ति गुरुकुल काँगड़ी के संचालन में लगी हुई थी। सन् १९०३ में राय ठाकुरदत्त सभा के प्रधान चुन लिये गये थे, पर बाद में उनका विरोध बहुत बढ़ गया, और उनके विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इसीलिए फरवरी, १९०५ में महात्मा मुंशीराम को उनकी इच्छा के विरुद्ध सभा का प्रधान चुन लिया गया, जिस पर राय ठाकुरदत्त, लाला रलाराम और उनके साथी सभा से पृथक् हो गये। अब प्रतिनिधि सभा पूर्णतया उन लोगों के हाथों में आ गयी, जो महात्मा मुंशीराम के समर्थक थे। पर महात्माजी स्वयं इस स्थिति में नहीं थे, कि गुरुकुल के साथ-साथ सभा का कार्यभार भी सँभाल सकें, अतः उन्होंने प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया, और जुलाई, १९०५ में लाला रामकृष्ण को उनके स्थान पर सभा का प्रधान चुन लिया गया। वह १९१७ तक बारह वर्ष निरन्तर सभा के प्रधान पद पर रहे, और अत्यन्त गम्भीरता तथा योग्यता से सभा का संचालन करते रहे। सन् १९१७ में महात्मा मुंशीराम ने संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लिया था, और गुरुकुल काँगड़ी से त्यागपत्र दे दिया था। उनके स्थान पर लाला रामकृष्ण को गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता नियुक्त किया गया, जिसके कारण उन्होंने सभा के प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर पण्डित विश्वम्भरनाथ प्रधान चुने गये। पण्डितजी सन् १९१८ और १९१९ दो साल सभा के प्रधान रहे। १९२० में लाला रामकृष्ण ने गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पद से त्यागपत्र दे दिया। इस पर पण्डित विश्वम्भरनाथ ने स्वयं स्वेच्छापूर्वक सभा का प्रधान पद उनके लिए खाली कर दिया, और लालाजी को फिर सभा का प्रधान चुन लिया गया। इसके बाद सन् १९२५ तक वही पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे। इस समय तक उनकी आयु अधिक हो चुकी थी, और वह प्रायः रोगी रहने लगे थे। अतः सन् १९२६ में उनके स्थान पर रायबहादुर लाला बदरीदास सभा के प्रधान चुने गये, जो सन् १९३४ तक इस पद पर रहे। उनके पश्चात् सन् १९३५ में आचार्य रामदेव को सभा का प्रधान निर्वाचित किया गया। वह दो साल इस पद पर रहे, और उनके प्रधानत्त्व के समय में ही आर्य प्रतिनिधि सभा की स्वर्ण जयन्ती या अर्धशताब्दी का महोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इस महोत्सव के बाद आचार्य रामदेव रोग पीड़ित होकर देहरादून में निवास करने लग गये थे, और आर्य प्रतिनिधि सभा का संचालन कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं रहा था। इस दशा में प्रतिनिधि सभा का नेतृत्व महाशय कृष्ण के हाथों में आ गया, और गुरुकुल पार्टी के आर्यसमाजों का संचालन उन्हीं द्वारा किया जाने लगा। यद्यपि प्रतिनिधि सभा के

प्रधान पद पर वह सन् १९४७ में निर्वाचित हुए थे, पर इससे अनेक वर्ष पूर्व ही (आचार्य रामदेव के प्रधान पद से पृथक् हो जाने के बाद से ही) सभा का वास्तविक रूप में संचालन महाशयजी द्वारा ही किया जाने लगा था—प्रधान पद पर चाहे इस काल में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार तथा दीवान बदरीदास सदृश सज्जन क्यों न रहे हों। इसी कारण प्रतिनिधि सभा के इतिहास के सन् १९३६ के बाद के काल को 'महाशय कृष्ण काल' की संज्ञा दी गयी है। प्रधान के रूप में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का जिन सज्जनों ने कार्यभार सम्भाला, उनमें महात्मा मुंशीराम, लाला रामकृष्ण, पण्डित विश्वम्भरनाथ, दीवान बदरीदास, आचार्य रामदेव और महाशय कृष्ण प्रमुख थे, यद्यपि समय-समय पर स्वल्प अवधि के लिए कतिपय अन्य महानुभाव भी इस पद पर आरूढ़ रहे थे। मन्त्री के रूप में जिन महानुभावों ने आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का संचालन किया, उनमें महाशय कृष्ण, पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा और पण्डित भीमसेन विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें भी महाशय कृष्ण सबसे अधिक समय तक सभा के मन्त्री रहे थे। वह १९१७ से १९१८ तक, फिर १९२२ से १९२७ तक, फिर १९३३ से १९३४ तक और फिर १९४५-४६ में इस पद पर रहे, और बाद में सभा के प्रधान चुन लिये गये। पण्डित विश्वम्भरनाथ सभा के प्रधान तो केवल दो वर्ष रहे, पर उपप्रधान आदि अन्य पदों पर रहकर तथा अन्तरंग सभा के सदस्य के रूप में उनका चालीस साल के लगभग सभा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा, और उनकी गिनती सभा के प्रमुख संचालकों में की जाती रही।

इसमें सन्देह नहीं, कि किसी भी धार्मिक आन्दोलन की सफलता प्रधानतया उसके विद्वानों, साधु-संन्यासियों और प्रचारकों के कर्तृत्त्व पर निर्भर होती है। जिन विद्वानों व उपदेशकों ने पंजाव आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में वैदिक धर्म के प्रचार तथा समाज सुधार के कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान किया, उनका परिचय इस ग्रन्थ में यथास्थान दिया ही गया है। पर यह उचित है, कि यहाँ उन महानुभावों के व्यक्तित्त्व तथा कर्तृत्त्व पर भी कुछ प्रकाश डाला जाये, जिन्होंने पदाधिकारियों की स्थिति में इस सभा की उन्नति के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किया था।

महात्मा मुंशीराम कुछ ही वर्ष सभा के प्रधान रहे थे, पर किसी पद पर न रहते हुए भी वह अपने बलिदान तक पंजाब के आर्यसमाज के प्रधान नेता माने जाते थे। पर आर्यसमाज के इतिहास में महात्माजी को जो उच्च स्थिति प्राप्त है, उसके अन्य भी अनेक कारण हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी उन्हीं की कृति है। हिन्दू संगठन, शुद्धि और दलितोद्धार द्वारा उन्होंने हिन्दू जनता में नवजीवन और नयी शक्ति का संचार किया, जिसके कारण केवल आर्यसमाज के ही नहीं अपितु हिन्दू जाति के भी मान्य नेता की स्थिति उन्होंने प्राप्त कर ली। स्वाधीनता-संघर्ष में भी उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के भी वह सभापति चुने गये। उनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। इसीलिए उनके व्यक्तित्त्व तथा कृतित्त्व पर इस इतिहास में अन्यत्र विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। लाला रामकृष्ण जालन्धर के निवासी थे। उनका पेशा वकालत था। पर वह अत्यन्त सच्चे, मितभाषी तथा सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। वह बहुत कम बोलते थे, और कभी उद्विग्न नहीं होते थे। प्रतिनिधि सभा और अन्तरंग सभा के अधिवेशनों में जब सभासदों में गरमागरम बहस होती, और एक-दूसरे का विरोध करने

में वे मर्यादा का उल्लंघन करने लगते, तब भी रामकृष्णजी अपने को शान्त रखते और शान्तिपूर्वक मामले को निबटाने का प्रयत्न किया करते। वह १२ वर्ष तक सभा के प्रधान रहे। इस सुदीर्घ काल में न किसी ने उनके माथे पर त्यौरियाँ देखीं, और न किसी ने उन्हें ऊँचा बोलते हुए सुना। दीवान बदरीदास भी जालन्धर के निवासी थे, और पंजाब के उच्च कोटि के वकीलों में उनकी गिनती की जाती थी। आर्थिक विषयों के भी वह विशेषज्ञ थे, और पंजाब के बैंकिंग तथा औद्योगिक जीवन के क्षेत्र में भी उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। उनके परामर्श व सम्मति को सब कोई महत्त्व देते थे। सभा के धन का लाभदायक रूप से विनियोग करके उन्होंने सभा की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। आर्यसमाज के इतिहास में आचार्य रामदेव का महत्त्व आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान होने के कारण उतना नहीं है, जितना कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के निर्माता, कन्या गुरुकुल देहरादून के संस्थापक, वैदिक मैगजीन के सम्पादक और सुयोग्य आर्य विद्वान् के रूप में है। यद्यपि सभा के प्रधान पद पर वह अधिक समय नहीं रहे, पर चिरकाल तक अन्तरंग सभा के सदस्य रहने के कारण सभा के संचालन में उनका कर्तृत्व बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। वह बजवाड़ा (जिला होशियारपुर) के निवासी थे। उन्होंने अपना जीवन विक्टर हाई स्कूल, जालन्धर छावनी के मुख्याध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया, और सन् १६०५ में महात्मा मुंशीराम उन्हें गुरुकुल काँगड़ी ले गये। पहले गुरुकुल एक संस्कृत विद्यालय ही था। रामदेवजी ने उसे एक ऐसी शिक्षण-संस्था के रूप में विकसित कर दिया, जिसमें संस्कृत तथा वेदशास्त्रों की पढ़ाई में किसी भी प्रकार की कमी न कर अंग्रेजी तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी। गुरुकुल के संचालन में वह महात्मा मुंशीराम के दायें हाथ थे, और बाद में उसके आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता हो गये थे। गुरुकुल का कार्य करते हुए भी रामदेवजी सभा के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाते रहते थे। पंजाब आर्यसमाज के लिए सन् १६०७ से १६०६ तक संकट का काल था। अंग्रेजी सरकार की कोपदृष्टि इस समय आर्यसमाज पर थी, और पटियाला आदि में आर्यसमाज के अनेक नेताओं व कार्यकर्ताओं पर राजद्रोह के मुकदमे दायर कर दिए गये थे। ऐसे समय में प्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाज के हितों की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया, उसमें आचार्य रामदेव महात्मा मुंशीराम के विश्वस्त व सुयोग्य सहयोगी थे। सन् १६३२ में गुरुकुल से त्यागपत्र देकर उन्होंने देश के व्यापक सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, सत्याग्रह आन्दोलन में जेल गये, और फिर १६३५ में सभा के प्रधान निर्वाचित हो गये।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में पण्डित विश्वम्भरनाथ की एक अनुपम स्थिति थी। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में "चालीस से अधिक वर्षों तक पण्डित विश्वम्भरनाथजी की पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा में वह स्थिति रही, जो गाड़ी के पहिये में नाभि की होती है। लोग पहिये को घूमता हुआ देखते थे, उन्हें पहिये की अराएँ भी दिखायी देती थीं, परन्तु उस नाभि को थोड़े ही लोग जानते थे, जिसके सहारे से यह सब कुछ घूम रहा था। वे कम बोलते थे। व्याख्यान देना या लेख लिखना उनकी कार्यप्रणाली में शामिल नहीं था। अहम् की महिमा गाना या अपना विज्ञापन देना उनके स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध था। किसी सभा में जाते थे तो सबसे पीछे बैठने का यत्न करते थे। बड़े लोगों से मिलने-जुलने में बहुत संकोच मानते थे। प्रत्येक प्रश्न पर

गम्भीरता से विचार करना, अपने विचारों को व्यक्तियों तथा समाजों के सामने पूरे बल से उपस्थित करना और शरीर तथा मन से समाज की जितनी सेवा हो सके, वह करते जाना—यह पण्डित विश्वम्भरनाथजी का स्थायी कार्यक्रम था। युवावस्था में ही वह पूरी तरह आर्यसमाज की ओर खिंच गये थे। एल-एल० बी० की परीक्षा पास करने के पश्चात् नवयुवक प्राय: धन कमाने में लग जाते हैं, परन्तु उन्होंने प्रारम्भ से ही आर्यसमाज की सेवा को मुख्य तथा स्वार्थ को गौण समझा। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर रूप और बलवान् शरीर दिया था। उनकी दूर तक विचार करने की शक्ति भी बहुत अद्भुत थी। राय ठाकुरदत्त धवन मनुष्यों के बहुत बड़े परखैया माने जाते थे। वह कहा करते थे कि विश्वम्भरनाथ के जवान कन्धों पर बूढ़ा सिर रखा हुआ है। चालीस वर्ष से अधिक समय तक उनकी सारी शक्तियाँ आर्यसमाज की सेवा में समर्पित रहीं। आप बहुत वर्षों तक सभा के उपप्रधान रहे। कुछ वर्षों तक प्रधान रहे, और पाँच वर्ष तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता भी रहे। वे चाहे किसी भी स्थिति में रहे, परन्तु जानने वाले लोग यह जानते थे कि सभा के ढर्रे को चलाने में सबसे अधिक हाथ पण्डित विश्वम्भर-नाथजी का ही रहता है। उनका जीवन सादगी, सदाचार और संयम का नमूना था। 'कर्म कुरु' के उपदेश को उन्होंने अपना मार्गदर्शक बनाया हुआ था। जब उनकी आयु ढल गयी तब भी दिन में आठ-दस मील पैदल घूमना और दिन-भर समाज के कार्य में लगे रहना उनकी दिनचर्या का मुख्य अंग था। वे नौजवानों से कहा करते, (Rest is Rust) आराम करने से जंग लग जाता है। शरीर निर्बल हो गया तो भी कार्य करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि ७० वर्ष की आयु में हृदय की गति रुक जाने से उनका देहावसान हो गया। उन्हें आर्यसमाज रूपी समुद्र का छुपा हुआ मोती कहा जा सकता है।" पण्डितजी का जन्म अक्टूबर, सन् १८७६ में कलानौर (जिला गुरुदासपुर) में हुआ था। उस समय उनके पिता पण्डित मुकुन्दराम वहाँ अध्यापक थे। बाद में उनकी नियुक्ति श्रीगोविन्दपुर में हो गयी थी, अत: विश्वम्भरनाथजी का बाल्यकाल इसी नगरी में व्यतीत हुआ था। उनकी उच्च शिक्षा लाहौर में हुई। वहाँ वह आर्यसमाज के प्रभाव में आए और उसके उत्साही कार्यकर्ता बन गये। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के निर्माण एवं विकास में उनका जो महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व था, उस पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में प्रकाश डाला गया है। प्रतिनिधि सभा के संचालन में उनके कर्तृत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति का ऊपर उद्धृत उद्धरण पर्याप्त है।

पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा निपुण चिकित्सक थे, और 'अमृतधारा' का आविष्कार कर उन्होंने प्रभूत धन उपार्जित किया था। धन द्वारा तो वह सभा को आर्थिक सहयोग देते ही रहते थे, पर साथ ही वह उसके उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता भी थे। भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक विपत्तियों और प्लेग, हैजा आदि महामारियों के प्रकोप के समय सभा द्वारा जनता की सहायता के लिए जो भी प्रयत्न किये गये, पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा ने उनमें पूरा सहयोग किया।

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास में महाशय कृष्ण का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९४७ से १९५५ तक वह सभा के प्रधान रहे, और इससे पहले चिर-काल तक मन्त्री के रूप में सभा का संचालन करते रहे। पर आर्यसमाज में महाशयजी के कर्तृत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उनके प्रधान व मन्त्री पद का उल्लेख कर देना पर्याप्त

नहीं है। पंजाब में गुरुकुल (महात्मा) पार्टी की आर्य प्रतिनिधि सभा में एक पार्टी 'प्रकाश पार्टी' के नाम की थी, जिसके हाथों में चिरकाल तक इस सभा का संचालन रहा था। प्रकाश पार्टी के संस्थापक, नेता व संचालक महाशय कृष्ण ही थे। गुरुकुल काँगड़ी के विकास में महात्मा मुंशीराम को महाशय कृष्ण और उनकी प्रकाश पार्टी से जो बहुमूल्य सहयोग व समर्थन प्राप्त हुआ, उसका उल्लेख इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में गुरुकुल काँगड़ी का विवरण देते हुए यथास्थान किया गया है। पर महाशयजी का मुख्य कार्य पंजाब में आर्यसमाज की गतिविधि एवं कार्यकलाप को शक्ति प्रदान करना था। इसी प्रयोजन से उन्होंने सन् १९०६ में 'प्रकाश' नाम से उर्दू के एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, जो शीघ्र ही पंजाब में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम बन गया था। इस पत्र के दो उद्देश्य थे, आर्यसमाज पर बाहर से होने वाले आक्रमणों का सामना करना और आर्यसमाज के अन्दर चल रहे झगड़ों और अन्तर्द्वन्द्वों के सम्बन्ध में ऐसा रुख अपनाना जो महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन की पूर्ति में सहायक हो। 'प्रकाश' द्वारा महाशयजी ने आर्यसमाज की जो सेवा की, वह वस्तुतः अनुपम थी। केवल पंजाब में ही नहीं, अपितु अन्य प्रान्तों में भी उसे आदर के साथ पढ़ा जाता था। उस समय हिन्दी का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। उत्तरप्रदेश और दिल्ली आदि के हिन्दू भी प्रायः उर्दू ही पढ़ा करते थे। अतः उर्दू भाषा में प्रकाशित यह पत्र देश के बड़े भाग में आर्यसमाज के प्रचार में सहायक हुआ। महाशयजी को शुरू से ही आर्यसमाज के कार्यकलाप के प्रति उत्साह था। इसीलिए सन् १९०७ में वह वच्छोवाली (लाहौर) आर्यसमाज के मन्त्री चुन लिये गये थे, और १९११ में आर्य प्रतिनिधि सभा के उपमन्त्री। उस समय वह युवक ही थे, उनकी आयु केवल तीस साल की थी। सभा का कार्य उन्होंने इतनी लगन के साथ किया, कि तीन साल बाद सन् १९१४ में उन्हें सभा का मन्त्री चुन लिया गया। इसके बाद वह अनेक बार कई-कई वर्षों तक निरन्तर सभा के मन्त्री चुने जाते रहे। कुल मिलाकर वह चौदह साल के लगभग सभा के मन्त्री रहे, और आठ साल प्रधान। इतने लम्बे समय तक सभा के इतने महत्त्वपूर्ण पदों पर रहना यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि पंजाब के आर्यसमाज में उनकी स्थिति कितने महत्त्व की थी। पर महाशय कृष्ण का सार्वजनिक जीवन केवल आर्यसमाज तक ही सीमित नहीं रहा। सन् १९१९ में महात्मा गांधी के नेतृत्त्व में जब स्वराज्य संघर्ष प्रारम्भ हुआ, तो महाशयजी उसमें उदासीन नहीं रह सके। उन्होंने 'प्रताप' नाम से एक उर्दू दैनिक का प्रकाशन शुरू किया, जिसकी नीति स्वराज्य संघर्ष का समर्थन करने की थी। पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन को 'प्रताप' द्वारा बहुत बल मिला, जिसके कारण सरकार ने पहले उस पर सैन्सर बिठा दिया, और फिर (१२ एप्रिल, १९१९) महाशयजी को गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया। 'प्रताप' के माध्यम से महाशय कृष्ण जिस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे, उसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज के नेता होने के साथ-साथ वह राष्ट्रीय नेता भी बन गये थे। 'प्रताप' द्वारा जहाँ वह पंजाब में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में तत्पर थे, वहाँ साथ ही आर्यसमाज के विविध आन्दोलनों में भी नवस्फूर्ति व शक्ति का संचार कर रहे थे। महाशय कृष्ण के समान पण्डित भीमसेन विद्यालंकार ने भी चिरकाल तक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री के रूप में पंजाब के आर्यसमाजों के कार्यकलाप का संचालन किया। वह बारह साल के लगभग सभा के मन्त्री

रहे। भीमसेनजी सच्चे आर्य और निष्कलंक व्यक्ति थे। वह पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से समाज की सेवा में तत्पर रहते थे। न उन्हें नाम की चाह थी, और न प्रतिष्ठा की। पंजाब में हिन्दी के प्रचार में भी उनका अनुपम कर्तृत्त्व था।

सन् १९३६ में पंजाव आर्य प्रतिनिधि सभा की स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी थी। सन् १९४७ में भारत का विभाजन हुआ, जो प्रतिनिधि सभा के लिए एक घोर संकट की घटना थी। स्वर्ण जयन्ती और भारत विभाजन के बीच के ग्यारह वर्षों का पंजाव आर्यसमाज का इतिहास उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ सम्बद्ध है, जिनका सम्वन्ध सम्पूर्ण भारत के साथ था। ये घटनाएँ हैदरावाद सत्याग्रह (१९३८-३९), 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन (१९४२) और सिन्ध सरकार का सत्यार्थप्रकाश पर आक्रमण और आर्यसमाज द्वारा उसका प्रतिरोध (१९४३) थीं। पंजाब प्रतिनिधि सभा ने हैदराबाद सत्याग्रह में सक्रिय रूप से भाग लिया था। आर्यसमाज के इतिहास में इस सत्याग्रह का बहुत महत्त्व है, अतः इस ग्रन्थ के एक पृथक् अध्याय में विशद् रूप से उसका वृत्तान्त दिया गया है। सन् १९४२ के स्वराज्य संघर्ष में वहुत-से आर्य नेताओं और कार्यकर्ताओं ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था, और सरकार द्वारा जेल में बन्द किये गये सत्याग्रहियों में अच्छी बड़ी संख्या आर्यसमाजियों की थी। महाशय कृष्ण भी इस आन्दोलन में गिरफ्तार कर लिये गये थे। सत्यार्थप्रकाश की जब्ती के लिए जो पग सिन्ध की सरकार उठाना चाहती थी, और जिसके लिए मुसलिम लीग द्वारा प्रचण्ड आन्दोलन किया जा रहा था, आर्यसमाज ने उनका प्रबल रूप से प्रतिरोध किया। पंजाब प्रतिनिधि सभा ने भी इस प्रतिरोध में सक्रिय रूप से भाग लिया था। भारत के विभाजन से पहले की इन घटनाओं पर इस ग्रन्थ में अन्यत्र यथास्थान प्रकाश डाला गया है, क्योंकि उनका सम्वन्ध केवल पंजाब से न होकर सम्पूर्ण आर्य जगत् के साथ था।

भारत के विभाजन (सन् १९४७) से पूर्व के काल के पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास की कुछ अन्य वातें हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। सभा से सम्बद्ध अनेक विद्वान् इस काल में विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के प्रसार के लिए गये, जिनमें स्वामी स्वतन्त्रानन्द, पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार और पण्डित यशपाल सिद्धान्तालंकार प्रमुख थे। आचार्य रामदेव, पण्डित चमूपति और पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने भी इस काल में पूर्वी अफ्रीका की प्रचार यात्रा की थी। विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का वृत्तान्त देते हुए इनके कर्तृत्त्व का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। बीसवीं सदी के द्वितीय चरण के पंजाब प्रतिनिधि सभा के उपदेशकों व प्रचारकों में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, पण्डित लोकनाथ तर्कवाचस्पति, पण्डित यशपाल सिद्धान्तालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पण्डित मनसाराम वैदिक तोप, पण्डित शान्तिप्रकाश शास्त्रार्थमहारथी, पण्डित धर्मभिक्षु, पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड और पण्डित गुरुदत्त सिद्धान्तालंकार आदि प्रधान थे, और इन द्वारा धर्मप्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया था।

बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में जिन आर्य विद्वानों ने वाणी और लेखनी द्वारा आर्यसमाज की प्रगति के लिए विशेष रूप से कार्य किया, उनमें पण्डित चमूपति को उच्च व प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। पण्डितजी उर्दू, फारसी, हिन्दी और अंग्रेजी के गम्भीर विद्वान् थे, और संस्कृत का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। वह उत्कृष्ट कवि और सिद्धहस्त

लेखक भी थे। वह बहावलपुर रियासत के निवासी थे, पर वहाँ के नवाब ने उन्हें केवल इस कारण रियासत से बहिष्कृत कर दिया था, क्योंकि अपनी एक उर्दू पुस्तक में उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के साथ 'सर्वरे कायनात' विशेषण का प्रयोग किया था, जो मुसलमानों के अनुसार केवल इस्लाम के पैगम्बर के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। 'रंगीला रसूल' नाम से उन्होंने हज़रत मुहम्मद की एक जीवनी लिखी थी, जिसके कारण महाशय राजपाल को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ गयी थी। हिन्दी में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें 'योगीराज कृष्ण' ने बहुत ख्याति प्राप्त की। वह कुछ वर्ष गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा मुख्याधिष्ठाता भी रहे, और पूर्वी अफ्रीका में वेद-प्रचार के लिए भी गये। चमूपतिजी न केवल उत्कृष्ट कोटि के लेखक ही थे, अपितु प्रभाव-शाली वक्ता व प्रचारक भी थे। सन् १९३५ में वह आर्यसमाज के व्यापक क्षेत्र में कार्य करने के लिए गुरुकुल काँगड़ी से लाहौर चले गये थे, पर दुर्भाग्यवश वह अधिक समय जीवित नहीं रहे। सन् १९३७ में उनका देहान्त हो गया। आर्य प्रतिनिधि सभा ने उनकी स्मृति में 'चमूपति साहित्य विभाग' की स्थापना की, जिसका कार्यालय गुरुदत्त भवन, लाहौर में था।

(६) भारत का विभाजन और पंजाब का आर्यसमाज

सन् १९४७ के अगस्त मास में भारत ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हुआ, और साथ ही यह देश दो भागों में विभक्त हो गया। पाकिस्तान के रूप में एक नये राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, और वह भारत से पृथक् हो गया। भारत के जो प्रदेश पाकिस्तान में सम्मिलित किए गये, उनमें पश्चिमी पंजाब के १९ जिले, सिन्ध, बिलोचिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त अन्तर्गत थे। यद्यपि इन सबमें मुसलमानों की बहुसंख्या थी, पर वहाँ आर्यसमाज का प्रचार भी कम नहीं था। विशेषतया, लाहौर, मुलतान, लायल-पुर, रावलपिंडी, क्वेटा, कराची, पेशावर सदृश नगरों में शक्तिशाली आर्यसमाजों की सत्ता थी, और आर्यसमाज के कितने ही स्कूल, कॉलिज, अनाथालय, विद्यार्थी आश्रम, उपदेशक विद्यालय, पुस्तकालय आदि वहाँ विद्यमान थे। लाहौर आर्यसमाज का प्रधान केन्द्र था। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा—दोनों के मुख्य कार्यालय वहाँ स्थित थे, और पंजाब में आर्यसमाज का सब प्रचार व अन्य कार्य वहीं से संचालित हुआ करता था। पाकिस्तान का निर्माण धर्म के आधार पर किया गया था, अतः उन लोगों के लिए वहाँ रह सकना सम्भव नहीं था, जो मुसलमान नहीं थे। देश के विभाजन के समय पाकिस्तान में हिन्दुओं पर जो अमानुषिक व नृशंस अत्याचार हुए, जिस प्रकार लाखों स्त्री-पुरुषों व बच्चों को मौत के घाट उतार दिया गया, और जिस प्रकार हिन्दुओं को अपनी सब सम्पत्ति और उद्योग-धन्धे छोड़कर भारत चले आने के लिए विवश होना पड़ा, इसका संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकना न यहाँ सम्भव है और न उसकी आवश्यकता ही है। देश के विभाजन के परिणामस्वरूप आर्यसमाज को भी असीम क्षति उठानी पड़ी। पाकिस्तान में जो आर्यसमाज मन्दिर विद्यमान थे, उनका मूल्य करोड़ों रुपयों में था। समाज की जो शिक्षण-संस्थाएँ वहाँ थीं, उनकी सम्पत्ति भी करोड़ों के मूल्य की थी। उनके पुस्तकालयों में जो पुस्तकें संग्रहीत थीं, उनके मूल्य का तो अनुमान कर सकना भी सम्भव नहीं है। लाहौर का गुरुदत्त भवन आर्य प्रतिनिधि

सभा के सम्पूर्ण कार्यकलाप का केन्द्र था। उसकी भू-भवन सम्पत्ति ही उस समय की कीमतों के अनुसार लाखों रुपयों की थी, और वहाँ जो बहुत-सी संस्थाएँ स्थापित थीं, उनका मूल्य तो मुद्रा में सूचित ही नहीं किया जा सकता। देश के विभाजन के कारण यह सब सम्पत्ति आर्यसमाज को पाकिस्तान में ही छोड़ देनी पड़ी। पाकिस्तान का निर्माण पंजाब आर्यसमाज के लिए खण्ड-प्रलय के समान था, जिससे उस प्रदेश में गत तीन चौथाई सदी में किये गये सब कार्य पर देखते-देखते पानी फिर गया। आर्यसमाज के कितने ही नेताओं और कर्मठ कार्यकर्ताओं को भी इस समय मुसलमानों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया। जब पाकिस्तान में हिन्दुओं का रह सकना ही सम्भव नहीं रहा, तो वहाँ आर्यसमाज व उसकी संस्थाएँ ही कैसे कायम रह सकती थीं। वहाँ के हिन्दुओं के समान वहाँ के आर्यसमाज भी अब विस्थापित हो गये, और उन्हें भारत में पुनः स्थापित करने की समस्या उत्पन्न हुई। इस विकट समय में पंजाब के आर्यसमाजियों ने जिस असाधारण साहस, धैर्य तथा धर्मप्रेम का प्रदर्शन किया, वह वस्तुतः सराहनीय व अनुपम था। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा—दोनों ने जालन्धर में अपने प्रधान कार्यालय स्थापित कर लिये, और वहाँ से समाज के कार्यकलाप को नये उत्साह से प्रारम्भ कर दिया। महाशय कृष्ण आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुन लिये गये (१९४७), और उन्होंने सभा के कार्यकर्ताओं और प्रचारकों को पुनः संगठित करना शुरू कर दिया। उस समय वेद-प्रचार की तुलना में पाकिस्तान से विस्थापित हुए परिवारों व लोगों की सहायता करने का काम अधिक महत्त्व का था। अतः सभा द्वारा असहाय आर्य परिवारों की सहायता एवं पुनर्वास पर विशेष ध्यान दिया गया, और उनके लिए आर्थिक साधन जुटाने की भी व्यवस्था की गयी। साथ ही, पाकिस्तान से विस्थापित हुए समाजों तथा स्कूल-कॉलिजों आदि को भारत में स्थापित किया गया, और वेद-प्रचार के कार्य को भी फिर से शुरू कर दिया गया। सन् १९४७-४८ में भी पण्डित भीमसेन विद्यालंकार ही आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री थे। संकट के इस काल में उन्होंने बड़ी लगन तथा कर्तव्यनिष्ठा के साथ सभा के कार्य को सँभाला, और उसमें शिथिलता नहीं आने दी।

(७) आर्यसमाज पर ब्रिटिश सरकार का प्रकोप

आर्यसमाज द्वारा जिस ढंग से भारत में नवजीवन उत्पन्न किया जा रहा था, और जनता में स्वधर्म, स्वदेश तथा अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम तथा गौरव की भावना प्रादुर्भूत की जा रही थी, उससे विदेशी ब्रिटिश शासकों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इसीलिए बीसवीं सदी के प्रथम दशक में आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझा जाने लगा, बहुत-से आर्य नेता और कार्यकर्ता गिरफ्तार किए गये, और उनपर मुकदमे चलाये गये। इन सबका पंजाब के आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस 'इतिहास' के चतुर्थ भाग का विषय 'आर्यसमाज और राजनीति' है। वहाँ पंजाब की इन घटनाओं पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ इनका निर्देशमात्र इस प्रयोजन से कर दिया गया है, ताकि आर्यसमाज की गतिविधि का विवेचन करते हुए राजनीति के साथ उसके सम्बन्ध को आँखों से ओझल न किया जाये।

पाँचवाँ अध्याय

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा

(१) अनारकली आर्यसमाज की स्थापना

पंजाब के आर्यसमाजी किस प्रकार दो दलों में विभक्त हो गये, और उनके मत-भेदों ने किन कारणों से अत्यन्त उग्र विरोध का रूप ग्रहण कर लिया, इस विषय पर इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षा-पद्धति तथा मांस-भक्षण के प्रश्नों पर पंजाब के आर्य जगत् में इतना अधिक मतभेद विकसित हो गया था, कि आर्यों के लिए एक साथ मिलकर कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा था। पंजाब में लाहौर आर्यसमाज की स्थिति "प्रधान" थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित इस समाज के हाथों में पंजाब के आर्यसमाजों का नेतृत्व था, और पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में भी इसके प्रतिनिधियों का विशिष्ट स्थान था। इस दशा में यह प्रश्न बड़े महत्त्व का होता था, कि लाहौर आर्यसमाज पर किस पार्टी का प्रभुत्व रहे, कॉलिज पार्टी (मांस पार्टी) का या महात्मा पार्टी का जो बाद में गुरुकुल पार्टी कही जाने लगी थी। पहले लाहौर आर्यसमाज के प्रधान लाला साईंदास थे। सन् १८९० में उनकी मृत्यु के बाद श्री ईश्वरदास और श्री हंसराज उसके प्रधान चुने गये। महात्मा पार्टी का प्रयत्न था कि उन्हें अपदस्थ कर समाज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले। दोनों पार्टियों में लाहौर समाज को अपने हाथों में रखने के लिए किस ढंग से संघर्ष चल रहा था, इसका वर्णन लाला लाजपत राय ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—"प्रतिवर्ष नवम्बर मास में लाहौर आर्यसमाज के सभासदों की नयी सूची तैयार की जाती थी। वोट का अधिकार केवल सभासदों को होता था। सभासदों की सूची में संशोधन समाज की अन्तरंग सभा करती थी। उसका यह प्रयत्न रहता था, कि अपने पक्ष के सभासदों की संख्या में वृद्धि कर दी जाये और जिस किसी भी प्रकार सम्भव हो विरोधी पक्ष के सभासदों में कमी कर दी जाये। रात का बड़ा भाग इन्हीं झगड़ों में बीता करता था।" लाहौर आर्यसमाज के सन् १८९३ के वार्षिक चुनाव से पहले ही यह नजर आने लगा था, कि महात्मा पार्टी की शक्ति में वृद्धि होती जा रही है, और लाला हंसराज का लाहौर आर्य समाज का पुनः प्रधान चुना जा सकना सुगम नहीं है। अतः उन्होंने स्वयं प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया, और लाला लाजपत राय का नाम प्रधान पद के लिए प्रस्तुत किया। लालाजी निरामिषभोजी थे, अतः मांस-भक्षण के विरोधियों का समर्थन भी उन्हें प्राप्त हो सकता था। पर लाहौर आर्यसमाज के बहुसंख्यक सदस्य इस समय महात्मा पार्टी के थे, जो जिस किसी तरह भी सम्भव हो समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। परिमाण यह हुआ कि लाला लाजपत राय प्रधान नहीं चुने जा सके, और महात्मा पार्टी

के उम्मीदवार मास्टर दुर्गाप्रसाद प्रधान चुन लिये गये। कॉलिज पार्टी के लिए यह स्थिति बहुत भयावह थी, क्योंकि लाहौर आर्यसमाज पर जिस पार्टी का अधिकार हो उसके लिए डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी व मैनेजिंग कमेटी पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकने का मार्ग प्रशस्त हो जाता था। इस स्थिति पर विचार करने के लिए महात्मा हंसराज और कॉलिज पार्टी के उनके साथी मुहल्ला मोहलियाँ में लाला लालचन्द के मकान पर एकत्रित हुए। लाला लाजपत राय के अनुसार, "पार्टी के बड़े-छोटे सब उत्साही सदस्य वहाँ उपस्थित थे। यह सभा शनिवार सायंकाल के समय हुई थी। अगले दिन रविवार था। प्रश्न यह था कि अब हमें कौन-सा पग उठाना चाहिये। एक मत यह था कि पुलिस की सहायता से समाज मन्दिर पर कब्जा किया जाये। दूसरे पक्ष का कहना था कि न्यायालय से दोनों पार्टियों द्वारा आयोजित सभाओं के लिए पृथक्-पृथक् समय निर्धारित करा लिये जाया करें। एक अन्य मत यह था कि समाज मन्दिर पर कब्जा करने के लिए पुलिस की सहायता न लेकर बल का प्रयोग किया जाये। रात के समय लाठियों के बल पर कब्जा कर लिया जाये और यदि कोई विरोध करने का प्रयत्न करे तो उसका शक्ति द्वारा मुकाबिला किया जाये। इस मत के समर्थकों में लाला अमरनाथ खम्ब भी थे, जो मेरी स्मृति के अनुसार उस समय कमिश्नर के कार्यालय में सुपरिण्टेण्डेण्ट या क्लर्क थे···चौथा पक्ष यह था, और मैं भी इस पक्ष का समर्थक था, कि "महात्माओं" के साथ सहयोग करना क्योंकि सम्भव ही नहीं है, अतः यह उचित होगा कि उनसे सदा के लिए सम्बध विच्छेद कर लिया जाये और सम्प्रति एक मकान किराये पर लेकर वहाँ अपने पृथक् साप्ताहिक सत्संग शुरू कर दिये जायें। मुझे भली-भाँति याद है, उस अवसर पर मैंने यह कहा था, कि समाज का निर्माण ईंटों और पत्थरों द्वारा नहीं होता, समाज सिद्धान्तों पर आधारित होता है। हम समाज में इस प्रयोजन से सम्मिलित हुए थे कि अपने जीवन में सुधार करें और जनता की सेवा करें। हम मकानों पर कब्जा करने व उनको लेकर झगड़े करने के लिए आर्यसमाज में नहीं आये थे। यह सही है कि आपने बहुत श्रम कर के तथा बहुत रुपया खर्च करके समाज मन्दिर का निर्माण कराया था, पर यदि आप में धर्म के लिए वस्तुतः उत्साह है तो आप और भी अधिक शानदार मन्दिर बना सकते हैं।" महात्मा हंसराज को लाला लाजपत राय का विचार पसन्द नहीं था। बच्छोवाली के समाज मन्दिर का त्याग कर देने की बात उनके लिए अत्यन्त कष्टप्रद थी। पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि लाला लालचन्द तथा अन्य अनेक प्रमुख व्यक्ति भी इसी विचार के हैं तो वह उनसे सहमत हो गये, और कॉलिज पार्टी द्वारा अपना पृथक् आर्यसमाज स्थापित करने का निर्णय कर लिया गया। लाहौर समाज के वे सभासद् जो कॉलिज पार्टी के थे, भगत ईश्वरदास के मकान पर एकत्र हुए, और उन्होंने लाला लाजपत राय के प्रधानत्व में अपने पृथक् समाज का निर्माण कर लिया। समाज के लिए जो स्थान किराये पर लिया गया, वह लाहौरी गेट के बाहर अनारकली बाजार में था। बाद में वही स्थायी रूप से समाज के लिए प्राप्त कर लिया गया। अनारकली बाजार में स्थित होने के कारण यह नया समाज "अनारकली आर्यसमाज" के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १८९३ से सन् १९४७ तक आधी सदी से भी अधिक समय तक यह अनारकली आर्यसमाज पंजाब की कॉलिज पार्टी के समाजों के कार्यकलाप और गतिविधि का केन्द्र बना रहा। भारत के विभाजन के पश्चात् जब लाहौर के इस समाज को नयी दिल्ली के मन्दिर मार्ग पर पुनःस्थापित

किया गया, तो वहाँ भी अनारकली नाम उसके साथ लगा रहा, और अब भी वह "अनारकली आर्यसमाज" के नाम से प्रसिद्ध है।

कॉलिज पार्टी द्वारा नये समाज की स्थापना तो कर दी गयी, अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि उसका पृथक् वार्षिकोत्सव मनाया जाये या नहीं? उस युग में लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव का बहुत महत्त्व था। न केवल पंजाब ही अपितु अन्य प्रान्तों से भी बहुत से आर्यसमाजी इस उत्सव में आया करते थे। बच्छोवाली समाज को तो अपना उत्सव मनाना ही था। यदि अनारकली समाज अपना पृथक् वार्षिकोत्सव न मनाता, तो कॉलिज पार्टी की छवि धूमिल हो जाती। अतः समय कम होते हुए और धन की समुचित व्यवस्था न होने पर भी लाला लाजपत राय ने निश्चित समय पर, जबकि बच्छोवाली समाज का गत वर्षों के समान उत्सव होना था, अनारकली समाज का उत्सव मनाने का निश्चय कर लिया। क्योंकि अनारकली समाज में स्थान की कमी थी, अतः डी० ए० वी० स्कूल के हॉल में उत्सव की तैयारी की गयी। पर उस समय डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी में लाहौर आर्यसमाज के जो प्रतिनिधि थे, उनमें अनेक महात्मा पार्टी के भी थे। अन्य समाजों से चुनकर आये हुए सदस्यों में भी महात्मा पार्टी के लोग पर्याप्त संख्या में थे। उनका कहना था, कि डी० ए० वी० स्कूल के हॉल को अनारकली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह समाज अवैध है। इस बात को लेकर दोनों पार्टियों में बहुत उत्तेजना फैल गयी। विशेषतया, युवक लोग आपे से बाहर होने लगे, और उत्सव के स्थान आदि की रक्षा के लिए पुलिस के पहरे की व्यवस्था की गयी। पर अनारकली आर्यसमाज ने अपना पृथक् वार्षिकोत्सव मना ही लिया और उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हो पाई। अब यह स्पष्ट हो गया था कि कॉलिज पार्टी और महात्मा पार्टी परस्पर मिलकर एक साथ काम नहीं कर सकतीं। लाहौर के समान पंजाब के अन्य अनेक नगरों में भी इन पार्टियों के विरोध ने उग्र रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। कुछ स्थानों पर कॉलिज पार्टी ने अपने पृथक् समाज स्थापित कर लिये, और कतिपय अन्य समाजों पर बहुमत के बल पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १८९३ के शुरू से मार्च, १८९७ तक इन पार्टियों में जो उग्र व कटु संघर्ष होता रहा और जिस प्रकार दोनों ने डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया, उसका उल्लेख इस इतिहास के तृतीय भाग में यथास्थान किया गया है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप यह स्थिति आ गयी, कि आर्य प्रतिनिधि सभा में बहुमत महात्मा पार्टी को प्राप्त हो गया, और डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी में कॉलिज पार्टी को। दोनों पार्टियों में विरोधभाव इतना अधिक था कि वे किसी सभा, कमेटी या संगठन में एक साथ नहीं रह सकते थे। अतः कॉलिज पार्टी ने आर्य प्रतिनिधि सभा से पृथक् होकर उन आर्यसमाजों का, जिन पर उसका प्रभुत्व था, एक नया संगठन बनाने का निश्चय किया; और उसे "आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा" नाम दिया गया।

(२) आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की स्थापना और प्रगति

२६ जनवरी, सन् १८९४ को अनारकली आर्यसमाज द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था—"सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि क्योंकि वर्तमान प्रतिनिधि

सभा आर्यसमाज की उन्नति और बेहतरी के बजाय फूट फैलाकर आर्यसमाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो रही है और गत वर्ष प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के पुनर्निर्वाचन और उपदेश व अन्य सम्बन्धित बातों के प्रबन्ध के बारे में पदाधिकारियों की ओर से जो कार्यवाही होती रही है उससे सभा के सुधार अथवा सही होने की कोई आशा नहीं की जा सकती, अपितु यह सर्वथा सिद्ध होता है कि प्रतिनिधि सभा के अधिकारों का दुरुपयोग एक पक्ष के रूप में किया गया है और किया जायेगा; इस कारण प्रतिनिधि सभा अपने वास्तविक उद्देश्य से गिरकर प्रान्त की प्रतिनिधि नहीं, अपितु एक दल की बन गयी है और क्योंकि सम्बन्ध विच्छेद के सिवा इस हानि को रोकने की कोई और राह नहीं, इसलिए आर्यसमाज लाहौर अपना सम्बन्ध वर्तमान प्रतिनिधि सभा से तोड़ती है।" इस प्रस्ताव द्वारा जब कॉलिज पार्टी के प्रमुख आर्यसमाज (अनारकली) ने प्रतिनिधि सभा से अपने सम्बन्ध का अन्त कर लिया, तो एक नई प्रतिनिधि सभा के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गयी और उसी वर्ष "आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान" नाम से एक नयी सभा की स्थापना कर दी गयी। सन् १९०३ में उसकी विधिवत् रजिस्ट्री भी करा दी गयी। प्रादेशिक सभा की नियमावली में उसके निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(१) प्रचारकों और साहित्य द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार करना, (२) वैदिक साहित्य का पुस्तकालय खोलना, (३) विधवाओं, अनाथों और पीड़ितों की सहायता करना, (४) आर्यसमाज की उन्नति के समस्त साधनों पर विचार तथा उन्हें क्रियान्वित करना। प्रादेशिक सभा के संस्थापकों में लाला लाजपत राय, महात्मा हंसराज, लाला लालचन्द तथा राय मूलराज प्रमुख थे। आर्यसमाज अनारकली के प्रथम प्रधान होने के कारण लाला लाजपत राय का प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के संचालन के सम्बन्ध में विशेष उत्तरदायित्व था, पर डी० ए० वी० कॉलिज के समान इस सभा का बोझ भी मुख्यतया महात्मा हंसराज पर ही रहा। महात्मा खुशहालचन्द आनन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) के शब्दों में, "कई वर्षों तक आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का कार्यालय महात्मा (हंसराज) जी की जेब में ही रहा।" प्रारम्भ में सभा के पास न उपदेशक थे और न धन। उसका कार्यालय अनारकली समाज के भवन में खोल दिया गया था, और उसे केन्द्र बनाकर यह प्रयत्न किया जाने लगा था कि पंजाब, सिन्ध और बिलोचिस्तान के समाजों से सम्पर्क बढ़ाया जाए और उन्हें प्रादेशिक सभा के साथ सम्बद्ध किया जाये। प्रतिनिधि सभा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो भी कार्य उस समय किया जाता था, वह या तो डी० ए० वी० कॉलिज मैनेज़िंग कमेटी द्वारा होता था और या अनारकली आर्यसमाज द्वारा। कॉलिज कमेटी ने वेद-प्रचार के लिए कुछ उपदेशकों की भी नियुक्ति की हुई थी, जिनमें मेहता रामचन्द्र शास्त्री और पण्डित जगतसिंह मुख्य थे। इनके वेतन कॉलिज कमेटी प्रदान करती थी और वही इनके प्रचार का प्रोग्राम निर्धारित करती थी। सन् १८९४ से सन् १९१८ तक की डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी का बैठकों की विवरण-पत्रिकाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि कमेटी द्वारा उपदेशकों के अवकाश के प्रार्थनापत्रों, उनके वेतन तथा उन्हें किसी समाज में पुरोहित आदि के रूप में कार्य करने के लिए भेजने सदृश विषयों पर भी विचार किया गया, और कमेटी के वार्षिक बजट में उपदेशकों के वेतन तथा मार्ग व्यय आदि के लिए भी खर्च का प्रावधान किया गया। वस्तुतः इस काल में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का वह स्वरूप व कार्यकलाप नहीं

था, जो आर्य प्रतिनिधि सभा का था। कॉलिज पार्टी का ध्यान प्रधानतया शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना और उन द्वारा विद्यार्थियों को वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति से प्रभावित करने पर था। धर्म-प्रचार का जो कार्य कॉलिज पार्टी द्वारा किया जा रहा था, वह भी डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी के तत्त्वावधान में ही सम्पन्न होता था। पर उन समाजों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी, जो कॉलिज पार्टी की विचारधारा में आस्था रखते थे और जिन्होंने अपने को आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध कर लिया था। मेहता रामचन्द्र शास्त्री और पण्डित जगतसिंह आदि जो उपदेशक डी० ए० वी० कमेटी द्वारा प्रचार-कार्य के लिए नियुक्त थे, उनका भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि वे स्थान-स्थान पर नये आर्यसमाज स्थापित करें और उन्हें प्रादेशिक सभा के साथ सम्बद्ध करें। उनका यह प्रयत्न भी रहता था कि पुराने समाजों का सम्बन्ध भी आर्य प्रतिनिधि सभा के बजाय प्रादेशिक सभा के साथ स्थापित हो जाये। इसी का यह परिणाम था, कि सन् १९२२ तक ११२ आर्यसमाज प्रादेशिक सभा के साथ सम्बद्ध हो गये थे।

सन् १९११ में महात्मा हंसराज ने डी० ए० वी० कॉलिज के प्रिंसिपल पद से त्यागपत्र दे दिया था, और उन्होंने आर्यसमाज के अधिक व्यापक क्षेत्र में पदार्पण कर लिया था। अब वह डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी के प्रधान हो गए थे, और इस स्थिति में भी पंजाब की इस प्रधान शिक्षण-संस्था की व्यवस्था तथा संचालन का उत्तर-दायित्व उन्हीं पर था। पर अब वह प्रादेशिक सभा की ओर अधिक ध्यान दे सकते थे। अब उनके लिए यह सम्भव हो गया था कि वह समाजों के वार्षिकोत्सवों पर लाहौर से बाहर जा सकें और प्रादेशिक सभा से सम्बद्ध समाजों में नये उत्साह का संचार करने के लिए समय निकाल सकें। साथ ही, उन्होंने सभा के लिए धन एकत्र करने पर भी ध्यान दिया और यह व्यवस्था की कि वेद-प्रचार के लिए नियुक्त उपदेशक व भजनीक डी. ए. वी. कमेटी के बजाय प्रादेशिक सभा की सर्विस में रह कर कार्य करें और सभा ही उन्हें वेतन प्रदान किया करे। महात्माजी नियमित रूप से प्रतिदिन प्रादेशिक सभा के कार्यालय में, जो अनारकली आर्यसमाज में स्थित था, जाया करते और वहाँ सब पत्र-व्यवहार को स्वयं देखा करते। उनके कर्तृत्व से सभा का स्वरूप ही बदल गया। वह एक जीवित संस्था बन गयी, और उसका सब कार्य व्यवस्थित रूप से होने लग गया। सन् १९२१ तक प्रादेशिक सभा इस योग्य नहीं थी कि वह अपना खर्च स्वयं उठा सके। वेद-प्रचार फण्ड में उसकी आमदनी केवल दो हजार रुपये वार्षिक थी। महात्माजी के प्रयत्न से शीघ्र ही यह आमदनी पाँच हजार तक पहुँच गयी और उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी। यही बात प्रचारकों के सम्बन्ध में भी हुई। सन् १९२१ में सभा के अधीन चौदह उपदेशक और नौ भजनीक प्रचार का कार्य कर रहे थे। उनकी संख्या में भी वृद्धि की गयी, और अनेक सुयोग्य व्यक्ति धर्म-प्रचार के लिए सभा की सेवा में नियुक्त किए गये। १९२२ तक प्रादेशिक सभा इस दशा में आ गयी थी, कि उपदेशकों और भजनीकों के वेतन अपने वेद-प्रचार फण्ड से दे सके।

पर प्रादेशिक सभा का कार्यकलाप केवल वेद-प्रचार तथा नये समाजों की स्थापना तक ही सीमित नहीं था। पीड़ितों की सहायता व जनता की सेवा की ओर भी उसका ध्यान था। सभा के स्थापित होने के एक साल बाद ही बीकानेर में घोर दुर्भिक्ष

पड़ा। वर्षा न होने के कारण खेती सूख गयी। न खाने को अन्न रहा, और न पीने को पानी। न्यूयार्क के क्रिश्चियन हैरल्ड ने इस दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुए लिखा था, कि "माताएँ एक मुट्ठी अन्न के लिए अपने बच्चों को बेच देती थीं।" क्रिश्चियन मिशनरियों ने इस दशा से लाभ उठाया, और सैकड़ों बच्चे अपने अधिकार में कर लिये। महात्मा हंसराज का ध्यान इस ओर गया, और आर्य गजट में लेख लिखकर उन्होंने दुर्भिक्ष-पीड़ितों को सहायता के लिए आर्यसमाजों को प्रेरणा प्रदान की। अनारकली आर्यसमाज का एक आवश्यक अधिवेशन बुलाया गया, और उसमें आर्यसमाज द्वारा शीघ्र सहायता पहुँचाने का निश्चय किया गया। महात्मा हंसराज ने डी० ए० वी० कॉलिज के विद्यार्थियों से भी स्वयं-सेवक बनकर बीकानेर जाने की अपील की, जिसे उन्होंने उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। डी० ए० वी० कॉलिज के विद्यार्थियों ने बीकानेर के दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की जो सहायता की, उसके कारण जहाँ हजारों नर-नारियों को मौत के मुख से बचाया जा सका, वहाँ साथ ही सैकड़ों अनाथ बच्चों को ईसाइयों के चँगुल से छुड़ाकर फीरोजपुर, आगरा और भिवानी के अनाथालयों में भेजा गया और वहाँ उनके पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था की गयी। सन् १८९५-९६ के दुर्भिक्ष से केवल बीकानेर रियासत ही पीड़ित नहीं थी, मध्य भारत के अनेक भाग भी उसकी चपेट में आ गये थे। डी. ए. वी. कॉलिज तथा प्रादेशिक सभा के नेताओं ने वहाँ भी सहायता पहुँचाई। मध्य भारत का दुर्भिक्ष इतना भयंकर तथा व्यापक था, कि तीस लाख के लगभग व्यक्ति अन्न के बिना मौत के शिकार हो गए थे। उन दिनों सरकार द्वारा दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए जो कार्य किये जाते थे, वे प्रायः क्रिश्चियन मिशनों के माध्यम से ही कराये जाते थे। इसीलिए अनाथ बच्चों को ईसाई पादरियों के सुपुर्द कर दिया जाता था। इस दशा में आर्यसमाज का कार्य सुगम नहीं था। महात्मा हंसराज और लाला लाजपत राय ने इस समय अनुपम तत्परता प्रदर्शित की। उन्होंने पंजाब के आर्यसमाजियों का ध्यान मध्य भारत के निवासियों की दुर्दशा की ओर आकृष्ट कर उनकी सहायता के लिए स्वयं-सेवकों और धन की अपील की। फरवरी, १८९७ में अनारकली आर्यसमाज के एक अधिवेशन में लाला लाजपत राय ने हिन्दू अनाथ सहायता फण्ड के लिए धन एकत्र करने पर जोर दिया, और पंजाब के हिन्दुओं से यह अनुरोध किया कि वे मध्य भारत के पचास हजार अनाथ बच्चों का भरण-पोषण और संरक्षण करने के लिए तैयार रहें, अन्यथा वे ईसाई मिशनरियों के हाथ में पड़ जायेंगे। लाला लाजपत राय और महात्मा हंसराज सदृश आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के नेताओं के निरन्तर आन्दोलन के परिणामस्वरूप पंजाब के हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न हो गयी, और न केवल आर्यसमाजी ही, अपितु सनातनी, जैन और सिक्ख, सभी वर्गों के हिन्दू मध्य भारत के अनाथों तथा दुर्भिक्ष-पीड़ितों की तन-मन-धन से सहायता करने को तैयार हो गये। अनेक आर्यसमाजी कार्यकर्ता इस समय मध्य भारत गये और अनाथ बच्चों को वहाँ से लाकर पंजाब के अनाथालयों में प्रविष्ट कराया गया। यद्यपि सरकार शुरू में अनाथ बच्चों को आर्यसमाजियों के सुपुर्द करने के लिए तैयार नहीं थी, पर बाद में उसे भी यह विश्वास हो गया कि लाला लाजपत राय और महात्मा हंसराज के नेतृत्व में अनाथों को शरण देने का जो प्रयत्न पंजाब में किया जा रहा है, वह वस्तुतः जनकल्याण के लिए है। १८९५-९६ के दुर्भिक्ष के कारण अनाथ हुए जो बच्चे पंजाब लाये गये, उनकी संख्या ज्ञात नहीं है। पर

पुराने रिकार्डों के अनुसार यह संख्या एक हजार के लगभग थी, और इसे विश्वासयोग्य न मानने का कोई कारण नहीं है।

सन् १८९९ में भारत के अनेक प्रदेशों को फिर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। मध्य भारत के अतिरिक्त गुजरात और राजपूताना भी इस दुर्भिक्ष से प्रभावित हुए। निस्सन्देह, १८९९ का यह दुर्भिक्ष १८९६-९७ के दुर्भिक्ष से भी अधिक भयंकर व व्यापक था। महात्मा हंसराज और लाला लाजपत राय के नेतृत्व व पथप्रदर्शन में डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने इस अवसर पर भी दुर्भिक्ष-पीड़ितों व अनाथ बच्चों की रक्षा के लिए अनुपम कार्य किया। लाला दीवानचन्द, जो बाद में डी० ए० वी० कॉलिज कानपुर के प्रिंसिपल और आगरा यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर बने, उन दिनों डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर के विद्यार्थी थे। महात्मा हंसराज ने उन्हें राजपूताना के दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता का कार्य सँभालने के लिए भेजा। उनके साथ अन्य भी बहुत से आर्यसमाजी कार्यकर्ता वहाँ गये। १८९९ के दुर्भिक्ष और उसमें आर्यसमाज द्वारा किये गये कार्य के सम्बन्ध में लाला लाजपत राय ने लिखा है, कि "बहुत-सी देशी रियासतों में हमारे कार्यकर्ता बड़े अधिकारियों से मिले और उन्हें अनाथों और बेघर हुए लोगों के प्रति उनके कर्तव्य को जताने का प्रयत्न किया। उन्हें बताया कि अनाथों को पालना, उन्हें इसी देश में रखना और भूख से बचाना रियासतों के अपने हित की बात है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि दूर देशों में जाकर ये अनाथ अन्य धर्मों में चले जायेंगे। हमारे प्रचारक एक पवित्र लड़ाई लड़ रहे थे। हमारा काम राजपूताना में किसी के विरुद्ध आन्दोलन करना नहीं था। न हमारे पास इसके लिए साधन और शक्ति थी और न ऐसा करने का हमारा कोई इरादा हीं था। हमने अपने जातिबन्धुओं के धर्म-परिवर्तन पर चिन्ता प्रकट की, और इस बात की ओर अधिकारियों का ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया। पर हमें शीघ्र-ही अनुभव हो गया कि इस तरह से कुछ न होगा। इससे न तो रियासतों में कोई लाभप्रद काम हो सकेगा और न अंग्रेजी इलाके में। केवल कुछ सौ पीड़ितों को पंजाब लाकर दुर्भिक्ष के समाप्त होने तक उनके पालन-पोषण का प्रबन्ध करना होगा। इसलिए हमने हिसार आर्यसमाज के जिम्मे अनाथों की सहायता का काम सौंप दिया। राजपूताना में हमारे कार्यकर्ता बार-बार अधिकारियों से मिले, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। यद्यपि हमारे पास सबूत भी थे कि बहुत से हिन्दू उन द्वारा समय-समय पर ईसाई मिशनरियों को दिए गये, जिन्होंने कि उन्हें भारत में दूर-दूर प्रदेशों में भेजा। बम्बई प्रान्त में हमारे कार्यकर्ता सूरत और बड़ौदा तक गये और वहाँ हिन्दुओं को अनाथों के प्रति उनके कर्तव्य के सम्बन्ध में बताया। हमारे कार्यकर्ताओं के दौरों और अनाथों की देखभाल करने का बहुत प्रभाव हुआ। इससे हमें यह सन्तोष हुआ कि हमने यथाशक्ति कार्य किया है। इसी प्रकार हमने काठियावाड़, मध्य प्रान्त और बम्बई के कुछ हिस्सों में सफल आन्दोलन द्वारा १४,००० बच्चों को बचाया। उनकी रक्षा के लिए हमने पंजाब में कई अनाथालय खोले, जिनमें कुछ अस्थायी थे। हर वर्ग के हिन्दुओं ने इस काम में हमारी सहायता की।"

डी० ए० वी० कॉलिज तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारियों के तत्त्वावधान में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता तथा अनाथ बच्चों के भरण-पोषण के लिए जो महान् कार्य उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में किया गया, उसका कुछ अनुमान इस

बात से किया जा सकता है कि सितम्बर, १६०० में फीरोजपुर के आर्य अनाथालय में अनाथों की संख्या ११३५ हो गयी थी, और भिवानी के नये स्थापित अनाथालय में ३४६ अनाथ बच्चों को आश्रय प्रदान किया गया था। पंजाब के अन्य भी अनेक स्थानों पर अस्थायी रूप से अनाथालय खोलकर उनमें बम्बई, मध्य भारत और राजपूताना से अनाथ बच्चों को लाकर रखा गया था। इस महत्त्वपूर्ण लोककल्याण के कार्य में डी. ए. वी. कॉलिज लाहौर के विद्यार्थियों, प्राध्यापकों तथा पदाधिकारियों का कर्तृत्त्व सर्वप्रधान था। क्रिश्चियन मिशनरी जो दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अपने धर्म में दीक्षित कर सकने में पूर्णतया सफल नहीं हो सके, उसका मुख्य कारण डी० ए० वी० कॉलिज और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के नेताओं का इस अवसर पर जागरूक हो जाना ही था। उनका आन्दोलन आर्य जनता को किस प्रकार जगा रहा था, इसका कुछ अनुमान 'आर्य मेसेंजर' पत्र (७ मार्च, १६०२) की इन पंक्तियों से किया जा सकता है—"हमारे नाश का मतलब है, क्रिश्चियन लोगों की समृद्धि। हमारे संकट उनके लिए वरदान होते हैं। जब हमारे खेत सूख जाते हैं, तो उनकी फसल लहलहाने लगती है। राजपूताना का दुर्भिक्ष उनके लिए फलने-फूलने का अवसर है। वे सदा ऐसे मौकों की प्रतीक्षा में रहते हैं। जब कि भारत की गरीब जनता पर दैवी संकट आये और उसके कारण भूख से पीड़ित लाखों लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो जाए।" क्रिश्चियन मिशनरी अनाथ बच्चों को अपने कब्जे में करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे और यदि आर्यसमाजी किसी ऐसे बच्चे को अपने संरक्षण में ले आयें, तो उसका अधिग्रहण करने के लिए वे कोर्ट की शरण लेने में भी संकोच नहीं करते थे। एक अनाथ बच्चे को लेकर शिमला में एक मुकदमा चला था, जिसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख इस काल में क्रिश्चियन मिशनरियों की मनोवृत्ति को समझने में सहायक होगा। दुर्भिक्ष पीड़ित प्रदेशों से कुछ बच्चे मिशनरियों द्वारा शिमला ले जाये गये थे। उनमें सोहागी नाम की एक नाबालिग लड़की भी थी। ये अनाथ बच्चे श्रीमती टाइटलर नाम की एक ईसाई महिला के सुपुर्द कर दिये गये थे। इनमें से एक बालिका (सोहागी) एक दिन शिमला के बाजार में रोती हुई फिर रही थी। वह भूखी थी और उसके कपड़े फटे हुए थे। शिमला आर्य-समाज के प्रधान लाला मेलाराम ने उसे इस दयनीय दशा में देखा, और वह उसे अपने घर ले गये। जब श्रीमती टाइटलर को यह ज्ञात हुआ, तो उसने लालाजी पर यह फौज-दारी मुकदमा दायर कर दिया, कि उन्होंने सोहागी का अपहरण कर लिया है। उसे मेलारामजी से छुड़ाकर उसके सुपुर्द कर दिया जाए, क्योंकि वही सोहागी की वैध संरक्षिका है। इस पर लाला मेलाराम को गिरफ्तार कर लिया गया (अक्तूबर, १६०१)। कई मास तक मुकदमे की सुनवायी के पश्चात् जो फैसला कोर्ट ने दिया, वह आर्यसमाज के पक्ष में था। उस फैसले में यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था कि यदि कोई संगठन या उसका प्रतिनिधि दुर्भिक्ष के मौके पर किसी नाबालिग को भौतिक कष्ट से छुटकारा प्रदान करता है, तो इस कारण वह उसका कानूनी या वैध संरक्षक नहीं बन जाता। क्रिश्चियन मिशन यह दावा किया करते थे कि जिन अनाथ बच्चों को वे संरक्षण प्रदान करते हैं; उन पर उनका अधिकार हो जाता है और वही उनके वैध संरक्षक बन जाते हैं। शिमला कोर्ट के निर्णय से ईसाइयों का यह दावा निराधार सिद्ध हो गया। सरकार द्वारा नियुक्त "दुर्भिक्ष आयोग" (फैमीन कमीशन) ने भी इस प्रश्न पर विचार

किया था, और लाला लाजपत राय ने अपने तर्क से उसे यह सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए विवश कर दिया था, कि अनाथ बच्चा जिस धर्म का हो यदि उसी धर्म का कोई संगठन, संस्था या व्यक्ति उसे संरक्षण प्रदान करने के लिए तैयार हो, तो उसे दूसरे धर्म के संगठन, संस्था या व्यक्ति के सुपुर्द नहीं किया जाना चाहिए। दुर्भिक्ष आयोग ने यह सिद्धान्त सन् १९०१ में प्रतिपादित किया था। बाद में अदालतों द्वारा भी उसे स्वीकृत कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि दुर्भिक्ष-पीड़ित अनाथ बच्चों को अपने संरक्षण में लेने के लिए पंजाब के हिन्दुओं में जो आन्दोलन लाला लाजपत राय और महात्मा हंसराज के नेतृत्व में चल रहा था, उसे बहुत शक्ति प्राप्त हुई, और सन् १९०४ तक पंजाब के अनाथालयों में राजपूताना आदि से लाये गये अनाथ बच्चों की संख्या १७०० तक पहुँच गयी।

सन् १९०५ में काँगड़ा में भूकम्प आया, जिसके कारण हजारों मकान गिर गये और हजारों नर-नारी उनके मलबे के नीचे दब गये। इस प्राकृतिक विपत्ति का समाचार सुनते ही महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय और बख्शी सोहनलाल ने भूकम्प-पीड़ितों की सहायता का आयोजन किया। आर्य स्वयं-सेवकों ने सबसे पहले मलबे के नीचे दबे हुए लोगों को निकाला और घायलों की मरहम पट्टी की। जिनकी मृत्यु हो गयी थी, उनका अन्तिम संस्कार कराया और बेघर हुए लोगों के लिए झोंपड़ों का निर्माण कराया। स्वयं-सेवकों का पहला जत्था बख्शी सोहनलाल के नेतृत्व में काँगड़ा गया और वहाँ उन्होंने अपने हाथों से कुदाल चलाकर मलबे को हटाया और सिरों पर टोकरियाँ रखकर मिट्टी को ढोया। डी० ए० वी० कॉलिज के विद्यार्थी अच्छी बड़ी संख्या में स्वयं-सेवक बनकर भूकम्पपीड़ितों की सहायता के लिए काँगड़ा गये थे। इस कार्य के लिए जो फण्ड एकत्र किया गया, सन् १९०६ तक उसकी मात्रा १३,५१,७४९ हो गयी थी। यद्यपि काँगड़ा के भूकम्प में पीड़ित लोगों की सहायता के लिए आर्यसमाज के दोनों दल और हिन्दुओं के विविध वर्ग एकजुट हो गये थे, पर यह स्वीकार करना होगा कि इसका नेतृत्व कॉलिज पार्टी के लाला लाजपत राय और महात्मा हंसराज के हाथों में था।

सन् १९०७-८ में अवध (उत्तरप्रदेश) में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। वहाँ कार्य करने के लिए भी आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा और डी० ए० वी० कॉलिज के संचालक मैदान में आ गये। प्रिंसिपल मेहरचन्द, लाला बलराज, लाला हरिचन्द कपूर और पण्डित रलियाराम बजवाड़िया के नेतृत्व में आर्य स्वयं-सेवकों की मण्डलियाँ अवध गयीं, और वहाँ उन्होंने हजारों नर-नारियों के प्राण बचाये। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए उन्होंने वहाँ बिना मूल्य अन्न का वितरण किया और जो लोग बिना मूल्य अन्न लेने से संकोच करते थे, उनके लिए सस्ती कीमत की दुकानें खुलवायीं।

इसी साल मुलतान के इलाके में प्लेग फैल गयी। हजारों स्त्री-पुरुष इस महामारी की चपेट में आ गये। कितने ही परिवारों में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं रहा जो बीमारों को पानी तक पिला सके। महात्मा हंसराज का ध्यान इस संकट की ओर भी गया और उन्होंने आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा सेवा का कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय किया। सभा ने पण्डित रलियाराम बजवाड़िया के नेतृत्व में आर्य स्वयं-सेवकों की एक मण्डली मुलतान भेजी। प्लेग के रोगियों की सेवा में उन्होंने अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की। हजारों शवों को वे कन्धों पर उठाकर ले गये और वैदिक विधि से उनका

अन्त्येष्टि संस्कार किया। जिनके प्राणों की रक्षा की जा सकती थी, उनकी चिकित्सा के लिए उन्होंने जो कुछ भी सम्भव था किया। आर्यसमाज के इस सेवा-कार्य की अन्य धर्माव-लम्बियों ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। क्रिश्चियन मिशन भी इस अवसर पर मुलतान पहुँच गया था। उसके नेता ने पण्डित रलियाराम बजवाड़िया के सेवा-कार्य के सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये थे—"अब एक सच्चा सेवक यहाँ पहुँच गया है। हमारी अब यहाँ कोई आवश्यकता नहीं रही।"

सन् १६१८ के मार्च मास में गढ़वाल (उत्तरप्रदेश) में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। रबी की फसल के पूर्णतया नष्ट हो जाने के कारण अनाज का अभाव हो गया और लोग भूख से मरने लगे। महात्मा हंसराज ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए धन की अपील की, जिस पर शीघ्र ही ८४,००० के लगभग रुपये एकत्र हो गये। साथ ही, उन्होंने स्वामी नित्यानन्द, लाला हरिचन्द कपूर, पण्डित मस्तानचन्द, लाला जगराज भल्ला और श्री खुशहाल चन्द 'आनन्द' को स्वयं-सेवकों की मण्डली के साथ गढ़वाल भेजा, जिन्होंने हिमालय के दुर्गम स्थानों पर टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पगडण्डियों से पैदल जाकर दुर्भिक्ष-पीड़ितों को सहायता पहुँचायी। महात्माजी स्वयं भी गढ़वाल गये और सहायता कैम्पों में जाकर उनके कार्य का निरीक्षण किया। गढ़वाल में डी० ए० वी० कॉलिज और आर्य प्रादेशिक सभा के प्रयत्न से पचास हजार के लगभग नर-नारियों के प्राणों की रक्षा हुई। गढ़वाल के लिए जो धन महात्मा हंसराज ने एकत्र किया था, वह सब खर्च नहीं हुआ था। इसमें से जो रुपये बच गये, उनका उपयोग गढ़वाल के गरीब व मेधावी विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देने के लिए किया गया। शुरू में २००० रुपये वार्षिक छात्र-वृत्तियों पर खर्च किये गये और फिर सन् १६२५ में छात्रवृत्तियों की राशि बढ़ाकर ३००० कर दी गयी। फिर यह अनुभव किया गया कि गढ़वाल में शिक्षा की सुविधा इतनी कम है, कि विविध स्थानों पर स्कूल खोलकर जहाँ जनता की ठोस सेवा की जा सकती है, वहाँ साथ ही इससे आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में भी सहायता प्राप्त हो सकती है। इसीलिए आर्य प्रादेशिक सभा के तत्त्वावधान में गढ़वाल में स्कूलों की स्थापना प्रारम्भ हो गयी। सन् १६२८ तक वहाँ के पौड़ी, दुगड्डा, कसानी, खुमानी, बीरमखाल, चालसन और बनघाट में पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं। बाद में अन्य भी अनेक पाठशालाएँ वहाँ खोली गयीं, और शीघ्र ही उनकी संख्या १५ तक पहुँच गयी।

गढ़वाल का दुर्भिक्ष समाप्त भी नहीं हुआ था, कि उड़ीसा के दुर्भिक्ष के समाचार पंजाब पहुँचने लगे। महात्मा हंसराज का ध्यान उड़ीसा पर भी गया। उन्होंने लाला मोहनलाल को इस प्रयोजन से उड़ीसा भेजा, कि वहाँ जाकर वह दुर्भिक्ष की दशा का स्वयं अवलोकन कर उसके सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करें। फिर आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के उपदेशक मेहता सावनमल के नेतृत्व में आर्य स्वयं-सेवकों की एक मण्डली उड़ीसा भेजी गयी, जिसने वहाँ जाकर दुर्भिक्षपीड़ितों की सहायता के लिए कैम्पों की स्थापना का कार्य प्रारम्भ कर दिया। शुरू में दो कैम्प स्थापित किये गये—साखी-गोपाल और दामोदरपुर में। अगस्त, १६२१ में साखीगोपाल में एक अनाथालय भी खोल दिया गया, ताकि अनाथ बच्चों का पालन-पोषण किया जा सके। दुर्भिक्ष के साथ-साथ उड़ीसा में हैजा भी फैल गया था, जिससे लोगों की रक्षा करने तथा रोगियों की चिकित्सा के लिए एक मेडिकल मिशन भी प्रादेशिक सभा की ओर से उड़ीसा भेजा गया, जिसने

वहाँ जाकर बहुत उपयोगी कार्य किया। उड़ीसा में दुर्भिक्ष इतना व्यापक था कि दो कैम्पों से काम नहीं चल सकता था, अतः कटक और बिलासपुर में चार अन्य कैम्प खोले गये, और साथ में एक अन्य अनाथालय तथा विधवाश्रम भी। पर कटक के अनाथालय में इतना स्थान नहीं था कि उससे समस्या का समाधान हो सके, अतः बहुत-से अनाथ बच्चों को पंजाब के विविध अनाथालयों में भेज दिया गया। उड़ीसा के जिन ग्रामों में आर्य स्वयं-सेवकों ने कार्य किया, उनकी संख्या २०० से भी अधिक थी और उन द्वारा साढ़े सात हजार नर-नारियों की मौत के चंगुल से रक्षा की गयी थी।

सन् १९२० में ही छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) तथा समीप के स्थानों में भी दुर्भिक्ष पड़ा था। वहाँ दशा इतनी खराब थी कि माताएँ एक-एक रुपये में अपने बच्चों को बेचने लगी थीं, और हजारों स्त्री-पुरुष भोजन की तलाश में इधर-उधर मारे-मारे फिरने लग गये थे। क्रिश्चियन मिशनरी जनता की इस दुर्दशा से लाभ उठाकर लोगों को बड़ी संख्या में ईसाई बनाने में तत्पर थे। महात्मा हंसराज ने वहाँ भी दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए आर्य स्वयं-सेवक भेजे, और उन्होंने दुर्ग, राजनन्दगाँव, अम्बागढ़ आदि स्थानों पर कैम्प स्थापित कर कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन क्षेत्रों के दो सौ के लगभग अनाथ बच्चे लाहौर, मुलतान और भिवानी के अनाथालयों में भेजे गये, और हजारों नर-नारियों के प्राणों की रक्षा की गयी।

सन् १९२१ में जम्मू-काश्मीर में दुर्भिक्ष पड़ा, और पंजाब के भी अनेक पार्वत्य प्रदेश दुर्भिक्ष की चपेट में आ गये। मीरपुर, कोटला, भिम्बर, राजौरी, नौशहरा, काँगड़ा और शिमला दुर्भिक्ष से विशेष रूप से प्रभावित थे। महात्मा हंसराज ने इन स्थानों के दुर्भिक्ष की ओर भी ध्यान दिया और आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से पण्डित मस्तानचन्द तथा लाला खुशहालचन्द के नेतृत्व में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए स्वयं-सेवकों की अनेक मण्डलियाँ वहाँ भेजी गयीं। काँगड़ा जिले का कार्य लाला हनुमान राय एडवोकेट के सुपुर्द किया गया और हजारों मन अनाज भूख से पीड़ित लोगों के लिए भेजने की व्यवस्था की गयी। जम्मू में श्री मस्तानचन्द की कार्यकुशलता का इतना प्रभाव हुआ, कि रियासत की ओर से उन्हीं को दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के विभाग का इन्चार्ज नियुक्त कर दिया गया।

सन् १९१२ में सुदूर दक्षिण के मलाबार प्रान्त में मोपला विद्रोह हुआ। मोपला लोग इस्लाम के अनुयायी थे, और प्रकृति से उग्र स्वभाव व हिंसा वृत्ति के थे। उनमें मारकाट और दंगा-फसाद की इतनी अधिक घटनायें होती रहती थीं, कि सरकार को उन्हें काबू में रखने के लिए एक विशेष कानून बनाना पड़ा था। सन् १९२१ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन तेजी के साथ चल रहा था, और तुर्की के खलीफा के प्रश्न को लेकर भारत के मुसलमान भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध इस आन्दोलन में कांग्रेस का साथ दे रहे थे। मोपला लोग भी मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और वे भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उठ खड़े हुए। शुरू में ही उनके विद्रोह का रूप साम्प्रदायिक होने लग गया और ब्रिटिश शासकों के बजाय वे हिन्दुओं पर आक्रमण करने लगे। हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना और जो न बनें उन्हें मार डालना उनके विद्रोह का मुख्य कार्यक्रम बन गया, और उन्होंने हिन्दुओं के मकान जलाना और मन्दिरों को तोड़ना शुरू कर दिया। जिन हिन्दुओं को जबर्दस्ती

मुसलमान बनाया गया, उनकी संख्या हजारों में थी। दो हजार के लगभग हिन्दू केवल इस कारण मौत के घाट उतार दिए गये, क्योंकि उन्होंने मुसलमान बनना स्वीकार नहीं किया था। मलाबार में ये भयंकर घटनाएँ हो रही थीं, पर उत्तरी भारत में लोगों को उनकी जानकारी नहीं थी। यह स्थिति थी, जब महात्मा हंसराज को बम्बई से एक तार प्राप्त हुआ, जिसमें लिखा था कि "हजारों हिन्दुओं की हत्या हो चुकी है। हजारों जबर-दस्ती धर्मभ्रष्ट कर दिए गये हैं। हजारों अनाथ बच्चे और हजारों असहाय विधवाएँ सहायता के लिए आपकी ओर देख रही हैं।" तार पाकर अगले दिन १६ अक्तूबर, १९२१ को महात्माजी ने आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की बैठक बुलाई और उसके सम्मुख भाषण देते हुए कहा—"जागृति के इस काल में भी किसी को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना हमारे लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को स्वीकार किया जाएगा।" महात्मा हंसराज की प्रेरणा से आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया —"यह आवश्यक है कि जिन लोगों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया है उन्हें पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित किया जाए और उनकी सहायता की जाए। सभा के प्रधान (महात्मा हंसराज) को यह अधिकार दिया जाता है कि वह इस कार्य के लिए धन एकत्र करें, और यथासम्भव शीघ्र ही मलाबार में हिन्दू धर्म में प्रत्यावर्तन का कार्य प्रारम्भ करा दें।" इस प्रस्ताव के स्वीकृत होते ही पण्डित ऋषिराम को मलाबार भेज दिया गया, और उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया कि मोपला लोगों के अत्याचारों के कारण विपद्-ग्रस्त हुए लोगों की सहायता करें। उनके अतिरिक्त पण्डित मस्तानचन्द और लाला खुशहालचन्द को जबर्दस्ती मुसलमान बनाये गये लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में ले आने के प्रयोजन से मलाबार भेजा गया। मेहता सावनमल के साथ आर्य स्वयं-सेवकों की एक मण्डली भी वहाँ भेज दी गयी। मोपलों ने जिन लोगों के घर जला दिए थे और जो अन्यत्र जाकर बेघर-बार व बेरोजगार होकर मुसीबत में दिन काट रहे थे, उनके लिए चावल और वस्त्र पहुँचाये गये। पहले ही दिन दो हजार के लगभग विपद्ग्रस्त नर-नारियों को भोजन दिया गया और शीघ्र ही यह संख्या बारह हजार तक पहुँच गयी। पर आर्यसमाज का कार्य सुगम नहीं था। मोपलों के अत्याचारों से हिन्दू इतने आतंकित हो गये थे, कि शुद्धि का नाम सुनते ही वे सिहर उठते थे। आर्य प्रादेशिक सभा के कार्य-कर्ताओं ने जान हथेली पर रखकर बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं की शुद्धि शुरू की, और वे ढाई हजार के लगभग नर-नारियों को शुद्ध कर पुनः हिन्दू बनाने में सफल हो गये। मोपलों द्वारा तोड़े गये मन्दिरों की भी उन्होंने मरम्मत करवाई। प्रादेशिक सभा द्वारा कितने बड़े पैमाने पर मलाबार में विपद्ग्रस्त हिन्दुओं की सहायता की जा रही थी, इसका कुछ अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि अकेले मायवाड केन्द्र में साढ़े चार हजार स्त्रियाँ और बच्चे सहायता प्राप्त कर रहे थे। इस केन्द्र का संचालन पण्डित मस्तानचन्द के हाथों में था। मोपला विद्रोह के समय आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा जो कार्य मलाबार के हिन्दुओं के लिए किया गया, उसकी जितनी भी सराहना की जाए, पर्याप्त नहीं होगी।

बीसवीं सदी के चतुर्थ दशक में भी भारत के अनेक प्रदेशों में साम्प्रदायिक उप-द्रव हुए, और बाढ़, भूकम्प तथा दुर्भिक्ष सदृश प्राकृतिक विपत्तियों का भी अनेक स्थानों पर लोगों को सामना करना पड़ा। सन् १९३२ में जम्मू-काश्मीर रियासत में भीषण

साम्प्रदायिक दंगा हुआ था, और १९३४ में बिहार में ऐसा भूकम्प आया था जिसमें अनेक फलते-फूलते नगर भूमिसात् हो गये थे, स्थान-स्थान पर पृथिवी नीचे की ओर धँस गयी थी या उसमें दराड़ें पड़ गयी थीं, कुएँ और तालाब सूख गये थे और कई स्थानों पर पानी के नये सोते फूट पड़े थे। सर्वत्र हाहाकार मच गया था। सन् १९३५ का क्वेटा का भूकम्प भी अत्यन्त भीषण था। उसमें क्वेटा का सुन्दर व समृद्ध नगर खण्डहर हो गया था, और पच्चीस हजार से भी अधिक व्यक्ति मृत्यु के ग्रास बन गये थे। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने इन प्राकृतिक विपत्तियों के समय जनता की सेवा के लिए अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। बिहार के भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए प्रादेशिक सभा द्वारा स्वयं-सेवकों की जो मण्डली भेजी गयी, उसमें डी० ए० वी० कॉलिज, लाहौर के बहुत-से विद्यार्थी भी थे, और उसका नेतृत्त्व लाला खुशहालचन्द 'आनन्द', पण्डित ऋषिराम, लाला हरिचन्द कपूर, महाशय वेदप्रकाश, महाशय देवराज और मेहता सावनमल द्वारा किया जा रहा था। इस मण्डली ने एक दर्जन से भी अधिक स्थानों पर सहायता-केन्द्र स्थापित किये, पाँच सौ कुओं की सफाई कर उनके जल को पीने के योग्य बनाया, सैकड़ों सिसकते हुए लोगों को मलबे से बाहर निकाला, लाशों की अन्त्येष्टि की, और चार सौ से भी अधिक ग्रामों में पचास हजार के लगभग लोगों को कपड़े, अन्न और घर-गृहस्थी का अन्य सामान प्रदान कर उनके घर बसाने में सहायता की, और असहाय स्त्रियों को आश्रय देने के लिए दानापुर (पटना) में एक 'अबला आश्रम' स्थापित किया। बिहार भूकम्प सहायता कोष के लिए प्रादेशिक सभा ने प्रचुर धनराशि एकत्र की थी। जो धन खर्च से बच गया, उसका उपयोग बिहार के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देने के लिए किया गया। क्वेटा में भूकम्प से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए प्रादेशिक सभा द्वारा सबसे पहले एक मेडिकल मिशन भेजा गया, ताकि भूकम्प के कारण क्षत-विक्षत हुए नर-नारियों और बच्चों की चिकित्सा की जा सके। इस मिशन के अध्यक्ष दयानन्द आयुर्वेदिक कॉलिज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डाक्टर आशानन्द थे। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ कहीं प्राकृतिक विपत्तियों के कारण जन-जीवन अस्त-व्यस्त हुआ, आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा पीड़ितों की सहायता के लिए कार्य किया गया।

(३) प्रारम्भिक वर्षों में प्रादेशिक सभा का कार्यकलाप

सन् १९२१ में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुए चौथाई सदी के लगभग समय हो चुका था, और ११२ आर्यसमाज भी उसके साथ सम्बद्ध हो गये थे। पर अब तक उसका ऐसा सुव्यवस्थित रूप नहीं बना था, कि पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के समान उस द्वारा भी वेद-प्रचार का कार्य किया जाए और शिक्षण-संस्थाएँ भी उसके प्रबन्ध में कार्य करें। कॉलिज पार्टी का विशेष ध्यान डी० ए० वी० स्कूलों और कॉलिजों की स्थापना और संचालन की ओर था, पर उनके लिए डी० ए० वी० कॉलिज सोसायटी व मैनेजिंग कमेटी विद्यमान थी, जिसके सदस्य भी आर्यसमाजों द्वारा निर्वाचित व नियुक्त हुआ करते थे। प्रादेशिक सभा की तुलना में इस मैनेजिंग कमेटी का महत्त्व अधिक था और वेद-प्रचार का कार्य भी इसी के अधीन था। कॉलिज पार्टी की ओर से जो अनेक प्रचारक व भजनोपदेशक धर्म-प्रचार के कार्य में तत्पर थे, उनकी नियुक्ति, वेतन, प्रोग्राम आदि सब डी० ए० वी० कमेटी के हाथों में थे।

सन् १९२१ में इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ। महात्मा हंसराज तब डी.ए.वी. कॉलिज लाहौर के प्रिंसिपल पद के उत्तरदायित्व से मुक्त हो चुके थे और प्रादेशिक सभा के प्रधान की स्थिति में उन्होंने कॉलिज पार्टी के आर्यसमाजों के इस केन्द्रीय संगठन का कार्य-भार सँभाल लिया था। सन् १९३८ में उनका देहावसान हुआ, और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह इस सभा की उन्नति में जी-जान से लगे रहे। सन् १९२१ में सभा के पास केवल १४ उपदेशक और ९ भजनीक थे। १७ साल के स्वल्पकाल में उनकी संख्या बढ़कर १५० से ऊपर पहुँच गयी। महात्मा हंसराज के प्रयत्न से प्रादेशिक सभा का स्वरूप ही बदल गया। उसमें अनुपम स्फूर्ति का संचार हुआ और वह एक जीवित जागृत सक्रिय संस्था बन गयी। जो उपदेशक इस समय प्रादेशिक सभा के अधीन वेद-प्रचार के कार्य में संलग्न थे, उनमें मेहता रामचन्द शास्त्री, पण्डित मस्तानचन्द, पण्डित ऋषिराम, पण्डित अमरनाथ, ठाकुर अमरसिंह, मेहता सावनमल, पण्डित शिवानन्द, पण्डित विश्वम्भरदत्त और पण्डित बलदेवानन्द प्रमुख थे। वेतन पर नियुक्त उपदेशकों के अतिरिक्त लाला साईंदास, पण्डित भगवद्दत्त, पण्डित दीवानचन्द शर्मा, पण्डित विश्वबन्धु, पण्डित सन्तराम वैद्यरत्न, पण्डित रामगोपाल शास्त्री, पण्डित भक्तराम शास्त्री, लाला देवीचन्द और लाला गोविन्दराम खन्ना आदि अनेक आर्य विद्वान् भी सभा से आदेश प्राप्त कर आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों में जाया करते थे और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया करते थे। महात्मा हंसराज स्वयं भी वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित हुआ करते थे, और प्रचार के लिए दौरे भी किया करते थे। अन्य भी अनेक सुयोग्य विद्वान् इस सभा की सेवा को स्वीकार कर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में प्रवृत्त हुए, जिनमें पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, महाशय संतराम और पण्डित विश्वनाथ त्यागी के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्रार्थों का सिलसिला भी अब नये उत्साह के साथ शुरू हो गया, और लाहौर (अनारकली) आर्यसमाज की ओर से शास्त्रार्थों का विशेष रूप से आयोजन किया जाने लगा। महात्मा हंसराज स्वयं भी उनमें आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत किया करते थे। उस समय शास्त्रार्थों में कटुता नहीं आने पाती थी। दोनों पक्षों के व्यक्ति सभा-मण्डप में एक साथ बैठकर शास्त्रार्थ महारथियों द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियों-प्रत्युक्तियों को सहनशीलता के साथ सुना करते थे। मुसलमानों के साथ जो शास्त्रार्थ होते, उनमें प्रायः कुरान शरीफ और हज़रत मुहम्मद के जीवन पर बहस हुआ करती, और सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में महर्षि ने इस्लाम की जो समीक्षा की है उस पर तर्क-वितर्क हुआ करता। पौराणिकों से शास्त्रार्थ के विषय प्रायः मूर्तिपूजा, अवतारवाद और मृतकश्राद्ध आदि हुआ करते थे। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी आर्यसमाज का पौराणिकों से मतभेद था। पौराणिक पण्डितों का मन्तव्य था कि स्त्रियों और शूद्रों के लिए वेद पढ़ने का निषेध है, और उन्हें सामान्य शिक्षा की सुविधाएँ भी नहीं दी जानी चाहिये। अतः स्त्री-शिक्षा पर भी शास्त्रार्थ हुआ करते थे। जब आर्यसमाज द्वारा कहीं कन्या पाठशाला स्थापित की जाती तो, उसे सनातनियों के विरोध का सामना करना पड़ता जिसके लिए बहुधा शास्त्रार्थ की आवश्यकता अनुभव की जाती। अछूतोद्धार, गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था, विधवा-विवाह आदि समाज-सुधार के अन्य भी कितने ही ऐसे विषय थे जिन पर पौराणिक पण्डितों और आर्यसमाजियों में शास्त्रार्थ हुआ करते थे। अब तो समय बदल चुका है। सनातनियों द्वारा भी स्त्री-शिक्षा के लिए शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं और अछूतोद्धार

तथा विधवा-विवाह का भी वे उग्र रूप से विरोध नहीं करते । पर बीसवीं सदी के प्रथम चरण में यह बात नहीं थी । समाज-सुधार की जो बातें आज प्रायः सर्वमान्य हो गयी हैं, पौराणिक लोग उनका खुलकर व उग्र रूप से विरोध किया करते थे । भारत की सामाजिक दशा में जो यह महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, उसका प्रधान श्रेय आर्यसमाज को ही प्राप्त है, और पंजाब में इस सामाजिक क्रान्ति के सूत्रपात में कॉलिज पार्टी और महात्मा पार्टी दोनों का एक समान योगदान था । प्रादेशिक सभा के माध्यम से महात्मा हंसराज ने इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न किया था । विवाह के समय अनेक ऐसी बातें उस समय पंजाब में हुआ करती थीं, जो नैतिकता के अनुरूप नहीं थीं । वेश्याओं के नाच कराने का उस समय आम रिवाज था । प्रादेशिक सभा के उपदेशकों ने इसके विरुद्ध भी प्रचार किया और उनके प्रयत्न से हिन्दू विवाहों में वेश्याओं के नाच की प्रथा में बहुत कुछ कमी आ गयी ।

वेद-प्रचार के लिए महात्मा हंसराज ने कई नये साधन भी अपनाये । उनके सुझाव पर प्रादेशिक सभा ने महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी और रामायण, महाभारत की शिक्षाप्रद कथाओं की स्लाइडें बनवाईं और उन्हें मैजिक लैन्टर्न द्वारा प्रदर्शित करना शुरू किया । देहातों में प्रचार करने के लिए ऐसे उपदेशक नियत किये गये जो ग्रामों के वातावरण से भली-भाँति परिचित थे और देहाती भाषा में जनता से बातचीत कर सकते थे । वेद और उपनिषदों पर कथा की शैली में प्रवचन कराना भी अब प्रादेशिक सभा द्वारा प्रारम्भ किया गया, जिससे सर्वसाधारण जनता को बहुत लाभ हुआ । वेद-प्रचार के लिए स्थायी कोष की व्यवस्था पर भी प्रादेशिक सभा ने ध्यान दिया और उस द्वारा अपने साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों पर वह धनराशि नियत कर दी गयी जो समाज को वेद-प्रचार कोष में प्रदान करनी थी । महात्माजी के सुझाव पर वेद-प्रचार के लिए दीवाली कोष और शिवरात्रि कोष की स्थापना की गयी, और आर्यसमाजियों को इन पर्वों के अवसर पर इन कोषों में दान देने के लिए प्रेरित किया जाना शुरू हुआ ।

वेद-प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा बड़े पैमाने पर पुस्तकों के प्रकाशन का निश्चय किया गया, और इस प्रयोजन से एक 'आर्य साहित्य विभाग' की स्थापना की गयी । लाला केशोराम इस विभाग के अधिष्ठाता नियुक्त हुए । साहित्य विभाग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सत्यार्थप्रकाश के उर्दू, उड़िया, मलयालम और तमिल भाषाओं में अनुवाद कराना और उन्हें प्रकाशित करना था । अन्य भी अनेक उपयोगी पुस्तकें इस विभाग द्वारा प्रकाशित की गयीं और इसके कार्य में निरन्तर वृद्धि होती गयी । प्रादेशिक सभा द्वारा वैदिक साहित्य के सृजन के लिए इस विभाग में पण्डित वाचस्पति की नियुक्ति भी की गयी थी । बाद में सभा के प्रकाशन विभाग ने उत्कृष्ट कोटि के आर्य साहित्य के प्रकाशन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और महात्मा हंसराज के नाम पर इस विभाग का नाम परिवर्तित कर 'महात्मा हंसराज साहित्य विभाग' कर दिया गया ।

प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की यह परम्परा रही है कि वैदिक धर्म के निष्काम सेवकों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनके नाम से किसी निधि या पृथक् संस्था की स्थापना कर दी जाए । इसी के अनुसार उस द्वारा 'लखपतराय सेवा संघ' स्थापित किया गया, और उसके लिए ८५ हजार रुपये पृथक् रूप से एकत्र कर लिये गये । पण्डित

लखपतराय काठगढ़ (होशियारपुर) के निवासी थे और आर्यसमाज के सच्चे व निष्काम सेवक थे। वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने हिसार में प्रेक्टिस शुरू की और वकील के रूप में अच्छी सफलता व प्रसिद्धि प्राप्त की। एक सच्चे आर्य होने के कारण उन्होंने यह सिद्धान्त बना लिया था कि किसी ऐसे मुकदमे की पैरवी नहीं करेंगे, जिसके झूठा होने का उन्हें निश्चय हो जाए। इसी का यह परिणाम था, कि वह जिस अभियुक्त का मुकदमा हाथ में लेते, अदालत समझ जाती कि वह निर्दोष है। वकालत करते हुए भी वह आर्य-समाज के लिए पर्याप्त समय निकालते रहे। जालन्धर के देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म का जो प्रचार हुआ, उसका प्रधान श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। हिसार आर्यसमाज की उन्नति में भी उनका कर्तृत्त्व अनुपम था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ के वर्षों में जिन महानु-भावों ने हरयाणा में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सशक्त रूप से हाथ बटाया, श्री लखपतराय भी उनमें एक थे। लाला लाजपत राय ने उनकी निष्काम सेवा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उनके शब्दों में, "आर्यसमाज के सबसे उत्कृष्ट सेवकों में पण्डित लखपतराय भी एक हैं। उनका जीवन सादा और चरित्र अत्यन्त उच्च है। आर्यसमाज के नेताओं में यदि कोई ऐसा आदमी है, जिसने कभी प्रसिद्धि की इच्छा नहीं की, और अपने कार्य का श्रेय खुशी से दूसरे लोगों को लेने दिया, तो वह पण्डित लखपतराय ही है।" ऐसे सच्चे और निष्काम आर्य की स्मृति में प्रादेशिक सभा ने जहाँ लखपतराय सेवा संघ स्थापित किया, वहाँ साथ ही कराची में दयानन्द हाई स्कूल भी जारी किया।

आर्यसमाज के एक अन्य निष्काम सेवक पण्डित रलियाराम बजवाड़िया थे। वह पहले सक्खर (सिन्ध) में काम करते थे। एक बार वहाँ भयंकर रूप से आग लग गयी। पण्डितजी ने अपनी जान जोखिम में डालकर कितने ही प्राणियों की आग से रक्षा की। मुलतान में प्लेग का प्रकोप होने पर उन्होंने किस प्रकार सेवा-कार्य किया, इसका विवरण इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। बाद में पण्डितजी काँगड़ा चले गये और वहाँ के पार्वत्य क्षेत्र में उन्होंने आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ किया। काँगड़ा के पहाड़ी लोग बहुत पिछड़े हुए और कुरीतियों तथा निरर्थक रूढ़ियों के शिकार थे। वे समाज-सुधार की बात को सुनने के लिए भी तैयार नहीं थे। वहाँ आर्यसमाज का कार्य करना बहुत कठिन था। बजवाड़ियाजी पर वहाँ ईंटें बरसायी गयीं, और कई-कई दिन उन्हें भोजन के बिना रह जाना पड़ा। पर उग्र विरोध की जरा भी परवाह न कर वह वैदिक धर्म के प्रचार में जुटे रहे, और अपने त्याग, तप तथा सेवाभाव से काँगड़ा के हिन्दुओं को आर्य-समाज का भक्त बना लिया। ऐसे सच्चे व निष्काम आर्यसेवक की स्मृति में प्रादेशिक सभा द्वारा 'रलियाराम पुस्तकमाला' का प्रारम्भ किया गया। इस पुस्तकमाला की पहली पुस्तक 'मुरली मनोहर' थी, जिसे महात्मा हंसराज ने स्वयं लिखा था।

महात्मा हंसराज ने जब आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का कार्य अपने हाथों में लिया, तो उन्होंने अनुभव किया कि वैदिक धर्म के प्रचार के लिए ऐसे सच्चे और त्यागी-तपस्वी प्रचारकों की आवश्यकता है, जो अपना सब समय प्रचार-कार्य में लगा सकें। उनका ध्यान बौद्ध संघ की ओर गया, जिसके स्थविर और भिक्षु चातुर्मास्य के चार मास तो किसी एक स्थान पर रहकर विश्राम और स्वाध्याय किया करते थे, और शेष आठ महीने पर्यटन व परिभ्रमण कर प्रचार में तत्पर रहते थे। उन्होंने विचार किया, कि संन्यासियों तथा वानप्रस्थियों को बौद्ध भिक्षुओं के समान प्रचार का कार्य करने के लिए

प्रेरित किया जा सकता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने पालमपुर में 'साईंदास साधु आश्रम' खोलने का विचार किया, और हरिद्वार में 'मोहन आश्रम' का कार्यभार अपने हाथ में लिया। मोहन आश्रम की स्थापना देहरादून के सम्पन्न रईस लाला बलदेव सिंह द्वारा की गई थी। उन्होंने अनुभव किया, कि हरिद्वार में आर्यसमाजी साधुओं और यात्रियों के निवास के लिए कोई उपयुक्त स्थान नहीं है। इसलिए उन्होंने वहाँ एक आश्रम बनाने का निश्चय किया, और इसी प्रयोजन से महन्त श्री हरनामसिंह से ५५ बीघा भूमि खरीदकर अपने मित्र स्वामी प्रकाशानन्द को सौंप दी। स्वामीजी द्वारा वहाँ भक्ति प्रचारिणी सभा की स्थापना की गई(१९०८)। सन् १९१२ में उपर्युक्त ५५ बीघा भूमि में से ४० बीघा भूमि और उस पर बने हुए कच्चे-पक्के मकानों को एक ट्रस्ट के अधीन कर दिया गया, जो 'मोहन आश्रम ट्रस्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महात्मा हंसराज का इस आश्रम तथा इसके संस्थापक लाला बलदेवसिंह से देर से सम्पर्क था, और वह वहाँ जाते-आते रहते थे। अब उन्होंने ही इस आश्रम का कार्यभार सँभाल लिया था। वह समझते थे कि मोहन आश्रम निष्काम उपदेशकों, ईश्वरभक्तों और सच्चे साधु-संन्यासियों का केन्द्र बन सकेगा, और वहाँ रहकर जो व्यक्ति वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त करेंगे उन्हें आर्यसमाज के कार्य में लगाया जा सकेगा। इसी दृष्टि से एक अध्यापक की नियुक्ति कर वहाँ पढ़ाई प्रारम्भ कर दी गयी। आश्रम में जो भी विद्यार्थी और साधु प्रविष्ट हुए, उन्हें सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कार-विधि और महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पढ़ाये गये। महात्मा हंसराज ने मोहन आश्रम की उन्नति के लिए बहुत परिश्रम किया। जब उन्होंने आश्रम की जिम्मेवारी सँभाली, वहाँ केवल तीन-चार कमरे ही थे। उन्होंने अपने सम्बन्धियों और मित्रों को प्रेरणा देकर वहाँ नये कमरे बनवाये, ताकि साधु-संन्यासियों तथा विद्यार्थियों के निवास और पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की जा सके। हरिद्वार के जिस क्षेत्र में यह आश्रम स्थित था, वहाँ उस समय मलेरिया का बहुत प्रकोप रहता था। वहाँ तब आबादी भी नहीं थी और आश्रम जंगल तथा झाड़-झंकाड़ से घिरा हुआ था। जंगली जानवरों का भी वहाँ भय बना रहता था। पर इन सबकी परवाह न कर महात्मा हंसराज समय-समय पर मोहन आश्रम में निवास किया करते थे। एक बार सरदार हुक्म-सिंह ने अनुरोध किया, कि हरिद्वार आने पर वह उनके पास ठहरा करें। इस पर महात्मा जी ने उत्तर दिया "यह सही है कि आपके पास ठहरने में मुझे सुविधा रहेगी, पर मुझे मोहन आश्रम को आबाद करना है। यदि मैं वहाँ नहीं ठहरूँगा, तो और कौन ठहरेगा ?" महात्माजी की तपस्या सफल हुई, और कुछ ही वर्षों में यह आश्रम हरिद्वार में आर्यसमाज का प्रमुख केन्द्र बन गया। अनेक संन्यासी एवं विद्वान् वहाँ निवास करने लगे, और पठन-पाठन का सिलसिला भी वहाँ शुरू हो गया। हरिद्वार में प्रायः मेले होते रहते हैं, जिनमें हजारों-लाखों यात्री दूर-दूर से गंगास्नान व देवदर्शन के लिए आया करते हैं। हरिद्वार के यात्रियों को निःशुल्क निवास की सुविधा मोहन आश्रम द्वारा प्रदान की गयी। आर्य संन्यासियों के भोजन की भी वहाँ व्यवस्था की गयी, और जो विद्यार्थी एवं साधक वहाँ जाकर विद्याभ्यास व साधना करना चाहें, उन्हें भी इसके लिए अवसर प्रदान किया गया। कुम्भ के मेले तथा अन्य अवसरों पर इस आश्रम से वैदिक धर्म के प्रचार की भी व्यवस्था की जाने लगी। महात्मा हंसराज के जीवनकाल में ही हरिद्वार का मोहन आश्रम आर्यसमाज के कार्यकलाप का अच्छा केन्द्र बन गया था।

कुम्भ और अर्धकुम्भी के मेलों पर महात्माजी द्वारा हरिद्वार में वेद-प्रचार का व्यापक रूप से प्रबन्ध कराया जाता था। प्रादेशिक सभा के बहुत-से प्रचारकों तथा भजनोपदेशकों को वह अपने साथ हरिद्वार ले जाते, और मोहन आश्रम में ही उन सबके निवास और भोजन आदि की व्यवस्था की जाया करती थी।

वेद-प्रचार के अतिरिक्त दलितोद्धार और शुद्धि के लिए भी आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा ठोस कार्य किया गया। उसके तत्त्वावधान में सन् १९२५ में लाला देवीचन्द ने होशियारपुर में "दयानन्द दलितोद्धार मण्डल, पंजाब" की स्थापना की थी, और उसके अधीन कार्य करने के लिए अनेक प्रचारक नियुक्त किये गये थे। दलित जातियों, असहाय महिलाओं तथा अनाथ बच्चों की सहायता का जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा था, उसे अधिक व्यापक रूप से संचालित करने तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सन् १९३३ में "आल इण्डिया दयानन्द साल्वेशन मिशन" नाम से एक अन्य संस्था प्रादेशिक सभा के तत्त्वावधान में स्थापित की गयी, जिसका प्रधान कार्यालय होशियारपुर में रखा गया। इसके संस्थापक भी लाला देवीचन्द ही थे। इस मिशन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(१) हिन्दू स्त्रियों के लिए वनिता आश्रम (Rescue Home) तथा हिन्दू बालकों और बालिकाओं के लिए शिशु गृह (Children's Homes) स्थापित करना। (२) हिन्दुओं को धर्म से पतित होने से बचाना और अन्य धर्मावलम्बियों को वैदिक धर्म में लाना। (३) वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले समस्त कार्यों में हाथ बटाना तथा उन सभाओं एवं संस्थाओं से सहयोग करना जो वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर हों। शुरू में इस मिशन का कार्यक्षेत्र केवल पंजाब तक ही सीमित था, पर जब भारत के अन्य प्रान्तों से भी अछूतों तथा आदिवासियों के धर्म-परिवर्तन के समाचार आने लगे, तो मिशन ने संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश), बिहार, उड़ीसा असम, मध्यप्रदेश और छोटा नागपुर में भी अपने केन्द्र स्थापित किये, और उन द्वारा धर्म-रक्षा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मिशन जहाँ दलितोद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता था, वहाँ साथ ही विधर्मियों को शुद्ध कर हिन्दू समाज में सम्मिलित करने के लिए भी उद्योग किया करता था।

महात्मा हंसराज यह भी समझते थे कि वेद-प्रचार के लिए जहाँ त्यागी साधु-संन्यासियों का उपयोग है, वहाँ ऐसे विद्वान् पण्डित भी चाहियें जो संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों का गम्भीर ज्ञान रखते हों और जो वैदिक सिद्धान्तों का सुचारु रूप से निरूपण कर सकें। आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म के वातावरण में सामान्य शिक्षा देने के लिए जिन डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की गयी थी, उनसे वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित नहीं निकल सकते थे। इसीलिए डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी की ओर से संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की विशेष रूप से व्यवस्था करने के लिए "वैदिक आश्रम" खोला गया था। उसके प्रथम आचार्य पण्डित भक्तराम शास्त्री वेदतीर्थ थे। जिन अनेक महानुभावों ने वैदिक आश्रम में रहकर वेदशास्त्रों तथा संस्कृत भाषा में उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त की, उनमें पण्डित सन्तराम वैद्य, पण्डित दौलतराम शास्त्री, पण्डित रलाराम, पण्डित रामगोपाल शास्त्री और पण्डित तुलसीराम शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। पर धर्म-प्रचार के लिए विद्वानों को प्रशिक्षित करने का कार्य इतना महान् तथा महत्त्वपूर्ण था, कि उसके लिए एक पृथक् शिक्षण-संस्था की आवश्यकता

अनुभव की जाने लगी, और उसी की पूर्ति के लिए डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी द्वारा सन् १९२० में "दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय" की स्थापना की गयी। यह महाविद्यालय लाहौर में उसी स्थान पर स्थापित किया गया, जहाँ पहले वैदिक आश्रम था। यह कहना असंगत नहीं होगा कि वैदिक आश्रम ही दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित व विकसित हो गया। वैदिक आश्रम के आचार्य पण्डित भक्तराम शास्त्री अब सेवामुक्त हो चुके थे, अतः ब्राह्म महाविद्यालय का आचार्य पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री को नियत किया गया। इस नयी शिक्षण-संस्था का नाम ब्राह्म महाविद्यालय विश्वबन्धुजी द्वारा ही रखा गया था। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित व गम्भीर विद्वान् थे और सन् १९०९ में उन्होंने संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उस समय ओरियण्टल कॉलिज, लाहौर के प्रिंसिपल डा० बुल्हनर थे। वह विश्वबन्धुजी की संस्कृत में योग्यता से बहुत प्रभावित थे, और उन्हें उच्च शिक्षा के लिए यूरोप भेजना चाहते थे। पर विश्वबन्धुजी महात्मा हंसराज के त्याग से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने विदेश जाने के बजाय डी.ए.वी. कॉलिज के लाइफ मेम्बर बनना अधिक समुचित समझा। उस समय कॉलिज के लाइफ मेम्बरों को केवल ७५ रुपये मासिक दिए जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इस स्वल्प वृत्ति पर कॉलिज की आजीवन सेवा का व्रत लेकर पण्डित विश्वबन्धु ने बहुत बड़ा त्याग किया था। डी० ए० वी० कॉलिज और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के सर्वेसर्वा महात्मा हंसराज यह भली-भाँति समझते थे कि संस्कृत और प्राचीन शास्त्रों के उच्च स्तर के पठन-पाठन की व्यवस्था भी इन द्वारा की जानी चाहिये। ब्राह्म महाविद्यालय को इसी प्रयोजन से पृथक् रूप से स्थापित किया गया, और वहाँ संस्कृत के अध्यापन की सब सुविधाएँ जुटायी गयीं। इस संस्था द्वारा तीन परीक्षाएँ ली जाती थीं, विद्यारत्न, विद्यानिधि और विद्यावाचस्पति। विश्वबन्धुजी ने पंजाब यूनिवर्सिटी से यह स्वीकार करा लिया कि ब्राह्म महाविद्यालय से विद्यावाचस्पति परीक्षा उत्तीर्ण व्यक्ति सीधा यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में बैठ सके। इसका परिणाम यह हुआ कि इस महाविद्यालय की लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हो गयी, क्योंकि इसमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल चार साल में ही शास्त्री हो जाते थे। विश्वबन्धुजी के प्रयत्न से ब्राह्म महाविद्यालय ने बहुत उन्नति की, और संस्कृत की उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप में उसने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली।

पर पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री देर तक ब्राह्म महाविद्यालय में नहीं रह सके। वेद के सम्बन्ध में वह ऐसे मन्तव्य प्रतिपादित करने लगे, जो आर्यसमाज के विरुद्ध थे। उनका कथन था कि वेदमन्त्र ऋषियों द्वारा बनाये गये थे, वे ईश्वरकृत या अपौरुषेय नहीं हैं। वेद के सम्बन्ध में उनके विचार प्रायः वही थे, जो यूरोपियन विद्वानों के थे। अपने विद्यार्थियों के सम्मुख वह इन्हीं मन्तव्यों को प्रतिपादित करते थे और अपनी पुस्तकों में भी इन्हीं को व्यक्त करते थे। परिणाम यह हुआ कि उनके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो गया। पर विश्वबन्धुजी अपने मत पर दृढ़ रहे। सन् १९३३ में दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी के अवसर पर उन्होंने "दस प्रश्नी" नाम की एक पुस्तिका अपने विद्यार्थियों से अजमेर में बँटवाई। इसमें वेदमन्त्रों के कर्ता ऋषि हैं; ईश्वर नहीं, और आर्यसमाज की सदस्यता के लिए वेदों को ईश्वरकृत मानना आवश्यक नहीं है—ये और इसी ढंग के विचार प्रकट किये गये थे। इस पुस्तिका के कारण आर्यसमाज का विश्वबन्धुजी से विरोध

बहुत बढ़ गया। सन् १९३३ के नवम्बर मास में अनारकली (लाहौर) आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव था। विश्वबन्धुजी ने उसका भी अपने पक्ष के प्रतिपादन के लिए उपयोग किया, और 'अर्जे हाल' नाम से एक ट्रैक्ट उर्दू में छपवाकर वितरण किया। इस ट्रैक्ट में चालीस बातें थीं, जिन्हें विश्वबन्धुजी ने अपने पक्ष की पुष्टि में प्रस्तुत किया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखने वाले आर्य विद्वानों के लिए विश्वबन्धुजी के इस प्रकार किये जा रहे उन्मुक्त प्रचार को सह सकना सम्भव नहीं हुआ, और प्रादेशिक सभा के विद्वान् उपदेशक ठाकुर अमरसिंह आर्य ने "पण्डित बिश्वबन्धुजी का चालीसा" नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित कर उन चालीस बातों का खण्डन किया, जो 'अर्जे हाल' में प्रस्तुत की गयी थीं। आर्यसामाजिक जगत् में विश्वबन्धुजी का विरोध इतना बढ़ गया था कि वह ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य पद पर नहीं रह सके। सन् १९३४ में वह महाविद्यालय से पृथक् हो गये और पण्डित ऋषिराम को उनके स्थान पर आचार्य नियुक्त किया गया। उनके पश्चात् पण्डित परमानन्द शास्त्री आदि अनेक विद्वानों ने ब्राह्म महाविद्यालय का संचालन किया और उसमें शिक्षा प्राप्त कर बहुत-से विद्यार्थी वैदिक धर्म के सुयोग्य प्रचारक बने। निस्सन्देह, ब्राह्म महाविद्यालय के रूप में प्रादेशिक सभा तथा डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी एक ऐसी संस्था की स्थापना व संचालन में सफल हुई, जिसने आर्यसमाज के सुयोग्य, कर्मठ, उत्साही और विद्वान् प्रचारक तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

(४) भारत के विभाजन तक प्रादेशिक सभा के कार्यकलाप की प्रगति

महात्मा हंसराज डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के सर्वेसर्वा थे। जब तक वह जीवित रहे, इन दोनों का संचालन उन्हीं द्वारा किया जाता रहा। क्योंकि पंजाब के आर्यसमाजियों की कॉलिज पार्टी शिक्षण-संस्थाओं को वैदिक धर्म के प्रचार का सशक्त साधन मानती थी, अतः शुरू में वह डी० ए० वी० कॉलिज तथा स्कूलों की उन्नति पर ही अधिक ध्यान देती रही, और वेद-प्रचार का कार्य भी कॉलिज कमेटी द्वारा भी किया जाता रहा। पर जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, महात्मा हंसराज ने जब डी० ए० वी० कॉलिज के प्रिंसिपल पद से अवकाश प्राप्त कर प्रादेशिक सभा का कार्यभार सँभाला, तो इस सभा ने तेजी के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया। उनके अनुपम कर्तृत्त्व के कारण प्रादेशिक सभा के कार्यकलाप का जिस ढंग से विस्तार हुआ, उसका निदर्शन पिछले प्रकरण में किया गया है। महात्माजी का देहावसान १६ नवम्बर, १९३८ के दिन हुआ था। उस समय तक प्रादेशिक सभा का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका था, और उसके प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। उसका अधिक कार्य उन प्रदेशों में था जो भारत के विभाजन (सन् १९४७) के कारण अब पाकिस्तान में हैं। सन् १९४७ में आर्य प्रादेशिक सभा के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, और उसके प्रधान कार्यालय को लाहौर से दिल्ली ले आया गया। देश के विभाजन के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों के परिणामस्वरूप प्रादेशिक सभा का पुराना रिकार्ड अब उपलब्ध नहीं है। इसलिए उसके कार्यकलाप व प्रगति पर समुचित रूप से प्रकाश डाल सकना असम्भव हो गया है। फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो कुछ भी जानकारी प्राप्त की जा सकी है,

उसका निदर्शन पंजाब के आर्यसमाजों के इस महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय संगठन के कार्यकलाप का परिचय प्राप्त करने में सहायक होगा।

सन् १९३१ में लाला मेहरचन्द प्रादेशिक सभा के प्रधान थे, और लाला खुशहाल चन्द 'आनन्द' उसके मन्त्री थे। महात्मा हंसराज ने इस समय सभा के प्रधान पद का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया था। पर वह अन्तरंग सभा के सदस्य थे, और पहले के समान ही सभा के संचालन में अपना सब समय लगा रहे थे। बाद में (१९३३) उन्होंने पुनः प्रादेशिक सभा का प्रधान पद स्वीकार कर लिया था, और दिसम्बर, १९३७ तक इस पद पर आरूढ़ रहे थे। कॉलिज पार्टी के अन्य अनेक प्रभावशाली नेता—लाला साईं-दास, रायबहादुर लाला दुर्गादास, लाला देवीचन्द, लाला सूर्यभान, आचार्य विश्ववन्धु और ज्ञानी पिण्डीदास आदि इस काल में अन्तरंग सभा के सदस्य थे। प्रादेशिक सभा का कार्यक्षेत्र उस समय पंजाब (जिसमें तब हरयाणा और दिल्ली भी अन्तर्गत थे) के अतिरिक्त सिन्ध, बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, जम्मू-काश्मीर, गढ़वाल (उत्तरप्रदेश), मलाबार, मद्रास, ट्रावन्कोर, असम और बंगाल में भी विस्तृत था, और अफ्रीका तथा अमेरिका के कुछ देशों में भी सभा के उपदेशक धर्म-प्रचार में संलग्न थे। सभा के प्रधान कार्यालय के सीधे अधीन कार्य करने वाले उपदेशकों की संख्या बारह थी, और भजनोपदेशकों की दस। सभा से सम्बद्ध अन्य संस्थाओं के अधीन कार्य करने वाले तीस के लगभग उपदेशक इनके अतिरिक्त थे। पचास के लगभग उपदेशक ऐसे थे जो अवैतनिक थे, पर सभा द्वारा निर्धारित प्रोग्राम के अनुसार धर्म-प्रचार के कार्य में सहयोग देने के लिए सदा उद्यत रहते थे।

सभा के तत्त्वावधान में स्थापित 'लखपतराय सेवा संघ" मुख्यतया हरयाणा में कार्य कर रहा था। उसकी ओर से मास्टर श्यामलाल और मास्टर रामनारायण वहाँ प्रचार-कार्य के लिए नियुक्त थे। उनके अतिरिक्त पाँच उपदेशक और दस भजनोपदेशक भी वहाँ प्रचार में तत्पर थे। 'दयानन्द दलितोद्धार मण्डल' होशियारपुर इस समय बहुत सक्रिय था। उसके अधीन पच्चीस कार्यकर्ता लाला देवीचन्द और लाला रामदास के पथ-प्रदर्शन में दलितों के उद्धार तथा साहाय्य में कार्यरत थे। इस मण्डल की ओर से सन् १९३० में लायलपुर में दलितोद्धार सम्मेलन किया गया था और वहाँ भी एक 'दलितो-द्धार मण्डल' की पृथक् रूप से स्थापना कर दी गयी थी, जिसके प्रधान लाला रामलाल (हेड मास्टर डी० ए० वी० स्कूल, लायलपुर) और मन्त्री पण्डित सोमदेव थे। लायलपुर के इस मण्डल के अधीन छह उपदेशक नियुक्त किये गये, जिनके प्रयत्न से एक हजार के लगभग अछूतों को शुद्ध कर वैदिक धर्म की दीक्षा दी गयी। साथ ही सवर्ण हिन्दुओं को प्रेरित किया गया कि वे उन्हें अछूत न समझें और उनके साथ खान-पान का व्यवहार प्रारम्भ कर दें। मण्डल द्वारा अछूतों को यज्ञोपवीत भी दिये गये।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का सन् १९३१ के बाद विशेष रूप से विस्तार हुआ था, अतः यह जान लेना उपयोगी होगा कि उस वर्ष सभा के कार्य की क्या दशा थी। पंजाब से बाहर गढ़वाल में तब चार स्कूल सभा द्वारा चलाये जा रहे थे, पौड़ी, दुगड्डा, वीरवाल और चेलोसेनी में। त्रिवेन्द्रम (केरल) में सभा की ओर से एक अनाथालय चल रहा था, जिसमें २५ अनाथ बच्चे रहते थे। इनके निवास, भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि का सब खर्च सभा द्वारा किया जाता था। पढ़ाई के साथ-साथ बच्चों

को सन्ध्या-हवन की भी शिक्षा दी जाती थी। आर्यसमाज के प्रचार का भी यह अनाथालय केन्द्र था। सुदूर दक्षिण के मदुरा, कुम्भकोणम्, कोचीन, कालीकट, कोट्टयम आदि अन्य भी अनेक स्थानों पर सभा के उपदेशक कार्यरत थे और कहीं-कहीं उन्होंने आर्यसमाजों तथा आर्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना भी कर दी थी। कालीकट आर्यसमाज का अपना मन्दिर था, जहाँ साप्ताहिक सत्संग नियमपूर्वक हुआ करते थे। सभा की ओर से प्रचार के लिए वहाँ ब्रह्मचारी लक्ष्मण नियुक्त थे। उनकी शिक्षा ब्राह्म महाविद्यालय में हुई थी। वह सत्यार्थप्रकाश की कथा करते थे, और महर्षि के इस महान् ग्रन्थ का उनके द्वारा मलयालम भाषा में अनुवाद भी कराया जा रहा था। प्रादेशिक सभा द्वारा इस क्षेत्र में आर्यसमाज का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा था, उसे सूचित करने के लिए एक दो बातों का उल्लेख उपयोगी होगा। पालावाट की मुख्य सड़क पर कोई अछूत नहीं आ-जा सकता था। वहाँ सभा के प्रचार का यह परिणाम हुआ कि वहाँ की किसी भी सड़क पर 'अछूत' समझे जाने वाले लोगों के जाने-आने में कोई रुकावट नहीं रह गयी। त्रिवेन्द्रम में आर्यसमाज द्वारा जो अनाथालय खोला गया था, उसमें रहने वाले बच्चों की जात-पाँत का कोई पता नहीं था। इस कारण वहाँ के तालाब में उन्हें स्नान करने से रोक दिया गया था। इस पर वहाँ सभा द्वारा सत्याग्रह का आयोजन किया गया, जिससे प्रभावित होकर ट्रावन्कोर राज्य की सरकार ने अनाथालय के बच्चों को तालाब में स्नान करने की अनुमति प्रदान कर दी।

अनाथों की रक्षा पर सभा का विशेष ध्यान था। इसी कारण उस द्वारा सुदूर दक्षिण के त्रिवेन्द्रम नगर में अनाथालय की स्थापना की गयी थी। फीरोजपुर के जिस आर्य अनाथालय को महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित किया गया था, वह भी कॉलिज पार्टी के आर्यसमाज के हाथों में था, पर उसके प्रबन्ध व संचालन के लिए एक पृथक् कमेटी का निर्माण कर दिया गया था। प्रादेशिक सभा का एक अनाथालय मुलतान में भी था। सन् १९३२ में उसमें ५५ अनाथों का पालन-पोषण हो रहा था। अनाथ बच्चों को वहाँ बढ़ई, दर्जी, जिल्दसाज आदि के विविध शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी, और उनके लिए धर्मशिक्षा की भी व्यवस्था थी। दयानन्द दलितोद्धार मण्डल द्वारा तो अनाथों की रक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता ही था।

वेद-प्रचार के लिए प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा जो कार्य किया जा रहा था, और जिस ढंग से उसमें निरन्तर प्रगति होती जा रही थी, इसका अनुमान सभा के अधीन कार्य करने वाले उपदेशकों और भजनोपदेशकों की संख्या से किया जा सकता है। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, सन् १९३१ में सभा के प्रधान कार्यालय के अधीन १२ उपदेशक और १० भजनोपदेशक कार्य कर रहे थे। सन् १९३५ में उनकी संख्या बढ़कर क्रमशः २२ और १६ हो गयी, और दो वर्ष पश्चात् सन् १९३६ में २८ और २०। सन् १९४२ में ४२ उपदेशक सभा की सेवा में कार्यरत थे। भजनोपदेशक इनके अतिरिक्त थे। यहाँ जो संख्याएँ दी गयी हैं, वे उन प्रचारकों की हैं जो प्रादेशिक सभा के केन्द्रीय लाहौर कार्यालय के अधीन थे। मलाबार, मद्रास, बंगाल आदि में सभा की ओर से जो प्रचारक कार्य कर रहे थे, उन्हें इनमें सम्मिलित नहीं किया गया है। सन् १९२१ में प्रादेशिक सभा के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों की कुल संख्या ११२ थी, पर प्रचारकों के प्रयत्न से हर साल नये समाज स्थापित होते जाते थे, और उन्हें सभा के साथ सम्बद्ध कर

दिया जाता था। इस प्रकार जो नये समाज प्रादेशिक सभा के संगठन में सम्मिलित हुए, उनकी संख्या १९३१ में ३, १९३२ में ४, १९३३ में ८, १९३४ में ६, १९३५ में ६, १९३६ में ६, और १९३७ में ८ थी। इस प्रकार कॉलिज पार्टी के समाजों में निरन्तर वृद्धि होती गयी। इनमें बहुसंख्यक आर्यसमाज सक्रिय थे, और उनके वार्षिकोत्सव भी नियमित रूप से हुआ करते थे। किस सन् में कितने आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सव हुए, इस विषयक आँकड़े भी प्रादेशिक सभा के संगठन पर प्रकाश डालने में सहायक हैं। सन् १९३२ में ९५, सन् १९३३ में १०२, सन् १९३६ में ११६, सन् १९३८ में १२०, सन् १९३९ में १२१, और सन् १९४२ में १३० आर्यसमाजों ने अपने वार्षिकोत्सव धूमधाम के साथ मनाये थे, जिनमें प्रादेशिक सभा के प्रचारक, पदाधिकारी तथा नेता धर्म-प्रचार में सहायता प्रदान करने के लिए सम्मिलित हुए थे।

वेद-प्रचार के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के प्रयोजन से प्रादेशिक सभा द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के लिए पृथक् समितियों का भी निर्माण किया गया था। ऐसी एक समिति सन् १९३३ में काँगड़ा जिले में प्रचार करने के प्रयोजन से "काँगड़ा वेदप्रचार समिति" के नाम से बनायी गयी थी, जिसके प्रधान लाला हनुमन्तदास वकील और मन्त्री प्रिंसिपल मेहरचन्द थे। काँगड़ा जिले का पार्वत्य क्षेत्र बहुत पिछड़ा हुआ था। वहाँ के निवासी अशिक्षित होने के साथ-साथ अन्ध-विश्वासों व झूठी मान्यताओं से ग्रस्त थे। उनमें विशेष रूप से प्रचार करने के लिए ही इस समिति का पृथक् रूप से निर्माण किया गया था। काँगड़ा में विविध स्थानों पर मेले हुआ करते थे, जिनमें पहाड़ के लोग बड़ी संख्या में एकत्र होते थे। काँगड़ा वेद-प्रचार समिति ने इन मेलों का प्रचार के लिए उपयोग किया। पण्डित गोपालदत्त शास्त्री मैजिक लैण्टर्न से, पण्डित सोमदेव और पण्डित शिव-शरण ने भजनों द्वारा तथा स्वामी प्रणवानन्द, पण्डित अमरनाथ और पण्डित ऋषिराम ने व्याख्यानों द्वारा इन मेलों में खूब प्रचार किया, जिससे काँगड़ा के लोग वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे और उस क्षेत्र में अनेक आर्यसमाज भी स्थापित हुए। सन् १९३३ में ही आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में कराची में 'वेदप्रचारिणी सभा, सिन्ध' की स्थापना हुई, जिसके प्रधान लाला गणपतराय तलवाड़ और मन्त्री लाला रामसहाय थे। सभा के प्रधान और मन्त्री स्वयं भी सिन्ध में सक्रिय रूप से प्रचार के कार्य में हाथ बटाया करते थे। श्री ब्रह्मदत्त वहाँ भजनोपदेशक के रूप में नियुक्त थे। इन महानुभावों के प्रयत्न से सिन्ध में वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार हुआ और वहाँ अनेक नये आर्यसमाज भी स्थापित किए गये।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में शास्त्रार्थ धर्म-प्रचार के महत्त्वपूर्ण व सशक्त साधन माने जाते थे। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की ओर से भी पौराणिकों, मुसलमानों, जैनियों तथा अन्य मतावलंबियों से अनेक शास्त्रार्थ किए गये, जिनमें से कुछ का उल्लेख सभा के प्रचार-कार्य के स्वरूप को समझने में सहायक होगा। होशियारपुर के सनातनी लोगों में विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मतभेद था। वहाँ की सनातन धर्म सभा विधवा विवाह का विरोध करती थी, और "सनातन धर्म विधवा सहायक सभा" नाम की सनातनियों की अन्य सभा विधवाओं के पुनर्विवाह की समर्थक थी। सन् १९३५ में 'क्या सनातनधर्म के ग्रन्थों से विधवा विवाह का खण्डन हो सकता है?' विषय पर दोनों सभाओं में शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें सनातन धर्म सभा की ओर से पण्डित कालूराम और कविरत्न

पण्डित अखिलानन्द ने विधवा-विवाह का विरोध, और सनातन धर्म विधवा सहायक सभा की ओर से ठाकुर अमरसिंह आर्य ने विधवा-विवाह का समर्थन किया। ठाकुर साहब प्रादेशिक सभा के उपदेशक थे, पर क्योंकि सनातनी लोगों का एक वर्ग विधवा-विवाह का समर्थन कर रहा था, जोआर्यसमाज के मन्तव्य के अनुसार था, अतः सनातनियों की एक सभा की ओर से उन्होंने इस शास्त्रार्थ में भाग लिया था। शास्त्रार्थ में ठाकुर अमरसिंह की विजय हुई और जनता ने धूमधाम के साथ उनका जुलूस निकाला। सन् १९३६ में ठाकुर अमरसिंह के मुसलमानों से अनेक शास्त्रार्थ हुए। एक शास्त्रार्थ का विषय था—'जीव और प्रकृति का अनादित्व'। मुसलमानों की ओर से मौलाना सनाउल्ला साहब अमृतसरी थे। इसमें आर्यसमाज के पक्ष की विजय हुई, और मुसलमान भी ठाकुर साहब की युक्तियों से बहुत प्रभावित हुए। मुसलमानों से एक शास्त्रार्थ सिन्ध में हुआ था, जिसमें ठाकुर अमरसिंह ने विधर्मियों को परास्त करने में अनुपम योग्यता प्रदर्शित की थी। आर्यसमाज के अधिकारियों ने अपने भोलेपन से शास्त्रार्थ की यह शर्त स्वीकार कर ली थी, कि उसमें इस्लाम की किसी भी किताब का हवाला नहीं दिया जाएगा। जब ठाकुर अमरसिंह को इस शर्त का पता लगा, तो उन्होंने उसका विरोध किया। पर अब क्या हो सकता था? समाज के पदाधिकारी शर्त जो स्वीकार कर चुके थे। ठाकुर साहब ने शास्त्रार्थ में मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी की किताबों के हवालों की झड़ी लगा दी और अहमदिया मत के भ्रान्त मन्तव्यों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। मौलवी साहब ने शास्त्रार्थ की शर्त पर जोर देते हुए कहा, कि ठाकुर साहब स्वीकृत शर्त को तोड़ रहे हैं। इस पर अमरसिंह जी ने गरज कर उत्तर दिया—"मैंने इस्लाम की किसी किताब का हवाला नहीं दिया है। मैं अपने मुसलमान भाइयों से पूछता हूँ कि क्या वे मिर्जा गुलाम अहमद को मुसलमान और उनकी किताबों को इस्लाम की किताबें मानते हैं?" इस पर चारों ओर से मुसलमानों की आवाजें आयीं—'ये हर्गिज इस्लाम की किताबें नहीं हैं। इनके हवाले खूब दीजिये।' इस पर शास्त्रार्थ का रुख ही बदल गया। मुसलमान भी यह मान गये, कि शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय हुई है।

१९३५ में ही एक शास्त्रार्थ सियालकोट जिले के बद्दोवाली नगर में हुआ था, जो आर्यसमाज और पौराणिकों के बीच था। यह शास्त्रार्थ आठ दिन होना था। इसमें यह नियम रखा गया था कि एक दिन आर्यसमाज की ओर से पौराणिकों से प्रश्न किया जायेगा और अगले दिन पौराणिकों द्वारा आर्यसमाज से। पौराणिकों का प्रतिनिधित्व पण्डित माधवाचार्य कर रहे थे, और आर्यसमाज का ठाकुर अमरसिंह। माधवाचार्यजी के प्रश्न के जो उत्तर ठाकुर साहब द्वारा दिए गये, उनमें वेदों के प्रमाणों के साथ-साथ पुराणों के प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये थे। इस पर माधवाचार्यजी ने एतराज किया, तो अमरसिंहजी ने कहा—"आप पुराणों को प्रमाण रूप मानते हैं। इसीलिये उनके प्रमाण दिये गये हैं। आप लिखकर दे दीजिये कि आप पुराणों को प्रमाण नहीं मानते। हम उनके प्रमाण नहीं देंगे।" माधवाचार्य जी यह कैसे लिखकर दे सकते थे? सनातन धर्म सभा की ओर से पुलिस को एक रिपोर्ट भेज दी गयी, जिसमें यह कहा गया था कि पौराणिक लोग शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते, अतः उसे बन्द कराया जाये। इसपर पुलिस का अधिकारी शास्त्रार्थ की सभा में आया और उसने सनातन धर्म सभा की रिपोर्ट पढ़कर सुना दी। रिपोर्ट को सुनकर जनता को विश्वास हो गया कि पौराणिकों

का पक्ष निर्बल है और आर्यसमाज की विजय हुई है। सनातनियों से एक अन्य शास्त्रार्थ सरगोधा जिले की मियानी नगरी में हुआ था। पहले दिन शास्त्रार्थ का विषय था—'स्वामी दयानन्द के ग्रंथ वेदविरुद्ध हैं या वेदानुकूल ?' आर्यसमाज की ओर से पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी थे, और पौराणिकों की ओर से पण्डित श्रीकृष्ण। जब श्रीकृष्णजी ने देखा, कि शास्त्रार्थ में उनकी हार हो रही है तो उन्होंने लड़कों की एक टोली की ओर इशारा किया और उसने भजन गाना शुरू कर दिया। यह टोली इसी प्रयोजन से लायी गयी थी, कि आवश्यकता पड़ने पर वह नाचना-गाना प्रारम्भ कर दे, ताकि शास्त्रार्थ को बीच में ही रोक दिया जा सके। अगले दिन शास्त्रार्थ तभी शुरू किया गया, जबकि पौराणिकों की ओर से यह विश्वास दिला दिया गया कि वे कोई विघ्न शास्त्रार्थ में नहीं डालेंगे। दूसरे दिन मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ, और तीसरे दिन मृतक श्राद्ध पर। आर्यसमाज का पक्ष इतना प्रबल था, कि अन्त में पण्डित श्रीकृष्ण ने शास्त्रार्थ में भाग लेने से ही इन्कार कर दिया। यद्यपि मियानी में पण्डित श्रीकृष्ण को मुँह की खानी पड़ी थी, पर उन्होंने एक शास्त्रार्थ लायलपुर ज़िले में भी पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, ठाकुर अमरसिंह और पण्डित मनसाराम से किया, जिसमें वह अश्लीलता पर उतर आये। गायत्री मन्त्र का अर्थ करते हुए वह कहने लगे—"धियो यौनः प्रचोदयात्" में धियों (बेटियों) को "यूँ" करने के लिए कहा गया है। इसपर बड़ा हो-हल्ला मचा, और लोग पण्डित श्रीकृष्ण का विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए। रात भर उन्हें पहरे में रखा गया, ताकि कोई उनपर हमला न कर दे और सुबह होने से पहले ही उन्हें लायलपुर से अन्यत्र भेज दिया गया। सक्खर (सिन्ध) में भी पण्डित श्रीकृष्ण से चार विषयों पर शास्त्रार्थ होने निश्चित हुए, पुराणों पर, स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों पर, मूर्तिपूजा पर और नियोग पर। पहला शास्त्रार्थ जब पुराणों पर हुआ तो आर्यसमाज की ओर से ठाकुर अमरसिंह ने ऐसे प्रश्न प्रस्तुत किए, जिनमें से एक का भी उत्तर पण्डितजी से नहीं वन पड़ा। चिढ़कर उन्होंने कह दिया—"आर्यसमाजियों के तो घर-घर में चकले खुले हुए हैं।" इसपर सभा में गड़बड़ मच गयी। सनातनियों के नेताओं ने भी पण्डित जी के कथन को अनुचित माना और आर्यसमाजियों से उसके लिए क्षमाप्रार्थना की। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि पण्डित श्रीकृष्ण उपयुक्त व्यक्ति नहीं हैं। अन्य पण्डित की व्यवस्था करके ही शास्त्रार्थ को पुनः प्रारम्भ किया जायेगा। इसी प्रकार कितने ही अन्य शास्त्रार्थ बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के विद्वानों और उपदेशकों द्वारा अन्य मतावलम्बियों के साथ किए गये। वस्तुतः, वह शास्त्रार्थों का युग था, और पंजाव, उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश आदि की आर्य प्रतिनिधि सभाओं द्वारा भी अपने-अपने क्षेत्रों में शास्त्रार्थ किये जा रहे थे। पण्डित गणपति शर्मा, पण्डित रामचन्द देहलवी, स्वामी दर्शनानन्द आदि बहुत-से आर्य विद्वानों ने इस काल में शास्त्रार्थ महारथियों के रूप में ख्याति प्राप्त की थी। ठाकुर अमरसिंह आर्य और पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी आदि प्रादेशिक सभा के उपदेशक बहुत उच्च कोटि के प्रभावशाली वक्ता तथा शास्त्रार्थ में अत्यन्त निपुण थे। विशेषतया, ठाकुर अमरसिंह ने विधर्मियों को परास्त करने की कला में अनुपम निपुणता प्राप्त की हुई थी, और प्रतिपक्षी विद्वान् उनका सामना करने में घबराहट अनुभव किया करते थे।

प्रादेशिक सभा द्वारा मेलों में प्रचार करने का विशेष रूप से आयोजन किया

जाता था। मेला प्रचार के कुछ विवरण प्रादेशिक सभा के इस कार्य पर प्रकाश डालने में सहायक होंगे। करनाल (हरयाणा) जिले में फलगू तीर्थ है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगा करता है। सभा द्वारा उस मेले में सात दिन तक निरन्तर प्रचार किया जाता था। सभा के पण्डाल में हर समय भीड़ रहा करती थी, और रात के एक बजे तक भजन तथा व्याख्यान होते रहते थे। हरिद्वार में कुम्भ और अर्धकुम्भी के मेले बहुत महत्त्वपूर्ण और विशाल होते हैं। देश-भर से लाखों नर-नारी इन पर्वों पर गंगा-स्नान करने के लिए हरिद्वार आया करते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार के कुम्भ पर ही धर्म-प्रचार का सूत्रपात किया था। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा भी इन मेलों का वेद-प्रचार के लिए प्रयोग किया गया, और मोहन आश्रम को केन्द्र बनाकर प्रचार की व्यवस्था की जाती रही। सन् १९३८ के कुम्भ पर सभा द्वारा जो प्रचार किया गया, उसका नेतृत्त्व स्वयं महात्मा हंसराज ने किया था। वह लाला खुशहालचन्द, मेहता रामचन्द्र शास्त्री, ठाकुर अमरसिंह आर्य, मास्टर जगन्नाथ और अनेक भजनोपदेशकों को साथ लेकर हरिद्वार गये और मोहन आश्रम में डेरा जमाया। वहाँ एक पण्डाल बनाया गया, जिसमें प्रातः से मध्य रात्रि तक निरंतर भजन तथा व्याख्यान होते थे और उन्हें सुनने के लिए लोगों की भीड़ लगी रहती थी। प्रचार का कार्य यजुर्वेद पारायण यज्ञ से शुरू हुआ। यज्ञ के यजमान लाला धनीराम भल्ला थे। उन्होंने यज्ञ का पूरा व्यय देना स्वीकार किया था। ऐसे चार पण्डित इस यज्ञ के लिए काशी से विशेष रूप से बुलाये गये थे, जिन्हें सम्पूर्ण यजुर्वेद कठस्थ था। उन्होंने पौराणिक ढंग से यज्ञवेदी की सज्जा की और ऐसी पौराणिक आकृतियाँ (सर्वतोभद्र लिंग, भग तथा गणेश आदि की) बनायीं, जो आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुरूप नहीं थीं। ठाकुर अमरसिंह इस यज्ञ के प्रबन्ध-अधिष्ठाता थे। जब उन्होंने काशी के पण्डितों द्वारा की गयी यज्ञवेदी की सज्जा को देखा, तो उसपर एतराज किया और लाला खुशहालचन्द, जो उस समय प्रादेशिक सभा के प्रधान थे—को अपने एतराज से अवगत किया। न केवल लाला खुशहालचन्द ही, अपितु महात्मा हंसराज ने भी ठाकुर साहब की विप्रतिपत्ति को युक्तियुक्त माना, जिसके परिणामस्वरूप यजुर्वेद पारायण यज्ञ के अनुष्ठान में पौराणिक पद्धति का अनुसरण न कर विशुद्ध वैदिक विधि का प्रयोग किया गया। मोहन आश्रम में आयोजित धर्म-प्रचार से जनता बहुत लाभ उठा रही थी, पर हैजे के प्रकोप के कारण उसमें बाधा उपस्थित हो गयी, और सभा को अपनी सब शक्ति महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा में लगा देने के लिए विवश हो जाना पड़ा।

हैजे के कारण धर्म-प्रचार के कार्य में जो अकस्मात् विघ्न पड़ गया था, उसकी क्षति-पूर्ति सन् १९४४ की अर्धकुम्भी के अवसर पर की गयी। मेले से पहले ही मोहन आश्रम में आर्योपदेशक महाविद्यालय की स्थापना की जा चुकी थी, जिसे स्थापित करने में प्रादेशिक सभा के प्रधान लाला खुशहालचन्द, दानवीर बावा गुरुमुखसिंह तथा कविराज हरनामदास का प्रधान कर्तृत्त्व था। पण्डित ईश्वरचन्द्र दर्शनाचार्य उसके पहले आचार्य थे, और बाद में ठाकुर अमरसिंह को उसका आचार्य नियुक्त कर दिया गया था। अध्यापन-कार्य में स्वामी नित्यानन्द तीर्थ और पण्डित लक्ष्मीनारायण शास्त्री ठाकुर साहब के प्रधान सहायक थे। अर्धकुम्भी से पहले ही इस महाविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या ५५ तक पहुँच चुकी थी, और दूर-दूर के प्रदेशों के विद्यार्थी भी उपदेशक का प्रशिक्षण प्राप्त

करने के लिए वहाँ आने लग गये थे। मोहन आश्रम तब वैदिक धर्म के अध्ययन-अध्यापन तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था। यही कारण है, कि सन् १९४४ के अर्धकुम्भी के मेले में प्रादेशिक सभा द्वारा बड़े पैमाने पर प्रचार की व्यवस्था की जा सकी, जिसके लिए आर्योपदेशक महाविद्यालय के तत्कालीन आचार्य ठाकुर अमरसिंह ने बहुत परिश्रम किया। इस अवसर पर एक वेद सम्मेलन का भी आयोजन किया गया, जिसमें अनेक वैदिक विद्वानों ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रचार-कार्य की यह विशेषता रही है, कि उसका प्रचार क्षेत्र पंजाब से बाहर भी अनेक प्रदेशों (भारत तथा उसके बाहर भी) में विस्तृत था। बंगाल, उड़ीसा, मलाबार, मद्रास आदि भारत के विविध प्रदेशों तथा दक्षिणी अफ्रीका आदि विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के विवरण में उन उपदेशकों तथा विद्वानों के कर्तृत्व का भी वृत्तान्त दिया गया है जिन्होंने प्रादेशिक सभा की ओर से वहाँ जाकर वैदिक धर्म का प्रचार किया था। पर सभा के व्यापक कार्यक्षेत्र पर प्रकाश डालने के प्रयोजन से इस अध्याय में भी उनके कार्य का संक्षेप के साथ उल्लेख कर देना उपयोगी है। सन् १९३२ तक प्रादेशिक सभा द्वारा बंगाल में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए सुचारु रूप से कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था। पण्डित ऋषिराम इस कार्य के लिए वहाँ नियुक्त थे, और उन्होंने भवानीपुर (कलकत्ता) में आर्यसमाज की स्थापना कर दी थी। बंगाल में प्रचार के लिए अंग्रेजी और बंगला भाषाओं की जो पुस्तिकाएँ सभा द्वारा छपवायी गई थीं, उनकी प्रतियों की संख्या बीस हजार थी। सन् १९३३ में भवानीपुर आर्यसमाज के भवन के लिए तीन मंजिलों वाली एक कोठी २५ हजार रुपयों में खरीद ली गयी, जिसकी आधी राशि प्रादेशिक सभा द्वारा प्रदान की गयी थी। इसीलिए समाज भवन की रजिस्ट्री प्रादेशिक सभा लाहौर के नाम पर ही करायी गयी। इसी वर्ष भवानीपुर समाज में आर्य कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी, और आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव भी धूमधाम के साथ मनाया गया। इस अवसर पर धर्म-प्रचार करने के लिए मेहता रामचन्ददत्त शास्त्री और पण्डित रामगोपाल लाहौर से कलकत्ता गये थे। सन् १९३४ में प्रादेशिक सभा की ओर से पण्डित सत्यदेव ने बंगाल में वैदिक धर्म का प्रचार किया, और श्री सुजितकुमार मुकर्जी की इसी कार्य के लिए वहाँ स्थायी रूप से नियुक्ति की गयी। श्री मुकर्जी संस्कृत और अंग्रेजी के सुयोग्य विद्वान् थे, और बंगाली होने के कारण उस प्रान्त में प्रचार का कार्य भली-भाँति कर सकते थे। वह विश्वभारती (शान्ति निकेतन) के स्नातक थे, और धर्मप्रेम तथा देशभक्ति की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। उन्हें सभा की ओर से पहले असम में प्रचार करने के लिए रखा गया था, जिसके लिए बिड़ला बंधुओं द्वारा भी आठ हजार रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की गयी थी। बाद में श्री मुकर्जी असम के साथ-साथ बंगाल में भी प्रचार करने लगे थे। सन् १९३५ में पण्डित वी० पी० जोशी, पण्डित अर्जुनदेव शास्त्री, पण्डित पद्मेश्वर और पण्डित योगेश्वर भी सभा की ओर से असम में कार्य करने के लिए नियुक्त कर दिये गये थे। समय-समय पर प्रचार का जो कार्य प्रादेशिक सभा द्वारा असम में किया जाता रहा, उसके परिणामस्वरूप सन् १९३५ के अन्त तक उस प्रान्त में चार आर्यसमाज स्थापित हो गये थे, गोहाटी, नौगाँव, शिलांग और सिलहट में।

इन चारों समाजों के साथ शिक्षणालय भी खोल दिये गये थे, जिनमें हिन्दी भाषा की पढ़ाई की भी व्यवस्था थी।

मलावार प्रादेशिक सभा के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। उस क्षेत्र के जिन स्थानों पर सन् १९३०-३१ में सभा द्वारा कार्य किया जा रहा था, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। सन् १९३३ में मलाबार का प्रचार-कार्य स्वामी प्रणवानन्द के अधीन था। वह जहाँ स्वयं प्रचार करते थे, वहाँ अन्य उपदेशकों के कार्य की देखरेख भी करते थे। स्वामीजी के निर्देशन में कार्य करने वाले प्रचारकों में ब्रह्मचारी लक्ष्मण, पण्डित राघव तथा श्री बुद्धसिंह प्रमुख थे। कालीकट(मलावार)समाज में प्रादेशिक सभा के साहित्य विभाग द्वारा पुस्तक प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया गया था। सत्यार्थ-प्रकाश के मलयालम अनुवाद के अतिरिक्त चार अन्य पुस्तकें भी इस विभाग की ओर से मलयालम भाषा में प्रकाशित की गयी थीं, जो वहाँ वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए बहुत उपयोगी थीं। सभा द्वारा कालीकट तथा त्रिवेन्द्रम आदि में अनेक स्कूल भी स्थापित किए गये। कालीकट में एक हिन्दी विद्यालय भी खोला गया, जिसमें बहुत से लोग हिन्दी पढ़ने के लिए आया करते थे। त्रिवेन्द्रम के स्कूलों के व्यवस्थापक श्री विज्ञानचन्द थे, जो बड़े उत्साह से आर्यसमाज के कार्य में तत्पर रहते थे। उन दिनों श्री के० एल० मुद्गल त्रिवेन्द्रम के कॉलिज ऑफ सायन्स में प्रोफेसर थे। वह मूलतः पंजाब के निवासी थे, और आर्यसमाजी विचारों के थे। आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में उनकी रुचि थी, और स्वामी प्रणवानन्द तथा सभा के अन्य उपदेशकों को उनका साहाय्य प्राप्त होता रहता था। शुद्धि का श्रीगणेश भी मलावार में प्रादेशिक सभा के उपदेशकों के प्रयत्न से हो गया था, और कुछ ईसाई तथा मुसलमान शुद्ध होकर हिन्दू (आर्य) समाज में सम्मिलित भी कर लिये गये थे। अफ्रीका और अमेरिका के विविध देशों में जो अनेक आर्य विद्वान् वैदिक धर्म के प्रचार के लिए गये, उनमें भाई परमानन्द को डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी की ओर से ही उन देशों में भेजा गया था। बाद में पण्डित ऋषिराम और मेहता रामचन्द आदि कितने ही अन्य उपदेशक प्रादेशिक सभा के तत्त्वावधान में विदेशों में प्रचार के लिए गये। इनके कार्यकलाप का वर्णन विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विवरण देते हुए यथास्थान अन्यत्र किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के विविध प्रान्तों तथा अनेक विदेशों में धर्म-प्रचार के लिए आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा जो कार्य किया गया, वह कम महत्त्व का नहीं है। यद्यपि कॉलिज पार्टी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना व संचालन को धर्म-प्रचार का अधिक सशक्त व महत्त्वपूर्ण साधन मानती थी, पर वेद-प्रचार की भी उस द्वारा उपेक्षा नहीं की गई थी।

आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के प्रयोजन से प्रादेशिक सभा द्वारा कुछ अन्य कार्य भी किये गये थे। सन् १९३३-३४ में काँगड़ा में एक "वनिता विश्राम आश्रम" स्थापित हुआ था, जो सभा के अधीन था। इसका उद्देश्य भूली-भटकी महिलाओं को आश्रय देना, पारिवारिक कलह के कारण दुःखी स्त्रियों का परिवार के लोगों से समझौता कराना, विधवाओं और परित्यक्ताओं को सिलाई आदि सिखाकर या नौकरी लगवाकर उनकी आर्थिक समस्या का हल करना, विवाह की इच्छुक महिलाओं के विवाह की व्यवस्था करना और स्त्रियों की सहायता व हित-कल्याण के लिए अन्य कार्यों का सम्पादन करना था। इस आश्रम के संचालन के लिए प्रादेशिक सभा द्वारा जो समिति बनायी गयी थी,

उसके प्रधान लाला दुर्गादास एडवोकेट और मन्त्री दीवान मानचन्द वकील थे। आश्रम का मैनेजर महाशय वजीरचन्द गुप्त को नियुक्त किया गया था। सन् १९३४ में इस आश्रम द्वारा ६० स्त्रियों को आश्रय प्रदान किया गया था। बाद में इसकी निरन्तर उन्नति होती गयी। पंजाब में यह अपने ढंग की एक ही संस्था थी।

सन् १९३४ में प्रादेशिक सभा द्वारा दयानन्द मैडिकल मिशन नाम की एक अन्य संस्था भी स्थापित की गयी थी। बैजनाथ, पालमपुर और जयसिंहपुरा में इसके अधीन औषधालय खोल दिये गये थे, और सभा का प्रयत्न था कि इसके कार्य का निरन्तर विस्तार होता रहे। कविराज पण्डित ठाकुरदत्त और श्री वाचस्पति वैद्य जहाँ इस मैडिकल मिशन के अधीन औषधालयों का संचालन करते थे, वहाँ साथ ही उपदेशक का कार्य भी करते थे।

प्रादेशिक सभा की दृष्टि में वेद-प्रचार का इतना महत्त्व था कि नवम्बर, १९३८ में महात्मा हंसराज का देहावसान हो जाने पर उनकी स्मृति में सभा द्वारा "महात्मा हंसराज वेद-प्रचार निधि" की स्थापना का निश्चय किया गया। लाला खुशहालचन्द "आनन्द" उस समय सभा के प्रधान थे। दिन-रात परिश्रम कर उन्होंने दो महीने के स्वल्प-काल में एक लाख रुपये से अधिक धनराशि इस निधि के लिए एकत्र कर ली। महात्मा जी के परम भक्त बाबा गुरुमुखसिंह ने बाबा प्रद्युम्नसिंह ट्रस्ट से एक लाख रुपया इस निधि के लिए प्रदान किया, जिसके कारण निधि में धन की मात्रा दो लाख रुपये से भी अधिक हो गयी। इसी समय प्रादेशिक सभा ने अपने साहित्य विभाग को "महात्मा हंसराज साहित्य विभाग" के रूप में परिवर्तित कर दिया। महात्माजी के दो पुत्र श्री बलराज और श्री योधराज थे। उनकी तीन पुत्रियाँ श्रीमती रत्नदेवी, श्रीमती चन्ननदेवी और श्रीमती धर्मदेवी थीं। इन पाँचों ने अपने पिता की स्मृति में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के लिए लाहौर में एक विशाल भवन बनवा दिया, जिसका नाम "श्रद्धांजलि" रखा गया। इस भवन में २२ कमरे थे, और यह सभा के कार्यकलाप का प्रधान केन्द्र था। सभा के सब कार्यालय इसी भवन में स्थापित कर दिये गये थे।

प्रादेशिक सभा के कार्यकलाप का विवरण समाप्त करने से पूर्व एक अन्य बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है, जिसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद व विवाद रहा था। सन् १९३४ में प्रादेशिक सभा की अन्तरंग सभा की बैठक में लाला देवीचन्द द्वारा यह विचार प्रस्तुत किया गया कि सभा के वैतनिक उपदेशकों को अन्तरंग सभा का सदस्य नहीं बनने देना चाहिये, क्योंकि उपदेशकों के वेतन आदि इसी सभा द्वारा निर्धारित किये जाते हैं और यदि उपदेशक भी इसके सदस्य होंगे तो वे अपनी इच्छा के अनुसार वेतन में वृद्धि करा लिया करेंगे। इस पर महाशय कुन्दनलाल ने कहा, कि अन्तरंग सभा की यह परम्परा रही है कि जिस व्यक्ति के विषय में विचार होना हो, वह यदि अन्तरंग सभा का सदस्य हो, तो उसे सभा से उठ जाने के लिए कह दिया जाता है और उसके सम्बन्ध में निर्णय उसकी अनुपस्थिति में ही होता है। अतः यदि उपदेशक अन्तरंग सभा के सदस्य होंगे तो उससे कोई हानि नहीं होगी। इस प्रश्न पर जो विचार-विमर्श हुआ, उसमें भाग लेते हुए ठाकुर अमरसिंह (उपदेशक) ने कुछ ऐसी बातें कहीं, जो उस समय के अनेक आर्यसमाजों की दशा पर प्रकाश डालती हैं और जो आज भी पर्याप्त अंश तक सही हैं। उन्होंने कहा—जो महानुभाव आज यहाँ उपस्थित हैं, उनमें महात्मा हंसराज से अधिक

समाजों की दशा को कोई नहीं जानता। पर मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि समाजों की वास्तविक स्थिति को हम उपदेशक लोग महात्माजी से अधिक जानते हैं। महात्माजी जब किसी समाज में जाने को होते हैं, उस समाज में यदि वर्ष भर से भी झाड़ू न लगी हो, तो महात्माजी के आने से पहले ही उसकी सफाई करा दी जाती है, उसमें सफेदी हो जाती है, दरियाँ और गलीचे बिछ जाते हैं, पलंग और बिस्तर लग जाते हैं। पर जब हम उन समाजों में जाते हैं, तो ताले बन्द पाते हैं। कई-कई घर घूमकर चाबी लाते हैं और समाज मन्दिर में झाड़ू लगाते हैं। ढेरों कूड़ा, मिट्टी और कबूतरों की बीटें निकालते हैं। हमसे अधिक समाजों की स्थिति कोई नहीं जानता। सभा यदि हमारे अनुभवों से लाभ उठाना चाहे, तो हमें अन्तरंग में ले। उसका सदस्य होने से हमें अपना कोई लाभ नहीं है। ठाकुर साहब के इस कथन का अन्तरंग सभा के सदस्यों पर बहुत प्रभाव पड़ा। जब लाला देवीचन्द ने देखा कि अन्य सदस्य उपदेशकों को अन्तरंग सभा में लेने के पक्ष में हैं, तो उन्होंने यह प्रस्ताव पेश किया कि उपदेशकों को अन्तरंग सभा में लिया तो जाए पर उनकी संख्या १/७ से अधिक न हो। उस समय अन्तरंग सभा के कुल सदस्य २१ हुआ करते थे। लालाजी के प्रस्ताव के अनुसार उपदेशक-सदस्यों की संख्या तीन से अधिक नहीं हो सकती थी। यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में बाधाएँ डालने तथा हिन्दू-आर्यों को अपने धर्म का पालन करने में रुकावटें उत्पन्न किए जाने के विरोध में हैदराबाद रियासत में आर्यसमाज द्वारा जिस सत्याग्रह-संघर्ष का प्रारम्भ किया गया, सिन्ध में सत्यार्थप्रकाश की जब्ती के सरकारी आदेश के विरुद्ध जो सशक्त आन्दोलन हुआ और अन्यत्र भी जहाँ कहीं आर्य-समाज द्वारा अन्याय तथा अत्याचार के विरोध में संघर्ष का सूत्रपात किया गया—सब में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। इन संघर्षों पर इस इतिहास में पृथक् रूप से प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४७ तक आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का कार्यकलाप बहुत व्यापक रूप प्राप्त कर चुका था। पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान, जम्मू-काश्मीर, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त आदि सर्वत्र उससे सम्बद्ध आर्यसमाज विद्यमान थे जिनकी संख्या डेढ़ सौ के लगभग थी। असम, मद्रास, बिहार आदि अन्य प्रान्तों में भी उसकी ओर से धर्म-प्रचार का कार्य किया जा रहा था। उसका अपना वेद-प्रचार विभाग था, जिसके अधीन पचास के लगभग वैतनिक उपदेशक कार्य कर रहे थे। अवैतनिक प्रचारक इनसे अतिरिक्त थे। अनाथ और असहाय महिलाओं की सहायता और भरण-पोषण के लिए अनेक संस्थाएँ उसके तत्त्वावधान में कार्य कर रही थीं और दलितोद्धार व शुद्धि के लिए उस द्वारा विशेष रूप से प्रयत्न किया जा रहा था। डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की संख्या तो वहाँ बहुत ही अधिक थी। पर देश के विभाजन के कारण यह सभा जड़ से हिल गयी, और इसके लिए एक प्रकार का प्रलय ही उपस्थित हो गया। पर इस घोर विपत्ति ने प्रादेशिक सभा का अन्त नहीं कर दिया। भारत में इसकी पुनः स्थापना हुई और यह उन्नति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होती गयी।

छठा अध्याय

हरयाणा—आर्यसमाज का सुदृढ़ गढ़

(१) वैदिक धर्म के प्रचार के प्रारम्भिक वर्ष

वर्तमान समय में हरयाणा भारत का एक पृथक् राज्य है, पर नवम्बर १९६६ तक वह पंजाब के अन्तर्गत था। उस समय उसकी आर्य प्रतिनिधि सभा भी पृथक् नहीं थी। शासन की दृष्टि से हरयाणा के पृथक् राज्य वन जाने के पश्चात् भी सन् १९७५ तक वहाँ के आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के साथ सम्बद्ध रहे। पर जब सार्वदेशिक सभा के निर्णय द्वारा पंजाब प्रतिनिधि सभा का त्रिविभाजन कर दिया गया, तो हरयाणा में पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। आर्यसमाज की दृष्टि से हरयाणा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वहाँ की जनता का बहुत बड़ा भाग महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में विश्वास रखता है, और वहाँ प्रायः सभी नगरों व ग्रामों में आर्यसमाज विद्यमान हैं। जिन अर्थों में पंजाब को सिक्ख राज्य कहा जाता है, उनमें हरयाणा को आर्य राज्य भी कहा जा सकता है। इस राज्य में आर्यसमाज का जो इतना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि वहाँ के बहुसंख्यक निवासी उन जाट, गूजर व अहीर आदि जातियों के हैं, जिन्हें पौराणिक पण्डित 'द्विज' मानने को तैयार नहीं थे। उन्हें न वे यज्ञोपवीत धारण करने देते थे और न वेद-शास्त्रों के अध्ययन की अनुमति ही प्रदान करते थे। समाज में उनकी स्थिति हीन समझी जाती थी। जाट आदि का अपनी इस हीन स्थिति से असन्तुष्ट होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण पश्चिमी पंजाब के बहुत-से जाट मुसलमान हो गये थे, और मध्य पंजाब के सिक्ख। सम्भवतः, हरयाणा के जाट भी पौराणिक हिन्दुओं की संकीर्णता से उद्वेग अनुभव कर किसी अन्य मत व पंथ की ओर झुक जाते, यदि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा उन्हें सच्चे हिन्दू (आर्य) धर्म का बोध न कराया जाता। सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुसार वेद-शास्त्रों के अध्ययन का सबको समान रूप से अधिकार है, और जन्म के कारण कोई ऊँचा या 'द्विज' नहीं होता। इस मन्तव्य ने जाट आदि कृषि-प्रधान जातियों को बहुत प्रभावित किया, और वे आर्यसमाज में शामिल होती गयीं।

महर्षि के जीवन काल में सन् १८८३ तक हरयाणा के रोहतक, करनाल, पानीपत, कालका और रिवाड़ी नगरों में आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। इनकी स्थापना का विवरण इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में दिया गया है। महर्षि जनवरी, १८७९ में रिवाड़ी गये थे। वहाँ उन्होंने लोगों को गौरक्षा की प्रेरणा दी, और अहीर, जाट आदि जातियों के व्यक्तियों के भी यज्ञोपवीत संस्कार कराये। उन्हीं की प्रेरणा से राय युधिष्ठिर सिंह ने रिवाड़ी में गौशाला की स्थापना की थी, जो आधुनिक युग में भारत की प्रथम

गौशाला थी। उन्होंने युधिष्ठिरसिंह के पुत्र-पौत्रों को भी यज्ञोपवीत धारण कराया था और उन्हें गायत्री मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करना भी सिखाया था। युधिष्ठिरसिंह जाति के अहीर थे, जिन्हें पौराणिक पण्डित यज्ञोपवीत और गायत्री मन्त्र का अधिकारी नहीं मानते थे। सनातनी लोग इस कारण महर्षि का प्रबल रूप से विरोध करने लग गये। अपने व्याख्यानों में वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कृष्ण और गोपियों की लीला का खण्डन किया करते थे, जिसे लेकर पौराणिकों ने राव युधिष्ठिर-सिंह को यह बहकाना शुरू किया, कि दयानन्द देवी-देवताओं को नहीं मानते और उनके प्रति अपशब्दों का भी प्रयोग करते हैं। युधिष्ठिरसिंह पौराणिकों के बहकावे में आ गये और उन्होंने महर्षि को मार डालने का निश्चय कर लिया। इसी संकल्प को लेकर वह उस स्थान पर गये, जहाँ महर्षि व्याख्यान दे रहे थे। पर उनकी दिव्य मूर्ति का दर्शन कर तथा उनके प्रवचन को सुनकर वह उनके पैरों पर गिर पड़े, और उनसे क्षमा की याचना की।

रिवाड़ी में रहते हुए महर्षि ने गौरक्षा का विशेष रूप से प्रचार किया था। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर जो सज्जन गौरक्षा के लिए सक्रिय रूप से तत्पर हुए, उनमें चौधरी नवलसिंह का नाम उल्लेखनीय है। वह रोहतक के निवासी थे, और धर्म-प्रचार करते हुए हल्की-फुलकी कविताओं का आश्रय लिया करते थे। उन्होंने हरयाणा में गौरक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ किया और अनेक स्थानों पर गौरक्षिणी सभाएँ स्थापित कीं। इस सिलसिले में वह हरिद्वार तक जा पहुँचे, और वहाँ भी उन्होंने गौरक्षिणी सभा की स्थापन कर दी। उन्होंने हरिद्वार के ब्राह्मणों और पण्डों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि जो यात्री गंगा-स्नान के लिए आएँ उनसे यह संकल्प कराया जाया करे कि "मैं कसाई के हाथ गाय नहीं बेचूंगा।" यात्रियों से गौरक्षा के लिए दान भी लिया जाया करे, और उस दान से गोशालाओं की स्थापना की जाए। ब्राह्मणों ने नवलसिंहजी की इस बात को स्वीकार कर लिया, और गौरक्षा के नाम पर ब्रह्मकुण्ड पर एक झण्डा भी लगा दिया। साथ ही, एक तख्ती भी वहाँ लगा दी गयी, जिसपर गौरक्षा के नियम लिखे थे। कनखल के पण्डित भवानीदत्त ज्योतिषी को गौरक्षिणी सभा का प्रधान बनाया गया, और चौधरी नवल-सिंह ने सहारनपुर आदि अन्य नगरों में भी इस सभा के लिए चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया। समाचार-पत्रों में भी इस सभा के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रकाशित की गयीं। सब हिन्दू गौ को माता व पवित्र मानते हैं, पर गौरक्षा का आन्दोलन जिस ढंग से हरिद्वार में जोर पकड़ रहा था, उससे अनेक कट्टरपंथी पौराणिकों ने उद्वेग अनुभव करना शुरू किया, क्योंकि इससे आर्यसमाज की शक्ति में वृद्धि होती थी। रुड़की और जगाधरी के पौराणिक पण्डितों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि गौरक्षा का यह आन्दोलन दयानन्द का चलाया हुआ है और इससे दयानन्द के पक्ष को बल प्राप्त होता है। जगाधरी से श्री लाडलाप्रसाद गुजराती को और रुड़की से श्री फकीरचन्द को इस प्रयोजन से हरिद्वार भेजा गया, ताकि वहाँ के पण्डों और ब्राह्मणों को वे यह समझाएँ कि गौरक्षा का आन्दोलन दयानन्द का चलाया हुआ है और कसाइयों को गौ न बेचने तथा गौशालाएँ खोलने की बात सनातन धर्म के अनुरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। लाडलाप्रसाद और फकीरचन्द को अपने प्रयत्न में सफलता हुई। हरिद्वार के पण्डे और ब्राह्मण उनके बहकावे में आ गये और उन्होंने गौरक्षा के झण्डे, तख्ती और दानपात्र आदि को हलवाई की

भट्टी में झोंक दिया । पर इससे चौधरी नवलसिंह निराश नहीं हुए । उन्होंने अपने प्रयत्न को जारी रखा और उनकी प्रेरणा से अनेक स्थानों के यजमानों ने अपने पुरोहितों पर गौरक्षा के आन्दोलन का समर्थन करने के लिए जोर देना शुरू कर दिया । ११ मई, सन् १८८६ को उन्होंने हरिद्वार में एक सभा का आयोजन किया, जिसमें अनेक आर्य-समाजों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए । इस सभा के प्रयत्न से कनखल में एक बड़ा सम्मेलन हुआ, जिसमें पौराणिकों के उग्र विरोध के कारण बन्द हुई गौरक्षिणी सभा को पुनः स्थापित किया गया । इस अवसर के लिए चौधरी नवलसिंह ने जो कविता लिखी थी, उसकी एक पंक्ति यह थी—"इधर धर्म का झण्डा गाड़ें, उधर अधर्मी रहे उखाड़ ।" गौरक्षिणी सभा के साथ-साथ कनखल-हरिद्वार में आर्यसमाज का प्रचार भी प्रारम्भ हुआ, और कट्टरपंथी सनातनियों के इस गढ़ में भी महर्षि के मन्तव्यों की ज्योति प्रसारित होने लग गयी ।

हरयाणा में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा गौरक्षा के जिस आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया था, अनेक पौराणिकों का समर्थन भी उसे प्राप्त था । ऐसे एक महा-नुभाव ब्रह्मचारी जयरामदास थे । भिवानी और बेरी में गौशालाओं की स्थापना में उन्होंने आर्यसमाज को सहयोग प्रदान किया था । महर्षि के देहावसान के बाद के कुछ वर्षों में हरयाणा में आर्यसमाज का जो प्रचार हुआ उसमें गौरक्षा आन्दोलन बहुत सहायक हुआ, क्योंकि वहाँ के कृषकों के लिए गौधन का बहुत महत्त्व था, और उनकी आर्थिक स्थिति मुख्यतया गौओं पर ही निर्भर थी । गौरक्षा की बात वहाँ के लोगों को बहुत अपील करती थी । एक अन्य बात जो वहाँ के जाट, अहीर आदि लोगों को वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट कर रही थी, यज्ञोपवीत धारण की थी । महर्षि के पश्चात् उनके अनुयायियों तथा शिष्यों ने 'द्विज' न समझे जाने वाले इन लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराने यथा गायत्री का उपदेश देने का क्रम जारी रखा । इस काल के हरयाणा के आर्य प्रचारकों में पण्डित शम्भूदत्त का नाम उल्लेखनीय है । वह जिस प्रकार जाटों को यज्ञो-पवीत धारण कराने में तत्पर थे, उसे कट्टरपंथी पौराणिक सहन नहीं कर सके । इनके नेता श्री कूड़ेराम थे, जो ब्रह्मचारी जयरामदास के शिष्य थे । सन् १९०५ के लगभग उन्होंने सोनीपत जिले के खण्डा गाँव में जाटों की पंचायत बुलाई, और उसके सम्मुख यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, कि जो जाट यज्ञोपवीत धारण करे, उसे जाति से वहिष्कृत कर दिया जाए क्योंकि जाट 'द्विज' नहीं हैं, और यज्ञोपवीत पहनना उनकी परम्परा के विरुद्ध है । पर अनेक प्रतिष्ठित जाट महर्षि के अनुयायी भी थे । ऐसे एक वृद्ध जाट चौधरी ने सुझाव दिया, कि इस प्रश्न पर पण्डितों द्वारा विचार-विमर्श करवा लिया जाए और उसे सुनकर ही पंचायत अपना निर्णय करे । यह सुझाव सबकी समझ में आ गया । पौराणिकों की ओर से काशी के पण्डित शिवकुमार को और आर्यसमाज की ओर से पण्डित गणपति शर्मा को शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित किया गया । पंचायत में जाटों के यज्ञोपवीत धारण करने के प्रश्न पर जो विचार-विमर्श हुआ, उसमें आर्यसमाज का पक्ष प्रबल रहा, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोगों ने यज्ञोपवीत धारण किए, और पण्डित कूड़ेराम का पक्ष सर्वथा निर्बल हो गया । जाटों का यज्ञोपवीत संस्कार किए जाने के आन्दोलन में पण्डित शम्भूदत्त के प्रधान सहायक पण्डित बस्तीराम थे । बस्तीरामजी किस प्रकार महर्षि दयानन्द सरवस्ती के सम्पर्क में आये, और उन्होंने कैसे हरयाणा में

आर्यसमाज का प्रचार प्रारम्भ किया, इस विषय पर इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में प्रकाश डाला जा चुका है। २६ वर्ष की आयु में उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था, और सन् १९५२ में अपनी मृत्यु तक वह आर्यसमाज के कार्य में लगे रहे। सन् १८८३ में महर्षि के देहावसान के समय उनकी आयु ४२ वर्ष की थी। १८८३ के पश्चात् के वर्षों में हरयाणा में वैदिक धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें बस्तीरामजी का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था। ४० वर्ष की आयु में चेचक के कारण उनकी आँखें जाती रही थीं। पर चर्मचक्षुओं के न रहने पर भी उनकी ज्ञानचक्षु खुली रही, और वह जीवन-भर आर्य-समाज का प्रचार करते रहे। उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी। दक्षिणा में जो कुछ भी उन्हें प्राप्त होता, उसे वह आर्यसमाजों तथा गुरुकुलों को दान कर देते थे। उनके पास अपना कहने को केवल एक 'इकतारा' था, जिसे बजाते हुए वह भजन गाया करते थे। उनके प्रचार से चिढ़कर पौराणिक लोग कहने लगे थे कि यह अंधा कन्धे पर बाँस रखकर पण्डितों को गाली देता है। इसपर पण्डितजी का उत्तर होता था, भाई यह बाँस नहीं है, यह तो पोपों का नाश है। बस्तीरामजी भजन भी बनाया करते थे, जिनको सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। उन द्वारा हरयाणा में कितने ही आर्यसमाज स्थापित किए गये। समाजों के वार्षिकोत्सवों के अवसर पर तथा गाँवों में घूम-घूम कर वैदिकधर्म का जो प्रचार बस्तीराम जी द्वारा किया गया वह वस्तुतः बड़े महत्त्व का था। जब भक्त फूलसिंह तथा पण्डित (बाद में स्वामी) ब्रह्मदत्त हरयाणा में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तत्पर हुए, तो पण्डित बस्तीराम ने उन्हें पूर्णरूप से सहयोग दिया।

बीसवीं सदी के प्रथम और द्वितीय दशकों में जाट आदि जातियों में यज्ञोपवीत धारण करने के आन्दोलन ने और अधिक जोर पकड़ा। जाटों में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति चौधरी भीमसिंह थे, जो वैदिक धर्म के अनुयायी थे। पर उनके भाई सनातनी थे। यज्ञो-पवीत के प्रश्न पर उनमें विवाद हो गया और इसका निर्णय करने के लिए सिरसपुर गाँव (दिल्ली प्रदेश में बादली के समीप) में एक शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया। शास्त्रार्थ द्वारा यह निर्णय किया जाना था, कि जाट द्विज (क्षत्रिय) हैं या शूद्र हैं। यदि वे द्विज हों, तभी वे यज्ञोपवीत धारण कर सकते हैं। आर्यसमाज की ओर से पण्डित शम्भूदत्त और पण्डित बस्तीराम ने शास्त्रार्थ किया, जिसमें जाटों को द्विज (क्षत्रिय) स्वीकार किया गया और बहुत-से जाटों ने यज्ञोपवीत धारण कर लिये। चौधरी भीमसिंह के भाई भी इनमें थे। वह आर्यसमाज से इतने अधिक प्रभावित हुए, कि उन्होंने ५,००० रुपये इस प्रयोजन से गुरुकुल काँगड़ी को दान दिये कि इस राशि द्वारा हरयाणा के बालकों को छात्र-वृत्तियाँ दी जा सकें। इन छात्रवृत्तियों से लाभ उठाकर जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर स्नातक हुए, उसमें श्री समरसिंह, श्री प्रियव्रत तथा श्री भीमसेन के नाम उल्लेखनीय हैं। सोनीपत जिले के गाँव जाटी में एक शास्त्रार्थ इस विषय पर हुआ, कि बाल्मीकि मुनि जाति से भंगी थे या नहीं। आर्यसमाज का मत था, कि वह जाति या जन्म से उच्च कुल के नहीं थे, पर अपने ज्ञान व सद्गुणों के कारण उन्होंने महर्षि का पद प्राप्त किया था। सनातनियों की ओर से इस शास्त्रार्थ में पण्डित मुंशीराम थे, और आर्यसमाज की ओर से पण्डित ब्रह्मानन्द। विजय आर्यसमाज की हुई, जिसके कारण हरयाणा में ऊँच-नीच तथा छुआछूत के भेदभाव को मिटाने में बहुत सहायता मिली। हरयाणा में 'रोढा' नाम का एक नास्तिक पन्थ था। रोहतक जिले के सामान गाँव में बहुत से रोढों का

निवास था, जिनमें दाताराम रोढा बहुत कुतर्की था। वह अपने क्षेत्र में आर्यसमाज की जड़ नहीं जमने देता था। पण्डित बस्तीराम वहाँ प्रचार के लिए गये और उन्होंने दाताराम से शास्त्रार्थ किया, जिसमें परास्त होकर उसने वैदिक धर्म को स्वीकार कर लिया। आर्यसमाजियों को चिढ़ाने के लिए दाताराम ने अपने लड़के का नाम विरजानन्द रखा हुआ था। वह भी वैदिक धर्म का अनुयायी बन गया। सामान गाँव में आर्यसमाज की स्थापना हुई, और वहाँ के निवासियों ने रोढा मत का परित्याग कर यज्ञोपवीत धारण कर लिये। खाँडा खेड़ी नामक एक गाँव में भी जाटों को यज्ञोपवीत देने के प्रश्न पर संघर्ष हुआ। वहाँ के बहुत-से जाट सनातनी ब्राह्मणों के प्रभाव में थे और यज्ञोपवीत धारण करने के विरोधी थे। पर वहाँ ऐसे जाटों की भी कमी नहीं थी, जो आर्यसमाज की शिक्षाओं से प्रभावित थे। जाट लोग यज्ञोपवीत के अधिकारी हैं या नहीं, इस प्रश्न पर सन् १६०३ में खाँडा खेड़ी में शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया। समीप के नारनौंद, बांस और पेटवाड़ आदि गाँवों के लोग भी हजारों की संख्या में शास्त्रार्थ सुनने के लिए वहाँ आ गये। सनातनी ब्राह्मणों के उकसाने पर कितने ही जाट लाठियाँ और गंडासे लेकर वहाँ आ पहुँचे। उनका इरादा शास्त्रार्थ को बलपूर्वक रोकने का था। पर इस अवसर पर दो युवकों ने अनुपम साहस प्रदर्शित किया। वे पहले रोढापन्थी थे, पर आर्यसमाज के प्रचार के कारण वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये थे। शास्त्रार्थ चौपाल में हो रहा था। वे दोनों चौपाल के द्वार पर खड़े हो गये, और उन्होंने विपक्षियों को गड़बड़ नहीं करने दी। आर्यसमाज की ओर से इस शास्त्रार्थ में प्रधान वक्ता पण्डित आर्यमुनि थे, जो उन दिनों पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की सर्विस में थे। शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय हुई, जिससे बौखला कर खाँडा खेड़ी के ब्राह्मणों ने आर्यसमाजी जाटों का बहिष्कार कर दिया, और उनके संस्कार आदि न कराने की प्रतिज्ञा की। पर इससे आर्यसमाजी जाट घबराये नहीं। उन्होंने पाई गाँव के हरिशरण नामक ब्राह्मण को अपने गाँव में बसा लिया। वह वैदिक विधि से ग्रामवासियों के सब संस्कार सुचारु रूप से कराता रहा। इसके बाद खाँडा खेड़ी और समीप के देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म का खूब प्रचार हुआ, और आर्यसमाज की धाक जम गयी। गौरक्षा और जाट आदि जातियों के लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराने के प्रश्नों को आधार बनाकर महर्षि के देहावसान के पश्चात् के दो दशकों में हरयाणा में वैदिक धर्म का जिस ढंग से प्रचार हुआ, उसे स्पष्ट करने के लिए ये कतिपय उदाहरण पर्याप्त हैं।

(२) हरयाणा में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार

हरयाणा में आर्यसमाज की शक्ति के विस्तार का विवरण देने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति एवं मांस-भक्षण के प्रश्नों को लेकर जिस ढंग की दलबन्दी पंजाब के आर्यसमाजियों में प्रादुर्भूत हो गयी थी वैसी हरयाणा में नहीं हुई। इस प्रदेश में दोनों पार्टियों द्वारा आर्यसमाजों की स्थापना की गयी, जिनमें से कुछ पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे, और कुछ आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के साथ। पर दोनों दलों के इन आर्यसमाजियों में उस प्रकार की कटुता व विरोधभाव का प्रायः अभाव रहा, जैसाकि पंजाब के आर्यों में था। ऐसे उदाहरण भी विद्यमान हैं, जबकि हरयाणा के दोनों दलों के आर्यसमाज परस्पर सहयोग से काम करते रहे।

महर्षि के देहावसान के बाद के वर्षों में हरयाणा के अम्बाला, रोपड़, हिसार,

पलवल, कैथल, रेय्या, जींद, सींख पाथरी (जिला करनाल), जगाधरी (अम्बाला), खाँडा खेड़ी (जिला हिसार), नारनौद (हिसार), मिलकपुर (हिसार), झज्झर, हथीन (गुड़गांवा) और बल्लभगढ़ में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। ये सब समाज उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही स्थापित हो चुके थे। इनमें यदि महर्षि के जीवनकाल में स्थापित समाजों (रोहतक, रिवाड़ी, पानीपत, करनाल और कालका) को भी गिन लिया जाए, तो सन् १९०० तक हरयाणा में आर्यसमाजों की संख्या २० तक पहुँच गयी थी। इनमें से कुछ ही समाजों की स्थापना के सम्बन्ध में विवरण उपलब्ध हैं। जगाधरी आर्यसमाज की स्थापना में पण्डित लेखराम का विशेष कर्तृत्व था। वह सन् १८८६ में जगाधरी गये थे, और एक कमरा किराये पर लेकर रहने लगे थे। आर्यसमाज का प्रचार करते हुए एक दिन जब उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, तो कुछ लोग भड़क गये और उन्होंने गुण्डों द्वारा उनकी पगड़ी उछलवा कर भट्टी में जला दी। चौधरी गंगाराम द्वारा एक पण्डित का यह अपमान देखा नहीं गया। वह लेखरामजी को अपनी चौपाल पर ले गये, और वहीं उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर दी। इस प्रकार जगाधरी में आर्यसमाज स्थापित हुआ। कैथल में पण्डित आत्माराम और स्वामी भास्करानन्द ने वैदिक धर्म का प्रचार किया था, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८९७ में वहाँ गौशाला की स्थापना हुई और दो वर्ष बाद १८९९ में आर्यसमाज की। हिसार शहर में आर्यसमाज की स्थापना का श्रेय लाला लाजपत राय को प्राप्त है और उस जिले के खाँडा खेड़ी, नारनौद और मिलकपुर गाँवों में भी उन्हीं के पुरुषार्थ से समाज स्थापित हुए थे। हिसार जिले में वैदिक धर्म के प्रचार और समाजों की स्थापना में महात्मा हंसराज और डॉक्टर रामजीलाल लाला लाजपत राय के प्रधान सहयोगी थे। इस क्षेत्र में आर्यसमाजों की स्थापना के सम्बन्ध में लालाजी के 'आत्मचरित्र' में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें दी गयी हैं, जिनको यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा। लाला लाजपत राय सन् १८८२ के दिसम्बर मास में लाहौर आर्य-समाज के सदस्य बने थे। महर्षि के देहावसान पर शोक प्रकट करने के लिए १ नवम्बर, १८८३ को लाहौर में जो सार्वजनिक सभा हुई, लालाजी उसमें मुख्य वक्ता थे। सन् १८८३ के अन्तिम सप्ताह में परोपकारिणी सभा द्वारा आर्यसमाज के पदाधिकारियों की जो सभा अजमेर में आयोजित की गयी थी, उसमें लाजपतरायजी के पिता लाला राधा-कृष्ण भी रोहतक आर्यसमाज की ओर से सम्मिलित हुए थे। वह उस समय आर्यसमाज के सक्रिय सभासद् थे। सन् १८८४ में जब लाला लाजपत राय वकालत के अध्ययन के लिए रोहतक अपने पिता के पास गये, तो वहाँ आर्यसमाज विद्यमान था। महर्षि के जीवनकाल में ही रोहतक में समाज स्थापित हो गया था। लालाजी रोहतक आर्यसमाज के सक्रिय कार्यकर्ता हो गये, और उसके मन्त्री चुन लिये गये। वकालत पास कर वह सन् १८८६ में हिसार चले आए, और वहाँ उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। सन् १८८६ से १८९२ तक वह हिसार में रहे और वकालत के साथ-साथ अपने समय का उपयोग उन्होंने वहाँ तथा जिले के विविध ग्रामों में वैदिक धर्म के प्रचार एवं आर्यसमाजों की स्थापना के लिए किया। वहाँ इस कार्य में उनके प्रधान सहयोगी लाला चन्दूलाल, पण्डित लखपतराय तथा डॉक्टर रामजीलाल थे। लाला चन्दूलाल हिसार के सम्पन्न व प्रतिष्ठित रईस थे। जन्म से वह वैश्य अग्रवाल थे। अत्यन्त धनी होते हुए भी उनमें अभिमान का लेश भी नहीं था, और वह सदा दूसरों की सहायता व सेवा के लिए तत्पर रहते थे।

रोगियों को वह बिना मूल्य औषधि दिलवाते थे, और दिन हो या रात, असहायों को सहारा देने के लिए उद्यत रहते थे। सब कोई उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके दादा लाला रामजीदास भी प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। यद्यपि वह आर्यसमाजी नहीं थे, पर मूर्तिपूजा पर उनका विश्वास नहीं था और वह समाज सुधार के पक्षपाती थे। लाला चन्दूमल ने उनके ये गुण विरासत में प्राप्त किये थे। लाला लाजपत राय के प्रयत्न से जब हिसार में आर्यसमाज स्थापित हुआ, तो उसके प्रथम प्रधान लाला चन्दूमल को बनाया गया और वह स्वयं उसके मन्त्री बने। बीस वर्ष से भी अधिक समय तक लाला चन्दूमल हिसार आर्यसमाज के प्रधान रहे, और तन, मन, धन से उसकी सेवा करते रहे। हिसार और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसका बहुत कुछ श्रेय लाला चन्दूलाल को दिया जाना चाहिये। लाला लाजपत राय के शब्दों में, "हिन्दुओं की भावी सन्ततियाँ जब कभी उन महापुरुषों की यादगार में कोई मन्दिर बनाएँगी जो उन्नीसवीं सदी में उनके रक्षक थे और जिनके उच्च चरित्र एवं कुर्बानियों के द्वारा हिन्दुओं को प्राचीन काल से प्राप्त विरासत की न केवल रक्षा ही हुई, अपितु वृद्धि भी हुई, और जिनके हृदय स्वजाति व मातृभूमि के लिए समर्पित थे, तो उन महापुरुषों में लाला चन्दूलाल अवश्य ही सम्मानास्पद स्थान प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।" हिसार आर्यसमाज के एक अन्य नेता व कार्यकर्ता पण्डित लखपतराय थे। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया, उसके सम्बन्ध में लाला लाजपत राय ने अपने आत्मचरित में लिखा है, कि "आर्यसमाज के इतिहास में उनका नाम सदा अमर रहेगा। उनका कार्य इतने उच्च आदर्शों से प्रेरित था और उसे वह इतनी तत्परता के साथ सम्पन्न करते रहे, कि मेरी सम्मति में प्रत्येक आर्य युवक को उनका चित्र सदा अपने गले से लटकाये रखना चाहिये, ताकि उनके त्याग, निरभिमानता तथा निःस्वार्थ भावना से सदा प्रेरणा प्राप्त होती रहे। यद्यपि मैं मूर्तिपूजक नहीं हूँ, तथापि मेरा विचार है कि यदि भावी सन्ततियाँ आर्यसमाज के क्षेत्र में किन्हीं व्यक्तियों की मूर्ति बनाकर पूजा के लिए प्रयुक्त करना चाहें तो ऐसे व्यक्तियों में पण्डित लखपतराय का स्थान बहुत ऊँचा होगा।" पण्डितजी अत्यन्त सरल प्रकृति के पुरुष थे। उन्हें समाज सेवा की सच्ची लगन थी। उन्होंने नाम और कीर्ति की कभी परवाह नहीं की। उनके छोटे भाई डॉक्टर धनीराम का भी हिसार आर्यसमाज की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान था। वह संस्कृत के भी पण्डित थे। उनकी विद्वत्ता के कारण आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में बहुत सहायता मिली।

पर हरयाणा प्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार में जिस सज्जन का कर्तृत्त्व सर्वाधिक था, लाला लाजपत राय के अनुसार वह डा० रामजीलाल थे। उनका जन्म एक जाट परिवार में हुआ था। वह साँघी ग्राम (जिला रोहतक) के निवासी थे, पर उनका कार्यक्षेत्र हिसार था। अंग्रेजी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लालाजी के शब्दों में, "मैंने ऐसा कोई अन्य अंग्रेजीदाँ भारतीय नहीं देखा जो अपनी बिरादरी के लोगों के साथ बिना किसी भेदभाव के इस प्रकार मिलेजुले।" साधारणतया, जो व्यक्ति अंग्रेजी पढ़-लिख जाते हैं, वे अपनी बिरादरी के अशिक्षित लोगों के साथ उठने-बैठने में संकोच करने लगते हैं। पर डा० रामजीलाल में यह बात नहीं थी। वह गाँव के भोले-भाले निरक्षर लोगों से घुल-मिलकर रहते, और उनमें आर्यसमाज का प्रचार किया करते। हिसार का उनका मकान जिले भर के जाटों के लिए चौपाल का काम किया करता था। वहाँ वह

सबके साथ बैठकर हुक्का पीते, और सबके साथ भोजन किया करते थे। वह कुशल चिकित्सक थे, और दूर-दूर से लोग इलाज के लिए उनके पास आया करते थे। उनके सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, सरल जीवन और उच्च विचारों के कारण उनके मरीज भी वैदिक धर्म के प्रति आकर्षण अनुभव करने लगते थे, और आर्यसमाज के सदस्य बन जाते थे। उनसे प्रभावित होकर ही खाँडा खेड़ी गाँव के जेलदार राजमल और चौधरी ऊदराम ने जाटों में सर्वप्रथम यज्ञोपवीत धारण किया था। बाद में उनकी देखादेखी नारनौंद के चौधरी फतहसिंह और मिलकपुर के चौधरी गंगाराम आदि ने भी यज्ञोपवीत पहने। शीघ्र ही, इन गाँवों में आर्यसमाज भी स्थापित हो गये। हिसार जिले के इन गाँवों में आर्यसमाजों की स्थापना डा० रामजीलाल, लाला लाजपत राय और पण्डित लखपतराय के प्रयत्न से हुई थी। जाटों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार है या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए खाँडा खेड़ी में जो पंचायत हुई थी, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। इस पंचायत में आर्यसमाज की जो विजय हुई थी, उसके कारण हरयाणा में सर्वत्र वैदिक धर्म की धाक जम गयी थी।

आर्यसमाज के प्रचार के प्रारम्भिक वर्षों में पण्डित लखपतराय और डा० रामजीलाल अनेक अन्य आर्य कार्यकर्ताओं के साथ ऊँटगाड़ी पर बैठकर देहातों में प्रचार के लिए जाया करते थे। जहाँ कहीं आर्यसमाज का उत्सव होता, लाला चन्दूलाल की ओर से सबके लिए भोजन की व्यवस्था की जाती। लाला लाजपत राय सन् १८८६ से १८९२ तक हिसार में रहे थे। हिसार, खाँडा खेड़ी, नारनौंद और मिलकपुर में इसी काल में आर्यसमाज स्थापित हुए थे। हरयाणा के जिन अन्य नगरों व ग्रामों में उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, उनके सम्बन्ध में भी कुछ बातें ज्ञात हैं। गुड़गाँवा जिले के हथीन ग्राम में चौधरी रणजीतसिंह और लाला दुनीचन्द के प्रयत्न से सन् १८९० में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। बाद में वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से पण्डित भोजराजेश्वर आदि उपदेशक प्रचारार्थ आने लगे, और हथीन वैदिक धर्म के प्रसार का अच्छा केन्द्र बन गया। हिसार जिले में सिरसा नामक एक नगर है। लाला लाजपत राय के हिसार से जाने के कुछ समय बाद सन् १८९२ में वहाँ भी आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसके लिए लाला शिवनारायण, लाला केशोराम और मास्टर शिवजीराम ने विशेष पुरुषार्थ किया था। उन्होंने वहाँ समाज मन्दिर के लिए जमीन खरीदकर भवन का निर्माण भी प्रारम्भ करा दिया था। सिरसा समाज द्वारा शुरू से ही उपदेशक रखकर प्रचार का कार्य कराया गया, और सनातनी पण्डितों से अनेक बार शास्त्रार्थ भी किये गये। एक शास्त्रार्थ के लिए आर्यसमाज ने पण्डित गणपति शर्मा को भी सिरसा निमन्त्रित किया था। सिरसा नगरी बीकानेर रियासत की सीमा से अधिक दूर नहीं है। वहाँ गूगा चौहान की समाधि पर हर साल मेला लगता है। सिरसा समाज द्वारा इस मेले पर वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबन्ध किया जाता था। अम्बाला जिले में रोपड़ में भी सन् १८९२ में लाला सोमनाथ के प्रयत्न से आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। रोपड़ के क्षेत्र में रेहतियों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। उनकी शुद्धि के लिए रोपड़ समाज द्वारा जो कार्य किया गया, उसका उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया गया है। सन् १८८५ में झज्झर में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी और सन् १८९४ में थानेसर में। थानेसर समाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में लाला काकाराम

रईस और लाला भागीरथमल के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद में इसी समाज के पुरुषार्थ से कुरुक्षेत्र गुरुकुल स्थापित हुआ, जिसके लिए लाला ज्योतिप्रसाद अग्रवाल ने पन्द्रह सौ बीघे भूमि और दस हजार रुपये नकद प्रदान किये थे। लाला भागीरथमल ने भी इस गुरुकुल के लिए अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी थी। सन् १८८९ में जिला रोहतक के रैय्या कस्बे में आर्यसमाज कायम हुआ, और सन् १८९१ में अम्बाला छावनी में। इस समाज के प्रथम प्रधान सरदार कालासिंह थे। बाद में श्री गुरदयालसिंह ने अम्बाला छावनी आर्यसमाज की उन्नति के लिए बहुत कार्य किया। बल्लभगढ़(जिला गुड़गाँवा) में सन् १८८६ में, पलवल (गुड़गाँवा) में सन् १८९८ में और जींद में १८९८ में आर्यसमाज स्थापित हुए। बल्लभगढ़ में सनातनियों, जैनियों और मुसलमानों से आर्यसमाज के अनेक शास्त्रार्थ हुए, जिनके कारण उस क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता प्राप्त हुई, और वह आर्यसमाज का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। जीन्द में आर्यसमाज की स्थापना भगवान् नामक एक उत्साही कार्यकर्ता के पुरुषार्थ से हुई थी। प्रारम्भ में समाज का अपना भवन नहीं था, साप्ताहिक अधिवेशन तथा अन्य सब कार्य लाला चन्दूमल के मकान पर हुआ करते थे। सन् १८८३ से १९०० तक के १३ वर्षों में हरयाणा में जो बहुत-से आर्यसमाज स्थापित हुए थे, उनमें से उपरिलिखित १५ समाजों के सम्बन्ध में ही कुछ बातें अब तक ज्ञात हो सकी हैं। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में हरयाणा में आर्यसमाजों के बढ़ते कदमों का सही अनुमान नये स्थापित हुए समाजों की संख्या से नहीं लगाया जा सकता। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य द्वारा हरयाणा के देहाती क्षेत्रों में जो जागृति उत्पन्न की जा रही थी, उसके परिणामस्वरूप सामाजिक ऊँच-नीच के भेदभाव दूर हो रहे थे, और लोगों के हृदयों में बद्धमूल संकीर्ण धारणाओं का स्थान युक्तिसंगत मन्तव्यों ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। हिसार आर्यसमाज के कार्यकलाप का विवेचन करते हुए लाला लाजपत राय ने ठीक ही लिखा है, कि "हिसार का समाज उन आर्यसमाजों में एक है, जिन्होंने कि इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था, कि सुधार का कार्य तब तक स्थायी नहीं हो सकता जब तक कि सम्भ्रान्त वर्ग और सर्वसाधारण जनता के बीच की खाई को पाट न दिया जाए और दोनों वर्गों में परस्पर सहानुभूति प्रादुर्भूत न कर दी जाए। इस क्षेत्र में हिसार आर्यसमाज ने बहुत क्रियात्मक कार्य किया है।" यह बात केवल हिसार आर्यसमाज के सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु हरयाणा के अन्य समाजों के विषय में भी पूर्णतया सत्य है। हरयाणा में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को जो भी अनुपम सफलता प्राप्त हुई, उसका महत्त्वपूर्ण कारण यही था, कि वहाँ के आर्य प्रचारकों ने जाट, अहीर आदि जातियों के सर्वसाधारण लोगों को 'द्विज' मानकर यज्ञोपवीत धारण कराए और जन्म या कुल के कारण उनकी स्थिति को ब्राह्मणों व अन्य 'द्विज' जातियों से किसी भी प्रकार हीन नहीं माना। विविध जातियों के लोगों में परस्पर समता की भावना और उनमें सौहार्द्र प्रादुर्भूत करने में समर्थ होने के कारण ही वहाँ आर्यसमाज की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हुई, और हरयाणा 'आर्य राज्य' कहा सकने योग्य हो सका। पण्डित शम्भूदत्त और पण्डित बस्तीराम जैसे ब्राह्मण, भक्त फूलसिंह और डा० रामजीलाल जैसे जाट, लाला लाजपत राय और सेठ चन्दूलाल जैसे अग्रवाल वैश्य तथा पण्डित ब्रह्मानन्द जैसे जाति से कायस्थ लोग वहाँ कंधे से कंधा मिलाकर और अपने जातिगत भेदभावों को

भुलाकर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर थे, और उनके प्रयत्न से वहाँ एक ढंग की सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी थी।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हरयाणा में आर्यसमाजों की स्थापना के विवरण को समाप्त करने से पूर्व सींख पाथरी नामक गाँव में समाज के स्थापित होने का उल्लेख कर देना आवश्यक है। पानीपत के समीपवर्ती क्षेत्र में उस समय मुगला डाकू का बहुत आतंक था। वह जब एक स्थान पर डाका डालने गया, तो उसे मालूम हुआ कि जिनके घर वह डाका डालने आया था, वे पानीपत आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर व्याख्यान सुनने गये हुए हैं। उसने सोचा, जब वे लोग वार्षिकोत्सव से वापस लौटकर आ रहे हों, तभी रास्ते में उन्हें लूट लिया जाए। उनकी प्रतीक्षा में मुगला डाकू भी व्याख्यान सुनने लगा; जिसे सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने डकैती डालना बन्द कर दिया, और वैदिक धर्म का अनुयायी होकर उसने अपने गाँव सींख पाथरी में आर्यसमाज की स्थापना कर दी।

(३) बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हरयाणा में आर्यसमाज की प्रगति

महर्षि के देहावसान के पश्चात सन् १८८३ में हरयाणा के नगरों तथा ग्रामों में नये आर्यसमाज स्थापित होने का जो सिलसिला शुरू हुआ था, और जिसके कारण सन् १६०० तक वहाँ १५ नये समाजों की सुनिश्चित रूप से स्थापना हो गयी थी, बीसवीं सदी में भी वह जारी रहा और उसकी गति में निरन्तर वृद्धि होती गयी। १६०१ से १६०६ तक स्थापित हुए हरयाणा के आर्यसमाजों के सम्बन्ध में जो जानकारी उपलब्ध की जा सकी है, उसके अनुसार सन् १६०१ में इक्कस (जिला जींद), सोहना (जिला गुड़गाँवा), सोनीपत और गुड़गाँवा छावनी में आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। सोनीपत में आर्यसमाज की स्थापना का श्रेय डॉक्टर महाराजकृष्ण को प्राप्त है। जब तक वह सोनीपत रहे (बाद में वह दिल्ली चले गये थे), समाज का कार्य भली-भाँति चलता रहा। गुड़गाँवा छावनी के आर्यसमाज की स्थापना में श्री चन्दूलाल वकील का और सोहना में चौधरी भरतसिंह का मुख्य कर्तृत्व था। सन् १६०१ के लगभग ही कोमली (जिला रोहतक) में समाज स्थापित हुआ था। उसके प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में चौधरी हरदेव-वक्ष मुख्य थे। पण्डित बस्तीराम वहाँ प्रायः प्रचार के लिए जाते रहते थे। सन् १६०५ में पौराणिक पण्डितों के साथ एक शास्त्रार्थ भी वहाँ हुआ था। मुसलिम परिवारों को शुद्ध कर वैदिक धर्म का अनुयायी बनाने में भी यह समाज प्रयत्नशील रहा। गुड़गाँवा जिले के बहूड़ा गाँव में सन् १६०३ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। बाद में वहाँ वैदिक कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी, और बहुत-से चमारों को शुद्ध कर यज्ञोपवीत धारण कराया गया। श्री लालाराम के पुरुषार्थ से जून, १६०३ में रादौर (जिला करनाल) में जो आर्यसमाज स्थापित हुआ, वह प्रारम्भ से ही अत्यन्त सक्रिय रहा। पण्डित गंगादत्त के व्याख्यानों के कारण रादौर के पौराणिकों और मुसलमानों में खलबली मच गयी थी, और वे आर्यसमाज का विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो गये थे। उनके विरोध ने तब अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया, जबकि लाला शाकम्भरीदास की प्रेरणा से एक मुसलमान को शुद्ध कर हिन्दू (आर्य) बना लिया गया। इस शुद्धि-संस्कार को देखने के लिए बहुत लोग आये थे। जिन सज्जनों ने इस शुद्ध हुए आर्य के हाथ से मिठाई खाई,

उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया और उन्हें कुओं से पानी तक भरने नहीं दिया गया। पर आर्य लोग अपने विचार पर दृढ़ रहे। श्री शाकम्भरीदास सरकारी सर्विस में कानूनगो के पद पर थे। विरोधियों ने उनकी शिकायत की, और उनकी तबदीली करा दी गयी। धीरे-धीरे रादौर में आर्यसमाज का विरोध कम होता गया और वहाँ के आर्यसमाजी अछूतों तथा ईसाइयों की शुद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे। उनके प्रचार के कारण बहुत-से रहतियों तथा ईसाइयों को आर्य बना लिया गया। बाद में वहाँ 'अछूतोद्धार देव नागरी पाठशाला' भी खोल दी गयी। हिसार जिले के रोहिड़ावाली ग्राम में सन् १९०५ में आर्यसमाज के बीजारोपण का उल्लेख मिलता है। वहाँ चौधरी मोतीसिंह ने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था। शीघ्र ही, मुंशी कृष्णचन्द आदि अनेक सज्जन इस कार्य में उनके सहयोगी हो गये और समीप के ग्रामों में भी प्रचार का कार्य शुरू कर दिया गया।

सन् १९०२ में महात्मा मुंशीराम काँगड़ी गाँव में गुरुकुल की स्थापना कर चुके थे। वह समय-समय पर आर्यसमाजों में प्रचार के लिए भी जाया करते थे, और गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को लोकप्रिय बनाने के लिए भी भ्रमण करते रहते थे। हरयाणा के लोगों में यह शिक्षा प्रणाली बहुत लोकप्रिय हुई, और महात्माजी का इस प्रदेश के साथ सम्पर्क निरन्तर बढ़ता गया। उन्हीं के प्रचार-कार्य के परिणामस्वरूप एवं उन्हीं द्वारा सन् १९०५ में फरमाणा (जिला रोहतक) में आर्यसमाज स्थापित हुआ, और सन १९०६ में दिसौर खेड़ी (रोहतक) में। सन् १९०१ से १९०९ तक के काल में बामला (भिवानी), सालवान (करनाल), अनदाणां (जींद), ठोल (करनाल) और खटकड़ में भी आर्यसमाज स्थापित हो गये थे।

सन् १९०९ के बाद हरयाणा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में बहुत तेजी आयी। इसका कारण यह था कि इस समय से पण्डित ब्रह्मानन्द ने इस प्रदेश को अपना मुख्य कार्यक्षेत्र बना लिया था। ब्रह्मानन्दजी का जन्म बिहार के आरा जिले में सन् १८६८ में हुआ था। आरा के हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने का अवसर मिला, जिससे वह सुदृढ़ आर्यसमाजी बन गये। कुछ वर्षों तक उन्होंने बिहार और कलकत्ता में कार्य किया, और वहाँ से प्रकाशित होने वाले 'आर्यावर्त्त' तथा 'भारतमित्र' पत्रों के सम्पादन में हाथ बटाया। फिर वह अजमेर चले गये, और वहाँ वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक रहे। सन् १९०६ में महात्मा मुंशीराम ने जालन्धर से प्रकाशित होने वाले अपने उर्दू के समाचार-पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को हिन्दी में प्रकाशित करने का निश्चय किया और उसे वह हरिद्वार (गुरुकुल काँगड़ी) ले आए। सद्धर्म प्रचारक को हिन्दी में सम्पादित करने के लिए महात्माजी ने पण्डित ब्रह्मानन्द को अपना सहायक नियुक्त किया। जब इस पत्र को हरिद्वार से दिल्ली ले आया गया, तो ब्रह्मानन्दजी भी वहीं आ गये और पत्र के सम्पादन के साथ-साथ वैदिक धर्म के प्रचार के लिए समीपवर्ती नगरों में भी जाने लगे। यही समय था, जब राजद्रोह के अभियोग में पंजाब के अनेक आर्यसमाजी नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया जा रहा था और लाला लाजपत राय भी बन्दी बना लिये गये थे। इससे हरयाणा के आर्यसमाजियों में बहुत असन्तोष था। सरकार इस असन्तोष को भी राजद्रोह समझती थी और उसने रोहतक आदि के आर्यों को भी तंग करना शुरू कर दिया था। इस दशा में वहाँ के अनेक आर्य

सज्जन महात्मा मुंशीराम से मिले और उनके सम्मुख अपनी समस्या प्रस्तुत की। इसपर महात्माजी ने पण्डित ब्रह्मानन्द को रोहतक भेजा, और वह वहाँ आर्यसमाज में नये उत्साह का संचार करने तथा वैदिक धर्म के प्रचार में व्यापृत हो गये। पण्डित ब्रह्मानन्द ने तीन वर्ष के लगभग गुरुकुल काँगड़ी की ओर से और फिर बारह वर्ष पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से हरयाणा में वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्हें हरयाणा में वेद-प्रचार विभाग का अधिष्ठाता भी नियुक्त कर दिया गया। कुछ समय पश्चात् जब भैंसवाल और झज्झर में गुरुकुलों की स्थापना हुई, तो ब्रह्मानन्दजी ने उनके आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता के रूप में भी कार्य किया। सन् १९२५ में उन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली, और वह 'स्वामी ब्रह्मानन्द' बन गये। सन् १९४८ में उनका देहावसान हुआ। पण्डित (स्वामी) ब्रह्मानन्द का कार्यक्षेत्र मुख्यतया हरयाणा में रहा, और उनके प्रयत्न से इस प्रदेश में वैदिक धर्म का बहुत प्रचार हुआ। कहा जाता है कि उन्होंने दस हजार के लगभग नये आर्यसमाजी बनाये। हरयाणा के लोग उन्हें अपना गुरु मानते थे। भक्त फूलसिंह और उनकी पत्नी धूपांदेवी ने उन्हीं से वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा ली थी।

सन् १९१० से १९४६ तक हरयाणा में बहुत-से नये आर्यसमाज स्थापित हुए। सन् १९३५ में हरयाणा के जो आर्यसमाज पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे, उनकी संख्या ५९ थी। वहाँ के बहुत-से आर्यसमाज ऐसे भी थे, जिनका सम्बन्ध आर्य प्रादेशिक सभा के साथ था। इस प्रकार आधी सदी से भी कम समय में हरयाणा के आर्य-समाजों की संख्या एक सौ के लगभग हो गयी थी। वर्तमान समय में तो वहाँ सात सौ से भी अधिक आर्यसमाज विद्यमान हैं। पर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भी वहाँ आर्यसमाजों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। जो नये समाज इस काल (१९१०-४६) में स्थापित हुए, प्राप्त विवरणों के अनुसार सन् १९११ में महेन्द्रगढ़, घिलौड़ और लाडवा (करनाल) में, सन् १९१३ में बेरी और भिवानी में, सन् १९१५ में जसौरखेड़ी और बहादुरगढ़ में, सन् १९१७ में कोककलाँ (रोहतक) और बालन्द में, सन् १९२९ में घामड में, सन् १९२२ में खारवन (अम्बाला) में, सन् १९२४ में मवाना (रोहतक) में, सन् १९२६ में जगराणा में, सन् १९२८ में बालसमन्द में, सन् १९३० में फिरोजपुर झिरका, नया बाँस (रोहतक), चीमनी, निडाना और कालांवाली में, सन् १९३९ में फतहपुर बिलोच में, सन् १९३२ में मदीना वांझी में, और सन् १९४५ में कासनी में आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी।

इस प्रसंग में यह लिख देना आवश्यक है कि ऊपर जिन समाजों का उल्लेख किया गया है, वे सब पंजाब प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। गुरुकुल पार्टी की प्रतिनिधि सभा का प्रधान क्षेत्र रोहतक था और कॉलिज पार्टी की आर्य प्रादेशिक सभा का हिसार। इनके अतिरिक्त करनाल, अम्बाला तथा जींद जिलों में भी प्रादेशिक सभा के साथ सम्बद्ध बहुत-से आर्यसमाज स्थापित हुए थे। गुरुकुल पार्टी के समाजों की सत्ता हरयाणा के सभी जिलों में थी। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यसमाजियों की जिस ढंग की दलबन्दी पंजाब में थी, वैसी हरयाणा में नहीं थी। वहाँ दोनों दलों में विरोध-भाव भी अधिक नहीं था। प्रतिनिधि सभा और प्रादेशिक सभा—दोनों के ही प्रचारक हरयाणा में वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर थे। उन द्वारा जो समाज स्थापित किया जाता, वह उसी सभा के साथ सम्बद्ध हो जाता, जिसके प्रचारकों या नेताओं के पुरुषार्थ से उसकी स्थापना की गयी हो।

हरयाणा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में कुछ बातें उल्लेख के योग्य हैं। पानीपत समाज के वार्षिकोत्सव पर व्याख्यान सुनकर मुगला डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। ऐसी ही एक घटना से रोहतक में आर्यसमाज का उत्कर्ष हुआ था। कहा जाता है कि चौधरी पीरूसिंह, लाला इच्छाराम (प्रो० रामसिंह के पिता) और उनका एक अन्य साथी डाका डालने के लिए जा रहे थे। पर जिस सेठ को वे लूटना चाहते थे, वह घर पर नहीं मिला। पूछताछ करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह सेठ दर्शनानन्द नाम के एक आर्यसमाजी साधु का व्याख्यान सुनने गया है। चौधरी पीरूसिंह आदि ने विचार किया कि हम भी व्याख्यान में जा बैठें, और व्याख्यान की समाप्ति पर ज्यों ही वह सेठ घर जाने लगे, उसे रास्ते में दबोच लिया जाए। पर स्वामी दर्शनानन्द के व्याख्यान का उन पर इतना प्रभाव पड़ा, कि सेठ के बजाय वे स्वामीजी को ही अपने साथ जंगल में ले गये, और उनसे उपदेश देने का अनुरोध किया। स्वामीजी के उपदेश से उन्होंने डकैती का विचार छोड़ दिया और यज्ञोपवीत धारण कर आर्यसमाजी बन गये।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिन महानुभावों के पुरुषार्थ से हरयाणा में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार विशेष रूप से हुआ, उनमें पण्डित बस्तीराम और पण्डित ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त भक्त फूलसिंह और स्वामी स्वतन्त्रानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल विद्यापीठ हरयाणा, भैंसवाल की स्थापना के कारण भक्त फूलसिंहजी का नाम अमर हो गया है। पर उनका कार्य केवल गुरुकुल की स्थापना तक ही सीमित नहीं था। उनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। दलितोद्धार, गौरक्षा, विधर्मियों की शुद्धि आदि सभी कार्य उन द्वारा किये गये। आर्यसमाज द्वारा संचालित हैदराबाद सत्याग्रह आदि सभी संघर्षों में उन्होंने न केवल भाग ही लिया, अपितु हरयाणा के सत्याग्रहियों का संगठन व नेतृत्व भी किया। क्योंकि भक्तजी के जीवन का सर्वप्रधान तथा सबसे महत्त्व का कार्य गुरुकुल भैंसवाल की स्थापना करना था; अतः उनका जीवन-परिचय इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में दिया गया है। हरयाणा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती का कर्तृत्व भी महत्त्व का है। स्वामीजी केवल हरयाणा के ही नहीं, अपितु सार्वभौम आर्य नेता थे। देश-विदेश में सर्वत्र उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए परिभ्रमण किया और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर कितने ही महानुभावों ने अपने को आर्यसमाज के लिए समर्पित कर दिया। हरयाणा आर्यसमाज के साथ उनका प्रथम निकट सम्पर्क सिरसा समाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर हुआ था। प्रारम्भ में उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया हरयाणा में ही रहा। करनाल जिले के सम्भालका क्षेत्र में जब बूचड़खाना खोले जाने का निश्चय हुआ, तो आर्यसमाज ने उसका विरोध किया। विरोध के इस आन्दोलन में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने भक्त फूलसिंह और चौधरी पीरूसिंह के साथ मिलकर कार्य किया। हरयाणा के आर्यसमाजियों के साथ काम करते हुए स्वामीजी का यह विचार बना कि इस प्रदेश के लोगों की मनोवृत्ति आर्यसमाज के अत्यधिक अनुकूल है, अतः यदि उनमें वैदिक धर्म के लिए उत्साह प्रादुर्भूत कर दिया जाए तो आर्यसमाज अमर हो जाएगा। इसीलिए उन्होंने हरयाणा में जागृति उत्पन्न करने के लिए अनेक बार वहाँ का भ्रमण किया। उन्हीं की प्रेरणा व कर्तृत्व से रोहतक में दयानन्द मठ की स्थापना हुई (मार्च, १९४८), जो हरयाणा में आर्यसमाज का प्रधान केन्द्र है। क्योंकि स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक

था, अतः उनके व्यक्तित्व व कृतित्व पर हरयाणा के प्रसंग में प्रकाश डालना उपयुक्त नहीं है। उनका विशद परिचय अन्यत्र यथास्थान दिया गया है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हरयाणा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में जिन नर-नारियों का कर्तृत्त्व रहा, उन सबका उल्लेख कर सकना असम्भव है, क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक है। इनमें से कुछ का उल्लेख दलितोद्धार, शुद्धि, गौरक्षा, लोहारू काण्ड, हैदराबाद सत्याग्रह तथा अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विवरण के प्रसंग में आ गया है। जिन आर्यसमाजियों के पुरुषार्थ से हरयाणा में विविध गुरुकुलों, कन्या विद्यालयों, डी. ए. वी. स्कूलों और कॉलिजों तथा अन्य आर्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना हुई, उनका उल्लेख इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में किया गया है। हरयाणा पहले पंजाब के अन्तर्गत था, और वहाँ के बहुसंख्यक आर्यसमाज भी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। यही कारण है, कि पंजाब में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विवरण देते हुए हरयाणा के आर्यसमाजों के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों तथा वहाँ के आर्य प्रचारकों का भी उल्लेख कर दिया गया है। पण्डित हरनामसिंह सदृश जिन प्रचारकों ने हरयाणा में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए अपने जीवन को भी खतरे में डाल दिया था, उनके कर्तृत्त्व पर भी पंजाब विषयक विवरण में प्रकाश डाला जा चुका है।

(४) हरयाणा में आर्यसमाज के मुख्य कार्य एवं कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

जैसाकि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, हरयाणा में आर्यसमाज के कार्य का प्रारम्भ गौरक्षा और जाट आदि जातियों के लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराने के आन्दोलनों के साथ हुआ था। हरयाणा कृषि प्रधान प्रदेश है। वहाँ नगर न संख्या में अधिक हैं, और न उनकी आबादी ही अधिक है। हरयाणा के बहुसंख्यक लोग ग्रामों में निवास करते हैं और खेती द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। खेती के लिए गौधन बहुत उपयोगी होता है, अतः गौरक्षा का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व है। यही कारण है कि हरयाणा के आर्यसमाजी गौहत्या के विरोध में सदा आन्दोलन करते रहे, और गौधन की वृद्धि के लिए उन्होंने गौशालाओं की स्थापना पर भी ध्यान दिया। सन् १९१६ में सम्भालका ग्राम में जब बूचड़खाना खोले जाने का निश्चय हुआ, तो भक्त फूलसिंह ने बुवाना गाँव के लोगों को इकट्ठा किया और उनसे बूचड़खाने के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए धन देने की अपील की। भक्तजी की प्रेरणा से बारह सौ रुपये बुवाना से एकत्र कर लिये गये, जिनका उपयोग हथियार खरीदने के लिए किया गया। बूचड़खाना नहीं खुलने देना है चाहे उसके लिए मार-काट भी क्यों न करनी पड़े, भक्तजी का यही निश्चय था। उन्होंने अपने अनुयायियों को कहला भेजा कि हथियारों से लैस होकर सम्भालका पहुँच जाएँ। जब वहाँ के कसाइयों को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने करनाल के डिप्टी कमिश्नर के पास यह रिपोर्ट भेज दी, कि भक्तजी के नेतृत्व में सम्भालका में विद्रोह होने की पूरी सम्भावना है। डिप्टी कमिश्नर ने स्थिति की गम्भीरता को समझकर यही श्रेयस्कर माना कि बूचड़खाना न खोला जाए। गौरक्षा के लिए हरयाणा में अन्य भी कितने ही प्रयत्न हुए, जिसके कारण यह प्रदेश आज भी घी-दूध के लिए प्रसिद्ध है।

आर्य विद्वान् जाट, अहीर आदि कृषक वर्ग के लोगों को तो यज्ञोपवीत का अधिकारी मानते ही थे, और उन्हें 'द्विज' ही समझते थे, साथ ही उनकी दृष्टि में कोई भी

व्यक्ति जन्म के कारण अछूत नहीं था। इसी कारण उन्होंने अछूतों या दलितों के उद्धार तथा समाज में उन्हें समुचित स्थान दिलाने पर भी विशेष ध्यान दिया। लाला लाजपत राय का कथन था कि आर्यसमाज दलित वर्ग के लोगों को 'द्विज' बनाकर अपने अन्दर सम्मिलित करता है; उन्हें वह यज्ञोपवीत धारण कराता है, गायत्री मन्त्र का उपदेश देता है, यज्ञ-हवन का अनुष्ठान करने का अधिकार प्रदान करता है, और उनके साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध का भी प्रारम्भ करता है। लालाजी का कार्यक्षेत्र हिसार जिले में था। वहाँ उन्होंने दलितोद्धार का जो कार्य शुरू किया था, उसी के परिणामस्वरूप सन् १९१२ से १९२४ तब मण्डी मालियान में १५० के लगभग ऐसे परिवारों को शुद्ध कर समाज में सम्मिलित किया गया, जिन्हें अछूत माना जाता था। लाला प्यारेलाल शोरेवाले, महाशय पारसनाथ और लाला छबीलदास आदि आर्य सज्जनों के नेतृत्व में लोगों ने उनके हाथ का पानी पीकर उनके 'अछूतपन' को सदा के लिए विदा दे दी। मण्डी मालियान के अतिरिक्त सिसाय, सिन्धड़, पपोसा, नारनौद, जमालपुर, गंगनखेड़ी, मिलकपुर, मसूदपुर, और घिराय आदि ग्रामों में भी दलितोद्धार का कार्य हुआ। हरयाणा के प्रायः सभी जिलों में आर्यसमाज द्वारा अछूतों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया जाता रहा।

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में हरयाणा में एक अन्य आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसका उद्देश्य मध्य युग में मुसलमान बने जाटों और राजपूतों को शुद्ध कर हिन्दू बनाना था। विधर्मियों की शुद्धि करने का प्रारम्भ महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही कर दिया गया था। पण्डित लेखराम आदि अन्य नेता भी मुसलमानों और ईसाइयों की शुद्धि के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। पर ये शुद्धियाँ अधिक बड़ी संख्या में नहीं होती थीं। सन् १९२२ में स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) का ध्यान उन राजपूत और जाटों की ओर गया, जिनके पुरखा मुगलों के शासनकाल में किसी प्रलोभन, दबाव या हिन्दू लोगों की संकीर्णता के कारण मुसलमान बन गये थे, और अपनी बिरादरी से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। ऐसे लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। इनके रीति-रिवाज व रहन-सहन आदि अब भी हिन्दुओं के समान थे, और इस्लाम का प्रभाव इनपर नाममात्र को ही था। थोड़े-से प्रयत्न से इन्हें हिन्दू बनाकर राजपूत व जाट बिरादरी में सम्मिलित किया जा सकता था। इसी बात को दृष्टि में रखकर दिसम्बर, १९२२ में शाहपुराधीश की अध्यक्षता में राजपूत सभा ने मुस्लिम हुए राजपूतों की शुद्धि का प्रस्ताव स्वीकृत किया, और फरवरी, १९२३ में आगरा में हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना हुई। इसी समय हरयाणा में उन जाटों को शुद्ध करके हिन्दू बना लेने तथा उनके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर लेने के लिए आन्दोलन शुरू हुआ, जिन्होंने कि मुगल शासन के काल में इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लिया था। मुसलिम जाट इसके लिए उद्यत थे, पर अधिक गम्भीर समस्या जाट बिरादरी की पंचायत द्वारा शुद्ध हुए जाटों के साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध शुरू करने की बात को स्वीकृत किए जाने की थी। भक्त फूलसिंह और उनके साथियों ने इसके लिए बहुत परिश्रम किया। जाटों की अनेक पंचायतों में जाकर उन्होंने शुद्ध हुए मुसलिम जाटों को बिरादरी में मिलाने के लिए प्रेरणा दी। सन् १९२८ की घटना है। गुड़गाँवा जिले के पलवल तथा होडल के कुछ मूले जाटों की शुद्धि की गयी, और उन्हें बिरादरी में शामिल करने के लिए जाटों की पंचायत बुलायी गयी। वहाँ एक जेलदार ने इसका विरोध किया, जिसपर भक्तजी ने ग्यारह दिन का उपवास कर बिरादरी

से अपनी बात मनवा लेने में सफलता प्राप्त की। हरयाणा के आर्यसमाजियों को शुद्धि के लिए बहुत उत्साह था और उनके प्रयत्न से सैकड़ों विधर्मियों ने वैदिक धर्म का अनुयायी होना स्वीकार किया।

हरयाणा में आर्यसमाज के कार्यकलाप का एक महत्त्वपूर्ण अंग गुरुकुलों की स्थापना करना था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षाविषयक जो मन्तव्य प्रतिपादित किए थे, उनके अनुसार शिक्षणालय स्थापित करने का सूत्रपात स्वामी दर्शनानंन्द द्वारा किया गया था, और महात्मा मुंशीराम ने उन्हीं को क्रियान्वित करने के लिए काँगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की थी। पर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) और पंजाब में उतनी लोकप्रिय नहीं हुई, जितनी कि हरयाणा में। इस प्रदेश में बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिए दर्जनों गुरुकुल खुले, जो पठन-पाठन के साथ-साथ वैदिक धर्म के प्रचार के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। हरयाणा के बहुत-से आर्यसमाजी नेता व कार्यकर्ता इन गुरुकुलों के साथ सम्बद्ध थे। इस "इतिहास" के तृतीय भाग में इन गुरुकुलों का पर्याप्त विशद रूप से परिचय दिया गया है।

गौरक्षा तथा हिन्दी के लिये जो भी आन्दोलन आर्यसमाज द्वारा चलाये गये और हैदराबाद के निजाम सदृश निरंकुश व धर्मान्ध शासकों द्वारा हिन्दुओं के प्रति किये जाने वाले अत्याचारों के विरोध में जो संघर्ष आर्यसमाज ने किये, उन सबमें हरयाणा के आर्यसमाजियों का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण रहा। इन आन्दोलनों व संघर्षों का विवरण देते हुए हरयाणा के उनमें योगदान पर भी प्रकाश डाला जायेगा। पर आर्यसमाज के कतिपय आन्दोलन व संघर्ष ऐसे भी हुए हैं, जिनके साथ हरयाणा का विशेष सम्बन्ध था। उनका यहाँ पृथक् रूप से उल्लेख किया जाना उपयोगी है। आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर नगरकीर्तन की प्रथा है। वैदिक धर्म के सन्देश को सर्वसाधारण जनता तक पहुँचाने में इनसे सहायता मिलती है। विधर्मियों के प्रयत्न से जब अनेक बार सरकार ने नगर-कीर्तनों में बाधाएँ उपस्थित की, आर्यसमाजियों द्वारा उनका डटकर प्रतिरोध किया गया। सन् १९२७ में गुड़गाँवा आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जब नगरकीर्तन का जुलूस निकल रहा था, पुलिस ने अचानक उसपर हमला कर दिया और समाज के दस प्रमुख व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया। इनमें समाज के प्रधान लाला मुसद्दीलाल और मन्त्री श्री रामस्वरूप शास्त्री भी थे। उनपर मुकदमे चलाये गये, जिनमें अन्ततोगत्वा आर्यसमाज की विजय हुई और गिरपतार आर्यसमाजियों को रिहा कर दिया गया। पानीपत आर्यसमाज द्वारा ऋषि बोधोत्सव के पर्व पर नगरकीर्तन का जुलूस निकाला जाया करता था। सन्१९३० में मुसलमानों द्वारा यह अड़ंगा लगाया गया कि यह महीना रमजान का है, अतः नगरकीर्तन से हमारे धार्मिक कृत्य में विघ्न पड़ेगा। करनाल के डिप्टी कमिश्नर ने मुसलमानों के इस एतराज को युक्तिसंगत मानकर यह आज्ञा प्रचारित की कि नगरकीर्तन में बाजा न बजाया जाए और जुलूस किसी मस्जिद के सामने से न गुजरे। आर्यसमाज इन शर्तों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ, और भक्त फूलसिंह तथा चौधरी पीरूसिंह आदि आर्य नेताओं ने सरकारी आदेश के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया। इस निर्णय की सूचना देश-भर के आर्यसमाजों तथा आर्यवीर दलों के पास भेज दी गयी, और उन्हें सत्याग्रह में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित किया गया। जब पंजाब सरकार ने देखा कि भारत भर के आर्यसमाजी पानीपत में सत्याग्रह

के लिए कटिबद्ध हैं, तो उसे स्थिति की गम्भीरता का बोध हुआ, और बिना किसी शर्त व रोकटोक के नगरकीर्तन की अनुमति प्रदान कर दी गयी। इसी प्रकार की कितनी ही अन्य घटनाएँ हैं जिनमें हरयाणा के आर्यों ने धर्म-प्रेम का परिचय दिया और आर्यसमाज के हितों की रक्षा के लिए तन, मन, धन समर्पित कर अपने संगठन को सुदृढ़ बनाया। इन सब घटनाओं का उल्लेख भी यहाँ सम्भव नहीं है, पर लोहारू काण्ड पर प्रकाश डाले बिना हरयाणा में आर्यसमाज के कार्यकलाप का विवरण अधूरा ही रह जायगा। लोहारू एक रियासत थी। उसका मुसलमान नवाब हैदराबाद के निजाम के समान हिन्दुओं—विशेषतया आर्यसमाजियों का विरोधी था। वहाँ कोई उपदेशक धर्म-प्रचार के लिए नहीं जा सकता था, और यदि कभी कोई चला जाता तो उसे मर्मान्तिक पीड़ा दी जाती थी। ऐसी विकट परिस्थिति में भी वहाँ आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी थी (एप्रिल १९४०)। पण्डित गंगानन्द सत्यार्थी, ठाकुर भगवन्तसिंह और श्री जनार्दन का समाज की स्थापना में विशेष कर्तृत्व था। शुरू में केवल नौ व्यक्ति लोहारू समाज के सदस्य बने थे, पर आर्यसमाज की स्थापना की बात से लोहारू का नबाब तथा मुसलमान बहुत उद्विग्न हुए और अनेक प्रकार से उनपर अत्याचार प्रारम्भ कर दिये। जो आर्य रियासत की सर्विस में थे, उन्हें सेवामुक्त कर दिया गया और जिस किराये के मकान में समाज के सत्संग होते थे, उसके मालिक पर अपना मकान खाली करवाने के लिए जोर डाला गया। पर इससे आर्यों ने साहस नहीं छोड़ा। मार्च, १९४१ में उन्होंने आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव करने का निश्चय किया। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज को इसके लिए विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया, और भक्त फूलसिंह, पण्डित समरसिंह विद्यालंकार और चौधरी नौनिन्दसिंह आदि अन्य अनेक आर्य नेता व विद्वान् भी इस उत्सव के लिए बुलाये गये। यद्यपि रियासत द्वारा वार्षिकोत्सव करने तथा नगरकीर्तन निकालने की अनुमति दे दी गयी थी, पर मुसलमानों ने अकस्मात् ही नगरकीर्तन के जुलूस पर हमला कर दिया। भक्त फूल सिंह और चौधरी नौनिदसिंह पर लाठियों की इतनी मार पड़ी, कि वे बेहोश होकर गिर पड़े। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी पर लाठियों के साथ-साथ बरछों से भी आक्रमण किया गया। उन्हें इससे बहुत चोटें आईं, और उनके शरीर के स्थान-स्थान से रक्त बहने लगा। साठ से अधिक अन्य आर्यों को भी चोटें लगीं। सादी वेषभूषा में अनेक सरकारी कर्मचारियों ने भी नगरकीर्तन पर हुए इस हमले में भाग लिया था, पर उनके अत्याचार व हमले लोहारू में वैदिक धर्म के प्रचार को रोक नहीं सके। आर्यसमाज की जड़ वहाँ जमती गयी। केवल लोहारू नगर में ही नहीं, अपितु रियासत के अनेक ग्रामों में भी आर्यसमाजों तथा आर्य कन्या पाठशालाओं की स्थापना हुई। कुछ वर्ष पश्चात् लोहारू में समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। लोहारू का यह काण्ड हरयाणा के आर्यों के धर्म-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। यद्यपि हैदराबाद सत्याग्रह के समान उसका स्वरूप अखिल भारतीय नहीं हुआ, पर हरयाणा के लोग अपने बलबूते पर ही नवाब के निरंकुश व धर्मान्ध शासन का प्रतिरोध करने में समर्थ रहे। संघर्ष में सफल होने पर लोहारू रियासत में वैदिक धर्म का खूब प्रचार हुआ। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा वहाँ कार्य करने के लिए पण्डित समरसिंह वेदालंकार की नियुक्ति की गई। उन्होंने देहातों में घूमकर अनेक ग्रामों में आर्यसमाज स्थापित किये। लोहारू आर्यसमाज ने भी महाशय रामरिच्छपाल तथा महाशय शीशराम को प्रचार के लिए भजनोपदेशक रखा। इस सब

प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि लोहारू रियासत में बीस आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी। इनके अतिरिक्त कितने ही आर्य शिक्षणालय भी वहाँ स्थापित हुए, जिनमें हरियावास के वैदिक विद्यालय, विसलवास की आर्य कन्या पाठशाला, दमकौर की आर्य पाठशाला, वारवास के आर्य स्कूल तथा सेहर, चहड़ छोटी और गोकुलपुरा की आर्य पाठशालाओं का विशिष्ट स्थान था। आर्यसमाज की प्रगति के मार्ग में जो भी बाधाएँ लोहारू के नवाब तथा उसके पदाधिकारियों ने डालीं, उनमें कोई भी सफल नहीं हो सकी।

(५) जाट सैनिक और आर्यसमाज

भारत के स्वाधीनता संग्राम में आर्यसमाज का क्या योगदान रहा है, यह इस इतिहास के चौथे भाग का विषय है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यसमाज की स्थापना किसी राजनीतिक संस्था के रूप में नहीं की गयी थी। पर यह भी सत्य है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आधुनिक भारत में सबसे पहले 'स्वराज्य' की आवाज उठायी थी, और उस मार्ग का प्रदर्शन किया था जिस पर चलकर भारतीय जनता न केवल पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वाधीन ही हो सकती है, अपितु सम्पूर्ण विश्व में अग्रणी की स्थिति भी प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि आर्यसमाजी लोग अपने को राजनीति से पृथक् नहीं रख सके और उनकी गतिविधियाँ सरकार की निगाह में खटकती रहीं। पंजाब के बहुत-से आर्यसमाजियों पर राजद्रोह के अनेक मुकदमे चलाये गये, और उन्हें गिरफ्तार कर जेलखानों में बन्द किया गया। पर हरयाणा में आर्यसमाजियों पर सरकार की जो कुदृष्टि रही, उसका स्वरूप एक अन्य प्रकार का था। हरयाणा के लोग वीरता की परम्परा के लिए सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी सेना में भी वहाँ के बहुत-से जाट भरती किए गये थे, जो अत्यन्त शूर योद्धा तो थे ही, पर साथ ही महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से भी प्रभावित थे। वे यज्ञोपवीत धारण करते थे, और सत्यार्थप्रकाश को अपने साथ रखते थे। ब्रिटिश सेना के अंग्रेज अफसर यह सहन नहीं कर सके। उन्हें इसमें राजद्रोह की गन्ध आती थी। उन्होंने जाट सिपाहियों के यज्ञोपवीत उतरवाने का प्रयत्न करने में संकोच नहीं किया। इस पर जाट महासभा की ओर से सेना के कमांडिंग अफसर को यह पत्र लिखा गया कि "यज्ञोपवीत तो औरंगजेब के समय में उतरवाये जाते थे। वर्तमान समय में क्या औरंगजेब का राज्य है अथवा अंग्रेजों का। कृपया हमारी बात सुनिए और हमारे धर्म में बाधा न डालिए।" जाट सिपाही यदि साथ बैठकर धर्म की चर्चा करते थे, तो अंग्रेज अफसरों को उसमें भी एतराज होता था। सन् १८९८ में दसवीं जाट पल्टन वाराणसी में स्थित थी। उसके बहुसंख्यक सिपाही आर्यसमाजी विचारों के थे। अतः उन्होंने वहाँ एक 'आर्यसमाज सभा' बना ली थी। सन् १९०४ में इस पल्टन को कानपुर स्थानान्तरित कर दिया गया। उसके सिपाही कानपुर आर्यसमाज के अधिवेशनों व अन्य समारोहों में जाने लगे। इस पर सैनिक अफसरों ने यह आदेश जारी किया कि जिन पुस्तकों में दूसरे धर्मों व मतों के प्रति अपशब्द प्रयुक्त किए गये हों, उन्हें पल्टन की लाइन (बैरकों) में नहीं लाया जा सकता। इस आदेश का स्पष्ट प्रयोजन यह था कि जाट सैनिक सत्यार्थप्रकाश को अपने पास न रख सकें। अंग्रेज अफसरों को केवल सत्यार्थप्रकाश पर ही एतराज नहीं था। उन्हें 'केसरी', 'जाट समाचार' और 'जाट हितकारी' सदृश समाचारपत्र भी आपत्तिजनक प्रतीत होते

थे। उनका विचार था कि दसवीं जाट पल्टन में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना विकसित हो रही है, और इसका कारण आर्यसमाजी विचार हैं। इस सम्बन्ध में गहराई से जाँच करने के लिए सन् १९०७ में लेफ्टिनेन्ट कर्नल प्रेसी को दसवीं जाट पल्टन का मुख्य अफसर नियुक्त किया गया, और उसे यह आदेश दिया गया कि इस पल्टन की देश-भक्ति और स्वदेशी आदि की गतिविधियों का सुचारु रूप से अनुशीलन कर उनके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। प्रेसी को यह भी लिखा गया, कि सी० आई० डी० से यह सूचना प्राप्त हुई है कि दसवीं जाट पल्टन आर्यसमाज की दृढ़ समर्थक है, अतः इस विषय में भी वह पूरी-पूरी जानकारी सरकार के समक्ष पेश करे। सूबेदार, हवलदार आदि भारतीय अफसरों से पूछताछ करने पर कर्नल प्रेसी को ज्ञात हुआ कि उनके पूर्ववर्ती अफसर कर्नल हण्टर ने चार सिपाहियों को पल्टन से इस कारण निकाल दिया था, क्योंकि आर्यसमाजी होने के कारण वे मांस-भक्षण के लिए तैयार नहीं थे। इन सैनिकों के पास जो धार्मिक पुस्तकें थीं, उन्हें भी जला दिया गया था। इसी प्रकार एक सैनिक को इस अपराध में सजा दी गयी थी कि वह लाला लाजपत राय का भाषण सुनने के लिए गया था। कर्नल प्रेसी ने अभी अपनी जाँच पूरी नहीं की थी, कि वह आठ महीने की छुट्टी पर चला गया, और उसके स्थान पर मेजर राइट ने दसवीं जाट पल्टन की कमाण्ड सँभाल ली। उसने शीघ्र ही यह पता चला लिया, कि इस पल्टन की 'इ' कम्पनी के भारतीय अफसरों के घरों के सामने सभाएँ होती हैं। इस पर सूबेदार हरिराम, नायक जोतराम और सिपाही जोग को सजा दी गयी। मेजर राइट की दृष्टि में छावनी में किसी भी प्रकार की सभा करना अनुचित व राजद्रोह था; चाहे वे सभाएँ धार्मिक सत्संग के लिए ही क्यों न की गयी हों। इस अफसर को सिपाहियों के यज्ञोपवीत पहनने पर भी ऐतराज था। इस कारण उसे अनेक सिपाहियों से झगड़े भी करने पड़े थे। जब कर्नल प्रेसी छुट्टियों पर से वापस आया, तो उसने जाट पल्टन की गतिविधियों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट तैयार कर सरकार के पास भेज दी। इस रिपोर्ट में उसने यह विचार प्रकट किया था, कि सत्यार्थप्रकाश में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे राजद्रोह कहा जा सके। प्रेसी का यह भी कहना था कि यदि दसवीं जाट पल्टन में बहुसंख्यक सिपाही आर्यसमाजी हैं, तो इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। पर इस रिपोर्ट से सरकार को सन्तोष नहीं हुआ। उसे सी० आई० डी० द्वारा आर्यसमाज के विरुद्ध जो सूचनाएँ मिल रही थीं, उनके कारण वह सेना में आर्य सिपाहियों की भरती से चौकन्नी होने लग गयी थी। प्रेसी को जाँच के लिए आदेश इसीलिए दिया गया था, ताकि उसकी रिपोर्ट के आधार पर आर्यों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सके। जब सरकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ, तो रोहतक और हिसार जिलों में 'सिडीशस मीटिंग्स एक्ट' लागू कर दिया गया और यह आदेश भी जारी किया गया कि आर्यसमाजी जाटों को सेना में भरती न किया जाए।

यद्यपि 'आर्यसमाज और राजनीति' विषय का प्रतिपादन इस इतिहास के अन्य भाग में किया गया है, पर यहाँ इस सम्बन्ध में कतिपय निर्देश केवल यह प्रदर्शित करने के लिए दे दिये गये हैं कि हरयाणा में महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं का प्रचार कितनी अधिक गहराई तक हो गया था। प्रायः सभी देशों में बहुसंख्यक लोग निर्वाह के लिए खेती पर निर्भर होते हैं। सैनिकों और पुलिस के सिपाहियों की भरती इस वर्ग के

लोगों में से ही की जाया करती है। जब किसी सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक आन्दोलन का प्रवेश इस वर्ग के लोगों में हो जाए, तो वह जनसाधरण का आन्दोलन बन जाता है। आर्यसमाज के सम्बन्ध में हरयाणा में यही हुआ। वहाँ के जाट, अहीर, गूजर आदि देहाती कृषक वर्ग के लोग आर्यसमाज के प्रभाव में आ गये और नेतृत्व के लिए भी वे किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहे। डॉक्टर रामजीलाल, भक्त फूलसिंह और चौधरी पीरूसिंह सदृश आर्य नेता जाति से जाट ही थे। हरयाणा की यह परम्परा बाद में भी कायम रही। क्रिश्चियन मिशनरी और मुसलमान मौलवी तो वहाँ अपने पैर जमा ही नहीं सके,पर पौराणिक पण्डितों के लिए भी वहाँ की सर्वसाधारण जनता को अपने प्रभाव में रख सकना सम्भव नहीं रहा। हरयाणा में व्यापारी वर्ग के लोग प्रधानतया अग्रवाल वैश्य जाति के हैं। लाला लाजपत राय और सेठ चन्दूलाल सदृश आर्यसमाजी नेता अग्रवाल थे और उनके प्रभाव से हरयाणा के नगरों में भी वैदिक धर्म का सुचारु रूप से प्रचार हुआ। वहाँ के वैश्यों द्वारा आर्यसमाज को आर्थिक सहायता भी उदारतापूर्वक दी जाती रही। हरयाणा में ऐसे ब्राह्मण पण्डितों की भी कमी नहीं थी, जो महर्षि के अनुयायी थे। पण्डित बस्तीराम जन्म से भी ब्राह्मण थे। इस प्रकार पण्डित, व्यापारी और कृषक—तीनों वर्गों के सहयोग से हरयाणा आर्यसमाज का सुदृढ़ गढ़ बन गया, और वहाँ वैदिक धर्म के प्रचार में निरन्तर वृद्धि होती गयी।

परिशिष्ट—१

पंजाब, हरयाणा और हिमाचल प्रदेश के कतिपय आर्यसमाज

गत पाँच अध्यायों में हमने उस क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विवरण दिया है, जो सन् १९४७ में भारत के विभाजन से पूर्व पंजाब के अन्तर्गत था, और जिसके विविध आर्यसमाज पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। इन आर्यसमाजों की कुल संख्या सात सौ से भी अधिक थी। यह सम्भव नहीं है, कि इन सब समाजों की स्थापना, विकास, प्रगति और कार्यकलाप का संक्षिप्त रूप से विवरण भी इस ग्रन्थ में दिया जा सके। पर क्योंकि आर्यसमाज के आन्दोलन को प्रारम्भ हुए अब एक सदी से अधिक समय हो चुका है, और इस काल में आर्यसमाज की कार्यविधि, वातावरण, प्रचार की पद्धति तथा कार्यकर्ताओं व नेताओं के कार्य के ढंग में बहुत परिवर्तन आ गया है, अतः यह उपयोगी होगा कि आर्यसमाज के इतिहास की पहली अर्ध शताब्दी के कतिपय आर्यसमाजों का यहाँ संक्षिप्त रूप से परिचय दे दिया जाये, क्योंकि यह परिचय उस समय के आर्यसमाज-आन्दोलन के स्वरूप को समझने में सहायक होगा।

लुधियाना आर्यसमाज—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों में लुधियाना आर्यसमाज का विशिष्ट स्थान है। उसकी स्थापना २९ अक्तूबर, सन् १८८२ के दिन लाला रामजीदास खजाञ्ची, बाबू शिवशरणदास ठेकेदार, लाला लाजपत राय

थापर, बाबू उमाप्रसाद और लाला तुलसीराम आदि सज्जनों के प्रयत्न से हुई थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७७ के एप्रिल मास में तीन सप्ताह के लगभग लुधियाना में निवास किया था। उनके व्याख्यानों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था, और उसीके परिणामस्वरूप बाद में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। समाज के प्रथम प्रधान लाला शिवशरणदास थे, और मन्त्री पण्डित सालिगराम थे। कोषाध्यक्ष के पद पर लाला रामजीदास की नियुक्ति हुई थी। समाज का पहला सत्संग स्थापना के दिन २९ अक्तूबर को कटरा नौहरियों में एक छोटे से चौबारे में हुआ, और एक साल पश्चात् ९ अक्तूबर, १८८३ को लाला रामजीदास के मकान पर, जो चौड़ा बाजार में था, आर्य-समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया।

प्रारम्भ के समय में आर्यसमाज लुधियाना द्वारा वेद-प्रचार के लिए निम्नलिखित साधन प्रयोग में लाये जाते थे—(१) प्रतिदिन सायंकाल महर्षिकृत वेदभाष्य की कथा की जाती थी। (२) रविवार के साप्ताहिक सत्संग के अतिरिक्त प्रत्येक शुक्रवार को दो घण्टे के लिए धर्मचर्चा का आयोजन किया जाता था, जिसमें सबको शंका समाधान की स्वतन्त्रता रहती थी। (३) प्रत्येक बुधवार को नगर के भिन्न-भिन्न मुहल्लों में वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता था। (४) संस्कृत तथा आर्य भाषा (हिन्दी) की उन्नति के लिए समाज के पदाधिकारी विशेष ध्यान देते थे। (५) अन्तरंग सभा में भिन्न-भिन्न समुदायों के प्रतिनिधि लिये जाते थे। (६)'सभासदों की उपस्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता था। जिस सभासद की अनुपस्थितियाँ अधिक होती थीं उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था या उसे अनुपस्थित रहने का सन्तोषजनक के कारण बताना होता था। सर्वसाधारण जनता से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने के लिए समाज के अधिकारी घर-घर जाकर समाज फण्ड के लिए आटा एकत्र किया करते थे, जिससे दस रुपये मासिक प्राप्त हो जाते थे। उस समय १० रुपये का जो मूल्य था, उसे देखते हुए यह राशि कम नहीं थी। इस पद्धति का लाभ यह था कि लोगों का आर्यसमाज से सम्पर्क बना रहता था, और उनमें वैदिक धर्म के लिए श्रद्धा उत्पन्न होती थी। शुरू में लुधियाना आर्यसमाज का कोई भवन या मन्दिर नहीं था। साप्ताहिक सत्संग भी नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुआ करते थे। पर सन् १८८९ में जब समाज ने लुधियाना के पुराने हिन्दू स्कूल को अपने अधिकार में ले लिया, तो साप्ताहिक सत्संग भी वहीं पर किये जाने लगे। सन् १९०९ में शहर के बीच में एक उपयुक्त स्थान समाज मन्दिर के लिए क्रय कर लिया गया, जिस पर बाद में सब आवश्यक इमारतें बना ली गईं। लुधियाना समाज की यह सम्पत्ति आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के नाम रजिस्टर्ड है। जून, सन् १८९० में लुधियाना में स्त्री आर्यसमाज की भी स्थापना हो गई थी। इसकी आर्य सदस्याएँ वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सदा तत्पर रही है। उन द्वारा प्रतिवर्ष तीजी के त्यौहार पर प्रचार की विशेष व्यवस्था की जाती थी। इस समाज का वार्षिकोत्सव भी प्रतिवर्ष मनाया जाता रहा है। सन् १८९९ में लुधियाना में लाला देवीचन्द द्वारा एक विधवा-विवाह सहायक सभा भी स्थापित की गयी थी। यह सभा तो देर तक कायम नहीं रह सकी, पर उस द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह का जो कार्य प्रारम्भ किया गया था, उसे आर्यसमाज लुधियाना ने जारी रखा।

वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्यसमाज लुधियाना ने जो प्रयत्न किया, उसकी

कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। सामान्यतया, प्रचार के लिए समाजों द्वारा व्याख्यानों का ही आश्रय लिया जाता है। पर लुधियाना समाज ने इस प्रयोजन से कथाओं की भी व्यवस्था की। स्वामी सत्यानन्दजी महाराज आर्यसमाज के अत्यन्त योग्य व मृदुभाषी संन्यासी थे। वह प्रतिवर्ष दस-बारह दिन लुधियाना समाज में कथा द्वारा अमृतवर्षा किया करते थे, जिससे जनता बहुत प्रभावित होती थी और वैदिक धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखने लगती थी। उनके अतिरिक्त गुरुकुल रायकोट के आचार्य स्वामी गंगागिरि भी समय-समय पर लुधियाना आकर उपनिषदों की कथा किया करते थे। लुधियाना में आर्यसमाज का जो वातावरण उत्पन्न हुआ, उसमें ये कथाएँ बहुत सहायक सिद्ध हुईं। लुधियाना आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव तो प्रतिवर्ष नियमपूर्वक हुआ ही करता था, पर मेलों और विशेष उत्सवों पर समाज द्वारा प्रचार का विशेष प्रबन्ध भी किया जाता था। घाट शिवदयाल पर मेला वसन्त में, छपार में मेला छपार पर, मेला रोशनी व रामलीला के अवसरों पर मेलों के स्थान पर और भाई वाले आदि मेलों पर आर्यसमाज की ओर से धर्म-प्रचार किया जाता था। प्रारम्भ के वर्षों में होली के त्यौहार पर आर्य लोग उजले वस्त्र पहनकर प्रभु कीर्तन करते हुए बाजारों में जुलूस निकाला करते थे, जो होली मनाने का एक नया व उत्कृष्ट ढंग था।

लुधियाना आर्यसमाज में बहुत-से ऐसे सुयोग्य व्यक्ति थे, जो समय-समय पर लुधियाना शहर में तथा समीपवर्ती नगरों और ग्रामों में जाकर धर्म-प्रचार किया करते थे। प्रारम्भ के वर्षों में जिन स्थानीय व्यक्तियों ने जीवन-निर्वाह के अपने कार्य करते हुए धर्म-प्रचार के लिए भी समय निकाला, उनमें पण्डित जातीराम, लाला देवीचन्द और पण्डित बिहारीलाल मुख्य थे। समाज की ओर से पण्डित गोपालदत्त उपदेशक तथा पण्डित मथुरादास भजनीक को नगर तथा जिले में प्रचार के लिए नियुक्त किया गया था। बाद में जो स्थानीय व्यक्ति धर्म-प्रचार के प्रयोजन से अपना अमूल्य समय देते रहे, उनमें मास्टर रामलाल, पण्डित गूजरमल, पण्डित हरदयालु शास्त्री, मास्टर यशपाल, पण्डित अर्जुनदेव शास्त्री, पण्डित विष्णुमित्र और पण्डित सत्यदेव के नाम उल्लेखनीय हैं। लुधियाना आर्यसमाज जो उन्नति कर सका, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूरा करने के सम्बन्ध में उसका जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उसमें इन स्थानीय आर्य सज्जनों का कर्तृत्व अत्यन्त सराहनीय था। महर्षि के देहावसान के पश्चात् की आधी शताब्दी में जिन संन्यासियों, विद्वानों, प्रचारकों और कर्मठ कार्यकर्ताओं ने वैदिक धर्म के प्रचार में विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी, प्रायः वे सब समय-समय पर लुधियाना पधारते रहे, और उनके व्याख्यानों व उपदेशों से वहाँ के समाज ने बहुत लाभ उठाया। इन महानुभावों में पण्डित लेखराम, स्वामी ईश्वरानन्द, स्वामी आत्मानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी योगेन्द्रपाल, स्वामी नित्यानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, मास्टर आत्माराम, पण्डित गणपति शर्मा, पण्डित पूर्णानन्द, पण्डित शिवशंकर काव्यतीर्थ, स्वामी ब्रह्मानन्द, महात्मा मुंशीराम, (स्वामी श्रद्धानन्द), महात्मा नारायण स्वामी, आचार्य रामदेव, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महाशय कृष्ण, स्वामी अच्युतानन्द और श्री वजीरचन्द विद्यार्थी प्रमुख थे। वस्तुतः, उस युग में आर्यसमाज के जो भी प्रमुख विद्वान्, संन्यासी व प्रचारक थे, सभी समम-समय पर, विशेषतया वार्षिकोत्सवों के अवसर पर, लुधियाना आते रहे। इस समाज के पुराने रिकार्ड का अनुशीलन करने

पर यह भली-भाँति जाना जा सकता है, कि आर्यसमाज के इतिहास के प्रारम्भ काल में समाज का नेतृत्व किन महानुभावों के हाथ में था, और वे किस प्रकार सर्वत्र वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सदा तत्पर रहा करते थे। उस समय के धर्म-प्रचार में शास्त्रार्थों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। ये शास्त्रार्थ प्रधानतया पौराणिक पण्डितों से हुआ करते थे। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, श्राद्ध और विधर्मियों की शुद्धि आदि ऐसे विषय थे, जिन पर आर्यसमाज का सनातनियों से विरोध था। आर्यसमाज की ओर से जिन विद्वानों ने इन विषयों पर पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ किये, उनके पण्डित आर्यमुनि, पण्डित गणपति शर्मा, महात्मा मुंशीराम और स्वामी दर्शनानन्द प्रमुख थे। पौराणिक विद्वान् पण्डित जगत्प्रसाद और आर्यसमाज के पण्डित गणपति शर्मा में श्राद्ध विषय पर हुआ एक शास्त्रार्थ बहुत प्रसिद्ध है। सरदार मानसिंह वार-एट-लॉ ने इसकी अध्यक्षता की थी, और जनता पर इसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा था, कि लुधियाना के ईसाई पत्र 'नूर अफशा' ने शर्माजी के तर्क व युक्तियों की प्रशंसा करते हुए आर्यसमाज की विजय को स्वीकार किया था। शास्त्रार्थों का आयोजन केवल लुधियाना शहर में ही नहीं होता था, अपितु जिले के रायकोट, जगरांओ, माछीवाड़ा, फिल्लौर आदि समीपवर्ती नगरों में भी लुधियाना समाज की ओर से शास्त्रार्थों की व्यवस्था की जाती थी, जिससे आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता मिलती थी। उस समय लुधियाना समाज के वार्षिकोत्सव का भी विशेष महत्त्व था। प्रारम्भ काल में ऐसे समाज अधिक नहीं थे, जिनके वार्षिकोत्सव प्रति वर्ष नियमपूर्वक होते हों। पर जिनके उत्सव प्रतिवर्ष होते थे, उनमें न केवल अपने शहर व पास-पड़ोस की बस्तियों व नगरों के नर-नारी ही अच्छी बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे, अपितु दूर-दूर से भी श्रद्धालु लोग आर्य विद्वानों के व्याख्यान सुनने के लिए आया करते थे। इन अवसरों पर सहभोज का भी प्रबन्ध किया जाता था। इससे आर्यजनों में परस्पर प्रीति की वृद्धि में सहायता मिलती थी। लुधियाना समाज की सन् १८६० की रिपोर्ट में प्रीतिभोज या सहभोज का वर्णन इस प्रकार किया गया है— "सब आर्यसभासद् और सहायक इकट्ठे हुए। दो बजे सायंकाल तक बाग लाला गंगाकिशन में भजन और धर्मचर्चा होती रही। बाग के दरम्यान का तालाब लबालब भरवा दिया गया था। आर्य पुरुषों ने वहीं स्नान और सन्ध्या की। फिर प्रीतिभोजन हुआ।" बसन्त पंचमी आदि त्यौहारों पर भी समाज द्वारा सहभोजों का आयोजन किया जाता था। सामाजिक ऊँच-नीच, जात-पाँत व छूत-अछूत का कोई भी भेद किये बिना सब आर्य इन सहभोजों में प्रेमपूर्वक सम्मिलित हुआ करते थे।

शुद्धि के कार्य पर भी आर्यसमाज लुधियाना ने समुचित ध्यान दिया था। उस द्वारा पहली शुद्धि रामलाल की गयी, जो मुसलमान हो गया था। सूद बिरादरी का लुधियाना में प्रतिष्ठित स्थान है। यह विधर्मियों की शुद्धि की प्रबल विरोधी थी। पर आर्यसमाज ने उसके विरोध की कोई परवाह नहीं की, और शुद्धि के कार्य को जारी रखा। हिन्दुओं में रहतिया आदि जातियों को अछूत समझा जाता था। शुद्धि द्वारा उनकी अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भी लुधियाना के आर्यसमाज ने बहुत प्रयत्न किया। उनके बालकों की शिक्षा की व्यवस्था भी समाज द्वारा की गयी। सन् १९२३ में बाँगरू जाति के ६३ व्यक्तियों की शुद्धि लुधियाना के समाज मन्दिर में की गयी थी, और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला भी उनके मुहल्ले में खोल दी गयी थी। विद्या

सागर और विद्यारत्न नाम के दो बाँगरू बालक समाज द्वारा दिल्ली की आर्य पाठशाला में संस्कृत पढ़ने के लिए भेजे गये, और बाद में उन्हें मोगा कॉलिज में प्रविष्ट कराया गया। बाँगरू जाति के अन्य भी अनेक बच्चों को स्थानीय आर्य हाई स्कूल और आर्य कन्या पाठशाला में शिक्षा दिलायी गयी। अछूत जातियों के कुछ परिवार लुधियाना में रामबाग के पास बसे हुए थे। लुधियाना समाज ने उन्हें शुद्ध करके समाज में प्रविष्ट किया, और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशाला स्थापित थी। इन्होंने अपने घरों में वैदिक विधि से संस्कार कराने प्रारम्भ किये, और अनेक बार अपने स्थान पर प्रीति-भोजों की व्यवस्था की, जिनमें आर्य स्त्री-पुरुष प्रीतिपूर्वक सम्मिलित हुए। इन्होंने अपनी बस्ती का नाम 'दयानन्दगढ़' रख लिया, जो महर्षि के प्रति इनकी श्रद्धा को सूचित करने के लिए पर्याप्त है। श्री अमीरचन्द वानप्रस्थी ने इन लोगों में जिस उत्साह व लगन से वैदिक धर्म का प्रचार किया, उसकी जितनी सराहना की जाए कम है।

आर्यसमाज के सब प्रकार के कार्यकलाप में लुधियाना का आर्यसमाज यथाशक्ति आर्थिक सहायता प्रदान करता रहा है। जब लाहौर में डी० ए०वी० कॉलिज की स्थापना हुई, तो इस समाज द्वारा उसके फण्ड में सात हजार रुपये भेजे गये (सन् १८८८)। बाद में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना होने पर उसके लिए धन एकत्र करने में इस समाज ने अनुपम तत्परता प्रदर्शित की। जिन लाला लब्भूराम नैयड ने डेढ़ लाख के लगभग रुपये एकत्र कर गुरुकुल को प्रदान किये थे, वह लुधियाना आर्यसमाज के ही सदस्य थे। कन्या महाविद्यालय जालन्धर, आर्य अनाथालय फीरोजपुर, दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर आदि सभी आर्य संस्थाओं को इस समाज द्वारा उदारतापूर्वक सहायता दी जाती रही है।

आर्यसमाज लुधियाना ने दो शिक्षण-संस्थाओं का संचालन भी अपने हाथों में ले लिया था—आर्य हाई स्कूल और गणेशीलाल आर्य कन्या पाठशाला। लुधियाना शहर में मुंशी जमनाप्रसाद कायस्थ ने बालकों की शिक्षा के लिए एक हिन्दू स्कूल की स्थापना की थी। शुरू में तो यह स्कूल अच्छी तरह चला, पर बाद में इसकी दशा बिगड़ने लगी और इसके संचालन में कठिनाई आने लगी। इस अवस्था में मई, १८८९ में आर्य-समाज ने हिन्दू स्कूल को अपने हाथों में ले लिया, और उसके प्रबन्ध के लिए एक उप-सभा का निर्माण कर दिया, जिसके प्रधान लाला रामजीदास और मन्त्री मुन्शी माधो-स्वरूप थे। उस समय स्कूल में विद्यार्थी केवल तीस थे, और अध्यापक केवल चार। आर्य समाज द्वारा स्कूल का प्रबन्ध हाथ में ले लेने पर उसकी अवस्था सँभलने लगी, और उसके विद्यार्थियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सन् १९३१ में इस स्कूल में १४५० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, जिनमें तीन सौ के लगभग सिक्ख और मुसलमान थे। अध्यापकों की संख्या भी तब चार से बढ़कर चालीस तक पहुँच गयी थी। स्कूल के साथ एक छात्रावास भी था, जिनमें २५० विद्यार्थी निवास करते थे। आर्य स्कूल लुधियाना ने जो उन्नति की, उसका प्रधान श्रेय मास्टर रामलाल को प्राप्त है, जिन्होंने कि सन् १९०५ में मुख्याध्यापक के रूप में उसका संचालन शुरू किया था। गणेशीलाल आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना अगस्त, १९०३ में लाला गणेशीलालजी के दान द्वारा हुई थी। लालाजी के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी पत्नी श्रीमती जानकी देवी ने अपनी सब सम्पत्ति स्त्री शिक्षा के लिए लुधियाना आर्यसमाज को प्रदान कर दी। पति-पत्नी के इस सात्त्विक दान से इस पाठशाला का कार्य प्रारम्भ हुआ। उसके विकास व उन्नति के लिए

पण्डित लक्ष्मणदास ने जो प्रयत्न किया, वह वस्तुतः सराहनीय है। इसके लिए उन्होंने सरकारी सर्विस से त्याग-पत्र दे दिया, और २७ वर्ष तक मुख्याध्यापक पद पर रहकर पाठशाला का संचालन किया। पाठशाला के साथ 'कन्या आश्रम' नाम से एक छात्रावास भी था, जिसमें छात्राओं के निवास, भोजन आदि की समुचित व्यवस्था थी। सन् १९३१ में इस पाठशाला में ४२० बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। आर्य हाई स्कूल और कन्या पाठशाला—दोनों में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की शिक्षा समिति द्वारा निर्धारित पुस्तकों के आधार पर धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी, और मिडल कक्षाओं की कन्याओं के लिए संस्कृत पढ़ना अनिवार्य रखा गया था।

लुधियाना शहर का आर्यसमाज इतना सक्रिय था कि उसे केन्द्र बनाकर जिले की विविध बस्तियों व नगरों में अनेक समाज स्थापित हो गये थे, जिनकी संख्या सन् १९३१ में दस थी।

आर्यसमाज पानीपत—स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार लुधियाना से दिल्ली आते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती पानीपत होकर गये थे, पर वह वहाँ ठहरे नहीं थे। रेलवे के निर्माण से पूर्व जाने-आने के लिए प्रायः घोड़ा गाड़ियों और ऊँट गाड़ियों का उपयोग किया जाता था। दिल्ली से पंजाब जाने वाले ग्रान्ट ट्रंक रोड पर तब ऊँट गाड़ियाँ चला करती थीं, और डाक भी उन्हीं द्वारा भेजी जाया करती थी। महर्षि जब इसी प्रकार यात्रा करते हुए पानीपत पहुँचे, तो उनकी भेंट वहाँ के प्रसिद्ध रईस रायबहादुर लाला ताराचन्द से हो गई। उन्होंने महर्षि से प्रार्थना की, कि वह पानीपत रुककर उस नगरी को पवित्र करें, पर महर्षि को जल्दी दिल्ली पहुँचना था। पानीपत के लिए वह समय नहीं निकाल सके। पर जो कुछ समय के लिए लाला ताराचन्द महर्षि के सम्पर्क में आए, उसी से उनपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और उनके तथा उनके परिवार में वैदिक धर्म के प्रति आस्था का बीज अंकुरित हो गया। इन्हीं लाला ताराचन्द के सुपुत्र रायजादा लाला योगध्यान थे, जिनके सहयोग से सन् १८८३ में पानीपत में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस समाज की स्थापना के विषय में ज्ञात जानकारी का उल्लेख इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में किया जा चुका है।

पानीपत आर्यसमाज की प्रगति तथा आर्थिक साधनों को जुटाने में सबसे अधिक सहयोग सपाटू वाले सिंघला परिवार से प्राप्त हुआ। इस परिवार ने आर्यसमाज को अनेक ऐसे व्यक्ति प्रदान किए, जिनके कारण पानीपत नगर तथा समीपवर्ती क्षेत्र में वैदिक धर्म का बहुत प्रचार हुआ। इनमें लाला खेमचन्द रईस, लाला अनूपचन्द आफताब, लाला चतुर्भुज, श्री ओमप्रकाश सिंघला और श्री रामानन्द सिंघला के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरयाणा और उनके साथ लगे हुए क्षेत्र में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसमें पानीपत के समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इसी समाज के सम्पर्क में आकर चौधरी फूलसिंह वैदिक धर्म के अनुयायी बने, और आर्यसमाज के लिए उन्होंने अपने जीवन की बलि दे दी। श्री फूलसिंह ने पटवारी के कार्य का प्रशिक्षण पानीपत में प्राप्त किया था, और सन् १९०८ में अपने मित्र पटवारी प्रीतसिंह के साथ कुछ समय वह पटवारी से सम्बन्धित कार्य के लिए पानीपत में रहे भी थे। प्रीतसिंह आर्यसमाजी थे, और समय-समय पर वह फूलसिंह जी को आर्यसमाज विषयक पुस्तकें पढ़ने की प्रेरणा देते रहते थे। इसी के परिणामस्वरूप चौधरी फूलसिंह के जीवन में परिवर्तन आया और उन्होंने आर्य-

समाजी बनने का निश्चय कर लिया। वह पानीपत आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर गये, और पण्डित ब्रह्मानन्द से यज्ञोपवीत ग्रहण कर उन्होंने समाज में प्रवेश ले लिया। भक्त फूलसिंह जैसे महान् आर्य नेता के जीवन में परिवर्तन लाने का श्रेय इसी समाज को प्राप्त है। हरयाणा में सींख पाथरी के आर्यसमाज का विशेष महत्त्व है। उसकी स्थापना एक ऐसे व्यक्ति ने की थी, जो अपने इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। मुगला नाम का यह व्यक्ति पानीपत आर्यसमाज के सम्पर्क में आया, जिसके कारण डकैती सदृश कुकृत्यों का परित्याग कर वह आर्यसमाज की सेवा में लग गया, और उसी द्वारा सींख पाथरी में समाज की स्थापना की गई। चौधरी मामनसिंह एक अन्य सज्जन थे, जिन्होंने पानीपत समाज से प्रेरणा प्राप्त कर अपना जीवन वैदिक धर्म के प्रचार में लगा दिया था। यमुना नदी के पूर्वी तट के साथ का जो प्रदेश हरयाणा के साथ लगा हुआ है, चौधरी साहब ने उसे अपना कार्यक्षेत्र बनाया और वहाँ अनेक आर्यसमाजों की स्थापना की।

पानीपत आर्यसमाज ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जिन साधनों को अपनाया, उनमें स्त्री-शिक्षा, शास्त्रार्थ और उपदेश प्रधान थे। स्त्री-शिक्षा के लिए उस द्वारा आर्य कन्या पाठशाला मोहल्ला अन्सार, आर्य कन्या हाईस्कूल वीर भवन और आर्य गर्ल्स कॉलिज ग्राण्ट ट्रंक रोड की स्थापना की गई। इन शिक्षण-संस्थाओं के कारण जहाँ बालिकाओं को सुशिक्षित होने का अवसर मिला, वहाँ साथ ही वैदिक धर्म से भी उन्होंने परिचय प्राप्त किया। बालकों की शिक्षण-संस्थाएँ भी इस समाज द्वारा चलायी गईं। वैदिक धर्म के प्रचार के प्रयोजन से जिन अनेक शास्त्रार्थों का इस समाज द्वारा पानीपत में आयोजन किया गया, उनमें कुछ महत्त्व के हैं। पहला महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ एप्रिल, सन् १९२३ में ईसाइयों से हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित रामचन्द्र देहलवी थे, और ईसाइयों की ओर से पादरी हरनन्द राय। शास्त्रार्थ की अध्यक्षता राय बहादुर लाला लक्ष्मीचन्द जैन ने की थी, और इसमें आर्यसमाज को विजयी घोषित किया गया था। इसके कुछ दिन पश्चात् एक शास्त्रार्थ फिर ईसाइयों के साथ हुआ, जिसका विषय 'सृष्टि की उत्पत्ति एवं इलहाम' था। दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व वही विद्वान् कर रहे थे, जिन्होंने कुछ दिन पूर्व शास्त्रार्थ किया था। तीसरा शास्त्रार्थ सन् १९२७ में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर मुसलमानों से हुआ। इसमें भी आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व पण्डित रामचन्द्र देहलवी ने किया था। पानीपत में मुसलमानों की बहुत अधिक संख्या थी, और उनकी ओर से मौलवी मुहम्मद इस्माईल आदि अनेक विद्वानों ने शास्त्रार्थ में भाग लिया था। इस शास्त्रार्थ का इतना अधिक प्रभाव हुआ, कि मुसलमानों पर भी वैदिक धर्म की युक्तियुक्तता का सिक्का जम गया। सन् १९३१ में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ, जो चार दिनों तक चलता रहा। शास्त्रार्थ का विषय था—'क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है?' जैनियों का कहना था, कि वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानना सृष्टि के नियम के अनुकूल नहीं है। आर्यसमाज की ओर से इस शास्त्रार्थ में पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री, पण्डित रामचन्द्र देहलवी, पण्डित ब्रह्मदेव विद्यालंकार तथा श्री कर्मानन्द थे, और जैनियों की ओर से श्री मक्खनलाल शास्त्री, श्री अजितकुमार शास्त्री, श्री राजेन्द्रकुमार शास्त्री और श्री माणकचन्द्र वर्णी आदि एक दर्जन पण्डित थे। जैनियों से हुए इस शास्त्रार्थ में 'क्या सृष्टि का कर्ता कोई ईश्वर है' यह भी एक विषय था। इसमें दोनों पक्षों की युक्तियाँ सुनकर जनता इस परिणाम पर पहुँची, कि आर्यसमाज के मन्तव्य सही

व तर्कसंगत हैं। पानीपत में मुसलमानों का पर्याप्त जोर होने के कारण समय-समय पर आर्यसमाज से उनका टकराव होता रहता था। इस्लाम के अन्यतम सम्प्रदाय अहमदियों से पानीपत में अनेक बार शास्त्रार्थ हुए, जिनमें आर्यसमाज का जो वर्चस्व प्रकट हुआ, उससे कुछ मुसलिम विद्वान् अपने ऊपर काबू नहीं रख सके। गुलाम हुसैन कादियानी नामक पानीपत के एक अध्यापक ने 'स्वामी दयानन्द और उनकी तालीम' नाम से एक पुस्तक लिखी, जिसमें महर्षि पर अनेक असत्य आक्षेप किये गये, और जिसकी भाषा भी अमर्यादित थी। इसका उत्तर पानीपत आर्यसमाज के तत्कालीन प्रधान लाला अनूपचन्द आफताब ने 'ऋषि का बोलबाला' नामक पुस्तक लिखकर दिया। इस पुस्तक में गुलाम हुसैन कादियानी के आक्षेपों का ऐसा मुँहतोड़ उत्तर दिया गया था, कि फिर उन्होंने महर्षि के विरुद्ध अपनी जुबान नहीं खोली।

आर्यसमाज के प्रायः सभी संन्यासी, महात्मा और विद्वान् समय-समय पर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए पानीपत आते रहे। इनमें स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, पण्डित गणपति शर्मा, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी वेदानन्द तीर्थ, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वामी केवलानन्द, लाला लाजपत राय, स्वामी भीष्मजी, ठाकुर अमरसिंह (महात्मा अमर स्वामी), कुँवर सुखलाल और श्री रामचन्द्र देहलवी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन महात्माओं तथा सुयोग्य प्रचारकों के कारण पानीपत आर्यसमाज वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का समर्थ केन्द्र बना रहा।

विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, दलितोद्धार, दहेज प्रथा तथा मृतकभोज का विरोध, परदा प्रथा एवं बाल विवाह का विरोध, मद्य सेवन के विरुद्ध प्रचार और अन्य विविध सामाजिक कुरीतियों के निवारण आदि सभी सुधार-कार्यक्रमों में पानीपत आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्यसमाज की ओर से समय-समय पर धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए जो भी संघर्ष किए गये, उन सबमें पानीपत समाज के सदस्य उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे हैं। हैदराबाद सत्याग्रह में लाला हरगुलाल, लाला सुगनचन्द, लाला ज्योतिप्रसाद, श्री लालचन्द पालीवाल और लाला कैलाशचन्द आदि कितने ही आर्य सभासदों ने पानीपत समाज की ओर से भाग लिया था। इसी प्रकार गौरक्षा आन्दोलन आदि में भी इस समाज के सदस्य सक्रिय रूप से भाग लेते रहे।

लाला देशबन्धु गुप्त केवल राजनीतिक नेता ही नहीं थे, वह आर्यसमाज के भी उत्साही कार्यकर्ता थे। स्वामी श्रद्धानन्द उन्हें सार्वजनिक जीवन में लाये थे, और उनके अनुयायी के रूप में उन्होंने दलितोद्धार आदि के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। देशबन्धु जी पानीपत के निवासी थे, और वहाँ के आर्यसमाज से ही उन्होंने देश भक्ति और धर्म प्रेम की शिक्षा ग्रहण की थी।

पानीपत आर्यसमाज की एक अन्य विशेषता भी उल्लेखनीय है। उसका पुस्तकालय इस दृष्टि से बहुत समृद्ध है, कि उसमें पुरानी पुस्तकों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों का बहुत बड़ा संग्रह है। वहाँ अनेक ऐसी पुस्तकें भी विद्यमान हैं, जो अन्यत्र कहीं प्राप्तव्य नहीं हैं। भारत के इतिहास में पानीपत का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि उसके रणक्षेत्र में अनेक ऐसे युद्ध लड़े गये जो ऐतिहासिक दृष्टि से निर्णायक सिद्ध हुए। आर्यसमाज के क्षेत्र में भी पानीपत का कम महत्त्व नहीं है। हरयाणा में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में उसका योगदान विशेष स्थान रखता है।

आर्यसमाज नूरपुर—नूरपुर (जिला काँगड़ा) में आर्यसमाज की स्थापना बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुई थी। वहाँ के श्री कन्हैयालाल घऊ, श्री लक्ष्मणदास और श्री प्रभुदयाल कुहाड़ू आदि सज्जन बख्शी टेकचन्द, जो उन दिनों लाहौर में वकालत किया करते थे, के निमन्त्रण पर लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाया करते थे। आर्य विद्वानों के व्याख्यान सुनकर वे वैदिक धर्म से प्रभावित हुए, और उन्होंने नूरपुर में आर्य-समाज स्थापित किया। श्री कन्हैयालाल घऊ लोहे के व्यापारी थे, और प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) में उन्होंने व्यापार से बहुत धन कमाया था। लाला लाजपत राय और महात्मा हंसराज के व्याख्यानों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी माता की पुण्य स्मृति में समाज मन्दिर का निर्माण कराया, जिसकी आधारशिला बख्शी टेकचन्द द्वारा रखी गई थी। बाद में अन्य दानियों के दान से इस समाज के भवनों में और भी वृद्धि हुई।

काँगड़ा के क्षेत्र को समय-समय पर अनेक प्राकृतिक विपत्तियों का सामना करना पड़ता रहा है। सन् १९०५ में वहाँ भूकम्प आया था, जिसके कारण काँगड़ा बुरी तरह से ध्वंस हो गया था। सन् १९२० में वहाँ घोर अकाल पड़ा था, जिससे अनाज तथा पानी का प्राप्त कर सकना कठिन हो गया था। प्राकृतिक विपत्तियों के इन अवसरों पर नूरपुर आर्यसमाज द्वारा पीड़ित जनता की सहायता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। गढ़वाल आदि अन्य स्थानों पर अकाल पड़ने पर भी इस समाज ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की धन तथा स्वयं-सेवकों द्वारा सहायता की।

नूरपुर आर्यसमाज की स्थापना कॉलिज पार्टी के आर्यसमाजियों द्वारा की गई थी, और यह समाज आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध था। अतः शुरू में ही उसका ध्यान डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की ओर गया, और सन् १९१३ में उस द्वारा डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल खोला गया, और सन् १९१७ में डी० ए० वी० मिडल स्कूल। इसके साथ एक छात्रावास की भी स्थापना की गई थी, जिसके लिए श्री कन्हैयालाल ने अपनी एक इमारत नाम मात्र किराये पर प्रदान कर दी थी। काँगड़ा के क्षेत्र में जो स्कूल पहले विद्यमान थे, वे प्रायः ईसाइयों द्वारा संचालित थे। उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी क्रिश्चिएनिटी के प्रभाव में आ जाते थे। डी० ए० वी० स्कूल के कारण वहाँ के विद्यार्थियों को अपने धर्म के वातावरण में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला।

सन् १९२२ में नूरपुर में आर्य वीर दल की स्थापना हुई। इसके सदस्यों को लाठी चलाने, कुश्ती लड़ने और अनुशासित ढंग से सेवाकार्य करने की शिक्षा दी जाती थी। मेलों के अवसर पर आर्य वीर दल के स्वयं-सेवक जनता की सेवा के लिए जाया करते थे, और प्राकृतिक विपत्तियों के समय भी ये पीड़ितों की सहायता के लिए तत्पर रहते थे। इनका एक मुख्य कार्य हिन्दू अबलाओं की रक्षा करना था, जिनको बहकाकर उस समय विधर्मी लोग अपने धर्म में दीक्षित कर लेने के लिए सदा तत्पर रहते थे। नूरपुर आर्य-समाज का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य अछूतोद्धार के क्षेत्र में था। नूरपुर में एक तालाब है, जिससे हिन्दू और मुसलमान तो पानी भर सकते थे, पर अछूत समझे जाने वाले लोग नहीं। मुसलमानों ने कहा कि यदि ये अछूत इस्लाम को स्वीकार कर लें, तो वे उन्हें तालाब से पानी भर लेने देंगे। इस पर बहुत-से अछूत हिन्दू मुसलमान बनने को तैयार भी हो गये। सनातनी हिन्दू भी इस बात से सहमत थे, कि अछूत यदि मुसलमान

बन जाएँ, तो वे तालाब से पानी भर सकते हैं। पर आर्यसमाज ने इस अवसर पर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए जो कार्य किया, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। पहले उन्होंने सनातनी हिन्दुओं को समझाने का प्रयत्न किया, कि वे अछूतों को मुसलमान बने बिना ही पानी भरने की अनुमति प्रदान कर दें। पर जब इसमें सफलता नहीं हुई, तो काँगड़ा के डिप्टी कमिश्नर रायसाहब लाला लभ्भूराम को नूरपुर लाया गया। स्थिति को भली-भाँति समझकर उन्होंने निर्णय दिया, कि यदि अछूतों को शुद्ध कर आर्यसमाजी बना लिया जाए, तो वे तालाब से पानी भर सकते हैं। इसपर सभी अछूतों को आर्य-समाज मन्दिर ले जाया गया, वहाँ उनकी शुद्धि की गई और फिर उनके साथ सहभोज हुआ। यद्यपि नूरपुर में अछूतोद्धार का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो गया, पर इसके लिए वहाँ के आर्यसमाजियों को अनेक कष्ट उठाने पड़े। हिन्दू बिरादरी ने उनका बहिष्कार कर दिया, और उनसे अपना सब सम्पर्क तोड़ दिया। आर्यसमाज के एक कर्मठ कार्यकर्ता श्री चुन्नीलाल पुरी थे। उन्हें तो उनके परिवार के लोगों ने घर से भी निकाल दिया, जिसके कारण उन्हें समाज मन्दिर में आकर रहना पड़ा। इसी प्रकार की घटनाएँ ज्वाली और सुल्माली में भी हुईं। ज्वाली में एक बावड़ी थी, जिससे अछूतों को पानी नहीं भरने दिया जाता था। नूरपुर आर्य वीर दल के कार्यकर्ता वहाँ गये, और वहाँ एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें पंजाब के अनेक आर्य विद्वान् और नेता सम्मि-लित हुए। एक महीने के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् ज्वाली में अछूतों के साथ एक सह-भोज हुआ, और उनसे बावड़ी में पानी भरवाया गया। सुल्माली में भी अछूतों को पानी भरने देने के लिए नूरपुर आर्यसमाज को संघर्ष करना पड़ा था। पर उस द्वारा अछूतो-द्धार का जो कार्य प्रारम्भ किया गया था, अन्ततोगत्वा वह सफल हुआ, और काँगड़ा के पार्वत्य क्षेत्र में अछूत समझे जाने वाले लोगों को मानवता के प्रारम्भिक अधिकार प्राप्त हुए।

नूरपुर आर्यसमाज का प्रतिवर्ष वार्षिकोत्सव हुआ करता था, जिसमें स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वामी रामानन्द, लाला खुशहालचन्द, ठाकुर अमरसिंह और कुंअर सुख-लाल सदृश प्रमुख आर्य नेता और प्रचारक पधारा करते थे। नगर कीर्तन का जुलूस जनता को बहुत आकृष्ट करता था, और वार्षिकोत्सव पर वैदिक धर्म के प्रतिपादन तथा इस्लाम सदृश अन्य मतों के खण्डन के व्याख्यानों को सुनकर लोग बहुत प्रभावित होते थे। सन् १९३५ में नूरपुर में आर्य महिला समाज की स्थापना हो गयी थी, और सन् १९३६ में आर्य कुमार सभा की। इनके कारण किशोर वय के लोगों तथा महिलाओं में भी आर्यसमाज के लिए उत्साह उत्पन्न होने में बहुत सहायता प्राप्त हुई थी। नूरपुर समाज के साथ पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थापित थे, जिनसे यह समाज वहाँ के सुशिक्षित व्यक्तियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना रहता था।

टौणी देवी—वर्तमान हिमाचल प्रदेश के हमीरपुर जिले में एक आर्यसमाज टौणीदेवी में है, जिसकी स्थापना सन् १९२५ में हुई थी। इसके भवन का निर्माण श्री-मती पारो देवी द्वारा अपने दिवंगत पति लाला लच्छोमल की पुण्य स्मृति में सन् १९३३ में करवाया गया था। इस क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्यकलाप का प्रारम्भ बीसवीं सदी के शुरू में ही हो गया था, और सन् १९०५ में टौणीदेवी में महाशय निरंजनसिंह ने एक प्राइमरी पाठशाला स्थापित कर दी थी। सन् १९४२ में यह माध्यमिक पाठशाला बन

गयी, और सन् १९४९ में हाई स्कूल। शुरू में यह पाठशाला ही आर्यसमाज के कार्य-कलाप का केन्द्र रही। समाज की स्थापना को प्रेरणा देने वाले आर्य महानुभावों में महाशय निरंजनसिंह मुख्य थे, जो चिरकाल से शिक्षा के माध्यम से धर्म-प्रचार में तत्पर थे। आर्यसमाज के लिए उनमें बहुत उत्साह था। प्रारम्भ में वह भजनों द्वारा धर्म-प्रचार किया करते थे। कुछ समय पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के वैतनिक प्रचारक के रूप में भी उन्होंने कार्य किया था। वैदिक विधि से संस्कार कराने में भी वह प्रवीण थे। संस्कारों में जो दक्षिणा उन्हें प्राप्त होती, उसका नाम मात्र अंश अपने लिए रख-कर शेष सब वह आर्यसमाज को दान कर दिया करते थे। वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए बहुधा उनकी पौराणिक पण्डितों से झड़प हो जाया करती थी, पर इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं थी। उनके एक सहायक महाशय किशनचन्द थे, जो व्यापारी थे। आर्यसमाज की प्रत्येक गतिविधि में वह निरंजनसिंहजी का हाथ बटाया करते थे। टौणी देवी आर्य-समाज द्वारा विधवा विवाह, अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा आदि के लिए बहुत कार्य किया गया। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक भी इस समाज में प्रचार-कार्य के लिए निरन्तर आते रहे। जिन साधु-संन्यासियों ने इस क्षेत्र में विशेष रूप से कार्य किया, उनमें स्वामी सुधानन्द सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है।

सातवाँ अध्याय

उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का विस्तार

(सन् १८८३ से १९१२ तक)

(१) नये आर्यसमाजों की स्थापना

महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के समय (१८८३ में) उत्तरप्रदेश में पचास के लगभग आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि ने उत्तरप्रदेश (संयुक्त प्रान्त) का अनेक वार भ्रमण किया था और उनका बहुत-सा समय गंगा-यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में व्यतीत हुआ था। इस प्रदेश में उन्होंने अनेक संस्कृत विद्यालय भी स्थापित किये थे, और सनातनधर्मी पण्डितों, ईसाई मिशनरियों, तथा मुसलिम मौलवियों से उनके अनेक शास्त्रार्थ भी हुए थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि महर्षि के जीवन-काल में इस प्रदेश में बहुत-से आर्यसमाजों की स्थापना हो जाए, और इसी प्रदेश में स्थित मेरठ के आर्यसमाज को 'प्रधान' समाज की स्थिति भी प्राप्त हो। उत्तरप्रदेश में पहला आर्यसमाज १८ एप्रिल, सन् १८७५ के दिन मिरजापुर में स्थापित हुआ था। उसके बाद रुड़की (जिला सहारनपुर) में २० अगस्त, १८७८ को, मेरठ में २९ सितम्बर, १८७८ को, देहरादून में २९ जून, १८७९ को फर्रुखाबाद में १२ जुलाई, १८७९ को, मुरादाबाद में २० जुलाई, १८७९ को और आगरा में २६ फरवरी सन् १८८१ को आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। महर्षि के जीवन-काल में उत्तरप्रदेश के जिन पचास के लगभग स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, उनमें ऊपर लिखे नगरों के अतिरिक्त वदायूँ, बिजनौर, नजीबाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई, बरेली, कर्णवास, सहारनपुर, सिकन्दराबाद, पीलीभीत, प्रयाग, लखनऊ, कानपुर, काशी, सीतापुर, गोरखपुर और आजमगढ़ उल्लेखनीय हैं। इन सबमें आर्यसमाजों की स्थापना कब और किस प्रकार हुई, इसका विवरण इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। महर्षि के देहावसान के बाद के वर्षों में उत्तरप्रदेश में आर्यसमाजों का बहुत तेजी के साथ विस्तार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८८६ में उनकी संख्या ९० हो गयी, और सन् १८९६ में २१६। बाद के वर्षों में भी उत्तर-प्रदेश में आर्यसमाजों का निरन्तर विस्तार होता गया। यही कारण है कि सन् १९१२ में इस प्रदेश में कुल ४८२ आर्यसमाज स्थापित थे। महर्षि के देहावसान के पश्चात् के ३० वर्षों में सवा चार सौ के लगभग नये आर्यसमाजों का स्थापित हो जाना अत्यन्त महत्त्व की बात है। भारत के किसी भी अन्य प्रान्त या प्रदेश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार की गति उतनी तेज नहीं थी, जितनी कि उत्तरप्रदेश में थी। इस प्रदेश में भी

सबसे अधिक आर्यसमाज मेरठ, सहारनपुर, बिजनौर, बदायूँ, फर्रुखाबाद, कानपुर, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मुजफ्फरनगर और एटा जिलों में थे। आगरा, मुरादाबाद, बरेली, मैनपुरी, शाहजहाँपुर और मथुरा जिलों में भी आर्यसमाज का अच्छा प्रचार था। यही कारण है कि सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार इन सोलह जिलों में आर्यसमाजियों की संख्या ५६,५८० थी, जबकि सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश में उनकी संख्या केवल ६५,२९२ थी। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार भारत के अन्य प्रान्तों में आर्यसमाजियों की संख्या संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की तुलना में बहुत कम थी। तब पंजाब में कुल आर्य केवल २४, ९८८ थे, और राजपूताना में ९९८। उस समय के पंजाब में हरयाणा, हिमाचल प्रदेश, काश्मीर, बिलोचिस्तान और सिन्ध को सम्मिलित करके ही आर्यसमाजियों की यह संख्या बनती है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उस समय का पंजाब उत्तरप्रदेश की तुलना में कुछ अधिक ही था। इस तथ्य को दृष्टि में रखने पर यह स्वीकार करना होगा कि आर्यसमाज का सबसे अधिक प्रचार-प्रसार उत्तरप्रदेश में ही हुआ, और उसके भी पश्चिमी भाग में महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं का विशेष रूप से प्रचार हुआ। सन् १८९१ की जनगणना के अंक भी उपलब्ध हैं। उस समय तक उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज को प्रारम्भ हुए १५ वर्ष भी नहीं हुए थे, पर वहाँ आर्यसमाजियों की संख्या २२,०५३ हो गयी थी। अगले दस वर्षों (सन् १९०१ तक) में इस संख्या का ६५,२९२ तक पहुँच जाना आर्यसमाज के प्रसार की तीव्र गति को सूचित करने के लिए पर्याप्त है। यह संख्या उन नर-नारियों की है, जिन्होंने कि जनगणना में अपने को 'आर्य' लिखवाया था। इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य लोग भी महर्षि के मन्तव्यों से प्रभावित रहे होंगे, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। सन् १९०१ में संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की कुल जनसंख्या ४,६९,०५,०८५ थी, जिनमें ४,०३,८०,१९८ हिन्दू थे। चार करोड़ के लगभग हिन्दुओं में पैंसठ हजार का 'आर्य' या 'आर्यसमाजी' बन जाना, इस प्रदेश में आर्यसमाज की सफलता का स्पष्ट प्रमाण है। उन्नीसवीं सदी में नवजागरण एवं धार्मिक सुधार की जो प्रवृत्तियाँ भारत में प्रादुर्भूत हुई थीं, उनमें ब्राह्मसमाज भी एक था। पर संयुक्त प्रान्त में इसका प्रभाव सर्वथा अगण्य था। इसी कारण १९०१ की जनगणना में विविध सम्प्रदायों के अनुयायियों की संख्या देते हुए ब्राह्मसमाज का उल्लेख तक नहीं किया गया। राधास्वामी मत का भी इस समय प्रादुर्भाव हो चुका था, और वह प्रधानतया संयुक्त प्रान्त में ही केन्द्रित था। पर उसके अनुयायियों की संख्या १९०१ में केवल १५,३१५ थी।

(२) आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना और उसकी प्रगति

बम्बई में आर्यसमाज भी स्थापना के समय सन् १८७५ में समाज के जो नियम निर्धारित किये गये थे, उनमें "देश के मध्य" एक प्रधान समाज की बात भी स्वीकृत की गयी थी। इसी को दृष्टि में रखकर विविध प्रान्तों में एक 'प्रधान' समाज या आर्य प्रतिनिधि सभा को स्थापित करने के जो प्रयत्न महर्षि के देहावसान के पश्चात् शुरू हुए, उनका उल्लेख इस ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में किया जा चुका है। इसी के परिणामस्वरूप ४ और ५ अक्टूबर, १८८६ को लाहौर में विविध आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई थी, जिसमें पंजाब के आर्य प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के मेरठ,

प्रयाग और सहारनपुर के आर्यसमाजों के भी पाँच प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। दिसम्बर, १८८६ के अन्तिम सप्ताह में मेरठ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के सम्बन्ध में विचार हुआ। इससे पहले ही मुंशी लक्ष्मणस्वरूप (जो उस समय मेरठ आर्यसमाज के प्रधान थे) द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमों का प्रारूप तैयार कर लिया गया था, जिसके लिए उन्होंने लाला लाजपत राय, लाला लालचन्द और लाला द्वारिकाप्रसाद सदृश पंजाब के आर्य नेताओं का भी सहयोग प्राप्त किया था। उस समय तक पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो चुकी थी। मेरठ आर्यसमाज के इस वार्षिकोत्सव पर उत्तरप्रदेश के अनेक आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे और लाला लाजपत राय, पण्डित गुरुदत्त तथा लाला लालचन्द सदृश अनेक आर्य नेता पंजाब से भी मेरठ आये हुए थे। मुंशी लक्ष्मणस्वरूप द्वारा प्रस्तावित नियमावली पर देर तक विचार-विमर्श होता रहा, और उसके स्वीकृत हो जाने पर २९ दिसम्बर, सन् १८८६ के दिन उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। नव-स्थापित प्रतिनिधि सभा का एक अधिवेशन दिसम्बर, १८८७ में अजमेर में हुआ। उस समय महर्षि द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा (अजमेर) आर्यसमाजों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था थी और उसके अधिवेशनों में विविध प्रान्तों के प्रमुख आर्य सज्जन भी सम्मिलित हुआ करते थे। इसीलिए १८८७ के दिसम्बर मास में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने वहाँ अपना पृथक् अधिवेशन भी कर लिया था। इसी को उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रथम वार्षिक अधिवेशन माना जाता है। इसका मुख्य कार्य सभा की नियमावली को अन्तिम व औपचारिक रूप से स्वीकृत करना था। नियमावली के द्वितीय नियम द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे।

"(१) वेद-वेदांग तथा प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के पढ़ाने तथा आर्योपदेशक बनाने के लिए विद्यालय स्थापना करना। (२) सर्व साधारण के उपकारार्थ धर्म और पदार्थ विद्या-सम्बन्धी तथा अन्य पुस्तकों का एक पुस्तकालय नियत करना। (३) छोटी-बड़ी पुस्तकें वैदिक शिक्षा के प्रचारार्थ प्रकाशित करना। (४) संयुक्त प्रान्त आगरा और अवध तथा अन्य स्थानों में उपदेश करना और कराना। (५) आर्यावर्त्त के अनाथ और दीनों के पालन, पोषण, शिक्षा और सुधारार्थ उपयुक्त प्रबन्ध करना। (६) सामान्य प्रकार से वैदिक धर्म के प्रचारार्थ उपयुक्त उपायों को काम में लाना।" आर्य प्रतिनिधि सभा के ये उद्देश्य उस नियमावली से लिये गये हैं, जिसे सन् १८९० में रजिस्टर्ड कराया गया था। ये उन उद्देश्यों से भिन्न हैं, जिन्हें कि मुंशी लक्ष्मणस्वरूप ने सभा की प्रथम नियमावली में निर्धारित किया था। इस नियमावली में कुछ संशोधन सन् १८८८ में किये गये थे, और कुछ बाद में सन् १८९६ में। सभा की प्रथम दो नियमावलियों में उद्देश्य स्पष्ट नहीं थे। उनमें यह विहित किया गया था, कि "आर्यसमाजों के नियमों का पालन जितना शीघ्र और जहाँ तक उचित दृष्टि आवे, समय-समय पर समाज के सभासदों से करावे।" और "ऐसे साधन प्रस्तुत करे, जिसके कारण से प्रत्येक समाज और प्रत्येक सभासद् समाज वा समाज के नियमों के पालन करने के कारण उन लाभों से लाभवान् हो सके।"

उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रथम प्रधान मुंशी लक्ष्मणस्वरूप थे। उनके साथ कोई उपप्रधान नहीं था। पण्डित विहारीलाल सभा के प्रथम मन्त्री थे, और श्री श्यामसुन्दर ब्रजरत्न कोषाध्यक्ष। प्रारम्भ के इस वर्ष में सभा का कोई उपमन्त्री तथा पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त नहीं किया गया था। दूसरे वर्ष सन् १८८८ में सभा के प्रधान, मन्त्री और कोषाध्यक्ष के पदों पर पुराने व्यक्ति ही रहे, पर उनके अतिरिक्त मुंशी खैरातीलाल को उप-प्रधान, पण्डित भगवानदीन को उपमन्त्री और श्री यमुनाप्रसाद पाण्डेय को पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। सभा के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन में ३० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, जो २६ समाजों का प्रतिनिधित्व करते थे। उस समय (सन् १८८८) यद्यपि उत्तरप्रदेश में आर्यसमाजों की संख्या १०० से अधिक हो गयी थी पर उनमें से केवल २६ ही आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। ज्यों-ज्यों उत्तर-प्रदेश में आर्यसमाजों की संख्या बढ़ती गयी, वहाँ की आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध समाज भी अधिक होते गये। सभा का तीसरा वार्षिक अधिवेशन २६, २७, २८, २९ दिसम्बर, सन् १८८९ को बरेली में हुआ। इसमें सम्मिलित आर्य प्रतिनिधियों की संख्या ५० थी। उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज की प्रगति के इतिहास में इस अधिवेशन का बहुत महत्त्व है। इसी में महर्षि के स्मारक के रूप में एक शिक्षण-संस्था की स्थापना के लिए कुछ क्रियात्मक पग उठाये गये थे। पंजाब के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलिज के समान उत्तरप्रदेश में भी डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना का सूत्रपात किस प्रकार हुआ, इस विषय पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

सन् १८८७ में अजमेर में उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का जो अधिवेशन हुआ था, उसी में सर्वसम्मति से यह निश्चय हो गया था कि महर्षि के स्मारक रूप में एक कॉलिज की स्थापना की जाए। पर इस निश्चय को क्रियान्वित करने का कोई प्रयत्न अब तक नहीं हुआ था। सभा के बरेली अधिवेशन में मुंशी ज्योतिस्वरूप ने कॉलिज खोलने के प्रश्न को उठाया, और राजा जयकृष्णदास तथा राय रोशनलाल ने उसका समर्थन किया। कॉलिज की स्थापना के विचार को क्रियान्वित करने के लिए इस अधि-वेशन में एक समिति भी संगठित कर दी गयी। बाबू दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद इस समिति के प्रधान थे, और राजा जयकृष्णदास मन्त्री। आर्य जगत् के अनेक सम्भ्रांत व सुशिक्षित व्यक्ति इस समिति के सदस्य थे, जिनमें महाराजा कर्नल सर प्रतापसिंह (जोधपुर), कुँअर भारतसिंह मजिस्ट्रेट, मुंशी नवलकिशोर (लखनऊ), राय रोशनलाल, पण्डित विष्णु नारायण, मुंशी गिरधारीलाल (आगरा) और बाबू ज्योतिप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समिति की ओर से कॉलिज के लिए चन्दा एकत्र करना भी शुरू कर दिया गया, और नौ हजार के लगभग धनराशि तत्काल एकत्र भी कर ली गयी। इस समय तक लाहौर में डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना हो चुकी थी, और स्वाभाविक रूप से पंजाब के आर्यसमाजी अन्यत्र भी डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना के लिए उत्सुक थे। यही कारण है कि पंजाब से लाला साईंदास तथा महात्मा हंसराज भी सभा के बरेली अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे, और उनकी उपस्थिति के कारण उत्तरप्रदेश में भी डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना के प्रस्ताव को बहुत बल मिला था। आर्य प्रतिनिधि सभा का चतुर्थ अधिवेशन दिसम्बर, १८९० में प्रयाग में

हुआ। इसमें कॉलिज की स्थापना के विषय को पुनः उठाया गया, और इस प्रश्न पर भी विचार किया गया कि कॉलिज कहाँ खोला जाए। कुछ व्यक्ति आगरा के पक्ष में थे, और कुछ मेरठ के। क्योंकि स्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सका, अतः मेरठ के आर्यसमाजियों ने अपने नगर में कॉलिज खोलने के लिए आवश्यक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। उस समय उत्तरप्रदेश के आर्य नेताओं में मुंशी लक्ष्मण-स्वरूप का विशिष्ट स्थान था, और वह दो वर्ष (सन् १८८७ और सन् १८८८ में) तक प्रतिनिधि सभा के प्रधान भी रह चुके थे। वह मेरठ के निवासी थे, अतः वहाँ उनका बहुत प्रभाव था। उनकी प्रेरणा से मेरठ के आर्य सभासदों ने यह निश्चय किया, कि वे एक मास की अपनी आमदनी कॉलिज के लिए प्रदान कर देंगे। दिसम्बर, १८९१ में प्रतिनिधि सभा का जो अधिवेशन फर्रुखाबाद में हुआ, उसमें मेरठ के आर्य सभासदों के इस निर्णय का सबने उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और मेरठ में कॉलिज खोले जाने के विचार को इससे बहुत बल मिला। इसी का यह परिणाम हुआ, कि सन् १८९२ में मेरठ में 'डी० ए० वी० कॉलिज ट्रस्ट एण्ड मैनेजिंग कमेटी' नाम से एक समिति का संगठन कर लिया गया। इसके उद्देश्य तथा नियम प्रायः वही थे, जो लाहौर की डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के थे। मुंशी लक्ष्मणस्वरूप इस कमेटी के प्रमुख सदस्य थे और मेरठ में डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना के लिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न में लगे थे। २४ अक्तूबर, सन् १८९३ को डी० ए० वी० कॉलिज ट्रस्ट एण्ड मैनेजिंग कमेटी की विधिवत् रजिस्ट्री करा दी गयी, और उसी वर्ष इस कमेटी द्वारा मेरठ में एक डी० ए० वी० स्कूल स्थापित भी कर दिया गया। इस समय तक उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजी क्षेत्रों में कॉलिज के सम्बन्ध में कोई मतभेद उत्पन्न नहीं हुए थे। आर्य प्रतिनिधि सभा के अधि-वेशनों में कॉलिज के प्रश्न पर विचार होता रहता था, और उसके लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से सभा द्वारा अपील भी की जाती थी। पर क्योंकि डी० ए० वी० कमेटी का पृथक् रूप से गठन हो गया था, अतः यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होने लगा था कि इस कमेटी और प्रतिनिधि सभा में क्या सम्बन्ध रहना चाहिये और ये दोनों संस्थाएँ किस प्रकार परस्पर सहयोग से कार्य कर सकती हैं।

यही समय था, जब पण्डित कृपाराम ने उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजी क्षेत्र में प्रवेश किया। पण्डितजी लुधियाना जिले (पंजाब) की जगरावां नगरी के निवासी थे और काशी में रहकर उन्होंने संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया था। सन् १९०१ में उन्होंने गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया था, और कृपाराम से 'स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती' बन गये थे। संन्यासी बनने से पूर्व भी वह आर्यसमाज के कार्य-कलाप में भाग लिया करते थे और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक पत्र भी प्रकाशित करने शुरू कर दिये थे। इनमें 'तिमिर नाशक' सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था, और 'वेद-प्रचार' सन् १८९४ में। पण्डित कृपाराम पंजाबी थे और अपने प्रदेश के आर्यसमाजों की गतिविधि से उन्हें अच्छा परिचय था। लाहौर के डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षा-नीति से पंजाब के आर्यों का एक वर्ग किस प्रकार असन्तोष अनुभव करने लगा था, इस विषय पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। वहाँ के अनेक आर्य नेताओं का यह भी विचार था कि आर्यसमाज का कार्य सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करना नहीं है, उसे अपनी

सारी शक्ति वेद-प्रचार के लिए ही प्रयुक्त करनी चाहिये, और समाज द्वारा जो शिक्षण-संस्थाएँ खोली जाएँ उनमें प्रधानतया संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों की ही शिक्षा दी जानी चाहिये, ताकि उन द्वारा आर्यसमाज के उपदेशक, प्रचारक व पुरोहित तैयार हो सकें। डी० ए० वी० कॉलिज की शिक्षानीति तथा पाठ-विधि को लेकर पंजाब में आर्यसमाजी क्षेत्रों में घोर विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ दो परस्पर विरोधी पार्टियाँ भी संगठित हो गयी थीं। पण्डित कृपाराम का भी यह विचार था कि आर्यसमाज का प्रधान कार्य वेद-प्रचार है, अतः सामान्य शिक्षा की व्यवस्था के लिए स्कूलों व कॉलिजों की स्थापना में उसे अपनी शक्ति नहीं लगानी चाहिये। उत्तर-प्रदेश में आकर पण्डितजी ने वेद-प्रचार पर जोर देना शुरू किया, जिसे कॉलिज के पक्षपातियों ने पसन्द नहीं किया। उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा का वेद-प्रचार की ओर विशेष ध्यान नहीं था, और सभा द्वारा कोई उपदेशक धर्म-प्रचार के लिए नियुक्त नहीं थे। उसकी ओर से एक निरीक्षक की नियुक्ति अवश्य की जाती थी, जो प्रदेश के विविध आर्यसमाजों द्वारा किये जा रहे प्रचार-कार्य का निरीक्षण किया करता था। पण्डित कृपाराम इसे अपर्याप्त समझते थे। उनका मत था कि प्रतिनिधि सभा को वेद-प्रचार विभाग को संगठित करने तथा उसके अधीन उपदेशकों की नियुक्ति पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उनके विचारों का यह प्रभाव हुआ, कि कॉलिज के पक्षपातियों तथा प्रतिनिधि सभा के संचालकों में मतभेद व विरोध का प्रादुर्भाव होने लगा। यद्यपि इस विरोध ने वैसा उग्र रूप तो धारण नहीं किया, जैसाकि पंजाब में था, पर इसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी, और सन् १८९६ तक पंजाब के समान उत्तरप्रदेश के आर्य-समाजियों में भी एक ऐसी पार्टी बन गयी जो कॉलिज की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करती थी, और जो वेद-प्रचार को ही आर्यसमाज का प्रधान कार्य मानती थी। इसीलिए सन्१८९५ में 'वेद प्रचार मुहरिक कमेटी' नाम से एक समिति का निर्माण कर लिया गया था, जिसके मंत्री मुंशी नारायणप्रसाद (बाद में श्री नारायणस्वामी) थे। इस समिति द्वारा भी धन एकत्र किया जाने लगा, और राय ठाकुरदत्त धवन द्वारा लिखित 'वैदिक धर्म प्रचार' नाम की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया। श्री धवन पंजाब में आर्यों की उस पार्टी के अन्यतम नेता थे, जो आर्यसमाज का मुख्य कार्य वेद-प्रचार मानते थे और सामान्य शिक्षा के लिए स्कूल-कॉलिज खोलने की बात जिन्हें स्वीकार्य नहीं थी। इस पुस्तक के प्रकाशन के कारण उत्तरप्रदेश में भी कॉलिज के समर्थकों और अन्य आर्यों में विरोध बढ़ने लगा और आर्य प्रतिनिधि सभा में उन लोगों के प्रभाव में वृद्धि होती गयी, जो वेद-प्रचार पर बहुत बल देते थे। पर उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजियों में उस ढंग से दो पार्टियों (कॉलिज पार्टी और महात्मा पार्टी) का गठन नहीं हुआ, जैसेकि पंजाब में हुआ था। सन् १८९६ के पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा का संचालन प्रायः ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहा जो वेद-प्रचार के पक्षपाती थे। इनमें पण्डित भगवानदीन, मुंशी नारायणप्रसाद, मुंशी रामदयालु सिंह और बाबू श्याम-सुन्दर लाल मुख्य थे। कॉलिज के समर्थक श्री लक्ष्मणस्वरूप, बाबू आनन्दस्वरूप, और श्री मुरलीधर आदि के नाम इस काल (१८९६-१९१०) के सभा के पदाधिकारियों में नहीं पाये जाते। मेरठ में जिस डी० ए० वी० कॉलिज ट्रस्ट एण्ड मैनेजिंग कमेटी का निर्माण हुआ था, वह इस समय से प्रायः प्रतिनिधि सभा से स्वतन्त्र होकर कार्य

करने लगी, और उसके तत्त्वावधान में अनेक स्कूल और कॉलिज स्थापित हुए। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि प्रतिनिधि सभा का कॉलिज कमेटी के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह गया था। सन् १८९६ में पुवायां में हुए प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में एक प्रस्ताव यह भी स्वीकृत किया गया था, कि "अन्तरंग सभा को यह अधिकार दिया जाय कि वह कुछ रकम वार्षिक वेद-प्रचार फण्ड में से कॉलिज सोसायटी को दिया करे। कॉलिज कमेटी (सोसायटी) और प्रतिनिधि सभा के पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि करने के प्रयोजन से बाद में भी अनेक प्रयत्न होते रहे, पर सभा का कार्य-कलाप मुख्यतया वेद-प्रचार ही होता गया और उसी के लिए उस द्वारा गुरुकुल की भी स्थापना की गयी। पर कॉलिज और गुरुकुल के प्रश्न को लेकर उत्तरप्रदेश में न दो पृथक् पार्टियाँ संगठित हुईं, और न कॉलिज के पक्षपातियों द्वारा अपने आर्यसमाजों का कोई पृथक् संगठन ही बनाया गया।

सन् १८९५ में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा जिस 'वेद प्रचार मुहरिक कमेटी' की स्थापना की गयी थी, उसके कार्य में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उसके लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से एक डेपुटेशन बनाया गया, जिसके प्रमुख सदस्य श्री राम दयालु सिंह और मुंशी नारायणप्रसाद थे। अब सभा की ओर से अनेक उपदेशक वेद-प्रचार का कार्य करने लगे। सन् १८९५ से १८९७ तक के दो वर्षों में आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में वीस उपदेशक धर्म-प्रचार के कार्य में संलग्न थे, जिनमें आठ अवैतनिक और वारह वैतनिक थे। बारह वैतनिक उपदेशकों की नियुक्ति से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इस समय सभा के पास वेद-प्रचार के लिए पर्याप्त धन एकत्र हो गया था। सन् १८९६-९७ से सन् १९१०-११ तक के १४ वर्षों में प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में जो उपदेशक वेद-प्रचार कर रहे थे, उन्होंने १४,९४० स्थानों पर जाकर २०,२७८ व्याख्यान दिये थे, और ४४,५३,९३७ व्यक्तियों ने उनके उपदेशों का श्रवण किया था। इस काल में इन उपदेशकों ने २१० नये आर्यसमाज स्थापित किये और ४९ शिथिल समाजों में नवजीवन का संचार किया था। अवैतनिक रूप में जो आर्य विद्वान् इस युग में धर्म-प्रचार के कार्य में तत्पर रहे, उनमें पण्डित भगवानदीन मिश्र, पण्डित तुलसीराम स्वामी, ठाकुर मशालसिंह, बाबू श्यामसुन्दर लाल, पण्डित भोजदत्त शर्मा और बाबू गंगाप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। अनेक संन्यासी-महात्मा भी इस काल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए परिभ्रमण करते रहते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती से संन्यास आश्रम की दीक्षा लेकर जिन साधु-महात्माओं ने वैदिक धर्म के प्रचार और आर्य समाजों की स्थापना के लिए कार्य किया था, उनका विवरण इस "इतिहास" के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। इन संन्यासियों में से स्वामी आत्मानन्द सरस्वती, स्वामी ईश्वरानन्द सरस्वती और स्वामी सहजानन्द सरस्वती का कार्यक्षेत्र उत्तर प्रदेश में भी था, और वहाँ भी अनेक स्थानों पर उन्होंने वेद-प्रचार का कार्य किया था। महर्षि के एक शिष्य ब्रह्मचारी रामानन्द, जो प्रायः महर्षि के साथ रहा करते थे, संन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी शंकरानन्द बन गये थे और उन्होंने उत्तर प्रदेश में भी बहुत कार्य किया था। महर्षि के देहावसान के बाद के काल में जो आर्य संन्यासी उत्तरप्रदेश में विशेष रूप से सक्रिय हुए, उनमें स्वामी महानन्द, स्वामी गिरानन्द, स्वामी अच्युतानन्द, स्वामी अक्षयानन्द, स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी भास्करानन्द, स्वामी

स्वात्मानन्द और स्वामी दर्शनानन्द प्रधान थे। इनके अतिरिक्त स्वामी नित्यानन्द, और स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने भी इस प्रदेश में कार्य किया था, यद्यपि उनके प्रधान कार्यक्षेत्र भारत के अन्य प्रदेश व प्रान्त थे।

वेद-प्रचार के लिए आर्यसमाज के उपदेशक (वैतनिक और अवैतनिक) और साधु-संन्यासी निरन्तर भ्रमण करते रहते थे। स्थानीय आर्यसभाओं के वार्षिकोत्सव प्रचार के महत्त्वपूर्ण साधन थे। इन उत्सवों के अवसर पर अनेक आर्य विद्वान्, भजनीक व उपदेशक जनता को महर्षि के मन्तव्यों का बोध कराते थे, और वैदिक धर्म में उनकी आस्था उत्पन्न करते थे। पौराणिक पण्डितों और विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थों का भी इन उत्सवों के अवसर पर आयोजन किया जाता था। उत्तरप्रदेश में मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि अनेक तीर्थस्थान विद्यमान हैं, जहाँ समय-समय पर मेले लगा करते हैं। आर्यसमाजी प्रचारक धर्म-प्रचार के लिए इन मेलों का भली-भाँति उपयोग किया करते थे, और उनमें प्रचार का विशेष आयोजन किया जाता था। सन् १८८९ में वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर मथुरा आर्यसमाज द्वारा जो प्रचार कराया गया था, उसमें पण्डित देवदत्त शास्त्री, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित आर्यमुनि, स्वामी आत्मानन्द सरस्वती, स्वामी सहजानन्द सरस्वती, स्वामी स्वात्मानन्द सरस्वती और स्वामी नित्यानन्द सरस्वती आदि प्रमुख आर्य विद्वानों तथा संन्यासियों ने भाग लिया था। भारत धर्म महामण्डल की ओर से भी इस उत्सव पर सनातन धर्म के प्रचार का आयोजन किया गया था। पण्डित मदनमोहन मालवीय इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए वृन्दावन आए थे। वह आर्यसमाज के पण्डाल में भी आया करते थे, और पौराणिक पण्डितों से हुए शास्त्रार्थ में भी वह उपस्थित थे। उन्होंने कालाकांकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दुस्तान' पत्र में "हारा कौन, जीता कौन, इसका निर्णय करे कौन", शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें वृन्दावन के शास्त्रार्थ का निष्पक्ष विवेचन था। सन् १८९१ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा इस अवसर का धर्म-प्रचार के लिए भली-भाँति उपयोग किया गया। पंजाब प्रतिनिधि सभा का सहयोग भी इस मेले में प्रचार-कार्य के लिए प्राप्त था। आर्यसमाज के प्रायः सभी प्रसिद्ध संन्यासी तथा विद्वान् उपदेशक इस अवसर पर धर्म-प्रचार के लिए हरिद्वार गये थे। पण्डित लेखरामजी ने भी इस कुम्भ में आर्य-समाज का प्रचार किया था। उत्तरप्रदेश के तीर्थस्थानों पर प्रतिवर्ष जो मेले लगते हैं, उनमें गढ़मुक्तेश्वर (मेरठ) तथा गंज (बिजनौर) में कार्तिकी पूर्णिमा के गंगा-स्नान के मेले, कर्णवास तथा पुवायां में विजयादशमी के मेले, अयोध्या में रामनवमी का मेला, कानपुर में नाग पंचमी का मेला, संभल में वंशगोपाल का मेला, अहार (बुलन्दशहर) में शिवरात्रि पर अम्बिकेश्वर का मेला, जलेसर (एटा) में मियांजी का मेला और फलावदा (मेरठ) में छड़ियों का मेला बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ के अनेक नगरों में प्रतिवर्ष नुमाइशें (प्रदर्शनियाँ) भी हुआ करती थीं, जिनमें देहाती लोग बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित हुआ करते थे। आर्यसमाज ने इन मेलों और प्रदर्शनियों को धर्म-प्रचार के लिए प्रयुक्त किया, और सर्वसाधारण जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उनका पूरा-पूरा उपयोग किया। सन् १९१० में प्रयाग में एक बहुत बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा ने धर्म-प्रचार का जो आयोजन किया, उसमें स्वामी नित्यानन्द

सरस्वती तथा महात्मा मुंशीराम ने भी भाग लिया था, और शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह भी वेदोपदेश सुनने के लिए आर्यसमाज के पण्डाल में पधारे थे।

आर्यसमाज के धर्म-प्रचार का एक मुख्य साधन शास्त्रार्थ था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी अपने जीवनकाल में काशी, अनूपशहर, कर्णवास आदि स्थानों पर अनेक शास्त्रार्थ किये थे। शास्त्रार्थों की जो परम्परा महर्षि ने प्रारम्भ की थी, उनके देहावसान के बाद भी वह कायम रही और उत्तरप्रदेश में आर्य विद्वानों व संन्यासियों द्वारा पौराणिक पण्डितों तथा विधर्मियों से निरन्तर शास्त्रार्थ किये जाते रहे। सन् १८८६ से १९१२ तक उत्तरप्रदेश में हुए जिन शास्त्रार्थों का विवरण उपलब्ध है, उनकी संख्या १०६ है। आर्यसमाज की ओर से इस काल में जिन विद्वानों ने शास्त्रार्थों में विशेष योग्यता प्रदर्शित की, उनमें पण्डित गणपति शर्मा, पण्डित देवदत्त शर्मा, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा संपादकाचार्य, पण्डित लक्ष्मीदत्त, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित भगवानदीन और पण्डित ज्योतिस्वरूप के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९०१ में आगरा आर्यसमाज के तत्त्वावधान में तीन दिन तक निरन्तर एक शास्त्रार्थ हुआ था, जिसका एक विशेष महत्त्व है। पण्डित भीमसेन शर्मा पहले आर्यसमाजी थे, और महर्षि की सेवा में भी रहे थे। पर बाद में उन्होंने आर्यसमाज का परित्याग कर पौराणिक धर्म का समर्थन प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा में आर्य विद्वानों ने अगस्त, १९०१ में उनके साथ शास्त्रार्थ किया, जिसमें पण्डित भीमसेन शर्मा को नीचा देखना पड़ा। आर्यसमाज की ओर से जिन विद्वानों ने इस शास्त्रार्थ में भाग लिया था, उनमें पण्डित देवदत्त शास्त्री, पण्डित तुलसीराम स्वामी और पण्डित भगवानदीन मुख्य थे। पण्डित भीमसेन शर्मा की सहायता के लिए भी सात विद्वान् थे, जिनमें पण्डित युगलकिशोर प्रमुख थे। देवरिया, देवबन्द, सहारनपुर, आगरा आदि में अनेक बार आर्यों के मुसलमानों के साथ शास्त्रार्थ (मुवाहिसे) हुए, पर इनमें विशेष रूप से महत्त्व का वह मुबाहिसा था, जो सन् १९०४ में नगीना में हुआ था। इसमें आर्यसमाज की ओर से मास्टर आत्माराम सम्भाषण करते थे, और मुसलमानों की ओर से मौलवी सनाउल्ला खाँ। उपस्थिति पन्द्रह-बीस हजार तक हुआ करती थी, और हिन्दू तथा मुसलमान सब शान्त होकर दोनों पक्षों की युक्तियों का श्रवण किया करते थे। वस्तुतः, इस युग में शास्त्रार्थ धर्म-प्रचार तथा सत्यासत्य का निर्णय करने के महत्त्वपूर्ण साधन थे। उनसे जनता में विद्वेष व विरोधभाव का प्रादुर्भाव नहीं होता था, और साम्प्रदायिक समस्या व अशान्ति के उत्पन्न होने का तो कोई प्रश्न ही तब नहीं था।

दलितोद्धार तथा विधर्मियों की शुद्धि भी उत्तरप्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार के महत्त्वपूर्ण अंग थे। जो हिन्दू किन्हीं कारणों से अपने धर्म का परित्याग कर मुसलिम व ईसाई बन जाते थे, उन्हें प्रायश्चित कराके पुनः हिन्दू बना लेने के लिए आर्यसमाज सदा सचेष्ट रहता था। सन् १८८६ से १९१२ तक उत्तरप्रदेश में प्रायश्चित द्वारा जिन नर-नारियों को पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित किया गया, उनकी संख्या ५२७ थी। इनके अतिरिक्त सन् १९०७ में वन्थरा गाँव में ३७५ ऐसे मुसलमानों को शुद्ध कर वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया गया था, जिनके पूर्वज कोई २०० साल पहले मुसलमान हो गये थे। उनकी शुद्धि के लिए जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया गया, उसमें १३० होता वेदमन्त्रों के पाठ तथा आहुतियाँ देने का कार्य कर रहे थे। इसके पश्चात् शुद्धि आन्दोलन ने जिस

प्रकार जोर पकड़ा, और आर्यसमाज के प्रयत्न से इसी प्रयोजन से किस प्रकार "भारत शुद्धि सभा" तथा "राजपूत शुद्धि सभा" की स्थापना हुई, इस पर इस ग्रन्थ के एक पृथक् अध्याय में यथास्थान प्रकाश डाला गया है। यद्यपि इन सभाओं ने शुद्धि को बड़े पैमाने पर प्रारम्भ कर दिया था, पर आर्यसमाज द्वारा भी मुसलमानों तथा ईसाइयों की शुद्धि स्वतन्त्र रूप से की जाती रही। इस प्रकार शुद्ध होकर 'आर्य' बने व्यक्तियों में से मिर्जा गुलाम हैदर का नाम उल्लेखनीय है। सन् १९०८ में उनको शुद्ध किया गया था, और उनका नाम बदलकर सत्यदेव रख दिया गया था। सन् १९०९ में लखनऊ सिटी आर्यसमाज द्वारा मिस टामसन नामक एक यूरोपियन महिला को शुद्ध कर सीता देवी बना दिया गया था और कुछ समय बाद सन् १९११ में काशी आर्यसमाज के तत्त्वावधान में मिस्टर रावर्टसन शुद्ध होकर धर्मदेव बन गये थे।

मांस-भक्षण के प्रश्न को लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जिस घोर विवाद का प्रादुर्भाव पंजाब के आर्यसमाजी क्षेत्रों में हुआ था, उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा भी उससे अछूती नहीं रह सकी थी। स्वामी प्रकाशानन्द सदृश कतिपय आर्य विद्वानों ने इस समय मांस-भक्षण को वेदानुकूल प्रतिपादित करना प्रारम्भ कर दिया था, और जोधपुर आर्यसमाज के निमन्त्रण पर वे मांस-भक्षण के पक्ष में व्यवस्था भी दे आये थे। इस प्रश्न को लेकर उत्तरप्रदेश में भी विवाद शुरू हो गया। पर पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० (मेरठ निवासी) ने मांस-भक्षण के विरोध में इतने पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किये, कि उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजी यह मानने को उद्यत नहीं हुए कि मांस का भक्षण वेद द्वारा विहित है, या उसमें उसका विरोध नहीं है। उन द्वारा मांस-भक्षण का समर्थन करने वाले पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए चैलेञ्ज भी दिये गये। उत्तरप्रदेश के जिन आर्य विद्वानों ने इस समय मांस-भक्षण के विरुद्ध लेख लिखे, व अन्य प्रकार से आन्दोलन किया, उनमें पण्डित रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा, पण्डित गंगा प्रसाद, एम० ए०, पण्डित तुलसीराम स्वामी, स्वामी महानन्द सरस्वती और पण्डित भूमित्र शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं विद्वानों के प्रचार के कारण आर्य प्रतिनिधि सभा के सन् १८९३ के बुलन्दशहर के अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था, कि "मांस-भक्षण के विधि और निषेध के अनुकूल और प्रतिकूल पंजाब और अन्यान्य प्रदेशों में जो घोर विवाद हो रहा है और आशंका है कि इस विषय पर सामाजिक सिद्धान्त के विरुद्ध किसी प्रकार की भ्रांति उत्पन्न हो जावे, अतएव यह सभा प्रकट रूप से स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित करती है कि मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है और आर्य सामाजिक सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रचार करने वाले लोग आर्य सामाजिक नहीं समझे जा सकते।"

महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्मारक के रूप में जहाँ एक ओर उत्तरप्रदेश के कतिपय आर्य नेताओं द्वारा डी० ए० वी० स्कूल व कॉलिज की स्थापना का प्रयत्न किया गया, वहाँ साथ ही महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षापद्धति को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से गुरुकुल खोलने की ओर भी ध्यान दिया गया। उत्तरप्रदेश में सबसे पहला गुरुकुल पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) द्वारा सन् १८९८ में सिकन्दराबाद में स्थापित किया गया था। इस समय गुरुकुल खोलने का आन्दोलन बड़े जोर के साथ चल रहा था। पंजाब में लाला मुंशीराम इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। इसीलिए जब उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन १८९९ में मुरादाबाद में

हुआ, तो उसमें मुंशी नारायण प्रसाद द्वारा गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिस पर विचार कर सभा ने वह निश्चय किया कि बीस हजार रुपये एकत्र हो जाने पर इस प्रदेश में एक गुरुकुल खोल दिया जाए। इसी निश्चय के अनुसार उत्तर-प्रदेश में किस प्रकार गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन की स्थापना हुई, इस पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। डी० ए० वी० कॉलिज कमेटी की पृथक् रूप से स्थापना हो जाने के परिणामस्वरूप प्रतिनिधि सभा द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थाओं में गुरुकुल वृन्दावन ने स्वाभाविक रूप से सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया।

उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास में यह बात उल्लेखनीय है, कि शुरू में उसका कार्य उर्दू भाषा और पर्शियन लिपि में हुआ करता था। सन् १८९४ में सभा का जो वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ, उसमें स्वीकृत किये गये प्रस्तावों में एक यह भी था, कि "नागरी लिपि में सभा की कार्यवाही लिखी जाया करे।" प्रारम्भ में सभा की कार्यवाही में उर्दू के शब्दों की भरमार रहा करती थी। धीरे-धीरे इस दशा में भी परिवर्तन आया और सभा की सब कार्यवाही शुद्ध हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि में लिखी जाने लगी। पहले सभा का कार्यालय भी किसी एक स्थान पर निश्चित नहीं था। वार्षिक अधिवेशन द्वारा जिस सज्जन को मन्त्री चुन लिया जाता, सभा का प्रधान कार्यालय भी उन्हीं के निवास-स्थान पर चला जाता था। यही दशा कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष सदृश पदाधिकारियों के कार्यालयों की भी होती थी। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान कार्यालय लाहौर में था, और वह नगर उस प्रदेश के आर्यसमाजों की गतिविधि एवं कार्य-कलाप का मुख्य केन्द्र भी था। पर आर्यसमाज की दृष्टि से उत्तरप्रदेश के किसी भी नगर की स्थिति लाहौर के समान नहीं थी।

५ जनवरी, सन् १८९७ को उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के जो नियम रजिस्टर्ड कराये गये थे, उनमें सत्ताइसवाँ नियम निम्नलिखित था—"अन्तरंग सभा को अधिकार होगा कि स्वयं अथवा समाजों व प्रतिनिधि-सभासदों की 'जिला उपसभा' अथवा किसी कमिश्नरी के प्रतिनिधि-सभासदों की 'उपप्रान्तिक सभा' दोनों बनाकर उनके लिए उन्हीं में से अपेक्षित अधिकारी नियत कर दे। ऐसी उपसभाओं के अधिकार तथा कर्तव्यों को, जो नियमों के विरुद्ध न हों, सभा निर्धारित करेगी।" इस नियम के अनुसार सभा द्वारा जिला (मण्डल) उपसभाओं के नियम निर्धारित किये गये और उन्हें सन् १९१० में प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। इन नियमों में जिला उपसभाओं के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(१) ऐसे साधन उपस्थित करना जिनसे मण्डल में आर्यसमाजों की उन्नति, वृद्धि और रक्षा हो। (२) मण्डल के मेलों और दूसरे अवसरों पर वैदिक धर्म का प्रचार करना। (३) वैदिक संस्कारों की रुचि बढ़ाना और उनका करना। (४) मण्डल के आर्य पुरुषों के आचार, व्यवहार सुधारने में प्रयत्न करना। उत्तरप्रदेश का क्षेत्रफल बहुत अधिक है। उसमें आर्यसमाज के विस्तार एवं वैदिक धर्म के प्रचार में जिला (मण्डल) उपसभाओं की स्थापना बहुत उपयोगी सिद्ध हुई, और उन द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में आर्यसमाज की गतिविधि की वृद्धि में बहुत सहायता प्राप्त हुई। चिरकाल से प्रतिनिधि सभा का यह विचार था कि प्रत्येक जिले में उपदेशकों की नियुक्ति की जाए और वेद-प्रचार के लिए अवैतनिक प्रचारकों तथा

साधु-संन्यासियों पर ही निर्भर न रहकर ऐसे उपदेशक भी नियुक्त किये जाएँ, जिन्हें सभा द्वारा वेतन प्रदान किया जाता हो। सन् १८९७ में सम्भल में हुए सभा के अधिवेशन में ५२ उपदेशकों की नियुक्ति पर विचार किया गया था। सन् १८९९ में यह निश्चय किया गया, कि जिस जिले की समाजें मिलकर ३०० रुपये एकत्र कर लें, वहाँ सभा एक उपदेशक नियुक्त कर दिया करे। धर्म-प्रचार के कार्य में उपदेशकों के महत्त्व को अनुभव कर सभा द्वारा उनके सम्बन्ध में विशद रूप से नियम बनाये गये थे। यह समझा जाता था कि सामान्यतया कोई उपदेशक तीन दिन से अधिक किसी एक समाज में निवास नहीं कर सकेगा। समाज में निवास करते हुए उपदेशक के लिए समय का विभाग निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित किया गया था—प्रातः सात बजे तक नित्य-कर्मों तथा सन्ध्या-हवन से निवृत्त होकर सात से नौ बजे तक आर्यसमाज के सभासदों को सन्ध्या और सत्यार्थप्रकाश आदि का पाठन कराना, नौ बजे से चार बजे तक के सात घण्टों में दो घण्टे समाज के सहायकों से वार्तालाप करना, तीन घण्टे पठन-पाठन में व्यतीत करना और दो घण्टे भोजन व विश्राम में लगाना, फिर सायंकाल एक या डेढ़ घण्टे व्याख्यान और रात को एक या डेढ़ घण्टे उपनिषद् या सत्यार्थप्रकाश आदि की कथा करना अथवा लोगों की शंकाओं का समाधान करना। उपदेशकों से यह भी अपेक्षा की जाती थी, कि आर्यसमाज के पदाधिकारियों को समाज के उपनियमों के अनुसार आचरण तथा अन्य कार्य करने की शिक्षा दें, और संस्कृत का प्रचार करने के लिए प्रेरित करें। वैतनिक उपदेशकों के समान अवैतनिक उपदेशकों के सम्बन्ध में भी सभा द्वारा नियम बनाये गये थे, जिनका पालन करने के लिए उन्हें विवश भी किया जाता था। कतिपय दशाओं में उपदेशकों को पदच्युत भी कर दिया जाता था, और सभा का यह निरन्तर प्रयत्न रहता था कि किसी भी उपदेशक व प्रचारक का व्यक्तिगत आचरण ऐसा न हो, जो समाज के मन्तव्यों के विपरीत हो और किसी द्वारा सिद्धान्त के विरुद्ध किसी बात का प्रचार न किया जा सके। उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के अनेक विद्वानों व उपदेशकों को इसी आधार पर सभा से पृथक् कर दिया गया था, या उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की गयी थी, क्योंकि उन्होंने उपदेशकों के लिए निर्धारित नियमों का उल्लंघन किया था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, सन् १८९९ में पण्डित भीमसेन शर्मा को आर्यसमाज की सभासदी से पृथक् कर दिया गया था। शर्माजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिष्य थे, और आर्यसमाज में उनका अच्छा मान था। उन्होंने वैदिक धर्म के मन्तव्यों की पुष्टि में अनेक पुस्तकें लिखी थीं और उपनिषदों का भाष्य भी किया था। पर बाद में अनेक प्रश्नों पर उनका समाज से मतभेद हो गया। कहा जाता है, कि उन्होंने एक यज्ञ में बलि देने के लिए आटे का मेष (भेड़ा) बनाया और उसपर ऊन लगाई। मृतक श्राद्ध का भी उन्होंने समर्थन प्रारम्भ कर दिया। इस विषय पर फरवरी, १९०१ में आगरा में उनसे शास्त्रार्थ भी हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित तुलसीराम स्वामी और पण्डित देवदत्त शर्मा ने भाग लिया था। इस शास्त्रार्थ का विवरण आगरा आर्यसमाज द्वारा छपवा भी दिया गया था। प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारी उपदेशकों के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों का पालन कराने के लिए इतने कृत-निश्चय थे कि उन्होंने स्वामी दर्शनानन्द के विरुद्ध कार्यवाही करने में भी संकोच नहीं किया था। जगरांवा (पंजाब) के पण्डित कृपाराम संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर स्वामी

दर्शनानन्द सरस्वती हो गये थे और सम्पूर्ण भारत में भ्रमण कर वैदिक धर्म का प्रचार करने में तत्पर थे। पर वह "सर्वतन्त्र स्वतन्त्र" उपदेशक थे। सभाओं तथा आर्य-समाज के पदाधिकारियों द्वारा निर्मित नियमों के अनुशासन को वह महत्त्व नहीं देते थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा ने अपने से सम्बद्ध आर्य-सभाओं को यह आदेश दे दिया था, कि वे स्वामी जी के व्याख्यान न कराएँ। सन् १६०४ में शाहजहांपुर में हुए सभा के अधिवेशन में उन कारणों पर भी प्रकाश डाला गया था, जिनसे यह आदेश जारी किया गया था। सन् १६०५ में पण्डित मुसद्दीराम नामक एक वैतनिक उपदेशक को इस कारण सभा की सेवा से पृथक् कर दिया गया था, क्योंकि उनका आचरण अच्छा नहीं था।

वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा ने कतिपय अन्य उपायों को भी प्रयुक्त किया था। इसी प्रयोजन से उस द्वारा 'आर्यमित्र' नाम से एक पत्र प्रकाशित किया गया। यह पत्र पहले उर्दू में निकलता था। सन् १८६८ के सिकन्दराबाद में हुए सभा के अधिवेशन में निश्चय किया गया, कि 'आर्यमित्र' हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि में प्रकाशित हुआ करे। इसी के अनुसार सन् १६०० में 'आर्यमित्र' हिन्दी में निकलने लगा, और उसके पहले संपादक पण्डित बदरीदत्त शर्मा नियत हुए। बाद में जिन पत्रकारों ने बड़ी योग्यता के साथ इस पत्र का सम्पादन किया, उनमें पण्डित रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। 'आर्यमित्र' आर्य भास्कर प्रेस में छपा करता था। इस प्रेस को सन् १८६६ में पण्डित भगवानदीन ने सभा को दान दिया था। सन् १६०४ तक यह प्रेस मुरादाबाद में रहा, जहाँ उसका प्रबन्ध एक कमेटी द्वारा किया जाता था। मुंशी नारायण प्रसाद उसके मन्त्री थे। बाद में यह प्रेस आगरा ले जाया गया और 'आर्यमित्र' भी वहीं से प्रकाशित होने लगा। धर्म-प्रचार के प्रयोजन से ही सन् १८६६ में प्रतिनिधि-सभा ने "ट्रैक्ट सोसायटी" नाम से एक उपसभा स्थापित की थी। उसके संस्थापक श्री गंगाप्रसाद एम० ए० थे। उन्हीं की प्रेरणा से सभा ने इसकी स्थापना की थी, और उन्हीं को ट्रैक्ट सोसायटी का प्रथम मन्त्री नियुक्त किया था। गंगाप्रसाद जी ने वेदमन्त्रों पर दो ट्रैक्ट लिखकर स्वयं इस सोसायटी के कार्य का श्रीगणेश किया था। अन्य अनेक विद्वानों ने उनका अनुसरण कर "सन्ध्योपासन", "ईश्वर की सत्ता", "स्वामी दयानन्द और हिन्दू धर्म", "आर्यसमाज क्या है ?", "वर्णव्यवस्था" और "मांस-भक्षण निर्णय" आदि विषयों पर ट्रैक्ट लिखे और सभा ने उन्हें प्रकाशित किया। ये ट्रैक्ट प्रधानतया हिन्दी में होते थे, और हजारों की संख्या में छापे जाते थे। कुछ ट्रैक्ट उर्दू और अंग्रेजी में भी प्रकाशित किये गये थे। ट्रैक्ट सोसायटी द्वारा सन् १६११ तक १२ वर्षों में जो ट्रैक्ट प्रकाशित किये गये, उनकी संख्या २४ थी। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सा आर्य-साहित्य इस काल में उत्तरप्रदेश में प्रकाशित होना प्रारम्भ हो गया था। जिन विद्वानों ने सभा के इतिहास के इस प्रारम्भकाल में आर्यसमाज के मन्तव्यों की पुष्टि में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनमें पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित भीमसेन शर्मा, श्री चिम्मनलाल गुप्त, पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा, पण्डित छुट्टनलाल स्वामी, पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा, बाबू गंगाप्रसाद एम० ए०, श्री मदन मोहन सेठ, कविरत्न पण्डित अखिलानन्द शर्मा, पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती), श्री क्षेमकरन दास त्रिवेदी, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा और मुंशी ज्योतिप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। साहित्य-

सृजन की ओर आर्य विद्वानों का प्रारम्भ से ही ध्यान था। उसे वे धर्म-प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते थे।

वेद-प्रचार को दृष्टि में रखकर ही सन् १८९८ में प्रतिनिधि सभा ने एक महत्त्वपूर्ण निश्चय यह किया था, कि हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थानों में आर्यसमाजों की स्थापना, समाज-मन्दिरों के निर्माण तथा प्रचारकों की नियुक्ति के लिए सभा द्वारा विशेष प्रयत्न किया जाए। उत्तरप्रदेश में बहुत-से तीर्थ-स्थानों की सत्ता है, जहाँ लाखों हिन्दू प्रतिवर्ष एकत्र होते हैं। इन स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना कर उन्हें धर्म-प्रचार का केन्द्र बनाने के लिए ही यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था। आर्यसमाज में सुयोग्य उपदेशकों की कमी न होने पाए, इस प्रयोजन से सन् १९०० में प्रतिनिधि सभा ने एक 'उपदेशक पाठशाला' खोलने का निश्चय किया और उसके लिए विशद रूप से नियमों का निर्माण भी किया। इन नियमों के अनुसार पाठशाला में ऐसे व्यक्ति ही प्रवेश पा सकते थे, जिनकी आयु २० वर्ष से कम और ४० वर्ष से अधिक न हो और जिनका आचरण उत्तम हो। पाठशाला में चार प्रकार के उपदेशक तैयार करने की व्यवस्था की गयी थी—संस्कृत में व्याख्यान दे सकने वाले, अंग्रेजी में व्याख्यान दे सकने वाले, हिन्दी में व्याख्यान दे सकने वाले और किसी विशेष धर्म व सम्प्रदाय के विशेषज्ञ। वेद-प्रचार को दृष्टि में रखकर ही नवम्बर, १८९९ में आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में अलीगढ़ आर्यसमाज द्वारा एक 'वैदिक आश्रम' की स्थापना की गयी थी और बाद में अनेक गुरुकुल भी प्रतिनिधि सभा तथा विभिन्न आर्य सज्जनों के प्रयत्न से स्थापित हुए थे।

उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रारम्भिक वर्षों का वृत्तान्त लिखते हुए एक अन्य बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है, जिसका सम्बन्ध गोरक्षा के साथ था। सन् १८९४ में लखनऊ के अधिवेशन में सभा द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था—"गोपरस्ती न कभी किसी तरह आर्यसमाज के अकायद में शामिल थी और न है और न कोई इसमें ऐसा रुहजान पाया जाता है जो इस गोपरस्ती की तरफ आयन्दा मायल करने वाला तसव्वुर किया जा सके।" इस प्रस्ताव द्वारा सभा ने गोरक्षा के प्रति आर्यसमाज के रुख को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था। सनातनी हिन्दुओं के समान समाज गाय की पूजा नहीं करता। वह प्राणिमात्र की हिंसा का विरोधी है। पर क्योंकि गौ अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक उपयोगी है, और सर्वसाधारण जनता का आर्थिक जीवन प्रायशः उसी पर निर्भर करता है, अतः उसकी रक्षा एवं गोवंश का संवर्द्धन बहुत आवश्यक है।

(३) आर्यसमाज का विस्तार

सन् १९१२ तक उत्तरप्रदेश में स्थापित आर्यसमाजों की संख्या ५०० के लगभग तक पहुँच गयी थी। इनमें से २३१ समाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। आर्यसमाज के इस विस्तार पर प्रकाश डालने के लिए यह उपयोगी होगा, कि विविध जिलों में नये समाजों की स्थापना का पृथक् रूप से उल्लेख किया जाए, क्योंकि क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों की ही दृष्टि से उत्तरप्रदेश एक बहुत बड़ा राज्य या प्रदेश है।

मेरठ जिले का सबसे पुराना समाज मेरठ शहर (बुढाना गेट) का है, जिसकी स्थापना स्वयं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७८ में की थी। शुरू में समाज का

अपना भवन नहीं था। साप्ताहिक सत्संग आदि लाला रामशरण दास के मकान पर हुआ करते थे। सन् १८८४ में समाज-भवन के लिए भूमि क्रय की गयी थी और उस-पर मन्दिर बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था। उस समय मेरठ आर्यसमाज की स्थिति "प्रधान" समाज की थी। अतः उसके वार्षिकोत्सव में दूर-दूर से आर्य नर-नारी सम्मिलित हुआ करते थे। सन् १८८७ में इस समाज का जो नौवाँ वार्षिकोत्सव मनाया गया, उसमें मेरठ जिले के विविध आर्यसमाजों के अतिरिक्त चकरौता, मुजफ्फरनगर, मुरादाबाद, शिमला, देहली, लाहौर, मुलतान, सहारनपुर, कालिका आदि से भी बहुत-से आर्य पधारे थे, और मेरठ के आर्यसमाजियों ने उनका उत्साह व प्रेमके साथ स्वागत किया था। लाहौर से पण्डित गुरुदत्त भी इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने वहाँ व्याख्यान भी दिये थे। महर्षि के शिष्य स्वामी ईश्वरानन्द ने भी अपनी उपस्थिति से इस उत्सव की शोभा बढ़ायी थी। मेरठ शहर के बाद मेरठ छावनी (लाल कुर्ती, जवाहरनगर) में सन् १८८८ में आर्यसमाज स्थापित हुआ, और सन् १८९४ में मेरठ सदर में। लाल कुर्ती समाज की स्थापना में लाला रामचन्द्र सहाय, लाला जगन्नाथ प्रसाद और लाला नत्थूमल आदि सज्जनों का प्रमुख कर्तृत्व था और उसकी उन्नति व विकास के लिए बाबू कालीचरण ने अनथक श्रम किया था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् कालीचरणजी स्वामी अखिलानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए, और उन्होंने अपना सारा जीवन वैदिक धर्म के प्रचार में लगा दिया। सन् १९०५ में मेरठ में आर्यकुमार सभा की स्थापना हुई, जिसकी उन्नति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी, श्री मनोहरलाल सर्राफ और प्रिंसिपल ब्रह्मस्वरूप गुप्त आदि का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा। जब ये सज्जन युवा थे, आर्यकुमार सभा के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे। सन् १९०८ में मेरठ सदर में आर्य स्त्री-समाज स्थापित हुआ, जिस द्वारा मेरठ की महिलाओं में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बहुत कार्य किया गया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के कुछ वर्ष पश्चात् मेरठ नगर के अतिरिक्त मेरठ जिले के अनेक नगरों व ग्रामों में भी आर्यसमाजों की स्थापना शुरू हो गयी थी। मवाना कलां में एप्रिल, सन् १८८६ में और हापुड़ में सन् १८९० में आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। शुरू में हापुड़ आर्यसमाज के अधिवेशन लाला शिवचरणदास के मकान पर हुआ करते थे। उन्हीं द्वारा इस नगर में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष उत्साह प्रदर्शित किया गया था। मवाना कलां में समाज के कार्यकलाप के विस्तार में दुबलिश परिवार का विशेष कर्तृत्व था। गाजियाबाद अब एक पृथक् जिला है, पर कुछ वर्ष पूर्व तक यह मेरठ के अन्तर्गत था। गाजियाबाद नगर में आर्यसमाज की स्थापना सन् १८९१ के लगभग हुई, और उसके कुछ वर्ष पश्चात् खिर्वा जलालपुर में श्री स्वामी टोडरमल द्वारा समाज स्थापित किया गया था। मेरठ जिले की सरधना नगरी में अक्तूबर, १९०३ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था, जिसकी स्थापना तथा उन्नति के लिए श्री रघुवीरसिंह, महाशय सुनहरासिंह, श्री गंगासहाय, श्री टोडरमल और श्री ज्वालाप्रसाद शारदा आदि आर्य सज्जनों ने अनथक परिश्रम किया था। मेरठ जिले के आर्यसमाजों में बड़ौत (सन् १८८०), फलावदा (१८८५), परीक्षितगढ़ (१८८७) और खिर्वा जलालपुर (१८९८) के समाज बहुत पुराने हैं। इनकी

स्थापना उन्नीसवीं सदी में हो हो गयी थी। सन् १९११ तक स्थापित हुए अन्य आर्यसमाज कपसाढ़, सनौता, किरठल, छुर, तरीन, नरैना और बेगमाबाद के हैं। ये सब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आर्यसमाज मेरठ जिले में स्थापित हो चुके थे, जो अभी सभा के साथ सम्बद्ध नहीं हुए थे, और स्वतन्त्र रहकर वेद-प्रचार के कार्य में तत्पर थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती मुजफ्फरनगर जिले के दो नगरों में गये थे—मुजफ्फरनगर और मीरांपुर। पर उनके जीवनकाल में इस जिले में कोई भी समाज स्थापित नहीं हुआ था। सबसे पूर्व सन् १८८५ में मुजफ्फरनगर में आर्यसमाज की स्थापना हुई जिसे स्थापित करने में श्री बिहारीलाल का प्रमुख कर्तृत्त्व था। उन्होंने मेरठ में महर्षि का प्रवचन सुना था, और उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने नगर में आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया था। श्री बिहारीलाल एक अत्यन्त उत्साही आर्य सज्जन थे, और धर्म-प्रचार की उन्हें सच्ची लगन थी। सन् १८८७ में जब आर्य प्रतिनिधि सभा का पहला चुनाव हुआ, तो वही उसके मन्त्री चुने गये थे और तीन साल तक निरन्तर इस पद पर रहे। मुजफ्फरनगर के लोगों में आर्यसमाज के लिए इतना उत्साह था कि सन् १९०५ में वहाँ समाज-मन्दिर के लिए एक बीघा भूमि क्रय कर ली गयी थी और शीघ्र ही उसपर एक भव्य व विशाल मन्दिर भी बनवा लिया गया था। इसका श्रेय प्रधानतया चौधरी चतुरसिंह तथा लाला खैरातीराम को प्राप्त है। मुजफ्फरनगर के पश्चात् इस जिले में सन् १८९० में कैराना में, सन् १९०१ में दूधली में, सन् १९०२ में कुर्माली में, सन् १९०४ में चरथावल में, सन् १९०९ में थानाभवन में, सन् १९१० में जानसठ में और सन् १९१२ में खतौली में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। दूधली का समाज पण्डित मूलचन्द और ठाकुर जयसिंह के पुरुषार्थ का परिणाम था और जानसठ-समाज की स्थापना श्री शिवदायलुसिंह, श्री बद्रीप्रसाद और श्री रामशरण के प्रयत्न से हुई थी। कुर्माली के आर्यसमाज को चौधरी खुशीराम ने स्थापित किया था, और वही उसके प्रथम प्रधान थे। उन्होंने मेलों में धर्म-प्रचार के प्रयोजन से एक प्रचारक-मण्डली भी तैयार की थी, जिसमें लाला कुन्दनलाल और पण्डित देवीसहाय उनके मुख्य सहयोगी थे। चरथावल आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में चौधरी दिलीपसिंह, चौधरी जयदयालसिंह, पण्डित भोजदत्त, लाला दुर्गाप्रसाद और लाला बनारसीदास समाज के प्रमुख कार्यकर्ता थे। इसी प्रकार थानाभवन समाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में लाला जगन्नाथ, श्री नत्थूलाल और लाला मोल्हड़मल के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९११ में इस समाज के तत्त्वावधान में पौराणिकों से एक शास्त्रार्थ भी हुआ था, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित अखिलानन्द थे। सन् १९१२ तक मुजफ्फरनगर जिले में जो अन्य समाज स्थापित हो चुके थे, वे एलम, मुबारिकपुर, लुहारी, खई, चौसाना, जसौला, बघरा, बिनत और बुढाना में थे।

सहारनपुर जिले के लिए यह गौरव की बात है कि उसमें दो आर्यसमाज महर्षि के जीवनकाल में ही स्थापित हो गये थे—रुड़की और सहारनपुर में। सन् १९१२ तक जो अन्य आर्यसमाज इस जिले में स्थापित हुए, वे गंगोह (१८८५), तीतरों (१८९५), देवबंद (१९००), अम्बहटा (१९०२), नगली खटौली (१९०४), भगवानपुर (१९११), खेड़ा अफगान, चुड़ियाला, गढ़ी अब्दुल्लाखाँ, ज्वालापुर, पनियाला, महेवड़

और दावकी खेड़ी में थे। सहारनपुर जिले में जहाँ हरिद्वार सदृश तीर्थस्थान और गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर जैसी आर्य शिक्षण-संस्थाओं की सत्ता थी, वहाँ साथ ही मुसलमानों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान परान कलीयर तथा दारुल-उलूम देवबंद जैसा विश्वविख्यात मुसलिम शिक्षणालय भी वहाँ विद्यमान थे। इनके कारण इस्लाम का इस जिले में अच्छा प्रचार रहा है, और क्रिश्चियन पादरी भी वहाँ विशेष रूप से सक्रिय रहे हैं। यही कारण है, जो आर्यसमाज को इस जिले में बहुत संघर्ष करना पड़ा और विधर्मियों से वहाँ अनेक शास्त्रार्थ हुए। रुड़की समाज ने इस जिले में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह नगरी हरिद्वार से अधिक दूर नहीं है, और चिरकाल से इंजीनियरिंग की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के आर्यसमाज ने हरिद्वार जैसे पौराणिकों के गढ़ तथा देवबंद जैसे इस्लाम के गढ़ में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सराहनीय प्रयत्न किया। सन् १८९१ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। रुड़की को केन्द्र बनाकर इस मेले में जो प्रचार किया गया, उसमें पण्डित लेखराम तथा लाला मुंशीराम ने भी भाग लिया था। रुड़की के अनेक आर्य सज्जनों ने इस अवसर पर निवास, भोजन आदि की व्यवस्था के लिए अनथक परिश्रम किया था। रुड़की आर्यसमाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में श्री उमरावसिंह, लाला मथुरादास, मास्टर शंकरलाल, लाला रंगीलाल, बाबू नाथूराम और लाला भागीरथलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। गंगोह का आर्यसमाज सन् १८८५ में पण्डित लेखराम द्वारा स्थापित किया गया था। दलितोद्धार, शुद्धि एवं विधवाविवाह आदि प्रगतिशील कार्यों में यह समाज विशेष रूप से सक्रिय रहा है। तीतरों का समाज सन् १८९५ में स्थापित हुआ, और खेड़ा अफगान का सन् १८९६ में। देवबंद समाज की स्थापना सन् १९०० में श्री कृष्णसेवकलाल मुन्सिफ के पुरुषार्थ से हुई थी। दारुल-उलूम के कारण देवबंद में मुसलमानों का प्रभाव बहुत अधिक था, जिसके परिणामस्वरूप इस समाज को विरोध तथा अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। इसीलिए वहाँ मुसलमानों से अनेक शास्त्रार्थ भी हुए, जिनमें पण्डित रामचन्द्र देहलवी सदृश आर्य विद्वानों ने भाग लिया था। मई, १९०२ में अम्बहटा में आर्यसमाज स्थापित हुआ था, जिसके भवन के लिए पण्डित गणपतिराय ने दो हजार रुपये दान दिये थे। नगली खटौली समाज (१९०४) के संस्थापक चौधरी झण्डूदत्त तथा मास्टर कुन्दनसिंह थे। इस समाज द्वारा अनेक मुसलमानों की शुद्धि करायी गयी, तथा विधवाओं के पुनर्विवाह भी कराये गये। सन् १९११ में स्थापित भगवानपुर आर्यसमाज की स्थापना का श्रेय लाला सकुम्भरदास तथा महाशय मूलचन्द धीमान को प्राप्त है। समाज को प्रथम वार्षिकोत्सव के अवसर पर महाशय मूलचन्द ने अपना मकान तक समाज के अर्पित कर दिया था। शुद्धि तथा अनाथों की रक्षा आदि कार्यों के लिए यह समाज प्रारम्भ से ही सक्रिय रहा है।

देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना जून, १८७९ में हुई थी। प्रारम्भिक वर्षों में उसके प्रमुख कार्यकर्ता पण्डित कृपाराम, स्वामी महानन्द, श्री दरोगालाल सिंह, बाबू माधोनारायण और श्री गोपालसिंह आदि थे। सन् १८८६ में बाबू ज्योतिस्वरूप देहरादून आये, और वहाँ उन्होंने वकालत प्रारम्भ की। उनके कर्तृत्व से इस समय से आर्यसमाज की विशेष रूप से उन्नति शुरू हुई। उन्होंने स्वामी महानन्द से संस्कृत का अध्ययन किया और वकालत के साथ-साथ वह वैदिक धर्म के मन्तव्यों का प्रतिपादन भी

करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजी क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया, और सन् १८९१ में वह प्रतिनिधि सभा के प्रधान भी चुने गये। उन्हीं के प्रयत्न से मेरठ में स्थापित डी० ए० वी० कॉलिज को सन् १९०४ में देहरादून ले जाया गया। उनकी पत्नी श्रीमती महादेवी भी आर्य विचारों की सुशिक्षित महिला थीं। उनके अनुरोध पर बाबू ज्योतिस्वरूप ने देहरादून में महादेवी कन्या पाठशाला की स्थापना की, जो आज स्नातकोत्तर शिक्षा स्तर तक का महान् शिक्षाकेन्द्र है। देहरादून आर्यसमाज के अन्य कार्यकर्ताओं में श्री पूर्णसिंह नेगी, ठाकुर मित्रजीत सिंह, बाबू हुकमसिंह और बाबू हरस्वरूप के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रसंग में प्रिंसिपल लक्ष्मणस्वरूप का उल्लेख भी आवश्यक है। वह डी० ए० वी० स्कूल देहरादून के आचार्य थे, और उनके प्रयत्न से इस शिक्षण-संस्था ने बहुत उन्नति की थी। उत्तरप्रदेश में आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन होने पर वही उसके प्रथम प्रधान निर्वाचित हुए थे और दो वर्ष (१८८७-८८) इस पद पर रहे थे। सन् १९१२ तक देहरादून जिले में चूहड़पुर, डोईवाला, मसूरी और चकराता में भी आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। चूहड़पुर एक प्रसिद्ध मण्डी है, जिसे वर्तमान समय में विकासनगर कहा जाता है। वहाँ सन् १८९३ में समाज स्थापित हो गया था। उसके प्रथम प्रधान पण्डित मुकन्दलाल चुने गये थे और प्रथम मन्त्री श्री बाबूराम। ये दोनों सज्जन आर्यसमाज के पदाधिकारी होने के साथ-साथ उसके प्रचारक भी थे और उनके प्रयत्न से इस समाज ने बहुत उन्नति की थी। डोईवाला में आर्यसमाज का बीजारोपण सन् १९११ में हो गया था। इस स्टेशन पर रेलगाड़ियों की टक्कर हो जाने के कारण जो सैकड़ों व्यक्ति हताहत हो गये थे, उनकी सेवा के लिए आर्य विचारों के स्थानीय व्यक्तियों ने बहुत कार्य किया था, जिसके कारण वहाँ आर्यसमाज का प्रभाव बहुत बढ़ गया और समाज की स्थापना हो गयी। मसूरी का आर्यसमाज बहुत पुराना है। उसके संस्थापकों में बाबू ज्योतिस्वरूप प्रमुख थे, और उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही वहाँ समाज स्थापित हो गया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बुलन्दशहर जिले के अनेक स्थानों पर धर्म-प्रचार किया था, और गंगा के तट पर स्थित कर्णवास में उन्होंने अनेक बार निवास भी किया था। यही कारण है कि इस जिले में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार है, और सन् १९१२ तक वहाँ के खुर्जा, घुंघरावली, जहाँगीराबाद, नगला, मुहीउद्दीनपुर, नगला उदयभानु, पहासू, बैलोन, बैरा फीरोजपुर, भदौरा, बुलन्दशहर, भुवन बहादुरनगर, लालगढ़ी, सावितगढ़, सांखनी, सिकन्दराबाद, स्याना और डिबाई में समाज स्थापित हो गये थे। इनमें बुलन्दशहर का आर्यसमाज सबसे पुराना है। उसके बाद सन् १८८८ में सिकन्दराबाद, सन् १८९८ में जहाँगीराबाद, सन् १८९८ में खुर्जा और सन् १९०० में डिबाई के समाज स्थापित हुए थे। बुलन्दशहर जिले को यह सौभाग्य प्राप्त है कि आधुनिक युग के प्रथम गुरुकुल की स्थापना उसी के अन्यतम नगर सिकन्दराबाद में हुई थी। पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती) ने वहीं सन् १८९८ में अपने प्रथम गुरुकुल को स्थापित किया था। इस जिले के देहाती क्षेत्र में भी आर्यसमाज का बहुत प्रचार है, और वैदिक धर्म के जितने अधिक प्रचारक, कार्यकर्ता और नेता इस एक जिले ने प्रदान किये हैं, उतने उत्तरप्रदेश के अन्य किसी जिले ने नहीं दिये। शास्त्रार्थ-महारथी ठाकुर अमरसिंह (अमर स्वामीजी महाराज), कुंवर सुखलाल, पण्डित जियालाल, श्री मदनमोहन सेठ

आदि आर्य प्रचारक व विद्वान् इसी जिले में उत्पन्न हुए थे, और यहीं उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरणा प्राप्त की थी।

बुलन्दशहर के समान **अलीगढ़** जिले में भी आर्यसमाज का बहुत प्रचार है और सन् १९१२ तक वहाँ २१ समाजों की स्थापना हो गयी थी। महर्षि ने इस जिले के भी अनेक स्थानों पर वेदों का प्रचार किया था और इस द्वारा भी आर्यसमाज को अनेक कर्मठ कार्यकर्ता व नेता प्रदान किये गये, जिनमें पण्डित नाथूराम शंकर, स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती, दण्डी स्वामी ब्रह्मानन्द और पण्डित सुरेन्द्र शर्मा गौड़ के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने अपना प्रसिद्ध साधु-आश्रम इसी जिले के हरदुआगंज नगर में कालिन्दी नदी के तट पर स्थापित किया था। इस जिले में अलीगढ़ का आर्य-समाज सबसे पुराना है। महर्षि के देहावसान के दो वर्ष पश्चात् सन् १८८५ में उसकी स्थापना हुई थी और प्रारम्भ काल के उसके कार्यकर्ताओं में श्री मूलचन्द आर्य, पण्डित सुन्दरलाल, लाला मिट्ठनलाल और ठाकुर मुकुन्दसिंह प्रमुख थे। शुद्धि आन्दोलन में यह समाज शुरू से ही अग्रसर रहा। यद्यपि अलीगढ़ में मुसलमानों का बड़ी संख्या में निवास है, और मुसलिम यूनिवर्सिटी भी वहाँ विद्यमान है, पर इससे आर्यसमाज के कार्यकलाप में विशेष बाधा उपस्थित नहीं हुई। वहाँ की जनता में वैदिक धर्म का इतना अधिक प्रचार हुआ, कि सन् १९०८ में वहाँ आर्य स्त्री-समाज की भी स्थापना हो गयी, जिसमें श्रीमती सरस्वती देवी का मुख्य कर्तृत्त्व था। सन् १८८७ में अलीगढ़ जिले के काजिमाबाद कस्बे में लाला मुकन्दीलाल के पुरुषार्थ से समाज की स्थापना हो गयी थी। ये सज्जन बड़े कर्मठ थे, और आर्यसमाज के साथ उन्होंने एक पुस्तकालय भी खोल दिया था। अलीगढ़ जिले में मुरसान नगर का विशेष महत्त्व है। प्रसिद्ध स्वतन्त्रता-सेनानी राजा महेन्द्र प्रताप वहीं के निवासी थे। मुरसान के राजा श्री टीकमसिंह के निमन्त्रण पर महर्षि वहाँ गये थे, और उनके प्रवचनों को सुनकर प्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् श्री बाबूराम नागर उनके अनुयायी हो गये थे। महर्षि के देहावसान के आठ वर्ष पश्चात् सन् १८९१ में मुरसान में विधिवत् आर्यसमाज स्थापित हो गया था, यद्यपि उसका कार्य वहाँ पहले भी हो रहा था। सन् १८९१ में ही अतरौली में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। प्रारम्भकाल के उसके कार्यकर्ताओं में ठाकुर रघुनाथ सिंह, बाबू कालीचरण, पण्डित बद्रीदत्त और बाबू सन्तलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। न्हौटी मडराक एक बड़ा गाँव है। वहाँ पण्डित शोभाराम के प्रयत्न से सन् १९०० में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। इस ग्राम के समीपवर्ती क्षेत्र में राजपूतों का बड़ी संख्या में निवास है। न्हौटी मडराक के समाज को केन्द्र बनाकर राजपूतों में वैदिक धर्म का बहुत प्रचार किया गया, और आगे चलकर यह समाज शुद्धि आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। सन् १९०५ में श्री बलदेव सिंह के पुरुषार्थ से कचौरा में आर्यसमाज स्थापित हुआ, और बाद में हाथरस (१९१०), इगलास (१९११), महुआ (१९११), मण्डू (१९१२), और बोरना (१९१२) में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त छतरपुर, दादों, पहाड़ी नगला, विजय-गढ़, बरौढा, बरला, शाहगढ़, सिकन्दराराऊ और इनायतपुर बफेड़ा में भी सन् १९१२ तक आर्यसमाज स्थापित हो गये थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का **बिजनौर** जिले के किसी भी स्थान पर पदार्पण नहीं हुआ था। फिर भी इस जिले में वैदिक धर्म का बहुत प्रचार है, और वहाँ आर्यसमाजों की

स्थापना महर्षि के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गयी थी। महर्षि के अन्यतम शिष्य स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने इसके लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका उल्लेख इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में किया जा चुका है। बिजनौर का आर्यसमाज सन् १८८३ में स्थापित हुआ था। उसके प्रथम प्रधान कुंवर भारतसिंह थे, और प्रथम मन्त्री बाबू जीराजसिंह। उस समय बिजनौर से अनेक मुसलिम समाचारपत्र तो प्रकाशित होते थे, पर हिन्दुओं का कोई पत्र नहीं था। इस अभाव की पूर्ति के लिए बाबू जीराजसिंह ने सन् १८८८ में 'तोहफे-हिन्द' नाम से एक साप्ताहिक पत्र उर्दू भाषा में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया, जिससे वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। शुरू में बिजनौर समाज का अपना भवन नहीं था, अतः साप्ताहिक सत्संग विविध आर्यों के मकानों पर हुआ करते थे। सन् १८९६ में समाज-मन्दिर के लिए भूमि क्रय कर ली गयी और कुछ समय पश्चात् उसपर भवन का भी निर्माण कर लिया गया। इसके लिए नहटौर के रईस चौधरी चुन्नीसिंह ने उदारतापूर्वक धनराशि प्रदान की थी। बिजनौर आर्यसमाज वैदिक धर्म के प्रचारका महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। दारानगर गंज में गंगास्नान का जो मेला प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन लगता है, उसमें बिजनौर समाज ने सन् १८९६ में धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया जिसके कारण सर्वसाधारण जनता को वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप की जानकारी का अवसर मिला, और आर्यसमाज के कार्यकलाप के विस्तार में बहुत सहायता प्राप्त हुई। बिजनौर समाज द्वारा अनेक शास्त्रार्थों का भी आयोजन किया गया था। पहला शास्त्रार्थ सन् १८८७ में पौराणिकों से हुआ था, जिसमें आर्यसमाज का पक्ष पण्डित तुलसीराम स्वामी द्वारा प्रस्तुत किया गया था। बिजनौर समाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में कुंअर भारतसिंह और बाबू जीराजसिंह के अतिरिक्त चौधरी शेरसिंह, मुंशी भगवान दास और महाशय गौरीशंकर के नाम उल्लेखनीय हैं। बिजनौर नगर से छह मील दूर मोहम्मदपुर-देवमल नगरी है, जहाँ बिश्नोई पन्थ के लोगों का बड़ी संख्या में निवास था। स्वामी सहजानन्द ने उन्हें वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया और १८८३ तक वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना कर दी। सनातनी हिन्दू विश्नोइयों के हाथ का पानी तक नहीं पीते थे और उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का भी अधिकार नहीं था। स्वामी सहजानन्द के प्रयत्न से विश्नोइयों को यज्ञोपवीत पहनाये गये और उनके साथ खानपान का व्यवहार भी प्रारम्भ कराया गया। कट्टर सनातनियों ने इसका उग्र रूप से विरोध किया, पर वे सफल नहीं हो सके। मोहम्मदपुर-देवमल के बहुसंख्यक विश्नोई आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये, और यह नगरी समाज की शक्ति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गयी। सेठ लेखराज सिंह तथा सेठ प्रवीणसिंह इस समाज के प्रारम्भिक प्रमुख कार्यकर्ता थे। मोहम्मदपुर-देवमल के विश्नोई लोगों के सहयोग से नगीना में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई। विश्नोई पन्थ के एक साधु ब्रह्मानन्द, जिन्हें कुछ समय के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था, नगीना आये और उन द्वारा वहाँ के विश्नोइयों में आर्यसमाज का प्रवेश हुआ। पण्डित हरिशंकर दीक्षित ने औपचारिक रूप से नगीना में समाज की स्थापना की और श्री छेदालाल अग्रवाल उसके प्रथम प्रधान निर्वाचित हुए। शुरू में नगीना में आर्यसमाज का बहुत विरोध हुआ और कितने ही आर्यों को बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया। साधु ब्रह्मानन्द को भी धन का लोभ देकर आर्यसमाज का विरोधी बना दिया गया। पर

पण्डित हरिशंकर दीक्षित जैसे सच्चे आर्यों ने इस विरोध की कोई परवाह नहीं की। समाज निरन्तर उन्नति करता गया और सन् १९०३ में इस समाज का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। जून, १९०४ में नगीना की अञ्जुमन-ए-इस्लामिया के साथ आर्यसमाज का शास्त्रार्थ हुआ, जिससे जनता पर वैदिक धर्म की सचाई का सिक्का जम गया। आर्यसमाज की ओर से इस शास्त्रार्थ में स्वामी दर्शनानन्द, पण्डित आत्माराम अमृतसरी, पण्डित मुरारीलाल शर्मा और श्री योगेन्द्रपाल सदृश धुरन्धर विद्वानों ने भाग लिया था। प्रतिनिधि सभा के प्रधान पण्डित भगवानदीन इस अवसर पर नगीना में विद्यमान थे, और शास्त्रार्थ का संचालन कर रहे थे। महर्षि के जीवन-काल में जून, १८८१ में नजीबाबाद में जिस आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, उसका विवरण इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। पर यह समाज देर तक कायम नहीं रह सका था। सन् १८९६ में जब पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) धर्म-प्रचार करते हुए नजीबाबाद आये, तो उन्होंने वहाँ समाज की पुनः स्थापना का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप १ जून, १८९७ को वहाँ स्थायी रूप से आर्यसमाज स्थापित हो गया। पण्डित बालमुकुन्द उसके प्रधान चुने गये और मास्टर हरगुलालसिंह मन्त्री। विधर्मियों की शुद्धि तथा दलितोद्धार के कार्य में यह समाज विशेष रूप से सक्रिय रहा है, और समीप के पार्वत्य प्रदेश (गढ़वाल) में अछूतों के उद्धार के लिए इसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सन् १९०३ में नजीबाबाद में आर्य स्त्री-समाज की भी स्थापना हो गयी थी। श्रीमती हरदेवी का इसे स्थापित करने में विशेष कर्तृत्व था। बिजनौर जिले का एक नगर नहटौर है। नवम्बर, १८८७ में पण्डित गौरीशंकर तथा श्री देवीदयाल के प्रयत्न से वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई। चौधरी अनूपसिंह उसके प्रथम प्रधान चुने गये और चौधरी चुन्नीसिंह प्रथम मन्त्री। चुन्नीसिंहजी के पितामह ने नहटौर में एक शिवालय बनवाया था, जो वहाँ का प्रधान पौराणिक मन्दिर था। पर चौधरी चुन्नीसिंह के आर्यसमाजी बन जाने के कारण वह उजड़ने लग गया था, जिससे सनातनी लोग बहुत उद्विग्न थे। इसी समय वहाँ दो विधर्मियों की शुद्धि भी की गयी, जो बिजनौर जिले की सर्वप्रथम शुद्धियाँ थीं। इससे सनातनी लोगों के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और उन्होंने चौधरी चुन्नीसिंह तथा उनके साथियों के विरुद्ध एक महज़रनामा (प्रतिज्ञा-पत्र) तैयार कराया, जिसमें उनके हाथ का छुआ हुआ कोई भी पदार्थ ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की गयी थी। पर चौधरी चुन्नीसिंह इससे जरा भी विचलित नहीं हुए और पूर्ण उत्साह से समाज का कार्य करते रहे। सामाजिक सुधार में भी वह अग्रणी रहे। एक विधवा से विवाह कर उन्होंने समाज-सुधार का आदर्श भी प्रस्तुत किया था। बिजनौर जिले के दो अन्य नगर धामपुर और चांदपुर हैं। इनमें वैदिक धर्म का प्रचार तो पहले से ही जारी था, पर विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना चांदपुर में सन् १८९१ में हुई, और धामपुर में सन् १८९८ में। सन् १८९० की बात है कि चौधरी बहालसिंह नामक एक सज्जन चांदपुर में चौकीदार होकर आये। वह कट्टर आर्यसमाजी थे। रात को पहरा देते हुए वह "सोने वालो—जागते रहो" और "उलटे मारग पर चलकर हम दुःख उठावें, क्या मतलब" की आवाज लगाया करते थे। साथ ही पहरा देते हुए वह आर्यसमाज के भजन भी गाते रहते थे, जिन्हें सुनकर लोगों का झुकाव महर्षि की शिक्षाओं की ओर होता जाता था। सन् १८९१ में चांदपुर में समाज की स्थापना हुई,

और लाला गौरीलाल उसके प्रधान चुने गये तथा पण्डित शंकरलाल मन्त्री। धामपुर में आर्यसमाज की स्थापना (सन् १८९८) पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) के प्रयत्न से हुई थी। लाला कन्हैयालाल उसके प्रथम प्रधान थे और लाला रूपचन्द प्रथम मन्त्री। धामपुर आर्यसमाज का जो वार्षिकोत्सव सन् १९०५ में मनाया गया था, उसमें महर्षि के शिष्य स्वामी आत्मानन्द सरस्वती भी उपस्थित थे। बिजनौर जिले के एक अन्य नगर हलदौर में वैदिक धर्म के प्रचार का सूत्रपात स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा किया गया था, और लाला ठाकुरदास तथा श्री भवानी प्रसाद के प्रयत्न से सन् १९०२ में एक स्थानीय मेले में पण्डित वसन्त लाल उपदेशक तथा पण्डित छुट्टनलाल स्वामी सदृश आर्य विद्वानों को बुलाकर धर्म-प्रचार कराया गया था। इस प्रकार वहाँ धीरे-धीरे जनता में समाज के प्रति रुचि बढ़ती गयी, और सितम्बर, १९१० में हलदौर आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना हो गयी। श्री ठाकुरदास उसके प्रथम प्रधान बने, और श्री भवानीप्रसाद प्रथम मन्त्री। बिजनौर जिले के निम्नलिखित स्थानों पर भी सन् १९१२ तक आर्यसमाज स्थापित हो गये थे—गोहावर (१९०४), स्यौहरा (१८९२), पुरैनी (१९१२), रेहड़, बढ़ापुर, असगरीपुर, नांगल, सौंख, सेंद्वार और शेरकोट।

मुरादाबाद जिले के नगरों में मुसलमानों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है, और उस क्षेत्र में उनका प्रभाव भी बहुत अधिक है। फिर भी सन् १९१२ तक इस जिले में १४ आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती सन् १८७६ और १८७९ में मुरादाबाद गये थे, और उन द्वारा ही २० जुलाई, १८७९ को वहाँ आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी। मुंशी इन्द्रमणि इस समाज के प्रथम प्रधान थे, और श्री कुंअर परमानन्द प्रथम मन्त्री। इस समाज के प्रारम्भिक काल के सदस्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण मुंशी नारायण प्रसाद थे, जो बाद में महात्मा नारायण स्वामी के नाम से विख्यात हुए। महर्षि के देहावसान के दो वर्ष पश्चात् मुरादाबाद जिले के दो अन्य नगरों—चन्दौसी और सम्भल में आर्यसमाज स्थापित हुए। चन्दौसी समाज के संस्थापक बलिया-निवासी बाबू भगवान दास थे, जो चन्दौसी में रेलवे इंजीनियर थे। सम्भल में आर्यसमाज की स्थापना साहू श्यामसुन्दर लाल और श्री प्यारे लाल अग्रवाल के पुरुषार्थ से हुई थी। आर्यसमाज के प्रसिद्ध महोपदेशक पण्डित शिवशर्मा इसी समाज के प्रमुख कार्यकर्ता थे। टांडा अफजल के लाला चन्दनलाल तथा श्री कुञ्जबिहारी ने मुरादाबाद में महर्षि के भाषण सुने थे। वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि आर्यसमाज के भक्त बन गये। उन्हीं द्वारा सन् १८९० में अपने नगर टांडा अफजल में आर्यसमाज की स्थापना की गयी। समाज-सुधार तथा शुद्धि के कार्य में टांडा अफजल का समाज शुरू से ही बहुत सक्रिय रहा है। कितने ही विधर्मियों की वहाँ शुद्धियाँ की गयीं, और पण्डित भोजदत्त आर्य मुसाफिर ने वहीं मिर्जा अल्लायार खाँ से इस्लाम पर वह शास्त्रार्थ किया, जिसकी चिरकाल तक उस क्षेत्र में चर्चा रही। सुरजन नगर का आर्यसमाज सन् १८९७ में स्थापित हुआ था, सरायतरीन का सन् १८९३ में और अमरोहा का सन् १९०२ में। सरायतरीन में समाज की स्थापना सेठ नन्दराम ने की थी। उन्हें आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म से अगाध प्रेम था। पण्डित लेखराम धर्म-प्रचार करते हुए सरायतरीन भी गये थे, और उनके भाषणों से प्रभावित होकर ही सेठ नन्दराम तथा श्री सुखदेव सदृश सज्जन महर्षि के अनुयायी बन गये थे। इस समाज के प्रथम प्रधान सेठ नन्दराम थे,

और प्रथम मन्त्री श्री सुखदेव। पण्डित घासीराम द्वारा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का जो अंग्रेजी अनुवाद किया गया था, उसे प्रकाशित करने का सब खर्च सेठ नन्दराम ने ही प्रदान किया था। सन् १६०२ में सरायतरीन में स्वामी दर्शनानन्द ने पौराणिकों से शास्त्रार्थ किया था और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सेठ नन्दराम ने आर्यसमाज-मन्दिर तथा वैदिक पाठशाला के लिए भूसम्पत्ति प्रदान कर दी थी। महाशय प्यारेलाल मुख्तार के प्रयत्न से सन् १६०५ में हसनपुर में समाज स्थापित हुआ था। प्रारम्भिक काल में इस समाज के मुख्य कार्यकर्ता श्री शिवनारायण, श्री रघुवीरशरण और साहू भूषणशरण थे। सन् १६०६ में अगवानपुर में, सन् १६११ में बहजोई में और सन् १६१२ में काण्ठ में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। इसके अतिरिक्त मुरादाबाद जिले में सिरसी और सरकड़ा दो अन्य स्थान थे, जहाँ १६१२ तक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे।

बरेली जिले के केवल पाँच आर्यसमाज ऐसे हैं, जिनकी स्थापना सन् १६१२ तक हो चुकी थी। ये समाज बिहारीपुर के थे। बरेली, भूड़ बरेली, स्त्री आर्यसमाज भूड़, फैजुल्लापुर और अतरछेड़ी बिहारीपुर (बरेली) समाज की स्थापना महर्षि के जीवन-काल में ही सन् १८८३ में हो गयी थी। रुहेलखण्ड में आर्यसमाज की गतिविधि का यह समाज प्रधान केन्द्र रहा है, और डॉक्टर श्यामस्वरूप सत्यव्रत ने यहाँ अनाथों की रक्षा-दलितों के उद्धार तथा शुद्धि के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। आर्यसमाज भूड़ की स्थापना सन् १६०२ में लाला मुकुटबिहारी लाल, श्री श्यामबिहारी लाल और श्री बृजबिहारी लाल आदि सज्जनों के पुरुषार्थ से हुई थी। इसी समय के लगभग स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती ने फैजुल्लापुर में समाज स्थापित किया था। भूड़ का आर्य स्त्री-समाज सन् १६०६ में स्थापित हुआ था। यद्यपि सन् १६१२ तक बरेली जिले में केवल पाँच समाजों की स्थापना हुई थी, पर बरेली नगर के बिहारीपुर और भूड़ आर्यसमाजों ने समीप के देहाती क्षेत्रों में वैदिक धर्म का बड़ी तत्परता के साथ प्रचार किया था, जिसके परिणामस्वरूप बाद में इस जिले के अनेक ग्रामों में भी समाजों की स्थापना हुई।

बदायूं आर्यसमाज की स्थापना भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में ही हो गयी थी (जुलाई, १८७६)। इस समाज के प्रथम प्रधान श्री दीवानचन्द थे और मन्त्री श्री देवीप्रसाद। प्रारम्भिक वर्षों के कार्यकर्ताओं में श्री कन्हैयालाल, श्री बनवारीलाल, श्री बालमुकुन्द और श्री राजबहादुर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बदायूं जिला आर्य-समाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। सन् १६०३ में स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा वहाँ गुरुकुल सूर्यकुण्ड की स्थापना हुई थी, और तीन वर्ष पश्चात् सन् १६०६ में पार्वती आर्य कन्या विद्यालय की। बदायूं जिले के इस्लामनगर कस्बे में सन् १८६६ में आर्यसमाज स्थापित हुआ, और सन् १६०० में उझानी में। इसके संस्थापकों में पण्डित सीताराम प्रमुख थे। प्रारम्भ में समाज के साप्ताहिक सत्संग उन्हीं के मकान पर हुआ करते थे। बदायूं जिले का एक अन्य पुराना समाज मुंढिया घुरेकी का है, जिसे सन् १६०४ में लाला ताराचन्द ने स्थापित किया था। उन्होंने बाद में १२ हजार रुपये प्रदान कर वहाँ समाज-मन्दिर का निर्माण भी कराया। इसी समय दातागंज में भी आर्य-समाज की स्थापना हुई। बदायूं जिले के निम्नलिखित अन्य आर्यसमाज भी सन् १६१२ तक स्थापित हो चुके थे—गुन्नौर, ढहगवाँ, नौनी, बिलसी, बिसौली, भिरावटी,

मुहशमपुर, सोरहा, सहसवान, हरफरी और सेरहा।

शाहजहांपुर नगर में आर्यसमाज की स्थापना महर्षि के जीवनकाल में सन् १८७६ में हो गयी थी। प्रारम्भ के कुछ वर्षों में इसकी दशा सुव्यवस्थित नहीं रही, पर बाद में महाशय बख्तावर सिंह,हकीम प्रसादी लाल, दरोगा लक्ष्मीनारायण, महाशय शिवलाल वकील, और मास्टर देवीप्रसाद आदि महानुभावों ने इस समाज में नवजीवन का संचार करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उनके प्रयत्न से सन् १८९६ तक यह समाज सुव्यवस्थित रूप में आ गया। सन् १९०० में समाज के अपने भवन का भी निर्माण हो गया, और वहाँ अनेक संस्थाएँ खुलनी प्रारम्भ हो गयीं। महर्षि के देहावसान के एक वर्ष पश्चात् सन् १८८४ में शाहजहांपुर के निकट जलालाबाद में भी समाज स्थापित हो गया था, जिसकी स्थापना में स्वामी परमानन्द सरस्वती का मुख्य कर्तृत्व था। शाहजहांपुर जिले में चार अन्य आर्यसमाज हैं, जो सन् १९१२ से पूर्व स्थापित हो चुके थे—तिलहर, खुदागंज, खण्डहर और पुवायां। तिलहर समाज की स्थापना फरवरी, १८९७ में मुंशी चिम्मनलाल द्वारा की गयी थी। वह एक सुलेखक भी थे। खुदागंज का समाज सन् १९०२ में स्थापित हुआ था।

रुहेलखण्ड के दो अन्य जिले पीलीभीत और रामपुर हैं। सन् १९१२ तक उनमें आर्यसमाज का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। पीलीभीत नगर का समाज सन् १८८५ में स्थापित हुआ था, और पीलीभीत जिले के पूरनपुर नगर में १९०१ में और बीसलपुर नगर में १९०२ में समाजों की स्थापना हुई थी। रामपुर पहले एक रियासत थी, जिस पर नवाब का शासन था। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् वह उत्तरप्रदेश का एक पृथक् जिला बन गया है। इसमें भी तीन समाज—रामपुर, गैरा कलां और रहमतगंज सन् १९१२ से पूर्व स्थापित हुए थे। रहमतगंज समाज की स्थापना स्वामी चिद्घनानन्द ने की थी। संन्यास-आश्रम में प्रवेश से पूर्व उनका नाम चूड़ामल था। वह एक साधारण कृषक थे। मुरादाबाद में महर्षि के दर्शन व प्रवचनों से प्रभावित होकर वह आर्यसमाजी बन गये, और उन्होंने रामपुर के क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से भाग लिया। रामपुर जिले में मिलक स्टेशन के समीप गैरा कलां गाँव में भी एक आर्यसमाज सन् १९०८ में स्थापित हो गया था।

मेरठ और रुहेलखण्ड कमिश्नरियों के उत्तर में उत्तरप्रदेश का पार्वत्य क्षेत्र है जिसमें टिहरी गढ़वाल, गढ़वाल, नैनीताल, अल्मोड़ा, चमोली, पिथौरागढ़ और उत्तर-काशी जिलों की सत्ता है। हिमालय की पर्वतमालाओं का यह क्षेत्र दो भागों में विभक्त है, गढ़वाल और कुमायूं। सच्चे शिव और योगियों की खोज में युवक दयानन्द ने हिमालय के पार्वत्य क्षेत्र का दूर-दूर तक परिभ्रमण किया था, और कुछ मास गढ़वाल में बिताये भी थे। पर दण्डी स्वामी विरजानन्द से ज्ञान प्राप्त कर जब उन्होंने वैदिक धर्म के सत्य विशुद्ध स्वरूप का प्रचार प्रारम्भ किया तो उन्हें उत्तराखण्ड के इस पार्वत्य प्रदेश में जाने का अवसर नहीं मिला। गढ़वाल में आर्यसमाज का प्रसार बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में प्रारम्भ हुआ, जबकि देहरादून तथा बिजनौर के आर्यसमाजियों के सम्पर्क में आकर वहाँ के कतिपय युवक भी महर्षि की शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए, और उन्होंने इस पिछड़े हुए क्षेत्र में समाज-सुधार का कार्य शुरू किया। इन युवकों में श्री जयानन्द भारतीय प्रमुख थे। सन् १८८१ में गढ़वाल के एक साधारण स्थिति के परिवार में उनका

जन्म हुआ था। तीस वर्ष की आयु में आजीविका के संघर्ष में वह मसूरी गये और वहाँ आर्यसमाज के सम्पर्क में आये। पण्डित टीकाराम कुकरेती ने उन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने को दिया, जिससे उनकी सुप्त आत्मा जागृत हो गयी और वह महर्षि के अनुयायी बन गये। सामाजिक बन्धनों की परवाह न कर उन्होंने महात्मा मुंशीराम से यज्ञोपवीत ग्रहण किया, और गढ़वाल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दिया। गढ़वाल का क्षेत्र अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। सामाजिक ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना वहाँ बहुत प्रबल थी। जयानन्द जी ने वहाँ के दलित-शिल्पकार वर्ग के उद्धार-कार्य को अपने हाथों में लिया और उनमें जागृति उत्पन्न की। गढ़वाल में आर्यसमाजों की स्थापना व विस्तार प्रायः सन् १९११ के बाद ही शुरू हुआ, यद्यपि टिहरी आदि में कतिपय व्यक्ति उससे पूर्व भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी हो चुके थे।

उत्तरप्रदेश के पार्वत्य क्षेत्र के दूसरे क्षेत्र कुमायूँ में आर्यसमाजों की स्थापना उन्नीसवीं सदी में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इस क्षेत्र का सबसे पुराना समाज नैनीताल का है, जिसकी स्थापना महर्षि के जीवनकाल में सन् १८७५ में हो गयी थी। इस नगर में "सत्य धर्म प्रचारिणी सभा" नाम से सन् १८७४ में एक सभा महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए संगठित की गयी थी। एक वर्ष बाद उसी को आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। पहले इस समाज के अधिवेशन सभासदों के घरों पर ही हुआ करते थे, पर सन् १९०१ में समाज का अपना भवन मल्लीताल (नैनीताल) में तैयार हो गया था, जिसके निर्माण के लिए श्री रामप्रसाद मुख्तार ने विशेष परिश्रम किया था। समाज-भवन के लिए भूमि श्री नारायणदत्त छिमवाल द्वारा प्रदान की गयी थी। नैनीताल आर्यसमाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में लाला सोहनलाल तथा श्री रामप्रसाद मुख्तार के नाम उल्लेखनीय हैं। सोहनलाल जी को नैनीताल का चलता-फिरता आर्यसमाज कहा जाता था। उन्हें धर्म-प्रचार की अत्यधिक धुन थी। श्री राम-प्रसाद ने बाद में संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर लिया, और वह रामप्रसाद से स्वामी रामानन्द बन गये थे। नैनीताल जिले में काशीपुर, जसपुर, हल्द्वानी, रामनगर और रामनगर मण्डी में भी सन् १९१२ से पूर्व आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। काशीपुर के मिडल स्कूल के मुख्याध्यापक श्री वृन्दावन थे। उन्होंने मुरादाबाद में महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान सुना था, जिससे वह उनके अनन्य भक्त बन गये थे। सन् १८८५ में उन्होंने ही काशीपुर में आर्यसमाज की स्थापना की, और उसके लिए पण्डित लालमणि ने अपना मकान दान में दे दिया। इसी समय के लगभग जसपुर में भी समाज की स्थापना हो गयी थी। वहाँ के समाज-मन्दिर के निर्माण के लिए श्री विश्वम्भर-सहाय तथा श्री मुसद्दीलाल ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की थी। नैनीताल जिले में हल्द्वानी नगरी व्यापार का मुख्य केन्द्र है। जनवरी, १८९६ में वहाँ भी आर्य-समाज स्थापित हो गया था। इस समाज की स्थापना का प्रधान श्रेय लाला बिहारीलाल को प्राप्त है। उन्होंने भी मुरादाबाद में महर्षि के प्रवचन सुने थे, जिनके कारण उनके जीवन में भारी परिवर्तन आ गया था। सन् १९०१ तक हल्द्वानी समाज का अपना भवन भी बन गया था। कुमायूं के पार्वत्य क्षेत्र में अल्मोड़ा में भी १९१२ से पूर्व आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। इस क्षेत्र में अन्यत्र समाजों की स्थापना १९१२ के बाद हुई।

उत्तरप्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में आगरा सबसे बड़ा व महत्त्वपूर्ण नगर है। महर्षि वहाँ अनेक बार धर्म-प्रचार के लिए गये थे, और उनके प्रवचनों को सुनकर बहुत-से लोग वैदिक धर्म के अनुयायी बन गये थे। २६ फरवरी, सन् १८८१ को आगरा में विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। प्रारम्भ के वर्षों में समाज के अधिवेशन या तो सभासदों के घरों पर होते रहे या किराये के मकानों में। सन् १८८९ में हींग की मण्डी (आगरा) में समाज के लिए स्थायी रूप से स्थान की व्यवस्था कर ली गयी। इसमें बाबू रामेश्वरदयाल का प्रमुख कर्तृत्व था। बाद में इस स्थान पर अनेक नये भवनों का निर्माण हुआ और हींग की मण्डी का समाज-मन्दिर आगरा में आर्यसमाज के कार्यकलाप का प्रधान केन्द्र बन गया। उस समय उत्तरप्रदेश (संयुक्त प्रान्त) में आगरा उच्च शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था और अन्य जिलों के विद्यार्थी अच्छी बड़ी संख्या में वहाँ पढ़ने के लिए आया करते थे। ये विद्यार्थी आर्यसमाज के प्रगतिशील विचारों तथा सुधारवादी कार्यक्रमों से बहुत प्रभावित होते थे और समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग भी लिया करते थे। सन् १८८८ से १८९४ तक के काल में आगरा कॉलिज तथा मेडिकल स्कूल के जो बहुत-से विद्यार्थी आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए, उनमें पण्डित विष्णुलाल शर्मा, पण्डित जयराम शर्मा, बाबू गंगाप्रसाद और बाबू घासीराम के नाम उल्लेखनीय हैं। भावी जीवन में इन सबने जहाँ उच्च स्थिति प्राप्त की, वहाँ साथ ही ये आर्यसमाज के सुयोग्य नेता व विद्वान् के रूप में भी प्रसिद्ध हुए। ये सज्जन आगरा में पढ़ाई के साथ-साथ धर्म-प्रचार का कार्य भी किया करते थे और विद्यार्थी-अवस्था में ही आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता बन गये थे। हींग की मण्डी समाज के सभासद् व उपदेशक भी नगर के बाहर जिले के विविध स्थानों पर धर्म-प्रचार के लिए जाया करते थे, और जिले के मेलों में प्रचार किया करते थे। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन आगरा जिले में बटेश्वर का मेला लगा करता है। वहाँ समाज द्वारा प्रचार की विशेष व्यवस्था की जाती थी। समाज-सुधार के क्षेत्र में भी यह समाज सक्रिय रहा। सन् १९०० में उस द्वारा श्रीमद्दयानन्द अनाथालय स्थापित किया गया और सन् १९०९ में विधवाश्रम तथा विधवा-हितकारिणी सभा की स्थापना की गयी। शिक्षा के प्रसार के प्रयोजन से इस समाज द्वारा एक रात्रि-पाठशाला (सन् १९००) और अनेक कन्या पाठशालाएँ भी खोली गयीं। सन् १९०९ में आगरा में आर्य-स्त्री समाज भी स्थापित हो गया था, जिसके न केवल साप्ताहिक अधिवेशन ही नियमपूर्वक हुआ करते थे, अपितु वार्षिकोत्सव भी बड़े उत्साह के साथ मनाये जाते थे। आगरा नगर के गोकुलपुरा मुहल्ले में भी एक आर्यसमाज की स्थापना सन् १८८० में हो गयी थी, जिसके लिए कुछ वर्ष पश्चात् सन् १८९९ में महाशय गंगाराम द्वारा एक भवन का भी निर्माण करा दिया गया था। बाद में इस भवन में कन्या पाठशाला भी खोल दी गयी थी। आगरा एक बहुत बड़ा शहर है, और वर्तमान समय में वहाँ अनेक आर्यसमाजों की सत्ता है। पर १९१२ तक भी वहाँ अनेक समाज स्थापित हो चुके थे, जिनमें नामनेर का आर्यसमाज महत्त्वपूर्ण था। इस समाज की स्थापना सन् १९०६ में पण्डित तुलसीराम, पण्डित टीकाराम और श्री छत्रसिंह आदि सज्जनों द्वारा की गयी थी। कुछ समय पश्चात् पण्डित भोजदत्त आर्य मुसाफिर ने नामनेर आर्यसमाज को अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ "आर्य मुसाफिर विद्यालय" नाम से एक शिक्षण-संस्था की स्थापना की (सन् १९१२)। उन्होंने "आर्य मुसाफिर" नाम से

एक पत्र भी उर्दू में प्रकाशित करना शुरू किया। पण्डित भोजदत्त उर्दू-फारसी के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन द्वारा स्थापित विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर जिन विद्यार्थियों ने धर्म-प्रचार के कार्य में ख्याति प्राप्त की, उनमें पण्डित बिहारीलाल शर्मा, कुंवर सुखलाल, श्री अमरसिंह और श्री महेशप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री केदारनाथ पाण्डे (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन) भी इस विद्यालय में विद्यार्थी रहे थे। आगरा जिले के कतिपय अन्य आर्यसमाज भी बहुत पुराने हैं, और उनकी स्थापना सन् १९१२ से पहले हो चुकी थी। फीरोजाबाद का समाज सन् १८८५ में स्थापित हुआ था, और उसकी स्थापना में पण्डित कमलापति चतुर्वेदी, महाशय श्रीपति आर्य, श्री रतनलाल गोयल और पण्डित उमादत्त शर्मा का प्रधान कर्तृत्व था। आगरा जिले के कागारौल ग्राम में सन् १९०१ में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी और पिनाहट में सन् १९११ में। सन् १९११ में ही टूंडला में भी समाज स्थापित हो गया था और उसे केन्द्र बनाकर समीप के विविध ग्रामों में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अच्छा कार्य किया जाने लगा था। आगरा जिले में किरावली का आर्यसमाज भी बहुत पुराना है। उसकी स्थापना तथा उन्नति में श्री मूलचन्द तथा श्री वासुदेव का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। मूलचन्द जी ने अपना मकान भी समाज को समर्पित कर दिया था, और अपने पुत्र तथा पुत्री को भी धर्म-प्रचार के काम में लगा दिया था।

मथुरा के साथ महर्षि दयानन्द सरस्वती का विशेष सम्बन्ध था। वहीं रहकर उन्होंने दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती से विद्याध्ययन किया था। यद्यपि यह नगर पौराणिकों का गढ़ है, पर महर्षि के जीवनकाल में ही सन् १८८१ में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। इस समाज के प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में पण्डित दयाशंकर दुबे, बाबू रामनारायण भटनागर तथा पण्डित क्षेत्रपाल शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। मथुरा जिले के अन्य पुराने आर्यसमाज खोण्डा, सौंख, वृन्दावन और सुरीर के हैं। खोण्डा के आर्यसमाज की स्थापना सन् १८९९ में हुई थी। समीप के देहाती क्षेत्र में इस समाज द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया और शुद्धि-आन्दोलन में भी इस समाज का योगदान रहा। सौंख का समाज सन् १९०३ में स्थापित हुआ था और सुरीर का १९०४ में। पण्डित गोवर्धन पाठक सौंख समाज के प्रधान संस्थापक थे, और महाशय किशोरीलाल व रोशनलाल जी सुरीर समाज के। आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित मुरारीलाल शर्मा ने सुरीर समाज में ही सन् १९०५ में पण्डित ज्वालाप्रसाद शर्मा के साथ शास्त्रार्थ किया था। जब उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा का गुरुकुल फर्रुखाबाद से वृन्दावन ले आया गया, तो उस नगरी में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई (सन् १९११)।

एटा जिला भी आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इस जिले के दस नगरों (सौरों, सरदौल, कासगंज, अम्बागढ़, शहबाजपुर, बलरामपुर, चकेरी, कादिरगंज, हन्नौट और ककोड़ा) को महर्षि दयानन्द सरस्वती की चरणधूलि से पवित्र होने का सौभाग्य प्राप्त है। वहाँ अनेक ऐसे पुराने आर्यसमाज विद्यमान हैं, जिनकी स्थापना सन् १९१२ से पहले हो गयी थी। इनमें एटा का समाज सबसे पुराना है, जो सन् १८८५ में स्थापित हुआ था। अगले वर्ष कासगंज में आर्यसमाज की स्थापना हुई (१८८६) इसके। संस्थापक लाला टीकाराम थे। उन्होंने न केवल समाज की स्थापना ही की, अपितु ३५ हजार रुपये के व्यय से एक भव्य व विशाल समाज-मन्दिर का निर्माण भी कराया

था। महर्षि ने कासगंज में एक संस्कृत पाठशाला की भी स्थापना की थी, पर वह देर तक कायम नहीं रह सकी। शुद्धि-आन्दोलन का कासगंज महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है; और वहाँ पण्डित शिव शर्मा तथा स्वामी दर्शनानन्द आदि आर्य विद्वानों ने पौराणिकों, ईसाइयों तथा मुसलमानों से कितने ही शास्त्रार्थ भी किये। कासगंज समाज के पुराने कार्यकर्ताओं में बाबू आनन्दकिशोर, पण्डित हरविलास और डॉक्टर श्रीराम के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १८९० में अलीगंज के आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, जिसके संस्थापकों में डॉक्टर वंशीधर प्रधान थे। एटा जिले का एक अन्य पुराना समाज सराय-अगस्त का है, जो सन् १९०४ में पण्डित बलदेवप्रसाद के प्रयत्न से स्थापित हुआ था। पण्डितजी पहले वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदिक धर्म से प्रभावित होकर उन्होंने मूर्तियों का जल में विसर्जन कर दिया था, और जी-जान से आर्यसमाज के कार्य में लग गये थे। पण्डित लेखराम भी धर्म-प्रचार करते हुए सराय अगस्त गये थे, और उनके व्याख्यानों से प्रभावित हो कितने ही विधर्मी आर्यसमाज के सदस्य बन गये थे। शुद्धि-आन्दोलन का यह समाज भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। सन् १९१२ तक एटा जिले के सकीट, विलसड़, नरदोली, निधौली, तिरगवा, ऊँचा गाँव और जिटौली नामक नगरों में भी आर्यसमाज स्थापित हो गये थे।

इटावा जिले में जसवन्त नगर का आर्यसमाज सबसे पुराना है। उसकी स्थापना सन् १८८४ में हो गयी थी। उसके पश्चात् सन् १८८८ में इटावा में समाज स्थापित हुआ, और फिर सन् १९०० में औरैया में। इस जिले में अजीतमल, जयतापुर, बकेवर और लहरापुर के समाज भी बहुत पुराने हैं, और सन् १९१२ तक स्थापित हो चुके थे।

सन् १८८१ में महर्षि दयानन्द सरस्वती का मैनपुरी में पदार्पण हुआ था और उन्होंने श्री थानसिंह लोहिया के बाग में निवास किया था। वहाँ उनके भाषण भी हुए थे, जिनसे प्रभावित होकर बाद में लोगों ने आर्यसमाज की स्थापना की। मैनपुरी समाज को स्थापित करने में श्री सुन्दरलाल रायजादा का प्रमुख कर्तृत्त्व था, पर इस समाज की गतिविधि के विस्तार में बाबू श्यामसुन्दर लाल का योगदान सबसे महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने सन् १९०३ में मैनपुरी में वकालत प्रारम्भ की और आर्यसमाज के कार्य-कलाप में योग-दान देना शुरू किया। उनके प्रधान सहयोगी श्री छोटेलाल भार्गव थे। शुद्धि-आन्दोलन का भी मैनपुरी आर्यसमाज महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। मैनपुरी जिले के अन्यतम नगर भोगाँव में सन् १९०८ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था, और सन् १९०५ में शिकोहाबाद में। भोगाँव समाज की स्थापना में श्री बलदेव सहाय भटनागर का विशेष कर्तृत्त्व था। शिकोहाबाद उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के कार्य-कलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। पण्डित भोजदत्त आर्यमुसाफिर ने वहाँ विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थ किये थे, और बाद में वहाँ अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन का अधिवेशन भी सम्पन्न हुआ था। मैनपुरी जिले में अन्य भी अनेक आर्यसमाज सन् १९१२ तक स्थापित हो चुके थे, जिनमें बेवर, उरावर, गढ़िया छिनकौरा, भारौल, मक्खनपुर और सिरसागंज के समाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे।

आर्यसमाज के इतिहास में फर्रुखाबाद का विशिष्ट स्थान है। महर्षि दयानन्द सरस्वती फर्रुखाबाद नगर में नौ बार गये थे और इस जिले के जलालाबाद, शृङ्गीरामपुर, कायमगंज, कम्पिल, शकरुल्लापुर, फतेहगढ़ और कन्नौज में भी उनका पदार्पण हुआ था।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज की स्थापना महर्षि के जीवनकाल में ही हो गयी थी, और इस समाज को महर्षि द्वारा मार्ग-प्रदर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त रहा था। इस "इतिहास" के प्रथम भाग में फर्रुखाबाद आर्यसमाज की स्थापना तथा प्रारम्भिक प्रगति पर विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। जलालाबाद आर्यसमाज भी महर्षि के जीवनकाल में सन् १८८० में स्थापित हो गया था। इस समाज के पुराने कार्यकर्ताओं में पण्डित कन्हैयालाल चतुर्वेदी, पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल और पण्डित ज्वालाप्रसाद तिवारी के नाम उल्लेखनीय हैं। फर्रुखाबाद जिले में तेराजाकट में सन् १८९१ में, सकरावाँ में सन् १८९९ में और खुदागंज में सन् १९०२ में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। ये इस जिले के सबसे पुराने समाज हैं। खुदागंज समाज के प्रथम प्रधान मुंशी भोलानाथ थे, और प्रथम मन्त्री श्री लक्ष्मीनारायण। सकरावाँ समाज की स्थापना श्री मन्नूलाल श्रीवास्तव के प्रयत्न से हुई थी। सन् १९१२ तक फर्रुखाबाद जिले में समधन, रोहली, रसीदाबाद भोलेपुर, बिहारीपुर, पिलखना, जसपुरापुर, कायमगंज और कन्नौज में भी आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे।

वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती अनेक बार कानपुर भी गये थे। अक्तूबर, १८७९ में उन्होंने एक सप्ताह के लगभग वहाँ निवास किया था। इसी अवसर पर वहाँ आर्यसमाज स्थापित करने का विचार विकसित हुआ, और महर्षि के चले जाने के कुछ समय पश्चात् १६ नवम्बर, १८७९ को कानपुर में समाज की स्थापना हो गयी। शुरू में कानपुर समाज के अधिवेशन बाबू माधवप्रसाद चक्रवर्ती के घर पर हुआ करते थे। फिर किराये के मकानों में होने लगे। सन् १८८४ में आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। कानपुर समाज के प्रारम्भिक सदस्यों में पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा, पण्डित रामनारायण मिश्र और श्री गदाधरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १८९० में लाला लाजपत राय तथा पण्डित लेखराम कानपुर आये थे और उनके व्याख्यानों को सुनकर वहाँ के बहुत-से सुशिक्षित व सम्भ्रान्त व्यक्ति आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए थे। कानपुर की जनता में आर्यसमाज के लिए इतना उत्साह उत्पन्न हो गया था, कि सन् १८९३ में वहाँ समाज-मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कर दिया गया, जो १८९४ में बनकर तैयार भी हो गया था। प्रारम्भ के वर्षों में जिन महानुभावों ने कानपुर आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर धर्म-प्रचार के कार्य में विशेष तत्परता प्रदर्शित की, उनमें स्वामी मंगलदेव, पण्डित देवदत्त शास्त्री, पण्डित रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य, स्वामी आत्मानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द और पण्डित पूर्णमल शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज की सब प्रकार की गतिविधि का कानपुर समाज महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। शुद्धि, अछूतोद्धार, शिक्षा-प्रसार और दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता आदि सभी कार्यों में इस समाज द्वारा उत्साहपूर्वक कार्य किया गया। कानपुर के जिन प्रतिष्ठित नागरिकों ने प्रारम्भ-काल में अपने नगर में आर्यसमाज के उत्कर्ष के लिए विशेष प्रयत्न किया, उनमें मुंशी ज्वालाप्रसाद, बाबू आनन्दस्वरूप और बाबू बृजेन्द्रस्वरूप प्रमुख थे। कानपुर नगर में दो अन्य आर्यसमाजों की स्थापना भी सन् १९१४ से पहले हो गयी थी, नवाबगंज में सन् १९०४ में और रेल बाजार में सन् १९१० में। नवाबगंज समाज की स्थापना श्री मूलचन्द शर्मा एवं लाला परागीलाल के प्रयत्न से हुई थी। उसके प्रथम

प्रधान श्री भजनलाल थे। डॉक्टर भूपालसिंह इस समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं में से थे। बीसवीं सदी के द्वितीय दशक के प्रारम्भ में जब कानपुर में प्लेग का प्रकोप हुआ, तो उन्होंने जनता की अनुपम सेवा की। रेल बाजार समाज की स्थापना में पण्डित वृजमोहन और डॉक्टर रामबलीसिंह का विशेष कर्तृत्व था। यही दोनों सज्जन इस समाज के प्रथम प्रधान और मन्त्री थे। सन् १९१२ तक कानपुर जिले के अन्य अनेक नगरों में भी आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। मूसानगर समाज सन् १८९३ में पण्डित नन्दकिशोरदेव शर्मा द्वारा स्थापित किया गया था। उसके प्रथम प्रधान पण्डित शिवबालकराम शर्मा और प्रथम मन्त्री डॉक्टर दुर्गाप्रसाद थे। सन् १९०२ में अकबरपुर, सरय्या और गंगागंज में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। अकबरपुर समाज की स्थापना का श्रेय पण्डित बदरीदीन शुक्ल और लाला रामचरण को प्राप्त है। सरय्या समाज स्वामी ओंकारसच्चिदानन्द द्वारा स्थापित किया गया था। कानपुर जिले में सैद अलीपुर, सरय्या, सचैंडी, विधनू, महेरा, नानापुर और निगोही के समाज भी सन् १९१२ तक स्थापित हो गये थे। फतेहपुर जिले में तीन आर्यसमाज पुराने हैं, और वे सन् १९१२ से पहले स्थापित हो चुके थे—अमोली, फतेहपुर और बिंदकी। अमोली का समाज सन् १९०२ में स्थापित हुआ था, और प्रारम्भ में श्री कालीचरण के मकान पर उसके अधिवेशन हुआ करते थे। श्री देवीसिंह नागर ने सन् १९०४ में फतेहपुर आर्यसमाज की स्थापना की थी और उसके प्रथम प्रधान ठाकुर दलगंजनसिंह थे। बिंदकी का आर्यसमाज सन् १९०८ में स्थापित हुआ था। पण्डित आशादत्त त्रिपाठी, पण्डित सुखदेव आचार्य, ठाकुर जीतसिंह और लाला मटरलाल का इस समाज की स्थापना में प्रधान कर्तृत्व था।

कानपुर और लखनऊ के बीच उन्नाव जिला है, जिसमें सन् १९१२ तक केवल दो आर्यसमाज स्थापित हुए थे—उन्नाव और पुरवा में। उन्नाव समाज की स्थापना कटियारी निवासी ठाकुर मसालसिंह की प्रेरणा से कालाकांकर के राजा अवधेश-नारायणसिंह ने सन् १९०० में की थी। कानपुर और लखनऊ में समीप होने के कारण उन्नाव समाज में वैदिक धर्म के सुयोग्य प्रचारक व प्रसिद्ध विद्वान् बहुधा पधारते रहते थे, जिससे यह आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

कानपुर के समीपवर्ती बुन्देलखण्ड के क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार कुछ देर से प्रारम्भ हुआ। फिर भी सन् १९१२ तक इस क्षेत्र में कतिपय आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। बुन्देलखण्ड के सबसे पुराने समाज बांदा और कालपी के हैं। बांदा समाज की स्थापना सन् १८८५ में हुई थी और सन् १९०४ तक उसके भवन का भी निर्माण हो गया था। बांदा के प्रारम्भिक युग के कार्यकर्ताओं में रायसाहब केदारनाथ, कुंवर हरप्रसादसिंह और श्री आनन्दीप्रसाद मुख्य थे। सन् १९०८ में इस समाज द्वारा अनाथालय भी स्थापित कर दिया गया था। सन् १९०७ में बुन्देलखण्ड में घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण कितने ही बच्चे अनाथ हो गये थे। उन्हीं के लिए यह अनाथालय खोला गया था, पर समयान्तर में इसने एक समुन्नत संस्था का रूप धारण कर लिया और इसका नाम भी बदलकर 'वैदिक सेवा सदन' कर दिया गया। कालपी का आर्यसमाज सन् १८८६ में स्थापित हुआ था। उसके पुराने कार्यकर्ताओं में श्री शिवचरणलाल आर्यपुरोहित का नाम उल्लेखनीय है। जालौन के

अन्य पुराने समाज कोंच और उरई के हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के **हमीरपुर** जिले के मुसकरा और राठ के आर्यसमाजों की स्थापना सन् १९१२ से पहले हो गयी थी और इन्हें स्थापित करने में चरथावल (जिला मुजफ्फरनगर) के पण्डित रामप्रसाद का प्रधान कर्तृत्त्व था। पण्डितजी हमीरपुर के जिला बोर्ड की सर्विस में ओवरसियर के पद पर नियुक्त थे और उन्हीं द्वारा मुसकरा तथा राठ में समाज स्थापित करने की प्रेरणा दी गयी थी। मुसकरा आर्यसमाज सन् १९०० में स्थापित हुआ था, और सन् १९०४ में उसका अपना भवन भी बनकर तैयार हो गया था। राठ समाज की स्थापना सन् १९१२ में हुई थी और पण्डित रामप्रसाद के अतिरिक्त श्री रोशनलाल ने उसके लिए अनथक परिश्रम किया था। **झांसी** के केवल दो आर्यसमाज सन् १९१२ से पहले के हैं—झांसी शहर और सीपरी बाजार। आर्यसमाज शहर झांसी की स्थापना सन् १८८६ में रायसाहब शंकरसहाय द्वारा की गयी थी। प्रारम्भ से सन् १९१९ तक वही इस समाज के प्रधान रहे। सन् १९१२ में इस समाज के साथ आर्यकुमार सभा की भी स्थापना हो गयी थी। सीपरी बाजार का समाज एप्रिल, १९१२ में स्वामी धर्मदेव द्वारा स्थापित किया गया था और शीघ्र ही यह अपने क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में स्थित **मिर्जापुर** आर्यसमाज का विशेष महत्त्व है। इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में इस समाज की स्थापना व प्रगति पर प्रकाश डाला जा चुका है। एप्रिल, सन् १८७५ में स्थापित यह आर्यसमाज उत्तरी भारत का सबसे पुराना समाज है। जब उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई, तो उसके साथ शुरू में सम्बद्ध हुए समाजों में मिर्जापुर का यह समाज भी था। सन् १८९८ में इस समाज के अपने भवन का निर्माण हुआ और १९०१ में वहाँ आर्य कन्या पाठशाला की भी स्थापना कर दी गयी। स्वामी दर्शनानन्द तथा पण्डित लेखराम सदृश आर्यविद्वान् व नेता भी इस समाज के वार्षिकोत्सवों पर व अन्य अवसरों पर मिर्जापुर पधारकर वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। महर्षि के जीवनकाल में एक अन्य समाज भी मिर्जापुर जिले के मगरहा नगर में स्थापित हो गया था। पण्डित जगदेवसिंह काशी में संस्कृत के विद्यार्थी थे। महर्षि के भाषण सुनकर वह आर्यसमाजी बन गये थे, और सन् १८८० में उन्होंने मगरहा में समाज की स्थापना कर दी थी। धर्म-प्रचार की उन्हें अनुपम धुन थी। उनके प्रयत्न से इस समाज ने बहुत उन्नति की। मिर्जापुर जिले के पचरांव और रामगढ़ में भी सन् १९१२ तक आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी।

वाराणसी नगरी में सन् १९१२ तक केवल एक ही आर्यसमाज स्थापित हुआ था, जो काशी के बुलानाला में है। इसकी स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा की गयी थी। इस समाज के साथ एक छात्रावास तथा एक अनाथाश्रम भी स्थापित किया गया था, जिन द्वारा पौराणिक सम्प्रदायों के इस गढ़ में आर्यसमाज के कार्यकलाप के विस्तार में बहुत सहायता मिली। बाबू गौरीशंकर प्रसाद और पण्डित रामनारायण मिश्र काशी समाज के प्रसिद्ध नेता व कार्यकर्ता थे। वाराणसी जिले के मुगलसराय व शिवपुर में भी सन् १९१२ तक आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। इस जिले के साथ लगे हुए **जौनपुर** जिले में १९१२ तक तीन आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे—जौनपुर नगर,

टणवा और मछलीशहर में। जौनपुर जिले में मुसलमानों का बहुत जोर था, जिसके कारण वहाँ के हिन्दू प्रायः दबे हुए रहा करते थे। आर्यसमाज की स्थापना के कारण वहाँ के हिन्दुओं में आत्मविश्वास तथा स्वधर्म के प्रति गौरव की भावना का संचार हुआ, और बाद में वहाँ के नगरों व ग्रामों में अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए। गाजीपुर जिले में सन् १९१२ तक दो आर्यसमाजों की सत्ता थी, गाजीपुर में और बहरियाबाद में। गाजीपुर समाज की स्थापना सन् १९०२ में हुई थी, और सन् १९१२ में वहाँ आर्यकुमार सभा भी स्थापित हो गयी थी। बहरियाबाद का समाज सन् १९०८ में स्थापित हुआ था, और दो वर्ष बाद उसके भवन का भी निर्माण हो गया था।

इलाहाबाद में तीन आर्यसमाज बहुत पुराने हैं—चौक, कटरा और रानी मण्डी। चौक के समाज की स्थापना महर्षि के जीवनकाल में सन् १८७६ में हो गयी थी। सन् १९०७ में इस समाज द्वारा आर्य कन्या विद्यालय का प्रारम्भ किया गया, जो बाद में इलाहाबाद में स्त्रीशिक्षा की प्रमुख संस्था बन गयी। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने इसी समाज को केन्द्र बनाकर कार्य किया था और हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में सवा सौ से भी अधिक ट्रैक्ट प्रकाशित कराये थे।

बलिया जिले में आर्यसमाज के कार्य का सूत्रपात स्वामी मंगलानन्द द्वारा किया गया था, और उन्हीं के प्रयत्न से सन् १९१२ में इस जिले का पहला समाज बलिया नगर में स्थापित हुआ था। इसके पश्चात् मनियर, रगड़ा और बिलथरा रोड आदि अन्यत्र भी आर्यसमाजों की स्थापना हुई। **आजमगढ़** में आर्यसमाज का प्रसार उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था, और सन् १८९४ में वहाँ समाज की स्थापना भी हो गयी थी। इस समाज के संस्थापक पण्डित वासुदेव सहाय गणिताचार्य थे। सन् १९१० तक इस समाज का अपना भवन भी तैयार हो गया था, और कुछ वर्ष पश्चात् वहाँ आर्यकुमार सभा तथा आर्यवीर दल की भी स्थापना हो गयी थी। आजमगढ़ जिले में मऊनाथभंजन में सन् १९०४ में समाज स्थापित हुआ था और गोंठा में सन् १९१० में। इनके अतिरिक्त इस जिले के देवगाँव में भी सन् १९१२ से पूर्व ही समाज की स्थापना हो गयी थी। मऊनाथभंजन समाज के संस्थापक श्री रायबहादुरलाल थे। सेठ रामगोपाल का इस समाज की उन्नति में विशेष कर्तृत्व रहा। वह चिरकाल तक प्रधान के रूप में इसका संचालन करते रहे।

संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोंडा और बहराइच जिलों में सन् १९१२ तक आर्यसमाज का अधिक विस्तार नहीं हुआ था। फिर भी इस क्षेत्र में अनेक समाज स्थापित हो गये थे, जिनमें गोरखपुर और देवरिया के आर्यसमाज सबसे पुराने हैं। **गोरखपुर** समाज की स्थापना सन् १८९७ में हुई थी, और **देवरिया** समाज की सन् १९०१ में। देवरिया में आर्यसमाज के संस्थापक सेठ घनश्यामदास थे, जिनके पिता सेठ निर्भयराम को महर्षि दयानन्द सरस्वती के सान्निध्य में आने और उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सेठ घनश्यामदास इस समाज के प्रथम प्रधान थे, और श्री विन्ध्याचलप्रसाद प्रथम मन्त्री। शास्त्रार्थों की दृष्टि से देवरिया समाज की अच्छी ख्याति है। पण्डित रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य ने इसी समाज में सन् १९०२ में पौराणिक विद्वान् पण्डित विष्णुदत्त से शास्त्रार्थ किया था और बाद में स्वामी दर्शनानन्द ने मौलाना सनाउल्ला से। ये दोनों शास्त्रार्थ पुस्तकरूप में प्रकाशित हैं।

बस्ती जिले में सन् १६०६ में बांसी में समाज स्थापित हुआ था, और सन् १६०६ में बस्ती नगर में। बांसी समाज के संस्थापकों में बाबू रामप्रसाद प्रमुख थे और बस्ती समाज के संस्थापकों में लाला भगवानदास और पण्डित दुर्गाप्रसाद। **गोंडा** का समाज बहुत पुराना है। उसकी स्थापना उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही सन् १८६५ के लगभग हो गयी थी। इसके संस्थापक श्री गोविन्दसहाय वैश्य थे। सन् १६०८ तक इस समाज के भवन का भी निर्माण हो गया था, जिसके लिए श्री ताराचन्द ओवरसियर ने बहुत प्रयत्न किया था। गोंडा के समान **बहराइच** का समाज भी उन्नीसवीं सदी (१८६८) में ही स्थापित हो गया था। इसकी स्थापना में लाला अमीचन्द का विशेष कर्तृत्व था। उत्तरप्रदेश के इन उत्तर-पूर्वी जिलों में सन् १६१२ तक आर्यसमाज का प्रसार अधिक न होते हुए भी देवरिया, गोंडा, बहराइच आदि के समाज समीपवर्ती क्षेत्र में वैदिक धर्म का आस्थापूर्वक बीजारोपण करने में तत्पर थे।

सन् १८७६ के अगस्त मास में महर्षि दयानन्द सरस्वती **फैजाबाद** जिले की अयोध्या नगरी में गये थे, और श्री गुरुचरण लाल रईस के बाग में निवास कर उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया था। उनके देहावसान के पश्चात् २६ सितम्बर, १८८५ को अयोध्या में आर्यसमाज स्थापित हुआ जिसके प्रथम प्रधान चौधरी कक्कूमल थे। कुछ समय बाद इस समाज के अधिवेशन फैजाबाद में होने लगे और उसका नाम 'फैजाबाद आर्यसमाज' हो गया। समयान्तर में इस समाज ने बहुत उन्नति की। सन् १६११ में वहाँ आर्यकुमार सभा की भी स्थापना हो गयी और साथ ही वैदिक पाठशाला की भी, जिसके लिए मुंशी राजकरण ने दस हजार रुपये की धनराशि प्रदान की थी। फैजाबाद जिले का अन्य पुराना आर्यसमाज टाण्डा में है। उसकी स्थापना सन् १८६२ में हुई थी और शीघ्र ही वह समाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। टाण्डा में आर्यसमाज की अनेक शिक्षण-संस्थाएँ भी बाद में स्थापित हुईं और समीपवर्ती क्षेत्र में उन द्वारा धर्म-प्रचार के लिए उत्साहपूर्वक कार्य किया जाने लगा। फैजाबाद जिले में १६१२ तक एक अन्य समाज भी स्थापित हो चुका था, जो कुम्भिया में था।

उत्तरप्रदेश के **अवध** क्षेत्र में सन् १६१२ तक आर्यसमाजों का विस्तार समुचित रूप से नहीं हुआ था, यद्यपि लखनऊ में समाज का कार्य उत्साह के साथ प्रारम्भ हो चुका था। इस क्षेत्र के अन्तर्गत फैजाबाद आदि जिलों में समाजों की संख्या बहुत कम थी। सुल्तानपुर जिले में केवल दो समाज थे—सुल्तानपुर और कटावा में। **रायबरेली** का आर्यसमाज सन् १८६५ में स्थापित हुआ, और **प्रतापगढ़** का सन् १६०६ में। **बाराबंकी** जिले में भी सन् १६१२ तक केवल एक आर्यसमाज की सत्ता थी, जो बाराबंकी नगर में था। इसकी स्थापना सन् १८६० में हुई थी, और १६०२ तक उसके अपने भवन का भी निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

वर्तमान समय में **लखनऊ** उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजों का प्रधान केन्द्र है, और आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान कार्यालय भी वहीं स्थायी रूप से स्थित है। पर शुरू में लखनऊ को यह गौरवास्पद स्थान प्राप्त नहीं था। सन् १६१२ तक इस जिले में केवल दो ही समाज ऐसे थे जो आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे—गणेशगंज लखनऊ और सिटी आर्यसमाज लखनऊ। महर्षि दयानन्द सरस्वती का लखनऊ में अनेक बार आगमन हुआ था। जब वह चौथी बार मई, सन् १८८० में लखनऊ पधारे तो उन्होंने

नाका हिण्डोला के समीप राजा शंकरबख्श के बाग में निवास किया और नवाब अमीनुद्दौला के इमामबाड़े के चौतरे पर उनके अनेक व्याख्यान हुए। उसी चबूतरे पर ६ मई, १८८० को महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना की, जिसके प्रथम प्रधान पण्डित इन्द्रनारायण मसालदान थे। इस समाज का प्रारम्भिक वृत्तान्त इस "इतिहास" के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। प्रारम्भ से ही यह समाज अत्यन्त सक्रिय व उत्साहसम्पन्न था। इस द्वारा आर्यों को संस्कृत की शिक्षा देने के प्रयोजन से "सत्यप्रकाश पाठशाला" की स्थापना की गयी थी, और हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए "देव भाषा प्रचार समिति" की। सन् १८८१ में समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया और यह आर्यसमाज उन्नति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता गया। सन् १८९५ में समाज-भवन के लिए स्थान प्राप्त कर लिया गया, और उसपर नयी भव्य इमारत की आधार-शिला भी पण्डित रामदुलारे वाजपेयी द्वारा रख दी गयी। अनाथ बालकों व बालिकाओं के संरक्षण एवं पालन-पोषण के प्रयोजन से सन् १८८४ में लखनऊ आर्यसमाज ने श्रीमद्दयानन्द आश्रम की स्थापना की, जो उत्तरप्रदेश का सबसे पहला अनाथालय था। स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए इस समाज द्वारा एक महिला उपदेशिका की भी नियुक्ति की गयी (सन् १८८८)। सन् १९०२ में लखनऊ में आर्यकुमार सभा स्थापित हुई, और सर्वसाधारण जनता में प्रचार के लिए एक भजनमण्डली बनायी गयी (सन् १९०५)। लखनऊ आर्यसमाज की स्थापना का प्रधान श्रेय पण्डित रामाधार वाजपेयी को प्राप्त है। यद्यपि इस समाज के प्रथम प्रधान पण्डित इन्द्रनारायण मसालदान थे, पर उपप्रधान की स्थिति में श्री वाजपेयी जी ही सन् १८८० से १८८६ तक उसका संचालन करते रहे। इस समाज के अन्य प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में पण्डित रामदत्त शुक्ल, पण्डित रासबिहारी तिवारी, ठाकुर कामतासिंह, पण्डित भगवानदीन और डाक्टर इन्द्रमणि के नाम उल्लेखनीय हैं। लखनऊ के दूसरे आर्यसमाज (सिटी) की स्थापना मार्च, १८९४ में रकाबगंज में हुई थी। आरम्भकाल के इस समाज के कार्यकर्ताओं में श्री बनारसीदास (स्वामी निर्भयानन्द) और श्री रघुनन्दनप्रसाद प्रमुख थे।

लखनऊ के पश्चिम-उत्तर में सीतापुर और लखीमपुर-खीरी जिले हैं। उनमें भी सन् १९१२ तक अनेक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। सीतापुर जिले में उस समय तक केवल एक आर्यसमाज सीतापुर में था, जिसकी स्थापना सन् १९०१ में हुई थी। वहाँ के निवासी श्री मुरलीधर, श्री मथुरादत्त बंगाली और श्री किशोरीलाल आदि सज्जनों ने शाहजहांपुर में महर्षि के भाषण सुने थे, और उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपने नगर में आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ किया, और पण्डित लक्ष्मणप्रसाद कानूनगो से एक स्थान किराये पर लेकर समाज की स्थापना कर दी। बाद में इसी समाज को केन्द्र बनाकर सीतापुर जिले में वैदिक धर्म का प्रचार हुआ, और वहाँ अनेक समाज स्थापित हुए। लखीमपुर में आर्यसमाज की स्थापना सन् १८९० में हुई थी। उसके संस्थापकों में पण्डित भगवानदीन मिश्र प्रमुख थे। समाज-मन्दिर के निर्माण के लिए भी उन्होंने कठोर श्रम किया था। लखीमपुर में आर्य स्त्रीसमाज की स्थापना भी सन् १९१० में हो गयी थी। इस जिले में गोला गोकर्णनाथ का समाज भी बहुत पुराना है। लाला बिहारीलाल, लाला मूलचन्द गुप्त और श्री पुरुषोत्तमदेव गुप्त के पुरुषार्थ से सन् १९०० के प्रारम्भ में वहाँ भी समाज स्थापित हो गया था। इस जिले के मोहम्मदी कसबे में भी सन् १९१२ से पहले

आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। लखनऊ जिले के पश्चिम में हरदोई की स्थिति है, जिसमें सन् १९१२ तक नौ आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। इस जिले का सबसे पुराना समाज हरदोई नगर का है, जिसकी स्थापना-तिथि २५ सितम्बर, १८८४,है। सन् १९०६ में इस समाज द्वारा एक कन्या विद्यालय का प्रारम्भ कर दिया गया था, बाद में जहाँ कॉलिजस्तर तक की शिक्षा दी जाने लगी। समाज-सुधार और दलितोद्धार के क्षेत्र में भी इस समाज ने बहुत काम किया। हरदोई समाज की स्थापना के एक वर्ष पश्चात् १८८५ में श्री महेशप्रसाद मिश्र के प्रयत्न से शाहाबाद में आर्यसमाज स्थापित हुआ। समाज-मन्दिर का निर्माण होने पर जब वहाँ यज्ञकुण्ड बनाया गया, तो पौराणिकों द्वारा उसे खोद डाला गया, क्योंकि आर्यसमाज के याज्ञिक कर्मकाण्ड के वे प्रबल विरोधी थे। इसपर आर्यसमाज को अदालत की शरण लेनी पड़ी, जहाँ उसकी विजय हुई। मौलवियों और ईसाई पादरियों से इस समाज के तत्त्वावधान में अनेक शास्त्रार्थ हुए, जिनमें पण्डित भोजदत्त आर्यमुसाफिर द्वारा आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत किया गया था। सन् १९१२ तक स्थापित हुए हरदोई जिले के अन्य आर्यसमाज खसौरा, गोरिया, मल्लावाँ, माधोगंज, बावन, नीर और उधरनपुर में थे। खसौरा का समाज पण्डित चतुर्भुज शर्मा के प्रयत्न से सन् १९०२ में स्थापित हुआ था। आर्यसमाज जन्म के आधार पर जात-पाँत को नहीं मानता और सबको यज्ञोपवीत धारण कर विद्या के अध्ययन का अधिकारी मानता है। कटियारी के राजा को यह सहन नहीं हुआ और उस द्वारा खसौरा के आर्यों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। उनके यज्ञोपवीत तुड़वा दिये गये और उनके यज्ञ-हवन करने पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये। पर श्री चतुर्भुज शर्मा के नेतृत्व में आर्यों ने इन अत्याचारों को वीरतापूर्वक सहन किया और अपने धर्म पर चट्टान के समान दृढ़ रहे।

जैसाकि इस प्रकरण के प्रारम्भ में ऊपर लिखा जा चुका है, सन् १९१२ तक संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) में आर्यसमाजों की संख्या ५०० के लगभग तक पहुँच गयी थी, जिनमें से २३९ आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। यहाँ हमने केवल उन आर्यसमाजों का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने को प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध कर लिया था। आर्यसमाज के विस्तार का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि उत्तरप्रदेश में आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन हुए चौथाई सदी बीत जाने पर भी सन् १९१२ तक इस प्रदेश के पूर्वी, दक्षिण-पूर्वी, उत्तर-पूर्वी और पार्वत्य क्षेत्रों में आर्यसमाज का प्रचार अधिक नहीं हुआ था। मेरठ, आगरा और रुहेलखण्ड कमिश्नरियों के जिले ही ऐसे थे, जिनमें आर्यसमाज पर्याप्त संख्या में स्थापित थे और जहाँ वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार था।

(४) आर्य प्रतिनिधि सभा की रजत जयन्ती और सभा के कार्य का सिंहावलोकन

संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना दिसम्बर, सन् १८८६ में हो गयी थी। सन् १९१२ तक उसे स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। अतः सन् १९११ में वृन्दावन में हुए सभा के बृहद् अधिवेशन में यह निश्चय किया गया, कि अगले वर्ष सभा की रजत जयन्ती धूमधाम के साथ मनायी जाए। इसी निश्चय के अनुसार सन् १९१२ के अन्तिम सप्ताह में गुरुकुल वृन्दावन के

वार्षिकोत्सव के साथ ही सभा की रजत जयन्ती भी मनायी गयी। जो आर्य विद्वान् व संन्यासी इस समारोह में सम्मिलित हुए, उनमें स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी नित्यानन्द, स्वामी अच्युतानन्द, कविरत्न पण्डित अखिलानन्द और पण्डित घासीराम प्रमुख थे। इस रजत जयन्ती महोत्सव का विवरण देने का विशेष लाभ नहीं है, पर यह उपयोगी होगा कि सभा के इतिहास के पहले पच्चीस वर्षों के कार्य-कलाप का यहाँ संक्षिप्त मूल्याङ्कन कर लिया जाए।

इस काल में आर्य प्रतिनिधि सभा का कहीं स्थायी कार्यालय नहीं था। सभा का मुख्य कार्यालय सभामन्त्री के ही स्थान पर रहा करता था, और अन्य कार्यालय भी पदाधिकारियों के मकानों पर ही रहा करते थे। यह स्थिति सन् १९३९ तक रही, जबकि लखनऊ में एक विशाल कोठी सभा के लिए प्राप्त कर ली गयी और उसका कार्यालय स्थायी रूप से वहाँ स्थापित कर दिया गया। वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के विस्तार के लिए सभा द्वारा जो कार्य इस काल में किये जा रहे थे, उनमें अनेकविध कठिनाइयाँ अनुभव की गईं। उत्तरप्रदेश एक बहुत विशाल राज्य व प्रदेश है। केवल एक केन्द्र से इस प्रदेश में प्रचार की व्यवस्था कर सकना सुगम नहीं था। अतः यह निश्चय किया गया, कि प्रचार के कार्य को विकेन्द्रित कर दिया जाए और इस प्रयोजन से जिलों में 'उपसभाओं' का निर्माण किया जाए। इसीलिए सन् १९०९ में उपसभाओं की योजना बनायी गयी और आर्यसमाजों ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। जिन जिलों में कम-से-कम ९ समाज विद्यमान थे, उनमें उपसभाएँ संगठित की जाने लगीं। मेरठ, बिजनौर सदृश जिलों में शीघ्र ही उपसभाएँ स्थापित हो गयीं, और उन द्वारा वेद-प्रचार के कार्य में बहुत सहायता मिली। प्रदेश में धर्म-प्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित करने के प्रयोजन से सभा द्वारा 'उपदेशक विभाग' का पृथक् रूप से गठन किया गया, जिसका अधिष्ठातृत्व पण्डित भगवानदीन, कुंवर हुकुमसिंह और पण्डित तुलसीराम सदृश आर्य विद्वानों ने किया। इस उपदेशक-विभाग के अधीन अनेक सुयोग्य प्रचारकों ने पूर्ण लगन के साथ आर्यसमाज की सेवा की। पर उत्तरप्रदेश में बहुत-से ऐसे भी विद्वान् थे, जो सभा के उपदेशक-विभाग को पूरा समय तो नहीं दे सकते थे, पर समय-समय पर प्रचार-कार्य में हाथ बटाने को तैयार थे। उन्हें संगठित करने के लिए सन् १९०४ में सभा द्वारा एक "अवैतनिक उपदेशक संघ" की स्थापना की गयी। प्रारम्भ में इस संघ में केवल चार व्यक्ति सम्मिलित हुए, पर शीघ्र ही उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी और केवल आठ वर्ष में वह ६० तक पहुँच गयी।

वेद-प्रचार तथा नये आर्यसमाजों की स्थापना के सम्बन्ध में जो कार्य सभा द्वारा सन् १९१२ तक किया गया, उसपर इस अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। पर सभा का कार्यक्षेत्र केवल प्रचार तक ही सीमित नहीं था। गुरुकुल-पद्धति की शिक्षण-संस्थाएँ खोलने, स्त्रीशिक्षा के लिए कन्या विद्यालय स्थापित करने और डी० ए० वी० संस्थाओं द्वारा वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति के वातावरण में सामान्य शिक्षा प्रदान करने के लिए भी सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये। विधर्मियों की शुद्धि कर उन्हें आर्य बनाने, दलितों का उद्धार करने, अनाथों व अनाश्रितों के लिए अनाथाश्रम स्थापित करने, भूकम्प, बाढ़ और दुर्भिक्षसदृश प्राकृतिक विपत्तियों से पीड़ित लोगों की सहायता करने तथा विधवाओं के पुनर्विवाह आदि के सम्बन्ध में भी इस काल में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा

बहुत कार्य किया गया। यह स्वीकार करना होगा, कि सभा के प्रारम्भिक २५ वर्षों का इतिहास अत्यन्त गौरवमय है। यह वह समय था, जबकि आर्यसमाज में अत्यधिक जीवन-शक्ति थी और उसके विद्वान्, संन्यासी, नेता और कार्यकर्ता पूर्ण लगन व निःस्वार्थभाव से समाज की सेवा में तत्पर थे।

(५) प्रारम्भिक युग में आर्यसमाज के प्रमुख उन्नायक

सन् १९१२ तक के काल को उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के इतिहास का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है। इस प्रदेश के पश्चिमी भाग में इस काल में आर्यसमाज सुदृढ़ आधार पर स्थापित हो गया था, और अन्यत्र भी उसके कार्यकलाप में गति आने लग गयी थी। आर्यसमाज के इस प्रचार-प्रसार व विस्तार में जिन व्यक्तियों का प्रमुख कर्तृत्त्व था, प्रसंग के अनुसार उनके नाम ऊपर आते रहे हैं। पर उनमें से कुछ महानुभावों के सम्बन्ध में कुछ अधिक विशद रूप से परिचय देना उपयोगी है।

महात्मा भगवानदीन (पण्डित भगवानदीन मिश्र) सन् १८९८ में आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश के प्रधान निर्वाचित हुए थे, और उसके बाद सन् १९०१ को छोड़कर नौ वर्ष तक वही सभा के प्रधान चुने जाते रहे। इससे पहले कई वर्षों तक (सन् १८९० से १८९६ तक) वह सभा के मन्त्री रहे थे, और उससे भी पहले दो वर्ष (सन् १८८८ और १८८९) सभा के उपमन्त्री। सभा की स्थापना के साथ ही श्री भगवानदीन ने उसके संचालकों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। सभा के प्रधान-पद से निवृत्त होकर श्री भगवानदीन कुछ वर्ष गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता भी रहे। जिस समय गुरुकुल को फर्रुखाबाद से वृन्दावन लाया गया (सन् १९११), वही उसके मुख्याधिष्ठाता थे। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के कार्यकलाप को सुव्यवस्थित करने और उसका विस्तार करने में भगवानदीन जी का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उनका जीवन पूर्णतया आर्यसमाज के लिए समर्पित था। हरदोई जिले के मल्हियामऊ गाँव में सन् १८६० में भगवानदीन जी का जन्म हुआ था। १८ वर्ष की आयु में इन्ट्रैंस परीक्षा उत्तीर्ण कर वह हरदोई की कचहरी में सरकारी सर्विस में आ गये थे। आर्यसमाज के प्रति प्रारम्भ से ही उनके हृदय में अगाध आस्था थी। अतः सरकारी सर्विस में रहते हुए भी वह समाज का कार्य करते रहते थे, और धर्म-प्रचार में भी समय लगाया करते थे। उन दिनों सरकार आर्यसमाज की गतिविधि को अत्यन्त आशंका की दृष्टि से देखती थी। समाज-सुधार, देशभक्ति और आर्य धर्म के प्रति गौरव की भावना का प्रचार करने के लिए जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा था, विदेशी शासकों का उससे आशंकित होना स्वाभाविक ही था। भगवानदीन जी भी सरकार की कोपदृष्टि से नहीं बच सके। उनके सम्बन्ध में डिप्टी कमिश्नर जी० ह्विटल ने यह नोट लिखा था—"वह असाधारण योग्यता का सरकारी कर्मचारी है जो अपने कार्य को भलीभाँति जानता है, पर उसपर षड्यन्त्रकारी होने का गम्भीर रूप से सन्देह किया जाता है। वह आर्यसमाज का अत्यन्त कर्मठ सदस्य है।" अपने प्रति सरकार के इस रुख को देख भगवानदीन जी ने सन् १८९८ में सरकारी सर्विस से त्यागपत्र दे दिया, और अपना सारा समय आर्यसमाज के कार्यों में लगाना प्रारम्भ कर दिया। इससे पूर्व भी वह प्रतिनिधि सभा के उपमन्त्री और मन्त्री की स्थिति में आर्यसमाज के कार्य में तत्पर रहा करते थे, पर सरकारी सर्विस को छोड़

देने के पश्चात् १८९८ में उन्हें सभा का प्रधान चुन लिया गया, और उत्तरप्रदेश में समाज के कार्य का संचालन प्रधानतया उन्हीं द्वारा किया जाने लगा। उन्होंने इस समय अपना प्रिंटिंग प्रेस भी स्थापित किया, जिसे बाद में उन्होंने सभा को ही प्रदान कर दिया। भगवानदीन जी में जहाँ आर्यसमाज के लिए अनुपम उत्साह था, वहाँ वह कुशल व्यवस्थापक भी थे। प्रशासन का उन्हें बहुत अनुभव था। विरोधियों के आक्षेपों व आलोचनाओं का चतुरता और मिठास से निराकरण करने की उनमें विलक्षण क्षमता थी। जहाँ उन्होंने अत्यन्त योग्यता के साथ चिरकाल तक आर्य प्रतिनिधि सभा का संचालन किया वहाँ अनेक आर्यसमाज भी स्थापित किये। हरदोई और लखीमपुर के समाजों की स्थापना में उन्हीं का प्रधान कर्तृत्व था।

आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रथम प्रधान बाबू लक्ष्मणस्वरूप थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में उत्तरप्रदेश के आर्य जगत् में उनकी स्थिति कितनी महत्त्वपूर्ण थी, इसे सूचित करने के लिए यही बात पर्याप्त है कि इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से जिन तीन व्यक्तियों ने एम० ए० की परीक्षा सबसे पहले उत्तीर्ण की थी, लक्ष्मणस्वरूपजी उनमें से एक थे। इसीलिए उन्हें डिप्टी कलेक्टर की सर्विस तुरन्त प्राप्त हो गयी, जो उस समय भारतीयों के लिए अत्यन्त गौरव का पद था। पर श्री भगवानदीन के समान वह भी आर्यसमाजी थे, और सरकारी सर्विस उनके अनुकूल नहीं थी। उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया और शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया। अमृतसर के खालसा कॉलिज में उन्होंने वाइस प्रिंसिपल का कार्य किया, और फिर उत्तरप्रदेश में डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना के लिए उद्योग प्रारम्भ कर दिया। पंजाब के समान उत्तरप्रदेश में भी डी० ए० वी० संस्थाओं की शिक्षण-पद्धति तथा पाठविधि के सम्बन्ध में आर्य-समाजियों में मतभेद थे। इसीलिए वहाँ भी डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी की पृथक् रूप से स्थापना हुई और श्री लक्ष्मणस्वरूप ने अपनी शक्ति डी० ए० वी० स्कूल तथा कॉलिज के उत्कर्ष में लगा दी।

उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के प्रमुख उन्नायकों में पण्डित तुलसीराम स्वामी का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। वह सन् १९०९ से १९१३ तक प्रतिनिधि-सभा के प्रधान रहे। उन्हीं के प्रधानत्व-काल में सभा के गुरुकुल को फर्रुखाबाद से वृन्दावन लाया गया। उन द्वारा अनेक आर्यसमाजों की स्थापना की गयी। गुरुकुल वृन्दावन के संचालन तथा गुरुकुल विरालसी की स्थापना में उनका कर्तृत्व महत्त्व का था। पर पण्डित तुलसीराम स्वामी को आर्यसमाज के इतिहास में जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, उसका कारण उनका अनुपम पाण्डित्य था। वह उच्चकोटि के विद्वान्, प्रभाव-शाली वक्ता, सुलेखक और शास्त्रार्थ में निपुण थे। आर्य प्रतिनिधि सभा ने उपदेशक-विभाग खोलकर जब वैतनिक उपदेशक नियुक्त करने शुरू किये, तो सन् १८८९ में पण्डित तुलसीराम स्वामी भी सभा के अधीन धर्म-प्रचार करने लगे, और पाँच वर्ष के लगभग उन्होंने उपदेशक के रूप में कार्य किया। सन् १८९८ में उन्होंने मेरठ में स्वामी प्रेस की स्थापना की, और "वेद प्रकाश" पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। उन्होंने पचास के लगभग ग्रन्थों की रचना की, जिनमें सामवेद का वैदिक भाष्य, श्वेताश्वतर उप-निषद् का भाष्य, मनुस्मृति का अनुवाद और भास्करप्रकाश विशेष महत्त्व के हैं। सन् १८९८ में ही उन्होंने स्वर्गीय पण्डित लेखराम की स्मृति में एक 'उपदेशक पाठशाला'

स्थापित की। इस पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर अनेक व्यक्ति आर्यसमाज के सुयोग्य प्रचारक बने, जिनमें पण्डित रुद्रदत्त शर्मा और पण्डित ज्वालादत्त शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। तुलसीरामजी का जन्म सन् १८६७ में परीक्षितगढ़ में हुआ था, और सन् १९१३ में उनका निधन हुआ। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के वह प्रबल समर्थक थे और अपने जीवन के कुछ वर्ष उन्होंने गुरुकुल वृन्दावन की सेवा में भी व्यतीत किये थे। वैदिक धर्म के प्रचार के लिए वह सदा उद्यत रहते थे। वैतनिक रूप से उपदेशक का कार्य उन्होंने कुछ वर्ष ही किया, पर अवैतनिक रूप से वह जीवनभर समाज के प्रचार तथा विधर्मियों से शास्त्रार्थ में तत्पर रहे।

आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रथम मन्त्री श्री बिहारीलाल थे। वह सन् १८८७ से १८८९ तक इस पद पर रहे, और सभा के कार्यकलाप को सुव्यवस्थित रूप देने के सम्बन्ध में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मेरठ के नार्मल स्कूल में अध्यापक का कार्य करते हुए वह महर्षि के सम्पर्क में आये थे, और उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए थे। अपनी जन्मभूमि मुजफ्फरनगर में समाज की स्थापना कराने के लिए उन्होंने बहुत श्रम किया था। वह उर्दू के सुलेखक भी थे। सन् १९१९ में उनका निधन हुआ था।

उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रारम्भिक वर्षों में अन्य भी अनेक महानुभावों ने अनुपम उत्साह व आस्था के साथ आर्यसमाज का कार्य किया था। इनमें श्री श्यामसुन्दर लाल (मैनपुरी) का नाम भी उल्लेखनीय है। सन् १९०१ और १९०२ में वह प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे, और वर्ष से भी अधिक समय तक उपप्रधान रहे। सहारनपुर और मैनपुरी के समाज मन्दिरों के निर्माण में उनका प्रमुख कर्तृत्व था, और गुरुकुल वृन्दावन के लिए राजा महेन्द्रप्रताप से भूमिप्राप्त कराने के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया था। सन् १९०८-९ में जब सार्वदेशिक सभा का गठन हुआ, तो उनमें उन्होंने उत्तरप्रदेश का प्रतिनिधित्व किया था। वह अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता, कुशल लेखक और शास्त्रार्थ में भी प्रवीण थे। उन्होंने बारह के लगभग पुस्तकों की रचना की। उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा के उत्कर्ष के लिए वह जो पुरुषार्थ करते रहे, वह वस्तुतः सराहनीय था।

प्रारम्भकाल में सभा के वैतनिक उपदेशकों में पण्डित लक्ष्मीदत्त शर्मा, पण्डित तुलसीराम मिश्र, पण्डित देवदत्त शर्मा, पण्डित तुलसीराम स्वामी और पण्डित बदरीदत्त शर्मा मुख्य थे। जो विविध विद्वान् इस काल में धर्मप्रचार के कार्य में अवैतनिक रूप से योगदान देते रहे, उनमें पण्डित भगवानदीन, श्री भोजदत्त शर्मा, पण्डित छुट्टनलाल स्वामी, पण्डित गंगाप्रसाद, बाबू घासीराम, पण्डित केशवदेव शास्त्री, पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा और पण्डित मुरारीलाल शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

आठवाँ अध्याय

उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज की प्रगति

(सन् १९१२ से १९४७ तक)

(१) आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का विस्तार

सन् १९१२ में उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा को स्थापित हुए २५ वर्ष हो चुके थे, और मेरठ में उसकी रजत जयंती धूमधाम के साथ मनायी गयी थी। उस समय सभा के साथ सम्वद्ध आर्यसमाजों की संख्या २४४ थी। बाद में इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सन् १९१९ में यह संख्या २९० हो गयी और सन् १९३० में ५५०। सन् १९४७ तक ७१६ आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्वद्ध हो चुके थे, और जो समाज अभी सभा के साथ सम्बद्ध नहीं हुए थे उनकी संख्या ५०० के लगभग थी। उत्तरप्रदेश में आर्यसमाजों का जो यह विस्तार हुआ, उसमें जिला उपसभाओं की स्थापना बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। उत्तरप्रदेश बहुत बड़ा राज्य या प्रदेश है। इसकी जनसंख्या भी बहुत अधिक है। इस कारण किसी एक केन्द्र से सारे प्रदेश में वैदिक धर्म का प्रचार और आर्यसमाजों का विस्तार कर सकना सुगम नहीं था। साथ ही, सन् १९३८ तक आर्य प्रतिनिधि सभा का कहीं स्थायी कार्यालय भी नहीं था और आर्यसमाज की दृष्टि से इस प्रदेश में किसी नगर की उस ढंग से प्रधान स्थिति भी नहीं थी, जैसी कि पंजाब में लाहौर की थी। यही कारण हैं कि जिला-स्तर पर उपसभाओं की स्थापना हो जाने पर आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार तेजी के साथ होने लगा। सबसे पहले सन् १९१२ में सहारनपुर में जिला उपसभा की स्थापना हुई थी, फिर सन् १९१५ में मुजफ्फरनगर में, सन् १९१७ में मेरठ में और सन् १९१९ में विजनौर में। बुलन्दशहर, अलीगढ़ आदि अन्य जिलों में इसके बाद उपसभाएँ स्थापित हुईं। सन् १९४७ तक उत्तरप्रदेश के ३५ जिलों में उपप्रतिनिधि-सभाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के प्रथम चरण में उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों में ही आर्यसमाज का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ था। सन् १९२२ में इन पश्चिमी जिलों में प्रतिनिधि सभा से सम्वद्ध आर्यसमाजों की संख्या इस प्रकार थी—सहारनपुर ३२, मुजफ्फरनगर २०, मेरठ २१, बुलन्दशहर २०, अलीगढ़ १७, मुरादाबाद १४, फर्रुखाबाद १४, बदायूँ १२, बिजनौर १७, एटा १७, बरेली ११ और मैनपुरी ११। उस समय तक इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ और बनारस-सदृश बड़े व महत्त्वपूर्ण जिलों में बहुत कम आर्यसमाजों की सत्ता थी। कानपुर में केवल १० समाज थे, बनारस में ४ और लखनऊ में ५। गोरखपुर, आजमगढ़, बलिया आदि पूर्वी जिलों में तो उस समय आर्यसमाजों की संख्या चार-पाँच तक भी नहीं पहुँच पायी

थी। पर आर्य प्रतिनिधि सभा इस प्रदेश में वैदिक धर्म के प्रचार तथा नये आर्यसमाजों की स्थापना के लिए इतनी अधिक प्रयत्नशील थी कि बीसवीं सदी के छठे दशक तक उत्तरप्रदेश में आर्यसमाजों की संख्या १५०० तक पहुँच गयी थी, जिनमें से १२०० के लगभग प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे। आर्यसमाजों के इस विस्तार का विवरण देने से पूर्व यह उपयोगी होगा कि १९१२ से १९४७ तक के काल में आर्य प्रतिनिधि सभा की गतिविधि तथा प्रगति का संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया जाये।

वेद-प्रचार के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा का एक पृथक् 'उपदेशक विभाग' था जिसके अधीन वैतनिक उपदेशकों की नियुक्ति की जाती थी। सन् १९१२ में इस विभाग के अधीन १५ उपदेशक कार्यरत थे। बाद में इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सन् १९१६ में इनकी संख्या २८ हो गयी, सन् १९२० में ३८ और सन् १९२२ में ४६। सन् १९४७ में सभा के उपदेशक विभाग में कार्यरत उपदेशकों व भजनीकों की संख्या क्रमश: ३५ और ४० थी। पर आर्य प्रतिनिधि सभा प्रचार के लिए केवल वैतनिक उपदेशकों पर ही निर्भर नहीं करती थी। उस द्वारा एक अवैतनिक उपदेशक संघ की भी स्थापना की गयी थी (सन् १९१४)। जो सज्जन प्रचार-कार्य की उपयुक्त योग्यता रखते थे, पर पूरा समय देकर सभा के उपदेशक विभाग में कार्य करने की स्थिति में नहीं थे, उनकी सेवाओं से लाभ उठाने के प्रयोजन से यह संघ स्थापित किया गया था। शुरू में केवल चार सज्जन इस संघ में सम्मिलित हुए थे, पर बाद में उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती गयी और सन् १९४७ में वह २०० के लगभग तक पहुँच गयी। आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए सभा द्वारा 'आर्यमित्र' नामक एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया। सन् १८९८ में सभा की ओर से 'मुर्हरिक' नाम का पत्र उर्दू भाषा में प्रकाशित करना शुरू किया गया था, जिसके सम्पादक मुंशी नारायण प्रसाद (महात्मा नारायण स्वामी) थे। सन् १८९९ में 'मुर्हरिक' को हिन्दी में कर दिया गया और उसका नया नाम 'आर्यमित्र' रखा गया। शुरू में यह पत्र मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ करता था। इस बीच पण्डित भगवानदीन मिश्र ने अपना प्रेस सभा को दान कर दिया था जिसे सन्, १९०४ में आगरा ले-जाया गया और आर्यमित्र-कार्यालय भी उसके साथ आगरा चला गया। पर जब १९३९ में सभा का प्रधान कार्यालय स्थायी रूप से लखनऊ में स्थापित कर दिया गया, तो प्रेस तथा 'आर्यमित्र' को भी लखनऊ ले-जाया गया। आरम्भ के वर्षों में मुंशी प्राणसुख और बाबू भोलानाथ अवैतनिक रूप से 'आर्यमित्र' का सम्पादन किया करते थे। बाद में पण्डित बदरीदत्त जोशी को उसका सम्पादक नियत किया गया। उनके पश्चात् जिन महानुभावों ने सम्पादक के रूप में सभा के इस पत्र के कार्यभार को सँभाला, उनमें पण्डित रुद्रदत्त शर्मा और पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी के नाम उल्लेखनीय हैं। ये दोनों हिन्दी के सुयोग्य व विख्यात पत्रकार थे और इनके कर्तृत्त्व के कारण हिन्दी के साप्ताहिक पत्रों में 'आर्यमित्र' ने प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। सन् १९२५ में महर्षि दयानन्द-सरस्वती की जन्म-शताब्दी के अवसर पर आर्यमित्र को कुछ समय के लिए दैनिक भी कर दिया गया था। उन दिनों पण्डित हरिशंकर शर्मा इस पत्र के सम्पादक थे। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक, सभी क्षेत्रों में शर्मा जी के लेख सम्मान के साथ पढ़े जाते थे, और उस युग के हिन्दी के सभी महारथी उनकी सम्पादन-कला की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। हरिशंकर जी के पश्चात् पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार

कुछ समय तक आर्यमित्र के सम्पादक रहे, और इस पत्र के लखनऊ स्थानान्तरित हो जाने पर पण्डित ऋषिदेव विद्यालंकार, पण्डित आर्येन्द्र वेदशिरोमणि और पण्डित उमेशचन्द्र स्नातक आदि अनेक सुयोग्य विद्वान् व सुलेखक इस पत्र का सम्पादन करते रहे। इस बीच यह प्रयत्न किया गया कि आर्यमित्र को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए 'आर्यमित्र प्रकाशन लिमिटेड' नाम से एक लिमिटेड कम्पनी का निर्माण कर लिया जाए। यह प्रयत्न सफल हुआ, और कुछ समय तक आर्यमित्र का प्रकाशन कम्पनी द्वारा किया भी गया। पर यह व्यवस्था देर तक चल नहीं सकी, और कुछ समय पश्चात् पत्र का सम्पादन व प्रकाशन पुनः प्रतिनिधि सभा के हाथों में आ गया। आर्यमित्र के सम्बन्ध में यह बात महत्त्व की है कि एक धार्मिक सभा का मुखपत्र होते हुए भी इसकी स्थिति एक ऐसे पत्र की थी, सार्वजनिक जीवन के सभी अंगों के साथ जिसका सम्बन्ध था और जिसकी गिनती हिन्दी के प्रमुख समाचारपत्रों में की जाती थी। यही कारण है कि यह पत्र वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के प्रसार में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

सन् १८८९ में आर्य प्रतिनिधि सभा ने एक ट्रैक्ट सोसायटी की स्थापना की थी, जिसके कार्यकलाप का उल्लेख सातवें अध्याय में किया जा चुका है। मार्च, १९३९ में सभा ने इस ट्रैक्ट-विभाग का नाम स्वर्गीय पण्डित घासीराम की पुण्य स्मृति में 'घासीराम प्रकाशन-विभाग' कर दिया और यह निर्णय किया कि इस विभाग द्वारा छोटी पुस्तिकाओं (ट्रैक्टों) के अतिरिक्त गम्भीर और बड़े ग्रन्थ भी प्रकाशित किए जायें। इसीलिए 'ऋग्वेद रहस्य' और 'यजुर्वेद संहिता (दो भाग), सदृश ग्रन्थ भी सभा के इस विभाग की ओर से प्रकाशित हुए। सराय तरीन (जिला मुरादाबाद) के सेठ शिवचन्द साहू ने १५००० रुपये सभा को इस प्रयोजन से प्रदान किये थे कि उनसे वेदभाष्य का प्रकाशन किया जाये। इसी कार्य के लिए 'वेद संस्थान' स्थापित किया गया, जो सभा के प्रकाशन-विभाग के साथ सम्बद्ध था। यजुर्वेद-भाष्य इसी संस्थान द्वारा दो भागों में प्रकाशित किया गया था।

सभा द्वारा एक पुस्तकालय भी स्थापित था, जिसमें वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों के संग्रह पर भी ध्यान दिया गया था। पर सभा के कार्यालय के समान पुस्तकालय के लिए भी कोई एक स्थान निश्चित नहीं था। जहाँ कहीं सभा का कार्यालय होता, वहीं पुस्तकालय को भी ले-जाया जाता। पुस्तकों की सुरक्षा की दृष्टि से यह व्यवस्था बहुत अनुचित थी। सन् १९११ में जब प्रतिनिधि सभा के गुरुकुल को फर्रुखाबाद से वृन्दावन ले-जाया गया, तो पुस्तकालय भी वहीं भेज दिया गया और उसे स्थायी रूप से वहीं रखने का निर्णय कर लिया गया। मार्च, १९३९ में पण्डित तुलसीराम की पुण्य स्मृति में इस पुस्तकालय का नाम उन्हीं के नाम पर रख दिया गया।

हिन्दुओं के बहुत-से तीर्थस्थान उत्तरप्रदेश में हैं, और उनमें बड़े-बड़े मेले भी लगा करते हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा इन मेलों का उपयोग वेद-प्रचार के लिए विशेष रूप से किया जाता था, यह सातवें अध्याय में लिखा जा चुका है। पर १९१२४७ के काल में मेलों में धर्म-प्रचार पर और भी अधिक ध्यान दिया गया, और छोटे-बड़े सभी मेलों में सभा द्वारा प्रचार की व्यवस्था की जाने लगी। सन् १९२२ में हरदोई जिले के मल्लावां, सैमरिया, बावन और बिलग्राम के मेलों में, आगरा जिले के शीतला देवी, नागपंचमी और कैलाश के मेलों में, कानपुर जिले के मकनपुर और बेरिया देवी के मेलों में, फैजाबाद जिले के अयोध्या और कनकी के मेलों में, सहारनपुर जिले में देवनन्द के देवी के,

हरिद्वार के गंगास्नान के और लुकसर के गंगाघाट के मेलों में, बिजनौर जिले के हलदौर तथा फीना के मेलों में, खीरी जिले में गोला गोकर्णनाथ के मेले में, शाहजहांपुर जिले के पुवायां और ढाई घाट के मेलों में, मुरादाबाद जिले में टिटौरा के मेले में, बदायूँ के ककोड़ा के मेले में, सीतापुर के परिक्रमा के मेले में, मेरठ जिले में गढ़ मुक्तेश्वर, पीर साहब और बूढ़ा बाबू के मेलों में, फर्रुखाबाद जिले में शृंगीरामपुर के मेले में, मैनपुरी जिले के दुर्गा देवी और केशहरण के मेलों में और बहराइच जिले में देवी के मेले में धर्म-प्रचार करवाया गया था। सन् १९२२ के समान अन्य वर्षों में भी इसी प्रकार सभा द्वारा प्रचार की व्यवस्था की जाती थी। जब प्रयाग या हरिद्वार में कुम्भ और अर्धकुम्भी के मेले होते, तो उनमें भी सभा द्वारा प्रचार का विशेष रूप से आयोजन किया जाता था। प्रतिनिधि-सभा के कार्यकलाप में मेला-प्रचार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सन् १९१६ में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ था। उस अवसर पर भी वैदिक धर्म के प्रचार का आयोजन किया गया था, जिसकी व्यवस्था मुख्य रूप से गणेशगंज (लखनऊ) समाज के हाथों में थी। २९ दिसम्बर को आर्यसमाज के पण्डाल में 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' का भी अधिवेशन किया गया था, जिसमें कांग्रेस के अनेक नेता भी सम्मिलित हुए थे।

शिक्षा के क्षेत्र में उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजों और आर्य प्रतिनिधि सभा का जो कार्यकलाप रहा है, उसपर इस इतिहास के तृतीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। पर एक कॉलिज ऐसा भी है जो उत्तरप्रदेश से बाहर कोल्हापुर में स्थित है, पर जिसका प्रबन्ध व संचालन कुछ वर्षों तक उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा के हाथ में रहा था। कोल्हापुर महाराष्ट्र की एक रियासत थी। सन् १८६९ में वहाँ एक साधारण स्कूल की स्थापना हुई थी, कोल्हापुर के नरेश छत्रपति महाराजा राजाराम के निधन पर जिसका नाम "राजाराम हाईस्कूल" रख दिया गया था। उन्नति करते-करते सन् १८८३ में इस स्कूल ने डिग्री कॉलिज की स्थिति प्राप्त कर ली, और यह रियासत की एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण-संस्था बन गयी। पर समयान्तर में इस कॉलिज की दशा बिगड़ने लगी, जिसके कारण कोल्हापुर की सरकार ने उसे तोड़ देने का विचार किया; पर वहाँ के महाराजा वैदिक धर्म से प्रभावित थे, और उनके विचार भी उदार थे। अतः जनता के अनुरोध पर उन्होंने कॉलिज को तोड़ देने के बजाय यह निर्णय किया, कि उसका प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश को सौंप दिया जाये। सन् १९१९ में इन सम्बन्ध में कोल्हापुर-सरकार और आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा जिस स्वीकारपत्र पर हस्ताक्षर किये गये, उसकी निम्नलिखित शर्तें महत्त्वपूर्ण थीं—(१) कॉलिज और हाईस्कूल के कर्मचारी-वर्ग सदैव ब्रिटिश गवर्नमैंट और (कोल्हापुर) दरबार के राजभक्त रहेंगे और जो पुरुष राजद्रोही सिद्ध होंगे वे दरबार की इच्छानुसार सभा द्वारा पृथक् कर दिये जायेंगे। (२) कॉलिज तथा स्कूल में सत्य वैदिक धर्म की शिक्षा को, यदि सभा चाहे, तो अनिवार्य बनाने में पूरी स्वतन्त्रता रहेगी। इन शर्तों के अधीन सभा ने कोल्हापुर के हाईस्कूल तथा कॉलिज का प्रबन्ध व संचालन स्वीकार कर लिया और जून, १९१९ में उन्हें अपने हाथों में लिया। इन शिक्षण-संस्थाओं की व्यवस्था के लिए "कोल्हापुर आर्य विद्योपसभा" की स्थापना की गयी, जिसके १५ सदस्य थे। डॉक्टर बालकृष्ण को सभा की ओर से कॉलिज का प्रिंसिपल नियुक्त किया गया और ठाकुर मलखानसिंह, बाबू प्रीतम लाल और श्री महेन्द्र-

प्रताप शास्त्री आदि अनेक आर्य विद्वान् वहाँ प्राध्यापक बनाये गये। श्री बालकृष्ण इतिहास और अर्थशास्त्र के विद्वान् थे और कुछ समय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इन विषयों के प्राध्यापक रह चुके थे। गुरुकुल से अवकाश लेकर वह लण्डन गये थे, और वहाँ से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर भारत लौटे थे। गुरुकुल में पुनः प्राध्यापक का कार्य करने के स्थान पर उन्होंने कोल्हापुर कॉलिज का प्रिंसिपल-पद स्वीकार कर लिया और चिरकाल तक उस शिक्षण-संस्था का संचालन किया। सभा ने निश्चय किया कि राजाराम हाईस्कूल और कॉलिज में धर्मशिक्षा की व्यवस्था की जाय। इसके लिए उस द्वारा पाठविधि भी तैयार करायी गयी। साथ ही, कोल्हापुर में सभा की ओर से एक छात्रावास भी स्थापित किया गया, जिसे 'गुरुकुलाश्रम' कहा जाता था। इसमें रहनेवाले विद्यार्थियों की जीवनपद्धति और दिनचर्या गुरुकुलीय होती थी और उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक सादा व धार्मिक जीवन बिताना होता था। १७ विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) इसमें प्रविष्ट भी हो गये थे। पर कोल्हापुर की ये शिक्षण-संस्थाएँ देर तक प्रतिनिधि सभा के प्रबन्ध में नहीं रहीं। सन् १९२५ में महाराजा ने उन्हें फिर अपने हाथों में ले लिया। यद्यपि महाराष्ट्र की इन संस्थाओं के संचालन पर अब आर्यसमाज का कोई हाथ नहीं रहा, पर कुछ वर्षों तक इनके आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रबन्ध में रहने के कारण वैदिक धर्म का इन पर कुछ प्रभाव बाद में भी बना रहा।

वेद-प्रचार के प्रयोजन से सन् १९२३ में उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा ने यह भी निश्चय किया, कि श्रावणी और शिवरात्रि के अवसरों पर सब आर्यसमाजें 'वेद-प्रचार एवं दयानन्द सप्ताह' मनाया करें। शीघ्र ही, अन्य प्रतिनिधि सभाओं ने भी इस निश्चय के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। श्रावणी के पर्व पर वेद-प्रचार-सप्ताह मनाने और शिवरात्रि पर ऋषिबोधोत्सव मनाने की जो प्रथा आर्यसमाज में है, उसका सूत्रपात उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा द्वारा ही किया गया था। पूना की 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी' और लाहौर की 'सर्वेण्ट्स आफ पीपल सोसायटी' के अनुकरण में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने 'दयानन्द सेवासदन' की स्थापना की थी, जिसके अध्यक्ष आचार्य रामदेव थे। उसी ढंग से उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा द्वारा भी 'दयानन्द सेवा-संघ' की स्थापना का निश्चय किया गया और उसके नियम आदि भी निर्धारित कर लिये गये (सन् १९२६)। पर संघ की यह योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी।

सन् १९२० में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा "आर्य को-ऑपरेटिव बैंक" की लखनऊ में स्थापना की गयी। आर्थिक उन्नति के लिए पूंजी का बहुत उपयोग होता है और उत्पादन तथा व्यवसाय-व्यापार के लिए बैंकों द्वारा पूंजी उपलब्ध करायी जाती है। आर्यसमाजियों को आवश्यक पूंजी उपलब्ध कराने तथा उनकी बचत के धन का लाभदायक रूप में विनियोग करने के प्रयोजन से यह बैंक स्थापित किया गया था। शुरू में इसने अच्छी सफलता प्राप्त की और कानपुर, आगरा आदि अन्यत्र भी इसके कार्य का विस्तार हुआ। पर यह बैंक देर तक कायम नहीं रह सका और इसे बंद कर देना पड़ा।

सभा के निरन्तर बढ़ते हुए कार्यकलाप को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए कुछ नये विभाग भी खोले गये, जिनमें भू-सम्पत्ति विभाग, रक्षा विभाग और 'जाति-भेद-निवारक संघ' मुख्य थे। सभा की भू-भवन-सम्पत्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, क्योंकि आर्यसमाज में दानियों की कोई कमी नहीं थी। उन द्वारा प्रदान की गयी सम्पत्ति के

प्रबन्ध के लिए सन् १९१५ में "भू-सम्पत्ति विभाग" की स्थापना की गयी थी। आर्य-समाज के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर और प्रचार एवं शास्त्रार्थ आदि से उसका सामना कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर विधर्मियों ने आर्यसमाज पर अनेकविध झूठे आरोप लगाये और उसके प्रचार-कार्य में विघ्न डालने प्रारम्भ कर दिये थे, जिनका प्रतिरोध करने के लिए "रक्षा विभाग" गठित किया गया था। जन्म के आधार पर जाति-भेद में आर्यसमाज विश्वास नहीं रखता, पर हिन्दू समाज में जात-पाँत इतनी सुदृढ़ रूप से बद्धमूल थी कि उसे तोड़ने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता थी। इसी प्रयोजन से दिसम्बर, सन् १९२२ में सभा द्वारा "जातिभेद निवारक संघ" का निर्माण किया गया। यह संघ अन्तर्जातीय विवाह के लिए युवकों और युवतियों को प्रेरणा प्रदान करता था और जन्म के आधार पर जातिभेद का विरोधी था। पण्डित धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि और पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री सदृश कितने ही आर्य युवकों ने इस संघ के कार्यकलाप में क्रियात्मक रूप से हाथ बँटाया।

सन् १९३८ तक आर्य प्रतिनिधि सभा का कोई स्थायी कार्यालय नहीं था, पर संघ के अधिकारी चिरकाल से इसकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। इसीलिए राय-साहब पण्डित रामचन्द्र शर्मा रिटायर्ड इंजीनियर के प्रयत्न से ३६,००० रुपये में लखनऊ की हिल्टन रोड (मीराबाई मार्ग) पर एक कोठी खरीद ली गयी, और ११ फरवरी, १९३९ को सभा के नाम उसकी रजिस्ट्री हो गयी। इस कोठी में अनेक कमरे थे और इसके साथ बहुत-सी जमीन भी थी। अगस्त, १९३९ तक सभा के सब कार्यालय इस कोठी में स्थानान्तरित कर दिये गये और अगले वर्ष १९४० में आर्य भास्कर प्रेस को भी आगरा से लखनऊ ले-जाया गया। लखनऊ उत्तरप्रदेश की राजधानी है, और इस प्रदेश की राजनैतिक गतिविधि का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। सभा के कार्यालय के वहाँ स्थायी रूप से स्थापित हो जाने के कारण उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज को एक ऐसा केन्द्र प्राप्त हो गया, जहाँ से वह सुचारु रूप से अपना प्रचार-प्रसार कर सकता है। मीराबाई मार्ग की कोठी के क्रय करने के लिए सभा को रुपया कर्ज भी लेना पड़ा था। बाद में चन्दे द्वारा उसे एकत्र कर लिया गया, और सभा ऋण से मुक्त हो गयी।

सन् १९१२ से १९४७ तक उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज द्वारा दलितोद्धार, शुद्धि, समाज-सुधार, जनता की सेवा आदि के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया, उसपर इसी अध्याय के एक प्रकरण में पृथक् रूप से प्रकाश डाला गया है। इस काल में हैदराबाद-सत्याग्रह आदि के रूप में भारत भर के आर्यसमाजों ने जो संघर्ष किया और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में जो महान् समारोह हुए, उनमें उत्तरप्रदेश के समाजों तथा प्रतिनिधि सभा का योगदान व कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था। इन संघर्षों तथा समारोहों का विवरण देते हुए इस प्रदेश के कार्यकलाप का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है।

(२) आर्य प्रतिनिधि सभा की स्वर्ण जयन्ती

सन् १९३६ में उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा को स्थापित हुए पचास वर्ष हो गये थे। अतः यह निश्चय किया गया कि दिसम्बर, १९३६ में सभा की स्वर्ण जयन्ती मेरठ में मनायी जाए। इस समारोह का मन्त्री श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री को नियुक्त किया

गया, जिन्होंने न केवल स्वर्ण जयन्ती की रूपरेखा व कार्यक्रम ही तैयार किया अपितु उसके लिए आवश्यक धन का संग्रह करने में भी अनुपम सफलता प्राप्त की। स्वर्ण-जयंती समारोह के लिए मेरठ में एक स्वागत समिति का गठन किया गया, जिसके प्रधान पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० (रिटायर्ड जज, टिहरी) और मन्त्री श्री कालीचरण थे। २४ से २९ दिसम्बर तक स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम के साथ मनायी गयी। नौचन्दी के मेले के सुविस्तृत मैदान में इसके लिए विशाल पण्डाल बनाया गया था, और प्रदेश के दूर-दूर के भागों से आनेवाले लोगों के निवास के लिए "घासीराम नगर" का निर्माण किया गया था। उत्सव के पहले दिन नगर-कीर्तन का जुलूस निकाला गया, जिसमें प्रदेश के बहुत-से आर्यसमाजों तथा आर्य संस्थाओं के नर-नारी "ओ३म्" के ध्वज तथा अपने-अपने नामपट्ट लिये हुए चल रहे थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा वैदिक धर्म के जयजयकार से आकाश गुंजाती हुई तथा धार्मिक भजन गाती हुई आर्य नर-नारियों की मण्डलियों को देखकर मेरठ की जनता अनुभव कर रही थी कि आर्यसमाज में कितना उत्साह तथा शक्ति है। इस उत्सव में जिन आर्य विद्वानों के व्याख्यान हुए, उनमें महात्मा नारायण स्वामी, पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री, बाबू पूर्णचन्द्र एडवोकेट, पण्डित रामचन्द्र देहलवी, पण्डित अयोध्याप्रसाद बी० ए० रिसर्च स्कॉलर, प्रिंसिपल दीवानचन्द, स्वामी व्रतानन्द चित्तौड़, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री, पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा और प्रिंसिपल ज्ञानचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज के प्रायः सभी प्रसिद्ध विद्वान् तथा साधु-संन्यासी इस महोत्सव में सम्मिलित हुए थे और उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था। महोत्सव में अनेक सम्मेलनों का भी आयोजन किया गया था, जिनमें वेदसम्मेलन, आर्यसम्मेलन, राष्ट्रभाषा सम्मेलन और महिला सम्मेलन मुख्य थे। महिला सम्मेलन में श्रीमती शन्नोदेवी का व्याख्यान बहुत प्रभावोत्पादक था। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का यह स्वर्ण जयन्ती महोत्सव बहुत सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। इसकी सफलता का प्रधान श्रेय पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री के अनुपम उत्साह, लगन, सूझबूझ तथा प्रतिभा को दिया जाना चाहिये। उन्होंने इसके लिए कोई भी कसर नहीं उठा रखी थी। एप्रिल, सन् १९३६ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव लाहौर में मनाया गया था, जिसकी सफलता में आचार्य रामदेव का सर्वाधिक कर्तृत्व था। उसी प्रकार का कर्तृत्व उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के लिए पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री का था।

(३) समाज-सुधार और दलितोद्धार

उत्तरप्रदेश के पार्वत्य कुमायूं क्षेत्र में "नायक" नाम की एक जाति का निवास है, जिसकी कन्याएँ वेश्यावृत्ति किया करती थीं। यह समझा जाता था कि नायक-कन्याओं के लिए वेश्यावृत्ति करना उनका सामाजिक कर्तव्य या स्वधर्म है। आर्यसमाज ने इसके विरुद्ध प्रचार किया और नायक लोगों को इस बात की प्रेरणा देने का प्रयत्न किया कि वे अपनी कन्याओं का विधिवत् विवाह किया करें, जिससे कि वे सद्गृहस्थों के समान जीवनयापन कर सकें। आर्यसमाज के प्रचार के कारण उत्तरप्रदेश की सरकार

का भी इस कुप्रथा की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और २९ अगस्त, १९१२ को उसने आर्य-प्रतिनिधि सभा के नाम इस आशय का एक पत्र लिखा कि इससे पहले कि सरकार राजकीय कानून बनाकर नायक-प्रथा को दूर करे, यह उचित होगा कि नायक जाति स्वयं ही इस प्रथा का अन्त कर देने के लिए आन्दोलन करे और इसके लिए राजकीय कानून का आश्रय न लेना पड़े। सरकार चाहती है कि सभा यह कार्य अपने हाथ में ले ले। क्या सभा इसके लिए उद्यत होगी? इस पत्र के प्राप्त होने पर प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने ३० मार्च के अपने अधिवेशन में तीन सदस्यों की उपसभा इस कार्य के लिए नियुक्त कर दी। उपसभा के सदस्य डा० श्यामस्वरूप सत्यव्रत, महाशय गदाधर प्रसाद तथा श्री रामप्रसाद थे। उपसभा द्वारा अपीलें छपवाकर आर्यसमाजों, प्रनिनिधि सभाओं तथा अन्य आर्य संस्थाओं के पास सहायता एवं सहयोग के लिए भेजी गयीं। इसपर प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर के प्रधान ने १०० नायक-कन्याओं तथा ४ नायक-बालकों के भरण-पोषण एवं शिक्षा का व्यय देना स्वीकार कर लिया, ताकि इस जाति के बालक-बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो और वे वेश्यावृत्ति का परित्याग कर सद्गृहस्थ बन सकें। अन्य अनेक आर्य संगठनों तथा सम्पन्न व्यक्तियों ने भी इसी ढंग से सहायता देना स्वीकार किया। उपसभा को यह कार्य सौंपा गया था कि नायक जाति में प्रचार कर उन्हें अपनी कन्याओं के विवाह के लिए प्रेरित करे, छात्र-वृत्तियाँ देकर नायक-कन्याओं की शिक्षा की व्यवस्था करे, और फिर उनके विवाह के लिए प्रयत्न करे। उपसभा की ओर से श्री उदयसिंह नायकों में कार्य करने के लिए नियुक्त किये गये और स्थान-स्थान पर सभाओं का आयोजन कर वेश्यावृत्ति के विरुद्ध प्रचार किया गया। जो नायक-कन्याएँ वेश्यावृत्ति कर रही थीं, सभा के कार्यकर्ताओं ने उनका उद्धार किया और उनके निवास, भरण-पोषण तथा शिक्षा के लिए मेरठ में "नायक बालिका आश्रम" की स्थापना की गयी। नायक जाति में अपनी कन्याओं से वेश्यावृत्ति कराने की जो प्रथा थी, उसका अन्त कराने का प्रधान श्रेय उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा को ही प्राप्त है।

उत्तरप्रदेश में कतिपय ऐसी जातियों का भी निवास था जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने जरायमपेशा घोषित किया हुआ था। सरकार द्वारा इनके निवास के लिए कुछ विशेष स्थान नियत किये हुए थे। उन्हें स्वेच्छानुसार जाने-आने की स्वतन्त्रता नहीं थी और उनकी गतिविधि पर नियन्त्रण रखा जाता था। सरकार का यह भी प्रयत्न था कि इन जातियों के स्त्री-पुरुष चोरी, लूटमार सदृश कुकर्म छोड़कर काम-धन्धे सीखें और शिल्प-व्यवसाय का प्रशिक्षण प्राप्त कर सामान्य जीवन व्यतीत करें। इन जातियों के सुधार के लिए सरकार क्रिश्चियन मिशनों का सहयोग व साहाय्य प्राप्त कर रही थी, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग ईसाइयत के प्रभाव में आने लग गये थे, और कुछ ने क्रिश्चिएनिटी को स्वीकार कर भी लिया था। आर्य प्रतिनिधि सभा का ध्यान इस बात की ओर गया, और उस द्वारा इसके विरोध में आन्दोलन शुरू किया गया। जरायमपेशा जातियों के लिए उत्तरप्रदेश में छह सेटलमेंट (बस्तियाँ) स्थापित थे, जिनमें ईसाई पादरी भी कार्य कर रहे थे। सभा की ओर से पण्डित रासबिहारी तिवारी ने इस सम्बन्ध में सरकार से लिखा-पढ़ी की, और उनके प्रयत्न से जरायमपेशा लोगों की एक बस्ती आर्य-समाज की देख-रेख में दे देने के लिए सरकार सहमत हो गयी। सभा ने निश्चय किया,

कि लखनऊ के समीप करवल ग्राम में जरायमपेशा लोगों की एक आदर्श बस्ती बसायी जाए, जहाँ उनकी शिक्षा तथा उद्योग-धन्धों के प्रशिक्षण की भी समुचित व्यवस्था हो। सन् १९२९ में यह बस्ती स्थापित कर दी गयी। इसके प्रारम्भिक खर्च के लिए सरकार द्वारा ४५००० रुपये का अनुदान दिया गया, और साथ ही ४५०० रुपये वार्षिक सहायता प्रदान करना भी स्वीकृत किया गया। बस्ती का प्रवन्ध व संचालन श्री तिवारी जी के हाथों में था, जिन्होंने बड़ी लगन के साथ जरायमपेशा लोगों के सुधार के लिए प्रयत्न किया। सभा द्वारा स्थापित बस्ती में जरायमपेशा लोगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्हें दस्तकारी सिखाकर स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया गया और बुरी आदतें छुड़ाकर उनका नैतिक उत्थान भी किया गया।

हिन्दुओं में जो अनेकविध कुरीतियाँ विद्यमान थीं, उनके निवारण के लिए भी आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा सक्रिय रूप से प्रयत्न किया गया। बालविवाह, बहुविवाह और वृद्धविवाह के विरुद्ध न केवल व्याख्यानों द्वारा ही प्रचार किया गया, अपितु उनके विरुद्ध प्रदर्शन भी किये गये। जन्म के आधार पर जात-पाँत का विरोध करने के लिए सभा ने "जातिभेद निवारक संघ" की स्थापना की और दहेज-प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया।

अनाथों की रक्षा, पालन-पोषण तथा शिक्षा के लिए उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उत्तरप्रदेश में पहले आर्य अनाथालय की स्थापना सन् १९०० में आगरा में हुई थी। उस समय आगरा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में भयंकर दुर्भिक्ष का संकट उपस्थित था, जिससे लाभ उठाकर क्रिश्चियन मिशनरी अनाथ बच्चों को अपने धर्म में दीक्षित करने में तत्पर थे। आगरा आर्यसमाज के स्वामी मंगलदेव का ध्यान इस ओर गया और उनके प्रयत्न से श्रीमद्दयानन्द-अनाथालय की स्थापना हुई। प्रारम्भ में वहाँ केवल १० अनाथ बच्चों की व्यवस्था थी, पर इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी और सन् १९२९ में वह २८४ तक पहुँच गयी। आगरा के समान अन्य अनेक नगरों में भी आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में अनाथालय स्थापित हुए। बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में उत्तरप्रदेश के निम्नलिखित नगरों में आर्य अनाथालय स्थापित हो चुके थे—आगरा, मिर्जापुर, बलिया, लखनऊ, मुरादाबाद, शाहजहाँपुर, आजमगढ़, अल्मोड़ा, सीतापुर, बरेली, कालाकाँकर, पडरौना (गोरखपुर), सुलतानपुर, कोटद्वार और झाँसी। इन विविध अनाथालयों द्वारा उत्तरप्रदेश में असहाय बच्चों के लिए जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा था, उसके महत्त्व का अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

अनाथ बच्चों के समान असहाय विधवाओं के भरण-पोषण तथा उन्हें स्वावलम्बी बनाने के सम्बन्ध में भी आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। आगरा के श्रीमद्दयानन्द अनाथालय के समान वहाँ का विधवाश्रम भी बहुत पुराना है। स्वामी मंगलदेव की प्रेरणा से सन् १९०९ में आगरा में एक "विधवा हितकारिणी सभा" की स्थापना हुई थी, जिसका उद्देश्य असहाय व निराश्रय विधवाओं के निवास के लिए विधवाश्रम स्थापित करना तथा विधवाओं को दस्तकारी आदि सिखाकर तथा शिक्षा की व्यवस्था कर उन्हें स्वावलम्बी बनाना था। इसीलिए सन् १९११ में वहाँ विधवाश्रम की स्थापना की गयी, जिसमें प्रारम्भ में केवल ३ विधवाओं

ने आश्रय ग्रहण किया था। बाद में उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी और प्रतिवर्ष एक सौ के लगभग विधवाएँ आश्रम में प्रविष्ट होने लगीं। वहाँ उन्हें प्रशिक्षित कर काम-धन्धे में लगाया जाने लगा, और उनकी इच्छा के अनुसार उनके पुनर्विवाह की भी व्यवस्था की गयी। सन् १९२४ में देहरादून में "श्रद्धानन्द बाल वनिताश्रम" स्थापित हुआ था। शुरू में यह आर्य अनाथालय के रूप में था, पर बाद में इसे वनिताश्रम के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। लाला मुकुन्दलाल रईस ने इस आश्रम के लिए भूमि प्रदान की थी और साथ ही उसपर एक ब्लाक भी अपने खर्च से बनवा दिया था। आश्रम में अनेकविध शिल्पों की शिक्षा की व्यवस्था की गई थी और वहाँ रहनेवाली बालिकाओं तथा बालकों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने का भी प्रयत्न किया गया था। दीन-दुःखियों की सहायता, असहाय विधवाओं का भरण-पोषण, वृद्धाओं का रक्षण, निर्धन कन्याओं के विवाह की व्यवस्था और रोगियों की चिकित्सा भी इस आश्रम के कार्यकलाप हैं। आगरा और देहरादून के समान प्रयाग, लखनऊ, शाहजहांपुर, सहारनपुर और बरेली आदि अन्य नगरों में भी आर्यसमाज द्वारा विधवाओं, असहाय स्त्रियों व अनाथ बालिकाओं के लिए आश्रमों की स्थापना की गयी।

अछूत समझे जानेवाले दलित लोगों के उद्धार के लिए उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज द्वारा जो कार्य किया गया, उसके अनेक रूप थे। व्याख्यानों द्वारा यह प्रचार किया जाता था कि किसी को अछूत मानना धर्मविरुद्ध है; समाज में छुआछूत व ऊँच-नीच का भेदभाव अनुचित है; सबको विद्या पढ़ने का अधिकार है और मनुष्यों की सामाजिक स्थिति उनके गुण-कर्म व योग्यता के अनुसार ही निर्धारित की जानी चाहिए। अछूत जातियों के बच्चों को शिक्षा देने के लिए आर्यसमाज द्वारा विशेष रूप से प्रयत्न किया गया। विना किसी भेदभाव के उन्हें समाज की शिक्षण-संस्थाओं में प्रविष्ट किया गया और उनके मुहल्लों में विशेष पाठशालाएँ भी खोली गयीं। अकेले बरेली नगर में डा० श्यामस्वरूप के प्रयत्न से ३२ "कल्याणी" पाठशालाएँ स्थापित की गयी थीं, जिनमें अछूत जातियों के बच्चों की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था थी। छुआछूत के भेद को मिटाने के लिए सहभोज आयोजित करने के उपाय को भी प्रयुक्त किया गया था। इन भोजों में सब वर्णों और जातियों के स्त्री-पुरुष एकसाथ बैठकर भोजन करते थे और भोजन बनाने तथा परोसनेवाले व्यक्ति भी सब जातियों के हुआ करते थे। उस समय अछूत लोगों को कुओं से पानी भरने नहीं दिया जाता था। आर्यसमाज ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया और अपने प्रयत्न से अछूतों के कुओं पर चढ़कर पानी भरने का मार्ग प्रशस्त किया। इस सम्बन्ध में उत्तरप्रदेश में जो महान् कार्य हुआ, बिजनौर जिले के उदाहरण से उसपर प्रकाश डाला जा सकता है। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इस जिले में चमारों की संख्या १,३६,५४४ थी। जिले की सम्पूर्ण आबादी के वे १७ प्रतिशत और हिन्दुओं की जनसंख्या के २३·४ प्रतिशत थे। चमारों को अछूत माना जाता था और वे कुओं से पानी नहीं भर सकते थे। इस दशा में हलदौर (जिला बिजनौर) के प्रतिष्ठित आर्यसमाजी लाला ठाकुरदास ने चमारों के उद्धार तथा उन्हें मानवोचित स्थिति व अधिकार दिलाने के लिए जो प्रयत्न किया वह वस्तुतः अद्वितीय व सराहनीय था। उन्होंने जिले के अनेक नगरों में छुआछूत के विरुद्ध प्रचार कराया और सन् १९२६ में बिजनौर और हलदौर में अछूतोद्धार विषय पर दो कान्फरेन्सें करायीं, जिनमें बहुत-से अछूतों को यज्ञोपवीत धारण कराके

आर्यसमाज में प्रविष्ट किया गया और उनके हाथ से मिठाई बँटवायी गयी, जिसे सबने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया। फरवरी, १९२७ में वसन्तपंचमी के अवसर पर एक सहभोज की व्यवस्था हलदौर में की गयी, जिसमें अन्य स्थानों के आर्यसमाजों के भी ५० व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। इसी प्रकार के सहभोज शिवहरा, पूरनपुर, बुआपुर, नजीबाबाद आदि में भी आयोजित किए गये। इन सब स्थानों पर अछूत समझे जानेवाले लोगों को शुद्ध कर यज्ञोपवीत धारण कराये जाते थे, मांस-मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा ली जाती थी और फिर यज्ञ कराके वैदिक धर्म की दीक्षा दी जाती थी। फिर वे शुद्ध हुए व्यक्ति भोजन बनाते थे, जिसे सब आर्य एक पंक्ति में बैठकर प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते थे। भोजन प्राय: कच्चा (दाल-रोटी) होता था, जिसे सनातनी हिन्दू या तो ब्राह्मण का बनाया हुआ ही ग्रहण करते हैं और या स्वजातीय व्यक्तियों द्वारा बनाया हुआ। पर आर्यसमाज ने कच्चे-पक्के भोजन के विवेक का अन्त कर अछूत समझे जानेवाले लोगों द्वारा बनाए गये दाल-रोटी के भोजन को ग्रहण करने के लिए सबको प्रेरणा दी और इसमें उसे समुचित सफलता भी प्राप्त हुई। २६ जून, सन् १९२६ के दिन लाला ठाकुरदास के प्रयत्न से नजीबाबाद में दलितवर्ग और द्विजातियों का जो सहभोज हुआ, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। उस दिन नगर के सब मुख्य-मुख्य कुओं पर "अछूतों" ने पानी भरा, सबके सामने उसका आचमन किया और फिर वैदिक धर्म की जय-जयकार करते हुए और आर्यसमाज के भजन गाते हुए सारे नगर में जुलूस निकाला। जुलूस के बाद सब लोग आर्यसमाज-मन्दिर में एकत्र हुए और वहाँ सबने—जिनमें ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य, चमार आदि सभी छूत-अछूत जातियों के व्यक्ति थे—एक पंक्ति में एकसाथ बैठकर दाल-रोटी का भोजन किया। जून, १९२७ में ही अछूतोद्धार का एक महान् आयोजन बुआपुर ग्राम में हुआ था, जिसमें ३०० चमार आर्यसमाज में प्रविष्ट किये गये थे। इस अवसर पर जो सहभोज हुआ, उसमें १००० के लगभग आर्यों ने भाग लिया था। बरेली के प्रसिद्ध आर्य-विद्वान् पण्डित बिहारीलाल शर्मा और मेरठ के पण्डित शिवदयालु भी इस अवसर पर बुआपुर में उपस्थित थे। चमारों को वैदिक धर्म की दीक्षा पण्डित बिहारीलाल शास्त्री द्वारा दी गयी थी। लाला ठाकुरदास ने बिजनौर जिले में दलितोद्धार के लिए जो कार्य-किया, उसके कारण वहाँ एक प्रकार की सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी थी। जिले के मेलों में भी अछूतों को यज्ञोपवीत धारण कराये जाते थे और उनके साथ सहभोज की व्यवस्था की जाती थी। मेलों पर अछूतों द्वारा भोजन की दूकानें भी खुलवायी जाती थीं और लोगों को उनसे भोजन खरीदकर खाने के लिए प्रेरित किया जाता था।

बिजनौर जिले के समान उत्तरप्रदेश में अन्यत्र भी छुआछूत के भेद को मिटाने के लिए सहभोजों का आयोजन किया गया था। अलीगढ़ जिले में ठाकुर खान सिंह इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। उन्होंने बरौठा, औरंगाबाद आदि अनेक ग्रामों में बड़े पैमाने पर अछूतों को शुद्धि द्वारा "आर्य" बनाया और उनके साथ सहभोज की व्यवस्था की। बिजनौर में दलितोद्धार के कार्य में जो अनेक महानुभाव लाला ठाकुरदास के सहायक थे, उनमें श्री भवानीप्रसाद, ठाकुर शिवराज सिंह और मास्टर गुमानी सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। चमारों को कुओं से स्वयं पानी भरने का अधिकार है, इसके लिए बिजनौर-समाज को अनेक मुकदमे भी लड़ने पड़े। यह मामला हाईकोर्ट तक गया और उसका फैसला आर्यसमाज के अनुकूल होने के कारण वह नज़ीर बन गया और

अछूतों के इस अधिकार को सरकार द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। अछूतों के ये मुकदमे बिजनौर जिला उपप्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान बाबू जगन्नाथ शरण वकील ने विना कोई शुल्क लिये लड़े थे।

(४) गढ़वाल में दलितोद्धार और डोला-पालकी का आन्दोलन

श्री जयानन्द भारतीय द्वारा गढ़वाल में किस प्रकार आर्यसमाज का प्रवेश हुआ, इसका उल्लेख सातवें अध्याय में किया जा चुका है। गढ़वाल के निवासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग उन अछूत समझे जानेवाले लोगों का है, जिन्हें "डूम" या "डोम" कहा जाता है। ये बढ़ई, लोहार, दर्जी आदि के विविध शिल्पों द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, पर समाज में इनकी स्थिति हीन समझी जाती है। आजकल इन्हें "शिल्पकार" भी कहा जाने लगा है, क्योंकि शिल्प में ये अत्यन्त निपुण हैं। यह नाम इन्हें लाला लाजपत राय द्वारा दिया गया था। सन् १९११ में वह कुमायूँ गये थे और इन लोगों की दुर्दशा देखकर अत्यन्त दुःखी हुए थे। एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था, कि इन कुशल शिल्पियों को "डूम" जैसे घृणित नाम से पुकारना और उनपर अत्याचार करना सवर्ण हिन्दुओं का घोर अन्याय है। ये लोग उच्च कोटि के शिल्पकार हैं, और इन्हें इसी नाम से कहा जाना चाहिये। तब से कुमायूँ और गढ़वाल के डूम शिल्पकार कहे जाने लगे और आर्यसमाज ने उनका उद्धार करने के लिए बहुत सराहनीय प्रयत्न किया। कहा जाता है कि डूम (शिल्पकार) लोग इस पार्वत्य प्रदेश के पुराने आदिनिवासी थे। जिन लोगों (ब्राह्मणों और राजपूतों) को वहाँ ऊँचा माना जाता है, और जो "विट्" नाम से प्रसिद्ध हैं, वे वहाँ बाद में आकर बसे। अपने से पूर्ववर्ती निवासियों को पराजित कर उनकी सम्पत्ति पर उन्होंने अपना स्वत्त्व स्थापित कर लिया और उन्हें अपना गुलाम बना लिया। विटों के सम्मुख उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति अत्यन्त हीन हो गयी। उन्हें अछूत समझा जाने लगा और उन्हें सामान्य नागरिक अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया। डूम या शिल्पकार लोग जीवन-निर्वाह के लिए पूर्णतया विटों पर आश्रित थे, और उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं था। आर्यसमाज ने इस दशा से उनका उद्धार किया।

सन् १९१८ में गढ़वाल में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की सहायता के लिए पंजाब आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता महात्मा हंसराज और स्वामी श्रद्धानन्द अपने स्वयंसेवकों के साथ गढ़वाल गये और वहाँ उन्होंने भूख से तड़पते हुए लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था की। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करते हुए इन आर्य नेताओं का ध्यान डूमों की ओर गया; उन्होंने इन लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराकर आर्यसमाज में प्रविष्ट करना शुरू कर दिया। बिजनौर जिले की उत्तरी सीमा गढ़वाल के साथ लगती है। नजीबाबाद के क्षेत्र में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार था। अतः स्वाभाविक रूप से वहाँ के कर्मठ आर्य कार्यकर्ताओं का भी ध्यान गढ़वाल के डूमों की ओर गया और पण्डित आनन्दीलाल तथा मुंशी लक्ष्मीनारायण आदि आर्यों ने उनको समाज में समुचित स्थिति प्रदान कराने के लिए गढ़वाल प्रस्थान कर दिया। मादक द्रव्य निवारिणी सभा, प्रयाग के प्रचारक पण्डित देवीदत्त भी उनके साथ थे। दुगड्डा पहुँचने पर वहाँ के पटवारी ने उन्हें आदेश दिया कि साहब-इलाके की अनुमति के बिना वे वहाँ धर्म-

प्रचार नहीं कर सकते। इसपर उस इलाके के सब-डिविजनल आफिसर महोदय से सम्पर्क किया गया, और फरवरी, १९१८ में नजीबाबाद आर्यसमाज की ओर से दुगड्डा के समीप वोर ग्राम के डूमों में धर्म-प्रचार प्रारम्भ कर दिया गया। डूमों ने उत्साहपूर्वक महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं का स्वागत किया और ५०० के लगभग डूमों को यज्ञोपवीत धारण कराके आर्यसमाज में प्रविष्ट कर लिया गया। विट कहानेवाले सवर्ण लोगों ने इन नये 'आर्यों' के साथ बड़ी क्रूरता का बरताव किया। उनकी जोत की जमीन उनसे छुड़वा ली और उन्हें मजदूर रखना भी वन्द कर दिया। उनके यज्ञोपवीत तोड़ डाले और आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं व प्रचारकों पर भी लाठियों द्वारा आक्रमण किया। पर इससे आर्य लोग घबराये नहीं। उन्होंने अपने कार्य को जारी रखा, जिससे गढ़वाल के डूमों (शिल्पकारों) में वैदिक-धर्म के प्रचार में निरन्तर वृद्धि होती गयी। इस बीच आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा भी गढ़वाल में आर्यसमाज के प्रचार तथा दलितोद्धार के लिए प्रयत्न जारी था। सभा की ओर से अनेक शिक्षणालय भी वहाँ स्थापित किये जा रहे थे और सवर्ण जातियों के भी अनेक व्यक्ति आर्यसमाज के प्रभाव में आने लग गये थे।

डूमों (शिल्पकारों) को आर्यसमाज में प्रविष्ट करने और समाज में उन्हें समुचित व न्याय्य स्थिति प्रदान करने के लिए जो प्रयत्न आर्य प्रचारकों द्वारा किया जा रहा था, उसके कारण एक नये आन्दोलन या संघर्ष का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'डोला-पालकी आन्दोलन' कहते हैं। गढ़वाल के पार्वत्य प्रदेश में विवाह के पश्चात् वर-वधू को ले-जाने के लिए डोली और पालकी का प्रयोग किया जाता था। डोली में वधू बैठती थी और पालकी में वर। पर इन सवारियों का प्रयोग केवल उच्च वर्ग के व्यक्ति ही कर सकते थे, दलित या डूम लोग नहीं। डोली और पालकी का निर्माण डूमों द्वारा किया जाता था और इन्हें कन्धे पर उठाकर ले-जाने का काम भी उन्हीं से लिया जाता था, पर वे स्वयं इनका प्रयोग नहीं कर सकते थे। आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए शिल्पकारों को अपनी यह हीन स्थिति सह्य नहीं थी। रहन-सहन तथा धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में वे अब सवर्णों से किसी भी प्रकार हीन नहीं थे। वे अब शिक्षाग्रहण करने लगे थे। उन्होंने वर-वधू को डोला-पालकी में ले-जाना शुरू किया, जिसे विट लोग सहन नहीं कर सके। उन्होंने इसे धर्म का 'विनाश' घोषित किया, और गाँव-गाँव में घूमकर सवर्ण लोगों को शिल्पकारों के विरुद्ध भड़काना शुरू कर दिया। 'आर्य' शिल्पकारों पर भयंकर अत्याचार किये जाने लगे। जब कोई आर्य-वर-वधू को डोला-पालकी पर ले-जाने लगता, तो सनातनी विचारों के ब्राह्मण और राजपूत बरात पर टूट पड़ते, डोला-पालकी को जला देते, भोजन-सामग्री नष्ट कर दी जाती और बरातियों को बुरी तरह से पीटा जाता। पर इससे आर्य लोग घबराये नहीं। वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उनकी बरातें सप्ताहों तक जंगलों में रुकी रहतीं, पर वे वर-वधू को डोला-पालकी पर ले-जाने के आग्रह का परित्याग न करते, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा उन्हें 'डूम' से 'आर्य' बना दिया गया था। वे यज्ञोपवीत धारण करने लगे थे, शिक्षित होने लगे थे। उनका रहन-सहन व आचरण किसी भी दृष्टि से हीन नहीं रह गया था। वे सन्ध्या-हवन किया करते थे। विविध वैदिक संस्कार भी उनके घरों में होने लगे थे और वे अपने नामों में 'राम', 'सिंह' और 'आनन्द' आदि भी प्रयुक्त करने लगे थे। जब यथार्थ में वे सवर्ण ब्राह्मणों और राजपूतों की तुलना में किसी

भी प्रकार हीन नहीं रह गये थे, तब वे अपने सामान्य नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष क्यों न करते ? उनके द्वारा विटों के अत्याचारों का प्रतिरोध करने के लिए सत्याग्रह किया गया और अदालतों के दरवाजे भी खटखटाये गये।

डोला-पालकी आन्दोलन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक घटना का उल्लेख उपयोगी होगा। १२ फरवरी, सन् १९४० को ग्राम भौंराड (सावली) के श्री खेमसिंह समरियाल के नाती का विवाह ग्राम कफलसार के श्री मस्तूराम आर्य की पुत्री के साथ होनेवाला था। उसमें वैदिक विधि से कन्यादान किया जाना था, और वर-वधू के लिए डोला-पालकी की व्यवस्था की गयी थी। सनातनी सवर्णों को यह सह्य नहीं हुआ और उन द्वारा इस विवाह में बाधा उपस्थित करने के लिए योजना तैयार की गयी। विवाह में उस क्षेत्र के सभी आर्य निमन्त्रित थे, और वे अच्छी-बड़ी संख्या में बरात में सम्मिलित हुए थे। ठीक उस दिन जब बरात भौंराड से कफलसार के लिए प्रस्थान करनेवाली थी, पट्टी सावली के छप्पन गाँवों के सनातनी विटों ने बरात पर हमला कर दिया। आक्रमणकारियों की संख्या छह हजार के लगभग थी। उन्होंने पालकी को जलाकर राख कर दिया, भोजन-सामग्री नष्ट कर दी, बरातियों से मारपीट की और उनके यज्ञोपवीत उतारकर जला दिये। आर्यसमाज के महान् नेता श्री जयानन्द भारतीय अस्वस्थ होते हुए भी इस विवाह में सम्मिलित होने के लिए भौंराड आये हुए थे। विटों ने उन्हें अपने आक्रमण का विशेष लक्ष्य बनाया। वे उनको मौत के घाट उतार देना चाहते थे, पर उनके भक्तों और अनुयायियों ने जान पर खेलकर उनकी रक्षा की। फिर भी आक्रान्ता लोग उनका यज्ञोपवीत उतारने में सफल हो गये और उन्हें अनेक प्रकार से अपमानित किया गया। पर आर्य भी अपने निश्चय पर दृढ़ थे। वे पालकी के बिना बरात को ले-जाने के लिए तैयार नहीं हुए। बरात रुकी रही, और चिरकाल तक रुकी रही। इस बीच सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया गया और पुलिस की सहायता से पालकी के साथ बरात को कन्या-पक्ष के गाँव ले-जाया गया। सरकारी अदालत द्वारा आर्यों के डोला-पालकी के अधिकार को स्वीकृत किया जा चुका था, इसीलिए भौंराड के एक आर्य-परिवार की इस बरात को पुलिस की सहायता प्राप्त हो सकी थी। गढ़वाल में आर्यों (शिल्पकारों) पर जो अत्याचार हो रहे थे, श्री जयानन्द भारतीय ने महात्मा गांधी आदि नेताओं का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। वह गांधी जी से जाकर मिले और डोला-पालकी आन्दोलन की सफलता के लिए उनसे आशीर्वाद माँगा। उस समय कांग्रेस द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह के आन्दोलन का संचालन किया जा रहा था। गढ़वाल के अनेक व्यक्ति भी इस सत्याग्रह में भाग ले रहे थे। श्री भारतीय जी की अपील पर महात्मा गांधी ने गढ़वाल के लोगों को व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने से मना कर दिया और उन्हें आदेश दिया कि पहले गढ़वाल को इन अत्याचारों के कलंक से मुक्त करो। इसका गढ़वाल के प्रगतिशील व देशभक्त लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा और वे डोला-पालकी की समस्या पर ध्यान देने के लिए विवश हो गये। इसी के परिणामस्वरूप २३ फरवरी, १९४१ को लैंसडाउन में एक सर्वदल सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसके अध्यक्ष जिला बोर्ड के चेयरमैन ठाकुर हरेन्द्रसिंह रावत थे। स्थानीय आर्यों के निमन्त्रण पर उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा तथा सार्वदेशिक सभा की ओर से भी कतिपय आर्य नेता इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, पर ठाकुर हरेन्द्रसिंह रावत ने उन्हें भाषण करने की अनु-

मति प्रदान नहीं की। सर्वदल सम्मेलन ने आर्यों के डोला-पालकी के अधिकार को स्वीकृत तो कर लिया, पर उससे स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ, क्योंकि सवर्ण विटों के विचारों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। आर्यों पर पूर्ववत् अत्याचार होते रहे और उनके लिए डोला-पालकी का उपयोग कर सकना सुगम नहीं रहा। इस दशा में उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान श्री मदनमोहन सेठ ने प्रदेश की सरकार से सम्पर्क कर गढ़वाल की दशा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया। उत्तरप्रदेश के राज्य-पाल सर माल्कम हेली स्वयं लैंसडाउन गये, और डोला-पालकी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया, पर वह भी सनातनी विटों के व्यवहार को बदल सकने में असमर्थ रहे। सन् १९४२ में भी आर्यों पर पूर्ववत् अत्याचार किये जाते रहे। सभा के मन्त्री पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री ने गढ़वाल जाकर वहाँ की समस्या का समाधान करने के लिए विशेष प्रयत्न किया और सार्वदेशिक सभा की ओर से भी वहाँ उपदेशक और कार्यकर्ता भेजे गये। प्रतिनिधि सभा द्वारा दुगड्डा में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें प्रदेशभर के सब आर्यसमाजों के प्रधानों और मन्त्रियों को बुलाया गया। डोला-पालकी तथा आर्यों पर विटों के अत्याचारों की समस्या पर सम्मेलन में विचार हुआ, पर कोई विशेष परिणाम नहीं निकल सका। अब कट्टरपंथी सवर्ण लोगों द्वारा आर्य उपदेशकों पर भी नृशंस अत्याचार प्रारम्भ कर दिये गये। पण्डित वेदव्रत आर्योपदेशक के गले में रस्सा डालकर पशुओं के समान खींचा गया और उनपर पत्थर फेंके गये। अन्य उपदेशकों पर भी हमले किये गये। जुलाई, १९४५ में ग्राम कस्याली (उदयपुर) से डोला-पालकी के साथ आर्यों की एक बरात जब वापस आ रही थी, तो सनातनी सवर्ण लोगों ने उस-पर आक्रमण कर दिया। आर्य उपदेशक पण्डित वेदव्रत तथा ब्रह्मचारी बालकराम भी इस बरात के साथ थे। वेदव्रत जी को मारा-पीटा गया और ब्रह्मचारी जी से ओ३म् का झण्डा छीनकर उन्हें रस्से से बाँध दिया गया और फिर उन्हें थल नदी में डुबाने का प्रयत्न किया गया। इस काण्ड के बाद ब्रह्मचारी बालकराम ने गढ़वाल के आर्यों पर किये जानेवाले अत्याचारों की ओर नेताओं का ध्यान आकृष्ट करने के लिए अनशन व्रत करने का निश्चय किया। उनकी तीन माँगें थीं—(१) कस्याली की बरात को बिना किसी रुकावट के सम्मान के साथ वापस आने दिया जाए। (२) विटों ने उनसे ओ३म् का जो झण्डा छीन लिया था, उसे वापस किया जाए। (३) डोला-पालकी की समस्या के समाधान के लिए एक सर्वांगसम्पूर्ण कानून का निर्माण किया जाए। ६ अगस्त, १९४५ को ब्रह्मचारी जी ने पण्डित वेदव्रत के साथ दुगड्डा के डी० ए० वी० इण्टर कॉलिज में अनशन प्रारम्भ कर दिया। दो सप्ताह बाद आर्य नेताओं के आश्वासन पर अनशन की समाप्ति कर दी गयी। अब आर्यसमाज द्वारा गढ़वाल में अछूतोद्धार के लिए विशेष प्रयत्न किया जाने लगा, जिसके कारण कांग्रेस के नेता भी गढ़वाल की स्थिति की उपेक्षा नहीं कर सके। सन् १९४६ में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने गढ़वाल का दौरा किया और एक सार्वजनिक सभा में डोला-पालकी की समस्या पर बोलते हुए उन्होंने कहा, "मुल्क में समान रूप से सबका इन्तजाम किया जायेगा। किसी भी हालत में अछूतों पर अत्याचार नहीं होने दिए जायेंगे। आप लोग कांग्रेस को वोट दें या न दें, लेकिन डोला-पालकीवाले अत्याचार किसी भी हालात में बर्दाश्त नहीं किये जायेंगे।" श्री जयानन्द भारतीय जैसे महान् आर्य-नेता की तपस्या तथा ब्रह्मचारी बालकराम सदृश आर्य वीरों के त्याग से अन्त में डोला-

पालकी आन्दोलन में आर्यसमाज को सफलता प्राप्त हुई, और उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा "सामाजिक असमर्थता निवारक कानून" बनाया गया, जिसके कारण नागरिक व सामाजिक जीवन में शिल्पकारों (आर्यों) को वे सब अधिकार प्राप्त हो गये जो सवर्ण विटों को प्राप्त थे। यह कानून १९४७ में बना था।

शिल्पकारों में वैदिक धर्म का प्रचार कुमायूँ के पार्वत्य क्षेत्र में भी हुआ। गढ़वाल के समान वहाँ भी डूमों का अच्छी-बड़ी संख्या में निवास था। आर्यसमाज के प्रचारकों ने उन्हें यज्ञोपवीत धारण करा समाज में प्रविष्ट किया और वैदिक धर्म की मान्यताओं के अनुसार जीवन बिताने की शिक्षा प्रदान की।

(५) जनसेवा तथा अन्य कार्यकलाप

देश के किसी भी भाग में जब कभी दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक विपत्तियों और प्लेग, हैजा आदि महामारियों के कारण जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा, आर्यसमाज उसकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहा। सन् १९१८ में गढ़वाल में जो भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था उसमें महात्मा हंसराज और स्वामी श्रद्धानन्द ने दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की सराहनीय सेवा की थी। जनवरी, सन् १९३४ में बिहार में भयंकर भूकम्प आया था, जिससे कितने ही नगर व ग्राम भूमिसात् हो गये थे और एक प्रकार का खण्ड-प्रलय ही उपस्थित हो गया था। उस समय उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डॉक्टर बाबूराम सक्सेना और मन्त्री श्री उमाशंकर वकील थे। उनकी ओर से भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए धन की अपील जारी की गयी और प्रिंसिपल दीवानचन्द को साथ लेकर श्री उमाशंकर जी बिहार की दशा का अध्ययन करने के लिए गये। उनके वापस आते ही स्वयंसेवकों का पहला दल श्री देशबन्धु अधिकारी के नेतृत्व में बिहार भेज दिया गया। बाद में स्वयंसेवकों के अन्य भी अनेक दल श्री धुरेन्द्र शास्त्री, पण्डित शिवदयालु आदि आर्य नेताओं की अध्यक्षता में उन स्थानों पर भेजे गये, जहाँ भूकम्प के कारण धन-जन की बहुत क्षति हुई थी। बिहार का भूकम्प इतना व्यापक व भयंकर था कि उससे पीड़ित लोगों की सहायता के लिए "अखिल भारतीय आर्यसमाज रिलीफ सोसायटी" का निर्माण किया गया, जिसमें उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा की ओर से डॉक्टर बाबूराम सक्सेना, श्री उमाशंकर वकील, प्रिंसिपल दीवानचन्द, पण्डित शिवदयालु, बाबू हृदयराम तथा श्री विष्णुचन्द को सदस्य मनोनीत किया गया था। पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थी इस सोसायटी के प्रधान थे। मुजफ्फरपुर, मधुबनी आदि जिन स्थानों पर भूकम्प का अत्यधिक कोप हुआ था, वहाँ सोसायटी द्वारा सेवा-केन्द्र स्थापित किए गये, और अन्न, वस्त्र, ओषधि आदि का वितरण कर जनता की सेवा की गयी। उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा के ३२ कार्यकर्ताओं ने एक मास के लगभग बिहार में रहकर इस सेवा-कार्य में हाथ बँटाया। इसी प्रकार जब क्वेटा में भूकम्प आया, उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा ने धन एकत्र कर भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए भेजा। कुम्भसदृश बड़े मेलों के अवसर पर महामारियों के निवारण के लिए भी आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से ओषधि-वितरण एवं रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था की जाती थी।

सार्वदेशिक सभा की ओर से 'आर्य वीर दल' के संगठन का निश्चय इस प्रयोजन से किया गया था, ताकि आर्य नवयुवकों में जन-सेवा की भावना उद्बुद्ध हो सके और

आवश्यकता पड़ने पर वे जनता की सेवा तथा धर्म की रक्षा के काम आ सकें। उत्तरप्रदेश में भी अनेक स्थानों पर आर्यवीर दल की शाखाएँ स्थापित की गयीं। समय-समय पर शिक्षण-शिविर भी खोले गये, जिनमें नवयुवकों को वैदिक धर्म के मन्तव्यों से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता था और उन्हें अनुशासित व सादा जीवन बिताने तथा जनता की सेवा करने की शिक्षा दी जाती थी। उत्तरप्रदेश के स्थानीय आर्यवीर दलों को एक सूत्र में बाँधने के प्रयोजन से सन् १९२० में प्रान्तीय आर्यवीर दल स्थापित किया गया था, जिसने कुछ ही समय में बहुत उन्नति कर ली थी। जब मुसलमानों में खाकसार-आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, तो उसका सामना करने के लिए उत्तरप्रदेश में १५,००० के लगभग आर्यवीर तैयार थे। ये वीर देश और धर्म की रक्षा के लिए सब प्रकार के कष्ट सहन करने को उद्यत थे, और जनता की सेवा का इन्होंने सुचारु रूप से प्रशिक्षण प्राप्त किया हुआ था। देश में जब स्वराज्य आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि आर्य युवक बहुत बड़ी संख्या में उसमें सम्मिलित हो जाएँ, क्योंकि देशभक्ति और राष्ट्रीयता आर्यसमाज की शिक्षाओं के महत्त्वपूर्ण अंग थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि आर्य युवकों की दृष्टि में आर्यवीर दल का महत्त्व कम होने लगा, और वे महात्मा गांधी द्वारा संचालित सत्याग्रह में अधिक उत्साह से भाग लेने लगे। पर स्वराज्य-संघर्ष के दौरान अनेक स्थानों पर जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उनके कारण आर्यों ने आर्यवीर दल की आवश्यकता व उपयोगिता को तीव्र रूप से अनुभव किया और इस संगठन में पुनः शक्ति व उत्साह का प्रादुर्भाव होने लगा। भारत के विभाजन के समय सन् १९४७ में पंजाब से लाखों हिन्दू विस्थापित होकर उत्तरप्रदेश के सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बिजनौर, मुरादाबाद, देहरादून, बुलन्दशहर आदि पश्चिमी जिलों में आये। आर्यवीर दल के स्वयंसेवकों ने बड़ी लगन के साथ उनकी सेवा की।

नवयुवकों में जागृति उत्पन्न करने तथा उन्हें धर्म, देश और समाज की सेवा के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से आर्यसमाज द्वारा आर्यकुमार सभाओं की स्थापना शुरू की गयी थी। उत्तरप्रदेश में सबसे पहले मेरठ में सन् १९०६ में आर्यकुमार सभा स्थापित हुई थी। बाद में बिजनौर (१९०९), नजीबाबाद (१९०९), चन्दौसी (१९१२), हरदोई (१९१५), मवाना कलां (१९१६), गाजियाबाद (१९१६), मुरादाबाद (१९१६), नरही, लखनऊ (१९२३), कांठ (१९२४), भूड़ बरेली (१९२८), बलिया (१९२६), मुट्ठीगंज, प्रयाग (१९२९), करोली (१९३२), बदायूं (१९३५), इस्लाम नगर (१९३६), सराय तरीन (१९३६), नवाबगंज (१९३८), हापुड़ (१९३९), सदर बाजार, लखनऊ (१९३९), बस्ती (१९४०), शेरकोट (१९४०), बेरी, एटा (१९४०), और आजमगढ़ (१९४०) में आर्यकुमार सभाओं की स्थापना हुई। इस प्रकार उत्तरप्रदेश में आर्यकुमार सभाओं का एक जाल-सा बिछ गया और उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। भारत के विभिन्न प्रान्तों या प्रदेशों में जो आर्यकुमार सभाएँ हैं, उनके प्रान्तीय संगठन भी हैं और एक अखिल भारतीय संगठन भी, जिसे "भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्" नाम दिया गया है। उत्तरप्रदेश के प्रान्तीय संगठन के वार्षिक अधिवेशन प्रदेश के भिन्न-भिन्न नगरों में होते रहे, जिनसे आर्य युवक अपने धर्म व समाज की सेवा के लिए प्रेरणा प्राप्त करते रहे।

विधर्मियों को शुद्ध कर हिन्दू (आर्य) समाज में सम्मिलित करने के सम्बन्ध में

उत्तरप्रदेश में जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया, 'शुद्धि और हिन्दू संगठन' विषयक अध्याय में उसपर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

(६) आर्यसमाजों का विस्तार

सन् १९१२ से १९४७ तक उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का जो प्रसार व विस्तार हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र गढ़वाल था। इस क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार का श्रीगणेश करने वाले श्री जयानन्द भारतीय का उल्लेख सातवें अध्याय में किया जा चुका है। सन् १९११ में मसूरी में आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के कट्टर अनुयायी हो गये थे और अनेक आर्यसमाजों में परिभ्रमण करते हुए बरेली आ गए थे। वहाँ वह डॉक्टर श्यामस्वरूप सत्यव्रत के सान्निध्य में आये और उनसे वैदिक धर्म के प्रचार की प्रेरणा प्राप्त की। उन्होंने गढ़वाल में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का निश्चय किया, और सबसे पहले साँवली पट्टी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। सन् १९१८ में बरेली के आर्योपदेशक पण्डित पुरुषोत्तम तिवारी के साथ वह ग्राम सेरा सावली गये और वहाँ प्रचार प्रारम्भ किया। पौराणिक लोगों के लिए उनके कार्य को सह सकना सम्भव नहीं था। उन्हें यह असह्य प्रतीत होता था, कि एक अब्राह्मण ब्राह्मणों की तरह यज्ञोपवीत पहनकर धर्म का उपदेश करने लगे। सब ओर उनका विरोध शुरू हो गया और पौराणिक लोग मारपीट के लिए भी तैयार हो गये। पण्डित पुरुषोत्तम तिवारी अच्छे हृष्ट-पुष्ट थे और लाठी चलाने में भी निपुण थे। उन्होंने शक्ति द्वारा विरोधियों का सामना करना चाहा, पर जयानन्द जी को यह पसन्द नहीं था। जहाँ सब कोई विरोधी ही विरोधी हों, वहाँ बल के प्रदर्शन से लाभ भी क्या था? निराश होकर जयानन्द जी बरेली लौट गये, और गढ़वाल में वैदिक धर्म के प्रचार के प्रथम प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। उन दिनों बीसवीं सदी का प्रथम महायुद्ध चल रहा था। जयानन्द जी अब सेना में भरती हो गये और सैनिक के रूप में कितने ही विदेशों की उन्होंने यात्रा की। सेना में होते हुए भी वह सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि को सदा अपने साथ रखते थे। सन् १९२० में सेना से मुक्त होकर वह गढ़वाल वापस आ गए और वहाँ उन्होंने शिल्पकारों को "आर्य" बनाने तथा डोला-पालकी के प्रश्न को निमित्त बनाकर उन्हें सामाजिक समता के अधिकार दिलाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया। सन् १९१८ के घोर दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए महात्मा हंसराज और स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में आर्य स्वयंसेवकों के जो अनेक दल गढ़वाल गये थे, उनके कारण वहाँ के निवासियों को आर्यसमाज के कार्यकलाप से परिचय प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हो गया था; और कुछ लोग उससे प्रभावित भी होने लग गये थे। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की ओर से वहाँ अनेक स्कूल भी खोल दिए गये थे, जिन द्वारा भी जनता को वैदिक धर्म का परिचय प्राप्त होता रहता था। इन स्कूलों और पाठशालाओं की संख्या १५ के लगभग थी। उनका संचालन पण्डित अर्जुनदेव भारती द्वारा किया जा रहा था। नजीबाबाद आर्यसमाज के प्रचारक व उत्साही सदस्य भी गढ़वाल के समीपवर्ती क्षेत्र में प्रचार-कार्य में तत्पर थे। मोहन आश्रम, हरिद्वार के पण्डित देवानन्द (स्वामी सच्चिदानन्द) भी गढ़वाल में कार्य कर रहे थे। पर उस क्षेत्र का वास्तविक व ठोस कार्य उन शिल्पकार लोगों में था, जिन्हें अछूत समझा जाता था। श्री जयानन्द

भारतीय ने उनमें काम करना शुरू किया, और उसमें उन्हें जिस विरोध का सामना करना पड़ा, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। नजीबाबाद के श्री धर्मेन्द्रनाथ आर्य, बाबू बनारसीलाल आर्य, और श्री शिवचरणदास आदि जो कार्यकर्ता गढ़वाल में प्रचार कर रहे थे, उनका कार्य भी मुख्यतया शिल्पकारों में ही था। श्री जयानन्द तथा अन्य प्रचारकों के प्रयत्न से हजारों शिल्पकार आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए और अनेक स्थानों पर समाजों की स्थापना हुई। गढ़वाल में जो आर्यसमाज सबसे पहले स्थापित हुए, उनमें चोंदकोट का समाज अन्यतम है। उसकी स्थापना पण्डित रघुवरदयाल (श्रीदयाल मुनि) द्वारा की गयी थी। वह जन्म से ब्राह्मण थे, पर सत्यार्थप्रकाश पढ़कर महर्षि के अनुयायी हो गये थे। वह भी पहले सेना में थे और सैनिक सेवा से निवृत्त होकर वैदिक धर्म के प्रचार में प्रवृत्त हो गये थे। सन् १९२५ में उन्होंने श्री केशरसिंह रावत के सहयोग से चोंदकोट में आर्यसमाज स्थापित किया, और उसे केन्द्र बनाकर प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। एकेश्वर के मेले में जब वह प्रचार कर रहे थे, तो आर्यसमाज के विरोधियों ने उनपर तथा उनके साथियों पर हमला कर दिया, पर उन्होंने प्रचार-कार्य बन्द नहीं किया। उनके प्रयत्न से हजारों शिल्पकारों को यज्ञोपवीत धारण कराया गया। ब्रह्मचारी बालकराम पण्डित जी के ही शिष्य थे। सन् १९३४-३५ तक गढ़वाल में दस आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। समाजों की इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, और एक समय ऐसा भी आया जबकि यह संख्या ११७ तक पहुँच गयी। पर दुर्भाग्य से ये सब समाज देर तक सक्रिय नहीं रह सके। दुर्गम पहाड़ी बस्तियों में स्थित होने के कारण इनमें आर्य-प्रचारकों का आना-जाना कम हो गया। साथ ही, आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं का ध्यान भी स्वाधीनता संग्राम की ओर आकृष्ट हो गया। फिर भी अनेक आर्यसमाज गढ़वाल में सक्रिय रहे और इन द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य किया जाता रहा। सन् १९४७ तक जो आर्यसमाज गढ़वाल में सक्रिय थे, उनमें सावली आदिपंचपुरी का समाज एक था। इसकी स्थापना २५ मई, १९४१ को श्री जयानन्द भारतीय की प्रेरणा और श्री शान्तिप्रकाश प्रेम प्रभाकर और श्री सन्तसिंह आर्य आदि के पुरुषार्थ से हुई थी। जयानन्द जी के कार्यकलाप का यह समाज प्रधान केन्द्र था। दलितोद्धार तथा समाज-सुधार के लिए इस समाज द्वारा बहुत कार्य किया गया। श्री शान्तिप्रकाश प्रेम चिरकाल तक इसके कर्मठ कार्यकर्ता रहे। फरवरी, १९४६ में कंचोली में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, और १९४७ में तलाई तथा बमनखोला में।

सन् १९१२ से १९४७ तक के काल में जो बहुत-से आर्यसमाज उत्तरप्रदेश में स्थापित हुए, उन सबका विवरण दे सकना न सम्भव है और न उसकी आवश्यकता ही है। पर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ समाजों का उल्लेख उपयोगी होगा। देहरादून जिले में डोईवाला में समाज की स्थापना सन् १९१३ में हुई थी। देहरादून समाज के प्रधान बाबू ज्योतिस्वरूप ने उसके लिए भूमि दान दी थी, और श्री किशनसिंह रईस उसके प्रथम प्रधान थे। इस जिले के ऋषिकेश नगर में और देहरादून के कर्णपुर मुहल्ले में सन् १९३४ में समाज स्थापित हुए थे, और कालसी तथा चकराता में भी इसी समय के लगभग। सन् १९४७ तक देहरादून जिले में कुल १२ आर्यसमाज विद्यमान थे।

आर्यसमाज की दृष्टि से सहारनपुर जिले का बहुत महत्त्व है। आर्य उप-प्रतिनिधि सभा की स्थापना सबसे पहले वहीं हुई थी। सन् १९४७ तक सहारनपुर जिले में आर्यसमाजों की संख्या ३५ तक पहुँच गयी थी। सन् १९१२ के बाद स्थापित हुए इस जिले के समाजों में बहादराबाद (१९१८), मिर्जापुर (१९१८), फेराहेड़ी (१९२०), मुजफ्फराबाद (१९२२), रोहालकी किशनपुर (१९२४), औरंगाबाद (१९२७), नकुड़ (१९२९), मियाँ नगी (१९३०), खुब्बनपुर (१९४४), मलसवागंज (१९४४) और निजामपुर (१९४६) उल्लेखनीय हैं। बहादरावाद समाज के संस्थापक पण्डित रामलाल शर्मा थे। इस समाज द्वारा समीप के अनेक ग्रामों में समाजों की स्थापना की गयी और ईसाइयों तथा मुसलमानों से अनेक वार शास्त्रार्थ कराये गये। २२ नवम्बर, सन् १९३० को कैप्टिन गफ नामक अंग्रेज सैनिक अफसर ने ५०० सैनिकों के साथ समाज-मन्दिर पर आक्रमण कर "ओ३म्" की ध्वजा उतार फेंकी थी, और वेद-शास्त्रों को अग्नि के अर्पित कर दिया था। पण्डित रामलाल जी को रस्से से बाँधकर बेंतों से मारा था और उनकी आँखों में चूना भर दिया था। उस समय प्रतिनिधि सभा के प्रधान ठाकुर मशालसिंह और मन्त्री पण्डित रासविहारी तिवारी थे। उन्होंने सैनिकों के इस कार्य का प्रतिरोध किया, और सार्वदेशिक सभा की ओर से सारे देश में बहादराबाद दिवस मनाया गया, जिसमें गौरी फौज के इस कुकृत्य की भर्त्सना की गयी। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा, और कैप्टिन गफ को लिखित रूप से अपने कुकृत्य के लिए क्षमा माँगनी पड़ी। मुजफ्फराबाद समाज की स्थापना में पण्डित जयन्तीप्रसाद का कर्तृत्त्व प्रधान था। इस समाज द्वारा निकटवर्ती ग्रामों में बहुत प्रचार किया गया और अनेक ग्रामों में आर्यसमाज स्थापित किये गये। इस क्षेत्र में प्रचार-कार्य करने वाले महानुभावों में ठाकुर नवलसिंह का नाम उल्लेखनीय है। वह प्रसिद्ध भजनोपदेशक थे और उन्होंने अनेक भजन-पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। आर्यसमाज नकुड़ की स्थापना श्री सूरजभान वकील के पुरुषार्थ से हुई थी और श्रीमती सोनादेवी ने अपनी सम्पत्ति इस समाज को प्रदान कर दी थी। इस समाज को केन्द्र वनाकर नकुड़ तहसील के देहाती क्षेत्र में बहुत कार्य किया गया और कुछ मुसलमानों को शुद्ध कर आर्य भी बनाया गया। निजामपुर समाज की स्थापना में कनखल के श्री बेणीप्रसाद जिज्ञासु का विशेष कर्तृत्त्व था। शुद्धि और अछूतोद्धार के लिए इस समाज ने बहुत कार्य किया। सहारनपुर जिले के प्रायः सभी आर्यसमाज हैदरावाद-सत्याग्रह सदृश आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे।

मुजफ्फरनगर जिले में सन् १९४७ तक निम्नलिखित नये आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे—कान्धला, शामली, गढ़ी पुख्ता, दतियाना, दूधाहेड़ी, गोपला, नयी मण्डी, मुजफ्फरनगर, सिसौली, भोकड़हेड़ी, मिर्जापुर और पूरनपुर। इन समाजों में सिसौली आर्यसमाज का महत्त्व इस कारण है, क्योंकि उसकी स्थापना की प्रेरणा लाला लाजपतराय द्वारा दी गयी थी। वह सन् १९२३ में सिसौली गये थे और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्थानीय महानुभावों ने समाज की स्थापना की थी। मुजफ्फरनगर की नयी मण्डी में सन् १९२८ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था, जिसके भवन के लिए सेठ कुन्दनलाल, लाला हृदयराम और लाला बस्तीराम आदि ने उदारतापूर्वक धन प्रदान किया था। सन् १९३० में नयी मण्डी में आर्य स्त्री समाज की भी स्थापना हो गयी थी।

सन् १९१२ और १९४७ के मध्यवर्ती काल में **मेरठ** जिले में जो अनेक समाज

स्थापित हुए, उनमें दौराला, मुरादनगर, दतियाना, धौलड़ी, गढ़मुक्तेश्वर, सरौरा, डोरली, बकसर, बागपत, जानी, छपरौली, पाली, ब्रह्मपुरी और मण्डी टटीरी के आर्यसमाज मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इस काल में लावड़, चौगाँवाँ, फफूंडा, भैंसा, खेकड़ा, रसूलपुर, खानपुर, वहसूमा और नंगला हरेस में भी समाजों की स्थापना हो गयी थी। मेरठ जिले के इन सब आर्यसमाजों को प्रायः मुसलमानों से संघर्ष करना पड़ा था, क्योंकि इन द्वारा विधर्मियों की शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जा रहा था।

बुलन्दशहर जिले में नये स्थापित हुए समाज गुलावटी, करौरा, जेवर, डनकौर, कलौन्दा, दादरी, घुँघरावली, बेरा-फिरोजपुर, अरनियाँ, गोंठनी, सैदपुर, टिटौरा, वीरगाँव, गंगागढ़, निमचाना और मानकपुर में थे। गुलावठी आर्यसमाज की स्थापना जनवरी, १६२५ में हुई थी। शुद्धि-आन्दोलन का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। सन् १६३१ में स्थापित करौरा समाज ने अछूतोद्धार के लिए बहुत कार्य किया। अछूत समझे जानेवाली जातियों के अनेक व्यक्ति इस समाज के कर्मठ कार्यकर्ता रहे हैं। जेवर का समाज बम्बई के सेठ भगवतदयाल द्वारा स्थापित किया गया था (सन् १६१८)। सेठ जी महर्षि द्वारा स्थापित काकड़वाड़ी (बम्बई) समाज के मन्त्री रह चुके थे और उन्हें वैदिक धर्म में अगाध आस्था थी। डनकौर समाज सन् १६३० में स्थापित हुआ था और शुद्धि-आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। स्वामी श्रद्धानन्द ने भी डनकौर पधारकर बहुत-से मुसलमानों को शुद्ध किया था।

सन् १६१२ और १६४७ के बीच में जो आर्यसमाज अलीगढ़ जिले में स्थापित हुए, उनमें सासनी (१६१३), जलाली (१६१०), अगराना (१६२१), मई (१६२४), प्रेमनगर (१६२८), कुतुबपुर (१६३०), कोड़ियागंज (१६३८) और आलमपुर के समाज मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त काजिमाबाद, खैर, बमनोई, लोधा, कचौरा, मांडपुर, हरनोट, नगौला, सिकन्दरपुर, धनौली, वाघनू, नौजलपुर, खोरना, महुआ, भवीगढ़ और कैथवारी अन्य स्थान थे, जहाँ इस जिले में सन् १६४७ से पहले समाजों की स्थापना हो चुकी थी। अलीगढ़ में मुसलिम रईसों की बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं, जिनके जमींदार राजा व नवाब कहाते थे। इनके क्षेत्र में आर्यसमाज की स्थापना के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा था। मण्डू (१६१२), अगराना (१६२१) और कुतुबपुर (१६३१) सदृश स्थानों पर समाज की स्थापना बड़े साहस की बात थी। मुसलिम जमींदारों के अतिरिक्त पौराणिक पण्डित भी वहाँ समाज का विरोध करने में तत्पर थे। इसलिए इन समाजों में मौलवियों, पादरियों और पौराणिकों से बहुधा शास्त्रार्थ होते रहे और शुद्धि के लिए भी आन्दोलन किया जाता रहा।

मथुरा जिले में अडींग, सहपऊ, ऊँचागाँव, चौक (मथुरा), सेरसा, ओगई, खामरा और दरबे के समाज सन् १६१२ और १६४७ के मध्यवर्ती काल में स्थापित हुए। अडींग समाज की स्थापना सन् १६२५ में ठाकुर कुँवर हुकुमसिंह द्वारा की गयी थी। गोवर्द्धन के मेले में इस समाज द्वारा निरन्तर प्रचार किया जाता रहा, और सन् १६२८ में पण्डित कालीचरण शास्त्री ने यहाँ एक मुसलमान की शुद्धि की थी। अडींग तथा ऊँचागाँव के समाजों ने शुद्धि-आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था। ऊँचागाँव के समीपवर्ती करसोरा गाँव में क्रिश्चियन मिशनरियों का अड्डा था, और उन्होंने वहाँ के चमारों को ईसाई बना लिया था। ऊँचागाँव समाज ने एक साल तक निरन्तर प्रचार कर उन्हें

शुद्ध किया और वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया। इसपर ईसाई उद्विग्न हो गये, और श्वेतांग पादरी थामस हेरो ने आर्यसमाज के ऊपर मुकदमा दायर कर दिया, जिसमें ३० आर्य कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गये। समाज की ओर से मुकदमा लड़ा गया, जिसमें समाज की जीत हुई। विजय का उत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया। इस उत्सव में स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती और प्रोफेसर रामसिंह सदृश अनेक आर्यनेता भी सम्मिलित हुए थे। अगस्त, १९४४ में मथुरा में चौक आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इसके सभासद् अत्यन्त सक्रिय थे, और उन द्वारा देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत तत्परता प्रदर्शित की गयी थी। ईसाई मिशनरियों के विरोध में यह समाज बहुत सक्रिय रहा। इसलिए उन द्वारा २६ आर्य कार्यकर्ताओं के विरुद्ध मुकदमे दायर किये गये, जिसमें मिशनरियों को मुँह की खानी पड़ी।

सन् १९१२ और १९४७ के मध्यवर्ती वर्षों में जो समाज आगरा जिले में स्थापित हुए, उनमें एतमादपुर (१९२४), बाह (१९१८), मिढ़ाखुर (१९२७), घिमिश्री (१९३९) और कोटला (१९४४) के समाज मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त फतेहाबाद, जरार, नगला दियाली, मजराखांडा, सवाई, जगनेर और पैंतखेड़ा में भी इस काल में समाजों की स्थापना हुई थी।

एटा जिले में गंज डुडवारा में सन् १९३३ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था और सोरों में सन् १९३४ में। गंज डुडवारा में श्री महेशचन्द्र तथा श्री लालसिंह द्वारा जब समाज की स्थापना का प्रयत्न किया गया, तो पौराणिकों और मुसलमानों ने मिलकर उनका विरोध किया। हवन का सामान तथा धर्म-पुस्तकें उन्होंने फेंक दीं। इसपर श्री महेशचन्द्र ने अनशन किया, जिससे हिन्दुओं की आँखें खुलीं और उन्होंने क्षमा माँगी। सन् १९४७ तक स्थापित हुए एटा जिले के अन्य समाज बुलाकी नगर, निधौनी कलाँ, सिधावली, मोहनपुर और राजा का रामपुर में थे। सन् १९१२ के पश्चात् स्थापित हुए इटावा जिले के आर्यसमाज भर्थना, पाली खुर्द, मलहौसी और वेला में हैं। भर्थना में समाज की स्थापना सन् १९२३ में हुई थी और उसके संस्थापक श्री भगवतदयालु जी मुख्त्यार थे। कुछ समय बाद वहाँ स्त्री-आर्यसमाज की भी स्थापना हो गयी थी।

सन् १९१२ और १९४७ के बीच मैनपुरी जिले में अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए थे, जिनके कारण इस जिले में समाजों की संख्या २१ हो गयी थी। सन् १९२७ में कौरारा खुर्द में, सन् १९२८ में घिरोर में, सन् १९२९ में केसरी में, सन् १९३१ में कुसमरा सिटी में, सन् १९३७ में नाहिली में, सन् १९३८ में जगतपुर में, सन् १९४७ में मदनपुर में और १९४४ में आर्यपुर खेड़ा में समाज स्थापित हो गये थे। इसके अतिरिक्त मैनपुरी जिले के जसराना, शाहजहांपुर, सौथरा, और इलावाँस में भी समाज विद्यमान थे, जो सन् १९१२ के पश्चात् स्थापित हुए थे।

फर्रुखाबाद का आर्यसमाज के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। सन् १९४७ तक वहाँ २७ समाज स्थापित हो चुके थे। सन् १९१२ के बाद फर्रुखाबाद जिले में जिन आर्यसमाजों की स्थापना हुई, उनमें श्रीचक्रपुर (१९१३), तिरवा (१९१७), सौरिख (१९२०), कमालगंज (१९२३), रमपुरा (१९३९), मेरापुर (१९४७), कर्णपुरदत्त (१९४४), जलालाबाद, सीड़े चकड़पुर, नीमकरोली, तालग्राम, सिरौली, अनौगी, ज्यौंता, औसेर और ठठीया के समाज मुख्य थे। ये सब समाज शुद्धि-आन्दोलन में विशेष रूप से

सक्रिय रहे और इनके कार्यकर्ताओं ने हैदराबाद-सत्याग्रह आदि में उत्साहपूर्वक भाग लिया।

कानपुर जिले में मूसानगर (१९१८), भखरैली (१९२०), कनवाँपुर (१९२०), उमरी (१९२३), पुखरावाँ (१९३०), सीसामऊ (१९३४), दर्शनपुरवा (१९३९), रणजीतपुर (१९४५), घाटमपुर (१९४६), झींझक, रामनगर और कुली बाजार (कानपुर) के समाज भी सन् १९४७ में स्थापित हो चुके थे। मूसानगर समाज की स्थापना पण्डित खुशालीराम शुक्ल के प्रयत्न से हुई थी। वह बड़े कर्मठ कार्यकर्ता तथा सुयोग्य प्रचारक थे। उन्होंने सैकड़ों असहाय विधवाओं की रक्षा की थी और विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थ किये थे। उमरी आर्यसमाज की स्थापना एवं विकास में पण्डित मनुदत्त तथा श्री हीरालाल का विशेष कर्तृत्व रहा। सीसामऊ समाज आर्यसमाज की गतिविधियों में बहुत उत्साहपूर्वक भाग लेता रहा है। उसकी सदस्य-संख्या भी दो सौ से ऊपर रहती रही है। उसकी स्थापना श्री सूर्यवली सूबेदार के प्रयत्न से हुई थी। दर्शनपुरवा समाज के लिए स्वामी हरविलास ने भूमि प्रदान की थी। शुद्धि, विधवा-विवाह एवं अनाथों की रक्षा सदृश कार्यों पर इस समाज का विशेष ध्यान रहा है। आर्यवीर दल के संगठन के लिए भी इस समाज ने तत्परता प्रदर्शित की थी। वहाँ आर्यवीरों का प्रशिक्षण-शिविर भी होता रहा है। फतहपुर जिले में १९१२ के पश्चात् खागा, विपहर, बहुआ, अर्जुनपुर गढ़ा, जहानाबाद, हस्बा, असोथर, माराकला, शाह, मिमौर, गाजीपुर, अलीपुर भादर, लमेहटा, गौराकला, हथगाँव, ईटगाँव, रमवाँ, विसई और दल बाजार फतेहपुर में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। इनमें खागा का समाज बहुत संक्रिय था।

उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद नगर का बहुत महत्त्व है। पर इस जिले में सन् १९४७ तक बहुत कम आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। सन् १९१२ के बाद वहाँ स्थापित हुए समाजों में आर्य स्त्री समाज कटरा, फतेहपुर कायस्थान, करारी तथा सिरसा के आर्यसमाज उल्लेखनीय हैं।

मिर्जापुर का आर्यसमाज उत्तरी भारत में सबसे पुराना है। पर १९४७ तक इस जिले में भी समाजों की संख्या अधिक नहीं थी। सन् १९१२ से पूर्व स्थापित समाजों के अतिरिक्त सन् १९४७ में निम्नलिखित आर्यसमाज इस जिले में विद्यमान थे—बगही (१९१४), चुनार (१९२६) और हाँसीपुर (१९३९)। काशीनरेश के एक उच्च राजकर्मचारी श्री सुखसागर लाल ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के भाषण सुने थे, जिन्हें सुनकर वह महर्षि के परम भक्त बन गये थे। उन्होंने अनेक युवकों को सत्यार्थप्रकाश पढ़ाया था और उन्हीं के पुरुषार्थ से बगही में आर्यसमाज स्थापित हुआ था। चुनार आर्यसमाज द्वारा बाल-विवाह के विरोध और असहाय स्त्रियों की रक्षा व सहायता के लिए विशेष तत्परता प्रदर्शित की गयी। वाराणसी जिले में सन् १९१२ के बाद बनारस छावनी (भोजूवीर) में सन् १९२४ में, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में सन् १९१९ में, लल्लापुर में सन् १९४३ में और शिवपुर तथा सुनारापुरा में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। जौनपुर जिले में केराकत (१९२४), शाहगंज (१९२६), खेतासराय (१९२८) और मीरगंज (१९३८) में आर्यसमाज स्थापित हुए थे। शाहगंज में मुसलमानों की बहुत आबादी है, अतः वहाँ के हिन्दू प्रायः मुसलमानों से भयभीत रहा करते थे। आर्यसमाज की स्थापना से इस स्थिति में परिवर्तन आया। शुरू में समाज के वार्षिकोत्सव पर नगर-कीर्तन के

जुलूस पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये गये थे, क्योंकि मुसलमान उसका विरोध करते थे। पर प्रतिनिधि सभा के प्रयत्न से जब प्रतिबन्ध हटा, और नगर-कीर्तन का जुलूस धूमधाम से निकाला गया, तो सनातनी हिन्दू भी उसमें बड़े उत्साह के साथ सम्मिलित हुए। हिन्दू स्त्रियों की रक्षा के लिए शाहगंज में आर्यसमाज द्वारा आर्यवीर दल की भी स्थापना की गयी, जिसने सैकड़ों स्त्रियों और बच्चों की गुण्डों से रक्षा की। खेतासराय आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर भी नगर-कीर्तन पर प्रतिबन्ध लगाया लगा था जिसे हटवाने के लिए श्री उमाशंकर ने बहुत प्रयत्न किया। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त हुई और सन् १९२९ में खेतासराय में आर्यसमाज के नगर-कीर्तन का जुलूस बड़ी धूमधाम के साथ निकाला गया। जौनपुर जिले में गाजी मियाँ का मेला लगता है। आर्यसमाज द्वारा वहाँ धर्म-प्रचार किया जाता था, जिसे मुसलमानों के विरोध के कारण सरकार ने रोक दिया था। आर्यसमाज ने इसका डटकर विरोध किया और अन्त में सरकार को मेले में प्रचार के लिए अनुमति देने को विवश होना पड़ा। हिन्दू भी गाजी मियाँ की कब्र की पूजा किया करते थे। समाज के प्रचार के कारण उनमें यह प्रथा निरन्तर कम होती गयी। १९१२ के बाद **गाजीपुर** जिले में गोरा बाजार, दिलदार नगर, मोहम्मदाबाद और सैदपुर में आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। बलिया जिले में सीपर (बिलथरा रोड) का समाज सन् १९२२ में स्थापित हुआ था। सन् १९२६ में समीप के बड़ागाँव में मुसलमान गोवध के लिए उतारू थे। सीपर आर्यसमाज ने इसका प्रतिरोध किया। उसकी प्रेरणा से आठ हजार के लगभग हिन्दू बड़ागाँव गये और उनके विरोध के कारण मुसलमानों को गोवध का विचार छोड़ देना पड़ा। बलिया जिले में सिकन्दरपुर, खरसंडा, रतसंड, रेवती और गढ़वार के समाज भी सन् १९४७ से पहले स्थापित हो गये थे।

सन् १९१२ और १९४७ के मध्यवर्ती काल में **आजमगढ़** जिले में अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हुई—घोसी (१९१४), सराँवा (१९१४), कोपागंज (१९१७), अमिला (१९३०), दोहरीघाट(१९४३), रानी की सराय(१९४३), अहिरौला (१९४३) और बड़ागाँव। रानी की सराय आर्यसमाज की स्थापना स्वामी आत्मानन्द जी स्वाध्यायी द्वारा की गयी थी। उन्होंने अनेक मुसलमानों को शुद्ध कर आर्य भी बनाया था। विधवा-विवाह, अनाथों की रक्षा, स्त्रियों की सहायता आदि के कार्यों में भी यह समाज बहुत सक्रिय रहा। उत्तरप्रदेश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के **गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोंडा** और **बहराइच** जिलों में सन् १९१२ तक आर्यसमाज का प्रचार बहुत कम था। पर १९१२-४७ के काल में इस क्षेत्र में अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हुई, जिनमें बड़हलगंज (१९१८), बृजमन गंज(१९३७), नौतनवाँ(१९४०), बाँसगाँव (१९४२), लार (१९२०), शोहरतगढ़ (१९२६), कलवारी (१९३६), डुमरियागंज (१९२९), गजाधरपुर (१९३६), बढ़नी (१९३६), उस्का बाजार, बस्ती (१९३५), मेंहदावल (१९१५), बलरामपुर (१९२७), नवाबगंज (१९२५), इकौना (१९३०), नानपारा (१९२४), गंगाजमुनी (१९४६), जरवल (१९२२), फखरपुर (१९३०), गिलौला (१९३०) और यमला अर्जुनपुर (१९१४) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में घुघली (१९३०), भाटपार रानी (१९३९), पिपराइच (१९३२), पडरौना (१९२९), बढ़नी बाजार (१९३९) हाटा, रामपुर बुसवाँ, गजाधरपुर, शोहरतगंज, वाल्टरगंज, मेंहदावल आदि

अन्य अनेक स्थानों पर नये आर्यसमाजों का स्थापित होना यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि सन् १९१२-४७ के काल में उत्तरप्रदेश के उत्तर-पूर्वी जिलों में भी आर्यसमाज का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ था।

उत्तरप्रदेश में लखनऊ के पूर्व में बाराबंकी, रायबरेली, सुलतानपुर, फैजाबाद और प्रतापगढ़ जिलों की स्थिति है। सन् १९१२ तक इन जिलों में भी बहुत कम आर्यसमाज विद्यमान थे। बाद में १९४७ तक जो आर्यसमाज इस क्षेत्र में स्थापित हुए, उनमें अमेठी (१९२३) और लालगंज (१९४२) के समाज उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुम्भिया, मदरसा, सआदतगंज, मुबारिकपुर, पट्टी, कालाकांकर, मायंगम संवारा, रुदौली आदि कतिपय अन्य स्थानों पर भी इस काल में आर्यसमाज स्थापित हो गये थे।

वर्तमान समय में लखनऊ उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का केन्द्र है, पर उसे यह स्थिति सन् १९३८ से पहले प्राप्त नहीं थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि चिरकाल से आर्यसमाज की गतिविधि में लखनऊ का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीलिए सन् १९४७ तक वहाँ अनेक समाजों की स्थापना हो गयी थी, जिनमें १९१२ के बाद स्थापित हुए समाजों में नरही, बादशाहनगर, सदर (लखनऊ), सिटी (लखनउ), आर्यनगर, हुसनगंज, समेसी, गोसाइँगंज, मलिहाद, निगोहा, महावीरगंज, बादशाह नगर और चौक (लखनऊ) के समाज महत्त्व के थे। लखनऊ के समीपवर्ती उन्नाव जिले में भी इस काल में पाठकपुर, औरास, नसिरापुर और सोने खेड़ा में आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। लखनऊ के पश्चिम के जिलों में सन् १९४७ तक आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार पर्याप्त सन्तोषजनक था। सन् १९१२ तक हरदोई जिले में १२ आर्यसमाज विद्यमान थे, उसके बाद वहाँ जो नये समाज स्थापित हुए, उनमें पाली, चठिया, साँडी, कासिमपुर, सिमरिया, फतेहपुर गयन्द, लालपालपुर, सीरसा, गौना, सण्डीला, सरवा और बिलसनहरन के समाज महत्त्व के हैं। सन् १९४७ में इस जिले में समाजों की संख्या २० तक पहुँच गयी थी। सिमरिया आर्यसमाज की यह बात उल्लेखनीय है, कि वहाँ के श्री माधवप्रसाद आर्य ने अपनी समस्त चल व अचल सम्पत्ति आर्य प्रतिनिधि सभा को दान कर दी थी। साथ ही ७५०० रुपये नकद देकर उन्होंने सभा-भवन में दो निवास-गृहों का भी निर्माण कराया था। आर्यसमाज के लिए वह इतने समर्पित थे, कि उन्होंने अपना रहने का मकान भी समाज-मन्दिर के लिए दे दिया था। लखनऊ के उत्तर-पश्चिम में स्थित सीतापुर और लखीमपुर खीरी के जिलों में इस काल में बहुत कम आर्यसमाज स्थापित हुए थे—सीतापुर जिले में सलौन और बिस्वाँ में, और लखीमपुर-खीरी में पुलियाँ कलाँ, सर्वांगपुर, पयला, हैदराबाद और हयातपुर में।

उत्तरप्रदेश के दक्षिण-पश्चिमी भाग में बुन्देलखण्ड का जो क्षेत्र था, उसमें भी सन् १९४७ तक आर्यसमाज का अधिक प्रसार नहीं हुआ था। इस क्षेत्र के झाँसी, हमीरपुर, बाँदा और हमीरपुर जिलों में निम्नलिखित आर्यसमाजों की स्थापना १९१२ और १९४७ के मध्यवर्ती काल में हुई थी—झाँसी नगर (१९२४), चिरगाँव (१९४५), मोठ (१९३९), कुल पहाड़ (१९२९) और बबेरू। इनके अतिरिक्त मडन रानीपुर, ललितपुर, नगरा, सदर बाजार झाँसी और महोबा के समाज भी इसी काल में स्थापित हुए थे।

उत्तरप्रदेश के मध्यवर्ती रुहेलखण्ड क्षेत्र के जिलों में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार बहुत सन्तोषजनक रहा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के बाद के वर्षों में

इन क्षेत्र में आर्यसमाज का बहुत प्रचार हुआ और सन् १९१२ से पहले ही बहुत-से समाज इस क्षेत्र में स्थापित हो चुके थे। समाजों की स्थापना की यह प्रक्रिया बाद में भी जारी रही। बिजनौर जिले में भोजपुर खेड़ी में आर्यसमाज की स्थापना सन् १९१४ में हुई और जटपुरा में सन् १९२९ में। सन् १९१९ में बिजनौर जिले में आर्य उपप्रतिनिधि सभा की स्थापना हो गयी थी और उस द्वारा उपदेशक रखकर जिले में धर्म-प्रचार के लिए महान् उद्योग शुरू कर दिया गया था। इसी का यह परिणाम हुआ कि सन् १९३० तक बिजनौर जिले में आर्यसमाजों की संख्या साठ तक पहुँच गयी थी। १९१२ के बाद स्थापित हुए इन समाजों में भोजपुर खेड़ी और जटापुरा के अतिरिक्त सरकड़ा, झालू, मण्डावर, कांगड़ी, शेरपुर कल्याण, मोरना, ढक्का, आनन्दीपुर, महमूदपुर, खासपुरा, भारूवाला और गजरौला के समाज भली-भाँति सक्रिय थे। सन् १९१२ और १९४७ में मध्यवर्ती काल में मुरादाबाद जिले में अनेक नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई। ठाकुर-द्वारा मसेवी, सदरपुर, फतेहपुर बिस्नोई, मुडेसरा, भटपुरा, टांडा अफजल, सहतपुर बिलारी, मण्डी धनोरा, अदलपुर, सालारपुर और कुदरकी। यद्यपि बरेली जिले में आर्य-समाजों की संख्या अधिक नहीं थी, पर डॉक्टर श्यामस्वरूप सत्यव्रत के अनुपम पुरुषार्थ के कारण वहाँ समाज का पर्याप्त प्रभाव था। १९१२ के बाद बरेली जिले में स्थापित समाजों में फरीदपुर, ढकिया, आँवला, शिवपुरी, राजपुर कलां, सरदार नगर, रतना, गुड़गाँवां, जगतपुर, धन्तिया, खड़ा रामनगर, चठिया, शरीपुर, दिपीचरा और वहेड़ी के समाज प्रमुख थे। सन् १९१२ तक पीलीभीत जिले में केवल तीन आर्यसमाज थे। वहाँ बाद में जतीपुर, शेरपुर कला, खाडेपुर, पंजीपुर, जहानाबाद और घुँघचिहाई में भी समाजों की स्थापना हुई। रामपुर रियासत में भी इस काल में धमौरा और मिलक में नये आर्यसमाज स्थापित हुए। शाहजहांपुर जिले में सन् १९१२ के बाद जगतियापुर, शहजापुर, बिलन्दपुर और ठकियावराह में समाजों की स्थापना हो गयी थी। बदायूँ जिले में भी अनेक आर्यसमाज सन् १९१२ के बाद स्थापित हुए थे—गवाँ, सिठौली, बराही, नवादा मधुकर, रिसौली, अल्लापुर और पूर्वी नगला। सन् १९१२ और १९४७ के मध्यवर्ती काल में उत्तरप्रदेश में स्थापित हुए आर्यसमाजों का जो विवरण ऊपर दिया गया है वह पूर्ण नहीं है। पर इससे यह आभास मिल जाता है कि इस काल में किस प्रकार प्रत्येक जिले में नये-नये समाज स्थापित होते जा रहे थे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बहुसंख्यक नये समाज देहाती क्षेत्र में थे और ऐसे ग्रामों में भी आर्यसमाज स्थापित हो गये थे जहाँ पोस्ट आफिस तक भी नहीं थे।

(७) आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारी व प्रमुख नेता

सन् १९१२ तक उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के संचालकों में पण्डित भगवानदीन मिश्र, श्री विहारीलाल, श्री तुलसीराम स्वामी और श्री लक्ष्मणस्वरूप मुख्य थे। सातवें अध्याय में इनका परिचय दिया जा चुका है। सन् १९१२ से १९४७ तक जिन महानुभावों ने प्रधान अथवा मन्त्री के पद पर रहकर आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का संचालन किया उनमें पण्डित घासीराम, श्री कुंवर हुकुमसिंह, श्री मदन-मोहन सेठ, श्री उमाशंकर, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री पूर्णचन्द, श्री कालीचरण, श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री, श्री धुरेन्द्र शास्त्री, श्री मशाल सिंह और श्री रासविहारी तिवारी

प्रधान थे। उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा की यह विशेषता रही है कि कोई भी व्यक्ति चिरकाल तक निरन्तर उसका पदाधिकारी नहीं रहा। इसी कारण सभा-संचालन में किसी को वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ जो आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर में महात्मा हंसराज को और पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में महात्मा मुंशीराम तथा महाशय कृष्ण को प्राप्त था। श्री नारायण प्रसाद (महात्मा नारायण स्वामी) उत्तरप्रदेश आर्यसमाज के महान् नेता थे और आर्य नेता के रूप में उनकी स्थिति अखिल भारतीय थी, पर वह उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा के कभी प्रधान निर्वाचित नहीं हुए, यद्यपि कुछ वर्ष (सन् १९१२ से पहले) वह सभा के मन्त्री अवश्य रहे थे।

श्री घासीराम मेरठ के निवासी थे। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, उर्दू और फारसी के वह विद्वान् थे, और आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सदा तत्पर रहते थे। मेरठ के सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक कार्यकलाप में भी वह उत्साह के साथ भाग लिया करते थे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया था। पण्डित देवेन्द्र मुखोपाध्याय द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो मौलिक शोधपूर्ण जीवन-चरित्र बंगला भाषा में लिखा गया था, श्री घासीराम ने उसे आधार बनाकर महर्षि का ऐसा जीवन-चरित्र हिन्दी में प्रस्तुत किया जो अत्यन्त प्रामाणिक है। श्री घासीराम की यह अमर कृति है, और इस द्वारा उन्होंने आर्यसमाज की अनुपम सेवा की है। वह १९१४-१६, १९१८ और १९२५-२६ सात वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे, और सन् १९१७ में उन्हें सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का भी प्रधान निर्वाचित किया गया। इस प्रकार सन् १९१४ से १९२७ तक आर्यसामाजिक जगत् में उनकी स्थिति बहुत महत्त्व की रही। कुछ समय वह गुरुकुल महाविद्यालय वृन्दावन के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता भी रहे। कुँवर हुकुमसिंह आँगई, मथुरा के निवासी थे। प्रतिनिधि-सभा के निर्माण व प्रगति में उनका विशेष हाथ रहा। सबसे पहले वह सन् १९०१ में सभा के प्रधान चुने गये और फिर सन् १९१७ में तथा सन् १९१९ से १९२१ तक। बाद में दो वर्ष वह सार्वदेशिक सभा के मन्त्री भी रहे। श्री मदनमोहन सेठ सन् १९११ में प्रतिनिधि-सभा के मन्त्री चुने गये थे और सन् १९१८ तक निरन्तर इस पद पर रहे। बाद में कई बार वह सभा के प्रधान भी चुने गये (सन् १९३५-३६, १९४०-४५ और १९५०-५२)। उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा के इतिहास में किसी अन्य महानुभाव ने इतने दीर्घ समय तक मन्त्री तथा प्रधान के रूप में सभा के कार्यकलाप का संचालन नहीं किया। वह कई वर्षों तक सार्वदेशिक सभा के भी प्रधान रहे और इसमें संदेह नहीं कि उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा की उन्नति में उनका कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। सभा को स्थापित हुए २५ साल पूरे हो जाने पर जो रजत जयन्ती महोत्सव मनाया गया था, सेठ जी ही उसके संयोजक थे। वह बुलन्दशहर के निवासी थे और वहीं वकालत करते थे। बाद में उन्हें उत्तरप्रदेश की न्यायिक सर्विस में ले लिया गया, और उन्हें मुन्सिफ बना दिया गया। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी वह आर्यसमाज का कार्य पूरे उत्साह के साथ करते रहे। श्री मदनमोहन सेठ हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। अदालती फैसलों को हिन्दी में लिखने की परम्परा उन्हीं द्वारा प्रारम्भ की गयी थी। श्री उमाशंकर फतेहपुर के निवासी थे, और पेशे से वकील थे। वह तीन वर्ष (सन् १९३२-३४) सभा के मन्त्री रहे। फतेहपुर जिले में आर्य-समाज के कार्यकलाप के तो वह प्राण थे। साथ ही प्रतिनिधि सभा की प्रगति व उन्नति

में भी उनका योगदान महत्त्व का था। राजनैतिक गतिविधि में उनकी बहुत रुचि थी। इसीलिए वह आर्यसमाज की "राजार्य सभा" की स्थापना के प्रबल समर्थक थे। प्रथम अखिल भारतीय राजार्य सम्मेलन की अध्यक्षता उन्हींने की थी। श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय चार वर्ष (सन् १९४१-४४) प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे। वह इलाहाबाद के निवासी थे और शिक्षा तथा विद्वत्ता के क्षेत्र में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। दयानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, प्रयाग के वह तीस वर्ष निरन्तर मुख्याध्यापक रहे थे और इस शिक्षण-संस्था का संचालन करते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बटाते रहे थे। वैदिक धर्म के प्रचार की उन्हें विद्यार्थी जीवन से ही धुन थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनकी शिक्षाओं पर उन्होंने बहुत-सी पुस्तकों की रचना की जिनमें आस्तिकवाद, वैदिक संस्कृति, सर्वदर्शनसंग्रह और वैदिक स्मृति आदि विशेष महत्त्व की हैं। प्रयाग(चौक) आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर उपाध्याय जी ने छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी प्रारम्भ कीं, जो धर्म-प्रचार के कार्य में बहुत सहायक सिद्ध हुईं। प्रतिनिधि सभा के कार्यालय को स्थायी रूप से लखनऊ में स्थापित करने के सम्बन्ध में भी उपाध्याय जी का विशेष कर्तृत्त्व था। वह अनेक वर्ष सार्वदेशिक सभा के भी मन्त्री रहे थे। श्री पूर्णचन्द आगरा के निवासी थे और वहीं वकालत करते थे। वह केवल आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता व उन्नायक ही नहीं थे, अपितु एक सुलेखक तथा प्रभावशाली वक्ता भी थे। उनका सारा जीवन आर्यसमाज की सेवा में ही व्यतीत हुआ। सन १९१९ में वह प्रतिनिधि सभा के मन्त्री चुने गये, और १९३३ में प्रधान। बाद में सन् १९५३ से १९५६ तक निरन्तर चार साल वह सभा के प्रधान रहे। उत्तरप्रदेश में वेद-प्रचार के कार्य को व्यापक रूप में सम्पन्न करने के लिए जिस अवैतनिक उपदेशक संघ का गठन किया गया था उसके संस्थापक श्री पूर्णचन्द ही थे। वैदिक उत्थान, चरित्र-निर्माण, अपराध-निरोध आदि अनेक ग्रंथों की भी उन्होंने रचना की थी, और अनेक वर्षों तक वह सार्वदेशिक सभा के भी प्रधान रहे थे। श्री कालीचरण मेरठ-निवासी थे और आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए वह जीवनपर्यंन्त तत्पर रहे। सन् १९३८ से १९४० तक सभा के मन्त्री होकर उन्होंने उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के कार्यकलाप का संचालन किया। उनके मन्त्रित्वकाल में ही आर्यमित्र कुछ समय दैनिक रूप से प्रकाशित हुआ था। सभा का जो स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव दिसम्बर १९३७ में मेरठ में मनाया गया था, कालीचरण जी ही उसके स्वागत-मन्त्री थे। सन् १९६२ में उन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली थी और स्वामी अखिलानन्द सरस्वती बन गये थे। पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री का आर्यसमाज के शिक्षाशास्त्रियों तथा विद्वानों में उच्च स्थान है। उनकी शिक्षा गुरुकुल वृन्दावन तथा लाहौर में हुई थी। १५ वर्ष वह डी० ए० वी० कॉलिज लखनऊ के प्रिंसिपल रहे और फिर जाट वैदिक कॉलिज, बड़ौत के प्रधानाचार्य के रूप में उन्होंने मेरठ जिले की इस महत्त्वपूर्ण आर्य शिक्षण-संस्था का संचालन किया। सन् १९६६ में वह गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर भी नियुक्त हुए। शास्त्री जी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता, सुलेखक एवं प्रभावशाली वक्ता हैं। सन् १९४१ से १९४३ तक तीन साल वह प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे और उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री का जन्म मथुरा में हुआ था और उन्होंने साधु आश्रम हरदुआगंज तथा काशी में रहकर संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों का गम्भीर

अध्ययन किया था। वह सन् १९३८ में और फिर सन् १९४६ से १९४९ तक प्रतिनिधि-सभा के प्रधान रहे थे, और बाद में सार्वदेशिक सभा के प्रधान-पद को भी उन्होंने सुशोभित किया था। उत्तरप्रदेश आर्यसमाज के शास्त्री जी सर्वमान्य नेता थे और अखिल भारतीय आर्य नेता के रूप में भी उनकी स्थिति अत्यन्त उच्च थी। हैदराबाद-सत्याग्रह के वह चतुर्थ सर्वाधिकारी थी, और सत्यार्थप्रकाश-सत्याग्रह में भी उनका प्रमुख कर्तृत्त्व था। दिल्ली में हुए नवम आर्य महासम्मेलन के वही अध्यक्ष थे। उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा की प्रगति में जिन महानुभावों का सराहनीय योगदान रहा, ठाकुर मशालसिंह भी उनमें एक थे। सन् १९२८ से १९३१ तक वह सभा के प्रधान रहे थे। आर्यसमाज के नगर-कीर्तनों और प्रभात-फेरियों पर सरकार ने जब प्रतिबन्ध लगाये तो मशालसिंह जी ने उनका डटकर विरोध किया और उन्हें हटवाने में सफलता प्राप्त की। श्री रासबिहारी तिवारी सन् १९२८ से १९३१ तक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे थे। पर उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का जो कार्य उन्होंने किया उसका महत्त्व तीन साल तक उनके सभा के मन्त्री रहने के कारण नहीं है। उन्होंने सन् १९१८ में लखनऊ में डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना की थी और चिरकाल तक उसकी उन्नति के लिए पूर्ण उत्साह से प्रयत्न किया था। गरीबों की चिकित्सा के लिए उन्होंने आर्यसमाज की ओर से लखनऊ में एक धर्मार्थ चिकित्सालय भी खुलवाया था। जरायमपेशा जातियों के उत्थान के लिए प्रतिनिधि सभा की ओर से करवल में जिस आर्यनगर सेटलमेंट की स्थापना हुई थी, उसकी स्थापना तथा संचालन में तिवारी जी का कर्तृत्त्व प्रधान था।

प्रधान तथा मन्त्री के रूप में जिन अन्य महानुभावों ने बीसवीं सदी के मध्य तक उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यभार को सँभाला उनमें श्री सीताराम, श्री विश्वम्भर दयाल, डॉक्टर बाबूराम सक्सेना, श्री व्रजलाल मित्तल, श्री रामदत्त शुक्ल और श्री श्यामसुन्दर लाल के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सभा के इन सब पदाधिकारियों के अतिरिक्त कितने ही विद्वानों, प्रचारकों तथा कर्मठ कार्यकर्ताओं ने इस काल में उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का नेतृत्व किया और वैदिक धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें से कतिपय महानुभावों का यहाँ उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि आर्यसमाज ने इस प्रदेश में जो इतना व्यापक रूप प्राप्त किया उसमें उनका कर्तृत्त्व भी एक प्रधान कारण था। ऐसे एक सज्जन पण्डित मुरारीलाल शर्मा थे, जिन्होंने पौराणिकों, ईसाइयों और मुसलमानों से सैकड़ों शास्त्रार्थ कर वैदिक धर्म की उत्कृष्टता का सिक्का जमाया। वह अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता थे और उनके व्याख्यानों का जादू के समान असर होता था। सिकन्दराबाद गुरुकुल के वही सर्वेसर्वा थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की और आगरा, मथुरा, भरतपुर क्षेत्र के मूले जाटों और मलकाने राजपूतों की शुद्धि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा प्रसिद्ध कवि थे, और अपनी उत्कृष्ट कविताओं द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार में अनुपम सहायता की थी। पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे और अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण पर प्रामाणिक भाष्य लिखकर उन्होंने वेदों के ज्ञान को प्रकट करने का सराहनीय प्रयत्न किया था। पण्डित नरदेव शास्त्री जहाँ संस्कृत तथा वेदशास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे, वहाँ साथ ही कुशल शिक्षाशास्त्री तथा धर्मप्रचारक भी थे। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के वह चिरकाल तक आचार्य तथा कुलपति भी रहे। आचार्य

गंगादत्त (स्वामी शुद्धबोध तीर्थ) की विद्वत्ता अगाध थी। संस्कृत व्याकरण के वह माने हुए विद्वान् थे। चालीस वर्ष के लगभग गुरुकुल काँगड़ी तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर आदि में उन्होंने अध्यापन किया। आर्यसमाज के कितने ही विद्वान् उनके शिष्य थे। पण्डित गणपति शास्त्री प्रभावशाली वक्ता तथा तार्किक थे। विधर्मियों से उनके सैकड़ों शास्त्रार्थ हुए; जिनमें विजय प्राप्त करने के कारण वह "शास्त्रार्थ महारथी" कहे जाने लगे। ठाकुर खजान सिंह ने शुद्धि तथा दलितोद्धार के लिए बहुत कार्य किया। सैकड़ों चमारों व अछूत समझे जानेवाले अन्य लोगों को उन्होंने यज्ञोपवीत धारण कराया और उनके साथ सहभोजों की व्यवस्था की। पण्डित शिव शर्मा ने भी विधर्मियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर ख्याति प्राप्त की। वह वर्षों तक सभा के उपदेशक-विभाग में कार्य करते रहे और उन्होंने आर्यसमाज के मन्तव्यों के मण्डन में अनेक पुस्तकों की भी रचना की। पण्डित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी के विख्यात साहित्यकार थे। उनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित तथा शैली बहुत हृदयंगम होती थी। गुरुकुल काँगड़ी और गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन करते हुए उन्होंने आर्यसमाज के कार्यकलाप में भी भाग लिया और "भारतोदय" पत्र के सम्पादक के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार में हाथ बटाया। आगरा के ठाकुर माधवसिंह आर्यसमाज के कर्मठ व तपस्वी कार्यकर्ता थे। शुद्धि-आन्दोलन में वह स्वामी श्रद्धानन्द के प्रधान सहयोगी थे और मलकाने राजपूतों तथा मूले जाटों की शुद्धि में उनका अनुपम कर्तृत्त्व था। आगरा और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए जो कार्य उन्होंने किया, उसकी जितनी भी सराहना की जाए कम है। पण्डित शंकरदत्त शर्मा मुरादाबाद के निवासी थे और उस जिले में उन्होंने अनेक आर्यसमाज स्थापित किये थे। डॉक्टर श्यामस्वरूप सत्यव्रत उच्च कोटि के कर्मठ आर्यनेता थे और अछूतोद्धार के लिए उन्होंने अपनी सब शक्ति लगा दी थी। उन्होंने अनेक शिक्षण-संस्थाएँ भी स्थापित की थीं जिनमें एक आर्य गुरुकुल (आर्योला) भी था। उनका न केवल सारा समय ही आर्यसमाज के कार्यकलाप में व्यतीत होता था, अपितु अपनी आमदनी का बड़ा भाग भी वह समाज के कार्यों में ही व्यय कर दिया करते थे। ठाकुर नत्थासिंह सभा के भजनोपदेशक थे और आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर उनके भजनों की धूम मच जाती थी। शुद्धि के लिए भी उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया था। श्री रघुवीरशरण दुबलिश मेरठ के निवासी थे, और हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। मेरठ से प्रकाशित होनेवाले "आर्य समाचार" पत्र के वही प्रथम सम्पादक थे। सन् १९१० में वह प्रतिनिधि सभा के मन्त्री भी निर्वाचित हुए थे। फतेहगढ़ के निवासी पण्डित रामदुलारे लाल को उत्तरप्रदेश के पुराने आर्य नेताओं में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। सन् १९०८ में वह प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे थे, और मरने से पहले उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति सभा को दान कर दी थी। बिजनौर जिले में श्री ठाकुरदास और श्री भवानी प्रसाद ने आर्यसमाजों की स्थापना, अछूतोद्धार तथा शिक्षा के प्रसार के लिए सराहनीय उद्योग किया था। पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० मेरठ के निवासी थे और आगरा में शिक्षा प्राप्त करते हुए आर्यसमाज के सम्पर्क में आये थे। सरकारी सर्विस में वह डिप्टी कलेक्टर रहे, और कुछ समय टिहरी के चीफ जज के पद पर भी उन्होंने कार्य किया। वह वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे, और हिन्दी तथा अंग्रेजी में उन्होंने अनेक मौलिक पुस्तकों का प्रणयन किया। एक ग्रन्थ में उन्होंने

युक्तियों और प्रमाणों से यह प्रतिपादित किया था, कि संसार के सब धर्मों का मूलस्रोत वैदिक धर्म ही है। पण्डित रामचन्द्र देहलवी और पण्डित बिहारी लाल शास्त्री ने विधर्मियों को शास्त्रार्थों में परास्त कर वैदिक धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में अनुपम कार्य किया। श्री रामचन्द्र को अरबी भाषा पर पूरा अधिकार था, और कुरान के वह मर्मज्ञ विद्वान् थे। मुसलमानों और ईसाइयों से शास्त्रार्थों में उन्होंने बहुत ख्याति प्राप्त की। पण्डित बिहारीलाल जी का सारा जीवन धर्म-प्रचार में व्यतीत हुआ और शुद्धि तथा दलितोद्धार के लिए उन्होंने सराहनीय कार्य किया। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा और श्री मातासेवक पाठक ने "आर्यमित्र" और "निर्बल सेवक" सदृश पत्रों का सम्पादन कर आर्यसमाज की सेवा की और सम्पादकाचार्य कहे जाने लगे। कुंवर सुखलाल अत्यन्त प्रभावशाली भजनोपदेशक थे। उनके भजनों और व्याख्यानों को सुनने के लिए जनता उमड़ी चली आती थी। एक ओजस्वी प्रचारक के रूप में ठाकुर तेजसिंह का बड़ा नाम था। विधर्मियों की शुद्धि के लिए उन्होंने बहुत श्रम किया। इसी कार्य में उन्हें अनेक बार लाठियों और पत्थरों की मार भी सहनी पड़ी। मेरठ के चौधरी मुख्तारसिंह, मुजफ्फरनगर के पण्डित शेरसिंह कश्यप, अलीगढ़ के पण्डित रामप्रसाद आर्य, टांडा के लाला मिश्रीलाल, अमेठी के ठाकुर रणंजय सिंह, लखनऊ के श्री रघुनन्दन प्रसाद बदायूं के पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार और मैनपुरी के श्री श्यामसुन्दर लाल सदृश कितने ही अन्य ऐसे आर्य विद्वान् प्रचारक व नेता थे, जिन्होंने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध व मध्य भाग में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए अनुपम कार्य किया। इन सबका परिचय यहाँ दे सकना सम्भव नहीं है। इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का प्रसार जो इतने व्यापक रूप में हुआ, उसमें इन सबका तथा इनके समान कितने ही अन्य सज्जनों का कर्तृत्त्व ही प्रधान कारण था।

परिशिष्ट

उत्तरप्रदेश के कतिपय आर्यसमाज

सन् १९४७ तक उत्तरप्रदेश में बारह सौ के लगभग आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। इन सबकी स्थापना तथा प्रगति का इस ग्रन्थ में विवरण दे सकना न तो सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। पर इस प्रदेश में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार किस प्रकार हुआ इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ समाजों का विवरण देना उपयोगी होगा।

देहरादून का आर्यसमाज—महर्षि दयानन्द सरस्वती सन् १८७९ के एप्रिल मास में देहरादून पधारे थे और उसी वर्ष वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। शुरू के सात वर्ष यह समाज विशेष उन्नति नहीं कर सका। उस समय उसका अपना भवन नहीं था। साप्ताहिक अधिवेशन कभी कहीं होते, कभी कहीं। सन् १८८९ में इस दशा में परिवर्तन हुआ। इस समाज के लिए भूमि खरीद ली गयी और भवन-निर्माण के लिए चंदा

एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया गया। स्वामी महानन्द ने इस कार्य में विशेष योगदान दिया। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए समाज-मन्दिर पर 'महानन्द-आश्रम' अंकित करा दिया गया था। सन् १८७९ से १८८८ तक पण्डित कृपाराम देहरादून आर्यसमाज के मन्त्री रहे और बाद (१८९४) में वह प्रधान चुन लिये गये। देहरादून आर्यसमाज की स्थापना तथा प्रारम्भिक प्रगति का मुख्य श्रेय पण्डित कृपाराम को ही प्राप्त है। सन् १८८६ में बाबू ज्योतिस्वरूप देहरादून आकर वकालत करने लगे थे। वह सन् १९२० तक जीवित रहे और देहरादून-निवास के अपने ३४ साल उन्होंने आर्यसमाज के लिए समर्पित कर दिये। इस काल में वह निरन्तर (सन् १८९४ को छोड़कर) देहरादून आर्यसमाज के प्रधान रहे और उसकी उन्नति में उन्होंने अपनी सब शक्ति लगा दी। बाबू ज्योतिस्वरूप की धर्मपत्नी श्रीमती महादेवी भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के मंतव्यों में अगाध आस्था रखती थीं। उन्हीं के अनुरोध पर ज्योतिस्वरूप जी ने देहरादून में "महादेवी कन्या पाठशाला" की स्थापना की, जो समयान्तर में स्नातकोत्तर कॉलिज के रूप में विकसित हो गयी। देहरादून आर्यसमाज के प्रारम्भ-काल में जिन अन्य सज्जनों ने उसकी प्रगति में विशेष योगदान दिया उनमें दरोगालाल सिंह, मुंशी अलखधारी, पण्डित क्षेमानन्द उपाध्याय और श्री पूर्णसिंह नेगी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री नेगी ने लाखों रुपयों की सम्पत्ति डी० ए० वी० कॉलिज के लिए दान दे दी। प्रारम्भ-काल(१८७९-१९२८) में देहरादून आर्यसमाज के कार्यकलाप एवं गतिविधि की कतिपय बातें ध्यान देने योग्य हैं। जून, १८८६ में उस द्वारा एक "आर्य उपदेशक विद्यालय" की स्थापना की गयी थी जिसमें वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। स्वामी महानन्द भी इसमें पढ़ाया करते थे। सन् १८९३ में आर्यसमाज में एक पुस्तकालय एवं वाचनालय स्थापित किया गया था, जिसकी पुस्तकें सन् १९२१ में खुशीराम सार्वजनिक पुस्तकालय को दे दी गयीं। यह पुस्तकालय अब तक विद्यमान है। ८ अक्तूबर, १८९३ को समाज की अन्तरंग सभा ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि मांस भक्षण करने वाला कोई व्यक्ति समाज का पदाधिकारी, अन्तरंग सदस्य, उपदेशक, प्रतिनिधि सभा का सभासद् तथा कॉलिज-कमेटी का सदस्य नहीं हो सकेगा। सन् १९०५ में किशोरवय के व्यक्तियों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने के प्रयोजन से कुमार सुबोधिनी सभा स्थापित की गयी और श्री आर्यकिशोर उसके मन्त्री बनाये गये। प्राकृतिक विपत्तियों के समय में जनता की सेवा के कार्य पर भी देहरादून आर्यसमाज ने ध्यान दिया। सन् १९१८ में देहरादून में इन्फ्लूएन्जा का प्रकोप हुआ और शीघ्र ही उसने महामारी का रूप धारण कर लिया। रोगपीड़ित लोगों की सेवा के लिए समाज द्वारा "आर्य सेवक मण्डली" गठित की गयी। सन् १९२४ में समाज में एक आर्य अनाथालय खोलने का निश्चय किया गया और उसके लिए कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। अछूतोद्धार और शुद्धि के कार्यों पर भी देहरादून आर्यसमाज ने ध्यान दिया। सवर्ण लोग अछूतों को कुओं का प्रयोग नहीं करने देते थे। आर्यसमाज ने उनका विरोध किया, और अनेक स्थानों पर अछूतों को मानव-अधिकार दिलाने में सफलता प्राप्त की। एप्रिल, सन् १९२५ में उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन देहरादून में हुआ, जिसमें सम्मिलित होने के लिए प्रदेश भर के आर्यसमाजों के प्रतिनिधि वहाँ एकत्र हुए। आर्य नेताओं तथा कर्मठ कार्यकर्ताओं की उपस्थिति के कारण देहरादून में आर्यसमाज की गतिविधि को बहुत प्रोत्साहन मिला। सन् १९२८ से

१९४७ तक देहरादून आर्यसमाज के कार्यकलाप में जिन व्यक्तियों ने विशेष रूप से भाग लिया, उनमें प्रिंसिपल लक्ष्मणप्रसाद, पण्डित नरदेव शास्त्री, लाला आर्य किशोर, पण्डित अमरनाथ वैद्य, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार, चौधरी हुलास वर्मा, श्री नारायणदास भार्गव, चौधरी बिहारीलाल, पण्डित गौतमदेव विद्यालंकार और मास्टर रामस्वरूप के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आर्य सज्जनों के कर्तृत्व से देहरादून आर्यसमाज की बहुत उन्नति हुई। सन् १९२९ में उसके तत्त्वावधान में श्रद्धानन्द बाल वनिता आश्रम की स्थापना की गयी, जिस के लिए लाला मुकुन्दलाल ने भूमि प्रदान की थी और बाबू आर्य किशोर ने बड़े परिश्रम से धन एकत्र किया था। नवम्बर, १९२९ में समाज की स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम के साथ मनायी गयी। सन् १९३२ में आर्यसमाज द्वारा एक विशाल सहभोज का आयोजन किया गया जिसमें समस्त हिन्दुओं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भंगी, चमार आदि ने एक पंक्ति में बैठकर एकसाथ भोजन किया। शर्त केवल यह थी कि सब नहा-धोकर तथा साफ कपड़े पहनकर भोज में सम्मिलित हों। यह छुआछूत तथा जातपाँत के भेदभाव पर सशक्त कुठाराघात था जिससे कट्टरपन्थी पौराणिकों में खलबली मच गयी। उन्होंने विरोध के जो भी प्रयत्न किये, सब व्यर्थ हुए। हजारों हिन्दू इस सहभोज में सम्मिलित हुए। भोजन उन लोगों ने परोसा जिन्हें अछूत समझा जाता था। देहरादून आर्यसमाज जहाँ छुआछूत जैसी बातों को हिन्दू समाज से दूर करने के लिए प्रयत्नशील था, वहाँ साथ ही हिन्दुओं के हितों की रक्षा के लिए भी वह सचेष्ट था। आर्यसमाज मन्दिर के सामने एक सती-समाधि थी। आर्यसमाज न सती-प्रथा को उचित मानता है और न समाधियों का निर्माण। पर जब सती-समाधि को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया तो आर्यसमाज ने उसका विरोध किया (सन् १९३४)। सन् १९३६ में समाज द्वारा योग्य निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देनी प्रारम्भ की गयीं, और १९३७ में यह व्यवस्था की गयी कि जो कोई व्यक्ति समाज का नया सदस्य बने उसे सत्यार्थप्रकाश भेंट किया जाया करे। इसी वर्ष समाज की ओर से आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय खोलने और श्री नारायणदास भार्गव के दान से "रमा अतिथिशाला" बनाने के प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। सन् १९३९ के हैदराबाद-सत्याग्रह में भाग लेने के लिए देहरादून आर्यसमाज द्वारा सत्याग्रहियों के चार जत्थे भेजे गये, जिनका नेतृत्व पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने किया था। इस समाज के तत्त्वावधान में आर्यवीर दल भी संगठित था जिसमें आर्यसमाजी युवकों के साथ-साथ सिक्ख, जैन और सनातनी युवक भी सम्मिलित हुआ करते थे। इसकी शाखाएँ विविध स्थानों पर स्थापित थीं। कभी-कभी सब शाखाओं के आर्यवीर एक स्थान पर एकत्र हुआ करते थे और वहाँ व्यायाम, परेड, लाठी, भाला तथा तलवार चलाने आदि का सामूहिक प्रशिक्षण एवं प्रदर्शन होता था। सदाचारमय जीवन तथा योगासन व प्राणायाम की भी आर्यवीर दल के इन शिविरों में शिक्षा दी जाती थी। सन् १९४७ में जब भारत का विभाजन हुआ तो पंजाब से विस्थापित हुए हिन्दुओं को आश्रय देने और उनके निवास, भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था करने में देहरादून आर्यसमाज ने बड़े उत्साह के साथ कार्य किया। आर्यसमाज-भवन के द्वार उनके लिए खोल दिये गये और जो कुछ भी सम्भव था, उनकी सहायता के लिए किया गया।

देहरादून नगर उत्तरप्रदेश के उत्तर-पश्चिमी कोने में स्थित है। सन् १८९१ में उसकी जनसंख्या २५,६८४ थी। बाद में उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी और उसके

साथ ही आर्यसमाज का प्रचार भी वहाँ बढ़ता गया। आबादी की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटे इस नगर में आर्यसमाज का जो कार्यकलाप था, उसमें स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार, शुद्धि, विधवाओं और अनाथों को आश्रय का प्रदान, जन-सेवा, शिक्षा-प्रसार, चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा, अतिथिगृह एवं पुस्तकालय की स्थापना सदृश सभी कार्य अन्तर्गत थे। आर्यसमाज की गतिविधि तथा कार्यकलाप के निर्देशन के लिए देहरादून के समाज को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

लखनऊ आर्यसमाज—उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ नगरी में आर्यसमाज की स्थापना ९ मई, १८८० को महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा की गयी थी। महर्षि के व्याख्यान नवाब अमीनुद्दौला के इमामबाड़े के चौतरे पर हुआ करते थे और वहीं पर उन्होंने समाज स्थापित किया था। शुरू में उसके २५ सभासद् थे। प्रधान पण्डित इन्द्रनारायण मसालदान को नियुक्त किया गया था और मन्त्री पण्डित रामदुलारे वाजपेयी को। आर्य लोगों को संस्कृत भाषा तथा महर्षिकृत ग्रन्थों की शिक्षा के लिए समाज द्वारा 'सत्यप्रकाश पाठशाला' की स्थापना की गयी, जिसमें वयस्क व्यक्ति भी अध्ययन किया करते थे। प्रारम्भ में आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। सत्यप्रकाश पाठशाला में ही उसके अधिवेशन हुआ करते थे। बाद में वे पण्डित रामाधार वाजपेयी के मकान पर होने लगे, और फिर किराये के एक मकान में। दिसम्बर, १८९५ में गणेशगंज (लखनऊ) का वह स्थान आर्यसमाज के लिए क्रय कर लिया गया, जहाँ बाद में एक भव्य व विशाल समाज-मन्दिर का निर्माण किया गया। प्रधान, मन्त्री आदि पदों पर कोई व्यक्ति स्थायी रूप से अधिकार स्थापित न कर लें, इस बात को दृष्टि में रखकर यह निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष के निर्वाचन से पूर्व सब पदाधिकारी त्यागपत्र दे दिया करें जिससे कि अन्य पुरुषों को सेवा का अवसर प्राप्त हो सके और पदों को लेकर परस्पर मनोमालिन्य भी न होने पाए।

लखनऊ आर्यसमाज के पदाधिकारी कौन महानुभाव रहे और किन कर्मठ कार्यकर्ताओं के अनथक परिश्रम से वह उन्नति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता गया, उनके नामों का उल्लेख करने के बजाय यह अधिक उपयोगी है कि इस समाज के कार्यकलाप का संक्षिप्त रूप से विवरण दे दिया जाए। सन् १८८३ के प्रारम्भ में लखनऊ आर्यसमाज द्वारा 'देवभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य देवभाषा (हिन्दी) का प्रचार करना था। उस समय उत्तरप्रदेश में हिन्दी का प्रचार बहुत ही कम था, और लखनऊ तो उर्दू का गढ़ ही था। ऐसे समय इस समिति द्वारा यह निश्चय किया जाना कि आर्य लोग अपना सब पत्र-व्यवहार व अन्य कार्य हिन्दी में ही किया करें, बड़े महत्त्व की बात थी। सन् १८८४ में लखनऊ समाज ने अनाथ बच्चों की रक्षा तथा पालन-पोषण के लिए एक अनाथालय स्थापित किया, जिसका नाम श्रीमद्दयानन्द आश्रम रखा गया। उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के स्थापित होने पर दिसम्बर १८८६ में लखनऊ आर्यसमाज भी उसमें सम्मिलित हो गया। उस समय उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजों में मेरठ-समाज की मूर्धन्य स्थिति थी और शुरू में आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय भी वहीं पर था। मेरठ (प्रतिनिधि सभा) में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि प्रदेश में उर्दू का प्रचार अधिक होने के कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के उर्दू-अनुवाद प्रकाशित किये जाएँ, पर लखनऊ समाज ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था कि

महर्षि देवभाषा हिन्दी को प्रचारित करना चाहते थे। यदि उनकी पुस्तकें उर्दू में भी उपलब्ध हो जाएँगी तो आर्यों में हिन्दी पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ने नहीं पाएगी और वे उर्दू द्वारा ही धर्म की पिपासा शान्त कर लिया करेंगे। लखनऊ समाज के विरोध के कारण ही प्रतिनिधि सभा का प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं हो सका। स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए सन् १८८८ में लखनऊ समाज द्वारा एक महिला उपदेशिका की नियुक्ति की गयी। इसी वर्ष स्थानीय कॉल्विन कॉलिज के अधिकारियों ने लखनऊ आर्यसमाज से प्रार्थना की कि इस शिक्षण-संस्था के प्रबन्ध को अपने हाथों में ले ले। यह संस्था उस समय ईसाइयों के अधिकार में थी, और उसमें पढ़नेवाले विद्यार्थी क्रिश्चियन धर्म के प्रभाव में आ जाया करते थे। आर्यसमाज इस संस्था का संचालन करने को तैयार था, पर इसके लिए उसने कुछ शर्तें प्रस्तुत कीं, जिनके अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी के लिए हिन्दी पढ़ना, पढ़ाई से पूर्व आधा घण्टा सन्ध्या-हवन में सम्मिलित होना, और प्रत्येक विद्यार्थी तथा अध्यापक के लिए समाज के साप्ताहिक अधिवेशन में उपस्थित होना आवश्यक निर्धारित किया गया था। कॉल्विन कॉलिज के अधिकारियों ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया और १६ नवम्बर, १८८८ को कॉलिज समाज-मन्दिर में स्थानान्तरित कर दिया गया। पर आर्यसमाज देर तक इस शिक्षण-संस्था का संचालन नहीं कर सका। उसके पास स्थान की कमी थी, और उसके प्रबन्ध के झंझटों के कारण वेद-प्रचार के कार्य पर समुचित ध्यान देने में रुकावट आने लगी थी। परिणाम यह हुआ कि समाज के पदाधिकारियों ने सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों के लिए स्थापित इस शिक्षण-संस्था के संचालन को हाथ में रखना वांछनीय नहीं समझा। पर वे यह अनुभव करते थे कि शिल्प और दस्तकारी की शिक्षा की व्यवस्था कर नवयुवकों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना आर्यसमाज के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है। इसीलिए दिसम्बर, १८८९ में लखनऊ आर्यसमाज ने एक टेक्निकल कॉलिज की स्थापना का निश्चय किया, जो कुछ वर्ष बाद एक बड़े टेलरिंग स्कूल के रूप में क्रियान्वित भी हो गया। पंजाब के समान उत्तरप्रदेश में भी डी० ए० वी० आन्दोलन इस समय जोर पकड़ रहा था। अतः लखनऊ आर्यसमाज ने मार्च, १८९२ में डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना का भी निश्चय किया और उसके लिए सब आवश्यक प्रयत्न करने के प्रयोजन से एक कमेटी बना दी। इसी कमेटी के प्रयत्न से चौथाई सदी पश्चात् सन् १९१८ में लखनऊ में डी० ए० वी० स्कूल स्थापित हुआ जो समयान्तर में डिग्री कॉलिज के रूप में विकसित हो गया। सन् १९०२ में किशोरवय के व्यक्तियों को वैदिक धर्म से प्रभावित करने के लिए लखनऊ समाज द्वारा आर्यकुमार सभा की स्थापना की गयी, और मेलों आदि में प्रचार के लिए भजन-मण्डली की (१९०५)। यह मण्डली लखनऊ के चौराहों पर, देहातों में तथा मेलों में जाकर भजनों द्वारा वेद-प्रचार किया करती थी।

हिन्दी भाषा के प्रचार की ओर लखनऊ समाज का शुरू से ही ध्यान था। इसीलिए सन् १८८३ में देवभाषा प्रचार समिति की स्थापना की गयी थी, और सन् १९०६ में समाज द्वारा इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकृत कर लखनऊ म्युनिसिपैलिटी के पास भेजा गया कि सड़कों, गलियों और मुहल्लों के सिरों पर जो साइनबोर्ड अंग्रेजी और उर्दू में लगाये गये हैं, उनपर हिन्दी में भी सड़कों आदि के नाम लिखे जायें। समाज को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित कराने में सफलता प्राप्त हुई। सन् १९१२ में लखनऊ आर्य-

समाज ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निश्चय यह किया कि आर्य सभासद् बनने के लिए केवल बारह मास तक मासिक चन्दा देते रहना ही पर्याप्त न समझा जाये, अपितु यह भी देखा जाये कि क्या उसका व्यक्तिगत आचरण वैदिक धर्म की मान्यताओं के अनुरूप है, क्या वह मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार संस्कारविधि में प्रतिपादित विधि के अनुसार करता है, क्या वह प्रतिदिन दोनों समय सन्ध्योपासन करता है, और कहीं वह मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तीर्थस्थानों की यात्रा, रोजा-नमाज रखना, मन्त्र लेना तथा देना आदि अवैदिक बातें तो नहीं करता? यदि किसी व्यक्ति का आचरण आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुरूप न हो तो नियमपूर्वक चन्दा देते रहने पर भी वह आर्य सभासद् बनने की अधिकारी नहीं हो सकता था। दिसम्बर, १९१३ में लखनऊ आर्यसमाज ने एक पुस्तकालय और एक नाइट-स्कूल (रात्रि पाठशाला) की स्थापना की। इन दोनों के साथ किंग ज्यार्ज का नाम (ज्यार्ज तिलकोत्सव स्मारक पुस्तकालय और ज्यार्ज नाइट स्कूल) प्रयुक्त किया गया। इसका कारण सम्भवतः यह था, कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक में ब्रिटिश सरकार ने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मानकर बहुत-से आर्यसमाजियों को गिरफ्तार किया था और उनपर मुकदमे चलाये थे। उस समय अनेक आर्य नेता अदालतों में तथा समाचार-पत्रों में यह प्रतिपादित करने में तत्पर थे, कि आर्यसमाज देशभक्ति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का समर्थक अवश्य है, पर राजद्रोही नहीं है। इसी विचार को सम्मुख रखकर लखनऊ आर्यसमाज द्वारा अपनी दो संस्थाओं के साथ किंग ज्यार्ज का नाम प्रयुक्त किया गया था। सन् १९१३ में ही लखनऊ समाज के साथ आर्य स्त्री समाज की स्थापना की गयी, और एक वर्ष पश्चात् सन् १९१४ में कन्या पाठशाला स्थापित करने का निश्चय किया गया। अनाथों की रक्षा तथा पालन-पोषण के लिए सन् १८८४ में जो श्रीमद्दयानन्द आश्रम लखनऊ आर्यसमाज द्वारा स्थापित हुआ था, उसके साथ सन् १९१४ में विधवाश्रम की भी स्थापना कर दी गयी। इस आश्रम में जहाँ असहाय विधवाओं को आश्रय दिया जाता था, वहाँ साथ ही उन विधवाओं के पुनर्विवाह की भी व्यवस्था की जाती थी जो विवाह-योग्य आयु की हों और विवाह के लिए इच्छुक हों। सन् १९१५ में इस समाज द्वारा लखनऊ जिले के आर्यसमाजों को एक केन्द्र में संगठित करने के प्रयोजन से जिला उप-प्रतिनिधि सभा का निर्माण किया गया।

बाढ़ और भूकम्पसदृश प्राकृतिक विपत्तियों से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए लखनऊ आर्यसमाज सदा सक्रिय रहा। सन् १९१५ में गोमती नदी में भयंकर बाढ़ आयी थी, जिससे तिहाई लखनऊ शहर जलमग्न हो गया था, हजारों मकान गिर गये थे और उनके निवासी पूर्णतया असहाय हो गये थे। इस अवसर पर आर्यसमाज ने भोजन, वस्त्र आदि से लोगों की सहायता की और बाढ़-पीड़ितों को आर्यसमाज में आश्रय प्रदान किया। सन् १९१८ में गढ़वाल में जो भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था; उसके लिए लखनऊ समाज ने अच्छी बड़ी मात्रा में धन, वस्त्र तथा अन्न एकत्र किया, और बहुत-से स्वयंसेवक भी दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए गढ़वाल भेजे। सन् १९३३ के बिहार-भूकम्प और सन् १९४३ के बंगाल-दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए भी इस समाज द्वारा धन एकत्र किया गया और निराश्रित व्यक्तियों को समाज-भवन में आश्रय भी प्रदान किया गया। जन-सेवा के प्रयोजन से लखनऊ आर्यसमाज द्वारा "असहाय निधि" और "आर्य रक्षा समिति" की स्थापना की गयी। जो असहाय व्यक्ति वास्तव में सहायता

के पात्र हों, किन्हीं परिस्थितियों के कारण जिनके पास न भोजन के लिए पैसे रह जाएँ और न घर जाने के लिए मार्ग-व्यय, उन्हें "असहाय निधि" से आर्थिक सहायता दी जाती थी। दिसम्बर, १९१६ में स्थापित आर्य रक्षा समिति द्वारा उन नर-नारियों व बच्चों की विशेष रूप से रक्षा की जाती थी जो मेलों में भटक जाएँ, घायल हो जाएँ या रोगग्रस्त हो जाएँ। विधर्मियों द्वारा बहकाये गये व्यक्तियों की भी यह समिति सहायता करती थी। समाज की ओर से एक धर्मार्थ औषधालय भी समाज-मन्दिर में स्थापित किया गया था। लखनऊ जैसे शहर में ऐसे लावारिस व्यक्ति भी होते थे, मृत्यु हो जाने पर जिनकी अन्त्येष्टि करनेवाला भी कोई नहीं होता था। आर्यसमाज ने उनका अन्त्येष्टि-संस्कार कराने की उत्तरदायिता भी स्वीकार की, और शवों को श्मशान तक पहुँचाने के लिए एक ठेला भी बनवाया गया। शराबबन्दी के आन्दोलन में आर्यसमाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त था और जरायमपेशा जातियों के लोगों के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा जिस आर्यनगर सेटलमेण्ट की स्थापना की गयी थी, उसका प्रबन्ध भी लखनऊ आर्यसमाज के माध्यम से किया जाता था। अछूतोद्धार के कार्य में इस समाज द्वारा सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी को भी सहयोग प्रदान किया गया था।

सन् १९१६ और सन् १९३६ में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुए। भारत-भर से आये हुए राष्ट्रीय विचारों के लोगों को वैदिक धर्म के मन्तव्यों से परिचित कराने के लिए लखनऊ आर्यसमाज ने इन अवसरों पर प्रचार की व्यवस्था की। इसके लिए बाहर के आर्य विद्वानों और संन्यासियों को निमन्त्रित किया गया और जनता में पुस्तिकाएँ वितरित की गयीं।

निस्सन्देह, लखनऊ आर्यसमाज का कार्यकलाप अत्यन्त व्यापक था। समाज-सुधार, शिक्षा, अछूतोद्धार, जनता की सेवा आदि सभी क्षेत्रों में इस द्वारा सराहनीय कार्य किया गया। इस समाज के प्रमुख नेताओं एवं कर्मठ कार्यकर्ताओं में श्री रामाधार वाजपेयी, श्री रामदुलारे वाजपेयी, पण्डित रामदत्त शुक्ल, बाबू देवीप्रसाद, पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र, बाबू गौरीशंकर सहाय, पण्डित रासबिहारी तिवारी, पण्डित रामचन्द्र शर्मा और कुँवर रणवीरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री चतुरी मिस्त्री, ठाकुर कामता सिंह, पण्डित माधोप्रसाद बांचू, बाबू सूर्यदयाल आदि अनेक सज्जनों ने अपनी सम्पत्ति लखनऊ आर्यसमाज को दान कर शाश्वत अक्षुण्ण पुण्य प्राप्त किया।

आर्यसमाज आगरा (हींग की मण्डी)—फरवरी, सन् १८८१ में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा आगरा में आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी। समाज के पहले प्रधान बाबू जमुनादास विश्वास थे, पर वह समाज के कार्य में अधिक रुचि नहीं लेते थे। अतः उनके स्थान पर श्री गिरधरलाल वकील को प्रधान निर्वाचित किया गया, और साप्ताहिक सत्संग भी उन्हीं के मकान पर होने लगे। बाद में एक कमरा समाज के लिए किराये पर ले लिया गया। पर बार-बार समाज के स्थान को बदलते रहना समुचित नहीं था। अतः सन् १८८९ में हींग की मण्डी में एक उपयुक्त स्थान आर्यसमाज के भवन के लिए क्रय कर लिया गया, और उसपर भवन का निर्माण शुरू करा दिया गया।

वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में आगरा का आर्यसमाज अपने स्थापना-काल से ही विशेष सक्रिय रहा है। उसके वार्षिकोत्सव नियमित रूप से होते रहे हैं। महर्षि दयानन्द के शिष्य स्वामी सहजानन्द और स्वामी आत्मानन्द तथा स्वामी गोकुलानन्द, स्वामी

गिरजानन्द व पण्डित रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य आदि आर्य प्रचारक व विद्वान् इस समाज के प्रारम्भिक उत्सवों पर पधारा करते थे और बाद में स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, पण्डित भगवान्दीन मिश्र, आचार्य रामदेव, पण्डित रामचन्द्र देहलवी और प्रिंसिपल दीवानचन्द आदि प्रमुख विद्वान् अपनी उपस्थिति से इस समाज के वार्षिकोत्सवों को कृतार्थ करते रहे। सन् १८८३ के वार्षिकोत्सव में पण्डित लेखराम भी आगरा गये थे।

आगरा आर्यसमाज को शुरू से ही विधर्मियों तथा विरोधियों का सामना करना पड़ा था। सन् १९०० में ईश्वरानन्द गिरि नाम के साधु और पण्डित चतुर्भुज शास्त्री ने आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ किया और सनातन धर्म सभा के मन्त्री बाबू केदारनाथ के हस्ताक्षरों से अनेक विज्ञापन निकाले गये। आर्यसमाज के मन्त्री पण्डित कृपाशंकर ने इन विज्ञापनों के उत्तर में विज्ञापन निकाले, और सनातनियों को शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रित किया। पर वे इसके लिए तैयार नहीं हुए और टालमटोल करते रहे। जगरावाँ के पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती) उन दिनों आगरा रह रहे थे। उन्होंने पौराणिकों के आक्षेपों का खण्डन करने के लिए एक ट्रैक्ट-माला छपवानी प्रारम्भ की, पौराणिकों और अन्य विधर्मियों को जिसने सर्वथा निरुत्तर कर दिया। सन् १९०८ में पौराणिक पण्डित श्री जगतप्रसाद ने आगरा में आर्यसमाज के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया, जिसपर आगरा समाज ने उन्हें शास्त्रार्थ की चुनौती दी। आर्यसमाज की ओर से पण्डित देवदत्त शास्त्री ने जगतप्रसाद जी से शास्त्रार्थ किया, जिसमें महर्षि के मन्तव्यों की विजय हुई। आर्य युवकों ने इस विजय का उत्सव धूमधाम के साथ मनाया और प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित गणपति शर्मा के व्याख्यान इस अवसर पर कराये। मुसलमानों, ईसाइयों और जैनियों से भी अनेक शास्त्रार्थ आगरा में हुए, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य पर प्रकाश डालने के लिए उपयोगी होगा। सन् १८९९ में पण्डित कृपाराम शर्मा (स्वामी दर्शनानन्द) वेदप्रचार-फण्ड के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से आगरा आये हुए थे। एक व्याख्यान के बाद मौलवी जहाँगीर-खाँ ने पण्डित जी से कुछ प्रश्न किये और फिर उनसे शास्त्रार्थ की इच्छा प्रकट की, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यद्यपि शास्त्रार्थ के नियमों के सम्बन्ध में आर्य-समाजियों और मौलवियों में कुछ मतभेद थे, पर अन्त में आर्यसमाज ने उन्हीं नियमों के अनुसार शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया जो मौलवी जहाँगीर खाँ ने प्रस्तावित किये थे। शास्त्रार्थ की सुव्यवस्था के लिए मि० फारनेन नामक एक यूरोपियन को मध्यस्थ नियत किया गया। शास्त्रार्थ का विषय था—वेद तथा कुरान में कौन ईश्वरीय ज्ञान है? आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व पण्डित कृपाराम शर्मा कर रहे थे, और इस्लाम का मौलवी अकुल फरह अब्दुल हमीद पानीपती। तीन दिन शास्त्रार्थ होता रहा। जब मौलवी साहब पण्डित जी के सामने निरुत्तर हो गये, तो उन्होंने यह प्रयत्न किया कि मुसलमान जोश में आ जाएँ और झगड़ा हो जाए। जब प्रधान फारनेन ने देखा कि झगड़ा हो जाने का भय है तो उन्होंने शास्त्रार्थ बन्द कर दिया, और अपनी लिखित सम्मति में स्पष्ट रूप से मौलवी साहब को शास्त्रार्थ जारी न रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया और यह भी स्वीकार किया कि मौलवी साहब पण्डित कृपाराम जी के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे थे।

सन् १९०१ में आगरा समाज के तत्त्वावधान में पण्डित भीमसेन शर्मा से एक

शास्त्रार्थ हुआ। शर्मा जी पहले आर्यसमाजी थे पर बाद में उसके विरोधी हो गये थे। समाज की ओर से पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित देवदत्त शास्त्री और पण्डित गंगादत्त शास्त्री ने इस शास्त्रार्थ में भाग लिया। शास्त्रार्थ का विषय मृतक-श्राद्ध था। सन् १९०४ और १९०६ में दो शास्त्रार्थ क्रिश्चियन पादरियों से किये गये, और सन् १९१५ में एक शास्त्रार्थ जैनियों से हुआ। १९०६ में ईसाइयों से हुए शास्त्रार्थ के विषय वेदों का ईश्वरीय ज्ञान होना, जीव का आवागमन और मुक्ति थे। आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व पण्डित भोजदत्त द्वारा किया गया था और यह शास्त्रार्थ पाँच दिन चला था। जैनियों से शास्त्रार्थ का विषय था—ईश्वर कर्ता है या नहीं। आर्यसमाज की ओर से पण्डित रामचन्द्र देहलवी ने बड़ी योग्यता से इस शास्त्रार्थ में यह प्रतिपादित किया कि सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। आगरा में शास्त्रार्थों की यह परम्परा बाद में भी जारी रही और इस द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

आगरा नगर तथा जिले में धर्म-प्रचार के लिए इस समाज ने जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आगरा नगर में शीतला, गनगौर, कैलाश पृथ्वीनाथ, राजेश्वर, बालकेश्वर, सिकन्दरा, इटौरा आदि के अनेक मेले लगते हैं। इन सबमें समाज द्वारा प्रचार कराया जाता था। इसी प्रकार आगरा जिले के जलेसर, टूण्डला, एतमादपुर, सेमरा और सुलतानपुर के मेलों में भी समाज की ओर से प्रचार की व्यवस्था की जाती थी। समाज ने अनेक वैतनिक उपदेशकों और भजनीकों की भी नियुक्ति की, और कुछ समय एक भजन-मण्डली गठित कर उस द्वारा भी प्रचार कराया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूर्ण करने के लिए आगरा आर्यसमाज ने अनेक उपसभाओं तथा संस्थाओं का निर्माण किया। ऐसी एक सभा सिद्धान्त प्रचारिणी सभा थी, जिसकी स्थापना सन् १९१० में की गयी थी। इसका मुख्य उद्देश्य व्याख्यानों और ट्रैक्टों द्वारा वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इसकी ओर से बहुत-सी पुस्तिकाएँ प्रकाशित की गयीं, और जिले में प्रचार की व्यवस्था की गयी। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में आगरा उच्चशिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था और उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों के विद्यार्थी उच्चशिक्षा के लिए वहाँ आया करते थे। ये विद्यार्थी वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के वातावरण में निवास की सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, इस उद्देश्य से पण्डित कृपाराम शर्मा (स्वामी दर्शनानन्द) के सुझाव पर सन् १९०१ में समाज द्वारा "वैदिक आश्रम" की स्थापना की गयी। पर यह आश्रम देर तक कायम नहीं रह सका। आठ वर्ष बाद इसे बन्द कर दिया गया। अनाथों की रक्षा तथा पालन-पोषण के लिए सन् १९०० में आगरा आर्यसमाज ने श्रीमद्दयानन्द अनाथालय स्थापित किया और असहाय विधवाओं को आश्रय प्रदान करने के लिए सन् १९०९ में विधवा आश्रम की स्थापना की। सन् १८९९ के घोर दुर्भिक्ष के कारण बहुत-से बच्चे अनाथ हो गये थे, उन्हीं की रक्षा के लिए समाज ने १० बच्चों से अपने अनाथालय को प्रारम्भ किया था। स्वामी मंगलदेव का इसकी स्थापना में विशेष कर्तृत्व था। उन्होंने आगरा के मुहल्ले-मुहल्ले में घूमकर लोगों को इस संस्था का महत्त्व समझाया और अन्न-वस्त्र आदि की स्थायी रूप से प्राप्ति की व्यवस्था करायी। बाद में अनाथालय के लिए भूमि क्रय कर भवनों का निर्माण कराया गया और अनेक आर्य देवियों व सज्जनों ने उदारतापूर्वक धन-सम्पत्ति प्रदान कर इसकी उन्नति में सहायता की। इनमें नामनेर(आगरा)की श्रीमती मथुरी देवी का नाम उल्लेख-

नीय है। श्रीमद्दयानन्द अनाथालय आगरा निरन्तर उन्नति करता गया। १० बच्चों से शुरू हुए इस अनाथालय में सन् १९२९ में बच्चों की संख्या २८४ तक पहुँच गयी थी, जो बाद में और अधिक हो गयी। आर्थिक साधन जुटाने के लिए इस संस्था द्वारा भजन-मण्डलियाँ भी रखी गयी थीं। स्वामी मंगलदेव की प्रेरणा से आगरा आर्यसमाज ने सन् १९०९ में विधवा हितकारिणी सभा की स्थापना की, जिसका मुख्य उद्देश्य असहाय विधवाओं के लिए विधवा आश्रम स्थापित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १९११ में विधवा आश्रम खोला गया, जिसमें स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने तथा दस्तकारी की शिक्षा देने की भी व्यवस्था की गयी। धीरे-धीरे यह संस्था भी उन्नति-पथ पर अग्रसर होती गयी।

सन् १८९१ में आगरा में "आर्यमित्र सभा" स्थापित हुई थी जिसकी स्थापना में श्री गंगाप्रसाद (जो बाद में टिहरी के चीफ जज बने थे) और ठाकुर हनुमन्त सिंह का प्रधान कर्तृत्त्व था। उन दिनों आगरा उच्च शिक्षा का केन्द्र था और गंगाप्रसाद जी वहाँ के एक कॉलिज में विद्यार्थी थे। उन्होंने अपने साथियों के सहयोग से आर्यमित्र सभा इस उद्देश्य से स्थापित की थी, ताकि विद्यार्थियों को वैदिक धर्म के मन्तव्यों से अवगत कराया जा सके। दूर-दूर से शिक्षा के लिए आये हुए विद्यार्थियों में धर्म का प्रचार करने में इस सभा को अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

सन् १९०९ में आगरा में 'आर्य सेवक मण्डल' स्थापित हुआ था और फिर सन् १९२३ में आर्यकुमार सभा की स्थापना हुई थी। किशोरवय के कुमारों और कुमारियों में वैदिक धर्म के प्रचार में इन सभाओं ने अच्छा कार्य किया। आगरा की आर्यकुमार सभा ने कुछ ही समय में इतनी उन्नति कर ली, कि सन् १९२९ में वहाँ अखिल भारत-वर्षीय आर्यकुमार सम्मेलन का अधिवेशन किया जा सका।

शुद्धि-आन्दोलन में आगरा आर्यसमाज का प्रमुख भाग रहा है। 'शुद्धि और हिन्दू संगठन' विषयक एक पृथक् अध्याय में आगरा के शुद्धि-आन्दोलन पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

आगरा आर्यसमाज के प्रारम्भिक नेताओं व उन्नायकों में श्री जमुनादास विश्वास, श्री गिरधर लाल वकील, मास्टर मथुरादास और बाबू रामेश्वर दयालु मुख्य थे। बाद में जिन महानुभावों के सतत प्रयत्न से इस समाज ने उन्नति की, उनमें ठाकुर माधवसिंह, पण्डित गंगाप्रसाद, बाबू इन्द्रभानु, बाबू नवलकिशोर, महाशय हरिसिंह, पण्डित सुन्दरलाल, बाबू पूर्णचन्द्र एडवोकेट, स्वामी मंगलदेव, स्वामी परमानन्द, पण्डित भोजदत्त और श्री ब्रह्मदत्त शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस "परिशिष्ट" में इन तीन आर्यसमाजों का विवरण उदाहरण के रूप में इस प्रयोजन से प्रस्तुत किया गया है, ताकि सन् १९४७ तक उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के कार्यकलाप पर प्रकाश डाला जा सके। उस काल में आर्यसमाज जहाँ वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न करता था, वहाँ साथ ही अनाथों और विधवाओं की सहायता, शिक्षा के प्रसार, अछूतोद्धार, शुद्धि, प्राकृतिक विपत्तियों के कारण आपद्ग्रस्त लोगों की सहायता आदि पर भी उसका ध्यान रहता था। जो कार्यकलाप देहरादून, लखनऊ और आगरा के आर्यसमाजों का था और इन समाजों की जो कार्यपद्धति थी, वही प्रायः प्रदेश के अन्य आर्यसमाजों की भी थी।

नौवाँ अध्याय

बिहार में आर्यसमाजों की स्थापना और उनका कार्यकलाप

(१) दानापुर आर्यसमाज

सन् १९४७ तक बिहार प्रान्त में दो सौ के लगभग आर्यसमाज बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थे और बहुत-से ऐसे भी थे, जो अभी स्वतन्त्र थे। इससे पूर्व कि बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप पर प्रकाश डाला जाए, यह उपयोगी होगा कि पहले उस प्रदेश के कतिपय महत्त्वपूर्ण समाजों की स्थापना तथा प्रगति का संक्षेप के साथ विवरण दे दिया जाए। बिहार भारतवर्ष के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। प्राचीन भारत में इसमें न केवल उस विशाल और शक्तिशाली मागध साम्राज्य की स्थापना ही हुई, जिसके सैनिक बल से संत्रस्त होकर विश्वविजयी सिकन्दर की सेनाओं की भारत में पंजाब से आगे बढ़ने की हिम्मत टूट गई थी, अपितु छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में प्राचीन वैदिक धर्म में सुधार करनेवाले जैन तथा बौद्ध धर्मों के महान् सुधार-आन्दोलनों का श्रीगणेश भी इस प्रदेश में हुआ था। वर्तमान युग में आर्यसमाज के आन्दोलन के विकास में भी बिहार की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पूर्वी भारत में पहले आर्यसमाज की स्थापना पटना के निकट दानापुर में ही हुई थी। जिस प्रकार पश्चिमी भारत में सर्वप्रथम बम्बई में और उत्तरी भारत में लाहौर में आर्यसमाजों की स्थापना हुई, उसी प्रकार दानापुर के समाज को पूर्वी भारत का सर्वप्रथम आर्यसमाज होने का गौरव प्राप्त है। पूर्वी भारत में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज-आन्दोलन के प्रसार में इस समाज का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसे दृष्टि में रखकर इसकी स्थापना तथा विकास पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के निर्देश से ४ मार्च, १८७८ ई० को दानापुर में स्थापित होनेवाले आर्यसमाज का इतिहास बड़ा रोचक है। दानापुर पटना के पश्चिम में १२ कि० मी० दूर गंगा के दायें तट पर अंग्रेजों की एक छावनी और पटना जिले का सैनिक मुख्यालय था। १८८१ में इसकी आबादी केवल ३७,८९३ थी, जिसमें हिन्दू २६,५१३, मुसलमान ९,७०० और ईसाई १६८० थे। दानापुर को इस बात का श्रेय प्राप्त है, कि १८५७ में पटना में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सैनिक विद्रोह यहीं से आरम्भ हुआ। सेना को रसद तथा अन्य सामग्री की पूर्ति करनेवाले अनेक भारतीय व्यापारी और ठेकेदार दानापुर में बसे हुए थे, जो शिक्षित और सम्पन्न थे। इनपर बंगाल में इस समय चल रहे ब्राह्मसमाज आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ व्यक्तियों में हिन्दू समाज की बुराइयों को दूर करने की भावना उत्पन्न हो गयी थी और

महर्षि के दानापुर-आगमन से पहले ही वे मूर्तिपूजा के विरोधी बन चुके थे।

दानापुर के ऐसे प्रबुद्ध समाज-सुधारक व्यक्तियों में बाबू जनकधारी लाल, बाबू माधोलाल तथा श्री रामनारायण के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने आर्यपथिक लेखराम जी को बताया था कि सन् १८६४ से उनके मन में धार्मिक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। मन्दिरों का पाखण्ड देखकर उन्हें मूर्तिपूजा के प्रति श्रद्धा नहीं रही और पौराणिक धर्म के बारे में अनेक शंकाएँ उत्पन्न हो गयी थीं। ये उस समय सनातन धर्म की किसी पुस्तक में विश्वास नहीं रखते थे, और केवल विचार, मनन और चिन्तन पर बल देते थे। इसलिए ये अपने को 'विचारपंथी' कहा करते थे। जिस प्रकार कबीरपंथी कबीर के वचनों को धर्म का अन्तिम प्रमाण मानते थे, उसी प्रकार ये अपना परम प्रमाण 'विचार' को समझते थे। कई नवयुवक इस नवीन सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हुए तथा धार्मिक विषयों पर तर्क-वितर्क करने लगे। इनमें प्रमुख विचारपंथियों के नाम थे—सर्वश्री शिवगुलाम प्रसाद, ठाकुरप्रसाद शाह, बाबूलाल, श्यामलाल, हीरालाल, माधोलाल और जनकधारीलाल। विचारपंथियों ने अपनी तर्क-वितर्क करनेवाली सभा का नाम 'विचार सभा' रखा। इसके विभिन्न अधिवेशनों में पुराणों तथा रामायण आदि धर्मग्रन्थों के स्थान पर इस समय के सुधारवादी विचारकों द्वारा लिखी गयी निम्नलिखित उर्दू पुस्तकों का स्वाध्याय किया जाता था—**बहारे बिन्द्रावन** (वृन्दावन की वसन्त) और **मखजने ब्रह्मज्ञान** (ब्रह्मज्ञान का कोष या वैदिक धर्मतत्त्व)। इसके दो-एक वर्ष बाद इन व्यक्तियों ने पंजाब के सुधारवादी विचारक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी की पुस्तकों का अनुशीलन किया। इनका इस सभा पर काफी प्रभाव पड़ा। इसके सदस्यों की संख्या बढ़ गयी और अब विचार-सभा को **हिन्दू सत्यसभा** का नया नाम दिया गया।

दानापुर में हिन्दू सत्यसभा की स्थापना बम्बई में पहली आर्यसमाज की स्थापना से लगभग दस वर्ष पूर्व १८६६ में हुई थी। इसपर ब्राह्मसमाज का स्पष्ट प्रभाव था। यह ब्राह्मसमाज की भाँति मूर्तिपूजा का विरोध करनेवाला तथा हिन्दू धर्म और समाज के सुधार एवं संशोधन पर बल देनेवाला संगठन था। उन दिनों बिहार बंगाल का अंग था, ब्राह्मसमाज की जन्म-भूमि कलकत्ता के निकट था, अतः उसका इसपर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस कारण हिन्दू सत्यसभा की बैठकों में धर्मग्रन्थ के रूप में ब्राह्मसमाज की सुप्रसिद्ध पुस्तकों का पाठ किया जाता था। सत्यसभा में तारक बाबू, नन्दलाल-गुप्त, शिवचन्द्र सिंह, मुंशी गणेशप्रसाद ब्राह्मसमाजी विचारों के थे और इसके विभिन्न अधिवेशनों में ब्राह्मसमाज से सम्बद्ध विषयों पर व्याख्यान दिया करते थे। सात-आठ वर्ष तक यही स्थिति चलती रही। इस सभा पर ब्राह्मसमाज के प्रभाव का प्राधान्य बना रहा। किन्तु इसके बाद एक विचित्र संयोग से इसके सदस्यों का परिचय पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती की अमरकृति सत्यार्थप्रकाश से हुआ तथा बाद में स्वयं महर्षि से।

सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण जब बनारस में छप रहा था, उस समय महर्षि ने लक्ष्मीकुण्ड में एक पाठशाला स्थापित की थी। इसके पास ही मुंशी हरबंसलाल का एक छापाखाना था। सत्यार्थप्रकाश इसी प्रेस में छप रहा था। यहाँ उस समय प्रेस में प्रूफ देखने का काम छेदीलाल नामक एक व्यक्ति कर रहा था। यह पहले दानापुर में रह चुका था और श्री जनकधारीलाल से परिचित था। एक बार कार्यवश श्री जनकधारीलाल दानापुर से वाराणसी आये और छेदीलाल के घर पर ठहरे। यहाँ उसके

घर पर उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पुराने रद्दी प्रूफ देखे; उन्हें पढ़कर, विशेषतः ११वें समुल्लास का अनुशीलन करके वह लेखक से बहुत प्रभावित हुए। छेदीलाल ने जब महर्षि की बहुत प्रशंसा की और कहा कि वे बहुत बड़े मनुष्य हैं तो मास्टर जी ने पूछा कि उनके बड़प्पन का क्या कारण है? छेदीलाल ने बताया कि "वे सत्य कहने के कारण बड़े व्यक्ति हैं। कितना भय, कष्ट या दुःख क्यों न हो, वे बड़ी निर्भीकता से सच्ची बात कहते हैं। यह काम महात्मा का है। हर व्यक्ति से ऐसा कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि लोग जानते हुए भी अनेक कारणों से पूरा सत्य नहीं कहते हैं। महर्षि में केवल विद्या ही नहीं है अपितु उनकी विचारशक्ति और सत्य कहने में दृढ़ता भी वैसी ही है।"

मास्टर जनकधारीलाल बनारस से घर लौटते हुए सत्यार्थप्रकाश के रद्दी प्रूफों को अपने साथ ले गये। दानापुर में उन्होंने जब हिन्दू सत्यसभा के अधिवेशन में अपनी मित्र-मण्डली को ये प्रूफ सुनाये, तो सभी व्यक्ति इस ग्रन्थ से प्रभावित हुए, और उनमें इसे प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। शीघ्र ही यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अगले वर्ष हरिहर-क्षेत्र के कार्तिकी पूर्णिमा के मेले के अवसर पर जब बाबू माधोलाल और जनकधारी-लाल सोनपुर गये, तो वहाँ उन्हें सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति मिली। इसे एक सदस्य ने खरीद लिया। सभा में इसे आदि से अन्त तक पढ़कर सुनाया गया। सब सदस्य इससे बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए, और इससे मूर्तिपूजा के विरोध में तथा समाज-सुधार के बारे में उनके अपने विचार और विश्वास दृढ़ हो गये।

इसके बाद दानापुर की मित्रमण्डली की यह जिज्ञासा हुई कि महर्षि ने अन्य कौन-से ग्रन्थ लिखे हैं, और वे कहाँ से मिल सकते हैं। उन्होंने सभा की ओर से एक पत्र छेदीलाल को लिखकर पूछा कि क्या महर्षि की कोई और पुस्तक छपी है? इस समय तक महर्षि ने लक्ष्मीकुण्डवाले मुंशी हरवंसलाल के प्रेस से अधिक अच्छे ईसाइयों द्वारा संचालित लाजरस प्रेस में अपनी पुस्तकें छपवानी शुरू कर दी थीं। अतः छेदीलाल ने उत्तर दिया— "सुना है कि लाजरस के यहाँ उनकी बनायी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका छप रही है।" यह सूचना पाकर सभा ने ६ जनवरी, १८७८ को भूमिका की तीन प्रतियाँ इस प्रेस से मँगवाईं। इनपर महर्षि का पता छपा हुआ था। इसके आधार पर इन लोगों ने उनसे पत्र-व्यवहार आरम्भ किया।

बिहार में महर्षि के साथ बाबू माधोलाल आदि के परिचय और सम्पर्क के सम्बन्ध में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि—बाबू माधोलाल आदि को जब एप्रिल, १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना होने का समाचार मिला, तो ये अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने बम्बई जाकर महर्षि के दर्शन करने का संकल्प लिया। शीघ्र ही, दानापुर-निवासी श्री जनकधारीलाल, माधोलाल, बाबू ठाकुरप्रसाद बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्वामीजी के दर्शन के लिए बम्बई पहुँचे। महर्षि के चरणों में बैठकर कुछ समय तक इन्होंने अपनी धार्मिक शंकाओं का समाधान प्राप्त किया। महर्षि के उपदेशों से नवीन प्रेरणा, उत्साह, लगन और आस्था के साथ ये अपने प्रदेश में वापिस आये। महर्षि के साथ इनका पत्र-व्यवहार निरन्तर चलता रहा।

हिन्दू सत्यसभा का नाम आर्यसमाज रखने के कारण—महर्षि दयानन्द सरस्वती जब १८७७-७८ में पंजाब प्रान्त में धर्म-प्रचार करते हुए विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित कर रहे थे, उस समय उन्हें दानापुर से बाबू माधोलाल के पत्र मिला करते थे।

इनमें वे हिन्दू सत्यसभा के कार्यकलापों का वर्णन किया करते थे और महर्षि से आर्यसमाज के नियमों, उपनियमों आदि की जानकारी माँगते रहते थे। महर्षि भारत में सर्वत्र आर्यसमाजों की स्थापना करना चाहते थे, अतः जब वह पंजाब के गुजरात नगर (सम्प्रति पाकिस्तान) में थे, तो उन्होंने पहली एप्रिल, १८७८ को बाबू माधोलाल को एक पत्र में यह लिखा कि दानापुर की हिन्दू सत्यसभा का नाम आर्यसमाज रखना चाहिये और ऐसा करने के कारणों को भली-भाँति स्पष्ट किया। यह पत्र आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका अविकल रूप निम्नलिखित है—

"बाबू माधोलाल जी आनन्द रहो :

आपका कुशल पत्र तारीख २४ मी० गतमास का उचित समय पर हमारे पास पहुँचा। विषय लिखा सो प्रकट हुआ। आपकी इच्छा के अनुसार कल की तारीख ३१ मार्च को छपे हुए दो पत्र आर्यसमाज के मुख्य दस उद्देश्य अर्थात् नियमों को भेज चुके हैं और आज एक कापी उक्त समाज के उपनियमों की भी भेजते हैं। सो निश्चय होता है कि दोनों कापियाँ नियमों और उपनियमों की आपके पास अवश्य पहुँचेंगी। रसीद शीघ्र भेज दीजिये। और इन नियमों को ठीक-ठीक समझकर वेद की आज्ञा अनुसार सबके हित में प्रवृत्त होना चाहिए **विशेष करके अपने आर्यावर्त देश के सुधारने में**। अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम भक्ति सबके परस्पर सुख के अर्थ तथा उन क्लेशों के मेटने में···व्यवहार और उत्कंठा के साथ अपने ही शरीर के सुख-दुःखों के समान सर्वदा यत्न और उपाय करना चाहिए। **सबके साथ हित करने का ही नाम परम धर्म है**। इसी प्रकार वेद में बराबर आज्ञा पायी जाती है जिसका हमारे ऋषिमुनि यथावत् पालन करते और अपनी सन्तानों को विद्या और धर्म के अनुकूल सत्य उपदेश से अनेक प्रकार के सुखों की वृद्धि अर्थात् उन्नति करते चले आये हैं। केवल इसी देश से विद्या और सुख सारे भूगोल में फैला है, क्योंकि वेद ईश्वर की सब सत्य विद्याओं का कोश और अनादि है। बाकी सब व्यवहार तथा उपासना आदि के विषय हमारी पुस्तकों और इन उपनियम आदि के देखने से समझ लेना उचित है। **आपको हिन्दू सत्यसभा के स्थान में आर्यसमाज नाम रखना चाहिये क्योंकि आर्य नाम हमारा और आर्यावर्त नाम हमारे देश का सनातन वेदोक्त है**। आर्य के अर्थ श्रेष्ठ और विद्वान् धर्मात्मा तथा हिन्दू शब्द यवन आदि ईर्षक लोगों का बिगाड़ा और बदला हुआ है जिसके अर्थ गुलाम, काफिर और काला आदमी ···ऐसा विचार कर नाम अपनी सभा का आर्यसमाज दानापुर रखकर वेदोक्त धर्मों पर ···और सब सभासदों में परस्पर नमस्ते कहना चाहिये, सलाम बंदगी नहीं। इति।"

इस पत्र से स्पष्ट है कि महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना इस देश की दशा सुधारने के लिए की थी। वह चाहते थे कि सब लोग देशोन्नति के लिए सदैव प्रयत्न करें, परोपकार को तथा सब लोगों की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य बनायें। उन्हें यह भली-भाँति ज्ञात था कि धार्मिक विद्वेष के कारण मध्य युग में मुसलिम कोशकारों ने हिन्दू शब्द के अर्थ को कितना विकृत और दूषित बना दिया था। जिस प्रकार बौद्ध एवं पौराणिक धर्मों के उग्र विरोध के कारण सुप्रसिद्ध मौर्य सम्राट् तथा बुद्ध के अनन्य भक्त सम्राट् अशोक के साथ लगाया जानेवाला विशेषण देवताओं का प्रिय (देवानांप्रियः) बाद में मूर्ख का पर्याय माना जाने लगा, उसी प्रकार सिन्धु नदी के भौगोलिक नाम के आधार पर बने हिन्दू शब्द को फारसी कोशकारों ने दास का पर्याय बना दिया, क्योंकि

वे मुसलिम आक्रांता इस देश पर किये जानेवाले हमलों में बन्दी बनाये भारतीय सैनिकों को अफगानिस्तान आदि में दासों के रूप में बेच देते थे। इस कारण महर्षि हिन्दू शब्द का प्रयोग बहुत बुरा समझते थे। सम्भवतः, इसीलिए उन्होंने दानापुर के सज्जनों को यह परामर्श दिया था, कि हिन्दू सत्यसभा का नाम आर्यसमाज होना चाहिए क्योंकि आर्य शब्द श्रेष्ठ और विद्वान् का वाचक है।

दानापुर-वासियों ने स्वामीजी का परामर्श स्वीकार कर लिया और हिन्दू सत्य-सभा के स्थान पर अपनी सभा का नाम आर्यसमाज कर दिया। दानापुर आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना २८ मार्च, १८७८ को हुई। इस समाज के पहले प्रधान बाबू जनकधारीलाल चुने गये। ये अगले बयालीस वर्ष तक (१८७८-१९२०) इस पद पर बने रहे। पहले मन्त्री बाबू माधोलाल निर्वाचित हुए। वह महर्षि को दानापुर बुलाने में अग्रणी थे, और उनके साथ कई वर्ष तक उनका पत्र-व्यवहार चलता रहा था। महर्षि इन-पर बड़ा विश्वास रखते थे। उन्होंने इन्हें परोपकारिणी सभा का ट्रस्टी भी बनाया था। वह आजीवन १६ वर्ष तक मन्त्री-पद पर बने रहे। उन्होंने अपना यज्ञोपवीत संस्कार ६ नवम्बर, १८७९ को महर्षि के कर-कमलों से सम्पन्न कराया। यह उस समय की दृष्टि से बड़ी क्रान्तिकारी घटना थी, क्योंकि उस समय कायस्थ शूद्र समझे जाते थे, और उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार तत्कालीन पौराणिक परम्परा के अनुसार नहीं था। ये दोनों महानुभाव दानापुर आर्यसमाज द्वारा संचालित संस्कृत पाठशाला में शिक्षण का कार्य चिरकाल तक करते रहे। इस समाज की स्थापना में सहयोग देनेवाले अन्य प्रमुख व्यक्ति थे—बाबू गुलाबचन्द्र, लाल बाबू, ठाकुरप्रसाद रईस, मुंशी दुर्गाप्रसाद रईस, लाला बलदेव प्रसाद तथा बाबू रामनारायण लाल। इन लोगों ने आर्थिक सहयोग देकर समाज को सुस्थिर एवं सुप्रतिष्ठित बनाया।

बाबू माधोलाल जी आदि महर्षि के भक्त दानापुर आर्यसमाज में उन्हें बुलाने तथा उनका उपदेशामृत पान करने के लिए विह्वल थे। वे महर्षि को बार-बार दानापुर में पधारने के लिए लिख रहे थे, जिसे देर तक महर्षि नहीं टाल सके। उन्होंने १२ अक्तूबर, १८७९ को कानपुर से बाबू माधोलाल को एक पत्र में सूचित किया कि वह प्रयाग से मिर्जापुर और वहाँ से सीधा दानापुर आएँगे, मार्ग में कहीं नहीं ठहरेंगे।

महर्षि को दानापुर लाने के लिए बाबू मक्खनलाल और श्यामलाल को मिर्जापुर भेजा गया और उनके साथ वह ३० अक्तूबर, सन् १८७९ को दानापुर पधारे। बड़े उत्साह और भक्तिमय वातावरण में आर्य सदस्यों और नगर-निवासियों ने महर्षि का दर्शन और स्वागत किया। मार्ग में बाजार के दोनों ओर हजारों मनुष्यों की भीड़ थी। स्वामीजी गाड़ी में बैठकर बाबू माधोलाल के मकान पर गोला रोड पहुँचे। यहाँ उनका समुचित आतिथ्य करने के बाद उनके लिए पहले से ही निश्चित गंगातट पर बने एक अंग्रेज व्यापारी जोन्स साहब के बंगले—दीघा लाज पर उन्हें ले-जाया गया। वे यहाँ बीस दिन १९ नवम्बर, सन् १८७९ तक रहे और वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

चूंकि दानापुर अंग्रेजों की छावनी थी, अतः यहाँ व्याख्यानों के लिए मेजर एच० बेलो मैजिस्ट्रेट कैम्प दानापुर से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। ३१ अक्तूबर को मैजिस्ट्रेट ने अनुमति देते हुए लिखा कि "इन व्याख्यानों के होने में हमको कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु शर्त यह है कि व्याख्यानदाता और उनके अनुयायी दूसरों के हृदयों को

न दुखाएँ, जो उनसे भिन्न विचारों के हैं।" २ नवम्बर को स्वामीजी के आगमन और व्याख्यानों के समय की सूचना साधारण जनता को एक विज्ञापन द्वारा दे दी गयी। ये व्याख्यान विशेष रूप से लगाये गये एक बड़े शामियाने में नये कटड़े में प्रतिदिन २ नवम्बर से १६ नवम्बर तक होते रहे। ये व्याख्यान निम्नलिखित विषयों पर हुए—सृष्टि की उत्पत्ति, देशोन्नति, वैदिक धर्म, पौराणिक मतखण्डन, ईसाईमत खण्डन, मुसलमानीमत खण्डन, धर्म में एकता की आवश्यकता, ईश्वरीय ज्ञान, शिक्षापद्धति और मूर्तिपूजा। चूँकि यहाँ ब्राह्मसमाज का काफी जोर था, अतः महर्षि ने अपने व्याख्यानों के बीच में ब्राह्मसमाज का और नवीन वेदान्त का विशेष रूप से खण्डन किया।

दानापुर में मुसलमानों और ईसाइयों की काफी संख्या थी। वे महर्षि के व्याख्यानों में विघ्न डालने का भी प्रयत्न करते रहे, किन्तु उन्होंने इनकी कोई परवाह नहीं की। एक दिन बाबू गुलाबचन्द लाल ने स्वामीजी से कहा कि "महाराज! आप मुसलमानों के विरुद्ध कुछ न कहें।" स्वामीजी ने उनको उस समय कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब व्याख्यान आरम्भ हुआ तो इस्लाम मत का भली-भाँति खण्डन किया और कहा—"कुछ छोकरों के छोकरे हमको रोकते हैं, परन्तु मैं सत्य को क्यों छुपाऊँ? मुसलमानों की जब चलती थी तो उन्होंने हम लोगों का तलवार से खण्डन किया। अब अँधेर है कि वह मुझे बातों से खण्डन करने में भी रुकावट डालते हैं?"

स्वामीजी दानापुर में अपने प्रचार-कार्य से बड़े सन्तुष्ट थे। उन्होंने ६ नवम्बर, १८७९ को अपने प्रेस मैनेजर के नाम एक पत्र में लिखा था—"आजकल दानापुर में प्रतिदिन व्याख्यान होते हैं। आज पाँचवाँ दिन है। यहाँ का समाज और समाज के पुरुष बहुत उत्तम हैं। समाज का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम किया है।"

दानापुर में २० दिन तक धर्म-प्रचार के बाद यद्यपि महर्षि बनारस चले गये, किन्तु उनके प्रचार का यहाँ स्थायी प्रभाव पड़ा। उनके भाषण सुनने के लिए न केवल उनके भक्त, अपितु कट्टर विरोधी पौराणिक पण्डित, मौलवी, ईसाई, पादरी, छावनी के उच्च अधिकारी भी आते रहे और उनसे लाभ उठाते रहे। इस प्रकार लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व महर्षि के सुझाव से आर्यसमाज की जिस संस्था का बीज-वपन हिन्दू सत्यसभा के समर्थकों ने किया था, उसे महर्षि ने अपने उपदेशामृत से सींचा, पल्लवित और पुष्पित किया और शीघ्र ही यह पूर्वी भारत में आर्यसमाज का सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया। इसके उत्साही सदस्य महर्षि से प्रेरणा प्राप्त करके आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में जुट गये। उन्होंने विधर्मियों के साम्प्रदायिक आक्षेपों तथा आलोचनाओं की परवाह नहीं की। प्रतिवर्ष बड़े पैमाने पर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव और धार्मिक सम्मेलन सफलतापूर्वक आयोजित किये जाते रहे। अगली कई दशाब्दियों तक दानापुर आर्यसमाज पूर्वी भारत में वैदिक धर्म-प्रचार का एकमात्र प्रमुख केन्द्र बना रहा। दूर-दूर से जिज्ञासु, धर्म-पिपासु आर्य सज्जन इसके वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित होने के लिए आया करते थे और देश-भर के प्रमुख आर्य विद्वानों, साधु-संन्यासियों और प्रचारकों के व्याख्यान सुना करते थे और इनका अपने प्रदेशों में जाकर प्रचार करते थे। दानापुर आर्यसमाज के उपदेशक अन्य प्रमुख नगरों और कस्बों में आर्यसमाज का प्रचार करते थे और इसके परिणाम-स्वरूप पटना, पटना सिटी, आरा, छपरा, सीवान, मुंगेर, राँची, भागलपुर, मोतिहारी आदि बिहार के विभिन्न नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हुई।

दानापुर आर्यसमाज के १८९९ के वार्षिकोत्सव पर बिहार और बंगाल के प्रमुख आर्य सदस्यों ने प्रान्तीय आर्य सभा के संगठन पर विचार किया। उस समय तक कलकत्ता, आसनसोल, खड़गपुर, जमशेदपुर में तथा बिहार प्रान्त में १६ आर्यसमाज प्रचार के कार्य में लगे हुए थे। उपर्युक्त विचार के अनुसार ५ अक्तूबर, १९०४ को दानापुर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर विहार-बंगाल के प्रमुख आर्यों की बृहत् सभा में विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की घोषणा की गयी। इसके प्रथम प्रधान श्री बालकृष्ण सहाय वकील राँची और प्रथम मन्त्री श्री मिथिलाशरण सिंह निर्वाचित हुए। कलकत्ता के श्री शंकरनाथ पण्डित उपप्रधान तथा डॉक्टर लक्ष्मीपति दानापुर एवं बाबू शिवगोविन्द सिंह गया उपमन्त्री चुने गये। इस प्रतिनिधि सभा का कार्यालय आरम्भिक तीन वर्षों तक आर्यसमाज मन्दिर दानापुर में रहा। इसके बाद मन्त्री श्री मिथिलाशरण सिंह के मछुआ टोली(पटना) स्थित निवास-स्थान पर ले-जाया गया। १९१५ में इस कार्यालय को राँची तथा १९१८ में कलकत्ता स्थानान्तरित किया गया। १९२३ में बिहार उपप्रतिनिधि सभा का गठन दीघाघाट (पटना) स्थित विश्वकर्मा मिल में किया गया।

(२) दानापुर आर्यसमाज का कार्यकलाप

धर्म-प्रचार—दानापुर आर्यसमाज पिछली शताब्दी के अन्तिम तथा वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में काफी समय तक पूर्वी भारत में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना रहा। उस समय बिहार तथा बंगाल में आर्यसमाजों की संख्या बहुत ही कम थी, अतः पूर्वी भारत के नगरों में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का संचालन दानापुर आर्य-समाज से किया जाता था। यहाँ के आर्यसमाजी कार्यकर्ता अतीव उत्साही थे और बड़े जोश के साथ स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों और वैदिक धर्म का प्रचार किया करते थे। इनमें मास्टर जनकधारीलाल, श्री श्यामलाल चौधरी, मालिक पटना आयल मिल्स, और डॉक्टर लक्ष्मीपति प्रमुख उल्लेखनीय व्यक्ति थे। उन दिनों पटना में अरबी-फारसी के प्रमुख विद्वान् पण्डित भोजदत्त का बड़ा नाम था। वह मुसलिम मत के प्रधान आर्य-समाजी आलोचक थे। उनके सहयोगी ठाकुर तेजसिंह, नत्थासिंह और सुखलाल आदि अनेक व्यक्ति थे। इस समय पटना के श्री शिवनन्दन प्रसाद और मास्टर नारायणसिंह ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों में समाज का प्रचार किया। स्वामी मुनीश्वरानन्द आर्य-समाज के प्राण थे। उन्होंने पटना में अपना स्थायी आश्रम बनाया और सत्यार्थप्रकाश का प्रचार प्रारम्भ किया। उन दिनों हिन्दुओं में मुसलिम पीरों के मजारों की पूजा करने-वालों की पर्याप्त संख्या थी। वे इन्हें समझाया करते थे कि कब्र में दबे मुर्दों में वरदान देने की कोई शक्ति नहीं है, इनकी पूजा निरर्थक है। उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित इस कुप्रथा को हटाने का पूरा प्रयास किया।

उन दिनों आर्यसमाज का पौराणिक धर्म से प्रमुख मतभेद मूर्तिपूजा, श्राद्ध, अवतारवाद और जातपांत के प्रश्नों को लेकर था। इन सब विषयों पर कट्टरपंथी हिन्दुओं का सुदृढ़ विश्वास था। अतः आर्यसमाज के प्रचारक जब इन कुरीतियों की आलोचना करते थे, तो सामान्य जनता इसे सहन नहीं कर सकती थी। क्रुद्ध एवं रुष्ट होकर आर्य-समाज के उपदेशकों पर ईंट और पत्थर बरसाती थी। किन्तु, शनैः-शनैः हिन्दू जनता ने

यह अनुभव किया कि ईसाई और मुसलिम प्रचारक उनके धर्म और जाति को अज्ञात रूप से जो हानि पहुँचा रहे हैं वह आर्यसमाज की आलोचना की अपेक्षा उनके लिए कहीं अधिक भयंकर है। दुर्भाग्यवश इस समय हिन्दुओं के अनाथ बच्चों और भोलीभाली बालिकाओं का अपहरण बड़ी संख्या में किया जाता था। आर्यसमाज ने इनकी रक्षा के कार्य को भी अपने हाथ में लिया और इन्हें विधर्मियों के चंगुल से बचाने का सराहनीय कार्य किया। इस दृष्टि से विहार में आर्यसमाज के भक्त श्री नारायणसिंह (हीरे वाले) पहलवान का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने पटना में इस विषय में उल्लेखनीय कार्य किया और इसी कारण वे विधर्मियों के कुचक्रों का शिकार बन गये। ऐसी घटनाओं के परिणामस्वरूप हिन्दू जनता आर्यसमाज के महत्त्व को पहचानने लगी और उसका विरोध कम होने लगा।

शास्त्रार्थ—इस समय प्रचार का माध्यम वार्षिकोत्सव और शास्त्रार्थ थे। वार्षिकोत्सव में तो केवल आर्यसमाज के सिद्धान्तों को माननेवाले व्यक्ति सम्मिलित होते थे; किन्तु शास्त्रार्थों में सामान्य एवं दूसरे धर्मों में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे और इनपर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ता था। इस दृष्टि से १८६८ ई० का बाँकीपुर का शास्त्रार्थ उल्लेखनीय है। उन दिनों दानापुर के आसपास चक्रांकित पौराणिक सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ रहा था। दानापुर आर्यसमाज के सदस्य गाँवों में जा-जाकर इसकी पोल खोल रहे थे। इससे सनातनधर्मियों तथा आर्यसमाजियों में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। मुस्तफापुर-निवासी उत्साही आर्य सदस्य श्री शिवनन्दन मिश्र अपने साथियों के साथ ढिबरा, हसनपुरा आदि गाँवों में जाकर चक्रांकितों के विरुद्ध प्रचार-कार्य बड़ी प्रबलता के साथ कर रहे थे। इनके प्रतिरोध के लिए पौराणिकों ने यह उपाय सोचा कि दानापुर के आर्यसमाजी संस्कृत नहीं जानते हैं, अतः उन्हें संस्कृत में शास्त्रार्थ करने की चुनौती देकर हराया जाए। इस विचार से उन्होंने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ संस्कृत में करने के लिए चुनौती दी। ढिबरा गाँव में यह शास्त्रार्थ करने का निर्णय हुआ। किन्तु इस समय सौभाग्यवश आर्यसमाज की ओर से पण्डित शिवशंकर चौधरी काव्यतीर्थ, बाबू ब्रह्मानन्द, बाबूलाल और कृष्णलाल उपस्थित हो गये और पौराणिक लोगों को आर्यसमाज के साथ संस्कृत भाषा में किये गये शास्त्रार्थ में हार माननी पड़ी। इसके बाद अजबा गाँव के प्रतिष्ठित रईस श्री रघुनन्दन प्रसाद के अनुज लालबहादुर ने अपने यहाँ शास्त्रार्थ के लिए एक सभा बुलाई। अतिवृष्टि के कारण जब ये लोग यहाँ नहीं आ सके तो पुनः ढिबरा गाँव में एक शैव पण्डित श्री राजेन्द्राचारी ने आर्यसमाजियों के साथ संस्कृत में शास्त्रार्थ करने पर बल दिया। बाबू ब्रह्मानन्द ने पहले तो पौराणिकों को यह समझाया कि शास्त्रार्थ लोकभाषा में ही होना चाहिए ताकि सब लोग दोनों पक्षों की युक्तियों को भली-भाँति समझ सकें, किन्तु श्री राजेन्द्राचारी ने यह बात न मानते हुए संस्कृत में ही इसे करने का आग्रह किया, फिर भी वह शास्त्रार्थ में विजयी नहीं हो सके।

ढिबरा में परास्त हो जाने के बाद भी राजेन्द्राचारी ने यह कहा कि अब हम दानापुर आकर शास्त्रार्थ करेंगे। दानापुर के आर्यसमाजी उनकी चुनौती को कहीं भी और किसी भी क्षण स्वीकार करने को तैयार थे। पौराणिकों ने इस समय दानापुर आर्यसमाज के प्रधान श्री जनकधारीलाल और पण्डित रुद्रदत्त शर्मा के पास एक विज्ञापन भेजा कि आप बाँकीपुर स्टेशन के निकट लोहानीपुर बाग में आकर शास्त्रार्थ करें। दानापुर

के आर्य सज्जन श्री राजेन्द्राचारी के वचन के अनुसार दानापुर में शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु जब उन्हें इसके बाँकीपुर में होने की सूचना मिली तो वे वहाँ पहुँच गये। इस शास्त्रार्थ का विषय था—भगवान् के दशावतार और मूर्तिपूजा वेदशास्त्रानुकूल हैं या नहीं। पौराणिकों की ओर से शास्त्रार्थ करनेवाले अनेक पण्डितों के नाम विज्ञापन-पत्र में छापे गये। इनमें उल्लेखनीय नाम थे—सर्वश्री पण्डित अम्बिकादत्त व्यास साहित्याचार्य, सुदर्शनाचारी शास्त्री, मथुरा-निवासी विन्देश्वर दत्त शर्मा पटना कॉलिज, सुखवासी त्रिपाठी, रामनारायण शर्मा, रामप्रकाश, पुष्टिकर शर्मा, रामलोचन मिश्र। विज्ञापन छपवानेवालों ने आर्यसमाज पर प्रभाव डालने और अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाने के लिए ही इसमें उस समय के सभी प्रमुख पौराणिक पण्डितों के नाम छपवा दिये थे। किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम था कि पण्डित अम्बिकादत्त व्यास छपरा और भागलपुर में आर्यसमाजियों के साथ शास्त्रार्थ में हार चुके हैं और वे इनमें सम्मिलित नहीं होंगे। वह आर्यसमाज के पण्डित रुद्रदत्त शर्मा के साथ शास्त्रार्थ करने में घबराते थे। बाँकीपुर में आर्यसमाज की ओर से शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डित रुद्रदत्त शर्मा और श्री शिवशंकर चौधरी थे और पौराणिक पक्ष के प्रधान पण्डित श्री राजेन्द्राचारी थे। यहाँ पुनः श्री राजेन्द्राचारी आर्यसमाजियों से शास्त्रार्थ में हार गये। यह शास्त्रार्थ बड़े हो-हल्ले के साथ चार दिन तक चलता रहा। इसमें दानापुर आर्यसमाज के प्रधान आर्यसमाजी सर्वश्री बाबू जनकधारीलाल, लाल बाबू, ठाकुरप्रसाद शाह आदि सभी प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। पौराणिक पण्डित अपने पक्ष के समर्थन में मूर्तिपूजा का विधान करनेवाला एक भी वेदमन्त्र नहीं प्रस्तुत कर सके। अतः इसमें आर्यसमाज विजयी हुआ और सामान्य जनता में आर्यसमाज के प्रभाव में असाधारण वृद्धि हुई। आर्यसमाज के प्रचारकों को इससे देहाती क्षेत्रों में अपने प्रचार में बड़ी सफलता मिलने लगी।

सामाजिक सेवा—यह समाज जनकल्याण के कार्यों में सदैव अग्रणी रहा है। भूचाल, अकाल, बाढ़ आदि के भयंकर प्राकृतिक प्रकोपों के समय इसने सराहनीय ढंग से कार्य का संगठन किया है। १९३४ में बिहार में भीषण भूकम्प आया था। उस समय इस समाज ने प्रशंसनीय सहायता-कार्य किया। बिहार अपनी बाढ़ों के लिए प्रसिद्ध है। बाढ़ के अवसरों पर भी इस समाज द्वारा जनता की सेवा की जाती रही।

आर्यकुमार सभा और आर्यवीर दल – युवकों में आर्यसमाज के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के लिए इस समाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राष्ट्र की उन्नति युवा-वर्ग के चरित्र के बल पर निर्भर है। अतः इस समाज ने तरुणों के संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया। सर्वप्रथम दानापुर में सन् १९२४ में आर्यकुमार नामक सभा का संगठन किया गया। आर्यकुमार सभा के प्रथम मन्त्री श्री श्यामलाल शोभा थे और अन्य कार्यकर्ता तत्कालीन तरुण सर्वश्री शिवरतन लाल गुप्त, झरोखीलाल, राजेश्वर प्रसाद विद्यापति और रामप्रसाद बिहारी थे।

१९४२ में दिल्ली सार्वदेशिक सभा के निर्देश के अनुसार श्री ओम्प्रकाश त्यागी के नेतृत्व में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। इसमें देश के विभिन्न भागों से आनेवाले अन्य आर्य तरुणों के साथ बिहार के आर्य युवकों ने भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इनमें श्री रामलखन आर्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। केन्द्रीय शिविर में प्रशिक्षण पाने के बाद आरा की गुरुकुल-भूमि धनपुरा में बिहारप्रान्तीय

आर्यवीर दल का संगठन करके प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। इस शिविर में गया, पटना शहर, मानपुर, सहसराम, राजगृह चक, हजारीबाग, जमालपुर आदि स्थानों के अनेक युवकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। इस शिविर में सन्ध्या-हवन के साथ विभिन्न प्रकार के व्यायाम, लाठी-संचालन आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण पानेवालों में उल्लेखनीय नाम थे—सर्वश्री पन्नालाल गुप्त आरा, रामलखन आर्य गया, परमानन्द जमालपुर, रामचन्द्र आर्य पटना शहर, सरयू प्रसाद आरा। इन लोगों ने आरा के प्रशिक्षण-शिविर से शिक्षा ग्रहण करके अपने क्षेत्रों में आर्यवीर दल का संगठन किया।

अर्द्धशताब्दी महोत्सव—सन् १९२८ में दानापुर आर्यसमाज को स्थापित हुए ५० वर्ष पूरे हो गये थे। अतः इस उपलक्ष्य में दानापुर में आर्यसमाज का अर्द्धशताब्दी महोत्सव बड़ी धूमधाम से बड़े व्यापक और विशाल रूप से मनाया गया। इस अवसर पर स्वर्ण-जयन्ती का सप्तदिवसीय कार्यक्रम १५ अक्तूबर, १९२८ से आरम्भ हुआ। इसमें अनेक सम्मेलन बड़े उत्साह और उल्लासपूर्वक वातावरण में सम्पन्न किये गये। यह विहार के आर्यबन्धुओं का अद्वितीय और अभूतपूर्व समारोह था। इस शुभ अवसर पर आर्यसमाज के सभी बड़े नेता, विद्वान्, मूर्धन्य संन्यासी, उपदेशक, भजनीक यहाँ पधारे। आर्य प्रति-निधि सभा के तत्त्वावधान में एक विशाल आर्य सम्मेलन राजा साहब कालाकांकर की अध्यक्षता में किया गया। इस अवसर पर आर्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कालाकांकर के राजा विजयसिंह ने ऋषि दयानन्द के इस नगर में आगमन को स्मरण करते हुए आनन्दविभोर होकर कहा था—"दानापुर पूर्वी भारत के आर्यसमाज का सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान है।" भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने अछूतोद्धार-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए महर्षि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और दानापुर आर्यसमाज को विहार का पावन-पुण्य स्थल बताया। इस सम्मेलन के अवसर पर अछूतोद्धार को वास्तविक रूप देने के लिए जब सभा में एक भंगी के हाथ से जनता में जल बँटवाया जाने लगा तो सभा में भगदड़ मच गयी, बहुत-से लोग मेहतर के हाथ से जलग्रहण को पाप समझते हुए डरकर भागने लगे। इस समय डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने भंगी के हाथ से जल को बड़े प्रेम से ग्रहण किया और कहा कि "यह तो इस पावन तीर्थ का पवित्र जल है। इसे यहाँ सभी लोगों को ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार हम वास्तव में अछूतोद्धार के कार्य को सफल बना सकेंगे।" उनके इस भाषण का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थी की अध्यक्षता में एक समिति इस उद्देश्य से गठित की गयी कि यह अछूतों की समस्याओं का विवेचन करे और इस समस्या के निवारण के उपायों का निर्देश करे। सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन प्रधान महात्मा नारायण स्वामी की अध्यक्षता में प्रान्त भर से आये सभी प्रतिनिधियों एवं सदस्यों की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई। इस महान् समारोह को सफल बनाने में तत्कालीन मन्त्री पण्डित महादेवशरण, श्री गुरुप्रसादसिंह, छोटेलाल, ठाकुरप्रसाद तथा सिपाही-भगत का सहयोग उल्लेखनीय है।

स्वतन्त्रता-संग्राम में योगदान—महर्षि दयानन्द भारत में राष्ट्रीयता के अग्रदूत और राष्ट्रीय क्रान्ति के सूत्रधार थे। उनकी शिक्षाओं से आर्य बन्धुओं में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई। आर्यसमाजियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९३०, १९३२ और १९४२ में राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रचण्डता आयी

तो आर्यसमाज दानापुर के सदस्यों ने इसमें पर्याप्त भाग लिया। १९३० में राष्ट्रीय महासभा ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में सारे देश में ब्रिटिश सरकार द्वारा, गरीबों द्वारा प्रयोग किये जानेवाले नमक पर लगाये गये कर का विरोध करने के लिए जब नमक-कानून तोड़ने का कार्यक्रम घोषित किया, तो दानापुर आर्यसमाज ने इसमें प्रमुख भाग लिया । यहाँ नमक कानून भंग करने के लिए समाज के पुरोहित पण्डित रघुनाथमिश्र, डी० ए० वी० हाई स्कूल के तत्कालीन छात्र सर्वश्री डॉक्टर लालदास गुप्त, चन्द्रपति-प्रसाद, लालचन्द्र प्रसाद, त्रिशुनलाल आदि गिरफ्तार करके जेलों में बन्द कर दिये गये। इस समय नमक कानून का उल्लंघन करनेवाले अन्य बिहारी आर्य नेता थे—स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, पण्डित सुरेन्द्र शास्त्री, पण्डित वीरव्रत, ठाकुर यशपाल, डॉक्टर रामभजन गुप्त, मेहता चूड़ामणि वर्मा। १९३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में इस आर्यसमाज के पुरोहित दशरथ पाण्डे तथा सदस्य राजरूपसिंह, धनराज आर्य आदि को ब्रिटिश सरकार ने बन्दी बनाया। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में दानापुर आर्यसमाज द्वारा संचालित अनाथालय के प्रबन्धक सरयुग प्रसाद, आर्यसमाज के सदस्य रामप्रसाद-बिहारी तथा श्री रामरतन और डी० ए० वी० स्कूल के छात्र किशोरचन्द्र दास, जगदेव-सिंह आदि को जेल-यातना भोगनी पड़ी।

हैदराबाद का सत्याग्रह—१९३९ में हैदराबाद के निजाम ने हिन्दुओं और विशेष-कर आर्यसमाजियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये। यज्ञ-हवन, सत्संग आदि धार्मिक अनुष्ठानों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। महात्मा नारायण स्वामी के नेतृत्व में आर्य-समाज ने धार्मिक एवं नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह करने का निश्चय किया और इसके लिए सारे देश की आर्यसमाजों को सत्याग्रही जत्थे भेजने के लिए कहा गया। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने पण्डित वेदव्रत, भजनानन्द वानप्रस्थ तथा पण्डित सिद्धेश्वर प्रसाद शर्मा के नेतृत्व में सैकड़ों सत्याग्रही स्वयंसेवक हैदराबाद भेजे। इस सत्याग्रह में दानापुर आर्यसमाज ने प्रमुख भाग लिया। यहाँ से सहदेवलाल जी के नेतृत्व में एक जत्था भेजा गया। इसमें प्रमुख सत्याग्रही थे सर्वश्री सोहराईलाल, सरयुग सिंह, डॉक्टर रामदेव शर्मा और मनुलाल शर्मा।

सिन्ध में सत्याग्रह—सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार ने अपने प्रान्त में शान्ति-रक्षा के नाम पर २६ अक्तूबर, १९४४ को सत्यार्थप्रकाश के इस्लाम की आलोचना करने-वाले १४वें समुल्लास के प्रकाशन और मुद्रण पर पाबन्दी लगा दी। इससे सम्पूर्ण आर्य जगत् में बड़े क्षोभ और रोष की लहर दौड़ गयी। २ अगस्त, १९४४ को कराची में सार्व-देशिक सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी ने सत्याग्रह करने की घोषणा की। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस विषय पर दानापुर आर्यसमाज में प्रान्तीय सम्मेलन का आयोजन किया। दानापुर में आयोजित इस समारोह की अभूतपूर्व शोभा-यात्रा और बृहत् समारोह ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इसकी चर्चा आज तक होती है। इस सम्मेलन की अध्यक्षता तत्कालीन मध्य प्रान्त की विधान सभा के स्पीकर श्री घनश्याम-सिंह गुप्त ने की थी। बिहार ने सिन्ध प्रान्त में सत्याग्रह करने के लिए बड़ी संख्या में सत्याग्रही भेजने की तैयारियाँ आरम्भ कीं, किन्तु इसी बीच सिन्ध की सरकार ने सत्यार्थ-प्रकाश पर लगाया गया प्रतिबन्ध वापिस ले लिया।

दानापुर आर्यसमाज के अन्य कार्यकलाप—(१) शिक्षा संस्थायें—(क) संस्कृत

पाठशाला तथा स्कूल—महर्षि दयानन्दजी ने अपने जीवनकाल में फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, कासगंज, जलेसर तथा वाराणसी में संस्कृत पाठशालायें स्थापित की थीं, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के अध्ययन तथा संस्कृत के ज्ञान का प्रसार आवश्यक समझते थे। उन्होंने दानापुर के आर्य बन्धुओं को भी इस कार्य के लिए प्रेरणा दी। उनके परम भक्त बाबू माधोलाल ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आर्यसमाज दानापुर की ओर से सर्वप्रथम १८७९ में एक विद्यालय की स्थापना **आर्य संस्कृत पाठशाला** के नाम से समाज की स्थापना के एक वर्ष बाद की गयी। महर्षि के साथ बाबू माधोलाल का इस पाठशाला के बारे में पर्याप्त पत्राचार भी हुआ था। इस पाठशाला के प्रथम प्रधानाध्यापक बाबू माधोलाल थे। वह एक वर्ष तक इस पद पर रहे और इसके बाद १८८० से १९१८ तक जनकधारीलाल इसके द्वितीय प्रधानाध्यापक का कार्य करते रहे और यह विद्यालय उन्नति करते हुए एक उच्च विद्यालय के रूप में परिणत हो गया। १९१७ में यह कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुआ और उसकी मैट्रिक परीक्षा में यहाँ के विद्यार्थी बैठने लगे। इस विद्यालय में कलकत्ता विश्वविद्यालय के मैट्रिक के पाठ्यक्रम को पढ़ाया जाने लगा। सात वर्ष बाद १९२४ ई० में दयानन्द-जन्मशताब्दी के शुभ अवसर पर इसका नाम विधिवत् **दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल** घोषित किया गया।

इस हाई स्कूल के भवन-निर्माण में सर्वश्री सेठ श्यामलाल चौधरी, केदारनाथ साह, गुरुप्रसादसिंह, सिपाही भगत, रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह और मिथिलाशरणसिंह ने सराहनीय सहयोग दिया। इस विद्यालय के भवन का पूरा निर्माण-कार्य आर्यसमाज दानापुर द्वारा किया गया था। इसकी प्रबन्ध-व्यवस्था स्थानीय आर्यसमाज के अधीन है। इसके द्वारा चुने गये सदस्य ही स्कूल की प्रबन्धकारिणी समिति के अधिकारी होते हैं।

(ख) गुरुकुल की स्थापना—दानापुर आर्यसमाज के संस्थापक बाबू माधोलाल के सुपुत्र और समाज के तत्कालीन मन्त्री डॉक्टर लक्ष्मीपति ने १९१५ में विहार-बंगाल की संयुक्त प्रतिनिधि सभा में बड़े प्रभावशाली ढंग से गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के पुनरुज्जीवन तथा गुरुकुल की स्थापना का प्रस्ताव रखा। इसके परिणामस्वरूप दानापुर रेलवे स्टेशन के समीप मुस्तफापुर में **वेदरत्न** नामक विद्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्य में सर्वश्री रामावतार शर्मा वैद्य और उनके छोटे भाई पण्डित हरिनारायण शर्मा ने बड़ा सहयोग दिया। कुछ समय तक यह गुरुकुल डॉक्टर लक्ष्मीपति के संरक्षण में तथा पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी आदि अध्यापकों के नियन्त्रण में भली-भाँति चलता रहा। किन्तु कुछ समय बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि इसका वर्तमान स्थान गुरुकुल के समुचित विकास के लिए उपयुक्त नहीं है। यह चारों ओर से शहरी वातावरण से घिरा हुआ था और इससे बच्चों पर बुरे संस्कार पड़ सकते थे। संस्थापकों का यह विचार था कि यह गुरुकुल एक ऐसे एकान्त शान्त सुरम्य वातावरण में होना चाहिये जहाँ बच्चों पर वैदिक धर्म और संस्कृति के संस्कार निर्बाध रूप से अच्छी तरह अंकित किये जा सकें और वे नगरों के दुष्प्रभावों से मुक्त रहें। ऐसे स्थान की बिहार में खोज की जाने लगी और जब ऐसा स्थान बिहार के सुप्रसिद्ध तीर्थ वैद्यनाथ धाम के निकट रमणीक वातावरण में मिला, तो इस गुरुकुल का स्थानान्तर वहाँ कर दिया गया।

(ग) श्रीमद्दयानन्द अनाथालय—महर्षि दयानन्द सरस्वती के दानापुर में

पदार्पण के बाद यहाँ के सक्रिय एवं कर्मठ आर्यजनों के मन में एक ऐसी संस्था को स्थापित करने की भावना उत्पन्न हुई जिसमें अनाथ बच्चों का पालन-पोषण भली-भाँति हो सके, ताकि उन्हें ईसाइयों द्वारा किये जानेवाले धर्म-परिवर्तन से बचाया जा सके। उन दिनों अकाल एवं महामारी आदि के समय परित्यक्त एवं अनाथ होनेवाले बच्चों को ईसाई मिशनरी अपना लेते थे। अपनी संस्थाओं में उनका पालन-पोषण करते हुए उनपर बचपन से ही ईसाई धर्म के प्रभाव डालते थे और उन्हें ईसाई बना लेते थे। इस प्रकार हिन्दू जाति के लिए एक महान् संकट उत्पन्न हो गया था और हिन्दुओं की संख्या तेजी से घटने लगी थी। इस संकट से परित्राण पाने का एक प्रमुख उपाय आर्यसमाज द्वारा अनाथालयों की स्थापना थी।

दानापुर में इस प्रकार के अनाथालय के स्थापना की प्रेरणा देनेवाले बाबू माधोलाल जी के सुपुत्र श्री लक्ष्मीपति थे। उन्होंने अपने मन्त्रित्वकाल (१९०९-१९१३) में समाज के लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया, कि मातृ-पितृविहीन बालकों को ईसाइयत के प्रभाव से बचाने के लिए एक ऐसे अनाथालय की दानापुर में स्थापना की जानी चाहिए जहाँ ऐसे बच्चों का पालन-पोषण किया जाए और उन्हें बचपन से ही वैदिक धर्म और संस्कृति की शिक्षा दी जाए। अनाथ बच्चों को धर्म-परिवर्तन से बचाने के उद्देश्य से अनाथालय की स्थापना के उनके प्रस्ताव का सभी आर्यसमाजी बन्धुओं ने समर्थन किया और इसके लिए आवश्यक भूमि और आर्थिक सहायता सेठ श्यामलाल चौधरी ने प्रदान की। इनके द्वारा दी गयी गोला रोड की भूमि पर २६-८-१९०९ को श्रीमद्दयानन्द अनाथालय की स्थापना की गयी। सेठ श्यामलाल ने अपने जीवनकाल में अपनी समस्त भूमि का दान-पत्र लिखकर अनाथालय के मन्त्री डा० लक्ष्मीपति के नाम रजिस्ट्री करवा दी। अनाथालय का वर्तमान विशाल भवन भी चौधरी साहब द्वारा हीं बनवाया गया था। इसमें ४०-५० विद्यार्थियों को रखने की व्यवस्था है।

इस अनाथालय में १० वर्ष से कम आयु के बच्चे प्रविष्ट किये जाते हैं। उन्हें मैट्रिक तक की शिक्षा दी जाती है। १८ वर्ष की आयु पूरी करने पर ये बच्चे संस्था से अलग हो जाते हैं, किन्तु मेधावी तथा प्रतिभा-सम्पन्न बालकों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था रहती है। इसमें इस बात का प्रयास किया जाता है कि बच्चों को वैदिक संस्कृति के उच्च आदर्शों का अनुसरण करनेवाला विद्वान् नागरिक बनाया जाए। यहाँ के कुछ छात्रों ने बी० एस-सी० तक की शिक्षा प्राप्त की है।

इस अनाथालय के विकास में श्री ठाकुरप्रसाद जी का विशेष योगदान है। उन्होंने इसके लिए धनसंग्रह करने के निमित्त एक कर्मठ प्रचारक भी नियुक्त किया और इससे अनाथालय को पर्याप्त धन प्राप्त हुआ। सेठ श्यामलाल चौधरी ने इसकी भूमि देने के साथ-साथ स्वामी ध्रुवानन्दजी की प्रेरणा से एक यज्ञशाला भी बनवाई। आर्यसमाज के सभी यज्ञ इस विशाल यज्ञशाला में सम्पन्न होते हैं। पद्मभूषण डा० दुखनराम, भूतपूर्व प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रयास से इस संस्था को १०,००० रुपये का अनुदान बिहार कल्याण विभाग की ओर से प्राप्त हुआ। अनाथालय के प्रधान तथा मन्त्रीपद को दो दशकों तक सर्वश्री मथुराप्रसाद और श्री कैलाशप्रसाद बड़ी लगन, उत्साह, योग्यता और सफलता से सम्भालते रहे। इन दोनों पदाधिकारियों के कार्यकाल में इस संस्था की संचित स्थिर निधि में ५०,००० रु० की धनराशि जमा हुई। इस संस्था की विशेष उल्लेखनीय

बात यह है कि १६०६ में जब से यह अनाथालय स्थापित हुआ है उस समय से इसकी भूमि और प्रांगण राष्ट्रीय जागरण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान वना हुआ है, क्योंकि इस संस्था के विशाल मैदान को छोड़कर दानापुर में कोई ऐसा सार्वजनिक स्थान नहीं है जहाँ किसी बड़ी राजनैतिक या सामाजिक सभा की समुचित व्यवस्था की जा सके। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय में इस नगर की सभी बड़ी सार्वजनिक सभायें इस संस्था में ही की जाती रही हैं। यह अन्य आर्यसमाजों के लिए एक अनुकरणीय संस्था है और इसके द्वारा बिहार में अनाथ बच्चों को ईसाई वनने से रोकने के कार्य में पर्याप्त सफलता मिली है।

(घ) **साहित्य का सृजन और प्रकाशन**—दानापुर में आर्यसमाज द्वारा प्रकाशन का कार्य सर्वप्रथम १६१२ में शुरू किया गया था। उस समय आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता और सन् १६१४ से २० तक समाज के मन्त्री के रूप में कार्य करनेवाले श्री ठाकुरप्रसाद का निजी मुद्रणालय शाह प्रेस था। इसमें पण्डित ब्रह्मानन्द जी के सम्पादकत्व में आर्यसमाज के विचारों के प्रचार के लिए आर्यावर्त नामक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इससे पहले सर्वश्री बाबू माधोलाल, बाबू ठाकुरप्रसाद शाह, सहदेवलाल और गौरीलाल ने अपने-अपने समय में आर्यसमाज के विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तिकायें और ट्रैक्ट प्रकाशित किये थे।

दानापुर समाज में साहित्य-प्रकाशन के कार्य को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इसके प्रधान श्री हीरालाल राय को है। चिरकाल से उनकी यह अभिलाषा थी कि दानापुर आर्यसमाज के अधीन एक ऐसा प्रकाशन-विभाग चलाया जाए जिसमें आर्य साहित्य का ही प्रकाशन हो, जो अपने आधुनिक छपाई के साधनों से सुसम्पन्न हो और जिसका लक्ष्य आर्य साहित्य का प्रकाशन करके वैदिक धर्म का प्रचार करना हो। उन्होंने अपनी दिवंगत पत्नी श्रीमती वीरमती देवी की स्मृति में प्रकाशन के लिए एक संस्था **वीरमती देवी आर्य साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट** के नाम से स्थापित की और इस कार्य को करने के लिए आवश्यक धन-राशि भी प्रदान की और यह घोषणा की कि यह संस्था कुछ निर्देशों के अनुसार आर्यसमाज दानापुर के अधीन होगी। उस समय इसके ट्रस्टी सर्वश्री हीरालाल राय, डॉ० नन्दकुमार सिंह, पं० विभुमित्र शास्त्री, अमरनाथ सिंह, राव प्राणसिंह, विद्यापति, सत्यदेव प्रसाद गुप्त मन्त्री पदेन, जलधर प्रसाद, रामानन्द प्रसाद सिंह एवं रामानन्द थे। इस ट्रस्ट द्वारा पण्डित विभुमित्र शास्त्री द्वारा लिखित पुस्तक **दानापुर में ऋषि दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव** तथा यज्ञप्रसाद के नाम से एक अन्य छोटी-सी पुस्तक छप चुकी है। इन पुस्तकों की बिक्री से प्राप्त सारी राशि को ट्रस्ट के कार्यों में ही लगाया जाता है।

(३) बिहार के अन्य प्रमुख आर्यसमाज

मुंगेर आर्यसमाज—इसकी स्थापना १२ एप्रिल, १८९७ को मुंगेर के बड़ाबाजार में हुई थी। समाज-मन्दिर के भवन-निर्माण के लिए जनता से धन संग्रह किया गया। खगड़िया-निवासी श्री श्यामलाल तथा इस क्षेत्र के लोकप्रिय डॉ० गौरांग प्रसाद चटर्जी ने इसके लिए बड़ी उदारता से दान दिया और उनके दान से पहले समाज-मन्दिर की भूमि खरीदी गयी और उसके बाद यहाँ के सुप्रसिद्ध डॉ० कार्तिकदेव के आर्थिक सहयोग से एक विशाल सभा-भवन का निर्माण किया गया। पंजाब के महान् राष्ट्रीय नेता

के नाम पर इसका नाम लाजपत भवन रखा गया। डॉ० साहब बड़े कुशल शल्य-चिकित्सक थे। बिहार में अनेक स्थानों पर उच्च पदों पर कार्य करने के बाद उन्होंने काफी समय तक नेपाल राज्य में भी मेडिकल आफिसर के रूप में कार्य किया था। वे आजीवन मुंगेर आर्यसमाज तथा इसके साथ सम्बद्ध संस्थाओं के विकास में लगे रहे।

इस समाज के आरम्भिक वर्षों में पण्डित गौरीदत्त शर्मा ने यहाँ बड़े उत्साह से वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। सन् १९०५ में यहाँ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इस समाज ने वैदिक धर्म के प्रचार के अतिरिक्त अनाथों एवं विधवाओं की रक्षा की ओर भी ध्यान दिया। डॉ० कार्तिक प्रसाद देव ने इस सम्बन्ध में आर्यसमाज मुंगेर की बड़ी सहायता की। दुर्भाग्यवश डॉ० साहब की दो पुत्रियों का अकाल अवसान उनके जीवनकाल में ही हो गया। उन्होंने अपनी बड़ी कन्या की स्मृति में एक अनाथालय वनाने में सहायता दी। वड़ी बेटी सुमित्रा के नाम पर १९४२ में आर्यसमाज के तत्त्वावधान में **सुमित्रा आर्य अनाथालय** की स्थापना हुई। विधवाओं की रक्षा के लिए आर्यसमाज के अधीन एक विधवा आश्रम भी मुंगेर में खोला गया। डॉ० साहब विधवा स्त्रियों की दयनीय दशा में सुधार करना चाहते थे और उन्हें समाज की अन्य स्त्रियों की भाँति प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए इच्छुक थे। अतः उन्होंने समाज के माध्यम से इस कार्य को करना शुरू किया। इसके साथ ही तोपखाना बाजार मुंगेर में उन्होंने १९२२ में **आर्य कन्या विद्यालय** स्थापित किया। वे समाचारपत्रों के महत्त्व को भलीभाँति समझते थे। उनका यह विश्वास था कि इनके माध्यम से समाज में अशिक्षा और कुरीतियों को समाप्त किया जा सकता है। अतः उन्होंने बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा को एक प्रेस का दान किया जो बाँकीपुर के आर्यसमाज मन्दिर में स्थापित किया गया और वहीं से **आर्यावर्त** पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

डॉ० साहब का एक बड़ा कार्य मुंगेर में दयानन्द गढ़ी का निर्माण करना था। ४ अक्टूबर, १८७२ को मुंगेर की भूमि महर्षि दयानन्द सरस्वती के शुभागमन से पवित्र हुई थी। डॉ० साहब स्वामीजी के परम भक्त थे, उन्होंने स्वामीजी के निवास से पवित्र स्थान को क्रय करने के लिए स्वयं दान दिया और अन्य व्यक्तियों से सार्वजनिक चन्दा एकत्र किया। इस प्रकार प्राप्त धनराशि से पाँच बीघा भूमि खरीदकर इसमें आर्यसमाज का केन्द्र—दयानन्द गढ़ी के नाम से बनाया। इसमें एक यज्ञशाला और योग-साधना के लिए एक साधना-स्थल और गुहा बनी हुई है। डॉ० साहब आजीवन यहीं अपनी सन्ध्या और साधना करते रहे।

मुंगेर आर्यसमाज को श्री सत्यनारायण शर्मा ने एक भवन दान दिया। इसमें **स्वामी दयानन्द आर्य विद्या भवन** तथा **आर्य बाल निकेतन** नामक शिक्षा-संस्थायें चलायी जा रही हैं। ये दोनों बालकों को वैदिक संस्कृति के अनुकूल शिक्षा देने में संलग्न हैं।

मुंगेर आर्यसमाज के कार्यों से प्रभावित होकर जमुई के समीप सरलण्डा में २५ बीघे तथा घरहरा में ४ बीघे खेत समाज को दान में मिले हैं, जिनकी आय से अनाथों तथा विधवाओं की रक्षा की जाती है।

आर्यसमाज सीवान—इसकी स्थापना १८९८ ई० में हुई थी। यह बिहार की बहुत पुरानी समाजों में है। इसका भवन सार्वजनिक दान और सहायता से १९१५ ई० में बनकर तैयार हुआ। प्रारम्भ में इस समाज की स्थापना एवं विकास में सक्रिय सहयोग

देनेवाले सज्जनों में श्री रामहित राम, श्री रामजी शर्मा, श्री रामनारायण राम, श्री हरिनारायण राम के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं के प्रयास से पर्याप्त भूमि प्राप्त हुई है और यहाँ समाज की ओर से अनेक शिक्षा संस्थायें चलायी जा रही हैं। इनमें उल्लेखनीय प्रमुख संस्थायें हैं—डी० ए० वी० पाठशाला, डी० ए० वी० दलितोद्धार पाठशाला, डी० ए० वी० मिडिल स्कूल, डी० ए० वी० हाई स्कूल, आर्य कन्या मिडिल स्कूल, डी० ए० वी० कॉलिज, वैद्यनाथ पाण्डेय आर्य संस्कृत कॉलिज, आर्य कन्या उच्च विद्यालय, दयानन्द आयुर्वेदिक कॉलिज। इनके साथ ही यहाँ समाज की ओर से **श्री ब्रह्मानन्द विधवा अनाथ आश्रम** चलाया जा रहा है। इन संस्थाओं के विकास का सर्वाधिक श्रेय श्री वैद्यनाथ प्रसाद (दाढ़ी बाबा) को दिया जाना चाहिये।

हाथी टोला (मनेर) पटना आर्यसमाज—इसकी स्थापना का इतिहास बड़ा रोचक है तथा उन कष्टों और कठिनाइयों पर प्रकाश डालता है जो उस समय आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं को झेलनी पड़ती थीं। मनेर दानापुर के समीप है। १८९९ में जब वहाँ के समाज का वार्षिकोत्सव हुआ तो मनेर के कुछ व्यक्ति इसे देखने के लिए आये और वहाँ से सत्यार्थप्रकाश खरीदकर ले गये। इसे पढ़कर वे आर्यसमाजी बने और उन्होंने १८९९ में यहाँ आर्यसमाज की स्थापना की। इसके संस्थापकों में उल्लेखनीय थे—सर्वश्री ब्रजबिहारी लाल, ब्रजमोहनलाल, द्वारिकासिंह तथा बाबू फकीरचन्द शाह। श्री शाह की हाथीटोला-निवासी बाबू टीपन प्रसाद सिंह से प्रगाढ़ मैत्री थी। इनके सत्संग से बाबू टीपन प्रसाद पक्के आर्यसमाजी बन गये। बाबू टीपन प्रसाद के आग्रह से बाबू फकीरचन्द्र शाह आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वानों—स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द, स्वामी मुनीश्वरानन्द तथा पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी को हाथी टोला गाँव में आर्यसमाज का प्रचार करने के लिए बुलाते रहते थे। श्री रामचन्द्र द्विवेदी उन दिनों मनेर के सर्किल पण्डित अर्थात् उपविद्यालय निरीक्षक थे। वह कट्टर आर्यसमाजी थे। इन्होंने बाद में गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम की स्थापना में सहयोग दिया। इनकी प्रेरणा से मनेर में आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा वार्षिकोत्सवों का कार्य दुगुने उत्साह से चलने लगा। मनेर के कट्टर पौराणिक आर्यसमाज का प्रचार-कार्य बढ़ने से चिन्तित हुए। उन्होंने सनातनधर्म के प्रसिद्ध प्रचारक स्वामी आलाराम संन्यासी को मनेर में आर्यसमाज का विरोध करने के लिए निमन्त्रित किया। इनके साथ शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय हुई।

स्थानीय जनता पर इस शास्त्रार्थ का तथा आर्यसमाजी संन्यासियों और पण्डितों के उपदेशों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और इसके परिणामस्वरूप यहाँ आर्यसमाज की स्थिति सुदृढ़ हो गयी। आर्यसमाज के प्रचार के प्रभाव से यहाँ बाबू टीपन प्रसाद सिंह, द्वारिकासिंह रईस, बाबू जगदीशसिंह, बाबू रामानन्द सिंह पहलवान तथा रामप्यारेसिंह ने यज्ञोपवीत धारण किये। हाथी टोला के एक अन्य निवासी बाबू त्रिवेणीसिंह कट्टर पौराणिक मत के अनुयायी थे। उन्हें उपर्युक्त यादवों द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करना बहुत बुरा लगा। वे आसपास की बस्तियों में यादव जाति के मुखियाओं के घरों पर जाकर इनके जनेऊ लेने के विरुद्ध प्रचार करने लगे। इन्हें यज्ञोपवीत देनेवाले आर्यसमाजियों को उन्होंने गाली देना और नास्तिक कहना शुरू किया। आर्यसमाज के विरोध में लोगों को संगठित करने का प्रयास किया और इसके लिए एक विशाल सभा का

आयोजन किया।

इस सभा में २५ हजार यादव तथा अन्य जातियाँ सम्मिलित हुईं। यह इस प्रदेश में अपने समय का अनोखा जमघट था। इसमें यादवों के मुखिया लोगों के अतिरिक्त मनेर-निवासी पं० रायबहादुर दुबे और पं० भैरवीचरण मिश्रा भी उपस्थित थे। ये आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। इन व्यक्तियों को इस सभा में आर्यसमाज के विरोध में भाषण करने के लिए विशेष रूप से बुलाया गया था। इस सभा के आयोजन की सूचना जब मनेर-निवासी आर्यसमाजी बन्धुओं को मिली तो बाबू फकीरचन्द्र इस सभा में स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द, स्वामी मुनीश्वरानन्द और पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी के साथ आये, ताकि आर्यसमाज के विरोधियों को समुचित उत्तर दे सकें। इस सभा में जब स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द ने बोलने का कुछ प्रयास किया तो मनेर के बहादुर दूबे ने जनता में शोर मचाते हुए कहा कि यह साधु नास्तिक है और जनता को उनके विरुद्ध भड़काने के लिए यह भी कहा कि यह यादवों को अहीर घोंघा कहकर सम्बोधन करता है। इसके बाद दूबे जी ने जनता को स्वामीजी पर प्रहार करने के लिए संकेत किया। कुछ लोगों ने लाठी चलाना शुरू किया। स्वामीजी को हमले का निशाना बनाया गया। सौभाग्यवश हल्दीछपरा निवासी बहादुर राय पहलवान ने स्वामी सच्चिदानन्द महाराज की रक्षा बड़े साहस और वीरता के साथ की। वे उन्हें सभास्थल से बाहर ले आये। फिर भी स्वामीजी तब तक सिर पर कुछ चोट खा चुके थे और उनका खून भी काफी बहा था। सभास्थल से स्वामीजी बाबू टीपन प्रसाद के घर पहुँच गये। वहाँ कुछ आर्य-बन्धुओं ने यह सुझाव दिया कि हमला करनेवाले व्यक्तियों पर मुकदमा किया जाए, किन्तु स्वामी सच्चिदानन्द ने अपने गुरु महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं के अनुसार इसे अस्वीकार करते हुए कहा, "मैं लोगों को जेल से छुड़ाने आया हूँ, बन्द करने नहीं। आप याद रखिये जहाँ-जहाँ मेरा खून गिर रहा है, वहाँ-वहाँ आर्यसमाज का बगीचा लग रहा है। एक दिन ऐसा समय आयेगा कि यही विरोधी आप लोगों से यह आग्रह करेंगे कि उस स्वामीजी को बुला दो जिनको हम लोगों ने मारा था, उनके दर्शन करके हम अपने पाप का प्रायश्चित्त करेंगे।"

स्वामी सच्चिदानन्द की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। कुछ समय बाद विरोधियों का हृदय-परिवर्तन हुआ और सन् १९१८ में उन विरोधियों ने बाबू टीपन प्रसाद सिंह से आग्रह किया कि, "आप स्वामीजी को हमारे यहाँ निमन्त्रित करें। हम उनके दर्शन करना चाहते हैं।" १९१८ में हाथी टोला आर्यसमाज तथा आर्यकुमार सभा का उसव होनेवाला था। समाज की ओर से स्वामीजी के पास निमन्त्रणपत्र भेजा गया। स्वामी-जी उस समय बम्बई में थे। उन्होंने उत्तर दिया कि दानापुर आर्यसमाज के उत्सव पर जब जाऊँगा तभी वहाँ उन लोगों से भेंट हो जाएगी। स्वामीजी जब दानापुर समाज के जलसे पर आये, तो वहाँ उनका दर्शन करने के लिए उनके विरोधी बड़ी संख्या में गये और उनके दर्शन करके कृतकृत्य हुए।

आर्यसमाज खुसरूपुर (पटना)—इसकी स्थापना १९०३ ई० में हुई थी। इसकी स्थापना में सक्रिय सहयोग और आर्थिक सहायता सर्वश्री जमरूतलाल, कारूलाल, जग-रूपराम, लक्ष्मी महतो एवं बाबू रामदास ने दी। १९१९ में बिहार के सुप्रसिद्ध आर्य-संन्यासी स्वामी मुनीश्वरानन्द ने खुसरूपुर को अपना स्थायी निवासी बनाया। इनके

प्रभाव से बाबू रघुनन्दन प्रसाद ने आर्यसमाज के पावन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी सारी चल-अचल सम्पत्ति एक ट्रस्ट बनाकर खुसरूपुर आर्यसमाज को दान दे दी। इससे यहाँ अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई। २२ जून, १९१९ को **दयानन्द बाल विद्यालय** की और इसके बाद १९२४ में **दयानन्द कन्या विद्यालय** खुसरूपुर की स्थापना हुई। १९२३ में बाल विद्यालय का भवन बना। गोसम्वर्द्धन के लिए १० फरवरी, १९१९ को **श्री विजय गोरक्षिणी** नामक संस्था की स्थापना की गयी। ये सब संस्थायें बाबू रघुनन्दन प्रसाद के दान से चल रही हैं। इसके बाद यहाँ के एक अन्य कर्मठ दानवीर श्री रामदास ने अपनी समस्त चल-अचल सम्पत्ति **श्रीमद्दयानन्द संस्कृत वेद विद्यालय** के लिए खुसरूपुर आर्यसमाज को दान दी।

आर्यसमाज बाढ़ (पटना)—इसकी स्थापना १९०५ में हुई थी। इसकी स्थापना का श्रेय श्री लक्ष्मण प्रसाद को है। इस समाज का एक भव्य भवन आर्य महिला समाज-मन्दिर है। आर्यसमाज द्वारा संचालित संस्थाओं में आर्य कन्या विद्यालय, बाल विद्या-सदन और दातव्य औषधालय प्रमुख हैं।

आर्यसमाज बाँकीपुर (पटना)—आर्यसमाज बाँकीपुर की स्थापना खजांची रोड स्थित खजांची साहब के मकान में ५ मई, १९०८ को हुई थी। इसकी स्थापना में प्रमुख भाग श्री फकीरचन्द शाह और श्री रामखेलावन हकीम ने लिया था। एक वर्ष के भीतर इस समाज का अपना भवन बन गया। १०-२-१९०९ को इसका उद्घाटन हुआ। इसका दोमंजिला पक्का भवन निर्माण करने में सक्रिय सहयोग देनेवाले सर्वश्री राम बहादुर, ब्रजनन्दन सिंह, रायबहादुर बलीराम तनेजा, अर्जुनदास अग्रवाल, रामखेलावन और स्वामी मुनीश्वरानन्द महाराज थे। इसके बाद श्री कुनकुन शाह ने चार हजार रुपये की लागत से वैदिक हिन्दी पुस्तकालय के भवन का निर्माण कराया। आर्य कन्या पाठशाला के भवन का निर्माण रायबहादुर ब्रजनन्दन सिंह की प्रेरणा से हुआ। राजगुरु धुरेन्द्र-शास्त्री (बाद में स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती) के अनथक प्रयत्न से धुरेन्द्र व्यायामशाला और वैदिक हिन्दी पुस्तकालय का निर्माण और विकास हुआ। डॉ० सिंहेश्वर प्रसाद के प्रयास से आर्यकुमार सभा की स्थापना हुई। इस समाज द्वारा प्रतिवर्ष विधिवत् वेद-प्रचार सप्ताह, ऋषि-बोधोत्सव, ऋषि-निर्वाण-दिवस के आर्य पर्वों का आयोजन बड़ी धूमधाम से किया जाता रहा है।

आर्यसमाज खगड़िया, जिला मुंगेर—इसकी स्थापना ७ दिसम्बर, १९१३ को हुई थी। इसका अपना स्थायी भवन है। यह इसे दान में प्राप्त हुआ है। इसके द्वारा अनेक संस्थायें चलायी जा रही हैं। इनमें प्रमुख आर्य सभा, आर्य कन्या विद्यालय, मध्य विद्यालय तथा प्राइमरी पाठशाला हैं।

आर्यसमाज रोसड़ा (समस्तीपुर)—इसकी स्थापना १९१५ ई० में की गयी थी। समाज के लिए श्री रामबिलास जी द्वारा एक भूखण्ड दान दिया गया। इसपर इसके भवन का निर्माण किया गया।

आर्यसमाज भागलपुर—इसकी स्थापना १९१६ ई० में श्री शीतल प्रसाद वैद्य के प्रयास से हुई। मन्दिर के लिए भूमि का दान करनेवालों में श्री दीपनारायण सिंह, श्री अनिरुद्धप्रसाद और श्री महावीरप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय भागलपुर में तीन स्थानों पर समाजें हैं—दीपनगर (मंसूरगंज) और नाथनगर में तथा महिला आर्यसमाज

मण्डी चौक में है। ये सभी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रसार करने में लगे हुए हैं।

इस आर्यसमाज के सदस्यों ने वेद-प्रचार और धार्मिक क्षेत्र में कार्य करने के साथ-साथ १९३० तथा १९४२ के स्वाधीनता-संग्रामों में सक्रिय भाग लिया है। इस प्रकार के सदस्यों में सर्वश्री कविराज नरेन्द्रनाथ वैद्य, बनारसी गुप्त, ब्रजमोहन सहाय, रुद्रदत्त आर्य, तारकेश्वर प्रसाद वर्मा, निशिकान्त मिश्र, सत्यवती आर्य, जितेन्द्रकुमार मिश्र, सूर्य-नारायण मिश्र, राधेश्याम पाठक और परमानन्द गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। हैदराबाद-सत्याग्रह तथा पंजाब हिन्दी सत्याग्रह में भी इस समाज के कई व्यक्तियों ने जेल की यातनायें सही हैं।

सामाजिक सुधार में यह समाज अग्रणी है। इसने अस्पृश्यता का निवारण कर गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के आधार पर एक हरिजन तथा वैश्य कुल में उत्पन्न व्यक्तियों को समाज के पुरोहित-पद पर नियुक्त किया। महिलाओं को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने के साथ-साथ वेद के पठन-पाठन और यज्ञकार्य में समान अधिकार दिया। महिला आर्य-समाज मन्दिर की स्थापना में श्री महावीर प्रसाद की पत्नी तथा सत्यवती कपूर का नाम उल्लेखनीय है। नारियों की स्थिति सुधारने में भी इस समाज का कार्य महत्त्व का है। इसकी रिपोर्ट के अनुसार ८१६ नारकीय जीवन व्यतीत करनेवाली महिलाओं को सत्पथ पर लाया गया, ४९९ भूली-भटकी बालिकाओं को संरक्षण दिया गया और १९९ अपमानित महिलाओं को पुनः समाज में स्थान दिलाने का प्रयास किया गया, छुआछूत तथा अन्य कारणों से धर्म-बहिष्कृत ३१९ महिलाओं को तथा १४१ पुरुषों को वेद-मार्ग पर लाया गया, १९२ धर्मान्तरित नर-नारियों की शुद्धि की गयी और मुसलिम परिवारों की १३१ पथभ्रष्ट कन्याओं को उनके अभिभावकों के पास भेजा गया। महर्षि दयानन्द सरस्वती भागलपुर भी आये थे। उन्होंने यहाँ छत्रपति तालाब (मिरजानहाट) में जिस स्थान पर धार्मिक उपदेश दिये थे वहाँ आर्यसमाज ने यज्ञशाला का निर्माण किया है।

आर्यसमाज बक्सर—यहाँ १९१६ में सरकारी सेवा में कार्यरत श्री राम अनुग्रह-राय ने अपने सहयोगी श्री रामकिशोर पाण्डे और इन्द्रजीतलाल के साथ आर्यसमाज की स्थापना की। उनके दो पुत्र श्री रामचेतन राय और श्रीपति राय अभी तक आर्यसमाज के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। इस आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते रहे हैं और इनमें आर्यसमाज के प्रमुख नेता और आर्य संन्यासी सम्मिलित होते रहे हैं। इस समाज के कर्मठ सदस्य गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक श्री शिवचेतन राय ने हैदराबाद-सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लिया था। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन में इस समाज के सदस्यों ने सराहनीय भाग लिया। १९३६ में गोला बाजार के श्री राधामोहन जी के मकान में **आर्य विद्यालय** की स्थापना की गयी। इस समाज के सक्रिय कार्यकर्ताओं में सर्वश्री मदन प्रसाद उर्फ झूम बाबू, सुरेन्द्रनाथ जायसवाल, विश्वनाथ आर्य, गौरीशंकर-लाल, शारदा प्रसाद और शंकर प्रसाद जायसवाल के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री शारदा-प्रसाद ने १९४२ में **'भारत छोड़ो'**-आन्दोलन में बक्सर पुलिस स्टेशन पर तिरंगा झण्डा फहराया था।

आर्यसमाज हवेली खड़गपुर (मुंगेर)—इसकी स्थापना ऋषि-बोधोत्सव के पावन पर्व पर सन् १९२० ई० में हुई थी। इस समाज के संस्थापक श्री गिरीशचन्द्र पाल थे। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के प्रचार का प्रतिरोध करते हुए स्थानीय जनता को आर्य-

समाज में दीक्षित किया और उपनयन संस्कार करके यज्ञोपवीत धारण कराया। समाज ने आर्यसिद्धान्त, शास्त्री आदि वैदिक और धार्मिक परीक्षाओं का केन्द्र भी चलाया।

आर्यसमाज हरपुरजान (सारन)—इसकी स्थापना सन् १९२० में हुई थी। इसकी स्थापना की प्रेरणा देनेवाले और इसमें सक्रिय भाग लेनेवाले श्री कृष्ण बहादुर थे। इनका सारा जीवन आर्यसमाज को समर्पित था। इनके सहयोगी श्रीमती कान्तिसिंह, पूनम रानी, डॉक्टर शम्भूनाथ सिंह, नीलमसिंह, सुधीर सुधांशु थे। इस आर्यसमाज ने छुआछूत और जाति-भेद की कुप्रथा दूर करने का प्रयास किया है। तिलक तथा दहेज-प्रथा के विरुद्ध अभियान चलाया है; अन्तर्जातीय विवाह कराये हैं। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेनेवाले समाज के सदस्यों में डॉक्टर नरेन्द्रपाल सिंह, रामचन्द्र दास, राजेन्द्रपाल सिंह और जागेश्वर राय के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज नेमदारगंज (नवादा)—इसके संस्थापक श्री धर्मवीरलाल थे। यह कलकत्ता नगरी में स्वामी श्रद्धानन्द जी का प्रवचन सुनकर अतीव प्रभावित हुए और वहाँ से महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ लेकर जब अपने घर वापिस लौटे, तो वहाँ उन्होंने अपनी मित्रमण्डली में आर्यसमाज की विशेषताओं की चर्चा की। निकटवर्ती कई गाँवों की लगभग सभी जातियों के मुख्य प्रतिनिधियों को बुलाकर सम्मिलित सहभोज का आयोजन किया और सब लोगों को आर्यसमाज की विचारधारा से परिचित कराया और इसका अनुयायी बनाया। इस प्रकार उन्होंने यहाँ आर्यसमाज का आवश्यक प्रचार करने के बाद १९२२ में इसकी विधिवत् स्थापना की। आरम्भ में पौराणिक मतानुयायी लोगों ने इसका जोर विरोध किया और आर्यसमाज में सम्मिलित होनेवालों को अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया, किन्तु कुछ समय बाद यह विरोध कम हो गया। आर्य युवकों में आर्यसमाज के कार्य के लिए स्पर्धा होने लगी।

शुरू में आर्यसमाज का अपना भवन न होने के कारण लोगों के घरों और दुकानों में सत्संग लगाये जाते थे। बाबू पेरू साह ने समाज का भवन बनाने के लिए लोगों से धन संग्रह किया और स्वयं इसके लिए भूमिदान करके भवन-निर्माण कराया।

इस समाज के प्रधान कार्यकलाप आर्य विद्वानों द्वारा प्रचार-कार्य, नगर-कीर्तन, शोभायात्रा, निकटवर्ती गाँवों में प्रचार तथा नियमित साप्ताहिक सत्संग हैं। स्वामी अभेदानन्द, पं० सत्यव्रत, श्री रामजीवन शर्मा, स्वामी मुनीश्वरानन्द, पं० शान्तिप्रकाश आदि सुप्रसिद्ध उच्चकोटि के प्रचारकों तथा कुँवर सुखलाल आर्यमुसाफिर, ठाकुर रणजीतसिंह जैसे भजनोपदेशक यहाँ प्रचार-कार्य करते रहे हैं।

इस समाज ने अपने क्षेत्र में शुद्धि एवं सामाजिक कुरीतियों के निवारण का उल्लेखनीय कार्य किया है। यहाँ आस-पास के गाँवों में पशुबलि की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। विजयदशमी के पुण्य पर्व पर निरीह, निर्दोष पशुओं का वध किया जाता था। आर्यसमाज ने श्री रामचन्द्र शर्मा वीर के निर्देशन में अनेक गाँवों में इस प्रथा को अपने प्रबल प्रचार और प्रयत्न से बन्द करवाया। मद्य-निषेध कार्यक्रम में शराब की दुकानों पर धरना देकर लोगों को शराब न पीने की प्रेरणा दी गयी। मृतक-श्राद्ध एवं क्षौरकर्म (मुण्डन) का विरोध किया गया। एक स्थानीय नव-मुसलिम को सपरिवार २६ वर्ष बाद मथुराप्रसाद आर्य तथा श्री रामप्रसाद मास्टर ने शुद्ध किया तथा सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ में इसके साथ सहभोज एवं प्रसाद-वितरण का सफल आयोजन किया।

इस समाज का एक विशेष कार्यक्रम सहभोजों द्वारा छुआछूत के भेदभाव का निवारण करना रहा है। दहेज-प्रथा के विरुद्ध अभियान किया जा रहा है। समाज के सदस्यों ने हैदराबाद सत्याग्रह तथा गोरक्षा आन्दोलन में भाग लिया है। इस समाज के पुराने कर्मठ कार्यकर्ताओं और प्रेरणा देनेवालों में श्री धर्मवीरलाल, श्री पेरू साह, तथा श्री जगन्नाथ-प्रसाद आर्य प्रमुख हैं।

आर्यसमाज गोपालगंज—१९२२ में स्थापित इस समाज की प्रगति में विशेष योगदान श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी, श्री दीनानाथ, श्री रामबृक्ष प्रसाद एवं हरिनन्दन पाण्डेय का है। इस समाज द्वारा एक डी० ए० वी० उच्च विद्यालय, मध्य विद्यालय और प्राइमरी विद्यालय चलाये जा रहे हैं।

आर्यसमाज जगदीशपुर (रोहतास)—१९२३ ई० में श्री राधाकृष्ण पाण्डेय ने अपनी भू-सम्पत्ति में से ४ कट्टा जमीन देकर आर्यसमाज मन्दिर की स्थापना और निर्माण कराया था।

(४) मुजफ्फरपुर आर्यसमाज

प्राचीन मिथिला और वैशाली की सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले तिरहुत (तीरभुक्ति) डिविजन के प्रधान केन्द्र मुजफ्फरपुर में महर्षि दयानन्द का शुभागमन नहीं हुआ था। वे अपने जीवनकाल में पटना, आरा, भागलपुर, मुंगेर, दानापुर में ही गये थे, उत्तरी बिहार की भूमि उनके प्रचार से वंचित रही। यहाँ नवजागरण और सुधार के विचार देर से पहुँचे। अतः इस क्षेत्र में पौराणिक धर्म की बड़ी प्रबलता थी। मूर्ति-पूजा, छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, जातिभेद आदि की कुप्रथायें प्रचलित थीं। पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही शिक्षित नवयुवकों के हृदय में विदेशी शासन और परम्परागत धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति असन्तोष, रोष और आक्रोश की भावनायें उत्पन्न होने लगीं। डिविजन का केन्द्र होने के कारण यहाँ अदालतों में वकीलों की संख्या अधिक थी। इनमें कुछ जागरूक और सुधारवादी वकीलों का झुकाव आर्यसमाज की ओर था। इनमें श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त मूलतः दानापुर के निवासी थे। दानापुर में आर्यसमाज का प्रचार होने के कारण वचपन में इनपर आर्यसमाज का अच्छा प्रभाव पड़ा था। इन्होंने महर्षि के ग्रन्थों का भी स्वाध्याय किया। जब वह वकालत के लिए मुजफ्फरपुर आये तो अपनी मित्र-मण्डली में वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज-सम्बन्धी विषयों की चर्चा करने लगे। इस चर्चा में श्री देवनारायण गुप्त, पण्डित आत्माराम पंजाबी, श्री महादेवलाल वर्मा आदि अनेक मित्र भाग लिया करते थे। कुछ दिनों बाद इसी मित्र-मण्डली ने आर्यसमाज की स्थापना की। किन्तु समाज के नियमों और उद्देश्यों के अनुकूल विधिवत् समाज का कार्य नहीं चलाया जा सका और यह संस्था एक वाद-विवाद-सभा की भाँति कुछ दिन चलकर शिथिल और निष्क्रिय हो गयी। फिर भी उपर्युक्त सज्जन वैदिक चर्चा और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार की आवश्यकता अनुभव करते रहे। यह घटना १९१५ के लगभग की है।

(क) आर्यसमाज के संस्थापक—इसी समय मुजफ्फरपुर में कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रयास से आर्यसमाज की स्थापना को बल मिला। इनमें पहले व्यक्ति मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिविजन में अवस्थित एकारा ग्राम-निवासी ठाकुर रामनन्दन सिंह थे।

आप मोतिहारी के सर्वे सेटलमेंट विभाग में काम करते थे। आपने महर्षि द्वारा बनाये सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों को पढ़ा और आपकी यह दृढ़ धारणा हो गयी कि आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म के प्रचार से ही देश और जाति की उन्नति तथा कल्याण हो सकता है। अतः आपने अपना समस्त जीवन महर्षि के पद-चिह्नों पर चलकर बिताने की प्रतिज्ञा की और बाद में आप पण्डित सत्यव्रत महोपदेशक के नाम से विख्यात हुए। आपने इस प्रदेश में आर्यसमाज की स्थापना, उन्नति और प्रचार में बड़ा सहयोग दिया।

दूसरे सज्जन मुजफ्फरपुर के आमगोला नाम मुहल्ले के श्री मुन्नीलाल साहू थे। यह कलकत्ता में नौकरी करते थे। वहाँ इनका कुछ आर्यसमाजी सज्जनों से सम्पर्क हुआ और आपने सत्यार्थप्रकाश का गम्भीर अध्ययन किया। शीघ्र ही इनकी वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में दृढ़ आस्था हो गयी। कुछ समय बाद नौकरी छोड़कर आप अपने घर मुजफ्फरपुर चले आये और अपने साथ आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **सत्यार्थप्रकाश** और **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** भी लेते आये। इनके आने से मुजफ्फरपुर आर्यसमाज की स्थापना को यहाँ बड़ा प्रोत्साहन मिला।

इसी आमगोला मुहल्ले में बाबूलाल साहू नामक एक धर्म-प्रेमी सज्जन रहते थे। यह दिनभर बेंतसाजी का काम करते और शाम के समय पास-पड़ोसवालों को रामायण, सुखसागर, प्रेमसागर आदि धार्मिक ग्रन्थों की कथायें सुनाया करते थे। इसलिए इनका घर आमगोला मुहल्ले में एक धार्मिक केन्द्र बन गया। सर्वश्री द्वारिकाप्रसाद ठाकुर और भृगुनन्दन गुप्त जैसे कुछ नौजवान भी इस धार्मिक चर्चा में सम्मिलित होते थे। उन दिनों चारों ओर पौराणिक धर्म का जोर था। मूर्तिपूजा, हरिकीर्तन, रामलीला, रासलीला पौराणिक धर्म के विशेष अंग समझे जाते थे। कलकत्ता से लौटने पर मुन्नीलाल साहू ने बाबूलाल साहू के घर पर एकत्र होनेवाले व्यक्तियों की गोष्ठी में पौराणिक मत का खण्डन शुरू किया और साथ ही एक अखाड़ा खोदकर वे स्थानीय नवयुवकों को व्यायाम की शिक्षा देने लगे। कुछ दिनों के सत्संग के बाद यहाँ आनेवाले नवयुवकों में वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगा। यहाँ आनेवाले नवयुवक सर्वश्री द्वारिका-प्रसाद ठाकुर, ऊधव साहू, रामनारायण ठाकुर तथा श्री भृगुनन्दन गुप्त के हृदय में अपना एक संगठन बनाने की इच्छा बलवती होने लगी। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति आर्यसमाज के प्रतिकूल थी। अतः इन युवकों को अपने संगठन के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने में लगभग पाँच वर्ष लग गये।

(ख) आर्य नवयुवक समिति—२२ जून, १९२२ को श्री भोला साहू के निवास-स्थान पर लगभग ५० नवयुवक एकत्र हुए। इनकी सभा ने सर्वसम्मति से यह निर्णय किया कि **आर्य नवयुवक समिति** नामक संस्था की स्थापना की जाय।

लगभग छह महीने तक श्री भोला साहू के निवासस्थान पर प्रति रविवार को सायंकाल समिति का साप्ताहिक अधिवेशन और सत्संग नियमित रूप से होता रहा। इसमें उपस्थिति निरन्तर बढ़ती चली गयी और यह स्थान साप्ताहिक अधिवेशन के लिए छोटा प्रतीत होने लगा। इस समिति का स्थान अन्यत्र ढूँढ़ा जाने का प्रयास शुरू हुआ। इस समिति के प्रधान श्री ऊधव साहू ने अपना मकान इस कार्य के लिए प्रदान करके इस समस्या का समाधान कर दिया। कार्यालय की कार्यवाही के संचालन के लिए कुछ व्यक्तियों ने डेस्क, कुर्सी और मेज दान में दीं। इस समिति के रविवारीय कार्यक्रम इतने

आकर्षक होने लगे कि जिज्ञासु सदस्य रविवार आने की प्रतीक्षा किया करते थे और बड़ी श्रद्धा से अपने-अपने घरों से समिधा, हवन-सामग्री, घृत आदि आवश्यक सामग्री लाया करते थे। साप्ताहिक सत्संग में सत्यार्थप्रकाश का पाठ और उसकी व्याख्या श्री द्वारिका-प्रसाद ठाकुर के द्वारा सम्पन्न होती थी।

(ग) **आर्यसमाज की स्थापना**—आर्य नवयुवक समिति की स्थापना के ११ महीने बाद १९२३ के मई मांस में एक दिन पं० सत्यव्रत वानप्रस्थ (पूर्वनाम ठाकुर रामनन्दन-सिंह, जो बाद में स्वामी ईश्वरानन्द बने) गुरुकुल हरपुरजान के निमित्त धन संग्रह करने के लिए मुजफ्फरपुर आये। उन्हें यह पता लगा कि स्थानीय आमगोला मुहल्ले में एक आर्य नवयुवक समिति बनी हुई है। अगले ही दिन वह इसके प्रधान श्री ऊधव साहू के घर पर उनसे मिले और समिति के कार्यकर्ताओं से बातें करने के बाद एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। इसमें पण्डित सत्यव्रत का "गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली और आर्य-समाज के उद्देश्य" विषय पर बहुत ही प्रभावशाली और ओजस्वी भाषण हुआ। इस सभा के समाप्त होने पर पण्डित जी ने समिति के सदस्यों को कहा कि समिति का क्षेत्र अब बहुत बढ़ गया है, इसे व्यापक क्षेत्र में कार्य करना है। अतः इस समिति को आर्यसमाज के रूप में परिणत कर दिया जाना चाहिये। समिति के सदस्यों ने पण्डित जी के इस विचार का अनुमोदन किया और मई, १९२३ में आर्य नवयुवक समिति का नवीन नाम-करण आर्यसमाज कर दिया गया, जिसके प्रधान श्री ऊधव साहू तथा मन्त्री श्री रामफल-सिंह चुने गये।

विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना होने के बाद यहाँ साप्ताहिक सत्संगों के अति-रिक्त अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाएँ भी आर्यसमाज द्वारा की जाने लगीं। अनाथों, विधवाओं की रक्षा, लावारिस मृतकों की अन्त्येष्टि आदि जो कार्य पौराणिक समाज द्वारा नहीं किये जा रहे थे, वे सब अब आर्यसमाज द्वारा किये जाने लगे। अक्टूबर, १९२३ में यहाँ आने पर पण्डित सत्यव्रत ने समाज के अधिकारियों को वार्षिकोत्सव करने की प्रेरणा दी और अगले २५ वर्ष तक मृत्युपर्यन्त वह इसके सभी कार्यकलापों में गहरी दिल-चस्पी लेते रहे। यह सत्य ही कहा जाता है कि मुजफ्फरपुर आर्यसमाज के पहले २५ वर्षों का इतिहास उनके चारों ओर चक्कर काटता है।

(घ) **आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव**—पण्डित सत्यव्रत जी की प्रेरणा से १६, १७, १८, १९ दिसम्बर, १९२३ को इस समाज का पहला वार्षिकोत्सव और पहला शास्त्रार्थ हुआ। मुसलमानों को ज्यों ही आर्यसमाज के उत्सव की सूचना मिली तो उन्होंने समाज को मुबाहसा करने के लिए चुनौती दी और अपनी ओर से बिहार शरीफ के मौलवी जमील अहमद साहब को बुलाया। आर्यसमाज की ओर से पण्डित रामचन्द्र देहलवी आमन्त्रित किये गये। इन दोनों का शास्त्रार्थ आज भी यहाँ के पुराने लोगों द्वारा स्मरण किया जाता है। यह तत्कालीन ईसाई लाट पादरी मिस्टर ई० जूडा की अध्यक्षता में हुआ और इसमें उन्होंने आर्यसमाज को विजयी घोषित किया। पहले उत्सव पर पण्डित अयोध्याप्रसाद वैदिक रिसर्च स्कालर, पण्डित शिवशंकर शर्मा वेदाचार्य, पण्डित रामावतार शर्मा वेदतीर्थ और स्वामी मुनीश्वरानन्द जैसे आर्यसमाज के दिग्गज विद्वान् उपस्थित हुए। इस वार्षिकोत्सव पर अछूतोद्धार सम्मेलन रखा गया और इसमें न केवल अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के विषय पर प्रभावशाली भाषण दिये गये, अपितु एक विशाल सभा में

डोमों और मेहतरों के हाथ का जल भी वितरित किया गया ताकि अस्पृश्यता के निवारण में विश्वास रखनेवाले इसे चरणामृत के समान ग्रहण करें। यह तत्कालीन बिहार में आर्यसमाज की एक नवीन सामाजिक क्रान्ति थी। इसके साथ ही इस समय १६ विधर्मियों की शुद्धि करके उन्हें वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया गया।

ऐसे कार्यों से स्थानीय पौराणिक जनता आर्यसमाजियों से बड़ी कुपित एवं रुष्ट हुई। आर्य बन्धुओं को स्वजनों का तिरस्कार एवं सामाजिक बहिष्कार और अत्याचार भी सहना पड़ा। इस समय जहाँ एक ओर इस आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं को अपनी बिरादरी के संकीर्ण क्षेत्र में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, वहाँ दूसरी ओर उन्हें कुछ प्रमुख स्थानीय प्रतिष्ठित पुरुषों, रईसों और धनीमानियों की व्यावहारिक सहानुभूति और सहयोग भी मिला। इसी कारण ये कार्यकर्ता बड़े उत्साह से अपने कार्य में लगे रहे। इस प्रकार से आर्यसमाज के सहायकों में रायबहादुर श्यामनन्दन सहाय, रायबहादुर उमाशंकर प्रसाद, रायबहादुर टुनकी साह, श्री गोपालदास चौधरी, रायबहादुर श्री कृष्णदेव नारायण महथा, श्री दुर्गादास सोंधी, श्री लक्ष्मानारायण तिवारी, डॉक्टर ईश्वरदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मुजफ्फरपुर का आर्यसमाज अपने आरम्भिक कार्यों के लिए रायबहादुर श्यामनन्दन सहाय का विशेष आभारी है। वह समाज को प्रचुर मात्रा में आर्थिक और बौद्धिक सहायता देते रहे। पहले वार्षिकोत्सव का ऐतिहासिक अछूतोद्धार सम्मेलन इन्हीं की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था।

१९२४ के दिसम्बर मास में इस समाज का दूसरा वार्षिकोत्सव हुआ। इस बार मुसलमानों ने शास्त्रार्थ के लिए सियालकोट (अविभाजित पंजाब, पाकिस्तान) के मौलवी इब्राहीम साहिब को बुलाया। आर्यसमाज की ओर से पुनः पण्डित रामचन्द्र देहलवी बुलाये गये। दो दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा, किन्तु मौलवी साहब के विषयान्तर में भटकते रहने से अन्तिम निर्णय नहीं हो सका। फिर भी कट्टर-से-कट्टर मुसलमान इस शास्त्रार्थ से इतने प्रभावित हुए कि कहने लगे—"या खुदा! अगर इस इन्सान (पण्डित रामचन्द्र-देहलवी) को तूने मुसलमान बनाया होता तो इस्लाम का बेड़ा पार हो जाता।" इस शास्त्रार्थ से जनसाधारण पर आर्यसमाज का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया। नगर के प्रतिष्ठित एवं शिक्षित समुदाय की गहरी सहानुभूति आर्यसमाज के साथ हो गयी। अब पण्डित सत्यव्रत के निर्देशन एवं सहयोग से समाज के अधिकारी अन्य उपदेशकों तथा भजनोपदेशकों को बुलाकर मुहल्ला-प्रचार, ग्राम-प्रचार और मेलों आदि में प्रचार का सफल आयोजन करने लगे।

आर्यसमाज द्वारा जिन अनाथों, विधवाओं की रक्षा होती थी उनके लिए १९२५ ई० में समाज के अन्तर्गत एक विधवा अनाथ रक्षिणी सभा का संगठन किया गया। इसके प्रधान आर्यसमाज के प्रधान श्री ऊधव साहू हुए। इन्होंने अपने निवासस्थान को समाज-मन्दिर के लिए दिया और घर में स्त्रियों के निवासस्थान को आश्रम के रूप में परिणत किया और स्वयं अन्तर्जातीय विवाह करके सामाजिक क्रान्ति का व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत किया। समाज में कोई स्थायी कोष न होते हुए भी अपने पास से समाज के उपदेशकों और पण्डितों का स्वागत-सत्कार और भोजन की व्यवस्था करते हुए इन्होंने आर्यसमाज की सेवा में अपने व्यवसाय की ओर भी समुचित ध्यान नहीं दिया।

८, ९, १०, ११ जनवरी, १९२६ को आर्यसमाज का तीसरा वार्षिकोत्सव बड़ी

धूमधाम से मनाया गया। इस समय तक आर्यसमाज का प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि वार्षिकोत्सव में १० हजार तक की संख्या में श्रोता उपस्थित होकर वैदिक धर्म का सन्देश बड़ी श्रद्धा के साथ सुनते थे। इस उत्सव की एक उल्लेखनीय घटना कृष्णमाया नामक नेपाली लड़की के उद्धार की है। यह विधर्मियों द्वारा अपहृत करके रेलवे स्टेशन की ओर ले-जायी जा रही थी। इस समाचार को जब वार्षिकोत्सव के पण्डाल में वैदिक धर्मोपदश का अमृतपान करती हुई जनता ने सुना तो वह पण्डाल छोड़कर स्टेशन की ओर भागी। कन्या की रक्षा आर्यसमाज द्वारा की गयी। इसके बारे में सरकारी अदालत में मुकदमा भी चला। न्यायालय ने इस कन्या को स्थानीय आर्यसमाज की संरक्षकता में सौंपने का निर्णय किया और इसका पुनर्विवाह एक सम्पन्न पंजाबी खत्री के साथ करा दिया गया।

इस घटना से हिन्दू समाज में आर्यसमाज की प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हुई और उसे हिन्दू हितों का प्रबल संरक्षक समझा जाने लगा। इस वार्षिकोत्सव पर आर्यसमाज का तीसरा शास्त्रार्थ पौराणिक पण्डित देवीकान्त के साथ हुआ। इसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री प्रधान प्रवक्ता थे। इस शास्त्रार्थ के अध्यक्ष एवं निर्णायक राय-बहादुर श्यामनन्दन सहाय ने आर्यसमाज को विजयी घोषित किया।

(ङ) आर्यकुमार सभा—सन् १९२७ में पण्डित सत्यव्रत वानप्रस्थ की प्रेरणा से प्रभावित होकर कुछ छात्रों ने आर्यकुमार सभा की स्थापना की। इसके संस्थापकों में सर्वश्री डॉक्टर द्वारिकाप्रसाद साहू, भृगुनन्दन गुप्त एवं पन्नालाल आर्य के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके प्रयत्न से ओरियण्ट क्लब के पीछे १० कट्ठे जमीन खरीदी गयी। इसपर आजतक आर्यकुमार विद्यामन्दिर चलाया जा रहा है। इसी साल वैदिक साहित्य में अभिरुचि बढ़ाने और स्वाध्याय-प्रेमी लोगों को वैदिक पुस्तकों की सुविधा प्रस्तुत करने की दृष्टि से आर्यसमाज के अधीन एक वैदिक पुस्तकालय की स्थापना की गयी। अनेक सदस्यों ने अपनी व्यक्तिगत पुस्तकें पुस्तकालय को दीं। विशेष धन संग्रह करके वैदिक धर्म की अनेक पुस्तकें मँगाई गयीं। श्री गोपाल चौधरी (तीसी के आढ़तवाले) ने अपने उदार दान से कई सौ रुपये मूल्य के वेदभाष्य और अन्य आर्ष ग्रन्थ मँगाकर पुस्तकालय को प्रदान किये। इस समाज के पुस्तकालय में वैदिक धर्म की पुस्तकों का सुन्दर संग्रह है।

१९२९ तक आर्यसमाज स्थानीय स्कूलों एवं कॉलिजों के विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो चुका था। इसके विचारों और उपदेशों से प्रभावित स्थानीय जिला स्कूल के छात्रों ने एक नवयुवक दल की स्थापना की। पहले यह केवल विभिन्न धार्मिक और सामयिक विषयों पर वाद-विवाद करनेवाली वाग्वर्द्धिनी सभा मात्र थी, किन्तु कुछ समय बाद युवकों ने इसे ठोस समाजसेवी संस्था के रूप में परिणत किया और नवयुवक दल को **आर्य नवयुवक दल** का नया नाम दिया गया।

(च) वैमनस्य के वर्ष—१९२९ से १९३४ तक का काल मुजफ्फरपुर आर्यसमाज के इतिहास में वैमनस्य, पारस्परिक मनोमालिन्य और संघर्ष का समय था। इस समय यह दलबन्दी की दलदल में फँस गया। कार्यकर्ताओं के आपसी मतभेदों से आर्यसमाज का कार्य शिथिल हो गया।

किन्तु १५ जनवरी, १९३४ के भीषण भूचाल की महान् विपत्ति आर्यसमाज के लिए वरदान सिद्ध हुई। भूकम्प-पीड़ित, आश्रयहीन भूखे-नंगे अनाथ बच्चों, विधवाओं

और कष्टपीड़ित व्यक्तियों की सेवा के लिए आर्यसमाज के कार्यकर्ता आपसी मतभेद भुलाकर एक हो गये और राहत-कार्य में जुट गये और इस भीषण संकट का वीरता एवं साहस से सामना करने लगे। इस भूकम्प का प्रभाव उत्तरी बिहार पर अधिक हुआ था। मुजफ्फरपुर का सारा नगर डेढ़ मिनट में खण्डहर बन गया। ६-७ हजार व्यक्ति मकानों के मलवे के नीचे दबकर मर गये। बचे हुए व्यक्ति घरबाररहित हो गये। शहर की सारी सम्पत्ति खण्डहरों में दब गयी। किन्तु सौभाग्यवश अधिकांश आर्य बन्धुओं और आर्य परिवारों की इस भीषण प्रलय में भगवान् ने रक्षा की और वे भूकम्प-पीड़ितों की सहायता का कल्याणकारी कार्य पूरी शक्ति के साथ करने लगे। इस कार्य को व्यवस्थित रूप से करने के लिए **आर्यसमाज रिलीफ सोसायटी** का निर्माण किया गया। इसे उत्तरप्रदेश, पंजाब, बंगाल आदि की आर्यसमाजों से धन, वस्त्र तथा अन्य आवश्यक सामग्री एवं कार्यकर्ताओं की बहुमूल्य सहायता मिली। यह सोसायटी पाँच महीने तक अनेक केन्द्रों में भूकम्प-पीड़ितों की सहायता का काम करती रही। इससे आर्यसमाज में नूतन प्राणसंचार हुआ।

भूकम्प के सहायता-कार्य में आर्यसमाज के विभिन्न दलों के सब कार्यकर्ता एक हो गये और इसका कार्य समाप्त होने पर मई में यह निर्णय किया गया कि सब आर्यजनों की एक केन्द्रीय समाज बनायी जाए। इसका नवीन निर्वाचन किया गया। समाज के पुराने सेवक कर्मठ कर्यकर्ता श्री द्वारिकाप्रसाद ठाकुर प्रधान और भृगुनन्दन गुप्त मन्त्री निर्वाचित हुए। नवीन अधिकारियों ने सर्वप्रथम समाज-मन्दिर के निर्माण की ओर ध्यान दिया। इसके लिए १९३५ में सरैयागंज धिरनीपोखर के निकट २ कट्ठे भूमि की रजिस्ट्री करायी गयी और १७ मई से १९ मई तक कई वर्ष बाद आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इसके बाद समाज-मन्दिर के निर्माण का कार्य सम्पन्न किया गया और इसके पूर्ण होने पर ३१ मई, १९३६ को बिहार के सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी अभेदानन्द (तत्कालीन पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थ) को बुलाकर आर्यसमाज के भवन की वस्तुप्रतिष्ठा (उद्घाटन) बड़े समारोह के साथ की गयी।

(छ) शास्त्रार्थ युग की समाप्ति—१९३७ में वार्षिकोत्सव को नये ढंग से मनाने का निश्चय किया गया। अब यह कार्यक्रम ११ दिन का रखा गया। शुरू में ७ दिन तक वेद की कथा स्वामी शिवानन्द करते रहे और इसके बाद चार दिन तक विशाल पण्डाल में आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वानों एवं उपदेशकों के व्याख्यान और भजन होते रहे। स्थानीय पौराणिक मतानुयायी सनातनधर्मी जनता ने आर्यसमाज के बढ़ते हुए प्रभाव का निराकरण करने के लिए काशी से पण्डित गंगाविष्णु शास्त्री और पण्डित बच्चूसूर को बुलाया। इनके भाषण २३ से २६ दिसम्बर तक होते रहे। जब पण्डित गंगाविष्णु शास्त्री ने अपने भाषणों में आर्यसमाज की आलोचना की और उसपर व्यंग्य करते हुए शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी तो आर्यसमाज तुरन्त इसके लिए तैयार हो गया। उसने शास्त्रार्थ की तिथि और समय निश्चित करने की माँग की। पहले तो शास्त्री जी इसे टालते रहे, किन्तु काफी लिखा-पढ़ी के बाद उन्होंने २७ दिसम्बर, १९३७ को प्रातः दस बजे का समय शास्त्रार्थ के लिए निश्चित किया। नियत समय पर लोग शास्त्रार्थ के लिए सभा में एकत्र हुए, किन्तु शास्त्री जी बहुत टालमटोल करने और देर लगाने के बाद ही सभा-मंच पर उपस्थित हुए। इस सभा में आर्यसमाज की ओर से शास्त्रार्थ करनेवाले गुरुकुल कांगड़ी के सुप्रसिद्ध स्नातक पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी कानपुरवाले थे। इस शास्त्रार्थ में विवाद का विषय

था—पुराण. वेद के प्रतिकूल हैं या अनुकूल। आर्यसमाज पुराणों को वेदविरुद्ध मानता था।। इस विषय पर पण्डित गंगाविष्णु को नियमानुसार शास्त्रार्थ करने को कहा गया, किन्तु उन्होंने जनता के कोलाहल व अशान्ति और किसी विश्वसनीय योग्य मध्यस्थ के अभाव का बहाना बनाकर पौराणिकों की ओर से शास्त्रार्थ को स्थगित करवा दिया। यद्यपि यह शास्त्रार्थ नहीं हुआ, फिर भी इससे साधारण जनता को आर्यसमाज की विजय का पूरा विश्वास हो गया। यह उस समय का अन्तिम शास्त्रार्थ था। इसके बाद शास्त्रार्थों का युग लगभग समाप्त हो गया। इन शास्त्रार्थों के महत्त्व और जनता पर पड़नेवाले प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए आर्यसमाज ने अपने १५वें वार्षिकोत्सव पर सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-विजेता पण्डित रामचन्द्र देहलवी को स्वर्णपदक से सम्मानित किया।

(ज) हैदराबाद सत्याग्रह तथा आर्यवीर दल—१९३९ में आर्यसमाज ने अपने धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए महात्मा नारायण स्वामी के नेतृत्व में हैदराबाद में सत्याग्रह आरम्भ किया। मुजफ्फरपुर के आर्य बन्धुओं ने इसमें १६०० रु० की धनराशि एकत्र करके सत्याग्रहियों के साथ भेजी।

१९४० में यहाँ आर्यवीर दल की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में श्री पन्नालाल आर्य, श्री हरिनारायण चौधरी और श्री योगेन्द्र प्रसाद चौधरी उल्लेखनीय हैं। इनके प्रयास से आर्य वीरों द्वारा विभिन्न मेलों में प्रचार और सेवा का कार्य कई वर्षों तक चलता रहा।

१९४२ में आर्यसमाज मुजफ्फरपुर की स्थापना एवं कार्यकलापों में प्रमुख भाग लेनेवाले पण्डित सत्यव्रत ने महात्मा नारायण स्वामी से संन्यास की दीक्षा ली और वह स्वामी ईश्वरानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका कार्यक्षेत्र मुजफ्फरपुर और उसके आस-पास का प्रदेश था। १९४५ में वह २४ से ३० अगस्त तक होनेवाले वेदप्रचार-सप्ताह के लिए यहाँ आये। २७ अगस्त तक वह यहाँ कथा करते रहे। वेदप्रचार-सप्ताह के अन्तिम दिन अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने भाषण दिया, किन्तु इसके बाद उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और २२ सितम्बर को उनका निर्वाण हुआ। वह आर्यसमाज के लिए जिये और उसके लिए ही मरे। अतः उनके देहावसान के बाद समाज के पुस्तकालय का नाम आपके कार्यों की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए ईश्वरानन्द वैदिक पुस्तकालय रखा गया और बाद में यहाँ ईश्वरानन्द आर्य कन्या पाठशाला स्थापित हुई।

(झ) रजत जयन्ती—१९४८ में आर्यसमाज मुजफ्फरपुर की रजत जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गयी। इस अवसर पर विगत २५ वर्ष के कार्यकलापों का इतिहास 'जयन्ती स्मारक ग्रन्थ' के रूप में प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक श्री रामरीझन-रसूलपुरी हिन्दी भूषण थे। इसमें समाज की २५ वर्षों की सेवाओं का विस्तृत वर्णन करते हुए बताया गया था कि इस अवधि में समाज ने ५०९ शुद्धियाँ कीं, २७ अछूतोद्धार सम्मेलन किये, ६०४ अन्तर्जातीय विवाह कराये, २१७७ अनाथ विधवाओं की रक्षा की, ७ अन्तर्जातीय सहभोज कराये और ३१८ लावारिस मुर्दों का अंत्येष्टि संस्कार कराया। इसी अवधि में २२ वार्षिकोत्सव हुए, ६२ मेलों में प्रचार किया गया और ३११ गाँवों में वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया गया। आर्यसमाज के रजत जयन्ती समारोह में सरस्वती-सम्मेलन तथा राष्ट्रभाषा सम्मेलन आयोजित किए गये। इसमें आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध

नेता सर्वश्री चाँदकरण शारदा, स्वामी अभेदानन्द, रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह, पण्डित महादेव शरण, पण्डित वासुदेव शर्मा, स्वामी सत्यदेव और पण्डित रामनारायण शास्त्री के भाषण हुए।

सन् १९७५ में मुजफ्फरपुर आर्यसमाज ने आर्यसमाज स्थापना शताब्दी का उत्सव धूमधाम से मनाया था। उसमें सत्तर वर्ष से अधिक आयु के उन आर्य कार्यकर्ताओं का विशेष रूप से सम्मान किया गया था, जिनका आर्यसमाज के कार्यकलाप में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा था। ऐसे कुछ सज्जनों का परिचय मुजफ्फरपुर आर्यसमाज के इतिहास के लिए उपयोगी है।

१८९९ में जन्मे ७७ वर्षीय **श्री ऊधव साहू** का परिवार कबीरपंथी था। अतः आप बचपन से धार्मिक आडम्बर, पाखण्ड, छुआछूत और जातपाँत के विरोधी थे। इसी बीच अपने कलकत्तावासी मित्र श्री महेन्द्र के सम्पर्क से आपने महर्षि के ग्रन्थ—सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्राप्त किये। इनके पढ़ने से आपको आर्य-समाज के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और १९१८ से आप दानापुर आर्यसमाज के उत्सवों में सम्मिलित होने लगे और घर पर आसपास के बच्चों को एकत्र कर पुस्तकों की सहायता से सन्ध्या तथा अग्निहोत्र करने लगे। आपमें आर्यसमाज के पत्रों को पढ़ने की बड़ी तीव्र आकांक्षा थी। आम के व्यापारियों को आम के पत्ते बेचने पर आपको जो राशि मिलती थी, उससे आप आगरा से छपनेवाले सुप्रसिद्ध पत्र **आर्यमित्र** को मँगवाया करते थे। पहले यह बताया जा चुका है कि १९२२ में आर्यसमाज स्थापित होने पर आप उसके पहले प्रधान चुने गये थे और इतने अधिक वर्षों तक आपने इस पद को अलंकृत किया कि आपका उपनाम ही प्रधान हो गया था। शुद्धि, अछूतोद्धार, अनाथों, विधवाओं और अबला नारियों की रक्षा के लिए आपने बड़ा सराहनीय कार्य किया।

७६ वर्षीय श्री खूबलाल शाह १९२२ से आर्यसमाज का कार्य कर रहे हैं। आप का कण्ठ मधुर है और आपने भजनों के माध्यम से आर्यसमाज के विचारों का बड़ा प्रचार किया है। श्री भृगुनन्दन गुप्त शुद्धि के कारण आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। आप १९३५ में आर्यसमाज के मन्त्री बने। घिरनीपोखर की भूमि की रजिस्ट्री आपके प्रयत्नों से हुई। हैदराबाद और पंजाब हिन्दी रक्षा आन्दोलन के सत्याग्रहों में आपने प्रमुख भाग लिया। शुद्धि के कार्य में आपकी विशेष रुचि रही है। हिन्दू अनाथालय, आर्यकुमार विद्या-मन्दिर आदि संस्थाओं के निर्माण में आपका प्रशंसनीय योगदान है। ७८ वर्षीय श्री द्वारिकाप्रसाद ठाकुर ने १९१४-१५ से दानापुर आर्यसमाज के उत्सवों में जाना शुरू किया। आप पर स्वामी मुनीश्वरानन्द एवं स्वामी अनुभवानन्द के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा। मुजफ्फरपुर आर्यसमाज के पिछले ५३ वर्षों में चालीस वर्ष तक आप इसके मन्त्री, प्रधान तथा अन्य अधिकारी रहे हैं। आर्यसमाज का वर्तमान दोमंजिला भवन आपके अविरत उद्योग का परिणाम है। ७४ वर्षीय श्री बच्चूसिंह मास्टर १९३५ से आर्य-समाज के सम्पर्क में हैं और इसके विविध कार्यक्रमों में पूरी दिलचस्पी और उत्साह से भाग लेते रहे हैं। ७० वर्षीय श्री युगलकिशोर शास्त्री आर्यसमाज से बहुत पुराना सम्बन्ध रखते हैं। वह इस संस्था के लेखा-निरीक्षण करते रहे हैं। वृद्धावस्था में आपने सिद्धान्त-शास्त्री की परीक्षा देकर सफलता प्राप्त की है। इस समाज के अन्य उल्लेखनीय कार्यकर्ता श्री रामगोपाल आर्य, श्री पूर्ण चन्द्र एवं श्री रामकृष्ण, श्री रामेश्वर प्रसाद आर्य, श्री

ओमप्रकाश ब्रह्मचारी और श्री अशर्फीप्रसाद आर्य हैं।

(ञ) संस्थायें—आर्यसमाज मुजफ्फरपुर द्वारा संचालित निम्नलिखित संस्थाओं की स्थापना सन् १९४७ से पूर्व हो चुकी थी—

(१) ईश्वरानन्द आर्य कन्या विद्यालय—यह १९४५ में स्वामी ईश्वरानन्द जी की स्मृति में स्थापित किया गया था। १९६२ तक यह विद्यालय समाज-मन्दिर में ही चलता रहा, और इसका संचालन आर्यसमाज की एक उपसमिति द्वारा १९६४ तक किया जाता रहा। इसके बाद यह नगरपालिका के संरक्षण में चला गया। इसका उद्देश्य कन्याओं में आर्य-धर्म के संस्कारों को सुदृढ़ बनाना था। शनिवार का यज्ञ इस विद्यालय में विशेष समारोह से किया जाता रहा है।

(२) बाल विकास आश्रम—१९२५ से यह विधवाओं और अनाथों की रक्षा, दलितोद्धार और मृतक-संस्कार जैसे सामाजिक कार्य कर रहा है। अनेक अनाथ बच्चे इसके संरक्षण में पलकर योग्य नागरिक बने हैं। किन्तु अब कुछ वर्षों से इस संस्था का कार्य बन्द है।

(५) बिहार के अन्य आर्यसमाज

आर्यसमाज वैरगनिया, सीतामढ़ी—(क) स्थापना—इसके संस्थापक श्री भोलाराम चौधरी थे। आप अपने व्यापार के लिए जब तत्कालीन संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) तथा राजपूताना (राजस्थान) में गये तो मथुरा, आगरा, अलवर, अजमेर आदि स्थानों में आपको आर्यसमाजों के अधिवेशनों में सम्मिलित होने तथा आर्य बन्धुओं से मिलने पर वैदिक धर्म का परिचय मिला। इनसे आपको बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई। घर लौटने पर आपने नियमित रूप से दैनिक हवन-यज्ञ द्वारा महर्षि के सन्देश को अपने साथियों और मित्रों में फैलाना शुरू किया और यहाँ आर्यसमाज की विचारधारा शनैः-शनैः प्रबल होने लगी। इसी समय गोरखपुर से एक आर्य संन्यासी स्वामी सच्चिदानन्द वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए वैरगनिया पधारे। इस समय तक महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन शुरू हो चुका था और अयोध्यालाल नाम सज्जन अपने सरकारी कॉलिज की पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय विद्यालय के शिक्षक के रूप में यहाँ कार्य करने लगे थे। स्वामी सच्चिदानन्द परिव्राजक और अयोध्यालाल जैसे व्यक्तियों की प्रेरणा से श्री भोलाराम चौधरी तथा उनके साथियों ने १९२३ में यहाँ आर्यसमाज की स्थापना की। इसके अन्य संस्थापकों में सर्वश्री लक्ष्मीप्रसाद, आनन्द चित्तराम आर्य, मंगलराम, रामबृक्षराय और रामप्रताप ठाकुर थे। शनैः-शनैः इस समाज के सदस्यों में वृद्धि होने लगी।

(ख) डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना—श्री अयोध्यालाल ने १९२० ई० के असहयोग आन्दोलन में कॉलिज छोड़कर इस स्थान के प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री युगलकिशोर प्रसाद की प्रेरणा से वैरगनिया को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उन्होंने सरकारी विद्यालयों के विरोध में यहाँ एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किया और वह इसके प्रधान अध्यापक बने। यह विद्यालय यहाँ न केवल कांग्रेस की गतिविधियों का, अपितु आर्यसमाज के कार्यकलापों का प्रमुख स्थान चिरकाल तक बना रहा। बाद में जवनरी, १९३१ में इस विद्यालय का नाम दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल रख दिया गया।

(ग) आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण—आर्यसमाज का कार्य बढ़ने पर इसके लिए

अपने भवन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। श्री लक्ष्मीप्रसाद ने इसके लिए १४ कट्टे जमीन खरीदकर उसमें दो कच्चे कमरे बनवा दिये। १९३६ में उन्होंने अपनी ओर से ही इसमें एक पक्का भवन बनवाया और उनकी मृत्यु के बाद उनके पिता श्री रामरुचराम जी ने धन संग्रह करके आर्यसमाज के मन्दिर-निर्माण का कार्य पूरा किया। कुछ समय बाद यहाँ श्री जगतनारायण जायसवाल ने डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय एवं श्री नरसिंह प्रसाद आर्य ने शिशु विकास विद्यालय की स्थापना की। इनमें बच्चों की शिक्षा और चरित्र के निर्माण का कार्य बड़े सुन्दर ढंग से किया जाता है और समय-समय पर विद्यालय में वैदिक रीति से हवन, यज्ञ आदि का आयोजन होता है।

(घ) **गुरुकुल महाविद्यालय**—इस आर्यसमाज ने न केवल डी० ए० वी० स्कूल स्थापित किया, अपितु गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की एक संस्था स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया। इस समाज के मन्त्री श्री लक्ष्मीप्रसाद ने अपनी मृत्यु से पहले गुरुकुल स्थापित करने के लिए दो एकड़ जमीन दान देने और उसपर गुरुकुल के भवन बनवाने का संकल्प किया था और अपने मित्रों से इसकी चर्चा की थी। उनके देहावसान के बाद उनके पिताजी ने अपने पुत्र के स्वप्न को साकार किया। दो एकड़ जमीन और उसपर गुरुकुल के लिए भवन बनवाकर उन्होंने इसकी रजिस्ट्री गुरुकुल ट्रस्ट कमेटी के नाम कर दी। इसके साथ ही वैरगनिया के मुखिया श्री देवकीनन्दन जायसवाल ने गुरुकुल के लिए १० एकड़ भूमि और १० हजार रुपये दान देने की घोषणा की। आर्यसमाज ने इसके संचालन के लिए संचालन-समिति का निर्माण किया और इस प्रकार यहाँ गुरुकुल की योजना मूर्तरूप धारण करने लगी।

(ङ) **प्रचार-कार्य**—यह आर्यसमाज अपने स्थापना-समय से न केवल साप्ताहिक सत्संगों और वार्षिकोत्सवों द्वारा जनता में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहा है, अपितु यह इस क्षेत्र में मनियारी, सोनपुर, सीतामढ़ी, बेतिया, गुड़नावा, वसवरिया आदि स्थानों में होनेवाले मेलों में शिविर खोलकर भजनोपदेश और व्याख्यान कराता रहा है। सार्वदेशिक सभा के अनुदान से इस समाज द्वारा कई वर्षों तक गौर बाजार (नेपाल) में एक दातव्य औषधालय और दयानन्द आर्य विद्यालय चलाया जाता रहा है।

इस समाज ने आर्यजगत् द्वारा संचालित विभिन्न सत्याग्रहों में भाग लिया है। हैदराबाद-सत्याग्रह में आर्यसमाज वैरगनिया की ओर से दो सत्याग्रही श्री ईश्वरदत्त और श्री लक्ष्मण भेजे गये थे।

आर्यसमाज रक्सौल (पूर्वी चम्पारण)—भारत और नेपाल की सीमा पर स्थित इस समाज की स्थापना १९२५ ई० में हुई थी। इसकी स्थापना के साथ एक ऐसी घटना जुड़ी हुई है जिसने उस समय इस छोटे-से स्थान के कुछ प्रगतिशील विचार रखनेवाले व्यक्तियों को इस बात की प्रेरणा प्रदान की। उस समय तक यहाँ झोपड़ियों में कुछ छोटी दुकानें थीं और छपरा जिले से सर्वश्री हरिनारायण गुप्त, ब्रह्मदेवराम, सीताराम और उन्नाव से मुन्नालाल अपने साथ आर्यसमाज के नये विचारों को लाये थे। किन्तु यहाँ के स्थानीय निवासी प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों और विश्वासों के जाल में फँसे हुए थे। उस समय यहाँ परीक्षण नाम का एक व्यक्ति मुसलमान हो गया। १९२५ के आरम्भ में वह उपर्युक्त सज्जनों के सुझाव से पुनः हिन्दू बनने के लिए तैयार हुआ। १९२५ के एप्रिल महीने में इसके शुद्धि संस्कार के लिए एक सभा हुई। इसमें सर्वश्री लक्ष्मीप्रसाद,

हरिनारायण प्रसाद गुप्त, मुन्नालाल, दरोगालाल आदि सज्जन उपस्थित हुए। संयोगवश इसी समय आर्यसमाज के प्रचारक स्वामी सत्यानन्द अपने प्रचार-कार्य से यहाँ पहुँचे। उन्होंने यह शुद्धि संस्कार सम्पन्न कराया। परीक्षण शुद्ध होकर पुनः हिन्दू बना और इस अवसर पर स्वामी सत्यानन्द के आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर कई व्याख्यान हुए। इनमें उन्होंने रक्सौल में आर्यसमाज बनाने पर बल दिया। तदनुसार इसकी स्थापना होने पर श्री लक्ष्मीप्रसाद इसके पहले प्रधान चुने गये।

इस अवसर पर आर्यसमाज ने कलवार जाति के कुछ व्यक्तियों को यज्ञोपवीत धारण कराये। पौराणिक पण्डितों द्वारा इसका घोर विरोध किया गया। उनके प्रभाव से शुद्धि संस्कार और यज्ञोपवीत के कार्यक्रम में भाग लेनेवाले व्यक्तियों का सामाजिक वहिष्कार शुरू किया गया। लक्ष्मीप्रसाद एवं दरोगालाल के घर के लोगों ने भी उनका वहिष्कार कर दिया। अतः इन लोगों को इस समय काफी संघर्ष में से गुजरना पड़ा। कुछ दिनों तक ये घर छोड़कर वीरगंज और वेतिया आदि स्थानों पर भटकते रहे। किन्तु इनका जितना विरोध और बहिष्कार हुआ, रक्सौल आर्यसमाज की नींव उतनी ही मजबूत होती चली गयी। ये आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में लगे रहे और अन्त में हार मानकर पौराणिक पण्डितों ने अपना विरोध छोड़ दिया।

अब आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होने लगे। एक अंग्रेज एडवर्ड से खरीदी गयी जमीन में आर्यसमाज की झोंपड़ी खड़ी की गयी। उसी झोंपड़ी में एक पुस्तकालय भी बनाया गया। आर्यसमाज के सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। रक्सौल आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाने लगे। शुद्धि-संस्कार, अनाथालय, पुस्तकालय, वैदिक धर्म-प्रचार के कार्य बड़े उत्साह से चलाये जाते रहे। इसी बीच समाज के दो अधिकारियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण समाज की पहले खरीदी हुई जमीन को बेचना पड़ा और चन्दा करके १९४४ में समाज के लिए विहार बैंक से सात कट्टे जमीन खरीदी गई और एक कट्टे से अधिक जमीन जीतनारायण स्वर्णकार ने दान में दी।

१९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में आर्यसमाज के सदस्यों ने प्रमुख भाग लिया। सर्वश्री गौरीप्रसाद, मदनमोहन गुप्त, दरोगालाल, रघुनाथप्रसाद, ब्रह्मदेव राम, सीताराम आदि सदस्य स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े। इनमें से कई लोगों ने जेल-यातनायें भी सहीं।

१९४६ में रक्सौल में आर्यवीर दल की शाखा स्थापित हुई। इसने युवकों में अनुशासन एवं चरित्र-निर्माण का कार्य उत्तम रीति से किया। सर्वश्री रामाज्ञा ठाकुर, श्री रामचन्द्र साह आदि नवयुवकों ने बड़े उत्साह से कई वर्षों तक आर्यवीर दल का कार्य किया।

नेपाल की सीमा पर स्थित होने के कारण यह समाज नेपाल से राजनैतिक कारणों से निष्कासित व्यक्तियों का आश्रय-स्थल रहा है। इस समाज ने राणाशाही के चंगुल से नेपाल को मुक्त कराने में अपना योगदान दिया है। इस आर्यसमाज ने सुदूर दक्षिण के हैदराबाद में धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए लड़े गये सत्याग्रह-संग्राम में भी अपने सत्याग्रही भेजे।

आर्यसमाज कोआथ (रोहतास)—इसकी स्थापना सन् १९२६ में समाज सुधा-

एक हकीम मथुराप्रसाद के अथक प्रयास से हुई थी। १९२८ में इनके निधन के बाद प्रमुख कार्यकर्ता थे—सर्वश्री पण्डित देवधर शर्मा तर्कशास्त्री, कुलदीप नारायण आर्य, सूबेदार शास्त्री। काव्यतीर्थ पण्डित सीताराम शर्मा आर्यसमाज के प्रधान रहे। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, प्रधान दक्षिण अफ्रीका आर्य प्रतिनिधि सभा तथा पण्डित अयोध्या प्रसाद वैदिक रिसर्च स्कालर के पुरुषार्थ से इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार हुआ। इसके प्रभाव से यहाँ बाल-विवाह और छुआछूत कम हो गयी है और विधवा-विवाह का प्रचलन बढ़ गया है।

आर्यसमाज मधुबनी—इसकी स्थापना १९२५ में हुई थी। इस समाज ने हरिजनों में वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य किया है और अछूतोद्धार के कार्यक्रमों में भाग लिया है। इस समाज ने हैदराबाद सत्याग्रह में भाग लेने के लिए सत्याग्रहियों को भेजा था। इस प्रदेश ने आर्यसमाज को कई सुप्रसिद्ध विद्वान् और प्रचारक प्रदान किये हैं। इनमें सर्वश्री शिवशंकर शर्मा, धुरेन्द्र शास्त्री तथा सत्यव्रत के नाम प्रमुख हैं। इस समाज के सक्रिय कार्यकर्ताओं में सर्वश्री पन्तपाल, राजपाल, देवनारायण साह, अर्जुन शास्त्री, रत्नकुमार गुप्त और लक्ष्मण उल्लेखनीय हैं।

इस समाज ने इस प्रदेश में सौ वर्ष पुरानी बेगार प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाने में बड़ा सहयोग दिया और इसके सदस्यों ने राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतन्त्रता-संग्राम में प्रमुख भाग लिया। श्री यज्ञेश्वर प्रसाद १९३०-३१, १९४२-४३ में बारह मास और अठारह मास जेल में रहे। स्वतन्त्रता रजत जयन्ती महोत्सव पर दिल्ली में उन्होंने प्रधानमन्त्री से ताम्रपत्र प्राप्त किया। इनके बड़े भाई राजेश्वर प्रसाद ने भी १९३०-३१, १९४२-४३ के आन्दोलन में भाग लिया था। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाले इस समाज के अन्य सदस्य हैं—सर्वश्री सत्यदेवप्रसाद केसरी, डॉक्टर भूदेवप्रसाद केसरी तथा पण्डित सीताराम।

आर्यसमाज अकबरपुर (नवादा)—इसकी स्थापना १९२७ ई० में हुई थी। इसके संस्थापक श्री साधुलाल साह थे। वे चायदानी (कलकत्ता) में अपना व्यवसाय करते थे। यहाँ इनका आर्यसमाज से परिचय हुआ, और इसके कर्मठ कार्यकर्ता बने। उन्होंने अपनी मातृभूमि अकबरपुर में समाज की स्थापना की। इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार सर्वश्री हरिलाल, लखनलाल आर्य, द्वारिकालाल आदि सज्जनों द्वारा किया गया। इस समाज द्वारा **श्री साधुलाल साह आर्य कन्या उच्च विद्यालय अकबरपुर** चलाया जा रहा है। स्त्रियों में शिक्षा और धर्म के प्रचार के लिए इस समाज ने अच्छा कार्य किया है।

आर्यसमाज हरनौत (नालन्दा)—इसकी स्थापना सन् १९२८ में हुई थी। इसके संस्थापकों में सर्वश्री विश्वेश्वर लाल, चेतनारायण, रामेश्वर तथा स्वतन्त्रता-सेनानी अयोध्यालाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज की ओर से आर्य कन्या विद्यालय और आर्य हिन्दी पुस्तकालय का संचालन किया जाता है।

आर्यसमाज मीठापुर (पटना)—इसकी स्थापना १९२८ ईसवी में हुई थी। इसके संस्थापकों में सर्वश्री रायबहादुर व्रजनन्दन सिंह, रामचन्द्र साहित्याचार्य, भुवनेश्वरीप्रसाद और ध्रुवनारायण गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार इसकी स्थापना से पूर्व ही आरम्भ हुआ। यहाँ कुछ आर्यसमाजी परिवार पहले से ही रहते थे। यहाँ के निवासी श्री हजारीलाल ने दानापुर में महर्षि दयानन्द सरस्वती का भाषण

सुना और उससे प्रभावित हुए थे। इनके मीठापुर के निवासस्थान पर स्वामी श्रद्धानन्द तथा अन्य अनेक आर्य संन्यासी और प्रचारक आकर ठहरा करते थे। यहाँ के सर्वश्री कन्टूलाल साह, रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह के परिवार के सदस्य दानापुर के वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित हुआ करते थे। इन्होंने आर्य विद्वानों तथा संन्यासियों के भाषणों से प्रेरणा प्राप्त करके यहाँ आर्यसमाज का कार्य शुरू किया गया। इन्हें सर्वश्री लक्ष्मीनारायण जायसवाल, लालधारी मिस्त्री, विष्णुदयाल, भुवनेश्वरीप्रसाद, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, ध्रुव नारायण गुप्त, सुखलालसिंह वानप्रस्थ और जानकीप्रसाद सिंह का बहुमूल्य सहयोग मिला। स्वामी अभेदानन्द, स्वामी ध्रुवानन्द, पण्डित अयोध्याप्रसाद वैदिक रिसर्च स्कालर, महात्मा आनन्द स्वामी, पण्डित आर्यभिक्षु आदि आर्यसमाज के प्रमुख विद्वानों तथा संन्यासियों ने आर्यसमाज मीठापुर की वेदी से वैदिक धर्म का प्रचार किया है। महिलाओं के क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार में रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह की माताजी ने तथा श्रीमती लीलावती सूद ने सक्रिय भाग लिया।

इस समाज द्वारा साप्ताहिक सत्संगों के अतिरिक्त विभिन्न मुहल्लों के सदस्यों के घरों पर यज्ञों का आयोजन करके इस अवसर पर वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता है। दलितोद्धार के लिए समीपवर्ती भंगी कालोनी के सदस्यों को यज्ञोपवीत धारण कराया गया और उनके साथ सहभोजों का आयोजन किया। समय-समय पर प्रतिवर्ष विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह समाज में सम्पन्न किए जाते हैं। मद्य-सेवन, छुआछूत और मृतक भोज के विरुद्ध प्रचार किया जाता है। स्त्री-शिक्षा के लिए दयानन्द कन्या विद्यालय और दयानन्द कन्या अपर प्राइमरी विद्यालय समाज की ओर से चलाये जा रहे हैं। इन दोनों में लगभग एक हजार बालिकायें शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। इनके अतिरिक्त बालकों के लिए दयानन्द विद्यालय चलाया जा रहा है। इन तीनों विद्यालयों की स्थापना रायबहादुर ब्रजनन्दन सिंह ने स्थानीय आर्यसमाजी व्यक्तियों तथा अन्य लोगों के सहयोग से की थी।

इस आर्यसमाज का अपना भवन है। तीनों विद्यालयों के भवनों और समाज की कुल सम्पत्ति का मूल्य लगभग बीस लाख रुपये है। इस समाज के सदस्यों ने स्वाधीनता-संग्राम में, पंजाब हिन्दी सत्याग्रह तथा गोरक्षा आन्दोलन में भाग लिया है। इनमें सक्रिय भाग लेनेवालों में श्री रामकिसुन सिंह व सुखलाल सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज मसौढ़ी (पटना)—१९२७ में इसकी स्थापना बाबू मित्रलाल के भगीरथ परिश्रम से हुई थी। श्री जगतसिंह ने आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया। यहाँ आर्यसमाज के भवन में एक संस्कृत विद्यालय सुचारु रूप से चल रहा है। इसके साथ ही एक अच्छा पुस्तकालय भी है।

आर्यसमाज जहानाबाद (गया)—इसकी स्थापना १४ दिसम्बर, १९३० को हुई थी। सर्वश्री मुरलीधर खेतान, रामपदार्थ शाह तथा यदुलाल शाह को इसे स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है। समाज का अपना भवन न होने के कारण आर्यसमाज का कार्यालय श्री मंगरशाह के निवासस्थान पर है। यहाँ कई वर्षों तक पुस्तकालय का कार्य और साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से चलता रहा। आर्यसमाज का पहला वार्षिकोत्सव एप्रिल, १९३१ में सम्पन्न हुआ। इसमें स्वामी मुनीश्वरानन्द, पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री,

श्री विश्वनाथ शास्त्री, पण्डित जे० पी० चौधरी, भूदेव, ठाकुर यशपाल, आत्माराम आदि आर्य विद्वानों और भजनोपदेशकों ने वैदिक धर्म का प्रचार और प्रसार किया।

आर्यसमाज इस्लामपुर(नालन्दा)—इसकी स्थापना १९३० में स्वामी मुनीश्वरानन्दजी के करकमलों से हुई। दस वर्ष बाद श्री महावीर शाह के नेतृत्व में चार मुसलिम मतावलम्बियों की शुद्धि और यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। १९४५ में आर्यसमाज ने अछूतोद्धार का कार्य आरम्भ किया और हरिजनों द्वारा वितरित पानी पीने का अभियान चलाया। पौराणिक पण्डितों ने इसका उग्र विरोध किया। इस विषय में सनातनी पण्डितों के साथ अनेक शास्त्रार्थ भी हुए।

आर्यसमाज झाझा (मुंगेर)—श्री महावीर बाबू और किशोरी बाबू ने झाझा के स्थानीय आर्य बन्धुओं के सहयोग से १९३० में इस समाज की स्थापना की।

आर्यसमाज नरकटियागंज (पश्चिमी चम्पारण)—३१ मार्च, १९३३ को सर्वश्री प्रभुनारायण, देवनारायण, जंगबहादुर आदि आर्य तरुणों के सहयोग से स्वामी सदानन्द सरस्वती ने इस समाज की स्थापना की थी। आर्यसमाज के आरम्भिक दिनों में गोरखपुर के भजनोपदेशक श्री मुन्नीलाल ने इस क्षेत्र में बड़ा प्रचार किया। इसके पहले प्रधान श्री लक्ष्मीप्रसाद आर्य और मन्त्री श्री प्रभुनारायण बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। उन्होंने तथा उनके सहयोगियों ने बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में यातायात और वाहनों की सुविधा न होने पर भी, सिर पर हारमोनियम, गले में ढोल और हाथ में वैदिक साहित्य लेकर नरकटियागंज में और उसके आसपास के क्षेत्र में मूर्तिपूजा, श्राद्ध तथा बालविवाह, विधवाविवाह-निषेध की कुरीतियों को हटाने और स्त्री-शिक्षा तथा अछूतोद्धार का कार्य करने में बड़ा उत्साह दिखाया। १९३९ में हैदराबाद आन्दोलन में यहाँ से तीन जत्थे सत्याग्रह के लिए भेजे गये।

इस समाज ने शुद्धि और अबला स्त्रियों की रक्षा की ओर अपनी स्थापना के समय से ही विशेष ध्यान दिया। अनाथ विधवाओं को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से हिन्दू अनाथालय मुजफ्फरनगर में पहुँचाया जाता था। वहाँ उनका पुनर्विवाह सम्पन्न किया जाता था। १९४५ के एक वर्ष में यहाँ २५ शुद्धियाँ की गयीं। इसके बाद भी विधर्मियों को शुद्ध करके हिन्दू समाज में उनका विवाह कराया जाता रहा।

आर्यसमाज कसबा (पूर्णियाँ)—इसकी स्थापना सन् १९३३ में सर्वश्री नन्दकुमार देव, श्री बद्रीलाल आर्य, श्री भुवनेश्वर आर्य और चिन्ताहरण वानप्रस्थ ने की थी। इस आर्यसमाज को भूसम्पत्ति देनेवाले और यज्ञशाला का निर्माण करनेवाले सर्वश्री बद्रीलाल आर्य, छुतहरु साह और जगतू साह थे। इस आर्यसमाज ने हरिजनों और पिछड़ी जातियों में काफी प्रचार किया है और परदा-प्रथा, बालविवाह और मृतक-श्राद्ध की कुरीतियों को हटाने का प्रयास किया है। स्त्री-शिक्षा के लिए आर्यसमाज के सदस्यों ने कन्या महाविद्यालय का निर्माण किया है। इस आर्यसमाज के वर्तमान प्रधान श्री मुंशीलाल आर्य और मन्त्री श्री नारायण आर्य हैं। समाज द्वारा **नन्दकुमार वैदिक पुस्तकालय** का संचालन किया जाता है।

आर्यसमाज मालडा (गिरीडीह)—इस समाज की स्थापना १९३३ में हुई। इसके संस्थापक सर्वश्री श्यामलाल, छोटू साव, सोमर शाह, तुलसीराम स्वर्णकार, केशवलाल आर्य, डॉक्टर ईश्वरचन्द्र थे। इस क्षेत्र में अधिक संख्या पिछड़ी जातियों तथा

आदिवासियों की है। ईसाई प्रचारक यहाँ बड़ी संख्या में प्रचार के लिए आते हैं, किन्तु आर्यसमाज की स्थापना के बाद इनका आगमन और प्रभाव कम हो गया है। इस क्षेत्र में प्रचलित परदाप्रथा और बाल-विवाह की कुरीतियों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया गया है। विधर्मी स्त्री-पुरुषों को इस समाज ने न केवल शुद्ध किया है, अपितु विधवा स्त्रियों को सुरक्षित रूप से मुंगेर तथा पटना अनाथालयों में पहुँचाया है, और कई बार विधर्मी स्त्रियों की शुद्धि करके उनका विवाह हिन्दू समाज के नवयुवकों के साथ कराया गया है। स्त्री-शिक्षा को समाज की ओर से बड़ा प्रोत्साहन दिया जाता है। हैदराबाद सत्याग्रह, हिन्दी सत्याग्रह तथा गोरक्षा आन्दोलन में इस समाज की ओर से प्रचुर मात्रा में धन भेजा गया है। इस क्षेत्र में प्रचलित पशुबलि-प्रथा को भी समाज ने बन्द कराने का प्रयास किया है।

आर्यसमाज गढ़वा (पलामू)— इसकी स्थापना ८ अक्टूबर, १९३४ को की गयी थी। सर्वश्री स्वर्गीय डॉक्टर अनन्त प्रसाद नासरीगंज, अवधबिहारी लाल, रामप्रसाद विश्वकर्मा के प्रयासों से यह स्थापित हुआ। वर्तमान समय में इसके प्रमुख कर्मठ कार्य-कर्ता सर्वश्री गोपालप्रसाद गुप्त (प्रधान), श्री कामताप्रसाद शर्मा (उपप्रधान), श्री रामप्रसाद आर्य (मन्त्री) तथा श्री शिवनाथ तिवारी (पुरोहित) हैं। इस समाज की ओर से श्री राम साहू आर्य वैदिक उच्च विद्यालय तथा दयानन्द आर्य वैदिक माध्यमिक विद्यालय का संचालन किया जा रहा है। समाज का अपना एक लाख रुपये मूल्य का स्थायी भवन है।

इस प्रदेश में ईसाई मिशनरियों का बड़ा प्रभाव है। अतः यह आर्यसमाज अपने सीमित साधनों से उसका यथासम्भव प्रतिकार कर रहा है। इस उद्देश्य से यहाँ गाँवों में प्रचार किया जाता है। आर्यसमाजों की स्थापना की जाती है। इस समाज द्वारा स्था-पित कुछ अन्य समाजों में दुद्धी (मिर्जापुर), गोरलाना (बिहार), वैरिया (पलामू) और बड़गड़ (पलामू) के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज डालटनगंज (पलामू)—इसकी स्थापना १९३५ में तत्कालीन अनु-मंडलाधिकारी तथा श्री रामबहादुर जगत के प्रयत्नों से की गयी।

आर्यसमाज नगर उण्टारी (पलामू)—१९३६ में इस समाज की स्थापना की प्रेरणा देनेवालों में सर्वश्री स्वर्गीय कालीचरण आर्य, रामाश्रयप्रसाद आर्य, जयदेवप्रसाद वर्मा (स्वामी केवलानन्द), अर्जुनराम आर्य तथा जोखनराम थे। इस आर्यसमाज की भूसम्पत्ति एवं अन्य कार्यकलापों के लिए आवश्यक धन सर्वश्री विपत्त साव और मुसन-महतो के दान से प्राप्त हुआ है। इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार विपत्त साव तथा ठाकुर महानन्द सिंह भजनोपदेशक द्वारा हुआ। इस समाज ने हरिजनोद्धार एवं यज्ञो-पवीत संस्कारों के कार्य में विशेष दिलचस्पी ली।

आर्यसमाज कटसा (सारण)—२-४-१९३७ को स्थापित होनेवाले इस समाज की स्थापना की प्रमुख प्रेरणा देनेवाले सर्वश्री कुमार नारायण सिन्हा, रामेश्वर ओझा, श्री बैजनाथ शाह तथा रामरूप शाह थे। इस आर्यसमाज के भवन-निर्माण के लिए श्री गोविन्द ओझा और श्री हरिहर ओझा ने भूमि का दान दिया। इस क्षेत्र में आर्य-समाज का प्रचार करनेवाले महानुभावों में सर्वश्री हरिहरप्रसाद, रामेश्वर ओझा, और कुमारनारायण सिन्हा के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज ने स्त्री-शिक्षा के प्रचार

के लिए रामप्यारी आर्य कन्या पाठशाला स्थापित की, वैदिक विधि से अंत्येष्टि-संस्कार का इस प्रदेश में प्रचार किया, विधवा एवं अन्तर्जातीय विवाहों पर बल दिया, और १९४७ में चार परिवारों के ४८ व्यक्तियों की शुद्धि की।

आर्यसमाज सोहस राय (नालन्दा)—इस समाज की स्थापना तिथि १९ फरवरी, १९४० है। इसके संस्थापक सर्वश्री बैजनाथ आर्य तथा प्रो० गुरुप्रसाद आर्य थे। आर्यसमाज के लिए भू-सम्पत्ति दान करने वालों में सर्वश्री प्रयाग साहू, गुरुप्रसाद, हरिप्रकाश आर्य और बैजनाथ शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज द्वारा इस प्रदेश में वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता है।

आर्यसमाज मधुपुर (संथाल परगना)—इस आर्यसमाज का उद्घाटन श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के पावन पर्व पर डॉक्टर श्यामप्रसाद मुकर्जी अध्यक्ष, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा द्वारा १९४२ में किया गया था। इस समाज के मुख्य कार्यकलाप दलितोद्धार और वैदिक धर्म का प्रचार हैं। यह आदिवासियों के क्षेत्र में स्थित है। ईसाइयों के प्रचार का प्रतिरोध करने के लिए इस समाज को सुप्रसिद्ध दानवीर श्री जुगल किशोर बिड़ला तथा गुरुदयाल बरेलिया से बड़ी सहायता मिली है।

इस समाज की स्थापना की प्रेरणा देनेवालों में सर्वश्री पण्डित चन्द्रानन्द शास्त्री वानप्रस्थी, वासुदेवदास आर्य, सौखीलाल, बैजलाल सर्राफ और विलास वथवाल थे। इसकी ओर से गाँवों में प्रचार किया जाता है, वार्षिकोत्सवों का आयोजन किया जाता है तथा वैदिक सिद्धान्तों पर लिखी पुस्तकों का निःशुल्क वितरण किया जाता है। इस समाज ने २०० के लगभग अन्तर्जातीय विवाह कराये हैं। प्रतिवर्ष स्त्री-शिक्षा के लिए महिला-सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। इस समाज की सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य लगभग एक लाख रुपये है।

आर्यसमाज सरैया (मुजफ्फरपुर)—इसकी स्थापना १९४३ में श्री हर्षित शर्मा ने की थी। इस समाज के साप्ताहिक अधिवेशन नियमित रूप से किये जाते हैं। समय-समय पर वैदिक धर्म के प्रचार का आयोजन किया जाता है। इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार करनेवालों में सर्वश्री स्वामी सर्वदानन्द, गंगाधर शास्त्री, सत्यमित्र शास्त्री, जगतकुमार शास्त्री तथा रणजीत सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज मलाही—यह पूर्वी चम्पारण जिले में गण्डक (नारायणी) नदी के तट पर अवस्थित है। पहले रेल अथवा स्थल-मार्ग न होने के कारण नदियों से ही व्यापार होता था। अतः गण्डक नदी के किनारे नाव खेनेवाले मल्लाहों की यहाँ एक बस्ती बस गयी, इसी को मलाही कहा जाने लगा। ब्रिटिश युग में यहाँ नील और अफीम की बड़े पैमाने पर खेती होती थी, जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाप्त हो गयी। शनैः-शनैः इस कस्बे का विकास होने लगा। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना १९३० में हुई थी। उन दिनों यहाँ एक राष्ट्रीय विद्यालय था। उसमें भाषण देने के लिए अयोध्या गुरुकुल के संस्थापक प्रसिद्ध आर्य संन्यासी स्वामी त्यागानन्द पधारे और उन्होंने यहाँ रहनेवालों में अपने भाषणों से आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के प्रति अनुराग उत्पन्न किया। इसी समय यहाँ एक विवाह में सुप्रसिद्ध भजनोपदेशक ठाकुर गंगासिंह आये और उनके ओजस्वी भजनों से आर्यसमाज के प्रति जनता में श्रद्धा उत्पन्न हुई और २४ फरवरी, १९३० को यहाँ आर्यसमाज का गठन हुआ। इसके प्रथम प्रधान श्री मथुराप्रसाद और मन्त्री श्री

जगदेवप्रसाद निर्वाचित हुए।

आर्यसमाज की स्थापना होते ही यहाँ की जनता में ईश्वर के स्वरूप, मूर्तिपूजा, जातिप्रथा आदि विभिन्न विषयों पर पौराणिक पण्डितों से आर्यसमाजी विद्वानों के वाद-विवाद होने लगे। आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ताओं ने शीघ्र ही समाज का भवन बनाने के लिए भूमि खरीद ली और आर्यसमाज भवन के साथ ही पर्णकुटीर में लड़कियों की शिक्षा के लिए आर्य कन्या विद्यालय की स्थापना की। इसके विकास-कार्य में पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थी (स्वामी अभेदानन्द) और पण्डित रामानन्द शास्त्री का सहयोग प्राप्त हुआ। आर्यसमाज मन्दिर के भवन के साथ-साथ यज्ञशाला का निर्माण किया गया। आर्यसमाज की अनेक गतिविधियाँ बड़े उत्साह से चलाई गयीं। इसके कर्मठ कार्यकर्ताओं में सर्वश्री शिवशंकर प्रसाद, विष्णुदेव प्रसाद, चंचल प्रसाद, सूर्यनारायण प्रसाद, श्रद्धानन्द प्रसाद, वैद्यनाथ प्रसाद, श्री अजयकुमार, जगतनारायण प्रसाद, श्री हीरालाल ठाकुर, जगन्नाथराम, श्री जवाहरलाल, भूदेव प्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज द्वारा आर्यसमाज के सभी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया जाता रहा है। इस समाजके साथ वैदिक पुस्तकालय और श्रीमती रामेश्वरी कुँवर दातव्य औषधालय भी है।

दसवाँ अध्याय

बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा

(१) आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार-बंगाल की स्थापना

वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में जिस समय आर्यसमाज दानापुर के उत्सव पर इसकी स्थापना हुई थी, उस समय प्रशासन की दृष्टि से बिहार, बंगाल के विशाल प्रान्त के अन्तर्गत था, अतः पहले बिहार व बंगाल की संयुक्त आर्य प्रतिनिधि सभा बनी। १६०१ में बिहार-बंगाल के प्रमुख आर्यों ने दानापुर आर्यसमाज के चौबीसवें वार्षिकोत्सव पर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा का संगठन बनाने का निर्णय किया। इस समय तक इस विशाल प्रान्त में १६ आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। ५ अक्तूबर, १६०४ को दानापुर आर्यसमाज के उत्सव पर बिहार तथा बंगाल के आर्यों की एक बृहत् सभा हुई और इसमें बिहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गयी।[1] श्री बालकृष्ण सहाय वकील रांची इसके प्रथम प्रधान और बाबू मिथिलाशरणसिंह वकील (पटना) इसके प्रथम मन्त्री निर्वाचित हुए।

पहले तीन वर्ष तक प्रतिनिधि सभा का कार्यालय दानापुर आर्यसमाज-मन्दिर में रहा, क्योंकि उस समय इस प्रदेश में सबसे बड़ा आर्यसमाज यही था। इसके बाद श्री मिथिलाशरणसिंह मन्त्री के निवासस्थान मछुआ टोली पटना में इस कार्यालय का स्थानान्तरण किया गया। सार्वदेशिक सभा का वैधानिक रूप से संगठन १६०६ में होने पर बिहार-बंगाल प्रतिनिधि सभा नियमित रूप से शिरोमणि सभा के साथ सम्बद्ध हो गयी और इस सभा के प्रधान बाबू बालकृष्ण सहाय सार्वदेशिक सभा के उपप्रधान चुने गये। एप्रिल, १६११ में बिहार-बंगाल प्रतिनिधि सभा का पंजीकरण पटना में नियमित रूप से सोसायटी एक्ट के अनुसार कराया गया। इस समय सभा के मन्त्री बाबू परमेश्वर-प्रसाद वकील थे। बाबू बालकृष्ण सहाय का देहान्त होने पर उनके अनुज श्री रामकृष्ण सहाय बैरिस्टर, राची इस सभा के प्रधान बने और सभा का कार्यालय उनकी सुविधा के अनुसार १६१८ तक राँची में रहा। १६१८ में कलकत्ता-निवासी पण्डित शंकरनाथ प्रधान और बाबू हरगोविन्द गुप्त मन्त्री निर्वाचित हुए और सभा का कार्यालय रांची से कलकत्ता चला गया। इस समय सभा ने बंगाल और बिहार में वैदिक धर्म का सराहनीय प्रचार किया। इसका यथास्थान वर्णन किया गया है।

---

१. उपर्युक्त तिथि बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा पटना द्वारा प्रकाशित इतिहास (पृष्ठ संख्या ५) के आधार पर दी गयी है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित आर्य निर्देशिका (जनवरी, १९७५) के पृष्ठ संख्या १५७ पर यह तिथि १८९९ दी गयी है।

बिहार की उपसभा ने १९२२ में गया कांग्रेस के अधिवेशन पर वैदिक धर्म के प्रचार का विराट् आयोजन किया। आर्यसमाज के बृहत् पण्डाल में दिन-रात विभिन्न सम्मेलनों के आकर्षक कार्यक्रम, व्याख्यान और भजन हुए। कांग्रेस की स्वागत-समिति के प्रधानमन्त्री देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद जी ने कांग्रेस नगर के समीप आर्यसमाज के प्रचार की सब सुविधायें प्रदान कीं। इस अवसर पर ब्रह्मचारी युधिष्ठिर जी (स्वामी व्रतानन्द) की अध्यक्षता में बिहार प्रान्त के आर्य युवकों का एक सम्मेलन हुआ और बिहार प्रान्तीय आर्यकुमार परिषद् की स्थापना की गयी।

१९२४ में सभा की ओर से पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार के संपादन में **आर्य-जीवन** नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा। इससे पहले १९१५ में आरा जिला निवासी स्वामी ब्रह्मानन्द जी के सम्पादकत्व में **आर्यावर्त्त** नामक मासिक पत्र दानापुर के ठाकुरप्रसाद प्रेस से और वाद में पण्डित रुद्रदत्त जी के सम्पादकत्व में रांची के सभा के प्रेस से छपता रहा। किन्तु घाटा होने के कारण इसे बाद में बन्द करना पड़ा था। १९२६ के हिन्दू-मुसलिम दंगे के कारण आर्य जीवन प्रेस को बड़ी क्षति पहुँची और यह पत्र भी बन्द हो गया।

सभा की स्वीकृति से पहले दानापुर स्टेशन के पास मुस्तफापुर में १९१५ में **वेदरत्न विद्यालय** की स्थापना हुई। सभा इसे गुरुकुल का रूप देना चाहती थी, अतः १९२१ में इसे देवघर के निकट वैद्यनाथ धाम में लाया गया और यहाँ सफलतापूर्वक गुरुकुल का संचालन किया गया। इसका वर्णन इस 'इतिहास' के तीसरे भाग में विशद रूप से दिया गया है।

१९२४ में श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा में धूमधाम से मनायी गयी। इस समय बिहार में वैदिक धर्म के प्रचार की एक नयी जबर्दस्त लहर आयी। इस उत्सव में बिहार से हजारों आर्य नर-नारी बाल-बच्चों सहित सम्मिलित हुए। वे वहाँ से वैदिक धर्म की प्रेरणा प्राप्त करके लौटे और बंगाल-बिहार में ६० के लगभग नये आर्यसमाज स्थापित हुए।

(२) बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की पृथक् रूप से स्थापना

मथुरा शताब्दी के समय पर ही बिहार के अधिकांश आर्यों में यह भावना उत्पन्न हुई कि बिहार में आर्यसमाज के सुदृढ़ संगठन के लिए एक पृथक् प्रतिनिधि सभा की बड़ी आवश्यकता है। इस दृष्टि से मार्च, १९२६ में बिहार की आर्य उपप्रतिनिधि सभा के ४७ प्रतिनिधि मंधुआ टोली के अखाड़े भवन में एकत्र हुए और उन्होंने सर्वसम्मति से बिहार को बंगाल से पृथक् करके एक स्वतन्त्र प्रतिनिधि सभा स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया। ४३ आर्यसमाजों के ५४ प्रतिनिधियों ने २९ मार्च, १९२६ को नियमानुसार बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के पृथक्करण की घोषणा कर दी। इसके प्रथम प्रधान श्री वैद्यनाथ, मन्त्री श्री अयोध्या प्रसाद और प्रचारमन्त्री श्री रामचन्द्र द्विवेदी चुने गये। सभा की रजिस्ट्री ८ मई, १९२६ को बिहार राज्य के सोसायटीज ऐक्ट के अनुसार करा दी गयी। दीघाघाट विश्वकर्मा मिल में इसका कार्यालय स्थापित किया गया।

किन्तु सभा के उपदेशक बिहार के पृथक्करण के विरोधी थे। अतः कुछ समय बाद ६ मार्च, १९२७ को महात्मा नारायण स्वामी, प्रधान सार्वदेशिक सभा की अध्यक्षता

में एक सभा मीठापुर स्थित आर्यन मिल पटना में हुई। बिहार और बंगाल के आर्यों की उस सभा में दोनों सभाओं के पुनः एकीकरण का निश्चय किया गया।

२० नवम्बर, १९२७ की दिल्ली में हुए आर्य महासम्मेलन के अधिवेशन में बिहार के प्रतिनिधियों को बड़ी असुविधा उठानी पड़ी, क्योंकि आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से बिहार तथा बंगाल के दिल्ली के आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित होनेवाले प्रतिनिधियों की कोई सूची केन्द्रीय कार्यालय को नहीं भेजी गयी थी। दिल्ली में बिहार-बंगाल प्रतिनिधि सभा का कोई कार्यालय या शिविर भी नहीं खोला गया था। अतः इस सम्मेलन के बाद पुनः बिहार को बंगाल से पृथक् करने की भावना प्रबल होने लगी और २५ मार्च, १९२८ को नया टोला, आर्यसमाज-मन्दिर पटना में हुई बैठक में सर्वसम्मति से बिहार-सभा के १९२६ के पृथक्करण को पुनरुज्जीवित करने का निर्णय लिया गया और इसके अनुसार १३ मई, १९२८ को बिहार की पृथक् प्रतिनिधि सभा का पुनर्निर्माण हुआ। बाबू वैद्यनाथ प्रसाद प्रधान, पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी मन्त्री और पण्डित महादेवशरण कार्यालय-मन्त्री निर्वाचित हुए और इसका कार्यालय पटना के नया टोला आर्यसमाज-मन्दिर में स्थापित करने का निर्णय हुआ।

(३) बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यकलाप

नयी सभा ने आर्यसमाज के प्रचार का कार्य बड़े उत्साह से आरम्भ किया। १५ अक्तूबर, १९२८ को एक सप्ताह तक दानापुर आर्यसमाज का अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। छोटा नागपुर में ईसाइयों के प्रचार का प्रतिरोध किया गया। इस समय बिहार सरकार ने अपने एक गोपनीय सरक्युलर द्वारा सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी प्रचारक पण्डित अयोध्याप्रसाद, स्वामी मुनीश्वरानन्द, पण्डित वेदव्रत, पण्डित सत्यव्रत और पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी पर छोटा नागपुर और संथाल परगना में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पटना के सुप्रसिद्ध पत्र सर्चलाइट ने १९२८ में इस गुप्त परिपत्र के रहस्य का उद्घाटन किया। इस पत्र के सम्पादक मुरली बाबू ने आर्यसमाज के उपदेशकों पर लगाये गये प्रतिबन्ध की कड़ी आलोचना की। केन्द्रीय एसेम्बली में भी इस विषय पर प्रश्न उठाये गये। बिहार कौंसिल में डॉक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ने इस प्रतिबन्ध का कड़ा विरोध किया और अन्त में बिहार सरकार को १९३० में इस प्रतिबन्ध को स्थगित करना पड़ा। १९३६ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के पदारूढ़ होने पर यह प्रतिबन्ध रद्द कर दिया गया। इस घटना ने बिहार में आर्यसमाज के आन्दोलन को बड़ा लोकप्रिय बनाया।

१९३० में मुंगेर-निवासी डॉक्टर कार्तिकप्रसाद देव द्वारा प्रेस के लिए दिये गये ३००० रुपये के दान से एक प्रेस खरीदा गया और आर्यावर्त नामक पत्र को कुछ समय के लिए प्रकाशित किया गया।

१९३० में राष्ट्रीय महासभा द्वारा महात्मा गांधी के नेतृत्व में नमक-कानून तोड़ने और सविनय अवज्ञा करने का जो राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया गया था, उसमें बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्यों ने प्रमुख भाग लिया। श्री स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री, पण्डित वेदव्रत, पण्डित रामरक्ष, श्री रामानन्द साह आदि सैकड़ों आर्य सत्याग्रह करके बन्दी बने, अनेक आर्यसमाजों में पुलिस ने ताला लगा दिया।

१९३३ में अजमेर की ऋषि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी में बिहार आर्य प्रति-

निधि सभा ने पूरे उत्साह से भाग लिया।

बिहार में १९२० से ३० तक का दशक आर्यसमाज के विरोधियों से शास्त्रार्थों के लिए प्रसिद्ध है। इस अवधि में लगभग प्रतिवर्ष सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ होते रहे। १९२० में आरा में मुसलमानों के साथ पण्डित रामचन्द्र देहलवी और पण्डित मुरारी लाल ने मुबाहिसा किया। १९२१ में पौराणिक पण्डित रामावतार शर्मा साहित्याचार्य के साथ पटना में आर्य विद्वान् पण्डित आर्यमुनि, पण्डित अखिलानन्द और स्वामी मुनीश्वरानन्द ने शास्त्रार्थ किये। इसी प्रकार के शास्त्रार्थ १९२३ में रोसड़ा (जिला दरभंगा), १९२४ में मुस्तफापुर (जिला पटना), १९२५ में मुजफ्फरपुर और १९२६ में सीवान में हुए। छपरा (१९२६), गिद्धौर(१९२७), जहानाबाद (१९२९) के शास्त्रार्थ भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

१५ जनवरी, १९३४ को उत्तरी बिहार में भीषण भूकम्प आने पर जन धन की अपार क्षति हुई। हजारों व्यक्ति मलवे में दवकर मरे, सहस्रों मकान धराशायी हुए। इस समय भूकम्प-पीड़ित अनाथ वच्चों, अनाश्रित नर-नारियों, क्षुधार्त्त वस्त्रविहीन व्यक्तियों की सहायता के लिए अन्य आर्य प्रतिनिधि सभाओं के सहयोग से कार्य करते हुए बिहार सभा ने बड़ा उत्तम कार्य किया और इसके बाद अगले चार वर्षों तक समूचे बिहार में आर्यसमाज के प्रचार का सुव्यवस्थित कार्यक्रम चलाया जाता रहा।

१९३५ ई० में सभा के प्रधान स्वामी रामानन्द तथा मन्त्री श्री पण्डित सत्यव्रत निर्वाचित हुए। इस समय से उत्सवों तथा प्रचारों का क्रमवद्ध कार्यक्रम आरम्भ किया गया। १९३६ में पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थ प्रधान तथा श्री महादेव शरण प्रधानमन्त्री चुने गये। इनके कार्यकाल में समाजों के वार्षिकोत्सवों को सम्पन्न कराने की अभिनव योजना स्वीकार की गयी। इसके अनुसार समाजों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणियों में बाँटकर उनके वार्षिकोत्सवों को क्रमवद्ध रूप से आयोजित किया गया। प्रायः सभी समाजों ने इस योजना को बड़े उत्साह से स्वीकार किया। इससे समाजों में अनुशासन की भावना उत्पन्न हुई। १९३६ में ४५ आर्यसमाजों ने इस योजना के अनुसार अपने वार्षिकोत्सव सम्पन्न कराये। १९३७ में सभा की योजना सभी समाजों द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार की गयी। १५ उपदेशकों तथा चार भजनीकों ने दो दलों में विभक्त होकर समाजों के उत्सवों को सफल वनाया। प्रथम श्रेणी के उत्सवों में वाहर से पण्डित रामचन्द्र देहलवी, राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, कुँवर सुखलाल आर्यमुसाफिर आदि सुप्रसिद्ध व्याख्याता बुलाये जाते रहे। इस योजना से समाजों के उत्सव अधिक व्यवस्थित रूप में सफलतापूर्वक, सोत्साह सम्पन्न होने लगे, सभा की आय में वृद्धि होने लगी और उपदेशकों के अतिरिक्त समय का ग्राम-प्रचार में सदुपयोग किया जाने लगा।

१९३९ में हैदराबाद राज्य में अपने धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सार्वदेशिक सभा ने एक देशव्यापी सत्याग्रह चलाने का निश्चय किया। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने प्रान्त में सत्याग्रह युद्ध समिति का संगठन करके प्रत्येक जिले में सत्याग्रह-समिति का निर्माण किया। इस प्रदेश के सुप्रसिद्ध नेता पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थ को हैदराबाद सत्याग्रह का पंचम अधिनायक चुना गया। उन्होंने इस विषय में जनजागरण उत्पन्न करने के लिए बिहार में तूफ़ानी दौरा किया और इस सत्याग्रह के लिए ४०० स्वयंसेवक और १२ हजार रुपये की धनराशि बिहार की ओर से भेजी गयी। पंचम अधिनायक के

रूप में पण्डित वेदव्रत (स्वामी अभेदानन्द) ने ५७० सत्याग्रही स्वयंसेवकों के साथ हैदराबाद राज्य की सीमा २७ एप्रिल, १९३९ को पार की और निजाम हैदराबाद के कृष्ण-मन्दिर के अतिथि बने। इस जत्थे में बिहार के ढाई सौ स्वयंसेवक थे। प्रान्तीय डिक्टेटर के रूप में स्वामी भजनानन्द ने इस सत्याग्रह में भाग लिया। आर्यसमाज की माँगें पूरी होने पर अगस्त में सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और १७ अगस्त, १९३९ को हैदराबाद के निजाम की जेलों से सभी सत्याग्रही बन्दी मुक्त कर दिये गये।

सन् १९४० का वर्ष सभा के इतिहास में कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इस वर्ष सभा के प्रधान डॉक्टर कार्तिकप्रसाद और मन्त्री पण्डित वासुदेव शर्मा निर्वाचित हुए। इनके मन में आर्यसमाज के प्रति अद्‌भुत निष्ठा, लगन और समर्पण की भावना थी। इन्होंने हिन्दू समाज की प्रचलित हानिकारक कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध जनता में क्रान्ति की भावना उत्पन्न की। डॉक्टर कार्तिकप्रसाद ने आर्यसमाज की सभा के लिए मुंगेर का टाउन हाल न मिलने के कारण लाजपत हाल अपनी ओर से बनवाकर आर्यसमाज को दान कर दिया।

इस वर्ष सभा ने जनगणना में समस्त हिन्दुओं को आर्य लिखाने का आन्दोलन चलाया। ब्रिटिश सरकार द्वारा साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा के बाद यह निश्चित हो गया था कि देश का भावी शासन-विधान जनसंख्या के आँकड़ों के आधार पर बनाया जाएगा। कांग्रेस ने जनगणना का बहिष्कार और विरोध किया, किन्तु मुसलिम लीग तथा ईसाई संस्थाओं ने इससे पूरा लाभ उठाने के लिए इसमें सहयोग देने का निर्णय किया। इस दशा में सार्वदेशिक सभा ने यह सोचा कि वर्तमान सरकारी नीति से हिन्दुओं की संख्या कम हो जाएगी और जंगली एवं पहाड़ी जातियाँ आदिवासी के नाम पर हमसे अलग हो जाएँगी। इसलिए सब हिन्दुओं को जनगणना में आर्य (हिन्दू) लिखाने का आन्दोलन किया जाना चाहिये। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, तथा संथाल परगना आदि विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में इसके लिए उग्र प्रचार एवं प्रबल आन्दोलन चलाया गया।

मार्च, १९४० में बिहार में रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आर्यसमाज के प्रचार का बृहद् आयोजन किया गया। इसमें आर्य सम्मेलन, आर्यकुमार सम्मेलन, महिला सम्मेलन, शुद्धि सम्मेलन के कार्यक्रम हुए और ईसाइयों के प्रचार का बड़े पैमाने पर प्रतिरोध किया गया; विधर्मियों की शुद्धि के कार्य को भी चलाया गया। बक्सर में इस समय आर्यसमाज द्वारा किये जानेवाले शुद्धि-कार्यक्रम को विफल बनाने के लिए हिन्दुओं पर आर्यसमाज के विरोधियों द्वारा फौजदारी अभियोग चलाये गये। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने कर्मठ संन्यासी स्वामी भजनानन्द को यहाँ आवश्यक कार्यवाही के लिए भेजा। उन्होंने विधर्मियों से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता की और उन्हें इस कार्य के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया।

१९४० का वर्ष इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय है कि इस साल सीवान में बिहार का पहला डी० ए० वी० कॉलिज स्थापित करने का निर्णय किया गया। इस समय तक बिहार में गुरुकुल तो था, किन्तु आर्यसमाज का कोई कॉलिज नहीं था। इसे स्थापित करने में मास्टर वैद्यनाथ प्रसाद ने अनथक प्रयास किया। इसीलिए वह बिहार के लाला हंसराज कहलाते हैं। यह कॉलिज बिहार में न केवल शिक्षा में, अपितु राष्ट्रीयता के

विचारों के प्रसार में भी अग्रणी रहा है।

१९४१ के जुलाई मास के निर्वाचन में रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह सर्वसम्मति से सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। वे चरित्र की पवित्रता, गायत्रीमन्त्र तथा पंच सहस्र यज्ञ पर बड़ा बल देते थे। वे जातपांत-प्रथा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने इसके खण्डन में एक पुस्तिका छपवायी थी। आर्यों को वह एक परिवार तथा एक जाति के सूत्र में आबद्ध करना चाहते थे। उन्होंने इस हानिकर प्रथा के उन्मूलन के लिए आन्दोलन चलाया। उनकी प्रेरणा से २५-७-४२ को अन्तरंग सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—

"हिन्दूसमाज में प्रचलित जातिबन्धन को तोड़ने के उद्देश्य से यह सभा निश्चय करती है कि किसी निश्चित स्थान पर महती सभा की जाय, जहाँ पर जातिबन्धन को तोड़कर अपना एवं अपनी सन्तान का विवाह करनेवालों को एकत्र किया जाय। इस कार्य के लिए उपदेशक विशेष रूप से दौरा करें और लोगों को प्रेरणा दें।"

यह वर्ष नयी आर्यसमाजों की स्थापना की दृष्टि से भी उल्लेखनीय था। सभा द्वारा निरन्तर प्रचार के परिणामस्वरूप इस वर्ष निम्नलिखित नवीन १५ आर्यसमाजों की स्थापना हुई—मछरगांवा, कीचीनिया, नम्तीव चक(मुंगेर). हुसेनाबाद(मुंगेर), औंटा (पटना), आदमपुर (पटना), टेल्हा (गया), डुमरी (चम्पारन), डुमरांव (शाहाबाद), चौगाई (शाहाबाद), गुलजारपुर (शाहाबाद), नगर उण्टारी, मोहद्दीनगर (दरभंगा), परैयाहाट (संथाल परगना), बलिया (संथाल परगना)।

इस वर्ष सभा ने शिक्षा के क्षेत्र में दो अभिनव प्रयास किये। ये यद्यपि जनता का सहयोग न मिलने के कारण सफल नहीं हो सके, फिर भी उल्लेख योग्य हैं। पहला प्रयास कन्याओं को आयुर्वेद की शिक्षा देने का था। महर्षि ने अपनी शिक्षापद्धति में स्त्रियों को ज्ञान तथा कलाओं की शिक्षा देने पर बल दिया है। आयुर्वेद की शिक्षा पाकर कन्याएँ अपने परिवार के सदस्यों को स्वस्थ बनाये रखने में तथा रोग-निवारण में बहुमूल्य सहायता और सहयोग दे सकती हैं। अक्तूबर, १९४३ में सभा ने कन्याओं को आयुर्वेद की शिक्षा देने की योजना बनायी। धनबाद-निवासी श्री दीवान बहादुर बलीराम तनेजा ने इस कार्य के लिए १५० रु० मासिक सहायता देने का वचन दिया। किन्तु उपयुक्त प्रशिक्षण देने के लिए उस समय न तो स्त्री वैद्यायें उपलब्ध थीं और न ही बिहार जैसे प्रान्त के रूढ़िवादी व्यक्ति अपनी कन्याओं को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए तैयार थे। इस प्रकार शिक्षिकाओं तथा छात्राओं के अभाव में यह योजना सफल नहीं हो सकी।

दूसरी योजना कन्या गुरुकुल स्थापित करने की थी। इसके लिए औंटा-निवासी श्री मुंशीसिंह ने बहुत बड़ी धनराशि देने का वचन दिया था। श्री मुंशीसिंह के दान से तथा मोकामा के, विशेषतः चिन्तमणि चक और लखनचक के आर्य बन्धुओं के सहयोग से कार्य आरम्भ हो गया। पण्डित सभापतिराय ने अपनी निवासभूमि नोगिया (सारन) में कन्या गुरुकुल की स्थापना की और इस कार्य के लिए कई सहस्र रुपये की धनराशि प्रदान की। किन्तु इस आन्दोलन के प्राण श्री कामेश्वर प्रसाद शर्मा के अकाल देहावसान तथा समुचित व्यवस्था के अभाव के कारण यह संस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकी।

१९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में बिहार के आर्य बन्धुओं ने व्यक्तिगत रूप से भाग लिया और इसका विभिन्न आर्यसमाजों के इतिहास में यथास्थान उल्लेख किया गया है। इस आन्दोलन में जनता पर ब्रिटिश शासन द्वारा किये जानेवाले अत्याचारों से

यद्यपि चारों ओर आतंक और भय का वातावरण था, फिर भी आर्यसमाज दानापुर का वार्षिकोत्सव इस आन्दोलन के बाद बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इस समय आर्यसमाज के व्याख्यानों में सर्वत्र राष्ट्रीयता पर अधिक बल दिया जाता था, मातृभूमि की महिमा की वैदिक व्याख्या करने के लिए अथर्ववेद पृथिवी सूक्त का पाठ किया जाता था और देश की स्वतन्त्रता लिए सर्वस्व-त्याग और प्राणों का बलिदान करने की प्रेरणा जनता को दी जाती थी।

१९४३ की स्मरणीय घटना तेघड़ा (बेगुसराय) का शास्त्रार्थ है। तेघड़ा के पास सिमरिया घाट में कार्तिक पूर्णिमा पर एक महीने तक बड़ा मेला लगता है। यहाँ जब आर्यसमाज का प्रचार और मृतक-पितरों के श्राद्ध का विरोध किया जाने लगा, तो पौराणिक मतानुयायियों ने आर्यसमाज को इस विषय पर शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। उनके प्रमुख विद्वान् पण्डित माधवाचार्य और पण्डित गंगाविष्णु शास्त्री थे। आर्यसमाज की ओर से पण्डित रामानन्द शास्त्री ने इस शास्त्रार्थ में भाग लिया। इसमें आर्यसमाज को विजय प्राप्त हुई। तेघड़ा की सनातन धर्म सभा टूट गयी और आर्यसमाज का मन्दिर स्वामी ईश्वरानन्द के नाम पर निर्मित हुआ। जनता इस बात को भलीभाँति अनुभव करने लगी कि वेद-प्रचार से ही जनसाधारण का कल्याण हो सकता है।

१९४४ में उत्तरी बिहार में भीषण बाढ़ और मलेरिया के प्रकोप से ऐसी विषम स्थिति पैदा हो गयी कि लोग पेड़ों की छालें, बड़ और पीपल के फल खाकर निर्वाह करने लगे। इस दिशा में बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने बाढ़ एवं दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के कार्य का बड़ी कुशलता से संचालन किया। इस कार्य को संगठित करने में स्वामी अभेदानन्द सरस्वती और पण्डित रामानन्द शास्त्री की प्रमुख भूमिका थी। इसी वर्ष उत्तरी बिहार में आर्यसमाज के प्रमुख स्तम्भ स्वामी ईश्वरानन्द (भूतपूर्व पण्डित सत्यव्रत वानप्रस्थ) का स्वर्गवास हुआ। उनके प्रधान कार्यक्षेत्र मुजफ्फरपुर में उनकी स्मृति में **स्वामी ईश्वरानन्द वैदिक कन्या पाठशाला** का निर्माण हुआ और आर्यसमाज मुजफ्फरपुर ने उनकी स्मृति में अपना स्वर्ण जयन्ती महोत्सव मनाया और जयन्ती स्मारक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

१९४६ में बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रमुख कार्य मुसलिम लीगी सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास के प्रकाशन पर लगाये गये प्रतिबन्ध के निवारण का प्रयास करना था। इस विषय में जनमत जागृत करने के लिए पहले एक प्रान्तीय सम्मेलन किया गया और बाद में धन-जन की एक अपील स्वामी अभेदानन्दजी की ओर से निकाली गयी। इस समय पण्डित शिवमित्र शास्त्री ने तथा आर्यकुमार परिषद् के मन्त्री पण्डित रामनारायण शास्त्री ने सत्याग्रह के लिए बड़ी तत्परता से संगठन-कार्य किया। सिन्ध सरकार द्वारा पाबन्दी हटा लेने पर यह आन्दोलन वापिस ले लिया गया।

१९४७ भारत की स्वतन्त्रता का स्मरणीय वर्ष है। किन्तु इसके साथ ही देश के विभाजन और मुसलिम लीग द्वारा हिन्दुओं के विरुद्ध की गयी प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा हिन्दुओं पर हमले किये गये। नोआखाली और त्रिपुरा में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। इनकी चिंगारियों ने बिहार में भी साम्प्रदायिक दावानल को मुजफ्फरपुर आदि स्थानों में प्रज्वलित किया। इसके शमन में और हिन्दुओं की रक्षा करने में आर्यसमाज का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१९५० में बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के कुछ दिग्गज विद्वानों और कर्मठ कार्यकर्ताओं का स्वर्गवास हुआ। इनमें वैद्यनाथ धाम गुरुकुल के अधिष्ठाता और बिहार-सभा के प्रधान स्वामी रामानन्द, बिहार-शरीफ के कर्मठ कार्यकर्ता बाबू महेश लाल आर्य और रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री सिंह ११ वर्ष तक बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के सर्वसम्मति से प्रधान चुने जाते रहे थे और आर्यसमाज के अतीव कर्मठ कार्यकर्ता थे।

५ अगस्त १९५१ को बिहार के सुप्रसिद्ध चिकित्सक पटना विश्वविद्यालय के भावी कुलपति डॉक्टर दुखनराम आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। इसके साथ ही उनके कुशल एवं ओजस्वी नेतृत्व से सभा के इतिहास में प्रगति का एक नया युग शुरू हुआ। अगले २७ वर्ष तक ये सभा के प्रधान-पद को सुशोभित करते रहे, और इनके समय में आर्यसमाज ने प्रचार एवं शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इस समय अनेक डी.ए.वी. स्कूल, कॉलिज, कन्याविद्यालय स्थापित हुए। आर्यसमाज के प्रचार का जो क्षेत्र अब तक नगरों तक सीमित था, उसे दूर देहातों, पहाड़ी इलाकों, आदिवासियों और हरिजनों में विस्तीर्ण किया गया। सभा ने गोरक्षा-आन्दोलन तथा पंजाब के हिन्दी सत्याग्रह में तथा विदेशी ईसाई मिशनरियों के राष्ट्रविरोधी धर्म-प्रसार का प्रतिरोध करने में उल्लेखनीय कार्य किया। इस समय नेपाल में भी आर्यसमाज के प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। संथालों में आर्यसमाज के प्रचार का नये सिरे से संगठन किया गया। मधुपुर आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में प्रचार के लिए आदर्श आदिवासी विद्यालय का संचालन किया।

(४) बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा नेपाल में आर्यसमाज का प्रचार

बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने राज्य की उत्तरी सीमा पर अवस्थित नेपाल में भी स्वामी दयानन्द के संदेश के प्रसार का प्रयास किया है। प्राचीनकाल में यहाँ लुम्बिनी वन में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था, वर्तमान समय में यहाँ हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का प्राधान्य है; यह विश्व का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र है। भारत के धार्मिक आन्दोलनों का यहाँ प्रभाव पड़ता है। यहाँ प्रचलित हिन्दू धर्म में भी मध्ययुग में वही विकृतियाँ और दोष आ गये थे, जो भारत के पौराणिक धर्म में पाये जाते थे। अतः सुधारवादी नेपालियों का वर्तमान युग में इनके निवारण के लिए भारत से प्रेरणा प्राप्त करना सर्वथा स्वाभाविक था।

१९५१ तक नेपाल में सारी शासनसत्ता राणा कहलानेवाले राजा के प्रधान-मन्त्रियों में निहित थी। वही वहाँ की सरकार का संचालन करते थे। यह राणाशाही कट्टर पौराणिक और मूर्तिपूजक थी। उस समय आर्यसमाज के प्रचार और सत्यार्थ-प्रकाश पर वहाँ कड़ा प्रतिबन्ध लगा हुआ था। इसकी अवहेलना करके महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार करनेवालों को प्राणदण्ड दिया जाता था। नेपाल में कई व्यक्तियों ने आर्यसमाज के प्रचार के लिए सहर्ष मृत्यु का वरण किया। १९५१ में राणाओं के विरुद्ध सफल क्रान्ति हुई, राणाओं के स्थान पर राजाओं का शासन स्थापित हुआ और आर्यसमाज की बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा को पर्याप्त प्रयत्न करने के बाद अपना प्रचार करने की स्वतन्त्रता मिली। यहाँ नेपाल में आर्यसमाज के प्रचार का संक्षिप्त उल्लेख

आवश्यक प्रतीत होता है।

नेपाल में स्वामी जी के सिद्धान्तों की ओर सर्वप्रथम आकृष्ट होनेवाले नाथ-सम्प्रदाय के सन्त स्वामी ब्रह्मनाथ थे। वे तीर्थयात्रा के लिए भारत आते रहते थे। यहाँ वे आर्यसमाज के व्याख्यानों को सुनकर आर्यसमाजी बने। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का स्वाध्याय किया तथा इसका नेपाली भाषा में अनुवाद छपवाया। किन्तु पौराणिक मत, मूर्तिपूजा तथा श्राद्ध आदि की कड़ी आलोचना के कारण नेपाल में इसके प्रवेश पर पाबन्दी लगी हुई थी। इसे तोड़ने का यह सुन्दर उपाय ढूँढा गया कि नेपाल की सीमा पर अवस्थित तुलसीपुर नामक आर्यसमाज में नेपाली सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ रखवा दी गयीं और यहाँ से इन्हें गुप्त रूप से नेपाल में प्रसारित किया जाने लगा। स्वामी ब्रह्मनाथ ने नेपाली नवयुवकों को आर्यसमाज के गुरुकुलों में पढ़ने की प्रेरणा दी। इस प्रकार शिक्षा ग्रहण करके स्नातक बननेवालों में पण्डित शुक्रराज शास्त्री, पण्डित रामसिंह, पण्डित इन्द्रसेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने घोर कष्ट सहते हुए अपने प्राणों की आहुति देकर नेपाल में आर्यसमाज का प्रचार किया।

अमर शहीद पण्डित शुक्रराज शास्त्री के पिता राज-ज्योतिषी श्रीमाधवराव जोशी काठमांडू के रहनेवाले थे। उनका पालन-पोषण पौराणिक वातावरण में हुआ, नेपाल में वाममार्ग, मन्दिरों में मांस-मदिरा के व्यवहार तथा निरीह पशुओं की बलि से उनका मन बड़ा उद्विग्न हुआ। सच्चे धर्म की जिज्ञासा लेकर वे भारत आये। यहाँ अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हुए वाराणसी पहुँचे। यहाँ उन्हें स्वामी दयानन्द के दर्शन तथा व्याख्यान-श्रवण का सुअवसर मिला। इनसे प्रभावित होकर वे सच्चे वैदिकधर्मी बनकर स्वदेश लौटे।

स्वदेश आने पर वे राजकुमारों के शिक्षक नियत हुए। अपनी विद्वत्ता, योग्यता, वाक्पटुता से वे वहाँ बड़े लोकप्रिय थे, किन्तु वहाँ के धार्मिक पाखण्ड से बड़े दुःखी थे। इस समय इनके मन में सत्यार्थप्रकाश पढ़ने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई। उनको पोखरा नामक स्थान में एक ज्योतिषी के घर पर रद्दी के टोकरे में एक फटा हुआ सत्यार्थ-प्रकाश मिला। अपनी मनचाही वस्तु पाकर वे परम प्रसन्न हुए। इसका आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन करने से उनमें वैदिक धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा और आस्था उत्पन्न हुई और उन्होंने इसके प्रचार का दृढ़ संकल्प कर लिया।

अब उन्होंने काठमांडू तथा अन्य स्थानों में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार आरम्भ कर दिया। सर्वत्र आर्यसमाज की चर्चा होने लगी। यह पौराणिक पण्डितों को सह्य नहीं था। इससे उनकी आजीविका पर कुठाराघात की आशंका थी। अतः उन्होंने तत्कालीन प्रधानमन्त्री ३ सरकार देव शमशेरजंग बहादुर राणा के कान भरने शुरू किये। श्री जोशी के विरुद्ध चारों ओर से शिकायतें होने लगीं। जोशी जी प्रधानमन्त्री के बाल्यसखा थे। प्रधानमन्त्री ने उन्हें प्रेम से समझाते हुए कहा—"माधव ! तुम आर्यसमाज की गंगा में डुबकी मत लगाओ। यदि नहीं माने तो इसी में डूब जाओगे। अतः इससे बचो तथा औरों को बचाओ।" जोशी ने अपने गुरु जैसी निर्भीकता से उत्तर दिया—"देव, इस अमृतमयी गंगा में डुबकी लगाने से इसके अमृतभरे जो कण मुख में चले जाते हैं, वे बहुत स्वादु और मधुर लगते हैं। श्रीमान जी देवतुल्य हैं, श्री महाराज स्वयं भी इस अमृत को पान कर आनन्दित हों तथा प्रजा को भी इसका अमृतपान कराके पुण्य के भागी

बनें।" प्रधानमन्त्री ने उनके वचनों से प्रसन्न होकर उन्हें सब आरोपों से मुक्त कर दिया। उनके प्रेम तथा उदारता से ही उनके जीवनकाल में माधवराज जोशी विरोधियों के षड्यन्त्रों और कुचक्रों से बचे रहे और आर्यसमाज का प्रचार करते रहे।

किन्तु अगले प्रधानमन्त्री ३ सरकार चन्द्र शमशेर राणा के सत्तारूढ़ होने पर विरोधियों को अपने उद्देश्य की पूर्ति का स्वर्ण अवसर मिला। एक बार शास्त्रार्थ करने के बहाने दरबार में बुलाकर उनकी खूब पिटाई की गयी, कालकोठरी में बन्द कर दिया गया। अन्य आर्यसमाजियों पर भी घोर अत्याचार किये गये। उनसे माफी माँगने के लिए कहा गया। क्षमायाचना न करने पर यह योजना बनाई गयी कि उन्हें मुँह काला करके काले भैंसे पर बिठाकर घुमाया जाय और गले में यह पट्टी लटकाई जाय कि "नेपाल की जनता को भड़कानेवाले को यह दण्ड दिया जाता है।" इसे सुनकर ये नेपाल से निकल भागे और परिवार के साथ भारत चले आये। इनके साथ इनके दो पुत्र शुक्रराज तथा वाक्पतिराज और पुत्री चन्द्रकान्ता थी। जब ये वीरगंज, रक्सौल होते हुए गोरखपुर पहुँचे तो आर्यसमाज ने इनकी बड़ी सहायता की। इनके पुत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध स्वामी दर्शनानन्द द्वारा स्थापित सिकन्दराबाद गुरुकुल में किया गया। दोनों बालक प्रतिभाशाली थे, गुरुकुल से शिक्षा पूरी करके स्नातक बनने के बाद उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की संस्कृत की उच्चतम परीक्षा शास्त्री उत्तीर्ण की और स्वदेश लौट आये।

राणा ने इनके दिवंगत पिता के साथ किये दुर्व्यवहार के लिए खेद प्रकट किया और अपने गुरु श्री हेमराज से शास्त्रार्थ करने को कहा। इसमें पण्डित शुक्रराज शास्त्री ने मूर्तिपूजा का प्रबल खण्डन किया। राणा को यह बुरा लगा, किन्तु उन्होंने भी शास्त्री को कुछ नहीं कहा। फिर भी शास्त्री ने समझ लिया कि उनका वहाँ रहना निरापद नहीं है, अतः वे भारत चले आये। यहाँ उनकी प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं—पण्डित मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस से भेंट हुई। वे काफी समय तक दार्जिलिंग में आर्यसमाज का प्रचार करते रहे।

अगले राणा युद्ध शमशेर जंग बहादुर ने शासनसूत्र संभालते ही पण्डित शुक्रराज शास्त्री को नेपाल बुला लिया। उन्हें राजकीय स्कूल की पुस्तकें तैयार करने का काम सौंपा गया। इस कार्य को करते हुए भी उनमें आर्यसमाज और स्वतन्त्रता की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे इसके प्रचार के लिए विह्वल थे। राणाशाही की समाप्ति के लिए उन्होंने प्रजा परिषद् का निर्माण किया। एक दिन इन्होंने इन्द्र चौक में सार्वजनिक भाषण में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार किया। भाषण के १६ मिनट बाद इन्हें अपने साथियों—दशरथचन्द्र गंगालाल व भक्तराज के साथ पकड़ लिया गया। सिंह दरबार में उनपर अभियोग चलाया गया। उनपर यह आरोप था कि वे मूर्तिपूजा का खण्डन, विधवा-विवाह का समर्थन, बालविवाह का निषेध, तथा शूद्रों और स्त्रियों को वेद पढ़ाने का प्रचार करते हैं। उनपर एक अन्य आरोप राजद्रोह का तथा राणाओं को मरवाने का षड्यन्त्र करने का था। उन्हें प्राणदण्ड की आज्ञा दी गयी। रात बारह बजे उन्हें जेल की गाड़ी में रस्सी से बाँधकर जंगल में सर्वथा एकान्त स्थान पर पेड़ के नीचे ले-जाकर ईंटों के सहारे खड़ा किया गया। शास्त्री जी ने पुलिस कर्मचारियों को हटाकर फाँसी का फन्दा स्वयमेव गले में डाल लिया तथा ओ३म् का जाप करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। राणा सरकार ने जनता में आतंक बिठाने के लिए श्री शास्त्री के शव को ३६

घण्टे तक पेड़ पर लटकता रहने दिया और एक गत्ते पर यह लिखकर लटका दिया कि "सारे देश को भड़कानेवाले, क्रान्तिकारियों के गुरु और आर्यसमाजी होने पर ऐसा दण्ड मिलना ही था।" श्री शास्त्री को फाँसी देने के साथ ही उनके सहयोगी श्री गंगालाल तथा भक्तराज को गोली से उड़ा दिया। पेड़ की दूसरी डाली पर एक अन्य सहयोगी दशरथ-चन्द्र को फाँसी लगाई गयी।

इस बलिदान से नेपाल में अद्‌भुत जागृति उत्पन्न हुई। जनता राणाशाही को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गयी। इस घटना ने नेपाल में क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसके परिणामस्वरूप दो वर्ष के भीतर राणा सरकार की समाप्ति हो गयी। नेपाल को राणाशाही के नागपाश से मुक्त कराने में इस बलिदान का बड़ा योगदान है। इससे नेपाल में आर्यसमाज के प्रचार का पथ प्रशस्त हुआ।

बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री पण्डित वासुदेव शर्मा ने नेपाल में आर्य-समाज के प्रचार के लिए १९५० में वहाँ की सरकार से पत्राचार किया। १९४९ में सभा की ऐसी प्रार्थना काठमांडू सरकार ठुकरा चुकी थी। किन्तु अब १७ जुलाई, १९५१ को उसने अपने राज्य में सभा को प्रचार की अनुमति दे दी। इसके परिणामस्वरूप १३ से १६ सितम्बर १९५१ तक बीरगंज आर्यसमाज का पहला वार्षिकोत्सव नेपाल में सभा की ओर से बड़े समारोह के साथ मनाया गया। इसमें सभामन्त्री वासुदेव शर्मा, आचार्य रामानन्द शास्त्री तथा रामदेव शास्त्री सम्मिलित हुए। सभा की ओर से पण्डित रामदेव शास्त्री को काठमांडू में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए भेजा गया; इस कार्य के लिए सार्वदेशिक सभा बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा को १९५६ तक नियमित रूप से सहायता देती रही।

पण्डित रामदेव शास्त्री ने काठमांडू में एक आर्यसमाज स्थापित किया। इसके मन्त्री श्री हरिहर एवं प्रधान श्री धर्मचन्द्र यमी ने प्रचार-कार्य में बड़ा सहयोग दिया। २-२-५७ को नेपाल में आर्यसाज के प्रचार की एक सुव्यवस्थित योजना बनाने के लिए सभा द्वारा सात व्यक्तियों की एक समिति बनाई गयी। इसके द्वारा दिये गये सुझावों के अनुसार पण्डित शुक्रराज शास्त्री द्वारा लिखित गोरखाली भाषा में सन्ध्या की पुस्तकें तथा सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ वितरित करने के लिए भेजी गयीं। सभा की ओर से नेपाल में प्रचार तथा वस्तुस्थिति के निरीक्षण के लिए सर्वश्री रामानन्द शास्त्री, वैद्यनाथ प्रसाद तथा नन्दलाल भजनीक को भेजा गया। इस प्रतिनिधि-मण्डल का नेपाल में सर्वत्र स्वागत हुआ।

इसने लौटकर सभा को रिपोर्ट दी कि "नेपाल में आर्यसमाज का प्रचार आव-श्यक है, नहीं तो वह विदेशी ईसाइयों के चंगुल में चला जायगा, क्योंकि ईसाई नेपाल के पोखरा में स्कूल खोलकर छात्रों में ईसाई धर्म की भावना भर रहे हैं।" आर्यसमाज वैरगनिया के विशेष सहयोग से नेपाल तराई के गौर बाजार में हिन्दी विद्यालय तथा दयानन्द सेवा-सदन के दातव्य औषधालय को चलाया गया। श्री बालेश्वरसिंह के प्रयास से यहाँ आर्यवीर दल संगठित हुआ। काठमांडू आर्यसमाज के मन्त्री हरिहर प्रधान बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की कार्यपद्धति का अध्ययन करने के लिए पटना आये और इससे नेपाल में आर्यसमाज का कार्य प्रगति करने लगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

बंगाल और असम में आर्यसमाज का प्रचार और प्रसार

(१८८५-१९४८)

(१) बंगाल में आर्यसमाज की स्थापना से पहले की स्थिति

यह विधि का विचित्र संयोग है कि १८८५ ईसवी में जब पश्चिमी भारत की सुप्रसिद्ध नगरी बम्बई में भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना हो रही थी, उसी समय पूर्वी भारत की महानगरी और देश की राजधानी कलकत्ता में देश को सामाजिक कुरीतियों के बन्धन से मुक्त करानेवाली आर्यसमाज की स्थापना हुई। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की थी, किन्तु कलकत्ता में आर्यसमाज महर्षि के निर्वाण के दो वर्ष बाद स्थापित हुआ। यह बात उस समय अधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, जब हम यह देखते हैं कि महर्षि बम्बई आने से दो वर्ष पहले कलकत्ता में लगभग चार महीने प्रचार करते रहे थे। फिर भी आर्यसमाज की स्थापना पहले बम्बई में हुई और उसकी एक दशाब्दी बाद कलकत्ता को इसे स्थापित करने का गौरव प्राप्त हुआ। कलकत्ता का समाज विलम्ब से स्थापित होने के मूल कारण तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि में निहित हैं और इनकी जानकारी कलकत्ता में आर्यसमाज की प्रगति को समझने के लिए आवश्यक है।

१६ दिसम्बर, १८७२ को महर्षि दयानन्द एक सुधारवादी प्रगतिशील विचारों-वाले बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर एवं ब्राह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के निमन्त्रण पर कलकत्ता आये थे। कलकत्ता-यात्रा में उनका सम्पर्क प्रधान रूप से दो प्रकार के वर्गों से हुआ, और ये दोनों वर्ग विभिन्न कारणों से महर्षि के मन्तव्यों से सहमत नहीं थे।

पहला वर्ग अंग्रेजी शिक्षा सम्पन्न, पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित नगरों में निवास करनेवाला प्रबुद्ध बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग था। इसमें ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ-ठाकुर और इस समाज में विद्रोह का झण्डा खड़ा करनेवाले और उसे ईसाइयत की दिशा में ले-जानेवाले ओजस्वी वक्ता केशवचन्द्र सेन (१८३८-१८८४ ई०), प्रसिद्ध समाज-सुधारक और संस्कृतज्ञ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रमुख बंगाली समर्थक भूदेव मुखोपाध्याय और पश्चिमी शिक्षा तथा ईसाइयत के प्रभाव को रोकने के लिए चलाये जानेवाले आन्दोलन के प्रधान नेता, सुप्रसिद्ध महायोगी अरविन्द घोष के नाना राजनारायण बोस थे। उन दिनों बाबू केशवचन्द्र सेन ने यज्ञोपवीत धारण

करने के विरुद्ध उग्र आन्दोलन शुरू किया हुआ था। इन सबके साथ वार्तालाप और विचार-विनिमय से स्वामीजी पर कई प्रभाव पड़े। श्री केशवचन्द्र सेन के सुझाव से उन्होंने संस्कृत के स्थान पर हिन्दी में भाषण देना और वस्त्र धारण करना शुरू किया। उन्हें यह सुदृढ़ विश्वास हुआ कि हिन्दू जाति की दुर्दशा और मतभेदों का कारण वेदों को न मानना है। वेद के आधार पर हिन्दू समाज के विभिन्न सम्प्रदायों को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इसके साथ ही उनकी इस बात में आस्था अधिक गहरी हुई कि वैदिक धर्म इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य धर्मों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है।

दूसरा वर्ग संस्कृतज्ञ विद्वानों की पण्डित मण्डली का था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बनारस के संस्कृत कॉलिज की भाँति कलकत्ता में संस्कृत की शिक्षा के लिए संस्कृत कॉलिज की स्थापना की थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वाभाविक रूप से इस कॉलिज की शिक्षा-पद्धति के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाही, किन्तु उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ वैदिक साहित्य के पठन-पाठन की कोई व्यवस्था नहीं है। उन्होंने इस बात को लक्ष्य में रखते हुए कहा था कि जिन संस्कृत कॉलिजों में वेद नहीं पढ़ाये जाते हैं, उनका कोई लाभ नहीं है। उस समय श्रुति की अपेक्षा स्मृति और पुराणों के अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। वेदों के अनुशीलन की उपेक्षा का कारण सम्भवतः उनकी भाषा की दुरूहता, याज्ञिक कर्मकाण्ड की पद्धति प्रचलित न होने के कारण उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का न होना था। इसके साथ ही उव्वट महीधर ने वेदमन्त्रों के याज्ञिक कर्मकाण्ड के आधार पर जो अर्थ किये थे वे अश्लीलता के दोष से दूषित थे, शिष्ट जनों के लिए उद्वेगजनक थे और वेदों से उनकी श्रद्धा को विरत करनेवाले थे। अतः बंगाल के प्रमुख समाज-सुधारकों ने वेदों की उपेक्षा करते हुए उपनिषदों के अध्ययन पर अधिक बल दिया था। मूर्ति-पूजा में कट्टर विश्वास रखनेवाले पौराणिक पण्डित अपने निहित स्वार्थों और आर्थिक कारणों से महर्षि के विरोधी थे। कलकत्ता की पौराणिक मण्डली के नेता संस्कृत कॉलिज के प्रिंसिपल पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न व पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति थे। ये महर्षि के कट्टर आलोचक थे।

कलकत्ता के निकट हुगली में ८ एप्रिल, १८७३ को महर्षि का पण्डित ताराचरण आदि पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ के अध्यक्ष बाबू भूदेव मुखोपाध्याय थे। पण्डित ताराचरण इसमें मूर्ति-पूजा को वेदानुकूल नहीं सिद्ध कर पाए और भूदेव मुखोपाध्याय ने पण्डित ताराचरण के शास्त्रार्थ में पराजित होने की घोषणा की। बाद में पण्डित ताराचरण ने यह स्वीकार किया कि वे आजीविका के लिए मूर्ति-पूजा का का समर्थन करते हैं। कलकत्ता की पण्डित-मण्डली मूर्तिपूजा को वेद-सम्मत नहीं सिद्ध कर सकी। अतः महर्षि के विचारों से प्रभावित कुछ निष्पक्ष विद्वानों ने महर्षि के पक्ष में प्रचार करना आरम्भ कर दिया और यह कहा कि उनके साथ हुए शास्त्रार्थ से यह बात सिद्ध हो गयी है कि पौराणिक पण्डितों को वैदिक ग्रन्थों का अधिक ज्ञान नहीं है।

इस समय जनता में महर्षि के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए कलकत्ता की पण्डित-मण्डली ने २२ जनवरी, १८८१ ई० को रविवार की शाम को ३०० पण्डितों की **आर्य सन्मार्गदर्शिनी** नामक एक विशाल सभा का आयोजन कलकत्ता के अनेक धनी-मानी प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में किया। इस सभा के प्रबन्धक कलकत्ता संस्कृत कॉलिज के प्रिंसिपल पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न थे। इस

सभा में बंगाल से बाहर उत्तरप्रदेश, मद्रास आदि के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् सम्मिलित हुए, किन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर किसी कारणवश सम्मिलित नहीं हुए। सम्भवतः वह सभा को आयोजित करनेवाले पण्डितों के उद्देश्य से सहमत नहीं थे। इस सभा में पण्डितों ने चार प्रश्न उपस्थित करके इनपर अपना निर्णय दिया—पहला प्रश्न संहिता-भाग के समान ब्राह्मण-भाग और मनुस्मृति आदि स्मृतियों को प्रामाणिक मानने का था। महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज केवल संहिता-भाग को प्रामाणिक मानते थे, किन्तु इस सभा में दोनों को प्रामाणिक मानने का निर्णय किया गया। दूसरा प्रश्न था कि विष्णु, शिव, दुर्गा-पूजन, श्राद्ध की विधि और तीर्थयात्रा शास्त्रोक्त हैं या नहीं? इनके शास्त्र-सम्मत होने के पक्ष में निर्णय किया गया। तीसरा प्रश्न वेदमन्त्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में था कि क्या ऋग्वेदादि में 'अग्निमीळे पुरोहितं आदि मन्त्रों में अग्नि का अर्थ आग समझना चाहिए अथवा ईश्वर? आर्यसमाज यौगिक पद्धति का अनुसरण करते हुए अग्नि को ईश्वर का वाचक समझता था, किन्तु पौराणिक पण्डितों के निर्णय के अनुसार अग्नि का अर्थ आग ही करना उचित था। चौथा प्रश्न हवन के बारे में था। इसमें यह पूछा गया था कि क्या यज्ञ वायु और जल की शुद्धि के लिए किया जाता है या मुक्ति के लिए? इसका निर्णय करते हुए कहा गया कि यज्ञ मुक्ति के लिए किया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इस सभा में महर्षि दयानन्द अथवा आर्यसमाज के प्रतिनिधियों को नहीं बुलाया गया था और स्वयमेव मनमाने ढंग से पण्डितों ने यह निर्णय विरोधी दल को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिये बिना ही कर लिया था।

सामान्य जनता पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उन दिनों कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले भारतमित्र नामक पत्र ने १० फरवरी, १८८१ के अंक में इस विषय में पण्डित भानुदत्त शास्त्री का एक पत्र प्रकाशित किया था। इसमें इस सभा के निर्णयों की आलोचना करते हुए लिखा गया था कि "तर्क का आश्रय लिये बिना या वादियों के ग्रन्थ देखे बिना घर में ही निर्णय करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं प्रतीत होता है और न ही इससे वादियों के मत का खण्डन और साधारण समाज की सन्तुष्टि हो सकती है। सब यही कहेंगे कि सब कोई अपने घर में ही अपनी स्त्री का नाम महारानी रख सकते हैं। यदि कोई मन में दुःख न माने तो ऐसी सभा के समर्थकों से यह बात कहना उचित प्रतीत होता है कि वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्मुख आकर कोई शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते हैं? यह स्पष्ट है कि आर्य सन्मार्गदर्शिनी सभा का एकमात्र लक्ष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रमुख सिद्धान्तों का मनमाने ढंग से उग्र विरोध करना था।"

संस्कृत कॉलिज में वेदाध्ययन नहीं कराया जाता था। उन दिनों यह आन्दोलन चल रहा था कि संस्कृत कॉलिज बन्द कर दिया जाए। बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर ने ऐसा प्रस्ताव भी किया था। स्वामीजी ने इस बात को सुनकर यह कहा था कि ऐसे संस्कृत कॉलिज के रहने से कुछ लाभ नहीं जिसमें वेद नहीं पढ़ाये जाते हैं, अतः जब स्वामीजी के निवासकाल में श्री प्रसन्नकुमार ठाकुर ने मूला जोड़ नामक स्थान में संस्कृत पाठशाला की स्थापना की तो स्वामीजी ने वहाँ जाकर यह प्रस्ताव किया कि इसमें वेदों की शिक्षा दी जानी चाहिये और इस बारे में उन्होंने नेशनल पत्रिका के सम्पादक श्री नवगोपाल मित्र को भी एक पत्र भेजा था। किन्तु स्वामीजी के इन प्रयासों का कलकत्ता की पण्डित-मण्डली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय उव्वट महीधर जैसे वेद-भाष्य-

कारों द्वारा यजुर्वेद की याज्ञिक कर्मकाण्ड परक ऐसी व्याख्यायें की गयी थीं जो परिष्कृत रुचि रखनेवाले सज्जन पण्डितों के लिए बड़ी अश्लील और उद्वेगजनक थीं। इन्होंने वेदों में पण्डितों की अनास्था उत्पन्न कर दी थी, अतः वे वेद के अध्ययन को कोई महत्त्व नहीं देते थे। किन्तु स्वामीजी कलकत्ता में अपने व्याख्यानों में प्रायः यह कहा करते थे कि वेदविहीन संस्कृत शिक्षा से कोई लाभ नहीं है; वेद की शिक्षा न होने से पुराणों को पढ़कर व्यक्ति अनाचारी हो जाते हैं। स्वामीजी का वेदविषयक यह दृष्टिकोण पण्डित-मण्डली में मान्यता नहीं प्राप्त कर सका।

पाश्चात्य शिक्षा-सम्पन्न पढ़ा-लिखा मध्यम वर्ग महर्षि के सुधारवादी दृष्टिकोण से अधिकांश बातों में सहमति रखता था। वह मूर्तिपूजा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और जातिभेद की व्यवस्था का विरोधी था। किन्तु पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के कारण श्री केशवचन्द्र सेन आदि ब्राह्मसमाजी बुद्धि को ही परम प्रमाण मानते थे और वेदों को निर्भ्रान्त नहीं समझते थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज का यह एक मौलिक मतभेद था। महर्षि यदि वेदविषयक सिद्धान्त पर आग्रह न करते तो ब्राह्म-समाज और आर्यसमाज में कोई बड़ा भेद नहीं रह जाता था। अनेक ब्राह्मसमाजियों ने वेदों के परित्याग के लिए स्वामीजी से प्रस्ताव किया था, किन्तु महर्षि इस विषय में अपने सिद्धान्त पर अडिग थे। उनका विश्वास था कि वर्तमान हिन्दू धर्म की शोचनीय दशा का उद्धार वेदोक्त धर्म का पालन करने से सम्भव है और केवल श्रुति के आधार पर सैकड़ों मत-मतान्तरों और हजारों जातियों, उपजातियों में विभक्त हिन्दू धर्म को एकता के दृढ़ सूत्र में पिरोया जा सकता है। वे किसी भी दशा में वेद के आधार को छोड़ने को तैयार नहीं थे और सुशिक्षित मध्यमवर्गीय ब्राह्मसमाजी इसे स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। अतः मध्यम वर्ग में आर्यसमाज की विचारधारा लोकप्रिय नहीं हो सकी।

एक अन्य कारण था—किसी नये समाज के संगठन के लिए आवश्यक तत्त्वों का अभाव। कलकत्ता जाने से पहले तक महर्षि ने अधिकांश समय गंगा-यमुना के दोआब (अन्तर्वेद) में संस्कृत भाषा का प्रचार करते हुए व्यतीत किया था। उनके भाषणों का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। किन्तु यह उनके श्रोताओं तक ही सीमित रहता था। उन्होंने अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों को लेखबद्ध नहीं किया था, अपने अनुयायियों द्वारा अनुसरण की जानेवाली उपासना-पद्धति का विकास नहीं किया था और समाचारपत्रों तथा पुस्तकों को अपने विचारों के प्रचार का साधन नहीं बनाया था। कलकत्ता जाने पर उन्होंने इन सब बातों के महत्त्व को अनुभव किया। एप्रिल, १८७३ में कलकत्ता से लौटने पर उन्होंने आर्यों के दैनिक कर्मकाण्ड के लिए पंचमहायज्ञ-विधि प्रकाशित की और १८७५ में उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित हुआ। संस्कारविधि का लेखन भी महर्षि ने आरम्भ किया। इसके बाद उन्होंने प्रचार के अन्य साधनों को भी अपनाया और इसे स्थायी रूप से करने के लिए आर्यसमाज के संगठन का निर्माण किया। इन सब बातों का विकास महर्षि की कलकत्ता-यात्रा तक नहीं हुआ था।

इसके अतिरिक्त एक तीसरा बड़ा कारण भाषा-विषयक कठिनाई थी। महर्षि कलकत्ता की लोकभाषा बंगला से सर्वथा अपरिचित थे। वहाँ की जनता में स्थायी रूप से प्रभाव डालने के लिए बंगला भाषा का व्यवहार अतीव आवश्यक था। कलकत्ता पहुँचने तक वह अपने अधिकांश भाषण समूचे भारत की पण्डित-मण्डली में समझे जानेवाली संस्कृत

भाषा में दिया करते थे। श्री केशवचन्द्र सेन ने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि संस्कृत भाषा को भारत का अतीव अल्पसंख्यक पण्डित-समुदाय ही समझता है। जनता में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उन्हें लोकभाषा में व्याख्यान देने चाहिए। बंगाल की लोक भाषा बंगला थी। अतः जबतक आर्यसमाज का साहित्य बंगला भाषा में उपलब्ध न हो तबतक बंगाल में आर्यसमाज लोकप्रिय नहीं हो सकता था।

चौथा कारण यह था कि महर्षि को कलकत्ता के निवासकाल में उस तरह के भक्त और प्रचारक अनुयायी नहीं मिले, जैसे उन्हें बम्बई और पंजाब में मिले थे। इन दोनों प्रान्तों में उन्हें न तो कोई भाषा-सम्बन्धी कठिनाई थी और न उनके सन्देश को जनता में व्यापक रूप से प्रचारित करनेवाले अनुयायियों की कमी थी, अतः इन प्रान्तों में आर्यसमाज का संगठन बंगाल की अपेक्षा अधिक पहले बना और उन्होंने यहाँ आर्य-समाज के कार्य को अद्भुत निष्ठा और भगीरथ परिश्रम से सफल बनाया। बंगाल में उपर्युक्त कठिनाइयों को दूर करने और आर्यसमाज के प्रमुख ग्रन्थों को बंगला भाषा में अनूदित करने का कार्य सर्वप्रथम पिछली शताब्दी की समाप्ति पर ही श्री शंकर पण्डित ने किया। इन्हें वस्तुतः बंगाल में आर्यसमाज का आधार-स्तम्भ और संस्थापक कहा जा सकता है।

ये कलकत्ता हाई कोर्ट के जज श्री शम्भु मित्र के सुपुत्र थे। बचपन से इनकी प्रवृत्ति धर्म, अध्यात्म एवं समाज-सुधार की ओर थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। इन्होंने स्वयमेव इनका बंगला भाषा में अनुवाद करने का बीड़ा उठाया और आजीवन इस कार्य को बड़ी निष्ठा से करते रहे। बंगाल में आर्य-समाज ने जब वेद-प्रचार के कार्य का श्रीगणेश किया, उस समय पण्डित शंकरनाथ आर्यसमाज के लिए वरदान सिद्ध हुए। पण्डितजी ने न केवल अपने ओजस्वी तथा प्रभावशाली व्याख्यानों द्वारा वैदिक सिद्धान्तों को बंगलाभाषा-भाषी नर-नारियों में लोकप्रिय बनाया, अपितु इस प्रभाव को सुस्थिर बनाये रखने के लिए बंगला में वैदिक साहित्य का निर्माण भी किया। वे लेखनी के धनी थे; बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे, इनमें अच्छी तरह भाषण और लेखन कर सकते थे। उन्होंने वेद और आर्यसमाज के सम्बन्ध में अंग्रेजी, बंगला और हिन्दी में ३७ पुस्तक-पुस्तिकाओं की रचना की। बंगला भाषा में उनके द्वारा अनुवाद किये गये ग्रन्थों में **सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, संस्कारविधि, पंचमहायज्ञ विधि, आर्योद्देश्य-रत्नमाला** के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने स्वामी दयानन्द का एक संक्षिप्त जीवनचरित्र भी बंगला में लिखा है। आर्यसमाज के विभिन्न सिद्धान्तों पर बंगला भाषा में छोटी-छोटी पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कीं। इनमें **वेद नित्य ओ अपौरुषेय, स्त्री शूद्रादिर वेद-पाठ, वैदिक यज्ञ हिंसा निषेध** उल्लेखनीय हैं। स्वामीजी तथा आर्यसमाज के बारे में उनकी एक छोटी-सी पुस्तक **स्वामी दयानन्द ओ आर्यसमाज** ने बंगला-भाषियों में आर्यसमाज को लोकप्रिय बनाया। इन पुस्तकों के परिणामस्वरूप बंगभाषी जनता को आर्यसमाज का पहला प्रामाणिक परिचय मिला। उनके मौलिक बंगला ग्रन्थों में **पुराण ओ व्यासदेव, मानव जीवनेर कर्म उद्देश्य ओ परिणाम** उल्लेख योग्य हैं। बंगला के अतिरिक्त बंगाल के अंग्रेजी पढ़े-लिखों में आर्यसमाज के प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने १२ पुस्तकें लिखीं। इनमें कुछ पुस्तकों के नाम ये हैं—(१) ह्वाट इज़ आर्यसमाज, पार्ट I, II, (२) दी वेदाज़

एज दी रेवेलेशन, (३) वेदाज़ इण्टेण्डेड फॉर आल। उनकी कुछ अंग्रेजी पुस्तकों में आर्यसमाज के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है, जैसे—द्वैत एण्ड अद्वैत फिलॉसफी, दैव एण्ड पुरुषकार, स्टडी ऑफ वेदाज़, क्लासिफिकेशन ऑफ वर्ण (कास्ट)। इनकी कुछ अंग्रेजी रचनाओं में उस समय के हिन्दू धर्म पर प्रबल आक्रमण करनेवाले ईसाई-मत की आलोचना है। इस प्रकार की कुछ पुस्तकें ये हैं—क्राइस्ट हू एण्ड ह्वाट ही वाज़ (ईसा कौन और क्या था?), क्राइस्ट—एन इण्डियन डिसाइपल एण्ड ए बुद्धिस्ट सेण्ट, पार्ट-I (ईसा—एक भारतीय शिष्य एवं बौद्ध सन्त, भाग-१), क्राइस्ट—ए प्योर बुद्धिस्ट, पार्ट-II (ईसा—एक विशुद्ध बौद्ध, भाग-२)। हिन्दी में उन्होंने हिन्दू संगठन और दलितोद्धार, आर्यसमाज परिचय, धर्मवीर, गुरु-शिष्य विषयक शास्त्र मत व वैदिक तीर्थ और दान विषयक शास्त्र मत नामक पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त वे व्याख्यानों द्वारा भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का निरन्तर प्रचार करते रहे।

(२) कलकत्ता में आर्यसमाज की स्थापना और आर्यसमाज के बंगाली प्रचारक

कलकत्ता यद्यपि बंगभाषा-भाषी नगरी है, किन्तु इसमें बिहार, राजस्थान, पंजाब आदि हिन्दीभाषी प्रान्तों के निवासी भी बड़ी संख्या में रहते हैं। इसमें निवास करनेवाले अनेक व्यक्ति स्वामी दयानन्द के उपदेशों के प्रभाव से आर्यसमाज के सिद्धान्तों में आस्था रखने लगे थे। इन व्यक्तियों के आर्थिक सहयोग से यहाँ आर्यसमाज का निर्माण और विकास हुआ। बिहार राज्य के श्री महावीर प्रसाद के प्रयास तथा श्री तेजनारायणसिंह के आर्थिक सहयोग से कलकत्ता में आर्यसमाज की स्थापना १८८५ में हुई। किन्तु पहले ३३ वर्ष तक आर्यसमाज का कोई अपना भवन नहीं था। अतः समाज के साप्ताहिक सत्संग पहली तीन दशाब्दियों में कलकत्ता के विभिन्न स्थानों में आर्यसमाज-प्रेमी व्यक्तियों तथा ब्राह्मसमाजियों के घरों पर होते रहे। १९१८ में तत्कालीन ईस्ट-इण्डिया रेलवे के चीफ इन्जीनियर रायबहादुर रलाराम जी के प्रयास से १९ विधान-सरणी (कार्नवालिस स्ट्रीट) कलकत्ता-६ में आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण हुआ। इसमें मारवाड़ी सेठ जयनारायण पोद्दार का सहयोग उल्लेखनीय है। उन दिनों कलकत्ता बंगाल की राजधानी थी, और इसकी आबादी वर्तमान जनसंख्या (९१,६६,०००) की तुलना में आज से ८० वर्ष पहले केवल १४,८०,००० थी। उस समय कलकत्ता न केवल भारत की, अपितु बंगाल की भी राजधानी थी और यह बड़ा विशाल प्रान्त था। इसमें उत्तर-प्रदेश के पूर्व का समूचा पूर्वी भारत—बिहार, उड़ीसा, असम, पश्चिमी बंगाल और बंगलादेश सम्मिलित थे। इस विशाल प्रान्त में आर्यसमाज के प्रचार करनेवाले महानुभाव प्रमुख रूप से तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं, आर्यसमाज के प्रचारक तथा उपदेशक, आर्यसमाज के कार्यकर्ता, और आर्यसमाज को उदारतापूर्वक सहायता देनेवाले व्यक्ति। इनके सम्मिलित प्रयत्नों से कलकत्ता आर्यसमाज का उत्कर्ष हुआ। अतः यहाँ इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पण्डित शंकरनाथ के बाद कलकत्ता आर्यसमाज में एक नये विद्वान् प्रचारक और लेखक का आविर्भाव हुआ। इसकी खोज पण्डित शंकरनाथ ने ही की थी। ये तत्कालीन पूर्वी बंगाल के पवना जिले के गाँव के एक रहनेवाले थे। असहयोग के राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने और अपने ओजस्वी भाषणों के कारण इन्होंने बंगाल में छोटी आयु

में ही बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। ईश्वर और धर्म में आस्था आपको माता-पिता से विरासत के रूप में मिली थी। बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आपने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। युवावस्था से आपका सम्पर्क कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर से हुआ। पण्डित शंकरनाथ की प्रेरणा से आप आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए और उनके सुझाव पर वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए आप शान्ति निकेतन में प्रविष्ट हुए। यहाँ से वेदशास्त्रों का गम्भीर अनुशीलन करने के बाद आपने वेदशास्त्री की उपाधि प्राप्त की और आर्य-प्रतिनिधि सभा बंगाल के कार्य में सर्वतोभावेन जुट गये। आपके ओजस्वी भाषण श्रोताओं पर गहरा प्रभाव डालते थे। शास्त्रार्थ-संग्रामों में इनकी सिंह-गर्जना प्रति-पक्षियों को हतप्रभ कर देती थी। वाणी के समान इनकी लेखनी में भी बड़ा ओज और प्रखरता थी। पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक-पुस्तिकाओं के माध्यम से इन्होंने बंगभाषी जनता को आर्यसमाज की वेदानुकूल, युक्तियुक्त, कल्याणकारिणी एवं देश और जाति की उन्नति करनेवाली विचारधारा से परिचित कराया। आर्यसमाज कलकत्ता की ओर से बंगला भाषा में वैदिक प्रचार के लिए निकाली गयी मासिक पत्रिका **आर्य गौरव** का इन्होंने कई वर्षों तक सफलतापूर्वक सम्पादन किया और इसके साथ ही बंगला और हिन्दी में ६० से अधिक पुस्तक-पुस्तिकाएँ लिखीं और गम्भीर वैदिक साहित्य का प्रणयन किया।

इनकी पुस्तकों को कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग वैदिक साहित्य-विषयक पुस्तकें हैं। आर्यसमाज की दृष्टि से वैदिक संहिताओं को सरल, सुबोध और सरस बंगला भाषा में प्रस्तुत करनेवाले ये पहले व्यक्ति थे। इनकी एक पुस्तक **वेदसार** में वैदिक साहित्य के चुने हुए उत्कृष्ट मन्त्रों का अर्थ और व्याख्या बंगला भाषा में दी गयी है। इसके साथ ही इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के मूल एवं पदों के अर्थों के साथ यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का, सामवेद के पूर्वार्चिक और महानाम्नी आर्चिक का और अथर्ववेद के प्रथम काण्ड का बंगला अनुवाद किया। इस प्रकार चारों वेदों के कुछ विशिष्ट खण्डों का बंगला भाषान्तर करनेवाले ये पहले व्यक्ति थे।

इनकी रचनाओं के दूसरे वर्ग में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रमुख ग्रन्थों का बंगला अनुवाद है। इन्होंने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, व्यवहार भानु, भ्रमोच्छेदन, गोकरुणानिधि, भ्रान्ति निवारण, वेदान्त ध्वान्त निवारण का बंगला अनुवाद किया। वैदिक सन्ध्या, हवन, उपासनापद्धति पर भी छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। आर्यसमाज के विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय देने के लिए **देव-देवी ओ मूर्तिपूजा, विधवा विवाह आपत्ति खण्डन, विधवा विवाहेर शास्त्रीय प्रमाण, शुद्धि, अवतारवाद, हिन्दू सभ्यता ओ वैदिक सभ्यता, धर्म-शिक्षा, आर्यसमाज परिचय, धर्मप्रवेश, आर्य-समाज तथा आस्तिकवाद, वेदामृत, बंगे दयानन्द, भारतेर आर्यसमाज, आर्यसमाज ओ दयानन्द** नामक पुस्तकें लिखीं। इनकी श्राद्ध पर लिखी **शास्त्र व परलोक, अशौच व प्रेत-लोक** नामक बंगला पुस्तकों ने बड़ी हलचल पैदा की। **गुरु गिरि गुरुडम** पर तीखा प्रहार करने वाली पुस्तिका है। अछूतों की समस्या पर इनकी एक क्रान्तिकारी पुस्तक **ब्राह्मण शूद्रेर संघर्ष** है। भारत पर ईसाइयत के संकट के निवारण के उपायों का विवेचन करने-वाली उनकी एक पुस्तक है—**भारते खिष्टान समस्या ओ ताहार प्रतिकार**। इनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी है। इसे इन्होंने ४० वर्षों के कठिन परिश्रम और खोज के बाद लिखा। इस जीवनी में स्वामीजी के जीवन

के अब तक अज्ञात पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। लेखक का यह दावा है कि उसने इसे बंगला भाषा में लिखे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। यह जीवनी पहले बंगला भाषा में लिखी गयी थी और बाद में इसका **योगी का आत्मचरित्र** के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया गया है।

श्री दीनबन्धु की यह योजना थी कि बंगभाषा में स्वामी दयानन्द सरस्वती की शैली में चारों वेदों का भाष्य पूरा किया जाए। इसकी भी एक विस्तृत योजना बनायी गयी। इसके अनुसार ऋग्वेद का २० खण्डों में, यजुर्वेद का ९ खण्डों में, सामवेद का ५ खण्डों में तथा अथर्ववेद का १६ खण्डों में एवं सम्पूर्ण चारों वेदों का ५० खण्डों में बंगला भाषान्तर किया जाना था। किन्तु इसमें कुछ अंश ही अब तक प्रकाशित हुए हैं। पण्डित जी को बंगाल और असम के शहरों और नगरों में वेद-प्रचार में बड़ा समय देना पड़ता था, इसलिए वेदभाष्य का काम पूरा नहीं हो सका। उपर्युक्त योजना में से ऋग्वेद के ३ खण्ड, यजुर्वेद का १ खण्ड, सामवेद के ३ खण्ड और अथर्ववेद का १ खण्ड प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों का भी दो खण्डों में बंग-अनुवाद छपा है, प्रथम खण्ड में ईशोपनिषद् का और द्वितीय खण्ड में केनोपनिषद्।

१९२७ में जब पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री प्रचार के लिए आसनसोल गये हुए थे तो उनके भाषणों में श्रीदर्शन नामक सज्जन उपस्थित थे। उन्हें आर्यसमाज के विचार और मन्तव्य बहुत अच्छे लगे। उन्होंने अपने छोटे भाई श्री प्रियदर्शन को आर्यसमाज के विचारों में प्रशिक्षित करने के विचार से दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। वहाँ इनकी शिक्षा-दीक्षा स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के सान्निध्य में हुई। इनकी शिक्षा का व्यय आंशिक रूप से आर्यप्रतिनिधि सभा बंगाल ने और शेष भाग उपदेशक महाविद्यालय ने वहन किया। वहाँ से सिद्धान्तभूषण की परीक्षा उत्तीर्ण कर आप आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में उतरे। आपने राजशाही जिले (वर्तमान बंगलादेश) के उत्तरी भाग में सत्संग, व्याख्यान, शुद्धि कार्य, अछूतोद्धार और अबला-उद्धार का कार्य किया। आपके प्रचार-कार्य से कुछ मुसलिम युवक भी प्रभावित हुए। इनमें एक व्यक्ति जियाउद्दीन ने आर्य धर्म में दीक्षित होकर सूर्यकान्तसिंह का नाम धारण किया। कई वर्षों तक आप आर्यसमाज कलकत्ता के एकमात्र बंगला मासिक पत्र **वेदमाता** का सम्पादन करते रहे। वैदिक साहित्य पीठ के अन्तर्गत आपने निम्नलिखित ग्रन्थों का निर्माण और प्रकाशन किया है—**आमरा आर्य, कामात्मा संघर्ष, मानवधर्मेर स्वरूप, कृष्णेर आह्वान, पुरीर जगन्नाथ, वैदिक धर्मधारा**। आपने आर्याभिविनय और सन्ध्योपासना के महर्षिकृत ग्रन्थों का बंगला भाषा में अनुवाद किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के बंगला अनुवाद का भी आपको श्रेय प्राप्त है। इसके अतिरिक्त आपने श्री दीनबन्धु शास्त्री द्वारा बनायी गयी अनुपलब्ध बंगला पुस्तिकाओं का पुनः प्रकाशन करके बंगला-भाषाभाषी जनता में ऋषि के विचारों को प्रसारित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

(३) कलकत्ता आर्यसमाज

यह तत्कालीन बंगाल प्रान्त में दानापुर के बाद स्थापित होनेवाला दूसरा समाज था। इसकी स्थापना महर्षि दयानन्द के महानिर्वाण के बाद हुई। पहले यह बताया जा चुका है कि आर्यसमाज की स्थापना के लिए बम्बई में जैसी अनुकूल परिस्थितियाँ

महर्षि को मिली थीं, वैसी बंगाल में नहीं थीं। बंगाली व्यक्ति भावुक होते हैं। स्वामी जी के उपदेशों का उनपर काफी प्रभाव पड़ा। किन्तु वहाँ स्वामी जी से पहले ब्राह्मसमाज हिन्दू धर्म एवं समाज-सुधार के आन्दोलन का बीड़ा उठा चुका था, उसे राजा राममोहन राय जैसे दूरदर्शी समाज-सुधारक का वरदहस्त प्राप्त था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे प्रभावशाली व्यक्ति उसके समर्थक थे और केशवचन्द्र सेन जैसे वाग्मी वक्ता उसका प्रबल प्रचार कर रहे थे। अतः ऐसी परिस्थितियों में ब्राह्मसमाज का प्रभाव अधिक होने के कारण बंगाल में आर्यसमाज के आन्दोलन को कोई विशेष समर्थन नहीं मिला। जिस प्रकार पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज तेजी से स्थापित हो रहे थे, वैसी स्थिति बंगाल में नहीं थी।

१८८३ में स्वामी जी के निर्वाण के बाद कलकत्ता में उनकी स्मृति में एक शोक-सभा हुई। इसमें बंगाल के अनेक सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक, शिक्षित व्यक्ति, नेता, विख्यात बैरिस्टर और विद्वान् सम्मिलित हुए। अगले वर्ष १८८४ में दीपमालिका के अवसर पर स्वामी जी की स्मृति में एक अन्य सभा का आयोजन किया गया, इसके अध्यक्ष बंगाल के सुप्रसिद्ध सुधारक नेता पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे। स्वामी जी के निर्वाण के तीसरे वर्ष १८८५ में कलकत्ता में जो सभा हुई, उसके प्रधान सुप्रसिद्ध महायोगी अरविन्द घोष के नाना श्री राजनारायण बसु थे। कलकत्ता में स्वामी जी के साथ इनका विभिन्न विषयों पर वार्तालाप और विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। स्वामी जी की भाँति ये भी हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ और संसार का सबसे पुराना धर्म मानते थे और स्वामी जी के विचारों के प्रसार में विशेष अभिरुचि रखते थे। वे स्वामी जी की स्मृति को कलकत्ता में स्थायी बनाना चाहते थे। इस सभा में इस दृष्टि से आर्यसमाज की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया और इसे शीघ्र ही कार्यान्वित किया गया। इस प्रकार कलकत्ता में आर्यसमाज की स्थापना हुई। कलकत्ता आर्यसमाज के पहले प्रधान भागलपुर के जमींदार श्री महावीर प्रसाद चुने गये। श्री तेजनारायण सिंह ने इस समाज को आर्थिक सहयोग प्रदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में इसके विकास में गैर-बंगालियों की प्रमुख भूमिका थी।

आरम्भ में इस समाज का कोई अपना निजी भवन नहीं था। इसके साप्ताहिक सत्संग कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्यों के निवासस्थान पर हुआ करते थे। १९१८ में रायबहादुर रलाराम के प्रयास से कलकत्ता आर्यसमाज के वर्तमान भवन का १९ विधान सरणी (तत्कालीन कार्नवालिस स्ट्रीट) में निर्माण हुआ। इसके निर्माण-कार्य में सेठ जयनारायण पोद्दार जी से बहुमूल्य सहयोग मिला। इस परिवार का कलकत्ता आर्य-समाज से १८९६ में सम्बन्ध आरम्भ हुआ था। उस समय से ये समाज के कार्यों में निरन्तर दिलचस्पी ले रहे थे। इनका पूरा परिवार आर्यसमाज के सभी कार्यों में पूरा सहयोग देता रहा है। श्री जयनारायणजी के बाद उनके पुत्र दीपचन्द पोद्दार, पौत्र कृष्णलाल पोद्दार कलकत्ता आर्यसमाज के प्रमुख उन्नायक थे।

कलकत्ता आर्यसमाज ने पिछली एक शताब्दी में बंगाल में वैदिक धर्म के प्रचार, शिक्षा-प्रसार तथा जन-कल्याण के कार्यों में प्रमुख भाग लिया है। कलकत्ता आर्यसमाज की प्रधान गतिविधियाँ निम्नलिखित रही हैं—

१. **वार्षिकोत्सव**—कलकत्ता आर्यसमाज प्रतिवर्ष वैदिक धर्म के प्रचार, समाज-

सुधार तथा अन्य ज्वलन्त राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करने के लिए वार्षिकोत्सव का आयोजन बड़ी धूमधाम से करता है। इस अवसर पर न केवल आर्यसमाज के प्रमुख संन्यासी, विद्वान्, व्याख्याता, संगीत से माधुर्य की वर्षा करनेवाले भजनोपदेशक आमन्त्रित किये जाते हैं, अपितु विभिन्न विचारधाराओंवाले व्यक्तियों को भी इसमें विचार प्रकट करने के लिए बुलाया जाता है। यह वार्षिकोत्सव दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में आरम्भ होता है तथा नव वर्ष की नूतन आशा, उल्लास और उमंग के वातावरण में समाप्त होता है। इस उत्सव पर विभिन्न प्रकार के सम्मेलनों को आयोजित किया जाता है। आर्यकन्या महाविद्यालय की बालिकाओं और आर्य स्त्री-समाज की महिलाओं के द्विदिवसीय सम्मेलन के साथ-साथ वेद सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, बंगला भाषा में वैदिकधर्म के प्रचार का सम्मेलन और धार्मिक विषयों पर शंका-समाधान की सभाएँ बड़े व्यवस्थित रूप से आयोजित की जाती हैं। इन सब कार्यक्रमों के कारण कलकत्ता आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव आर्य जगत् में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

२. **शिक्षा सम्बन्धी कार्यकलाप**—आर्यसमाज कलकत्ता के तत्त्वावधान में दो प्रमुख शिक्षा संस्थाओं–आर्यकन्या महाविद्यालय और रघुमल आर्य विद्यालय की स्थापना हुई है। इनमें बालक-बालिकाओं को सरकारी शिक्षा-विभाग द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम की शिक्षा देने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक संस्कृति का भी अध्ययन कराया जाता है और छात्रों तथा छात्राओं के चरित्र-निर्माण पर बल दिया जाता है। यहाँ धर्मशिक्षा की व्यवस्था है। अध्यापक तथा छात्र समाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा सन्ध्या-हवन के कार्यक्रम में सम्मिलित होते हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना १९०२ में एक छोटी-सी पाठशाला के रूप में की गयी थी, किन्तु शनैः-शनैः विकसित होकर इसने सरकार द्वारा मान्यता एवं सहायता प्राप्त कर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय का रूप धारण कर लिया।

इस संस्था का अपना विशाल एवं भव्य भवन है। इसके लिए पहले श्री जयनारायण जी ने पच्चीस हजार की धनराशि दान दी। जब इतनी ही राशि सेठ छाजूराम जी ने दी तो जयनारायण जी ने अपने दान को पचास हजार कर दिया। सर्वश्री जुगलकिशोर बिड़ला तथा तुलसीदत्त जी ने पच्चीस हजार की दो राशियाँ दीं। इनसे २० कार्नवालिस स्ट्रीट की जमीन पुराने मकान के साथ खरीद ली गयी। इसपर नया भवन बनाया गया। इसमें बिड़ला जी ने ५५,००० रुपये का तथा रघुमल चैरिटी ट्रस्ट से इसके ट्रस्टी श्री गुरुप्रसाद पोद्दार ने ५० हजार का विशेष दान दिया।

रघुमल आर्य विद्यालय बालकों की शिक्षा के लिए १९३६ में कलकत्ता आर्यसमाज द्वारा स्थापित किया गया था। बाद में इसने सरकार द्वारा मान्यता एवं सहायता प्राप्त उच्च माध्यमिक विद्यालय का रूप प्राप्त कर लिया।

आर्यसमाज कलकत्ता ने महिलाओं की शिक्षा और जागरण के सम्बन्ध में विशेष कार्य किया है। कन्याओं की शिक्षा के अधिक साधन जुटाने के लिए आर्यसमाज ने एक पृथक् विभाग का निर्माण किया। इसका प्रधान कार्य स्त्रियों की शिक्षा के लिए कन्या-विद्यालय को सुचारु रूप से चलाना और आवश्यक भवनों का निर्माण करना है। इसके लिए आर्य महिला शिक्षक मण्डल ट्रस्ट बनाया गया है।

पुस्तकालय—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई आर्यसमाज के नियमों में

पुस्तकालय की स्थापना को विशेष महत्त्व दिया था। अतः कलकत्ता आर्यसमाज ने वैदिक धर्म और संस्कृति का गम्भीर अध्ययन करनेवालों के लिए एक विशाल पुस्तकालय और वाचनालय की स्थापना की। इस पुस्तकालय में वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, व्याकरण, संस्कृत, हिन्दी, बंगला तथा अंग्रेजी की अनेक बहुमूल्य पुस्तकों का संग्रह किया गया।

स्त्री समाज—कलकत्ता आर्यसमाज ने स्त्रियों और बालकों के सत्संग पर और उनमें वैदिक संस्कार डालने पर विशेष बल दिया है। प्रायः परिहास में यह कहा जाता है कि आर्यसमाज में पुरुष यद्यपि वैदिक विचारों का अनुसरण करनेवाले होते हैं, किन्तु उनकी स्त्रियाँ पौराणिक मत की अवैतनिक प्रचारिकाएँ होती हैं, उनमें पुरानी परम्परागत रूढ़ियों के संस्कार इतने दृढ़ होते हैं कि उन्हें आसानी से नहीं हटाया जा सकता। अतः इनमें वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार करने का कार्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये नयी पीढ़ी का निर्माण करनेवाली और उनपर पहले संस्कार डालनेवाली होती हैं। कलकत्ता आर्यसमाज द्वारा इस ओर समुचित ध्यान दिया गया। महिलाओं में वैदिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था सुदृढ़ बनाने के लिए कलकत्ता आर्यसमाज की ओर से प्रति बुधवार को डेढ़ बजे से चार बजे तक आर्यसमाज-मन्दिर के सत्संग-भवन में ही आर्य स्त्री समाज का साप्ताहिक सत्संग आयोजित किये जाने की व्यवस्था की गयी। यद्यपि कलकत्ता महानगरी के दूरवर्ती प्रदेशों में रहनेवाली बहुत-सी बहनें यातायात के साधनों की कठिनाई के कारण इसमें उपस्थित नहीं हो पाती हैं, फिर भी आर्य स्त्रीसमाज कलकत्ता में बड़ी लोकप्रिय है और उनका स्त्रियों में वैदिक धर्म के प्रसार का प्रयास सराहनीय है। प्रमुख आर्यसामाजिक पर्वों पर तथा वार्षिकोत्सव के अवसर पर भी आर्य-स्त्री समाज की बहनों का पूर्ण सहयोग सदा उपलब्ध होता रहा है।

जनकल्याण के कार्य—आर्यसमाज कलकत्ता ने पिछली एक शताब्दी में भारत के किसी प्रदेश पर कोई प्राकृतिक भीषण विपत्ति आने पर इससे पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करने का यथाशक्ति पूरा प्रयास किया है। १९४२ में बंगाल के मिदनापुर जिले में समुद्री तूफान ने खण्डप्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया था। इसमें धनजन की भीषण क्षति हुई। आर्यसमाज ने तूफान-पीड़ितों के लिए सहायता आयोजित करने का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। इसी प्रकार का कार्य १९४३ में बंगाल के भीषण अकाल के समय तथा १९४६ में नोआखाली में भीषण नरसंहार के अवसर पर किया गया। देश के विभाजन के समय पूर्वी बंगाल से जो शरणार्थी आये थे, उनकी सहायता के लिए नोआखाली में एक केन्द्र बनाया गया।

(४) बंगाल के अन्य प्रमुख आर्यसमाज

आसनसोल आर्यसमाज—यह बंगाल का एक बड़ा पुराना आर्यसमाज है। बंगाल और बिहार की सीमा पर अवस्थित आसन तथा साल के तरुवरों से मण्डित आसनसोल कभी एक छोटी बस्ती हुआ करती थी। किन्तु आजकल इस क्षेत्र में कोयले की खानों की खुदाई से तथा अनेक प्रकार के उद्योगों तथा कल-कारखानों के स्थापित हो जाने से यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण नगर बन गया है। आर्यसमाज की स्थापना से पहले यह क्षेत्र प्राचीन परम्परागत पौराणिक रूढ़ियों से जकड़ा हुआ समाज था। अन्यत्र हिन्दू-

समाज में विद्यमान कुरीतियाँ यहाँ पर भी अपनी गहरी जड़ें जमाये हुई थीं। मूर्तिपूजा और विभिन्न अन्धविश्वासों का इस प्रदेश में प्राधान्य था; जनता की धार्मिक और सामाजिक दशा अतीव शोचनीय थी।

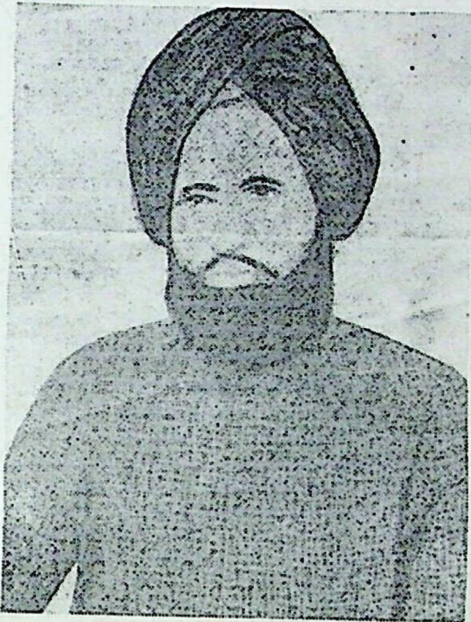
इस प्रकार की परिस्थिति में १९१४ के ऐतिहासिक वर्ष में जब यूरोप में विश्व युद्ध का श्रीगणेश हुआ तो यहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई। इसने यहाँ लोगों में एक नवीन चेतना जागृत की और पुरानी कुरीतियों और रूढ़ियों के नागपाश से लोगों को मुक्त किया। आसनसोल आर्यसमाज की स्थापना में सर्वश्री माधोलाल, महादेव सिंह तथा उनके मित्रों ने बड़ा भाग लिया। इनके अदम्य उत्साह, अविचल निष्ठा, भगीरथ परिश्रम और सराहनीय नैतिक साहस से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी यहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई और इसने मूर्तिपूजा के विरोध में आवाज उठाई। अस्पृश्य जातियों तथा स्त्रियों की दशा उन्नत करने का कार्य आरम्भ किया। शुद्धि-आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ, विधवाओं तथा अनाथों की रक्षा के लिए प्रयत्न शुरू किये गये।

कुछ समय बाद आर्यसमाज को कुछ अतीव उत्साही कार्यकर्ता मिले। इनमें निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री सुखदेव लाल मास्टर, भगवानदास, सूर्यनारायणसिंह, नन्दन लाल, गेबीराम, राजकुमार साब, शिवप्रसाद वर्मा तथा जिया लाल वैश्य। उस समय तक आर्यसमाज आसनसोल के पास अपना कोई भवन नहीं था। साप्ताहिक सत्संग तथा अन्य सामाजिक कार्यसमाज के सदस्यों के घरों पर हुआ करते थे। उपर्युक्त उत्साही आर्यजनों ने आर्यसमाज के भवन-निर्माण का सत्प्रयास किया। उन दिनों यहाँ एक अंग्रेज का मकान विकाऊ था। इसे चार बीघे भूमि सहित आर्यसमाज के लिए खरीद लिया गया। इसके लिए आवश्यक धनराशि जुटाने में अनेक दानी सज्जनों ने अपनी उदारहृदयता तथा दानशीलता का परिचय दिया। इनमें विशेष उल्लेखनीय नाम हैं—श्री हरदेवदास अग्रवाल और श्री बलीराम तनेजा।

इस समय आर्यसमाज को अनेक तरुण कार्यकर्ताओं का सहयोग मिला। इनमें कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों के नाम हैं—सर्वश्री चन्द्रशेखर, सनेहीराम, भृगुनाथ प्रसाद, नथमल खेतान, केदार नाथ दारुका, मोती लाल केडिया, महादेव लाल माखरिया, गौरीशंकर पुरोहित, शिवनारायण मिश्र, सरयू सिंह, देशराज, वासुदेव सहगल, देवराज-सब्बरवाल, सुन्दर लाल साहिता, हरप्रकाश अहलूवालिया, धर्मदेव प्रसाद, विश्वनाथ-प्रसाद, शिवचरण शर्मा, विजयकुमार खेतान, दूधेश्वर भोलासिंह और जयनारायण। श्री अजयसिंह यादव कई वर्षों तक आर्यसमाज के आसनसोल मन्त्री-पद को तथा श्री देशराज प्रधान-पद को अलंकृत करते रहे। इनके कार्यकाल में आर्यसमाज के कार्यकलाप में बड़ी वृद्धि हुई है।

आर्यसमाज का काम चलाने के लिए भवनों की आवश्यकता थी। अतः इस ओर पहले ध्यान दिया गया। उपर्युक्त महानुभावों के अनथक प्रयासों के परिणामस्वरूप आर्यसमाज के अनन्य प्रेमी श्री देवकीराम यादव ने अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में एक आकर्षक 'घनश्याम यज्ञशाला' बनवाई है। इसमें नियमित रूप से हवन के निमित्त रायबहादुर श्री ईश्वरदास ने स्थिर निधि के रूप में चार हजार रुपये का दान दिया। इस राशि से एक ट्रस्ट बनाया गया है और इस रुपये के ब्याज से हवन का काम सुचारु रूप से चलाया जाता है। इस यज्ञशाला में आर्यसमाज के साप्ताहिक यज्ञ और विशेष पर्व

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान
एवं आर्य महासम्मेलन (दिल्ली) के अध्यक्ष



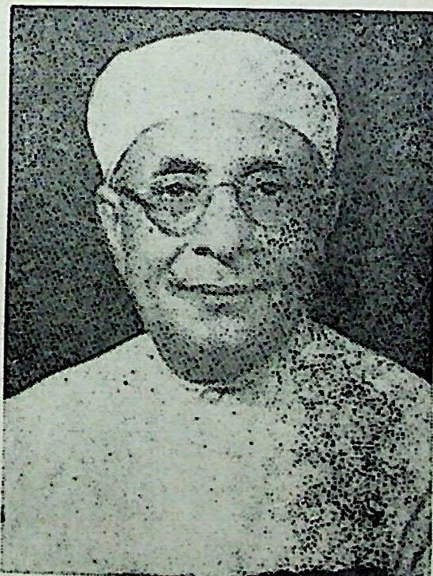
महात्मा हंसराज जी

आर्यसमाज अनारकली के
प्रथम प्रधान तथा आर्यसमाज
के महान् नेता



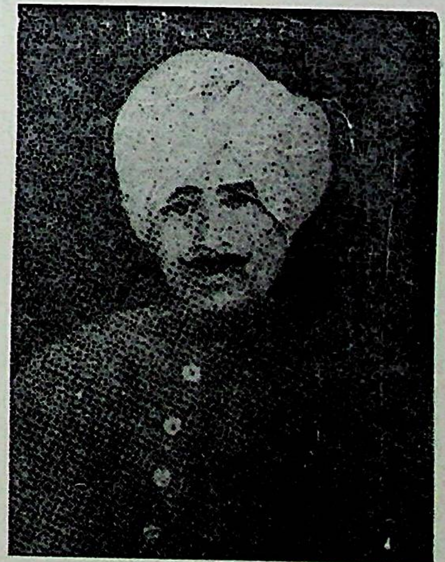
लाला लाजपतराय

आर्य प्रादेशिक सभा के भूतपूर्व प्रधान
एवं देश-देशान्तर में वैदिक धर्म के
महान् प्रचारक



महात्मा आनन्द स्वामी जी
(ला० खुशहालचन्द)

आर्यसमाज के महान्
शास्त्रार्थ-महारथी एवं
महोपदेशक

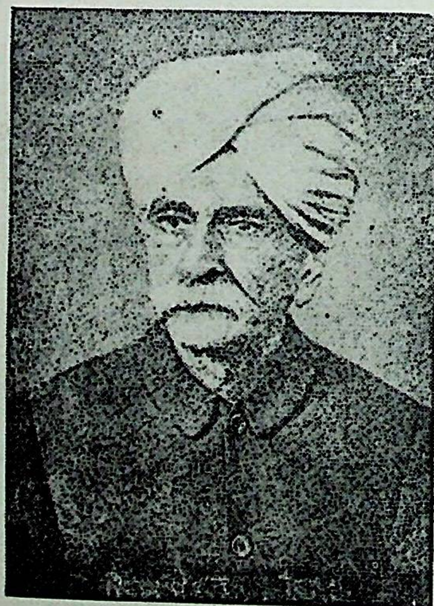


ठाकुर अमरसिंह जी
(वर्तमान महात्मा अमरस्वामी सरस्वती)

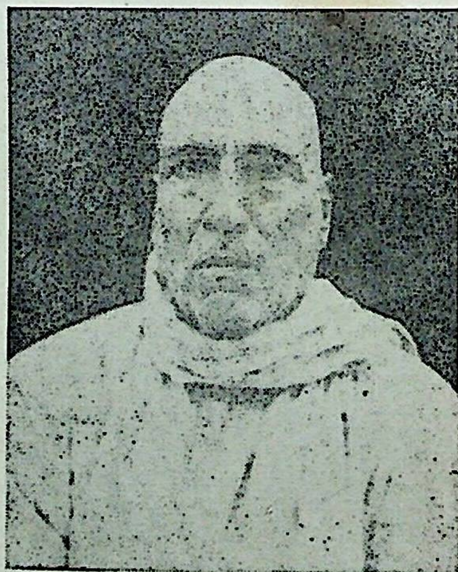
पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान तथा आर्यसमाज के महान् नेता



स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती तथा उनके साथी बायें से दायें—पं० पूर्णानन्द महोपदेशक, लाला रामकृष्ण प्रधान पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, लाला लब्भूराम नैयड़. डा० श्यामस्वरूप, पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर तथा पं० सूर्यदेव

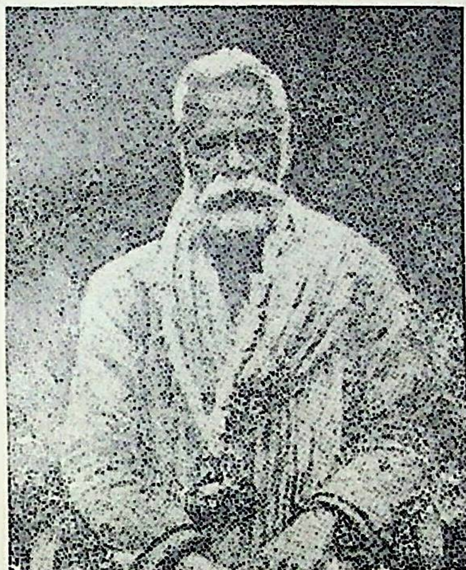


दीवान बदरीदास
भूतपूर्व प्रधान, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा



देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर में
वैदिक धर्म के महान् प्रचारक
महाबली स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी सरस्वती

महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी, मथुरा के मुख्य व्यवस्थापक एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महान् नेता



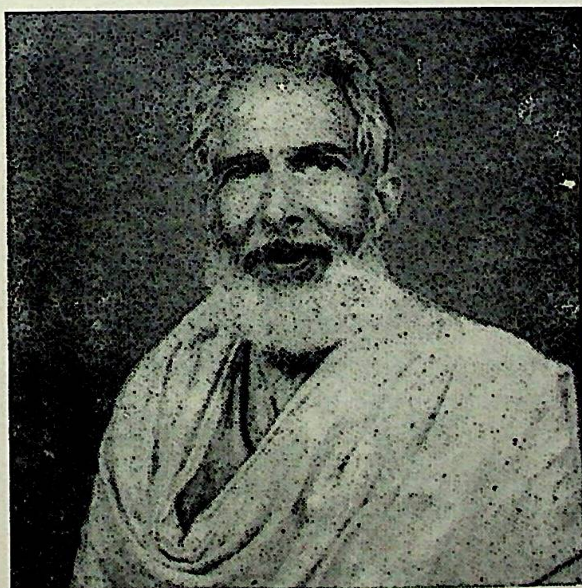
महात्मा नारायण स्वामी जी

बीसवीं सदी के प्रथम चरण के महान् आर्य संन्यासी व वैदिक धर्म के प्रचारक



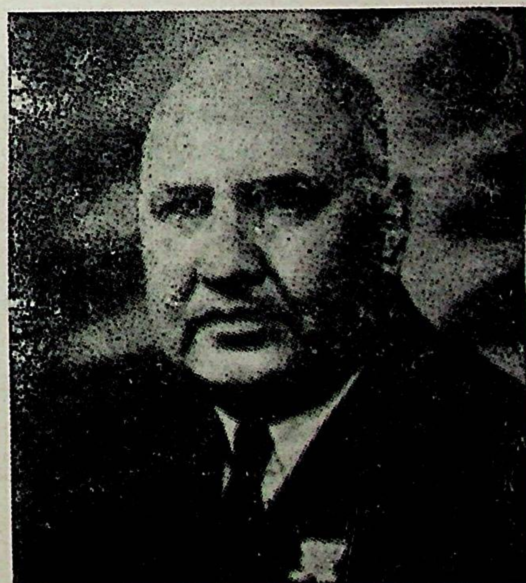
स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज

वेदों के अंग्रेजी भाषा में अनुवादक एवं दक्षिणी भारत में आर्यसमाज के मुख्य प्रचारक



स्वामी धर्मानन्द जी सरस्वती

पूर्वी अफ्रीका के महान् आर्य नेता जिन्हें सन् १९१५ में आर्यसमाज मोम्बासा से गिरफ्तार कर मृत्यु दण्ड दिया गया था, जो बाद में १४ वर्ष की कैद में परिवर्तित कर दिया गया।



श्री बी० आर० शर्मा

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रमुख नेता एवं पदाधिकारी

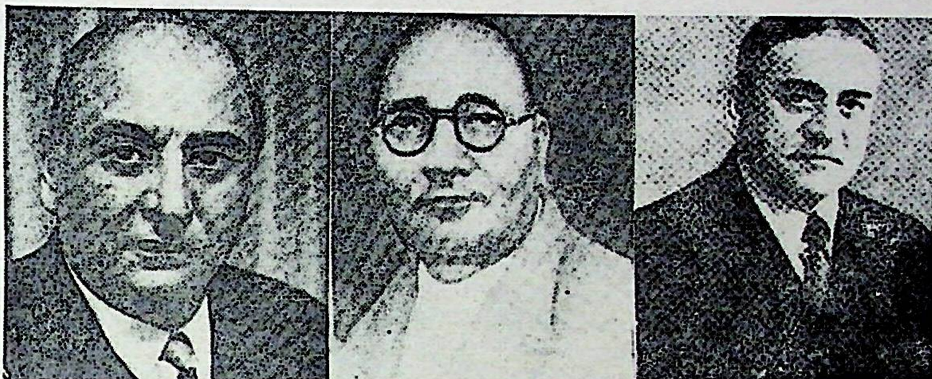


प्रथम पंक्ति—पं० पोशाकीलालजी, पं० क्षेत्रपालजी शर्मा कोषाध्यक्ष, बा० रामप्रसादजी बी०ए० वकील
द्वितीय पंक्ति—बा० पन्नालालजी बी०ए० एल०एल०बी०, मु० नारायणप्रसादजी, पं० तुलसीराम जी स्वामी, बा० मदनमोहन सेठ एम०ए० एल०एल०बी०, बा० श्रीरामजी
तृतीय पंक्ति—श्री अलखमुरारीजी बी०ए० एल०एल०बी०, बा० शालिग्रामजी वकील



पं० रामप्रसाद शर्मा (उपमन्त्री सभा), बा० गजाधरप्रसाद जी (ऑडीटर सभा), बा० ब्रजनाथ जी बी०ए०, एल०एल०बी० (पुस्तकाध्यक्ष सभा), बा० श्यामसुन्दरलाल जी बी०ए०, एल०एल०बी० (उपप्रधान सभा), बा० बलदेवप्रसादजी (वकील), बा० जीवनमल्लजी, बा० गुलराजगोपालजी गुप्त, कुं० हरिप्रसादसिंहजी (वकील), ठा० हरिबख्श सिंह जी

दक्षिणी अफ्रीका के आर्य नेता



श्री एच० बोधासिंह   श्री डी० जी० सत्यदेव   श्री एस० एन० सिंह

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व मन्त्री



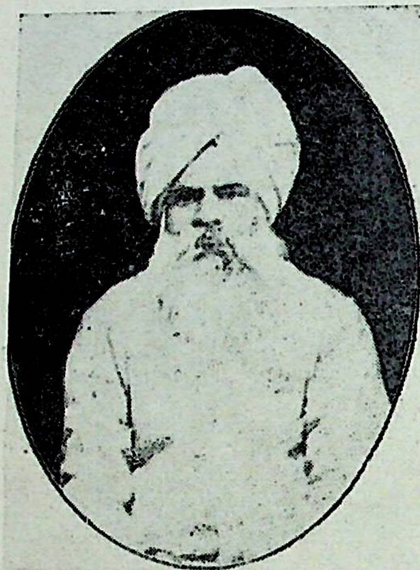
पं० भीमसेन जी विद्यालंकार   महाशय कृष्ण जी   पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा

आर्यसमाज के महान् प्रचारक एवं नेता

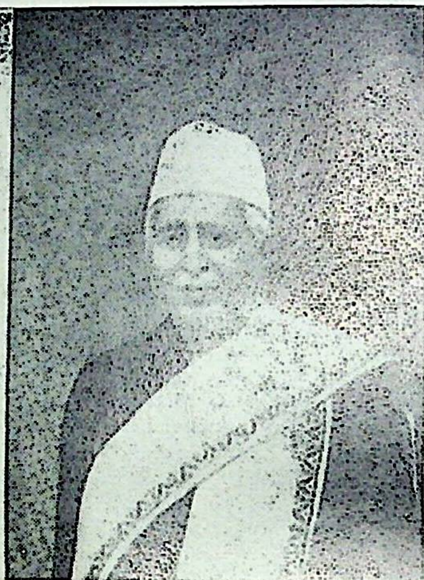


पं० गणपति जी शर्मा   पं० मुरारीलाल जी शर्मा   बाबू बिहारीलाल (उ० प्र० प्रतिनिधि सभा के प्रथम मन्त्री)   श्री मा० आत्माराम जी

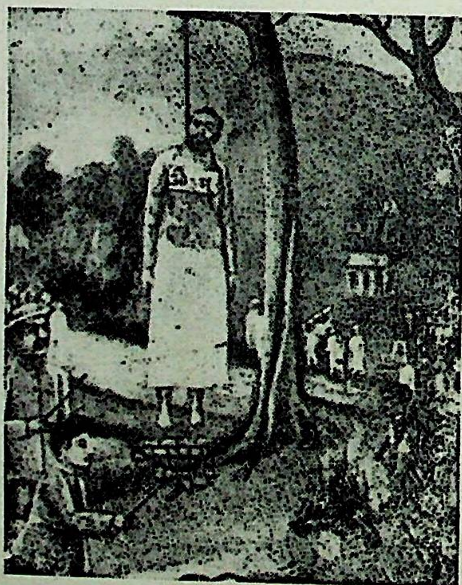
दलितोद्धार, शुद्धि तथा हिन्दू संगठन के यशस्वी नेता



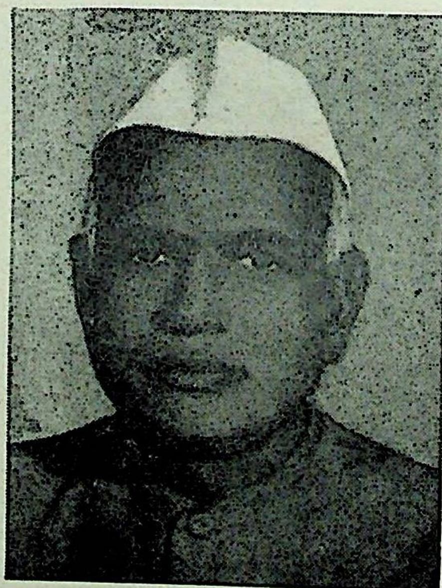
स्वर्गीय ठाकुर माधवसिंह जी
(हिन्दू शुद्धि सभा, आगरा के प्राण)



डा० सुखदेव जी
(दलितोद्धार सभा, देहली के प्राण)

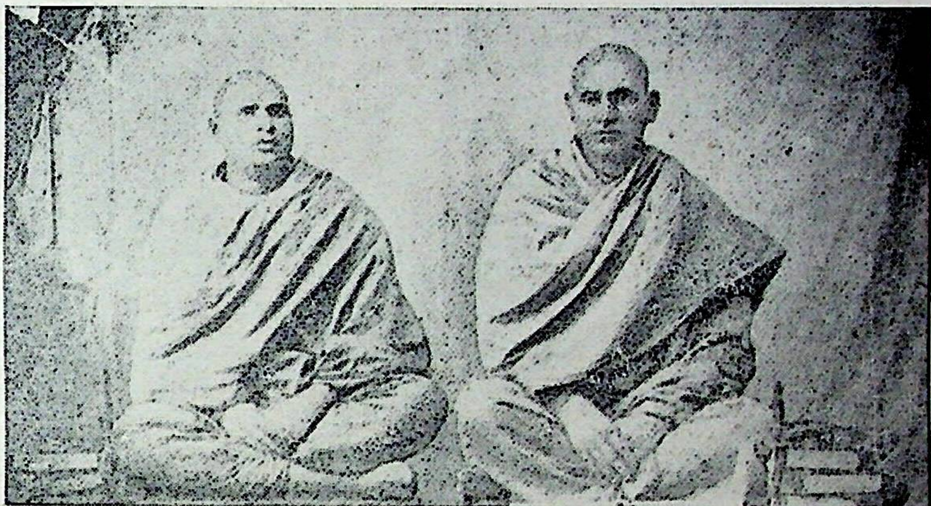


श्री सुखराज जी शास्त्री
(नेपाल के महान् आर्य शहीद)

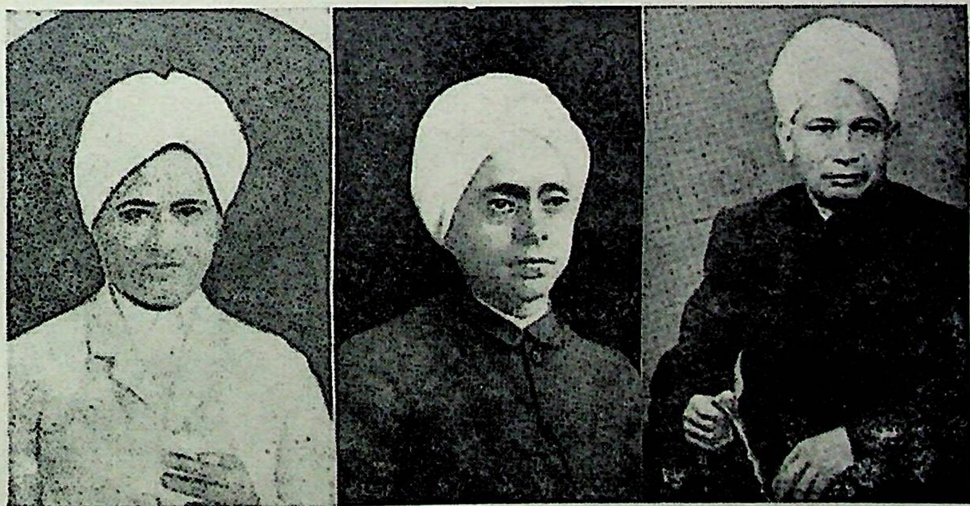


पं० विश्वम्भरप्रसाद जी शर्मा
(मध्यप्रदेश के आर्य नेता)

देश-देशान्तर में वैदिक धर्म के महान् प्रचारक



श्री स्वामी नित्यानन्द जी ब्रह्मचारी   श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी सरस्वती

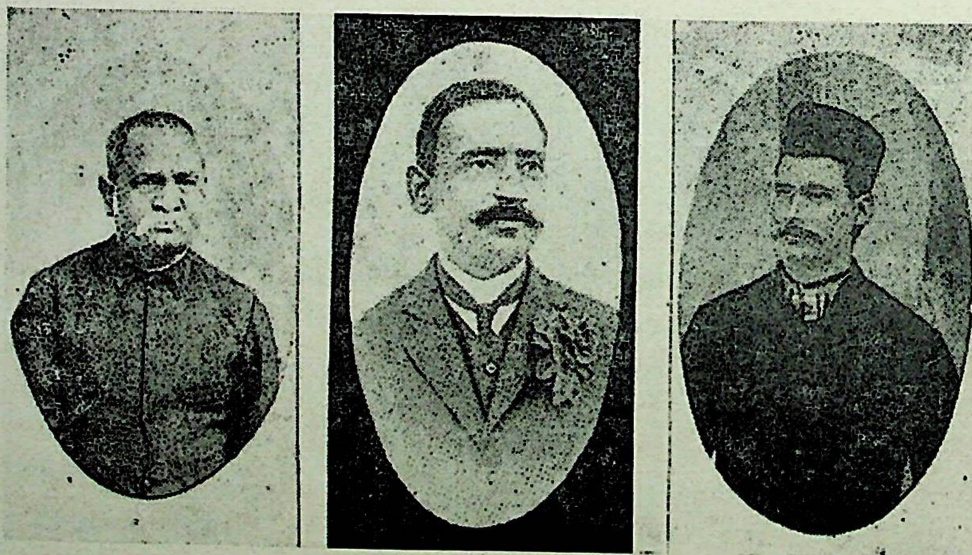


भाई परमानन्द जी   स्वामी भवानीदयाल जी संन्यासी   पण्डित ऋषिराम जी

संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के प्रमुख आर्य नेता, विद्वान् व कवि

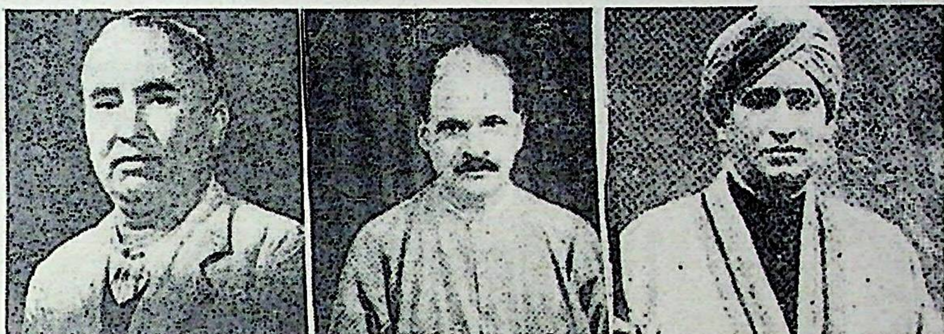


पण्डित घासीरामजी (मेरठ)　बाबू पूर्णचन्द्रजी (आगरा)　बाबू श्रीरामजी (आगरा)



पं० नाथूरामजी शर्मा 'शंकर'　पं० गंगाप्रसाद एम०ए० (जज टिहरी)　कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्मा

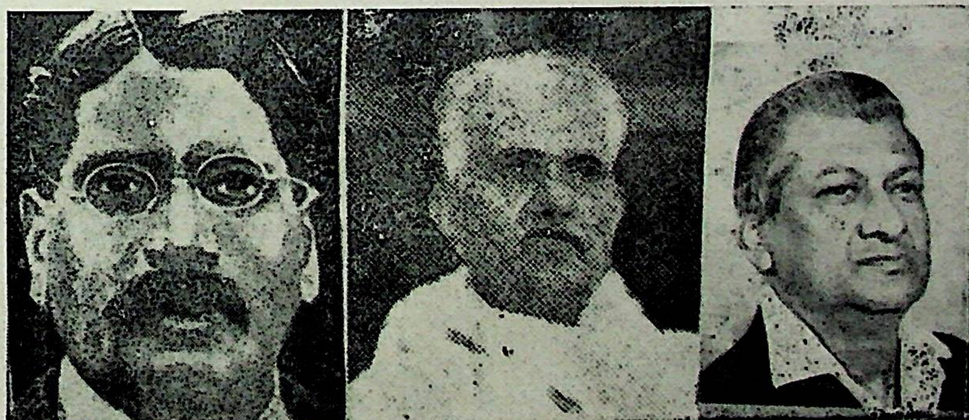
देश-देशान्तर में वैदिक धर्म के यशस्वी प्रचारक



पं० सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार   श्री मेहता जैमिनी जी   स्वामी शंकरानन्द जी सरस्वती



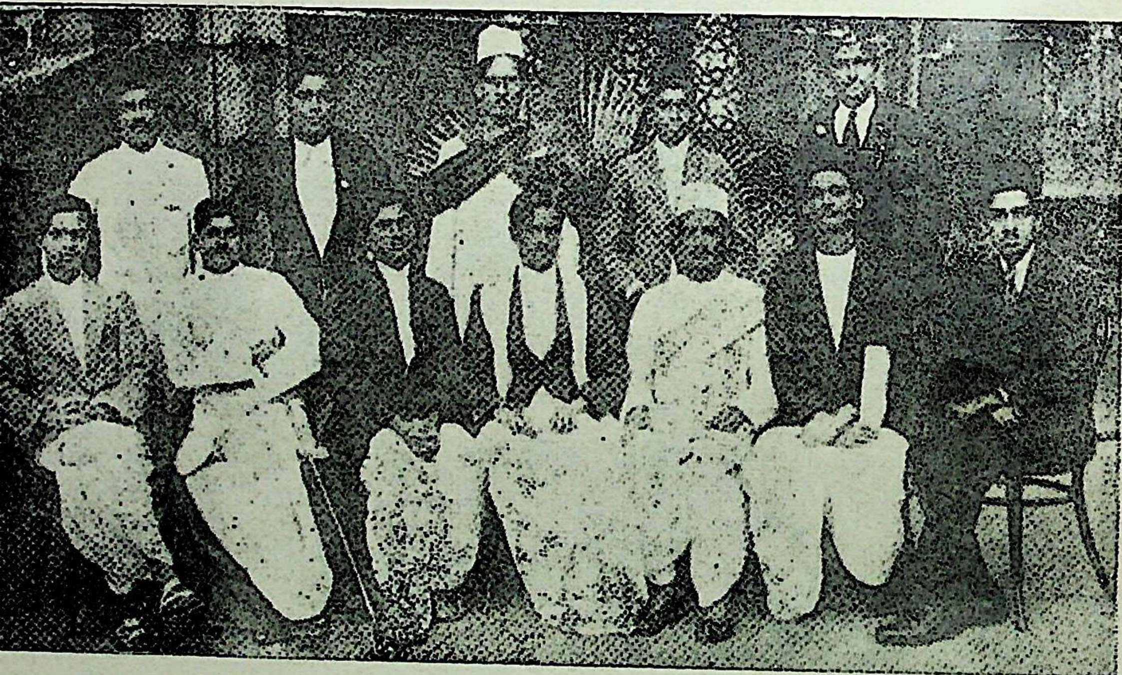
ठाकुर प्रवीणसिंह जी   डा० भगतराम जी सहगल   डा० चिरंजीव भारद्वाज



पं० काशीनाथ जी   पं० बिस्नूदयाल जी   श्री रामरूप जी आर्य

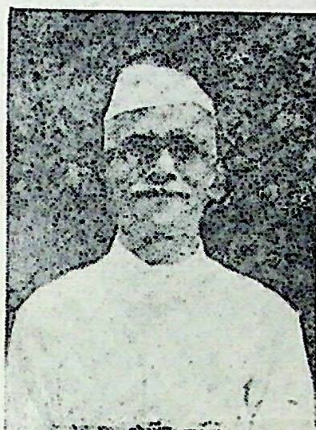
बम्बई फोर्ट आर्यसमाज

स्थापना काल से ही बम्बई फोर्ट आर्यसमाज में कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, हरयाणा, उत्तरप्रदेश आदि सभी प्रदेशों के आर्य नर-नारी उत्साहपूर्वक परस्पर सहयोग से कार्य करते रहे हैं।



प्रारम्भ काल के बम्बई फोर्ट आर्यसमाज के पदाधिकारी एवं अन्तरंग सभा के सदस्य

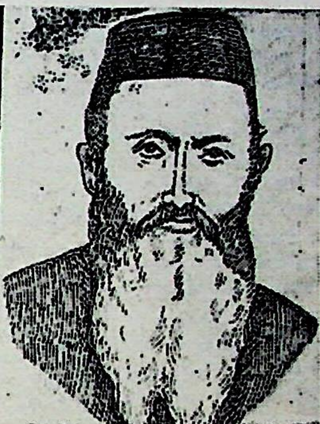
विविध प्रदेशों के आर्यसमाज के प्रभावशाली नेता एवं प्रचारक



श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त
(मध्यप्रदेश)



श्री पण्डित नरेन्द्रजी
(हैदराबाद)



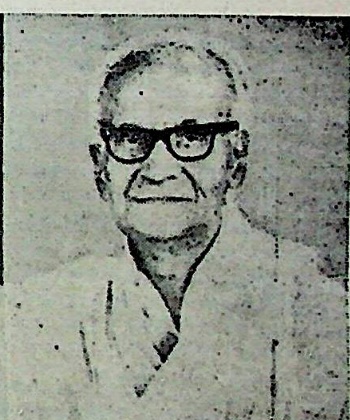
श्री पण्डित शंकरनाथजी
(बंगाल)



पं० अयोध्याप्रसादजी
(कलकत्ता)



श्री बटकृष्णजी वर्मा
(बंगाल)



पं० दीनबन्धुजी शास्त्री
(कलकत्ता)



डा० लक्ष्मीपतिजी
(बिहार)



स्वामी मुनीश्वरानन्दजी
(बिहार)

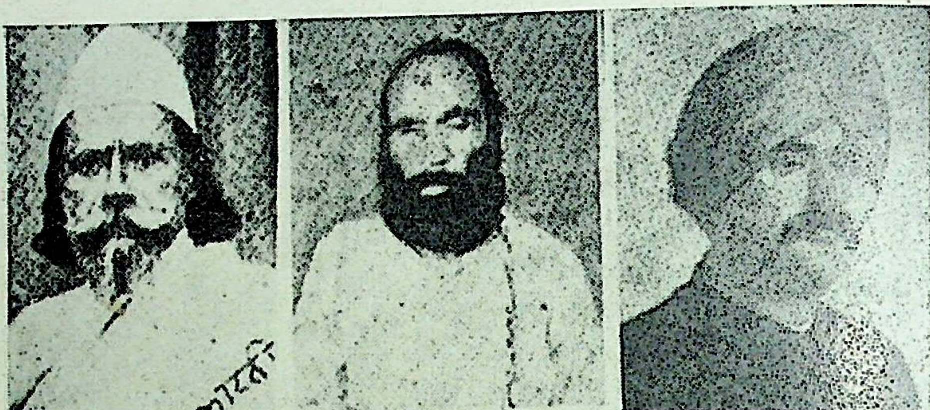


पं० रामचन्द्रजी देहलवी



ला० देवीचन्दजी

दलितोद्धार के महान् कार्यकर्ता एवं आर्यसमाज के यशस्वी प्रचारक



पं० जयानन्द जी भारतीय ब्रह्मचारी बालकराम जी श्री रासबिहारी जी तिवारी



बम्बई फोर्ट आर्यसमाज का अधिकारी वर्ग (१९७८)



श्री आर्यमूर्ति
प्रथम प्रधान फोर्ट आर्यसमाज



श्री अमीन
फोर्ट आर्यसमाज के कर्णधार व संस्थापक

बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। रेलवे लाइन के उस पार आर्यसमाज के पास लगभग दो बीघे भूमि है। यह तत्कालीन मन्त्री श्री जंगबहादुर एवं अन्य सदस्यों के प्रयास से प्राप्त हुई है। श्री लक्ष्मीदेवी दारुका आर्य कन्या विद्यालय के लिए अनेक धनी-मानी सज्जनों ने सहयोग दिया। स्वर्गीय केदारनाथ दारुका ने अपनी माताजी की पुण्य स्मृति में इस संस्था को भूमि एवं भवन-निर्माण के लिए २५,००० रुपये का दान दिया। श्री अर्जुन अग्रवाल के सहयोग से प्राप्त दानकी राशि तथा अन्य सज्जनों की सक्रिय सहायता से एक भव्य भवन निर्माण कराया गया है। इस भवन का नाम श्री अर्जुन अग्रवाल के पिताजी की पुण्य स्मृति में 'हरदेव भवन' रखा गया है। इसके उत्तरी पार्श्व की लगभग ७ बीघे भूमि आर्यसमाज ने १९४८ में क्रय की। इसे खरीदने के लिए श्री भृगुनाथप्रसाद ने लगभग १३,००० रुपये आर्यसमाज आसनसोल को दान दिये। इसी प्रकार समाज-मन्दिर के पूर्व और दक्षिण की लगभग एक बीघा भूमि श्री शिवनारायण मिश्र, श्री बद्रीनारायण राम तथा श्री अर्जुन अग्रवाल की सहायता एवं प्रयास से खरीदी गयी।

यह समाज आर्यजगत् के सभी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में इसका उल्लेखनीय योगदान है। सर्वप्रथम इस समाज ने डी० ए० वी० विद्यालय की स्थापना की। कुछ समय बाद इसका विकास दयानन्द एंग्लो वैदिक हाई स्कूल के रूप में हुआ। यहाँ समाज की अन्य शिक्षा-संस्थाएँ दयानन्द उच्चतर विद्यालय, डी० ए० वी० प्राथमिक विद्यालय, लक्ष्मीदेवी दारुका आर्य कन्या प्राथमिक एवं उच्चतर विद्यालय (उषाग्राम) तथा आर्य कन्या प्राथमिक विद्यालय आर्यसमाज रोड हैं।

१९३४-३५ में पुलिस की अनधिकार चेष्टा के प्रतिकार में समाज द्वारा की गयी कार्यवाही से विक्षुब्ध होकर तत्कालीन परगनाधीश (एस० डी० ओ०) ने आर्य-समाज पर धारा १८३ के अन्तर्गत अभियोग चलाया था। इसका समाज ने सफलता-पूर्वक प्रतिरोध किया और अन्त में शासन को अपनी भूल स्वीकार करते हुए इस मुकदमे को वापिस लेना पड़ा।

हैदराबाद सत्याग्रह आन्दोलन में भी इस आर्यसमाज ने बड़े उत्साह से भाग लिया। श्री पूर्णचन्द्र आर्य के नेतृत्व में इस समाज से पाँच सत्याग्रहियों का एक जत्था हैदराबाद भेजा गया। इसके साथ ही एक अच्छी बड़ी धनराशि आर्य सज्जनों के प्रयास से सत्याग्रह के लिए एकत्र करके सत्याग्रह संचालन समिति को भेजी गयी।

आर्यसमाज टीटागढ़—इस समाज की स्थापना पहली बार १९२२ में की गयी थी। किन्तु कुछ समय बाद इसका कार्य शिथिल पड़ गया। दस वर्ष बाद १९३२ में पुनः इस समाज को कुछ उत्साही कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त हुआ और इस समाज की गतिविधियों में तेजी आयी। ब्रह्मस्थान के निकट जी० टी० रोड० से संलग्न एक बगीचे का क्रय करके यहाँ आर्यसमाज के मन्दिर का निर्माण किया गया। इस समाज ने विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए अपहृत स्त्रियों, बच्चों, अबलाओं और अनाथों की रक्षा का सराहनीय कार्य सम्पन्न किया है। यहाँ १९४५ में प्राथमिक आर्य विद्यालय की स्थापना की गयी थी। यह शनैः-शनैः उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रूप में विकसित हुआ और इस समय यह आर्यसमाज द्वारा निर्मित चारमंजिले विशाल भवन में अवस्थित है।

आर्यसमाज इच्छापुर (२४ परगना)—बीसवीं सदी के चतुर्थ दशक में इस समाज की स्थापना हुई थी। इसका अपना विशाल भव्य आर्यसमाज-मन्दिर है। यह सामाजिक सुधार के कार्यों में सदा अग्रणी रहा है। यहाँ विधवा-विवाह एवं यज्ञोपवीत-संस्कार सदा होते रहते हैं।

आर्यसमाज जोड़ा सांकू—२८ फरवरी, १९४५ को ऋषि-बोधोत्सव के पावन पर्व पर इस समाज की स्थापना १४, मदन चक्रवर्ती लेन कलकत्ता-७ में हुई थी। इसकी स्थापना में महाशय रघुवीर प्रसाद गुप्त ने तथा आचार्य रमाकान्त उपाध्याय ने प्रमुख भाग लिया था। इस समाज की ओर से धर्मशाला के मैदान में प्रति रविवार को वैदिक धर्म के प्रचार का आयोजन किया जाता है।

आर्यसमाज मल्लिक बाजार कलकत्ता—इसकी स्थापना सन् १९३५ में ३६ बी, सर्कुलर रोड में की गयी थी। २ वर्ष बाद इसे पार्क लेन (लाला बस्ती) में स्थानान्तरित किया गया। १९३८ में समाज के लिए ६८ नं० पार्क स्ट्रीट में उपयुक्त स्थान मिल गया। अतः इसे पुनः स्थानान्तरित किया गया। १९३९ में इस समाज ने हैदराबाद-सत्याग्रह में बड़े उत्साह से भाग लिया। इसके लिए पुष्कल धनराशि का संग्रह किया गया। इस समाज की प्रमुख गतिविधियाँ विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देना, अबलाओं का उद्धार और शुद्धि थीं। इस समाज की ओर से एक पुस्तकालय का संचालन किया जाता था। मुसलिम लीग द्वारा १९४६ में पाकिस्तान के निर्माण के लिए चलाये गये डायरेक्ट एक्शन के दंगों में यह समाज-मन्दिर पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया।

इसकी पुनःस्थापना हाजरा रोड "गरचा" में की गयी। यहाँ आजकल यह दक्षिण कलकत्ता आर्यसमाज के नाम से प्रसिद्ध है। इस समाज में दक्षिण कलकत्ता आर्य विद्यालय की भी पुनःस्थापना की गयी। सन् १९५४ में आर्यसमाज मल्लिक-बाजार की भी पुनःस्थापना की गयी। अगले वर्ष १९५५ में यहाँ श्री भामाशाह आर्य-विद्यालय की स्थापना हुई।

आर्यसमाज खिदिरपुर—श्री सभापति राय के प्रयास से इस समाज की स्थापना १०, सर्कुलर, गार्डेन रीच रोड, कलकत्ता-२२ में १९१४ में हुई। यह कलकत्ता के पुराने आर्यसमाजों में से है और इसके पुस्तकालय में आर्यसमाज के प्राचीन साहित्य का सुन्दर संग्रह है।

आर्यसमाज खडगपुर—यह बंगाल का बहुत पुराना समाज है। बंगभंग के सुप्रसिद्ध वर्ष १९०५ में इसकी स्थापना हुई थी। इसके स्थायी भवन के लिए ३६ पारा खडगपुर में स्वर्गीय श्री चुन्नीलाल कौड़ा ने भूमि का दान किया था। इसी पर समाज के वर्तमान भवन का निर्माण हुआ है। इस समाज ने दलितोद्धार, बाढ़पीड़ितों की सेवा, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री-शिक्षा तथा बच्चों की शिक्षा आदि का सराहनीय कार्य किया है। इस समाज के तत्त्वावधान में चलनेवाली आर्य कन्या पाठशाला सन् १९३६ में स्थापित हुई थी और पहले कई वर्ष तक किराये के मकान में चलायी जाती रही। १९४१ में रेल विभाग से इस पाठशाला के लिए भूमि प्राप्त की गयी और इसपर समाज ने पाठशाला-भवन का निर्माण कराया।

आर्यसमाज दार्जीलिंग—इस आर्यसमाज की स्थापना यद्यपि महर्षि के निर्वाण के वर्ष १८८३ में माउण्ट प्लीजेण्ट रोड पर की गयी थी, किन्तु कुछ समय बाद इसमें

बड़ी शिथिलता आ गयी और इस समाज ने अपना कार्य करना बिलकुल बन्द कर दिया। १९२३ में इस समाज का पुनरुज्जीवन फ्रेण्डल रोड जितेन झोड़ा दार्जिलिंग में किया गया। इसी वर्ष यहाँ एक आर्य कन्या वैदिक पाठशाला भी स्थापित की गयी। ५ वर्ष बाद यहाँ कागझोड़ा में आर्यसमाज-भवन का निर्माण-कार्य सम्पन्न हुआ। १९४० में यहाँ एक अन्य समाज का सेंट्रल आर्यसमाज चौक दार्जिलिंग में उद्घाटन किया गया। १९४६ में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को बढ़ावा देने के लिए सेण्ट्रल आर्यसमाज और आर्यसमाज कागझोड़ा का एकीकरण किया गया। ३ वर्ष बाद यहाँ वैदिक ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए आर्य-पुस्तकालय की स्थापना की गयी। १९५१ का वर्ष इस समाज के लिए इस दृष्टि से उल्लेखनीय था कि इस वर्ष आर्यसमाज दार्जिलिंग की स्वर्ण जयन्ती का समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। १९५६ में इस समाज ने नेपाली जनता में आर्यसमाज का प्रचार करने और महर्षि का सन्देश गाँवों तक पहुँचाने की दृष्टि से जनदूत नामक मासिक पत्रिका को नेपाली भाषा में प्रकाशित करना शुरू किया। १९७४ में यहाँ आर्य-समाज की ओर से होमियोपैथी का दातव्य औषधालय स्थापित किया गया, जिससे यहाँ की स्थानीय जनता और आसपास के पहाड़ी क्षेत्रों के सभी व्यक्तियों ने बड़ा लाभ उठाया।

इन प्रमुख आर्यसमाजों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक समाज सन् १९४४ तक बंगाल में स्थापित हो चुके थे, और इनकी सदस्य-संख्या भी हजारों में पहुँच गयी थी। सन् १९४१ में सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित आर्य डायरैक्टरी में बंगाल के आर्य सभासदों की संख्या २०,२२३ लिखी गयी है।

(५) असम में आर्यसमाज

असम भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर स्थित एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इसकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। यह महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रमुख कार्यक्षेत्र पंजाब तथा उत्तरप्रदेश से बहुत दूरी पर है। अतः यहाँ आर्यसमाज का सन्देश पहुँचने और संगठन बनने में काफी समय लगा। यही कारण है, कि यहाँ की आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण अभी तीन वर्ष पहले १९८१ में हुआ है; यह नवीनतम आर्य प्रतिनिधि सभा है, जबकि सबसे पुरानी पंजाब की पहली आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन इससे ९६ वर्ष पूर्व सन् १८८५ में हुआ था। दोनों के निर्माण में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है।

इस प्रदेश में आर्यसमाज का सन्देश लानेवाले प्रथम व्यक्ति महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रत्यक्ष शिष्य स्वामी आत्मानन्द सरस्वती थे। ये गोरखा जाति में उत्पन्न हुए थे, गोरखाली भाषा जानते थे। सम्भवतः स्थानीय भाषाओं से भी परिचित थे। इन्होंने महर्षि के जीवनकाल में इस प्रदेश में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए १८८१ में असम में डिब्रूगढ़ तक पर्यटन किया है—यह तथ्य आर्यसमाज की एक प्राचीन पत्रिका "भारत सुदशा" से विदित होता है। इसके बाद लगभग चार दशक तक इस क्षेत्र में आर्यसमाज का कोई भी प्रचारक नहीं आया। वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक में बंगाल की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने इस ओर ध्यान दिया। लाहौर में आर्यसमाज के प्रचारकों को प्रशिक्षण देनेवाले सुप्रसिद्ध ब्राह्म महाविद्यालय में कुछ बंगाली और असमी नवयुवकों को

आर्यसमाज के सिद्धान्तों की शिक्षा पाने के लिए भेजा गया। इनमें शिवसागर जिले के निवासी एक प्रतिभाशाली युवक श्री परमेश्वर काकती थे। शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने असम प्रदेश में निर्भीकतापूर्वक वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया। नवगाँव, गुवाहाटी, डिब्रूगढ़, जोरहाट नगरों में उनके प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा। इसके परिणामस्वरूप शिलांग और गुवाहाटी में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। असम के चाय के बगीचों में काम करनेवाले व्यक्तियों में कलकत्ता के श्री लालमन ने आर्यसमाज का प्रचार बड़े उत्साह से किया। इस प्रदेश में १९४७ तक केवल शिलांग में ही आर्यसमाज स्थापित हुआ था।

आर्यसमाज शिलांग—शिलांग ब्रिटिश युग में असम की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी। यहाँ इस प्रदेश के सबसे पुराने आर्यसमाज की स्थापना १९३५ ई० में हुई थी; उस समय यह असम में था, इस समय यह मेघालय के नवीन राज्य की राजधानी है। यहाँ नगर के मुख्य बाजार—बड़ा बाजार के पास जी० एस० रोड पर आर्यसमाज का अपना तीनमंजिला भवन है। नीचे कुछ दुकानें हैं। इस समाज द्वारा दो विद्यालय चलाये जा रहे हैं। पहला विद्यालय भालूपाड़ा में और दूसरा लाइट मुखड़ा में है।

(६) बंगाल प्रतिनिधि सभा का पृथक् रूप से निर्माण

पिछली शताब्दी में अविभाजित भारत का समस्त पूर्वी भाग बंगाल, असम, बिहार तथा उड़ीसा एक ही प्रान्त में सम्मिलित थे। १८८५ में कलकत्ता में आर्यसमाज की स्थापना के बाद पूर्वी भारत के अनेक नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। कुछ समय बाद यह अनुभव किया गया कि इनके कार्य की सुव्यवस्था के लिए इनका एक संगठन बनाया जाना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार बिहार-बंगाल की आर्य-प्रतिनिधि सभा का निर्माण हुआ, उसका उल्लेख दसवें अध्याय में किया जा चुका है।

१९११ के जून मास में इस सभा का पंजीकरण हुआ। पहले इस सभा का प्रधान कार्यालय पटना में था। इसके बाद सम्भवतः दोनों प्रान्तों की मध्यवर्ती स्थिति को देखते हुए यह कार्यालय रांची ले-जाया गया और अन्त में कलकत्ता लाया गया। उस समय तक बिहार अलग प्रान्त नहीं था। इन दोनों प्रान्तों की प्रतिनिधि सभाओं का केन्द्र कलकत्ता में ही बना रहा।

इस सभा में आरम्भ में आर्यसमाज का नेतृत्व करनेवाले व्यक्तियों में राय-बहादुर रलाराम, चीफ इञ्जीनियर ईस्ट इण्डिया रेलवे, पण्डित शंकर नाथ, श्री तुलसी-चरण दत्ता तथा श्री हरगोविन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल और बिहार द्वारा गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रसार के लिए गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम की स्थापना की गयी।

१९१२ में ब्रिटिश सरकार ने १९०५ में किये गये बंगभंग को रद्द कर दिया। बंगाल प्रान्त का पुनर्गठन किया और इसके हिन्दी तथा उड़िया-भाषी प्रदेशों को मिला-कर बिहार और उड़ीसा का एक नया प्रान्त बनाया। आर्यसमाजों की संख्या बिहार में बढ़ रही थी। अतः कुछ समय बाद बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा को पृथक् बनाने का निर्णय किया गया। १९२६ में आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार का निर्माण हुआ तथा १९३० में आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व असम की पृथक् रूप से स्थापना हुई। यह सभा १६ जून,

सन् १९३३ को पंजीकृत की गयी।

इस सभा ने अपने सीमित साधनों से बंगाल में न केवल धर्म-प्रचार का कार्य किया, अपितु जब-जब बंगाल में प्राकृतिक आपदायें आयीं, तब-तब इसने जनसेवा के कार्यों में भी प्रमुख भाग लिया। बंगाल के भीषण चक्रवात, जलप्लावन, अभूतपूर्व दुर्भिक्ष, १९४६ में मुसलिम लीग द्वारा संचालित प्रलयंकर नरसंहार में तथा १९४७ के विभाजन में पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों की सेवा का सभा ने बड़ा उल्लेखनीय कार्य किया। इसके साथ ही रचनात्मक कार्यों में भी यह सभा दिन-प्रतिदिन अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करती रही है। इस सभा को आरम्भ में सर्वश्री हरगोविन्द गुप्त, सेठ दीपचन्द पोद्दार का मार्गदर्शन और नेतृत्व प्राप्त हुआ और इसके बाद यह प्रतिनिधि सभा श्री मिहिर चन्द्र धीमान तथा श्री बटकृष्ण वर्मन जैसे कर्मठ कार्यकर्ताओं के सहयोग से अपने कार्यकलापों का विस्तार करती रही। इसके प्रचार-कार्य का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

(७) आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल तथा असम के कार्यकलाप (१९३०-४८)

वैदिक धर्म का प्रचार—१९३० में बंगाल तथा असम की आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित हुई। इसके पहले प्रधान पण्डित शंकरनाथ तथा मन्त्री श्री हरगोविन्द-गुप्त चुने गये। १९३२ में इस सभा की रजिस्ट्री होने पर इसके प्रधान श्री दीपचन्द्र जी पोद्दार तथा मन्त्री श्री हरगोविन्द गुप्त बने। इस सभा ने बंगलाभाषा-भाषियों में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए बंगला भाषा में **आर्य गौरव** नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके सम्पादक पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री थे। प्रचार का कार्य अब सुव्यवस्थित रूप से किया जाने लगा। कलकत्ता तथा अन्य शहरी क्षेत्रों के अतिरिक्त, बंगाल, असम, उड़ीसा तथा त्रिपुरा के देहाती प्रदेशों में आर्य-समाज का विस्तार होने लगा। इस प्रचार-कार्य में आर्यसमाज के अधिकारियों को कट्टरपन्थियों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। उस समय बंगाल में पाषाणादि जड़मूर्ति-पूजा, मृतक श्राद्ध और अशौच, जन्ममूलक जात-पात, पशुबलि, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध आदि सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। इनके विरुद्ध आन्दोलन करते हुए आर्यसमाज के प्रचारकों को सामाजिक बहिष्कार एवं अपने जाति-बन्धुओं द्वारा नाना प्रकार के अपमान और तिरस्कार सहने पड़ते थे।

इन सबको सहर्ष सहन करते हुए सामाजिक सुधार और वैदिक धर्म के प्रचार में इस प्रदेश में जिन व्यक्तियों ने अपना समूचा जीवन अर्पित किया, उनमें से निम्न महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं—मेदिनीपुर जिले के सर्वश्री सागरदास कविरत्न, पण्डित केदारनाथ तत्त्वनिधि, गोष्ठबिहारी बाग, गोष्ठबिहारी वर्मन, विपिनबिहारी देववर्मन, अमूल्य चयन कड़ति, वेनी माधव कूइला, बेनी माधव माइती, योगेन्द्रनाथ कामका, कृष्णप्रसाद, चण्डीचरण, पण्डित शरत चन्द सिद्धान्तविशारद, ज्योति प्रसाद शिक्षा-विशारद, शशिभूषण वानप्रस्थी, कुमुद बान्धवदास, राखाल राज साहू, सृष्टिधर दास, धरणीधर माइती, उपेन्द्रनाथ राय, उमाकान्त दास, रितसेदचन्द राय, गोकुलचन्द आर्य, भूतनाथ वेदाध्याग्नि, ब्रह्मचारी वर्मन, यतीन्द्रनाथ वर्मन, मदनमोहन वर्मन, अनिलकृष्ण। ये सब आर्यसमाज के बड़े कर्मठ कार्यकर्ता थे और इन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी

आर्यसमाज के कार्य को निरन्तर आगे बढ़ाया है। इसके साथ ही बंगाल के विभिन्न जिलों के कार्यकर्ताओं का भी स्मरण इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है।

हुगली जिले के सर्वश्री सजनीकान्त सामन्त (भूतपूर्व उप-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा असम-बंगाल) के नेतृत्त्व में वर्गीय रसमय मेटे, गंगाधर प्रामाणिक, सुरेन्द्रनाथ सामन्त, डॉक्टर मनीन्द्रनाथ सामन्त और खदूराम कारक ने आर्यसमाज का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। हावड़ा जिले के कार्यकर्ताओं में सर्वश्री पण्डित यतीन्द्रनाथमल्लिक, पण्डित प्रभासचन्द्र पाल विद्याभूषण, डॉक्टर सुधीरचन्द्र राय, पण्डित सुरेन्द्रनाथसिद्धान्तविशारद के नाम उल्लेखनीय हैं। चौबीस परगना के स्वर्गीय पण्डित राखालचन्द्रदेव शर्मा के नेतृत्व में सुन्दरवन के अंचल में आर्यसमाज का प्रसार हुआ। यहाँ इस कार्य में इन्हें सहयोग देनेवालों में निम्नलिखित महानुभाव उल्लेखयोग्य हैं—सर्वश्री भवानीचरण पात्र, धर्मदेव वर्मन, केनाराम पटनायक, दिपेन्द्रनाथ देवशर्मा, श्री प्राणकृष्णजत्रेदास, शरद चन्द्र देववर्मन, हर्षेदुदास देववर्मन, निमाईचन्द्र कण्डल, डॉक्टर नन्दलाल जाना, सुरेशचन्द्र पात्र, ललितमोहन देववर्मन। बाँकुडा जिले के पं० गोकुलचन्द्र देववर्मन ने तथा बर्दवान जिले के सर्वश्री श्यामलाल मिश्र, श्री चन्द्र शरसरजी, डॉक्टर तारापद दत्त ने आर्यसमाज के प्रचार में विशेष योगदान दिया। बारिसाल जिले के कार्यकर्ताओं में सर्वश्री रोहनीकुमार वानप्रस्थी, श्री अतुल्यकृष्ण चौधरी के नाम उल्लेखनीय हैं। हुगली जिले के देहाती क्षेत्रों में स्वर्गीय गंगाप्रसाद गुप्त, श्री अमल स्वामी, श्री साधुलाल, श्री रामप्रसाद के अनथक प्रयास से आर्यसमाज का कार्य आगे बढ़ा। हावड़ा जिले के प्रमुख आर्यसमाजी कार्यकर्ता बाबू कालीचरण सिंह, चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा, रामचन्द्र शर्मा, पुष्करलाल आदि हैं।

बंगाल की राजधानी कलकत्ता की महानगरी में आर्यसमाज का कार्य बढ़ाने में सहयोग देनेवाले व्यक्तियों में उल्लेखनीय नाम हैं—सर्वश्री दीपचन्द पोद्दार, सेठ छाजूराम, विष्णुप्रसाद, तुलसीदत्त, सुन्दरदास, हंसराज हांडा, माता कौशल्यादेवी हांडा, माता वेदकुमारी, राधाकृष्ण जैदक, विशनलाल पोद्दार, महाशय रघुनन्दनलाल, हरिश्चन्द्र वर्मा, पूनमचन्द। आर्यसमाज बड़ा बाजार के कार्यकर्ताओं में श्री सीताराम आर्य, श्री बनमालीराम पारिख, श्री लालमणि आर्य के नाम उल्लेखयोग्य हैं। आर्यसमाज मल्लिक बाजार के प्रमुख कार्यकर्ता श्री गिरधारी शाह, रामेश्वर गुप्त, दीपकदत्त चौधरी, पण्डित अवधबिहारी लाल और श्री शान्तिस्वरूप गुप्त हैं। जोड़ बागान के श्री रोहितलाल गुप्त, जोड़ांसांकु के श्री शंकरलाल आर्य, खिदिरपुर के श्री सम्पतिराय, श्री केशवप्रसाद गुप्त, श्री जनकलाल गुप्त, बेलियाघाट के श्री ईश्वरदत्त तिवारी, काशीपुर के श्री शीलकुमार गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं।

बंगाल तथा असम की आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से जिन उपदेशकों और प्रचारकों ने विभिन्न क्षेत्रों में आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाया है, उनमें निम्नलिखित महानुभावों के नाम स्मरणीय हैं—पण्डित अयोध्याप्रसाद जी बी० ए० वैदिक रिसर्चस्कालर, पण्डित अवधबिहारीलाल, पण्डित रमाकान्त शास्त्री शर्मा, श्रीकृष्ण शर्मा, पण्डित शान्तिस्वरूप, पण्डित शिवनन्दन प्रसाद वैदिक, पण्डित उमानन्द शास्त्री, पण्डित रामरीझन जी शर्मा, श्री मिहिरचन्द्र धीमान, श्री जगदीशप्रसाद, चन्द्रपाल विद्याभूषण, पण्डित सुरेन्द्रनाथ सिद्धान्तविशारद, स्वामी गीतानन्द सरस्वती, ब्रह्मचारी आत्मानन्द,

पण्डित गोकुलचन्द आर्य, श्री बटकृष्ण वर्मन, पण्डित उमाकान्त उपाध्याय, पण्डित शिवकान्त उपाध्याय एवं श्रीकान्त उपाध्याय।

पदयात्रा द्वारा प्रचार—बंगाब्द १३४५ के माघ मास में पण्डित भुवनमोहन शर्मा ने पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जिले में पदयात्रा द्वारा प्रचार का एक स्मरणीय अभियान आरम्भ किया। इस क्षेत्र में मुसलमानों की संख्या अधिक है। विभाजन के बाद यह पाकिस्तान का अंग बन गया और वर्तमान समय में बंगलादेश में है। इस प्रदेश में पण्डित भुवनमोहन, अपने सहयोगी सर्वश्री डॉक्टर नित्यलाल राय, निवारणचन्द्र आर्य, अधरचन्द्र आर्य के साथ मालती हाट, कापरा, हाल्दा घुनाइल, परिखि, गन्दिना, धवाली, काराईल, मिर्जापुर गोड़ई पहाड़ में जमकर प्रचार करते रहे। गोड़ई पहाड़ में हुई प्रचार की सभा की अध्यक्षता इस प्रदेश में करढिया के जमींदार मौलवी साहब ने की। मैमनसिंह की यात्रा के बाद मिदनापुर जिले में प्रचार किया गया। यहाँ यज्ञोपवीत आन्दोलन चलाया गया और साहापुर में सभा करके १५७ व्यक्तियों को यज्ञोपवीत धारण कराया गया तथा आर्यसमाज साहापुर की स्थापना की गयी।

अस्पृश्य जातियों का उद्धार आर्यसमाज के कार्यक्रम का प्रमुख अंग है। बंगाल में शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी। इनका समाज नमः शूद्र समाज कहलाता था। इस समाज के व्यक्तियों ने सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से संत्रस्त होकर ईसाई होने का निश्चय किया। यह निर्णय हविगंज सिलहट में रहनेवाली अस्पृश्य जातियों ने किया था। नमः शूद्र समाज के नेता आद्यनाथ सरकार तथा प्यारीमोहन मलिक कलकत्ता के आर्यसमाज में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री के पास यह समाचार लेकर आये और उन्होंने इस विषय में आर्यसमाज से सहायता माँगी। पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री तुरन्त सिलहट चले गये और शीघ्र ही उनके सहयोगी सर्वश्री सुजितकुमार मुकर्जी, पण्डित ऋषिराम, योगेन्द्रनाथ दे, विपिन भट्टाचार्य वहाँ पहुँच गये और उन्होंने ईसाइयों के प्रचार का सफल प्रतिरोध किया। नमः शूद्रों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे ईसाई धर्म को स्वीकार न करें और हिन्दू धर्म में बने रहें। उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं को इस बात की प्रेरणा दी कि वे अस्पृश्य जातियों के साथ अपने व्यवहार को सुधारें, उनपर अत्याचार करना छोड़ दें ताकि वे ईसाइयत की ओर उन्मुख न हों। यहाँ नमः शूद्र समाज को ईसाई बनने से रोकना आर्यसमाज की एक बहुत बड़ी सफलता थी।

उस समय आर्यसमाज में शास्त्रार्थ बहुत हुआ करते थे। बंगाल में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। यहाँ पौराणिक मतावलम्बियों के साथ अनेक शास्त्रार्थ हुए। इनमें एक शास्त्रार्थ वर्धवान जिले के कुलटी थाना के अन्तर्गत सिमल नामक गाँव में हुआ। इसमें पौराणिकों के प्रमुख विद्वान् पण्डित अखिलानन्द थे, जो पहले आर्यसमाजी थे किन्तु बाद में पौराणिक मतावलम्बी हो गये थे। आर्यसमाज के प्रमुख प्रतिनिधि पण्डित सुखदेव विद्यावाचस्पति थे। शास्त्रार्थ का विषय था मूर्तिपूजा वेदसम्मत है या वेदविरुद्ध? इस शास्त्रार्थ के निर्णायक कुलटी स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री सौरीपद चटर्जी थे। इसमें पौराणिक पण्डित मूर्तिपूजा के पक्ष में कोई वैदिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय हुई। इसी प्रकार आर्यसमाज का एक अन्य प्रसिद्ध शास्त्रार्थ मिदनापुर जिले के एक गाँव भाटपाड़ा में यहाँ के प्रसिद्ध पण्डित श्री जीव न्यायतीर्थ के साथ हुआ। इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की ओर से पण्डित अयोध्याप्रसाद, श्री दीनबन्धु-

शास्त्री, तथा पण्डित रमाकान्त शास्त्री उपस्थित थे। पण्डित रमाकान्त शास्त्री ने प्रांजल संस्कृत भाषा में पौराणिक पण्डित को चुनौती दी कि वे मूर्तिपूजा के समर्थन में वैदिक साहित्य के प्रमाण प्रस्तुत करें। प्रतिपक्षी पण्डितों ने अपने पक्ष में पुराणों के अनेक वचन पेश किये, किन्तु वेद का एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। इसमें पौराणिक पक्ष की बड़ी जबर्दस्त हार हुई। इसके बाद काफी समय तक इस विषय पर पौराणिक पण्डितों ने आर्यसमाज के साथ कोई शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं किया।

बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में १९३१ से १९४१ के बीच में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा बड़े पैमाने पर प्रचार-कार्य चलाया गया, और इसकी सफलता जनगणना के आंकड़ों से प्रमाणित होती है। १९३१ की बंगाल की जनगणना की रिपोर्ट में आर्यों की कुल संख्या २०१ दी गयी है। १९४१ में यह संख्या बढ़कर ३९,३४५ हो गयी थी। निम्नलिखित जिलों में आर्यों की संख्या इस प्रकार थी—कलकत्ता ३३६८, चौबीस परगना १०३०३, बर्धवान ५०४३, बांकुड़ा २, हावड़ा ११५६, मुर्शिदाबाद १, राजशाही ६०, दिनाजपुर ४२, ढाका १, मैमनसिंह ४६५, बाखरगंज ६०, त्रिपुरा १, पार्वत्य चट्टग्राम १।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्य—बंगाल की आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुकूल शिक्षा-प्रसार का सराहनीय कार्य किया गया है। इस सभा द्वारा स्थापित की गयी और संचालित की जानेवाली शिक्षा-संस्थाओं को दो बड़े वर्गों में बाँटा जा सकता है—पहला वर्ग गुरुकुलों का है और दूसरा वर्ग राज्य सरकार से मान्यता-प्राप्त और सरकारी पाठ्यक्रम को पढ़ाने के साथ-साथ वैदिक धर्म और संस्कृति की शिक्षा देनेवाले आर्य स्कूल तथा विद्यालयों का है।

सभा के गुरुकुल ट्रस्ट द्वारा राज्य के बंगलाभाषा-भाषी क्षेत्रों में गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के आधार पर शिक्षा देने के लिए दो गुरुकुल मेदिनीपुर जिले में चलाये जा रहे हैं। पहला बालकों का गुरुकुल काउरचंडी है तथा दूसरा बालिकाओं का कन्या गुरुकुल वासुदेवपुर है। बालकों के गुरुकुल के संचालन में सर्वश्री कान्त चन्द्रदेव वर्मन तथा स्वर्गीय मन्त्री लाला सामन्त, शरत चन्द्र सिद्धान्तविशारद, पण्डित केदारनाथ, श्री शशिभूषण-वानप्रस्थी से बहुमूल्य स्थानीय सहायता मिली है। कन्या गुरुकुल वासुदेवपुर के निर्माण तथा संचालन में सर्वश्री प्रेमनाथ जाना, रसिकलाल माइती, श्री चण्डीचरण माइती तथा श्री फणीभूषण माइती के नाम उल्लेखनीय हैं। इन गुरुकुलों में बीसियों अनाथ बालकों और कन्याओं को न केवल निःशुल्क शिक्षा, अपितु निःशुल्क भोजन तथा वस्त्र दिये जाते हैं और वेद-वेदांग तथा प्राचीन वैदिक साहित्य की उत्तम तथा उच्च शिक्षा दी जाती है।

दूसरे प्रकार की शिक्षा-संस्थायें आर्य विद्यालय हैं। इनमें सरकारी शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम की शिक्षा देने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की शिक्षा दी जाती है। ये भारतीय संविधान की धारा संख्या ३० के अनुसार सरकार से विशेष संविधान प्राप्त करके स्थानीय आर्यसमाजों द्वारा संचालित किये जा रहे हैं। इन संस्थाओं को दो भागों में विभक्त किया जाता है—आरम्भिक शिक्षा देनेवाले प्राथमिक विद्यालय, इनकी संख्या १७ है और उच्च विद्यालय, जिनकी संख्या २४ है।

कर्मठ कार्यकर्ता श्री मिहिरचन्द धीमान ने बंगाल तथा असम में आर्य प्रतिनिधि सभा के संगठन को सुदृढ़ बनाने और आर्यसमाज को लोकप्रिय बनाने का भगीरथ प्रयास

किया है। वह वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री तथा प्रधान रहे हैं। उनका जीवन बंगाल में आर्यसमाज के कार्यकलापों का मनोरंजक इतिहास है। वह मूलरूप से पंजाब प्रान्त के निवासी हैं। बचपन में वह जब फिल्लौर के पास ग्राम नंगल (जिला जालंधर) के स्कूल में पढ़ रहे थे, उस समय बड़े कट्टर सनातनधर्मी थे। उन्होंने पण्डित ज्वाला-प्रसाद विद्यावारिधि द्वारा लिखित स्वामी दयानन्द के जीवन पर कीचड़ उछालनेवाली पुस्तक **दयानन्द तिमिर भास्कर** अच्छी तरह पढ़ी थी और इस पुस्तक के प्रभाव के कारण आर्यसमाज को खूब गालियाँ दिया करते थे।

किन्तु शीघ्र ही इनके जीवन में एक बड़ा परिवर्तन उस समय आया, जब ये छठी कक्षा में पढ़ रहे थे। उस समय पंजाब के कर्मठ आर्यसमाजी कार्यकर्ता श्री रामसहाय तथा उनके अनुज श्री किशन सहाय का फिल्लौर में शुभागमन हुआ। उनके सम्पर्क में आकर वह उनके द्वारा गठित आर्ययुवक सभा के सदस्य बने और आर्यसमाज से उनका परिचय हुआ। इससे उनके हृदय में आर्यसमाज के प्रति गहरी निष्ठा और प्रेम की भावना पैदा हुई। अब उन्हें इस बात का पछतावा होने लगा कि वह पहले आर्यसमाज को क्यों कोसा करते थे। अष्टम कक्षा में शिक्षा के लिए वह द्वावा आर्य हाई स्कूल जालंधर में प्रविष्ट हुए। वहाँ के छात्रावास में रहते हुए वह दैनिक सन्ध्या-हवन आदि नियमों का कड़ाई से पालन करते रहे। इन्हें वहाँ आर्यसमाज के नेताओं के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। शिक्षा पूरी करने के बाद ये व्यवसाय के लिए कलकत्ता चले आये। यहाँ इनका घर आर्यसमाज के कार्यों का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। कलकत्ता आनेवाले आर्यसमाजी नेता, कार्यकर्ता, विशिष्ट व्याख्याता और वीतराग संन्यासी प्रायः इनके घर पर पधारा करते थे। उस समय कलकत्ता आर्यसमाज के आचार्य तथा पुरोहित पण्डित अयोध्या प्रसाद वैदिक रिसर्च स्कॉलर के ओजस्वी एवं पाण्डित्यपूर्ण प्रवचनों का इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये आर्यसमाज के कार्य को बड़े उत्साह से करने लगे और इन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल तथा असम का मन्त्री बना दिया गया। उस समय श्री हरगोविन्द गुप्त सभा के प्रधान एवं बड़े कर्मठ और जागरूक आर्य नेता थे। इनसे पहले स्वर्गीय सेठ दीपचन्द पोद्दार आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रह चुके थे और इन-के कार्यों से इन्हें आर्यसमाज के कार्य के लिए बड़ी प्रेरणा मिली थी। उन्होंने आर्य-प्रतिनिधि सभा बंगाल की ओर से आर्यसमाज के सभी कामों में प्रमुख भाग लिया।

१९३९ में जब सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने हैदराबाद में सत्याग्रह करने का आह्वान किया तो धीमान जी ने आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल तथा असम की ओर से आर्यसमाज खिदिरपुर के प्रधान स्वर्गीय सभापतिराय तथा आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल, असम के वर्तमान मन्त्री श्री बटकृष्ण वर्मन आदि के नेतृत्व में सत्याग्रह करने के लिए सैकड़ों सत्याग्रही भेजे। बंगाल में सत्याग्रह-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख के लिए एक उपसमिति गठित की गयी जिसमें प्रमुख कार्यकर्ता स्वर्गीय हरगोविन्द गुप्त थे; आवश्यक प्रचार और प्रकाशन का कार्य स्वर्गीय पण्डित अवधबिहारी लाल को सौंपा गया था। उन्होंने बंगाल के प्रमुख व्यक्तियों एवं पत्रकारों से सम्पर्क स्थापित करके सत्याग्रह-सम्बन्धी कार्यों को अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वह वर्षों तक आर्य सभा के प्रचार के लिए जागृति नामक पत्र प्रकाशित करते रहे।

धीमानजी ने आर्यसमाज की पवित्रता बनाये रखने के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध में

एक उल्लेखनीय कार्य किया। उस समय कलकत्ता आर्यसमाज के प्रधान श्री दीपचन्द पोद्दार थे। तत्कालीन बंगाल सरकार ने हवाई हमलों से बचाव (ए० आर० पी०) का केन्द्र बनाने के लिए एक आर्डिनेन्स जारी किया और उसके द्वारा आर्यसमाज कलकत्ता के भवन को अपने अधिकार में ले लिया। ए० आर० पी० के कार्यकर्ताओं को वहाँ ठहराने का प्रबन्ध किया जाने लगा। इन्हें जब इसकी सूचना मिली तो इन्होंने बंगाल सरकार के अधिकारियों से मिलकर उपर्युक्त अध्यादेश इस आधार पर रद्द करवाया कि यह भवन आर्यसमाज की पवित्र वेदी है, इसकी पवित्रता किसी भी मन्दिर, मस्जिद, गिरजे या गुरुद्वारे से कम नहीं है। अतः आर्यसमाज के मन्दिर को ए० आर० पी० का केन्द्र किसी भी दशा में नहीं बनाया जाना चाहिये। उन दिनों यह स्वातन्त्र्यवीर सावरकर जी की प्रेरणा से युद्ध-सम्बन्धी कार्यों में योगदान दे रहे थे; हावड़ा के इलाके में वार्ड नम्बर ९ के सिविल गार्ड कमाण्डेण्ट थे। इनका बंगाल सरकार के अधिकारियों पर काफी प्रभाव था और इसी कारण वह आर्यसमाज मन्दिर की पवित्रता की रक्षा कर सके।

उन दिनों आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों में पहले नगर-कीर्तन का भव्य समारोह हुआ करता था और इसमें निकाली जानेवाली शोभायात्रा की निराली शान होती थी। जब धीमानजी आर्यसमाज के मन्त्री थे, तब वहाँ के वार्षिकोत्सव के समय एक विराट् जुलूस निकाला गया। इसमें आर्यवीर सैनिकों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। यह जुलूस फीलखाना से होकर गुजरनेवाला था। यहाँ मुसलमानों का बहुत बड़ा गढ़ था। इसके निकट जी० टी० रोड पर २५,००० मुसलमानों ने एकत्र होकर जुलूस का रास्ता रोक दिया। इस परिस्थिति में पुलिस-अधिकारियों ने आर्यसमाज के जुलूस को सुरक्षित रूप से निकालने में अपनी असमर्थता प्रकट की, और उस वर्ष आर्यसमाज की शोभा-यात्रा नहीं निकल सकी, यह बात इनके हृदय में शूल की तरह चुभने लगी। अगले दो वर्षों में इन्होंने सरकारी अधिकारियों से पहले मिलकर इस बात की पक्की व्यवस्था कर ली कि जी० टी० रोड पर मुसलमानों की भीड़ एकत्र न हो सके और आर्यसमाज के नगर-कीर्तन की शोभायात्रा फीलखाने की ओर से ले-जायी जाय। आर्यसमाज का जुलूस निकालने के बाद यह रास्ता हिन्दुओं के हर जुलूस के लिए सदा के लिए खुल गया। इससे पहले किसी भी अन्य हिन्दू देवी-देवता की शोभायात्रा इस मार्ग से नहीं निकाली जा सकती थी। यह आर्यसमाज की बहुत बड़ी सफलता थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में बंगाल में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। इस समय बंगाल की आर्य प्रतिनिधि सभा ने दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए एक रिलीफ-सोसायटी की स्थापना की थी। इसमें प्रमुख कार्यकर्ता महाशय रघुनन्दन प्रसाद थे। उन्होंने दिनरात अनथक परिश्रम करके बंगाल के अत्यधिक दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों में अन्न तथा वस्त्र देने की बड़े सुचारु रूप से व्यवस्था की थी। उस समय आनन्द स्वामी (तत्कालीन महाशय खुशहालचन्द आनन्द) ने पंजाब से चार लाख रुपये के देहरादूनी बासमती चावल बाबा प्रद्युम्नसिंह एण्ड सन्स अमृतसर की ओर से दान के रूप में सहायता के लिए भिजवाये थे। उस समय डाक्टर श्यामप्रसाद मुकर्जी के सभापतित्व में जो संयुक्त सहायता समिति गठित की गयी थी, उसमें धीमान जी आर्यसमाज रिलीफ-सोसायटी की ओर से प्रतिनिधि थे। डा० मुकर्जी के कहने से इन्होंने आर्यसमाज रिलीफ-सोसायटी के द्वारा हिन्दू महासभा की ओर से सहायता देने के लिए चावल दिलवाया था,

क्योंकि अन्य किसी संस्था के पास चावल का इतना बड़ा भण्डार नहीं था। बंगाल के दुर्भिक्ष के समय में आर्यसमाजी कार्यकर्ता बनमाली राव पारिख एवं स्वर्गीया कौशल्या-देवी हांडा की सेवायें भी उल्लेखनीय हैं।

बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में यह प्रस्ताव पेश किया गया कि हर साल दिल्ली में होनेवाला सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन बारी-बारी से अन्य प्रान्तों में आर्य महासम्मेलन के नाम से होना चाहिए। यह प्रस्ताव धीमान जी द्वारा प्रस्तुत किया गया था। सन् १९४८ में कलकत्ता में छठा आर्य-महासम्मेलन करने का निर्णय किया गया। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री मिहिरचन्द धीमान तथा स्वागत-मन्त्री स्वर्गीय हंसराज हांडा थे। इस सम्मेलन में सारे भारत से आर्य प्रतिनिधि और नरनारी सम्मिलित हुए। इस छठे आर्यमहासम्मेलन का अधिवेशन विडन स्क्वायर (रवीन्द्र कानन) में हुआ। इसका उद्घाटन बंगाल के तत्कालीन गवर्नर स्वर्गीय डॉक्टर कैलाशनाथ काटजू ने किया। इस महासम्मेलन के अध्यक्ष श्री घनश्याम-सिंह गुप्त थे। वह उस समय मध्यप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष थे।

बारहवाँ अध्याय

मध्यप्रदेश व विदर्भ में आर्यसमाजों का विस्तार

(१८८१-१९४७)

(१) मध्यप्रदेश में आर्यसमाजों का प्रचार-प्रसार

पिछली शताब्दी में मध्यप्रदेश का मानचित्र वर्तमान समय के मध्यप्रदेश के नक्शे से सर्वथा भिन्न था। उस समय वह दो बड़े भागों में बँटा हुआ था। ब्रिटिश शासन में विद्यमान प्रदेश "मध्य प्रान्त तथा बरार" कहलाता था। इसके अतिरिक्त शेष भाग में उस समय ग्वालियर, भोपाल, इन्दौर, रींवा, देवास, धार, पन्ना आदि अनेक देशी राज्य विद्यमान थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद वर्तमान मध्यप्रदेश राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के आधार पर बनाया गया है, और यह पुराने "मध्यप्रान्त तथा बरार" की अपेक्षा अधिक विशाल है और इसमें पुराने देशी राज्य भी सम्मिलित हैं। यहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व के "मध्यप्रान्त तथा बरार" और उस क्षेत्र के देशी राज्यों के आर्यसमाजों का वर्णन किया जायेगा।

मध्यप्रान्त तथा बरार की आर्य प्रतिनिधि सभा की सन् १९०७ की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९०६ तक ४५ आर्यसमाज सभा से सम्बद्ध थे। इनमें १० समाज टूट चुके थे, १३ शिथिल दशा में थे, दो नये स्थापित हुए थे और २४ समाज ठीक ढंग से काम कर रहे थे। इस सभा के मन्त्री श्री जयसिंह गायकवाड़ ने आर्यसमाजों का विहंगावलोकन करते हुए एक बड़ा रोचक तथा ज्ञानवर्धक विश्लेषण किया है।[1] इस अध्ययन में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की तिथि को आधार मानते हुए दशकवार आर्यसमाजों की संख्या इस प्रकार बतायी गयी है—१८७५ से १८८४ के प्रथम दशक में दो आर्यसमाज स्थापित हुए, १८८५ से ९४ के दूसरे दशक में चार, १८९५ से १९०४ के तीसरे दशक में चार, १९०५ से १९१४ के चौथे दशक में पाँच, १९१५ से १९२४ के दशक में आठ, १९२५ से १९३४ के छठे दशक में नौ, १९३५ से १९४४ के सातवें दशक में सबसे अधिक तेईस समाज स्थापित हुए।

यदि समाजों की स्थापना का विश्लेषण किया जाए, तो यह ज्ञात होगा कि सप्तम दशक में सबसे अधिक समाज स्थापित होने के दो बड़े कारण थे। पहला कारण १९३०-३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण होनेवाली जागृति और अस्पृश्यता-निवारण के लिए किये जानेवाले कार्य थे। इस समय आर्यसमाज के आन्दोलन को सामान्य

---

१. आर्य सेवक दीपावली १९७१ (—आर्यसमाज विशेषांक पृष्ठ क से झ)।

जनता का समर्थन मिला, वह अधिक लोकप्रिय हुआ और इसलिए आर्यसमाज में दिलचस्पी लेनेवाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी और आर्यसमाज अधिक संख्या में स्थापित होने लगे। दूसरा कारण हैदराबाद का सत्याग्रह-संग्राम था। इसने आर्यसमाज में एक नवीन जागृति और क्रियाशीलता उत्पन्न की और सत्याग्रह में सफलता पाने से आर्यसमाज में नया आत्मविश्वास पैदा हुआ। इससे आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को बड़ा बल मिला। इसके परिणामस्वरूप इस एक दशक की अवधि में स्थापित होनेवाले आर्यसमाजों की संख्या प्रायः उतनी ही थी, जितनी कि पहले पचास वर्ष में थी।

(२) प्रथम दशक (१८७५-१८८४ ई०) के समाज

जबलपुर में पहली बार महर्षि का आगमन १८७५ ई० में हुआ था। उन्हें जबलपुर लाने का श्रेय जबलपुर-निवासी पण्डित कृष्णराव को है। उन्हें जब महर्षि दयानन्द सरस्वती का परिचय प्राप्त हुआ और यह पता लगा कि वे इलाहाबाद में हैं तो कृष्णराव जी स्वयमेव इलाहाबाद गये और उन्होंने महर्षि से जबलपुर आने के लिए अनुरोध किया। महर्षि उनके आग्रह से जबलपुर आये और चरहाई में पण्डित कृष्णराव के मकान के सामने उनके व्याख्यान होते रहे और जनता बड़ी संख्या में इन व्याख्यानों में सम्मिलित होती थी।

दूसरी बार महर्षि १८८१ में जबलपुर आये और सेठ गोकुलदास के बाग में ठहरे। उनके व्याख्यान इस समय पूर्ववत् चरहाई में पण्डित कृष्णराव के मकान के सामने होते रहे और इसी समय यहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई। जबलपुर का समाज मध्यप्रदेश में स्थापित समाजों में सबसे पुराना है। इसकी स्थापना, आरम्भिक विकास तथा संचालन में पण्डित कृष्णराव गोलवलकर, श्री जयनारायण श्रीवास्तव, श्री परमानन्द गुप्त, श्री रामलाल वासुदेव और श्री काशीराम शर्मा ने उल्लेखनीय भाग लिया। पण्डित कृष्णराव गोलवलकर एक महाराष्ट्रीय सुधारवादी सुशिक्षित व्यक्ति थे। वह उस समय इस नगर में अतिरिक्त सहायक आयुक्त (एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर) के उच्च सरकारी पद पर आसीन थे। आर्यसमाज की स्थापना के बाद इसके साप्ताहिक अधिवेशन अनेक वर्षों तक उनके निवासस्थान पर ही होते रहे। उस समय यद्यपि यहाँ के प्रमुख नागरिक पण्डित रंगीराम रामचन्द्र भक्त, श्री बिहारी लाल शास्त्री, पण्डित मुरलीधर, पण्डित बाजीलाल, ठाकुर नन्ने सिंह, ठाकुर गजराज सिंह और रामेश्वरराम समाज में सम्मिलित हो गये, किन्तु इसके प्राण पण्डित कृष्णराव ही थे। कुछ समय बाद पण्डित कृष्णराव का तबादला अन्यत्र हो जाने पर समाज के कार्य में कुछ शिथिलता आ गयी। किन्तु १८८३ में यहाँ जब श्री रलाराम इंजीनियर आये तो इसमें नूतन प्राण-संचार हुआ। उनके द्वारा पण्डित भीमसेन को जबलपुर बुलाया गया, और आर्यसमाज के कार्य को बड़े उत्साह से आरम्भ किया गया। पण्डित कृष्णराव के चले जाने पर भी समाज के अधिवेशन उनके मकान पर काफी समय तक होते रहे। श्री रलाराम इंजीनियर द्वारा इसका कार्य सँभालने पर दीक्षितपुरा वार्ड में यह समाज कार्य करने लगा और १९०६ से ३७ तक तिलकभूमि तलैया में उनके मकान में समाज के अधिवेशन होते रहे। १९३८ से यह समाज नगर के केन्द्रीय स्थान जंजीपुरा श्रीनाथ तलैया के अपने नये सुन्दर दोमंजिले भवन में आया। समाज-भवन के निर्माण और विस्तार में सर्वश्री

काशीराम शर्मा, घनश्यामसिंह गुप्त, घनश्यामदास बिरला, जयनारायण श्रीवास्तव, आचार्य रामचन्द्र का विशेष योगदान है।

यह आर्यसमाज पिछली एक शताब्दी में जबलपुर के धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है। आर्यसमाज के शुद्धि-आन्दोलन में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस समाज ने पिछली शती में लगभग १५०० शुद्धियाँ की हैं। अनाथों तथा विधवाओं की रक्षा के मामले में इसने उल्लेखनीय कार्य किया है। नगर में राजकुमारी बाई अनाथालय की स्थापना एवं संचालन में उल्लेखनीय सहयोग दिया है, साधारण जनता को ईसाइयों के प्रचार-जाल से सावधान करने का सराहनीय कार्य किया है, मध्यप्रदेश शासन द्वारा नियुक्त ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों पर विचार करनेवाले नियोगी आयोग के समक्ष आवश्यक साक्षियाँ प्रस्तुत करने का कार्य किया है।

आर्यसमाज के सभी आन्दोलनों में अपना योगदान देने में जबलपुर समाज अग्रणी रहा है। हैदराबाद-सत्याग्रह में इस समाज ने हजारों रुपये एकत्र करके भेजे तथा श्री भीकमसिंह तेवरवाले तथा अन्य पाँच सत्याग्रहियों को इस आन्दोलन में भाग लेने के लिए भेजा।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के मध्य में इस समाज द्वारा अनेक सफल शास्त्रार्थों का भी आयोजन किया गया। ७-१२-१८८८ को सुप्रसिद्ध पौराणिक पण्डित शंकर शास्त्री के साथ एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। इसमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि स्वामी भास्करानंद सरस्वती थे। यह वाद-विवाद संस्कृत भाषा में लेखबद्ध ढंग से हुआ। १९१५ में इस्लाम की ओर से मुसलिम अन्जुमन ने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। इसमें भी आर्यसमाज की विजय हुई। १९४९ में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी आर्य-समाज की ओर से भाग लेनेवाले वैदिक मिशनरी पण्डित हृदयप्रकाश भारद्वाज थे और जैन प्रतिनिधि सभा की ओर से श्री ज्ञानचन्द काव्यतीर्थ ने इसमें भाग लिया। ये तीनों शास्त्रार्थ इस प्रदेश में आर्यसमाज की कीर्ति और प्रभाव को बढ़ानेवाले सिद्ध हुए।

नवयुवकों में आर्यसमाज को लोकप्रिय बनाने के लिए यहाँ मार्च १९४० से विविध कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। शक्तिदल के नाम से इसकी शाखायें नगर के गंजीपुरा, गोलबाजार, राइट टाउन, अंधेरदेव, जवाहरगंज, हनुमानताल, चेरीताल आदि स्थानों पर लगायी जा रही हैं। इनमें युवकों को शारीरिक एवं बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ आदर्श चरित्र के निर्माण का पाठ भी पढ़ाया जाता रहा है। विधर्मियों से हिन्दुओं की रक्षा के लिए १९३७ से श्री दालचन्द्र यादव की अध्यक्षता में आर्य युवक संगठन कार्य कर रहा है। १९४९ से आर्यकुमार सभा चल रही है। इसके प्रधान श्री रामलाल साहू तथा मन्त्री श्री बाबूलाल हैं। इसके सत्संगों तथा अधिवेशनों में नवयुवकों को धार्मिक तथा सामाजिक सुधार की प्रेरणा और सांस्कृतिक शिक्षा प्रदान की जाती है। १९६६ में आर्य नवयुवक मण्डल का गठन किया गया है और इस प्रकार तरुण वर्ग में गोष्ठियों, शिविरों और चर्चाओं द्वारा प्रभावशाली कार्य किया जा रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में इस समाज की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं। वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्यसमाज द्वारा वार्षिकोत्सव बड़े उत्साह और समारोह के साथ मनाये जाते हैं। इसमें आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी और विद्वान् व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित

किये जाते हैं। इस अवसर पर नगर-कीर्तन की शोभायात्राएँ प्रभावशाली ढंग से निकाली जाती हैं। आसपास के स्थानों पर लगनेवाले मेलों में आर्यसमाज के प्रचार का आयोजन किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्रचार की व्यवस्था की जाती है। सभी प्रमुख आर्यपर्व—ऋषिबोधोत्सव, श्रावणी उपाकर्म, वेद-प्रचार सप्ताह, ऋषि निर्वाण उत्सव धूमधाम से मनाये जाते हैं। एक भजन-मण्डली वाद्ययन्त्रों के साथ शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आर्यसमाज के प्रचार में निरन्तर लगी रहती है। विभिन्न विषयों पर छोटे ट्रैक्ट और पत्रिकाएँ प्रकाशित, प्रसारित एवं वितरित की जाती हैं।

इस आर्यसमाज द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार, प्रसार और सामाजिक सेवाओं में जिन लोगों ने भाग लिया है उनमें निम्नलिखित नाम स्मरणीय हैं—सर्वश्री लाला जयनारायण श्रीवास्तव, रामलाल, वासुदेव, रामेश्वर राव गायकवाड़, परमानन्द गुप्त, विष्णुकान्त वर्मा, भीमसेन वर्मा, हरिसिंह कछवाहा, दीनानाथ चड्डा, चिरंजीव-लाल शर्मा, ईश्वरी प्रसाद सिन्हा, सूरज बलराम सेठी, मुंशीराम, कनछेदी लाल पाठक, रामनाथ चोपड़ा, राम दौलत चक्कर, बद्री प्रसाद सोनी, ब्रह्मानन्द आर्य वेदालंकार।

आर्यसमाज गंजीपुरा के भवन में ही १९४४ में महिला आर्यसमाज जबलपुर की स्थापना हुई। इसके पुराने कार्यकर्ताओं में श्रीमती शकुन्तला वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने इस समाज के विकास में बड़ा भाग लिया है। यह समाज महिलाओं के सत्संगों का आयोजन करती है और उनमें वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करती है।

आर्यसमाज नरसिंहपुर—इसकी स्थापना सन् १८८४ में हुई थी। यह पहले अतीव सक्रिय एवं मध्यप्रदेश और विदर्भ का प्रमुख आर्यसमाज था। आरम्भ में इसका विकास करनेवालों में सर्वश्री महेन्द्र दत्त शर्मा, नन्ने लाल मुरलीधर, बाबू चन्द्रदत्त और शंकर-लाल का नाम उल्लेखनीय है। पहले यह समाज इतना सक्रिय था कि इसके वार्षिकोत्सव मध्यप्रदेश में सबसे अधिक धूमधाम से हुआ करते थे और मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि-सभा का निर्माण भी यहीं किया गया था। २७ दिसम्बर, १८९९ को स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में आर्यसमाज नरसिंहपुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर आर्य-प्रतिनिधि सभा मध्यप्रान्त व विदर्भ की स्थापना की गयी थी। इस प्रतिनिधि सभा के बनने से पहले इस क्षेत्र के आर्यसमाज राजस्थान व मालवा की आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध थे। कुछ समय बाद आर्यसमाज के कार्यों में शिथिलता आ गयी और यहाँ का संगठन लगभग समाप्त हो गया। अब पुनः इसको सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

दूसरे दशक (१८८५-१८९४) के आर्यसमाज—१८८५ से १८९४ के दशक में चार आर्यसमाज स्थापित हुए थे। इनमें पहला आर्यसमाज अमरावती का था। इस समाज की स्थापना १८८९ में हुई। इसके संस्थापक श्री बालमुकुन्द शर्मा तथा मोतीलाल गुप्त थे। इस समाज का आरम्भ में अपना कोई भवन नहीं था। इसके साप्ताहिक सत्संग सदस्यों के घरों पर लगाये जाते थे। समाज-मन्दिर के वर्तमान भवन का निर्माण १९२० में हुआ। इस भवन के साथ-साथ स्थायी आय के लिए कुछ दुकानें भी बनी हुई हैं। आर्यसमाज में साप्ताहिक सत्संग और सभी आर्य पर्व सामूहिक रूप से बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। इस समाज को इस बात का श्रेय है कि यहाँ १९२७ में आर्यसमाज के

सुप्रसिद्ध नेता पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय पधारे थे और उन्होंने व्याख्यान भी दिया था। इस समाज की ओर से शुद्धि-कार्य नियमित रूप से होता रहता है।

आर्यसमाज चान्दूर रेलवे—इसकी स्थापना १८९० में हुई। इसके संस्थापकों में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री सेठ मन्नालाल गुप्त (प्रधान), चन्द्रभानु जी बालकर (मन्त्री), नारायणराव वातकर, रघुवीरसिंह वैश्य। इसके भवन-निर्माण का श्रेय इसके प्रधान महोदय को है। उन्होंने इसे अपने व्यय से बनवाकर समाज को दान कर दिया। इस भवन का निर्माण १९०० ई० में हुआ था। नगर के निकट कौण्डन्यपुर में मेला होता है। इस मेले के अवसर पर समाज द्वारा प्रचार किया जाता है। इस समाज में साप्ताहिक सत्संग और सभी आर्य पर्व बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। हैदराबाद सत्याग्रह में समाज की ओर से धनराशि एकत्र करके भिजवाई गयी थी और सत्याग्रह में जानेवाले सत्याग्रहियों के लिए उचित प्रबन्ध किया गया था।

आर्यसमाज खण्डवा—इसकी स्थापना अगस्त १८९१ में स्वामी आत्मानन्द सरस्वती के प्रयास से हुई। १९-८-९१ को डॉक्टर आनन्दराम शर्मा के निवासस्थान पर स्थानीय आर्य सज्जनों की एक बैठक बुलायी गयी। इसमें विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना करके निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये—प्रधान डॉक्टर आनन्द शर्मा, उपप्रधान मनीराम सर्राफ, मन्त्री डॉक्टर सुखदेव, उप-मन्त्री डॉक्टर विहारीलाल वर्मा, कोषाध्यक्ष श्री धर्मपाल, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री काशीनाथ काजले। १९०० ई० तक इस समाज का कार्य बड़े उत्साह के साथ चलता रहा। किन्तु इस वर्ष श्री विहारीलाल वर्मा का निधन हो जाने से समाज के कार्य में शिथिलता आने लगी। समाज के सत्संग इन दिनों समाज का भवन न होने के कारण श्री मंगललाल वर्मा के निवासस्थान पर होते रहे। १९११ से १९२० तक आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री बाबू गिरधारीलाल, राजाराम, सेठ तुलसीदास भाई, ख्यालीराम और रोशनलाल शर्मा। इन कार्यकर्ताओं के उत्साह से इस समय समाज की ओर से वैदिक धर्म का प्रचार बड़े पैमाने पर किया गया। पौराणिक पण्डित भीमसेन शर्मा के साथ तीन दिन तक आर्यसमाज का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें वैदिक धर्म की विजय के साथ खण्डवा में आर्यसमाज की धाक बैठ गयी।

इसी समय आर्यसमाज के अपने भवन के निर्माण का कार्य आरम्भ किया गया। प्रत्येक आर्य सदस्य ने अपनी एक महीने की आय आर्यसमाज को दान दी और स्थानीय सरकारी स्कूल के पास एक मकान खरीदा गया। अब समाज के सत्संग अपने भवन में होने लगे। पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय के खण्डवा पधारने पर आर्यसमाज की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया और लालाजी ने अपने ओजस्वी व्याख्यानों से यहाँ की जनता में नवीन जागृति उत्पन्न की। इससे यहाँ समाज के कार्यकर्ताओं को नूतन प्रेरणा और उत्साह मिला।

१९३० से ३२ तक बाबू अमरचन्द समाज के प्रधान थे। इनके समय में आर्यसमाज के खरीदे हुए मकान का पुनर्निर्माण आरम्भ किया गया। १९३५ में डॉक्टर रघुनाथसिंह वर्मा समाज के मन्त्री बने और उन्होंने ईसाई प्रचारकों के विरुद्ध आर्यसमाज का अभियान चलाया। प्रचारकों तथा भजनोपदेशकों को बुलाकर ईसाइयों के प्रचार का सफल प्रतिकार किया। १९३२ में इस समाज का वार्षिकोत्सव न केवल इस बात

के लिए उल्लेखनीय है कि इसमें समाज के तथा आर्य-जगत् के कुछ मूर्धन्य उपदेशक—मेहता जैमिनी, पण्डित कालीचरण शर्मा, ज्ञानेन्द्रदेव सूफी सम्मिलित हुए, अपितु यह उत्सव इसलिए भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी-साहित्य के विद्वान् तथा सुकवि, कर्मवीर के सम्पादक पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की अध्यक्षता में समाज की ओर से एक विराट् कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें मध्यप्रदेश तथा अन्य प्रदेशों के सुप्रसिद्ध कवियों ने भाग लिया और इससे आर्यसमाज के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

१९३९ के हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के समय इस समाज की ओर से सत्याग्रहियों के भोजन आदि की विशेष व्यवस्था की गयी थी। इसके लिए धन-संग्रह करने में सेठ रामनिवास का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सत्याग्रह की समाप्ति के बाद अल्पसंख्यक समाज के साथ संघर्ष में सत्याग्रहियों को काफी चोटें आयीं और न्यायालय ने इस कार्य की निन्दा करते हुए अपराधियों को कठोर कारावास का दण्ड दिया।

तीसरे दशक (१८९५-१९०४) के समाज—हिंवरखेड़ समाज की स्थापना पण्डित राधाकृष्ण (प्रधान) एवं श्रीकृष्ण गुणादि भोपले (मन्त्री) के सत्प्रयत्नों से १९०० में हुई थी। इस समाज के अपने भवन का निर्माण १९०२ में हुआ। निर्माण-कार्य में मन्त्री श्री भोपले, श्री पूरणलाल एवं भृगुलाल का विशेष योगदान था। इसमें आरम्भ से ही सभी आर्यपर्व बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। वेद-प्रचार-सप्ताह में सन्ध्या-हवन, सत्यार्थप्रकाश का पाठ तथा विद्वानों के प्रवचन कराये जाते हैं। इस समाज के साथ एक युवक तथा बाल-प्रचार सभा का दल भी है। सभा के दल में गुरुकुल से प्रशिक्षण-प्राप्त चार व्यक्ति समाज के सभी कार्यों में बड़े उत्साह से भाग लेते हैं। इस समाज की ओर से शुद्धि के कार्य में श्री चन्द्रभूषण भोपले का योगदान उल्लेखनीय है। हैदराबाद सत्याग्रह-आन्दोलन में इस समाज ने धनराशि एकत्र करके भेजी थी।

आर्यसमाज अकोला—इसकी स्थापना २०-४-१९०२ को हुई थी। इसमें सर्वश्री रामदुलारे पण्डित, रामधन खेतान, ठाकुर गोविन्दसिंह एवं नागोराव का विशेष योगदान था। समाज का अपना भव्य भवन है। इस भवन के निर्माण में निम्नलिखित महानुभावों ने विशेष सहायता की है—ठाकुर गोविन्दसिंह मनसबदार, श्री रामधन-खेतान, श्री टी० पी० आश्रम। इस समाज की ओर से सामाजिक सुधार-आन्दोलन को विशेष रूप से बल देने के लिए 'समाज सुधारक' नामक पत्रिका कुछ समय तक निकाली जाती रही। इस समाज के साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते रहे हैं और इसके वार्षिकोत्सवों में सर्वश्री रामचन्द्र देहलवी, स्वामी ध्रुवानन्द, चाँदकरण शारदा आदि आर्यसमाज के प्रमुख नेता पधारते रहे हैं। वेद-प्रचार और वेद की कथाओं का आयोजन भी किया जाता रहा है और यहाँ संस्कृत की परीक्षाओं और वैदिक धर्म विशारद की परीक्षाओं की व्यवस्था समाज की ओर से की जाती है। स्थानीय मेलों में वेद के प्रचार और वैदिक साहित्य के वितरण और विक्रय की ओर काफी ध्यान दिया जाता है। हैदराबाद सत्याग्रह-आन्दोलन में इस समाज ने अपना योगदान दिया है, और यहाँ से शान्तिकुमार यादव, गोविन्दराव वेरुलकर और श्रीकृष्णचन्द्र ने सत्याग्रहियों के रूप में भाग लिया।

आर्यसमाज विलासपुर—यहाँ १९०२ में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। समाज के संस्थापक सर्वश्री गुरुदत्तामल और लद्धाराम थे। कुछ समय बाद इस समाज

के कार्य में शिथिलता आने लगी। किन्तु १९२७ में नवीन कर्मठ कार्यकर्ताओं के प्रभाव से इसमें पुनः नवजीवन का संचार हुआ। इसके वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाने लगे। इनमें आनन्द स्वामी जैसे आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध संन्यासी आते रहे। साप्ताहिक सत्संग पूरे वर्ष तक चलते रहे। आर्य पर्वों पर पारिवारिक सत्संग की पद्धति से वेद-प्रचार किया जाता रहा। समाज के साथ एक पुस्तकालय का निर्माण किया गया, जिसमें वैदिक साहित्य तथा आर्यसमाज-सम्बन्धी एक हजार से अधिक पुस्तकों का संग्रह है। आर्यसमाज की ओर से एक बाल-मन्दिर और प्राइमरी स्कूल भी चलाया जा रहा है। इस समाज में कुछ पुरानी दुर्लभ पुस्तकें और 'आर्य मित्र', 'सार्वदेशिक' आदि की पुरानी फाइलें भी उपलब्ध हैं।

चौथे दशक (१९०५ से १९१४) के आर्यसमाज—गन कैरिज फैक्टरी (जी० सी० एफ०) जबलपुर—इस आर्यसमाज की स्थापना १९०८ (प्रथम वैशाख १९६५ विक्रमी) में हुई। इस समाज की स्थापना में प्रमुख भाग लेनेवाले सर्वश्री ईश्वरीप्रसाद, सल्तनत बहादुरसिंह, माधोप्रसाद, ज्वालाप्रसाद, फकीरेलाल झा आदि महानुभाव थे। आर्यसमाज का अपना भवन है। इसकी भूमि १९३८ में श्री लक्ष्मणप्रसाद गंगादीन मिश्र से खरीदी गयी थी। इस समाज के साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते हैं।

आर्यसमाज हंसापुरी (नागपुर)—इसकी स्थापना १९०९ में हुई थी। इसे स्थापित करने में स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, सर्वश्री नारायणसिंह, दगैया, गणपति माहुले, सीताराम साहू, सावलराम वाग आदि महानुभावों ने प्रमुख भाग लिया। इस आर्यसमाज का अपना निजी भवन है, और विशाल यज्ञशाला बनी हुई है। इसमें साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते हैं। समस्त आर्य पर्व और त्यौहार उत्साहपूर्वक मनाये जाते हैं। समाज की ओर से एक सार्वजनिक वाचनालय भी नियमित रूप से चलाया जाता है। इसमें आर्य-जगत् की सुप्रसिद्ध पत्रिकाएँ तथा अन्य दैनिक पत्र भी मँगाये जाते हैं। समाज द्वारा चलाये जाने वाले पुस्तकालय में महर्षि स्वामी दयानन्द की लगभग सभी पुस्तकें तथा अन्य आर्यसमाजी पुस्तकें विद्यमान हैं। समाज की ओर से शुद्धियों और संस्कारों का कार्यक्रम चलता रहता है। इस समाज ने हैदराबाद के सत्याग्रह-संग्राम में भी अच्छा भाग लिया।

आर्यसमाज गोरखपुर एवं नेपियर टाउन जबलपुर—इस समाज की स्थापना १९०३ ई० में हुई थी। इससे पहले जवलपुर में गंजीपुरा और गन कैरिज फैक्टरी के समाज पहले से ही विद्यमान थे; किन्तु गोरखपुर, मदन महल, सदर आदि क्षेत्रों में आर्यसमाज न होने के कारण सत्संग एवं प्रचार में बड़ी कठिनाई हो रही थी। इसे ध्यान में रखते हुए इस समाज का संगठन किया गया। इसके संस्थापकों में अधिकांश सज्जन आर्यसमाज गंजीपुरा के कर्मठ कार्यकर्ता थे। इनमें पण्डित चिरंजीवलाल शर्मा, प्रोफेसर हरिराम, हरिश्चन्द्र बाली, गंगाधरराव गायकवाड़, मनोहरलाल सेठी, प्यारेलाल, अमरनाथ, गोपालदास आनन्द, सत्यपाल हांडा, गंगाधर गुणवर, ठाकुर पृथ्वीचन्द, चिरंजीवसिंह तोमर, श्रीमती कर्तारदेवी के नाम उल्लेखनीय हैं।

आरम्भ में आर्यसमाज के सत्संग गोरखपुर-स्थित सरदार थम्मनसिंह के बाड़े में श्री हरिश्चन्द्र बाली के घर पर होते थे। विभिन्न परिवारों में काफी समय तक सत्संग होने के बाद यहाँ स्थित नत्थूमल जैन धर्मशाला में कमरा किराये पर लेकर सत्संग लगाये

जाने लगे।

शनैः-शनैः यहाँ आर्यसमाज के सदस्यों ने अपने भवन की तीव्र आवश्यकता अनुभव की। इस भवन का शिलान्यास स्वामी आत्मानन्द सरस्वती के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। भवन-निर्माण में श्री पं० चिरंजीवलाल शर्मा का विशेष योगदान है। आर्यसमाज के सत्संग इस नगर में आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हैं। १९४७ से यहाँ अभयशरण आर्य वेदालंकार बड़े उत्साह से कार्य कर रहे हैं। इन्होंने नवीन ढंग की वेद-कथाएँ, सामाजिक चर्चाएँ और पारायण महायज्ञ प्रारम्भ किये हैं। इस आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्य बाल सभा का एक अभिनव प्रयोग है। इसमें आर्यसमाजी बालिकाओं द्वारा समय-समय पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन बड़े सात्विक ढंग से किया जाता है, जिससे आर्यसमाज के प्रसार में बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता मिली है। इन कार्यक्रमों से बालिकाओं में धर्म के प्रति निष्ठा और उनके भावी सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूकता उत्पन्न हुई है और उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में बड़ी सहायता मिली है।

समाज के वार्षिक उत्सव धूमधाम से मनाये जाते हैं। इस अवसर पर निकाले जानेवाले नगर-कीर्तन बड़े प्रभावशाली होते हैं। इन उत्सवों में आर्य-जगत् के सुप्रसिद्ध नेता, मूर्धन्य व्याख्याता और उपदेशक सम्मिलित होते हैं। जबलपुर के आसपास तिरवारा घाट, भेड़ा घाट आदि के मेलों में प्रचार की व्यवस्था की जाती है और आर्यसमाज के विभिन्न विषयों पर लघु-पुस्तिकायें और ट्रैक्ट बड़ी संख्या में वितरित किये जाते हैं। इस समाज ने मध्यप्रदेश शासन द्वारा नियुक्त नियोगी आयोग के कार्यों में बड़ी सहायता दी थी। इस आयोग का कार्य ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों को ईसाई बनाने के सम्बन्ध में अपनाई जानेवाली पद्धतियों के बारे में विस्तृत जाँच करना था। आर्यसमाज ने आयोग के समक्ष ईसाई मिशनरियों के प्रचार की पद्धतियों पर प्रामाणिक प्रकाश डाली जानेवाली महत्त्वपूर्ण सामग्री और साक्षी प्रस्तुत की। इस कार्य में विशेष सहायता देनेवाले दो अधिवक्ताओं—श्री बक्शी बलवन्तसिंह तथा श्री सोहनलाल-अग्रवाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज गोरखपुर का भवन-स्थल अपर्याप्त होने के कारण नेपियर टाउन में आर्यसमाज का एक अन्य भवन बनाया गया है। नगर के केन्द्र में अवस्थित होने तथा विशाल सभाओं के आयोजन करने के लिए पर्याप्त खुला स्थान और मैदान होने के कारण यह भवन नगर का एक आकर्षक केन्द्र बन गया है। इसमें आर्यसमाज के अतिरिक्त नगर की अन्य बड़ी सभाओं का भी आयोजन किया जाता है। नवीन भवन का निर्माण हो जाने पर गोरखपुर आर्यसमाज के सत्संग भी नेपियर टाउन में लगने लगे, किन्तु कुछ समय के बाद आवागमन की कठिनाइयों से गोरखपुर में पूर्ववत् पृथक् सत्संग की व्यवस्था चलने लगी और दोनों समाज पृथक् रूप से काम करने लगे।

आर्यसमाज सागर (मध्यप्रदेश)—इसकी गणना मध्यप्रदेश के बड़े पुराने प्रतिष्ठित समाजों में की जाती है। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना का श्रेय डॉक्टर श्रद्धाराम को है। उनके मन में सर्वप्रथम समाज स्थापित करने का विचार उत्पन्न हुआ। वे मध्यप्रदेश सरकार के बड़े सफल और प्रसिद्ध चिकित्सक थे। आपकी प्रेरणा से सागर-वासियों में आर्यसमाज स्थापित करने का उत्साह उत्पन्न हुआ। रायबहादुर ठाकुर महाराजसिंह मालगुजार की कोठी पर दिनांक २१-१-१८९१ को उनकी अध्यक्षता में

सम्पन्न हुई एक सभा में सागर में आर्यसमाज स्थापित किया गया। इसका कार्य बड़े उत्साह और लगन से आरम्भ हुआ। यहाँ वार्षिकोत्सवों पर उपदेश तथा प्रवचन के लिए आर्य-जगत् के उच्चकोटि के विद्वानों, संन्यासियों, भजनोपदेशकों को निमन्त्रित किया जाता था।

यद्यपि १६०६ तक इस समाज का अपना कोई भवन नहीं था, फिर भी समाज के सदस्यों के घरों पर साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते थे। आर्यसमाज के भवन-निर्माण का श्रेय एक महिला श्रीमती गणेशीदेवी जी को है। आप बड़ी धर्मपरायणा और महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों में गहरी आस्था रखनेवाली महिला थीं। आपका विवाह श्री बलदेवप्रसाद शर्मा के साथ सम्पन्न हुआ था। स्वर्गवास होने से एक वर्ष पूर्व वे रुड़की से सागर आयीं और यहाँ उन्होंने अनुभव किया कि समाज का निजी मन्दिर न होने के कारण आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार-कार्य में बड़ी बाधा पड़ रही है, अतएव उन्होंने अपने पति को इसके लिए दान देने का अनुरोध किया और समाज के उत्साही कार्यकर्ताओं ने इस कार्य के लिए बड़ी तत्परता से धन-संग्रह किया। श्री बी० एल० राय बैरिस्टर से ख़रीदी गयी भूमि पर १६०६-७ में आर्यसमाज-मन्दिर का निर्माण हुआ। सर्वश्री देवीप्रसाद पाठक, ठाकुर वासुदेवसिंह, मास्टर कामताप्रसाद, लाला कुन्दनलाल, मेलाराम शर्मा, गोपालसिंह वर्मा आदि सज्जनों के सतत प्रयास से आर्यसमाज के भवन का विस्तार हुआ और १६२६ में आर्यसमाज की भूमि पर आठ दुकानों का निर्माण हुआ।

१६३६ के हैदराबाद सत्याग्रह-संग्राम में सागर आर्यसमाज ने धन-जन से इसमें बड़ी सहायता की। सागर से ४ सत्याग्रही सर्वश्री द्वारिकाप्रसाद, प्राणचन्द, छोटूराम और बाबूलाल पाराशर सत्याग्रही-जत्थों में सम्मिलित होकर जेल गये। इनमें से पिछले दो सज्जन जेल से लौटने के कुछ समय बाद जेल-जीवन का स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ने से स्वर्गवासी हुए। इस सत्याग्रह से यहाँ आर्यसमाज में जो नयी चेतना और स्फूर्ति की लहर आई, उसमें श्री नन्दूराम साहू ने अपने पिता लच्छूराम की स्मृति में तीन हज़ार रुपये के व्यय से १६४० में एक व्याख्यान-भवन का निर्माण कराया। इससे आर्यसमाज के कार्यक्रमों में नये उत्साह का संचार हुआ।

आर्यसमाज आकोट—इसकी स्थापना १-४-१६०६ को हुई थी। इसके संस्थापकों में सर्वश्री गिरधारीलाल, पीताम्बरलाल, हीरालाल, पण्डित वैद्यनाथ, दौलतराम और छोटेलाल ने विशेष भाग लिया। इस समाज का अपना अच्छा भवन है। इसमें साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते हैं। इसमें सन्ध्या-हवन, प्रार्थना और भजनों के बाद सत्यार्थप्रकाश की कथा और प्रवचन होते हैं। सभी आर्य पर्वों को बड़े उत्साह से मनाया जाता है। मेलों में प्रचार और ग्राम-प्रचार को योजनाबद्ध रीति से किया जाता है। शुद्धियों का कार्य भी यदाकदा होता है। इस समाज में स्वामी श्रद्धानन्द जी १६२१ में, स्वामी सर्वदानन्द जी १६२३ में पधारे थे और उस समय प्रचार का अच्छा कार्य किया गया था। इस समाज ने ग्रामीण क्षेत्रों में सत्यार्थप्रकाश के मराठी अनुवाद की ४०० प्रतियाँ वितरित की हैं।

पाँचवें दशक (१६१५-२४ ई०) के समाज : आर्यसमाज छिंदवाड़ा—यहाँ १०-१०-१६१७ को श्री प्यारेलाल मिश्र बार-एट-लॉ की अध्यक्षता में समाज स्थापित

किया गया था। इसके उप-प्रधान श्री नारायणराव बार-एट-लॉ, तथा मन्त्री श्री मेवालाल बैरिस्टर थे। अन्य सदस्य श्री प्यारेलाल, श्री जगईराम वेदी, श्री रघुवीरशरण चौधरी, श्री बलकरण सिंह बैरिस्टर और श्री हीरालाल वर्मा थे। इस आर्यसमाज की ओर से आसपास के स्थानीय मेलों में प्रचार की व्यवस्था की जाती है। समाज का अपना पुस्तकालय भी है। शुद्धि और प्रचार-कार्य में सर्वश्री वारेलाल, मेवालाल और राजाराम का योगदान प्रशंसनीय है। हैदराबाद सत्याग्रह के लिए यहाँ से पर्याप्त धनराशि एकत्र करके भिजवाई गयी थी और श्री फकीरचन्द्र चौरसिया ने सत्याग्रही के रूप में भाग लिया था।

आर्यसमाज जूना धामणगाँव—इसकी स्थापना १९१७ में हुई थी। इसके संस्थापकों में उल्लेखनीय नाम हैं—सर्वश्री चन्द्रभान मांडव गणे, हरिभाउ कांडव गणे, रामसुभेजी कनोजे, जागोबाजी कनोजे। यही सज्जन आर्यसमाज के पहले अधिकारी थे। आर्यसमाज का निजी भवन है और इसका निर्माण-कार्य १९२७ में पूरा हुआ था। साप्ताहिक सत्संग यहाँ विशेष पर्वों के अवसर पर होते हैं। समाज के वार्षिकोत्सव में पण्डित रामचन्द्र देहलवी जैसे प्रसिद्ध व्याख्याता बुलाये जाते थे। समाज के साधन बहुत कम होने के कारण इस समाज द्वारा मेलों में प्रचार या गाँवों में प्रचार का कार्य नहीं किया जाता है।

आर्यसमाज सतना—रीवाँ राज्य और विन्ध्यप्रदेश के इस महत्त्वपूर्ण रेलवे-स्टेशन में आर्यसमाज की स्थापना १९१८ में हुई थी, किन्तु कुछ समय चलने के बाद इसके कार्य में शिथिलता आ गयी। १९४१ में पण्डित देवीप्रसाद, मुंशी रामानन्द, मोतीलाल गोस्वामी, श्री गणपति प्रसाद, श्री अवधविहारी लाल, श्री निर्भयानन्द स्वामी के सत्प्रयास से आर्यसमाज का पुनरुज्जीवन हुआ। रीवाँ नरेश महाराज गुलाबसिंह जी द्वारा १९४४ में आर्यसमाज को २०० × १५४ वर्ग फीट का भूखण्ड दान में दिया गया। आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ताओं ने धन-संग्रह करके इसका भवन-निर्माण-कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया।

आर्यसमाज द्वारा साप्ताहिक एवं पारिवारिक सत्संगों का आयोजन किया जाता है। सतना नदी पर लगनेवाले मेलों में प्रचार की व्यवस्था शिविर लगाकर की जाती है। इस अवसर पर आर्यसमाज-विषयक साहित्य वितरित किया जाता है। समाज के पुस्तकालय में धार्मिक पुस्तकों का सुन्दर संग्रह है। अनेक पत्रिकाएँ वाचनालय के लिए मँगायी जाती हैं। आर्यसमाज की ओर से कभी-कभी शुद्धि कार्य किया जाता है। इसके वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। इसमें प्रकाशवीर शास्त्री, स्वामी विद्यानन्द, श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा जैसे आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् सम्मिलित होते रहे हैं। इस समाज ने इस क्षेत्र में प्रचार का अच्छा कार्य किया है।

आर्यसमाज चिचोली (जिला बैतूल)—यहाँ आर्यसमाज की स्थापना १९१८ई० में हुई। इसके जन्मदाता श्री घासीराम आर्य और उनकी धर्मपत्नी श्री जानकी देवी थीं। आरम्भ में सभी साप्ताहिक सत्संग इनके निवासस्थान पर हुआ करते थे। उस समय के कर्मठ आर्यसमाजी सदस्यों में उल्लेखनीय नाम थे—सर्वश्री भाऊलाल, कन्हैयालाल माचीवार, बख्तराम, श्यामराव चन्देल, और श्री कालूराम।

१९१९ में चिचोली आर्यसमाज ने सनातनी पण्डितों से एक शास्त्रार्थ का आयो-

जन कराया। इसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित लोकनाथ शास्त्री सरगोधा(पश्चिमी पंजाब), स्वामी श्रद्धानन्द और श्री शिवानन्द थे तथा पौराणिक पण्डितों की ओर से श्री कालूराम शास्त्री तथा काशी के एक अन्य पण्डित थे। शास्त्रार्थ का विषय था—बाल-विवाह। इसमें आर्यसमाज ने बाल-विवाह के विपक्ष में ऐसे अकाट्य वैदिक मन्त्र तथा धर्मशास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये कि सनातनी पण्डित इनका कोई उत्तर न दे सके। इससे इस क्षेत्र में चारों ओर आर्यसमाज की धाक जम गयी। इसी प्रकार आर्यसमाज ने एक ईसाई मिशनरी से भी शास्त्रार्थ किया। इससे आर्यसमाज की लोकप्रियता और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई।

स्वामी श्रद्धानन्दजी के बलिदान के बाद १६२८ में समाज के पदाधिकारियों ने बाजार चौक में एक भवन खरीदा। इसका नाम श्रद्धानन्द भवन आर्यसमाज चिचोली रखा गया। उन दिनों हरिजनों को सवर्ण हिन्दू कुओं पर चढ़कर पानी नहीं भरने देते थे और उनके साथ बड़ा दुर्व्यवहार करते थे। आर्यसमाज इस कुप्रथा का कट्टर विरोधी था। श्री शिवकिशोर पटेल ने बाजार चौक में ही एक कुआँ समाज को इस उद्देश्य से दान में दिया कि हरिजन बन्धु यहाँ कुएँ से पानी भर सकें।

आर्यसमाज की स्थापना के समय से यहाँ विजयादशमी का पर्व बड़े उत्साह, उल्लास और समारोह से मनाया जाता है और इसमें आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् व्याख्याताओं को आमन्त्रित किया जाता है। आर्यसमाज ने विधर्मियों की शुद्धि का कार्य किया है। इस कारण यहाँ आर्यसमाज के एक कर्मठ कार्यकर्ता श्री ब्रजलाल पटेल की हत्या अब्बास ने छुरा मारकर की थी। इस कार्य में उसके तीन सहयोगी भी थे। बैतूल के सेशन जज ने चारों को फाँसी की सजा सुनायी; अपील करने पर तीनों साथी छूट गये, किन्तु अब्बास अली की फाँसी की सजा बहाल रही। यह केस सार्वदेशिक सभा की ओर से मध्यप्रदेश आर्य सभा के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने लड़ा था।

१६३७ में यहाँ आर्यसमाज ने अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रबल अभियान चलाया। अस्पृश्य जाति के लोगों के साथ आर्य बन्धुओं ने सहभोज का आयोजन किया जिसमें सभी वर्णों के व्यक्ति सम्मिलित थे। इस भोज में सम्मिलित होनेवाले आर्य बन्धु अपनी बिरादरी द्वारा १०-१० वर्ष के लिए अपनी जाति से बहिष्कृत किये गये। १६४० में आर्यसमाज द्वारा जयन्ती समारोह मनाया गया।

१६४२ में महात्मा गाँधी के 'करो या मरो' आन्दोलन में २१ आर्य नवयुवक जेल गये। राजनैतिक आन्दोलनों में आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने काफी भाग लिया।

आर्यसमाज की ओर से सभी आर्य पर्व बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। एक महीने तक चलनेवाले मलाजपुर के मेले में वैदिक धर्म का खूब प्रचार किया जाता है।

इस आर्यसमाज का अपना एक विशाल पुस्तकालय भी है जिसमें चारों वेदों के भाष्य तथा वैदिक साहित्य के बहुमूल्य ग्रन्थ सुरक्षित हैं।

आर्यसमाज मल्कापुर—इस समाज की स्थापना १६१६ में हुई थी। उस समय लाला सुखवीर जी वैद्य प्रधान, श्री विश्वेश्वर जी उपप्रधान, श्री रामनिवास रावत मन्त्री थे। इस आर्यसमाज की ओर से हैदराबाद आर्य सत्याग्रह में श्री दामोदर दास रावत ने सत्याग्रह किया था और समाज की ओर से सत्याग्रह के लिए दो हजार रुपये की धनराशि एकत्र की गयी थी। बाद में इस आर्यसमाज का कार्य शिथिल हो गया।

आर्यसमाज खामगाँव—इसकी स्थापना ३-३-१९२४ को ऋषि-बोधोत्सव के पर्व पर हुई थी। इसकी स्थापना में भाग लेनेवाले प्रमुख व्यक्ति थे—सर्वश्री हरिश्चन्द्र-आर्य, नरसैया आर्य, पन्नालाल व्यास, बाजीराव नानदेव बोबड़े वकील। इस समाज के साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते हैं। समाज का अपना दोमंजिला भवन है, जिसका निर्माण १९३५ में पूरा हुआ था। भवन-निर्माण में प्रमुख भाग लेनेवाले थे—सर्वश्री लखनैया, नरसैया जी आर्य ठेकेदार, पुरुषोत्तम, रामलाल आर्य तथा पन्नालाल व्यास। इस समाज के वार्षिकोत्सवों में आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध नेता श्री घनश्यामसिंह गुप्त पधारते रहे हैं।

आर्यसमाज परतवारा—इसकी स्थापना १९२४ में हुई थी। इस कार्य में विशेष योगदान सर्वश्री बलिराम गोबारे, कृष्णराव तायरे तथा भगवान जी गोबारे का था। आर्यसमाज के पहले प्रधान कृष्णलाल और मन्त्री शंकरलाल थे। समाज के अपने भवन का निर्माण १९३१ में हुआ। इसमें सर्वश्री कृष्णलाल, शंकरलाल, बलिराम और जगन्नाथ ने विशेष सहायता दी। इस समाज में आर्य पर्व सामूहिक रूप से बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। मेला-प्रचार और ग्राम-प्रचार के कार्यक्रम भी किये जाते हैं। वेदप्रचार-हेतु प्रतिवर्ष निःशुल्क साहित्य वितरित किया जाता है। हैदराबाद सत्याग्रह के अवसर पर इस समाज ने सत्याग्रहियों के लिए दूध आदि की सुन्दर व्यवस्था की थी।

आर्यसमाज दमोह—इसकी स्थापना १९२२ में हुई थी। इसके संस्थापकों में सर्वश्री केदारनाथ, बालमुकन्द शर्मा, डॉक्टर बेनीप्रसाद, ठाकुर, भगवानसिंह का नाम उल्लेखनीय है। आरम्भ में अनेक वर्ष तक इस समाज ने अपने वार्षिकोत्सव बड़े समारोह-पूर्वक किये। आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वानों और संन्यासियों को व्याख्यान के लिए बुला-कर वैदिक धर्म का नगर में प्रचार किया। आर्यसमाज की प्रार्थना पर महात्मा नारायण-स्वामी ८ मई १९२३ को यहाँ पधारे और पर्याप्त समय तक प्रतिदिन उनका धर्मोपदेश होता रहा। अन्तिम दिन एक ईसाई परिवार के तीन सदस्यों की शुद्धि स्वामी जी द्वारा सम्पन्न की गयी। इस आर्यसमाज ने अछूतोद्धार, शुद्धि और यज्ञ-कार्य के लिए पृथक् संगठन बनाकर इनका कार्य व्यवस्थित रूप से किया है।

छठे दशक के आर्यसमाज—आर्यसमाज दुर्ग—इसकी स्थापना १९२४ ई० में हुई थी। दुर्ग में आर्यसमाज का मन्दिर बनाने के लिए श्री घनश्यामसिंह गुप्त के पिता श्री दाऊ गेंदसिंह ने मठपारा में ६८'×६८' की भूमि दान में दी थी। उन्हीं के प्रयास से आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस कार्य में इनके सहयोगी थे—श्री रामदयाल एडवोकेट, श्री ईश्वरदास नवरत्न ओवरसियर, इन्द्रसेन वर्मा, बलवन्तसिंह गुप्त, राजाराम-साहू, अमरचन्द्र वर्मा तथा घनश्यामसिंह गुप्त। मठपारा में आर्यसमाज-मन्दिर १९२७ ई० में बना, किन्तु अब जीर्ण दशा में है। आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी दुर्गस्थित भूमि में से एक प्लाट आर्यसमाज दुर्ग को तुलाराम आर्य कन्या पाठशाला के निकट दान दिया है। इस स्थान पर एक भवन श्री घनश्यामसिंह गुप्त की धर्मपत्नी तथा बहन की स्मृति में बना है। इसमें इस समय एक बालमन्दिर चलाया जा रहा है और समाज का साप्ता-हिक अधिवेशन भी होता है। इस समाज द्वारा सभी आर्य पर्व बड़े अच्छे ढंग से मनाये जाते हैं। किन्तु वेद-प्रचार और मेला-प्रचार नहीं होता है। इस समाज के कई वर्ष प्रधान रहनेवाले श्री घनश्यामसिंह गुप्त वर्षों तक मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के तथा

आर्यजगत् की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक सभा के भी प्रधान रहे। उन्होंने हैदराबाद के सत्याग्रह का संचालन बड़ी कुशलतापूर्वक किया। उनके पिता स्वर्गीय दाऊ गेंदसिंह मध्यप्रदेश के सबसे पुराने आर्यसमाजी माने जाते हैं।

सिवनी आर्यसमाज—सन् १९२४ में श्री आत्माराम भजनोपदेशक के प्रयत्न से सिवनी में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। प्रारम्भ के वर्षों में यह समाज बहुत सक्रिय था, और भारत-भर के आर्य विद्वानों तथा संन्यासियों को वहाँ वेद-प्रचार के लिए निमन्त्रित किया जाता था। यहाँ विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थ भी किये गये, और सन् १९२६ में आर्यकुमार सभा का संगठन कर लिया गया।

आर्यसमाज बीना—यह समाज सन् १९२२ में स्थापित हुआ था। इसके प्रथम प्रधान श्री नरसिंहदास और प्रथम मन्त्री श्री कुन्दनलाल थे। कुछ वर्ष पश्चात् यह समाज शिथिल हो गया था। सन् १९५० के लगभग इसमें पुनः जीवन का संचार किया गया।

आर्यसमाज दयानन्द भवन नागपुर—इसकी स्थापना १९२५ में हुई थी। इसकी स्थापना में भाग लेनेवाले प्रमुख आर्य वन्धु थे—के० सी० दगौया, श्रीकृष्ण गुप्त, आर० सी० मसानिया, विश्वबन्धु कौशल। इस समाज के नामों में कई परिवर्तन होते रहे हैं। ये नाम क्रमशः आर्यसमाज सदर बाजार, आर्यसमाज न्यू कोलोनी, और आर्यसमाज स्कार्टीटाउन थे। बाद में आर्य प्रतिनिधि सभा का निजी 'दयानन्द भवन' बन जाने पर इसका नाम 'आर्यसमाज दयानन्द भवन' हो गया है। इस आर्यसमाज द्वारा शुद्धियों का कार्य बड़े व्यापक रूप में किया गया है। आर्य परिवारों के संस्कार भी समाज द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

सातवें दशक (१९३५-४६) के समाज—इस दशक में २३ आर्यसमाजों की स्थापना हुई। यह संख्या अब तक पिछले पाँच दशकों में स्थापित आर्यसमाजों के बराबर थी। इस अवधि में स्थापित होनेवाले समाज निम्नलिखित थे—वर्धा तथा पथरोट (१९३५), धमतरी (१९३६)। १९३८ के एक ही वर्ष में पाँच समाजों—चौसाला, बीना, कामठी, इटारसी, बल्लारपुर की स्थापना हुई। १९३९ के वर्ष में स्थापित होनेवाली समाजों के नाम इस प्रकार हैं—गोरखपुर, जबलपुर, महिला गोरखपुर, नेपियर टाउन गोरखपुर, महिला नेपियर टाउन, लोणार, बालौदा बाजार। हैदराबाद सत्याग्रह के अगले वर्ष स्थापित होनेवाले समाजों की संख्या अधिक थी। ये अब तक किसी भी एक वर्ष में स्थापित सबसे अधिक समाज थे। इन समाजों के नाम इस प्रकार हैं—हरदा, चाँदा, बालाघाट, रायपुर, परसापुर, कासमपुर, यवतमाल, वणी। धर्मपेठ का समाज १९४४ में स्थापित हुआ। १९४५ में मुर्तजापुर और सिवनी में आर्यसमाजों की स्थापना हुई। इसके बाद अगले दो वर्षों तक किसी समाज की स्थापना की सूचना हमें उपलब्ध नहीं है। इनमें से कुछप्र मुख समाजों का उल्लेख यहाँ किया जायेगा।

आर्यसमाज वर्धा—इसकी स्थापना १९३५ में सर्वश्री कन्हैयालाल भैया, रामकृष्ण कुम्मलवार, गुलाबसिंह ठाकुर, नारायणलाल श्रीवास्तव द्वारा की गयी थी। इसमें वर्धा के अनेक प्रतिष्ठित सज्जनों ने अपना पूरा सहयोग दिया। शीघ्र ही इसके भवन का निर्माण हुआ। कुछ समय तक अच्छा काम करने के बाद इस समाज का कार्य लगभग. समाप्त हो गया। मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पण्डित विश्वम्भरप्रसाद-

शर्मा के प्रयास से १९६४ में इस समाज का पुनरुज्जीवन हुआ।

आर्यसमाज पथरोट—१६-७-१९३५ को स्थापित इस समाज के संस्थापक पदाधिकारी थे—आत्माराम पाटिल (प्रधान), गोविन्ददास ठाकरे (मन्त्री)। इनके सहयोगी सर्वश्री शंकर जी, देव अरवर पाटिल, सीताराम राजपूत और गोविन्द विठोवा थे। इन लोगों के परिश्रम से समाज के अपने भवन का निर्माण हुआ और इसके साथ प्राप्त ७ एकड़ भूमि में कृषि-कार्य किया जाता है। समाज के साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते हैं। सभी आर्य पर्व और वेद-प्रचार-सप्ताह धूमधाम से मनाये जाते हैं। वेद-प्रचार के लिए वेदों सहित तीन हजार रुपये का साहित्य निःशुल्क वितरित किया जा चुका है। प्रतिवर्ष यजुर्वेद पारायण यज्ञ किये जाते हैं। इस स्थान के निकट होनेवाले मेलों में तथा निकटवर्ती गाँवों में प्रचार किया जाता है। समाज का अपना एक अच्छा पुस्तकालय है। बालकों एवं युवकों में प्रचार के लिए आर्यकुमार सभा और आर्यवीर दल बनाये गये हैं। आर्यसमाज की ओर से १५० ईसाइयों की तथा दस मुसलमानों की शुद्धि की जा चुकी है। जनता में आर्य सिद्धान्तों के प्रचार के लिए आर्यसमाजी साहित्य, विशेषतः सत्यार्थ-प्रकाश की बिक्री की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। समाज के अवैतनिक प्रचारक श्री शंकरराव चवरे ने एक हजार से भी अधिक सत्यार्थप्रकाशों की जनता में बिक्री की है जो इस छोटे-से स्थान के लिए पर्याप्त है। आर्यसमाज धमतरी—इसकी स्थापना १९३६ में की गयी थी, पर इसका संगठन कुछ समय बाद शिथिल पड़ गया। १९३४ में इसका पुनरुज्जीवन किया गया और यहाँ समाज की ओर से शुद्धि-संस्कारों का कार्य किया जाता है। आर्यसमाज चौसाला—इसकी स्थापना १९३५ में हुई थी और इसे स्थापित करने में निम्नलिखित व्यक्तियों ने विशेष सहयोग दिया था—सर्वश्री ना० म० वानखेड़े (प्रधान), श्री मो० न० ढोरे(उपप्रधान), श्री रा० मं० वानखेडे (मन्त्री), श्री कि० ग० कालमेघ (उपमन्त्री) तथा श्री पु० कि० कालमेघ (कोषाध्यक्ष)।

इसके सदस्यों की संख्या शुरू में १८ थी, किन्तु १९४५ तक बढ़कर ५० हो गयी। इसके साप्ताहिक सत्संगों में भजन और प्रवचन बड़े आकर्षक होते थे। आर्य पर्व उत्साह से मनाये जाते थे। यहाँ आर्यकुमार सभा, आर्यवीर दल और आर्य महिला सभा भी कार्य कर रही है। इस समाज में वैतनिक पुरोहित न होने के कारण प्रधान तथा अन्य विद्वान् व्यक्ति यज्ञ-संस्कार आदि कराते हैं और श्री रामदेव राव जुमड़े अवैतनिक प्रचार-कार्य करते हैं।

आर्यसमाज कामटी नागपुर—इसकी स्थापना सम्वत् १९९४ विक्रमी (१९३७ ई०) में हुई थी। इसके पहले प्रधान ठाकुर शेरसिंह और मन्त्री श्री रामसेवक सिंह थे। चौधरी शिवदास आदि आर्य बन्धुओं के प्रयास से यहाँ साप्ताहिक सत्संग नियमित रूप से होते रहे। इस समाज के साथ एक अच्छा पुस्तकालय भी है जिसमें एक हजार के लगभग पुस्तकें हैं।

आर्यसमाज इटारसी—इसकी स्थापना १९-४-३८ को हुई। इसके पहले प्रधान बाबू राधाकृष्ण और मन्त्री डॉक्टर वी० टी० जांजाल थे। सदस्यों और सहायक सभासदों की संख्या २७५ थी। इस समाज द्वारा एक आर्य कन्या पाठशाला का संचालन किया जाता है। १९४५ में समाज के भवन के लिए भाई शम्भूसिंह ठेकेदार ने ४०'×८०' का प्लॉट दान में दिया और इतना ही बड़ा प्लॉट खरीदा गया। १९४६ में स्थानीय

व्यक्तियों से धन-संग्रह करके भवन-निर्माण का कार्य सम्पन्न किया गया। समाज में सभी आर्य पर्व बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं।

आर्यसमाज बल्लारपुर—इसकी स्थापना १९३८ ई० में हुई। इसके पहले प्रधान सरयूप्रसाद ठेकेदार थे। समाज द्वारा आर्य पर्वों को समारोह से मनाया जाता है। साप्ताहिक सत्संगों में सत्यार्थप्रकाश का नियमित पाठ और स्वाध्याय होता है। समाज के प्रचार के कार्य में सर्वश्री पण्डित गंगाप्रसाद तथा गणपति बाबू का बहुमूल्य सहयोग रहा है। श्री गंगाप्रसाद ने अनेक महिलाओं को ईसाई से हिन्दू बनाया। समाज की ओर से यहाँ ईसाइयों द्वारा की जानेवाली गोहत्या को नगरपालिका पर दबाव डालकर बन्द कराया गया। हैदराबाद के सत्याग्रह-संग्राम में यहाँ से सत्याग्रही भेजे गये और आर्थिक सहायता भी भिजवाई गयी। सत्याग्रह समाप्त होने के बाद स्वामी दिव्यानन्द ने यहाँ आकर लगभग ६ महीने तक प्रचार-कार्य करते हुए आर्यसमाज-भवन के निर्माण के लिए धन-संग्रह का काम किया। इस कार्य में पेपरमिल के अधिकारी सर्वश्री कोहली, प्रभूलाल आदि से बड़ी सहायता मिली।

१९३९ में गोरखपुर, जबलपुर, महिला गोरखपुर, नेपियर टाउन, महिला-नेपियर टाउन के आर्यसमाजों की स्थापना हुई। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। १९३९ में स्थापित होनेवाले अन्य दो समाज लोणार और बालौदा बाजार के थे। लौणार बुल्ढाना जिले में विदर्भ का एक तीर्थस्थान है। यहाँ समाज की स्थापना में सर्वश्री माँगीलाल, रामचन्द्र आर्य विद्याशास्त्री, हेमराज गोरा, टीकाराम आर्य तथा मोतीलाल वर्मा ने प्रमुख भाग लिया। बालौदा बाजार आर्यसमाज (जिला रायपुर) १९३९ में श्रावणी के पर्व पर स्थापित हुआ और स्थापना के समय इसके प्रमुख पदाधिकारी निम्नलिखित थे—प्रधान श्री कन्हैयालाल यदु, उपप्रधान श्री खुशहालदास रिसदा, मन्त्री श्री सुन्दरलाल गुप्त, कोषाध्यक्ष सूरजबली त्रिवेदी।

१९४० में चाँदा, बालाघाट, परसापुर, कासमपुर, यवतमाल, वणी में आर्यसमाज स्थापित हुए। चाँदा या चन्द्रपुर आर्यसमाज के संस्थापक डॉक्टर एस० जी० मुले और श्रीमती सुशीलाबाई मुले, महर्षि के परमभक्त थे। इनके प्रयत्न से इस समाज का कार्य अच्छा चला। परसापुर (जिला अमरावती) समाज के संस्थापक और पहले पदाधिकारी श्री रामराव चाँदूरकर प्रधान तथा श्री सदाशिवराव चौखण्डे मन्त्री थे। श्री तुलसीराम चाँदूरकर ने समाज को आर्यसमाज-मन्दिर के लिए भूमि दान की। कासमपुर समाज की स्थापना करनेवाले श्री रामचन्द्र काले, श्री तुलसीराम अरबर तथा श्री पुंडलीकराव ठाकरे थे। इस समाज की ओर से ग्रामीण क्षेत्रों में वेद-प्रचार किया जाता है। आर्यसमाज अंजन गाँव सुर्जी जिला अमरावती की स्थापना श्री नारायण लाल के प्रयत्न और पुरुषार्थ से हुई और उन्होंने थोड़े काल में यहाँ अनेक शुद्धियाँ कीं। अंजनगाँव गुलजारपुरा में भी इसी वर्ष एक अन्य समाज की स्थापना हुई।

आर्यसमाज धर्मपेठ नागपुर की स्थापना १५ सितम्बर, १९४४ को हुई। इसकी स्थापना में डॉक्टर नर्मदा प्रसाद श्रीवास्तव, डॉक्टर रघुवीर, प्रोफेसर इन्द्रदेव-सिंह आर्य का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ। इसके प्रथम प्रधान डॉक्टर नर्मदाप्रसाद-श्रीवास्तव चाहते थे कि शीघ्र ही आर्यसमाज का भवन बने। उनकी यह इच्छा उनके जीवनकाल में पूरी नहीं हो सकी, किन्तु उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विट्टोबाई श्रीवास्तव

ने पति के स्वर्गवास के बाद अपने निवासस्थान के पीछे एक भूखण्ड देकर इसे पूरा किया।

१९४७ के बाद मध्यप्रदेश में स्थापित होनेवाले आर्यसमाजों की स्थापना का वर्णन अन्यत्र किया जाएगा। किन्तु इस प्रसंग में केवल एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। १९६५ से १९७१ तक की अवधि में ४२ आर्यसमाजों की स्थापना हुई जो इस प्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना का एक नवीन कीर्तिमान था। इसका प्रधान कारण तत्कालीन आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों के असाधारण प्रयास और पण्डित विश्वम्भर प्रसाद शर्मा का सक्रिय कर्तृत्व है।

तेरहवाँ अध्याय

मध्यप्रदेश तथा विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा

(१८९९-१९४७)

(१) मध्यप्रदेश तथा विदर्भ सभा का क्षेत्र

ब्रिटिश युग में मध्यप्रदेश नाम का कोई प्रान्त नहीं था। जिसे वर्तमान समय में 'मध्यप्रदेश' कहा जाता है, वह तब दो भागों में बँटा हुआ था। मराठों से अंग्रेजों ने जो प्रदेश विजय द्वारा प्राप्त किये थे, उनको भारत के मध्य में अवस्थित होने के कारण **'मध्य प्रान्त तथा बरार या विदर्भ'** (Central Provinces and Berar)कहा जाता था। इसके अतिरिक्त वर्तमान मध्यप्रदेश के शेष भाग में ग्वालियर, भोपाल, इन्दौर, रतलाम, देवास, धार आदि अनेक देशी रियासतें थीं। ये सब ब्रिटिश सरकार की सेण्ट्रल इण्डिया की एजेंसी के अन्तर्गत थीं। भारत के मध्य भाग में अवस्थित ब्रिटिश युग के मध्य प्रान्त में हिन्दी-भाषा-भाषी महाकौशल और छत्तीसगढ़ प्रदेश तथा नागपुर और विदर्भ के मराठी भाषा-भाषी प्रदेश सम्मिलित थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्यों के भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन हुआ, और मध्यप्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में मध्य भारत एवं विन्ध्यप्रदेश को सम्मिलित करके नये मध्यप्रदेश का निर्माण किया गया। विदर्भ तथा नागपुर को मराठी भाषा-भाषी होने के कारण महाराष्ट्र में मिला दिया गया। किन्तु इस राजनैतिक विभाजन के होने पर भी मध्यप्रान्त की पुरानी आर्य प्रतिनिधि सभा में विदर्भ और नागपुर के क्षेत्र सम्मिलित रहे और इसमें विन्ध्यप्रदेश को अधिक बढ़ा दिया गया। पुराने देशी रियासतों वाले प्रदेश में मध्य भारत की नवीन आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गयी। इस प्रकार इस प्रतिनिधि सभा का क्षेत्र वर्तमान भाषायी राज्यों के अनुसार नहीं है।

मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का विस्तार चार क्षेत्रों में है। नीचे दी गयी निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन चार क्षेत्रों में कौन-कौन-से जिले सम्मिलित हैं :

नाम क्षेत्र	क्षेत्र का विस्तार (जिले)
(१) महाकौशल क्षेत्र	(१) जबलपुर, (२) दमोह, (३) सागर, (४) नरसिंहपुर, (५) बालाघाट, (६) छिन्दवाड़ा, (७) सिवनी, (८) मण्डला, (९) होशंगाबाद, (१०) खण्डवा, (११) बैतूल।

(२) छत्तीसगढ़ क्षेत्र (१) रायपुर, (२) दुर्ग, (३) बस्तर, (४) विलासपुर, (५) रायगढ़, (६) सरगुजा।

(३) विन्ध्य क्षेत्र (१) रीवाँ, (२) सीधी, (३) सतना, (४) पन्ना (५) छतरपुर, (६) टीकमगढ़, (७) शहडोल।

(४) विदर्भ क्षेत्र (१) नागपुर, (२) भण्डारा, (३) चाँदा, (४) वर्धा, (५) बुलढाना, (६) अमरावती, (७) यवतमाल, (८) अकोला।

इन सभी क्षेत्रों में स्थापित प्रमुख समाजों का संक्षिप्त का परिचय बारहवें अध्याय में दिया जा चुका है।

(२) प्रतिनिधि सभा की स्थापना तथा उसके उद्देश्य

सामान्य रूप से आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रान्त व विदर्भ की स्थापना के बारे में यह माना जाता है कि आर्यसमाज नरसिंहपुर के वार्षिकोत्सव पर स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की प्रेरणा से २७ दिसम्बर, १८९९ को आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गयी। सभा का पंजीकरण १८६० के सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट के अनुसार २९ मार्च, १९०७ को हुआ। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई आर्यसमाज की स्थापना के समय जो नियम बनाये थे, उनमें तीसरा नियम इस प्रकार था कि "इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज इसकी शाखा-प्रशाखा होंगे। इसी के अनुसार देश में प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं का गठन हुआ और आगे चलकर सारे भारत की केन्द्रीय संस्था के रूप में १९०९ में सार्वदेशिक सभा का निर्माण किया गया। अधिकांश आरम्भिक प्रतिनिधि सभाओं का संगठन १८८४-८५ और १९०० के बीच में हुआ। इसी क्रम में १८९९ में मध्य प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। किन्तु श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने आर्यसमाज के इतिहास में लिखा है कि "आर्यसमाज जबलपुर सन् १८८२ में स्थापित हुआ, और सन् १८८३ में इस प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा में सम्मिलित हुआ।" इसके अनुसार हमें मध्य प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना १६ वर्ष पूर्व माननी पड़ेगी। मध्यप्रदेश के कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि वस्तुतः प्रतिनिधि सभा की स्थापना १८८६ में हुई थी, किन्तु वह अनौपचारिक थी।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का यह मत कई कारणों से यथार्थ नहीं प्रतीत होता। इसका कारण मध्य प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा की जो पुरानी वार्षिक रिपोर्टें हैं, वे सन् १९०७ से उपलब्ध हैं। प्रत्येक रिपोर्ट में १८९९ में ही आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना बतायी गयी है। १ जनवरी, १९०७ से ३१ दिसम्बर, १९०७ तक का सभा का जो आठवाँ वार्षिक वृत्तान्त है, उसमें सभा की स्थापना का विवरण देते हुए कहा गया है—"यह प्रतिनिधि सभा आर्यसमाज नरसिंहपुर के वार्षिक उत्सव पर सन् १८९९ ई० की २७ दिसम्बर को श्रीमान स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में स्थापित हुई। अब तक सभा को स्थापित हुए पूरे ८ वर्ष व्यतीत हुए हैं। गत कई वर्षों से प्लेग आदि बीमारियों के कारण इसका अधिवेशन नियत समय पर नहीं हो सका था, किन्तु आज उस परम पिता परमात्मा का कोटि-कोटि धन्यवाद है जिसकी परम कृपा से यह

सभा ठीक समय पर अर्थात् वर्ष की समाप्ति पर ही अपना वार्षिक अधिवेशन करती हुई अष्टम वर्ष समाप्त करती है। इसकी रिपोर्ट अधिवेशन में प्रस्तुत है। गत सात वर्षों में उक्त सभा की कई कारणों से रजिस्ट्री नहीं हो सकी थी। वह सन् १९०७ में निरन्तर परिश्रम द्वारा २९ मार्च सन् १९०७ को हो गयी है।"

सम्भवतः पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने आर्यसमाज जबलपुर की रिपोर्ट के आधार पर प्रतिनिधि सभा की स्थापना को १८८३ में माना है। आर्यसमाज जबलपुर के वार्षिक वृत्तान्तों में निम्नलिखित लेख है—"यह आर्यसमाज १८८२ में स्थापित हुआ और सन् १८८३ में इस प्रान्त की प्रतिनिधि सभा में सम्मिलित हुआ। इसके संस्थापक श्रीयुत महाशय रलाराम जी इञ्जीनियर थे।" ऐसा प्रतीत होता है कि १८८३ में आर्यसमाज जबलपुर की स्थापना के साथ अन्य आर्यसमाज स्थापित करने का विचार उत्पन्न हो रहा था और उस समय जबलपुर के आर्य नेताओं के हृदय में आर्यसमाजों का प्रान्तीय संगठन बनाने की भावना उत्पन्न हुई। इस विषय में पण्डित विश्वम्भरप्रसाद शर्मा ने लिखा है—"उन दिनों जबलपुर, नरसिंहपुर, खण्डवा आदि स्थानों पर आर्यसमाज के संगठन बने और महर्षि दयानन्द जी के विषय में काफी चर्चा होती रहती थी। अतः तत्कालीन आर्यनेताओं और विशेषकर स्वामी आत्मानन्द जी महाराज की प्रेरणा से मध्यप्रदेश के आर्यसमाजों को एक सूत्र में संगठित करने की भावना उत्पन्न हुई। जबलपुर उस समय आर्यप्रचार का केन्द्र-स्थान था और यहाँ के आर्य बन्धु काफी उत्साही थे, अतः उन्होंने जबलपुर को केन्द्र बनाकर प्रचार करने की व्यवस्था की।"

किन्तु यह कल्पना सत्य नहीं प्रतीत होती, क्योंकि प्रान्तीय आर्यसमाजों का केन्द्रीय संगठन बनाने की बात उसी दशा में उत्पन्न हो सकती है जब किसी प्रान्त में अनेक समाज स्थापित हो चुके हों। १८८३ तक मध्य प्रान्त में केवल जबलपुर का एक ही आर्यसमाज था, जो इससे एक वर्ष पहले १८८२ में स्थापित किया गया था। इसके बाद दूसरा समाज नरसिंहपुर में १८८४ में स्थापित हुआ। केवल एक समाज के आधार पर प्रान्तीय संगठन बनाने की कल्पना सत्य नहीं प्रतीत होती है। अतः मध्य प्रान्त की पुरानी वार्षिक रिपोर्टों में दिये गये १८९९ के वर्ष को ही प्रतिनिधि सभा के स्थापना का वर्ष मानना चाहिए।

आर्य प्रतिनिधि सभा के उद्देश्य—सभा की स्थापना के समय उसके उद्देश्य निम्नलिखित रूप में निर्धारित किये गये थे—(क) वेद-वेदांग व प्राचीन संस्कृति तथा अन्य साहित्य, विज्ञान, कलाकौशल की शिक्षा के निमित्त गुरुकुल-प्रणाली तथा अन्य प्रणाली, जो वैदिक धर्म के विरुद्ध न हो, के अनुसार हर कोटि के शिक्षणालय तथा तत्सम्बन्धी आश्रम स्थापित करना तथा अन्य उपर्युक्त उद्देश्य रखनेवाली शिक्षा-प्रणालियों को स्वीकार करना और निरीक्षण करना। (ख) वैदिक धर्म के प्रचारक प्रस्तुत करना, सर्वसाधारण के उपकारार्थ धर्म और पदार्थ-विद्या सम्बन्धी तथा अन्य पुस्तकों का एक पुस्तकालय नियत करना। (ग) छोटी-बड़ी पुस्तकें वैदिक शिक्षा के प्रचारार्थ प्रकाशित करना। (घ) मध्य प्रान्त और बरार तथा अन्य स्थानों में वैदिक धर्म का उपदेश करना और कराना। (ङ) अनाथ-दीन-विधवाओं तथा अछूत शब्द से निर्दिष्ट श्रेणी की रक्षा और प्रचार के लिए उपयुक्त प्रबन्ध करना। (च) आर्यसमाजों व सामाजिक संस्थाओं की वर्तमान व भविष्य की दशा व उनकी जायदाद व उनकी सम्पत्ति की

रक्षा व निरीक्षण व उन्नति करना व उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति, धर्मार्थ तथा सर्वमान्य जनता के लाभार्थ आर्यसमाज द्वारा किसी जायदाद व ट्रस्ट को प्राप्त व स्वीकार करना व सुरक्षित रखना व उसको स्वयं अथवा दूसरे द्वारा काम में लाना तथा खर्च करना। (छ) आर्यसमाजों को संगठित व सुव्यवस्थित रखना। (ज) सामान्य प्रकार से वैदिक धर्म के प्रचारार्थ उपयुक्त उपायों को काम में लाना।

इन उद्देश्यों को देखने से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। जिस समय यह प्रतिनिधि सभा स्थापित की गयी थी उस समय पंजाब में डी० ए० वी० कॉलिज तथा गुरुकुल-प्रणाली के समर्थकों में उग्र वादविवाद चल रहा था। डी० ए० वी० कॉलिज सुप्रतिष्ठित हो चुके थे, किन्तु उनके विरोध में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी तथा महात्मा मुंशीराम द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुल-प्रणाली का समर्थन करने वाले आन्दोलन द्वारा किसी गुरुकुल की स्थापना नहीं हुई थी, किन्तु इसकी स्थापना पर बहुत बल दिया जा रहा था। सामान्य रूप से आर्यसमाज का प्रधान उद्देश्य वैदिक धर्म का प्रचार माना जाता है, किन्तु इस प्रतिनिधि सभा के उद्देश्यों में उसे सबसे अन्तिम सातवाँ स्थान दिया गया है और आर्यसमाज के तत्कालीन वातावरण को देखते हुए गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षणालय स्थापित करने को प्रथम स्थान दिया गया है। इसके दूसरे उद्देश्य में विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों के पुस्तकालय को स्थापित करने का उद्देश्य यह सूचित करता है कि इस सभा का निर्माण करनेवाले प्राचीन वेदशास्त्रों के साथ-साथ वर्तमान विज्ञान के अध्ययन को भी आवश्यक समझते थे।

मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना नरसिंहपुर में हुई थी, क्योंकि नरसिंहपुर उस समय आर्यसमाज की गतिविधियों का एक प्रधान केन्द्र था। यहाँ के वयोवृद्ध आर्यसमाजी डॉक्टर रामप्रसाद उस समय के आर्यसमाज-आन्दोलन के प्राण थे। उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन किये थे, उनके उपदेश से लाभ उठाया था। आर्यसमाज नरसिंहपुर की स्थापना में भी इनका योगदान था। ऐसे कर्मठ आर्यसमाजियों के कारण प्रतिनिधि सभा का मुख्यालय यहाँ रखा गया, किन्तु बाद में यह मन्त्रियों के परिवर्तन के साथ-साथ जबलपुर, दुर्ग, रायपुर आदि में स्थानान्तरित होता रहा। १९४३ से इसका कार्यालय नागपुर में आ गया और अब यह यहाँ स्थायी रूप से दयानन्द भवन में अवस्थित है।

(३) प्रतिनिधि सभा की आरम्भिक प्रवृत्तियाँ

आरम्भ में सभा की ओर से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ आरम्भ की गयीं। पहली प्रवृत्ति वैदिक पाठशाला की थी। इसका उद्देश्य वैदिक साहित्य के विद्वान् उत्पन्न करना और छात्रों को वैदिक साहित्य की भाषा संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कराना था जिससे वे वेदों, श्रौत सूत्रों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों का स्वयमेव अध्ययन करने की क्षमता प्राप्त कर सकें। वैदिक पाठशाला सभा की स्थापना के समय से ही उसके तत्त्वावधान में चलायी जाने लगी। इसकी व्यवस्था आर्यसमाज नरसिंहपुर से होती थी। १९०७ में पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या १५५ थी। मध्य प्रान्त की सरकार से पाठशाला को तीन सौ रुपये की वार्षिक सहायता मिलती थी। विद्यार्थियों के लिए धर्म-शिक्षा इस पाठशाला में अनिवार्य थी। इस विषय की शिक्षा देने के लिए छात्रों को सन्ध्या, आर्योद्देश्य रत्नमाला और आर्य-

समाज के नियम पढ़ाये जाते थे।

दूसरी प्रवृत्ति मासिक पत्र निकालने की थी। इसका उद्देश्य आर्यसमाज के विचारों का प्रचार था। पण्डित जगन्नाथ शर्मा के अवैतनिक सम्पादकत्व में आर्यसेवक नामक मासिक पत्र नरसिंहपुर से निकाला जाता था। यह आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख-पत्र था और आज तक प्रकाशित हो रहा है। आरम्भ में इसका वार्षिक मूल्य केवल आठ आना था, जो १९०६ में आकार बढ़ा देने के कारण एक रुपया कर दिया गया।

तीसरी प्रवृत्ति अनाथालय का संचालन था। उन दिनों ईसाई मिशनरी हिन्दू अनाथ बच्चों को लेकर अपनी संस्थाओं में पाल-पोसकर ईसाई बनाया करते थे। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए आर्यसमाजों और प्रतिनिधि सभाओं ने अनाथालयों का संचालन आरम्भ किया था। स्वामी जी के जीवनकाल में ही फिरोजपुर (पंजाब) में एक अनाथालय की स्थापना हुई थी। मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा ने ऐसे एक अनाथालय को नरसिंहपुर में स्थापित किया था। १९०७ की सभा के रिपोर्ट में लिखा है कि "श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ के अधीन इस प्रान्त में केवल एक ही 'डॉक्टर रामप्रसाद स्मारक अनाथालय' है जिसमें देश के दीन बालकों के पालन-पोषण का भार प्रान्तीय भ्राताओं की सहायता पर गत डेढ वर्ष से किया जा रहा है। इस अनाथालय में इतने समय के अन्दर चौदह बालक और दो कन्याएँ प्रविष्ट हुई हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि यह अनाथालय १९०५ या १९०६ में स्थापित किया गया होगा।

१९०७ की रिपोर्ट से पता लगता है कि उस समय सभा की ओर से कई उपदेशकों द्वारा प्रचार-कार्य किया जा रहा था। इनमें पण्डित मनुदत्त शर्मा, पण्डित बलदेव शर्मा, पण्डित शालिग्राम शर्मा, पण्डित श्रीराम शर्मा, पण्डित सन्तलाल शर्मा, पण्डित विशेश्वर-प्रसाद शर्मा और पण्डित ओंकारनाथ शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इस नामावली से यह स्पष्ट है कि उस समय सभा के सभी प्रचारक ब्राह्मण थे। यह संभवतः इसलिए था कि उस समय शिक्षा का क्षेत्र अतीव संकुचित था। स्कूल-कॉलिजों की बड़े पैमाने पर स्थापना नहीं हुई थी और परम्परागत रूप से संस्कृत के अध्ययन की परिपाटी ब्राह्मणों में ही प्रचलित थी। अतः संस्कृत भाषा जाननेवाले प्रचार करने में समर्थ व्यक्ति ब्राह्मणवर्ग से उपलब्ध हो सकते थे। सम्भवतः इसी कारण उस समय के उपदेशक सभी ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त कुछ क्षत्रिय तथा ठाकुर भी इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। सभा की उपर्युक्त रिपोर्ट के अनुसार ठाकुर शिवरतन सिंह वर्मा पातुर (बरार), पण्डित रामचरणलाल होशंगाबाद, पण्डित काशीराम तिवारी सोहागपुर, और पण्डित जगन्नाथ प्रसाद शर्मा नरसिंहपुर ने भी इस कार्य में सभा की सहायता की थी। इसके अतिरिक्त इस रिपोर्ट में निम्नलिखित महानुभावों द्वारा सभा को समय-समय पर सहायता देने का उल्लेख है—ठाकुर नन्ने सिंह वर्मा नरसिंहपुर, पण्डित काशीराम तिवारी सोहागपुर, गोविन्द स्वामी मुदारियार भण्डारा, बाबू कचन्ना वैंकट्इया, डेगरस, महाशय आन जी खेम जी वर्मा अकोला, पण्डित पोलन्दरसिंह शर्मा कोली, राजा रघुनाथ रघुजी राज भोसले, बहादुर-नागपुर, रायबहादुर ठाकुर गजराजसिंह इन्दौर, डॉक्टर सीताराम साहू नागपुर, बाबू जगदीश नारायण वर्मा नागपुर। इस सूची को देखने से यह पता लगता है कि उस समय सभा के समर्थक सभी उच्च जातियों और प्रतिष्ठित वर्गों के थे, और इनमें न केवल उत्तर भारत के अपितु दक्षिण भारत के कतिपय सुधार प्रेमी व्यक्ति भी सम्मिलित थे।

यही तथ्य हमें सभा के तत्कालीन पदाधिकारियों और अन्तरंग सदस्यों की नामावली से पता लगता है। १९०८ में सभा के पदाधिकारी और प्रबन्धकारिणी के सदस्य निम्नलिखित व्यक्ति चुने गये थे—प्रधान पण्डित काशीरामजी तिवारी सुहागपुर, उपप्रधान ठाकुर नन्हेंसिंह जी वर्मा नरसिंहपुर, पण्डित पुलन्दरसिंह शर्मा करेली मन्त्री, पण्डित गणेशप्रसाद जी शर्मा नरसिंहपुर कोषाध्यक्ष, पण्डित पूनमचन्द जी चौबे पुस्तकाध्यक्ष, पण्डित जगन्नाथप्रसाद जी शर्मा नरसिंहपुर, सभासद् श्री नन्हेलाल जी मुरलीधर जी, श्री रामचरणलाल जी, ठाकुर डॉक्टर शिवरतनसिंह जी पातुर, बाबू चन्द्रगोपाल जी बी० ए० हरदा, महाशय ज्ञानचन्द जी चोपड़ा जबलपुर, श्री चन्द्रभान देवमणि जी, श्री सेठ मोतीलाल अमरावती, श्री गोविन्द स्वामी भण्डारा। उपर्युक्त नामों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि सभा के उपप्रधान, मन्त्री और पुस्तकाध्यक्ष नरसिंहपुर के रहनेवाले थे और इन महत्त्वपूर्ण अधिकारियों के नरसिंहपुरनिवासी होने से नरसिंहपुर प्रतिनिधि सभा का मुख्यालय बना हुआ था।

(४) आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यकलाप

सभा ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो कार्य किये हैं उनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

प्रचार-कार्य—सभा की ओर से वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य सुव्यवस्थित और संगठित रूप से किया जाता है। इसका माध्यम समाजों के वार्षिकोत्सव हैं। आरम्भ में इस प्रदेश में आर्यसमाजों की संख्या १०-१२ थी, किन्तु अब यह सौ से अधिक हो गयी है। इन वार्षिकोत्सवों में सभा की ओर से नियुक्त किये गये उपदेशक और भजनीक प्रचार-कार्य करते हैं और इसके साथ ही वैदिक साहित्य की बिक्री को भी बढ़ाने का कार्य किया जाता है। इस प्रदेश में आदिवासियों और हरिजन बन्धुओं की संख्या बहुत अधिक है। अतः सभा इन लोगों में विशेष रूप से प्रचार का आयोजन करती है। सभा के स्थायी उपदेशकों के अतिरिक्त आर्य जगत् के अन्य विद्वान् उपदेशकों तथा संन्यासियों को भी बुलाकर प्रचार कराया जाता है। सभा के पदाधिकारी भी प्रचार-कार्य में योगदान करते रहते हैं।

इस सभा ने नागपुर में एक वेद-वेदांग अध्ययन-केन्द्र स्थापित किया है। इसमें विद्यार्थियों को वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये जाते हैं। उन्हें सस्वर पाठ करना सिखाया जाता है। इस कार्य के लिए योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

ईसाइयत के प्रचार का प्रतिकार—इस प्रदेश के आदिवासियों में ईसाई मिशनरियों ने पिछली शताब्दी से ही अपने प्रचार का अभियान बड़ी तेजी से चला रखा है। इसका समुचित प्रतिकार सभा द्वारा किया जा रहा है। इस समस्या की गुरुता को समझने के लिए पहले इस प्रदेश में ईसाई पादरियों द्वारा किये जानेवाले प्रचार के स्वरूप का कुछ परिचय आवश्यक है। इसे देने के बाद सभा द्वारा इस विषय में किये गये कार्य का उल्लेख किया जायेगा।

मध्यप्रदेश में ईसाई पादरियों की गतिविधियाँ—मध्यप्रदेश में आर्य प्रतिनिधि सभा को साधन-सम्पन्न ईसाई प्रचारकों के सुसंगठित और सुव्यवस्थित प्रचार का प्रतिरोध करना पड़ा है। यह प्रदेश आर्थिक विकास और शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा हुआ

था, इसमें आदिवासियों, गिरिजनों, हरिजनों की बहुसंख्या थी। इनको किस प्रकार ईसाई बनाया जाता था, इस विषय में सर्वोत्तम जानकारी हमें मध्यप्रदेश सरकार द्वारा नियुक्त नियोगी समिति की रिपोर्ट से मिलती है। मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त इसके प्रमुख सदस्य थे। इस समिति की रिपोर्ट के अनुसार मिशनरियों द्वारा ईसाई बनाने के प्रमुख साधन निम्नलिखित थे—(१) विद्यालय—नयी पीढ़ी में अपने धर्म के प्रचार का सर्वोत्तम साधन ईसाई मिशनरी पाठशालाओं को समझते थे। इनके द्वारा संचालित पाठशालाओं का प्रधान उद्देश्य बच्चों को पढ़ाई-लिखाई सिखाना नहीं, अपितु बालक-बालिकाओं को ईसाई बनाना था। कैथोलिक धर्म का प्रचारक नामक पुस्तिका (पृष्ठ ६०) में यह स्पष्ट लिखा था कि ईसाइयों के स्कूल में पढ़ने का पहला फल यह होता है कि स्कूल में बच्चे भक्त ख्रिस्तान बन जाते हैं। बच्चों को ईसाई बनाने के लिए पाठशालाओं में बाइबल पढ़ना अनिवार्य था। जो छात्र बाइबल की कक्षा में नहीं आते थे, उन्हें अन्य पीरियडों में उपस्थित रहने पर भी दिनभर के लिए अनुपस्थित समझा जाता और दण्डित किया जाता था। मिशनरियों द्वारा स्थापित कुछ स्कूलों के छात्र-छात्राओं के लिए रविवार के दिन गिरजाघर में जाना आवश्यक था। (२) चिकित्सालय—ईसाइयों द्वारा हस्पतालों के संचालन का प्रधान उद्देश्य रोगियों को ईसा का भक्त एवं अनुयायी बनाना था। सागर के एक ईसाई डॉक्टर का कहना था कि मिशन-हस्पताल के अच्छे डॉक्टर का कर्तव्य है कि वह मरीज को ईसाई बनाये। श्री रमन नामक एक दूसरे पादरी ने यह घोषणा की कि जब कोई व्यक्ति बीमार हो जाता है तो उसे ईसाई बनाना आसान होता है। सागर की एक महिला पादरी डॉक्टर मिस बिजनौर का यह दावा था कि अच्छे डॉक्टर का काम न केवल शरीर को स्वस्थ बनाना है, बल्कि उसे ईसाई बनाकर उसकी आत्मा को भी स्वस्थ बनाना उसका कर्तव्य है। अखिल भारतीय सतनामी सभा के मन्त्री एवं विधायक महन्त नैनदास ने नियोगी समिति को अपनी आँखोंदेखी बात बताई थी कि ईसाई हस्पतालों में मरीजों को छल-बलपूर्वक ईसाई बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि मुंगेली हस्पताल में मोघपा गाँव (जिला बिलासपुर) के एक रोगी से कहा गया कि यदि तुम अच्छा होना चाहते हो तो ईसाई हो जाओ। इसी प्रकार घेरमाठा गाँव के बोधन सतनामी से बिलासपुर के पादरी-हस्पताल में बलपूर्वक ईसाई होने को कहा गया और वह ईसाई हो गया। हस्पताल से निकलने के बाद उसने महन्त नैनदास को अपनी कथा सुनायी और उन्होंने उसे शुद्ध करके सतनामी बनाया। तिलदा ईसाई हस्पताल में मरीज के रूप में रहने पर उन्होंने ईसाई डॉक्टरों द्वारा हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन की अनेक घटनाएँ स्वयं देखी थीं। कोढ़ियों के हस्पतालों में ईसाइयों को अपने अनुयायी बनाने में विशेष सफलता मिली। १९४७ में चन्दखुरी लेप्रोसी हस्पताल ने अपनी स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित पुस्तिका में २५५२ व्यक्तियों को ईसाई बनाने का दावा किया गया था। (३)तीसरा साधन आर्थिक प्रलोभनों का था। कुछ रोमन कैथोलिक पादरी गाँव के किसानों को ईसाई बनाने के लिए पहले रुपया उधार देते थे और बाद में उनसे यह कहते थे कि यदि वे रोमन कैथोलिक बन जाएँगे तो उन्हें दिया गया उधार वापिस नहीं लिया जाएगा। गाँववालों को बैल, नमक, मिल्क पाउडर के डिब्बे देने का प्रलोभन देकर ईसाई बनाया जाता था। कई स्थानों पर ईसाइयत के प्रचार के लिए अयोग्य व्यक्तियों को अधिक वेतन पर रखा जाता था।

नियोगी समिति को सरगुजा जिले में ऐसे ७० प्रचारकों की बात बतायी गयी, जिन्हें ४० रु० मासिक वेतन दिया जाता था, जबकि इनकी योग्यता २० रुपये मासिक से अधिक की नहीं थी। अमरावती में समिति को बताया गया कि २० रुपये मासिक की भी योग्यता न रखनेवाले व्यक्ति को प्रचार के लिए १०० रुपया मासिक दिये जाते थे। यवतमाल में डेविड नामक व्यक्ति ने समिति को बताया कि वह १५७ रुपये मासिक पर प्रचारक रखा गया और उसनें २०० व्यक्तियों को ईसाई बनाया। विदर्भ में ईसाई बनानेवाले शत-प्रतिशत व्यक्ति यहाँ की निर्धनतम महार जाति के थे। (४) भ्रामक प्रचार—भोली-भाली अनपढ़ ग्रामीण जनता को ईसाइयत के जाल में फँसाने के लिए पादरियों द्वारा भ्रान्तिपूर्ण मिथ्या प्रचार किया जाता था। भारत में प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण वेदों की बड़ी प्रतिष्ठा है। वेद ग्रामीण जनता के लिए परम प्रमाण और अवश्य पालनीय समझे जाते हैं। इस विश्वास का लाभ उठाने के लिए पादरियों ने यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के सुप्रसिद्ध मन्त्र—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्' का अर्थ किया कि इसमें कुमारी मेरी के पुत्र ईसा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् में ईसाइयत का प्रचार है। इसी प्रकार जनसाधारण में समादृत सन्त महाकवि तुलसीदास के 'रामचरित मानस' के एक प्रसंग के अर्थ का अनर्थ करते हुए भोली-भाली जनता को भ्रान्ति में डालने का प्रयास किया गया। रामायण में यह वर्णन है कि सीता जी ने विवाह से पहले पार्वती देवी का पूजन किया था। इस प्रसंग में हिमालय पर्वत की पुत्री होने के कारण महाकवि ने उन्हें गिरिजा कहा है। ईसाई प्रचारक इस गिरिजा-पूजन के आधार पर ग्रामीण लोगों में यह प्रचार करते थे कि सीता जी गिरजे में पूजा करने जाया करती थीं, अतः ईसा की पूजा श्रीरामचन्द्र जी के काल से चली आ रही है। आर्य-समाज को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने ऐसे झूठे तथा भ्रामक प्रचार की कलई खोली तथा ईसाइयों के भ्रान्तिपूर्ण प्रचार का प्रबल निराकरण किया।

आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा छत्तीसगढ़ के आदिवासी क्षेत्र में ईसाई प्रचारकों को रोकने के लिए विशेष प्रयास किये गये हैं। इसमें स्थानीय व्यक्ति बड़ा महत्त्वपूर्ण सहयोग दे सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को तैयार करने की दृष्टि से सभा ने सुप्रसिद्ध दूधाधारी मठ में एक विशाल दीर्घकालीन शिविर का आयोजन करके कार्यकर्ता तैयार किये। इस शिविर का व्यय उक्त मठ के महन्त श्री वैष्णवदास द्वारा वहन किया जा रहा है।

ईसाई बने व्यक्तियों को शुद्ध करने के लिए रायपुर शुद्धि-सभा द्वारा बड़े पैमाने पर कार्य प्रारंभ किया गया है। इसका केन्द्र रायपुर नगर के निकट टाटीबन्द नामक गाँव है। जहाँ दयानन्द आश्रम के अन्तर्गत शिक्षा एवं प्रचार का कार्य होता है। इसके संचालन का लगभग सारा भार सभा पर है। इस केन्द्र की गतिविधियों के संचालन में स्थानीय जनता का भी पर्याप्त सहयोग मिलता रहता है। पौराणिक विचारधारा के व्यक्तियों में इस प्रकार का सहयोग देनेवालों में महन्त लक्ष्मीनारायणदास, महन्त वैष्णवदास, सेठ कृष्णलाल सिंहानिया के नाम उल्लेख्य हैं। इस आश्रम के चलाने में सभा-प्रधान श्रीमती कौशल्या देवी का बड़ा योगदान है। सभा के उपदेशक इस केन्द्र में स्थायी रूप से कार्य कर रहे हैं। सभा द्वारा शुद्धियों का प्रयास जारी है।

सभा ने आर्यसमाज द्वारा अपने स्वत्वों और अधिकारों की रक्षा के लिए चलाए गये आन्दोलनों में पूरा सहयोग दिया है। १९३९ में हैदराबाद में आर्यसमाज ने जो

ऐतिहासिक सत्याग्रह आन्दोलन किया था, उसमें इस सभा ने तथा इससे सम्बद्ध आर्य-समाजों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सभा के प्रधान माननीय घनश्यामसिंह गुप्त इस आन्दोलन के संचालक थे। उन्होंने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के निकट सम्पर्क में रहते हुए उनके मार्गदर्शन में इस आन्दोलन को पूर्ण अहिंसात्मक रूप में चलाया। सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश की जब्ती के विरोध में १९४४ से १९४७ तक जो आन्दोलन चला, उसमें भी इस सभा ने पूरा सहयोग दिया।

शिक्षा-संस्थान—इस समय सभा अनेक प्रकार के शिक्षण-संस्थानों को चला रही है। इनमें तीन हजार से अधिक छात्र पढ़ते हैं, और सौ से अधिक शिक्षक-शिक्षिकाएँ कार्यरत हैं। इनका आवर्ती व्यय ३ लाख रुपये के लगभग है। सभा द्वारा खोली गयी पहली शिक्षा-संस्था गुरुकुल होशंगाबाद थी।

गुरुकुल होशंगाबाद—मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रथम उद्देश्य गुरुकुलों की स्थापना करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभा के आरम्भिक अधिकारियों ने काफी प्रयास किया। आर्य प्रतिनिधि सभा के दिनांक १६-४-१९११ के बृहद् अधिवेशन में श्री घनश्यामसिंह गुप्त के प्रस्ताव पर प्रान्त में गुरुकुल खोलने का निश्चय किया गया और श्री गुप्त जी को योजना बनाने का अधिकार दिया गया। श्री गुप्त जी के प्रयत्न से गुरुकुल की स्थापना के लिए १० हजार रुपया एकत्र हो गया। सभा ने इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए सर्वश्री घनश्यामसिंह गुप्त, श्रीगोविन्दसिंह मनसबदार तथा श्री चंद्रगोपाल मिश्र की एक कमेटी बना दी। इस कमेटी के सत्प्रयास से गुरुकुल की स्थापना २८ एप्रिल, १९१२ को की गयी और उसका नाम **गुरुकुल मध्य भारत होशंगाबाद** रखा गया। १९१४ के सभा के बृहद् अधिवेशन में सभा ने इसे अपने संरक्षण में लेने का निश्चय किया, किन्तु व्यवस्था और संचालन का आर्थिक दायित्व उपर्युक्त कमेटी पर ही रखा गया।

२, ३, ४, ५ एप्रिल, १९२० को सभा का बृहद् अधिवेशन गुरुकुल होशंगाबाद में हुआ। इसमें सभा ने गुरुकुल को अपने हाथ में लेने का निर्णय किया, और अब सभा ही इसका संचालन करने लगी। इस समय गुरुकुल के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता स्वामी ब्रह्मानन्द थे। इस गुरुकुल का आरम्भ नरसिंहपुर से हुआ था। इसके बाद होशंगाबाद में इसका स्थानान्तरण हुआ। पहले चार वर्ष तक होशंगाबाद में किराये के मकान में गुरुकुल चलाया गया। इसके बाद नर्मदा के खर्रा घाट के समीप रेलवे के निकट की भूमि खरीदकर यहाँ रहने के लिए झोंपड़े बनाये गये और इनमें काफी समय तक गुरुकुल चलता रहा। किन्तु बाढ़ में झोंपड़े बह जाने से बड़ी कठिनाइयाँ हुईं। इस गुरुकुल के आरम्भिक विकास में स्वामी ब्रह्मानन्द का बड़ा योगदान है। उन्हीं के परिश्रम से जमीन खरीदी गयी और मकान बनाये गये। १९२० तक वे इस गुरुकुल का संचालन सफलतापूर्वक करते रहे, किन्तु उनके जाने के बाद इसके कार्य में शिथिलता आ गयी। बाद में पण्डित रामचन्द्र विद्यारत्न ने इस गुरुकुल को सँभालने का प्रयत्न किया और सन् १९४८ तक वह इसका संचालन करते रहे।

तुलाराम आर्य कन्या विद्यालय दुर्ग—१९२६ में छत्तीसगढ़ के पहले ग्रेजुएट मिमोरी जिला रायपुर-निवासी दानवीर तुलाराम परगनिहा ने अपनी सम्पूर्ण विशाल जमींदारी के ११ गाँव आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ को इस उद्देश्य के लिए

दान किए कि उनकी सम्पत्ति से एक कन्या गुरुकुल खोला जाय। उनकी इस अन्तिम इच्छा को पूरा करने के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश और विदर्भ ने दुर्ग शहर में स्टेशन के पास १९३८ में शासन से इस विद्यालय के लिए भूमि खरीदी और उनकी स्मृति में तुलाराम आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय दुर्ग की स्थापना की। आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने विद्यालय का सुव्यवस्थित रूप से संचालन एवं प्रवन्ध करने की दृष्टि से दयानन्द शिक्षा-समिति का गठन किया था। इसके प्रधान श्री घनश्याम सिंह गुप्त थे, और उनके प्रयास से इस विद्यालय का विकास हुआ। इस विद्यालय में शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा का अध्ययन समस्त छात्राओं के लिए अनिवार्य है। वेदों पर आधारित नैतिक शिक्षा की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, एवं अन्य विषयों के समान इस विषय में उत्तीर्ण होना अनिवार्य है। विद्यालय में छात्राओं के लिए छात्रावास भी है। सभा ने १९४५ में इसके भवन-निर्माण का कार्य आरम्भ किया था और इसपर ४ लाख रुपये व्यय हो चुका है। यह मध्यप्रदेश के आदर्श विद्यालयों में गिना जाता है।

अग्निदेव आर्य कन्या विद्यालय धर्मतरी—श्री मकेश्वर मन्दिर धर्मतरी के स्वामी श्री अग्निदेव ने अपनी सम्पूर्ण अचल सम्पत्ति आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ को वैदिक धर्म एवं शिक्षा के प्रचार के लिए दान दी थी। इसकी आय से छत्तीसगढ़ में ईसाइयों के प्रधान केन्द्र धर्मतरी में वैदिक सिद्धान्तों का कन्याओं को ज्ञान कराने के लिए यह विद्यालय चलाया जा रहा है। सभा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के विभिन्न आर्यसमाजों द्वारा अनेक शिक्षा-संस्थाएँ चलायी जा रही हैं।

प्रकाशन—सभा ने प्रचार के लिए हिन्दी तथा मराठी में समय-समय पर बड़ा उपयोगी साहित्य प्रकाशित किया है। १५ जून, १९०३ में इसके मुखपत्र आर्यसेवक का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। इसके प्रथम सम्पादक श्री चरणदास खत्री थे और इसका मुद्रण सरस्वती प्रेस नरसिंहपुर में होता था। पहले यह पाक्षिक रूप में निकलता था। १९११ में इसे मासिक बनाया गया। जून १९२६ में यह पत्र साप्ताहिक हो गया। १९३५ में इसे पुनः मासिक वना दिया गया। और यह अपने प्रेस में छपने लगा। मई, १९४८ से यह नागपुर से प्रकाशित हो रहा है। आर्यसेवक ने एक ओर जहाँ सभा की सूचनाओं, आर्यजगत् के समाचारों तथा वार्षिकोत्सवों और उपदेशकों के कार्य-विवरणों को प्रकाशित किया, वहाँ दूसरी ओर धार्मिक विषयों पर बड़ी गम्भीर पठनीय एवं संग्रहणीय सामग्री प्रस्तुत की है। समय-समय पर आर्यसेवक ने अनेक विशेषांक भी निकाले हैं।

पुस्तकालय—आर्य प्रतिनिधि सभा का एक पुस्तकालय इसकी स्थापना के समय ही बनाया गया था। इसमें अनेक दुर्लभ प्राचीन पुस्तकें हैं। पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय में दैनिक पत्रों तथा लगभग ५० पत्रिकाओं को मँगाया जाता है। इस पुस्तकालय को व्यवस्थित रूप देने में भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के श्री जयन्ती प्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। श्रीकृष्ण गुप्त भूतपूर्व मन्त्री सभा ने इस पुस्तकालय को अपनी वहुमूल्य पुस्तकों का विशाल संग्रह भेंट किया है। पुस्तकालय के साथ वैदिक साहित्य के प्रचार की दृष्टि से एक पुस्तक-बिक्री-विभाग भी है। इसमें प्रतिवर्ष ४-५ हजार रुपये की पुस्तकों की बिक्री की जाती है और प्रदेश की आर्यसमाजों को नवीनतम साहित्य उपलब्ध कराया जाता है।

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश ने आर्यकुमार सभाओं तथा आर्यवीर दलों के गठन की ओर सदैव ध्यान दिया है। आरम्भ में बालकों की संस्थाओं का नाम आर्यमित्र बाल सभा था। १६११ की सभा की रिपोर्ट से यह विदित होता है कि उस समय निम्नलिखित स्थानों पर ये सभाएँ कार्य कर रही थीं—नरसिंहपुर, मुहापानी, सुहागपुर, वारहाब्रड़ा तथा पलाई। विभाजन के बाद इन्हें आर्यकुमार सभाओं का नाम दिया गया है और आर्यवीर दल का प्रादेशिक मुख्यालय भोपाल में स्थापित हुआ। आर्यकुमार सभाओं एवं आर्यवीर दलों के स्वयंसेवकों ने आर्य महासम्मेलनों और समारोहों में सेवा का प्रशंसनीय कार्य किया है।

(४) मध्यप्रदेश के कर्मठ कार्यकर्ता

श्री घनश्यामसिंह गुप्त—मध्यप्रदेश के पुराने आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं में दुर्ग के श्री घनश्यामसिंह गुप्त ४३ वर्ष की लम्बी अवधि तक (१६२०-१६६३) मध्यप्रदेश और विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुने जाते रहे। आर्यसमाज के सभी क्षेत्रों में उनकी सेवायें उल्लेखनीय हैं।

गुप्तजी ने सन् १६०६ में विज्ञान में बी० एस०-सी० पास किया, और इसके बाद अगले दो वर्षों में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से वकालत की पढ़ाई करते हुए महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय से राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ा। १६०८ से १६१० तक वह गुरुकल कांगड़ी में विज्ञान का अध्यापन करते रहे, और गुरुकुल में रहते हुए उन्होंने लगभग डेढ़ महीने में वार्तालाप और बोलचाल की प्रणाली से संस्कृत का इतना अभ्यास कर लिया कि वह इसमें बातचीत करने लगे। १६११ में इनके पिता ने तत्कालीन वैवाहिक रूढ़ियों को तोड़ते हुए इनका विवाह काशीपुर (जिला-नैनीताल) के श्री बाँकेलाल की सुपुत्री श्रीमती जयदेवी से कालादूँगी में किया। गुप्तजी अग्रवाल थे और इनकी पत्नी माहेश्वरी थीं। यह विवाह छत्तीसगढ़ से दूरस्थ प्रदेश काशीपुर में हुआ था। इस कारण ५ वर्ष तक इनके घरवाले सम्पूर्ण बिरादरी से बहिष्कृत रहे। इनके अतिनिकट सम्बन्धी बहन-बहनोई आदि भी इनके घर पर नहीं आते थे और इनका छुआ हुआ दाल-भात नहीं खाते थे।

१६१० से इन्होंने दुर्ग में वकालत शुरू कर दी। १६२३ में ये मध्यप्रान्त की विधान सभा के सदस्य चुने गये और १६२५ में दुर्ग की नगरपालिका समिति के प्रधान। इससे पूर्व सन् १६२५ में वह मध्य प्रान्त और विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुने जा चुके थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान होने के नाते उन्होंने जिला रायपुर के मौजाचुरा के दानवीर तुलारामजी से आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए उनकी सारी चल और अचल सम्पत्ति की वसीयत उनसे करवाई, ताकि इससे एक कन्या विद्यालय चलाया जा सके। इनकी सारी सम्पत्ति उन दिनों लगभग ४ लाख रुपये की थी, जो वर्तमान मूल्य के अनुसार आधे करोड़ से भी अधिक की होगी।

उस समय हिन्दू समाज में अस्पृश्य जातियों के साथ उच्च वर्णों के व्यक्ति बड़ा दुर्व्यवहार करते थे। मध्यप्रान्त में सफाई का कार्य करनेवाली महार जाति बड़ी संख्या में बसी हुई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण इन्हें अछूत समझते थे। नाई इनके बाल नहीं

बनाते थे, धोबी इनके कपड़े नहीं धोते थे। इन सब बातों से महार अतीव दुःखी थे। इस परिस्थिति का लाभ ईसाई, पादरी और मुसलमान उठा रहे थे और २७ नवम्बर १९२६ को मौजा अर्जुनदह में ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी बड़ी संख्या में पहुँचे और उन्होंने सब महार भाइयों को प्रेरणा दी कि यदि वे ईसाई या मुसलमान बन जायें तो उनकी अस्पृश्यता दूर हो जायेगी और उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होगा; धर्म-परिवर्तन उनके जीवन को सुखमय बना देगा और उनकी सब समस्याओं का समाधान कर देगा।

इस बात की सूचना जब श्री गुप्त को मिली और वे अपने सहयोगी पण्डित मन्नूलाल पौराणिक और ठाकुर प्यारेलाल के साथ वहाँ पहुँचे तो महार भाइयों की एक बड़ी सभा में ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी इनको धर्म-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। इन लोगों ने भी महारों से बातचीत की और छत्तीसगढ़ी बोली में उनको यह कहा—"आप लोगों की यह शिकायत है कि आप अछूत समझे जाते हैं, अतः आपका काम नाई और धोबी नहीं करते हैं। हम आपको नाई और धोबी तो नहीं दे सकते, लेकिन हम खुद नाई और धोबी का काम करने को तैयार हैं।" इतना कहकर श्री गुप्त ने उनके नाई का काम किया अर्थात् बाल बनाये और उनके कपड़े धोकर धोबी का काम किया। इससे महार अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने ईसाई या मुसलमान होने का विचार छोड़ दिया। अपने इस उदात्त आचरण, प्रेमपूर्ण एवं सराहनीय आदर्श व्यवहार से श्री गुप्त ने मध्यप्रदेश की महार जातियों में धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया।

दुर्ग नगरपालिका का प्रधान होने के नाते उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा हरिजनोद्धार का व्यापक कार्यक्रम शुरू करने से कई वर्ष पहले ही आर्यसमाज के विचारों से प्रेरित होकर इस प्रकार का कार्यक्रम चलाना शुरू किया। इस प्रसंग में एक घटना उल्लेखनीय है। १९३४ में जब महात्मा गांधी दुर्ग आये तो वे गुप्तजी के घर पर ही ठहरे और उन्होंने उनसे पूछा कि दुर्ग में देखने लायक क्या वस्तुयें हैं? श्री गुप्त ने महात्मा गांधी से कहा —"यहाँ एक ही वस्तु देखने योग्य है।" वे उन्हें पुराने आर्यसमाज-भवन में ले गये जहाँ एक पाठशाला में हरिजन(भंगी बालक)उच्च जाति के बालकों के साथ एक ही टाट-पट्टी पर बैठकर पढ़ रहे थे। गांधी जी के पूछने पर उन्होंने बताया कि १९२६ में वे नगर-पालिका के प्रधान बने थे। उस समय से ही यहाँ मेहतर बालक और उच्च जाति के बालक लगातार एक-साथ बैठकर पढ़ रहे हैं।" महात्माजी इस घटना से बड़े प्रभावित हुए। मध्यप्रदेश और विदर्भ में इस प्रकार के हरिजनोद्धार की यह पहली घटना थी। दुर्ग का मारवाड़ी व्यापारी समाज उनके इस कृत्य को महान् अधर्म मानता था। उन्होंने इसके विरोध में उच्च जाति के बालकों के लिए मारवाड़ी विद्यालय खोला। इसमें हरिजन बालकों का प्रवेश वर्जित था। श्री गुप्त पर यह दबाव डाला जाने लगा कि उनके स्कूल में हरिजन बालकों और उच्च वर्ण के छात्रों के बैठने के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था की जाये। इनका यह कहना था कि इससे अस्पृश्यता का कलंक सदा के लिए बना रहेगा। इन्होंने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया और अपनी पाठशाला में अतीव योग्य अध्यापक रखे। इस कारण इस विद्यालय का परिणाम बहुत अच्छा रहने लगा और इसकी पढ़ाई से आकृष्ट होकर उच्च जातियों के बालक भी बड़ी संख्या में इनके विद्यालय

में प्रवेश लेने लगे और हरिजन बालकों के साथ बैठकर पढ़ने लगे।

श्री गुप्त सार्वदेशिक सभा के भी काफी समय तक प्रधान रहे और उन्होंने प्रधान होने के नाते हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह का संचालन बड़ी कुशलतापूर्वक किया। उन दिनों हैदराबाद के राज्य में यद्यपि अधिकांश जनता हिन्दू थी, किन्तु वह अपने धार्मिक विधि-विधानों के अनुसार पूजा तथा उपासना करने में स्वतन्त्र नहीं थी। मुसलिम शासक उनपर ऐसे कठोर प्रतिबन्ध लगाते जा रहे थे कि वे मुसलमान बन जायें। किसी सार्वजनिक स्थान पर कोई धार्मिक सभा, भाषण या प्रचार नहीं हो सकता था। घर में पूजा के लिए हवन कुंड तक बनाना वर्जित था। शासन से प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त करके रजाकार (मुसलिम स्वयंसेवक) और पुलिस के कर्मचारी हिन्दुओं पर नाना प्रकार के अत्याचार किया करते थे। इस दुरवस्था को दूर करने तथा धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त करने के लिए सार्वदेशिक सभा की ओर से आर्यसमाज द्वारा जो सत्याग्रह संचालित किया गया उसका अन्यत्र विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ इतना उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि श्री गुप्त के ओजस्वी नेतृत्व और कुशल संचालन से यह सत्याग्रह पूर्ण रूप से सफल हुआ और आर्यसमाज की धार्मिक माँगों को निजाम सरकार ने स्वीकार किया। उस समय हैदराबाद शासन के प्रधानमन्त्री सर अकबर हैदरी ने महात्मा-गांधी के एक पत्र के आधार पर आर्यसमाज को इस सत्याग्रह में हुई क्षति के लिए पन्द्रह लाख रुपये देना स्वीकार किया। यह पत्र श्री गुप्त ने महात्माजी से अकबर हैदरी को लिखवाया था।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् का सदस्य बनने पर श्री गुप्त ने आर्य विवाह-अधिनियम भी भारत सरकार से पास कराया। इसके अनुसार आर्यसमाज की पद्धति से शुद्ध होकर मुसलमानों तथा ईसाइयों द्वारा किये जानेवाले विवाहों को वैधता प्रदान की गयी। इस कानून के बनने से पहले शुद्ध होनेवाले मुसलमानों और ईसाइयों के विवाह अवैध माने जाते थे। २०-३-१९३७ को यह विधेयक पारित हुआ।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने १९३७ में जब पहली बार पद ग्रहण किया तो मध्यप्रांत में श्री गुप्त वहाँ की विधानसभा के अध्यक्ष चुने गये। उस समय तक सभाओं की कार्यवाही अंग्रेजी में होती थी और भारतीयों को मातृभाषा में बोलने का अधिकार प्राप्त नहीं था। श्री गुप्त आर्यसमाजी होने के कारण शुरू से हिन्दी के कट्टर समर्थक थे और इन्होंने मध्यप्रदेश विधानसभा में अपना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अध्यक्षीय निर्णय दिया जिसके अनुसार सदस्यों को हिन्दी में भाषण करने की अनुमति प्राप्त हो गयी। महात्मा गांधी ने २ अक्तूबर, १९३७ के 'हरिजन' पत्र में इस निर्णय की बड़ी सराहना की थी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आर्यसमाज की दृष्टि से गुप्त का एक महत्त्वपूर्ण कार्य नियोगी समिति में भाग लेना था। छः सदस्यों की यह समिति मध्यप्रान्त के शासन ने पं० रविशंकर शुक्ल के समय में १४ एप्रिल, १९५४ को इस उद्देश्य से गठित की थी कि मध्यप्रदेश के ईसाई पादरियों द्वारा सामान्य जनता को, विशेषतः पिछड़े हुए वर्गों तथा जंगलों और पहाड़ों में रहनेवाले भोले-भाले लोगों को विभिन्न प्रलोभनों द्वारा धर्म-परिवर्तन कराके ईसाई बनाने का जो प्रयास किया जाता है, उसके कार्यकलापों की विस्तृत जाँच की जाय। इसके अध्यक्ष नागपुर के डॉक्टर भवानी शंकर नियोगी थे, अतः यह नियोगी-समिति कहलाती है। इस समिति के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य श्री घनश्यामसिंह गुप्त थे।

इस समिति ने मध्यप्रदेश के १४ जिलों का दौरा करके ११,३६० व्यक्तियों से सम्पर्क, गवाही तथा ३७५ व्यक्तियों के लिखित बयानों के आधार पर इस विषय में जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया वह सम्भवत: इस विषय की सर्वोत्तम रिपोर्ट है और इसमें यह भी बताया गया था कि इन गतिविधियों को रोकने के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाये। अन्तिम समय तक श्री गुप्त समाज की गतिविधियों में बड़े उत्साह से भाग लेते रहे।

पण्डित विश्वम्भरप्रसाद शर्मा—श्री घनश्यामसिंह गुप्त के बाद मध्यप्रान्त तथा विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्माण और संचालन में सबसे बड़ा योगदान श्री शर्मा जी का कहा जा सकता है। वह मूलत: मध्यप्रान्त के निवासी नहीं थे, अपितु संयुक्तप्रान्त के रहनेवाले थे। उनका जन्म गढ़मुक्तेश्वर के निकट लुहारी गाँव में एक पौराणिक रूढ़िवादी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, बचपन से ही उनपर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि उनके परिवार का वातावरण पौराणिक था, किन्तु दिल्ली आने पर वह आर्यकुमार सभा के कार्यक्रमों और आर्यसमाज के उत्सवों में भाग लेने लगे, और अखिल भारतीय आर्यकुमार परिषद् के प्रमुख कार्यकर्ता बन गये। उनका व्यवसाय पत्रकारिता था।

१९३८ में नवभारत दैनिक के सम्पादन कार्य में सहयोग देने के लिए वह नागपुर आ गये और वहाँ आर्यसमाज के प्रति स्वाभाविक प्रीति और निष्ठा के परिणामस्वरूप उन्होंने नागपुर आर्यसमाज की प्रवृत्तियों और क्रियाकलापों में भाग लेना शुरू किया। उस समय वहाँ केवल हंसापुरी में ही आर्यसमाज मन्दिर था। इसके संस्थापक स्वामी ब्रह्मानन्द आर्यसमाज में ही रहते थे। उनके विद्वत्तापूर्ण भाषणों से जनता बड़ी प्रभावित थी। स्वामीजी अपनी ओजस्वी वाणी और लेखनी से आर्यसमाज का प्रचार करते थे। स्वामीजी की प्रेरणा से शर्माजी नागपुर की आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्ता बन गये। १९४१ में गांधीजी द्वारा संचालित व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने पर वह गिरफ्तार कर लिये गये। उन्होंने जेल में भी आर्यसमाज का प्रचार आरम्भ कर दिया। उन द्वारा प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को जेल में हवन का आयोजन किया जाता था, उपदेश और प्रवचन होते थे और इनके बाद सभी बन्दियों में हलवा-पूरी के प्रसाद का वितरण किया जाता था। रक्षाबन्धन के अवसर पर उन्होंने श्रावणी के यज्ञ का बड़े समारोह से आयोजन किया और अनेक बन्दियों को यज्ञोपवीत धारण कराया। जेल से मुक्त होने के बाद १९४५ से शर्माजी ने नागपुर आर्यसमाज हंसापुरी के सत्संगों में भाग लेना शुरू किया। इसी समय आर्यसमाज हंसापुरी के भवन को नागपुर के इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट ने अपने विकास के लिए लेने का निर्णय किया और समाज को किसी अन्य स्थान पर जगह देने की घोषणा की। इससे हंसापुरी समाज के अवसान का संकट उत्पन्न हो गया। शर्माजी ने इस जमीन को बचाने के लिए ट्रस्ट से बहुत पत्र-व्यवहार किया, पर ट्रस्ट उस जमीन को लेने पर तुला हुआ था। उसने जब अपने निर्णय को न बदलने की घोषणा की तो शर्माजी के नेतृत्व में आर्य बन्धुओं ने मन्दिर की रक्षा के लिए सत्याग्रह करने का संकल्प किया। ट्रस्ट को इसकी सूचना विधिवत् दे दी गयी। अन्त में इस मामले में ट्रस्ट को झुकना पड़ा। यह आर्यसमाज की भारी विजय थी।

श्री शर्माजी मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के चिरकाल तक प्रधान भी रहे। प्रधान-पद से निवृत्त होने पर भी वह सभा के कार्य-संचालन में सक्रिय योगदान करते रहे।

शर्माजी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गुरुकुल होशंगाबाद का पुनरुज्जीवन था। यह गुरुकुल १९३५ से बन्द पड़ा था और यहाँ की भूमि और सम्पत्ति का उपयोग नहीं हो रहा था। यहाँ कई योजनाएँ चलाने की सम्भावनाओं पर विचार किया गया। एक योजना वानप्रस्थ आश्रम और गोसम्वर्द्धन केन्द्र बनाने की थी। दूसरी योजना आदिवासी तथा हरिजन छात्रावास चलाने की थी। इन योजनाओं के संचालन का उत्तरदायित्व पहले प्रदेश के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता शिवकुमार पगारे को दिया गया और बाद में डॉक्टर धर्मेन्द्र-प्रसाद को। किन्तु इनमें से कोई भी योजना सफल नहीं हो सकी। इसी समय शर्माजी की दृष्टि गुरुकुल झज्झर के सुयोग्य स्नातक स्वामी भूमानन्द पर पड़ी, और उन्हें गुरुकुल के संचालन का भार सौंपा गया।

स्वामी ब्रह्मानन्द—स्वामीजी सभा के पुराने कर्मठ कार्यकर्ता थे। पहले वह नरसिंहपुर आर्यसमाज में प्रचार करते रहे। उसके बाद उन्होंने सभा की ओर से अनेक स्थानों पर वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार का कार्य बड़ी सफलता से सम्पन्न किया। सभा की १९१३ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार उन्होंने जबलपुर, होशंगाबाद, इलाहाबाद, सिवनी, रुस्तमपुर, चाँदूर, भरतपुर, नागपुर, दुर्ग आदि स्थानों में प्रचार किया था। उनके भाषण अतीव ओजस्वी तथा प्रभावशाली होते थे। सभा की अनेक रिपोर्टों में स्वामी जी की अवैतनिक सेवाओं की सराहना करते हुए लिखा गया था कि उन्होंने सभा के सभी विभागों के कुशल संचालन में बड़ा सहयोग दिया। वे कई वर्ष तक होशंगाबाद के गुरुकुल के संचालन में भी बहुमूल्य सहयोग देते रहे। किन्तु १९२० में कई विषयों पर मतभेद होने के कारण वह सभा से पृथक् हो गये। उन्होंने नागपुर में आर्यसमाज हंसापुरी को अपनी साधनास्थली बना लिया और १९४५ तक यहाँ वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। आर्यसमाज हंसापुरी में उन्होंने आर्य यन्त्रालय की स्थापना की। इसमें अनेक वर्षों तक हिन्दी तथा मराठी में आर्यसमाजविषयक पुस्तिकायें और ट्रैक्ट प्रकाशित किये गये। मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में आर्यसमाज के प्रचार को सफल बनाने में उनका प्रभावशाली कर्तृत्त्व सदैव उल्लेखनीय रहेगा।

मध्यप्रदेश में आर्यसमाज की गतिविधियों के लिए दान देनेवाले श्री डॉक्टर गोविन्दसिंह मनसबदार का भी उल्लेख उचित प्रतीत होता है। वह विदर्भ में पातूर जिला अकोला के निवासी थे। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के लिए पिछली शताब्दी के अन्त में जब महात्मा मुंशीराम ने अपील निकाली थी और तीस हजार की राशि एकत्र करने का संकल्प किया तो महात्माजी की झोली में सर्वप्रथम दस हजार रुपये की राशि उन्होंने ही प्रदान की थी।

चौदहवाँ अध्याय

मध्य भारत में आर्यसमाजों की स्थापना और प्रगति

(१) मध्यभारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा

वर्तमान समय के मध्यप्रदेश के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जिनके आर्यसमाज आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश एवं विदर्भ के साथ सम्बद्ध नहीं हैं। भारत की स्वतन्त्रता (सन् १९४७) से पूर्व ये क्षेत्र ब्रिटिश भारत के मध्यप्रान्त के अन्तर्गत नहीं थे, और इनमें ग्वालियर, इन्दौर, भोपाल, रतलाम, धार और देवास आदि अनेक देशी राज्यों की सत्ता थी। इनमें स्थापित आर्यसमाज या तो आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान व मालवा से सम्बद्ध थे, या स्वतन्त्र थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् इन क्षेत्रों, जहाँ पहले देशी रियासतें थीं, के आर्यसमाजों का एक पृथक् केन्द्रीय संगठन बन गया, जिसकी स्थापना मध्य-भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से सन् १९४९ ई० में हुई थी और जिसका पंजीकरण १५ जनवरी, १९५१ को हुआ था। सन् १९४७ तक इस क्षेत्र में ब्रिटिश भारत के अन्य प्रान्तों के समान आर्यसमाज का कोई ऐसा प्रान्तीय संगठन नहीं था, जो सुव्यवस्थित रूप से इस प्रदेश में आर्यसमाज के प्रचार के कार्य में रत हो। इस कारण विभिन्न रियासतों में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध साधु-संन्यासी महात्माओं और प्रचारकों द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से यहाँ आर्यसमाज स्थापित किये गये। इस समय मध्य भारत की आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध समाजों की संख्या ११२ है, किन्तु स्वतन्त्रता से पहले इनकी संख्या बहुत कम थी, और इस प्रदेश में आर्यसमाज का कार्यकलाप भी अधिक नहीं था। इन्दौर, भोपाल, देवास आदि नगरों में जो आर्यसमाज स्थापित थे वही अपने नगर तथा समीपवर्ती देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया करते थे। अतः इस अध्याय में इनमें से कतिपय प्रमुख समाजों की स्थापना तथा प्रगति का कालक्रम से संक्षिप्त परिचय ही दिया जाएगा।

(२) मध्य भारत के प्रमुख आर्यसमाज

आर्यसमाज देवास—इस समाज की स्थापना श्री चैतन्य स्वामी द्वारा सन् १८८५ ई० में हुई और इसकी स्थापना में निम्नलिखित व्यक्तियों ने प्रमुख सहयोग दिया—सर्वश्री गौरीशंकर शर्मा, गोवर्द्धनलाल दौलतसिंह गुप्त, प्रतापसिंह भगीरथ, आत्माराम, गोपीलाल तथा राधाकृष्ण। इसके आरम्भिक कार्यकर्ताओं में पण्डित वीरसेन-वेदश्रमी के पिता स्वामी सत्यानन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पिछली

शताब्दी में देवास मध्य भारत की एक छोटी-सी रियासत थी। उस समय देवास दो राज्यों, देवास सीनियर तथा देवास जूनियर में बँटा हुआ था। आर्यसमाज की स्थापना जूनियर या छोटी पाती देवास में हुई थी। पिछली शताब्दी में राज्य के राजा तथा मन्त्रीगण आर्यसमाज के कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेते थे। वे इसके श्रावणी, ऋषि-बोधोत्सव आदि उत्सवों में भाग लेते थे। ऋषि-बोधोत्सव के विशाल जुलूस का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था और राज्य के हाथी, घोड़े, वग्घी और सैनिक इस जुलूस के अंग होते थे। देवास छोटी पाती के राजा मल्हार राव बाबा साहब आर्यसमाज को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

आर्यसमाज देवास में साप्ताहिक सत्संग बड़े धूमधाम से होते थे और आर्य बन्धुओं के पारिवारिक संस्कार भी आर्यसमाज द्वारा बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न कराये जाते थे। पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में देवास में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध प्रचारक स्वामी नित्यानन्द आये थे और उन्होंने यहाँ समाज का अच्छा प्रचार किया था।

आर्यसमाज इन्दौर—यहाँ आर्यसमाज की स्थापना स्वामी नित्यानन्द सरस्वती द्वारा सन् १८८७ में की गयी थी। यहाँ आने पर स्वामी जी का परिचय डॉक्टर गोविन्दराव चास्कर से हुआ। उन्होंने अपने चिकित्सालय में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया। आरम्भ में स्वामी जी के चार-पाँच व्याख्यान कृष्णपुर में दक्षिणी पण्डितों के राममन्दिर में हुए। इन व्याख्यानों का प्रभाव स्थानीय जनता पर इतना अधिक पड़ा कि बम्बई के सुप्रसिद्ध मर्चेण्ट बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर सेठ जयनारायण दानी व डॉक्टर गोविन्दराव चास्कर के विशेष उद्योग से यहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया। उस समय इन्दौर के दीवान आर० रघुनाथ राव थे। इनसे भेंट होने के बाद स्वामी जी के व्याख्यानों का प्रबन्ध राजकीय पुस्तकालय में हो गया। दीवान साहब पर भी व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने मित्रों को भी इनमें आमन्त्रित किया। उन दिनों आर्यसमाज और स्वामी जी के व्याख्यानों की इतनी धूम मच गयी कि देवास आदि आस-पास की छोटी रियासतों के अनेक उच्च अधिकारी इन व्याख्यानों को सुनने के लिए वहाँ आने लगे। स्वामी जी इन्दौर से कुछ समय के लिए देवास में भी प्रचार करने गये। १८८९ में पुन: स्वामी जी इन्दौर आर्यसमाज में आकर ठहरे। डॉक्टर गोविन्द राव सदाशिव चास्कर ने स्वामी जी के निवास की व्यवस्था की और निम्नलिखित विषयों पर स्वामी जी के व्याख्यान हुए—१. आर्यावर्त क्या था और क्या हो गया; २. धर्म का स्वरूप; ३. अपौरुषेय वेद; ४. पुनर्जन्म। ये सभी व्याख्यान खुले मैदान में हुए जहाँ प्रतिदिन हजारों मनुष्य एकत्र होते थे। डॉक्टर चास्कर ने स्वामी जी के इन्दौर-आगमन का समाचार महाराजा शिवाजी राव होलकर को दिया, और स्वामी जी की विद्वत्ता, ज्ञान और स्वभाव की प्रशंसा की। महाराजा साहब ने डॉक्टर साहब द्वारा स्वामी जी को मिलने के लिए हवा महल में आमन्त्रित किया और स्वामी जी के आने पर उनसे अनेक गम्भीर दार्शनिक प्रश्न किये। स्वामी जी द्वारा दिये गये उत्तरों से वे इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्होंने कहा कि "वर्तमान साधु-समुदाय अपनी चरित्रभ्रष्टता के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु साधु ही समाज का सुधार भी कर सकते हैं। हमने यह पहले ही साधु देखे हैं जो लोगों को सुधारते हैं।" इसके बाद महाराजा साहब ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी इन्दौर राज्य में ही रहें और यहीं उपदेश किया करें। राज्य के प्रत्येक स्थान में उनके भोजन,

निवास आदि का प्रवन्ध कर दिया जायेगा। इसके अलावा उन्हें तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को एक हजार रुपया मासिक व्यय के लिए मिला करेगा। किन्तु वह राज्य से बाहर नहीं जा सकेंगे। इसके उत्तर में स्वामीजी ने निवेदन किया कि हम इन्दौर राज्य में उपदेश करने के लिए तो तैयार हैं, संन्यासी और परिव्राजक होने के कारण यह प्रतिज्ञा करने को तैयार नहीं हैं कि राज्य से बाहर नहीं जायेंगे। अन्त में महाराजा ने कुछ समय के लिए इनसे राज्य में रहकर उपदेश करने की प्रार्थना की और निषेध करने पर भी मासिक सहायता का प्रवन्ध कर दिया।

१८९० में पुनः स्वामी जी इन्दौर पहुँचे। उनकी अनुपस्थिति में आर्यसमाज का प्रभाव वढ़ने के कारण पौराणिक पण्डित वहुत चिन्तित हुए और उन्होंने इसका विरोध करने के लिए सद्धर्म प्रकाशिका नाम की एक सभा स्थापित की। इसमें आर्यसमाज पर नाना प्रकार के आक्षेप किये जाते थे और अनेक प्रकार के झूठे आरोप लगाये जाते थे। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों पर पौराणिक पण्डितों के आक्षेपों का समुचित उत्तर वड़े प्रभावशाली ढंग से दिया जाता था। इस कारण शनैः-शनैः जनता पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। स्वामी जी ने आते ही 'सद्धर्म प्रकाशिका' के उपदेशों के विरोध में अपने प्रवचन देना आरम्भ किया। इनमें जनता वड़ी संख्या में उपस्थित होने लगी। एक दिन समाज में व्याख्यान देते समय स्वामी जी ने कहा कि पूर्वकाल में कर्म करके ब्राह्मण होते थे, न कि वर्तमान समय की भाँति ब्राह्मणकुल में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण होते थे। इसपर सभा में उपस्थित एक पौराणिक पण्डित गोपाल जी ने श्रोताओं के सामने प्रतिज्ञापूर्वक यह कहा कि इस आशय का मन्त्र वेद में है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी से उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही ब्राह्मण कहा सकता है। इसपर आर्यसमाज के विद्वानों ने उन्हें वेद के मूल-मन्त्र को प्रस्तुत करने को कहा पण्डित जी ने जोश में आकर निम्नलिखित संस्कृत-वाक्य को वेदमन्त्र घोषित किया—"ब्राह्मणात् ब्राह्मण्यां जातः स ब्राह्मणः" श्रुतिः यजुः। इसे सुनकर लोगों ने कहा—"पण्डित जी, आप इस वाक्य को लेखबद्ध करने की कृपा करें।" पण्डित जी ने झटपट कागज-कलम मँगाकर लिख दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। उसके वाद पण्डित जी को यजुर्वेद देकर कहा गया कि आप इसमें अपने मन्त्र को निकाल-कर दिखला दें। वहुत देर तक पण्डित जी यजुर्वेद के पन्ने पलटते रहे और जब उन्हें यह मन्त्र वेद में नहीं मिला तो उन्होंने अपनी जान बचाने के लिए कहा कि "यह मन्त्र मेरी पुस्तक में है। उसे अभी मैं घर से लाता हूँ। मेरे आने तक सभा से कोई सदस्य उठकर न जाय।" स्वामी नित्यानन्द जी तथा अन्य आर्यसमाजी सभास्थल में वहुत देर तक बैठे रहे, किन्तु पण्डित जी वापस नहीं लौटे। उनके घर पर उन्हें बुलाने के लिए जो व्यक्ति भेजे गये उन्हें भी पण्डित जी नहीं मिले। इस घटना से यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि पौराणिक पण्डितों के पास जन्मानुसार वर्णव्यवस्था को वेदानुकूल सिद्ध करने का कोई वैदिक मन्त्र या प्रमाण नहीं है। इसका जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। आर्यसमाज के सिद्धान्तों में उनकी अभिरुचि और आस्था अधिक दृढ़ होने लगी और सद्धर्म प्रकाशिका सभा से उनका विश्वास उठ गया। यहाँ की स्थानीय जनता में आर्यसमाज की लोकप्रियता बढ़ गयी और इसके वाद आर्यसमाज को अपने काम में कोई कठिनाई नहीं हुई। औद्योगिक नगर होने के कारण जब इन्दौर में जनसंख्या बढ़ने लगी तो यहाँ शनैः-शनैः अन्य समाज भी स्थापित होने लगे।

सन् १९४० में महर्षि दयानन्द गंज का समाज स्थापित हुआ था। इस स्थान का पुराना नाम तोपखाना था। इस समाज के प्रधान योगराज नारंग और मन्त्री श्री तेजकरण माहेश्वरी थे। यहाँ बड़ी सुन्दर यज्ञशाला, अतिथिशाला, समाज का अपना भवन तथा साधु आश्रम बना हुआ है। समाज की ओर से पारिवारिक सत्संग लगाये जाते हैं। आसपास की बस्तियों में प्रचार किया जाता है। सत्यार्थप्रकाश की परीक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं। संयुक्तागंज का समाज रेलवे स्टेशन से डेढ़ मील की दूरी पर है। इसकी स्थापना ६० वर्ष पूर्व मास्टर शम्भूलाल शर्मा ने की थी। चिरकाल तक यह समाज किराये के मकान में चलता रहा। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस समाज के विशाल भवन का निर्माण हुआ, और इस समाज ने बहुत उन्नति की।

नीमच—यहाँ सर्वप्रथम १८९२ में स्वामी नित्यानन्द जी ने हरिजनों के उद्धार का तथा वैदिक धर्म के प्रचार का बड़ा सराहनीय प्रयास किया। राजस्थान मालवा गोरक्षिणी सभा की ओर से भी श्री करोड़ीमल मालू ने स्वामी जी से यह प्रार्थना की कि आप यहाँ थोड़े दिन ठहरकर अस्पृश्य समझी जानेवाली भंगी, कंजर और महार जातियों में प्रचार करें और उन्हें गोरक्षण के विषय पर व्याख्यान दें तो बड़ा उपकार होगा। स्वामीजी ने इन जातियों की पंचायतों में जा-जाकर उनमें अपने हिन्दुत्व पर अभिमान करने की भावना उत्पन्न की और गो-मांस भक्षण का परित्याग करने के लिए बड़े मर्म-स्पर्शी शब्दों में अपील की। इन पंचायतों में स्वामी जी के साथ-साथ नीमच के अन्य स्थानीय १०-१५ प्रतिष्ठित पुरुष भी जाया करते थे। स्वामी के उपदेश के प्रभाव से इन जातियों ने गोरक्षिणी सभा की इच्छानुसार एक दस्तावेज लिखकर सदा के लिए गो-मांस-भक्षण करना छोड़ दिया। उस समय केवल नीमच छावनी और नगर में इन जातियों के कारण ८-१० गायों का प्रतिदिन वध होता था। वह अब रुक गया और अब इनके प्रभाव से अन्य प्रदेशों के भंगियों ने भी गो-मांस-भक्षण का परित्याग कर दिया। गोरक्षिणी सभा द्वारा इस वर्ष के अन्त में प्रकाशित एक विवरण के अनुसार केवल नीमच नगर और छावनी में २,५५५ गौओं की प्राणरक्षा हुई।

स्वामी जी की उपर्युक्त यात्रा के बाद लगभग तीन दशाब्दियों तक आर्यसमाज के किसी बड़े प्रचारक के इस प्रदेश में जाने का विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। १९२३ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई और इस आर्यसमाज की विशेष ख्याति इसलिए है कि यहाँ १९२९ में तीन दिन तक पण्डित रामचन्द्र देहलवी तथा पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने आर्यसमाज की ओर से सुप्रसिद्ध पौराणिक पण्डित कालूराम शास्त्री तथा अखिलानन्द से एक ऐतिहासिक शास्त्रार्थ किया। इसमें आर्यसमाज की विजय होने से यहाँ तथा आस-पास के प्रदेश में आर्यसमाज का खूब प्रचार हुआ। १९३० में यहाँ सेठ आर्यवीर राम-निवास ऐरन व पण्डित सुखदेव आदि पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और सब आक्रमणकारियों को न्यायालय से दण्ड मिला। यहाँ के यशस्वी धनी व्यापारियों ने आर्य-समाज को उदारतापूर्वक दान दिया। सेठ नाथूलाल अग्रवाल, बाबूअर्जुन लाल आचार्य तथा मागीलाल कविकिंकर ने क्रमशः ६०, ४० और ३० हजार के भवन आर्यसमाज को दान दिये। इस स्थान की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी पण्डित रामचन्द्र देहलवी का जन्मस्थान यहाँ आर्यसमाज मन्दिर के निकट है। इस आर्यसमाज की ओर से श्रीमद्दयानन्द विद्यालय, आर्यकुमार-

सभा और आर्यवीर दल चलाये जाते हैं। पारिवारिक सत्संगों और प्रचारकों द्वारा प्रचार-कार्य किया जाता है।

महू छावनी—यहाँ १८९३ में एक आर्यसमाज की स्थापना हुई। स्वामी नित्यानन्द जी अपने प्रचार-कार्य में यहाँ कई बार आये थे। १९५० में यहाँ महिला समाज की भी स्थापना हुई। महू छावनी बड़ी सक्रिय समाज है। इसने हैदराबाद सत्याग्रह में विशेष योगदान दिया था। यहाँ १९१९ में मुसलमानों के साथ रामचन्द्र देहलवी का सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था। इस समय यहाँ आर्यसमाज की ओर से आर्य कन्या महाविद्यालय चलाया जा रहा है। महू शहर में रेलवे स्टेशन से आधा किलोमीटर की दूरी पर एक अन्य आर्यसमाज भी १९०३ में स्थापित हुआ। इसकी ओर से तीन शिक्षा-संस्थाएँ—आर्य बाल निकेतन (प्राथमिक शाला), आर्य बाल निकेतन (माध्यमिक विद्यालय) और आर्य कन्या महाविद्यालय चलाई जा रही हैं।

लशकर (ग्वालियर)—यहाँ आर्यसमाज की स्थापना १९०१ ई० में हुई थी। यहाँ के सक्रिय एवं कर्मठ कार्यकर्ता डॉक्टर महावीरसिंह, बाबूलाल गुप्त, श्री फूलसिंह, श्री भारतभूषण त्यागी हैं। यह समाज अपनी स्थापना के समय से बड़े उत्साह के साथ कार्य कर रहा है। यहाँ वार्षिक उत्सव, वेदप्रचार-सप्ताह, ऋषि-बोधोत्सव आदि आर्य पर्व समारोहपूर्वक मनाये जाते हैं। इस आर्यसमाज की ओर से दयानन्द आर्य उच्च माध्यमिक विद्यालय, आर्य कन्या पाठशाला, आर्य वाचनालय भी चलाये जाते हैं। १९२६ में ग्वालियर नगर में रेलवे स्टेशन से डेढ़ मील की दूरी पर एक अन्य आर्यसमाज स्थापित हुआ और १९२८ में मुरार में आर्यसमाज की स्थापना हुई। लशकर में एक आर्य महिला समाज और चित्रगुप्त गंज में भी एक अन्य समाज है।

धार—इस आर्यसमाज की स्थापना १९०४ में की गयी थी। इसके पास अपना निजी भवन है और सारा प्रचार-कार्य स्थानीय कार्यकर्ताओं द्वारा किया जाता है। समाज के साथ एक छोटा-सा पुस्तकालय भी है। इस समाज ने यहाँ ईसाइयों के प्रचार का प्रतिकार करने का प्रयास किया है।

रतलाम—यह समाज रतलाम रेलवे स्टेशन से एक मील की दूरी पर है और १९१० ई० में स्थापित हुआ था। इसके संस्थापक और पहले प्रधान पण्डित देवप्रकाश थे। उन्होंने इस क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार बड़े उत्साह और निष्ठा के साथ किया।

आर्यसमाज भोपाल—इसकी स्थापना १९०४ ई० में श्री लक्ष्मीशरण और मन्नूलाल बिस्मिल ने की थी। उस समय भोपाल मुसलिम राज्य था। इसमें नवाबी शासन था। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना खुले रूप में नहीं की जा सकती थी। अतः यहाँ आर्यसमाज का कार्यक्रम **मित्र सभा** के नाम से आरम्भ किया गया। मित्र सभा में उसी कार्यक्रम का अनुसरण किया जाता था जो आर्यसमाजों के लिए सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित किया गया था। प्रति रविवार को समाज के सदस्यों के घरों पर साप्ताहिक सत्संगों में सन्ध्या, हवन, प्रार्थना, प्रवचन और व्याख्यान होते थे। समाज का केवल एक कार्यक्रम, विधर्मियों की शुद्धि, इस राज्य के समीपवर्ती ग्वालियर राज्य के प्रदेश में किया जाता था।

इस समाज की स्थापना में तीन व्यक्तियों ने विशेष भाग लिया। श्री मन्नूलाल बिस्मिल स्वामी दयानन्द के परमभक्त थे और उन्होंने समाज की स्थापना में गहरी

दिलचस्पी ली। वे समाज के पहले प्रधान चुने गये। इनके प्रमुख सहयोगी लाला नन्द-किशोर तथा श्री नौबतराम थे। नौबतराम को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था और वे पुरोहित का भी काम करते थे। स्थापना के पाँच वर्ष बाद समाज का वर्तमान भवन १९०९ में खरीदा गया।

मुसलिम राज्य होने के कारण भोपाल में बड़ी जबर्दस्त पर्दा-प्रथा थी। स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय थी। तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं और विश्वासों के कारण स्त्रियों को शिक्षा से सर्वथा वंचित रखा जाता था और उन्हें शिक्षा देनेवालों को समाज में बहुत बुरी दृष्टि से देखा जाता था। ऐसे समय में १९१३ ई० में भोपाल की मित्र सभा ने अपनी ओर से स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए लड़कियों का स्कूल खोलने का एक बड़ा क्रान्तिकारी निर्णय लिया। कन्या विद्यालय खोल देने पर छात्राओं की समस्या उत्पन्न हुई, क्योंकि तत्कालीन सामाजिक वातावरण में कोई भी व्यक्ति अपनी लड़कियों को विद्यालय में भेजने के लिए तैयार नहीं था। जिन पाँच-छः व्यक्तियों ने बड़ा साहस करके अपनी लड़कियों को विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजा, उनका समाज में बहिष्कार किया गया। यह कन्या पाठशाला भोपाल के मुहल्ला फतेहगढ़ में स्थापित की गयी। इसकी पहली अध्यापिका सुश्री महादेवी वर्मा थीं। उन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन से इस पाठशाला को चलाया और इसी के लिए अपना जीवन समर्पित किया। उनके कारण शनैः-शनैः इस पाठशाला की उन्नति होने लगी। इस पाठशाला के पहले अधिष्ठाता मास्टर कृष्णप्रसाद थे। बाद में इसे हायर सेकण्डरी स्कूल के रूप में परिणत किया गया। आजकल यह इसी रूप में चल रहा है और भोपाल में स्त्री-शिक्षा देनेवाली अच्छी संस्थाओं में गिना जाता है।

मित्र सभा का दूसरा क्रान्तिकारी कदम जातपात के बन्धनों को तोड़कर अन्तर्-जातीय विवाह कराना था। उस समय आर्यसमाज के एक कर्मठ कार्यकर्ता श्री छुट्टूलाल ने अपनी भतीजी की शादी कायस्थ होते हुए भी अन्य जाति के लड़के के साथ की। इससे यहाँ के हिन्दू समाज में बड़ी हलचल मच गयी। इस विवाह में सम्मिलित होनेवाले लोगों का सामाजिक बहिष्कार यहाँ तक कर दिया कि भंगियों ने इनके शौचालय साफ करने बन्द कर दिये और नाइयों ने बाल काटने से मना कर दिया। किन्तु शनैः-शनैः यह बहिष्कार बन्द हो गया और सभी लोग आर्यसमाज के कार्यों में सहायता देने लगे। मित्र-सभा के सहयोग से भोपाल में एक विश्राम कमेटी (मरघट) और हिन्दू अनाथालय का काम शुरू किया गया। इससे पहले हिन्दू अनाथ बालक मुसलिम यतीमखानों में भेजे जाते थे और मुसलमान बना दिये जाते थे।

इस शताब्दी के पहले चार दशकों में मित्र सभा भोपाल राज्य में हिन्दुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा करनेवाली और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली एकमात्र संस्था थी। इस समय इसमें सहयोग देनेवाले प्रमुख आर्य बन्धुओं का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उन्होंने मुसलिम शासकों के कोपभाजन बनने का खतरा मोल लेकर भी अपने धर्म-प्रचार का कार्य बड़ी निष्ठा, लगन, धैर्य और परिश्रम के साथ किया। ऐसे सज्जनों में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री ज्वालाप्रसाद, नन्दकिशोर, गौरीशंकर गौड़, गयाप्रसाद, कृष्णप्रसाद, ठाकुरप्रसाद, कालिकाप्रसाद तथा छुट्टूलाल सक्सेना।

भोपाल में जब हिन्दू महासभा की स्थापना हुई, तो उसके निर्माण में आर्यसमाजियों ने, विशेष रूप से मास्टर लालसिंह ने प्रमुख भाग लिया। सभी राजनैतिक दलों के कार्यकर्ताओं ने सामाजिक कार्य करने की पहली शिक्षा आर्यसमाज से ग्रहण की। जब १९३९ में हैदराबाद का आर्य सत्याग्रह-संग्राम आरम्भ हुआ तो मुसलिम शासन की कड़ी दृष्टि होते हुए भी हैदराबाद जानेवाले सत्याग्रहियों के लिए रेलवे स्टेशन पर मित्र-सभा ने भोजन आदि की सुव्यवस्था की और एक युवक महीपाल पथिक को हैदराबाद-सत्याग्रह में भाग लेने के लिए भी भेजा। १९४७ में स्वतन्त्रता मिलने के बाद मित्र सभा का नाम बदलकर आर्यसमाज कर लिया गया। अन्यत्र इस बात की चर्चा की गयी है कि भोपाल शासन ने किस प्रकार सीहोर में सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाया और समाज ने उसके विरुद्ध सफल आन्दोलन करके उसे शीघ्र ही रद्द करवाया।

आर्यसमाज उज्जैन की स्थापना सन् १९०६ में हुई थी। इसका श्रेय श्री जगन्नाथ को है। इनकी प्रेरणा से श्री नारायण प्रसाद भार्गव समाज के प्रधान और डॉक्टर महावीरसिंह समाज के मन्त्री बनाये गये। इनके प्रयास से १९१७ में उज्जैन आर्यसमाज के भवन का निर्माण किया गया। उज्जैन आर्यसमाज ने वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार के लिए अनेकविध कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक चलाया है।

अस्पृश्य जातियों और अछूतों की उन्नति के लिए इस समाज ने दलित वर्ग की शिक्षा के लिए एक संस्था चलायी और शिक्षा द्वारा इनकी सामाजिक उन्नति का प्रयास किया। वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रति रविवार को साप्ताहिक सत्संग किये जाते हैं, जिनमें वेदपाठ तथा वैदिक मन्त्रों का स्वाध्याय होता है, वैदिक साहित्य के वितरण और विक्रय की योजना भी वहाँ चलायी गयी है। आर्यसमाज का पुस्तकालय इस प्रदेश के पुस्तकालयों में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अतिरिक्त विभिन्न धर्मों की पुस्तकों की संख्या तीन हजार है और ये निःशुल्क रूप से पढ़ने के लिए दी जाती हैं। संस्कृत का प्रचार और प्रसार करना इस समाज का प्रधान लक्ष्य रहा है। उज्जैन आर्यसमाज द्वारा संस्कृत पढ़ाने के लिए शिविरों का निःशुल्क आयोजन समय-समय पर किया जाता है और संस्कृत की शिक्षा सुप्रसिद्ध विद्वानों द्वारा दी जाती है।

हरिद्वार और प्रयाग के कुम्भ मेलों की भाँति उज्जैन में सिंहस्थ मेले प्रति बारह वर्ष बाद सम्पन्न होते हैं और इनमें देश के सभी भागों के नर-नारी धर्म-भावना से प्रेरित होकर बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं। इन मेलों में प्रचार के महत्त्व को अनुभव करते हुए प्रत्येक सिंहस्थ मेले पर आर्यसमाज की ओर से प्रचार-शिविरों का आयोजन होता है। इनमें चतुर्वेद पारायण यज्ञ, वैदिक प्रवचन, भजन, कीर्तन, प्रदर्शन, चिकित्सालय आदि के साधनों से आर्यसमाज का सशक्त प्रचार एवं प्रसार किया जाता है।

गोरक्षा आन्दोलन में भी इस समाज ने उल्लेखनीय योगदान दिया है, गोरक्षा पर एक पुस्तक का प्रकाशन भी किया है। रोगियों की सेवा और चिकित्सा के साथ-साथ एक ऐसा अभिनव कार्यक्रम आयोजित किया है कि जिसमें जिला चिकित्सालय के रोगी व्यक्तियों को प्रतिमास एक रविवार के दिन फल-वितरण के साथ वैदिक साहित्य का भी निःशुल्क वितरण किया जाता है।

इस समाज की ओर से आर्यवीर दल और योग-शिविर का एवं महिला आर्य-

समाज का भी सत्संग नियमित रूप से लगाया जाता है। इस समाज के ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध कार्यकर्ताओं में स्वामी आत्मदेव वानप्रस्थ (पूर्व नाम—पण्डित बसन्तीलाल वैद्य) उल्लेखनीय हैं। १९२८ से वह समाज के कार्य में निरन्तर व्यापृत रहे। श्री रवि वर्मा आर्य तथा पण्डित नानूराम आर्य ने भी इस समाज की बड़ी सेवा की है।

आर्यसमाज होशंगाबाद—नर्मदा नदी के किनारे अवस्थित होशंगाबाद में आर्यसमाज की स्थापना पंजाब एवं उत्तरप्रदेश से आये हुए आर्य सज्जनों द्वारा १९०८ में हुई थी। सन् १९१२ में यहाँ गुरुकुल स्थापित हुआ। उस समय पण्डित रामलाल शास्त्री के सहयोग से इसका कार्य अच्छा चलता रहा। श्री भण्डारी के यहाँ आगमन पर उन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाया और इसमें उनके सहयोगी श्री जायसवाल वकील थे। समाज-मन्दिर के लिए श्री यदुनन्दनलाल अवस्थी की माताजी ने एक भवन दान दिया। इस समाज के अन्य उल्लेखनीय कर्मठ कार्यकर्ताओं में श्री नर्मदाशंकर कावरा वकील और श्री मनमोहन चौधरी थे।

आर्यसमाज बड़नगर—ग्वालियर राज्य में स्थित बड़नगर में आर्यसमाज की स्थापना २७ जनवरी, १९१५ को हुई थी। उस समय यहाँ पौराणिक पण्डितों का बोल-बाला था। वे आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे, किन्तु नगर के प्रतिष्ठित सज्जन श्री राधाकृष्ण इस दिशा में आगे बढ़े और इनके साहस और लगन को देखकर अन्य अनेक सुधारप्रेमी सज्जन इनका साथ देने को तैयार हुए। पण्डित लाल दीवान जी द्वारा आर्यसमाज बड़नगर का उद्घाटन-उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया। आरम्भ में समाज का कोई अपना भवन न होने के कारण किराये का मकान ले लिया गया, और वहाँ से नगर के समीपवर्ती गाँवों में भी वैदिक धर्म का सन्देश फैलाया जाने लगा। किन्तु आर्यसमाज के प्रचार की वृद्धि के साथ विरोधियों ने इसके काम में बड़ी बाधाएँ उपस्थित कीं, और उन्होंने मकान-मालिक पर दबाव डालकर उस मकान को खाली करवा लिया, जिसमें आर्यसमाज के कार्यकलाप हो रहे थे। बाद में समाज का अपना भवन बनवा लिया गया (सन् १९१८), जिसके निर्माण में श्री राधाकृष्ण, श्री प्रतापचन्द्र और श्री नारायण प्रसाद ने विशेष उद्योग किया।

इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर देश के अन्य भागों की भाँति यहाँ भी इन्फ्लुएञ्जा की महामारी का भीषण प्रकोप हुआ। संकट के इस समय में जनता की सेवा के लिए यहाँ के मन्त्री श्री राधाकृष्ण ने **आर्य सेवा समिति** का निर्माण किया और उसमें उत्साही तथा सेवा की भावना से सम्पन्न नवयुवकों को भर्ती किया। आर्यसमाज ने सेवा-समिति के माध्यम से नगर में और ग्रामीण क्षेत्रों में इन्फ्लुएञ्जा से पीड़ित रोगियों के लिए दवा-दारू, पानी, पथ्य आदि सब प्रकार की सहायता का कार्य-संचालन बड़ी क्षमता और सफलता के साथ किया। बड़नगर की आर्य सेवा समिति की सेवाओं की जनता ने बड़ी सराहना की। ग्वालियर के महाराजा श्रीमन्त माधव राव ने इसके कार्य की प्रशंसा करते हुए इसे बड़ी उदार आर्थिक सहायता दी।

इस आर्यसमाज ने १९३७ में बंग्रेड ग्राम में गलगल महादेव पर चढ़ायी जाने-वाली पशुबलि के विरोध में प्रबल आन्दोलन किया। इसके परिणामस्वरूप कई मन्दिरों में देवी-देवताओं पर बकरे और भैंसे काटकर चढ़ाना जनता ने बन्द कर दिया। इसके साथ ही इस समाज ने शुद्धि का कार्य भी किया। शुद्धि-संस्कार के समय

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों के लोग उपस्थित होकर शुद्ध हुए व्यक्ति के हाथ से जलपान करते थे और उसे गले लगाते थे। आदर्श नागरिक के निर्माण तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार की दृष्टि से १९३७ में श्री दयानन्द वैदिक पाठशाला का आरम्भ किया गया। इसमें छात्रों को बचपन से संयमी, स्वावलम्बी तथा धर्मनिष्ठ बनने की शिक्षा दी जाती थी। इस पाठशाला की विशेषता यह थी कि इसमें सवर्ण तथा अस्पृश्य जातियों के बच्चे एकसाथ पढ़ते थे और न केवल हिन्दू जाति के, अपितु मुसलमानों के बालक भी इस विद्यालय से लाभ उठाते थे। निर्धन छात्रों को पुस्तकें, पट्टी, दवात, कलम, कागज, स्याही आदि पाठ्य-सामग्री निःशुल्क दी जाती थी। सभी श्रेणियों के बच्चों के लिए शिक्षा मुफ्त थी।

इस समाज में १-६-४० को आर्यवीर दल स्थापित किया गया ताकि नवयुवकों में सेवा की भावना उत्पन्न की जाय और उनकी शारीरिक उन्नति तथा मानसिक एवं बौद्धिक विकास तथा चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया जा सके। इस समाज ने अनाथों और अपंगों की सेवा का भी कार्य अपने हाथ में लिया। आर्यसमाज बड़नगर की ओर से १७ अनाथ बालक-बालिकाएँ अजमेर के अनाथालय में समुचित शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजे गये। इस आर्यसमाज का एक उल्लेखनीय कार्य निकटवर्ती स्थान ढोलाना में ईसाई प्रचारकों से टक्कर लेना और उनके प्रचार को बन्द कराना था। ठिकाना मुलथान (रियासत धार)के ढोलाना गाँव में ईसाइयों ने एक ऐसी योजना तैयार की, जिससे ढोलाना और समीपवर्ती ग्रामों के सब निवासी ईसाई बन जाएँ। यहाँ धार से प्रतिदिन ईसाई प्रचारक भेजे जाते थे। वे ग्रामीण लोगों में मिठाई बाँटकर और रुपयों का लालच देकर बलाई जाति के नवयुवकों को जब ईसाई बनाने में सफल हुए, तो आर्यसमाज बड़नगर को इस बात की सूचना मिली। ईसाई प्रचारकों का प्रतिरोध करने के लिए बड़नगर से १२ जुलाई, १९४० को आर्यसमाज का प्रचारक मण्डल ढोलाना गया। इसमें श्री कन्हैलालाल तथा पण्डित सुखदेवाचार्य थे। वहाँ जाकर उन्होंने एक विशाल सभा का आयोजन किया। इसमें ढोलाना गाँव के सभी किसान और बलाई जाति के लोग एकत्र हुए। इनके साथ बातचीत करने पर उनके कष्टों का और उनपर होने वाले अत्याचारों का जब पता लगा, तो आर्यसमाज ने इन्हें बन्द करने का प्रयास किया। आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं के प्रचार और प्रयत्न से ईसाई हुए बलाई पुनः शुद्ध हो गये और किसी भी दण्ड के बिना बलाई जाति में सम्मिलित कर लिये गये। उस समय तक ढोलाना में बलाई जाति के लोगों के लिए पानी की व्यवस्था भी नहीं थी। आर्यसमाज के प्रचारक-मण्डल ने इसकी समुचित व्यवस्था कर दी। आर्यसमाज के प्रचारकों का जब ईसाई प्रचारकों से सामना हुआ तो उन्होंने बातचीत में यह स्वीकार किया कि उन्हें केवल अपनी रोटी के लिए यह प्रचार करना पड़ता है। आर्यसमाज के प्रचारक-मण्डल द्वारा ईसाइयत पर की गयी शंकाओं और प्रश्नों से परेशान होकर ईसाई प्रचारक ढोलाना छोड़कर अन्यत्र चले गये।

बड़नगर आर्यसमाजने सामाजिक सुधारों की ओर विशेष ध्यान दिया। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बेमेल विवाहों से हिन्दू जाति को जो भीषण हानि पहुँच रही थी, उसे रोकने के लिए इन विवाहों के विरोध में प्रबल प्रचार किया। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मृतक भोज की हानिकर पद्धति प्रचलित थी। इसे यहाँ नुक्ता या मोसर कहा जाता था।

यद्यपि ग्वालियर राज्य द्वारा बनाये गये नुक्ता कानून से मृतक भोज की पद्धति को रोकने का प्रयास किया गया था, फिर भी पुरानी रूढ़ि होने के कारण यह कुप्रथा इस प्रदेश में बनी हुई थी। जाति के पंच लोग निर्धनों और अनाथ विधवाओं से भी मोसर करवाते थे और इन्हें इस कारण कर्ज के बोझ में बुरी तरह दबना पड़ता था। आर्यसमाज ने इन कुप्रथाओं के विरुद्ध यहाँ घोर आन्दोलन किया और विधवा-विवाह की प्रथा को प्रोत्साहित किया। आर्यसमाज की ओर से अनेक विधवा-विवाह कराये गये, और एक 'विधवा विवाह समाज' स्थापित की गयी। हैदराबाद-सत्याग्रह होने पर इस समाज ने उसमें धन-जन की सहायता की। बड़नगर रेलवे स्टेशन से होकर जानेवाले प्रत्येक आर्य नेता और जत्थे का समाज द्वारा स्वागत किया जाता था और उसे थैली भेंट की जाती थी। हैदराबाद के सत्याग्रहियों को ले-जानेवाली देवेन्द्र स्पेशल ट्रेन जब बड़नगर आयी, तो इसके ४० सत्याग्रहियों को यहाँ ठहराकर नगर में उनसे खूब प्रचार कराया गया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राजस्थान में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार

(१) राजस्थान में आर्यसमाज का बीजारोपण

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन के अन्तिम भाग को राजस्थान के देशी रजवाड़ों के सुधार हेतु समर्पित किया था। इससे पूर्व वह तीन बार राजस्थान की यात्रा कर चुके थे। प्रथम बार तो उनका इस प्रान्त में आगमन उस समय हुआ था जब वह मथुरा में दण्डी विरजानन्द की पाठशाला से अध्ययन समाप्त करके कुछ दिन आगरा तथा ग्वालियर में रहने के पश्चात् १८६५ ई० में करौली तथा गंगापुर होकर जयपुर आये। यहाँ से बगरू और दूइ होते हुए वह अजमेर आये। वहाँ से पुष्कर गये। पुनः अजमेर लौटकर उन्होंने ईसाई पादरी जॉन टॉबसन से शास्त्रार्थ किया, अजमेर के ब्रिटिश अधिकारी कर्नल ब्रुक (एजेण्ट टु दि गवर्नर जनरल)से गोरक्षा पर वार्तालाप किया। पुनः किशनगढ़ तथा जयपुर में कुछ दिन रहकर आगरा चले गये।

इस समय तक महर्षि एक जिज्ञासु संन्यासी तथा धर्म-प्रचारक के रूप में देश-भ्रमण कर रहे थे। तथापि उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि शैव, वैष्णव, शाक्त आदि पुराणानुवर्ती सम्प्रदायों के पारस्परिक वैर-विरोध तथा संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण ही देश के जनसमुदाय का हित-साधन करना कठिन हो रहा है। इस समय वह साम्प्रदायिक आचार-विचार तथा अन्धनिष्ठाओं पर अपना खण्डन-कुठार चलाते रहे।

उनकी दूसरी राजस्थान-यात्रा १८७८ में हुई। इस समय तक वह आर्यसमाज के संस्थापक, लोकप्रिय धर्म-सुधारक तथा देश के सर्वमान्य जननेता के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे। महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब जैसे जागरूक प्रान्तों का विस्तृत भ्रमण कर वह यह जानकारी भी ले चुके थे कि इन प्रान्तों में समाज, धर्म तथा देश के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए किस-किस प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं। उपर्युक्त प्रान्तों की तुलना में राजस्थान पर्याप्त पिछड़ा प्रान्त था। प्रथम तो देशी राजाओं के अधीन होने के कारण वहाँ के निवासी मध्यकालीन सामन्ती जीवन के अभिशाप से अपने-आपको मुक्त नहीं करा सके थे। साथ ही, शिक्षा, संस्कृति तथा नवयुग की चेतना का स्पर्श भी राजस्थानवासियों को उस अनुपात में प्राप्त नहीं हो रहा था, जिस मात्रा में वह ब्रिटिश भारत के वासियों में उपलब्ध था। इस बार भी महर्षि ७ नवम्बर, १८७८ को अजमेर आये और शीघ्र ही पुष्कर के कार्तिकी मेले में भाग लेने के लिए चले गये। प्रथम बार के पुष्कर-निवास में उनका डेरा ब्रह्मा जी के सुप्रसिद्ध मन्दिर में लगा था, किन्तु इस बार वह जोधपुर घाट पर नाथजी की दलेची (बरामदे) में ठहरे। सप्ताह-भर पुष्कर में ठहरकर वह पुनः अजमेर आ गये। यहाँ १४ नवम्बर को ईसाई प्रचारक

डॉक्टर हसबैन्ड से उनका लिखित शास्त्रार्थ हुआ। मसूदा के राव बहादुरसिंह से उनकी भेंट भी अजमेर में ही हुई। रावसाहब महर्षि के स्नेहसूत्र में इस प्रकार बँधे कि जीवन-पर्यन्त वह उनके अनुयायी, भक्त एवं प्रशंसक बने रहे। राजस्थान से इस बार लौटते समय भी वह जयपुर ठहरे, किन्तु महाराजा जयपुर से उनकी भेंट नहीं हो सकी।

महर्षि का तृतीय बार का राजस्थान-आगमन १८८१ ई० में हुआ। इस बार जब वह अजमेर आये तो वहाँ पर आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। यहाँ आर्य-समाज के साप्ताहिक सत्संगों में उन्हें प्रवचन करने का अवसर भी मिला। पुनः वह मसूदा तथा चित्तौड़ होते हुए बम्बई चले गये। अन्तिम बार वह १० अगस्त, १८८२ को उदयपुर आये और एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक राजस्थानवासियों के सर्वतोमुखी-जागरण-हेतु प्रयत्न करने के अनन्तर ३० अक्टूबर, १८८३ को उन्होंने राजस्थान में ही अपनी जीवनलीला समाप्त की। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि महर्षि ने अपने जीवन के बहुमूल्य समय को राजस्थान में क्यों लगाया? सम्भवतः, वह सोचते थे कि यों तो सारा भारत ही विदेशी शासन के अधीन होने के कारण अपना विगतकालीन गौरव खो बैठा है, किन्तु राजस्थान के क्षत्रिय राजाओं में स्वधर्म, स्वभाषा तथा स्व-संस्कृति के प्रति बहुत-कुछ अनुराग और निष्ठा शेष है। ऐसी स्थिति में यदि इन स्वदेशी राजाओं के स्वाभिमान तथा आत्म-गौरव को उद्बुद्ध किया जाय तो कोई कारण नहीं कि इनके माध्यम से राजस्थानी जनजीवन में नवीन चेतना का संचार न हो।

राजस्थान की रियासतों के एकीकरण के पूर्व वहाँ लगभग २१ रियासतें पृथक् रूप से अपना अस्तित्व रखती थीं। इनमें से महर्षि को मुख्य रूप से जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर में जाने का ही सुयोग मिला था। वे स्वल्पकाल के लिए करौली, भरतपुर, किशनगढ़ तथा शाहपुरा भी रहे थे। उन दिनों अजमेर तथा उसका निकटवर्ती प्रदेश अंग्रेजी सत्ता के अधीन था, तथापि धर्म, समाज तथा संस्कृति की दृष्टि से इस प्रदेश का जनजीवन भी समीपवर्ती देशी रजवाड़ों के लोगों के जीवन से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं था। महर्षि को बीकानेर, कोटा तथा अलवर आदि राज्यों में जाने का सुयोग नहीं मिला और न वे राजस्थान के सुदूरवर्ती पश्चिमी प्रदेश जैसलमेर का ही भ्रमण कर सके।

(२) राजस्थान में आर्यसमाज की प्रगति (सन् १९०० तक)

जयपुर राज्य—महर्षि दयानन्द के निधन के पश्चात् राजस्थान में आर्यसमाज के कार्य की गति जिस प्रकार प्रवहमान रही, उसका लेखा-जोखा करना आवश्यक है। सर्वप्रथम, हमारा ध्यान राजस्थान की सर्वाधिक सम्पन्न रियासत जयपुर की ओर जाता है। महर्षि ने एकाधिक बार जयपुर की यात्रा की थी। प्रथम बार के अपने जयपुर आगमन के समय तो उन्होंने शैवों और वैष्णवों के संघर्ष में शैवमत का ही समर्थन किया था, किन्तु कालान्तर में जब सभी प्रकार की साम्प्रदायिक उपासना-पद्धतियों के प्रति उनका रुख अधिक कठोर हो गया, तो राज्य के कट्टरपंथी पौराणिक पण्डितवर्ग ने उन्हें महाराजा रामसिंह से भेंट करने का अवसर ही नहीं दिया। किन्तु जयपुर के सामान्य-जन तथा कई प्रमुख जागीरदार महर्षि की शिक्षाओं के प्रति अत्यधिक सहानु-भूतिप्रवण तथा संवेदनशील थे। उन्होंने यथाशक्य आर्यसमाज की शिक्षाओं का अपने-

अपने क्षेत्रों में प्रचार एवं प्रसार करने में उल्लेखनीय योगदान भी किया था।

जयपुर के निकटवर्ती ठिकाने अचरोल के ठाकुर रणजीतसिंह तो महर्षि के सम्पर्क में आकर उनके भक्त बने ही थे, ठाकुर साहब के निधन (१८७८ ई०) के पश्चात् उनके पुत्र ठाकुर लक्ष्मणसिंह की भी आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति अनुरक्ति पिता के तुल्य ही रही। महर्षि की तृतीय बार की जयपुर-यात्रा (१८७८) के समय ठाकुर लक्ष्मणसिंह ने प्रयत्न किया था कि महाराजा रामसिंह से महर्षि की भेंट हो जाये, किन्तु पुरोहितवर्ग के कूटनीतिक षड्यन्त्र के कारण ऐसा अवसर नहीं आ सका। १८८३ में जब ठाकुर लक्ष्मणसिंह का निधन हो गया तो उनके अनुज ठाकुर रघुनाथसिंह अचरोल ठिकाने की गद्दी पर बैठे। ठाकुर रघुनाथसिंह को भी महर्षि का सत्संग-लाभ करने का अवसर मिल चुका था। जिस समय रामगढ़ (जिला सीकर) के योगी कालूरामजी के प्रयत्नों से जयपुर में वैदिक धर्मसभा की स्थापना हुई और इसी सभा के माध्यम से आर्यसमाज का कार्य होने लगा, तो पौराणिक वर्ग का विरोध भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा। कालान्तर में जब वैदिक धर्मसभा को आर्यसमाज घोषित कर दिया गया, तो पौराणिकों के प्रभाव में आकर तत्कालीन महाराजा माधोसिंह ने आर्यसमाजियों को अपने राज्य से निकालने की धमकी दी। इसपर ठाकुर रघुनाथसिंह ने दृढ़तापूर्वक महाराजा से कहा कि मैं आर्य हूँ और महर्षि दयानन्द का भक्त हूँ। यदि देशनिकाला देना है, तो पहले मुझे ही अपने राज्य से निष्कासित कीजिये। ठाकुर साहब की इस दृढ़ नीति का समुचित असर हुआ और आर्यसमाजियों को प्रताड़ित करने की नीति समाप्त हो गयी।

जयपुर में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का प्रथम सूत्रपात करने का श्रेय रामगढ़-(शेखावाटी)-निवासी पण्डित कालूराम को है। पण्डित कालूराम का जन्म सीकर जिले के रामगढ़ नामक कस्बे में ६, मई १८३६ को एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कहते हैं कि कालूराम जी को महर्षि का प्रथम दर्शन स्वप्नावस्था(तन्द्रावस्था) में हुआ था तथा उन्होंने महर्षि के इसी अवस्था में दिये गये उपदेश को स्वीकार कर प्रणवोपासना तथा योगाभ्यासों में अपने-आपको लगाया। कालान्तर में वह महर्षि से प्रत्यक्ष रूप से भेंट करने हेतु मेरठ गये तथा १८७७ को जनवरी में उन्हें महर्षि के दर्शन तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व उनका महर्षि से पत्राचार भी हुआ था। जून, १८८७ में पण्डित कालूराम जयपुर आये तथा अचरोल के ठाकुर रणजीतसिंह, जयपुर राज्य के मन्त्री ठाकुर नन्दकिशोरसिंह तथा अचरोल ठिकाने के ही कामदार श्री हीरालाल कायस्थ आदि के सहयोग से १६ जून, १८७७ को वैदिक धर्मसभा की स्थापना की। इस सभा के अधिवेशन पीतलियों के चौक में एक किराये के मकान में होने लगे। जयपुर राज्य-शासन के प्रत्यक्ष विरोध के कारण उस समय प्रत्यक्षतया आर्यसमाज के नाम से वैदिक धर्म-प्रचार करना अशक्य समझकर ही वैदिक धर्म-सभा की स्थापना की गयी थी।

इस समय तक वैदिक धर्म-सभा की प्रवृत्तियाँ सन्ध्या एवं हवन तक ही सीमित थीं। महर्षि दयानन्द द्वारा संचालित गोरक्षा-अभियान में भी इस सभा ने पूरा योगदान किया तथा गोरक्षा की अपील पर सहस्रों लोगों के हस्ताक्षर कराये। अन्ततः २८ मार्च, १८८२ से वैदिक धर्म-सभा को आर्यसमाज के नाम से अभिहित किया जाने लगा तथा स्थान-स्थान पर उसके द्वारा धर्मप्रचारार्थ प्रयत्न होने लगा। मार्च, १८८२ में पण्डित

कालूराम जयपुर आये और नवग्रहों की बगीची में उतरे। ठाकुर नन्दकिशोरसिंह, ठाकुर लक्ष्मणसिंह, पण्डित गोपीनाथ तथा सेठ गंगाप्रसाद आदि नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों ने उनका स्वागत किया। पण्डितजी के उपदेश नगर में होने लगे। लोगों में पण्डित कालूराम की ओजस्विनी विचारधारा की सर्वत्र चर्चा थी। इसी समय थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापकद्वय—कर्नल एच. एस. ऑल्काट तथा श्रीमती एच. पी. ब्लैवेट्स्की जयपुर आये। कर्नल और मैडम ने पठित वर्ग में अपने चमत्कारों की धूम मचा रखी थी। उनका दावा था कि वे स्वर्ग से मनोवांछित वस्तुएँ मँगा सकते हैं। सेठ गंगाप्रसाद को जब थियोसोफी के प्रवर्त्तकों का यह मत विदित हुआ तो उन्होंने कर्नल व मैडम से आग्रह किया कि वे महात्मा कालूराम से चमत्कारों के औचित्य पर शास्त्रार्थ करें। कर्नल और मैडम ने यह कहकर शास्त्रार्थ की बात टालनी चाही कि पण्डित कालूराम अंग्रेजी नहीं जानते, अतः उनसे वार्तालाप करना कठिन होगा। अन्ततः ठाकुर नन्दकिशोरसिंह को दुभाषिये के रूप में नियुक्त किया गया।

तत्पश्चात् विधिवत् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। जब पण्डित कालूराम ने विषय की प्रस्तावना करते हुए कहा कि स्वर्ग किसी अज्ञात लोक का नाम नहीं है, यदि कोई ऐसा स्थान है भी तो वहाँ से किसी वस्तु का मँगाना सम्भव नहीं है, और सृष्टि-नियम के विपरीत कोई कार्य नहीं होता, अतः आपका स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि कराना आदि मिथ्या ही है। शास्त्रार्थ का अन्त तब जाकर हुआ जब पण्डित कालूराम जी ने कहा कि स्वर्ग की बात छोड़िये, हमारे एक भक्त की स्त्री का घाघरा (अधोवस्त्र) खो गया है, आप उसे ही मँगा दें, तो हम आपकी प्रतिज्ञा को सत्य मान लेंगे। पण्डित जी की इस स्पष्टोक्ति को सुन-कर कर्नल व मैडम निरुत्तर होकर वहाँ से जाने लगे तो उपस्थित बालकों ने करतल-ध्वनि कर दी। किन्तु समझदार लोगों ने उन्हें ऐसा करने से रोका। इस विचित्र शास्त्रार्थ में लोगों को पण्डित कालूराम की प्रत्युत्पन्नमति का उदाहरण देखने को मिला और उनके दर्शनार्थ जयपुरवासियों की भीड़ उमड़ पड़ी।

पण्डित कालूराम ने राजस्थान के पश्चिमी जिलों में वैदिक धर्म-प्रचारार्थ अनेक यात्रायें कीं तथा विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित किये। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाजों में फतहपुर (जिला सीकर), दुजार(जिला नागौर), सुजानगढ़ (जिला चूरू), टमकोर (जिला झुंझुनू), बिसाऊ (जिला झुंझुनू) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रदेश में उन्होंने कुल ३० स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की थी। ७ जून, १९०० को पण्डित कालूराम का रामगढ़ में निधन हुआ। उनकी स्मृति में प्रतिवर्ष रामगढ़ में एक बड़ा मेला लगता है।

जयपुर में आर्यसमाज के प्रारम्भकाल के कार्यकर्ताओं में ठाकुर नन्दकिशोरसिंह का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। वह मूलतः उत्तरप्रदेश के कासगंज नगर के निवासी थे और जयपुर राज्य की कौंसिल के मन्त्री-पद पर वर्षों तक प्रतिष्ठित रहे। वह हिन्दी, संस्कृत व अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। महर्षि दयानन्द से उनका विस्तृत पत्र-व्यवहार होता रहता था। जयपुर के निकटवर्ती ठिकाने चौमू के स्वामी ठाकुर गोविन्दसिंह जी भी महर्षि दयानन्द की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। जब जयपुर-नरेश ने १८८२ में आर्यसमाजियों को अपने राज्य से बाहर निकल जाने का आदेश दिया था, उस समय ठाकुर गोविन्दसिंह ने महाराजा को समझाकर इस आदेश पर कार्यवाही रुकवा

दी थी। महर्षि को इस घटनाक्रम की सूचना मिल गयी थी। उन्होंने मुंशी बिहारीलाल को लिखे अपने पत्र में इस सम्बन्ध में लिखा था—"आप लोग धर्म में दृढ़ रहिये कि जिसका फल आनन्द ही होगा।...जिनका सहाय धर्म है उसी का सहाय परमेश्वर है। जब बुरे बुराई न छोड़ें तो भले भलाई क्यों छोड़ें।"

उस समय के अन्य कार्यकर्ताओं में मुंशी बिहारीलाल, मुंशी श्यामसुन्दरलाल, डॉक्टर किशनलाल तथा मुंशी जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भ में आर्यसमाज जयपुर के कार्यक्रम पृथक्-पृथक् गृहों में होते रहे। अन्त में १८८८ ई० में कृष्णपोल-बाजार (अजमेरी गेट के भीतर) में एक भवन आर्यसमाज-मन्दिर के लिए क्रय किया गया। इसी समय से आर्यसमाज की सभी प्रवृत्तियों का संचालन आर्यसमाज-मन्दिर में ही होने लगा। जयपुर राज्य के अन्य कस्बों और ग्रामों में आर्यसमाज की स्थापना बहुत बाद में हुई। गत शताब्दी के अन्त तक केवल परवटा, खाचरियावास, बाँदीकुई, रामगढ़ तथा जोवनेर में ही आर्यसमाज स्थापित होने का उल्लेख मिलता है।

ठाकुर अचरोल की ही भाँति जयपुर राज्य के अन्तर्गत जोबनेर के ठाकुर रावल कर्णसिंह भी आर्यसमाज के प्रति अत्यन्त समर्पित तथा आस्थावान थे। रावल कर्णसिंह को महर्षि का साक्षात् दर्शन करने का अवसर सम्भवतः अजमेर में ही मिला था, क्योंकि उस समय वह विद्यार्थी के रूप में मेयो कॉलिज में अध्ययनरत थे। जब महर्षि के निधन का समाचार १६ वर्षीय युवक कर्णसिंह को मिला तो उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य घोषित करते हुए कहा—

दयानन्दोद्देश्य पूर्त्यर्थं आत्मानं समर्पयामि।

उनकी इस अनोखी प्रतिज्ञा को सुनकर उनके सहपाठी राजकुमारों ने उनका उपहास किया, किन्तु रावल जी अपनी बात पर दृढ़ रहे। कालान्तर में ठाकुर कर्णसिंह को जब अपने ठिकाने का अधिकार मिला, तो उन्होंने क्षत्रिय जाति की उन्नति के लिए १८९३ ई० में क्षत्रिय ऐंग्लो-संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। वह राजस्थान के राजपूतों में व्याप्त मांसाहार, मदिरापान, बहुविवाह, वेश्यागमन आदि कुरीतियों का उन्मूलन करना चाहते थे। 'राजस्थान के क्षत्रियों के चाल-चलन पर एक सरसरी निगाह' शीर्षक से उनकी एक पुस्तक १९५० विक्रमी में प्रकाशित हुई, जिसके मुख-पृष्ठ पर रावल जी ने स्वलिखित निम्न दोहा प्रकाशित कर महर्षि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी—

राज त्रिलोकी को हमें मिलणो छै आसान।
गुरु दयानन्द सारखे, मिलणो कठिन जहान॥

ठाकुर कर्णसिंह के शासनकाल में जोबनेर ग्राम आर्यसमाज के प्रचार का केन्द्र बन गया था। उस युग में आर्यसमाज के तत्त्वावधान में अन्य मतावलम्बियों से अनेक शास्त्रार्थ भी हुए। पण्डित लेखराम का रावल कर्णसिंह से अत्यन्त प्रेम था। आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी तथा प्रसिद्ध वाग्मी पण्डित गणपति शर्मा रावल जी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला में तीन वर्ष पर्यन्त अध्यापक भी रहे थे। रावल कर्णसिंह का निधन आषाढ़ शुक्ला ५, संवत् १९६८ विक्रमी में ४४ वर्ष की अल्पायु में हुआ। उनके पुत्र रावल नरेन्द्रसिंह भी आर्यसमाज के प्रति अत्यन्त आस्थाभाव रखते थे। वह परोपकारिणी सभा के सभासद् थे तथा राजस्थान की आर्यसामाजिक गतिविधियों में भाग लेते रहे।

उदयपुर (मेवाड़) राज्य—उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह की महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों के प्रति दृढ़ अनुरक्ति थी। जिस समय महाराणा को १८८१ ई० में अंग्रेज सरकार की ओर से जी० सी० एस० आई० की उपाधि प्रदान की गयी, उस समय इस उपलक्ष्य में चित्तौड़गढ़ में एक बृहत् समारोह का आयोजन हुआ था। महाराणाजी की महर्षि से प्रथम भेंट भी इसी अवसर पर हुई थी। जब ११ अगस्त, १८८२ को महाराणा के आग्रह को स्वीकार कर महर्षि उदयपुर पधारे, तो राजस्थान के इस प्रमुख राज्य के शासनकर्ताओं तथा प्रजावर्ग ने उनका हार्दिक स्वागत किया था। महर्षि ने उदयपुर राज्य में अनेक प्रकार के सुधार-कार्य आरम्भ करने की प्रेरणा युवक महाराणा को दी। उनके उपदेशों से ही मेवाड़ राज्य के शासकीय कार्यों में हिन्दी का प्रचलन वढ़ा। महाराणा ने अपनी दिनचर्या को नियमित किया तथा उनके निकट आकर वह मनुस्मृति, न्यायदर्शन, योगदर्शन तथा महाभारत के कतिपय अंशों का नियमित रूप से अध्ययन करने लगे। महाराणा सज्जनसिंह दीर्घजीवी नहीं हो सके। महर्षि के निधन के एक वर्ष के पश्चात् २६ दिसम्बर, १८८४ को उनका भी निधन हो गया।

इस वात की प्रवल सम्भावना थी, कि यदि महाराणा सज्जनसिंह को कुछ अधिक आयु मिलती तो वह अपने राज्य में आर्यसमाज के प्रचार में अधिक रुचि लेते तथा उनका साहाय्य प्राप्त करके वैदिक धर्म के राज्यव्यापी प्रचार में अधिक तीव्रता आती। महाराणा सज्जनसिंह तथा उनके सामन्तमण्डल के प्रति महर्षि का कितना विश्वास था, यह इसी वात से जाना जाता है कि उन्होंने अपने निधन के पश्चात् अपनी पुस्तकों के प्रचारार्थ तथा स्वकीय वस्त्र, ग्रन्थ, धन और मन्त्रालय आदि का अधिकार जिस परोपकारिणी सभा को प्रदान किया था, उसका सभापति-पद भी महाराणा सज्जनसिंह को ही सौंपा। इसी सभा में उन्होंने वेदला के राव तख्तसिंह, देलवाड़ा के राजराणा फतहसिंह, आसींद के रावत अर्जुनसिंह, तथा उदयपुर के महाराज गजसिंह को सभासद् के रूप में नियुक्त किया। मेवाड़ राज्य के उच्चाधिकार-पद-प्राप्त कविराजा श्यामलदास तथा स्टेट कौंसिल के सदस्य पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या को उन्होंने इस सभा का क्रमशः मन्त्री तथा उपमन्त्री बनाया था।

महर्षि के निधन के पश्चात् पण्ड्या जी उनकी वस्तुओं (धन, पुस्तक, लेखन सामग्री, वस्त्र आदि) का अधिकार लेने के लिए उदयपुर से अजमेर पहुँचे। प्रारम्भिक काल में उदयपुर रहकर ही पण्ड्या जी परोपकारिणी सभा तथा वैदिक यन्त्रालय का संचालन करते रहे थे। महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु के पश्चात् परोपकारिणी सभा का अध्यक्ष-पद उदयपुर के तत्कालीन नरेश महाराणा फतहसिंह को देने का प्रस्ताव उक्त सभा के सम्मुख उपस्थित हुआ था, किन्तु महाराणा फतहसिंह की आर्यसमाज के प्रति अधिक रुचि नहीं थी। मेवाड़ राज्य में आर्यसमाज का प्रारम्भ कालीन प्रचार नगण्य ही रहा। बहुत बाद में स्वामी व्रतानन्द द्वारा चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल की स्थापना की गयी तथा आर्षग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के केन्द्र के रूप में इस विद्या-संस्थान को विकसित करने का प्रयास किया गया।

उदयपुर में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल-पण्ड्या की प्रेरणा से कार्तिक अमावस्या १९४४ विक्रमी (१८८७ ई०) को हुई। प्रारंभिक दिनों में आर्यसमाज के अधिवेशन पण्ड्या जी के निवासस्थान पर ही होते रहे। १८९०

ईसवी में समाज-मन्दिर के लिए भूमि क्रय की गयी, तथा १८९३ ई० में आर्यसमाज का मन्दिर तैयार हुआ। इस कार्य में राव तख्तसिंह वेदला, राजराणा जालिमसिंह देलवाड़ा, ठाकुर मनोहरसिंह सरदारगढ़, ठाकुर गोविन्दसिंह बदनोर, राव सवाई कृष्णसिंह बीजोलिया, मेहता पन्नालालजी सी० आई० ई०, ठाकुर जगन्नाथसिंह मेहता आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। ४ दिसम्बर, १८९३ को स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी नित्यानन्द, पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा मेवाड़ के अन्य अनेक प्रतिष्ठित सरदारों की उपस्थिति में राव कर्णसिंह बेदला ने समाज-मन्दिर का विधिवत् उद्घाटन किया तथा निम्न वक्तृता प्रस्तुत की—

"मैं अपनी प्रसन्नतापूर्वक जाहिर करता हूँ कि सत्य-वेदोक्त धर्मोपदेशक, स्वर्गवासी स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने वेद, जो हमारा अनादि धर्मपुस्तक है, उसके उसूलों को कायम कर इस आर्यभूमि पर समाजें कायम कीं, जिसकी एक शाखा हमारी वीरभूमि मेवाड़ की खास दारुल-सल्तनत (राजधानी) उदयपुर में स्थापन हुई, जिसको खोलने के लिए आप सज्जन मुझको फरमाते हैं। मैं इस कार्य को करने में अपना गौरव समझता हूँ और गुरूर के साथ कहता हूँ कि ऐसी समाजें सब जगह कायम होकर वेदधर्म का पूरा प्रचार होगा तो भारतभूमि की उन्नति के दिन बेशक नजदीक समझना चाहिए। ज्यादातर खुशी मैं यह मानता हूँ कि स्वामी जी (विश्वेश्वरानन्दजी) महाराज और ब्रह्मचारीजी (नित्यानन्दजी) महाराज जैसे महापण्डितों ने देश-विदेश में भ्रमण कर अपने सत्य उपदेश द्वारा हजारों अज्ञानी लोगों को परधर्म अंगीकार करने से बाज़ (पृथक्) रक्खे और उनके उपदेश से वेदधर्म की श्रेष्ठता लोग समझने लगे। मेरे पूज्य पिता राव-बहादुर तख्तसिंह जी ने इस समाज-मन्दिर के बनाने में मदद की और समाज की उन्नति में वे खुशी मानते थे। वैसे मैं भी समाज की उन्नति के लिए कोशिश करूँगा। प्रियवरो, मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि यह समाज-मन्दिर जो मैं आप सज्जन के रू-ब-रू खोलता हूँ उसकी दिन-ब-दिन तरक्की हो और हमारे देश मेवाड़ को उससे फैज पहुँचे।"

शाहपुरा राज्य और आर्यसमाज—राजस्थान के भीलवाड़ा जिले के अन्तर्गत शाहपुरा एक उपखण्ड है। रियासतों के एकीकरण से पूर्व शाहपुरा एक छोटे-से राज्य की राजधानी थी। यहाँ के राजाधिराज नाहरसिंह (१९१२-१९८९ विक्रमी) १९२६ वि० में गद्दी पर बैठे। महर्षि दयानन्द से इनकी प्रथम भेंट चित्तौड़ में उस समय हुई थी, जब उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह को ब्रिटिश सरकार के द्वारा जी० सी० एस० आई० की पदवी दिये जाने के उपलक्ष्य में एक विशिष्ट दरबार का आयोजन किया गया था। इसके पश्चात् राजाधिराज के आग्रहपूर्ण आमन्त्रण पर महर्षि ८ मार्च, १८८२ को शाहपुरा पधारे तथा २६ मई, १८८३ तक वहाँ रहे। इस अवधि में नाहरसिंह जी ने महर्षि से मनुस्मृति, योगदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन का अध्ययन किया। महर्षि की प्रेरणा से ही शाहपुरा की शासनपद्धति में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये तथा राज्य की आर्थिक स्थिति को समुन्नत बनाने के लिए कई उल्लेखनीय कदम भी उठाये गये।

शाहपुरा राज्य ने आर्यसमाज के प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। राज्य की ओर से वैदिक धर्म के प्रचार के लिए ३० रुपये मासिक पर एक उपदेशक की नियुक्ति का भार वहन करने का दायित्व राजाधिराज सर नाहरसिंह ने सहर्ष उठाया

था। कालान्तर में जब शाहपुरा में आर्यसमाज की स्थापना हुई तो राज्य की ओर से उसे सब प्रकार का सहयोग निरन्तर मिलता रहा।

स्वामी नित्यानन्द का धर्म-प्रचार-कार्य—उन्नीसवीं शताब्दी में राजस्थान के रजवाड़ों में आर्यसमाज के प्रचार का श्रेय ब्रह्मचारी नित्यानन्द को भी है। उनका जन्म जालोर के एक श्रीमाली ब्राह्मण-कुल में हुआ। किशोरवस्था में ही इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। गृहत्यागी होकर उन्होंने काशी में गम्भीर शास्त्राध्ययन किया। १८८८ ई० में ब्रह्मचारी नित्यानन्द का शाहपुरा में प्रथम बार आगमन हुआ। राज्य के अतिथि के रूप में इन्हें राजकीय विद्यालय में ठहराया गया। दूसरे दिन 'ईश्वर के अस्तित्व' विषय पर इनका भाषण हुआ जिसमें सर्व-साधारण के अतिरिक्त राजाधिराज नाहरसिंह जी अपने पुत्रद्वय राजकुमार उम्मेदसिंह तथा सरदारसिंह सहित उपस्थित थे। राजाधिराज की ही प्रेरणा से ब्रह्मचारी जी को अजमेर ले-जाया गया, जहाँ उन्होंने २८-२९ दिसम्बर, १८८८ को सम्पन्न हुए परोपकारिणी सभा के चतुर्थ अधिवेशन में उपस्थित होकर भविष्य में सर्वात्मना आर्यसमाज के लिए ही कार्य करने की प्रतिज्ञा की।

इस अधिवेशन में उपस्थित मसूदा के राव बहादुरसिंह स्वामी नित्यानन्द के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुए। वह ब्रह्मचारी जी को अपने साथ मसूदा ले गये, जहाँ उनके तत्त्वावधान में वृहद् यज्ञ तथा उपदेशों का आयोजन हुआ। इसके पश्चात् वह पुनः शाहपुरा आये। शाहपुराधीश श्री नाहरसिंह से ब्रह्मचारी नित्यानन्द का सम्पर्क दृढ़ से दृढ़तर होता गया। जिस वर्ष शाहपुरा के दोनों राजकुमारों का यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ, उस अवसर पर भी राजाधिराज ने ब्रह्मचारी नित्यानन्द तथा उनके अनन्य साथी स्वामी विश्वेश्वरानन्द को सादर आमन्त्रित किया। इस उपलक्ष्य में राजाधिराज ने अपने राज्य के एक गाँव की सम्पूर्ण आय वैदिक धर्म-प्रचारार्थ दिये जाने की घोषणा की। संस्कार की समाप्ति पर ब्रह्मचारी नित्यानन्द ने राजकुमारों को नानाविध उपदेश देकर वेदादिशास्त्रों के अध्ययन एवं तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी। इसी अवसर पर ब्रह्मचारी नित्यानन्द ने राजाधिराज की प्रेरणा से अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पुरुषार्थप्रकाश की रचना की, जो उस युग में सत्यार्थप्रकाश के पश्चात् आर्यसमाज के साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ माना गया। इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग भी स्वामी नित्यानन्द लिख चुके थे, जो दुर्भाग्य से प्रकाशित नहीं हो सका। इसमें लेखक ने राजधर्म का गम्भीर विवेचन किया था।

जनवरी, १८९५ में शाहपुरा के युवराज उम्मेदसिंह जी का विवाह खेतड़ी-नरेश श्री अजीतसिंह की पुत्री श्रीमती सूर्यकुमारी से हुआ। उस समय भी राजाधिराज द्वारा आमन्त्रित होकर ब्रह्मचारी जी ने उपस्थित सामन्तवर्ग को उद्बोधन दिया। स्वामी नित्यानन्द ने राजस्थान के जोधपुर, उदयपुर, शाहपुरा आदि राज्यों में सर्वत्र सम्मान प्राप्त किया था। जोबनेर के रावल कर्णसिंह तो स्वामी जी से संस्कृत भाषा में ही पत्र-व्यवहार करते थे। स्वामी नित्यानन्द का 'वेद संज्ञा विचार' विषय पर बूंदी के राज-पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ था जिसका विवरण 'बूंदी शास्त्रार्थ' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। बूंदी के महाराव ने रुष्ट होकर शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के प्रवक्ता संन्यासी स्वामी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेवशरानन्द को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।

मारवाड़ (जोधपुर) राज्य में आर्यसमाज—महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन

के अन्तिम साढ़े चार मास जोधपुर में व्यतीत हुए थे। वह ३१ मई, १८८३ को जोधपुर आये और १६ अक्तूबर को उन्होंने रुग्णावस्था में इस नगर से आबू पर्वत के लिए प्रस्थान किया था। वह जोधपुर के तत्कालीन नरेश महाराजा जसवन्तसिंह के निमन्त्रण पर मारवाड़ राज्य की इस राजधानी में आये थे। उन्हें आमन्त्रित करने में महाराजा के छोटे भाई विचक्षण राजनीतिज्ञ तथा कुशल प्रशासक कर्नल महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। जब २९ सितम्बर, १८८३ की रात्रि के समय महर्षि को दूध में विष दिया गया, तो उस समय किसे पता था कि पूरे एक मास के पश्चात् ही यह महापुरुष परलोक के लिए प्रस्थान कर जायेगा!

जिस समय महर्षि जोधपुर आये, इस राज्य में अज्ञान, अविद्या तथा पाखण्डों का बोल-बाला था। तत्कालीन राजपूताना की सबसे बड़ी रियासत जोधपुर राजस्थान के पश्चिमी भाग में स्थित है। इसका अधिकांश भाग मरुस्थल है। यहाँ राठौड़ वंश के राजपूतों का शासन था। उन दिनों जोधपुर तक रेलमार्ग भी नहीं बन सका था, अतः आवागमन के साधन बहुत न्यून तथा असुविधाजनक थे। राज्य की अधिकांश प्रजा मध्य-युगीन सामन्ती जीवन व्यतीत कर रही थी तथा यहाँ के लोग पुरातन रूढ़ियों, अंध-विश्वासों तथा मूढ़तापूर्ण धारणाओं को लेकर ही जी रहे थे। जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्तसिंह विलासी, वेश्यागामी, मदिरासक्त तथा चापलूसी-पसन्द थे, जिनके दरबार में षड्यन्त्रकारी एवं कुपथगामी लोगों की भरमार थी। बहुविवाह तो सामन्ती जीवन-पद्धति का एक नियमित अंग ही बन गया था। महाराजा जसवन्तसिंह के पिता महाराज-तख्तसिंह के अनेक रानियाँ थीं। अन्तःपुर में निवास करनेवाली रानियों के पारस्परिक सपत्नीद्वेष, राजप्रासाद की परिधि में पनपनेवाले कूटनीतिक षड्यन्त्रों, दुरभिसंधियों तथा चालबाजियों ने सम्पूर्ण राज्य के वातावरण को विषाक्त बना रखा था।

उधर राज्य-प्रशासन में मुसलमान अधिकारियों का वर्चस्व बढ़ रहा था। राज्य की अधिकांश हिन्दू प्रजा वैष्णव मतावलम्बी थी। जोधपुर के निवासियों में वल्लभ तथा रामानुज सम्प्रदायों के वैष्णवों का प्राधान्य था। नवयुग की प्रगति तथा चेतना से नितान्त अपरिचित इस राज्य के लोग उन्नीसवीं शताब्दी में रहते हुए भी सोलहवीं शताब्दी के जीवन-मूल्यों को ही ग्रहण किये हुए थे। तत्कालीन परिस्थितियों के इस निष्पक्ष आकलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानन्द को किस विषम तथा कठिन दशा में जोधपुर जाकर वहाँ के लोगों को धार्मिक एवं सामाजिक जागृति का सन्देश देना पड़ा था।

जोधपुर के राजपुरुषों में महाराज प्रतापसिंह तेजस्वी प्रकृति के पुरुष थे। १८७८ ईसवी में उन्हें राज्य के मुसाहिब-आला (प्रधानमन्त्री) के पद पर नियुक्त किया गया। महर्षि की उदार, प्रगतिशील तथा असाम्प्रदायिक शिक्षाओं से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज के प्रति अत्यन्त आस्थावान् बन गये थे। एक प्रसंग में उन्होंने कहा था कि यदि महर्षि दयानन्द का सम्पर्क उन्हें प्राप्त नहीं हुआ होता, तो वह निश्चय ही ईसाई मत को ग्रहण कर लेते।

जोधपुर में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना महर्षि के परलोकगमन के पश्चात् ही हुई थी। महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह आदि राजपुरुषों के आर्यसमाज में दीक्षित हो जाने के कारण उन दिनों आर्यसमाज-प्रतिपादित वैदिक धर्म जोधपुर का

राजधर्म ही बन गया था। आर्यसमाज के उपदेशकों का वेतन राज्यकोष से दिया जाता था, तथा उनके प्रचार-कार्यक्रम की सूचनायें भी राज्य सरकार के राज्य-पत्र (मारवाड़-गजट) में छपती थीं। आर्यसमाज के कार्य-संचालनार्थ अन्य राजकीय विभागों की ही भाँति एक 'मेहकमा आरियासमाज' स्थापित किया गया था। इस विभाग के अधिकारियों के नाम राज्य के उच्च पदासीन व्यक्तियों की अधिकृत सूची (Civil list) में प्रकाशित होते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने स्वसम्पादित मारवाड़ राज्य की जन्त्री (Directory) में 'आरियासमाज' शीर्षक से १८९४ ई० (१९५०-५१ विक्रमी) वर्ष के उक्त विभाग के अधिकारियों की सूची निम्न प्रकार से दी है—(१) महाराजाधिराज श्री सर प्रतापसिंह जी साहब प्रेज़ीडेण्ट, (२) पण्डित सुखदेव प्रसाद जी सेक्रेटरी, (३) पण्डित ठाकुर प्रसाद जी उपदेशक, (४) पण्डित गणेश रामचन्द्र जी परगनों के उपदेशक, और (५) पण्डित अचलेश्वर जी शहर के वास्ते उपदेशक ईसाइयों के मुकाबले पर। निम्नलिखित व्यक्ति मैनेजिंग कमेटी, आर्यसमाज के मेम्बर लिखे गये हैं—(१) महाराजाधिराज श्री प्रतापसिंह जी साहब, (२) रायबहादुर मुंशी हरदयालसिंह साहब, (३) रणजीतसिंह जी कोटवाल, (४) पण्डित सुखदेव प्रसाद जी, (५) ठाकुर हरजीतसिंह जी, (६) मिस्टर मान जी, और (७) डॉक्टर प्रियनाथ जी।

उपर्युक्त सूची में उल्लिखित पण्डित सुखदेव प्रसाद काक काश्मीरी ब्राह्मण थे, जो वर्षों तक जोधपुर राज्य के प्रधानमन्त्री-पद पर रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वह उदयपुर राज्य में भी प्रधानमन्त्री-पद पर कार्यरत रहे थे। इन्हीं के पुत्र पण्डित धर्मनारायण काक रियासतों के एकीकरण के पूर्व तक जोधपुर राज्य के उप-प्रधानमन्त्री थे। मुंशी हरदयालसिंह पंजाब-निवासी खत्री थे, जिन्होंने जोधपुर राज्य में नवीन शासन विधान की व्यवस्थाओं को लागू किया। ठाकुर रणजीतसिंह जोधपुर नगर के पुलिस कोटवाल के पद पर थे। यह जोधपुर नगर के समीपवर्ती पाल ठिकाने के ठाकुर थे।

जोधपुर राज्य की ओर से जो वैतनिक उपदेशक उन दिनों वैदिक धर्म-प्रचार में कार्यरत रहे, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) पण्डित गणेश रामचन्द्र शर्मा दक्षिणी—ये मूलतः महाराष्ट्रवासी थे। २२ फरवरी, १८९० को इन्हें ५० रुपये की मासिक दक्षिणा पर जोधपुर राज्य में आर्यसमाज का उपदेशक नियुक्त किया गया। यह स्मर्तव्य है कि महर्षि दयानन्द के पुणे में दिये गये प्रवचनों का मराठी भाषा से हिन्दी-रूपान्तर सर्वप्रथम पण्डित गणेश रामचन्द्र शर्मा ने ही किया था। ये सभी व्याख्यान पृथक्-पृथक् पुस्तकाकार बाबू रामविलास शारदा, मन्त्री आर्य पुस्तक प्रचारिणी सभा राजस्थान ने वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित कर प्रकाशित किये थे।(२) राजपूत रामदयालसिंह पण्डा—३१ मार्च १८९१ से इन्हें ५० रुपये मासिक पर उपदेशक नियुक्त किया गया। (३) पण्डित उमरावदास—राजस्थान के ख्यातनामा इतिहासकार ठाकुर जगदीशसिंह गहलोत के अनुसार चारण कवि उमरदान ही इस नाम से उपदेशक नियुक्त किये गये थे। २२ फरवरी, १८९० से ३० रुपये मासिक पर इन्हें धर्म-प्रचारक नियुक्त किया गया। चारण उमरदान 'लालस' शाखा के थे, और जो जोधपुर जिले के उपखण्ड फलोदी के ढाढ़रवाड़ा गाँव के निवासी थे। पहले वह राजस्थान में बहु-प्रचलित रामस्नेही मत के अनुयायी थे, परन्तु कालांतर में जब उन्हें इस समुदाय के साधुओं

के भ्रष्ट आचरणों का ज्ञान हुआ तो ये रामस्नेही मत से विरक्त हो गये। इसी बीच महर्षि दयानन्द तथा उनके उपदेशों से इनका व्यक्तिगत रूप से परिचय हुआ और यह आर्यसमाज के अनुयायी बन गये। चारण उमरदान डिंगल भाषा (प्राचीन राजस्थानी) के प्रगल्भ कवि थे। साम्प्रदायिक मिथ्याचारों के खण्डन में इनकी तेजस्वी लेखनी आग उगलती थी। इनकी समस्त काव्य-रचनाओं का संग्रह 'अमर काव्य' शीर्षक से संग्रहीत होकर प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त पण्डित लालचन्द शर्मा विद्याभास्कर, पण्डित कर्णसिंह, पण्डित विश्वेश्वर प्रसाद शर्मा और पण्डित देवीचन्द शास्त्री ने भी जोधपुर आर्यसमाज के तत्त्वावधान में एवं जोधपुर रियासत के वैतनिक उपदेशक के रूप में वैदिक धर्म का प्रचार किया। (४) पण्डित ठाकुर प्रसाद व्याकरणाचार्य—पहले यह आगरा कॉलिज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। तत्पश्चात् इन्हें जोधपुर राज्य में वैदिक उपदेशक के पद पर नियुक्त किया गया। पण्डित ठाकुर प्रसाद अच्छे लेखक भी थे।

आर्यसमाज का प्रचारक संन्यासी वर्ग—आर्यसमाज जोधपुर को कुछ संन्यासियों का सहयोग एवं संरक्षण भी प्राप्त था। परन्तु ये संन्यासी महाराज प्रतापसिंह के व्यक्तिगत प्रीतिपात्र होने के कारण मांसाहार के विवाद में मांस-पोषक दल के ही प्रवक्ता थे। इन संन्यासियों में स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी भास्करानन्द तथा स्वामी अच्युतानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ संक्षेप में इनकी प्रवृत्तियों का परिचय दिया जा रहा है।

स्वामी प्रकाशानन्द—इन्हें कर्नल प्रतापसिंह ने अपने गुरु के रूप में सम्मानित कर रखा था। इन्होंने धर्म-प्रचारार्थ देश का व्यापक भ्रमण किया था। इनके प्रचार-वृत्तान्त का विवरण 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' की पुरानी फाइलों में उपलब्ध है। जिस समय महर्षि दयानन्द के आद्यशिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा को जोधपुर राज्य की ओर से आमन्त्रित किया गया, स्वामी प्रकाशानन्द ने ही उनपर मांसाहार को शास्त्रीय समर्थन देने के लिए जोर डाला था। परन्तु उसी समय पण्डित लेखराम भी जोधपुर आ गये और उन्होंने पण्डित भीससेन को चेतावनी देते हुए कहा कि यदि राज्य के द्वारा दी जानेवाली दक्षिणा के लोभ में आकर उन्होंने मांसाहार का समर्थन किया, तो आर्यसमाज में उनकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायेगी। इसपर पण्डित भीमसेन का मांसाहार को समर्थन देने का साहस नहीं हुआ। १८९५ में जब स्वामी प्रकाशानन्द पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के आर्यसमाजों में मांसाहार के समर्थन में मत जुटाने के लिए भ्रमण कर रहे थे, तो उस प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा ने एक विज्ञप्ति निकालकर आर्यसमाजों को सचेत किया था कि वे अपने यहाँ इनके एतद्-विषयक व्याख्यान न करायें। **स्वामी अच्युतानन्द**—मूलतः पंजाब-निवासी थे। इन्होंने चारों वेदों के शतकों का संग्रह किया तथा 'व्याख्यानमाला' शीर्षक एक सूक्ति-संग्रह भी तैयार किया था। **स्वामी भास्करानन्द**—जोधपुर के राजकीय व्यय पर वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए इन्हें इंगलैण्ड तथा अमेरिका भेजा गया। लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना श्री लक्ष्मीनारायण तथा बैरिस्टर रोशनलाल के प्रयत्नों से जून, १८८६ में ही हो गयी थी। स्वामी भास्करानन्द की विदेश-यात्रा का सम्पूर्ण व्यय राज्य सरकार ने ही वहन किया था। वह फरवरी, १८८८ में इंगलैण्ड के लिए प्रस्थित हुए, और १८९० में शिल्प-विद्या सीखने का उद्देश्य लेकर अमेरिका के फिलेडेल्फिया नगर में पहुँचे। उनकी प्रेरणा से इस नगर में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। जी० डब्ल्यू० स्टुवर्ट आर्यसमाज फिलेडेल्फिया के

प्रधान तथा एच. एम. डंकन मन्त्री थे। कुछ काल पश्चात् वह जर्मनी भी गये। स्वामी जी का विदेशयात्रा-वृत्तान्त 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' के कई अंकों में छपता रहा, तथा कालान्तर में वह पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ।

मारवाड़ राज्य के शासकों द्वारा आर्यसमाज को प्रश्रय तथा संरक्षण मिलने पर राज्य के शासन की गतिविधि पर भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। महाराज प्रतापसिंह ने तो १२ मई, १८८४ को एक राज्यादेश निकालकर जोधपुर रियासत की राजभाषा फारसी-मिश्रित उर्दू के स्थान पर देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी घोषित कर दी थी। सम्बन्धित आदेश का मूल राजस्थानी पाठ इस प्रकार है—

"२२ ही परगना में लिखावट कर दीजो सो फारसी री कारंवाई नहीं करे ने हिन्दी री कारंवाई करे। ने जिण में फारसी रा हरफ नहीं लिखे।" अर्थात् राज्य के २२ परगनों को लिखित रूप में सूचित किया जाय कि वहाँ फारसी में राज्य की कार्यवाही न हो, बल्कि हिन्दी में हो, हिन्दी में भी फारसी के अक्षरों का प्रयोग न किया जावे। इसी प्रकार सेना तथा अन्य राजकर्मचारियों को स्वदेशी खादी के वस्त्र धारण करने के भी आदेश प्रसारित किये गये। सर प्रतापसिंह ने स्वामी भास्करानन्द से कार्तिक अमावस्या १९४५ वि० (३ नवम्बर, १८८८) को यज्ञोपवीत ग्रहण किया था।

अजमेर और आर्यसमाज—यद्यपि अजमेर पर ब्रिटिश सरकार का शासन था, किन्तु राजस्थान के केन्द्र-स्थल में स्थित होने के कारण यहाँ से आर्यसमाज के प्रचार का कार्य विशेष रूप से संचालित होता रहा। महर्षि दयानन्द एकाधिक बार अजमेर आये थे तथा उन्होंने यहाँ अनेक शास्त्रार्थ एवं प्रवचन भी किये। आर्यसमाज अजमेर की स्थापना महर्षि के जीवनकाल में ही हो गयी थी। महर्षि के परलोक-प्रस्थान के ठीक दो मास पश्चात् अजमेर के मेयो कॉलेज में स्थित मेवाड़ के महाराणा की कोठी में परोपकारिणी सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमें महर्षि के निधन के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों पर विचार किया गया तथा यह निर्णय लिया गया कि वैदिक यन्त्रालय को अजमेर ले-आया जाय। महर्षि के ग्रन्थों के प्रकाशन के सम्बन्ध में भी अनेक निर्णय लिये गये। कालान्तर में वैदिक यन्त्रालय, आर्यसमाज-मन्दिर, दयानन्द आश्रम आदि संस्थानों के लिए केसरगंज मुहल्ले में भूमि क्रय की गयी तथा इनके विशाल भवन बने। भवनों के निर्माण में राव बहादुरसिंह मसूदा ने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की। मुंशी पद्मचन्द जी ने भी आर्यसामाजिक संस्थाओं के विशाल भवनों के निर्माण में अपना पूरा योगदान किया था।

आर्यसमाज के इस प्रारम्भिक युग में अजमेर आर्यसमाज ही इस क्षेत्र की समस्त धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बना रहा। १८८८ ई० में आर्यसमाज अजमेर के तत्त्वावधान में एक वैदिक पाठशाला की स्थापना की गयी। परोपकारिणी सभा ने इस विद्यालय को अपनाया किन्तु उसके प्रबन्ध का भार आर्यसमाज अजमेर पर ही छोड़ दिया, जैसा कि १८८८ ई० में सम्पन्न हुए उक्त सभा के वार्षिक अधिवेशन में लिये गये इस निर्णय से सूचित होता है—"समाज ने अपने परम-पुरुषार्थ से आश्रम की पाठशाला स्थापित कर दी है। निश्चय हुआ कि आश्रम की पाठशाला श्रीमती परोपकारिणी सभा की ओर से प्रबन्ध के लिए आर्यसमाज अजमेर के स्वाधीन रहे।" इस पाठशाला के प्रथम अध्यापक श्री हरविलास शारदा थे जो परोपकारिणी सभा के संयुक्त

मन्त्री भी थे। इस पाठशाला का पाठ्यक्रम डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर की पाठ-विधि पर आधारित था। यही पाठशाला कालान्तर में डी० ए० वी० हाई स्कूल का रूप धारण कर सकी, परन्तु इसका प्रारम्भिक नाम 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल' न होकर 'दयानन्द आश्रम ऐंग्लो-वैदिक स्कूल (डी० ए० ए० वी० स्कूल) था।

आर्यसमाज अजमेर ने १८९५ ई० में 'दयानन्द अनाथालय' के नाम से हिन्दू जाति के अनाथ बालकों के संरक्षण के लिए एक अनाथालय स्थापित किया। इस संस्था के माध्यम से सहस्रों अनाथों का पालन हुआ तथा उन्हें सुशिक्षित एवं स्वावलम्बी बनाया गया। सम्प्रति यह दयानन्द बालसदन कहलाता है।

अब तक देश के विभिन्न प्रान्तों में आर्यसमाजों की स्थापना तो पर्याप्त संख्या में हो चुकी थी, किन्तु इन सामाजिक इकाइयों को एक सूत्र में बाँधनेवाले प्रान्तीय अथवा अखिल देशीय संगठन नहीं बन पाये थे। धीरे-धीरे प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना की भी योजना बनाई गयी। प्रथम पंजाब तथा तत्पश्चात् पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान एवं मालवा का संगठन हुआ। उस समय के प्रमुख कार्यकर्ताओं का यहाँ स्वल्प परिचय देना आवश्यक है—

पण्डित मुन्नालाल—आर्यसमाज अजमेर के प्रारम्भकालीन कार्यकर्ता थे। इन्होंने इस आर्यसमाज के मन्त्री-पद पर भी कार्य किया था। आर्यसमाज अजमेर के मासिक मुखपत्र 'देश हितैषी' का इन्होंने सम्पादन किया। कालान्तर में अपनी राजकीय सेवा के सिलसिले में लाहौर चले गये। आर्यसमाज अजमेर ने पण्डित मुन्नालाल की स्मृति में 'मुन्नालाल नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत एक पुस्तकालय तथा वाचनालय का संचालन होता है।

सेठ माँगीलाल कवि किंकर, नीमच—कवि किंकर जी नीमच के निवासी थे। ये बहुत अच्छे कवि तथा लेखक थे। इनके द्वारा रचित अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित हुए। परोपकारिणी सभा के मुखपत्र 'परोपकारी' का सर्वप्रथम प्रकाशन १८८९ में षाण्मासिक पत्र के रूप में हुआ था। कालान्तर में यह मासिक रूप में छपने लगा। कवि किंकर जी की अनेक रचनायें इस पत्र में प्रकाशित होती थीं। दयानन्द अनाथालय अजमेर के मासिक मुखपत्र 'अनाथ रक्षक' का सम्पादन भी इन्होंने किया था।

श्री रामविलास शारदा—अजमेर में आर्यसामाजिक संस्थाओं के भव्य एवं विशाल भवनों के निर्माण कराने तथा विविध सामाजिक कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करने में रामविलास जी का योगदान अपूर्व था। जिस समय सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा का संगठन नहीं हुआ था, उस समय रामविलास जी शारदा, महात्मा मुंशीराम, पण्डित आत्माराम अमृतसरी तथा स्वामी नित्यानन्द जैसे मूर्धन्य आर्य नेताओं से सम्पर्क रखकर आर्यसमाज की अखिल भारतीय नीतियों का निर्धारण करते थे। वे एक प्रगल्भ लेखक भी थे।

दीवान बहादुर हरबिलास शारदा उच्चकोटि के विधि-विशेषज्ञ, प्रशासक तथा लेखक थे। आर्यप्रतिनिधि सभा राजस्थान के प्रथम प्रधान-पद पर रहकर उन्होंने प्रान्तीय संगठन की नींव रखी।

बाबू मथुराप्रसाद जी—आर्यसमाज अजमेर के प्रारम्भिक सभासदों में इनका नाम प्रमुख रूप से गणनीय है। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के संस्थापक सदस्यों में

इनका नाम आता है। इनकी पत्नी श्रीमती गुलाबदेवी (चाचीजी के नाम से प्रसिद्ध) ने अजमेर में कन्या-शिक्षण के क्षेत्र में प्रमुख कार्य किया और अपने तथा अपने पति के नाम से मथुराप्रसाद गुलाबदेवी कन्या पाठशाला की स्थापना की।

राव बहादुरसिंह, मसूदा—मसूदा ठिकाने के रावसाहब बहादुरसिंह जी का स्वामी-चरणों में अत्यन्त प्रेम एवं भक्ति थी। स्वजीवनकाल में उन्होंने महर्षि दयानन्द को दो बार मसूदा में आमन्त्रित किया था तथा उनके प्रवचनों की सुन्दर व्यवस्था की थी। महर्षि के निधन के पश्चात् रावसाहब ने आर्यसमाज के कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

राजस्थान के अन्य आर्यसमाज—परोपकारिणी सभा की प्रारम्भिक रिपोर्टों में भारत के विभिन्न प्रान्तों के आर्यसमाजों की सूचियाँ छपती रहीं। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि १८८५ ई० तक अजमेर, जयपुर तथा शाहपुरा में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। रामगढ़ (शेखावाटी) तथा बीकानेर राज्य के चूरू कस्बों में आर्यसमाजों की स्थापना महात्मा कालूराम जी के प्रयत्नों से हुई। १८८७ ई० में प्रकाशित विवरण से ज्ञात होता है कि जयपुर राज्य के पावटा तथा बाँदीकुई नामक स्थानों में आर्यसमाज बने। तत्कालीन मालवा (मध्य भारत) प्रान्त भी आर्यसमाज के संगठन की दृष्टि से राजस्थान की प्रान्तीय सभा से ही जुड़ा था। इस वर्ष के अन्त तक इन्दौर, ग्वालियर तथा भोपाल में आर्यसमाज कायम हुए। १८९० तक समाजों की संख्या में और भी वृद्धि हुई। अजमेर जिले में मसूदा, ब्यावर, पुष्कर तथा नसीराबाद में आर्यसमाज कायम हुए। जोधपुर राज्य के सोजत कस्बे में भी आर्यसमाज इसी अवधि में स्थापित हुआ।

१८९१ में प्रकाशित सूची पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जयपुर राज्य के ठिकाने खाचरियावास तथा जोबनेर में आर्यसमाजों की स्थापना इसी अवधि में हुई थी। इन आर्यसमाजों की स्थापना के पीछे इन ठिकानों के शासक जागीरदारों की आर्य-समाज के प्रति रुचि ही प्रधान कारण थी। मालवा प्रदेश के नीमच, महू तथा खण्डवा में आर्यसमाजों की स्थापना इसी बीच हो चुकी थी। १८९३ में प्रकाशित सूची में किसी नवीन आर्यसमाज के स्थापित होने का कोई संकेत नहीं है। अलवर में आर्यसमाज की स्थापना १८९१ के आसपास ही हो चुकी थी तथा अजमेर जिले के सावर ठिकाने में भी इसी समय आर्यसमाज बना। इस अवधि में राजस्थान में आर्यसमाजों की स्थापना द्रुतगति से नहीं हुई। इसका एक प्रमुख कारण समस्त प्रान्त का सामन्ती वातावरण एवं देशी रियासतों के राजाओं का निरंकुश शासन ही था। राजा एवं जमींदारवर्ग के लोग नहीं चाहते थे कि उनके द्वारा शासित प्रदेशों में आर्यसमाजों के माध्यम से सामाजिक जागृति हो, क्योंकि यही सामाजिक जागृति अन्ततः राजनैतिक चेतना के रूप में परिवर्तित हो जाती थी जिसके परिणामस्वरूप रियासतों में उत्तरदायी शासन की माँग बलवती होने की सम्भावना रहती थी। जिस समय सम्पूर्ण देश में स्वाधीनता-संग्राम अपनी शैशवावस्था में ही था, उसी समय राजस्थान की रियासतों में भी स्वराज्य की तड़प धीरे-धीरे पैदा हो रही थी। यदि राजस्थान की देशी रियासतों के स्वाधीनता-संग्राम का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन राज्यों के प्रजामण्डलों और लोक-परिषदों के अधिकांश कार्यकर्ताओं का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में आर्यसमाज से रह चुका था। मारवाड़ राज्य में जन-जागृति के सूत्रधार स्वर्गीय जयनारायण व्यास ने यह स्वीकार किया था कि १९१९ में दिल्ली के चाँदनी चौक में स्वामी श्रद्धानन्द

को निर्भीकतापूर्वक गोरे सैनिकों की संगीनों के समक्ष अपनी छाती खोलते देखकर ही उन्हें देश की आजादी के लिए कुछ कर गुजरने की प्रेरणा मिली थी। अजमेर की राजनैतिक चेतना में चाँदकरण शारदा, ब्यावर के सेठ दामोदर राठी, रामनारायण चौधरी आदि का उल्लेखनीय योगदान रहा है। सेठ दामोदरदास राठी तो पण्डित श्याम-जी कृष्ण वर्मा जैसे क्रान्तिकारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क रखते थे। इन्हीं की सहायता और सहयोग से ठाकुर गोपालसिंह खरवा तथा विजयसिंह पथिक जैसे स्वतन्त्रता-सेनानियों को अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में सफलता मिली थी। जयपुर में राजनैतिक जागृति के सूत्रधार पण्डित हीरालाल शास्त्री तो जोवनेर के ही निवासी थे जहाँ के रावल कर्णसिंह तथा रावल नरेन्द्रसिंह ने आर्यसमाज की विभिन्न प्रवृत्तियों को जारी कर ,इस गाँव में अपूर्व चेतना उत्पन्न कर दी थी। इसी प्रकार उदयपुर के श्री माणिक्य-लाल वर्मा तथा स्वर्गीय मोहनलाल सुखाड़िया, बीकानेर के श्री हरिश्चन्द्र नैण भी आर्य-समाज की विचारधारा से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रभावित होकर ही अपनी-अपनी रियासतों में नानाविध आन्दोलनों का सूत्रपात कर रहे थे।

(३) राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा की स्थापना १८८८ ई० में हुई थी। १८६० ई० के एक्ट के अधीन इसका पंजीकरण १३ अक्टूबर, १८६६ को अजमेर में कराया गया। इस सभा के अधीन राजस्थान (स्वतन्त्रता के पूर्व का राजपूताना) तथा मालवा (वर्तमान मध्यप्रदेश के इन्दौर, ग्वालियर, रतलाम, भोपाल आदि जिले) के आर्यसमाज संगठित होकर वैदिक धर्म के प्रचार में कार्यरत रहे। प्रारम्भ में इस सभा का मुख्य कार्यालय अजमेर ही रहा, किन्तु कुछ काल के लिए इस सभा ने भरतपुर से भी अपने कार्यकलाप का संचालन किया था। यह अवधि इस शताब्दी के प्रथम दशक की है। उस समय इस सभा के मंत्री श्री सुखदेव वर्मा थे। कालान्तर में सभा का कार्यालय पुनः अजमेर आ गया, क्योंकि राजस्थान का केन्द्रवर्ती नगर होने तथा आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं का मुख्यालय होने के कारण यहाँ से प्रतिनिधि सभा के कार्यों का संचालन करने में अधिकारियों को अधिक सुविधा थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान मुख्य रूप से प्रान्त की सभी आर्यसमाजों का मार्गदर्शन कर उन्हें अपने-अपने स्थानों में वैदिक धर्म का प्रचार करने का निर्देश देती रही है। इस सभा के अध्यक्ष-पद को श्री हरविलास शारदा, राजाधिराज उम्मेदसिंह शाहपुरा, रावराजा तेजसिंह, प्रोफेसर सुधाकर, श्री जालिमसिंह कोठारी, महात्मा कन्हैयालाल, प्रोफेसर घीसूलाल तथा कुँअर चाँदकरण शारदा आदि ने समय-समय पर सुशोभित किया।

(४) राजस्थान में आर्यसमाज का विस्तार एवं कार्यकलाप (१६००-१६४७)

अजमेर मण्डल—राजस्थान में अजमेर का मण्डल आर्यसमाज की गतिविधियों का प्रारम्भ से ही केन्द्र रहा है। महर्षि दयानन्द ने एकाधिक बार इस नगर की यात्रा की थी तथा अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना उनके जीवनकाल में ही हो गयी थी।

कालान्तर में वैदिक यन्त्रालय, परोपकारिणी सभा का मुख्य कार्यालय, दयानन्द आश्रम, दयानन्द अनाथालय, डी० ए० वी० हाई स्कूल आदि विभिन्न संस्थाओं के यहाँ से संचालित होने के कारण अजमेर राजस्थान प्रान्त की आर्यसामाजिक प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्रस्थल वन गया। सर्वश्री हरविलास शारदा, रामविलास शारदा, चाँदकरण शारदा, पण्डित जियालाल, पण्डित भगवानस्वरूप न्यायभूषण तथा रायबहादुर मिट्ठनलाल भार्गव आदि आर्यसमाज के कुशल नेताओं ने सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का नेतृत्व अजमेर को केन्द्र बनाकर किया। इससे इस मण्डल की प्रतिष्ठा में अपूर्व अभिवृद्धि हुई।

१९१७-१८ में इस नगर में प्लेग की महामारी फूट पड़ी। घर-घर में प्लेग की विभीषिका व्याप्त हो गयी। ऐसे अवसर पर लावारिस शवों का दाहसंस्कार करने में आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने अद्भुत कर्तव्य-तत्परता प्रदर्शित की। सर्वश्री चाँदकरण-शारदा, पण्डित जियालाल आदि आर्य नेताओं के कुशल नेतृत्व में आर्यसमाज के स्वयंसेवकों ने नगर के प्लेग-पीड़ित नागरिकों की जिस निष्ठा के साथ सेवा की, उससे यह सिद्ध हो गया कि आर्यसमाज समाज-सेवा के क्षेत्र में सदा ही अग्रगण्य रहा है। बृहद् हिन्दू-समाज में व्याप्त जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता के दूषित विचारों को दूर करने के लिए आर्यसमाज प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहा है। १९२६ से १९३५ की अवधि में अजमेर आर्यसमाज के प्रयत्नों से पाँच बार सामूहिक प्रीतिभोजों का आयोजन किया जाता रहा। इन आयोजनों में हिन्दू समाज के सभी घटक—आब्राह्मण हरिजनपर्यन्त सम्मिलित हुए तथा सहस्रों व्यक्तियों ने स्पृश्यास्पृश्य के भाव को भुलाते हुए एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन किया। सामूहिक भोजों की इस व्यवस्था को सफल बनाने में पण्डित जियालाल की भूमिका प्रमुख थी।

हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह में राजस्थान की भूमिका—दक्षिण हैदराबाद में निजाम सरकार ने हिन्दू-धर्म की गतिविधियों पर सामान्यतः तथा आर्यसमाज की प्रवृत्तियों के संचालन में विशेष रूप से बाधा देनी आरम्भ की, तो आर्यसमाज को अपने धार्मिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए सत्याग्रह के अस्त्र से काम लेना पड़ा। सर्वप्रथम महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में आर्य सत्याग्रहियों के जत्थे ने हैदराबाद राज्य में प्रवेश कर अपनी गिरफ्तारी दी। इस सत्याग्रह के द्वितीय सर्वाधिकारी बनने का श्रेय देशभक्त कुँअर चाँदकरण शारदा को मिला, जिन्होंने ५ मार्च, १९३९ को गुलबर्गा नगर में सत्याग्रह किया। इन्हें १३ मास के लिए कारागार में रखने की सजा सुनायी गयी तथा करीमनगर के जेल में रखा गया। कर्मवीर पण्डित जियालाल के संयोजन में अजमेर में "हैदराबाद सत्याग्रह समिति" की स्थापना हुई। इस समिति के तत्त्वावधान में अजमेर आर्यसमाज की ओर से तीन जत्थे सत्याग्रह-हेतु भेजे गये। राजगुरु घुरेन्द्र शास्त्री तथा पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री के नेतृत्व में पण्डित जियालाल ने अजमेर से सैकड़ों सत्याग्रहियों को सत्याग्रह-हेतु भेजा। इस अवसर पर सत्याग्रह-सहायतारूप में सहस्रों रुपयों की राशि भी एकत्रित की गयी। श्री दत्तात्रेय वावल ने 'आर्य सत्याग्रह का राष्ट्रीय आधार' शीर्षक पुस्तक लिखकर सत्याग्रह के औचित्य को सिद्ध किया।

१९४७ ई० में अजमेर(मेरवाड़ा)में ३८ विभिन्न स्थानों में आर्यसमाज सक्रिय थे। अजमेर नगर में ही आर्यसमाज केसरगंज तथा नगर-आर्यसमाज के पृथक् संगठन थे जो कुछ वर्ष पूर्व इस नगर के आर्यसमाजियों की धड़ेबन्दी के कारण वन गये थे।

किशनगढ़, कड़ैल, केकड़ी, मसूदा, राजगढ़, ब्यावर, सराधना, सरवाड़, सावर, नसीराबाद तथा भिनाय आदि स्थानों पर भी वहाँ के आर्यसमाज महत्त्वपूर्ण ढंग से कार्यरत थे। अलवर रियासत में आर्यसमाज की प्रवृत्तियाँ इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही चलती रहीं। इस राज्य के अन्तर्गत लगभग बीस आर्यसमाज 'प्रतिनिधि सभा कार्यालय' में अंकित थे। कोटा राज्य में यद्यपि आर्यसमाजों की संख्या कम थी, किन्तु बांरा, छीपावड़ौद, किशनगंज, सुकेत, अकलेरा आदि स्थानों के आर्यसमाज अधिक सक्रियरूप से कार्यरत थे। श्री श्यामस्वरूप भटनागर, श्री रसिकविहारीलाल, डॉक्टर राजबहादुर तथा डॉक्टर मथुरालाल शर्मा इस क्षेत्र के सक्षम कार्यकर्ता थे। भरतपुर यद्यपि क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा राज्य था, किन्तु भरतपुर के अतिरिक्त जुरहरा, कुम्हेर, डीग, नदवई, भुसावर, वैर तथा बयाना आदि स्थानों के आर्यसमाज सन्तोषपूर्ण ढंग से धर्म-प्रचार में संलग्न थे।

जयपुर राज्य—जयपुर राजस्थान की प्रमुख रियासत थी। यहाँ आर्यसमाज का कार्य तो विगत शताब्दी में ही आरम्भ हो चुका था। यहाँ के प्रमुख कार्यकर्ताओं में श्री गणेशनारायण सोमानी, मुंशी जयदेवसिंह, डॉक्टर युद्धवीरसिंह, स्वामी नृसिंहदेव और श्री कुँवरलाल बापना आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री गणेशनारायण सोमानी जयपुर राज्य के एक प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। वह राज्य के प्रमुख पदों पर भी रहे थे। आर्यसमाज में उनकी रुचि आजीवन रही। मुंशी जयदेवसिंह जयपुर राज्य में वर्षों तक न्यायाधीश के पद पर रहे। उन्होंने इस राज्य में आर्यसमाज के सर्वतोमुखी विकास के लिए पूर्ण प्रयत्न किया था। डॉक्टर युद्धवीरसिंह ने कालान्तर में दिल्ली को अपने सार्वजनिक जीवन का केन्द्र बनाया, किन्तु उनका प्रारम्भकालीन सार्वजनिक जीवन जयपुर के आर्यसमाज में ही व्यतीत हुआ था। स्वामी नृसिंहदेव ने सन् १९२० में संन्यास ग्रहण किया था। वह आर्यसमाज जयपुर के सर्वाधिक सक्रिय तथा क्षमताशील कार्यकर्ता थे। देश की स्वतन्त्रता के संग्राम में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया था तथा वह आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के उपदेशक भी रहे थे।

जयपुर राज्य के पुराने आर्यसमाजों में बाँदीकुई, चौक, फुलेरा, हिण्डौन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। यह ध्यातव्य है कि इसी राज्य के शेखावाटी प्रान्त (मुख्यतः सीकर तथा झुंझुनू के वर्तमान जिले) तथा बीकानेर राज्य के चूरू जिले में अनेक आर्यसमाजों की स्थापना विगत शताब्दी के अन्तिम दशक में महात्मा कालूरामजी के प्रयत्नों से हो चुकी थी।

जोधपुर राज्य—पश्चिमी राजस्थान में जोधपुर आर्यसमाज की गतिविधियों का प्रारम्भकाल से ही केन्द्र रहा। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना महाराजा प्रतापसिंह के प्रयत्नों से १९वीं शती के अन्तिम दशाब्द में हो चुकी थी तथा रातानाडा मार्ग पर विशाल समाज-मन्दिर भी निर्मित हो चुका था। महाशय लक्ष्मण, श्री शंकर शर्मा, श्री जमनादास कछवाहा, पण्डित देवीप्रसाद अवस्थी आदि यहाँ के प्रारम्भिक कार्यकर्ता थे। जब महाशय लक्ष्मण आर्य ने आर्यसमाज-मन्दिर को एक जागीदार के हाथों बेच दिया, तो उन्हीं के सहयोगी श्री च्यवन आर्य ने तत्कालीन आर्यसमाजियों को विश्वास में लेकर पृथक् रूप से नगर-आर्यसमाज (गुलाब सागर) की स्थापना की। नगर के मध्य में स्थित गुलाबसागर तालाब के तट पर स्थित एक सार्वजनिक स्थान को तत्कालीन नगर कोटवाल ठाकुर-

रणजीतसिंह (पाल) के सहयोग से आर्यसमाज के लिए प्राप्त किया गया तथा यहाँ विधिवत् आर्यसमाज के सत्संग लगने लगे। इसके साथ ही पुरातन एवं भव्य आर्यसमाज-मन्दिर को पुनः हस्तगत करने के लिए नगर-आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने महाशय लक्ष्मण आर्य पर अदालत में अभियोग दायर किया। उनका कहना था कि धर्मस्थान एवं उपासना-मन्दिर होने के कारण आर्यसमाज-मन्दिर को वेचना कानून की दृष्टि से अपराध है। यह अभियोग कई वर्षों तक चलता रहा। श्री आतमाराम परिहार, पण्डित ठाकुरदत्त वाली, श्री च्यवन आर्य वकील तथा पण्डित सोहनलाल के सदुद्योग से वर्षों तक अभियोग चलने के पश्चात् आर्यसमाज को विजय प्राप्त हुई। वर्षों से अपने हाथ से निकला हुआ रातानाडा आर्यसमाज-मन्दिर पुनः आर्यसमाज की गतिविधियों का केन्द्र बना। भारत को गणतन्त्र घोषित किये जानेवाले दिन २६ जनवरी, १९५० को उस मन्दिर में यज्ञ के उपरान्त आर्यसमाज की कार्यवाही प्रारम्भ हुई।

नगर-आर्यसमाज जोधपुर के कार्यकर्ताओं में श्री भजनसिंह, श्री भैरवसिंह, श्री जगदीशसिंह गहलोत और पण्डित सदानन्द अवस्थी के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित गणेशीलाल के नेतृत्व में इस समाज के अन्तर्गत आर्यकुमार सभा का संगठन किया गया। आर्यकुमार सभा में श्री महावीरसिंह गहलोत, श्री जगदीशचन्द्र गुप्त तथा श्री भवानीलाल भारतीय आदि युवक सक्रिय भाग लेते थे। श्री भवानीलाल भारतीय ने अपने आर्यसामाजिक जीवन का श्रीगणेश इसी आर्यकुमार सभा के सभासद् एवं उपमन्त्री के रूप में किया था। उन दिनों आर्यकुमार परिषद् का आन्दोलन अत्यन्त सक्रिय था। सुजागढ़-निवासी श्री जीवानन्द आनन्द के नेतृत्व में राजस्थान के अनेक स्थानों पर कुमार सभायें सक्रिय थीं।

जोधपुर राज्य में आर्यसमाजों की संख्या सर्वाधिक थी। नागौर जिले में कुचेरा, छोटी खाटू, डीडवाना, नागौर, पीलवा, लाडनू, डांगावास, कुचामन आदि के आर्यसमाज सक्रिय थे। जोधपुर के समीपवर्ती पूंजला, चैनपुरा, सूरसागर, महामन्दिर आदि ग्रामों अथवा उपनगरों में प्रायः माली जाति के लोगों की बस्तियाँ हैं। यह ध्यातव्य है कि जोधपुर का माली समाज प्रारम्भ से ही आर्यसमाज का दृढ़ समर्थक एवं सहयोगी रहा है। इस समाज के धनिकवर्ग ने जोधपुर तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में आर्यसमाज के प्रचार के लिए सर्वात्मना सहयोग दिया है। जोधपुर राज्य का बाडमेर पश्चिमी राजस्थान का सीमावर्ती नगर है। मरुस्थल के हृदयदेश में स्थित होने के कारण यहाँ का जनजीवन नितान्त एकाकी, निस्संग तथा निष्प्रभ रहा है। मरुदेशवासियों को सामान्य जीवनयापन करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा प्रकृतिदत्त बाधाओं से भी जूझना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में जीवन व्यतीत करनेवालों को धर्म, संस्कृति तथा अध्यात्म आदि उच्चतर जीवनमूल्यों के प्रति ध्यान देने का अधिक अवकाश नहीं रहता। तथापि बाडमेर में पण्डित बैजनाथ तिवारी वकील ने एकाकी रहकर भी वैदिक धर्म-प्रचार का बीड़ा उठाया तथा इस नगर में आर्यसमाज को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न किया। पण्डित बैजनाथ तिवारी मूलतः उत्तरप्रदेश के निवासी थे, किन्तु अपनी नौकरी के सिलसिले में वह जोधपुर आये थे। कालान्तर में उन्होंने बाडमेर में वकालत करना आरम्भ कर दिया। प्रान्तीय सभा के उपदेशकों की प्रचार-व्यवस्था का सम्पूर्ण भार तिवारीजी पर ही होता था। इनके पौत्र पण्डित ब्रह्मानन्द त्रिपाठी गुरुकुल वृन्दावन के

स्नातक हैं तथा वर्षों से अजमेर में चिकित्सा-व्यवसाय में संलग्न हैं।

जोधपुर राज्यान्तर्गत पाली जिले में सोजत, सोमेश्वर, मारवाड़ जंक्शन आदि स्थानों पर आर्यसमाज क्रियाशील रहे, जबकि जालोर जिला आर्यसमाज की दृष्टि से अनुर्वर सिद्ध हुआ। जोधपुर का समीपवर्ती राज्य सिरोही क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा होने पर भी आर्यसमाज के प्रचार की दृष्टि से सन्तोषप्रद भूमिका निभाता रहा। सिरोही के अतिरिक्त शिवगंज तथा आबू रोड में भी आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ से ही उत्साहप्रद रहा।

बीकानेर राज्य—बीकानेर राजस्थान के पश्चिमोत्तर क्षेत्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राज्य था। यहाँ महाराजा गंगासिंह जैसे समयज्ञ किन्तु कूटनीति में दक्ष शासक ने दीर्घकाल-पर्यन्त शासन किया। महाराजा गंगासिंह नहीं चाहते थे कि उनके राज्य में आर्यसमाज जैसे स्वाधीनचेता, निर्भीक एवं प्रगतिशील आन्दोलन की जड़ जम सके। इसलिए वर्षों तक बीकानेर में आर्यसमाज के कार्य को सफलता नहीं मिली। चौधरी हरिश्चन्द्र नैण (गंगानगर) ने, जो वर्षों तक बीकानेर राज्य विधानसभा के सभासद् रहे, इस राज्य में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार-हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया। परन्तु इसी राज्य के चूरू जिलान्तर्गत सुजानगढ़ में आर्यसमाज की स्थापना बहुत पहले ही हो चुकी थी। १९४७ में बीकानेर राज्य में १५ आर्यसमाजों के कार्यरत होने की सूचना हमें आर्यप्रतिनिधि सभा राजस्थान के ५९वें वार्षिक वृत्तान्त से मिलती है।

दक्षिणवर्ती राज्य—राजस्थान के दक्षिणवर्ती राज्यों में डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, कुशलगढ़, प्रतापगढ़ इस प्रान्त की सबसे छोटी इकाइयाँ थीं। स्वतन्त्रतापूर्व-काल में डूँगरपुर तथा प्रतापगढ़ में आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। उदयपुर तथा शाहपुरा की स्थिति इन राज्यों से भिन्न थी। जैसाकि हम विगत शताब्दी में राजस्थान में आर्यसमाज के कार्यकलापों की समीक्षा के प्रसंग में देख चुके हैं, उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह तथा शाहपुराधीश सर नाहरसिंह के हृदय में महर्षि दयानन्द के विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रति अनन्य निष्ठाभाव था। यही कारण है कि इन राज्यों में, कालान्तर में आर्यसमाज की प्रवृत्तियों के प्रसरित होने में कठिनाई नहीं हुई। उदयपुर में गुरुकुल कांगड़ी के तेजस्वी स्नातक पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार वर्षों तक श्रद्धानन्द शिशुशाला का संचालन करते रहे। इसी राज्य की पुरानी राजधानी चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल कांगड़ी के एक अन्य प्रबुद्ध तथा उत्साही स्नातक पण्डित युधिष्ठिर विद्यालंकार (संन्यासकाल में स्वामी व्रतानन्द) ने सन् १९२९ में आर्षपाठविधि को प्रमुखता देनेवाले एक गुरुकुल की स्थापना की। राजस्थान में गुरुकुल-प्रणाली की शिक्षा देनेवाला यही एकमात्र संस्थान है जहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों के पालन पर जोर दिया जाता है तथा अत्यन्त सादगीपूर्ण वातावरण में उच्च कोटि की शास्त्रीय शिक्षा की व्यवस्था है। बहुत पहले जब सारे देश में गुरुकुलों की एक लहर-सी चल पड़ी थी, जोधपुर के निकटवर्ती मंडोर में भी एक गुरुकुल की स्थापना की गयी थी जिसके मुख्याधिष्ठाता श्री लक्ष्मण आर्य थे। उदयपुर राज्य के अन्तर्गत आर्यसमाजों की संख्या १९४७ में केवल दस थी। भीलवाड़ा, बनेड़ा, छोटी सादड़ी, नन्दराय आदि में आर्यसमाजों का कार्य प्रायः सन्तोषप्रद ढंग से चलता रहा।

शाहपुरा—एक आर्य राज्य—शाहपुरा यद्यपि भीलवाड़ा जिले का एक उपखण्डमात्र है, किन्तु भूतपूर्व रिसायत होने के कारण स्वतन्त्रता से पूर्व वह एक पृथक् राजनैतिक

इकाई था। यहाँ के शासक आर्यसमाज के प्रति पूर्ण निष्ठावान् रहे। राजाधिराज नाहरसिंह स्वयं परोपकारिणी सभा के वर्षों तक मन्त्री रहे। उनके पुत्र राजाधिराज उम्मेदसिंह भी आर्यसमाज के प्रति अपनी सक्रिय रुचि आजीवन प्रदर्शित करते रहे। शाहपुरा में राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री, प्रोफेसर सुधाकर एम० ए०, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित रमेशचन्द्र शास्त्री तथा पण्डित भगवान्स्वरूप न्यायभूषण को राजगुरु अथवा राजपण्डित के रूप में सम्मानित किया जाता रहा। राज्य की ओर से समय-समय पर आर्यसमाज को सर्व प्रकार की सहायता एवं संरक्षण भी प्राप्त हुआ। फलतः आर्यसमाज के एक सुदृढ़ दुर्ग के रूप में शाहपुरा उभरकर सामाजिक मानचित्र पर आया। यहाँ के अनेक निष्ठावान् कार्यकर्ताओं ने अपना सम्पूर्ण समय एवं शक्ति आर्यसमाज के लिए अर्पित कर दी थी। श्री गोकुललाल आर्य, श्री कस्तूरचन्द तोषनीवाल आदि कार्यकर्ताओं ने शाहपुरा में आर्यसमाज की प्रगति के झण्डे गाड़े। वर्तमान शाहपुराधीश श्री सुदर्शनदेवजी भी आर्यसमाज के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखते हैं। आर्य महिला शिक्षण-केन्द्र नामक नारी शिक्षा-संस्थान का संचालन करने हेतु उन्होंने अपने राजप्रासाद का एक प्रशस्त एवं महत्त्वपूर्ण भाग आर्यसमाज को अर्पित कर दिया है। स्वर्गीया महारानी हर्षवन्तकुमारी भी महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के प्रति एकान्त निष्ठा रखती थीं। फलतः इस राजदम्पती ने पण्डित वीरसेन वेदश्रमी जैसे कर्मकाण्डज्ञ विद्वान् के पौरोहित्य में बृहद् यज्ञों का सफल आयोजन किया।

राजस्थान के जैसलमेर, बूंदी, टोंक, झालावाड़ आदि राज्यों में स्वतन्त्रता से पूर्व आर्यसमाज की कोई विशिष्ट चेतना दृष्टिगोचर नहीं होती। सामन्ती जीवन-पद्धति तथा देशी राज्यों के निरंकुश शासकों के स्वेच्छाचारी शासन ने राजस्थान में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में समय-समय पर अनेक बाधायें उपस्थित कीं। आर्यसमाजों के अधिकारी एवं उपदेशकगण प्रायः उत्पीड़न, त्रास एवं दमन के शिकार होते रहे। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण १९१८ में राजस्थान के पूर्ववर्ती राज्य धौलपुर में उस समय देखने में आया, जबकि नगर में एक नयी सड़क निकालने के लिए इस राज्य के शासक नरेश ने अपने मुसलमान प्रधानमन्त्री काजी अजीजुद्दीन के प्रभाव में आकर आर्यसमाज-मन्दिर को तुड़वाने का आदेश दे दिया। उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के उपमन्त्री श्री चाँदकरण शारदा धौलपुर पहुँचे और समाज-मन्दिर की रक्षा के लिए सत्याग्रह का अल्टीमेटम दे दिया। यह समाचार आग की भाँति सर्वत्र फैल गया। स्वामी श्रद्धानन्द ने भी धौलपुर-सत्याग्रह को अपना आशीर्वाद दिया और वह स्वयं भी धौलपुर आये। अन्ततः स्वेच्छाचारी शासक को झुकना पड़ा और आर्यसमाज की विजय हुई।

(५) राजस्थान में आर्यसमाज के प्रचारक एवं उपदेशक

राजस्थान में आर्यसमाज द्वारा जो वैचारिक चेतना और जागृति उत्पन्न की गयी, उसमें इस प्रान्त के उपदेशकों तथा प्रचारकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सर्वप्रथम स्वामी **नित्यानन्द ब्रह्मचारी** का उल्लेख करना आवश्यक है। जालोर के एक श्रीमाली ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेनेवाले इस महापुरुष ने युवावस्था में ही गृहत्यागकर वैराग्य का मार्ग ग्रहण किया। कालान्तर में जब आर्यसमाज से उनका विधिवत् सम्पर्क हुआ तो ब्रह्मचारी नित्यानन्द ने महर्षि दयानन्द के धार्मिक आन्दोलन को सशक्त एवं प्रभावी बनाने में अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति दे दी। यों तो स्वामी नित्यानन्द का

कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था, किन्तु वह अपनी जन्मभूमि राजस्थान को अपनी धर्म-प्रचार की प्रवृत्तियों से सदा ही कृतकृत्य करते रहे। यहाँ के अनेक रजवाड़ों से उनका निकट का सम्बन्ध था। स्वामी नित्यानन्द अजमेर, शाहपुरा, बूँदी, जोबनेर आदि स्थानों पर प्रायः प्रचारार्थ जाते तथा वहाँ की आर्यसामाजिक गतिविधियों को अपना मार्गदर्शन देते। राजस्थान के राजाओं से उनके निकट के सम्बन्ध थे। शाहपुराधीश नाहरसिंह, जोबनेर के रावल कर्णसिंह आदि उनका बहुत सम्मान करते थे तथा उन्हें गुरुतुल्य मानते थे। स्वामी नित्यानन्द तथा उनके अनन्य सहयोगी स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने बूंदी के राज-पण्डितों से वेदसंज्ञा विषय पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ किया था।

चूरू नगर में उत्पन्न हुए पण्डित गणपति शर्मा अपनी अद्‌भुत वक्तृत्व-शक्ति, शास्त्रार्थ-निपुणता, अगाध विद्वत्ता तथा तर्क-क्षमता के कारण आर्यसमाज के उपदेशक-मण्डल के एक प्रकाशमान नक्षत्र-तुल्य माने जाते हैं। वह यद्यपि दीर्घायु प्राप्त नहीं कर सके किन्तु अपने अत्यल्प कार्यकाल में ही उन्होंने असाधारण राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर ली थी। काश्मीर की राजधानी श्रीनगर में ईसाई पादरी जॉनसन को शास्त्रार्थ-समर में पराजित करने के पश्चात् तो उनकी कीर्ति-कौमुदी सर्वत्र प्रसरित हो गयी। पण्डित गणपति शर्मा को उनके व्याख्यानों तथा दार्शनिक प्रवचनों के लिए देश की विभिन्न आर्य-समाजों से आमन्त्रित किया जाता था। अपनी जन्मभूमि राजस्थान के आर्यसमाजों को अपने अमृतमय उपदेशों से कृतार्थ करने के लिए वह सदा तत्पर रहते। अजमेर, जयपुर, कोटा आदि स्थानों पर समय-समय पर जाकर वह प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायाचार्यों से शास्त्रार्थ करते तथा अपनी प्रत्युत्पन्नमति का परिचय देते हुए प्रतिवादी को निग्रह-स्थान पर पहुँचा देते। अजमेर में उन्होंने पौराणिक पण्डित जगत्प्रसाद को पराजित किया। झालावाड़ में उनका शास्त्रार्थ पौराणिक पण्डित जयदेव झा मीमांसाचार्य से १९०६ ई० में हुआ। इस शास्त्रार्थ का विस्तृत विवरण प्रोफेसर भीमसेन शास्त्री ने निबद्ध किया था। १९०८-९ में श्री गणपति शर्मा के व्याख्यानों की धूम जयपुर नगर में सर्वत्र थी।

राजस्थान में ग्रामस्तर पर आर्यसमाज का व्यापक प्रचार करने का श्रेय स्वर्गीय पण्डित रामसहाय शर्मा (ओम्‌भक्त परिव्राजक) को है। वह आर्यसमाज के प्रति समर्पित व्यक्तित्ववाले निष्ठावान् प्रचारक तथा धर्मोपदेशक थे। १९१९ ई० में इन्होंने अजमेर में आर्य विद्यार्थी सभा की स्थापना की थी।

नवम्बर, १९१८ में पण्डित रामसहाय ने आर्य प्रतिनिधि सभा में उपदेशक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया और मृत्युपर्यन्त वे इसी पद पर कार्यरत रहे। उन्होंने अपने उपदेशक-जीवन में राजस्थान का ग्रामानुग्राम भ्रमण कर वैदिक धर्म की ध्वजा को सर्वत्र फहराया। पण्डित रामसहाय लेखनी के भी धनी थे। १९२३ में जब आर्यप्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र 'आर्यमार्तण्ड' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, तो वह इसके सम्पादक बनाये गये।

आर्यसमाज के महान् कवि, गायक, संगीतज्ञ तथा भजनोपदेशक पण्डित प्रकाश-चन्द्र कविरत्न का जन्म सन् १९०३ में अजमेर में हुआ। किशोर अवस्था में वह कट्टर सनातनी थे, किन्तु आर्यसमाज के अद्‌भुत सेवाभाव, विशेषतः अजमेर में फैली प्लेग की महामारी में आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं को अपने प्राणों को खतरे में डालकर भी पीड़ितों की सेवा करते देखकर इनका झुकाव आर्यसमाज की ओर हुआ। कालान्तर में

पण्डित रामसहाय जी की प्रेरणा से प्रकाशजी कट्टर आर्यसमाजी बन गये। संगीत का इन्होंने विधिवत् अभ्यास किया था तथा काव्य-रचना की शक्ति इन्हें निसर्ग-सिद्ध थी। १९२५ ई० में महर्षि दयानन्द के जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर मथुरा में प्रकाशजी ने अपना प्रसिद्ध भजन 'वेदों का डंका आलम में बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने' गाया तो एक समा-सा बँध गया। लाखों आर्य नर-नारियों ने कवि के इस अमरगीत की सराहना की और प्रकाशचन्द्र आर्यजनता के कण्ठहार बन गये।

मूलतः मथुरा जिले के निवासी **पण्डित शीतलचन्द्र शर्मा** का कार्यक्षेत्र राजस्थान ही रहा है। वह वर्षों तक राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक रहे। शर्मा जी एक सफल कवि, उपदेशक तथा प्रचारक रहे। कालान्तर में संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर वह स्वामी सोमानन्द सरस्वती बन गये।

राजस्थान के अन्य धर्म-प्रचारकों में स्वामी लक्ष्मणानन्द (ब्यावर), स्वामी सच्चिदानन्द, स्वामी शान्तानन्द, स्वामी करुणानन्द आदि संन्यासियों के अतिरिक्त पण्डित परमानन्द, पण्डित महेन्द्र, श्री अमरसिंह वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भजनोपदेशों के माध्यम से प्रचार करनेवालों में पण्डित छोगालाल (प्रज्ञाचक्षु), श्री ओंकारलाल, श्री कन्हैयालाल, ठाकुर योगराजसिंह, पण्डित सुरेन्द्र शर्मा के नामों का उल्लेख आवश्यक है। पण्डित सुरेन्द्र शर्मा वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान में रहे। तदनन्तर उन्होंने आर्यसमाज जयपुर में पौरोहित्य का कार्य भी किया।

स्वतन्त्र उपदेशक, प्रचारक तथा कार्यकर्ता—प्रसिद्ध लेखक, वक्ता तथा अध्यापक **डॉक्टर सूर्यदेव शर्मा** का जन्म उत्तरप्रदेश के एटा जिले में हुआ था। राजस्थान के प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थान डी० ए० वी० हाई स्कूल के मुख्याध्यापक-पद पर नियुक्त होकर वह अजमेर आये और यहीं के होकर रह गये। अजमेर में रहते हुए उन्होंने भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् की धार्मिक परीक्षाओं का सुचारु रूप से संचालन किया। उनके प्रयत्नों से देश-विदेश के सहस्रों परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में बैठकर सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। डॉक्टर सूर्यदेवजी एक सफल वक्ता, उत्कृष्ट लेखक तथा पत्रकार भी थे। उन्होंने आर्यसमाज के उपदेशक के रूप में काश्मीर से कन्याकुमारी तथा गुजरात से बंगाल तक का व्यापक भ्रमण किया था।

चतुर्वेद-भाष्यकार **पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार** ने आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के संस्थापक-अध्यक्ष श्री मथुराप्रसाद शिवहरे की प्रेरणा से चारों वेदों का हिन्दी-भाषार्थ प्रस्तुत किया था। कालान्तर में वह वनस्थली विद्यापीठ में संस्कृत-प्राध्यापक-पद पर रहे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जो आर्य साहित्य मण्डल से ही प्रकाशित हुए।

दक्षिणी अफ्रीका आदि विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार करनेवाले **स्वामी भवानीदयाल संन्यासी** ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष अजमेर में व्यतीत किये। यहाँ उन्होंने आदर्शनगर मुहल्ले में आर्यसमाज तथा प्रवासी-भवन की स्थापना की।

सोलहवाँ अध्याय

बम्बई और सिन्ध प्रान्तों में आर्यसमाजों की स्थापना और गतिविधि

(१) बम्बई प्रान्त

बम्बई प्रान्त आर्यसमाज के इतिहास में दो कारणों से विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रान्त के काठियावाड़ प्रदेश में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ था, और इसी प्रान्त में महर्षि ने पहले राजकोट में तथा उसके बाद बम्बई नगर में सबसे पूर्व आर्यसमाजों की स्थापना की थी। राजकोट का समाज कुछ समय चलने के बाद राजनैतिक कारणों से बन्द हो गया था, किन्तु काकड़वाड़ी बम्बई में स्थापित आर्यसमाज अब तक अक्षुण्णरूप से विद्यमान है। अतः काकड़बाड़ी के आर्यसमाज को विश्व का पहला आर्यसमाज होने का गौरव प्राप्त है।

जिस समय पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बम्बई प्रान्त में पहला आर्यसमाज स्थापित हुआ, उस समय इस प्रान्त का क्षेत्र बहुत विशाल था। इसमें न केवल पाकिस्तान का सिन्ध प्रान्त, वर्तमान सौराष्ट्र, गुजरात व महाराष्ट्र वकर्नाटक के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे, अपितु अदन जैसा भारत से बाहर का सुदूरवर्ती प्रदेश भी इसका अंग था। सन् १९३५ में सिन्ध प्रान्त को बम्बई से पृथक् कर एक नया मुसलिम बहुसंख्यावाला प्रान्त बनाया गया; और अदन को भी भारत से पृथक् कर दिया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्य-पुनर्गठन-आयोग की सिफारिशों के आधार पर कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेश के पृथक् राज्य बनने और गुजरात के अलग हो जाने से अब बम्बई (महाराष्ट्र) प्रान्त बहुत छोटा रह गया है। किन्तु सन् १९४७ तक के आर्यसमाज के इतिहास का वर्णन करते हुए पुराने बम्बई प्रान्त के आधार पर ही इस प्रदेश के समाजों का विवरण किया जायेगा।

(२) बम्बई नगर के आर्यसमाज—काकड़बाड़ी समाज

आर्यसमाज काकड़वाड़ी : इस आर्यसमाज को न केवल महर्षि दयानन्द के कर-कमलों से स्थापित होने का गौरव प्राप्त है, अपितु इसके भवन की आधारशिला भी महर्षि ने रखी थी। इसके साप्ताहिक सत्संगों में महर्षि नियमित रूप से भाषण भी देते रहे। इस समाज की स्थापना का इस 'इतिहास' के पहले भाग में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अतः यहाँ केवल इसके कार्यकलाप का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायेगा।

बम्बई आर्यसमाज के पहले वर्ष के अधिवेशन समाज के नियमों में दिये कार्यक्रम के अनुसार होते रहे। वैदिक मन्त्रों के पाठ और गाने के बाद आर्यसमाज के सदस्य और

प्रतिष्ठित विद्वान् महत्त्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक विषयों पर भाषण देते थे। सौभाग्यवश पहले साल के व्याख्यानों के सम्बन्ध में हमारे पास विस्तृत जानकारी है। प्रथम वर्ष के ग्यारह महीनों में समाज में पचास भाषण हुए। इनमें पन्द्रह भाषण महर्षि ने दिये थे। इस समय महर्षि मानसिक दासता से पीड़ित भारतीयों को उनके उज्ज्वल अतीत का ज्ञान देना बड़ा महत्त्वपूर्ण समझते थे। अतः उनके सात व्याख्यान वैदिक आर्यों के इतिहास के बारे में थे। इनमें उन्होंने आर्यों द्वारा की गयी विलक्षण उन्नति का विस्तृत विवेचन किया था। छह व्याख्यानों का विषय आर्यों की उन्नति था, इनमें उन्होंने देश की वर्तमान शोचनीय अधोगति का चित्रण करते हुए इससे उद्धार के उपायों का प्रतिपादन किया था। उनके एक व्याख्यान का विषय देशाभिमान था। उस समय के भारतीय ब्रिटिश शासन तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से अपनी सभ्यता और संस्कृति में विश्वास खो चुके थे और मानसिक हीनता की भावना से पीड़ित थे। इसके प्रतिकार का अमोघ उपाय उनमें जातीय गौरव की भावना को जागृत करना था। महर्षि ने इस दृष्टि से यह व्याख्यान दिया था। एक अन्य व्याख्यान का शीर्षक था—आर्यसमाज का महत्त्व। इस समय आर्यसमाज के सदस्य इस बात को अनुभव कर रहे थे कि संस्कृत भाषा में लिखे होने के कारण वेदों से साधारण जनता लाभ नहीं उठा सकती है, अतः वेदों का हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि लोक-भाषाओं में अनुवाद किया जाना चाहिए। महर्षि इस समय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की रचना करने में लगे हुए थे। हिन्दी में वेदभाष्य के काम को पूरा करने के लिए उन्होंने एक विस्तृत योजना बनायी थी। अतः समाज के प्रधान श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी ने वेदों के लोक-भाषा में अनुवाद किये जाने के महत्त्व पर एक व्याख्यान दिया। मूर्तिपूजा का खण्डन आर्यसमाज का एक प्रधान कार्य था। रावबहादुर महिपतराम-रूपराम ने अपने व्याख्यान में इस बात पर प्रकाश डाला था कि मूर्तिपूजा की प्रथा समाप्त करने से आर्य जाति को क्या लाभ होगा। इस समय ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजी भी मूर्तिपूजा का विरोध कर रहे थे और उनके विद्वान् वक्ताओं के इन विषयों पर आर्यसमाज में व्याख्यान कराये जाते थे। बाबू नागेन्द्रनाथ ने अंग्रेजी भाषा में मूर्तिपूजा के विषय पर बम्बई आर्यसमाज में व्याख्यान दिया था। आर्यसमाज के उत्साही महाराष्ट्रीय उपमन्त्री अन्ना मार्तण्ड जोशी ने जाति-भेद के खण्डन और ईश्वर द्वारा अवतार न लेने के सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन अपने एक भाषण में किया था। इस समय आर्यसमाज के समर्थक वल्लभाचार्य मत के आलोचक और विरोधी थे, अतः आर्यसमाज के व्याख्यानों में इस मत का खण्डन भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। श्री लीलाधर हरि ने वल्लभाचार्य-सम्प्रदाय की स्थिति पर इस दृष्टि से दो व्याख्यान दिये थे। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने सन्ध्योपासना के विषय पर भाषण दिया था। श्री प्राणजीवनदास कहानदास ने सत्यार्थ-प्रकाश के पहले समुल्लास की व्याख्या अपने भाषण में की थी। अन्य व्याख्यानों के विषय थे—आर्यों के कर्तव्य, आर्यों का व्यवहार, देशाटन, विद्याप्रेम तथा एकता, पुरुषार्थ तथा ईश्वर का अस्तित्व। डॉक्टर अन्ना मोरेश्वर कुन्ते ने वेद-शास्त्रों की उत्कृष्टता के विषय में तीन व्याख्यान दिये थे। ये सभी विषय बड़ा सामयिक महत्त्व तथा आकर्षण रखते थे।

आर्यसमाज की स्थापना के समय महर्षि बम्बई में काफी समय तक रहे और इस समय वे बालकेश्वर में कुछ श्रद्धालु जिज्ञासु व्यक्तियों को संस्कृत पढ़ाने का भी कार्य करते रहे, क्योंकि वेदों के अध्ययन के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक था। महर्षि के चरणों में

बैठकर पण्डित सेवकलाल, श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा रामदास छवीलदास लल्लूभाई ने नियमित रूप से महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य तथा न्यायदर्शन का स्वाध्याय किया। महर्षि के इन तीन शिष्यों में से दो—श्यामजी कृष्ण वर्मा और रामदास बैरिस्टरी का अध्ययन करने के लिए विलायत गये। स्वामीजी अपने पत्रों में श्यामजी कृष्ण वर्मा को निरन्तर वहाँ संस्कृत का उच्च अध्ययन करने और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्राध्यापक और सुप्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी कोष के निर्माता मोनियर विलियम्स से मिलने की प्रेरणा करते रहे।

बम्बई आर्यसमाज के आरम्भिक कार्यकलाप : (क) संस्कृत पाठशाला—बम्बई आर्यसमाज ने महर्षि द्वारा बताये कार्यों को बड़े उत्साह से किया। महर्षि संस्कृत भाषा के पठन-पाठन पर बहुत बल देते थे, अतः इसके लिए बम्बई समाज में **मीठाबाई संस्कृत पाठशाला** की स्थापना की गयी। सेठ जीवनदास मूलजी द्वारा उनकी वसीयत में किये गये ६००० रुपये के दान से इस कार्य में बड़ी सहायता मिली, अतः इस पाठशाला का नाम उनकी माताजी के नाम पर रखा गया। इसमें न केवल संस्कृत भाषा की सामान्य शिक्षा दी जाती थी, अपितु प्रति रविवार को प्रातःकाल स्त्री-पुरुषों के लिए संस्कृत में उपनिषद् पढ़ाने के विशेष वर्ग भी चलाये जाते थे। इस पाठशाला को चलाने में शास्त्री नरहरिविष्णु गोडसे ने बड़ा सहयोग दिया। **(ख) वेद-धर्म-प्रचारिणी सभा**—वेद-प्रचार का कार्य चलाने के लिए कुछ उत्साही नवयुवकों ने वेद-धर्म-प्रचारिणी नाम की संस्था की स्थापना की। इसमें सर्वश्री डॉक्टर कल्याणदास देसाई, देवीदास देसाई, सेठ रणछोड़दास भवान लोटवाला आदि गुजराती नवयुवक बड़े उत्साह से कार्य करते रहे। इन दिनों आर्यसमाज के प्रमुख प्रचारक पण्डित बालकृष्ण शर्मा थे। वह बम्बई और उसके पास के प्रदेशों में अपने ओजस्वी भाषणों के लिए प्रसिद्ध थे। इसी समय बम्बई में **वेद-प्रचार फण्ड** की स्थापना की गयी। उत्साही सदस्यों के पुरुषार्थ से इस कार्य के लिए एक लाख रुपये की धनराशि एकत्र कर ली गयी। इस समय आर्यसमाज के प्रचारकों में स्वामी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। उन दिनों इन संन्यासियों के व्याख्यानों की बड़ी धूम थी। स्वामी नित्यानन्द के व्याख्यान उस समय आर्यसमाज के अतिरिक्त बम्बई के सुप्रसिद्ध व्याख्यान भवनों—कावस जी इंस्टीट्यूट, झवेरबाग, माधवबाग आदि में हुआ करते थे और जनता पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता था। **(ग) पत्र-पत्रिकायें**—बाद में समाज की ओर से वैदिक धर्म के प्रचार के लिए **आर्य** नामक मासिक पत्र निकाला गया। श्री प्राणजीवनदास विट्ठलदास बसाईवाला इसके सम्पादक बने। कुछ समय बाद इस पत्र को साप्ताहिक बना दिया गया और श्री मोतीलाल दयाल इसके सम्पादक बने। इस पत्र ने बम्बई में आर्यसमाज के प्रचार में बड़ा भाग लिया। १८८४ से प्रचार-कार्य के लिए बम्बई आर्यसमाज की ओर से **आर्यप्रकाश** नामक मासिक-पत्र प्रकाशित किया जाने लगा। इसके पहले सम्पादक श्री तुलजाराम खाण्डवाला थे। इसके बाद काफी समय तक पण्डित सेवकलाल इस पत्र को चलाते रहे। इसके लेखकों में सर्वश्री लीलाधर हरि, मास्टर प्राणजीवनदास, अन्ना मार्त्तण्ड जोशी, डॉक्टर तुलजाराम खाण्डवाला, पण्डित कृष्णराम इच्छाराम के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित कृष्ण-राय इसके सम्पादक-पद पर भी कार्य करते रहे। १८९० के बाद इस पत्र का प्रकाशन बन्द हो गया। (घ) आर्यसमाज के नियमों के अनुसार वैदिक धर्म के गम्भीर अध्ययन के

लिए बम्बई आर्यसमाज ने एक **श्रीमद्दयानन्द पुस्तकालय** की स्थापना की। इसमें वैदिक साहित्य के सभी प्रामाणिक ग्रन्थों—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र का संग्रह किया गया था। यहाँ आकर व्यक्ति वेद-वेदांग, आरण्यक, श्रौत सूत्र, गृह्य-सूत्र, स्मृतियों, दर्शनों, उपनिषदों का गम्भीर अध्ययन कर सकता था।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बम्बई आर्यसमाज के एक सदस्य सेठ जेठाभाई प्रेमजी ने स्वामी नित्यानन्द की प्रेरणा से १९०१ में अपनी वसीयत करते हुए एक ट्रस्ट इस उद्देश्य से बनाया कि इससे महर्षि के सत्यार्थप्रकाश और छः दर्शनों को गुजराती भाषा में अनुवाद करके बम्बई आर्यसमाज के तत्त्वावधान में कम कीमत पर प्रकाशित किया जाय। इस ट्रस्ट द्वारा सांख्यदर्शन आदि कुछ दर्शनों का अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही उन्होंने इस ट्रस्ट की धनराशि से स्वामी नित्यानन्द के दस व्याख्यान कराने को कहा था। १५-१२-१९०२ को स्वामीजी ने इस योजना के अनुसार पहला व्याख्यान आर्यसमाज-मन्दिर बम्बई में देते हुए कहा था—"स्वर्गवासी सेठ साहब ने १५,००० रुपये कन्या पाठशाला को, ३००० रुपये काशी पाठशाला को, अपने परिवार के लिए १५००० रुपये रखकर शेष सत्यार्थप्रकाश के गुजराती भाषान्तर छापने तथा मेरे दस व्याख्यान देने के लिए दिये थे।"

कार्यकर्ता—इस समय आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं में रायबहादुर गोपालराव-हरि देशमुख और अन्ना मार्तण्ड जोशी के नाम उल्लेखनीय हैं, ये दोनों महाराष्ट्र-ब्राह्मण थे। श्री गोपालराव हरि देशमुख का परिचय इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में विस्तार से दिया जा चुका है। महर्षि के साथ इनका प्रीतिपूर्ण सम्बन्ध था। महर्षि ने इन्हें परोपकारिणी सभा का सदस्य भी बनाया था। सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद बम्बई में यह अपना अधिकांश समय समाज को दिया करते थे। बहुत वर्षों तक यह आर्यसमाज के प्रधान रहे। इन्होंने आर्यसमाज के भवन-निर्माणकार्य में गहरी दिलचस्पी ली और इसकी प्रगति को देखने के लिए प्रति सप्ताह दो-तीन बार नियमित रूप से आते रहते थे। इनकी मृत्यु के बाद आर्यसमाज ने इनके सुपुत्र डॉक्टर मोरेश्वर गोपाल देशमुख को आर्यसमाज का प्रधान बनाया।

श्री अन्ना मार्तण्ड जोशी समाज के उत्साही कार्यकर्ता थे। सरकारी नौकरी करते हुए भी वह समाज के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। सामाजिक उत्सवों में बड़ी शुद्ध हिन्दी में कीर्तन किया करते थे। नाटक-कला में विख्यात होने तथा अनेक मराठी नाटकों का लेखक होने के नाते ये इस कला का उपयोग आर्यसमाज के प्रचार के लिए सफलतापूर्वक करते थे।

भवन-निर्माण—बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना होने के बाद इसके अधिवेशन हर शनिवार को सायंकाल साढ़े चार बजे नानाशंकर सेठ के घर के पीछे मराठी प्राइवेट इंगलिश स्कूल में हुआ करते थे, क्योंकि समाज के पास अपना कोई भवन नहीं था। महर्षि के भक्तों को शीघ्र ही यह अनुभव होने लगा कि समाज की विभिन्न गतिविधियों को चलाने के लिए और इसके साप्ताहिक अधिवेशनों को उत्तम रीति से सम्पन्न करने के लिए एक पृथक् भवन की बड़ी आवश्यकता है। समाज की स्थापना होने के बाद महर्षि की प्रेरणा से आर्यसमाज के सदस्य इसके लिए उपयुक्त स्थान की खोज करने लगे और उन्होंने इसके लिए धन-संग्रह का भी कार्य आरम्भ कर दिया। सर्वश्री सेवकलाल-

करसनदास और लीलाधर हरि बम्बई में संयुक्त रूप से व्यवसाय करते थे। इन्होंने अपने व्यापारिक खाते में से ११२८ रुपये की धनराशि सर्वप्रथम महर्षि की प्रेरणा से इस कार्य के लिए दान की। इसी प्रकार समाज के अन्य सदस्यों ने भी अपनी सामर्थ्य और श्रद्धा के अनुसार इस कार्य के लिए दान दिया। शीघ्र ही दस-बारह हजार रुपये एकत्र हो गये। इस धनराशि से भवन के लिए भूमि खरीदने की योजना बनायी गयी। उस समय सेठ गोकुलदास करमसी गिरगाँव में रहा करते थे। उनकी काकड़वाड़ी गली की ९८२ वर्ग गज जमीन इस कार्य के लिए ६४०० रुपये में खरीद ली गयी। २७ फरवरी, १९८२ को इस जमीन की रजिस्ट्री करवा ली गयी। इसपर समाज की ओर से ट्रस्टियों के रूप में सर्वश्री रायबहादुर गोपाल राव हरि देशमुख, सेवकलाल करसनदास, सुन्दरदास धर्मसिंह, जीवनदास मूलजी तथा प्राणजीवनदास कहानदास के नाम लिखे गये। ये उस समय समाज के प्रमुख कार्यकर्ता थे। इस भूमि के अगले भाग में पुराने ढंग की दोमंजिली इमारत (चाल) तथा निचली मंजिल पर पाँच दुकानें बनी हुई थीं और इसके पीछे सारी जमीन खाली थी। यहाँ एक कामचलाऊ पक्का छप्पर बाँध दिया गया और उसमें समाज के साप्ताहिक अधिवेशन किये जाने लगे। स्थान लेने के बाद यहाँ भवन-निर्माण के लिए धन-संग्रह किया जाने लगा और शनैः-शनैः समाज के भवन-निर्माण का काम पूरा हुआ।

१९२० तक इस समाज में पुरानी पीढ़ी के सब कार्यकर्ता लगभग स्वर्गवासी हो चुके थे और उनका स्थान नवीन तरुण उत्साही कार्यकर्ताओं ने ले लिया था। इनका परिचय हमें १९२० में समाज की अंतरंग सभा और पदाधिकारियों की सूची से प्राप्त होता है। इस समय प्रधान से ऊपर सभा के अधिकारियों के दो और प्रतिष्ठित वर्ग बनाये गये थे। पहला वर्ग मान्याधिकारी का था। इस पद पर स्वामी नित्यानन्द के सहयोगी विश्वेश्वरानन्द जी थे। दूसरा वर्ग संरक्षकों या ट्रस्टियों का था। इस समय समाज के ट्रस्टी सेठ रणछोड़दास भवान (मैनेजिंग ट्रस्टी), दामोदर सुन्दरदास, जयनारायण इन्दुमल दानी, सेठ शूरजी वल्लभदास तथा यमुनादास नारायणदास थे। समाज के प्रधान डॉक्टर कल्याणदास देसाई, उपप्रधान पण्डित बालकृष्ण शर्मा, मन्त्री कालीदास कुबेरदास पटेल, उपमन्त्री डाह्याभाई मोतीभाई, कोषाध्यक्ष दामोदरदास जयकिशनदास मेहता, पुस्तकाध्यक्ष महाशंकर पुरुषोत्तम उपाध्याय, आडिटर रणछोड़लाल गिरधरलाल थे। इसके अतिरिक्त २३ व्यक्ति अन्तरंग सभा के सदस्य थे। इनमें प्राणजीवनदास विट्ठलदास गुप्त, गिरधरलाल गोविन्दजी मेहता, प्राणजी विश्राम, प्रोफेसर हरिश्चन्द्र, दुर्गाप्रसादशर्मा, नगीनदास विशनदास मास्टर उल्लेखनीय थे। १८७५ में आर्यसमाज स्थापित होने पर इसके पदाधिकारियों की संख्या छः तथा अन्तरंग सभा के सदस्यों की संख्या पाँच थी। किन्तु अब इसके एक मान्याधिकारी, पाँच ट्रस्टी, सात पदाधिकारी और २१ सदस्य थे। यह समाज की बढ़ती हुई लोकप्रियता और कार्यकलापों को सूचित करता है। इस समय समाज का कार्य बड़े उत्साह से चलता रहा। मीठाबाई संस्कृत पाठशाला में अध्यापक के रूप में पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शर्मा कार्य करते रहे। इसी समय बम्बई में काकड़वाड़ी के अतिरिक्त अन्य उपनगरों में भी समाज की शाखायें स्थापित होने लगीं। सबसे पहली शाखा माटुंगा में बनी। बाद में इसने स्वतन्त्र आर्यसमाज का रूप धारण कर लिया। समाज के साथ ही व्यायामशाला का कार्य कुछ उत्साही नवयुवकों ने शुरू किया। १९२५ में इस समाज के कुछ उत्साही सदस्यों ने महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्मभूमि टंकारा

में जन्मशताब्दी का समारोह बड़े उत्साह से मनाया। इसको सफल वनाने में सर्वश्री हरगोविन्द धर्मसी कांँचवाला, विजयशंकर मूलशंकर, गिरजाशंकर का बड़ा योगदान था। इसी दशक में भायखला, मजगाँव, कालवादेवी, परेल, चींच पोकली, कोलावा में समाज की नवीन शाखायें स्थापित हुईं और समाज का प्रचार-कार्य बढ़ने लगा।

प्रमुख कर्मठ कार्यकर्ता—इस समाज की आरम्भिक अर्द्धशताब्दी में इसके कार्यों में प्रमुख भाग लेनेवाले कार्यकर्ता इस प्रकार हैं। (१) **श्री जीवनदयाल**—ये आर्यसमाज के सबसे पुराने कार्यकर्ता थे और समाज की स्थापना से १९०३ में अपनी मृत्यु-पर्यन्त आर्यसमाज के कार्य में पूरे उत्साह से भाग लेते रहे। महर्षि दयानन्द के परमभक्त थे और मरते समय अपनी पत्नी को यह निर्देश दे गये थे कि वह समाज के वार्षिकोत्सवों में इसी तरह पूरे उत्साह से भाग लेती रहे। १८७५ में जव महर्षि दयानन्द सरस्वती का रामानुज समुदाय के कमलनयन आचार्य के साथ फरामजी कामाजी इंस्टीट्यूट में 'वेद में मूर्तिपूजा' के विषय पर शास्त्रार्थ हुआ था तो इन्होंने उस समय इसकी व्यवस्था में महर्षि की सहायता में प्रमुख भाग लिया था। १९०० से १९०२ तक ये काकड़वाड़ी आर्यसमाज के प्रधान-पद को भी सुशोभित करते रहे। (२) **श्री मोतीलाल त्रिभुवनदास दलाल**—वेद-धर्म-प्रचारिणी सभा के स्थापित होने पर इनका आर्यसमाज के साथ सम्वन्ध हुआ। यह अंग्रेजी अच्छी जानते थे और इस भाषा में बड़े प्रभावशाली व्याख्यान देते थे। इनसे अंग्रेजी पढ़े-लिखों में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार हुआ। इन्होंने 'आर्यप्रकाश'-पत्र का सम्पादन भी योग्यतापूर्वक किया। 'मुंबई समाचार' नामक गुजराती पत्र में आर्य के नाम से ये आर्यसमाज के विभिन्न विषयों पर अनेक लेख लिखा करते थे। वेद-धर्म-प्रचारिणी सभा का आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध होने पर ये समाज की अन्तरंग सभा के भी सदस्य कई वर्ष तक रहे। (३) **श्री प्राणजीवनदास विट्ठलदास गुप्त**—वेद-धर्म-प्रचारिणी सभा स्थापित होने पर ये आर्यसमाज में आये। 'आर्य' पत्र निकालने में इनका बड़ा योगदान था। इसके वाद गुजराती भाषा में इन्होंने आर्यसमाज-सम्वन्धी अनेक विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तिकायें लिखीं और प्रकाशित कीं। इन्हें संस्कृत भाषा का वड़ा अच्छा ज्ञान था। जब नासिक के निकट देवलाली में गुरुकुल की स्थापना हुई तो डॉक्टर प्राणजीवन-दास के बाद यही इस गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता का कार्य तीन वर्ष तक करते रहे। (४) **पण्डित बालकृष्ण शर्मा**—इनका मूल जन्मस्थान खान देश जिले में एरण्डोल नामक स्थान था। ये वेद-धर्म-प्रचारिणी-सभा के कार्यकर्ता और उपदेशक के रूप में आर्यसमाज में आये। इन्हें वैदिक साहित्य, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र आदि का वड़ा अच्छा ज्ञान था और काफी समय तक ये मीठाबाई संस्कृत पाठशाला के अध्यापक का कार्य करते रहे। इनके उपदेश और व्याख्यान बड़े प्रभावशाली होते थे। आर्यसमाज के पौराणिक पण्डितों के साथ होनेवाले शास्त्रार्थों में ये प्रमुख भाग लेते थे और इनकी अगाध विद्वत्ता, वाक्पटुता, धैर्य और गम्भीरता से आर्यसमाज को इन शास्त्रार्थों में सफलता मिलती थी। ये पण्डित भीमसेन शर्मा के शिष्य थे और इन्होंने गुजरात में अपने शिष्य कार्यकर्ताओं की एक विद्वत् त्रिमूर्ति—पण्डित मायाशंकर शर्मा, महारानीशंकर शर्मा और हरिशंकर विद्यार्थी के रूप में तैयार की। पण्डित मायाशंकर शर्मा ने शुक्ल तीर्थ गुरुकुल में आचार्य का काम योग्यतापूर्वक किया और बाद में विशेष अध्ययन के लिए वाराणसी भी गये। पण्डित महारानी शंकर शर्मा ने गुजरात में आर्यसमाज के प्रचार का बड़ा कार्य किया।

(५) पण्डित हरिशंकर शर्मा—इनकी सारी शिक्षा-दीक्षा पण्डित बालकृष्ण शर्मा के पास हुई और ये उनके साथ आर्यसमाज का प्रचार करते रहे। बम्बई प्रान्त में गुरुकुल की स्थापना के लिए धन-संग्रह करने के लिए ये अफ्रीका गये और वहाँ दो वर्ष तक आर्यसमाज का प्रचार करते रहे। वहाँ से लौटने के बाद ये खेड़ा जिले तथा काठियावाड़ में समाज के प्रचार में लगे रहे। **(६) श्री गिरधरलाल गोबिन्दजी मेहता**—ये बालकृष्ण-शर्मा के शिष्यों में से थे। काफी समय तक ये घाटकोपर के कन्या विद्यालय में कार्य करते रहे। बाद में टंकारा कन्या विद्यालय के मुख्याधिष्ठाता बने। पण्डित बालकृष्ण शर्मा के सांताक्रुज गुरुकुल का आचार्य बनने के बाद ये मुंबई समाज के उपदेशक और मीठाबाई-संस्कृत पाठशाला के अध्यापक का कार्य करते रहे। गुरुकुल के लिए इन्होंने लगभग ५० हजार रुपये की धनराशि एकत्र की। **(७) स्वामी नित्यानन्दजी**—इस युग में पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में आर्यसमाज के सबसे अधिक प्रभावशाली प्रचारक स्वामी नित्यानन्द जी थे। उन्होंने गुजरात काठियावाड़ में सबसे अधिक आर्यसमाज स्थापित किये। उनका जन्म जोधपुर राज्य के जालौर नामक स्थान में श्रीमाली ब्राह्मण-कुल में हुआ था। बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी। पहले उनका नाम ब्रह्मचारी रामदत्त था। वह उस समय की सामाजिक कुरीतियों से खिन्न थे। नाना के पास रहते हुए गाँव में जितना विद्याभ्यास सम्भव था, कर चुकने के पश्चात् उच्च अध्ययन के लिए वह काशी जाने का आग्रह करने लगे। एक दिन स्वयमेव विद्या-प्राप्ति के लिए वह घर से निकल पड़े। अहमदाबाद, बम्बई, पूना, सतारा, नासिक आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए वह वाराणसी पहुँचे, और वहाँ अनेक पण्डितों से विभिन्न संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन करते रहे। वहाँ वह गोपाल गिरि नामक संन्यासी से मिले। यह संन्यासी वाराणसी में महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आये थे और उनकी मृत्यु के समय में अजमेर में थे। इन्हीं की सत्संगति से ये आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। कुछ समय बाद इन्होंने कानपुर, कन्नौज, शाहजहाँपुर, बरेली आदि में भ्रमण करते हुए ब्रह्मचारी रामदत्त के वेश में तुलसी रामायण की कथा अनेक स्थानों पर की। उनकी भाषण-शैली बड़ी रोचक, आकर्षक और मधुर थी। उनकी कथाओं में हजारों श्रोता एकत्र होते थे। एक बार जब भ्रमण करते हुए वह बरेली पहुँचे तो वहाँ उन्होंने एक आर्यसमाजी पण्डित यज्ञदत्त को वेदान्तदर्शन की शिक्षा दी और महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को इनसे लेकर पढ़ा। सन् १८८२ में शाहजहाँपुर में विचरण करते हुए उन्होंने तिलहर-निवासी श्री चिमनलाल वैश्य के अनुरोध से आर्यसमाज का प्रचार-कार्य आरम्भ किया और अपनी प्रचार-यात्रा में गाजियाबाद स्टेशन पर इनकी भेंट सुप्रसिद्ध आर्य संन्यासी स्वामी विश्वेश्वरानन्द से हुई और इनके साथ परिचय घनिष्ठ मैत्री के रूप में परिणत हो गया। इसके बाद आर्यसमाज में यह राम-लक्ष्मण की जोड़ी बड़े उत्साह से प्रचार-कार्य करती रही। इन्होंने इन्दौर आदि अनेक स्थानों में आर्यसमाज स्थापित किये। अनेक स्थानों पर उन्होंने पौराणिक पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किये। इनमें बूंदी के शास्त्रार्थ के बारे में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की यह सम्मति थी कि "महर्षि दयानन्द की मृत्यु के पीछे ऐसा महत्त्वपूर्ण कोई शास्त्रार्थ आर्यसमाज ने नहीं किया।" श्री रानाडे के माध्यम से इनका सम्पर्क बड़ौदा तथा मैसूर के राजाओं से हुआ और उनको इन्होंने वैदिक धर्म का भक्त बनाया। बड़ौदा महाराज ने इन्हीं की प्रेरणा से अपने राज्य में अस्पृश्य जातियों के विद्यालयों

की व्यवस्था के लिए श्री आत्माराम अमृतसरी को अमृतसर से बुलाया और इससे बड़ौदा आर्यसमाज का और शिक्षण-संस्थाओं का एक महान् केन्द्र बना। आपने बम्बई प्रान्त में नासिक के निकट देवलाली में एक गुरुकुल स्थापित किया, पुरुषार्थप्रकाश लिखा और वैदिक कोश की महत्त्वपूर्ण योजना बनायी। इनके सहयोगी स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने उस कार्य को आगे बढ़ाया, और अब वह 'विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इंस्टीट्यूट' के रूप में एक विशाल अनुसन्धान संस्थान का रूप धारण कर चुकी है। इनका देहावसान ८ जनवरी, सन् १९१४ को बम्बई में हुआ।

(३) आर्यसमाज फोर्ट बम्बई

इस समाज की गणना बम्बई के प्रमुख व पुराने आर्यसमाजों में की जाती है। फोर्ट बम्बई नगर का पुराना और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में बम्बई नगरी का फोर्ट-क्षेत्र केवल अंग्रेजों के लिए ही था। वहाँ प्रधानतया अंग्रेजी व्यापारियों व उद्योगपतियों तथा अंग्रेजी सरकार के कार्यालय थे, और वहाँ के व्यापारिक संस्थान भी प्रायः उन्हीं के प्रभुत्व में थे। अंग्रेज तो आर्यसमाज के सुधारवादी, राष्ट्रीय व प्रगतिशील कार्यकलाप को आशंका की दृष्टि से देखते ही थे, पर विदेशी वातावरण में पले हुए भारतीय अफसर तथा सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्ति भी आर्यसमाज के प्रति विरोध-भाव रखा करते थे। इस दशा में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना एक अत्यन्त साहसिक कार्य था। पर बम्बई में ऐसे युवक विद्यमान थे, जो महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित थे, और वैदिक धर्म में जिनकी अगाध आस्था थी। उन्हीं के उत्साह तथा लगन से फोर्ट में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस आर्यसमाज की स्थापना का मुख्य श्रेय एक कन्नड भाषा-भाषी महानुभाव श्री एम० के० अमीन तथा दयानन्द जन्म-शताब्दी मथुरा (फरवरी, १९२५) में भाग लेनेवाले कुछ नवयुवकों को है। ये नवयुवक मथुरा में धूमधाम से मनायी जानेवाली शताब्दी में सम्मिलित हुए, और वहाँ से नवीन प्रेरणा, उत्साह और महर्षि का सन्देश संसार में फैलाने की प्रबल आकांक्षा लेकर बम्बई लौटे थे। उन्होंने सन् १९२६ में फोर्ट में बम्बई नगर का दूसरा आर्यसमाज स्थापित किया।

इसके विकास में श्री एम० के० अमीन का योगदान उल्लेखनीय है। तेरह वर्ष की छोटी आयु से ही उन्होंने आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया था। पहले उन्होंने सामाजिक कार्यों के लिए **कर्नाटक भ्रातृ मण्डल** के नाम से एक संस्था बनायी। बाद में इसे **आर्य भ्रातृ समाज** का नाम दिया गया। कालान्तर में आर्य बन्धुओं के सहयोग से यह आर्य भ्रातृ समाज ही आर्यसमाज फोर्ट बम्बई के रूप में परिणत हो गया। श्री अमीन ने अपने जीवन के ४५ बहुमूल्य वर्ष इस समाज के विकास में समर्पित किये और इसे बम्बई का अग्रणी समाज बना दिया। उन्हीं के प्रयास से बोरा बाजार के एक छोटे-से कमरे में शुरू किये गये आर्यसमाज फोर्ट का इस समय बाजार गेट स्ट्रीट में अपना भव्य व विशाल भवन है। यह समाज बम्बई में वैदिक धर्म के प्रचार तथा जन-कल्याण के कार्यकलापों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, और वहाँ से अनेक प्रकार की लोक-हितकारी योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं।

गतिविधियाँ तथा प्रवृत्तियाँ—यहाँ आरम्भ से प्रति रविवार नियमित रूप से ९ बजे से ११ बजे तक साप्ताहिक सत्संग में अग्निहोत्र के बाद विद्वान् वक्ताओं के प्रवचन

होते रहे हैं। श्रावणी उपाकर्म, कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी एवं ऋषि-बोधोत्सव आदि धार्मिक पर्व बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं। आरम्भ से ही इस समाज में आध्यात्मिक और धार्मिक कार्यक्रम आयोजित करने के साथ-साथ नवयुवकों के शारीरिक विकास एवं अंग-सौष्ठव के लिए आर्य वैभव व्यायामशाला का निर्माण किया गया। इसमें आर्य-तरुण, कुशल व्यायाम-शिक्षकों की देख-रेख में नवीनतम शारीरिक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। विभिन्न प्रकार के व्यायामों के लिए १५००० रुपये से अधिक धनराशि के नूतन उपकरण इस व्यायामशाला में विद्यमान हैं। प्रतिदिन ३०० से अधिक युवक यहाँ शारीरिक शिक्षा ग्रहण करते हैं, और विभिन्न व्यायाम-प्रतियोगिताओं में भाग लेकर अनेक बार महाराष्ट्रश्री आदि अलंकरण और उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। १९३५ में यहाँ आर्यसमाज की स्थापना के दस वर्ष के भीतर ही आर्य-वीरदल की स्थापना हो गयी थी। यह युवकों में अनुशासन की तथा सेवा की भावना उत्पन्न करता है। इसने बम्बई के साम्प्रदायिक उपद्रवों और अनेक दुर्घटनाओं के अवसर पर लोक-सेवा का सराहनीय कार्य किया है। इसके साथ ही एक आर्य वीरांगना दल भी है जिसमें आर्य युवतियों को यज्ञ, भजन, व्यायाम, प्राणायाम तथा योगासन का प्रशिक्षण दिया जाता है। बम्बई में यह अपने ढंग का अनोखा संगठन है। देश के विभाजन के समय शरणार्थी रोग-पीड़ितों की सेवा के लिए इस समाज की ओर से एक 'रुग्ण वाहिका गाड़ी' (एम्बुलेन्स) रखी गयी थी, जो अबतक बड़ा उपयोगी कार्य कर रही है। एक निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय द्वारा रोगियों की सेवा की जाती है।

इस समाज के संस्थापक श्री अमीन ने अनाथ, अनाश्रित महिलाओं की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। वह आर्यसमाज के माध्यम से भारतीय सामाजिक स्वास्थ्य-संघ (एसोसिएशन फॉर सोशल हैल्थ इन इण्डिया) की नारी-रक्षा-समिति के प्रधान रहे। उन्होंने अनेक ऐसी संकटग्रस्त लड़कियों का उद्धार किया, जो वेश्यावृत्ति के लिए विवश की जा रही थीं। उन्होंने उनका उद्धार करके उन्हें आर्यसमाज में शरण दी, उनके लिए योग्य वर खोजे, उनका विवाह कराया तथा उनके लिए अच्छा जीवन बिताने का मार्ग प्रशस्त किया। निराश्रित तथा असहाय महिलाओं की रक्षा करने और समाज-विरोधी तत्त्वों का विरोध करने के कार्य में आर्यसमाज को उन्होंने अग्रणी बनाया। उनके नेतृत्व में आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इसके साथ ही इस समाज द्वारा जन-सेवा के अन्य भी अनेक कार्य किये गये। होनहार प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। मानसिक विकास के लिए वाचनालय और पुस्तकालय की व्यवस्था है। विभिन्न प्रकार की समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों के लिए निःशुल्क कानूनी सलाह का एक केन्द्र समाज द्वारा चलाया जा रहा है। विवाह आदि संस्कारों की समाज द्वारा सुन्दर व्यवस्था की जाती है। इस समाज की ओर से प्रवासी भारतीयों के सुविधा के लिए बम्बई में बृहद् भारतीय समाज की स्थापना की गयी। इस समाज ने बम्बई के आर्यसमाजों को एक सूत्र में आबद्ध होकर संगठित रूप से कार्य करने में बहुमूल्य योगदान दिया है।

(४) आर्यसमाज सान्ताक्रुज, बम्बई

पिछली शताब्दी में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने काकड़वाड़ी (गिरगाँव) में

पहले आर्यसमाज की स्थापना की थी, उस समय बम्बई बड़ा छोटा-सा नगर था। उसकी आबादी लगभग साढ़े छः लाख थी, और मुख्य रूप से बम्बई टापू के दक्षिणी भाग में अधिक बसी हुई थी। अतः इसी प्रदेश में आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी। किन्तु पिछली एक शताब्दी में बम्बई नगर से बढ़कर एक महानगर बन गया है, और उसकी आबादी ८० लाख से ऊपर हो गयी है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों में और १९४७ में भारत-विभाजन के बाद पाकिस्तान से आनेवाले सिन्धी और पंजाबी शरणार्थियों ने तथा उद्योगीकरण ने इस नगर की जनसंख्या और विस्तार में अद्भुत वृद्धि की है। इस शताब्दी के आरम्भ में सान्ताक्रुज समुद्री खाड़ी की दलदल में बसी हुई मछियारों, मल्लाहों और ईसाइयों की छोटी-सी बस्ती थी। किन्तु वर्तमान शताब्दी के आरम्भ के साथ इसमें आबादी बढ़ने लगी और इस बस्ती की आबादी १० लाख तक पहुँच गयी।

बम्बई शहर के विस्तार के साथ काकड़बाड़ी का आर्यसमाज उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता था। अतः नयी-नयी बस्तियों में आर्यसमाजों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और इनका निर्माण तेजी से होने लगा। बम्बई के नये आर्यसमाजों में सान्ताक्रुज का विशेष स्थान है। यह महाराष्ट्र प्रदेश के श्रेष्ठ समाजों में से एक है। अपनी धार्मिक एवं लोककल्याणकारी गतिविधियों से इसने जन-साधारण के हृदय में बहुत अच्छा स्थान बना लिया है।

सान्ताक्रुज में आर्यसमाज की स्थापना इस शताब्दी के पाँचवें दशक में हुई। यह नया समाज लक्ष्मी बीमा कम्पनी के मैनेजर, अनुभवी, वयोवृद्ध तथा पुराने आर्यसमाजी कार्यकर्ता लाला गणपतराय तलवाड़ के शुभ संकल्प एवं भगीरथ परिश्रम का परिणाम था।

१९४२ में श्री नवीनचन्द्र पाल, श्री मिश्रीलाल व्यास आदि कुछ आर्य युवकों ने सान्ताक्रुज-पश्चिम के आनन्द भवन में आर्य युवक संघ की स्थापना की थी। यही १९४४ में आर्यसमाज के रूप में परिणत हो गया। पहले ११ वर्ष (१९४४ से १९५४) तक इस समाज का अपना कोई निजी भवन नहीं था। इस समाज के साप्ताहिक सत्संग इसके विभिन्न सदस्यों के घरों पर होते थे, किन्तु इन वर्षों में आर्यसमाज के भवन-निर्माण के लिए निरन्तर धन-संग्रह किया जाता रहा। श्री गणपतराय तलवाड़ के अथक परिश्रम से ८० हजार रुपये की धनराशि एकत्र कर ली गयी और सान्ताक्रुज के पश्चिम में विट्ठलभाई पटेल मार्ग (लिंकिंग रोड) पर समाज के लिए एक भूखण्ड खरीद लिया गया। १९५५ में इस भूखण्ड पर आर्यसमाज के भवन का निर्माण आरम्भ किया गया।

इस आर्यसमाज की दो विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता, इस समाज का चुनाव एवं पदाधिकार के झगड़ों और संघर्षों से मुक्त होना है। यहाँ कार्यकर्ता पद-लोलुपता से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते और इसी कारण प्रतिवर्ष पदाधिकारियों का निर्वाचन सर्वसम्मति से होता है। पदाधिकारी अपना कर्तव्य निष्ठापूर्वक निभाने की दृष्टि से पदों को स्वीकार करते हैं, न कि उनसे कुछ लाभ उठाने के लिए। दूसरी विशेषता इसमें प्रान्तीयता का अभाव है, इस आर्यसमाज के सदस्यों में यद्यपि बहुसंख्या पंजाबी सदस्यों की है, संस्था के विकास में उनका बहुत बड़ा योगदान है, फिर भी यहाँ गुजरात तथा अन्य प्रान्तों के रहनेवाले व्यक्ति बड़े उत्साह से कार्य करते रहे हैं, आर्यसमाज में यद्यपि गुजराती सदस्यों की संख्या कम है, फिर भी यहाँ वर्षों तक गुजराती आर्य-बन्धुओं

ने आर्यसमाज के प्रधानपद को सुशोभित किया। डॉक्टर कल्याणजी भगवान् पटेल संस्था के आरम्भ से आजीवन प्रधानपद पर बने रहे। श्री अर्जुनभाई कुंवरजी पटेल १४ वर्षों तक इसके प्रधान रहे। श्री नवीनचन्द्र पाल लगातार २० वर्ष तक इसके क्रमशः मन्त्री, उपप्रधान और प्रधान पद को अलंकृत करते रहे।

(५) बम्बई नगर के अन्य आर्यसमाज

उपर्युक्त आर्यसमाजों के अतिरिक्त बम्बई नगर में विभाजन से पूर्व निम्नलिखित आर्यसमाज १९४७ से पूर्व स्थापित हो चुके थे—

(१) **माटुंगा**—यह १९३६ में स्थापित किया गया था। इसके प्रमुख कर्मठ कार्यकर्ता श्री हरगोविन्दजी कांचवाला और श्री लक्ष्मणराव ओपले थे। इसका अपना समाज-मन्दिर और पुस्तकालय था। यहाँ साप्ताहिक सत्संग के अतिरिक्त शुद्धि तथा अन्तर्जातीय विवाह के कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। १९३९ में यहाँ आर्य स्त्री समाज की भी स्थापना हो गयी थी।

(२) गोपी तालाब माटुंगा में भी एक आर्यसमाज रेलवे स्टेशन के निकट था। इसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री मानसिंह कालूराम रत्नाकर और नन्दलाल आर्य थे। इस समाज ने आर्य-वीरदल द्वारा विधवाओं तथा अनाथों की रक्षा का और लावारिस शवों के दाह-संस्कार का सराहनीय कार्य किया।

(३) **लोअर परेल**—इस आर्यसमाज द्वारा आर्य-वीरदल, वाचनालय और आर्य महिला मण्डल नामक संस्थायें चलायी गयीं। साप्ताहिक सत्संगों तथा विवाह-संस्कारों के अतिरिक्त इस समाज ने बेकार व्यक्तियों को काम पर लगाने का उपयोगी कार्य किया।

(४) **भोईवाड़ा** (मोरवाड़ा) की आर्यसमाज की स्थापना १९३८ में हुई थी। इसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री भगवान्जी हीराभाई पटेल और राजदेव थे। इस समाज का प्रारम्भ में पौराणिक और मुसलिम धर्मावलम्बियों से काफी संघर्ष हुआ। पण्डित विजयशंकर और सभाजीत मिश्र के नेतृत्व में समाज ने इसमें सफलता प्राप्त करते हुए उत्तम कार्य किया। १९३९ में शिवरी का आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसने दो व्यायामशालाओं तथा एक पुस्तकालय का सफलतापूर्वक संचालन किया। इसके अतिरिक्त कुर्ला चूना भट्ठी, नया गाँव और कीर्तिकरबाड़ी (दादर) एवं विलापारला में भी आर्यसमाज इस अवधि में अच्छा कार्य करते रहे।

(६) गुजरात में आर्यसमाजों का विस्तार

वर्तमान समय में गुजरात प्रदेश बम्बई से पृथक् है, और गुजरात के आर्यसमाजों की शिरोमणि सभा 'गुजरात प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा' है। इसके प्रधान श्री पण्डित आनन्दप्रिय तथा मन्त्री श्री जयन्तीलाल ठक्कर हैं। इस सभा से सम्बद्ध लगभग ६० आर्यसमाज हैं। इनमें बड़ौदा, टंकारा, सूरत, जामनगर और पोरबन्दर के आर्यसमाज उल्लेखनीय हैं।

किन्तु स्वतन्त्रता (१९४७) से पहले गुजराती भाषा-भाषी प्रदेश बम्बई के विशाल प्रान्त का अंग थे। उस समय इस विशाल प्रान्त में 'बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा' विद्यमान थी, जिससे सम्बद्ध समाजों की संख्या ६२ थी। सभा का एक समाचार-पत्र आर्यप्रकाश

गुजराती भाषा में निकाला जाता था। सभा की ओर से प्रचार के लिए चार उपदेशक, एक वैतनिक भजनीक, एक उपदेशिका और ६ अवैतनिक उपदेशक कार्य करते थे। शिक्षण-संस्थाओं को चलाने के लिए **बम्बई प्रदेश आर्य विद्या सभा** के नाम से एक संस्था पृथक् रूप से बनायी गयी थी; इस सभा के अधीन बम्बई के निकट घाटकोपर में निम्नलिखित संस्थायें चलायी जा रही थीं—(१) बाल-मन्दिर, (२) प्राथमिक पाठशाला, (३) हाई-स्कूल और विद्याश्रम अथवा छात्रावास, जहाँ विद्यार्थियों के निवास और धर्म-शिक्षा की व्यवस्था थी। आर्य प्रतिनिधि सभा के विभिन्न कार्यक्रम वेद-प्रचार, दलितोद्धार एवं साहित्य के प्रचार को व्यवस्थित रूप से किया जाता था। हैदराबाद-सत्याग्रह में इस प्रदेश से २४१ सत्याग्रहियों ने भाग लिया था और १८ हजार रुपये से अधिक की धनराशि एकत्र करके भेजी गयी थी।

उस समय गुजरात में आर्यसमाज की गतिविधियों का सबसे बड़ा केन्द्र बड़ौदा था। जिस प्रकार गुजरात के महर्षि दयानन्द ने पंजाब को वैदिक धर्म के प्रचार का गढ़ बनाया, उसी प्रकार महर्षि के एक शिष्य ने पंजाब से आकर बड़ौदा को आर्यसमाज का महान् केन्द्र बनाकर अपने ऋषि-ऋण का अपाकरण किया।

बड़ौदा आर्यसमाज—बड़ौदा में आर्यसमाज की स्थापना स्वामी नित्यानन्द ने ३१ मई, १८९४ में की थी। यहाँ उन्होंने पहले इन पाँच विषयों पर व्याख्यान दिये—वैदिक धर्म, ईश्वर, मानवीय कर्तव्य, पुनर्जन्म और वेदों में क्या है ? इन व्याख्यानों में बड़ौदा के उच्चतम अधिकारी एवं शिक्षित व्यक्ति उपस्थित हुए जिनमें निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—दीवान साहब राज्य बड़ौदा, रावबहादुर सर न्यायाधीश साहब, रावबहादुर बड़ौदा प्रान्त सूबा साहब तथा रावबहादुर असिस्टेण्ट सर सूबा। इन सब अधिकारियों पर इन उपदेशों का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा और जनता यहाँ आर्थसमाज की आवश्यकता अनुभव करने लगी, अतः उपर्युक्त सज्जनों की उपस्थिति में बड़ौदा में आर्यसमाज स्थापित हुआ। पहले आर्यसमाज के अधिकारियों का निर्वाचन इस प्रकार हुआ—संरक्षक—पण्डित हरगोविन्द गिरजाशंकर, सभापति—रा० रा० किशनलाल निहालचन्द बाबू बाबा गणपतिसिंह, उपसभापति—रा० रा० मंछाशंकर जयशंकर, मन्त्री और कोषाध्यक्ष—बाबू पंचमसिंह वर्मा, उप-मन्त्री—रा० रा० महादेवसिंह रामसिंह, पुस्तकाध्यक्ष—पण्डित लक्ष्मणराव रामचन्द्र।

उपर्युक्त सभी अधिकारी शिक्षा-सम्पन्न तथा समाज के उच्च एवं मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखते थे, सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों में दिलचस्पी रखते थे। यहाँ का पढ़ा-लिखा वर्ग आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुआ, इस बात का बड़ौदा की जनता पर बड़ा अच्छा असर पड़ा और उसे यह आशा हुई कि इस संस्था से बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होगा। यह सब स्वामी नित्यानन्द जी के व्याख्यानों का प्रभाव था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि बड़ौदा से निकलनेवाले एक सामयिक पत्र **बड़ौदा वत्सल** के सम्पादक ने इन उपदेशों के बारे में लिखा था—"श्री महाराजा साहब का जो लाखों रुपया दान में व्यय होता है उस सबसे अधिक लाभ इन व्याख्यानों से जनता को हुआ है।"

आर्यसमाज की स्थापना से बड़ौदा के कट्टरपंथी पौराणिकों में बड़ी हलचल मच गयी। उन्होंने जब यह देखा कि स्वामी नित्यानन्द के व्याख्यानों के फलस्वरूप बड़ौदा

में आर्यसमाज दृढ़ रूप से स्थापित हो गया है तो वे घबड़ा गये। इसकी स्थापना के तीन दिन बाद २ जून को एक विराट् सभा का आयोजन किया गया, और उसमें यह घोषणा की गयी कि स्वामी जी के व्याख्यानों का पूर्ण रूप से खण्डन और निराकरण किया जायेगा। इस सभा में उपस्थिति बढ़ाने के लिए यह भी विज्ञापन दिया गया कि इसमें देवी-देवताओं के चित्रों का भव्य प्रदर्शन पटवर्धन कम्पनी द्वारा मैजिक लैण्टर्न से किया जायेगा। इस कारण इस सभा में बच्चों की संख्या अधिक थी। इसमें स्वामी जी के व्याख्यानों का खण्डन युक्ति और प्रमाण की अपेक्षा गालियों द्वारा अधिक किया गया, यह समाचार एक स्थानीय पत्र सयाजी विजय में प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही साधारण जनता में भ्रांति उत्पन्न करने के लिए स्वामी जी के व्याख्यानों के बारे में श्री गोविन्द विष्णुदेव ने ४५ प्रश्नों के उत्तर आर्यसमाज और स्वामी जी से माँगे। स्वामीजी ने तत्काल सयाजी विजय नामक पत्र के दो-तीन अंकों में इन प्रश्नों के विस्तृत उत्तर दिये। इससे पौराणिक मण्डली पूरी तरह निरुत्तर और शान्त हो गयी। इसके बाद उसने फिर कभी आर्यसमाज तथा स्वामीजी के सम्मुख आने और विरोध करने का साहस नहीं किया। जनता में आर्यसमाज के प्रति प्रेम में वृद्धि हुई।

स्वामी नित्यानन्द बड़ौदा में कुछ समय ठहरने के बाद बम्बई चले गये और वहाँ से हैदराबाद, बंगलौर और मद्रास में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य करने के बाद अगले वर्ष अक्टूबर, १८९५ में बड़ौदा आये। इस बार सुप्रसिद्ध महाराष्ट्रीय समाज-सुधारक न्याय-मूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे ने इन्हें बड़ौदा महाराजा से भेंट करने के लिए एक परिचय-पत्र महाराजा के प्रधानमन्त्री के नाम लिखकर दिया। इसमें यह कहा गया था कि "ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं। हिन्दी में प्रभावशाली व्याख्यान देते हैं। १८९४ में मैंने इन्हें अपने परिचय-पत्रों सहित मैसूर भेजा था। वहाँ के दीवान सर शेषाद्रि अय्यर और महाराजा इनके विचार और कार्य-प्रणाली से अतीव प्रभावित हुए। महाराजा साहब ने इन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस के मद्रास अधि-वेशन के साथ होनेवाली मद्रास में होनेवाली समाज-सुधार-परिषद् में मैसूर का प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। इस वर्ष ये गुजरात में भ्रमण करना चाहते हैं। स्वर्गवासी पण्डित दयानन्द सरस्वती के कार्य को जारी रखने के लिए इच्छुक हैं। ये संन्यासी हैं और धन नहीं चाहते हैं, परन्तु उनकी स्वाभाविक रूप से यह इच्छा है कि वे महाराजा के समान शिक्षित नरेश से सहायता और सहानुभूति प्राप्त करें। मुझे आशा है कि आप इन्हें समाज-सुधार के कार्य में सहायता प्रदान करेंगे।"

बड़ौदा आकर स्वामी जी ने रानाडे का पत्र महाराजा साहब के पास भिजवाया जिसे पढ़कर उन्होंने स्वामी जी को अपने पास बुलाया, देर तक उनसे वार्तालाप किया और उनके कई व्याख्यान अपने निवास-स्थान लक्ष्मीविलास महल में करवाये। साथ ही, स्वामी जी से प्रतिवर्ष बड़ौदा में आकर उनसे मिलने को कहा और एक राजाज्ञा द्वारा अपने कर्मचारियों को यह प्रेरणा दी कि वे सब स्वामी जी के व्याख्यानों में उपस्थित रहें, क्योंकि इनके व्याख्यान सुनकर जितनी ज्ञानवृद्धि हो सकती है उतनी पढ़ने से नहीं हो सकती। इसके बाद शनैः-शनैः स्वामी जी का सम्बन्ध महाराजा साहब से बढ़ने लगा। ग्रीष्म ऋतु में महाराजा जब कभी ठण्डे पहाड़ी स्थानों—मसूरी, नैनीताल, कश्मीर में जाते थे, तो स्वामी जी को तार द्वारा अपने पास बुला लेते थे और उनसे धार्मिक और सामा-

जिक विषयों पर विचार-विमर्श करते रहते थे। महाराजा साहब के साथ यह सम्बन्ध होने के कारण बड़ौदा में आर्यसमाज को बड़ी सहायता मिली और इसका काम तेजी से बढ़ने लगा। इसका एक परिणाम पंजाब से एक कट्टर आर्यसमाजी और महर्षि के अनन्य भक्त का बड़ौदा आना था।

सितम्बर, १६०८ में पंजाब से श्री आत्माराम अमृतसरी के बड़ौदा आने पर बम्बई प्रान्त के गुजरात प्रदेश में वहाँ का समाज आर्यसमाज की सभी प्रकार की प्रमुख गतिविधियों और कार्यकलापों—हरिजनोद्धार, समाज-सुधार, शुद्धि, शिक्षा आदि का प्रमुख केन्द्र बन गया। १६०६ में यद्यपि लाहौर से डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज बड़ौदा आये थे, किन्तु उनका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। मास्टर आत्मारामजी के बड़ौदा आने से यहाँ आर्यसमाज के कार्य की स्थायी नींव पड़ी। बड़ौदा के महाराजा सयाजी गायकवाड़ बड़े प्रबुद्ध शासक और गुजरात में अछूतोद्धार के आदिप्रवर्तक थे। उन्होंने अपने राज्य में अछूतों या हरिजनों को उच्च वर्णों के समान अधिकार देने का कानून बनाया था, तथा उन्हें निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की थी। उनके इन सुधारों का ऊँची जातियों के लोगों ने घोर विरोध किया। राज्य द्वारा चलायी गयी, अन्त्यजों (अछूतों) को शिक्षा देने के लिए खोले जानेवाले स्कूलों की योजना सफल होने में एक बड़ी बाधा यह थी, कि इनको शिक्षा देने के लिए ऊँची जाति का कोई मास्टर या स्कूल-इन्सपेक्टर नहीं मिलता था। ईसाई शिक्षक अछूतों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने का प्रयास करते थे, अतः पहले कुछ समय तक महाराजा ने यह काम मुसलमान मास्टरों और स्कूल-निरीक्षकों से करवाना चाहा, किन्तु इसमें भी सफलता नहीं मिली। अन्त में महाराजा ने यह समस्या स्वामी नित्यानन्द के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कहा—"देखिए मैं अछूतों को उठाना चाहता हूँ, पर यहाँ के कट्टरपंथी मुझे इसमें रत्ती-भर भी सहायता नहीं देते हैं, किन्तु उसमें बाधाएँ डालते हैं। इस कार्य के लिए कोई हिन्दू मास्टर या इन्सपेक्टर मुझे नहीं मिलता है।" इसपर स्वामीजी ने महाराजा साहब से कहा—"मैं आदमी तुम्हें दे सकता हूँ, किन्तु यह शर्त है कि वह सीधा आपकी देखरेख में काम करेगा।" महाराजा साहब ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि उसका सम्बन्ध शिक्षा-सचिव से नाममात्र का रहेगा; वह सीधे मेरे पास आकर अपनी योजनायें बताया करें और मैं उनपर उचित आज्ञा देकर कार्यालय में भेज दूंगा। इसपर स्वामीजी ने महाराजा साहब को आश्वासन दिया कि वह वह शीघ्र ही उनके पास एक व्यक्ति भेज देंगे। स्वामी जी बड़ौदा से सीधे अमृतसर गये और वहाँ मास्टर आत्माराम से बड़ौदा राज्य में काम करने के लिए कहा। उनकी स्वीकृति लेकर स्वामी जी ने महाराजा साहब को पत्र लिख दिया और मास्टर आत्माराम जी पंजाब से बड़ौदा आ गये। महाराजा से मिलकर उन्होंने अस्पृश्य बालक-बालिकाओं के छात्रावास (अन्त्यजवसति गृह) के अध्यक्ष का और इनके स्कूलों के इन्सपेक्टर का पद सँभाल लिया।

इन्हें बड़ौदा में अपना कार्य करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अस्पृश्य बालक-बालिकाओं के रहने के लिए कोई व्यक्ति मकान देने को तैयार नहीं था और मकान के बिना यह कार्य सम्भव नहीं था। महाराजा साहब ने उन्हें कहा कि वह पता लगायें कि क्या कहीं कोई सरकारी मकान खाली है। कुछ दिनों तक वे बड़ौदा में इसके लिए चक्कर काटते रहे। इस बीच में अपने परिवार के आ जाने पर उन्हें अपने

लिए भी मकान की जरूरत हुई। उन्हें अपने लिए ऊँची जाति के मुहल्लों में मकान मिल जाता था, किन्तु जब मकान-मालिक को पता लगता था कि वह अछूत बच्चों के स्कूलों में इन्सपेक्टर हैं तो वह मकान को फौरन खाली करा लेता था। इस प्रकार अनेक मकानों को वह किराये पर लेते रहे।

भूतिया बंगला—एक दिन अकस्मात् जब मास्टर आत्माराम कारेली बाग की ओर सवेरे घूमने के लिए निकले, तो वहाँ उन्हें एक बड़ा बंगला खाली पड़ा दिखायी दिया। चौकीदार से पूछने पर पता चला कि यह भूतिया बंगला है, किसी अंग्रेज अधिकारी के लिए बनाया गया था, पर उसका बच्चा इसमें आकर मर गया, अतः तब से इस कारण इसमें कोई नहीं आता है, कि कहीं उसका बच्चा भी काल का ग्रास न बन जाय। यहाँ किसी के न रहने से यह भूतों का डेरा समझा जाने लगा है और भूतिया बंगले के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यह सुनकर मास्टर जी तुरन्त महाराजा साहब के पास गये और उनसे इस बंगले की माँग की। महाराजा द्वारा स्वीकृति मिलने पर यह बंगला मास्टर जी को अछूत बालक-बालिकाओं के छात्रावास (अन्त्यजवसति गृह) बनाने के लिए दे दिया गया।

किन्तु इसके मिल जाने से भी मास्टर जी की समस्या का समाधान नहीं हुआ। जिन अस्पृश्य बालक-बालिकाओं को यहाँ लाया जाता था, वे भूतों के भय से भाग जाते थे, यहाँ रहने के लिए तैयार नहीं होते थे। मास्टर जी ने बड़ी कठिनाई से मिठाई, छात्र-वृत्ति आदि का प्रलोभन देकर इन्हें वहाँ रहने के लिए तैयार किया और इससे छात्रावास का काम चल निकला।

इस समय बड़ौदा में आर्यसमाज का वास्तविक ठोस कार्य करनेवाले मास्टर आत्माराम ही थे। यदि उन्हें महाराजा साहब का पूर्ण सहयोग न मिलता, तो वह उन कठिनाइयों को कभी हल न कर पाते जिनकी हम आजकल कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। स्कूलों का इन्सपेक्टर होने के कारण बड़ौदा से बाहर स्कूलों के निरीक्षण के लिए प्रायः दौरे पर उन्हें जाना पड़ता था। उच्च जाति के व्यक्तियों की ओर से इनका सर्वत्र बहिष्कार होता था। इन्हें गाँवों में न तो कोई ठहरने की जगह देता था और न ही कुएँ से पानी भरने देता था। अपने दौरे में विशाल मैदान की चौरस भूमि में वह अपना डेरा लगाया करते थे और खाने का सब सामान—आटा, दाल, घी, नमक, मिर्च-मसाला घर से साथ ले-जाते थे और नौकर से खाना बनवाया करते थे। सब जगह सवर्ण हिन्दू इनके साथ बड़ा अपमानजनक और तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करते थे। फिर भी उनका विश्वास था कि शनैः-शनैः वे अपनी गलती समझेंगे और हमें अछूतों के उद्धार-कार्य में आनेवाली कठिनाइयों से डरकर इस काम को बीच में नहीं छोड़ना चाहिए। इन्हें गुजरात में आर्य-समाज द्वारा संचालित हरिजनोद्धार-कार्य का आदिप्रवर्तक कहा जा सकता है।

भूतिया बंगले में अछूत बालक-बालिकाओं को इन्होंने प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म की शिक्षा, सन्ध्या, हवन, गीता-पाठ, वैदिक मन्त्रों के स्मरण और उच्चारण की शिक्षा दी। उन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाया। इन बच्चों की रसोई बनाने के लिए नौकर मिलना संभव ही न था, अतः उनकी धर्मपत्नी यहाँ रहनेवाली अछूत कन्याओं से अपनी देखरेख में बड़ी सफाई के साथ रसोई का सारा कार्य करवाती थीं। जब इनके कार्य का निरीक्षण करने के लिए महाराजा साहब द्वारा भिजवाये एक उच्च-अधिकारी श्री शिन्दे यहाँ आये, तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि यहाँ निम्नतम समझी जानेवाली ढेड़ जाति

की बालिकाओं से खाना बनवाया जा रहा था और शूद्र समझे जाने वालेवाले बच्चे वेद-मन्त्रों का पाठ कर रहे थे। उन्होंने महाराजा को यह रिपोर्ट दी कि "आपका अछूतोद्धार अच्छी तरह से हो रहा है, इसमें आपको पूर्ण सफलता मिली है। आपने जिस व्यक्ति को यह काम सौंपा है, वह वास्तव में पूरा अछूतोद्धारक है। मैंने सब घूमकर देखा, उनकी रसोई भी देखी और वहाँ अछूत कन्याओं को बिना रोक-टोक मदद करते देखकर मेरा मन बल्लियों उछल पड़ा।" मास्टर जी हरिजनोद्धार के साथ-साथ वैदिक धर्म का भी प्रचार करते थे। अछूतों को शिखासूत्र और गायत्री की महिमा बताते थे। शीघ्र ही बड़ौदा राज्य में ये स्कूल बड़े लोकप्रिय हुए, और इनकी संख्या ४०० तक पहुँच गयी। इनमें १८ से २० हजार हरिजन बालक-बालिकाएँ शिक्षा ग्रहण करने लगे। ये सभी स्कूल वैदिक धर्म के प्रचार का केन्द्र बन गये। मास्टर जी ने अपना सारा जीवन इस कार्य में लगा दिया और शनैः-शनैः कारेली बाग में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य के साथ-साथ आर्य संस्थाओं का एक जाल बिछ गया और यह सारा कार्य **आर्यकुमार सभा** के माध्यम से होने लगा।

आर्यकुमार सभा की स्थापना—मास्टर आत्माराम के पाँच पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इन सबने अपने पिताजी से वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त की और अपना सारा जीवन आर्यसमाज के कार्यों के लिए समर्पित कर दिया। इन सन्तानों में पण्डित आनन्दप्रिय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी मैट्रिक तक की शिक्षा पंजाब के गुरुकुल गुजरांवाला में हुई थी और इसके बाद सेण्ट जोन्स कॉलिज आगरा में इन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी की थी। गर्मी की छुट्टियों में घर आने पर वह अपना सारा समय अन्त्यज-वसति गृह (हरिजनछात्रावास) की बालक-बालिकाओं को आर्यसमाज की शिक्षा देने के कार्यों में लगाते थे। १९२१ ई० में कॉलिज की शिक्षा पूरी करने के बाद घर आने पर इन्हें अन्त्यजवसति गृह का अध्यक्ष बना दिया गया। इस समय उन्होंने छात्रावास के विद्यार्थियों के साथ मिलकर 'आर्यकुमार सभा' की स्थापना की। इसमें वे छात्रों के साथ हर रविवार को आर्यसमाज का अधिवेशन करते थे। इसमें विद्यार्थियों को समाज-सुधार के विभिन्न विषयों पर बोलने, कवितायें सुनाने, निबन्ध पढ़ने की प्रेरणा दी जाती थी। लड़कियों की इस प्रकार की प्रवृत्तियों के लिए इन्होंने **आर्यबाला सभा** की स्थापना की। इसमें भाषण, निबन्ध, संगीत आदि के कार्यक्रम होते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रविवार को तथा अन्य अवकाशवाले दिनों में विद्यार्थियों के साथ आसपास के गाँवों में जाकर आर्यसमाज के प्रचार का काम करना शुरू किया। पाँच-सात मील की दूरी के गाँवों में विद्यार्थी प्रचार-कार्य के लिए पैदल जाने लगे। आसपास के गाँवों में प्रचार करने के बाद रेल द्वारा इन्होंने दूरवर्ती गाँवों में भी जाना शुरू किया। रेल के किराये के लिए सभी सदस्य प्रतिमास थोड़ा चन्दा दे दिया करते थे। इस प्रकार आर्यकुमार सभा ने शीघ्र ही समस्त उत्तर गुजरात में आर्यसमाज के प्रचार का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। इस कार्य को बढ़ाने के लिए **आर्यकुमार** नामक मासिक पत्र निकाला गया। यह उस समय की सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार का शक्तिशाली माध्यम था। इसके बाद कुछ नवीन परिस्थितियों के कारण इस सभा को शुद्धि का कार्य भी हाथ में लेना पड़ा।

सन् १९२१ का सत्याग्रह-आन्दोलन समाप्त होने के बाद देश में साम्प्रदायिकता

का उन्माद बढ़ने लगा। मुसलमानों द्वारा तबलीग (हिन्दुओं को मुसलमान बनाने) का कार्य बड़े जोर-शोर से चलाया जाने लगा। मुसलिम खोजा-सम्प्रदाय के अध्यक्ष सर आगा खाँ ने गुजरात के बीस लाख अछूतों (हरिजनों) को मुसलमान बनाने के लिए दस लाख रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की। सम्भवतः, इसी को दृष्टि में रखते हुए मौलाना मुहम्मद अली ने कोकनाड़ा कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा था कि यदि सब हरिजन मुसलमान हो जाएँ तो अछूतों की कोई समस्या नहीं रहेगी। आगा-खाँ की योजना को कार्यान्वित करने के लिए गुजरात के आनन्द तालुका में नकलंक आश्रम स्थापित किया गया और इसे प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाकर ७० हजार हरिजनों को इस्लाम में दीक्षित किया गया।

श्री पण्डित आनन्दप्रिय के नेतृत्व में आर्यकुमार सभा ने इस खतरे को समझा और इसके प्रतिकार के लिए पूरा प्रयास किया। इस कार्य में इन्हें श्री जुगलकिशोर बिड़ला तथा राजा नारायणलाल पित्ती का आर्थिक सहयोग मिला और बड़ौदा तथा गुजरात में हरिजनों को विधर्मी होने से बचाया जा सका। इन्होंने मुसलमान बने हुए हिन्दुओं को भी शुद्ध किया और पुनः उन्हें हिन्दू समाज का अंग बनाया। इनके इस कार्य की सराहना महामना मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय ने भी की।

शनैः-शनैः आर्यकुमार सभा की प्रवृत्तियों का विस्तार होने लगा। इनके लिए अनेक पृथक् संस्थायें स्थापित की गयीं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) आर्यकुमार आश्रम (स्थापित १९२३), (२) आर्यकन्या विद्यालय इटोला (१-१-२५), (३) आर्यकन्या विद्यालय बड़ौदा (१-१-२९), (४) भील आश्रम अमृतपुरा अंकलेश्वर (३-१-२६), (५) अबला आश्रम बड़ौदा (१-३-२७), (६) गुरुकुल सोनगढ़, सौराष्ट्र (१०-३-२९), (७) हिन्दू मिशन अहमदाबाद (२४-६-२९), (८) आर्यकुमार पाठशाला (१-१-२५), (९) आर्य संन्यास आश्रम बड़ौदा (२८-८-२९), (१०) आर्यकुमार प्रेस बड़ौदा (१६-९-२६) और (११) गुजरात सुधारक मण्डल बड़ौदा (९-४-२६)। इन संस्थाओं द्वारा किये जानेवाले कार्य तथा वैदिक धर्म की विचारधारा के प्रसार के लिए तीन मासिक पत्र प्रचारक, सुधारक और हिन्दू धर्म पत्रिका प्रकाशित किये गये। वैदिक साहित्य के प्रचार के लिए बड़ौदा में एक श्रद्धानन्द पुस्तकालय है और नवयुवकों के संगठन के लिए आर्य-वीरदल नामक संस्था अच्छा काम कर रही है।

(१) आर्य कन्या महाविद्यालय नामक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (१-१-१९२४), (२) सेठ श्री मनसुखलाल छगनलाल महिला सदन बड़ौदा (१-३-२७) और (३) गुरुकुल सोनगढ़ (उच्चतर माध्यमिक विद्यालय) सौराष्ट्र (१०-३-२९) की स्थापना के कारण आर्यकुमार सभा के कार्यक्षेत्र में और अधिक वृद्धि हो गयी। बाद में अन्य भी अनेक संस्थाओं का संचालन इस सभा द्वारा किया जाने लगा। वर्तमान समय में तो इनकी संख्या और भी अधिक हो गयी है, पर सन् १९४७ तक भी आर्यकुमार-सभा, बड़ौदा गुजरात में आर्यसमाज तथा आर्य संस्थाओं के संचालन में सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण स्थिति प्राप्त कर चुकी थी।

उपर्युक्त संस्थाओं में से शिक्षा-संस्थाओं का वर्णन 'आर्यसमाज का इतिहास' के तृतीय भाग में दिया गया है। सन् १९४७ तक स्थापित अन्य संस्थाओं में सेठ श्री मनसुख-

लाल छगनलाल महिला सदन, बड़ौदा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महर्षि दयानन्द-सरस्वती ने स्त्रियों की स्थिति उन्नत करने और उन्हें समाज में पुरुषों के समान वेदाध्ययन का अधिकार और शिक्षा देने पर बहुत ध्यान दिया था। आर्यसमाज ने इसके अनुसार स्त्रियों की उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थायें—कन्या गुरुकुल, विधवा-आश्रम, स्त्री-मण्डल तथा महिला-केन्द्र स्थापित किये। बड़ौदा का महिला-सदन इसी प्रकार की संस्था है। इसका उद्देश्य नारियों में जागृति पैदा करना तथा अनाथ व अनाश्रित महिलाओं की सहायता करना है। यहाँ इन्हें न केवल स्कूल की शिक्षा दी जाती है, अपितु उसके साथ-साथ नाना प्रकार की महिलोपयोगी कलायें सिखायी जाती हैं। यह संस्था बड़ौदा के कारेली वाग क्षेत्र में आर्यकुमार महासभा की ओर से सन् १९२७ ईसवी में अबला आश्रम के नाम से खोली गयी थी। इसमें दुःखी, असहाय बहनों को संरक्षण और प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। कुछ समय बाद इसका नाम बदलकर महिला कल्याण सदन रख दिया गया। शनैः-शनैः इस संस्था की उन्नति होने लगी। बम्बई के सेठ श्री मनसुखलाल ने इसके लिए काफी आर्थिक सहायता प्रदान की और अपनी वसीयत में इसके लिए ५० हजार रुपये का दान करके इसका ट्रस्ट वना दिया।

महिला-सदन के आश्रम के भवन का नींव राजस्थान के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता और समाज-सुधारक श्री हरविलास शारदा ने १-५-३३ को रखी थी। आश्रम-भवन का उद्घाटन २६-१-३४ को वड़ौदा राज्य के युवराज प्रतापसिंह जी के कर-कमलों से हुआ। इस संस्था में विना किसी प्रकार के जातीय भेदभाव के, सभी असहाय अबला स्त्रियों को शरण दी जाती है और उनकी योग्यता, बुद्धि और शक्ति के अनुसार विकास करने के लिए सब प्रकार की आवश्यक शिक्षा दी जाती है। आश्रम में रहनेवाली महिलाओं के लिए प्रातःकाल में जागरण से रात्रि में शयनपर्यन्त नियमित दिनचर्या का पालन करना आवश्यक है। सब महिलाओं के लिए सन्ध्या-हवन अनिवार्य है। उन्हें आर्य-समाज के सिद्धान्तों की पूरी धार्मिक शिक्षा दी जाती है। प्रति रविवार को आर्यकन्या महाविद्यालय के आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में ये महिलायें नियमित रूप से भाग लेती हैं और आश्रम के सभी कार्य करती हैं। इस संस्था से लगभग सभी भारतीय प्रदेशों और राज्यों की हजारों बहनों ने लाभ उठाया है। महिला-सदन से लाभान्वित होने-वाली महिलाओं की संख्या ४ हजार से अधिक है।

गुजरात के अन्य आर्यसमाज—गुजरात में सबसे पुराना समाज महर्षि द्वारा राजकोट (काठियावाड़) में सन् १८७४ में स्थापित किया गया। इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में यह बताया जा चुका है कि यह समाज किन परिस्थितियों में स्थापित हुआ था और राजनैतिक प्रकोप के कारण कैसे बन्द हो गया था? कुछ समय बाद इसकी पुनःस्थापना हुई और साप्ताहिक सत्संगों के साथ शुद्धि, अन्तर्जातीय विवाह तथा ग्राम-प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। १८९१ में गुजरात के सुप्रसिद्ध व्यापारिक नगर सूरत में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इसके आरम्भिक कर्मठ कार्यकर्ताओं में श्री दिनेश त्रिवेदी और नन्दशंकर जोशी के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज के पास सुन्दर भवन है। इसने कई प्रचारक रखकर आसपास के प्रदेशों में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार किया है। १८९३ में काँकड़िया रोड अहमदाबाद का आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसके आरम्भिक कार्यकर्ताओं में भाई शंकर और अम्बाराव के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९०० में

बलसाड (जिला सूरत) के समाज की स्थापना हुई। इसके कर्मठ कार्यकर्ता डॉक्टर मदन-देसाई तथा मदनलाल परागजी मिस्त्री थे। इसका अपना समाज-मन्दिर, अन्य भवन और व्यायामशाला है। १६२२ में आर्यसमाज लूनसावाद (अहमदाबाद) स्थापित हुआ था। इसके प्रधान सुप्रसिद्ध चिकित्सक जेठालाल वापालाल आर्य और मन्त्री श्री शरदभाई-प्रभुदास आर्य थे। इस समाज ने अवैतनिक उपदेशक रखकर आर्यसमाज का अच्छा प्रचार किया और उपनिषद् साहित्य का निःशुल्क वितरण किया। नवम्बर, १६२४ में खेड़ा जिले के आनन्द (चरोतरप्रदेश) में समाज की स्थापना हुई। इसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री डाह्याभाई जेठाभाई पटेल और श्री वापूभाई कुवेरदास पटेल थे। समाज ने अपने विशाल मन्दिर का निर्माण किया और शुद्धि तथा अन्तर्जातीय विवाह के कार्यक्रम की ओर विशेष ध्यान दिया। बीसवीं सदी के तृतीय दशक में देश का साम्प्रदायिक वातावरण बड़ा तनावपूर्ण था। मुसलमानों ने सर आगा खाँ की आर्थिक सहायता से इस प्रदेश में हरिजनों को मुसलमान वनाने की एक वड़ी योजना वनायी थी। इसका प्रतिरोध करने के लिए आर्यसमाज की ओर से वड़ौदा के पण्डित आनन्दप्रिय आदि नेताओं ने प्रवल अभियान चलाया। इससे इस प्रदेश में आर्यसमाज का खूब प्रचार हुआ और खेड़ा जिला में सवसे अधिक आर्यसमाज इस समय स्थापित हुए। १६२७ में मोरवी (काठियावाड़) में आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री डूंगरसिंह डाह्याभाई ठेकेदार और मन्त्री श्री मोहनसिंह जीवन डाकोर थे। इस समाज ने अकाल में गरीबों को सहायता पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य किया। १६३४ में दामोर (जिला खेड़ा) में बोरसद रेलवे स्टेशन के निकट आर्यसमाज की स्थापना हुई। इनके प्रमुख कार्यकर्ता श्री शिवाभाई आर्य और श्री छुपाभाई खुशहालभाई आर्य थे। ३० मार्च, १६३५ को महर्षि के जन्मस्थान टंकारा (जिला मोरवी) में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इसके प्रारम्भिक कार्यकर्ताओं में गिरधारीलाल गोविन्दजी, श्री डूँगरसिंह भाईराम जी उल्लेखनीय हैं। आरम्भ में यहाँ वार्षिकोत्सव होते थे और दयानन्द पुत्री पाठशाला चलायी जाती थी। सन् १६२६ में टंकारा में महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताव्दी वड़े समारोह के साथ मनायी गयी थी। इस नगरी में वैदिक धर्म का वीजारोपण उसी समय हो गया था, और बाद में सन् १६३५ में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना भी कर दी गयी थी। इसी काल में आर्यजगत् में यह विचार जोर पकड़ने लगा, कि टंकारा में महर्षि का एक ऐसा स्मारक बनाया जाना चाहिए, जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का हो। कालान्तर में यह विचार क्रिया में परिणत हुआ, और वर्तमान समय में टंकारा में महर्षि का एक शानदार स्मारक स्थापित हो चुका है। १६३६ में विसनगर (जिला महेसाणा) आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसके उत्साही कार्यकर्ताओं में श्री रामराय हरिशंकर वैद्य तथा पण्डित लक्ष्मणदत्त वैद्य उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सन् १६४७ तक गुजरात में जो अन्य बहुत-से आर्यसमाज स्थापित हो गये थे उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—जिला सूरत में वालोड, हाथुका, सायड, जिला भडोंच में केलोद नवीपुर तथा वोच, और बड़ौदा जिले में बड़ौदा सिटी, इटोला, वाछोडीआ और कलोल। इस युग में खेड़ा जिले में आर्यसमाज का बहुत प्रचार हुआ तथा यहाँ सबसे अधिक आर्यसमाजों की स्थापना हुई। इनमें से कुछ समाज ये थे—मोगर, खम्बोलज, गगौल, सामरखा, भालेज, चिखोडा, बधासी, अडास, नरसडा, नदियाड, करमसद, पंडोली, भूराकोई, लीवासी वाया मातर, खडोल वाया वासूद,

आँकलाव वाया वासूद, निसराया, रास, आसी, नावली, सूई, देव। अहमदाबाद जिले में शालपुर, समसपुर वावला, तथा काठियावाड़ में जामनगर, पोरवन्दर, ध्रागन्ध्रा और दिव, तथा नासिक जिले में नासिक और येवला में समाज स्थापित हुए। विभाजन के बाद इस समाज के कार्यकलापों में बड़ा विस्तार हुआ है, जिसका उल्लेख अगले खण्डों में किया जायेगा।

(७) सिन्ध प्रान्त में आर्यसमाजों का विस्तार

सन् १९३५ तक सिन्ध बम्बई प्रान्त का भाग था। १९३५ के भारत सरकार कानून द्वारा भारत में मुसलमानों की अधिक आबादी रखनेवाले प्रान्तों की संख्या बढ़ाने के लिए इसे बम्बई से अलग करके पृथक् प्रान्त बनाया गया। अतः आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से इसका बम्बई के साथ उल्लेख करना उचित है। सिन्ध की आर्य-प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १९१९ ई० में हुई थी और सभा का मुख्य कार्यालय इसके प्रमुख नगर तथा बन्दरगाह कराची में रखा गया था। सन् १९४० तक सिन्ध में लगभग पचास आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। आर्य प्रतिनिधि सभा में समाजों के प्रतिनिधियों की संख्या ५८ थी और प्रतिष्ठित सदस्यों की संख्या ११।

श्री ताराचन्द गाजरा को सिन्ध में आर्यसमाज का संस्थापक कहा जा सकता है। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार था, और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के वह उत्तम व्याख्याता थे। कुछ साल तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरि-द्वार में उन्होंने अध्यापन भी किया था। अपनी युवावस्था उन्होंने सिन्ध में आर्यसमाज के कार्य के लिए समर्पित की और वर्षों तक सिन्ध की प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे।

सिन्ध प्रान्त के आरम्भिक आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं में श्री पण्डित जीवनलाल-आर्य का नाम उल्लेखनीय है। पहले वह पौराणिक विचारों के कट्टर अनुयायी थे और नवाबशाह कुण्डीनगर में गद्दीधारी महंत थे। अनेक उच्च सरकारी अधिकारी उनके शिष्य थे। उन्हें आर्यसमाज में लाने का श्रेय उनके एक निर्धन शिष्य को है। इस शिष्य ने आर्यसमाजी बनने के बाद यह चाहा कि उसके गुरु भी इन विचारों को स्वीकार करें और वह एक दिन उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसने अतीव नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उनसे यह वचन लिया कि वे शिष्य के अनुरोध से एक पुस्तक को अवश्य पढ़ेंगे। यह पुस्तक उन्हें जान-बूझकर एक वस्त्र में लपेटकर दी गयी। जब गुरुजी ने इसे खोला तो सत्यार्थप्रकाश निकला। (पण्डित जी ज्यों-ज्यों सत्यार्थप्रकाश पढ़ते गये, त्यों-त्यों उनके मन पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव बढ़ता चला गया। उनके विचारों में इतना परिवर्तन आया कि उन्होंने अपनी गद्दी, महंतगिरी और वैभवपूर्ण विलासिता का जीवन छोड़ दिया और वैदिक धर्म के प्रचार में लग गये। उन्होंने सिन्ध में बहुत-से नये-नये आर्यसमाज स्थापित किये, सिन्धी भाषा में वैदिक धर्म के मन्तव्यों और सिद्धान्तों पर कई पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित कीं।)

इस सभा ने आरम्भ से ही सिन्धी भाषा में साहित्य के प्रचार तथा प्रसार की ओर ध्यान दिया। महर्षि दयानन्द के प्रधान ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का सिन्धी अनुवाद छपवाया गया। सभा की ओर से शिकारपुर में एक सरस्वती पुस्तकालय स्थापित किया गया। पुरानी पीढ़ी के कार्यकर्ताओं में बाबू बच्चाराम चटर्जी, मास्टर हरिसिंह और श्रीयुत

मनोहरलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सिन्धी भाषा में आर्यसमाज के विभिन्न विषयों पर एक सौ के लगभग छोटी पुस्तिकायें या ट्रैक्ट प्रकाशित करवाये। इनके बाद महाशय दयाराम ने इनकी संख्या एक सौ पच्चीस तक पहुँचा दी। इसी समय श्री देगूमल (स्वामी देवानन्द) ने भी प्रचार का सराहनीय कार्य किया। पण्डित जीवनलाल ने सत्यार्थ-प्रकाश के कुछ समुल्लासों को अलग-अलग छपवाया। कुछ वर्ष तक हैदराबाद (सिन्ध) के 'आर्य साहित्य मण्डल' तथा शिकारपुर के 'हरिसुन्दर सहायक मन्दिर' ने प्रकाशन का अच्छा काम किया। इस समय के कार्यकर्ताओं में महाशय चेतनदेव, महाशय गुरदित्तामल और हकीम वीरूमल ने अच्छा काम किया। सभा के प्रमुख रचनात्मक कार्यों में वेद-प्रचार प्रधान था। सभा की ओर से तीन वैतनिक और बारह अवैतनिक प्रचारक सिन्ध-प्रान्त में सभा की ओर से प्रचार करते रहे। गाँवों में प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। १९४० में दो सौ गाँवों में वैदिक धर्म का प्रचार करके पचास हजार व्यक्तियों तक आर्यसमाज का सन्देश पहुँचाया गया। जहाँ हिन्दुओं के बड़े मेले लगा करते थे, वहाँ भी प्रोफेसर हासानन्द आदि प्रचारक प्रचार करते रहे।

अस्पृश्य जातियों की उन्नति करना आर्यसमाज का एक विशेष कार्यक्रम है। इस कार्य के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा सिन्ध ने एक विशेष समिति बनायी थी। इसके मन्त्री महाशय हासानन्द ने लाड़काना में अच्छा कार्य किया। लाड़काना में एक बाजीगर-कालोनी बनायी गयी और एक पाठशाला स्थापित की गयी। इस समिति ने एक वर्ष के अन्दर पाँच-छः सम्मेलन किये, जिनमें सारे सिन्ध के बाजीगरों को निमन्त्रण दिया गया था। बाजीगरों के अलावा बाघड़ी, भील आदि जातियों में भी काम किया गया।

सभा ने हैदराबाद-सत्याग्रह में भी पूरी सहायता की। १९३९ में जबतक यह सत्याग्रह चलता रहा, तबतक सभा के सभी कर्मचारी और कार्यकर्ता अपनी सारी शक्ति से इसे सफल बनाने में लगे रहे। जनता को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक स्थानों पर सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इस सभा की ओर से ७५ व्यक्तियों ने सत्याग्रह में भाग लिया। सिन्ध में मुसलमानों की संख्या देहातों में अधिक थी। यहाँ प्रायः साम्प्रदायिक दंगे होते रहते थे। गाँवों में हिन्दू अपने को असुरक्षित अनुभव करते थे और सुरक्षा पाने के लिए कई बार गाँवों से सक्खर, शिकारपुर, कराची आदि नगरों में आ जाते थे। यहाँ आर्यसमाज की ओर से इनके लिए सहायता-कार्य का संगठन किया जाता था। शिकारपुर, खानपुर, रुस्तम, अबीबकोर्ट, घोटको तथा हैदराबाद में आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में उत्तम कार्य किया और गाँवों से आनेवाले दंगा-पीड़ितों की सहायता की। इस प्रान्त का प्रमुख आर्यसमाज कराची में था। कराची (रतन तालाब) के आर्यसमाज की स्थापना सन् १८८६ ई० में हुई थी। इसकी ओर से नियमित साप्ताहिक सत्संग लगाये जाते थे और वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता था। महिलाओं की शिक्षा के लिए धनपतमल आर्य पुत्री पाठशाला (हाई स्कूल) का संचालन किया जा रहा था। नव-युवकों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करने के लिए आर्यकुमार सभा थी। आर्ययुवक बड़े उत्साह से सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में भाग लेते थे। समाज ने एक ऐसी व्यायामशाला भी बनायी थी जिसमें प्रतिदिन दो सौ से अधिक व्यक्ति आते थे और यहाँ की सुविधाओं से लाभ उठाते थे, विभिन्न प्रकार का शारीरिक प्रशिक्षण प्राप्त करते थे, योगासन सीखते थे। इस समाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं में सेठ चमनलाल

और श्री भोलाराम के नाम उल्लेखनीय हैं। खानपुर (जिला सक्खर) के समाज की स्थापना २७ दिसम्बर सन् १९३३ ई० में हुई थी। इसके प्रधान कार्यकर्ता कविराज सुगनाराम जी वैद्य तथा चन्दूलाल हासानन्द थे। इस समाज के साथ एक बड़ा अच्छा पुस्तकालय था। इसमें पुस्तकों की संख्या ८००० के लगभग थी।

सिन्ध प्रान्त की अन्य ४१ समाजों के नाम निम्नलिखित हैं—आर्यसेवक दल, बम्बई बाजार कराची, कियामारी कराची, ठटा, हैदराबाद, टण्डो केसर (जिला हैदराबाद), सक्खर, पुराना सक्खर, घोटकी, उबावरो (जिला सक्खर), कादरपुर (तालुका घोटकी) शिकारपुर, लाड़काना रतो देरो, नओ देरो (लाड़काना), जिला वाडह जिला लाड़काना, कंडियारो, (सिन्ध), दादू (सिन्ध), मेहर (जिला दादू, सिन्ध), काजी अरफ तालुका मेहर जिला दादू, खैरपुर (नाथनशाह, जिला दादू), थररी महब्वत (जिला दादू वाया वाली-शाह), मंगवानी (जिला दादू तालुका मेहर), मीरपुर खास, छाछरो (जिला थारपार-कर), अमर कोट (जिला थारपारकर), साँघर (जिला थारपारकर), मिठी (जिला थार-पारकर), शाहपुर चाकर (जिला नवाबशाह), नगर पारकर (जिला थारपारकर), कम्बर झलीखान (जिला लाड़काना), डोकरी (जिला लाड़काना), टण्डो अल्लाहयार, टण्डो महमूद खान, नवावशाह।

सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर पाबन्दी : सिन्ध प्रान्त के आर्यसमाज की इस युग की एक प्रमुख घटना सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार द्वारा दिनांक १६-१०-१९४४ को अपने प्रान्त में चौदहवें समुल्लास सहित सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण और प्रकाशन पर प्रतिवन्ध लगाना था। इस समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने कुरान-शरीफ के आधार पर इस्लाम की आलोचना की है। यह मुसलमानों को आपत्तिजनक प्रतीत होती थी। सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार का यह कहना था कि इससे मुसल-मानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचती है, अतः इस ग्रन्थ का प्रकाशन और प्रसार बन्द कर देना चाहिए। इसी दृष्टि से उसने इस ग्रन्थ पर पाबन्दी लगायी थी। सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को लेकर मुसलिम लीग व अन्य मुसलिम संस्थाओं ने जो आन्दोलन किये, और इस सम्बन्ध में आर्यसमाज ने अपने धर्मग्रन्थ की रक्षा के लिए जो संघर्ष किया, उसपर एक पृथक् अध्याय में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। पर क्योंकि सत्यार्थप्रकाश पर पावन्दी लगाने के मामले से सिन्ध का विशेष सम्बन्ध था और वहाँ की सरकार ने स्वयं इस ग्रन्थ के विरुद्ध आदेश जारी किया था, अतः यहाँ भी उसका संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है।

भारत रक्षा नियमों की आड़ लेकर जब सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार ने १६ अक्तूबर, १९४४ को सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास के छापने पर प्रतिवन्ध लगाया तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस विषय में आर्यजगत् का विरोध सिन्ध शासन को लिखकर भेजा और यह भी चेतावनी दी कि यदि यह प्रतिवन्ध जल्दी न हटाया गया तो इसका परिणाम बुरा होगा। २०-११-४४ की अंतरंग सभा की बैठक में सार्वदेशिक सभा द्वारा इस विषय पर आवश्यक कार्यवाही करने के लिए 'सत्यार्थ-प्रकाश समिति' का निर्माण श्री घनश्यामसिंह गुप्त की अध्यक्षता में किया गया। इस समिति ने दो वर्ष तक सभी वैधानिक उपायों से इस प्रतिवन्ध को हटाने का प्रयास किया, किन्तु सफलता न मिलने पर १२-८-४६ को कराची में हुई बैठक में इसके लिए सत्याग्रह

करना निश्चित हुआ और सत्याग्रह के संचालन का समस्त उत्तरदायित्व महात्मा आनन्द-स्वामी को सौंप दिया गया।

मकर संक्रान्ति के पवित्र दिवस पर १४-१-४७ को सत्याग्रह का श्रीगणेश किया गया। महात्मा आनन्द स्वामी, महात्मा नारायण स्वामी, श्री घनश्यामसिंह गुप्त तथा अनेक सत्याग्रही कराची में एकत्र हुए और सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास का सार्व-जनिक वाचन और प्रचार करने लगे।

इससे सिन्ध के मुसलिम लीगी शासन को स्पष्टरूप से विदित हो गया कि यहाँ आर्यसमाज हैदराबाद जैसा सत्याग्रह चला सकता है। इसमें न केवल सिन्ध के लोग सत्याग्रह करेंगे, अपितु भारत के अन्य प्रान्तों के आर्यसमाजी तथा हिन्दू लोग सामान्य रूप से इस सत्याग्रह में सम्मिलित होंगे। अतः सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार ने इस संघर्ष को रोकने के लिए सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर लगाये गये प्रतिबन्ध-वाली आज्ञा वापिस ले ली।

आर्यसमाज का सत्याग्रह इस विषय में पूर्णरूप से सफल हुआ। यह बात सिन्ध-सरकार की इस विषय में प्रसारित की गयी निम्नलिखित विज्ञप्ति से स्पष्ट होती है—"सिन्ध सरकार ने न केवल उन सज्जनों (सत्यार्थप्रकाश का चौदहवाँ समुल्लास पढ़ने-वालों) को गिरफ्तार नहीं किया है, अपितु जिलों के अधिकारियों को सूचित कर दिया है कि वे सत्यार्थप्रकाश के रखने, पढ़ने, उसमें से प्रवचन करने आदि के काम में कोई रुकावट न डालें।" सिन्ध सरकार के द्वारा प्रतिबन्ध की आज्ञा वापिस लेने के बाद २०-१-४७ को महात्मा नारायण स्वामी, घनश्यामसिंह गुप्त तथा अन्य आर्य नेता कराची से दिल्ली वापस आ गये।

इस सत्याग्रह के बारे में यह लिखना प्रासंगिक प्रतीत होता है कि श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और गांधी जी जैसे कुछ नेताओं का दृष्टिकोण इस विषय में आर्य-समाज से भिन्न था। मद्रास के मुख्यमन्त्री-पद को पहली बार सुशोभित करनेवाले श्री राजगोपालाचारी का यह विचार था कि किसी ग्रन्थ के धार्मिक होने की बड़ी कसौटी इसकी प्राचीनता है, धर्म-ग्रन्थ होने के लिए किसी पुस्तक को कम-से-कम अतिपुरातन या लगभग १००० वर्ष या इससे अधिक प्राचीन होना चाहिए। सत्यार्थप्रकाश १०० वर्ष पुराना नहीं है। इसलिए इस नियम के अनुसार सत्यार्थप्रकाश धार्मिक ग्रन्थों की कोटि में नहीं आता है। इसपर सिन्ध शासन द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाया गया था, उसे धार्मिक ग्रन्थ पर प्रतिबन्ध नहीं माना जा सकता है। किन्तु आर्यसमाज का दृष्टिकोण यह था कि सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज का धार्मिक ग्रन्थ है और इसके लिए कम-से-कम १०० वर्ष पुराना होने की कसौटी को ठीक नहीं माना जा सकता है। रामचरितमानस भारत के लाखों लोगों द्वारा बड़ी श्रद्धा से पूजा जानेवाला धर्म-ग्रन्थ है। इसको लिखने वाले संत तुलसीदास यद्यपि लगभग ३०० वर्ष पहले हुए थे, फिर भी जब उसे धार्मिक ग्रन्थ माना जा सकता है तो सौ वर्ष पुराने महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश को धार्मिक ग्रन्थ क्यों न माना जाय?

गांधी जी एक दूसरे दृष्टिकोण से चौदहवें समुल्लास के आलोचक थे। उनका यह कहना था कि सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में मुसलमानी मजहब की बहुत कटु और अनुचित आलोचना की गयी है, जो अहिंसा की परिधि से कोसों दूर है। आर्य-

समाज को यह समुल्लास सत्यार्थप्रकाश से निकाल देना चाहिए। इस विषय में श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने महात्मा जी को कहा था "आप मन, वचन और कर्म से अहिंसा की अपनी आज की तराजू से चौदहवें समुल्लास को तोल रहे हैं, अतः आपको यह अनुचित प्रतीत होता है, किन्तु चौदहवाँ समुल्लास आपकी वर्तमान युग की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए नहीं लिखा गया था। इसकी तुलना कुरान-शरीफ और हदीसों के उन अंशों से की जानी चाहिए, जिनमें इस्लाम न स्वीकार करनेवाले काफिरों की हत्या करना न केवल वैध, अपितु पवित्र धार्मिक कर्तव्य बताया गया है। आर्यसमाज चौदहवें समुल्लास को सत्यार्थप्रकाश से इस शर्त पर निकालने को तैयार है कि आप मुसलमान मुल्ला-मौलवियों को इस बात के लिए सहमत कर लें कि वे कुरान-शरीफ की उन आयतों और हदीसों को अपने धर्म-ग्रन्थों से निकाल दें जिनमें अन्य मतावलंबियों को काफिर कहा गया है और जिनकी हत्या करना वैध और पवित्र कर्तव्य बताया गया है।" इसपर महात्मा जी निरुत्तर होकर आर्यसमाज के दृष्टिकोण से सहमत हो गये और उन्होंने सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार के मुख्यमन्त्री को एक पत्र लिखा कि सत्यार्थ-प्रकाश की चौदहवें समुल्लास पर लगाये गये प्रतिबन्ध को हटा लिया जाय।

विभाजन से पूर्व मध्य भारत की एक मुसलिम रियासत भोपाल ने भी सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर इसी प्रकार का प्रतिबन्ध सिहोर आर्यसमाज पर लगाया था। इस विषय में सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने भोपाल के नवाबी शासन को प्रतिबन्ध हटाने के लिए लिखा और यह भी कहा कि यदि प्रतिबन्ध नहीं हटाया गया तो आर्यसमाज को सत्याग्रह के मार्ग का अवलंबन करना पड़ेगा और उस-की पूरी जिम्मेवारी भोपाल शासन पर होगी। इसके परिणामस्वरूप भोपाल राज्य ने इस प्रतिबन्ध को हटा दिया और २९-९-४८ के पत्र द्वारा सार्वदेशिक सभा को सूचित किया कि सिहोर के जिलाधीश ने यह प्रतिबन्ध पहले से ही उठा लिया है और इसकी सूचना सिहोर आर्यसमाज को दी जा चुकी है। इस प्रकार बिना सत्याग्रह के ही यहाँ आर्यसमाज को सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास पर लगाया गया प्रतिबन्ध हटाने में सफलता मिली।

सिन्ध प्रान्त के बलिदानी आर्य वीर—इस प्रसंग में सिन्ध प्रान्त में आर्यसमाज के लिए प्राणों का बलिदान करनेवाले दो धर्मवीरों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। पहले धर्मवीर श्री नाथूराम हैदराबाद (सिन्ध) के रहनेवाले थे। उनका जन्म एक कुलीन सारस्वत ब्राह्मण-परिवार में ९ एप्रिल १९०८ को हुआ। वे अपने पिता पण्डित कीमतराम के इकलौते पुत्र थे और उन्हें पिता का अगाध स्नेह प्राप्त था। १९२७ में वे आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। उनके पिता कट्टर पौराणिक विचारों के थे। वह अपने पुत्र से इस कारण बहुत रुष्ट थे, किन्तु पुत्र ने इसकी परवाह नहीं की। वह आर्यसमाज के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। जब १९२९ में हैदराबाद सिन्ध में आर्य-युवक समाज की स्थापना हुई तो आप अतीव उत्साह से उसका कार्य करने लगे। इस समय वहाँ आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियों में कुछ विवाद-सा चल रहा था; आपस में शास्त्रार्थ होते थे। इनमें श्री नाथूराम ने आर्यसमाज की ओर से अच्छा भाग लिया।

१९३१ ई० में सिन्ध में मुसलमानों के अहमदी संप्रदाय की एक अंजुमन (सभा)

बनी। इसने इस्लाम के प्रचार के लिए कुछ ऐसे विज्ञापन प्रकाशित किये जिनमें हिन्दू-धर्म, हिन्दू देवी-देवताओं तथा महापुरुषों पर बड़े भद्दे और गंदे आक्षेप किये गये थे। इन्हें पढ़कर श्री नाथूराम को बहुत बुरा लगा। उनमें अपने धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और जवानी का जोश था। उन्होंने इसका उत्तर देने का निश्चय किया और अनेक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करने के बाद विज्ञापन के रूप में एक लघु पुस्तिका छापी, जिसमें इस्लाम के बारे में मुसलमान मौलवियों से अनेक प्रश्न पूछे गये थे। इसके साथ ही उन्होंने एक ईसाई द्वारा इस्लाम के इतिहास पर लिखी गयी—'तवारीखे इस्लाम' नामक पुस्तक का उर्दू से सिन्धी में अनुवाद किया। ये दोनों पुस्तकें जनता में मुफ्त बाँटी गयीं। इन पुस्तकों में इस्लाम के बारे में बहुत-सी ऐसी बातें थीं, जिनके बारे में मुसलमानों में बड़ी खलबली तथा हलचल मच गयी। मुल्ला, मौलवियों और मुसलमानों ने इस बात का प्रबल आन्दोलन चलाया कि सरकार द्वारा इन पुस्तकों को जब्त कर लिया जाय और इनके लेखक पर मुकदमा चलाया जाय।

इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १९३३ में सरकार की ओर से लेखक पर मुक-दमा चलाया गया। श्री नाथूराम ने अपनी सफाई में यह तर्क उपस्थित किया कि "वस्तुतः यह पुस्तक एक ईसाई द्वारा लिखी हुई है। मैंने उसका सिन्धी में अनुवाद मात्र किया है।" इसके साथ ही उस पुस्तक के औचित्य में उन्होंने अन्य पुस्तकों के भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये। किन्तु मजिस्ट्रेट ने यह मामला सेशन जज को सौंप दिया और सेशन जज ने श्री नाथूराम को डेढ़ वर्ष के कारवास और १००० रुपये जुर्माने का दण्ड दिया। इस फैसले के विरुद्ध चीफ कोर्ट में श्री नाथूराम द्वारा अपील दायर की गयी।

जब २० सितम्बर, १९३४ को कराची के न्यायालय में इस मामले का निर्णय सुनाया जाना था और श्री नाथूराम अदालत में उपस्थित थे तो अकस्मात् एक भयंकर चीख सुनाई दी। चारों ओर हाहाकार का शोर मच गया। एक धर्मान्ध पठान अब्दुल-कयूम ने अदालत में ही श्री नाथूराम के पेट में छुरा भोंक दिया था। इससे उनकी आँतें बाहर निकल आयीं और तत्काल श्री नाथूराम दिवंगत हो गये। हत्यारे को उसी समय पकड़ लिया गया। श्री नाथूराम की अर्थी कराची में बड़ी धूमधाम और जुलूस के साथ निकाली गयी। वे सिन्ध प्रान्त में आर्यसमाज के पहले शहीद थे। इनकी स्मृति में आर्य प्रतिनिधि सभा सिन्ध, आर्यसमाज कराची और सुशीला भवन कराची ने धन-संग्रह किया। नाथूराम रक्षा-निधि का निर्माण हुआ जिससे संकटग्रस्त सिन्धी भाइयों की सहायता की जाती है।

सिन्ध प्रान्त के दूसरे शहीद श्री नारूमल आसूमल का जन्म १९११ ई० में हुआ था। आपके परिवार में देश-भक्ति, आर्यसमाज तथा सार्वजनिक सेवा की भावना बड़ी प्रबल थी। आप अपने चारों भाइयों के साथ बचपन से कराची में आर्यसमाज के कार्यों में भाग लेते थे और उनके साथ समाज में जाया करते थे। इन्हें लाठी चलाने और व्यायाम का भी खूब चाव था। इनके परिवार ने १९१९ और १९३१ के राष्ट्रीय सत्याग्रह-आन्दोलनों में भाग लिया था। १९३४ के अक्तूबर मास में श्री नाथूराम की पुस्तक तथा उनके बलिदान के कारण सिन्ध के मौलवी मुसलमानों को हिन्दुओं, विशेष रूप से आर्यसमाजियों के विरुद्ध भड़काने लगे थे। सारा वातावरण साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा और कलह की भावना से ओतप्रोत था, और इसी में श्री नारूमल शहीद हो गये।

श्री नारूमल के परिवार की मनियारी की दुकान थी। एक मुसलमान खोजा उनसे बेचने के लिए सामान ले-जाया करता था और हाथठेले पर फेरी लगाकर माल बेचा करता था। श्री नारूमल के आर्यसमाज के प्रति प्रेम से स्थानीय मुसलमान बहुत चिढ़ते थे। एक दिन उपर्युक्त खोजा उनकी दुकान से बजाने के कुछ बाजे बेचने के लिए ले गया। कुछ समय बाद उसने वापिस लौटकर कहा कि इनमें दो बाजे खराब हैं। नारूमल ने कहा—"हम बड़ी दुकान से इन बाजों को लाकर बदल देंगे।" इसी समय दुकान पर बैठा हुआ उनका एक साथी बाहर चला गया और खोजे ने एकान्त पाकर नारूमल को कहा—"तुम आर्यसमाजी और काफिर हो" और यह कहकर उनके पेट में छुरा भोंक दिया। यह घटना दोपहर १२ बजे हुई। हत्या करके जब वह भागा तो लोगों ने उसे जल्दी ही पकड़ लिया। श्री नारूमल को फौरन चिकित्सालय पहुँचाया गया, किन्तु उनकी प्राणरक्षा न की जा सकी। उनकी अर्थी बड़ी धूमधाम से निकाली गयी। दस हजार व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए। वैदिक रीति से उनका दाह-संस्कार किया गया। उस दिन और अगले दिन कराची में हिन्दुओं ने पूरी हड़ताल रखी। आपके बलिदान ने हिन्दुओं में बड़ी जागृति उत्पन्न की।

(८) महाराष्ट्र के आर्यसमाज

सन् १९४७ तक महाराष्ट्र प्रान्त में निम्नलिखित स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित थे—(१) कोल्हापुर, (२) पूना, (३) अहमदनगर, (४) येवला, (५) मनमाड, (६) नासिक, (७) भगूर, (८) कल्याण, (९) नांदगांव, (१०) जलगाँव (११) चालिस गाँव। इनमें विशेषरूप से सक्रिय आर्यसमाज कोल्हापुर और पूना के थे।

कोल्हापुर राज्य की राजधानी कोल्हापुर में १८ मार्च, १९१८ ई० को आर्यसमाज स्थापित हुआ था। इसके प्रधान डॉक्टर अविनाशचन्द्र बोस एम. ए पी-एच.डी. तथा मन्त्री दत्तात्रेय थे। इस समाज द्वारा चलायी जानेवाली शिक्षा-संस्थाओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय थीं—श्री साहू दयानन्द हाई स्कूल, आर्यसमाज वर्नाक्यूलर स्कूल, आर्यसमाज गुरुकुल व अनाथालय, श्री दयानन्द हिन्दी निःशुल्क विद्यालय तथा आर्यकुमार सभा। इस आर्यसमाज ने आर्य साहित्य एवं पत्रों के प्रकाशन के लिए एक आर्यभानु मुद्रणालय खोल रखा था। यहाँ वैदिक साहित्य प्रसारक मण्डल, आर्य-बुक डिपो नाम की संस्थायें चलायी जा रही थीं और वैदिक वाचनालय में विभिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओं द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले आर्य-समाचारपत्र मँगाये जाते थे। इस आर्यसमाज ने शुद्धि, अबलाओं व असहायों की रक्षा का सराहनीय कार्य किया और आसपास के गाँवों तथा नगरों में भी वैदिक धर्म के प्रचार की ओर ध्यान दिया तथा रोगियों की चिकित्सा के लिए औषधालय का संचालन किया।

पूना सिटी का आर्यसमाज सन् १९१८ में स्थापित हुआ था। इसके कार्यकर्ताओं में श्री विश्वनाथ सिन्देकर तथा मोहनलाल सामंत के नाम उल्लेखनीय हैं। पूना छावनी का समाज इससे अधिक क्रियाशील था। इसके कर्मठ कार्यकर्ता श्री प्रेमराज तुलसाराम वर्मा और श्री आर०एस० निवास थे। इस समाज द्वारा शुद्धि और विवाह-संस्कारों का कार्य किया जाता था और 'दीनबन्धु' नामक मराठी पत्र द्वारा वैदिक धर्म का सन्देश मराठी जनता को दिया जाता था।

सत्रहवाँ अध्याय

दक्षिणी भारत में आर्यसमाज का प्रचार

(सन् १८९४ से १९४७ तक)

(१) प्रचार का प्रथम युग : हैदराबाद तथा मैसूर में प्रचार

महर्षि दयानन्द सरस्वती की इच्छा थी कि दक्षिणी भारत में भी वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का प्रचार किया जाय, किन्तु वह इतने अधिक व्यस्त रहे कि उन्हें पूना से दक्षिण में जाने का अवसर नहीं मिला। इसके साथ ही एक कठिनाई भाषा-सम्बन्धी भी थी। महर्षि आर्य-भाषा (हिन्दी) के प्रबल समर्थक थे। उत्तरी भारत के विभिन्न प्रदेशों में पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का प्रयोग होते हुए भी सर्वत्र हिन्दी अच्छी तरह समझी जाती है, क्योंकि ये सब भाषाएँ एक ही आर्य-भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखती हैं। अतः उत्तरी भारत में महर्षि को अपने प्रचार में भाषा-सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं हुई। किन्तु दक्षिणी भारत के केरल, कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु प्रदेशों में बोली जानेवाली मलयालम, कन्नड़, तेलुगू तथा तमिल भाषाएँ आर्य-भाषा-परिवार से सदा भिन्न द्रविड़-भाषा-परिवार की हैं, और संस्कृत-शब्दों का उनमें समावेश होते हुए भी मूलतः रचना की दृष्टि से ये उत्तरभारत की आर्य-भाषाओं से सर्वथा भिन्न हैं। अतः पिछली शताब्दी में वहाँ हिन्दी द्वारा व्यापक रूप से धर्म-प्रचार कर सकना कठिन कार्य था।

प्रचार के दो युग—१९४७ में भारत का विभाजन होने से पहले दक्षिणी भारत में आर्यसमाज के प्रचार को दो बड़े युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग पिछली शताब्दी का अन्तिम दशक है। इस समय मैसूर और मद्रास में स्वामी नित्यानन्द ने आर्यसमाज का प्रचार किया। यहाँ कई आर्यसमाज स्थापित किये। किन्तु उन्हें शीघ्र ही उत्तर-भारत लौटना पड़ा और उनके बाद लगभग अगले तीन दशकों तक यहाँ आर्यसमाज का कोई प्रचार नहीं हुआ। कोई नये प्रचारक उत्तरभारत से नहीं आये और स्वामी नित्यानन्द द्वारा स्थापित समाज शनैः-शनैः शिथिल और निष्क्रिय हो गये।

दूसरा युग वर्तमान शती के तीसरे दशक के मध्य से शुरू होता है। मलाबार में मोपला-काण्ड से आर्यसमाज का ध्यान दक्षिण की ओर गया। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने इसके महत्त्व को अनुभव करते हुए इसे संगठित रूप से करने का निश्चय किया। १९२४-२५ में अपनी दक्षिणभारत-यात्रा में उन्होंने बंगलौर में स्वामी सत्यानन्द को कर्नाटक में प्रचार-कार्य करने की प्रेरणा दी; गुरुकुल काँगड़ी के कई स्नातकों को यहाँ प्रचार के लिए भेजा गया; सार्वदेशिक सभा ने इसका कार्य संगठित रूप से किया। इसके परिणामस्वरूप

यहाँ अनेक आर्यसमाज स्थापित हुए। यहाँ क्रमशः इन दोनों युगों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

मैसूर और मद्रास में महर्षि दयानन्द के सन्देश को सर्वप्रथम ले-जाने का श्रेय स्वामी नित्यानन्द को है। पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में इन्होंने मैसूर राज्य और मद्रास में आर्यसमाज का प्रचार किया। यह अंग्रेजी भाषा को बोलने और समझने का पर्याप्त ज्ञान रखते थे। इनके मन में यह महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हुई कि इन प्रदेशों में जाकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करें। इस विषय में उन्हें उस समय के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे से बहुमूल्य सहायता मिली। श्री रानाडे के महर्षि दयानन्द जी से उनके जीवनकाल में घनिष्ठ सम्बन्ध थे। वह उनके सामाजिक सुधार के कार्यों को आगे बढ़ाने में अभिरुचि रखते थे। महर्षि जी ने उन्हें परोपकारिणी सभा का भी सदस्य बनाया था। अतः १८८७ में जब स्वामी नित्यानन्दजी येवला पहुँचे और उन्होंने अपने व्याख्यान देने शुरू किये तो उस समय वहाँ पर कार्यरत न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे भी उनके व्याख्यानों में आने लगे। येवला आर्यसमाज के उत्सव पर चैत्र कृष्णा-३ सम्वत् १९४४ (सन् १८८७) को स्वामी जी के स्वागत में आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष सेठ नत्थू भाई गुजराती के घर के सामने एक सुन्दर मण्डप बनाकर स्वागत-सभा का आयोजन किया गया। इसमें उपस्थित व्यक्तियों की संख्या ४००० से अधिक थी। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय इस प्रदेश में आर्यसमाज कितना अधिक लोकप्रिय था। आर्यसमाज के उप-प्रधान श्रीयुत पुरुषोत्तम दामोदर ने ईश्वर-प्रार्थना के बाद न्यायमूर्ति रानाडे महोदय से सभा की अध्यक्षता करने की प्रार्थना की और उनसे व्याख्यान देने को कहा। रानाडे महोदय ने आर्य और अनार्य के विषय पर डेढ़ घण्टे तक एक उत्तम भाषण देते हुए कहा कि "मुझपर आर्यसमाज का बहुत उपकार है। स्वामी जी (महर्षि स्वामी दयानन्द) मुझसे अत्यन्त प्रेम रखते थे और मैं भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। मैं परोपकारिणी सभा का मेम्बर हूँ। स्वामी जी के परिश्रम का फल पंजाब में अच्छा हुआ है। मुझे यहाँ पर आर्यसमाज को देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ है।" इसके बाद स्वामी नित्यानन्द का भाषण हुआ। उन्होंने यह बताया कि आर्यसमाज के द्वारा ही आर्यावर्त की उन्नति होगी। श्री रानाडे स्वामी जी के भाषण से बड़े प्रभावित हुए और इन दोनों का परिचय शनैः-शनैः घनिष्ठ होने लगा। रानाडे महोदय ने स्वामी जी को यह प्रेरणा दी कि वे दक्षिण भारत में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करें और इस विषय में उन्होंने अपना पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया।

१८९४ ईसवी में हैदराबाद में प्रचार करने के बाद स्वामीजी ने मद्रास प्रान्त में प्रचारार्थ भ्रमण करने का निश्चय किया। वहाँ वे किसी व्यक्ति से परिचित नहीं थे। अतः उन्होंने रानाडे महोदय से यह इच्छा प्रकट की कि वे अपने मित्रों के नाम स्वामीजी के विषय में उन्हें परिचयपत्र भिजवा दें। रानाडे महोदय उन दिनों बम्बई में थे। उन्होंने कम्बाला हिल से १६ अक्तूबर १८९४ को लिखे अपने एक पत्र में स्वामी जी को मद्रास-प्रेसिडेन्सी के निम्नलिखित ९ व्यक्तियों के नाम लिखे जो स्वामी जी के कार्य में सहायक हो सकते थे—(१) टी० रामचन्द्र अय्यर, द्वितीय न्यायाधीश चीफ कोर्ट बंगलौर, (२) टी० नरसिंह अय्यंगर, दरबार बख्शी मैसूर, (३) दीवान बहादुर रघुनाथ राव कुम्भकोणम्, (४) माननीय रायबहादुर सभापति मुदालियर बेलारी, (५) श्री जी०-

सुब्रह्मण्य अय्यर, सम्पादक हिन्दू, मद्रास, (६) माननीय सुब्रह्मण्य अय्यर प्लीडर हाईकोर्ट मद्रास, (७) माननीय शंकर नायक, प्लीडर हाई कोर्ट, मद्रास, (८) श्री बलवन्तराव सहस्त्रबुद्धे, मिलिटरी फाइनेन्स सुपरिण्टेण्डेण्ट ट्रिप्लिकेन मद्रास, (९) श्री विजय राघवचारलू, प्लीडर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट सलेम। ये सब महानुभाव मद्रास प्रान्त के विभिन्न स्थानों के सुप्रसिद्ध एवं सुप्रतिष्ठित नेता थे। जनता इन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। ये सभी बड़े शिक्षा-सम्पन्न, उदार एवं सुधारवादी विचारों के व्यक्ति थे और रानाडे महोदय को पूरी आशा थी कि इनके सहयोग से मद्रास में स्वामी नित्यानन्द जी का प्रचार-कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सकेगा।

श्री रानाडे महोदय ने इस पत्र के साथ स्वामी जी को एक सार्वजनिक परिचय-पत्र भेजते हुए लिखा था—"इस पत्र को आप जिस-जिस स्थान पर जायें, वहाँ पत्र में उल्लिखित महानुभावों को दिखाने की कृपा करें। मद्रास प्रान्त में पहुँचने के बाद आप अपनी सुविधानुसार विभिन्न स्थानों पर अधिक-से-अधिक समय लगायें।" इस पत्र के साथ भेजे गये परिचय-पत्र में रानाडे महोदय ने लिखा था कि "ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रभावशाली प्रचारक हैं। यह संस्था पण्डित दयानन्द सरस्वती द्वारा लगभग २० वर्ष पहले स्थापित की गयी थी। उत्तर-भारत में, विशेषकर पंजाब में आर्यसमाजों की संख्या १५० है। इस संस्था ने वहाँ अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया है। दुर्भाग्यवश लगभग १० वर्ष पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती अपना कार्य पूरा किये बिना ही परलोक चले गये। उनके कुछ शिष्यों और अनुयायियों ने उनके द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने का भार अपने ऊपर ले लिया है। इनमें ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द निश्चित रूप से सबसे अधिक योग्य हैं। वे दोनों संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं और श्री नित्यानन्द जी अंग्रेजी भी जानते हैं। क्योंकि मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज के उपदेशकों का दौरा नहीं हुआ है, मैंने उनसे प्रस्ताव किया है कि वे इस प्रान्त में भ्रमण करें और मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने बंगलौर जाने के लिए समय निकाला है। उनका विचार मैसूर और उससे आगे मद्रास जाने का है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत उच्च कोटि की है। मुझे पूरी आशा है कि वे अपना आशय शिक्षित समुदाय को समझा सकेंगे। आप उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली उपदेशक समझेंगे। उनकी मित्रमण्डली उधर नहीं है। इसलिए मैंने यह सार्वजनिक परिचय-पत्र देने का साहस किया है। मैं आशा करता हूँ कि आपकी सहायता से उनका उद्देश्य सफल होगा।"

बंगलौर में आर्यसमाज की स्थापना—हैदराबाद में प्रचार करने के बाद स्वामी जी २०-१०-९४ को बंगलौर पहुँचे और वहाँ एक धर्मशाला में ठहरे। इस समय तक स्वामी जी का वहाँ किसी से परिचय नहीं था और उन्हें रानाडे महोदय का उपर्युक्त परिचय-पत्र भी नहीं मिला था। किन्तु इसी बीच स्वामी जी को पता लगा कि यहाँ कुछ सज्जन आर्यसमाज के विचारों के अनुयायी हैं। ऐसे एक सज्जन श्री गणेशसिंह रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर से बंगलौर में उनका पहला परिचय हुआ और वह स्वामी जी को अपने निवास-स्थान बंगलौर छावनी में ले गये। इस बीच में रानाडे महोदय द्वारा उनके बंगलौर-निवासी मित्रों को भेजा गया परिचय-पत्र मिला। इसमें स्वामी जी के आतिथ्य और व्याख्यानों का प्रबन्ध करने के लिए लिखा गया था।

रानाडे महोदय का पत्र लेकर स्वामी जी जस्टिस रामचन्द्र अय्यर द्वितीय न्याया-

धीश चीफ कोर्ट बंगलौर और टी० नरसिंह अय्यंगर दरबार बक्शी मैसूर आदि विभिन्न सज्जनों से मिले। इन सज्जनों की सम्मति यह थी कि इन प्रान्तों में हिन्दी समझनेवाली जनता का अभाव है, अतः उन्हें स्वामी जी के उद्देश्य की सफलता में सन्देह था। इस कारण उन्होंने स्वामी जी की सहायता करने का विशेष प्रयास नहीं किया। किन्तु श्री गणेशसिंह रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर के प्रबन्ध से स्वामी जी ने बंगलौर के टाउन हॉल में व्याख्यान देना आरम्भ किया। जनता उनके व्याख्यानों और सिद्धान्तों को भली-भाँति समझने लगी और इसके परिणामस्वरूप १० नवम्बर, १८९४ को बंगलौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई।

इसके बाद स्वामी जी ने मैसूर जाने का निश्चय किया। किन्तु वहाँ पहुँचने से पहले वह कुछ समय क्लासपेट में ठहरे, क्योंकि यहाँ के कुछ सज्जनों ने उन्हें व्याख्यान देने का निमन्त्रण दिया था। यहाँ उनका पहला भाषण सायंकाल १६-११-९४ को हुआ। श्रोता इससे इतने अधिक प्रभावित और मुग्ध हुए कि उन्होंने उनसे और व्याख्यान देने की प्रार्थना की। १७-११-९४ को सायंकाल उनका दूसरा व्याख्यान हुआ और इसके परिणामस्वरूप यहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। दक्षिण भारत में, विशेष रूप से कर्नाटक में स्वामी जी के आर्यसमाज के प्रचार-कार्य तथा व्याख्यानों का सुन्दर परिचय देते हुए 'ईवनिंग मेल' नामक अंग्रेजी पत्र ने २२ नवम्बर, १८९४ के अंक में एक लम्बा लेख लिखा। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं—

"कतिपय सज्जनों के निमन्त्रण पर आर्यसमाज के उपदेशक स्वामी विश्वेश्वरानन्द सरस्वती और नित्यानन्द ब्रह्मचारी बंगलौर से महिसूर (मैसूर) जाते हुए क्लासपेट में उतरे। १६-११-१८९४ को सायंकाल के समय स्वामी नित्यानन्द जी ने एक व्याख्यान दिया। श्रोतागण इससे इतने मुग्ध हुए कि दूसरे दिन उन्होंने एक और व्याख्यान देने की प्रार्थना की। अतः १७-११-१८९४ को सायंकाल स्वामीजी का दूसरा व्याख्यान हुआ। सर्वसाधारण का विचार है कि इस देश के मनुष्य हिन्दी भाषा नहीं समझते हैं, किन्तु प्रयोग करने पर प्रमाणित हो चुका है कि एक बार जहाँ स्वामी जी ने उनके सम्मुख हिन्दी भाषा में व्याख्यान दिया तो जनता ने इसे बारम्बार सुनने की उत्कट इच्छा प्रकट की। बम्बई हाइकोर्ट के जज माननीय रानाडे की सम्मति में वह वैदिक धर्म के प्रतिभा-सम्पन्न उपदेशक हैं। यह बात सत्य है, क्योंकि वे अपनी विशेष भाषण-शक्ति से अपने विचार उन श्रोताओं के हृदय में भी पूर्णतया बिठा देते हैं जो अपनी समझने की शक्ति में अविश्वास प्रकट करते हैं। इस प्रकार से उनके समझाने की शक्ति वास्तव में प्रशंसनीय है। उनके उपदेश तात्त्विक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पूर्ण होते हैं और उनके समर्थन में वैदिक काल में प्रामाणिक माने जानेवाले ग्रन्थों के प्रमाण दिये जाते हैं, इसलिए वे उच्च-कोटि के होते हैं, और भले तथा बुरे में भेद करने योग्य पर्याप्त बुद्धि रखनेवाला प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति उनके कथन को पूर्ण रूप से हृदय में धारण कर लेता है। भले ही कट्टरपन और अधार्मिकता के विचार रखनेवाले पुरुष उनका विरोध करें, किन्तु यह केवल संकीर्ण विश्वास रखनेवाले के मस्तिष्क की ही उपज होगी। स्वामी जी का देश के इस भाग में पधारना यहाँ की जनता के लिए बड़ा लाभकारी सिद्ध होगा। इसके साथ ही सर्वसाधारण के आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक जीवन में जो अन्धकार छाया हुआ है, वह अपने धर्म की शिक्षा के कारण नष्ट हो

जायेगा। बंगलौर में उनके थोड़े-से व्याख्यानों के प्रभाव से १० नवम्बर, १८९४ को आर्यसमाज स्थापित हो गया और क्लासपेट में ऊपर बताये गये केवल दो ही व्याख्यानों से १७-११-१८९४ को आर्यसमाज की स्थापना हुई। यदि स्वामी जी इस प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करने का कष्ट स्वीकार करें तो मैं यह कह सकता हूँ कि शीघ्र ही और भी बहुत-से आर्यसमाज स्थापित हो जायेंगे। अवश्य ही जनता की रुचि इस ओर होनी चाहिए। सम्भवत: आपके बहुत-से पाठक आर्यसमाज और इसके सभासदों के कर्तव्यों से परिचित नहीं होंगे। उनकी जानकारी के लिए मैं संक्षेप में यह बता देना चाहता हूँ कि आर्यसमाज वह संस्था है जिसके सभासद् वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए वैदिक सिद्धान्तों पर विचार और वाद-विवाद करते हैं। इस जीवन में मनुष्यमात्र में शान्ति और सुख का राज्य हो और मृत्यु के पश्चात् मुक्ति मिले, इस उद्देश्य से वह एक-दूसरे की सहायता करते हुए सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। प्रत्येक आर्यसमाजी को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह १० नियमों का पालन करेगा।"

मैसूर में प्रचार—क्लासपेट से स्वामी नित्यानन्द जी १९-११-१८९४ को पी० एस० शेषगिरि राव उप-मन्त्री आर्यसमाज, बंगलौर के साथ मैसूर पहुँच गये और श्रीयुत वेंकट कृष्ण अय्या हैडमास्टर मरीमल अप्पा हाई स्कूल के सौजन्य से इनके निवास की व्यवस्था एक बड़ी उत्तम धर्मशाला में की गयी। मैसूर में उनका पहला व्याख्यान श्रीमान वेंकट कृष्ण अय्या के प्रबन्ध से उन्हीं के हाईस्कूल में हुआ। यह व्याख्यान जनता द्वारा बहुत अधिक पसन्द किया गया। इससे यह आशा की गयी कि अगले व्याख्यानों में श्रोताओं की संख्या अधिक होगी, अतः अगले व्याख्यानों का प्रबन्ध नगर के सुप्रसिद्ध व्याख्यान-भवन रंगाचारलू टाउन हॉल में किया गया। इन व्याख्यानों के बारे में दिनांक २६ नवम्बर, १८९४ के 'मैसूर हैरल्ड' नामक पत्र में यह टिप्पणी प्रकाशित हुई थी—"१८ नवम्बर को यहाँ पहुँचनेवाले आर्यसमाज के उपदेशकों का प्रचार-कार्य मैसूर में बहुत सफल हुआ है। श्री स्वामी नित्यानन्द द्वारा टाउन हॉल में व्याख्यान दिये जा रहे हैं। पहले व्याख्यान को छोड़कर अन्य सभी व्याख्यानों में यह विशाल हॉल एक छोर से दूसरे छोर तक खचाखच भरा रहता था। यह घटना मैसूर के इतिहास में बिलकुल अनोखी है।"

मद्रास के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र "हिन्दू" ने ३० नवम्बर, १८९४ के अंक में मैसूर में स्वामी जी के पधारने और व्याख्यान देने की घटना का एक विस्तृत विवरण प्रकाशित किया था। इसका सारांश इस प्रकार है—"स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द आजकल मैसूर में हैं। दोनों स्वामी हिन्दू-धर्मग्रन्थों में पूरी प्रवीणता रखते हैं। वेद-वेदान्त और स्मृतियाँ इनको पूर्णतया विदित हैं। दर्शन, पुराण और इतिहास के ग्रन्थों का उन्हें असाधारण ज्ञान है। रंगाचारलू स्मारक भवन में उनका व्याख्यान "मनुष्य के कर्तव्य" विषय पर हुआ, उनका एक व्याख्यान "ईश्वराराधन" विषय पर हुआ। 'मनुष्य के कर्तव्य' विषयवाला व्याख्यान अत्यन्त प्रभावशाली हुआ। साधारण विद्यार्थी भी उसकी प्रशंसा करते थे। यह व्याख्यान दो घण्टों से अधिक समय तक होता रहा और बीच-बीच में करतल-ध्वनि होती रहती थी। व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीयुत शामराव एम० ए० ने (जो इस सभा के सभापति थे) व्याख्याता को धन्यवाद दिया और दूसरे दिन के व्याख्यान में समय से पूर्व आने की इच्छा करती हुई श्रोतामण्डली अपने-अपने घर गयी।"

मैसूर में स्वामी जी के आर्यसमाज-विषयक भाषण अतीव लोकप्रिय थे। इनमें उपस्थिति इतनी अधिक होती थी कि लोग हॉल के ऊपर के बरामदे और खिड़कियों तक में बैठ जाते थे। फिर भी बीसियों व्यक्तियों को जगह न मिलने के कारण निराश होकर लौटना पड़ता था। एक सप्ताह तक स्वामी जी के व्याख्यान होने का यह प्रभाव पड़ा कि मैसूर में इस बात का आन्दोलन प्रबल हुआ कि ऐसे विद्वान् संन्यासी के व्याख्यानों से महाराजा साहब को भी अवश्य लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि इस समय तक उनके अतिरिक्त मैसूर राज्य के सभी उच्च अधिकारी दीवान, न्यायाधीश, व्यापारी, वकील, जागीरदार और सामान्य श्रेणी के सब मनुष्य स्वामी जी के व्याख्यानों में अत्यन्त उत्साह और प्रेम से उपस्थित होते थे और इनसे लाभ उठाते थे। इन व्याख्यानों में अध्यक्ष का पद राज्य के दीवान, सुप्रसिद्ध वकील, एडवोकेट, न्यायाधीश और हैडमास्टर जैसे सुप्रतिष्ठित और सुशिक्षित व्यक्ति ग्रहण करते थे। कुछ समय बाद राज्य के वकीलों और प्रतिष्ठित पुरुषों ने अपनी ओर से एक प्रार्थनापत्र मैसूर के महाराजा की सेवा में प्रस्तुत किया। इसमें स्वामी जी के व्याख्यानों की प्रशंसा करते हुए महाराजा साहब से प्रार्थना की गयी थी कि आप इन दोनों आर्य संन्यासियों से अवश्य मिलें। महाराजा साहब ने इस प्रार्थना-पत्र के पहुँचने पर दोनों स्वामियों को मिलने के लिए निमन्त्रण दिया और २८ नवम्बर, १८९४ को वे इनसे मिले।

मैसूर-नरेश से भेंट—महाराजा साहब से स्वामी जी की पहली भेंट का वृत्तान्त ५ दिसम्बर, १८९४ के मद्रास से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दू' पत्र में निम्नलिखित रूप में प्रकाशित हुआ था—"स्वामी नित्यानन्द पिछले दो सप्ताह से मैसूर में धार्मिक और सामाजिक विषयों पर व्याख्यान दे रहे हैं। राज्य के दीवान, अन्य बड़े अधिकारियों, नगर के नेताओं और सर्वसाधारण ने इनकी अत्यन्त प्रशंसा की है। स्वामी जी की भाषण-शैली चमत्कारपूर्ण तथा असाधारण है। उनके ज्ञान का विस्तार अनन्त है। अपने इन गुणों से स्वामीजी ने मैसूर में महान् प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त किया है। उनकी महामहिम महाराजा से भेंट हुई है। जब स्वामी जी उनसे मिले तो उन्होंने महाराजा साहब से भेंट कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि जब वे उत्तरभारत में थे तो प्रायः मैसूर के प्रबुद्ध, वैधानिक और प्रगतिशील शासन के बारे में उन्होंने बहुत-सी बातें सुनी थीं, और उनके मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई थी कि वे इस प्रदेश की यात्रा करें। उन्हें इस बात की प्रसन्नता है कि उनकी आकांक्षा पूरी हुई और मैसूर के प्रगतिशील प्रशासन के सम्बन्ध में उन्होंने जो बातें सुनी थीं, वे बिलकुल सही हैं। उन्होंने महाराजा को राज्य की प्रगति पर बधाई दी और उनके शासन की सुधारवादी प्रवृत्ति की सराहना की। महाराजा ने उन्हें मैसूर की यात्रा के लिए तथा इस सराहना के लिए धन्यवाद दिया और यह बताया कि जहाँ तक प्रशासन-सम्बन्धी मामलों का सम्बन्ध है, उन्हें किसी प्रकार का कोई खेद नहीं है; किन्तु वे इस बात से दुःखी हैं कि धार्मिक विषयों में वे यह बात विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु सन्तोषजनक है। उनकी यह सम्मति है कि स्वामी जी जैसी योग्यता रखनेवाले थोड़े-से भी प्रचारक प्रजा की सामाजिक और नैतिक उन्नति करने में बड़ी सहायता दे सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि यदि साधारण जनता को मत-मतान्तरों का और साम्प्रदायिक मतभेदों का विचार छोड़कर सब धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों की

शिक्षा देने का प्रयास किया जाय तो वे इस कार्य में कुछ प्रोत्साहन दे सकते हैं। इसपर स्वामी जी ने मैसूर में एक वैदिक धर्मवर्द्धिनी सभा स्थापित करने का प्रस्ताव रखा और महाराजा साहब से इसका संरक्षक बनने की प्रार्थना की। महाराजा साहब ने न केवल तत्काल इस प्रार्थना को स्वीकार किया अपितु यह वचन दिया कि इस समाज की उन्नति के लिए वे आवश्यक सहायता भी प्रदान करेंगे।" संभवतः स्वामी जी का यह विचार था कि इस संस्था के माध्यम से महाराजा साहब को संरक्षक बनाकर उनकी सहायता से आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत में बड़ी तेजी और सफलता के साथ सम्पन्न हो सकेगा।

वैदिक धर्मवर्द्धिनी सभा की स्थापना—उपर्युक्त सुझाव के अनुसार वैदिक धर्मवर्द्धिनी सभा स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक विशेष सभा श्रीमान पण्डित अन्नाया जी के निवासस्थान पर मैसूर में हुई। इसमें स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वामी नित्यानन्द के अतिरिक्त नगर के अनेक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति—रावबहादुर ए. नरसिंह अय्यर, सी. वी. शेषगिरिराव, एम. श्यामराव एम. ए., एस. मल्हारीराव बी. ए., ए. महादेव शास्त्री बी. ए., एम. वेंकटराव शास्त्री आदि अनेक सज्जन उपस्थित थे। इन लोगों ने सर्वसम्मति से उस दिन सायंकाल होनेवाली सभा में प्रस्तुत करने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निश्चित किया—(१) वैदिक धर्मवर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की जाय। (२) श्रीमान महाराजा साहब उसके संरक्षक बनाये जायें। इसके शेष अधिकारी इस प्रकार निश्चित किये जायें—(१) श्रीमान सर शेषाद्रि अय्यर दीवान साहिब, मैसूर, राज्य-प्रधान,(२) श्रीमान रा० रामचन्द्र अय्यर, जज चीफ कोर्ट, उपप्रधान, (३) रावबहादुर रा० श्रीनिवास चारलू अधिष्ठाता मुजरा उपप्रधान, (४) श्रीमान रा० नरसिंह ऐयंगार आर० ए० दरबार बख्शी मन्त्री, (५) श्रीमान एम० शामराव एम० ए० मन्त्री, (६) श्रीमान अनय्या पण्डित कोषाध्यक्ष,(७) श्रीमान महादेव शास्त्री बी० ए० पुस्तकाध्यक्ष, (८) श्रीमान वेंकट शास्त्री आदि। अन्य सभा में उपस्थित लौकिक (गृहस्थ) और वैदिक (वेदों के ज्ञाता) सज्जन जो सभा में सम्मिलित होना स्वीकार करें, वे सभासद् बनाये जायें। सभा का उद्देश्य वेद और शास्त्र-पारंगत विद्वानों की समिति द्वारा अनुमोदित वैदिक सदाचार का प्रचार और उन्नति करना रखा गया।

सायंकाल होनेवाली सभा में उपर्युक्त निश्चित कार्यक्रम और योजना को सुनाया गया और उपस्थित जनता की सर्वसम्मति से इस सभा की स्थापना की गयी। महाराजा साहब के संरक्षक बन जाने के कारण लोग बड़ी संख्या में इसके सभासद् बने और इस सभा के अधिवेशन करने के लिए महाराजा साहब ने अपने निजी उपयोग का स्थान दे दिया। यहाँ स्वामी जी के व्याख्यान नियमित रूप से प्रतिदिन होने लगे। स्वामी जी ने महाराजा साहब को दो विशेष व्याख्यान राजधर्म के विषय पर दिये। इसमें मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर राजा के कर्तव्यों और गुणों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया था। स्वामी जी के व्याख्यानों का महाराजा साहब पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने इनका एक व्याख्यान अपनी सुविधानुसार सुनने के लिए ग्रामोफोन के रिकार्ड में भरवा लिया और स्वामी जी से यह भी कहा कि वे अपनी उत्तर भारत की यात्रा में सुप्रसिद्ध आर्यसमाजों को देखेंगे। इसका यथोचित प्रबन्ध करने के लिए उन्होंने स्वामी-

जी को कहा। महाराज साहब ने अपनी उत्तरभारत की यात्रा में प्रयाग और दानापुर के समाजों को देखा और इन आर्यसमाजों से अभिनन्दनपत्र ग्रहण किये। आर्य-जगत् को मैसूर के महाराजा साहब से वैदिक धर्म के प्रचार में बहुमूल्य सहायता पाने की बड़ी आशा थी, किन्तु २९-१२-१८९४ को गलरोग से कलकत्ता में महाराजा साहब की अकाल मृत्यु से इन आशाओं पर तुषारपात हो गया।

मैसूर में स्वामी जी ६ दिसम्बर, १८९४ तक रहे। स्वामी जी के उपदेशों से मैसूर की जनता ने बड़ा लाभ उठाया। महाराजा साहब उनके सुधारवादी विचारों तथा उपदेशों से अत्यधिक प्रभावित थे। सम्भवत: उसका यह कारण था कि महाराजा स्वयं उदारवादी विचारों के थे। भारत में बाल-विवाह के निषेध का पहला कानून बनाने का श्रेय इनको प्राप्त है। स्वामी जी ने १५ अगस्त, १९०२ को दिये अपने एक भाषण में मैसूर में महाराजा द्वारा बाल-विवाह रोकने के कानून पर प्रकाश डालनेवाले बड़े मनोरंजक इतिहास का वर्णन करते हुए कहा था—"आठ वर्ष हुए मैं मुम्बई से मैसूर गया। मैसूर के राज्य में वहाँ के पूर्व-राजा ने ऐसा कानून बनाया था कि १२ वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह न किया जाय। मैंने मैसूर के महाराजा साहब से पूछा कि यह कानून बनाने का क्या कारण है? श्रीमान ने उत्तर दिया कि—'छोटी आयु में विवाह करने से जो हानि हुई है, उसका मुझे अनुभव है। एक समय ऐसा हुआ कि मैंने एक पाँच वर्ष की छोटी लड़की का विवाह होते देखा। हमारे राज्य में यह रिवाज है कि विवाह के समय पहले कन्या वर को एक केला देती है और उसको खिलाकर पीछे आप खाती है। इसका आशय यह है कि स्त्री पहले पति को भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करे। यह जो पतिसेवा की मर्यादा है, सो व्यावहारिक रीति से विवाह के समय साक्षात्कार करना चाहिए। इस ऊपर कहे हुए उदाहरण में ऐसा हुआ कि जब पाँच वर्ष की कन्या को केला दिया गया तो वह बालिका इसके महत्त्व को क्या समझती, उसका छिल्का उतारकर वह पति को देने के बजाय आप ही खा गयी।' महाराजा ने मुझे बतलाया कि 'यह हाल देखकर मुझे बहुत बुरा लगा, और छोटी उम्र में विवाह करने से जो अन्धेर होता है, सो मुझे मालूम हुआ। उस दिन से मैंने विवाह की आयु का कानून बनाया। बेचारी छोटी लड़की को क्या खबर कि पति किस चिड़िया का नाम है!'."[1]

मैसूर से विदाई—स्वामी जी की अगाध विद्वत्ता, उदार दृष्टिकोण, क्रान्तिकारी समाज-सुधार की मनोवृत्ति और सरलहृदयता का महाराजा पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि जब मैसूर से स्वामी जी के विदा होने का समय आया तो महाराजा ने अपने महल के प्रबन्धकर्ता को आज्ञा दी—"स्वामी जी के सामने सब खजाना खोल दो और जो कुछ वस्तु लेने की वे इच्छा प्रकट करें या आज्ञा दें, उस वस्तु को उनके स्थान पर भिजवा दो।" राजकीय प्रबन्धकर्ता स्वामी जी के पास गया और उसने महाराजा की आज्ञा उन्हें बतायी। स्वामी जी उसके साथ महलों में आये और उन्होंने महाराजा साहब को उनकी उदारता के लिए धन्यवाद देते हुए स्पष्ट शब्दों में निवेदन किया—"हम संन्यासी हैं, हमें धन नहीं चाहिए। आपने वैदिक धर्म स्वीकार किया। हमारा परिश्रम एक इसी कार्य से सफल

---

१. स्वामी नित्यानन्द सरस्वती जी का जीवन-चरित्र मुम्बई १९१६, स्वामी जी के व्याख्यान पृ० १०१

हुआ है। हमें अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। हमने आपको प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रतिपादित राजा के कर्तव्यों का उपदेश दिया है, आप इसका सहस्रांश भी अपने आचरण में ला सकें तो हम अपना परिश्रम सार्थक समझेंगे।"

स्वामी जी के इन वचनों से महाराजा साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके कार्य की सफलता की मंगलकामना की। इस प्रकार १८ नवम्बर, १८९४ से ६ दिसम्बर, १८९४ तक मैसूर में राजा से रंकतक के हृदय में वैदिक धर्म का सन्देश पहुँचाकर स्वामी जी ने जब मैसूर से प्रस्थान किया तो विशाल भक्त-समुदाय उन्हें स्टेशन तक छोड़ने आया। उस समय एक अद्भुत दृश्य था। नगर के प्रतिष्ठित गृहस्थों ने उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुएँ भेंट के लिए प्रस्तुत कीं, किन्तु स्वामी जी ने उनको धन्यवाद-पूर्वक लौटाते हुए उनके प्रेमपूर्ण आतिथ्य के लिए आभार प्रकट किया। इसपर कुछ व्यक्तियों ने उनसे प्रार्थना की—"महाराज, कुछ रेशमी धोतियाँ तो आप हमारी प्रार्थना पर अवश्य ग्रहण करें और उन्हें ही धारण किया करें, क्योंकि आप संन्यासी हैं। यदि आप इस प्रान्त में रेशमी वस्त्र नहीं पहनेंगे तो यहाँ की जनता आपका आदर नहीं करेगी। आपके प्रचार में बाधा पड़ेगी और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप इतना श्रम उठा रहे हैं, वह पूरा नहीं होगा। सूती वस्त्र पहने हुए आपको जो कोई देखेगा, वह आपको शूद्र समझेगा। विशेष-कर ब्राह्मण-समुदाय तो आपका स्पर्श करने में भी संकोच करेगा। इन प्रान्तों में ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक है, इसलिए अधिक नहीं तो कम-से-कम चार रेशमी धोतियाँ तो आप अपने पास अवश्य रखें।" स्वामी जी ने अपनी स्वाभाविक सरलतापूर्वक यह उत्तर दिया—"हमारा उद्देश्य ही इस प्रकार की निस्सार और आडम्बरपूर्ण पोपलीला के नाश करने का है। इसलिए हमें इन धोतियों की आवश्यकता नहीं है।" यह कहकर उन्होंने दी गयी रेशमी धोतियाँ लौटा दीं। उनकी इस निःस्पृहता, अपरिग्रह और वीतराग-वृत्ति का मैसूर की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

श्रीरंगपट्टनम् में आर्यसमाज की स्थापना—यह दक्षिण भारत का एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। हैदरअली और टीपू सुलतान जब मैसूर के प्रदेश पर शासन करते थे, उस समय यह उनकी राजधानी थी। इसका किला और महल आदि प्राचीन स्मारक इसके पुराने महत्त्व और कला-वैभव को सूचित करते हैं। स्वामी जी मैसूर से लौटते हुए कुछ दिन यहाँ ठहरे। उन्होंने प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्मारकों को देखा और चार व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों का जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा और इसके परिणामस्वरूप यहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी।

बंगलौर की दूसरी यात्रा तथा अछूतोद्धार—श्रीरंगपट्टनम् से स्वामी नित्यानन्द बंगलौर आये। यह उनकी इस नगर की दूसरी यात्रा थी। अब यह नगर उनके लिए अपरिचित नहीं था। पहली यात्रा में उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी और भक्त बन चुके थे। स्वामी जी यहाँ आने से पहले यद्यपि अपने पूर्व-परिचित श्री गणेशसिंह रिटायर्ड डिप्टी कलक्टर के यहाँ बंगलौर छावनी में ठहरने की स्वीकृति दे चुके थे, किन्तु नगरनिवासियों और राज्य-कर्मचारियों के आग्रह से वे शहर में ही ठहरे। यहाँ स्वामी जी के भाषणों का प्रबन्ध एक विशाल व्याख्यान-भवन में किया गया। नगर की जनता स्वामी जी के दर्शन के लिए और उनके व्याख्यान सुनने के लिए उमड़ रही थी। व्याख्यान-भवन में स्वामी जी के भाषण के समय तिलभर जगह भी खाली

नहीं रहती थी। इस नगर की पहली यात्रा के समय महादेव गोविन्द रानाडे ने अपने कुछ मित्रों को स्वामी जी के नाम परिचय-पत्र भेजकर उनकी सहायता करने को कहा था। किन्तु उन्हें यह विश्वास नहीं था कि स्वामी जी को यहाँ हिन्दी में भाषण देने से जनता पर अभीष्ट प्रभाव डालने में सफलता मिलेगी। अतः वे उस समय स्वामी जी को सहायता देने में हिचकिचा रहे थे।

किन्तु अब क्लासपेट, मैसूर और श्रीरंगपट्टनम् में स्वामी जी के प्रचार की सफलता के समाचार जानकर और पढ़कर वे भी स्वामी जी के भक्त बन गये और उनके हृदय पर यह बात भलीभाँति अंकित हो गयी कि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो भारतभर के किसी भी प्रान्त में सरलतापूर्वक सबसे अधिक बोली और समझी जा सकती है। केवल तमिल और कन्नड़ भाषा जाननेवाले भी यह कहते थे कि हमें स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनने और उनका आशय हृदयंगम करने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है। अनेक व्यक्तियों का स्वामी जी के पहली बार बंगलौर आने पर यह विश्वास था कि यदि स्वामी जी के व्याख्यान हिन्दी में होंगे तो वे उन्हें समझ नहीं सकेंगे, अतः वे स्वामी जी के व्याख्यान सुनने नहीं आये थे। किन्तु अब दूसरी यात्रा के समय उन्होंने जब स्वामी जी के कुछ व्याख्यान सुने तो उन्होंने यह कहना शुरू किया कि स्वामी जी की हिन्दी इतनी सरल है, उसमें संस्कृत शब्दों का इतनी अधिक मात्रा में प्रयोग होता है कि हमें उनके भाषणों का आशय समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है।"

अपनी दक्षिण-यात्रा में स्वामी जी ने शीघ्र ही अपनी दूरदर्शी दृष्टि से इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि ब्राह्मण तथा उच्च वर्णों के व्यक्ति शूद्रों के साथ घोर दुर्व्यवहार और अत्याचार कर रहे हैं। अस्पृश्य जातियों के ईसाई बनने का एक प्रधान कारण उनके साथ सवर्णों द्वारा किया जानेवाला अत्याचार और दुर्व्यवहार है और इसका अवश्य निराकरण किया जाना चाहिए। जब स्वामी जी बंगलौर में थे तो दक्षिण-भारत की अस्पृश्य समझी जानेवाली परियाह नामक अन्त्यज जाति के कुछ व्यक्ति उनके पास आये और कहने लगे—"हम हिन्दू हैं, किन्तु उच्च वर्ण के हिन्दू हमसे घृणा करते हैं। आपसे हमारी प्रार्थना है कि आप अपने उपदेशों द्वारा अन्य हिन्दुओं को हमारे साथ समानता का व्यवहार करने के लिए उद्यत करें, अन्यथा हमें ईसाई हो जाना पड़ेगा।" स्वामी जी ने इन लोगों की प्रार्थना स्वीकार की और उच्च वर्ण के हिन्दुओं को परियाह लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करने के लिए बड़े मार्मिक और प्रभावशाली उपदेश दिये। स्वामी जी के उपदेशों में परियाह लोग भी बराबर आते रहे।

स्वामी जी ने बंगलौर से प्रस्थान करने से पहले अस्पृश्य जाति के लोगों की एक विशाल सभा का आयोजन किया और इसमें उन्हें वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को समझाते हुए यह बताया कि "आजकल का हिन्दू समाज प्राचीन वैदिक शिक्षाओं को भूल चुका है। वैदिक धर्म सब मनुष्यों को समान समझता है। वेद की वाणी सुनने का भगवान् ने सबको समान अधिकार दिया है। अस्पृश्यों के साथ दुर्व्यवहार हिन्दू समाज की भारी भूल है। समाज की इस भूल को धर्म के माथे पर नहीं मढ़ा जाना चाहिए। कितना ही घोर संकट क्यों न हो, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए, वैदिक धर्म का अनुयायी बना रहना चाहिए। हिन्दू-धर्म का किसी भी दशा में परित्याग नहीं करना चाहिए और ईसाई नहीं बनना चाहिए।" इसके साथ ही स्वामी जी ने अस्पृश्य

जातियों को यह वचन और आश्वासन दिया कि मद्रास में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अवसर पर दिसम्बर, १८९४ के अन्त में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन के साथ आयोजित 'अखिल भारतीय समाज सुधार सम्मेलन' में वे बम्बई और मैसूर राज्य के प्रतिनिधि के रूप में अछूतोद्धार के बारे में विशेष आन्दोलन करेंगे। स्वामी जी के इस व्याख्यान का परियाह तथा अन्य अस्पृश्य जातियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि व्याख्यान की समाप्ति पर इन सबने यह प्रतिज्ञा की कि "वे शरीर में प्राण रहते हुए कभी भी किसी दशा में हिन्दू जाति रूपी महाशरीर से पृथक् होकर इसका अंगभंग नहीं करेंगे और प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने परिवारों में भी इस निश्चय का प्रचार करते रहेंगे और अन्य व्यक्तियों को भी ऐसा करने की प्रेरणा देते रहेंगे।" यह स्वामी जी की बहुत बड़ी सफलता थी। स्वामी जी दूसरी बार बंगलौर में १२-१२-१८९४ से १७-१२-१८९४ तक रहकर वैदिक धर्म का प्रचार करने के बाद समाज-सुधार-सम्मेलन में भाग लेने के लिए मद्रास चले गये।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि स्वामी जी के बाद अगले ३०-३५ वर्ष तक उनके द्वारा शुरू किये गये प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाने के लिए कोई आर्यसमाजी प्रचारक दक्षिणभारत में नहीं आया और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाजों को अपना कार्य जारी रखने की कोई नवीन प्रेरणा, प्रोत्साहन या सहायता नहीं मिली और शनैः-शनैः ये आर्यसमाज समाप्त हो गये। इनका पुनरुज्जीवन और आर्यसमाज का विकास दक्षिण-भारत में १९२४ के बाद ही शुरू हुआ।

(२) मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज के प्रचार का श्रीगणेश

मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज के प्रचार को आरम्भ करने का श्रेय स्वामी नित्यानन्द जी को है। दिसम्बर १८९४ में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का अधिवेशन मद्रास में सम्पन्न किया जाना निश्चित हुआ। उन दिनों कांग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ अखिल भारतीय समाज-परिषद् (Indian Social Conference) के भी अधिवेशन हुआ करते थे। उस समय के नेताओं का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की राजनैतिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति भी अतीव आवश्यक है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ—बालविवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, स्त्रियों की हीन स्थिति, पर्दा, अस्पृश्यता, जातिभेद, हरिजनों के साथ विषमता का व्यवहार, अन्याय और अत्याचार, दहेज जैसी बुरी कुरीतियाँ भारतीय समाज को अन्दर से घुन की तरह खाये जा रही हैं और निर्बल बना रही हैं। यदि हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल भी जाय तो भी वह इन कुरीतियों के कारण सुरक्षित नहीं रह सकेगी, जल्द ही नष्ट हो जायेगी।

अतः न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे जैसे नेताओं के उद्योग से प्रतिवर्ष कांग्रेस के साथ समाज-सुधार के प्रश्नों पर विचार करने और प्रभावशाली पग उठाने तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए आवश्यक प्रबल लोकमत बनाने के लिए अखिल भारतीय समाज परिषद् के अधिवेशन का आयोजन किया जाता था। इस अवसर पर भारत के सभी प्रान्तों और राज्यों के राजनैतिक नेता और धर्म-सुधारक एकत्र हुआ करते थे। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि स्वामी नित्यानन्द जी किस प्रकार कर्नाटक में आर्यसमाज का प्रचार करने के लिए नवम्बर, १८९४ में मैसूर पहुँचे थे। उस समय उन्हें रानाडे

महोदय ने यह परामर्श दिया कि वे दिसम्बर, १८९४ के अन्त में कांग्रेस के साथ होनेवाली भारतीय समाज परिषद् के अधिवेशन में अवश्य भाग लें, समाज-सुधार के विषय में अपने विचारों तथा प्रस्तावों को प्रस्तुत करें तथा समाज-सुधार के आन्दोलन को प्रबल बनायें। मैसूर के महाराजा ने इस परिषद् के लिए स्वामी जी को अपना प्रतिनिधि मनोनीत किया था। इस समय यद्यपि स्वामी जी की अपनी इच्छा दक्षिणभारत के अन्य स्थानों—मदुरा, कोचीन, ट्रावनकोर, कुम्भकोणम्, त्रिचनापल्ली, तंजोर आदि नगरों में जाकर प्रचार करने की थी, किन्तु अपने मैसूरनिवासी मित्रों के आग्रह से स्वामी जी भारतीय समाज परिषद् के अधिवेशन में भाग लेने के लिए मद्रास आये और सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'हिन्दू' के सम्पादक श्री जी० सुब्रह्मण्यम् अय्यर के निवासस्थान पर ठहरे।

सामाजिक पृष्ठभूमि—स्वामी जी इस प्रदेश में आनेवाले पहले आर्यसमाजी प्रचारक थे। अतः उनके कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले यहाँ की सामाजिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस समय तक दक्षिणभारत में आये हुए स्वामी जी को कई महीने हो चुके थे। वे यहाँ की सामाजिक स्थिति से अवगत हो चुके थे। उन्होंने यहाँ की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उत्तरभारत में ज्वालापुर महाविद्यालय से प्रकाशित होनेवाले भारतोदय नामक पत्र में इस प्रान्त की धार्मिक और सामाजिक दशा का सुन्दर सारगर्भित तथा संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया था। इसके आधार पर दक्षिणभारत की तत्कालीन स्थिति के कुछ प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं—

"मद्रास प्रेसिडेन्सी के विभिन्न प्रदेशों में पाँच भाषायें बोली जाती हैं, यथा—हैदराबाद राज्य में व उसके आसपास के ब्रिटिश प्रदेशों में तेलुगू भाषा बोली जाती है। मद्रास के आसपास से रामेश्वरम् तक द्राविड़ी या तमिल भाषा, मैसूर प्रान्त में व उसके निकटवर्ती प्रदेशों में कर्नाटकी अथवा कन्नड़ भाषा बोली जाती है; कुर्ग देश में तुलू; कालीकट, कोचीन, कन्याकुमारी और ट्रावनकोर राज्य में मलयालम भाषा बोली जाती है। मद्रास प्रेसिडेन्सी की ये पाँच भाषायें हिन्दी भाषा से तो सर्वथा पृथक् ही हैं। किन्तु इन पाँच भाषाओं में परस्पर बहुत भेद है और इनकी लिपि व अक्षर भी सब भाषाओं में सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। जितना हिन्दी का बंगला भाषा से किम्वा पंजाबी से भेद है, उतना ही इन भाषाओं का परस्पर भेद है। इस प्रान्त में ब्राह्मण ही मुख्य हैं। ब्राह्मणेतर वर्ण शूद्र, अतिशूद्र ही समझे जाते हैं। क्षत्रिय-वैश्य तो नाममात्र के ही माने जाते हैं। इन ब्राह्मणों में स्पर्शास्पर्श का इतना रगड़ा चलता है कि इनमें भोजन (पाक) को यदि कोई दूसरी जाति का ब्राह्मण या ब्राह्मणेतर देख लेवे तो वे पाक नापाक (अपवित्र) हो जाते हैं। ऐसा मानकर ये उस अन्न को फेंक देते हैं। इस मद्रास प्रान्त में तीन प्रकार के ब्राह्मण होते हैं—स्मार्त, श्रीवैष्णव तथा वैष्णव। जो शंकर मतानुयायी हैं उनको स्मार्त कहते हैं; रामानुज-मतानुयायी को श्रीवैष्णव तथा मध्वमतावलम्बी को वैष्णव कहते हैं। अनुमान से इनकी संख्या का अनुपात इस प्रकार है—६० प्रतिशत स्मार्त, ४० प्रतिशत श्रीवैष्णव व २५ प्रतिशत वैष्णव। इन तीनों प्रकार के ब्राह्मणों का परस्पर भोजन-व्यवहार भी एक नहीं है। पुनः कन्या व्यवहार तो एक कैसे हो सकता है ?"

"मलाबार देश के कोचीन राज्य में कालड़ी नामक एक ग्राम है। इसी ग्राम में श्री आदिशंकराचार्य उत्पन्न हुए थे। जिस ब्राह्मण वर्ण में श्री शंकराचार्य उत्पन्न हुए थे, उस जाति के ब्राह्मणों को नंबूदरी ब्राह्मण कहते हैं। ये लोग अब भी संस्कृत के अच्छे

पण्डित हैं। ये ब्राह्मण मलाबार के ट्रावनकोर राज्य में रहते हैं। मलाबार देश में उक्त ब्राह्मण और कुछ थोड़े-से व्यक्ति, महाराजा ट्रावनकोर भी जाति के क्षत्रिय हैं। शेष नायडू, शूद्र, पिल्लै तथा उनसे भी नीच पद के शूद्र समझे जानेवाले व्यक्ति रहते हैं। नम्बूदरी ब्राह्मण का जो ज्येष्ठ पुत्र होता है, वही अपनी सजातीय ब्राह्मणकुमारी से विवाह कर सकता है। बाकी के कनिष्ठ ब्राह्मणकुमार अपनी सवर्णा से विवाह नहीं कर सकते हैं। ज्येष्ठ ब्राह्मणकुमार अपनी अनेक सवर्ण कन्याओं से एक ही समय में विवाह कर सकता है। एक-एक नम्बूदरी ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र की दस-दस, बीस-बीस तक भी स्त्रियाँ होती हैं, किन्तु प्रथम पुत्र के अतिरिक्त अन्य सब कनिष्ठ पुत्र शूद्र कन्याओं से विवाह कर सकते हैं। शूद्र कन्या से विवाह की रीति यह है कि एक ओढ़ने का वस्त्र शूद्र कन्या को देकर ब्राह्मणकुमार उसका हाथ पकड़ लेता है, बस विवाह हो गया। इन नम्बूदरी ब्राह्मणों की बड़ी भारी दुर्दशा है। सहस्रावधि ब्राह्मण-कुमारिकायें आजन्म अविवाहिता ही रहती हैं और वे बड़े यत्न से पर्दे में रखी जाती हैं। पर्दा बड़ा सख्त होता है।

"इस देश के ब्राह्मण इंगलिश बहुत ही कम पढ़ते हैं, परन्तु संस्कृत पढ़ते हैं। मलाबार देश को संस्कृत में केरल देश कहते हैं। श्री १०८ शंकराचार्य का जन्म इसी देश में हुआ था। इस समय श्री शंकराचार्य के जन्मस्थान में वर्तमान शृंगेरी-मठाधिपति शंकराचार्य ने श्री आदिशंकराचार्य की प्रतिमा का बड़ी धूमधाम से स्थापन किया है। इस अवसर पर ५०,००० ब्राह्मण एकत्र हुए थे। दस लाख रुपये भोजन आदि में व्यय हुए थे। इधर पौराणिक सम्प्रदाय के मत-मतान्तरों का बड़ा जोर है। ये शूद्र जातियों पर बड़ा अत्याचार करते हैं।[1]

"इसी कारण यहाँ हिन्दू, ईसाई बहुत होते हैं। जितने सम्पूर्ण भारतवर्ष में ईसाई हैं, उनमें से लगभग आधे मद्रास प्रान्त में हैं। भारत के कुल ईसाइयों का चौथा हिस्सा मलाबार देश में है। इसका कारण पौराणिक धर्म ही है। इस देश में धार्मिक कट्टरता

---

१. इस प्रसंग में दक्षिणभारत में निम्न वर्णों की जातियों के साथ किये जानेवाले दुर्व्यवहार के कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में निम्न-जातियों के करोड़ों हिन्दू अछूत माने जाते थे। इनके साथ असह्य और अकथनीय अत्याचार होते थे। दक्षिण में अस्पृश्यता की प्रथा उग्रतम रूप में थी। यहाँ उच्च जातियाँ नीच जातियों के स्पर्श से ही नहीं, छाया तक से अपवित्र हो जाती थीं। कोचीन की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नय्यर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे। किन्तु कम्मलन (राज, बढ़ई, लुहार, चमार) ब्राह्मणों को २४ फुट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ताड़ी निकालनेवाला ३६ फुट से, चेरुमन कृषक ४८ फुट से और परैयन(गोमांस भक्षक परियाह) ६४ फुट से। यह सन्तोष की बात थी कि इससे पुरानी रिपोर्टों में परियाह ७२ फुट की दूरी से अपवित्र करनेवाला माना गया है। अभागे अछूत शहरों से बाहर रहते थे। मन्दिरों में इनका प्रवेश वर्जित था, क्योंकि सब भक्तों का उद्धार करनेवाले देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे। ये कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, हस्पतालों और पाठशालाओं का लाभ नहीं उठा सकते थे। उच्च वर्ग के बेगार आदि के अत्याचार सहते हुए ये बड़े दुःख से अपने नारकीय जीवन की घड़ियाँ बिताते थे।

(आर्थोडॉक्सी)की पोपलीला ने ऐसा जवर्दस्त कब्जा किया है कि बगैर ईसाई होने के इससे छुटकारा या मुक्ति नहीं मिल सकती है। पोपलीला के कारण हिन्दू धड़ाधड़ ईसाई हो रहे हैं। क्या किसी आर्य-धर्माभिमानी का ध्यान इस ओर आर्कषित होगा? जिस शंकराचार्य ने अखिल भारतवर्ष को बौद्ध धर्म से बचाया था, उसी शंकर स्वामी के देशवासी सहस्रावधि प्रतिमास ईसाई होते चले जा रहे हैं।"

स्वामी जी ने दक्षिणभारत में ईसाइयत के खतरे को दूर करने के लिए अस्पृश्य-जातियों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का जो प्रचार आरम्भ किया था, उसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। वे इस खतरे को रोकने के लिए जहाँ एक ओर अन्त्यज जातियों में प्रचार करते थे और उनसे अपनी कुरीतियाँ छोड़ने का आग्रह करते थे, वहाँ दूसरी ओर वे उच्चवर्ण की पढ़ी-लिखी हिन्दू जातियों में भी इस बात का प्रचार करते थे कि उन्हें अस्पृश्य जातियों के साथ अच्छा वर्ताव करना चाहिए और अस्पृश्यता की कुप्रथा को दूर करना चाहिए। इसी समय के एक अन्य सुप्रसिद्ध भारतीय संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने इसका विरोध करते हुए कहा था—"उन पुराने विवादों और व्यर्थ की लड़ाइयों को छोड़ दो जो हमारी जाति की अवनति का कारण बनी हुई हैं। पिछले छः-सात सौ वर्षों से हमारे बड़े आदमी इस बात का विवाद करते रहे हैं कि हमें बायें हाथ से जल पीना चाहिए अथवा दाहिने हाथ से। हाथ चार बार धोना चाहिए या पाँच बार, पाँच बार कुल्ला करना चाहिए या छः बार। उन व्यक्तियों से तुम क्या आशा कर सकते हो, जो ऐसे व्यर्थ के प्रश्नों पर विचार करने में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस बात की आशंका है कि हमारा धर्म रसोईघर में ही परिणत हो जायेगा। अब हममें से न कोई वेदान्ती है, न पौराणिक, न तांत्रिक। हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा परमेश्वर रसोई का वर्तन है और हमारा मत है 'मुझे मत छुओ' (Touch me not), मैं पवित्र हूँ। यदि यह दशा एक शताब्दी तक बनी रही तो हम सब पागलखाने में होंगे।"

स्वामी नित्यानन्द जी ने मद्रास में आर्यसमाज की ओर से धर्म-प्रचार करते हुए अस्पृश्यता के विरुद्ध अपनी जबर्दस्त आवाज उठायी। अखिल भारतीय समाज परिषद् में उन्होंने अस्पृश्य एवं परियाह लोगों के साथ समान व्यवहार करने के लिए एक प्रस्ताव बड़े ही मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी शब्दों में प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। इसके साथ दूसरा प्रस्ताव उन्होंने बाल-विवाह की कुरीति के बारे में रखा। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि "यह परिषद् मैसूर राज्य की सरकार को उस निश्चय के लिए बधाई देती है जिसके अनुसार उसने इस वर्ष अपने राज्य के प्रतिनिधि नेताओं के परामर्श के बाद बाल एवं अनमेल विवाह की हानिकर कुरीति को कानून द्वारा रोकने के लिए कदम उठाये हैं। यह परिषद् आशा करती है कि प्राचीन पवित्र गृहस्थ-जीवन को स्थापित करने और वैवाहिक सुधारों को करने की दिशा में यह पहला पग होगा और इससे अन्य राज्यों को हमारी पारिवारिक जीवन की पुरातन पवित्रता को पुनः स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा और वे इसका अनुसरण करते हुए अपने राज्यों में आवश्यकतानुसार कानून बनायेंगे। ब्रिटिश भारत में जबतक ऐसा कानून नहीं बनाया जाता है, तबतक के लिए यह सम्मेलन इस बात की भी सिफारिश करता है कि समाज-सुधार की सभी संस्थायें इस बात का पूरा-पूरा प्रयास करें कि उनके सदस्य अपनी कन्याओं के विवाह की आयु कम-से-कम १२ वर्ष तक बढ़ा दें और लड़कों के माता-पिता

यथासम्भव शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन करते हुए अपने बच्चों का विवाह उस समय तक न करें जबतक वे अपनी आजीविका का उपार्जन करने में समर्थ नहीं हो जाते हैं।"

इस प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए स्वामी नित्यानन्द ने इसकी पुष्टि में विभिन्न प्राचीन भारतीय शास्त्रों और स्मृतियों के ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जिनमें लड़के-लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में करने का विधान किया गया है। उन्होंने महाभारत के ऐसे अनेक दृष्टान्तों का वर्णन किया जिनमें बड़ी आयु में कन्या के विवाह का उल्लेख है। इस विषय के प्रमुख उदाहरण दमयन्ती, लोपामुद्रा और देवयानी हैं। दमयन्ती के युवती होने पर पिता ने उसके विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया था। महाभारत के शल्य पर्व में लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर को बताया है कि शाण्डिल्य ऋषि की कन्या आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करती रही। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भरद्वाज की पुत्री श्रुतवती और सुलभा के हैं। स्वामी जी ने वैदिक ग्रन्थों और आयुर्वेदिक संहिताओं के वचनों के आधार पर बड़ी आयु में विवाह का समर्थन और बाल-विवाह का विरोध किया और यह बताया कि प्रत्येक गृहस्थ को बालक और बालिका, दोनों के साथ एक-सा व्यवहार करना चाहिए। विवाह का करना या न करना बालक अथवा कन्या की इच्छा पर है। यह प्रस्ताव मद्रास की समाज-परिषद् में सर्वसम्मति से पास किया गया।

यदि इस परिषद् की बैठक के बाद स्वामी जी मद्रास में कुछ अधिक समय तक रुकते तो वे वहाँ आर्यसमाज का अधिक प्रचार-कार्य सफलतापूर्वक कर सकते थे, किन्तु इसी समय उन्हें शाहपुरा के राजाधिराज का एक तार वहाँ शीघ्र पहुँचने के लिए मिला क्योंकि शाहपुरा के युवराज का विवाह श्रीमान अजीतसिंह खेतड़ी-नरेश की कन्या से होना निश्चित हुआ था। इस विवाह के अवसर पर राजस्थान के अनेक बड़े जागीरदार और राजा सम्मिलित होनेवाले थे। अतः राजाधिराज इस अवसर पर राजपूताना के राजाओं में वैदिक धर्म का प्रचार कराने के इच्छुक थे। इसीलिए आपने स्वामी जी को लगातार कई तार दिये और राजाधिराज के आग्रह से स्वामी जी को मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज के प्रचार के लिए भ्रमण करने का कार्यक्रम अधूरा छोड़कर ७ जनवरी, १८९५ को अजमेर के लिए रवाना होना पड़ा।

(३) दक्षिण भारत में प्रचार का दूसरा युग

स्वामी नित्यानन्द के बाद दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में आर्यसमाज का प्रचार स्वामी सत्यानन्द, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा श्री केशवदेव ज्ञानी सिद्धान्तालंकार ने किया। पहले दो महानुभावों के कार्यक्षेत्र कन्नड भाषा-भाषी प्रदेश बंगलौर तथा मैसूर थे और तीसरे की कर्मभूमि मद्रास थी। स्वामी सत्यानन्द की जन्म-भूमि उत्तरप्रदेश का शाहजहाँपुर जिला थी, किन्तु कर्मभूमि कर्नाटक थी। संन्यास ग्रहण करने के बाद उन्होंने पैदल तीर्थभ्रमण आरम्भ किया। रामेश्वरम्‌ त क ही यात्रा करके वे लौटते हुए जब विजयनगर साम्राज्य के अवशेषों—हाम्पी, पम्पासर आदि पहुँचे तो उन्हें यह स्थान बहुत पसन्द आ गया और उन्होंने मैसूर राज्य का भ्रमण आरम्भ किया। यहाँ उनकी भेंट स्वामी श्रद्धानन्दजी से हुई और उन्होंने इन्हें आर्यसमाज का प्रचार करने की प्रेरणा दी। इसे स्वीकार करते हुए इन्होंने कर्नाटक में हासपेट को अपना प्रधान

केन्द्र बनाया। १९१८ में वे मैसूर पधारे। यहाँ उन्हें प्रसिद्ध व्यापारी श्री धर्मप्रकाश, डी० वनुमीश्रा और बाबू सुखानन्द जौहरी का सहयोग प्राप्त हुआ और तीन वर्ष वे यहाँ प्रचार करते रहे। ९ जनवरी, १९२१ को वे बंगलौर (बैंगलूर) आये, यहाँ बसवानगुडी में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। श्री रामचन्द्र राव सिन्धिया इस आर्यसमाज के प्रथम प्रधान थे। ९ जनवरी, १९२२ को आर्यसमाज की संरक्षकता में "श्री दयानन्द ब्रह्मचारी आश्रम" स्थापित किया। यहाँ अनेक ब्रह्मचारियों को वैदिक धर्म की शिक्षा दी गयी। १९२४-२५ में उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्दजी को दक्षिणभारत की यात्रा के लिए बुलाया, बंगलौर में स्वामीजी के ओजस्वी व्याख्यान कराये। इनसे यहाँ आर्यसमाज के कार्य का विधिवत् शुभारम्भ हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द चिरकाल से सुदूर दक्षिण में वैदिक धर्म के प्रचार की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। बम्बई और पूना होते हुए मई, १९२५ के प्रारम्भ में वह बंगलौर गये, और फिर मद्रास। अछूत समझे जानेवाले लोगों के प्रति वहाँ जो दुर्व्यवहार किया जाता था, स्वामीजी ने उसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। २० मई को मद्रास में व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था, "यदि आपने अस्पृश्य कहे जानेवाले भाइयों के उद्धार की ओर विशेष ध्यान न दिया, तो मैं आपको सचेत करता हूँ कि वह दिन दूर नहीं, जब आपके यह दलित भाई, जिन्हें आप पंचम कहते हैं, आपसे सब तरह का सम्बन्ध तोड़ देंगे। या तो सबके-सब दूसरे सम्प्रदायों में चले जायेंगे अथवा अपनी जाति ही अलग बना लेंगे।" मद्रास नगर के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के मंगलौर, मदुरा, कालीकट, वेल्लोर आदि अन्य नगरों में भी स्वामीजी ने दलितोद्धार और वेद-प्रचार के लिए व्याख्यान दिये। वेल्लोर में क्रिश्चियन मिशनरियों का एक बड़ा केन्द्र विद्यमान था। स्वामीजी ने वहाँ अपना एक केन्द्र स्थापित किया। पण्डित धर्मदेव को उसका अध्यक्ष नियत किया गया, और श्री सनातनदास को उसका प्रचारक। २५ मई को उन्होंने गुडीवाड़ा में आन्ध्रप्रान्तीय दलितोद्धार सम्मेलन की अध्यक्षता की। इस क्षेत्र के बहुत-से अछूत हिन्दू-धर्म का परित्याग कर ईसाई हो गये थे। स्वामीजी की प्रेरणा से हजारों ईसाइयों ने वैदिक धर्म की दीक्षा ग्रहण की। गुडीवाड़ा सम्मेलन के बाद स्वामीजी ने आन्ध्रप्रदेश का व्यापक रूप से दौरा शुरू किया। दक्षिण से दिल्ली वापस आते हुए उन्होंने 'वर्तमान समस्या' पर अंग्रेजी में एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें दलितोद्धार की समस्या पर ओजस्वी भाषा में प्रकाश डाला गया था। स्वामी श्रद्धानन्द की इस यात्रा के परिणामस्वरूप दक्षिणभारत में आर्यसमाज के आन्दोलन को बहुत बल मिला, और उनके शिष्य धर्मदेव विद्यावाचस्पति और पण्डित केशवदेव सिद्धान्तालंकार इस क्षेत्र में स्थायी रूप से कार्य करने के लिए प्रवृत्त हुए। सन् १९२५ में दक्षिणी-भारत की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ आयी थी। विशेष रूप से कावेरी नदी के तटवर्ती बहुत-से ग्राम व नगर इस बाढ़ के कारण क्षतिग्रस्त हो गये थे। निर्धन अछूतों को इससे बहुत नुकसान पहुँचा था। स्वामी श्रद्धानन्द ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए पचास हजार रुपये से भी अधिक धनराशि एकत्र की, और पण्डित सत्यकेतु विद्यालंकर को बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए त्रिचनापल्ली तथा गुरुवयूर भेजा। अक्टूबर, १९२५ में स्वामीजी एक बार फिर वैदिक धर्म के प्रचार तथा दलितोद्धार के लिए दक्षिणभारत गये। इस बार की यात्रा के कारण वह मद्रास तथा मैसूर के क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्य को सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने में सफल हुए, और पण्डित धर्मदेव तथा पण्डित

केशवदेव के प्रयत्न से सुदूर दक्षिण में भी अनेक आर्यसमाजों की स्थापना का कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी चाहते थे, कि इस क्षेत्र के सभी नगरों में धर्म-प्रचार के केन्द्र खोल दिये जायें। पर वह अपनी यह इच्छा पूर्ण नहीं कर सके। दिसम्बर, १९२६ में उनका बलिदान हो गया। पर उन्होंने जिस कार्य का सूत्रपात किया था, बाद में उनके शिष्यों द्वारा वह पर्याप्त अंश तक पूरा किया गया।

२३-१२-२६ को दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान होने पर बंगलौर में डॉक्टर सर के० पी० पट्टन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई एक विशाल सभा में स्वामीजी ने श्रद्धानन्द की स्मृति में एक भवन बनाने का प्रस्ताव पास कराया। इसकी पूर्ति के लिए श्री टी० एम० लिमिग्रा ने विश्वेश्वरपुरम् में भूमि दान दी तथा भवन-निर्माण के लिए स्वामी सत्यानन्द ने मैसूर, बंगलौर, मद्रास, हैदराबाद आदि स्थानों की यात्रा करके दस हजार रुपये की धनराशि एकत्र की। श्रद्धानन्द बलिदान-भवन की आधारशिला ५-९-१९३० को सर के० पी० पट्टन चेट्टी द्वारा रखी गयी। स्वामीजी ने अनथक प्रयत्न करके १९३१ में इस भवन का निर्माण-कार्य पूरा करा दिया। बंगलौर का आर्यसमाज इसी नवीन भवन में आ गया। २४ मार्च, १९३९ तक स्वामी सत्यानन्द इसकी उन्नति में लगे रहे, इसके बाद हैदराबाद-सत्याग्रह-संग्राम में उनका स्वर्गवास हो गया।

१९४० तक दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्थापित आर्यसमाजों का विवरण निम्नलिखित है—

मद्रास के आर्यसमाज—१९४० तक मद्रास प्रान्त तथा दक्षिण भारत में ६३ आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे। ये सब दक्षिण भारत की आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध थे। इस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की सहायता से यहाँ प्रचार-कार्य किया जा रहा था। मलाबार (केरल) में इस समय निम्नलिखित स्थानों पर समाज थे—पायोनूर, होसदुर्ग कन्नानोर, कालीकट, वाडागरा, किजूमू इदकवाड़। यहाँ सुप्रसिद्ध मोपला काण्ड के बाद आर्यसमाज के प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। अस्पृश्यता की प्रथा चरमसीमा पर होने के कारण दलितों को मिशनरी विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देकर ईसाई बना रहे थे। यहाँ आर्यसमाज ने ईसाई मिशनरियों के प्रचार के विरुद्ध अभियान चलाया। ईसाइयों की शुद्धि का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। यहाँ की स्थानीय भाषा मलयालम में निम्नलिखित पुस्तकें तैयार की गयीं—(१) वैदिक सन्ध्या और भजन, (२) धार्मिक पुनरुज्जीवन पुस्तक-माला सं० २ और ४, (३) वैदिक सूक्तियाँ, (४) वायस ऑफ आर्यावर्त का अनुवाद।

कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेश उन दिनों मैसूर राज्य, हैदराबाद राज्य, मद्रास और बम्बई प्रान्त में बँटे हुए थे। मैसूर में बंगलौर के आर्यसमाज का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त चन्नापाटन तथा शिमोगा में आर्यसमाज थे। चन्नापाटन-आर्यसमाज की स्थापना ६ जनवरी, १९३४ को हुई थी। इसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री एच० वेंकटेश्वर मूर्ति तथा श्री एच० आर्यमूर्ति थे। समाज की ओर से एक प्रचारक जनता को वैदिक धर्म का सन्देश देता था। कन्नड भाषा में आर्यसमाज के साहित्य का वितरण किया जाता था। इस समाज ने अपने ताल्लुके में आठ स्थानों पर पशु-बलि की कुप्रथा बन्द करायी और अग्नि-काण्ड में जनता की सहायता की। इसकी ओर से एक हरिजन विद्यालय और आश्रम का संचालन किया जाता था। शिमोगा का आर्यसमाज १४ जनवरी, १९४१

को दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध पावन पर्व पोंगल के अवसर पर स्थापित किया गया था। इसके अतिरिक्त मैसूर राज्य के निम्नलिखित स्थानों पर समाज थे। (१) बंगलौर शहर, (२) कैलाशपल्यम, (३) बंगलौर छावनी, (४) सेण्ट्रल स्टेशन, (५) भक्ति विलास यलवाल रोड, (६) बंगलौर शहर रामचन्द्रपुरम, (७) बंगलौर शहर कर्नाटक आर्यसमाज, नागरथ-पेट, (८) चुनचुन केट, कृष्णा राजनगर, (९) गुडियाथान वेलोर (जिला दक्षिण अरकाट), (१०) गुरुकुल कोंगरी, (११) वेलगाँव, (१२) हुबली जिला धारवाड़। दक्षिण कनारा जिले में पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति के प्रयास से कई आर्यसमाज स्थापित हुए। ये गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक थे। उन्होंने १९२० से इस प्रदेश में व्यापक रूप से प्रचार किया, १९१९ में स्थापित मंगलौर आर्यसमाज का भवन वनवाया, १९२४ में इसका उद्घाटन स्वामी श्रद्धानन्दजी से करवाया गया। १९३९ ईसवी में यहाँ श्रद्धानन्द-अनाथाश्रम स्थापित हुआ। मंगलौर, पुटुर, उडुपी और कार्कल में आर्यसमाज स्थापित हुए। इनमें कार्कल समाज की स्थापना २२ जनवरी, १९३६ को की गयी। इसके प्रमुख कार्यकर्ता ले० के० वेंकटेश प्रभु तथा श्री केशव रामचन्द्र थे। इस समाज की ओर से शुद्धि तथा हिन्दू स्त्रियों की रक्षा के कार्य किये जाते थे, श्रद्धानन्द पुस्तकालय चलाया जाता था। यहाँ एक स्थानीय विद्यार्थी को दयानन्द उपदेशक विद्यालय में छात्रवृत्ति देकर पढ़ने के लिए भेजा गया था। २९ अगस्त, १९३८ को हिरियड़का (दक्षिण कनारा) में एक आर्यसमाज स्थापित हुआ।

मद्रास नगर में तीन आर्यसमाज थे—१७० चाइना वाजार रोड, कुट्टी थाम्वीरन स्ट्रीट पेरम्बूर वैरक्स तथा साउथ इण्डिया, ६७, मुल्ला साहब स्ट्रीट। इनके अतिरिक्त त्रिचनापल्ली, मदुरा तथा उसलमपट्टी में भी आर्यसमाज स्थापित हुए।

तत्कालीन मद्रास प्रान्त के आन्ध्र भाषा-भाषी निम्नलिखित स्थानों में आर्यसमाज स्थापित हुए—हिन्दुपुर जिला अनन्तपुर, नेलोर, राजमन्दरी, विजगापट्टम्, मदनपल्ली और गुंटूर।

१९४१ की जनगणना के लिए अंग्रेजी, मलयालम और कन्नड भाषाओं में "जनगणना और हमारा कर्तव्य" नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी। कन्नड भाषा में आर्य-समाज-विषयक इन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ—ईश्वर का स्वरूप, दयानन्द की सूक्तियाँ, श्रद्धानन्द का बलिदान, वैदिक त्रैतवाद और हमारा धर्म। श्री पण्डित गोपदेव ने तेलुगू में आर्यसमाजी साहित्य का निर्माण किया। यज्ञोपवीत, देवी-देवता तथा वैदिक सन्ध्या पर पुस्तकें लिखीं। इस अवधि में तेलुगू में निम्नलिखित आर्यसमाजी साहित्य प्रकाशित हुआ—

(१) आर्यसमाज क्या है, (२) आर्य गृहिणी, (३) ईशोपनिषद्, (४) केनोपनिषद्, (५) धर्म्य युकल्पित, (६) अवतारवाद मीमांसा, (७) मूर्ति-पूजा, (८) वैष्णवमत-मीमांसा, (९) युवकों का कर्तव्य, (१०) तुम्हारी भाषा क्या है, (११) तुम कौन हो, (१२) तुम्हारा धर्म क्या है ?

दक्षिण भारत में आर्यसमाज के प्रचार में अनेक बड़ी बाधायें हैं। इनके कारण यहाँ आर्यसमाज के कार्य को बहुत कम सफलता मिली है।

(४) हैदराबाद में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार (सन् १८९० से १९३९ तक)

सरदार पटेल ने हैदराबाद को भारतवर्ष का हृदय कहा था। यह बात सम्भवतः इसकी केन्द्रीय भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए कही गयी थी, किन्तु यह उक्ति आर्यसमाज के इतिहास के लिए पूर्ण रूप से सत्य है। आर्यसमाज के आन्दोलन में हैदराबाद का विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार हृदय शुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाकर उसे शक्तिशाली बनाता है, उसी प्रकार हैदराबाद के सत्याग्रह-आन्दोलन ने आर्यसमाज में उस समय एक नवीन चेतना और नूतन प्राणों का संचार किया जब इसे इसकी बड़ी आवश्यकता थी। इससे न केवल दक्षिण भारत में, अपितु उत्तर भारत में भी आर्यसमाज के आन्दोलन को नयी स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। अतः आर्यसमाज की दृष्टि से हैदराबाद का असाधारण महत्त्व है।

हैदराबाद की विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों ने भी इस प्रदेश में आर्यसमाज को गरिमा प्रदान की है। ब्रिटिश शासन में यह देश की सबसे बड़ी जनसंख्या रखनेवाली रियासत थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे विशेष सम्मान दे रखा था। अन्य रियासतों के राजा परमश्रेष्ठ या महामहिम (His Majesty, H. H.) कहलाते थे, किन्तु हैदराबाद के निजाम को परमोच्चश्रेष्ठ (His Exalted Highness, H.E.H) कहा जाता था। इस राज्य की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इसका शासक यद्यपि मुसलमान था, किन्तु इसकी ९० प्रतिशत से अधिक जनता हिन्दू-धर्मानुयायी थी। यहाँ शासन करनेवाले १० प्रतिशत से भी कम मुसलमानों का यह प्रयास था कि बहुसंख्यक हिन्दुओं पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध और पाबन्दियाँ लगायी जायें कि वे उनसे विवश होकर अपने धर्म को तिलांजलि दे दें। इन प्रतिबन्धों को हटाने और धार्मिक स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए हैदराबाद में आर्यसमाज ने अद्वितीय आन्दोलन चलाया। हैदराबाद में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार को चार युगों में बाँटा जा सकता है।

विकास के चार युग : पहला युग (१८९२-१९३०) आर्यसमाजों की स्थापना का है। इस अवधि में आर्यसमाज़ शान्तिपूर्वक अपना कार्य करता रहा। हैदराबाद के विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना होती रही। ये आर्यसमाज बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से कार्य करते थे, इनका आपस में कोई सम्बन्ध या तालमेल नहीं था और इन सबको एक सूत्र में आबद्ध करनेवाला कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। इसे हैदराबाद में आर्यसमाज-आन्दोलन के सूत्रपात या श्रीगणेश का युग समझा जा सकता है।

दूसरा युग १९३१ से ३९ तक का है। इस समय आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद के रूप में आर्यसमाजों का एक केन्द्रीय संगठन बना। एक शिरोमणि सभा स्थापित हुई। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को व्यवस्थित एवं संगठित रूप से किया जाने लगा। आर्यसमाज की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिए हैदराबाद की निजामशाही ने आर्यसमाज की गतिविधियों और प्रचार पर अनेक प्रकार का प्रतिबन्ध और पाबन्दियाँ लगायीं तथा इनके विरुद्ध आर्यसमाज ने पहले वैध रूप से आन्दोलन किया। इसमें सफलता प्राप्त न होने पर विवश होकर सत्याग्रह के मार्ग का अवलम्बन किया और इसमें उसने विलक्षण सफलता प्राप्त की।

तीसरा युग १९४० से ४८ तक का है। इसमें आर्यसमाज द्वारा न केवल धार्मिक

आन्दोलन चलाया गया, अपितु परिस्थितियों से विवश होकर अपने धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी सम्मिलित होना पड़ा। उसने हैदराबाद की राजनैतिक स्वतन्त्रता के संघर्ष में प्रमुख भाग लेकर उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की और हैदराबाद को स्वतन्त्र भारत का अभिन्न अंग बना दिया।

चौथा युग पुलिस-कार्यवाही के बाद २० सितम्बर, १९४८ से अबतक का है। इसमें आर्यसमाज को शान्तिपूर्ण रीति से सभी गतिविधियों के विकास और प्रचार का पूरा अवसर मिला।

हैदराबाद में आर्यसमाज के प्रचार की दिशा में पहला प्रयास अजमेर के श्री भगवानस्वरूप तथा श्री गोकुलप्रसाद ने किया। इनके सम्मिलित प्रयत्नों से धारूर (जिला बीड़) में हैदराबाद राज्य के पहले आर्यसमाज की स्थापना हुई। यह हैदराबाद के ग्रामीण क्षेत्र में एक छोटा-सा कस्बा था। यहाँ आर्यसमाज के आन्दोलन के विकास के लिए परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल नहीं थीं। अतः जब हैदराबाद की राजधानी में दूसरा आर्यसमाज स्थापित हुआ, तब आर्यसमाज का कार्य अधिक उत्साह से होने लगा।

हैदराबाद में दूसरा आर्यसमाज राजधानी के सुल्तान बाजार में स्थापित हुआ था। यह प्रदेश उस समय रियासत में रहनेवाले ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि अंग्रेज रेजिडेण्ट के शासन में था, अतः इसे रेजिडेन्सी कहा जाता था। इस क्षेत्र में हैदराबाद रियासत के अन्य भागों की तुलना में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण कुछ उन्मुक्त वातावरण था, प्रचार की अधिक स्वतन्त्रता थी, यहाँ के निवासी शिक्षित, बुद्धिजीवी एवं सम्पन्न थे। अतः आर्यसमाज के आन्दोलन के लिए यह भूमि अधिक उर्वरक सिद्ध हुई। इस आर्यसमाज की स्थापना का श्रेय महर्षि दयानन्दजी के शिष्य प्रज्ञाचक्षु स्वामी गिरानन्द को है। उनके उपदेशों का यहाँ की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके परिणामस्वरूप मार्च, १८९२ में यहाँ हैदराबाद राज्य का दूसरा आर्यसमाज स्थापित हुआ। धारूर की अपेक्षा अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ होने के कारण यहाँ आर्यसमाज के बीज को अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित होने में अधिक सुविधा हुई। उस समय कोई यह नहीं जानता था कि सुल्तान-बाजार का यह समाज भविष्य में हैदराबाद राज्य में एक ऐसे वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो जायेगा, जिसकी शाखाओं का विस्तार सम्पूर्ण राज्य में होगा और यह सत्याग्रह-आन्दोलन के संचालन की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा, और धार्मिक स्वतन्त्रता का ऐसा आन्दोलन चलायेगा जिसके सामने स्वच्छन्द निरंकुश निजामशाही को नतमस्तक होना पड़ेगा।

१८९२ में आर्यसमाज की स्थापना होने पर इसके पहले अध्यक्ष श्री कामता प्रसाद और मन्त्री श्री महात्मा लक्ष्मणदास चुने गये। श्री कामताप्रसाद बड़ा आकर्षक व्यक्तित्व रखते थे। उनके आसपास शीघ्र ही अनेक कार्यकर्ता एकत्रित हो गये। इनकी सहायता से आर्यसमाज का प्रसार तेजी से होने लगा। आर्यसमाज की स्थापना का पहला वर्ष पूरा होने पर कन्दास्वामी के बाग में इस समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इसमें राज्य के बाहर से स्वामी आत्मानन्द, श्री रिच्छाराम, श्री कृष्णदास, श्री सेवकलाल आदि विद्वान् सम्मिलित हुए और इन्होंने हैदराबाद में काफी समय रहकर प्रचार-कार्य किया। इसके बाद आर्यसमाज के उत्सव नियमित रूप से होने लगे। इनमें राज्य से बाहर के विद्वानों, संन्यासियों के भाषणों से

सामान्य जनता में आर्यसमाज के प्रति आकर्षण तथा अभिरुचि बढ़ने लगी। आर्यसमाज के विचारों और सिद्धान्तों का हैदरावाद के अभिजात एवं बुद्धिजीवी वर्ग पर प्रभाव पड़ा। यह इस बात से स्पष्ट है कि स्वामी नित्यानन्द आदि बाहर से आनेवाले उपदेशकों के भाषणों और आर्यसमाज के उत्सवों की अध्यक्षता हैदराबाद के प्रतिष्ठित मुसलमान नवाव जाफर जंग, अमीर पायगा, नवाव इमादुल्मुल्क बहादुर, भारतकोकिला सरोजिनी नायडू के पिता डॉक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय और श्री कृष्णमाचार्य जैसे प्रभावशाली व्यक्ति कार्य किया करते थे। उस समय समाज को हैदराबाद राज्य के सभी सुशिक्षित लोगों और सामान्य जनता का सहयोग प्राप्त था।

किन्तु शीघ्र ही आर्यसमाज को दो वर्गों के विरोध का विशेष रूप से सामना करना पड़ा। पहला वर्ग पौराणिक पण्डितों का था और दूसरा मुसलिम शासकों का। चूँकि आर्यसमाज इन पण्डितों की पोपलीला का कड़ा खण्डन करता था, अतः इनसे आर्य-समाज का विरोध होना सर्वथा स्वाभाविक था। उन द्वारा **पुरुषोत्तम समाज** नामक एक सभा आर्यसमाज के विरोध में स्थापित की गयी। इसका प्रमुख उद्देश्य आर्यसमाजरूपी शिशु को बचपन में ही नष्ट कर देने का था। किन्तु आर्यसमाज की ओर से पण्डित वालकृष्ण शर्मा यथाशक्ति इस समाज को सुदृढ़ बनाने में प्रयत्नशील थे। उन दिनों पौराणिक पण्डितों के साथ उनका एक शास्त्रार्थ निम्नलिखित तीन विषयों पर हुआ—अद्वैतवाद, मृतकश्राद्ध और मूर्ति-पूजा। इन तीनों विषयों पर आर्यसमाज के मन्तव्य पौराणिक विचारों से मौलिक मतभेद रखते थे, अतः दोनों पक्षों ने इसके लिए बड़ी तैयारी की। यह शास्त्रार्थ लगभग एक महीने तक लेखबद्ध रूप में चलता रहा। इसमें आर्यसमाज की ओर से पण्डित बालकृष्ण शर्मा और पौराणिकों की ओर से ज्योतिषी हरिकेशव पंचपक्षी थे। श्री रघुनाथ गिरि और श्री कोलाचलम नरसिंह राव शास्त्रार्थ के निर्णायक एवं अध्यक्ष थे। शास्त्रार्थ होने के बाद दोनों अध्यक्षों ने सर्वसम्मति से आर्य-समाज को विजयी घोषित किया। शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ज्योतिषी पंचपक्षी अतीव क्रुद्ध हो गये और उन्होंने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ में हराने के उद्देश्य से उत्तर-भारत से श्री गोकुलप्रसाद हप्तजवां नामक पौराणिक पण्डित को बुलाया और उनसे आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध व्याख्यान कराना शुरू किया। जिस दिन ये व्याख्यान प्रारम्भ हुए, उसी दिन आर्यसमाज ने रजिस्ट्री द्वारा शास्त्रार्थ के लिए पौराणिक पण्डितों को आह्वान-पत्र भेज दिया, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। इस परिस्थिति में हैदराबाद के सुप्रसिद्ध और सम्भ्रान्त नागरिक राजा शिवराज बहादुर ने अपने ही निवास-स्थान पर अपनी अध्यक्षता में मूर्ति-पूजा के विषय पर आर्यसमाज के विख्यात विद्वान् पण्डित बालकृष्ण शर्मा और पौराणिक पण्डित गोकुलप्रसाद को शास्त्रार्थ करने के लिए निमन्त्रित किया, एतदर्थ पण्डितों की एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया। इसमें राजा साहब ने शास्त्रार्थ के नियमों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि प्रत्येक पण्डित को अपना भाषण करने के लिए केवल तीस मिनट का समय दिया जाएगा। इसपर आर्य-समाज के प्रतिनिधि पण्डित बालकृष्ण शर्मा ने कहा, "अपना सिद्धान्त बताने के लिए हमें आधे घण्टे की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारा मन्तव्य है कि चारों मूल वेदों के मन्त्रों में कहीं भी मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है। मूर्ति-पूजा वैदिक धर्म के विरुद्ध है। अतः प्रति-पक्षी को यह सिद्ध करना है कि वेद में मूर्तिपूजा का विधान है अर्थात् मूर्तिपूजा-विधायक

वेद-मन्त्रों को समाज-विरोधी पक्ष को प्रस्तुत करना होगा। एतदर्थ हम उनका आह्वान करते हैं कि वे अपने मन्त्र सभा के सामने रखें।"

इसके बाद पण्डित गोकुलप्रसाद मूर्ति-पूजा को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए पौराणिक प्रमाणों को उद्धृत करते हुए तीस मिनट के स्थान पर दो घण्टे तक व्याख्यान देते रहे, फिर भी वे मूर्ति-पूजा के समर्थन में एक भी वेद-मन्त्र का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। इससे सभा में उपस्थित सब व्यक्तियों को यह विदित हो गया कि पण्डितजी के पास एक भी वैदिक प्रमाण नहीं है और आर्यसमाज का पक्ष सत्य है। इससे पौराणिक पण्डितों को बड़ी निराशा हुई। दूसरी बार पराजित हो जाने के कारण पण्डित पंचपक्षी अपना सन्तुलन खो बैठे। ज्योतिषी होने के कारण उनका सम्पर्क हैदराबाद राज्य के उच्च अधिकारियों से होता रहा था। इसका लाभ उठाते हुए उन्होंने उच्च अधिकारियों के कान आर्यसमाज के विरुद्ध भरने शुरू किये।

इस परिस्थिति में स्वामी नित्यानन्द का हैदराबाद में १८९४ ईसवी में आगमन हुआ और उन्होंने आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न विषयों पर ३० व्याख्यान दिये। यहाँ केवल प्रमुख भाषणों का ही उल्लेख किया जायगा। ये सभी व्याख्यान हैदराबाद के सुप्रतिष्ठित नागरिकों की अध्यक्षता में हुए। पहला व्याख्यान ११-९-९४ को श्रीमान राय वंशीलाल साहब के निवास-स्थान पर **मोक्ष-साधन** के विषय पर हुआ। इसमें अध्यक्ष सरिश्तेदार विशनलालजी थे। इस व्याख्यान को सुनने के बाद बहुत-से लोग यह कहने लगे कि हम तो सुनते थे कि आर्यसमाज धर्म का बेड़ा डुबा रहा है, किन्तु आर्यसमाज के व्याख्यान सुनने से ही मनुष्य को धर्म का ज्ञान होता है। आर्यसमाज हमारे धर्म की स्थापना बहुत अच्छे ढंग से कर रहा है। इस प्रकार स्वामीजी के पहले व्याख्यान से ही हैदराबाद के सम्भ्रान्त, प्रतिष्ठित एवं शिक्षित व्यक्तियों में आर्यसमाज की धाक बैठ गयी। दूसरे व्याख्यान का विषय **ब्रह्मविद्या** था। यह सिकन्दराबाद में वहाँ के प्रसिद्ध वकील श्री रामचन्द्रन् पिल्लै ने एक सार्वजनिक हॉल में करवाया। इसमें अनेक उच्च सरकारी अधिकारी उपस्थित थे। इस व्याख्यान की अध्यक्षता श्रीकृष्ण अयंगार ने की, जो मद्रास हाईकोर्ट के वकील थे। पौराणिक होते हुए भी वे स्वामीजी के व्याख्यान से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने यह कहा, "लोगों ने अज्ञानवश वेदों के आलंकारिक अर्थों को न समझते हुए वैदिक शब्दों के गलत अर्थ किये हैं, आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसी संस्था है, जो वेदों का सच्चा अर्थ बता रही है।" स्वामीजी यहाँ जबतक रहे सब लोगों को वैदिक धर्मोपदेश से कृतार्थ करते रहे। स्वामीजी के तीसरे व्याख्यान का विषय था—**ऋषियों का उपदेश**। यह १३-९-९४ को श्री पायामल चुन्नीलाल सेठ के हॉल में पण्डित तीर्थराम वकील की अध्यक्षता में हुआ।

१४-९-९४ को सन्मार्ग दर्शक क्लब में मेडिकल कॉलिज के विद्यार्थियों ने **मनुष्य जन्म की सार्थकता** पर स्वामीजी का भाषण करवाया। इसके अध्यक्ष सुप्रसिद्ध राजनैतिक नेत्री तथा कवयित्री भारतकोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के पिता डॉक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय थे। इस व्याख्यान से मेडिकल कॉलिज के छात्र इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वामी नित्यानन्द को एक मान-पत्र भी अर्पण किया। १८-९-९४ मंगलवार को **जीवात्मा** विषय पर पाँचवाँ व्याख्यान यंगमैन सोसायटी की ओर से हुआ। सभापति के आसन पर बाबू निशिकान्त डी० फिल० भूतपूर्व प्रिंसिपल

गवर्नमेण्ट कॉलिज हैदरावाद थे। इसमें स्वामीजी ने वेद के प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि प्रकृति-जनित जितने पदार्थ हैं, उनसे भिन्न जीवात्मा एक नित्य पदार्थ है, और यह एक ही अनेक प्रकार के शरीर धारण करके अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है।

१९-९-९४ को यंगमैन सोसायटी हॉल में मानवकृत्य पर स्वामीजी का छठा भाषण हुआ। इसके अध्यक्ष श्री विष्णु भास्कर वी० ए० एल० एल० वी० वकील हाईकोर्ट थे। इसमें शहर के सभी वड़े वकील और उच्च सरकारी अधिकारी उपस्थित थे। व्याख्यान-भवन खचाखच भरा हुआ था। अनेक सम्भ्रान्त शिक्षित सज्जन और उच्च अधिकारी स्थानाभाव से व्याख्यान खड़े होकर ही सुनते रहे।

२०-९-९४ को स्वामीजी का सातवाँ व्याख्यान सिकन्दरावाद में **वर्णाश्रम धर्म** पर हुआ। इसके अध्यक्षपद को मद्रास हाईकोर्ट के वकील श्री कृष्ण अयंगार ने सुशोभित किया। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने धर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का समर्थन बड़े अकाट्य तर्कों और प्रमाणों के आधार पर इतनी रोचक और प्रभावोत्पादक शैली में किया कि इस व्याख्यान में उपस्थित एक हिन्दी जाननेवाले यूरोपियन वकील श्री वाटनवर्ग ने कहा, "आज स्वामीजी ने अपने भाषण में जो दलीलें दी हैं, उनपर किसी भी धर्म को माननेवाला कोई आक्षेप नहीं कर सकता है, अतः हम सबको इसके लिए व्याख्यान देनेवाले के प्रति आभार प्रकट करना चाहिए।"

स्वामीजी का आठवाँ व्याख्यान आर्यसमाज में **धर्मरक्षा** के विषय पर हुआ। इसमें अध्यक्ष डॉक्टर श्री निवास राव थे। २२-९-९४ को स्वामीजी ने सिकन्दरावाद के पीपुल्स हाल में **ईश्वर और जगत्** के सम्बन्ध पर व्याख्यान दिया। इसमें अध्यक्ष एक पारसी वकील श्री कावसजी थे। व्याख्यान की समाप्ति पर एक बड़े मुसलिम व्यापारी सैय्यद जैनुल आवदीन ने कहा कि स्वामीजी का लेक्चर ऐसा है जिसके वारे में सब धर्मवालों की सहमति है। हम सबको उनका आभारी होना चाहिए।

स्वामीजी के ये व्याख्यान प्रायः हैदरावाद के शिक्षित एवं सुप्रसिद्ध, उच्च-पदों पर अधिष्ठित, प्रतिष्ठित व्यक्तियों की अध्यक्षता में होते थे। इनमें अनेक व्यक्ति मुसलमान भी थे, जैसे नवाव जफरजंग वहादुर, नवाव इमादुलमुल्क, नवाव सैय्यद हुसैन बिलग्रामी, अध्यक्ष शिक्षा-विभाग।

आर्यसमाज की सफलता से पौराणिक पण्डित घवरा गये। जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि वे शास्त्रार्थ में विजयी नहीं हो सकते हैं तो उन्होंने आर्यसमाज को हानि पहुँचाने के लिए कूटनीति का अवलम्बन किया। सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने इस्लाम की समीक्षा की है। हैदराबाद के निजाम और उच्च अधिकारी मुसलिम मतावलम्बियों को पौराणिक पण्डितों ने सत्यार्थप्रकाश दिखाकर भड़काना शुरू किया और यह प्रचार किया जाने लगा कि इसमें मुसलमानों के धर्म के विरुद्ध अनेक बातें लिखी हुई हैं। राज्य के उच्च पदाधिकारियों को भी उन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध बहकाना शुरू किया।

पौराणिक पण्डितों के विद्वेषपूर्ण प्रचार का प्रभाव हैदरावाद राज्य के मुसलिम अधिकारियों पर पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। तत्कालीन पुलिस कमिश्नर ने स्वामी नित्यानन्द जी से पूछा कि सत्यार्थप्रकाश में इस्लाम और मुहम्मद साहब के विरुद्ध जो लिखा है उसके वारे में आप क्या कहते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यदि आपको यह असत्य

प्रतीत हो तो अपने मौलवियों द्वारा उसका खण्डन कराने का आपको अधिकार है।" उस समय हैदराबाद में कोतवाल अकबर जंगबहादुर थे। उन्हें आर्यसमाज के बारे में कुछ भी ज्ञान न था। पौराणिक पण्डितों ने आर्यसमाज के विरोध में इनके पास कई पत्र भेजे। इनमें कहा गया था कि आर्यसमाज में होनेवाले व्याख्यानों से हिन्दुओं तथा मुसलमानों का बहुत अपमान हो रहा है, इसका कुछ प्रतिकार शीघ्र किया जाना चाहिए, इनपर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो लोग बहुत विगड़ेंगे। इन पत्रों के मिलने पर कोतवाल साहब ने पण्डित बालकृष्ण शर्मा, स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वामी नित्यानन्द को अपने बंगले पर बुलाकर सब बातों की जानकारी ली। इस घटना से कुछ पहले सिकन्दराबाद के सुप्रसिद्ध वकील श्री रामचन्द्रन् पिल्लै ने कोतवाल साहब को समाज के बारे में पूरा परिचय दे दिया था। इससे कोतवाल साहब पौराणिक पण्डितों की वास्तविकता को समझ गये और अन्त में उन्होंने स्वामीजी से कहा, "हैदराबाद के लोग बड़े जाहिल हैं। आप रेजिडेन्सी (ब्रिटिश रेजिडेण्ट या प्रतिनिधि के निवासवाली बस्ती सुल्तान बाजार) में रहकर सब जगह व्याख्यान दे सकते हैं।"

फिर भी, पौराणिक पण्डितों ने हिम्मत नहीं हारी। वे आर्यसमाजी विद्वानों के विरुद्ध अधिकारियों के कान भरते रहे और इसमें उन्हें उस समय आंशिक सफलता मिली, जब उन्होंने पण्डित बालकृष्ण शर्मा का हैदराबाद से निष्कासन कराया। स्वामी नित्यानन्द को कोतवाल साहब द्वारा रेजिडेन्सी में व्याख्यान देने का निर्देश मिलने के बाद वे वहाँ चले गये; किन्तु पण्डित बालकृष्ण शर्मा पूर्ववत् हैदराबाद के सिदियम्बर बाजार में रहकर धर्मोपदेश करते रहे। कोतवाल साहब के उपर्युक्त निर्देश का समाचार जब सिकन्दराबाद के वकील श्री रामचन्द्रन् पिल्लै को मिला तो उन्होंने कोतवाल साहब के परामर्श को आर्यसमाज के प्रचारकों के लिए अपमानजनक समझा और इसके विरोध में यंगमैन इम्प्रूवमेण्ट सोसायटी के हॉल में एक विशाल सभा का आयोजन किया और इसमें उन्होंने घोषणा की कि स्वामीजी को पूरा अधिकार है, वे जहाँ चाहें रहें, वहाँ अपना प्रचार-कार्य करें। पुलिस का काम है लोगों की सम्पत्ति और शरीर की रक्षा करना, न कि अन्य स्थान पर काम करने का निर्देश देना, यह उनका कार्य नहीं है।" ये सब घटनायें १३-९-९४ तक घटित हुईं। इनका प्रभाव पुलिस पर पड़ा। पौराणिक पण्डितों की प्रेरणा पर उसने बालकृष्ण शर्मा के विरुद्ध कार्यवाही की। इस समय उन्होंने हैदराबाद में मूर्ति-पूजा पर व्याख्यान दिया। इससे श्रोतागण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने इनके २-३ अन्य व्याख्यान कराने के बारे में विचार किया। किन्तु इस बीच हैदराबाद की पुलिस ने बिना कोई कारण बताये पण्डित बालकृष्ण शर्मा को रेल में बिठाकर शहर से बाहर कर दिया। यह समाचार शीघ्र ही शहर में फैल गया। लोग पुलिस के व्यवहार से चकित थे। आर्य-समाज ने इसके विरुद्ध काफी आन्दोलन किया। इस समय तक स्वामी नित्यानन्द के व्याख्यानों पर राज्य के अधिकारियों ने कोई पाबन्दी नहीं लगायी थी। पण्डितजी के साथ ऐसा बर्ताव होने के कारण लोगों को यह आशंका होने लगी कि कहीं स्वामीजी के साथ भी यह व्यवहार न किया जाय। किन्तु सौभाग्यवश उनपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, उनके व्याख्यान पूर्ववत् होते रहे। वे यहाँ अक्टूबर के मध्य तक वैदिक धर्म का प्रचार करने के बाद १७ अक्टूबर, १८९४ को हैदराबाद से बंगलौर चले गये। किन्तु १९०७ में देश की राजनैतिक परिस्थिति बदल जाने के कारण हैदराबाद राज्य में

आर्यसमाज के प्रचार पर तथा स्वामी नित्यानन्द जी के व्याख्यानों पर प्रतिवन्ध लगाया गया।

आर्यसमाज के प्रचार पर सरकारी प्रतिबन्ध—१९०७ में समूचे भारत में स्वदेशी एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन की धूम मची हुई थी। १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए बंगाल प्रान्त का विभाजन किया गया था। बंग-भंग से देश में ब्रिटिश शासन-विरोधी आन्दोलन प्रवल हुआ और सरकारी अधिकारियों को सर्वत्र विद्रोह और बगावत दिखायी देने लगी। आर्यसमाज जैसी प्रगतिशील संस्था को उन्होंने राजद्रोही समझा। पंजाब में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता लाला लाजपतराय इस प्रान्त के राजनैतिक नेता भी थे। उनके ओजस्वी भाषणों से भयभीत होकर सरकार ने उन्हें वन्दी वना लिया और आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखना शुरू किया। उन दिनों भारतीय रियासतों के देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की नीति का अन्धानुकरण किया करते थे। निजाम हैदरावाद की सरकार भी इस विषय में सक्रिय हुई। उसने हैदरावाद में आर्यसमाज के प्रचार पर जो पाबन्दी लगायी, उसका विवरण १९०७ में आर्यसमाज हैदरावाद के मन्त्री सोमनाथराव जी ने अपने लेख में विस्तारपूर्वक दिया है।

१९०७ में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव को आयोजित करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करते समय अधिकारियों ने यह निर्णय किया कि इसे पिछले वर्षों की तरह से आर्यसमाज के भवन के भीतर न किया जाय, अपितु भवन से बाहर खुले विशाल स्थान पर पण्डाल वनाकर किया जाय, क्योंकि उस वर्ष उत्सव पर स्वामी नित्यानन्दजी और आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध भजनोपदेशक ठाकुर प्रवीणसिंह जी पधार रहे थे। उसके कारण इस वर्ष उत्सव में जनता के वहुत वड़ी संख्या में आने की आशा की जा रही थी। यह भीड़ समाज-मन्दिर में नहीं समा सकती थी, अतः बंगाल वैंक के सामने के सुविस्तृत मैदान में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के लिए विशाल पण्डाल वनाया गया। १९०७ में समूचे भारत में घोर राजनैतिक अशान्ति थी, इस कारण इस समय पुलिस विशेष रूप से इस बात के लिए सक्रिय थी कि कहीं लोगों की वड़ी भीड़ एकत्र न हो तथा जलसे और जुलूस न आयोजित किये जायें।

इस परिस्थिति में हैदराबाद पुलिस कोतवाल को जब विशाल पण्डाल में आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव किये जाने की सूचना मिली तो उसने फौरन आर्यसमाज के अधिकारियों को यह सूचित किया कि इस आयोजन के लिए मजिस्ट्रेट की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है; यदि यह न प्राप्त की गयी तो वे समाज के उत्सव को नहीं होने देंगे। हैदरावाद आर्यसमाज के मन्त्री श्री ए० सोमनाथराव ने मजिस्ट्रेट से समाज का वार्षिकोत्सव करने के लिए जब अनुमति माँगी तो मजिस्ट्रेट ने ऐसी अनुमति देते समय मन्त्री से यह लिखवा लिया कि इस वार्षिकोत्सव में किसी प्रकार की राजनैतिक चर्चा या कोई गड़बड़ नहीं होगी।

२३ जनवरी, १९०७ को ब्रह्मचारी नित्यानन्द और ठाकुर प्रवीणसिंह हैदराबाद आ गये। आते ही उन्होंने अपना कार्यक्रम आरम्भ कर दिया। उन दिनों भारतीय सैंडो कहलानेवाले श्री राममूर्ति हैदराबाद में व्यायाम के अद्भुत प्रदर्शन कर रहे थे। इस अवसर पर एकत्र उपस्थित जनता को सम्वोधित करते हुए ब्रह्मचारी नित्यानन्दजी ने ब्रह्मचर्य पर एक प्रभावशाली उपदेश दिया और बताया कि इसके पालन से व्यक्ति अतीव

शक्तिशाली बन सकता है (२४ जनवरी, १९०७)। २५ जनवरी, को १२ बजे से साढ़े ४ बजे तक वार्षिकोत्सव का पहला कार्यक्रम नगर-कीर्तन बड़े उत्साह और धूमधाम से सम्पन्न हुआ। भजन-मण्डलियों तथा उपदेशकों ने सारे रेजीडेन्सी बाजार का चक्कर लगाया। ठाकुर प्रवीणसिंह ने अपने भजनों से जनता को मन्त्रमुग्ध कर दिया। वार्षिक-उत्सव के पहले दो दिनों की कार्यवाही बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

२७ जनवरी, १९०७ को स्वामीजी का जीवात्मा के विषय पर बड़ा ज्ञानप्रद और रोचक भाषण हुआ। इसके बाद ठाकुर प्रवीणसिंह जी के मधुर तथा ओजस्वी भजन हुए। उन्होंने जनता का ध्यान वैराग्य की ओर आकर्षित करने के लिए कहा कि, "यह संसार नश्वर और क्षणभंगुर है। भले और बुरे दोनों को इसे छोड़ना पड़ेगा। महमूद गजनवी, चंगेज खाँ और नादिरशाह, जिन्होंने भगवान् के अनेक निरपराध जीवों को मार डाला तथा परम पवित्र योगी-मुनि, सब संसार को छोड़कर चले गये। इसलिए परमात्मा से डरते हुए प्रत्येक व्यक्ति को भलाई का जीवन सदा अच्छे काम करते हुए बिताना चाहिए।"

सम्भवतः पुलिस को उपर्युक्त भाषण की भ्रान्तिपूर्ण सूचना आर्यसमाज के विरोधियों ने दी। इसके परिणामस्वरूप तीसरे दिन जब प्रातःकालीन कार्यक्रम पूरा हो गया और सायंकाल के लिए आवश्यक व्यवस्था की जा रही थी तो अचानक पण्डाल के पास से गुजरते हुए पुलिस कोतवाल ने आर्यसमाज के मन्त्री श्री सोमनाथ को बुलाकर कहा कि उन्हें मजिस्ट्रेट की आज्ञा मिली है कि उत्सव की कार्यवाही तुरन्त बन्द कर दी जाए। इसलिए "तुम्हें सूचना दी जाती है कि अब आगे समाज के उत्सव की कोई कार्यवाही नहीं होनी चाहिए।" यह सूचना आर्यसमाज के प्रधान को तुरन्त दी गयी और वे एक स्थानीय वकील के साथ मजिस्ट्रेट से मिलने गये। परन्तु मजिस्ट्रेट उन्हें नहीं मिले। इसपर वह रेजिडेण्ट के प्रथम सहायक के पास पहुँचे, उनके सामने सारी स्थिति प्रस्तुत की, किन्तु उसने यही उत्तर दिया कि "आर्यसमाज बदमाशों का गिरोह है; उसने पंजाब में बहुत खराबी पैदा कर दी है और उसे हर प्रकार से हतोत्साह करना चाहिए।" उन्होंने यह भी कहा—"मैं इस मामले में कुछ नहीं कर सकता हूँ। तुम मजिस्ट्रेट से मिलो।" किन्तु दूसरी बार पूरा प्रयत्न करने पर भी आर्यसमाज के अधिकारियों का मजिस्ट्रेट से सम्पर्क नहीं हो सका। तब आर्यसमाज के नेता डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट गैलोवे से मिले। उसने कहा कि इस विषय में मजिस्ट्रेट ही जिम्मेवार है, अतः वे कुछ नहीं कर सकते हैं। इस समय तक रात के आठ बज चुके थे। आर्यसमाज के पण्डाल के बाहर धर्मपिपासु तीन हजार व्यक्ति स्वामीजी के उपदेश और ठाकुर प्रवीणसिंह के भजन सुनने के लिए बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। आर्यसमाज के मन्त्री ने उन्हें सारी स्थिति से अवगत कराते हुए कहा कि सरकारी निषेधाज्ञा के कारण आज कोई व्याख्यान नहीं हो सकता है; यदि अनुमति मिल गयी तो अगले दिन आर्यसमाज का कार्यक्रम पूरा किया जायेगा। श्रोताओं को इससे बड़ी निराशा हुई और वे घर लौट गये।

अगले दिन साढ़े ग्यारह बजे आर्यसमाज के मन्त्री श्री सोमनाथ राव मजिस्ट्रेट से मिले और उन्होंने उत्सव की शेष कार्यवाही पूरी करने के लिए आज्ञा माँगी। इसपर मजिस्ट्रेट ने कहा कि आर्यसमाज का उत्सव करने के लिए कोई आज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसमें ऐसे भजन गाये गये थे, जिनसे इस्लाम के पैगम्बरों का अपमान होता है। इस

पर श्री सोमनाथराव की ओर से कहा गया कि 'पैगम्बरों की निन्दा करनेवाला कोई भजन नहीं गाया गया। उस दिन स्वामी नित्यानन्द जी का जीवात्मा विषय पर भाषण हुआ था। ठाकुर प्रवीण सिंह ने वैराग्य विषय पर एक भजन गाया था, जिसका सार यह था कि संसार नश्वर है, भले और बुरे दोनों अवश्य मरेंगे। महमूद गजनवी आदि बड़े नर-संहारकों को मरना पड़ा था और अनेक योगी ऋषि-मुनि भी मर चुके हैं। इसलिए मनुष्यों को परमात्मा से डरना चाहिए और शुभ कर्म करते रहना चाहिए।' मजिस्ट्रेट ने इसपर यह आदेश दिया कि वह भजन उनको वैसा-का-वैसा उनके निवास-स्थान पर शाम को सुनाया जाय और इसमें कुछ भी परिवर्तन न किया जाय। इसपर श्री सोमनाथ राव ने कहा—"भजन छपा हुआ है, इसलिए उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता है।" इस आदेश के अनुसार उपर्युक्त भजन मजिस्ट्रेट के बंगले पर सायंकाल प्रस्तुत करने के लिए जब आर्यसमाज के मन्त्री श्री सोमनाथ राव मजिस्ट्रेट के बंगले पर पहुँचे तो उसने मिलने से मना कर दिया और उन्हें वहाँ से चले जाने को कहा।

इसके बाद पुलिस कोतवाल अपनी सरकारी वर्दी पहनकर चार साथियों सहित दो घोड़ों की बग्घी में नित्यानन्दजी के निवास-स्थान पर गया और उनसे कहा कि मिस्टर गैलोवे आपसे कुछ बातचीत करना चाहते हैं। स्वामीजी तुरन्त बग्घी में बैठकर गैलोवे से मिलने चले गये। पुलिस सुपरिटेण्डेण्ट ने बनावटी खेद प्रकट करते हुए स्वामीजी से कहा, "जो कुछ हो गया है, उसके लिए वे खिन्न हैं, अब सब ठीक हो जायगा।" इसके बाद स्वामीजी को एक गाड़ी में बिठाकर राज्य के राजनैतिक मन्त्री और प्राइवेट सेक्रेटरी मिस्टर फरदूनजी के यहाँ ले-जाया गया। स्वामीजी को उससे कुछ मिनट तक बात करने के बाद नगर कोतवाल के पास भिजवा दिया गया। उसने इसके साथ बड़ी नीचता का वर्ताव किया। इसपर स्वामीजी ने एक पारसी सज्जन को कोतवाल के दुर्व्यवहार के बारे में श्री बहरामजी मलाबारी को बम्बई तार देने को कहा। उस पारसी सज्जन ने कोतवाल को अपनी ओर से काफी धिक्कारा और कहा कि जिन स्वामीजी के साथ वह ऐसा वर्ताव कर रहा है, वे साधारण व्यक्ति नहीं हैं। उसे उनके साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिए। इसपर कोतवाल के व्यवहार में कुछ परिवर्तन आ गया। किन्तु उसने किसी आर्यसमाजी को स्वामीजी से नहीं मिलने दिया। इस स्थिति में रात को आर्यसमाज की ओर से स्वामीजी के भक्तों तथा शिष्यों—महाराजा बड़ौदा, महाराणा ईडर, लाला रोशनलाल जी बैरिस्टर, लाला मुंशीराम, लाला लाजपतराय को तथा विभिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओं को तार देकर सारी स्थिति बतायी गयी। ३१ जनवरी को साढ़े तीन बजे स्वामीजी को एक गाड़ी में पुलिस इन्सपेक्टर के निरीक्षण में रेलवे स्टेशन पर लाया गया और उन्हें बम्बई भेज दिया गया। हैदराबाद में आर्यसमाज के साथ शासन के संघर्ष की यह पहली घटना थी।

वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक दशकों में आर्यसमाज सुल्तान बाजार के कार्य-कलापों में शनैः-शनैः उल्लेखनीय वृद्धि होने लगी। इसके साप्ताहिक सत्संगों में श्रोताओं की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। वार्षिकोत्सव बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न होने लगे। आर्यसमाज के सिद्धान्तों में विश्वास रखनेवालों की संख्या में तथा इसके सामाजिक एवं लोक-कल्याणकारी कार्यों में वृद्धि होने लगी। आर्यसमाज ने अपने आविर्भाव के समय से ही प्राकृतिक एवं दैवी आपत्तियों के आने पर साधारण जनता की सहायता

करने का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है; संकटग्रस्त मानवों की सेवा को अपना धर्म माना है। जब कभी भूकम्प, बाढ़ आदि से किसी स्थान के लोग सन्त्रस्त हुए हैं, तो आर्यसमाज ने आगे बढ़कर प्राकृतिक विपत्तियों से पीड़ित लोगों की सहायता के कार्य का संगठन करने में प्रशंसनीय भूमिका अदा की है। हैदराबाद में ऐसा अवसर १९०८ में उस समय आया, जब मूसा नदी की भीषण बाढ़ में हैदराबाद के हजारों व्यक्ति काल का ग्रास बने। इसी प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर इन्फ्लुएञ्जा की महामारी का भीषण प्रकोप होने पर आर्यसमाज ने रोग-पीड़ित जनता की सेवा धर्म और जाति का भेदभाव किये विना की। आर्यसमाज के तत्कालीन मन्त्री श्रीयुत गयाप्रसाद ने जिस तल्लीनता, लगन और निष्ठा के साथ रुग्ण व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा की, उससे तत्कालीन शासन और जनता बड़ी प्रभावित हुए। निज़ाम की हकूमत ने श्री गयाप्रसाद द्वारा की गयी अभूतपूर्व लोकसेवा को मान्यता प्रदान की और उनके कार्य की सराहना करते हुए उन्हें एक सोने की घड़ी उपहार में दी।

आर्यसमाज ने हिन्दू-समाज में छुआछूत के भेदभाव के कारण अत्यन्त दयनीय और पशुतुल्य स्थिति रखनेवाले दलितों के उद्धार की ओर विशेष ध्यान दिया। महिलाओं की स्थिति भी उस समय अस्पृश्यों जैसी थी। उनमें घोर अशिक्षा तथा नाना प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में महिलाओं की शिक्षा और जागृति पर बड़ा बल दिया है। हैदराबाद में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९०८ में सिकन्दराबाद में स्त्री-आर्यसमाज की स्थापना की गयी। यह आर्यसमाज द्वारा स्थापित पहली स्त्री-आर्यसमाजों में है। आर्यसमाज सुलतान बाजार द्वारा पाँचवीं कक्षा तक एक आर्य कन्या पाठशाला भी चलायी गयी।

१९१९ में श्री केशवराव कोरटकर आर्यसमाज सुलतान बाजार के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और १९३२ ईसवी तक वे मृत्युपर्यन्त इसके प्रधान और आर्यसमाज-आन्दोलन के प्राण बने रहे। हैदराबाद में आर्यसमाज के आरम्भिक विकास का बहुत बड़ा श्रेय इनको प्राप्त है। ये मूलतः परभणी जिले के कोरट ग्राम के निवासी थे। इनके पिता उस गाँव के अकिंचन ब्राह्मण और सब लोगों के सम्पूर्ण धार्मिक कार्य-व्यवहार करानेवाले अतीव सामान्य व्यक्ति थे। श्री केशवराव ने बचपन से ही अपने गाँव में रहते हुए चारों ओर के समाज में बड़ी दीनता और दुःख का वातावरण देखा। उस समय की ग्रामीण जनता की दयनीय दशा ने इनमें समाज-सेवा की उदात्त भावना उत्पन्न की और इन्होंने सदा समाज को अपना परिवार समझते हुए उसकी सेवा करने का निश्चय किया। बचपन में अपनी जन्मभूमि में रहते हुए इन्हें पढ़ाई के लिए पुस्तकें प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती थी। अतः ये दूसरों से पुस्तकें माँगकर स्वयमेव अपने हाथ से उनकी प्रतिलिपि बड़े सुन्दर अक्षरों में किया करते थे। शीघ्र ही इन्होंने उस समय प्रचलित फारसी, उर्दू भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और १५ रुपये मासिक वेतन पर तहसील के कार्यालय में एक क्लर्क बन गये। इस पद से अपने परिश्रम से उन्नति करते हुए ये हाईकोर्ट के जज के उच्च पद तक पहुँचे। १८८९ में वे जुडीशियल परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद उन्होंने हाईकोर्ट की परीक्षा भी पास की और २२ वर्ष की आयु में वकालत शुरू की। अपनी योग्यता, सेवावृत्ति और हृदय की उदारता से वकालत के क्षेत्र में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। १९२१ में ये हैदराबाद हाईकोर्ट के

न्यायाधीश बनाये गये।

बचपन से ही श्री केशवराव आर्यसमाज के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित थे, किन्तु इनकी पत्नी कट्टर सनातनी विचारों की श्रद्धालु महिला थी, फिर भी दोनों में प्रगाढ़ दाम्पत्य प्रेम था। आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा देने के लिए श्रीयुत केशवराव ने अपने पुत्र विनायक को आठ वर्ष की आयु में ही गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार के सुप्रसिद्ध शिक्षणालय में प्रविष्ट करा दिया, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इस शिक्षा से उनका पुत्र समाज की सेवा का कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकेगा। वे यह जानते थे कि उनकी यह बात पत्नी को पसन्द नहीं आयेगी, अतः उन्होंने इस विषय में अपनी पत्नी के दुःख को हल्का करने के लिए यह वचन दिया कि वे अपनी अन्य सन्तानों को पत्नी की इच्छा के विरुद्ध शिक्षा नहीं दिलवायेंगे। इसका यह सुपरिणाम हुआ कि गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा पाने के बाद श्री विनायक राव विद्यालंकार हैदराबाद के सुप्रसिद्ध समाजसेवी नेता बने। उन्होंने हैदराबाद में आर्यसमाज के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने का जो प्रयास किया, उसका आगे यथास्थान उल्लेख होगा। गुरुकुल काँगड़ी की प्राचीन शिक्षा दिलाने के बाद श्री केशवराव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बैरिस्टरी की उच्चतम आधुनिक शिक्षा दिलाने के लिए लन्दन भेजा और १९२६ में वे बैरिस्टर बनकर स्वदेश लौटे; अपने पिता के साथ आर्यसमाज के कार्यों में लग गये। श्री केशवराव मृत्युपर्यन्त १९३२ तक हैदराबाद में आर्यसमाज के प्रमुख आधारस्तम्भ थे। आर्यसमाज के विकास में उनका विलक्षण योगदान है। १९३० में उन्होंने हैदराबाद की विधानसभा में हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध बनाने का एक विधेयक प्रस्तुत किया। पौराणिक रूढ़िवादी हिन्दुओं ने इसका कट्टर विरोध किया। मुसलमानों ने भी उसमें उनका साथ दिया। विधानसभा में इसे अस्वीकृत कराने में मुसलिम सदस्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि श्री केशवराव इस बिल को पास नहीं करा सके, फिर भी उनके आत्मज श्री विनायकराव विद्यालंकार ने बाद में इस बिल को विधानसभा में दुबारा प्रस्तुत करके पास करवाया। यह श्री केशवराव के सुधार-कार्य का स्थायी स्मारक है।

१९२१ में यह अनुभव किया गया कि हैदराबाद में आर्यसमाज के प्रचार के लिए स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का स्थानीय भाषा तेलुगू में अनुवाद होना चाहिए। अतः सत्यार्थप्रकाश का तेलुगू में अनुवाद तैयार किया गया और प्रकाशित हुआ। इसी समय मलाबार में मोपला-काण्ड हुआ और सुल्तान बाजार आर्यसमाज ने वहाँ के संकटग्रस्त लोगों की सहायता के लिए धन-संग्रह करके भेजा। १९२४ में यहाँ की आर्यसमाज ने गुरुकुल काँगड़ी के एक शिष्टमण्डल को ५ हजार रुपये की धन-राशि एकत्रित करके भेंट की।

आर्यसमाजों की स्थापना—इसी समय से हैदराबाद राज्य के विभिन्न स्थानों में आर्यसमाज स्थापित करने का अभियान शुरू हुआ। आर्यसमाजों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। १९२५ में गुलबर्गा में एक आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसने साप्ताहिक सत्संगों के अतिरिक्त वेद-प्रचार, दलितोद्धार तथा शुद्धि का कार्य आरम्भ किया। प्लेग की बीमारी का प्रकोप होने पर रोगियों के सहायता-कार्य का संगठन किया। इसके कर्मठ कार्यकर्ताओं में श्री रामलाल तथा श्री तुकाराम के नाम उल्लेखनीय हैं। १९२९ में नलगोंडा में आर्यसमाज स्थापित हुआ। इसके निर्माण में श्री रामचन्द्र चन्दूलाल और

लक्ष्मीकान्त राव वकील ने प्रधान भाग लिया। इस संस्था की ओर से लड़कियों की शिक्षा के लिए एक वैदिक बालिका पाठशाला भी चलायी गयी। १९२७ में कृष्णगंज (महाराजगंज) नामक आर्यसमाज नामपल्ली रेलवे स्टेशन के निकट स्थापित हुआ। इस संस्था ने आरम्भ से ही हिन्दू जाति को सबल बनाने की दृष्टि से व्यायामशाला और शस्त्रशाला का संचालन किया। यहाँ नवयुवकों को नाना प्रकार के शस्त्र-संचालन की शिक्षा भी दी जाती थी और अखाड़ों में मलयुद्ध का अभ्यास कराया जाता था। इसके साथ ही मानसिक विकास के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान के नाम पर स्थापित केशव वाचनालय में दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र मँगाये जाते थे। शुद्धि और अन्तर्जातीय विवाहों का काम किया जाता था। १९३० में एक अन्य समाज ध्रुवपेठ या धूलपेठ में स्थापित किया गया। इसके प्रधान कार्यकर्ता श्री ठाकुर उमरावसिंह और श्री ठाकुर सूरजसिंह थे। इस समाज की ओर से आर्यवीर दल तथा आर्यकुमार सभा का संचालन किया जाता था। एक कन्या पाठशाला भी चलायी जाती थी। अगले दस वर्षों में इस समाज के अवैतनिक प्रचारकों द्वारा गाँवों में आर्यसमाज के प्रचार-साहित्य के प्रसार और शुद्धि का कार्य किया जाता रहा।

१९२९ में आर्यसमाज के आन्दोलन में सिद्दीक दीनदार नामक एक मुसलिम प्रचारक के प्रचार-कार्य से अधिक प्रखरता और उग्रता आयी। अन्यत्र इसके प्रचार-कार्य का विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह प्रचारक अपने को इस प्रदेश में बसे हुए लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक चन्न बसवेश्वर का अवतार होने का दावा करता था। इस प्रकार वह लिंगायतों को अपना अनुयायी बनाना चाहता था। वसवेश्वर इस प्रदेश के पुराने समाज-सुधारक थे और यहाँ उनके अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या थी। इसके अतिरिक्त यह प्रचारक हिन्दू धर्म के महापुरुषों राम और कृष्ण पर बड़े भद्दे आक्षेप खुल्लमखुल्ला कर रहा था। इस समय आर्यसमाज के निर्भीक उपदेशक श्री मंगलदेव ने बसवेश्वर के अवतार का दावा करनेवाले मुसलिम प्रचारक की कलई खोली। इसके मन्तव्यों और सिद्धान्तों का खण्डन किया। इसी समय उत्तरभारत के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी श्री रामचन्द्र देहलवी को हैदराबाद आर्यसमाज ने आमन्त्रित किया ताकि वे मुसलिम प्रचारकों के विषैले प्रचार का समुचित उत्तर दे सकें। पण्डित रामचन्द्र देहलवी अरबी, फारसी, उर्दू के गम्भीर विद्वान् थे। उन्होंने मुसलमानों के पवित्र धर्मग्रन्थ कुरान शरीफ और इसके साहित्य का गहन अनुशीलन किया था। वे इस्लाम के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का अगाध ज्ञान रखते थे और प्रायः मुसलमान मौलवियों से उनके शास्त्रार्थ हुआ करते थे। उनकी भाषण-शैली अतीव रोचक और प्रभावोत्पादक थी। उनके विद्वत्तापूर्ण भाषणों से सिद्दीक दीनदार तथा अन्य मुसलिम प्रचारकों द्वारा उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों का निवारण हुआ, हिन्दुओं में अपने धर्म व संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न हुई, भोलीभाली जनता में मुसलिम प्रचारकों का प्रचार विफल हुआ। इससे आर्यसमाज मुसलमान प्रचारकों की दृष्टि में काँटे की तरह खटकने लगा। वे आर्यसमाज के विरुद्ध शासन से शिकायत करने लगे। शासन द्वारा आर्यसमाज पर लगाये जानेवाले उन प्रतिबन्धों का श्रीगणेश हुआ जिनको हटाने के लिए आर्यसमाज को लगभग दस वर्ष बाद सत्याग्रह करने के लिए विवश होना पड़ा। इसका विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा। यहाँ केवल

इस सत्याग्रह-संग्राम के शुरू होने से पहले तक की आर्यसमाज के विकास की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

मुसलिम प्रचारकों के उग्र प्रचार तथा सरकारी प्रतिबन्धों के कारण आर्यसमाज में एक नवीन उत्साह तथा जोश उत्पन्न हुआ। १९३० में श्री मंगलदेव और कतिपय उत्साही व्यक्तियों के प्रयत्न से राज्य के विभिन्न जिलों और ताल्लुकों में आर्यसमाज की २५-३० शाखायें स्थापित हो गयीं। आर्यसमाज के कार्य को लोकप्रियता मिलने लगी और उसके कार्यकलापों का प्रसार होने लगा।

(५) हैदराबाद में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना

द्वितीय युग—४ एप्रिल १९३१ को हैदराबाद राज्य में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के साथ इस प्रदेश के इतिहास में दूसरे युग का श्रीगणेश होता है। अब तक हैदराबाद तथा विभिन्न स्थानों में अनेक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, किन्तु वे सब स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे थे। इस समय इनको एक सूत्र में आबद्ध करनेवाले और शक्तिशाली बनानेवाले एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। १८९२ से १९३० तक हैदराबाद के सुलतान बाजार आर्यसमाज ने हैदराबाद में एक सुदृढ़ संस्था का रूप धारण कर लिया था। इसे राज्य के सभी आर्यसमाजों में श्रेष्ठ और बड़ा समझा जाता था, फिर भी वैधानिक रूप से एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना भी आवश्यक थी। १९३१ में महात्मा नारायण स्वामी की अध्यक्षता में हैदराबाद में आयोजित एक सभा में विभिन्न आर्यसमाजों के प्रतिनिधि एकत्र हुए और उन्होंने विधिवत् हैदराबाद राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित करने की घोषणा की। इस सभा की स्थापना ४ एप्रिल, १९३१ ईसवी को हुई। इसके अध्यक्ष हाई कोर्ट के जज श्री केशव राव, मन्त्री श्री चन्दूलाल आर्य तथा कोषाध्यक्ष श्री विनायक राव विद्यालंकार चुने गये।

इस समय सौभाग्य से हैदराबाद आर्य प्रतिनिधि सभा को कुछ अतीव कर्मठ कार्यकर्ता मिले। इनकी सहायता से अगले दस वर्षों में आर्यसमाजों की संख्या यहाँ निरन्तर बढ़ती चली गयी और आर्यसमाज का आन्दोलन प्रबल होने लगा। यहाँ पहले कुछ नवीन आर्यसमाजों का उल्लेख किया जायेगा और बाद में कर्मठ कार्यकर्ताओं का। १९४० तक आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या १९६ हो गयी थी और इनके सभासदों की संख्या ५००० से भी अधिक थी। इस अवधि में स्थापित कुछ आर्यसमाजों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

१९३३ में रायचूर तथा लातूर में आर्यसमाज स्थापित हुए। लातूर आर्यसमाज ने अपने ५ प्रचारक रखकर प्रचार-कार्य को सुव्यवस्थित रूप से आरम्भ किया। दयानन्द-पाठशाला और आर्य महिला सभा नामक संस्थाओं की स्थापना की। वेद-प्रचार, दलित-उद्धार, शुद्धि, ग्राम-प्रचार का काम किया गया। ओषधि-वितरण से जनता को लाभ पहुँचाया। प्लेग की महामारी से पीड़ितों की सेवाशुश्रूषा का काम किया। इसके कर्मठ कार्यकर्ता श्री डी० आर० दास और श्री रामचन्द्र थे। १९३४ में काचीगुड़ा में एक आर्य-समाज स्थापित हुआ। इसने वेद-प्रचार, हिन्दू देवियों के उद्धार, शुद्धि और मृतक संस्कार के जनकल्याणकारी कार्य आरम्भ किये; रात्रि पाठशाला, व्यायामशाला और वाचनालय का संचालन किया। १९३५ में बीदर ताल्लुका में साकोल में एक समाज की स्थापना हुई।

इसके कार्यकर्ताओं में श्री गुलावचन्द्र और श्री भगवानलाल साकोले के नाम उल्लेखनीय हैं। अगले वर्ष १९३६ में कोहीर, वाशी तथा सदाशिवपेठ में समाज बने। कोहीर जिला बीदर में है। यहाँ के समाज ने एक अवैतनिक उपदेशक रखकर स्थानीय प्रचार आरम्भ किया। हरिजनों को आर्थिक सहायता देनी शुरू की। इसके कार्यकर्ताओं और पदाधिकारियों में श्री शंकरराव तथा महावीर के नाम उल्लेखनीय हैं। वाशी उस्मानाबाद जिले में है। यहाँ के समाज में उल्लेखनीय योगदान श्री विशम्भरकृष्ण केवड़ीकर, तथा श्री आनन्दराव भगवन्तराव कवड़े का था। सदाशिवपेठ आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता शिवचन्द और शिवराम थे। यहाँ हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने के लिए हिन्दी पाठशाला की स्थापना की गयी। सन् १९३७ में गुलबर्गा ताल्लुका के दाभर भिह्ना में समाज स्थापित हुआ। १९३८ में स्थापित आर्यसमाजों में मुशीराबाद (रेलवे स्टेशन लातूर), आलन्द (रेलवे स्टेशन गुलबर्गा) के समाज उल्लेखनीय हैं। इस समय तक हैदराबाद में आर्यसमाजियों के विरुद्ध दमनचक्र तेजी से चलने लगा था। मुशीराबाद की आर्यसमाज के सदस्यों का रजिस्टर सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। १९२९ में आर्यगिरी का समाज स्थापित हुआ। इसके संस्थापकों में पण्डित ईश्वरलाल और पण्डित बंसीलाल व्यास के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समाज द्वारा वैदिक वाचनालय तथा हिन्दी पाठशाला का संचालन किया गया। हरिजनों के मुहल्लों में हवन तथा प्रचार और रोगियों के लिए औषधि-वितरण इस समाज के प्रमुख कार्य थे। प्लेग के दिनों में इस समाज ने रुग्ण व्यक्तियों की सेवा का सराहनीय कार्य किया। इसके साथ ही यह समाज लावारिस मृतक व्यक्तियों का दाहसंस्कार वैदिक विधि से कराने का कार्य करता था। १९४० में सूर्यापेट तथा खम्मापेट में आर्यसमाज स्थापित हुए। सूर्यापेट नलगोंडा ताल्लुका में है। इस समाज की स्थापना २० नवम्बर, १९४० ईसवी को हुई थी। इसके संस्थापक प्रधान श्री महेन्द्रकुमार पेदो जी थे। श्री हनुमन्तराव इस समाज की ओर से आस-पास के गाँवों में प्रचार-कार्य करते थे। बच्चों को हिन्दी माध्यम की शिक्षा देने के लिए एक पाठशाला भी समाज द्वारा चलायी गयी। इस आर्यसमाज ने वेद-प्रचार, दलितोद्धार और शुद्धि के कार्यों में भी गहरी दिलचस्पी ली। वारंगल जिले के खम्मापेट में पहली अक्टूबर, १९४० को समाज की स्थापना की गयी। इनके प्रधान पण्डित रामनारायण ठेकेदार और मन्त्री श्री वी० वेंकटरंगा रेड्डी थे। इस समाज ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक प्रचारक रखा हुआ था। इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी अनेक समाज स्थापित किये गये।

इस समय हैदराबाद में जिन व्यक्तियों ने आर्यसमाज के आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने और आर्यसमाज की गतिविधियों को व्यापक रूप से सफल बनाने का कार्य किया उनमें दो भाइयों श्री वंशीलाल वकील और श्री श्यामलाल वकील के नाम स्मरणीय हैं। जिस समय श्री वंशीलाल कार्यक्षेत्र में उतरे, हैदराबाद में केवल दो आर्यसमाज थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनथक प्रयास करते हुए इनकी संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि की। आर्यसमाजों का संगठन सुदृढ़ बनाने, इनके कार्यों में एकरूपता लाने के लिए राज्य की केन्द्रीय आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना में भी भाग लिया।

हैदराबाद में सत्याग्रह शुरू करवाने का श्रेय भी श्री वंशीलाल को दिया जाता है। वह हैदराबाद की निजाम सरकार की नादिरशाही धार्मिक पाबन्दियों की ओर

सार्वदेशिक सभा का ध्यान निरन्तर आकृष्ट करते रहे।

हैदराबाद में आर्यसमाज का अहर्निश प्रचार करनेवाले, उसके लिए बड़े-से-बड़े भीषण कष्टों और विपत्तियों का वीरता और निर्भीकता से सामना करते हुए अपने प्राणों का बलिदान करनेवाले पण्डित श्यामलाल पण्डित वंशीलाल के छोटे भाई थे। वह आर्यसमाज के धर्म-प्रचार के मूर्तिमान आदर्श थे।

श्री वंशीलाल तथा श्री श्यामलाल सदृश कर्मठ कार्यकर्ताओं और प्रचारकों के प्रयत्न का ही यह परिणाम था, कि १९४१ तक हैदराबाद रियासत में १४५ आर्यसमाज स्थापित हो गये थे।

(६) मोपला-विद्रोह और आर्यसमाज

केरल(मलाबार)भारत के पश्चिमी समुद्रतट के दक्षिणी छोर पर अवस्थित है। यह उत्तरी भारत से सबसे अधिक दूरवर्ती प्रदेश है, इसलिए वर्तमान शताब्दी का तीसरा दशक शुरू होने तक आर्यसमाज का कोई भी प्रचारक यहाँ नहीं पहुँचा। दक्षिण भारत में सर्वप्रथम वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाले स्वामी नित्यानन्द का कार्यक्षेत्र कर्नाटक और मद्रास प्रदेश तक ही सीमित था। केरल में आर्यसमाज के प्रचारक सर्वप्रथम १९२१ के उत्तरार्द्ध में मोपलाओं द्वारा पीड़ित हिन्दुओं की सहायता के लिए आये और उन्होंने बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं की शुद्धि का कार्य आरम्भ किया। इसके महत्त्व को समझने के लिए यहाँ पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मोपला कौन थे, उनके विद्रोह में हिन्दुओं की क्या दुर्दशा हुई और किन परिस्थितियों में यहाँ आर्यसमाज को सहायता एवं शुद्धि के कार्य के लिए आना पड़ा।

मोपला आरम्भ में केरल या मलाबार प्रदेश में बसे हुए उन मुसलमानों को कहते थे जो इस प्रदेश में व्यापार के लिए आनेवाले मुसलिम अरब लोगों की स्थानीय स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान थे। आठवीं शताब्दी में यहाँ मुसलमान अरब व्यापारी आने लगे और मोपलाओं का आविर्भाव हुआ। कालीकट के स्थानीय शासकों ने इन्हें संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार एक पुराने राजा चेरमान पेरुमाल ने यह नियम बनाया कि मछली पकड़नेवाले प्रत्येक हिन्दू-परिवार में एक व्यक्ति मोपला बनेगा तथा जहाज चलाने के कार्य में अरब व्यापारियों की सहायता करेगा। यह व्यवस्था राजा ने इसलिए की थी क्योंकि हिन्दू उस समय समुद्र-यात्रा को पाप समझते थे, विदेशी व्यापार से राज्य को समृद्ध बनानेवाले अरब व्यापारियों से घृणा करते थे, और उन्हें कोई सहायता नहीं देते थे। राजा इनके व्यापार से लाभ उठाने तथा इन्हें प्रत्येक प्रकार की सहायता देने के लिए उत्सुक था।

मोपला शब्द केरल में बोली जानेवाली मलयालम भाषा के माप्पिल्ला शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर है। इस शब्द की व्युत्पत्ति और मूल रूप के बारे में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। इसमें दो बड़े पक्ष हैं। पहला पक्ष इसे मूलतः अरबी भाषा का तथा दूसरा पक्ष मलयालम भाषा का शब्द समझता है। श्री सी० पी० ब्राउन का विचार है कि यह अरबी भाषा के मुअब्बर शब्द का विकृत स्थानीय रूप है। मुअब्बर का अर्थ समुद्र-पार से आने-वाला व्यक्ति है; यह अरब प्रायद्वीप से अरब सागर पार कर आनेवाले व्यापारियों का नाम था। पर्सी वैडगर ने इसे खेती करने का अर्थ देनेवाली अरबी धातु फल्ला से व्युत्पन्न

किसानवाची अरबी मुफलीह का रूपान्तर माना है। श्री पद्मनाभ मेनन ने इसकी व्युत्पत्ति दो स्थानीय शब्दों महापिल्ला (वड़ा पुत्र) से की है। उनका यह कहना है कि अरव मुसलिम व्यापारियों को स्थानीय शासकों ने समाज में जो उच्च प्रतिष्ठा और स्थिति प्रदान की थी, उसके कारण इन्हें यह गौरवशाली नाम दिया गया।[1] इन दोनों पक्षों में पहले पक्ष की पहली व्युत्पत्ति अधिक सही प्रतीत होती है। मूलतः इस शब्द का प्रयोग अरव व्यापारियों की स्थानीय स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान के लिए होता था, किन्तु अब इसका व्यवहार पश्चिमी समुद्रतट पर वसे सभी मुसलमानों के लिए होता है। इनमें अधिकांश हीन समझी जानेवाली अस्पृश्य जातियों से वने हुए मुसलमान हैं। इस शताब्दी के आरम्भ में मलावार में इनकी संख्या साढ़े आठ लाख के लगभग थी। ये मद्रास प्रान्त में वसे मुसलमानों का लगभग ३३ प्रतिशत थे।

इस प्रदेश में पिछली शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश शासन स्थापित होने के वाद मोपला प्रायः अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करते रहे हैं। इसका दमन करने के लिए विशेष पुलिस अथवा गोरी सेना की सहायता शासन को लेनी पड़ती थी। मोपला धार्मिक मामलों में वड़े कट्टर होते हैं, ये थंगल कहलानेवाले अपने धर्मगुरुओं या आचार्यों में गहरी श्रद्धा रखते हैं, ये उनके शरीर को दिव्य तथा पवित्र मानते हैं, उनके वचनों का आँख मूँदकर पालन करते हैं। इनकी अधिकांश आवादी कालीकट के निकट अरनाड ताल्लुका में वसी हुई है। १८३६ से इनके उपद्रवों और उत्पातों का इतिहास उपलब्ध है। १८३६ से १८५३ तक के १७ वर्षों में इन्होंने २२ विद्रोह किये। १८५२ में जिला मजिस्ट्रेट कोनोली ने तिरुरंगड़ी के थंगल को पकड़ना चाहा, क्योंकि वह इनको अंग्रेजों के विरुद्ध भड़कानेवाला था। मोपलों को जव इसका पता लगा तो १२ हजार मोपले अपने गुरु की रक्षा के लिए एकत्र हो गये। कोनोली ने मोपलों का जोश ठण्डा हो जाने के कुछ समय बाद उपर्युक्त थंगल को गुप्त रीति से निष्कासित करके अरव प्रायद्वीप में भिजवा दिया। ब्रिटिश सरकार ने वार-वार विद्रोह करनेवाले मोपलों के दमन के लिए एक विशेष कानून वनाया। इसमें उपद्रवग्रस्त गाँवों पर सामूहिक जुर्माना करने की तथा अन्य कठोर दण्डों की व्यवस्था थी। १८५५ में कालीकट जेल से भागे हुए मोपलों ने थंगल को निष्कासित करनेवाले जिला मजिस्ट्रेट कोनोली की उसके घर के वरामदे में घुसकर हत्या की। इसके बाद यहाँ मोपला कानून कड़ाई से लागू किया गया, फिर भी इनके विद्रोह और दंगे होते रहे। ब्रिटिश सरकार बड़ी कठोरता से इनका दमन करती रही। १८८३ में कोलत्तूर में और १८८५ में त्रिकलूर में उपद्रव हुए। पिछले उपद्रव में १२ मोपलों ने एक हिन्दू मन्दिर को दुर्ग बनाकर ऐसी जमकर लड़ाई की कि इसे बारूद से उड़ाकर ही स्थिति पर नियन्त्रण पाया जा सका। १८९४ में मन्नारकात में और १८९६ में मंजेरी के मन्दिर में भीषण उपद्रव हुए।

इन उपद्रवों का प्रधान केन्द्र कालीकट के निकट अरनाड ताल्लुका में घने जंगलों-वाली एक पहाड़ी पण्डलूर के १५ मील के घेरे में था। ब्रिटिश सेना द्वारा दमन किये जाने पर मोपले घने जंगलों में शरण लेते थे और यहाँ से हिन्दू मन्दिरों और ब्रिटिश सरकार के केन्द्रों पर हमले करते थे। ये अंग्रेजों और हिन्दुओं को काफिर समझते थे।

१. थर्सटन-कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ सदर्न इण्डिया, खण्ड-४, पृष्ठ ४६०-६१

उनकी हत्या करने में बड़ा धार्मिक गौरव समझते थे और यह मानते थे कि इससे उन्हें स्वर्ग में अप्सरायें प्राप्त होंगी और सब प्रकार के सुख मिलेंगे। इस विषय में उनकी मनः-स्थिति का परिचय निम्नलिखित घटना से मिलता है—

जिला मजिस्ट्रेट कोनोली की हत्या के बाद ब्रिटिश सेना ने कुछ मोपलों का भीषण संहार करते हुए उनपर आतंक बिठाने का प्रयास किया। यह कहा जाता है कि जिस दिन प्रातः कई मोपलों को मारा गया, उस दिन सायंकाल चेम्बल शेरी नामक स्थान का थंगल मस्जिद में बैठा हुआ आकाश की ओर देख रहा था और हँस रहा था। पास बैठे भक्त मोपलों ने पूछा—"हजरत, आप किस बात पर हँस रहे हैं?" उसने उत्तर दिया—"यह तुम्हारे सुनने योग्य बात नहीं है।" मोपलों ने हठ किया—"हजरत, हमें अवश्य बताइये।" वह उसी प्रकार आकाश की ओर मुख किये हुए हंसता रहा। अन्त में बड़ी देर बाद उसने कहा—"मैं देख रहा हूँ कि आकाश में बहिश्त (स्वर्ग) की खिड़कियाँ खुल गयी हैं, उसमें से हूरें (अप्सरायें) निकल-निकलकर उन मोपलों का स्वागत कर रही हैं जो आज प्रातः शहीद हुए थे।" यह सुनकर मोपलों ने पूछा—"हजरत, हमें यह दिन कब नसीब होगा?" उसने उत्तर दिया—"वह दिन तो आया हुआ है। तुम लोग गाफिल पड़े हुए हो। जानते नहीं हो यहाँ अंग्रेजों की ओर से गोरखा सैनिकों का कैम्प लगा हुआ है। जाओ उस पर हमला करो और शहीद हो जाओ।" इसपर पाँच सौ मोपले तैयार हुए, उन्होंने गोरखों की छावनी पर हमला किया और उनके साथ लड़ते हुए मारे गये।

इस घटना से स्पष्ट है कि मोपलों में कितनी कट्टर धार्मिक मनोवृत्ति और धर्मांधता थी; वे अपने धर्मगुरुओं के आदेशों का पालन कितनी तत्परता से करते थे। ये थंगल उन्हें प्रायः ईसाई शासकों और हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद (धर्मयुद्ध) करने के लिए प्रेरित करते रहते थे।

मोपला विद्रोह—१९२१ में गांधी जी ने जब भारत की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह आन्दोलन के साथ खिलाफत के प्रश्न को जोड़ दिया और तुर्की के सुलतान को खलीफा बनाये रखने के लिए भारतीय जनता को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शान्तिपूर्ण सत्याग्रह करने की अपील की तो इसका मलाबार पर गहरा प्रभाव पड़ा। वहाँ मोपलों ने यह समझा कि अब भारत में खिलाफत या मुसलिम शासन स्थापित हो गया है, अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया है और उन्हें काफिर हिन्दुओं को मुसलमान बनाने या मारने की खुली छूट मिल गयी है। उन्होंने अपने थंगल को खलीफा मान लिया और अगस्त, १९२१ में अंग्रेजों के विरुद्ध बड़े पैमाने पर विद्रोह शुरू कर दिया। यह विद्रोह कई महीने तक चलता रहा। इसमें मोपलों का प्रधान लक्ष्य था—हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाय तथा अंग्रेजी राज को समाप्त कर दिया जाय।

विद्रोह का प्रारम्भ १९ अगस्त, १९२१ को अरनाड ताल्लुका के तिरुरंगाड़ी ग्राम से हुआ। पुलिस इस इलाके के मोपला नेता अली मुसलियार को बन्दी बनाना चाहती थी। इसके समर्थक मोपलों ने पुलिस का सामना किया और अपने नेता को बन्दी नहीं बनाने दिया। यह खबर चारों ओर फैल गयी। मोपले तलवारें लेकर निकल पड़े। उन्होंने सरकारी इमारतों, स्टेशनों, तार-घरों आदि को हानि पहुँचाने के साथ-साथ हिन्दुओं को लूटना, मारना और जबर्दस्ती मुसलमान बनाना आरम्भ कर दिया। इस विद्रोह की

आग मलाबार जिले के चार ताल्लुकों—अरनाड, वलवाकाण्ड, कालीकट और पूनानी में बुरी तरह भड़क उठी। तेनूर में २१ अगस्त को हिन्दुओं के मकानों पर हमले किये गये। स्त्रियों के आभूषण बड़ी निर्दयता से उतारे गये। तिरुरंगाड़ी से साढ़े तीन मील दूर एमशम बेलमुख में हिन्दुओं की बड़े पैमाने पर हत्या हुई। मंजेरी में २२ अगस्त की प्रातःकाल सरकारी खजाना लूटा गया और २४ अगस्त से हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाने का अभियान चलाया गया। उस समय थंगल का यह आदेश प्रचारित किया गया कि अरनाड ताल्लुका को पूर्णरूप से मुसलमान बनाया जाय और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दुओं का या तो वध कर दिया जाय या उन्हें मोपला बना दिया जाय। अगस्त के अन्त तक मोपलों ने सैकड़ों हिन्दूमन्दिर नष्ट किये, मूर्तियाँ तोड़ दीं, घर जला दिये। सैकड़ों हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना दिया गया। इस समय हिन्दुओं को यह धमकी दी जाती थी कि या तो मुसलमान बनो या अपने प्राण दे दो।

मोपला लोगों के विद्रोह और हिन्दुओं पर अत्याचारों के समाचार काफी समय तक सरकार द्वारा दबाये जाते रहे। उत्तर भारत में ये समाचार बहुत विलम्ब से पहुँचे। सर्वप्रथम ये खबरें बम्बई के कुछ पत्रों में छपीं। इन्हें दीवान राधाकृष्ण ने लाहौर में 'अनारकली आर्यसमाज' के प्रधान महात्मा हंसराज के पास भेजकर प्रार्थना की कि वह मलाबार के हिन्दुओं की सहायता के लिए अपील करें और आर्यसमाज उनके लिए सहायता-कार्य का संगठन करे।

१६ अक्टूबर, १९२१ को आर्य प्रादेशिक सभा की बैठक में जब ये समाचार सुनाये गये तो सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—"मलाबार में मोपलों ने जो अत्याचार करके हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया है, उन हालात पर विचार करके निश्चय किया गया कि जबर्दस्ती मुसलमान किये गये हिन्दुओं की शुद्धि और सहायता का सभा यत्न करे और प्रधान जी को अधिकार दिया गया है कि इस आवश्यक सेवा के लिए पब्लिक से अपील करें और जितना शीघ्र सम्भव हो शुद्धि और सहायता का प्रबन्ध करें और उचित खर्च उठायें।"

इस प्रस्ताव के अनुसार महात्मा हंसराज ने भारतीय जनता के नाम एक अपील प्रकाशित की। इसका प्रधान उद्देश्य यह था कि जबर्दस्ती मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में वापिस लाया जाय और हिन्दू धर्म के विरोधियों को भली-भाँति यह स्पष्ट कर दिया जाय कि कोई हिन्दू बलपूर्वक विधर्मी नहीं बनाया जा सकता है। इस कार्य के लिए अपील करने पर सभा को आर्य बन्धुओं से धन प्राप्त होना शुरू हो गया।

१ नवम्बर, १९२१ को आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से सर्वप्रथम पण्डित ऋषिराम जी को मलाबार भेजा गया और उसके बाद उनकी सहायता के लिए लाला खुशहाल चन्द खुर्सन्द, पण्डित मस्तान चन्द बी० ए०, मेहता सावनमल, प्रोफेसर ज्ञानचन्द, पण्डित विष्णुदत्त बी० ए०, केरल भेजे गये। आर्यसमाज की ओर से कालीकट तथा माइनाड में सर्वप्रथम सहायता-शिविर खोले गये। इसके बाद चार अन्य डिपो तिरुरंगाड़ी नीलमबूर, तोहूर, निरीटकमुकम में स्थापित किये गये। कालीकट और माइनाड के शिविरों में ६ हजार नर-नारियाँ और बच्चे प्रतिदिन सहायता पाते रहे। इसी प्रकार अन्य शिविर भी कुछ स्थानीय व्यक्तियों—श्री कृष्ण, टी० नारायण, वेंकटाचलम आयर आदि

की सहायता से सितम्बर, १९२२ तक चलाये जाते रहे। इन शिविरों में पहले तो अन्न की सहायता दी जाती थी, उसके बाद शुद्धि का भी कार्य शुरू किया गया और १५ मई, १९२२ तक दो हजार दो सौ मुसलमान हुए हिन्दू शुद्ध किये गये। जून और जुलाई में ४०० अन्य बलपूर्वक मुसलमान हुए हिन्दुओं को अपने धर्म में पुनः दीक्षित किया गया।

आर्यसमाज द्वारा भेजे गये लाला खुशहाल चन्द खुर्सन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) ने विभिन्न भीतरी स्थानों की पैदल यात्रा कर इसका जो रोमांचक विवरण प्रस्तुत किया है और मोपला लोगों के अत्याचारों से पीड़ित बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये लोगों की लोमहर्षक साक्षियाँ प्रस्तुत की हैं, उनसे उस प्रदेश की स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। कालीकट से पूर्व में बीस मील पैदल चलकर उन्होंने पुत्तूर एमशम के घने जंगलों में हिन्दुओं की लाशों से भरे हुए ३ कुएँ तथा हिन्दुओं के जले हुए घर देखे। अरनाड ताल्लुका के बैगरा एमशम में ३५ हिन्दुओं का वध किया गया, सत्तर हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। मुसलमान बनाये गये हिन्दू नरनारियों को मोपला वेष में रहना पड़ता था। आर्यसमाज के प्रचारकों ने इन्हें शुद्ध किया तथा जीवनधारण के लिए आवश्यक सहायता दी। कन्न मंगलम के थंगल ने श्री खुर्सन्द को बताया कि उन्होंने चार मास यहाँ हकूमत की है और अकेले उसने ४० हिंदुओं को मुसलमान बनाया।

श्री खुर्सन्द द्वारा पीड़ित हिन्दुओं के बयान मलाबार की स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। ७९ वर्षीय वृद्ध चीकोड केरियाड़त कुनार पन्नीकर ने बताया था कि "मुझे १० जुलाई को रास्ते में २०-२२ मोपले मिले। उन्होंने कहा—'अब खिलाफत का राज्य हो गया और यह आवश्यक है कि तुम कुरान शरीफ को मानो। यदि इसे न मानोगे तो कत्ल किये जाओगे।' मैंने उनसे कहा—'मुझ बूढ़े लंगड़े को मुसलमान बनाकर क्या करोगे?' उन्होंने मेरी एक न सुनी और कहने लगे—'मरने के लिए तैयार हो जा। पानी पीना हो तो पी ले ताकि फिर तुझे मार दिया जाय।' यह कहकर तलवार म्यान से निकाल ली। मैं डर गया और कहा कि—'अच्छा, जो आपकी इच्छा हो कर लो।' तब वे मुझे अपने साथ ले गये, मेरी चोटी काटकर कुछ पढ़कर कहा—'अब तुम मुसलमान हो गये हो, अपने घर में रहो।' मैं मुश्किल से घर पहुँचा, वहाँ से कालीकट गया और वहाँ पहुँचकर पुनः हिन्दू बना।"

इसी प्रकार महामना गोपालकृष्ण गोखले द्वारा स्थापित सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के मन्त्री श्री देवधर ने कालीकट में सहायता-कार्य करनेवाली कमेटी के कार्यालय में आनेवाले पीड़ित व्यक्तियों के बयानों के आधार पर अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि मोपलों ने हिन्दुओं की हत्या के अतिरिक्त बहुतों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया है, अधिकांश घर जलाकर नष्ट कर दिये हैं, नन्हें बच्चों तथा गर्भवती स्त्रियों तक को कत्ल करने से नहीं छोड़ा है, कालीकट में उन्हें एक दृष्ट साक्षी ने सात मास का गर्भधारण करनेवाली नारी के पेट में तलवार भोंककर हत्या का वृत्तान्त बताया था। मोपलों के गिरोह नाई लेकर चलते थे, दर्जनों हिन्दुओं की शिखा मूँडकर मुसलमान बनाते थे, स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करते थे। ग्रामीण क्षेत्रों में मोपलों का आतंक काफी समय तक बना रहा। मोपलों के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए देहात के हिन्दू कालीकट आदि शहरों में आ गये थे और यहाँ आर्यसमाज द्वारा स्थापित शिविरों में कई महीनों तक सहायता पाते रहे।

मलाबार में आर्यसमाज के कार्य की कई विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता इसका हिन्दू-समाज की एकता और दृढ़ता के लिए किया जाना है। इस कार्य को संगठित करनेवाले आर्य प्रादेशिक सभा पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान के प्रधान महात्मा हंसराजजी ने यह ठीक ही लिखा था—"धर्म तथा देश की एकता के लिए आवश्यक है कि जिस प्रकार शरीर के एक अंग में दुःख होने पर सारा शरीर दुःखी हो जाता है, इसी प्रकार देश में एक स्थान पर विपत्ति पड़ने से देश के अन्य अंगों को भी अनुभव करना चाहिए कि वे भी विपद्ग्रस्त हैं। जिस देश अथवा जाति में यह भावना नहीं है, वह देश या जाति कहलाने के योग्य नहीं।···आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से जो सहायता मलाबार को दी गयी है, वह न केवल इस बात का दृढ़ प्रमाण है कि हिन्दुओं के भीतर आर्यसमाज के द्वारा सामाजिक उत्साह पैदा हो गया है, प्रत्युत भविष्य में भी आर्य जाति के विविध भागों में एकता का भाव पैदा करनेवाली है। हमको दूसरों पर यह सिद्ध कर देना चाहिए कि भारतवर्ष के हिन्दू एक हैं और एक-दूसरे से भेद-भाव नहीं करते।" आर्यसमाज ने मलाबार में अपने कार्य द्वारा इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की, हजारों मील की दूरी तथा भाषा और सामाजिक परम्पराओं का उग्र मतभेद होने पर पंजाब के आर्य-बन्धुओं ने केरल के सजातीय समान धर्मबन्धुओं की आड़े वक्त में सहायता करके हिन्दू समाज में एकता और जागृति की नयी चेतना उत्पन्न की।

दूसरी विशेषता आर्यसमाज के सहायता-कार्य का कांग्रेस आदि संगठनों द्वारा चलाये जानेवाले कार्यों की तुलना में अधिक देर तक सफलतापूर्वक संचालन किया जाना था। अन्य संगठनों द्वारा सहायता-कार्य राजनैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए किया गया था। इनके शिविर जल्दी बन्द कर दिये गये। किन्तु आर्यसमाज ने इसे भ्रातृ-भाव एवं मानवीयता के दृष्टिकोण से किया था। अतः आर्यसमाज का कार्य अधिक स्थायी एवं प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त इस कार्य का संगठन करने वाले आर्य नेताओं को ऐसे कार्यों का पुराना अनुभव था। आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से गढ़वाल, जम्मू रियासत के भिम्बर, रजौरी के दुर्भिक्षों में श्री मस्तान चन्द जी बड़ा कार्य कर चुके थे, उन्होंने मलाबार में पुराने अनुभव का पूरा लाभ उठाया और इसी के आधार पर वे माइनाड के शिविर में प्रतिदिन चार हजार संकटग्रस्त और पीड़ित नर-नारियों की सहायता के संगठन का कार्य सफलतापूर्वक कर सके और इतनी अधिक स्त्रियों और बच्चों में अन्न बाँटकर सबको सन्तुष्ट बनाये रख सके।

तीसरी विशेषता मलाबार के प्रामाणिक समाचार उत्तर भारत की हिन्दू जनता को पहुँचाना था। इस दृष्टि से लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द (आनन्दस्वामी) का कार्य उल्लेखनीय था। वे आर्य गजट के संपादक, सुलेखक और प्रभावशाली वक्ता थे। उन्होंने मलाबार पहुँचकर न केवल सहायता देनेवाले शिविरों का ही संगठन किया, अपितु पत्रकार-प्रवृत्ति के अनुसार मोपला-विद्रोह के कारणों की खोज का काम शुरू करके यह निश्चय किया कि वे उपद्रवग्रस्त प्रदेशों का दौरा करें, पीड़ित हिन्दुओं से मिलें, उनसे मोपलाओं के अत्याचारों की पूरी जानकारी प्राप्त करें, संकटग्रस्त लोगों को कालीकट आदि के सुरक्षित शिविरों में लायें। इस दृष्टि से उन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर हितैषियों द्वारा मना किये जाने पर भी उपद्रवों से पीड़ित पुत्तूर एमशम तथा अरनाड ताल्लुका के ग्रामीण क्षेत्रों की पैदल यात्रा की, अत्याचार-पीड़ित हिन्दुओं के बयान और साक्षियाँ लेखबद्ध कीं,

स्वयमेव उन कुओं को देखा जिनमें मोपलाओं द्वारा मारे गये हिन्दुओं के शव फेंक दिये गये थे। यहाँ अस्थि-पंजरों, नरकंकालों, खोपड़ियों तथा हड्डियों को देखकर उन्हें इस प्रदेश में किये गये अत्याचारों का प्रामाणिक परिचय मिला। उन्होंने उन हृदय-विदारक घटनाओं का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण अपने लेखों में किया। उत्तर-भारत, विशेषतः पंजाब की जनता को इन शब्द-चित्रों से पहली बार केरल में हिन्दुओं पर हुए अत्याचारों की यथार्थ स्थिति का बोध हुआ, इससे उनके मन में सजातीय बंधुओं के प्रति विशेष रूप से सहानुभूति की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने आर्य प्रादेशिक सभा को सहायता-कार्य के लिए एकत्र किये जानेवाले सहायता-फण्ड में १२ अक्टूबर, १९२२ तक ७०,८११ रुपये का दान दिया था, जो उस समय की दृष्टि से बहुत बड़ी राशि थी।

मलाबार में आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा कार्य करने के तीन बड़े उद्देश्य थे। पहला उद्देश्य अत्याचारों से पीड़ित व्यक्तियों को सहायता प्रदान करना था। मोपलाओं के अत्याचारों से बचने के लिए हजारों व्यक्ति अपने घरों और ग्रामीण क्षेत्रों से भागकर सुरक्षा पाने के लिए कालीकट आदि शहरों में चले आये थे, इनके घर लूटकर भस्म कर दिये गये थे। इन गृहहीन अनाथ शरणार्थियों की अन्न-वस्त्र से सहायता करना आर्य-समाज का पहला उद्देश्य था। आर्यसमाज द्वारा संचालित शिविरों में इन्हें पर्याप्त सहायता पहुँचाकर पहले उद्देश्य की पूर्ति की गयी। दूसरा उद्देश्य मुसलमान बनाये हिन्दुओं को शुद्ध करना था। यह बड़े जोखिम का कार्य था। स्थानीय व्यक्तियों ने श्री खुशहालचन्द-खुर्सन्द को इस कार्य से रोकने और विरत करने का प्रयास किया, किन्तु वे दृढ़ निश्चय के साथ अपने लक्ष्य की पूर्ति में लगे रहे और आर्यसमाज को तीन हजार मुसलमान बनाये हिन्दुओं को पुनः स्वधर्म में दीक्षित करने में सफलता मिली। तीसरा उद्देश्य मलाबार के हिन्दू समाज में उन्हें निर्बल बनानेवाली कुरीतियों के विरुद्ध प्रबल भावना उत्पन्न करना, यहाँ हिन्दू धर्म को सुदृढ़ बनाना तथा इस कार्य के लिए स्थानीय भाषाओं में आवश्यक साहित्य का सृजन और प्रकाशन तथा प्रचार का काम करना था। यह बड़े लम्बे समय में पूरा होनेवाला लक्ष्य था। आर्य प्रादेशिक सभा ने इसमें भी आंशिक सफलता प्राप्त की। इस प्रदेश में आर्यसमाज ने यह प्रमाणित कर दिया कि वह हिन्दू समाज पर कहीं भी संकट आने पर उसका निवारण सफलतापूर्वक कर सकता है।

अठारहवाँ अध्याय

उड़ीसा में आर्यसमाज का सूत्रपात

(१) उड़ीसा के पूर्वी भाग में आर्यसमाज का प्रारम्भ

वर्तमान समय में उड़ीसा एक पृथक् राज्य है, और उसकी अपनी पृथक् आर्य-प्रतिनिधि सभा भी है। पचास के लगभग आर्यसमाज भी वहाँ विद्यमान हैं। अनेक गुरुकुलों, डी० ए० वी० स्कूलों तथा अन्य आर्य शिक्षण-संस्थाओं की भी वहाँ स्थापना हो चुकी है। पर उड़ीसा में आर्यसमाज का यह प्रचार-प्रसार प्रधानतया बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ है, और वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन हुए अभी दो दशक भी नहीं बीते हैं। उड़ीसा को एक पृथक् प्रान्त या राज्य बने भी अभी अधिक समय नहीं हुआ है। सन् १९११ तक वह बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत था। उस समय बिहार भी बंगाल का एक अंग था। जब बिहार को बंगाल से पृथक् कर एक नया प्रान्त बनाया गया, तो उड़ीसा को भी उसके साथ सम्मिलित कर दिया गया और वह नया प्रान्त 'बिहार तथा उड़ीसा' कहा जाने लगा। सन् १९३५ तक उड़ीसा बिहार के साथ रहा। १९३६ में उसे एक पृथक् प्रान्त बना दिया गया, और सन् १९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो अन्य प्रान्तों के समान उड़ीसा ने भी भारतीय संघ राज्य के अन्तर्गत एक राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली।

वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती को उड़ीसा के किसी भी भाग में जाने का समय नहीं मिला था। बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक कोई अन्य आर्य संन्यासी, विद्वान् व प्रचारक भी वहाँ प्रचार के लिए नहीं गया, और यह राज्य महर्षि की शिक्षाओं से वंचित ही रहा। सम्भवतः, सबसे पहले स्वामी नित्यानन्द सरस्वती द्वारा आर्यसमाज का सन्देश इस प्रान्त में ले-जाया गया था। पर वह भी वहाँ अधिक समय नहीं दे सके। इस क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्य का वास्तविक रूप से प्रारम्भ श्री वत्स पण्डा द्वारा बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में किया गया। पण्डाजी का जन्म गंजाम जिले के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके पिता एक सम्पन्न जमींदार थे। उन्होंने अपने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने का प्रयत्न किया। गंजाम के जिन तीन व्यक्तियों ने सबसे पहले बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी, श्री वत्स पण्डा उनमें एक थे। उन्हें सरकारी सर्विस प्राप्त करने में कठिनाई नहीं हुई, और वह सब-रजिस्ट्रार के पद पर नियुक्त हो गये। उस समय उड़ीसा बंगाल का अन्यतम भाग था, और ब्राह्मसमाज का इस प्रान्त में भी प्रचार था। आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों को राजा राममोहन राय के सुधारवादी विचार बहुत आकृष्ट करते थे। पण्डाजी पर इन विचारों का प्रभाव पड़ा, और वह भी स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह आदि सुधार के कार्यों का समर्थन करने

लग गये। उन्होंने अनेक विधवाओं के विवाह कराये भी। उस युग में पौराणिक हिन्दू-समाज अनेकविध सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त था, और उसकी बहुत-सी मान्यताएँ अन्ध-विश्वास पर आधारित थीं। इस दशा में पण्डाजी की हिन्दू धर्म तथा वेद-शास्त्रों के प्रति आस्था में भी कमी आने लगी, और नयी शिक्षा से प्रभावित होकर वह पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे लेख लिखने लगे, जिनमें हिन्दू धर्म के मन्तव्यों तथा वेद-शास्त्रों का खण्डन किया जाता था। 'उत्कल पत्रिका' नामक पत्रिका में उनके अनेक ऐसे लेख प्रकाशित हुए, जिन्हें पढ़कर कटक-निवासी श्री रामशंकर राय ने पण्डाजी को विचार-विमर्श के लिए निमन्त्रित किया। पण्डाजी कटक गये, पर श्री राय के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। श्री राय ने उन्हें 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ने को कहा, क्योंकि इस ग्रन्थ द्वारा हिन्दू धर्म तथा वेद-शास्त्रों के वास्तविक सत्य स्वरूप को समझा जा सकता था। श्री वत्स पण्डा ने सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद मँगवाया, और साथ ही लाला लाजपत राय की अंग्रेजी पुस्तक 'आर्यसमाज' भी। इन्हें पढ़कर न केवल उनके विचार ही बदल गये, अपितु उनके जीवन में भी महान् परिवर्तन आ गया। वह अब कट्टर आर्यसमाजी बन गये, और महर्षि के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। यद्यपि वह सरकारी सर्विस में थे, पर समाज के प्रचार-प्रसार में वह अपना समय लगाने लगे। अपने घर पर ही उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना कर ली, और उसे केन्द्र बनाकर वेद-प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। यह सन् १९१५-१६ की बात है। उड़ीसा में आर्यसमाज के कार्य का सूत्रपात इसी समय से समझा जाना चाहिए।

सन् १९१९-२० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, तो श्री वत्स पण्डा ने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और असहयोग-आन्दोलन में भाग लेकर जेलयात्रा भी की। वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के प्रति आस्था के साथ-साथ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और स्वदेश-प्रेम की शिक्षा भी उन्होंने महर्षि के ग्रन्थों से ही प्राप्त की थी। जेल से छूटने के बाद पण्डाजी ने अपना तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए अर्पित कर दिया। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह और अछूतोद्धार-सदृश सुधार-कार्यों पर वह विशेष ध्यान देने लगे, और मूर्ति-पूजा के खण्डन तथा निरा-कार परमेश्वर की पूजा का उन्होंने प्रचार करना शुरू किया। जिस प्रबल रूप से वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध प्रचार में तत्पर थे, उसे देखकर जगन्नाथपुरी के पौराणिक पण्डे उन्हें 'आधुनिक काला पहाड़' कहने लगे। पर इससे वह सत्य-पथ से विचलित नहीं हुए। पण्डों के उग्र विरोध के कारण उन्हें अनेक कष्ट भी उठाने पड़े। उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, और जान से मारने की धमकियाँ भी दी गयीं। पर इन बातों की उन्होंने कोई परवाह नहीं की। सर्वसाधारण जनता में वैदिक धर्म के वास्तविक व विशुद्ध रूप का प्रचार करने के लिए उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थप्रकाश', 'संस्कार-विधि', 'गोकरुणानिधि' और 'व्यवहारभानु' आदि अनेक ग्रन्थों का उड़िया भाषा में अनुवाद किया, और स्वयं भी अनेक पुस्तकों की रचना की। इनमें 'वैदिक धर्म', 'सत्संग गुटका', 'पंच महायज्ञ विधि', 'रामायण व महाभारत सार कथा', 'सूक्ति माला' और 'पंचदेवता' उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कुल मिलाकर ५० के लगभग पुस्तकें लिखीं, और 'आर्य' तथा 'संस्कारक' नाम से पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। आर्य-समाज-विषयक साहित्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने एक प्रेस की भी स्थापना की।

श्री वत्स पण्डा का जीवन आर्यसमाज के लिए इतना समर्पित था कि सन् १९२३ में उन्होंने अपने ग्राम मन्दार के निकट तनरड़ा गाँव में १८ एकड़ जमीन ब्रह्मचर्याश्रम तथा गोरक्षाश्रम के निर्माण के लिए प्रदान कर दी। इस भूमि पर एक कन्या विद्यालय स्थापित किया गया, और गौशाला खोल दी गयी। श्री पण्डाजी इसी को केन्द्र बनाकर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का उद्योग करने लगे। उनके परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त केवल एक पुत्री थी। उसका विवाह हो जाने के पश्चात् उनपर परिवार का विशेष भार नहीं रह गया, और वह सर्वात्मना आर्यसमाज के कार्यकलाप में लग गये। सन् १९२७ में उन्होंने अपनी सब सम्पत्ति सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम कर दी, और अगले वर्ष सन् १९२८ में सभा की अनुमति से उसकी व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट बना दिया। इस ट्रस्ट के उद्देश्य यथासम्भव महर्षि द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा-पद्धति के अनुसार बालकों और बालिकाओं को शिक्षा देना, वैदिक धर्म का प्रचार तथा उसके लिए पत्रों का प्रकाशन और गोरक्षा निर्धारित किये गये थे। पण्डाजी ने तीन विद्यार्थियों को इस प्रयोजन से ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर में भेजा, ताकि वहाँ शिक्षा प्राप्त कर वे उड़ीसा में वैदिक धर्म का प्रचार कर सकें। ये विद्यार्थी श्री वेदव्रत शास्त्री, श्री लक्ष्मीनारायण शास्त्री और श्री रवि पट्टनायक थे। सन् १९४२ में उड़ीसा में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस अवसर पर पण्डाजी ने दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की सहायता के लिए बहुत कार्य किया, और इस कार्य में सहायता देने के लिए उन्होंने आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के नेता लाला खुशहालचन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) को उड़ीसा बुलाया। लालाजी ब्राह्म महाविद्यालय के दो उड़िया विद्यार्थियों के साथ उड़ीसा आये, और उन्होंने वहाँ अनेक सहायता-शिविरों का संगठन किया। जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और आर्यसमाज के प्रति उसके आकर्षण में वृद्धि हुई। पण्डाजी ने भंजनगर में आर्यसमाज-मन्दिर के साथ एक वेद-विद्यालय और कन्या पाठशाला की स्थापना की और पुरी में विधवाश्रम स्थापित किया। उनकी प्रेरणा से अन्य भी अनेक प्रचारक तथा कार्यकर्ता आर्यसमाज के कार्य के लिए तैयार हो गये थे। इनमें पण्डित रघुनाथ तत्त्वनिधि, श्री लिंगराज शर्मा और श्री वासुदेव त्रिपाठी मुख्य थे। इन सबसे उड़ीसा में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता प्राप्त हुई। सन् १९४३ में श्री वत्स पण्डा का देहावसान हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उड़ीसा के पूर्वी क्षेत्र में उनके प्रयत्न से आर्यसमाज के आन्दोलन ने सुव्यवस्थित रूप प्राप्त कर लिया था। खेद है कि उनके पश्चात् वहाँ समाज के कार्य में शिथिलता आने लगी।

(२) पश्चिमी क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रसार

उड़ीसा के पश्चिमी क्षेत्र में आर्यसमाज के दो प्रधान केन्द्र सम्बलपुर और बलंगीर थे, जिनमें बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही समाज के कार्यकलाप का प्रारम्भ हो गया था। सम्बलपुर में आर्यसमाज के कार्य का सूत्रपात श्री विमलेश्वरनन्द नामक एक अध्यापक द्वारा किया गया था। स्कूल में अध्यापन का कार्य करते हुए वह वैदिक धर्म के प्रचार में भी तत्पर रहते थे। उन्होंने सन् १९२५ के लगभग प्रचार-कार्य शुरू किया था, और विद्यार्थियों को वैदिक धर्म से परिचित कराने के प्रयोजन से 'वैदिक सनातन धर्म' तथा 'बाल सत्यार्थप्रकाश' पुस्तकों की उड़िया भाषा में रचना की थी। उनके सान्निध्य

से डॉक्टर लक्ष्मीनारायण साहु ने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा और वह महर्षि की शिक्षाओं के प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपना जीवन जो दलितोद्धार के काम के लिए अर्पित कर दिया, और स्थान-स्थान पर इस प्रयोजन से आश्रमों की स्थापना की, उसकी प्रेरणा उन्होंने सत्यार्थप्रकाश से ही प्राप्त की थी। श्री साहु द्वारा जो अनेक आश्रम स्थापित किये गये, उनमें ठक्कर वापा आश्रम, चौद्वार (कटक) तथा रामगड़ा (कोटापुर) का आश्रम प्रधान थे। श्री विमलेश्वरनन्द ने सम्वलपुर में आर्यसमाज का जो बीजारोपण किया था, वह वाद में भली-भाँति अंकुरित और पल्लवित-पुष्पित हुआ, और वहाँ अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हुई। सन् १९४६-४७ में हिराकुद बाँध के निर्माण की योजना बनायी गयी थी, और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वहाँ तेजी के साथ कार्य प्रारम्भ हो गया था। इस समय से उत्तरी भारत के वहुत-से लोग इस बाँध के सिलसिले में हिराकुद तथा समीपवर्ती क्षेत्र में आकर वसने लगे, जिनमें आर्यसमाजी भी थे। इनके कारण वहाँ समाज के प्रचार-प्रसार में वहुत सहायता मिली। सन् १९५३ में हिराकुद में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी, और सन् १९५५ में सम्बलपुर तथा बुर्ला में। यद्यपि औपचारिक रूप से ये समाज सन् १९४७ के बाद स्थापित हुए थे, पर इस क्षेत्र में समाज का प्रचार इससे पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। इसी का यह परिणाम था कि सम्वलपुर जिले के गृञ्जेल नामक ग्राम में सन् १९४४ में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। श्री धर्मानन्द, श्री वासुदेव शास्त्री और श्री मुक्तेश्वर पण्डा ने इस स्थान पर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किया था। श्री विमलेश्वरनन्द ने जिस कार्य का सूत्रपात सन् १९२५ के लगभग किया था, उसे जो अनुपम सफलता प्राप्त हुई, उसका अनुमान इसी वात से किया जा सकता है कि इस समय सम्बलपुर जिले में २० आर्यसमाज विद्यमान हैं।

पश्चिमी उड़ीसा में बलंगीर का आर्यसमाज सबसे पुराना है। वहाँ वैदिक धर्म के प्रचार का प्रारम्भ सन् १९४० में श्री धर्मानन्द नामक एक साधु द्वारा किया गया था। वह राधाकृष्ण मन्दिर में ठहरे हुए थे, और वहाँ निवास करते हुए ही उन्होंने हिन्दू धर्म के अनेकविध पाखण्डों का खण्डन शुरूकर दिया था। इससे वहाँ के पौराणिकों में खलवली मच गयी, और धर्मानन्द जी के लिए वहाँ रह सकना सम्भव नहीं रह गया। इसपर वह समीप की एक धर्मशाला में चले गये, और वहाँ प्रचार प्रारम्भ कर दिया। धर्मशाला के समीप ही उस समय मोटर-बसों का अड्डा था। वहाँ आने-जानेवाले यात्रियों को वह धर्म का उपदेश देते, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का उन्हें परिचय देते। इस प्रकार बलंगीर में जब आर्यसमाज का बीजारोपण हो गया था, उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध आर्यनेता श्री मदनमोहन सेठ लखनऊ से वहाँ आये (सन् १९४५)। उस समय उड़ीसा में भी अनेक छोटी-बड़ी रियासतों की सत्ता थी। पटनागढ़ थी उनमें एक थी। बलंगीर पटनागढ़ रियासत में ही था। वहाँ के महाराजा श्री राजेन्द्रसिंह देव द्वारा रियासत के मुख्य न्यायाधीश नियुक्त होकर श्री मदनमोहन सेठ बलंगीर आये थे। उनके प्रयत्न एवं संरक्षण से आर्यसमाज का वह पौदा लहलहाने लगा, जिसे पाँच वर्ष पूर्व श्री धर्मानन्द ने आरोपित किया था। लोहरदगा-निवासी रायसाहव बलदेव साहु की सहायता से अब बलंगीर में आर्यसमाज-मन्दिर का निर्माण हुआ, और श्री धर्मानन्द तथा पण्डित रुद्रदेव-शास्त्री को समाज द्वारा समीपवर्ती क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रचारक नियुक्त किया गया। श्री सेठ ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से भी इस समाज को आर्थिक

सहायता दिलवायी। उन्होंने महाराजा राजेन्द्रसिंह देव को समाज के लिए एक एकड़ भूमि प्रदान करने के लिए भी प्रेरित किया। वह स्वयं आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में नियमपूर्वक सम्मिलित हुआ करते थे। उनका अनुकरण कर रियासत के अन्य भी अनेक पदाधिकारी व कर्मचारी साप्ताहिक सत्संगों में उपस्थित होने लगे। परिणाम यह हुआ, कि बलंगीर के समीपवर्ती क्षेत्र में वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार होने लगा। पटनागढ़ में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई, और श्री ब्रजबिहारी बहिदार, श्री विश्वनाथ राजु, श्री राममूर्ति पात्र और श्री मुक्तेश्वर पण्डा आदि अनेक नवयुवक आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेने लगे। दो वर्ष बाद श्री मदनमोहन सेठ उत्तरप्रदेश वापस चले गये। इससे समाज के कार्य में कुछ शिथिलता आ जाना स्वाभाविक था। पर श्री धर्मानन्द उनके बाद भी सन् १९५१-५२ तक निरन्तर समाज का कार्य करते रहे। वह अत्यन्त विनम्र, साहसी, निरभिमानी और कर्मठ सज्जन थे। उनके सेवा-भाव को देखकर जनता के हृदय में आर्यसमाज के प्रति सम्मान की भावना बढ़ती गयी। जहाँ समाज-मन्दिर था, उसके समीप ही सरकारी हॉस्पिटल भी था। धर्मानन्द जी वहाँ जाकर निर्धन रोगियों की सेवा किया करते थे। वहाँ उन्हें अपने खर्च पर रोगियों के लिए उपयुक्त भोजन भी दिया करते थे, जिससे वह बहुत लोकप्रिय हो गये थे। सन् १९४६ में जब उस क्षेत्र में हैजे की महामारी फैली, तो उन्होंने लोगों की अनुपम सेवा की। आर्यसमाज के प्रचार के कारण ही पटनागढ़ रियासत में अछूतों के मन्दिर-प्रवेश के लिए कानून बनाया गया था। इससे लाभ उठाकर बलंगीर के आर्यसमाजियों ने वहाँ के अनेक मन्दिरों में अछूतों का प्रवेश कराया। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी उड़ीसा में बलंगीर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

बलंगीर में आर्यसमाज की स्थापना के कुछ समय पश्चात् पटनागढ़ में भी समाज स्थापित हो गया था। इसमें भी श्री धर्मानन्द और पण्डित रुद्रदेव शास्त्री का कर्तृत्त्व महत्त्व का था। इस समाज के पहले प्रधान श्री महेश्वर मेहेर और पहले मन्त्री श्री पूर्णचन्द्र पात्र थे। इस समाज के साथ एक 'आर्य युवक संघ' भी स्थापित था। सन् १९४६ की हैजा की महामारी के समय इस संघ ने जनता की प्रशंसनीय सेवा की थी। पटनागढ़ के सरकारी हॉस्पिटल के डॉक्टर ने रोगियों की परिचर्या का कार्य 'आर्य युवक संघ' को ही सौंप दिया था। महाराजा ने अपनी मन्त्रिपरिषद् में भी संघ के सेवा-कार्य की प्रशंसा की थी। बलंगीर जिले में १५ अन्य आर्यसमाज भी इस समय हैं, पर उन सबकी स्थापना सन् १९४७ के बाद के काल में हुई।

उड़ीसा के अन्य पुराने (सन् १९४७ से पहले स्थापित हुए) आर्यसमाजों में कानपुर (जिला कटक) और पोलसरा (जिला गंजाम) के समाज उल्लेखनीय हैं। कानपुर-समाज की स्थापना सन् १९२७ में हुई थी, और पोलसरा समाज की सन् १९४३ में। कानपुर समाज का अपना भवन है, जिसके साथ यज्ञशाला और कुआँ भी है। पोलसरा समाज की स्थापना श्री वेदव्रत शास्त्री द्वारा की गयी थी। वही इसके प्रथम प्रधान भी थे। इस समाज का अपना भवन है जिसके साथ यज्ञशाला तो है ही, साथ ही एक धर्मार्थ औषधालय तथा पुस्तकालय की भी सत्ता है। अछूतोद्धार, विधवा-विवाह तथा गोरक्षा के लिए यह समाज विशेष रूप से प्रयत्नशील रहा है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति (सन् १९४७) के पश्चात् उड़ीसा में आर्यसमाज के प्रचार-

प्रसार के नये युग का प्रारम्भ हुआ। इस समय वहाँ बहुत-से नये आर्यसमाज स्थापित हुए और आर्य शिक्षणालय, शोध-संस्थान एवं आश्रम भी। अनेक कर्मठ योग्य आर्य-नेता व प्रचारक भी सामने आये, जिनमें श्री प्रियव्रतदास, स्वामी धर्मानन्द सरस्वती और स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती के नाम उल्लेखनीय हैं। कलकत्ता आर्यसमाज के पदाधिकारी और विद्वान् इस राज्य में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्य संस्थाओं के विकास में विशेष रुचि लेते रहे हैं। सन् १९४७ के बाद उड़ीसा में आर्यसमाज के कार्यकलाप का एक महत्त्वपूर्ण अंग वनवासी जातियों में वैदिक धर्म का प्रचार करना तथा उन्हें ईसाइयों के प्रभाव में न आने देना रहा है। भारत में विदेशी क्रिश्चियन मिशनरी सभ्यता की दृष्टि से पिछड़ी हुई वनवासी जातियों में अपने धर्म का प्रचार करने में विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं, और इसमें उन्हें सफलता भी बहुत प्राप्त हुई है। उनका प्रतिरोध करने का यही उपाय है, कि आर्यसमाज भी उनमें कार्य करने के लिए सचेष्ट हो जाए। उड़ीसा में आर्यसमाज ने इसी कार्य पर विशेष ध्यान दिया है। अब वह समय आ चुका है, जब उड़ीसा भी आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन गया है। यह सब किस प्रकार हुआ, इसपर इस 'इतिहास' के अन्य भाग में यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

आर्यसमाज का सार्वभौम सर्वोच्च संगठन

(१) सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना

सन् १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज के जो नियम बनाये गये थे, उनमें "प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज" होने तथा अन्य समाज उसकी "शाखा-प्रशाखा" होने की व्यवस्था भी की गयी थी। पंजाब, संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश), बिहार आदि में इसी व्यवस्था के अनुसार "आर्य प्रतिनिधि सभाओं" का संगठन किया गया था। ज्यों-ज्यों आर्यसमाजों का विस्तार होता गया और उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी, यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि विविध प्रान्तों या प्रदेशों की प्रतिनिधि सभाओं के ऊपर भी एक ऐसी सर्वोच्च सभा का संगठन किया जाए, जिसका अधिकार-क्षेत्र सार्वभौम हो, और जो न केवल भारत, अपितु सम्पूर्ण संसार की आर्य प्रतिनिधि सभाओं व आर्यसमाजों का पथप्रदर्शन कर सके। आर्यसमाज के ऐसे सार्वभौम सर्वोच्च संगठन की चर्चा आर्य विद्वानों व नेताओं में उसी समय शुरू हो गयी थी, जबकि पंजाब और संयुक्त प्रान्त में आर्य प्रतिनिधि सभाओं का निर्माण हुआ था (सन् १८८६)। सन् १९०० में 'भारत धर्म महामण्डल' का एक महोत्सव दिल्ली में आयोजित किया गया था। इसी अवसर पर दिल्ली आर्यसमाज का भी उत्सव हुआ, जिसमें अन्य नगरों से भी अनेक आर्य विद्वान् सम्मिलित हुए थे। ये विद्वान् कई दिनों तक एक सार्वभौम या सार्वदेशिक आर्य संगठन के निर्माण पर विचार-विमर्श करते रहे, और अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि ऐसे संगठन के स्वरूप एवं नियमों आदि का निर्धारण करने के लिए एक अनौपचारिक समिति का निर्माण कर दिया जाए, जिसके सदस्य निम्नलिखित सज्जन हों—(१) पण्डित भगवानदीन (संयुक्त प्रान्त), (२) लाला मुंशीराम (पंजाब), (३) पण्डित बंशीधर (राजस्थान), (४) पण्डित काशीराम तिवारी (मध्यप्रदेश), (५) मुंशी नारायण प्रसाद (संयुक्त प्रान्त) और (६) लाला रामकृष्ण (पंजाब)। शुरू में इस समिति की जो बैठकें हुईं, उनमें पंजाब के सदस्यों ने यह विचार प्रस्तुत किया, कि सार्वदेशिक सभा में प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के कितने-कितने प्रतिनिधि रहें ? यह निर्धारित करते हुए न केवल विविध प्रतिनिधि सभाओं के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों की संख्या को ही दृष्टि में रखा जाए, अपितु इस बात को भी ध्यान में रखा जाए कि प्रतिनिधि सभा कितना धन सार्वदेशिक सभा को प्रदान करती है। अन्य प्रान्तों के सदस्य इस विचार से सहमत नहीं हुए। आर्थिक दृष्टि से पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा अधिक समृद्ध थी, अतः इस विचार के स्वीकृत कर लेने पर सार्वदेशिक सभा में उसके प्रतिनिधित्व में बहुत वृद्धि हो जाती। सन् १९०४ तक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर उग्र मतभेद होने के कारण दिल्ली में नियुक्त

अनौपचारिक समिति सार्वदेशिक सभा के संविधान का निर्माण कर सकने में असमर्थ रही'। इस अवधि में संविधान के अनेक प्रारूप तैयार किए गये, पर उनमें से कोई भी समिति को स्वीकार्य नहीं हुआ। सन् १६०५ के प्रारम्भ में लाला मुंशीराम ने अधिक धन देने पर अधिक प्रतिनिधित्व की बात पर जोर देना बन्द कर दिया। धन की शर्त हट जाने पर सार्वदेशिक सभा के संविधान तथा नियमावली का जो रूप तैयार किया गया, उसे पहले समिति के सदस्यों को भेजा गया और उनकी स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर उसे विचारार्थ उन सब आर्य प्रतिनिधि सभाओं की सेवा में प्रेषित किया गया, जो उस समय तक स्थापित हो चुकी थीं। जब उनकी सम्मति प्राप्त हो गयी, तो अनौपचारिक समिति की बैठक मार्च, १६०८ में गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव के अवसर पर आयोजित की गयी। उस समय गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव का बहुत महत्त्व हुआ करता था। दूर-दूर से आर्य लोग काँगड़ी आकर इस उत्सव में सम्मिलित हुआ करते थे। अतः समिति के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक आर्य नेताओं को विचार-विमर्श के लिए विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया। संविधान और नियमावली के प्रारूप पर विचार के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि समिति की अगली बैठक सितम्बर मास में आगरा में की जाए, और उसमें सार्वदेशिक सभा की स्थापना तथा नियमों आदि के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय कर लिया जाए। इस निश्चय के अनुसार २५ सितम्बर, १६०८ को समिति की जो बैठक आगरा में हुई, उसमें निम्नलिखित महानुभाव उपस्थित हुए थे—(१) पण्डित भगवानदीन, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त, (२) लाला रामकृष्ण, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, (३) मुंशी हीरालाल उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान, (४) पण्डित काशीरामतिवारी, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश, (५) बाबू मिथिलाशरण सिंह, मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा, बंगाल तथा बिहार, (६) लाला मुंशीराम, मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल काँगड़ी, (७) कुँवर हुकुमसिंह। (८) श्री रामप्रसाद, आगरा, (९) लाला नन्हेलाल, (१०) ठाकुर शिवरत्नसिंह, (११) बाबू श्यामसुन्दर लाल और (१२) बाबू शिवगोविन्दसिंह। पण्डित भगवानदीन की अध्यक्षता में हुई इस समिति ने निम्नलिखित निर्णय किये—

(१) सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि आर्यावर्तीय सार्वदेशिक सभा स्थापित की जाए।

(२) सार्वदेशिक सभा के नियमों का प्रारूप प्रस्तुत किया गया, और उसे बहुसम्मति से स्वीकृत कर लिया गया।

(३) सर्वसम्मति से निश्चय हुआ, कि निम्नलिखित महानुभावों की एक उपसमिति इस प्रयोजन से बनायी जाए कि वह नियमों को मुद्रित कराके समस्त आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पास इस आशय से भेजे कि वे आगामी माघ मास के अन्त तक अपने-अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करके भेज दें। उस समिति के सदस्य—पण्डित भगवानदीन, कुँवर हुकुम सिंह और डॉक्टर सुखदेव हों, और श्री सुखदेव इस उपसमिति के मन्त्री हों।

(४) यह भी निश्चय हुआ, कि उपर्युक्त रीति से संगठित सार्वदेशिक सभा का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में बुलाया जाए।

३१ अगस्त, १६०६ के दिन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इस सभा की स्थापना इसी दिन हुई, यद्यपि इसके नियमों आदि का

निर्धारण ११ मास पूर्व आगरा में हो चुका था। इस अधिवेशन में छह प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि सभाओं को अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए निमन्त्रित किया गया था—पंजाब, संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश), राजस्थान, बंगाल-बिहार, मध्यप्रदेश-विदर्भ और बम्बई। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के रूप में एक अन्य प्रान्तीय संगठन भी उस समय पंजाब में विद्यमान था, और उसे भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए पत्र भेजा गया था। उसके प्रतिनिधि दिल्ली आ भी गये थे, पर उन दिनों पंजाब में कॉलिज पार्टी और गुरुकुल पार्टी का विरोध इतना उग्र था, कि प्रादेशिक सभा के प्रतिनिधियों के सार्वदेशिक सभा में उपस्थित रहने की दशा में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधियों ने उसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया। इस स्थिति को देखकर प्रादेशिक सभा के प्रतिनिधि स्वयं ही अधिवेशन में उपस्थित नहीं हुए। प्रथम सार्वदेशिक सभा में पंजाब और संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभाओं को सात-सात, राजस्थान और बंगाल-बिहार की प्रतिनिधि सभाओं को चार-चार, मध्यप्रदेश की सभा को तीन और बम्बई की सभा को दो प्रतिनिधि भेजने के लिए निमन्त्रित किया गया। २१ अगस्त, १६०६ को हुए सभा के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता पण्डित भगवानदीन ने की। जब पदाधिकारियों का विधिवत् चुनाव हुआ, तो पण्डित वंशीधर शर्मा प्रधान चुने गये, और पण्डित भगवानदीन मन्त्री। पर ये दोनों केवल एक वर्ष इन पदों पर रहे। अगले वर्ष लाला (महात्मा) मुंशीराम सभा के प्रधान चुन लिये गये, और मुंशी (महात्मा) नारायण प्रसाद मन्त्री। मुंशीराम जी सात साल तक निरन्तर सभा के प्रधान रहे और नारायण प्रसाद जी ने मन्त्री की स्थिति में आठ वर्ष तक उसका संचालन किया। इस प्रकार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के विकास में इन दो महात्माओं का प्रमुख कर्तृत्व रहा, जो क्रमशः गुरुकुल काँगड़ी तथा गुरुकुल वृन्दावन के निर्माता व संचालक थे।

प्रारम्भ में केवल छह प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाएँ सार्वदेशिक सभा के साथ सम्बद्ध थीं, पर ज्यों-ज्यों भारत के अन्य प्रान्तों में प्रतिनिधि सभाओं का निर्माण होता गया, उन्हें भी सार्वदेशिक सभा में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त होता रहा और उन्हें सभा के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका और फीजी आदि अन्य देशों में जब आर्य प्रतिनिधि सभाएँ स्थापित हुईं, तो उन्हें भी सार्वदेशिक सभा के संगठन में सम्मिलित कर लिया गया, और इस प्रकार यह सभा केवल 'आर्यावर्तीय' या भारत तक सीमित न रहकर सच्चे अर्थों में "सार्वदेशिक" या "सार्वभौम" हो गयी।

सार्वदेशिक सभा में प्रारम्भ में केवल विविध प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिनिधि ही सम्मिलित होते थे, पर बाद में उसके संविधान में ऐसे संशोधन किये गये, जिनके द्वारा कतिपय अन्य प्रकार के व्यक्तियों की भी सभा के सदस्य होने की व्यवस्था की गयी —(१) जिन आर्यसमाजों के सभासदों की संख्या ५० से अधिक हो, वे अपनी आय का दशांश प्रदान करने पर सभा में अपना एक-एक प्रतिनिधि भेज सकें। (२) जो व्यक्ति ५०० रुपये या अधिक सभा को दान दें, वे आजीवन सभा के सदस्य हों। पर उनके लिए किसी समाज का "आर्य सभासद्" होना आवश्यक रखा गया। (३) सौ-सौ रुपये प्रदान करनेवाले दस आर्य सभासदों का एक प्रतिनिधि। (४) विशिष्ट योग्यता को दृष्टि में रखकर सार्वदेशिक सभा जिन व्यक्तियों को अपना "प्रतिष्ठित सभासद्" निर्वाचित करे, पर ऐसे सभासदों की संख्या अन्य प्रकार के सभासदों के आठवें भाग से

अधिक नहीं होनी चाहिये। ५० से अधिक सभासद् होने के कारण सन् १९२७ में खुर्जा, गाजियाबाद, बरेली और देहली (चावड़ी बाजार) के समाजों को एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया, और बाद में बगदाद (१९३०), देहली-शाहदरा (१९३३), मद्रास (१९३४), मंगलौर (१९३५) और बंगलौर (१९३६) के समाजों को। ५०० रु० प्रदान कर जो सज्जन सार्वदेशिक सभा के आजीवन सदस्य बने उनमें लाला वेदमित्र जिज्ञासु (१९२५), लाला ज्ञानचन्द्र ठेकेदार (१९३०), बाबू ज्योतिस्वरूप (१९३९), पण्डित चमूपति और दीवान तुलजाराम (१९३६) के नाम उल्लेखनीय हैं। विशिष्ट योग्यता के आधार पर स्वामी नित्यानन्द, डॉक्टर श्यामस्वरूप, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा नारायण स्वामी, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, पण्डित घासीराम, पण्डित गंगाप्रसाद, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी आनन्द-भिक्षु आदि कितने ही आर्य विद्वानों, संन्यासियों और नेताओं को समय-समय पर सार्वदेदिक सभा का प्रतिष्ठित सभासद् निर्वाचित किया गया। २५ अगस्त, सन् १९१४ को सार्वदेशिक सभा की वैध रूप से रजिस्ट्री करा दी गयी थी।

संशोधित नियमावली (सन् १९२६) के अनुसार सार्वदेशिक सभा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(१) वैदिक धर्म के योग्य उपदेशक बनाने के लिए एक महाविद्यालय स्थापन करना। (२) आर्यावर्त तथा अन्य देश-देशान्तरों में आवश्यकता-नुसार वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबन्ध करना। (३) प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करना तथा उनके पारस्परिक विवादों और उनके विरुद्ध पुनर्निवेदनों (अपीलों) का अन्तिम निर्धारण करना। (४) ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों की वास्तविक लिपि के अनुसार उनकी यथातथ्य रक्षा करना और इस बात पर दृष्टि रखना कि उनमें कोई भाग प्रक्षिप्त तो प्रवेश नहीं किया गया। (५) धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों का एक वृहत् पुस्त-कालय सर्वसाधारण के लाभार्थ स्थापित करना। (६) वैदिक धर्म की उन्नति तथा वृद्धि और रक्षा के उपायों को प्रयोग में लाना। इन उद्देश्यों में तीसरा उद्देश्य विशेष महत्त्व का है, क्योंकि उस द्वारा सार्वदेशिक सभा की सर्वोच्च सार्वभौम सत्ता परिलक्षित होती है, और उसे अपनी इस सर्वोपरि स्थिति को क्रियान्वित करने का अधिकार भी प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को पूरा करने के लिए विविध प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाएँ जो प्रयत्न कर रही हों, उनसे सहयोग स्थापित करना और उनके पारस्परिक विवादों का अन्तिम निर्णय करना ऐसे कार्य हैं, जो सार्वदेशिक सभा के क्षेत्र में हैं और जिनके कारण आर्यसमाज के संगठन में उसकी स्थिति सर्वोपरि हो जाती है। अन्य उद्देश्य ऐसे हैं, जो विविध प्रान्तीय सभाओं एवं परोपकारिणी सभा के उद्देश्यों के भी अन्तर्गत हैं।

(२) सार्वदेशिक सभा की प्रगति (१९०९-१९३६)

सन् १९०९ में जब सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि की स्थापना हुई थी, केवल छह प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएँ विद्यमान थीं, और उन्हीं के प्रतिनिधि इस सभा के सदस्य थे। सन् १९२२ में सिन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा, और सन् १९३५ में हैदराबाद की प्रतिनिधि सभा सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित हुई। सन् १९३० में बंगाल में बिहार से पृथक् प्रति-निधि सभा का संगठन किया गया। मारीशस, फीजी, दक्षिणी अफ्रीका और ब्रिटिश पूर्वी

अफ्रीका में भी सन् १९३६ तक आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हो गयी थी। इस प्रकार सन् १९३७ के प्रारम्भ तक देश-विदेश में विद्यमान १३ प्रतिनिधि सभाएँ सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध थीं जिसके कारण इस सभा का स्वरूप पर्याप्त रूप से सार्वभौम हो गया था।

प्रारम्भ में सार्वदेशिक सभा का कार्यालय दिल्ली में लाल किले के परेड मैदान के सामने एस्प्लेनेड रोड पर एक तिमंजिले मकान में था, जिसके स्वामी लाला ज्योतिप्रसाद थे। उन्होंने वसीयतनामे द्वारा उसे बेचने आदि का पूरा अधिकार अपनी पत्नी श्रीमती जानकी देवी जी को दे दिया था। १५ फरवरी, सन् १९१५ को जानकीदेवी जी ने हिब्बेनामा द्वारा यह मकान सार्वदेशिक सभा को प्रदान कर दिया। सभा के कार्यालय के अतिरिक्त इस मकान में 'ज्योति पाठशाला' के नाम से एक पाठशाला भी कई वर्षों तक चलती रही, जिसे बाद में विद्यार्थियों की कमी के कारण बन्द कर देना पड़ा। सभा का कार्यालय भी लाला ज्योतिप्रसाद के मकान में देर तक कायम नहीं रहा। २६ दिसम्बर, सन् १९२६ को दिल्ली के नया बाजार में स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान हुआ। जिस इमारत में एक पथभ्रष्ट मुसलमान ने स्वामी जी की हत्या की थी, वह सेठ रग्घूमल ट्रस्ट की सम्पत्ति थी। आर्य जनता की दृष्टि में इस इमारत का ऐतिहासिक महत्त्व था, क्योंकि इसमें स्वामी जी ने धर्म के लिए अपने प्राणों की बलि दे दी थी। सन् १९३३ में सार्वदेशिक सभा ने इस इमारत को ट्रस्ट से खरीद लिया, और उसका नाम 'श्रद्धानन्द बलिदान भवन' रख दिया। सभा का कार्यालय भी इसी भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया।

सन् १९३६ तक सार्वदेशिक सभा का संचालन प्रधानतया महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), महात्मा नारायण प्रसाद (श्री नारायण स्वामी), आचार्य रामदेव, डॉक्टर केशव देव शास्त्री और लाला नारायणदत्त ठेकेदार के हाथों में रहा। इस काल में महात्मा मुंशीराम और महात्मा नारायण स्वामी अनेक वर्षों तक सभा के प्रधान रहे। सन् १९२३ के अतिरिक्त १९२१ से १९३५ तक उपप्रधान का पद आचार्य रामदेव के हाथों में रहा और १९२१ से १९३३ तक कोषाध्यक्ष के पद पर लाला नारायणदत्त की नियुक्ति होती रही। लाला नारायणदत्त दो वर्ष सभा के मन्त्री भी रहे। सन् १९१० से १९१७ तक महातमा नारायण प्रसाद ने मन्त्री के रूप में कार्य किया था। इसके पश्चात् केवल डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ही ऐसे व्यक्ति थे, जो चिरकाल (१९२३ से १९२८ तक) मन्त्री के पद पर रहे। कुँवर हुकम सिंह, स्वामी आनन्दभिक्षु और प्रोफेसर सुधाकर समय-समय पर सभा के मन्त्री चुने जाते रहे। दिल्ली के एक अन्य सम्पन्न ठेकेदार लाला ज्ञानचन्द भी अनेक वर्ष (सन् १९२६ से १९३७ तक) पुस्तकाध्यक्ष के रूप में सभा के पदाधिकारी रहे। जिन अन्य सज्जनों ने विविध पदाधिकारियों की स्थिति में सभा के संचालन तथा प्रगति में विशेष रूप से योगदान दिया, उनमें बाबू गुलराज गोपाल गुप्त, पण्डित घासीराम, पण्डित गंगा प्रसाद, बाबू घनश्यामसिंह गुप्त, स्वामी स्वतन्त्रानन्द और बाबू श्रीराम के नाम उल्लेखनीय हैं।

ज्यों-ज्यों भारत तथा विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में वृद्धि होती गयी, सार्वदेशिक सभा के सदस्यों की संख्या भी बढ़ती गयी, और उसका महत्त्व भी अधिक-अधिक होता गया, क्योंकि आर्यसमाज के संगठन में उसका सर्वोपरि स्थान है। साथ ही,

उसका कार्यकलाप भी विस्तृत हो गया। ऐसे प्रदेशों में, जहाँ आर्य प्रतिनिधि सभाएँ नहीं थीं सार्वदेशिक सभा द्वारा ही वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना के लिए उद्योग किया जाने लगा। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्रारम्भ में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा को सार्वदेशिक सभा में प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सका था, क्योंकि पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा उसके विरोध में थी। इस विरोध का कारण मांस-भक्षण के सम्बन्ध में पंजाब के आर्यसमाजियों में मतभेद था, और मुख्यतया इसी के आधार पर वहाँ दो पार्टियों तथा दो प्रान्तीय संगठनों (प्रतिनिधि सभाओं) का निर्माण हो गया था। पर कुछ समय के पश्चात् प्रादेशिक सभा के नेताओं ने न केवल मांस-भक्षण का समर्थन करना बन्द कर दिया था, अपितु वे यह भी स्वीकार करने लग गये थे कि मांस-भक्षण का वेदों में विधान नहीं है। इसीलिए आर्यसमाज बाजार सीताराम (दिल्ली) के एक प्रश्न के उत्तर में ९ अक्टूबर, सन् १९१८ को प्रादेशिक सभा के मन्त्री महोदय ने लिखा था, कि "मांस-भक्षण के विषय में हमारी सभा का सिद्धान्त वही रहा है और अब भी वही है जो स्वामी दयानन्द जी महाराज का है, अर्थात् मांस-भक्षण वेदानुकूल नहीं है।" इस पत्र के प्रकाशित होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि जब मांस-भक्षण के सम्बन्ध में प्रादेशिक सभा का वही मत है जो अन्य प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं का है, तो सार्वदेशिक सभा में उसे प्रतिनिधित्व प्रदान करने में क्या बाधा है? इसपर पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा यह कहा गया, कि मांस-भक्षण के विषय में प्रादेशिक सभा ने कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की है। उसे अपनी अन्तरंग सभा में स्पष्ट रूप से इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार करना चाहिये, कि "मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध और पाप है और मांस-भक्षण करनेवाले को समाज में कोई स्थान (अधिकार) न दिया जाए।" प्रादेशिक सभा के मन्त्री ने यह बात स्वीकार की, कि अब तक उनकी सभा द्वारा मांस-भक्षण के पक्ष या विपक्ष में कोई प्रस्ताव स्पष्ट व सुनिश्चित रूप से स्वीकृत नहीं किया गया है, और जो पत्र सभा द्वारा सीताराम बाजार के आर्यसमाज को लिखा गया था, वह सभा द्वारा औपचारिक रूप से स्वीकृत प्रस्ताव नहीं था। इसपर सार्वदेशिक सभा ने प्रादेशिक सभा के मन्त्री को यह लिखा कि वह अपनी अन्तरंग सभा में मांस-भक्षण के वेद-विरुद्ध होने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार कराएँ। ९ जनवरी, सन् १९३२ को प्रादेशिक सभा की अन्तरंग सभा में सार्वदेशिक सभा के पत्र पर विचार कर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा का पत्र पढ़ा गया। निश्चय हुआ, कि यदि उक्त (सार्वदेशिक) सभा की अन्तरंग सभा प्रस्ताव द्वारा निश्चय दिलाए कि मांस के विषय में हमारी सभा ने जो घोषणा कर रक्खी है, उसको कन्फर्म (पुष्ट) करना एफिलियेशन (सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित होने) के लिए पर्याप्त होगा, तो उस घोषणा को हमारी सभा कन्फर्म करती है।" इस प्रस्ताव में जिसे 'घोषणा' कहा गया है, उससे वही मन्तव्य अभिप्रेत है जिसे प्रादेशिक सभा के मन्त्री ने सीताराम बाजार आर्यसमाज को लिखे पत्र में प्रकट किया था। प्रादेशिक सभा के इस प्रस्ताव पर विचार-विमर्श कर २० अक्टूबर, सन् १९३३ के अधिवेशन में सार्वदेशिक सभा ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि "यह सभा निश्चय करती है कि यदि प्रादेशिक सभा की अन्तरंग सभा ९ अक्टूबर, १९१८ के पत्र की घोषणा को, जो सभा के मन्त्री ने आर्यसमाज बाजार सीताराम देहली को लिखा था, प्रस्ताव के रूप में पास कर

देवे, तो प्रादेशिक सभा को सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित कर लिया जाए।" पर सन् १९३६ तक प्रादेशिक सभा सार्वदेशिक सभा के साथ सम्बद्ध नहीं हुई थी, और वह आर्यसमाज के इस सर्वोपरि सार्वभौम संगठन से स्वतन्त्र थी। पर प्रादेशिक सभा को आर्यसामाजिक जगत् में समुचित व सम्मानास्पद स्थान प्राप्त होता जा रहा था। यही कारण है, कि जब सार्वदेशिक सभा द्वारा सन् १९२७ में दिल्ली में प्रथम सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया गया, तो उसका अध्यक्ष प्रादेशिक सभा के संस्थापक और उन्नायक महात्मा हंसराज को बनाया गया।

(३) सार्वदेशिक सभा का कार्यकलाप : धर्म-प्रचार

सन् १९३६ तक सार्वदेशिक सभा को वह महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं हुई थी, जो उसकी वर्तमान समय में है। पर उस द्वारा अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में विविध प्रकार के ऐसे कार्य प्रारम्भ कर दिये गये थे, जिनके कारण उसके महत्त्व एवं प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का क्षेत्र प्रायः उत्तरी भारत तक सीमित था, और वहाँ भी असम तथा उड़ीसा सदृश प्रदेशों में उसका प्रभाव नगण्य-सा ही था। जहाँ तक दक्षिणी भारत का सम्बन्ध है, उसके विविध प्रदेशों में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों व शिक्षाओं का अभी प्रवेश भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। सार्वदेशिक सभा का ध्यान इस बात की ओर गया, और उसने इन प्रदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। सार्वदेशिक सभा की स्थापना के समय बिहार और बंगाल की सम्मिलित प्रतिनिधि सभा थी। बाद में (मार्च, १९३०) इन दोनों की प्रतिनिधि सभाएँ पृथक् हो गयीं, और असम को बंगाल प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत कर दिया गया। इसी समय उड़ीसा के आर्यसमाजों को बिहार प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के इस नये संगठन के कारण असम में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार की उत्तरदायिता बंगाल प्रतिनिधि सभा पर आ गयी, और उड़ीसा में बिहार प्रतिनिधि सभा पर। इस दशा में असम और उड़ीसा में धर्म-प्रचार के कार्य पर सार्वदेशिक सभा को ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह गयी, और उसने अपनी सब शक्ति दक्षिणी भारत पर केन्द्रित करने का निश्चय किया। सन् १९१७ में सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा का एक अधिवेशन हुआ, जिसमें दक्षिणी भारत में धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में बरमा की आर्यप्रतिनिधि सभा के एक पत्र पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"मद्रास में प्रचार के सम्बन्ध में विचार किया गया और २३ जनवरी, १९१७ का आर्यप्रतिनिधि सभा बरमा का पत्र पढ़ा गया। सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि मद्रास में प्रचार के कार्य को सभा अपने हाथ में ले ले और आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा सर्वसाधारण से धन की अपील की जाए। १८०० रुपये के व्यय की स्वीकारी बजट में बढ़ा देने की साधारण सभा से प्रार्थना की जाए। किसी योग्य व्यक्ति की तलाश का उद्योग किया जाए। समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिया जाए।" यद्यपि सार्वदेशिक सभा ने दक्षिणी भारत में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था, पर चार-पाँच वर्ष तक इस सम्बन्ध में कोई कार्य नहीं किया जा सका। न सुयोग्य प्रचारक की व्यवस्था की जा सकी, और न उसके लिए धन ही एकत्र हुआ। फिर भी सभा ने अपने प्रयत्न को जारी रखा, और सन्

१९२३ में उसे दो प्रचारक दक्षिणी भारत भेजने में सफलता प्राप्त हो गयी। दक्षिणी-भारत में चार प्रदेश हैं—मद्रास (तमिलनाडु), आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और केरल। इन चारों की भाषाएँ क्रमशः तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम हैं। सभा द्वारा मद्रास और आन्ध्र में कार्य करने के लिए पण्डित केशवदेव ज्ञानी को नियुक्त किया गया, और कर्नाटक तथा केरल में पण्डित धर्मदेव को। ये दोनों गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक थे, और धर्म-प्रचार के लिए उनमें अनुपम उत्साह था। उन्होंने स्थानीय भाषाएँ सीखकर प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया, और अनेक नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना की। सन् १९२२-२३ में स्वामी श्रद्धानन्द सार्वदेशिक सभा के प्रधान थे। उन्हीं की प्रेरणा से पण्डित केशवदेव और पण्डित धर्मदेव ने सुदूर दक्षिण में धर्म-प्रचार के लिए जाना स्वीकार किया था। स्वामीजी की अपनी भी इच्छा थी, कि इन प्रदेशों में जाकर आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार करें। मद्रास के नेताओं के साथ स्वामीजी का सम्पर्क भी विद्यमान था। अमृतसर-कांग्रेस के अवसर पर श्री विजय राघवाचार्य और श्री कस्तूरीरंग आयंगर सदृश नेताओं से उनका परिचय हो गया था, और उन्होंने स्वामीजी को मद्रास आने का निमन्त्रण भी दिया था। दक्षिणी भारत की समस्याओं के प्रति भी स्वामीजी का ध्यान था। सन् १९२४ में जब कावेरी नदी में भयंकर बाढ़ आ जाने के कारण लोगों को भारी क्षति उठानी पड़ी, तो स्वामीजी ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए धन की अपील की, जिस पर पचास हजार के लगभग धनराशि एकत्र हो गयी। इस धन को लेकर पण्डित सत्यकेतु विद्यालंकार को त्रिचनापल्ली भेजा गया, और वहाँ जाकर उन्होंने बाढ़-पीड़ित लोगों के पुनर्वास के लिए अनेक केन्द्र स्थापित किये। यह सहायता-कार्य सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में ही किया गया था। सन् १९२५ में स्वामीजी की दक्षिणी भारत में धर्म-प्रचार की इच्छा पूर्ण हुई, और वह अनेक स्थानों पर व्याख्यान देते हुए ६ मई को मद्रास पहुँच गये। इस प्रदेश की सबसे गम्भीर समस्या अस्पृश्यता की थी। स्वामीजी ने मद्रास की जनता का इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया, और दलितों के उद्धार के लिए लोकमत को तैयार किया। स्वामीजी की प्रचार-यात्रा द्वारा उस कार्य को बहुत बल मिला, जिसे पण्डित केशवदेव और पण्डित धर्मदेव दक्षिणी भारत में शुरू कर चुके थे। वर्तमान समय में आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु—सर्वत्र आर्यसमाज स्थापित हैं, और इन प्रदेशों में प्रतिनिधि सभाओं की भी सत्ता है। इस सुदूरवर्ती क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का जो कार्य हुआ है उसका प्रारम्भ सन् १९२३ में सार्वदेशिक सभा द्वारा ही किया गया था। सभा द्वारा नियुक्त प्रचारकों ने अंग्रेजी तथा स्थानीय भाषाओं में अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं, जिनसे वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। उन द्वारा शुद्धि के लिए भी सफल प्रयत्न किया गया। सन् १९३६ तक पण्डित केशवदेव द्वारा १५ और पण्डित धर्मदेव द्वारा १४ समाजों की दक्षिणी भारत में स्थापना की जा चुकी थी।

सुदूर दक्षिण में वैदिक धर्म के प्रचार के साथ ही सार्वदेशिक सभा का ध्यान विदेशों में धर्म-प्रचार की ओर भी गया। दक्षिणी अफ्रीका, मारीशस, पूर्वी अफ्रीका, फीजी, सुरीनाम आदि में भी आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार किस प्रकार और किन महानुभावों के प्रयत्न से हुआ, इसपर इस 'इतिहास' में पृथक् रूप से प्रकाश डाला गया है। पर इस सम्बन्ध में सार्वदेशिक सभा द्वारा जो प्रयत्न किया गया, उसका यहाँ संक्षिप्त

उल्लेख सभा के कार्यकलाप पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक है। सन् १६३३ में अमेरिका के शिकागो नगर में 'वर्ल्ड फेलोशिप आफ फेथ्स' (World Fellowship of Faiths) नामक संस्था द्वारा एक विश्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसमें विश्व के विविध धर्मों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। सार्वदेशिक सभा ने निश्चय किया, कि आर्यसमाज का भी एक प्रतिनिधि इस सम्मेलन में भेजा जाए। इसके लिए प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पण्डित अयोध्याप्रसाद को चुना गया। उन्होंने शिकागो जाकर जो योग्यतापूर्ण भाषण दिये, उनसे वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप की ओर अमेरिका के विद्वत्समाज का ध्यान आकृष्ट हुआ, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं व मन्तव्यों के प्रति लोगों में जिज्ञासा का प्रादुर्भाव हुआ। सम्मेलन की समाप्ति पर उसके मन्त्री श्री चार्ल्स फ्रेडरिक वेल्लर ने जो पत्र सार्वदेशिक सभा के मन्त्री को भेजा था, उससे यह भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है कि पण्डित अयोध्याप्रसाद के भाषणों से सम्मेलन में उपस्थित लोग किस प्रकार प्रभावित हुए थे। पत्र यह था— 'प्रियवर मन्त्री महोदय, नमस्ते। मान्य पण्डित अयोध्याप्रसाद बी० ए० को विश्व-धर्म-सम्मेलन शिकागो के अधिवेशन में भेजने के लिए आपको तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आपके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद। पण्डित जी ने सम्मेलन की बैठकों में कई भाषण दिये। उनके भाषण खोजपूर्ण तथा प्रभावशाली थे। अनेक बैठकों के कार्य का प्रारम्भ उन्होंने वैदिक ऋचाओं के सस्वर सुन्दर पाठ तथा ओजस्वी प्रार्थनाओं के साथ कराया। सम्मेलन की बैठकों और गोष्ठियों में तथा व्यक्तिगत रूप से वार्तालाप में उन्होंने जो परामर्श दिये वे बहुत उत्तम थे।···अब चूँकि वह लम्बी यात्रा करके शिकागो आये हैं, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह कुछ अधिक समय यहाँ ठहरें, और विविध सभाओं में व्याख्यान दें, हमारी अमेरिकन संस्थाओं से परिचय प्राप्त करें, और आपके महान् आन्दोलन के स्वरूप और उपलब्धियों से हमें परिचित कराएँ।" यह पत्र प्राप्त होने पर सार्वदेशिक सभा ने पण्डित अयोध्याप्रसाद को धर्म-प्रचार के लिए एक वर्ष अमेरिका में रहने की अनुमति प्रदान कर दी। अमेरिका की अनेक संस्थाओं और सभा-सोसायटियों ने पण्डित जी को वैदिक धर्म पर व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया। एक अमेरिकन यूनिवर्सिटी के तुलनात्मक धर्म के प्रोफेसर चार्ल्स बरेडिन पण्डित जी के व्याख्यानों तथा वेदार्थ करने की उनकी शैली से इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने तुलनात्मक धर्म की पाठ-विधि में आर्यसमाज को भी सम्मिलित कर लिया, और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन पर उनकी व्याख्यानमाला करायी। पण्डित अयोध्याप्रसाद ने अपनी विद्वत्ता से अमेरिका के सुशिक्षित नर-नारियों को बहुत प्रभावित किया, और उनमें वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति रुचि उत्पन्न की। छह मास के लगभग अमेरिका (संयुक्त राज्य अमेरिका) में वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति का प्रचार कर पण्डित अयोध्याप्रसाद दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी क्षेत्र में स्थित उन उपनिवेशों में गये, जहाँ भारतीय लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए थे। ये उपनिवेश त्रिनिडाड, डच गुयाना और ब्रिटिश गुयाना थे, जिनमें प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीयों को मजदूरी के लिए ले-जाया गया था। इनमें आर्यसमाज का पहले से ही कुछ प्रचार था, पर पण्डित अयोध्याप्रसाद के योग्यतापूर्ण व्याख्यानों से वहाँ के आर्यसमाजियों को बहुत बल मिला और आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता प्राप्त हुई। त्रिनिडाड में अयोध्याप्रसाद जी ने तीन सौ के लगभग

ईसाइयों और मुसलमानों की शुद्धि की, जिनमें वाजिद अली तथा सोहराव खाँ नामक दो सम्पन्न व सुशिक्षित व्यक्ति भी थे। उनके नये नाम सत्यपाल और सत्यदेव रखे गये। मुसलमानों ने इनकी शुद्धि का उग्र रूप से विरोध किया, पर ये अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ता बन गये। गुयाना (डच और ब्रिटिश) में भी पण्डित अयोध्याप्रसाद को अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और उनके प्रचार से आर्यसमाज की जड़ें वहाँ वहुत सुदृढ़ हो गयीं। अमेरिकन महाद्वीप के विविध द्वीपों व उपनिवेशों में आर्य-समाज के प्रचार-प्रसार पर इस ग्रन्थ में पृथक् रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ उनका उल्लेख केवल यह प्रदर्शित करने के लिए ही किया गया है कि विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार में सार्वदेशिक सभा का कर्तृत्व भी महत्त्व का था।

(४) सार्वदेशिक सभा का कार्यकलाप : पुस्तक-प्रकाशन तथा अनुसन्धान-विभाग

प्रचार का एक सशक्त साधन पुस्तकों, पुस्तिकाओं तथा समाचार-पत्रों का प्रकाशन है। सार्वदेशिक सभा ने इस ओर भी ध्यान दिया। सन् १९२५ में शिवरात्रि के अवसर पर महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्मशताब्दी मथुरा में मनायी जानी थी। उस समय यह आवश्यकता अनुभव की गयी थी, कि आर्यसमाज-विषयक साहित्य का व्यापक रूप से प्रचार किया जाना चाहिये। इस बात को दृष्टि में रखकर शताब्दी-महोत्सव के पूर्व १७ जून, १९२४ के अधिवेशन में सार्वदेशिक सभा ने साहित्य के प्रकाशन के लिए 'प्रकाशन विभाग' की स्थापना का निश्चय किया और हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया। इनमें सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत अनुवाद, वैदिक-सिद्धान्त, आर्य पर्व पद्धति, वैदिक टीचिंग्स (अंग्रेजी में) और 'आर्यसमाज क्या है?' विशेष महत्त्व की थीं। ये पुस्तकें जन्म-शताब्दी के समय तक शताब्दी-सभा के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो गयी थीं, और विक्रय से जो पुस्तकें शेष रह गयी थीं, उन्हें सार्वदेशिक सभा के प्रकाशन-विभाग के सुपुर्द कर दिया गया था। इस प्रकार महर्षि-जन्म-शताब्दी मथुरा के पश्चात् सार्वदेशिक सभा ने पुस्तकों के विक्रय तथा प्रकाशन का जो कार्य प्रारम्भ किया, वह निरन्तर उन्नति करता गया और सभा द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया। सन् १९३६ तक सभा के प्रकाशन-विभाग द्वारा जो पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं, उनमें आर्य सिद्धान्त विमर्श, दयानन्द सिद्धान्त भास्कर, विदेशों में आर्यसमाज, दयानन्द जन्म शताब्दी वृत्तान्त, यमपितृ परिचय और वैदिक सन्ध्या रहस्य विशेष महत्त्व की थीं।

६ फरवरी, १९२७ को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने एक मासिक पत्र भी प्रकाशित करने का निश्चय किया। इस समय तक सभा को स्थापित हुए १८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे, पर उसका कोई अपना पत्र नहीं था। अपने कार्यकलाप आदि के सम्बन्ध में उसे जनता को जो सूचनाएँ देनी होती थीं, उनके लिए परिपत्रों (सर्क्युलरों) का आश्रय लिया जाता था जिनपर डाक-व्यय का बहुत खर्च पड़ जाता था। परिपत्रों द्वारा प्रचार कर सकना तो सम्भव ही नहीं था। अतः सभा ने 'सार्वदेशिक' नाम से एक मासिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। उसका वार्षिक मूल्य दो रुपये रखा गया। पत्र के प्रकाशन में व्यय अधिक न हो, इस बात को ध्यान में रखकर उसके लिए किसी वैतनिक सम्पादक की नियुक्ति नहीं की गयी। ग्राहक कम होने से उसे निरन्तर घाटा ही होता

रहा। पर क्योंकि प्रचार का वह उपयुक्त साधन था, अतः घाटा सहकर भी सभा ने उसके प्रकाशन को जारी रखा।

सार्वदेशिक सभा ने इस बात की आवश्यकता भी अनुभव की, कि एक ऐसा अनुसन्धान-विभाग खोला जाना चाहिये, जिसका कार्य वैदिक सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखवाना और वैदिक शोध करवाना हो और जिस द्वारा उन पुस्तकों का खण्डन भी किया जाए जो आर्यसमाज के विरुद्ध लिखी गयी हों। इसीलिये १५ दिसम्बर, १९२९ को सभा की अन्तरंग सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"यह विषय पेश हुआ कि सार्वदेशिक सभा आर्यसमाज के विरुद्ध लिखी हुई पुस्तकों के उत्तर देने तथा वैदिक सिद्धान्तों पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखवाने तथा अन्य अन्वेषण करने से सम्बन्धित विभाग खोले। विचार के बाद उपर्युक्त विभाग का खोलना निश्चित हुआ और यह निश्चय हुआ कि स्वामी वेदानन्द जी से प्रार्थना की जाए कि वे अपना हैडक्वार्टर देहली बनाएँ और इस विभाग को अपने चार्ज में रखें।" पर स्वामी वेदानन्द दिल्ली नहीं आ सके और इसी कारण इस प्रस्ताव को क्रियान्वित कर सकना सम्भव नहीं हुआ। इस-पर बाबू श्यामसुन्दर लाल ने १२ नवम्बर, १९३० को एक पत्र लिखकर सभा का ध्यान अनुसन्धान-विभाग की स्थापना की ओर आकृष्ट किया। २३ नवम्बर को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने इस पत्र पर विचार कर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—"सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि वैदिक सिद्धान्तों के विषय में समय-समय पर जो सन्देह उठते रहते हैं, उनपर पूर्णतया विचार और अनुसन्धान करने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत ऐसी संस्था (एकेडेमी) कायम की जाए जो सिद्धान्तों पर विचार करे और उसके सामने आर्यसमाज के सारे विद्वानों को यह अवसर मिले कि वे अपनी-अपनी शंकाएँ और विचार उपस्थित कर सकें। इस संस्था को कायम करने की विस्तृत स्कीम श्री पण्डित धर्मेन्द्रनाथ जी आगामी अन्तरंग सभा में प्रस्तुत करें।" पण्डित धर्मेन्द्रनाथ गुरुकुल वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक थे। उन्होंने प्रस्तावित संस्था की योजना तैयार कर ली, और मार्च, १९३१ में उसे अन्तरंग सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। सभा ने निश्चय किया, कि तीन सज्जनों की एक उपसभा बनायी जाए, जो प्रस्तुत योजना और उसपर आये हुए सुझावों पर विचार कर एक ऐसी क्रियात्मक योजना तैयार करे, जिसका कार्य पाँच हजार रुपये एकत्र हो जाने पर प्रारम्भ किया जा सके। उस सभा के सदस्य निम्नलिखित सज्जन थे—बाबू श्यामसुन्दर लाल (संयोजक), स्वामी स्वतन्त्रानन्द और पण्डित घासीराम। इस उपसभा द्वारा तैयार की गयी योजना के अनुसार अनुसन्धान-विभाग का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया, और पण्डित प्रियरत्न आर्ष द्वारा एक शोधग्रन्थ लिखवाया गया जिसका नाम 'यम पितृ परिचय' था। वेदों के जिन मन्त्रों में यम और पितर शब्द आये हैं, पण्डित प्रियरत्न जी ने उनका संग्रह कर महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली से उनका अर्थ किया और युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि इन मन्त्रों में पितृ-तर्पण या मृतक श्राद्ध का विधान नहीं है। इस पुस्तक का विद्वानों द्वारा हार्दिक स्वागत किया गया, और सार्वदेशिक सभा के अनुसन्धान-विभाग का कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ हो गया। पर पण्डित प्रियरत्न जी द्वारा शुरू किया गया गम्भीर कार्य जारी नहीं रह सका। सन् १९३३ में महर्षि दयानन्द-निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी उत्सव अजमेर में मनाया गया। इस अवसर पर दो सौ से अधिक आर्य विद्वानों ने इस आशय

का आवेदन-पत्र सार्वदेशिक सभा के सम्मुख उपस्थित किया कि चारों वेदों का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद कराके प्रकाशित करने के महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेना स्वीकार करें। १० दिसम्बर, १९३३ को सभा ने इस आवेदन-पत्र पर विचार कर यह निर्णय किया, कि सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द से परामर्श कर वेदों के हिन्दी अनुवाद की योजना तैयार करें और उसे अगले अधिवेशन में प्रस्तुत करें। पर यह निर्णय अभी क्रियान्वित नहीं हुआ था कि पंजाब और उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभाओं की ओर से यह घोषणा कर दी गयी कि उन्होंने एक-एक वेद का हिन्दी में अनुवाद कराना प्रारम्भ कर दिया है। इस दशा में सार्वदेशिक सभा द्वारा इन प्रतिनिधि सभाओं को यह लिखा गया, कि वेदों के अनुवाद सदृश महान् कार्य को परस्पर सहयोग से सम्पादित करना ही उचित होगा। साथ ही, उनसे यह भी पूछा गया, कि भविष्य में उनकी सम्मति में किस प्रकार यह कार्य किया जाना चाहिये? प्रतिनिधि सभाओं ने इसके जो उत्तर भेजे, उनपर २६ जनवरी, सन् १९३६ को सभा की अन्तरंग सभा ने विचार कर यह निश्चय किया कि इस मामले में उचित कार्यवाही करने के लिए महात्मा नारायण स्वामी, आचार्य रामदेव और स्वामी स्वतन्त्रानन्द की एक उपसभा बना दी जाए। पर इस बीच पंजाब तथा उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभाओं ने वेदों के अनुवाद के काम को जारी रखा। अब सार्वदेशिक सभा के सम्मुख केवल यह मार्ग रह गया, कि जबतक इन सभाओं द्वारा तैयार कराये गये अनुवाद प्रकाशित न हो जाएँ, सभा कोई अन्य अनुवाद न कराये। इस प्रकार आर्यसमाज की सर्वोच्च सभा ने वेदों के जिस हिन्दी अनुवाद की योजना स्वीकार की थी, उसे उसने स्थगित कर दिया और प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएँ अपने प्रस्तावित अनुवाद को पूरा नहीं कर सकीं। परिणाम यह हुआ, कि १९३६ तक वेदों के अनुवाद का कार्य न प्रतिनिधि सभाओं द्वारा किया गया, और न सार्वदेशिक सभा द्वारा।

(५) आर्यसमाज के व्यापक क्षेत्र में सार्वदेशिक सभा का नेतृत्व

प्रथम आर्य महासम्मेलन दिल्ली

आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र किसी एक नगर, प्रदेश व देश तक ही सीमित नहीं है; वह एक सार्वभौम आन्दोलन है। अतः यह स्वाभाविक ही था, कि उसके संगठन में स्थानीय व प्रान्तीय सभाओं की तुलना में सार्वदेशिक सभा के महत्त्व में वृद्धि होती जाए। आर्यसमाज के विविध-कार्यों में अनेक ऐसे थे, जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण आर्यजगत् के साथ था। इनका सम्पादन सार्वदेशिक सभा सदृश सर्वोपरि व सार्वभौम सभा द्वारा किया जाना ही उचित था। यही कारण है, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म-शताब्दी-महोत्सव सार्वदेशिक सभा के नेतृत्व में मनाया गया (सन् १९२५)। उसके लिए जिस जन्म-शताब्दी-सभा का निर्माण किया गया, उसके सबसे अधिक सदस्य सार्वदेशिक सभा द्वारा मनोनीत थे। यह जन्म-शताब्दी मथुरा में मनायी गयी थी। अबतक महर्षि के जन्म-स्थान का भलीभाँति निर्धारण नहीं हुआ था। उसके सम्बन्ध में अनेक मत थे। पर जब आचार्य रामदेव तथा स्वामी सत्यानन्द सदृश आर्य विद्वानों ने युक्तिसंगत रूप से यह प्रतिपादित कर दिया, कि महर्षि का जन्म टंकारा में हुआ था, तो सार्वदेशिक सभा द्वारा वहाँ भी जन्म-शताब्दी-महोत्सव मनाये जाने का निश्चय किया गया, और उसके अनुसार

फरवरी, १९२६ में वहाँ शताब्दी मनायी भी गयी। इन महोत्सवों का विवरण इस ग्रन्थ में अन्यत्र यथास्थान दिया गया है। पर इसमें सार्वदेशिक सभा का जो महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा, उससे यह स्पष्ट हो गया कि अब इस सभा ने आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह नेतृत्व प्राप्त कर लिया है, जिसकी यह अधिकारिणी थी।

आर्यसमाज द्वारा भारत में जो सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की जा रही थी, जिस प्रकार अपने देश व धर्म के अतीत गौरव का स्मरण करा जनता में स्फूर्ति व उत्साह का संचार किया जा रहा था, जिस प्रकार स्वदेश और अपनी भाषा के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव किया जा रहा था, और जिस ढंग से मिथ्या मन्तव्यों, अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों का खण्डन किया जा रहा था, उससे यह स्वाभाविक ही था कि उसके नये-नये विरोधी खड़े होते जाएँ। यही कारण था, जो अंग्रेजी सरकार आर्यसमाज को एक राजद्रोही संगठन मानने लगी। उसके बहुत-से नेता गिरफ्तार किये गये और मुकदमे चलाकर उन्हें सजाएँ दी गयीं। इसीलिए अनेक धर्मान्ध मुसलमानों ने आर्य नेताओं पर हमले किये और उनकी हत्या के लिये सफल षड्यन्त्रों की रचना की। आर्यसमाज के सर्वमान्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द तक इन षड्यन्त्रों के शिकार हो गये। ब्रिटिश सरकार द्वारा आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों, नगर-कीर्तनों और वार्षिकोत्सवों तक में अनेकविध बाधाएँ उपस्थित की जाने लगीं, और समाज के लिए धर्मप्रचार के कार्य को भी ठीक ढंग से कर सकना कठिन हो गया। सन् १९२७ में मुहर्रम के अवसर पर बरेली में दंगा हो गया, जिसमें मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं (विशेषतया आर्यसमाजियों) पर आक्रमण किये गये और आक्रान्ताओं को गिरफ्तार करने के स्थान पर पुलिस ने आर्यसमाज-मन्दिर पर ही हमला बोल दिया। उस समय समाज-मन्दिर में साप्ताहिक सत्संग हो रहा था। पुलिस के सिपाही जूते पहने हुए वेदी पर चढ़ गये और आर्यों को गिरफ्तार कर लिया। बरेली की यह घटना उस प्रवृत्ति व मनोवृत्ति की सूचक थी, जो इस समय सरकार की आर्यसमाज के प्रति थी। २४ जुलाई, १९२७ को इस घटना पर विचार करने के लिए सार्वदेशिक सभा का अधिवेशन हुआ, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये गये—(१) बरेली की दुर्घटना के समाचार पढ़कर इस सभा को महान् दुःख हुआ। सभा की सम्मति में शहर-कोतवाल और तहसीलदार का जूते पहनकर वेदी पर चढ़ जाना, साप्ताहिक अधिवेशन में विघ्न डालना, फिर निरपराध आर्य पुरुषों के जनेऊ उतरवाना, अन्याययुक्त बलात्कारपूर्ण कार्य था और धार्मिक कार्य में हस्तक्षेप और धर्म का अपमान था। इससे आर्यजगत् में गहरा असन्तोष फैला हुआ है। अतः यह सभा गवर्नमेंट से आशा करती है कि वह इन सब अन्यायपूर्ण कार्यों के उत्तरदाता अधिकारियों तथा अन्य अपराधियों को उचित दण्ड देकर आर्य पुरुषों के घायल हृदयों को आश्वासन देगी और भविष्य के लिए ऐसे आदेश देगी कि ऐसे अनियमित कार्य असंभव हो जाएँ। (२) सब नगरों और ग्रामों में ७ अगस्त, १९२७ रविवार को सार्वजनिक सभाएँ की जाएँ जिनमें हिन्दू, सिक्ख, जैनी, पारसी आदि समस्त आर्य लोग निमन्त्रित किये जाएँ। सभाओं में बरेली-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार कराके भारत सरकार, प्रान्तीय सरकार तथा पत्रों को भेजे जाएँ। (३) आर्यसमाज की वर्तमान परिस्थिति पर विचार करने और आर्य जनता की सम्मति को प्रकाशित करने के लिए सितम्बर या अक्टूबर में आर्य पुरुषों की एक कान्फरेन्स की जाए जिसके प्रबन्ध के लिए एक स्वागतकारिणी सभा संगठित की जाए। स्वागतकारिणी के

संगठन के लिए एक उपसमिति निम्नलिखित महानुभावों की बनायी जाए—स्वामी रामानन्द और पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति। सार्वदेशिक सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों में तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण था। उस द्वारा जिस कान्फरेन्स या महासम्मेलन के आयोजन का निर्णय किया गया था, उसमें उन सब समस्याओं, विघ्न-बाधाओं तथा कठिनाइयों पर विचार होना था, जो इस समय आर्यसमाज के सम्मुख उपस्थित थीं। इससे आर्यसमाज के ऐसे सार्वजनिक सम्मेलनों का सूत्रपात हुआ, जिनमें नेताओं के साथ-साथ सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि भी समाज की समस्याओं पर विचार-विमर्श कर सकते थे और लोगों में वह उत्साह उत्पन्न किया जा सकता था, जिससे कि वे आत्म-रक्षा में समर्थ हो सकें। इस प्रकार के सम्मेलन का आयोजन कर सार्वदेशिक सभा ने समाज की सर्वोपरि संस्था होने के कारण न केवल अपने कर्तव्य का पालन ही किया था, अपितु भविष्य के लिए भी एक ऐसा मार्ग तैयार कर दिया था जिसपर चलकर आर्यसमाज निरन्तर उन्नति करता रह सकता था।

स्वामी रामानन्द और पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने कान्फरेन्स (महासम्मेलन) की जो योजना तैयार की, उसे सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने स्वीकार कर लिया, और सम्मेलन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये—(१) आर्य जाति के धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों पर होनेवाले आक्रमणों के निवारण के उपाय सोचना। (२) सरकार की धार्मिक नीति के सम्बन्ध में आर्य जाति की नीति का निर्णय। (३) देश-देशान्तरों में और द्वीप-द्वीपान्तरों में आर्य संस्कृति की रक्षा तथा प्रचार के उपायों पर विचार। (४) आर्यसमाज के आन्तरिक संगठन को दृढ़ करना। (५) उपर्युक्त नियमों की ओर आर्य-जगत् के लोकमत को केन्द्रित करना। उद्देश्यों के निर्धारण के साथ ही स्वागतकारिणी सभा और विनय निर्धारिणी सभा आदि के गठन के सम्बन्ध में भी सब बातें तय कर ली गयीं। सम्मेलन के लिए जो स्वागतकारिणी सभा बनायी गयी, पण्डित रामचन्द्र देहलवी को उसका प्रधान और पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति को मन्त्री निर्वाचित किया गया। सम्मेलन के अध्यक्ष महात्मा हंसराज चुने गये। इस समय तक आर्य प्रादेशिक सभा सार्वदेशिक सभा के साथ सम्बद्ध नहीं हुई थी, पर आर्यजगत् पर संकट के जो बादल मँडरा रहे थे, उन्हें दृष्टि में रखकर महात्मा जी को सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया था, क्योंकि वह आर्यसमाज के सर्वमान्य अग्रणी नेता थे। स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। उनकी स्मृति आर्य जनता में ताजी थी, जिसके कारण लोगों में अपने समाज पर आये हुए संकटों का निवारण करने के लिए अनुपम उत्साह विद्यमान था। सभी प्रदेशों और सभी पार्टियों के आर्य नेता इस सम्मेलन में उपस्थित थे, जिन्हें एक वेदी पर एकसाथ बैठे हुए देखकर आर्यों में अपने आन्दोलन के उज्ज्वल भविष्य की आशा का संचार हो रहा था। लाला लाजपतराय और पण्डित मदन-मोहन मालवीय सदृश अखिल भारतीय नेता भी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। अध्यक्ष-पद से महात्मा हंसराज ने जो भाषण दिया, वह अत्यन्त गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण और ओजस्वी था। महर्षि दयानन्द के मिशन पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा—"स्वामी दयानन्द तो किसी एक ही जाति या एक ही देश का सुधार नहीं करना चाहते थे। वे तो एक सार्वभौम का झण्डा हाथ में लेकर आये थे। उनके लिए आवश्यक था कि जहाँ वे वैदिक धर्म के अनुयायियों में आयी हुई त्रुटियों को दूर करें, वहाँ वैदिक धर्म

से भिन्न मत-मतान्तरों के दोष भी दूर कर दें, क्योंकि इन दोषों के दूर कर देने का यह अर्थ है कि सारे संसार को वैदिक धर्मी बना दिया जाय।" शुद्धि-आन्दोलन और मुसलमानों द्वारा आर्य नेताओं की हत्या का उल्लेख करते हुए महात्मा जी ने कहा—"इस समय चारों ओर से मुसलमान भाइयों की तरफ से आर्यसमाज का जो विरोध हो रहा है, वह इसी कारण से है कि वे जिस जाति को अपना ग्रास समझते थे वह अब उनका ग्रास बनना पसन्द नहीं करती। मैं समझता हूँ कि शुद्धि के विरुद्ध हल्ला करने में मुसलमान भाई अपनी भारी कमजोरी का परिचय दे रहे हैं। मुसलमान सैकड़ों वर्षों से तबलीग का काम करते आ रहे हैं, और कभी किसी ने शिकायत नहीं की। यदि अब हिन्दू या आर्य सदियों से बन्द हुए द्वार को खोल रहे हैं, तो उन्हें रुष्ट नहीं होना चाहिए।... श्री स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान हुए आज ग्यारह मास बीत रहे हैं, और इन ग्यारह मासों में न्यूनाधिक एक दर्जन ऐसी दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं जिनमें मुसलमानों ने शुद्धि या हिन्दू संगठन के कार्य करनेवालों पर हत्याकारी आक्रमण किये हैं...ये आक्रमण मुसलमानों और इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगाते जाते हैं। कई आर्य और हिन्दू भाई इस प्रकार के हत्याकाण्ड को देखकर घबरा उठते हैं। हत्या होते देखकर बहुत-से लोग कह उठते हैं कि अब क्या होगा? परन्तु आर्य देवियो और आर्य सज्जनो! मैं इस वृद्ध अवस्था में भी इन घटनाओं को देखकर निराश नहीं होता, वरन् सच्ची बात तो यह है कि जब मैं ये घटनाएँ होती देखता हूँ तो मेरे अन्दर धर्म-प्रचार की, सत्य के प्रसार की अधिक लगन जाग उठती है। जिस जाति और धर्म को इस प्रकार बलिदान देने पड़ते हैं परमात्मा उस धर्म और जाति को बहुत ऊँचा ले-जाना चाहता है।" महात्मा जी ने अपने भाषण में आर्य जाति के निर्माण और उज्ज्वल भविष्य के लिए इस बात पर जोर दिया कि जाति की जनसंख्या में न्यूनता न आने दी जाए, व्यक्तिगत जीवन को उन्नत व सशक्त बनाया जाए और व्यक्तियों को परस्पर संगठित किया जाए। ये तीनों कार्य किस प्रकार हों, इस सम्बन्ध में भी उन्होंने क्रियात्मक सुझाव दिये। आर्य जाति की जनसंख्या में कमी न आने दी जाए, इसके लिए उनका कथन था, कि "आर्य जाति की जनसंख्या में कमी लानेवाली बातों में सबसे पहली बात छूतछात का रोग है और आर्य जाति का तिहाई भाग इस प्रकार का है जिसे हम हर समय अपने से अलग धकेलते रहते हैं और विधर्मियों की सबसे अधिक दृष्टि इन्हीं लोगों पर पड़ रही है। इस प्रसंग में उन्होंने विधवाओं और अनाथों का भी जिक्र किया, और उनकी दशा को सुधारने के लिए अपील की। आर्य जाति में नवजीवन के संचार के सम्बन्ध में आर्यसमाज का जो महान् उत्तरदायित्व है, महात्मा जी ने उसपर विशद रूप से प्रकाश डाला, जिससे आर्यों को सही मार्ग का बोध हुआ।

दिल्ली के प्रथम आर्य महासम्मेलन में सब मिलाकर अठारह प्रस्ताव स्वीकार किये गये। एक प्रस्ताव "हिन्दू जाति और आर्यसमाज के सर्वमान्य नेता श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के निर्दयतापूर्ण वध, जो एक दीवाने मुसलमान द्वारा किया गया था" के प्रति घृणा प्रकट की गयी, और लाला बद्रीशाह, महाशय भैरोंसिंह, राय बहादुर सिंह, महाशय नानक चन्द, महाशय बनवारी लाल तथा अन्य शहीदों के प्रति सम्वेदना को प्रकट किया गया। प्रस्ताव के अन्तिम शब्द इस प्रकार थे—"इस सम्मेलन का यह दृढ़ निश्चय है कि अमर शहीद पूज्य श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के पवित्र पदचिह्नों का अनुसरण करने एवं

वैदिक धर्म की पवित्र वेदी पर प्राण देने के लिए हजारों वीर सन्नद्ध रहेंगे।" यह प्रस्ताव भाई परमानन्द द्वारा प्रस्तुत किया गया था, और महाशय कृष्ण, पण्डित नेकीराम शर्मा और पण्डित घासीराम आदि अनेक आर्य नेताओं के इसके समर्थन में भाषण हुए थे।

महासम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों में सबसे महत्त्वपूर्ण आर्य रक्षा समिति तथा आर्यवीर दल की स्थापना के सम्बन्ध में था। प्रस्ताव के शब्द निम्नलिखित थे—"वर्तमान संकट और सामाजिक सेवाओं के महत्त्व को दृष्टि में रखता हुआ यह सम्मेलन आर्य जाति के धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्नलिखित सज्जनों की आर्यरक्षा समिति बनाता है, जो सार्वदेशिक सभा के अधीन होगी। यह समिति देशभर का भ्रमण कर निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करे—(१) दस हजार ऐसे सेवकों को भर्ती करे जो धर्म-रक्षा के लिए प्राण तक अर्पण करने के लिए सदा उद्यत हों। (२) रक्षा-निधि के लिए पचीस हजार रुपया एकत्र करे। इस निधि का धन सार्वदेशिक सभा के अधीन होगा। (३) स्थान और अनुकूलता देखकर उस स्थान की प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा की सलाह से और सार्वदेशिक सभा की अनुमति से सब आवश्यक उपायों का, जिनमें सत्याग्रह भी शामिल है, अवलम्बन करे। (४) यह समिति अपने कार्य के लिए नियम बनाए और सम्मेलन के समाप्त होते ही कार्य आरम्भ कर दे। समिति के सदस्य—श्री नारायण स्वामी दिल्ली, भाई परमानन्द लाहौर, आचार्य रामदेव गुरुकुल काँगड़ी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द लाहौर, महाशय कृष्ण लाहौर, बाबू सीताराम वकील खीरी, कुँवर चाँदकरण शारदा अजमेर, बाबू रामप्रसाद दिल्ली, श्री रामचन्द्र देहलवी, श्री आनन्दप्रिय बड़ौदा, बाबू श्रीराम वृन्दावन, स्वामी रामानन्द दिल्ली, श्री विजयशंकर बम्बई, श्री देवेश्वर रावलपिण्डी, लाला देशबन्धु दिल्ली और पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति दिल्ली।" यह प्रस्ताव महात्मा नारायण स्वामी द्वारा पेश किया गया था और पण्डित इन्द्र तथा स्वामी रामानन्द ने इसका समर्थन किया था। पर सम्मेलन में उपस्थित सब आर्य नेता इससे सहमत नहीं थे। लाहौर के श्री नानकचन्द और कानपुर डी. ए. वी. कॉलिज के प्रिंसिपल श्री दीवानचन्द ने इसका विरोध किया था। सत्याग्रह की बात उन्हें पसन्द नहीं थी। पर आर्यसमाज की भावी प्रगति के लिए यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्व का था, क्योंकि इस द्वारा आर्यों के धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए क्रियात्मक व ठोस पग उठाने का निश्चय किया गया था। आर्यवीर दल के संगठन का सूत्रपात इसी प्रस्ताव द्वारा दिल्ली में हुआ था।

सम्मेलन में जो अन्य प्रस्ताव स्वीकृत हुए, उनमें एक दलितोद्धार के सम्बन्ध में था—"चूँकि दलित अथवा अछूत कहलानेवाले भाई जाति का एक बड़ा भाग हैं, इसलिए उनको जाति में पूर्ण रूप से सम्मिलित कर लेना और उनको जाति के संगठन में यथोचित भाग देना प्रत्येक आर्य (हिन्दू) का धर्म होना चाहिए। यह सम्मेलन सर्वसामान्य हिन्दू जनता को साधारण रूप से और आर्यसमाजियों को विशेष रूप से अनुरोध करता है, कि वे··· (१) अछूत समझे जानेवाले भाइयों के साथ अस्पृश्यता के भाव को बिल्कुल मिटा दें और उन्हें समान सामाजिक अधिकार दें। (२) उनकी आर्थिक दशा के सुधार की दृष्टि रखते हुए जहाँ तक हो सके पहले उनको काम देने का यत्न करें। (३) उनमें आर्य संस्कृति का संचार करने के लिए विशेष रूप से धर्म तथा विद्याप्रचार का यत्न किया जाए।" पर सम्मेलन में एकत्र आर्य यह भलीभाँति अनुभव करते थे, कि अछूतों के प्रति हिन्दू-

समाज में जो दुर्व्यवहार किया जाता है, उसका मूल कारण जात-पाँत और सामाजिक ऊँच-नीच की भावना है। साथ ही, शुद्धि तथा हिन्दू संगठन के आन्दोलन भी तभी सफल हो सकते हैं, जबकि हिन्दुओं से जात-पाँत के भेदभाव को दूर कर दिया जाए। इसीलिए सम्मेलन ने निम्नलिखित प्रस्ताव भी स्वीकृत किया था—"यह सार्वदेशिक आर्य सम्मेलन निश्चय करता है कि आर्यसमाज का सार्वभौमिक सुधार-सम्बन्धी कोई भी आन्दोलन अर्थात् शुद्धि, दलितोद्धार, अछूतोद्धार आदि तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकते जब तक वैदिक वर्ण-व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए भेदमूलक जन्म की जाति-पाँति के बंधनों को सर्वथा तोड़कर समानता के नाते से सारी आर्य जाति को एक भ्रातृसंघ (ब्रदरहुड) न बनाया जाय। इसीलिए यह सम्मेलन सब आर्यसमाजियों को इन बातों को अपने आचरण में लाने का आदेश करता है, कि (१) वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जात-पाँत को वर-वधू के चुनाव का निर्णायक न मानकर योग्यता और गुणों को दृष्टि में रखकर ही विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए। (२) वर्तमान जात-पाँत की परवाह न करके विवाहों को यथासम्भव सुगम बनाने के लिए जो भी कानून पेश किये जाएँ, उनका समर्थन करना चाहिए। (३) यह सम्मेलन आर्यमात्र को प्रेरणा करता है कि वह जात और उपजातों की पृथक् सभाओं में भाग न लिया करे।" इस प्रस्ताव के प्रस्तावक आचार्य रामदेव और समर्थक पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च-स्कालर तथा भाई परमानन्द थे। इस प्रस्ताव द्वारा जन्ममूलक जात-पाँत की उपेक्षा कर गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था को अपनाने के लिए आर्य जनता को जो प्रेरणा दी गयी थी, यह बहुत महत्त्व की थी। खेद है कि सम्मेलन का यह निर्णय प्रचण्ड आन्दोलन का रूप नहीं ले सका।

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में भारत में साम्प्रदायिक समस्या जो उग्र रूप धारण करने लग गयी थी और उसके समाधान के लिए नेशनल कांग्रेस सदृश संगठनों द्वारा जो प्रयत्न किये जा रहे थे, उनकी ओर भी सम्मेलन का ध्यान गया। भारत के विविध सम्प्रदायों और जातियों में एकता तथा शान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों का हार्दिक स्वागत करते हुए उन प्रस्तावों का सम्मेलन द्वारा विरोध किया गया, जिनसे हिन्दुओं के प्रति अन्याय होता था। "गोहत्या और मस्जिदों के सम्मुख बाजों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया, उसका यह सम्मेलन घोर विरोध करता है। उसके द्वारा हिन्दुओं के साथ सर्वथा अन्याय किया गया है, क्योंकि (क) इस प्रस्ताव द्वारा हिन्दुओं के अत्यन्त प्राचीन धार्मिक प्रश्न गोहत्या और मुसलमानों के मस्जिदों के सम्मुख बाजे के नवीन प्रश्न को एक समान महत्त्व दिया गया। (ख) इस प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया है कि मस्जिदों के सम्मुख किसी भी समय ठहरकर बाजे न बजाए जाएँ। इस प्रकार यह प्रस्ताव मुसलमानों की इस माँग से भी कि नमाज के अवसर पर कुछ निश्चित स्थानों पर बाजे न बजाये जाएँ, आगे बढ़ गया है। इस प्रस्ताव पर अमल करने से कई शहरों में लम्बे जुलूस बिल्कुल बन्द हो जाएँगे; विशेषतया जबकि नयी मस्जिदों के बनने में कोई रुकावट नहीं है। (ग) इस प्रस्ताव में हिन्दुओं को मस्जिद के सम्मुख बाजा बजाने और भजन गाने की जो स्वतन्त्रता दी गयी है, उसे मुसलमान यह कहकर कि हमें इससे तकलीफ पहुँचती है, सर्वथा निरर्थक कर सकते हैं। (घ) इस प्रस्ताव द्वारा हिन्दुओं के पवित्रतम स्थानों, तीर्थस्थानों और उन स्थानों पर जहाँ अब तक कभी भी गोहत्या व किसी प्रकार की प्राणिहत्या नहीं होती है व कानून द्वारा वर्जित है, वहाँ पर भी

गोहत्या करने की अनुमति दी गयी है। यह अनुमति आर्य और हिन्दू मात्र के लिए असह्य है। (ङ) इस प्रस्ताव में म्युनिसिपैलिटियों द्वारा व अन्य स्वास्थ्य-विषयक दृष्टियों से प्राणिहत्या के सम्बन्ध में जो भी बाधाएँ विद्यमान हैं उनको एकदम दूर कर दिया गया है, क्योंकि इस प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक मुसलमान अपने घर में जो कि किसी मन्दिर के समीप न हो, न केवल बकरा-ईद के अवसर पर परन्तु अन्य समयों में भी गो-हत्या कर सकता है।" साथ ही, इस प्रस्ताव द्वारा सम्मेलन ने यह घोषित कर दिया था, कि "उन सब निर्णयों को जिनमें हिन्दुओं और आर्यसमाजियों के धार्मिक व सामाजिक अधिकारों का प्रश्न उपस्थित हो और जिनका निश्चय हिन्दू और आर्य नेताओं की स्वीकृति के बिना किया गया हो, मानने के लिए आर्य हिन्दू जाति बाध्य नहीं है और न इस प्रकार के निर्णय हिन्दू और आर्य नेताओं की स्वीकृति के बिना किसी को करने का अधिकार है।" उस युग में जबकि महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और नेशनल कांग्रेस सम्पूर्ण भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रही थी, आर्य महासम्मेलन का यह प्रस्ताव बहुत महत्त्व का था, क्योंकि इस द्वारा कांग्रेस के नेताओं को स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दे दी गयी थी, कि यदि वे आर्य हिन्दू नेताओं की सहमति व स्वीकृति के बिना कोई ऐसा निर्णय करेंगे जिसका सम्बन्ध हिन्दुओं के धार्मिक व सामाजिक अधिकारों के साथ हो, तो उसे मानने के लिए आर्य हिन्दू लोग बाध्य नहीं होंगे। इस चेतावनी के कारण आर्यसमाज भी भारत के उन वर्गों में आ गया था, देश की आन्तरिक राजनीति के निर्धारण में जिन्होंने हाथ बटाना था। इस सम्मेलन द्वारा सरकार और उसके कर्मचारियों के उस रुख की आलोचना भी की गई, जो निष्पक्ष न होकर पक्षपातपूर्ण था और जिसके कारण वे आततायी मुसलमानों को दण्ड देने तथा हिन्दुओं की रक्षा के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य की उपेक्षा कर रहे थे। सम्मेलन ने इस विषय में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया था—"यह सम्मेलन महाशय राजपाल, श्री स्वामी सत्यानन्द जी और हिन्दू संगठन के आन्दोलन के साथ सम्बन्धित कार्यकर्ताओं के ऊपर किये गए घातक आक्रमणों का घोर प्रतिवाद करता है। सम्मेलन का यह निश्चय है कि ये घातक आक्रमण उस उत्तेजना के परिणाम हैं जो प्रकट रूप से जिम्मेवार और गैर-जिम्मेवार मुसलिम आन्दोलनकारियों के द्वारा प्रेस और प्लेटफार्मों से दी जा रही है। यह सम्मेलन राजकर्मचारियों की उस अकर्मण्यता पर अत्यन्त रोष प्रकट करता है जो उन्होंने नीच गुण्डों के दल की विद्यमानता में, क्रूर-कर्मा घातकों के कार्यों की निर्लज्जतापूर्ण प्रशंसा करने और धर्म के पवित्र नाम पर कत्ल और कानून को हाथ में लेने का निरन्तर उपदेश जारी रहने की मौजूदगी में दिखलाई है। यह सम्मेलन आर्य (हिन्दू) कार्यकर्ताओं की रक्षा करने के क्रियात्मक निषेध किये जाने पर, जो इनका ब्रिटिश नागरिकों की ओर से वैध अधिकार है, हिन्दू जनता का रोष प्रकट करता है। इस सम्मेलन की सम्मति में अधिकारियों ने उस गवर्नमेण्ट के प्रति घृणा (कन्टैम्प्ट) उत्पन्न कर दी है जो इस देश में कानून के आधार पर स्थापित की हुई मानी जाती है। इस कर्तव्यहीनता के लिए स्वयं गवर्नमेण्ट उत्तरदाता है।"

भारत के सार्वजनिक जीवन में इस समय हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य ने गम्भीर रूप धारण कर लिया था। आर्यसमाज द्वारा हिन्दुओं में जिस नवजीवन का संचार किया गया था, उसके कारण वे भी अपने नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के

लिए जागरूक हो गये थे, जिससे मुसलमान बहुत उद्विग्न व रुष्ट थे। ने आर्यसमाज के नगर-कीर्तनों में अनेकविध विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करते थे, और वार्षिकोत्सवों पर आक्रमण कर देने में भी संकोच नहीं करते थे। ऐसे अवसरों पर सरकारी कर्मचारियों का रुख प्रायः आर्यसमाज के विरुद्ध होता था। सम्मेलन ने इस सरकारी नीति के विरोध में आवाज उठाई, पर साथ ही उसने यह भी अनुभव किया कि आर्यों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं भी प्रयत्न करना चाहिए और अपने शरीरों को सुदृढ़ व बलवान् बनाना चाहिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर आततायियों का प्रतिरोध भी कर सकें। इसी को दृष्टि में रखकर सम्मेलन द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था—"यह सम्मेलन आर्य नर-नारियों से सानुरोध प्रेरणा करता है कि आगामी वर्ष के प्रारम्भ से प्रत्येक आर्यसमाज की ओर से शारीरिक उन्नति के साधनों को प्रयोग में लाने के लिये अखाड़े खोले जायें, जहाँ हिन्दूमात्र साधारणतया और सभासद् विशेषतया नित्यप्रति इकट्ठे हो व्यायाम किया करें और आर्यसमाज के उत्सवों पर शारीरिक व्यायाम के प्रदर्शन का प्रबन्ध हुआ करे। यह सम्मेलन आर्य शिक्षणालयों से अनुरोध करता है कि वे बालकों और बालिकाओं की शारीरिक उन्नति पर विशेष ध्यान दें।"

महात्मा हंसराज की अध्यक्षता में हुआ दिल्ली सम्मेलन आर्यसमाज का प्रथम महासम्मेलन था, जिस द्वारा आर्यसमाज की भावी प्रगति को एक नई दिशा देने का प्रयत्न किया गया था। अब आर्यसमाज ने सरकार की उन नीतियों, कार्यक्रमों आदि का सार्वजनिक व सामूहिक रूप से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्हें वह हिन्दुओं के हितों का विरोधी समझता था। इसीलिये सम्मेलन ने एक प्रस्ताव (प्रस्ताव संख्या ११) द्वारा जातिगत प्रतिनिधित्व (कम्युनल रिप्रजेण्टेशन) का विरोध करते हुए उसे हिन्दू-मुसलिम झगड़ों का एक बड़ा कारण बताया था। "आर्य रक्षा समिति" की स्थापना और आर्यवीर दल के गठन का प्रस्ताव स्वीकार कर सम्मेलन ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी डाल दी थी, क्योंकि इसे क्रियान्वित करना सभा का ही कार्य था। इसके लिए जो समिति बनायी गयी थी, महात्मा नारायण स्वामी उसके प्रधान थे, और पण्डित इन्द्र मन्त्री। सम्मेलन के समाप्त होते ही समिति के प्रधान ने समस्त आर्यों और आर्यसमाजों से अपील की, कि वे यथासम्भव शीघ्र पचास हजार रुपये एकत्र करें और दस हजार वीर स्वयंसेवकों की भरती करें। आर्यों ने इस कार्य में अच्छा उत्साह प्रदर्शित किया। सर्वत्र आर्यवीरों की भरती शुरू हो गई। महात्मा नारायण स्वामी चाहते थे, कि दिसम्बर, १९२७ के अन्त तक पूरे दस हजार स्वयंसेवक आर्यवीर-दल में भरती हो जाएँ, और आर्य रक्षा समिति के लिए इसी अवधि में पचास हजार रुपये भी एकत्र कर लिये जाएँ। उनकी यह इच्छा अविकल रूप से तो पूरी हुई नहीं, पर सन् १९२८ के अन्त तक दस हजार के स्थान पर साढ़े ग्यारह हजार स्वयंसेवक आर्यवीर-दल में भरती हो गये थे। आर्य रक्षा समिति के लिए धन एकत्र करने में संतोषजनक सफलता नहीं मिली, क्योंकि ५० हजार की बजाय केवल ३१ हजार रुपये ही एकत्र किये जा सके। इसमें सबसे अधिक उत्साह संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रदर्शित किया। उसके हिस्से में दस हजार रुपये रखे गये थे, पर उस द्वारा ११,४९६ रुपये एकत्र कर समिति को भेज दिये गये। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए भी दस हजार रुपये रखे गये थे पर वह केवल ६,७५४ रुपये एकत्र कर सकी। समिति का कार्य

प्रारम्भ करने के लिए पूरे पचास हजार रुपये एकत्र हो जाने की प्रतीक्षा नहीं की गयी, और रक्षा समिति तथा आर्यवीर दल के संगठन का कार्य शुरू कर दिया गया। २६ जनवरी, सन् १९२९ को समिति और दल दोनों के नियम निर्धारित कर लिये गये, और उनके अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। आगे चलकर आर्यों (हिन्दुओं) और आर्यसमाज पर जो अनेकविध संकट आए, उनमें आर्यरक्षा समिति और आर्यवीर दल ने समाज की अच्छी सेवा की।

(६) आर्य रक्षा समिति का कार्यकलाप और द्वितीय आर्य महासम्मेलन बरेली

सन् १९२७ के प्रथम आर्य महासम्मेलन द्वारा सरकार की आर्यसमाज के प्रति अन्याययुक्त नीति के विरोध में आवाज उठायी गयी थी। पर उसके बाद भी आर्यों के समुचित व न्याय्य अधिकारों पर सरकार द्वारा आक्रमण किया जाता रहा, जिसके प्रतिरोध के लिए आर्य रक्षा समिति ने सराहनीय प्रयत्न किया। मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना सन् १८९२ में हुई थी। उस समय से समाज के वार्षिकोत्सव पर नगर-कीर्तन का जुलूस, भजन, गान और बाजे के साथ निकाला जाता था, जिसपर न कभी सरकार द्वारा कोई रुकावट डाली गयी और न किसी ने उसके विरुद्ध कोई शिकायत की। नगर-कीर्तनों के लिए सरकार से लाइसेन्स लेने की भी कभी आवश्यकता नहीं समझी गयी। सन् १९२६ में जिले के अधिकारियों ने बिना किसी की शिकायत के और बिना कोई कारण बताये नगर-कीर्तन पर लाइसेन्स की पाबन्दी लगा दी। लाइसेन्स के लिए प्रार्थना-पत्र देने पर पुलिस ने यह शर्त जोड़ दी कि २०० से अधिक व्यक्ति जुलूस के साथ न हों, और उसमें ५ से अधिक भजन-मण्डलियाँ न रहें। इसके बाद सन् १९२७ में एक अन्य शर्त यह जोड़ दी गयी कि जुलूस के साथ किसी प्रकार का कोई बाजा न हो। इसपर प्रतिवाद के रूप में आर्यसमाज ने नगर-कीर्तन बन्द कर दिया। संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने १९ मई, १९२९ को मुरादाबाद में नगर-कीर्तन की समस्या पर विचार किया, और यह निर्णय किया कि सरकार के अन्यायपूर्ण आदेश के विरुद्ध सत्याग्रह किया जाए और मुरादाबाद सत्याग्रह के लिए उपयुक्त स्थान है। पर तुरन्त सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पूर्व सभा ने यह आवश्यक समझा, कि प्रान्त के गवर्नर से मिलकर मामले को सुलझाने का प्रयत्न कर लिया जाये। इस प्रकार सभा ने सरकार से बातचीत शुरू की, और मुरादाबाद के अधिकारियों ने नगर के सभी वर्गों के व्यक्तियों से मिलकर नगर-कीर्तन व जुलूसों के सम्बन्ध में कतिपय नियम निर्धारित कर दिये। आर्यसमाज के नगर-कीर्तन के विषय में जो बातें तय की गयीं, वे निम्नलिखित थीं—(१) ईद और मुहर्रम के जमाने में यह जुलूस न निकाला जाएगा। (२) यह जुलूस मस्जिदों के सामने बिना ठहरे हुए गुजर जायेगा। (३) कम-से-कम एक मास पहले इस जुलूस की इत्तिला पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट को दी जाएगी और जुलूस की तिथि से कम-से-कम एक सप्ताह पहले उसका प्रोग्राम जिलाधीश की सेवा में भेज दिया जायेगा। क्योंकि आर्यसमाज मुरादाबाद का वार्षिकोत्सव दिवाली पर या उसके आसपास हुआ करता था, इस कारण जुलूस-विषयक नये नियमों से समाज के नगर-कीर्तन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था, और नगर-कीर्तन में बाजा न बजाने व

भजन न गाने की कोई शर्त नहीं रही थी। अतः वार्षिकोत्सव पर नगर-कीर्तन के प्रश्न को लेकर सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

आर्य-रक्षा समिति द्वारा सरकार से संघर्ष करने की आवश्यकता कुछ समय पश्चात् फिर अनुभव हुई। सहारनपुर जिले में बहादराबाद एक छोटा नगर है। २२ नवम्बर, सन् १९३० की बात है कि कैप्टन गफ नाम का एक अंग्रेज अफसर कुछ सिपाहियों के साथ बहादराबाद के समाज-मन्दिर में घुस गया और ओ३म् की ध्वजा को उतारकर फेंक दिया। समाज के उपमन्त्री महाशय रामलाल को बुरी तरह से पीटा गया, और कुछ आवश्यक कागज जला दिये गये। इस घटना के समाचार से आर्य जनता में बहुत रोष उत्पन्न हुआ, सैकड़ों आर्यसमाजों ने इसकी निन्दा के प्रस्ताव स्वीकार किये और यह माँग की, कि सैनिक अफसर के इस कृत्य के विरोध में आर्यसमाज द्वारा सत्याग्रह किया जाये। 'सार्वदेशिक' पत्र में इस घटना को लेकर निम्नलिखित शब्दों में सरकार को चेतावनी दी गयी—"ओ३म् की पताका आर्यसमाज का गौरव-चिह्न है। उसके अपमान को वे सहन नहीं कर सकते। उपेक्षा की दृष्टि से भी नहीं देख सकते। हम गवर्नमेण्ट को यह बतला देना चाहते हैं कि बहादराबाद की घटना एकदेशीय नहीं वरन् सार्वदेशिक है। भारत ही के नहीं समूचे भूमण्डल के समस्त आर्यों के हृदयों में इस घटना से ठेस पहुँची है, और इससे यदि परिस्थिति नाजुक भी हो जाए तो कुछ आश्चर्य नहीं।" अन्य समाचार-पत्रों में भी इस काण्ड की चर्चा हुई जिससे एसेम्बली के सदस्यों का भी इस ओर ध्यान गया। ५ फरवरी, १९३१ की एसेम्बली की बैठक में श्री हरिराजस्वरूप (मुजफ्फरनगर) ने इस सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न किये, जिनका उत्तर देते हुए आर्मी सेक्रेटरी ने कहा कि आर्यसमाज द्वारा लगाये गये आरोप सच्चे नहीं हैं, न समाज-मन्दिर भ्रष्ट किया गया, न कोई रिकार्ड जलाये गये और न ओ३म् का झण्डा उतारा ही गया। इसपर आर्य-रक्षा समिति और सार्वदेशिक सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी ने आर्मी सेक्रेटरी के उत्तरों का खण्डन करते हुए समाचार-पत्रों में एक बयान प्रकाशित कराया, जिसमें अपनी तहकीकात के आधार पर आर्यसमाज द्वारा सैनिक अफसर पर लगाये गये आरोपों का समर्थन करते हुए सरकार से इस मामले की निष्पक्ष जाँच की माँग की। सरकार के लिए इस युक्ति-संगत बयान की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ, और संयुक्त प्रान्त की सरकार ने बहादराबाद आर्यसमाज के मामले को शान्तिपूर्वक निपटा देने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। सरकार के निमन्त्रण पर महात्मा नारायण स्वामी, पण्डित रासबिहारी तिवारी, रायसाहब गंगाराम और महाशय रामलाल बातचीत के लिए नैनीताल गये। बातचीत में कैप्टन गफ भी मौजूद था, और सबकी उपस्थिति में बहादराबाद आर्यसमाज के प्रति अपने कुकृत्य के लिए उसने निम्नलिखित शब्दों में लिखित रूप से क्षमा माँग ली—"२२ नवम्बर, सन् १९३० को बहादराबाद में मैंने जो कुछ किया, उसके लिए मुझे बहुत खेद है और मैं उसके लिए सचाई से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।"

कैप्टन गफ ने मुआवजे के तौर पर २०० रुपये भी रामलाल जी को प्रदान किये। इसके बाद सरकार के चीफ सेक्रेटरी ने महात्मा नारायण स्वामी को खद्दर का एक थैला भेंट किया, जिसमें बहादराबाद आर्यसमाज के लिए शुद्ध खादी की 'ओ३म्' की पताका थी। इस प्रकार आर्य-रक्षा समिति के प्रयत्न से सत्याग्रह के बिना ही

वहादराबाद समाज के काण्ड का शान्तिपूर्वक समाधान हो गया।

मुरादाबाद आर्यसमाज के नगर-कीर्तन के मामले के सदृश एक मामला पानीपत में भी चला। वहाँ ऋषि-बोधोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष संकीर्तन हुआ करता था, और उसके साथ नगर-कीर्तन भी निकाला जाता था। सन् १६२६ में पुलिस ने माँग की, कि संकीर्तन के लिए लाइसेन्स लिया जाए। कई दिनों की बातचीत के बाद निश्चय हुआ, कि लाइसेन्स तो लिया जाये पर उसमें कोई शर्त न लगायी जाये। तीन साल तक यह व्यवस्था ठीक प्रकार से चलती रही, पर १६३० में ऋषि-बोधोत्सव के अवसर पर जब आर्यसमाज द्वारा संकीर्तन के लिए लाइसेन्स का आवेदन-पत्र दिया गया, तो मुसलमानों ने उसपर एतराज किया। उनका कहना था, कि यह रमजान का महीना है। उसमें प्रातःकाल कुरान शरीफ का जो पाठ होता है, संकीर्तन से उसमें विघ्न पड़ेगा। जिले के कलेक्टर ने मुसलमानों के एतराज को समुचित मानते हुए आर्यसमाज को यह आदेश दिया—आपको जुलूस निकालने के समय से ४८ घण्टे पूर्व जुलूस के रास्ते की बावत सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस को सूचना देनी होगी—आपका ध्यान लाइसेन्स में अंकित इस क्लाज की तरफ दिलाता हूँ, जो मुसलमान मुहल्लों में अवके जुलूस ठहरने को खारिज करती है। जुलूस को बगैर किसी बाजे आदि के ऐसे भजन गाते हुए गुजरने की आज्ञा होगी जो किसी सम्प्रदाय के लिए आक्षेप योग्य न हों। यदि जुलूस का मार्ग संतोषजनक न होगा तो तरमीम किया जायेगा कि जुलूस का समय नियत किया जाये। यदि आवश्यकता हो, तो जुमे की नमाज से पहले शुरू व समाप्त किया जाये। किसी दशा में जुलूस किसी मस्जिद की तरफ से न गुजरे।" कलेक्टर ने ये शर्तें लगाकर आदेश दिया, कि यदि इन्हें आर्यसमाज स्वीकार न करे तो जुलूस की अनुमति न दी जाये। आर्यसमाज ने इन शर्तों को स्वीकार करना उचित नहीं समझा। उसका कहना था कि पानीपत में पग-पग पर मस्जिदें हैं। ये शर्तें अक्रियात्मक हैं। पानीपत के स्थानीय अधिकारियों ने समस्या को सुलझाने के कुछ प्रयत्न किये भी, पर वे सफल नहीं हो सके। इससे आर्य-जगत् में विक्षोभ उत्पन्न हो गया, और आर्य-रक्षा समिति से सत्याग्रह शुरू करने की माँग की जाने लगी। आर्य रक्षा समिति की एक विशेष बैठक इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बुलायी गयी, जिसमें पानीपत में सरकार की आज्ञा के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निश्चय कर लिया गया। इसकी सूचना सर्वत्र आर्यसमाजों को भेज दी गयी, और सहारनपुर आदि कितने ही स्थानों से आर्य-वीरों के सत्याग्रह के लिए तैयार होने के समाचार प्राप्त हुए। कतिपय सज्जनों ने सत्याग्रह के लिए आवश्यक धन प्रदान करने का भी वायदा किया। जब पंजाब सरकार को यह ज्ञात हुआ, कि देश-भर के आर्य लोग पानीपत में सत्याग्रह करने को तैयार हैं, तो उसे स्थिति की गम्भीरता का बोध हुआ। संकीर्तन व नगर-कीर्तन पर जो प्रतिबन्ध पानीपत में लगाये गये थे, उन्हें वापस ले लिया गया, और नगर-कीर्तन वहाँ बिना किसी रुकावट के बड़ी धूमधाम के साथ निकला। इस प्रकार मुरादाबाद के समान पानीपत में भी आर्य रक्षा समिति को सत्याग्रह प्रारम्भ करने की आवश्यकता नहीं हुई। पर पानीपत के नगर-कीर्तन के मामले में आर्य-रक्षा समिति ने जिस तत्परता से काम लिया, उससे इसकी उपयोगिता सबके सम्मुख स्पष्ट हो गयी।

सरकार द्वारा आर्यसमाज के धार्मिक अधिकारों में जिस प्रकार अनुचित हस्तक्षेप

किया जा रहा था, उससे आर्य-जनता बहुत क्षुब्ध थी। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव की गयी, कि सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का आयोजन कर इस गम्भीर समस्या पर विचार किया जाना चाहिये। ३१ जनवरी, १९३१ को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा में यह विषय पेश हुआ, और आर्यसमाज बरेली के निमन्त्रण को स्वीकार करके अगले महीने वहाँ सम्मेलन करना स्वीकार कर लिया गया। महात्मा नारायण स्वामी को उसका अध्यक्ष चुना गया, और सम्मेलन के लिए जो स्वागतकारिणी समिति बनाई गयी डॉक्टर श्यामस्वरूप 'सत्यावृत' उसके प्रधान थे। ७ से ९ फरवरी, सन् १९३१ तक यह द्वितीय आर्य महासम्मेलन बड़ी धूमधाम से बरेली में सम्पन्न हुआ। दिल्ली के प्रथम महासम्मेलन की तुलना में इसमें उपस्थिति अवश्य कम थी, पर इसमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए, वे बहुत महत्त्वपूर्ण थे। सरकार द्वारा आर्य-कैदियों के दैनिक यज्ञ आदि करने में कोई रुकावट न डाली जाये, इस प्रयोजन से एक प्रस्ताव यह स्वीकार किया गया, कि "यह सम्मेलन सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करता है, कि जेल के नियमों में इस प्रकार के आवश्यक परिवर्तन कर दिये जाएँ, जिनसे आर्य-कैदियों को अपने धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान अर्थात् सन्ध्या, हवन, यज्ञोपवीत, साधुओं के गेरुए वस्त्र धारण करने आदि में कोई कठिनता न हो।" सन् १९३०-३१ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारम्भ हो चुका था, और स्वराज्य के संघर्ष में बहुत-से नर-नारी सत्याग्रह कर जेल जा रहे थे। इनमें बहुत-से आर्यसमाजी थे। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि स्वराज्य और स्वदेशी की आवाज सबसे पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही उठायी थी। आर्य-सत्याग्रहियों को जेल में रहते हुए सन्ध्या, हवन आदि धार्मिक कृत्यों में कोई बाधा न पड़े, इसी के लिए यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। यह कोरी कल्पना पर ही आधारित नहीं था। एक-दो वर्ष पश्चात् ही अनेक ऐसी बातें प्रकाश में आयीं, जबकि आर्य-कैदियों को जेल में हवन न करने देने के कारण भूख-हड़ताल का आश्रय लेना पड़ा। ऐसी कुछ घटनाओं का इसी अध्याय में आगे उल्लेख भी किया गया है। बीसवीं सदी के तृतीय दशक में मुसलमानों का आर्यसमाजियों के प्रति जिस विरोध-भाव का विकास हो रहा था, वे देशी रियासतें उससे विशेष रूप से प्रभावित हुईं, जिनके राजा (नवाब) मुसलमान थे। उनमें वैदिक धर्म के प्रचार में अनेक रुकावटें डाली जाने लगीं, और आर्य-साहित्य की जब्ती भी शुरू कर दी गयी। इस बात को दृष्टि में रखकर सम्मेलन ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया—"इस सम्मेलन को यह जानकर दुःख है कि हैदराबाद, भोपाल, बहावलपुर और रामपुर की मुसलमानी रियासतों में रहनेवाले आर्यसमाजी आर्य-साहित्य की जब्ती, जुलूसों की बन्दिश तथा धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी अनेक धार्मिक बाधाओं से पीड़ित हो रहे हैं, और उन्हें राज्यकर्मचारियों से पीड़ित होना पड़ता है। यह सम्मेलन सार्वदेशिक सभा से प्रार्थना करता है, कि इन शिकायतों को दूर करने के लिए उचित कार्यवाही करे।"

बरेली आर्य-महासम्मेलन के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव विद्यार्य सभा और राजार्य सभा के सम्बन्ध में थे। महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव (१९२५) के अवसर पर भी विद्यार्य, धर्मार्य और राजार्य सभाएँ बनाने का निश्चय किया गया था, और इस निश्चय को क्रियान्वित करने के लिए सार्वदेशिक सभा से निवेदन भी कर दिया गया था। पर अभी आर्यसमाज के तत्त्वावधान में संचालित शिक्षण-संस्थाएँ विद्यार्य सभा सदृश

किसी केन्द्रीय संगठन के अधीन नहीं हुई थीं। अतः सम्मेलन द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"यह सम्मेलन सार्वदेशिक सभा से अनुरोध करता है कि वह समस्त प्रान्तिक सभाओं के सहयोग से एक ऐसी समिति बनाए जो आर्यसमाज की शिक्षा-प्रणाली के आदर्शों का प्रचार करे, उसे सर्वप्रिय बनाये और देश के शिक्षणालयों में उसे प्रचारित करे। आर्यसमाज के विस्तृत और बहुविध शिक्षा-सम्बन्धी कार्य को दृष्टि में रखते हुए यह सम्मेलन सार्वदेशिक सभा का ध्यान इस ओर आकर्षित करता है कि वह विद्यार्य सभा संगठित करने की योजना करे जो आर्यसमाज के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य में यथा-सम्भव पारस्परिक सहयोग, समानता और आवश्यक सुधार लाने की चेष्टा करे, और यत्न किया जाए कि यह विद्यार्य सभा भविष्य में अखिल भारतीय दयानन्द पीठ का रूप धारण कर सके।" इसमें सन्देह नहीं, कि यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्व का था। सन् १९३१ तक भारत में आर्यसमाज द्वारा बहुत-से गुरुकुलों, संस्कृत विद्यालयों तथा स्कूल-कॉलिजों की स्थापना की जा चुकी थी। इस प्रस्ताव द्वारा इन सब शिक्षण-संस्थाओं को एक अखिल भारतीय दयानन्द विद्यापीठ या विश्वविद्यालय के अधीन संचालित किये जाने का विचार प्रस्तुत किया गया था, जो बहुत उपयोगी था। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा देश के विविध विश्वविद्यालयों में "दयानन्द लेकचररशिप" स्थापित करने की बात भी स्वीकृत की गयी थी, जिसे क्रियान्वित करना बहुत वर्ष पश्चात् प्रारम्भ किया जा सका।

मथुरा जन्म-शताब्दी के अवसर पर राजार्य सभा के ये कार्य निर्धारित किये गये थे—"आर्यों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करना और कौंसिलों से आवश्यक कानून बनवाना।" अब आर्य महासम्मेलन बरेली में राजार्य सभा विषयक जो प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, वह निम्नलिखित था—"आर्य संस्कृति की रक्षा और स्थिरता, आर्यसमाजियों की आये दिन बढ़ती हुई राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य सम्प्रदायों की राजनैतिक प्रगतियों पर दृष्टि रखने, तथा आवश्यकता और औचित्य के अनुसार उन्हें सहयोग देने के अभिप्राय से यह सम्मेलन निश्चय करता है कि एक 'राजार्य सभा' की स्थापना की जाये तथा सार्वदेशिक सभा से प्रार्थना की जाये कि वह इस सभा को संगठित कर देवे।" राजार्य सभा की स्कीम तैयार करने के लिए एक उपसमिति भी सम्मेलन द्वारा बना दी गयी, जिसके सदस्य महात्मा नारायण स्वामी, बाबू पूर्णचन्द्र, बाबू श्यामसुन्दर लाल, महाशय कृष्ण, कुंवर चाँदकरण शारदा और प्रोफेसर ताराचन्द थे। पण्डित देवशर्मा को इस उपसमिति का संयोजक नियत किया गया। सन् १९२९-३२ तक भारत के सार्वजनिक जीवन में राजनीति का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और नेशनल कांग्रेस द्वारा स्वतन्त्र भारत की शासन-पद्धति तथा विविध सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार-विमर्श शुरू कर दिया गया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक ही था, कि आर्यसमाज भी राजनैतिक विषयों में दिलचस्पी लेने लगे और इस प्रयोजन से राजार्य सभा की स्थापना का निश्चय करे। बरेली सम्मेलन में कतिपय अन्य भी ऐसे प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, जिनका सम्बन्ध राजनीति से था। एक प्रस्ताव यह था—"क्योंकि वेदों में 'अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूतः या अक्रन्वन्न वयनमा अतन्वत' इत्यादि मन्त्रों में स्वदेशी वस्त्रों के धारण और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग का स्पष्ट आदेश है तथा ऋषि दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थों में इस बात पर बल देते हुए स्वदेशी के क्रियात्मक प्रचार का प्रयत्न किया था, अतः यह आर्य महासम्मेलन समस्त आर्य देवियों और

सज्जनों से अनुरोध करता है कि वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझकर सदा स्वदेशी वस्त्रों के धारण करने और यथासम्भव स्वदेशी वस्तुओं के ही उपयोग का व्रत धारण करें।" एक अन्य प्रस्ताव द्वारा तथाकथित अछूत जातियों को हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व देने की बात का इन शब्दों में विरोध किया गया था—"इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि वैदिक धर्म के अनुसार कोई अस्पृश्य नहीं है, यह सार्वदेशिक सम्मेलन राज्य-शासन में कही जानेवाली अस्पृश्य दलित जातियों को हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व को, विशेषतया दलितों और साधारणतया सारे हिन्दुओं के धार्मिक तथा सामाजिक संगठन व उत्थान के लिए अत्यन्त हानिकारक समझता है, और (पृथक्) प्रतिनिधित्व को स्वीकार न करने के विषय में महात्मा गांधी जी का समर्थन करता है, और ऐसे सब लोगों के काम निन्दनीय समझता है जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दलित हिन्दुओं के पृथक् प्रतिनिधित्व की स्थापना द्वारा हिन्दू जाति को खण्ड-खण्ड करके निर्बल बनाने तथा अछूत श्रेणियों को सर्वथा अछूत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।" एक अन्य प्रस्ताव द्वारा जम्मू-काश्मीर राज्य में मुसलमानों के एक विशेष समुदाय द्वारा जनता के आधारभूत राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए चलाये गये आन्दोलन को विश्व-मुसलिम आन्दोलन से प्रेरित बताकर उसका विरोध किया गया था। यह स्पष्ट है, कि बरेली के सार्वदेशिक आर्य-महासम्मेलन ने अपने को केवल धार्मिक व सामाजिक विषयों तक ही सीमित न रखकर राजनैतिक विषयों पर भी आर्यसमाज के लोकमत को अभिव्यक्त किया था। इस समय भारत में स्वराज्य के लिए संघर्ष प्रबल रूप से प्रारम्भ हो चुका था, अतः कोई भी समाज या संगठन उससे सर्वथा अछूता नहीं रह सकता था। इस दशा में आर्यसमाज सदृश सुसंगठित व व्यापक संस्था के लिए भी यह विचार करना आवश्यक हो गया था, कि देश की राजनीति के साथ उसका क्या संबंध होना चाहिए। बरेली आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष-पद से जो भाषण महात्मा नारायण स्वामी ने दिया था, उसमें इस विषय पर निम्नलिखित विचार प्रकट किये गये थे—"वेद जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, अथवा आर्यसमाज जिस धर्म का प्रचार करता है, उसमें अभ्युदय (लोकोन्नति) और श्रेयस् (परलोकोन्नति), दोनों के अन्तर्गत होने से राजनीति भी सम्मिलित है और पूर्ण रीति से सम्मिलित है। इसलिए राजनीति को धर्म से बाहर नहीं कर सकते। आर्यसमाज ने व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नर-नारी को स्वतन्त्रता दी है कि प्रचलित राजनैतिक स्कूलों में से जिसमें वे चाहें अपने अन्तःकरण की प्रेरणानुसार भाग लेवें।...अब यह बात कि आर्य-समाज समष्टि रूप से स्वयं इस मामले में भाग नहीं लेता, समझ लेने योग्य है। आर्य-समाज में सम्मिलित होकर उसकी प्रार्थना आदि धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार मनुष्य मात्र को है, और इसी अधिकार से लाभ उठाकर प्रशंसित समाज में प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति चाहे वे नरम दल के हों चाहे गरम दल से सम्बन्धित हों, चाहे दोनों दलों से उदासीन रहकर राजनीति से भिन्न उपकार्यों को करना उद्देश्य बनानेवाले हों, शरीक हुए हैं। आर्यसमाज इन सबसे मिलकर बना हुआ समाज है। अब विचारणीय यह है कि यदि आर्यसमाज समष्टि रूप से किसी एक राजनैतिक स्कूल का, कल्पना कर लो कि कांग्रेस का सही, अनुयायी बन जाए, तो इस भाग (कांग्रेस के अनुकरण करनेवालों) से भिन्न लोगों को, जो किसी प्रकार से भी कांग्रेस के साथ नहीं हो सकते, क्या उत्तर देवें ? क्या कह देवें कि वे आर्यसमाज को छोड़ देवें ?" पर समष्टि रूप से आर्यसमाज के किसी राज-

नैतिक दल का समर्थन करने के विरुद्ध होते हुए भी महात्मा नारायण स्वामी ने राजार्य सभा के संगठन की आवश्यकता स्वीकार की थी। उनके शब्दों में "इस विभाग (राजार्य सभा) के बनाने की आवश्यकता इस समय और भी बढ़ गयी है कि हमारे देशभाई मुसलमानों में से कुछेक अदूरदर्शी मुसलमानों ने राजनैतिक परदे की आड़ में आर्यसंस्कृति को नष्ट करने का विशेष यत्न शुरू कर दिया है। काश्मीर का आन्दोलन उसी की एक शाखा है। इसलिए आर्यसमाज के लिए आवश्यक है कि ऐसे उपायों को काम में लावे जिनसे आर्य संस्कृति को नष्ट करने का यह प्रयत्न निष्फल हो सके। आर्यसमाज के ये उपाय भी राजनैतिक रंग लिये हुए होंगे, इसलिए यह काम भी इसी राजार्य सभा के अधीन रखा जा सकता है। आर्यसमाज के विस्तार के साथ आर्यों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। इसलिए स्वाभाविक है कि उसकी राजनैतिक आवश्यकताएँ भी ऐसी हों, जिनको पूरा करने के लिए यत्न की जरूरत हो। इस काम के करने के लिए भी आर्य-समाज के लिए आवश्यक है कि उसका अपना एक राजनैतिक विभाग हो। यह जरूरत भी इसी राजार्य सभावाले विभाग से पूरी हो सकेगी। अस्तु, प्रत्येक प्रकार के विचार के बाद इस विभाग का खोलना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है।"

(७) दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी और तृतीय आर्य महासम्मेलन

सन् १९२५ में दयानन्द जन्म-शताब्दी बड़ी धूमधाम के साथ मथुरा में मनायी गयी थी। इस समारोह द्वारा जनता में अनुपम उत्साह का संचार हुआ था। शाहपुरा रियासत के राजा सर नाहर सिंह भी शताब्दी के अवसर पर मथुरा में उपस्थित हुए थे। वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिष्य थे, और उनके मन्तव्यों के प्रति उनकी अगाध आस्था थी। मथुरा शताब्दी की सफलता को देखकर उनके मन के यह विचार आया, कि ऐसा उत्सव एक बार राजपूताना की वीरभूमि में भी होना चाहिए। महर्षि का देहावसान अजमेर में हुआ था, अतः सर नाहर सिंह का यह सुझाव था, कि सन् १९३३ में, जब महर्षि का निर्वाण हुए पचास वर्ष हो जाएँगे, उनकी निर्वाण अर्ध-शताब्दी अजमेर में मनायी जाए। २८ जनवरी, १९३३ को सार्वदेशिक सभा की अन्त-रंग सभा ने इस बात पर विचार किया, और दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी अजमेर में मनाये जाने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अर्ध-शताब्दी की समुचित व्यवस्था के लिए एक प्रबन्ध समिति का निर्माण किया गया, जिसके सदस्य निम्नलिखित थे—सार्व-देशिक सभा के सब सदस्य, परोपकारिणी सभा के सब सदस्य और आर्य प्रादेशिक सभा के सात प्रतिनिधि। इस समय तक प्रादेशिक सभा सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित नहीं हुई थी, अतः उसे पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था। समिति का प्रधान शाहपुराधीश श्री उम्मेदसिंह को बनाया गया। कार्यकर्ता प्रधान महात्मा नारायण स्वामी और मन्त्री श्री हरविलास शारदा नियुक्त हुए। सर नाहरसिंह का इस समय देहावसान हो चुका था, अतः उनके पुत्र व नये शाहपुराधीश अर्ध-शताब्दी की प्रबन्धक समिति के प्रधान बनाये गये थे।

दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी महोत्सव १४ अक्टूबर से २० अक्टूबर (१९३३) तक बड़ी धूमधाम के साथ अजमेर में मनाया गया। अजमेर नगर से एक मील दूर एक विशाल आर्यनगर का निर्माण किया गया था, जिसमें देश-विदेश से आये हुए ऋषि-

भक्तों के निवास की समुचित व्यवस्था थी। उत्सव का प्रारम्भ ब्रह्म पारायण यज्ञ से हुआ जिसकी पूर्णाहुति २० अक्टूबर को दी गयी। महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि इस यज्ञ के प्रमुख ब्रह्मा थे। १६ अक्टूबर को एक विशाल जुलूस निकाला गया। उसमें भारत के विविध प्रान्तों के अतिरिक्त बरमा, पूर्वी अफ्रीका, फीजी तथा दक्षिणी अफ्रीका आदि के विदेशों के भी बहुत-से आर्य नर-नारी सम्मिलित थे। अजमेर के लोगों द्वारा स्थान-स्थान पर जुलूस के स्वागत के लिए द्वार बनाये गये थे। जुलूस की समाप्ति राजा भिनाय की कोठी पर हुई, जहाँ कि महर्षि दयानन्द ने अपने नश्वर शरीर का परित्याग किया था। महोत्सव में बड़े-बड़े विद्वानों और संन्यासियों के व्याख्यान हुए, और निम्न-लिखित सम्मेलनों का आयोजन किया गया—आर्य महासम्मेलन, आर्य महिला सम्मेलन शुद्धि सम्मेलन, वर्णव्यवस्था सम्मेलन, शिक्षा सम्मेलन, आर्य सिद्धान्त रक्षा सम्मेलन, आर्यकुमार सम्मेलन, आर्यवीर दल सम्मेलन, भाषा सम्मेलन, संस्कृत भाषा सम्मेलन, कवि सम्मेलन, संन्यासी सम्मेलन, प्रवासी सम्मेलन, अस्पृश्यता निवारण सम्मेलन, मादक द्रव्य निषेधक सम्मेलन, विधवा-विवाह सम्मेलन और विद्वत् सम्मेलन। इन सम्मेलनों के अतिरिक्त महोत्सव में एक अखिल भारतीय प्रदर्शनी भी आयोजित की गई थी, जो दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण रखती थी। महोत्सव के अवसर पर हुए सम्मेलनों में सबसे महत्त्व का आर्य महासम्मेलन था। जो देहली में प्रारम्भ हुए सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलनों की परम्परा में तीसरा था। इसकी अध्यक्षता आचार्य रामदेव ने की थी। इस सम्मेलन में विशेष रूप से उस योजना पर विचार किया गया, जो आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में महात्मा नारायण स्वामी ने तैयार की थी, और जिसपर सब आर्य प्रतिनिधि सभाओं की सम्मतियाँ भी प्राप्त कर ली गयी थीं। महासम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, उनका निर्माण इसी योजना के आधार पर किया गया था। इस कार्यक्रम की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) आर्यसमाज-मन्दिरों में जो अनेकविध संस्थाएँ (स्कूल, पाठशाला) आदि चल रही हैं, उन्हें अन्यत्र स्थानान्तरित किया जाए, ताकि उनमें सन्ध्या, हवन, कथा आदि द्वारा धार्मिक वातावरण उत्पन्न करके सच्चे अर्थों में धर्म-मन्दिर बनाया जा सके। समाज-मन्दिरों में बरातें न ठहरने दी जाएँ और न उनमें हास्य सम्मेलन सदृश आयोजन किये जाएँ। समाजों के आर्य सभासद्, अन्तरंग सदस्य, पदाधिकारी, प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक सभा के सदस्य बनने के लिए सदाचार की मर्यादा स्थिर की जाए। उक्त सदस्यों के लिए निरामिष-भोजी होना, मादक द्रव्यों का सेवन न करना, व्यभि-चारी न होना तथा घूस व रिश्वत न लेनेवाला होना आवश्यक हो।

(२) आर्यसमाज द्वारा निश्चित अवधि के लिए विशेष कार्यक्रम बनाया जाया करे। सम्प्रति अगले पाँच वर्षों के लिए अन्य कार्यों को जारी रखते हुए निम्न कार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाए—ग्रामों में वेद के स्वाध्याय और वेदमन्त्रों के व्याख्यान, दलितों में वैदिक धर्मप्रचार और उनकी आर्थिक व सामाजिक दशा की उन्नति, शुद्धि, प्रचलित जात-पाँत पर ध्यान न देकर गुण-कर्मानुसार विवाह करने का प्रचार, मादक द्रव्य निवारण और अहिंसा-प्रचार।

(३) कोई नई संस्था प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा की स्वीकृति के बिना न खोली जाए। जो संस्थाएँ सफलतापूर्वक चल रही हैं, उनके प्रबन्ध के लिए पृथक् रजिस्टर्ड ट्रस्ट बनाए

जाएँ, पर उनमें आर्यसमाज का अधिकार सुरक्षित रखा जाए। स्थानीय संस्थाओं के लिए प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा की विशेष अनुमति के बिना बाहर से धन-संग्रह न किया जाए।

(४) सार्वदेशिक सभा, आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजों का कोई पदाधिकारी एक पद पर निरन्तर तीन वर्ष से अधिक न रहे, और तीन वर्ष तक एक पद पर रहने के बाद वह व्यक्ति कम-से-कम एक वर्ष अन्य किसी पद पर निर्वाचित न हो।

(५) प्रतिनिधि सभाओं द्वारा, और जहाँ प्रतिनिधि सभाएँ न हों वहाँ सार्वदेशिक सभा द्वारा शिक्षा-केन्द्रों में वैदिक सिद्धान्तों पर अच्छे-अच्छे व्याख्यान दिलाने का प्रबन्ध किया जाये। उपयोगी साहित्य मुफ्त या नाममात्र मूल्य लेकर नवयुवकों तक पहुँचाया जाये। भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् को अपने साथ सम्बद्ध कर सार्वदेशिक सभा अपने एक विभाग के रूप में उसपर दृष्टि रखे।

(६) सार्वदेशिक सभा द्वारा स्थापित अन्वेषण-विभाग को पुष्ट किया जाये, जिससे कि वह उच्चकोटि के गवेषणापूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित कर सके।

(७) सब गुरुकुलों को एक सूत्र में पिरोया जाय, और इसके लिए सार्वदेशिक सभा सब समुचित उपायों को प्रयोग में लाये।

निःसन्देह, अजमेर आर्य महासम्मेलन द्वारा आर्यसमाज का जो यह भावी कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था, वह न केवल अत्यन्त उपयोगी ही था, अपितु साथ ही क्रियात्मक भी था। पर इसे क्रियान्वित करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया, और यह प्रस्तावों के रूप में ही रह गया। २४ जनवरी, सन् १९३४ को इनपर विचार करने के लिए सार्वदेशिक सभा की अंतरंग सभा की एक बैठक हुई, जिसमें इनसे सहमति प्रकट करते हुए सब प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पास गश्ती चिट्ठियाँ इस प्रयोजन से भेजी गयीं, कि वे इन्हें क्रियान्वित करने का उद्योग करें। पर इसका भी कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला। प्रतिनिधि सभाओं ने इनपर समुचित ध्यान नहीं दिया।

अजमेर के आर्य महासम्मेलन ने राजनैतिक विषयों पर कोई प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया। पर उसके अध्यक्ष आचार्य रामदेव ने अपने भाषण में राजनीति के साथ आर्यसमाज के सम्बन्ध पर भी विचार किया। उनका कथन था—"वास्तविक अर्थों में देखा जाय, तो राजनीति आर्यसमाज का भी एक अंग है। वैदिक धर्म के अन्य कार्यक्रमों में राजनैतिक स्वाधीनता भी एक है। धर्म एक स्थिर वस्तु है। वह देश और काल की सीमा से नितान्त ऊपर है। राजनीति सामयिक चीज है। अतः उसके उपाय सामयिक होते हैं। धार्मिक उपाय सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक होने से राजनीति के उपायों से कहीं बढ़कर होते हैं। धर्म किसी समय ब्राह्म उपाय का उपदेश कर सकता है, तो दूसरे समय क्षात्र धर्म की तलवार भी पकड़ा सकता है।...राजनैतिक स्वतन्त्रता तो धर्म के दूसरे अभ्युदय-विधायक लक्षण का एक अंगभूत विषय है। इसलिए समाज के रचनात्मक कार्यक्रम में इसका भी स्थान है। वर्तमान स्वराज्य-आन्दोलन का रचनात्मक प्रोग्राम आर्यसमाज का नहीं था तो किसका था ?...इसे धार्मिक प्रोग्राम समझना चाहिए और सबको कटिबद्ध होकर इसमें लग जाना चाहिए।"

(८) आर्य रक्षा समिति का अन्य कर्तृत्व

सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में गठित आर्य रक्षा समिति के कार्यकलाप पर

इस अध्याय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पर सन् १९३४ से कतिपय अन्य ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनके सम्बन्ध में इस समिति का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था।

जिन कारणों से सन् १९३८ में हैदराबाद रियासत में वहाँ के निरंकुश शासन के विरुद्ध सत्याग्रह का व्यापक रूप से आयोजन करना पड़ा, उनका सूत्रपात कुछ वर्ष पूर्व सन् १९३४ में ही हो गया था। वहाँ आर्यसमाज के धर्मप्रचार-कार्य में अनेक रुकावटें डाली जाने लगी थीं, और कुछ स्थानों पर आर्यों के पवित्र स्थानों को भ्रष्ट भी किया गया था। आर्यरक्षा समिति ने हैदराबाद रियासत की इस धर्मान्ध व पक्षपातपूर्ण नीति का विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ सत्याग्रह प्रारम्भ करने की आवश्यकता हुई। हैदराबाद-सत्याग्रह पर इस 'इतिहास' के बाईसवें अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ इसका उल्लेख केवल यह प्रदर्शित करने के लिए किया गया है कि आर्यरक्षा समिति वहाँ की समस्या के प्रति भी सजग थी।

बीसवीं सदी के चौथे दशक में आर्यसमाजियों के धार्मिक कृत्यों पर अन्य भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे। सन् १९३०-३१ में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह-आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया था। हजारों नर-नारियों ने सत्याग्रह में भाग लेकर जेलयात्रा की थी। इनमें बहुत-से स्वयंसेवक आर्य-समाजी थे। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि महर्षि दयानन्द ने ही सबसे पूर्व स्वराज्य और स्वदेशी की आवाज उठायी थी। आर्यसमाजी सत्याग्रही जेल में रहते हुए भी सन्ध्या-हवन आदि दैनिक धार्मिक अनुष्ठान करते रहने के लिए दृढ़निश्चय थे, पर सरकार इसमें बाधा उपस्थित कर रही थी। सहारनपुर, फर्रुखाबाद और दिल्ली आदि अनेक स्थानों से यह शिकायत आई कि आर्य कैदियों को जेल में हवन की सुविधा प्रदान नहीं की जाती, जिसके कारण उन्हें भूख-हड़ताल के लिए विवश हो जाना पड़ता है। श्रीमती सावित्री देवी फर्रुखाबाद जेल में कैद थीं। उन्हें हवन की अनुमति नहीं दी गयी, जिसके विरोध में उन्होंने भूख-हड़ताल कर दी। २० एप्रिल से २६ एप्रिल, १९३२ तक उनकी हड़ताल जारी रही। जब वह अत्यन्त निर्बल हो गयीं, तो सरकार ने अपनी हठ छोड़ी और उन्हें हवन करने की अनुमति प्रदान कर दी गयी। सहारनपुर जेल में श्रीमती चमेली देवी ने भी इसी कारण भूख-हड़ताल कर दी (१२ फरवरी, १९३३), क्योंकि उन्हें हवन करने की अनुमति नहीं थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, चमेली-देवी जी अत्यन्त निर्बल होती गयीं, और उनके स्वास्थ्य की गिरती दशा के समाचारों से आर्य जनता में बहुत क्षोभ उत्पन्न होने लगा। बहुत-से आर्यसमाजों ने सरकार की नीति के विरोध में प्रस्ताव स्वीकार किये, और संयुक्त प्रान्त की कौंसिल में भी इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया। अन्त में विवश होकर सरकार ने जेल की अवधि पूरी होने से पहले ही चमेली देवी जी को रिहा कर दिया, और उन्होंने हवन करके अन्न-जल ग्रहण किया। दिल्ली षड्यन्त्र केस के विचाराधीन कैदी मास्टर हरकेश दिल्ली जेल में बन्द थे। जेल के अधिकारियों ने उन्हें हवन करने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया, जिसपर उन्होंने २९ अक्टूबर, १९३२ को भूख-हड़ताल प्रारम्भ कर दी। आर्यरक्षा समिति ने इस मामले को अपने हाथों में लिया, और सरकार के रुख के विरुद्ध आर्यसमाजों ने आन्दोलन शुरू कर दिया। पर सरकार अपनी जिद पर अड़ी रही। मास्टर जी के जीवन के महत्त्व को दृष्टि में रखकर आर्यरक्षा समिति ने उनसे भूख-हड़ताल को स्थगित करने का अनुरोध

किया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

इसी काल में अन्य भी अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं, जो आर्यसमाज के लिए चिन्ताजनक थीं। सितम्बर, १९३४ में मद्रास में आर्यसमाज की एक सार्वजनिक सभा हो रही थी। मुसलमानों की एक भीड़ वहाँ घुस गयी, और उसने वहाँ मारपीट शुरू कर दी। इससे पन्द्रह-वीस व्यक्ति घायल हो गये, जिनमें एक की मृत्यु भी हो गयी। मृत व्यक्ति मुसलमान था। दंगे के अपराध में दस आर्य सभासद् गिरफ्तार किये गये जिनमें एक को छोड़कर बाकी सब प्रमाण के अभाव के कारण छोड़ दिये गये। एक सभासद् पर हत्या का अभियोग चलाया गया, पर वह भी निर्दोष सिद्ध होकर वेलाग छूट गया। इस मामले में आर्यरक्षा समिति ने भी मद्रास आर्यसमाज की हर प्रकार से सहायता की, और मुकदमे की पैरवी के लिए २५० रुपये की आर्थिक सहायता भी प्रदान की। इसी समय अन्य भी अनेक स्थानों पर आर्यसमाजियों पर मुसलमानों द्वारा नृशंस आक्रमण किये गये। बहराइच जिले के लाला बद्रीशाह आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ता थे। शुद्धि-आन्दोलन के संचालन में उनका विशेष कर्तृत्व था। सितम्बर, १९३४ में सायंकाल के समय जब वह जंगल के रास्ते से अकेले इक्के पर आ रहे थे, कुछ मुसलमानों ने उनपर हमला कर दिया और उनकी हत्या कर दी। सिन्ध के पण्डित नाथूराम ने 'इस्लाम का इतिहास' नाम से एक पुस्तक लिखी थी, जिससे मुसलमान उनसे बहुत नाराज थे। २० सितम्बर, १९३४ को कराची के ज्युडिशियल मजिस्ट्रेट के कोर्ट में मजिस्ट्रेट की आँखों के सामने ही एक धर्मान्ध मुसलमान ने उनकी हत्या कर दी। हत्या की इन घटनाओं से आर्यजगत् में क्रोध, क्षोभ और दुःख की लहर दौड़ गयी, और यह सन्देह किया जाने लगा, कि आर्यसमाजियों की हत्या के लिए कोई व्यापक षड्यन्त्र किया जा रहा है। सन् १९३६ में आर्यसमाज शाहगंज के प्रधान श्री सर्वदानन्द ने शिकायत की, कि इस जिले के कतिपय प्रभावशाली मुसलमानों ने दो हिन्दू कन्याओं को उनके घरों से भगाकर अपने घरों में रख छोड़ा है। इसपर आर्यसमाज वाराणसी, जौनपुर और शाहगंज के सदस्यों ने मिलकर कन्या को छुड़ाया और कतिपय अपराधियों पर अभियोग चलाया। आर्यरक्षा-समिति ने इस अभियोग के लिए चार सौ रुपयों से सहायता की। अन्यत्र भी जहाँ कहीं मुसलमानों द्वारा आर्यों पर आक्रमण किये जा रहे थे, आर्यरक्षा समिति सर्वत्र आर्यों की सहायता के लिए उद्यत रहती थी। इसी प्रयोजन से समिति द्वारा 'आर्य वीरदल' के संगठन का निर्णय किया गया, और श्री शिवचन्द्र को यह कार्य सुपुर्द किया कि जहाँ आवश्यकता हो और साथ ही वातावरण अनुकूल हो, वहाँ जाकर आर्यवीर दल की स्थापना और संगठन करें। आर्य धर्म और आर्यसमाज के अधिकारों की रक्षा के लिए बाद में हैदराबाद में जो सत्याग्रह हुआ, उसमें इस आर्यवीर दल का कर्तृत्व बहुत महत्त्वपूर्ण व सराहनीय था।

(९) सार्वदेशिक सभा का अन्य कार्यकलाप : धर्मार्य सभा

दयानन्द-जन्म शताब्दी, मथुरा के अवसर पर यह निर्णय किया गया था, कि महर्षि द्वारा जिन तीन सभाओं—धर्मार्य सभा, विद्यार्य सभा और राजार्य सभा की स्थापना उपदिष्ट की गयी है, उन्हें स्थापित करने के लिए आवश्यक पग उठाये जाएँ। इसीलिए सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने २७ जनवरी, १९२८ को धर्मार्य सभा

के सम्बन्ध में निम्नलिखित निश्चय किये—धर्मार्य सभा का निर्माण स्वीकार किया जाये। धर्मार्य सभा अपने कार्य के संचालन के लिए स्वयं नियम बना ले, पर उनकी अन्तिम स्वीकृति अन्तरंग सभा से प्राप्त करे। उस (धर्मार्थ सभा) का निर्माण इस प्रकार स्वीकृत हुआ—प्रत्येक प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा से प्रार्थना की जाए कि अपने-अपने प्रान्त से अपने प्रतिनिधि के तौर पर निम्न संख्या में विद्वानों को निर्वाचित करे—"पंजाब ७, संयुक्त प्रान्त ७, राजस्थान ५, बिहार-बंगाल ५, बम्बई ५, मध्यप्रदेश ३, सिन्ध ३, जहाँ प्रान्तीय सभाएँ नहीं हैं वहाँ के समाजों के प्रतिनिधि ३, संन्यासी ५, सार्वदेशिक सभा के प्रतिनिधि ५, विदुषी स्त्रियाँ (सार्वदेशिक सभा द्वारा मनोनीत) ३।" इस प्रकार ५१ सदस्यों की धर्मार्य सभा के निर्माण का निर्णय किया गया, जिसे अपने पदाधिकारियों को स्वयं चुनना था, और जिसका कोरम १५ रखा गया था। १६ एप्रिल, १९३० को धर्मार्य सभा का अधिवेशन गुरुकुल वृन्दावन में हुआ, और उसमें सभा के नियमों का निर्माण किया गया। सभा के उद्देश्य निम्नलिखित निर्धारित किये गये—(१) वैदिक सिद्धान्त अथवा किसी भी धर्म-सम्बन्धी विषय पर मतभेद होने की दशा में उसका निर्णय करना और आर्य-जगत् के लिए निर्णायक व्यवस्था देना। (२) धर्म-ग्रन्थों में प्रचलित पाठ-भेदों के सम्बन्ध में उचित निर्णय करके शुद्ध पाठादि की व्यवस्था करना। (३) ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों का मूल लेख के अनुसार शुद्ध सम्पादन करना। (४) आर्य विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थों की देखभाल करके उनके शुद्ध और वेदानुकूल होने की व्यवस्था देना। (५) वैदिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अन्य उचित उपायों का अनुष्ठान करना। धर्मार्य सभा के नियमों के अनुसार यह सभा केवल उन्हीं विषयों पर व्यवस्था दे सकती है, जो सार्वदेशिक सभा द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ, और इस सभा ने किसी विषय पर जो व्यवस्था दी हो, उसे सार्वदेशिक सभा ही प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजों के पास—जहाँ भेजना वह उचित समझे—भेजा जायेगा। धर्मार्य सभा की वही व्यवस्था समझी जायेगी, जिसके पक्ष में कम-से-कम दो-तिहाई सदस्यों की सम्मति हो। सामान्यतया, सदस्यों की सम्मति को पत्र द्वारा लेखबद्ध रूप से प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी थी, पर आवश्यक विषयों के निर्णय के लिए यह नियम बनाया गया था, कि वे धर्मार्य सभा के वार्षिक या विशेष अधिवेशन में पेश किये जाया करें, और वहीं वे निर्णीत हों।

नियमावली का निर्णय हो जाने पर जो प्रथम धर्मार्य सभा बनायी गयी, उसके प्रधान महात्मा नारायण स्वामी, मन्त्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द और उपमन्त्री प्रोफेसर सुधाकर थे। भारत के प्रमुख आर्य विद्वानों के अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका के स्वामी भवानी दयाल संन्यासी, श्री आर० के० कैल्यन, श्री मेघराज और श्री सत्यदेव को भी इस सभा में रखा गया। महिलाओं को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए श्रीमती विद्यावती सेठ, श्रीमती लक्ष्मी देवी और श्रीमती विद्यावती शारदा को सभा का सदस्य मनोनीत किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि धर्मार्य सभा का निर्माण इस ढंग से हुआ था, कि आर्यजगत् के प्रमुख विद्वान् व धार्मिक नेता उसमें सम्मिलित थे।

धार्मिक प्रश्न अत्यन्त गूढ़ होते हैं, और उनके सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए गम्भीर विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है, अतः धर्मार्य सभा ने एक निर्णय यह किया, कि ऐसे आर्य विद्वत् सम्मेलनों का आयोजन किया जाए, जिनमें कोई विद्वान् किसी गम्भीर एवं विचारणीय विषय पर निबन्ध लिखकर प्रस्तुत करे और अन्य विद्वान् उस-

पर आलोचनात्मक विचार-विमर्श करें, जिससे कि आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा विद्वान् लोग किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें। ऐसा पहला विद्वत्सम्मेलन अक्टूबर, १९३२ में पटौदी हाउस दिल्ली में हुआ, जिसमें पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, स्वामी वेदानन्द, पण्डित धर्मदेव और पण्डित बृहस्पति आदि विद्वानों ने वेद-सम्बन्धी गम्भीर व सुविचारित निबन्ध पढ़े। इस सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा नारायण स्वामी द्वारा की गयी थी। विद्वत्-सम्मेलन का अगला अधिवेशन दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी के अवसर पर अजमेर में रखा गया था, पर शताब्दी-महोत्सव की धूमधाम के कारण वहाँ कोई गम्भीर विचार-विमर्श नहीं हो सका।

धर्मार्य सभा के सम्मुख जो अनेक विषय निर्णय के लिए प्रस्तुत किये गये, वे मुख्यतया दैनिक सन्ध्या-हवन की अनुष्ठान-प्रक्रिया के सम्बन्ध में थे। इनपर निर्णय देकर सभा ने आर्यों के लिए एकसदृश पूजा-पद्धति के प्रचलन का प्रयत्न किया, जिसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आर्य विवाह कानून—आर्यसमाज गुण-कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में विश्वास रखता है, और जन्ममूलक जात-पाँत को नहीं मानता। विवाह-सम्बन्ध के निर्धारण में भी वह जात-पाँत की उपेक्षा कर गुण-कर्म की अनुकूलता को महत्त्व देता है। हिन्दू लॉ के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान को पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं माना जाता था। गुण-कर्मानुसार विवाह-सम्बन्ध के पक्षपाती आर्यसमाजियों में अन्तर्जातीय विवाह अच्छी बड़ी संख्या में होने लग गये थे। पर ऐसे विवाहों के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी बाधा थी, कि उनसे उत्पन्न सन्तान कानून के अनुसार दायभाग की अधिकारी नहीं मानी जाती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए पृथक् आर्य-विवाह कानून के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसीलिए दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर यह निश्चय किया गया था, कि "शीघ्र ही लेजिस्लेटिव एसेम्बली में आर्य-विवाह बिल को उपस्थित कराया जाए, ताकि आर्यसमाज के प्रचार में जो बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं, उनका निवारण हो सके और आर्य जनता के गुण-कर्म और स्वभावानुसार विवाहादि संस्कारों का प्रचार हो सके।" इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने का कार्य सार्वदेशिक सभा ने अपने हाथ में ले लिया। मेरठ के चौधरी मुख्तार सिंह उस समय एसेम्बली के सदस्य थे। उन्हें बिल पेश करने का कार्य सुपुर्द किया गया। बिल पेश होने से पूर्व आर्य जगत् तथा आर्य समाचारपत्रों में बिल के पक्ष में आन्दोलन किया गया, और बहुत-से आर्यसमाजों ने बिल का समर्थन करते हुए उसके पक्ष में प्रस्ताव स्वीकृत किये और उन्हें भारत सरकार के पास भेजा। २० जनवरी, १९३५ को चौधरी मुख्तार सिंह ने आर्य विवाह बिल एसेम्बली में प्रस्तुत कर दिया। पर इसी बीच कांग्रेस द्वारा असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया था, जिसके कारण एसेम्बली के कांग्रेसी सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिये। चौधरी मुख्तार सिंह भी कांग्रेस टिकट पर एसेम्बली में चुने गये थे, अतः उन्होंने भी त्याग-पत्र दे दिया, और आर्य विवाह बिल की स्वीकृति के मामले को आगे नहीं बढ़ाया जा सका। सन् १९३५ में नये चुनावों का कांग्रेस ने बहिष्कार नहीं किया था, और आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता श्री घनश्यामसिंह गुप्त एसेम्बली में निर्वाचित हो गये थे। आर्य विवाह बिल को स्वीकृत कराने की उत्तरदायिता अब श्री गुप्त ने अपने हाथों में ले ली, और उनके प्रयत्न से वह बिल सिलेक्ट

कमेटी में होकर सन् १९३७ में एसेम्बली के समक्ष प्रस्तुत हुआ। बहुत वाद-विवाद और आन्दोलन के पश्चात् आर्य विवाहों के सम्बन्ध में जो कानून स्वीकार किया गया, उसकी मुख्य बात निम्नलिखित थी—"हिन्दू कानून में चाहे कुछ भी विहित हो, और प्रथाएँ व प्रचलित व्यवहार चाहे इसके विरुद्ध भी क्यों न हों, इस कानून के बनने से पूर्व अथवा पश्चात् आर्यसमाजी पुरुष और स्त्री का जो विवाह आर्यसमाजी विधि से सम्पन्न हुआ हो, उसे इस कारण अवैध घोषित नहीं किया जाएगा कि विवाह करनेवाले पुरुष और स्त्री हिन्दुओं की भिन्न जातियों या उपजातियों के हैं, या उपजातियों के हैं, या विवाह से पहले वे दोनों या उनमें से कोई एक हिन्दू धर्म से भिन्न किसी धर्म का अनुयायी था।" इस कानून के बन जाने पर हिन्दुओं में अन्तर्जातीय विवाह या शुद्ध हुए व्यक्तियों से विवाह के मार्ग में जो कठिनाइयाँ थीं, वे सब दूर हो गयीं।

जन-गणना—भारत में प्रति दस वर्ष बाद नये सिरे से जनगणना की जाती है। इसके लिए जो फार्म सरकारी कर्मचारियों द्वारा भरे जाते थे, उनमें सबके 'धर्म' तथा 'जाति' का भी उल्लेख किया जाया करता था। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय हैं, और कायस्थ, अग्रवाल, जाट, गूजर, चमार आदि बहुत-सी जातियाँ हैं। जनगणना करते हुए हिन्दुओं के धर्म और जाति का इसी ढंग से उल्लेख किया जाता था। पर आर्यसमाज जन्ममूलक जात-पाँत को नहीं मानता। सन् १९३१ में नई जनगणना होनी थी। सार्वदेशिक सभा का यह विचार था, कि इस जनगणना में सब आर्यसमाजी अपना धर्म "वैदिक" लिखाएँ, और जाति 'आर्य'। १२ नवम्बर, सन् १९२७ को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने इस विषय पर विचार कर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—"निश्चय हुआ कि सार्वदेशिक सभा की ओर से सेन्सस कमिश्नर तथा भारत सरकार को लिखा जाए कि वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार आर्यसमाज में प्रवेश करने पर किसी व्यक्ति की कोई जाति (कास्ट) नहीं रहती। इस कारण उन लोगों की, जो अपने को 'आर्य' मानते हैं, कोई जाति नहीं लिखी जा सकती। अतः सब सेन्सस-कर्मचारियों को सूचित कर दिया जाए कि वे किसी भी आर्य के जाति न बतलाने पर जाति के पूछने का आग्रह न करें।" इस प्रस्ताव की एक प्रति २० दिसम्बर, १९३० को सरकार की सेवा में भेज दी गयी, जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। इसी के परिणाम-स्वरूप १९३१ की जनगणना में जिन लोगों ने अपने को 'आर्य' लिखाया, उनकी जाति का उल्लेख नहीं किया गया। १९३१ की जनगणना में ९,९०,२३३ व्यक्तियों ने अपने को 'आर्य' लिखाया था, जिनमें ५,४७,९६४ पुरुष थे, और ४,४२,२६९ स्त्रियाँ थीं।

मैडिकल मिशन—सन् १९३५ में सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में कैप्टिन डॉक्टर रामचन्द्र (रिटायर्ड सिविल सर्जन) ने मसूरी में श्रीमद्दयानन्द मैडिकल मिशन की स्थापना की, जिसमें रोगियों की चिकित्सा और शल्यक्रिया निःशुल्क की जाती थी। पर यह मिशन डॉक्टर रामचन्द्र के देहावसान के साथ समाप्त हो गया।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान कार्यकलाप का ही इस अध्याय में उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि अपनी स्थापना के बाद चौथाई सदी के स्वल्पकाल में ही इस सभा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया था।

बीसवाँ अध्याय

महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव

(१) जन्म शताब्दी योजना

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म सम्वत् १८८१ विक्रमी (सन् १८२४)में हुआ था। अतः आर्यसमाजों में यह चर्चा चल रही थी, कि महर्षि का जन्म हुए सौ वर्ष पूरे हो जाने पर जन्म शताब्दी महोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाना चाहिए। सबसे पूर्व इस सम्बन्ध में श्री मदनमोहन सेठ ने सन् १९१८ के 'आर्यमित्र' के ऋषि-अंक में एक लेख लिखकर आर्य जनता के सम्मुख जन्म शताब्दी मनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसका सर्वत्र स्वागत किया गया। श्री मदनमोहन सेठ उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के मान्य नेता थे, और सन् १९१८ में गोरखपुर में सब-जज के पद पर नियुक्त थे। उस समय वह प्रतिनिधि सभा के मन्त्री भी थे। उनके प्रस्ताव को स्वीकृत कर सार्वदेशिक सभा तथा परोपकारणी सभा की ओर से सितम्बर, १९२० में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें सम्मिलित होने के लिए सब आर्य प्रतिनिधि सभाओं, प्रमुख आर्य-संस्थाओं, संन्यासियों तथा विद्वानों को निमन्त्रण भेजे गये। यह सभा २ और ३ सितम्बर १९२० को दिल्ली में हुई। सभा में निश्चय किया गया, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्मशताब्दी सम्वत् १९८१(सन् १९२५) में शिवरात्रि के अवसर पर मथुरा में मनायी जाए। उस समय महर्षि के जन्म-स्थान तथा जन्म-तिथि के सम्बन्ध में पूर्णरूप से ऐकमत्य नहीं था। शिवरात्रि पर बालक मूलशंकर को बोध हुआ था, और मथुरा में उन्होंने दण्डी स्वामी गुरु विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त की थी, अतः यह उचित समझा गया कि उनकी जन्म शताब्दी मथुरा में शिवरात्रि-पर्व पर मनायी जाए। यद्यपि महर्षि का जन्म मथुरा में नहीं हुआ था, पर विद्याप्राप्ति से मनुष्य का दूसरा जन्म होता है, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर मथुरा में जन्म शताब्दी मनाने का निर्णय कर लिया गया। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया कि उस दिन सब आर्यसमाज भी स्थानीय उत्सवों का आयोजन करें, और मथुरा में महोत्सव के साथ एक बड़ी विद्वत्परिषद् भी की जाए। शताब्दी महोत्सव की व्यवस्था व तैयारी के लिए दिल्ली में आयोजित सभा ने निम्नलिखित निश्चय किया—"शताब्दी महोत्सव के प्रबन्ध के लिए एक शताब्दी-सभा बनायी जाए और उसका संगठन इस प्रकार रखा जाए कि उसमें सार्वदेशिक और परोपकारिणी सभा के समस्त सदस्य, प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के सात, भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् के दो सदस्य एवं सात संन्यासी और सात देवियाँ और प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश), पद के एतबार से, शामिल किये जाएँ।" इस निश्चय के अनुसार दिसम्बर, १९२२ में गुरुकुल वृन्दावन के वार्षिकोत्सव

पर जन्म शताब्दी सभा का संगठन कर लिया गया। सभा के कुल सदस्य ८६ थे, जिनमें २७ सार्वदेशिक सभा के सदस्य, २३ परोपकारिणी के सदस्य, ७ प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य, ७ संन्यासी, ७ देवियाँ, १४ प्रतिष्ठित सदस्य (जिन्हें इसी सभा द्वारा मनोनीत किया गया था) और आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के प्रधान थे। सभा का कोरम ७ निर्धारित किया गया। वृन्दावन में जन्म-शताब्दी सभा के पदाधिकारी भी निर्वाचित कर लिये गये, जो निम्नलिखित थे—

प्रधान	श्री स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी
उपप्रधान	श्री महात्मा नारायण स्वामी
	श्री महात्मा हंसराज, लाहौर
	श्री डॉक्टर कल्याणदास देसाई, बम्बई
	श्री हरविलास शारदा, अजमेर
	श्री सेठ जयनारायण, कलकत्ता
मन्त्री	बाबू सीताराम लखीमपुर
उपमन्त्री	श्री मदनमोहन सेठ
कोषाध्यक्ष	बाबू श्रीराम, आगरा

जुलाई, सन् १९२३ में स्वामी श्रद्धानन्द ने सभा के प्रधान-पद से त्यागपत्र दे दिया। उनका कथन था, कि वह महोत्सव की तैयारी के लिए पूरा समय नहीं दे सकते। इसपर शताब्दी सभा ने स्वामी जी से प्रार्थना की, कि वह प्रधान-पद पर अपना नाम रहने दें, और निश्चय किया कि महात्मा नारायण स्वामी कार्यकर्ता-प्रधान के रूप में शताब्दी के सम्पूर्ण कार्यकलाप का संचालन करें। क्योंकि शताब्दी सभा के मन्त्री बाबू सीताराम और उपमन्त्री श्री मदनमोहन सेठ सभा के कार्यालय से दूर रहने के कारण उसपर समुचित ध्यान नहीं दे सकते थे, अतः यह निश्चय किया गया कि यद्यपि बाबू सीताराम और श्री मदनमोहन सेठ मन्त्री और उपमन्त्री के पदों पर पूर्ववत् बने रहें, पर उनका कार्यभार मन्त्री के रूप में स्वामी सच्चिदानन्द और उपमन्त्री के रूप में बाबू गजाधरप्रसाद संभाल लें। उस समय सार्वदेशिक सभा के मन्त्री डॉक्टर केशवदेव शास्त्री थे। उनका सक्रिय सहयोग जन्म शताब्दी सभा के अधिकारियों को सदा प्राप्त रहा। सभा के सदस्यों की संख्या ८६ थी, जिसे अधिक समझकर ३६ सदस्यों की कार्यकारिणी सभा बना दी गयी, और उसका कोरम ५ रख दिया गया। इस व्यवस्था के कारण शताब्दी सभा के अधिवेशन सुगमता से किये जा सकते थे। शताब्दी की सब व्यवस्था व तैयारी करने के प्रयोजन से महात्मा नारायण स्वामी ने मथुरा को अपना केन्द्र बनाया, और अन्य सब बातों की ओर से ध्यान हटाकर इस महोत्सव का सब कार्य अपने हाथों में ले लिया।

महोत्सव को सफल बनाने तथा उस द्वारा कुछ ठोस कार्य किये जाने के प्रयोजन से शताब्दी कार्यालय की ओर से आर्यसमाजों, आर्य संस्थाओं तथा विशेष आर्य-व्यक्तियों के पतों पर समय-समय पर अनेक प्रपत्र (बुलेटिन) भेजे गये। इन प्रपत्रों की संख्या बीस थी। प्रथम प्रपत्र (१ जनवरी, १९२३) में यह सूचना दी गयी कि विद्वानों की एक समिति इस प्रयोजन से बनायी गयी है, कि वह समाज-मन्दिरों तथा यज्ञवेदियों के ऐसे चित्र तैयार करे जिनके अनुसार सब समाज-मन्दिरों व वेदियों का निर्माण किया

जाया करे, आर्यसमाज के पर्वों व त्योहारों की पद्धति तैयार करे, एक आर्य स्मृति-संग्रह तैयार करे और कुछ ऐसे वेदमन्त्रों का चयन करे, जिन्हें आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में सब मिलकर गाया करें। साथ ही, इस बुलेटिन द्वारा यह सूचित किया गया था, कि वैदिक सिद्धान्तों पर एक अंग्रेजी पुस्तक तैयार करने के लिए आचार्य रामदेव, प्रिंसिपल दीवानचन्द और पण्डित घासीराम की एक कमेटी बनायी गयी है, सत्यार्थ-प्रकाश का संस्कृत में अनुवाद कराने का निश्चय किया गया है, और मथुरा में जिस मकान में स्वामी विरजानन्द रहा करते थे उसे खरीदने तथा वहाँ एक आश्रम स्थापित करने का निर्णय किया गया है। दूसरा बुलेटिन १ एप्रिल, १९२४ को जारी किया गया था, जिस द्वारा यह सूचित किया गया था, कि आर्यसमाज की ध्वजाओं (झण्डों) का रंग गेरुआ होना चाहिये और उसपर सूर्य का आकार बनाकर बीच में ओ३म् का चिह्न अंकित किया जाना चाहिए। साथ ही, यह भी सूचित किया गया, कि श्रीमद्दयानन्द सम्वत् का आरम्भ विक्रम सम्वत् के अनुसार किया जाया करे और जन्म शताब्दी महोत्सव के बाद उस सम्वत् का १०१वाँ वर्ष माना जाय। ५ सितम्बर, १९२४ को जारी किये गये चौथे बुलेटिन में जन्म-शताब्दी महोत्सव के कार्यक्रम से जनता को अवगत कराया गया। इस कार्यक्रम के अनुसार महोत्सव के लिए दो मण्डप (पण्डाल) बनाये जाने का निश्चय किया गया था। बड़े पण्डाल में भजन और व्याख्यान रखे गये थे और छोटे पण्डाल में आर्य परिषद् के अधिवेशन। परिषद् में किन विषयों पर विचार किया जाएगा, यह भी इस बुलेटिन में सूचित कर दिया गया था। पाँचवें और छठे प्रपत्रों द्वारा मथुरा में शताब्दी के अवसर पर लोगों के निवास, भोजन, स्वयंसेवकों की व्यवस्था आदि के विषय में सब आवश्यक जानकारी दी गयी थी। १६ नवम्बर, १९२४ को प्रकाशित प्रपत्र में इस बात पर प्रकाश डाला गया था, कि शताब्दी महोत्सव के बाद आर्यसमाज के कार्य को प्रगति देने के लिए कौन-से पग उठाये जाएँगे। इस प्रपत्र का निम्नलिखित संदर्भ महत्त्व का था—"ऋषि दयानन्द ने, जिनकी हम जन्म-शताब्दी मनाने लगे हैं, अपने स्वीकार-पत्र में तीन बातें लिखी थीं—(१) वेद वेदांगादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने और छापने-छपवाने, (२) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक-मण्डली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कराना आदि, (३) आर्यावर्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के रक्षण, पोषण और सुशिक्षा में उनका छोड़ा हुआ धन व्यय किया जाना। स्वीकारपत्र में अंकित तीन बातों में से अन्तिम के लिए तो आर्य-समाज ने अवश्य कुछ यत्न किया है, और अनेक स्थानों पर अनाथालय खुले हुए हैं जिनमें सहस्रों अनाथ बालक-बालिकाओं का भरण-पोषण होता है। पर बाकी दो बातों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया। वैदिक प्रेस अजमेर केवल एक बार ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य ही छाप सका है, जिसका छपना स्वामी जी के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो चुका था। इसीलिए शताब्दी सभा द्वारा यह निश्चय हुआ है, कि जिन दो बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है उन्हीं की पूर्ति का विशेष यत्न शताब्दी महोत्सव के बाद शताब्दी के उपलक्ष्य में किया जावे, अर्थात् देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में वेद-प्रचार करने का कार्य प्रारम्भ किया जावे, और मौखिक प्रचार के सिवा लेखबद्ध प्रचार का कार्य भी पुस्तक-प्रकाशन द्वारा जारी किया जावे। शताब्दी महोत्सव के अन्त में इन्हीं

कार्यों के लिए धन और जन दोनों के लिए अपील की जावेगी।" आठवें बुलेटिन में सब आर्य संस्थाओं से यह अनुरोध किया गया था, कि शताब्दी महोत्सव के अवसर पर वे दस-दस दिनों की छुट्टी रखें, ताकि उनके विद्यार्थी, अध्यापक व कर्मचारी उत्सव में सम्मिलित हो सकें। २२ दिसम्बर, सन् १९२४ को प्रकाशित बुलेटिन में यह सूचित किया गया था, कि आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संग का कार्यक्रम किस प्रकार होना चाहिये। यह क्रम निम्नलिखित था—सत्संग प्राय प्रातःकाल हुआ करें, जिनमें सबसे पूर्व सब उपस्थित सभासद् मिलकर सन्ध्या या कुछ वेदमन्त्रों का पाठ उच्च स्वर से किया करें। इसके बाद हवन हुआ करे। फिर ईश्वर-स्तुति और प्रार्थना के भजन गाये जाया करें। तदनन्तर वेद और आर्ष ग्रन्थों की कथा हो। तत्पश्चात् उपदेश हुआ करे। फिर सब सभासद् मिलकर उच्च-स्वर से ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के चार मन्त्रों का पाठ किया करें। फिर भजन हो। और अन्त में आवश्यक सूचनाएँ देकर शांति-पाठ के बाद सत्संग विसर्जन हुआ करे। दसवें से चौदहवें तक के बुलेटिनों में शताब्दी-महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आनेवाले यात्रियों को आवश्यक सूचनाएँ व जानकारी दी गई थी। २६ जनवरी, सन् १९२५ को प्रकाशित पन्द्रहवाँ बुलेटिन महत्त्व का था, क्योंकि उसमें विदेश-प्रचार तथा वैदिक साहित्य के प्रकाशन के सम्बन्ध में उस योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी थी, जिसके लिये शताब्दी-महोत्सव में धन की अपील की जानी थी। "विदेश-प्रचार की जरूरत किसी से छिपी हुई नहीं है। वैज्ञानिक और धार्मिक जगत् का मुँह वेदों की ओर हो गया है।...यूरोप, अमेरिका आदि में किसी देश में भी प्रचार करने के लिए निरन्तर एक विद्वान् उपदेशक का वहाँ रहना जरूरी है। कम-से-कम पाँच देशों में तो प्रचार शुरू करना चाहिए। एक उपदेशक के साधारणतया निर्वाह के लिए जो विदेश में रहे, कम-से-कम २५० रुपये मासिक की जरूरत है। स्थिर प्रबन्ध होने के लिए पचास सहस्र धन की एक स्थिर निधि अपेक्षित है, जिसका सूद २५० रुपये मासिक हो। इस प्रकार के पाँच उपदेशकों के स्थिर प्रबन्ध के लिए ढाई लाख रुपये होने चाहियें।" लेखबद्ध प्रचार के लिए बुलेटिन में कहा गया था, कि "इसके लिए वैदिक साहित्य मण्डल (Publishing House) खोला जायेगा, जिसके द्वारा वेद और वैदिक साहित्य के अनेक ग्रन्थ छपेंगे। प्रत्येक देश की भाषा में वेदों का अनुवाद छपेगा। संस्कृत भाषा के सहस्रों अप्रकाशित ग्रन्थ प्रकाशित किये जाएँगे और देश और विदेश सभी जगह उनका प्रचार होगा जिससे वैदिक सभ्यता का विस्तार होगा, प्राचीन ऋषि-मुनियों की शिक्षा से जगत् दीक्षित किया जाएगा। इसके लिए भी ढाई लाख रुपये की जरूरत होगी।" सोलहवें से बीसवें तक के बुलेटिनों में जन्म-शताब्दी महोत्सव के सम्बन्ध में विविध सूचनाएँ प्रसारित की गयी थीं। एक प्रपत्र में आर्य जनता से अनुरोध किया गया था कि महर्षि के जन्मदिन (१२ फरवरी) पर सर्वत्र जन्मोत्सव मनाया जाय, बालकों को मिठाई बाँटी जाए, सहभोजों की व्यवस्था की जाए और रात्रि के समय घरों, समाज-मन्दिरों और संस्थाओं में रोशनी की जाए। उन्नीसवें बुलेटिन में उस सम्मिलित व सामूहिक प्रार्थना का प्रारूप अंकित था, जो जन्म-शताब्दी महोत्सव में सम्मिलित नर-नारियों को परस्पर मिलकर करनी थी।

शताब्दी महोत्सव किस प्रकार मनाया जाना है, उसका कार्यक्रम क्या होना है, और उसमें किन महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श कर आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम

का निर्धारण करना है—इन सब बातों के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए शताब्दी सभा व उसकी कार्यकारिणी की बैठकें निरन्तर होती रहीं और उनमें जो निश्चय किये गये, उनकी सूचना आर्य जनता को दी जाती रही। इसीका यह परिणाम हुआ, कि देश-विदेश के आर्य नर-नारियों में जन्म-शताब्दी के लिए उत्साह उत्पन्न हो गया, और उसे अपूर्व धूम-धाम के साथ मनाया जा सका। शताब्दी सभा द्वारा महोत्सव के लिए मथुरा शहर और मथुरा जंक्शन के बीच सुविस्तृत भूमि प्राप्त कर ली गयी, जिसकी लम्बाई डेढ़ मील तथा चौड़ाई एक मील की थी। इसपर 'दयानन्द नगर' का निर्माण किया गया जिसे चौदह कैम्पों में विभक्त किया गया था—संयुक्त प्रान्त, पंजाब, राजस्थान, बंगाल, बिहार, देहली, मध्यप्रदेश, बरार, बम्बई, मद्रास, अफ्रीका, अन्य द्वीप-द्वीपान्तर कैम्प, संन्यासी कैम्प और गाड़ी तथा मोटर कैम्प। दयानन्द नगर में पाँच यज्ञशालाओं और पण्डालों का निर्माण किया गया था। एक पण्डाल बहुत बड़ा था, जिसमें २५,००० से भी अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे। चार पण्डाल आर्य परिषद् आदि के लिए बनाये गये थे। दयानन्द-नगर का अपना बाजार था, जिसमें शुद्ध निरामिष भोजन के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी निर्धारित मूल्य पर प्राप्त की जा सकती थीं। शताब्दी कार्यालय, डाकघर, तारघर, औषधालय (५ आयुर्वेदिक तथा ३ एलोपैथिक) और भोजनशाला आदि सब दयानन्द-नगर में ही थे, जिनके कारण वह पूर्णतया आत्मनिर्भर हो गया था। शताब्दी सभा ने जो इस ढंग की सुनियोजित व सुविचारित योजना महोत्सव के लिए तैयार की, उसका प्रधान श्रेय महात्मा नारायण स्वामी को प्राप्त था। यह उन्हीं के अनुपम कर्तृत्व, प्रतिभा व नेतृत्व की क्षमता का परिणाम था, जो शताब्दी-महोत्सव इतना सफल हो सका।

(२) जन्म शताब्दी महोत्सव का विवरण

महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए कितने व्यक्ति बाहर से मथुरा आये थे, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि इस अवसर पर १,६०,००० रेलवे टिकट मथुरा जंक्शन पर और ५७,००० टिकट मीटर-गेज (छोटी) लाइन के मथुरा छावनी स्टेशन पर यात्रियों से संग्रह किये गये थे। २,१७,००० यात्री रेल से मथुरा आये थे, और ४,००० के लगभग मोटर बसों, ताँगों तथा बैलगाड़ियों से। निजी मोटर कारों से मथुरा आनेवाले यात्री भी कम नहीं थे। इस प्रकार यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि जन्म शताब्दी महोत्सव में बाहर से आये हुए लोगों की संख्या तीन लाख के लगभग अवश्य थी। ये यात्री दयानन्द नगर के कैम्पों के अतिरिक्त मथुरा नगर की धर्मशालाओं और मित्रों के घरों पर ठहरे हुए थे। दयानन्द नगर के कैम्पों का निर्माण दिल्ली के ठेकेदार लाला ज्ञानचन्द और उनके सह-योगियों ने कराया था, और उसका सब प्रबन्ध आगरा के बाबू शालिग्राम वकील के अधीन था। कैम्प में फूस के मकान (छप्पर) बनाये गये थे, और छोलदारियों तथा तम्बुओं की भी बड़ी संख्या में व्यवस्था की गयी थी। दयानन्द नगर का सब प्रबन्ध आर्य स्वयंसेवकों के हाथों में था। इसके लिए पुलिस की सहायता नहीं ली गयी थी। महोत्सव के परिसर में लाखों आदमियों का आना-जाना रहता था। पर वहाँ का प्रबन्ध इतना उत्तम था, कि चोरी आदि की एक भी दुर्घटना नहीं हुई। महोत्सव के पण्डालों तथा दयानन्द नगर के कैम्पों व बाजारों में स्त्रियाँ बिना किसी रोकटोक के आती-जाती थीं।

कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था। भोजन का प्रबन्ध अत्यन्त उत्तम था। सब वस्तुओं की कीमतें शताब्दी सभा द्वारा निर्धारित कर दी गयी थीं। सिगरेट, बीड़ी आदि का बेच सकना व प्रयोग करना निषिद्ध था।

महोत्सव का प्रारम्भ १५ फरवरी (सन् १९२५) को यज्ञ से हुआ। बड़े पण्डाल के चारों ओर चार यज्ञकुण्ड बनाये गये थे, जिनमें चारों वेदों के मन्त्रों से आहुतियाँ दी गईं। यज्ञ की समाप्ति पर जहाँ बड़े पण्डाल में कार्य प्रारम्भ हुआ, वहाँ साथ ही छोटे पण्डाल में आर्यपरिषद् (विद्वत्परिषद्) की भी कार्यवाही शुरू हो गयी। प्रातः ८ बजे से रात के १० बजे तक महोत्सव का बड़ा पण्डाल नर-नारियों से खचाखच भरा रहता था, और लगातार भजन तथा व्याख्यान होते रहते थे। जिन विद्वानों के वहाँ भाषण हुए, उनमें स्वामी अच्युतानन्द, कुवर चाँदकरण शारदा, स्वामी मुनीश्वरानन्द, डॉक्टर केशवदेव शास्त्री, पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, श्री गंगागिरि, पण्डित अयोध्या प्रसाद, पण्डित चमूपति, पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर, महात्मा हंसराज, भाई परमानन्द, डॉक्टर बालकृष्ण, लाला खुशहालचन्द, प्रिंसिपल दीवानचन्द, डॉक्टर दमयन्ती देवी, महाशय मधुसूदन, श्री वेचनदेव (मारिशस), महाशय देवीदयाल (दक्षिण अफ्रीका) और पण्डित तोताराय सनाढ्य के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतिदिन मुख्य पण्डाल की कार्यवाही धर्मोपदेश से प्रारम्भ होती थी। ये धर्मोपदेश आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासियों—स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी अच्युतानन्द, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी सत्यानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द आदि द्वारा दिये जाते थे। अनेक आर्य महिलाओं के भी महोत्सव में भाषण हुए। श्रीमती सत्यवती (जालन्धर), श्रीमती दमयन्ती देवी, श्रीमती चन्द्रावती (इन्द्रप्रस्थ) और श्रीमती सुमित्रादेवी इनमें मुख्य थीं।

"१७ फरवरी को दिन के दो बजे मथुरा में नगर-कीर्तन का जुलूस निकाला गया। दोपहर के १२ बजे से ही आर्य जनता जुलूस के लिए बड़े पण्डाल के बाहर एकत्र होने लग गयी थी। ठीक दो बजे संन्यासियो का मण्डल अग्रसर हुआ और एक के पीछे दूसरी मण्डली आगे बढ़ने लगी। अनुमानतः ढाई बजे तक नगर-कीर्तन नगरी में जा पहुँचा, और सौ से अधिक मण्डलियाँ व्यवस्थानुसार चलने लगीं। जनता के कुतुहल और प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही जब उन्हें आर्य नर-नारियों के अनन्य जोश और उत्साह का उद्बोधन हुआ। अनुमानतः चार सौ संन्यासी गेरुए वस्त्रों की पताकाएँ हाथ में धारण किये वेदमन्त्रों का उच्चारण करते और 'दयानन्द की जय' के जयकारे बुलाते हुए आगे-आगे चल रहे थे। गुरुकुल के स्नातक और ब्रह्मचारी, कन्या महाविद्यालय की स्नातिकाएँ और छात्राएँ, भिन्न-भिन्न कॉलिजों, स्कूलों और पाठशालाओं के विद्यार्थी, अनाथालयों के बालक और बालिकाएँ, तिसपर एक ही संग अनुमानतः ३५,००० पंजाब की स्त्रियों का नगर-कीर्तन, जिसमें कई-एक बैण्ड तथा भजन-मण्डलियाँ भी थीं—इन सबका नगर-कीर्तन, वैदिक धर्म सम्बन्धी मनोहर आह्लादजनक भजनों की गूँज, बीच-बीच में नवयुवकों का 'दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे' आदि गीतों का गाना और क्षण-क्षण में 'वैदिक धर्म की जय', 'दयानन्द की जय' की ध्वनि और प्रतिध्वनियाँ मथुरा नगरी की नींवों को कम्पायमान करने के लिए पर्याप्त थीं। अनुमानतः दो लाख आर्य नर-नारियों ने इस संकीर्तन में भाग लिया। दर्शकों की संख्या एक लाख से न्यून न होगी। यह एक ऐसा अनुपम दृश्य था, जो चिरकाल-पर्यन्त उन सज्जनों के स्मृति-पटल पर

अंकित रहेगा, जिन्हें इस नगर-कीर्तन में सम्मिलित होने अथवा देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मथुरा सनातन धर्म और पण्डों का केन्द्र है। मथुरा और वृन्दावन के बहुमूल्य मन्दिर जगद्विख्यात हैं। इस नगरी में गत चालीस वर्षों से आर्यसमाज का घोर विरोध होता रहा है···इस विचार की तो कल्पना भी न हो सकती थी कि भगवान् दयानन्द की मृत्यु के ४२ वर्ष के अनन्तर ही···वेदों के अनुयायी आर्य नर-नारी लाखों की संख्या में इकट्ठे हो वेदों का नाद गुँजावेंगे और मथुरा के निवासी उनपर पुष्पवृष्टि करेंगे।··· कौन मान सकता था कि अर्ध-शताब्दी में ऐसा परिवर्तन हो जायगा कि पण्डों की सन्तान और मथुरा के सनातन धर्मावलम्बी आर्यों के लिए सबीले लगा देंगे और उनके संग जय-कारों का नाद गुँजावेंगे, और मकानों की छतों पर से साधुवाद कहेंगे और पुष्पवृष्टि करेंगे।" यह उद्धरण सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित जन्म शताब्दी के वृत्तान्त से लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि जन्म शताब्दी महोत्सव के कारण मथुरा में आर्यसमाज की धूम मच गयी थी, और वहाँ के कट्टर सनातनी भी महर्षि के प्रति आदरभाव रखने लगे थे। इसी का यह परिणाम था कि पौराणिकों के सुदृढ़ गढ़ मथुरा में आर्यसमाज का यह महोत्सव बिना किसी उग्र विरोधभाव व अशान्ति के निर्विघ्न सम्पन्न हो सका था, यद्यपि २१ फरवरी को वहाँ एक ऐसी दुर्घटना हो गयी थी, जिसे इतने विशाल समारोह लिए अस्वाभाविक व अनहोनी नहीं कहा जा सकता। कुछ आर्ययुवकों ने अपने व्यवहार से मथुरा के पुराणपन्थियों को इतना उत्तेजित कर दिया, कि वहाँ मारपीट हो गयी, जिसमें कुछ आर्य बुरी तरह घायल हो गये। यह समाचार प्राप्त होते ही शताब्दी सभा के प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द घटनास्थल पर पहुँचे और परिस्थिति को सम्भाला तथा उत्तेजित लोगों को शान्त किया।

शताब्दी महोत्सव में एक विशाल सहभोज का भी आयोजन किया गया था, जिसमें जात-पाँत, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन और छूत-अछूत का कोई भी भेद न कर आर्यों ने एकसाथ भोजन कर 'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः' के वैदिक आदेश का अनुसरण किया था। श्री महाराज सर नाहरसिंह जी शाहपुराधीश तथा जयपुर की कौंसिल के मेम्बर ठाकुर नरेन्द्रसिंह जी ने जयपुर-निवासी अन्य ठाकुरों और आर्यसमाजों के सदस्यों, प्रतिनिधि सभा के कार्यकर्ताओं, परोपकारिणी और सार्वदेशिक सभा के सभासदों के साथ सम्मिलित हो प्रीति-भोजन में 'संगच्छध्वं सम्वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' को चरितार्थ करते हुए आर्यत्व का परिचय दिया। इस ऐतिहासिक ब्रह्मभोज में आर्यसमाज के सभी सुविख्यात संन्यासी, आर्यसमाज के नेता, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कार्यकर्ता और प्रति-ष्ठित नर-नारी उपस्थित थे। महाराजाधिराज ने सभी उपस्थित सज्जनों को निमन्त्रण के स्वीकार करने पर हार्दिक धन्यवाद दिया और अपने आचार्य महर्षि दयानन्द के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा, "आज मुझे जीवन की सन्ध्याकाल में महर्षि की शिक्षा को क्रियारूप में चरितार्थ देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है।"

(३) महोत्सव के सम्मेलन व परिषदें

शताब्दी महोत्सव के पण्डाल में जहाँ प्रतिदिन भजन और व्याख्यान होते थे, वहाँ साथ ही १५, १६ और १७ फरवरी को रात के समय आर्य सम्मेलन के भी अधिवेशन किये गये थे। इस सम्मेलन की अध्यक्षता स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा की गयी थी और उस

द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये थे—

(१) निश्चय हुआ कि महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के स्वीकारपत्र के अनुसार देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक धर्म का प्रचार किया जावे तथा एतदर्थ वैदिक धर्म प्रचार निधि की स्थापना की जावे। यह प्रस्ताव स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने प्रस्तुत किया था, और स्वामी रामानन्द से इसका अनुमोदन किया था। महाशय राजाराम सावर ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि विदेशों में उस समय तक वैदिक धर्म का प्रचार नहीं किया जा सकता, जब तक कि भारत में आर्य स्वराज्य स्थापित न हो जाय। हमें चाहिए कि पहले हम हिन्दू जाति को आर्य जाति बनाने में सब शक्ति लगा दें, जिससे हिन्दुस्तान फिर आर्यावर्त बन जाए। प्रस्ताव का समर्थन करते हुए पण्डित तोताराम सनाढ्य ने कहा—"आपको भली-भाँति ज्ञात है कि आपके २१ लाख भाई विदेश में हैं जिनमें ७ लाख विधवाएँ हैं। यदि आप चाहें तो उपदेशक भेजकर उन्हें अपना सकते हैं। आर्यसमाज में ही इस कार्य के करने की सामर्थ्य है, क्षमता है। मैं ही उनकी ओर से सन्देश लाया हूँ। उनका सन्देश है—हमें अपनाओ! बीस वर्ष तक मैंने उनकी दशा को देखा है। न उनके यज्ञोपवीत हैं न संस्कार। ये लोग ईसाई हो जाएँगे।...यदि आप लोग इनकी सहायता न करेंगे, तो ये सब हाथ से निकलकर दूसरों से जा मिलेंगे।" श्री मदनमोहन सेठ ने इस प्रस्ताव के पक्ष में बोलते हुए कहा—"स्वराज्य शब्द ऐसा प्यारा है जो सबको भाता है। पर स्वराज्य तो सबका सम्मिलित होगा, केवल आर्यों का ही न होगा। इसलिए स्वराज्य होने तक विदेशों में वैदिक धर्मप्रचार का कार्य स्थगित रखना निरर्थक है।...आर्यसमाज का उद्देश्य संसार को उठाना है, न कि केवल हिन्दुस्तान को। यूरोप आदि देशों में विज्ञान का प्रचार है, अतएव वहाँ हमारी शिक्षा का अधिक प्रभाव पड़ेगा।"

(२) "आर्य नर-नारियों की दिनों-दिन बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों और विदेशों में वैदिक साहित्य को पहुँचाने के लिए वैदिक साहित्य मण्डल की स्थापना की जाय, जिसके द्वारा आर्यभाषा में विशेषतया और अन्य भाषाओं में साधारणतया वैदिक साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों को छापा जावे, और गुरुकुलों, महाविद्यालयों, कॉलिजों, स्कूलों, पाठशालाओं, कन्या पाठशालाओं आदि संस्थाओं के लिए प्रामाणिक (स्टैण्डर्ड) टैक्स्ट बुक छापने का कार्य सम्पादन किया जावे।" डॉक्टर केशवदेव शास्त्री इस प्रस्ताव के प्रस्तावक थे, तथा बाबू श्यामसुन्दरलाल, मेहता रामचंद्र शास्त्री, पण्डित धर्मदास और लाला ज्ञानचन्द ने इसके समर्थन में भाषण किये थे। डॉक्टर शास्त्री ने इस प्रस्ताव को पेश करते हुए कहा था—"आर्यसमाज अपनी संस्थाओं से बढ़ रहा है। आवश्यक है कि इन संस्थाओं को, जिनमें हमारी सन्तान शिक्षा पा रही है, संगठित करके उनमें वैदिक सिद्धान्तों का पठन-पाठन फैला दिया जाय। हम देखते हैं कि थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाएँ अपने साथ एक बड़ा पब्लिशिंग हाउस रखती हैं। इसी प्रकार के पब्लिशिंग हाउस की आर्यसमाज को आवश्यकता है।" इस प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् सम्मेलन के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा, कि इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए पाँच लाख रुपयों की अपील की जाय। यह बात सम्मेलन ने स्वीकार कर ली, पर इसके सम्बन्ध में मेहता रामचन्द्र शास्त्री द्वारा यह कहा गया, कि "यह अपील सार्वदेशिक सभा की है। आर्य प्रादेशिक सभा इसके साथ

नहीं है।"

(३) "आर्य जनता के पारस्परिक विवादों को निबटाने के लिए यह आर्य-सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रत्येक प्रतिनिधि सभा द्वारा हर प्रान्त में एक न्याय-सभा स्थापित की जावे और अखिल भारतवर्ष के लिए भारतवर्षीय न्याय-सभा स्थिर की जावे जो प्रान्तिक विवादों को निबटाये। इन न्याय-सभाओं के नियम और व्यवस्था सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित किये जावें। निर्वाचन हर पाँचवें वर्ष किया जावे और प्रान्तिक तथा सार्वदेशिक न्याय-सभाओं के पास नियमित रजिस्टर आदि छपे हुए फार्मों पर उपस्थित रहें। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक श्री हरविलास शारदा और अनुमोदक श्री देशबन्धु गुप्त थे। पर अनेक आर्य विद्वानों ने इसका विरोध किया, जिनमें पण्डित गयाप्रसाद वकील, पण्डित रामगोपाल, मेहता रामचन्द्र शास्त्री और महाशय भगवतीप्रसाद मुख्य थे। विरोधियों का कहना था, कि यह प्रस्ताव कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्ड देने की हमारे पास कोई शक्ति नहीं है। महाशय कृष्ण, श्री मदनमोहन सेठ और पण्डित यमुनादास आर्य आदि ने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए यह युक्ति प्रस्तुत की, कि यदि दोनों फरीकैन की रजामन्दी हो, तो दण्ड की शक्ति न होते हुए भी फैसले किये जा सकते हैं। प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में वोट लिये गये। बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

(४) "यतः आर्य संस्कृति में उत्कृष्ट विवाह की विधि स्वयंवर-विवाह है और यतः वेदों में स्थान-स्थान पर कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणी को ब्रह्मचर्य धारण करने, समग्र विद्याओं को प्राप्त करने और पूर्ण स्वस्थता और यौवन के अनन्तर गुण, कर्म और स्वभावानुसार अपनी इच्छा और परीक्षा से अत्यन्त प्रीति से विवाह करने का आदेश दिया गया है, इसलिए यह सम्मेलन निश्चय करता है कि स्वयंवर-विवाहों की स्थापना की जाये और स्नातक व स्नातिकाओं को इस पद्धति के अनुसार विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया जावे।" पण्डित देवेश्वर स्नातक ने यह प्रस्ताव पेश किया और श्रीमती कौशल्यादेवी स्नातिका ने इसका अनुमोदन किया। यह प्रस्ताव भी बहुमत से ही स्वीकृत हो सका। अनेक सज्जनों ने इसका विरोध किया और इसपर यह संशोधन प्रस्तुत किया गया, कि "स्वयंवर-विवाहों की स्थापना की जावे" से पहले "स्वामी दयानन्द के उद्देश्यानुसार" और पीछे "तथा माता-पिता की सम्मति भी आवश्यक है" शब्द जोड़ दिये जावें। बहुत वाद-विवाद के अनन्तर संशोधन के साथ ही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, और वह भी सर्व-सम्मति से नहीं।

(५) "यह आर्य सम्मेलन निश्चय करता है कि शीघ्र ही लेजिस्लेटिव एसेम्बली में आर्य मैरिज बिल को उपस्थित कराया जावे, ताकि आर्यसमाज के प्रचार में जो बाधायें उपस्थित हो रही हैं उनका निवारण हो सके और आर्य-जनता में गुण, कर्म और स्वभावानुसार विवाहादि संस्कारों का प्रचार हो सके।" इस प्रस्ताव के प्रस्तावक बाबू श्यामसुन्दर लाल वकील (मैनपुरी) थे, और डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने इसका अनुमोदन किया था। जिस 'आर्य मैरिज एक्ट' को शीघ्र ही लेजिस्लेटिव एसेम्बली में पेश कराये जाने की बात इस प्रस्ताव में कही गयी थी, उसके अनुसार "आर्यसमाजियों की कोई भी शादी नाजायज नहीं ठहरायी जा सकती, चाहे स्त्री और पुरुष आर्यसमाजी बनने से पहले किसी भी धर्म से सम्बन्ध रखते हों और चाहे वे भिन्न-भिन्न धर्मों के भी क्यों न हों, और इस हालत में किसी के कानून या नियम उनपर लागू नहीं हो सकेंगे, बशर्ते कि इनका जन्म और विवाह

का सम्बन्ध मनु के धर्मशास्त्र के विरुद्ध न हो।" आर्यसमाजी कौन है, इसे प्रस्तावित एक्ट में इस प्रकार स्पष्ट किया गया था—"आर्यसमाजी वह होगा जो सार्वदेशिक सभा या किसी प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रान्त में कायम आर्यसमाज का मेम्बर हो।" श्री हरविलास शारदा ने प्रस्ताव के सिद्धान्त का तो समर्थन किया, पर उसपर यह ऐतराज किया कि अभी तक आर्यसमाजियों पर भी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में हिन्दू कानून ही लागू होते हैं, इस बिल के अनुसार जिन आर्यों का विवाह होगा उनकी सन्तान को सम्पत्ति प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होगी, हिन्दू-रीति के अनुसार होनेवाले विवाहों से उत्पन्न भाई-बिरादर आर्यसमाजी सन्तानों के रास्ते में खूब रोड़े अटकावेंगे। अनेक आर्य विद्वानों ने इस प्रस्ताव पर अपने विचार प्रकट किये। उसका विरोध भी किया गया, पर बहुमत से अन्त में प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

(६) "यह सम्मेलन स्थिर करता है कि सार्वदेशिक सभा की बनावट ऐसी कर दी जाय, जिससे उसमें तीन प्रकार के सदस्य सम्मिलित हो सकें—आर्य प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिनिधि, आर्यसमाजों के प्रतिनिधि जिनका चुनाव सार्वदेशिक सभा के बनाये नियम के अनुसार हुआ करे, और प्रतिष्ठित सभासद्।" इस प्रस्ताव के प्रस्तावक महात्मा नारायण स्वामी और अनुमोदक लाला ज्ञानचन्द थे। सार्वदेशिक सभा के संविधान व संगठन में इस द्वारा महत्त्वपूर्ण संशोधन प्रस्तावित किये गये थे। महात्मा नारायण स्वामी चाहते थे, कि सब प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं को सार्वदेशिक सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएँ जिन प्रान्तों व देशों में नहीं हैं, उनके आर्यसमाजों के प्रतिनिधि भी इस सभा में लिये जायें और विशिष्ट योग्यता के आधार पर कतिपय व्यक्ति सभा के प्रतिष्ठित सभासद् भी बनाये जायें। महात्मा जी सार्वदेशिक सभा को एक सशक्त व सर्वोपरि संगठन बनाना चाहते थे। अनेक सज्जनों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, पर महात्मा हंसराज के समर्थन से उसे बहुत बल मिला और वह स्वीकृत हो गया। महात्मा हंसराज ने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा था कि जिस प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में सब पार्टियों के प्रतिनिधि होते हैं, उसी प्रकार सार्वदेशिक सभा में भी होने चाहिएँ। पार्लियामेण्ट में यूनिवर्सिटी तक का प्रतिनिधि बैठता है। सार्वदेशिक सभा में उस परोपकारिणी सभा का भी प्रतिनिधि होना चाहिए, जिसे स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए स्थापित किया था। अन्य आर्य संस्थाओं के प्रतिनिधि भी इस सभा में सम्मिलित किये जायें।

आर्य सम्मेलन के अधिवेशन तीन दिन तक निरन्तर बड़े पण्डाल में हुए, और उस द्वारा जो प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, उनकी उपयोगिता तथा महत्त्व से इन्कार कर सकना सम्भव नहीं है। इन प्रस्तावों से वह कार्यक्रम आर्य जनता के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसे उसे भविष्य में करना था—देश-देशान्तर व द्वीप-द्वीपान्तर में वैदिक धर्म का प्रचार, बड़े पैमाने पर आर्य-साहित्य का प्रकाशन, आर्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के लिए न्याय सभा का निर्माण, आर्य मैरिज एक्ट की स्वीकृति के लिए प्रयत्न तथा सार्वदेशिक सभा को सशक्त बनाने के लिए उसके संविधान में संशोधन—ये ऐसी बातें थीं, जिनसे भविष्य के लिए आर्यसमाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सकता था।

महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव का यह अनुपम विशेषता थी, कि उसके छोटे पण्डाल में अनेक महत्त्वपूर्ण परिषदों का आयोजन किया गया था। ऐसी एक परिषद्

'धर्म परिषद्' थी, जिसमें सुप्रसिद्ध आर्य विद्वानों द्वारा वैदिक धर्म के विविध सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए निबन्ध पढ़े गये थे। ये निबन्ध निम्नलिखित विषयों पर थे—ईश्वरीय ज्ञान (पण्डित धर्मदेव सिद्धान्तालंकार), वर्णव्यवस्था (पण्डित धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि), ईश्वर, जीव और प्रकृति का अनादित्व (पण्डित घासीराम एम० ए०), संस्कार मीमांसा (राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी), और षड्दर्शनों का समन्वय (पण्डित रामसुख मिश्र)। इनके अतिरिक्त धर्म-परिषद् के लिए तीन अन्य निबन्ध लिखवाये गये थे, जिन्हें समय की कमी के कारण पढ़ा नहीं जा सका था—वैदिक संस्कार का स्वरूप (पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री), ऋषि दयानन्द के भाष्य की शैली (पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार) और वैदिक कर्मकाण्ड और पशुवध (पण्डित रुद्रदेव वेदशिरोमणि)। सभी निबन्ध विद्वत्तापूर्ण और मौलिक थे। धर्म-परिषद् का अध्यक्ष-पद स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने ग्रहण किया था।

शताब्दी-महोत्सव में एक धर्म-सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था, जिसमें विभिन्न धर्मों के विद्वानों को अपने-अपने धार्मिक मन्तव्यों को प्रतिपादित व प्रस्तुत करने के लिए निमन्त्रित किया गया था। इस सम्मेलन का प्रयोजन यह था, कि जनता को विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों से जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिले, और वह स्वयं सत्यासत्य का निर्णय कर सके। इस सम्मेलन के भी तीन अधिवेशन १५, १६ और १७ फरवरी को हुए, जिनकी अध्यक्षता पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० ने की। धर्म-सम्मेलन में चार निबन्ध पढ़े गये—(१) वैदिक धर्म, वैदिक-दर्शनों में आत्मा, परमात्मा, सृष्टि-उत्पत्ति आदि; (२) जैन धर्म के मूल सिद्धान्त, (३) बहाई धर्म का सन्देश, (४) ईसाई मत के उपदेश। पारसी, बौद्ध और मुसलिम धर्मों के विद्वानों को भी सम्मेलन में निमन्त्रित किया गया था, पर उनका कोई प्रतिनिधि महोत्सव में उपस्थित नहीं हुआ। 'ईसाई मत के उपदेश' निबन्ध अंग्रेजी में था, जिसे रेवरेण्ड डॉक्टर क्लैन्सी ने पढ़ा था। वह स्वयं हिन्दी में भी उसका अभिप्राय श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करते जाते थे।

शताब्दी-महोत्सव के कार्यक्रम में आर्य परिषद् या आर्य विद्वत्परिषद् का विशेष महत्त्व था। शताब्दी-सभा की कार्यकारिणी समिति की २३ एप्रिल, १९२४ की बैठक में किये गये निर्णयों के अनुसार इस परिषद् के १०० सदस्य होने थे, जिनमें विविध प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त परोपकारिणी सभा के प्रधान तथा मन्त्री और शताब्दी-सभा द्वारा मनोनीत सदस्यों को सम्मिलित किया जाना था। पर बाद में अन्य भी बहुत-से व्यक्ति इस परिषद् में सदस्यरूप से सम्मिलित कर लिये गये, और परिषद् के सदस्यों की संख्या २६४ हो गयी। इनमें संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) और पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के बीस-बीस, बम्बई प्रतिनिधि सभा के तेरह, मध्यप्रदेश प्रतिनिधि सभा के सात, बिहार-बंगाल प्रतिनिधि सभा के सत्रह और राजस्थान प्रतिनिधि सभा के चौदह प्रतिनिधि थे। इनके अतिरिक्त मद्रास, सिन्ध तथा अफ्रीका के आर्य विद्वानों एवं परोपकारिणी सभा को भी समुचित प्रतिनिधित्व दिया गया था, और शताब्दी-सभा द्वारा ६२ व्यक्ति आर्य विद्वत्-परिषद् के लिए मनोनीत भी किये गये थे। महोत्सव के छोटे पण्डाल में इस परिषद् के सात अधिवेशन हुए। प्रत्येक अधिवेशन चार-चार घण्टे तक चलता था और विचाराधीन विषयों पर उसमें विशद-रूप से विचार किया जाता था। राज्यरत्न मास्टर आत्माराम

अमृतसरी के प्रस्ताव और डॉक्टर कल्याणदास देसाई के अनुमोदन पर बम्बई के प्रतिष्ठित आर्य विद्वान् पण्डित बालकृष्ण शास्त्री को परिषद् का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। शास्त्रीजी ने अपना भाषण संस्कृत में दिया, जो अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण था। आर्य विद्वत्परिषद् में अनेक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव निम्नलिखित थे—

(१) "यह परिषद् निश्चय करती है, कि विद्या, धर्म और राज्यसभाएँ बनायी जायें। सम्प्रति कर्तव्य इस प्रकार स्थिर किये जावें—(१) विद्यार्य सभा—(क) संस्कृत और आर्य-भाषाओं सम्बन्धी पाठशालाओं की, चाहे वह पुत्रों के लिए हो या पुत्रियों के लिए, पाठविधि बनाना, उनकी परीक्षा लेना और सनद देना। (ख) शिक्षा-सम्बन्धी समाज-संस्थाओं को संगठित करना।

(२) धर्मार्य सभा—(क) समय-समय पर अपनी बैठकें करके उन मतभेदों पर विचार करना जो इस समय उत्पन्न हो गये हैं अथवा भविष्य में उत्पन्न हों और इस प्रकार मतभेदों के दूर करने में यत्नवान् रहना। (ख) उन सन्देह और शंकाओं को दूर करते रहना जो समय-समय पर आर्यों में उत्पन्न हों। (ग) विवादास्पद विषयों पर व्यवस्था देना।

(३) राजार्य सभा—आर्यों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करना और कौंसिलों से आवश्यक कानून बनवाना।" कुछ वाद-विवाद के अनन्तर इस प्रस्ताव में प्रस्तावित तीन सभाओं के निर्माण की बात तो स्वीकृत हो गयी, पर प्रश्न यह बना रहा कि इन सभाओं का स्वरूप क्या हो, इन्हें बनाया कैसे जाय? इसपर परिषद् के सदस्यों में बहुत मतभेद था। अतः पण्डित गंगाप्रसाद एम. ए. ने, जो शास्त्रीजी की अनुपस्थिति में परिषद् की अध्यक्षता कर रहे थे, यह प्रस्ताव रखा कि "मेरा प्रस्ताव है कि ये तीन सभायें कैसी हों, इसपर विचार करने के लिए उपस्थित लोगों में से एक सब-कमेटी बनायी जाय। वह कल की सभा में रिपोर्ट पेश कर दे।" इस प्रस्ताव पर यह संशोधन उपस्थित किया गया कि तीनों समाजों के लिए पृथक्-पृथक् सब-कमेटियाँ बनायी जायें। यह संशोधन सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया, और विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा तथा राजार्य सभा के निर्माण व स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने के प्रयोजन से जो तीन उपसमितियाँ बनायी गयीं, उनकी सदस्य-संख्या क्रमशः १७, १८ और २६ थी। इन उपसमितियों ने विचार के अनन्तर जो रिपोर्टें प्रस्तुत कीं, उनपर परिषद् के सातवें अधिवेशन में, जो २० फरवरी को हुआ था, विचार-विमर्श किया गया। राजार्य सभा के सम्बन्ध में परिषद् ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किया, उसके अनुसार इस सभा के नियम आदि इस प्रकार निर्धारित किये गये—

नाम—इस सभा का नाम राजार्य सभा होगा।

उद्देश्य—यद्यपि राजार्य सभा का वास्तविक उद्देश्य वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रजा का शासन करना है, तथापि देश की वर्तमान राजनैतिक दशा को देखते हुए इस समय इस सभा के निम्नलिखित परिमित उद्देश्य रखे जायें—

(१) संसार के सम्मुख वैदिक राजनैतिक आदर्शों को रखना। (२) समय तथा आवश्यकतानुसार आर्यों के राजनैतिक हितों के संरक्षणार्थ यत्न करना। (३) स्वदेश के हित आर्यों के राष्ट्रीय कर्तव्यों का आदेश देना। (४) देश, काल और अवस्था के अनुसार यथासम्भव आर्यों के लिए न्याय-विभाग (Arbitration Board) की स्थापना करना।

संगठन—इस सभा का संगठन (Constitution) निम्न प्रकार होगा—

(१) यह राजार्य सभा आर्यसमाज से स्वतन्त्र होगी। (२) इस राजार्य सभा के सभासद् तीन प्रकार के होंगे—(क) आर्यसमाज के सभासद्, (ख) आर्य संन्यासी, और (ग) वे आर्य वैदिक धर्मी जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों और राजार्य सभा के उद्देश्यों से सहानुभूति रखते हों। परन्तु ऐसे सभासदों की संख्या क और ख श्रेणी के सभ्यों के दशांश से ज्यादा नहीं होगी।

विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा के स्वरूप व संगठन आदि के सम्बन्ध में कोई निर्णय आर्य विद्वत्परिषद् में नहीं किया जा सका। केवल यह बात वहाँ स्वीकृत कर ली गयी, कि इन सभाओं के सम्बन्ध में जो रिपोर्टें उपसमितियों द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, उन्हें उचित कार्यवाही के लिए सार्वदेशिक सभा के पास भेज दिया जाय।

(२) "यह परिषद् स्थिर करती है कि प्रत्येक आर्य नर-नारी अपने गुणकर्मानुसार वर्णों का प्रयोग किया करें, और गुणकर्मानुसार ही बिना लिहाज जातिबन्धन के विवाह किया करें, और इसकी सुगमता के लिए सब आर्यों में परस्पर खानपान का व्यवहार हुआ करे।" इस प्रस्ताव के प्रस्तावक डॉक्टर कल्याणदास देसाई थे, और पण्डित जानकीनाथ शर्मा ने इसका अनुमोदन किया था। पन्द्रह संशोधन इस प्रस्ताव पर पेश किये गये, पर वे स्वीकृत नहीं हुए। परन्तु आर्य विद्वत्परिषद् के कतिपय सदस्यों के इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में क्या विचार थे, यह स्पष्ट करने के लिए कतिपय संशोधन यहाँ दिये जाते हैं—"सब नर-नारी जात-पाँत तोड़कर आर्य वर्ण का प्रयोग किया करें।" "सब नर-नारी विद्या और धर्म-सभा के निर्णयानुसार अपने-अपने वर्णों का प्रयोग किया करें।" "यतः शास्त्रोक्त वर्णव्यवस्था का इस समय अभाव-सा ही है, अतएव वर्ण-विचार छोड़कर केवल यह प्रस्ताव उपस्थित है कि जातिबन्धन को तोड़कर होनेवाले विवाहों का विरोध न किया जाय तथा परस्पर घृणा के भाव को दूर किया जाय।" इस प्रस्ताव पर आर्य विद्वत्परिषद् के सदस्यों में इतना मतभेद था, कि मत लेने पर प्रस्ताव के पक्ष में ४८ मत प्राप्त हुए, और विरोध में २०।

(३) "यह परिषद् स्थिर करती है कि आर्यसमाज में प्रवेश के समय अछूतों को गायत्री मन्त्र के साथ यज्ञोपवीत दिया जा सकता है।" पण्डित धर्मदेव सिद्धान्तालंकार इस प्रस्ताव के प्रस्तावक थे, और राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी अनुमोदक। पर यह प्रस्ताव भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत नहीं हो सका। पण्डित धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि ने इसपर निम्नलिखित संशोधन पेश किया—"यह परिषद् स्थिर करती है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चाहे वह किसी जाति या मत का हो, वैदिक धर्म में प्रवेश करते समय गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया जाय और यदि वह यज्ञोपवीत के योग्य हो तो उसी समय अन्यथा कुछ काल परीक्षा के बाद यज्ञोपवीत दिया जाये।" क्योंकि यह संशोधन एक स्वतन्त्र प्रस्ताव के रूप में था, अतः इसे संशोधन नहीं माना गया। अन्य भी अनेक संशोधन प्रस्ताव पर पेश किये गये, पर वे स्वीकृत नहीं हो सके। मूल प्रस्ताव ही बहुसम्मति से स्वीकृत हुआ।

(४) "यह परिषद् स्थिर करती है कि प्रत्येक व्यक्ति के, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, या कोई अन्य मतावलम्बी, आर्यसमाज में प्रवेश की पद्धति एक ही होनी चाहिए और वह यह हो—जब एक या एक से अधिक ऐसे सज्जनों का, जो वैदिक धर्मी नहीं है, आर्यसमाज में प्रवेश-संस्कार हो तो प्रारम्भ में सब लोग (जिनमें प्रवेशार्थी भी

सम्मिलित होंगे) एकत्रित होकर संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में विहित हवन करें। हवन में सबको स्नानादि से शुद्ध होकर बैठना चाहिए। जिनके सिर पर शिखा न हो, उनको शिखा रखकर बैठना चाहिए। हवन विधि समाप्त होने पर आचार्य प्रवेशार्थियों से उनकी लोक-भाषा में निम्नलिखित प्रश्न करे—क्या तुमने आर्यसमाज के दस नियम जान लिये हैं? क्या तुम वैदिक धर्म के अनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा करते हो? प्रत्येक प्रश्न का पृथक् स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर आचार्य अभिलाषी से गायत्री मन्त्र का पाठ करावे और उसका अर्थ बतलावे। अन्त में "अग्ने व्रतपते" इत्यादि और 'अग्ने यज्ञे तपः' इत्यादि मन्त्रों से आहुति डालकर पूर्णाहुति दी जाय।" यह प्रस्ताव पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा पेश किया गया था। इसका जो रूप ऊपर दिया गया है, वह बहुत वाद-विवाद के पश्चात् निर्धारित हुआ था। इन्द्रजी द्वारा प्रस्तुत मूल प्रस्ताव में केवल यह कहा गया था, कि "यह परिषद् स्थिर करती है कि प्रत्येक व्यक्ति की चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य कोई धर्मावलम्बी, आर्यसमाज में प्रवेश की पद्धति एक ही होनी चाहिए।" बहुत-से सदस्य इस रूप में प्रस्ताव के विरोधी थे। इसी कारण संशोधनों के साथ मूल प्रस्ताव ने वह रूप प्राप्त किया, जिसे परिषद् ने बहुमत द्वारा स्वीकार किया।

(५) विधवा-विवाह के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० ने पेश किया था—"वर्तमान सामाजिक अवस्था को ध्यान में रखते हुए यह परिषद् स्थिर करती है कि युवा स्त्री-पुरुष आयु की समानता की दृष्टि से यदि पुनर्विवाह करना चाहें, तो मना नहीं है।" इसपर पण्डित मुनीराम ने संशोधन पेश किया कि विधुर का विवाह विधवा के ही साथ हो। लाला नारायणदत्त ने एक अन्य संशोधन यह पेश किया, कि विधुर की आयु ४० वर्ष से अधिक न हो। प्रस्तावक महोदय ने दोनों संशोधन स्वीकार कर लिये, और प्रस्ताव का रूप यह हो गया—"वर्तमान सामाजिक अवस्था को ध्यान रखते हुए परिषद् स्थिर करती है कि विधुर का विधवा के साथ ही विवाह हो। विवाह के समय विधुर की आयु ४० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।" संशोधित प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

आर्य विद्वत्परिषद् के सभी प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्व के थे। इन द्वारा आर्यसमाज को भविष्य के लिए ऐसे मार्ग का प्रदर्शन कराया गया था, जिसपर चलकर वह अपने महान् उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न कर सकता था।

शताब्दी-समारोह का एक मनोरंजक तथा महत्त्वपूर्ण आयोजन उन आर्य-सज्जनों के दर्शन और भाषण के लिए १८ फरवरी को किया गया था, जिन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन व संगति का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सबसे पहले शाहपुराधीश सर नाहरसिंह ने महर्षि के सम्बन्ध में अनेक घटनाओं का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि वह पहले नास्तिक थे, पर महर्षि के उपदेश सुनकर वह उनके शिष्य हो गये थे, और वैदिक धर्म में अगाध आस्था रखने लगे थे। महर्षि का दर्शन करनेवाले जिन अन्य महानुभावों ने उनके विषय में अपने अनुभव सुनाये उनमें रावराजा तेजसिंह, स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी अच्युतानन्द, पण्डित आर्यमुनि, श्री हरविलास शारदा, लाला देवराज, लाला लक्ष्मणानन्द, महाशय अलखधारी, महाशय गणेशप्रसाद, लाला गंगाराम, महात्मा नारायण स्वामी, लाला रामकृष्ण वकील, पण्डित क्षेमकरणदास

त्रिवेदी और पण्डित वस्तीराम मुख्य थे। इनके अतिरिक्त ३० अन्य ऐसे व्यक्तियों ने भी पण्डाल में खड़े होकर दर्शन दिये, जो महर्षि के समकालीन थे और जिन्होंने उनके दर्शन किये थे। इनमें एक महिला श्रीमती हीरादेवी (पण्डित भगवद्दत्त की माता) भी थीं।

शताब्दी महोत्सव में अन्य भी अनेक सम्मेलनों एवं कान्फरेन्सों का आयोजन किया गया था, जिसका यहाँ संक्षेप के साथ ही उल्लेख किया जा सकता है—

(१) **आर्य स्वराज्य सम्मेलन**—महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा स्वराज्य के लिए जो आन्दोलन शुरू किया गया था, उसमें बहुत-से आर्यसमाजी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। स्वाभाविक रूप से उनकी इच्छा थी, कि भारत शीघ्र स्वतन्त्र हो जाय और देश में जो स्वराज्य स्थापित हो वह आर्य-सभ्यता के अनुरूप हो या उसमें आर्य-सभ्यता सुरक्षित रहे। इसीलिए लाहौर में आर्य स्वराज्य सभा की स्थापना की गयी थी। डॉक्टर सत्यपाल उसके प्रधान थे। इसी सभा की ओर से यह सम्मेलन आयोजित किया गया था। सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा था, कि "आचार्य दयानन्द की देश-भक्ति किसी से छिपी नहीं। वह एक अनुभवी सेनापति थे। उनके अनुयायी भी अपने अन्दर वीर सैनिकों का-सा जोश रखते हैं...आर्य जन्म से ही स्वराज्य-प्रेमी देशभक्त होता है। वह आर्य आर्य नहीं जिसके दिल में स्वराज्य का प्रेम नहीं।" सम्मेलन द्वारा अखिल भारतीय स्वराज्य सभा के निर्माण का निश्चय किया गया, जिसका उद्देश्य "आर्य सभ्यता की रक्षा करते हुए स्वराज्य स्थापित करना व कराना" निर्धारित किया गया। इस सभा का संविधान तैयार करने के लिए ११ सदस्यों की एक उपसमिति बना दी गयी। सम्मेलन में स्वीकृत अन्य प्रस्तावों द्वारा निश्चय किया गया कि सब आर्य 'खद्दर का व्यवहार करें और अन्य स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करें', 'दलित भाइयों की दशा को उन्नत करें और उनसे क्रियात्मक समानता का व्यवहार करें', 'गौओं की उचित उपायों से रक्षा करें', और 'अपने सारे कार्य आर्यभाषा और नागरी लिपि में करें।' एक प्रस्ताव द्वारा सम्मेलन ने विधान सभाओं तथा म्युनिसिपल कमेटी आदि में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को "राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग में बाधक" बताकर कांग्रेस आदि राजनैतिक संस्थाओं से आग्रहपूर्वक निवेदन किया, कि वे इस सिद्धान्त को स्वीकार न करें। आर्य स्वराज्य सम्मेलन के लिए जनता में बहुत उत्साह था। उसके अधिवेशन एक छोटे पण्डाल में होते थे, फिर भी उपस्थिति एक हजार के लगभग रहा करती थी।

(२) **आर्यकुमार सम्मेलन**—किशोरवय के कुमारों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने और उनके जीवन को आर्य आदर्शों के अनुरूप बनाने के प्रयोजन से आर्य-समाज के तत्त्वावधान में जो आर्यकुमार सभाएँ देश में सर्वत्र विद्यमान थीं, उन्हें एक सूत्र में संगठित करने के लिए यह अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन आयोजित किया गया था। शाहपुराधीश सर नाहरसिंह इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे, और श्री आत्माराम अमृतसरी इसके स्वागताध्यक्ष थे। शाहपुराधीश ने अपने भाषण में आर्यकुमारों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"आप लोगों पर ही देश व धर्म के उद्धार का भार है। इसलिए आप लोग वीर बनें, सच्चे धर्मात्मा बनें, ब्रह्मचारी बनें, परोपकारी बनें और आपकी भावी सन्तानें भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाली हों। उनके द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार हो और विश्व मात्र का उपकार हो।" सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार यह निश्चय किया गया कि सब आर्यकुमार सभाओं और युवक समाजों को अखिल भारतीय

आर्यकुमार परिषद् के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया जाय, और भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् के अन्तर्गत एक 'आर्यकुमार स्वयंसेवक संघ' का संगठन किया जाय।

(३) दलितोद्धार कान्फरेन्स—इस कान्फरेन्स का आयोजन दिल्ली की दलितोद्धार सभा की ओर से किया गया था। महात्मा हंसराज इसके अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा था—"हिन्दू जाति प्रतिदिन क्षीण होता जा रही है। उसके ह्रास का वेग पहाड़ी नदी के वेग की तरह अधिक ही अधिक तीव्रतर होता जाता है। क्या कारण है कि मद्रास में ईसाइयों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है? वहाँ तीन प्रकार के लोग हैं। ब्राह्मण अपने-आपको वहुत ऊँचा समझते हैं। दूसरे नायर लोग हैं। इनका मान नहीं है। पर ये अस्पृश्य भी नहीं समझे जाते। तीसरे थिया लोग हैं। वे चाहे सुशिक्षित व सभ्य भी हैं, पर उन्हें अछूत समझा जाता है। यदि ब्राह्मणों का मुहल्ला है, तो उसमें कोई अछूत नहीं जा सकता। मल उठाने के लिए भंगियों की आवश्यकता होती है, उसके लिए ईसाई भंगी उपयोग में लाये जाते हैं। हिन्दू भंगी ब्राह्मणों के मुहल्ले में नहीं जा सकते।...बायकम-सत्याग्रह का वृत्तान्त आप पढ़ते होंगे। उसको करनेवाले थिया लोग ही हैं।...इस समय वहाँ ४८,००० आदमी आपके निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि आर्यसमाजी उन्हें सड़कों पर चलने का अधिकार दिला देंगे, तो वे आर्यसमाजी बन जावेंगे। यदि हिन्दू उन्हें यह अधिकार दिला देंगे, तो वे हिन्दू बने रहेंगे। नहीं तो वे ईसाई या मुसलमान हो जावेंगे। एक बिशप का कहना है, कि पचास साल में सबको ईसाई बना लिया जायेगा।" कान्फरेन्स में स्वीकृत एक प्रस्ताव निम्नलिखित था—"ट्रावनकोर दरबार ने आर्य वने हुए दलितों की प्रार्थना करने पर भी उन्हें अछूत ही समझा है। यह सम्मेलन इसकी निन्दा करता है और अनुरोध करता है कि दरबार अपनी इस अनुचित आज्ञा को शीघ्र ही वापिस ले ले।" 'जन्म के कारण कोई अछूत नहीं है। अछूतपन अवैदिक, अमानुषिक और राष्ट्रीय उन्नति में बाधक है,' यह घोषित कर एक प्रस्ताव में आर्य जाति से अनुरोध किया गया था कि "शुद्ध आचार-व्यवहार करनेवाले दलित भाइयों को खानपान में समान अधिकार दिये जावें।"

(४) साधु सम्मेलन—दयानन्द नगर के परिसर में साधु-संन्यासियों का एक पृथक् कैम्प था। उसमें निवास करनेवाले साधुओं को देखकर यह स्पष्ट था, कि आर्य-संन्यासियों की संख्या सैकड़ों में है। इनके भोजन आदि की सव व्यवस्था सम्भ्रान्त आर्य सज्जनों द्वारा की गयी थी, जिनमें पिण्ड दादनखाँ के लाला ईश्वरदास और लाहौर के पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा मुख्य थे। साधुओं के कैम्प के समीप ही एक छोटा पण्डाल था, जिसमें साधु-संन्यासियों के प्रवचन व व्याख्यान होते रहते थे। वे केवल गृहस्थियों को उपदेश देने में ही तत्पर नहीं थे, अपितु इस प्रश्न पर भी विचार करते थे कि साधु-संन्यासी किस प्रकार अपनी उन्नति कर सकते हैं, और कैसे जनता तथा धर्म की अधिक अच्छी तरह सेवा कर सकते हैं। इसीको दृष्टि में रखकर उन्होंने एक साधु-आश्रम खोलने का निश्चय किया, और नौ संन्यासियों की एक कमेटी साधु-संन्यासियों के संगठन एवं आश्रम के प्रवन्ध के लिए वनायी गयी। स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी परमानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द और स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द सदृश प्रमुख आर्य संन्यासी इस कमेटी के सदस्य थे। जन्म-शताब्दी महोत्सव में एकत्र संन्यासियों ने अपने सम्मेलन में कुछ अन्य निश्चय भी किये, यथा साधारणतया तीस वर्ष से

कम आयु के किसी व्यक्ति को संन्यास न दिया जाये। विशेष अवस्था में पचीस वर्ष की आयु में भी संन्यास दिया जा सकता है, पर इससे कम आयु में किसी प्रकार नहीं। जो व्यक्ति संन्यास लेना चाहे उसके लिए आर्यभाषा (हिन्दी) का समुचित ज्ञान होना और सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और संस्कारविधि की शिक्षा प्राप्त होना अनिवार्य हो।

(५)शुद्धि कान्फरेन्स—बीसवीं सदी के तृतीय दशक में शुद्धि और हिन्दू संगठन के आन्दोलन किस प्रकार जोर पकड़ रहे थे, इसपर एक अन्य अध्याय में प्रकाश डाला गया है। मुसलिम राजवंशों के शासन में जो बहुत-से राजपूत, जाट आदि हिन्दू धर्म का परित्याग कर मुसलमान बन गये थे, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में दीक्षित कर अपनी जाति-बिरादरी में सम्मिलित करने के लिए 'क्षत्रिय उपकारिणी महासभा', 'राजपूत महासभा' और 'शुद्धि सभा' आदि संगठन प्रयत्नशील थे। स्वामी श्रद्धानन्द इस शुद्धि-आन्दोलन के प्रधान नेता थे, और शुद्धि का सूत्रपात महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक ही था, कि जन्म-शताब्दी महोत्सव के अवसर पर शुद्धि कान्फरेन्स का भी आयोजन किया जाय। यह कान्फरेन्स १९ फरवरी को बड़े पण्डाल में हुई। महेवा-नरेश राजा जयेन्द्र बहादुरसिंह स्वागतकारिणी सभा के प्रधान थे, और कान्फरेन्स का अध्यक्ष-पद आनरेबल राजा सर रामपालसिंह ने ग्रहण किया था। तिरवा, सुरनौ, शिवगढ़ और अमेठी आदि अनेक रियासतों के राजाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे ठाकुर जमींदार भी इस कान्फरेन्स में उपस्थित थे, जो कुछ समय पहले ही शुद्ध होकर राजपूत बिरादरी में सम्मिलित हुए थे। शाहपुराधीश राजा सर नाहरसिंह भी कान्फरेन्स में उपस्थित थे। शुद्धि के समर्थन में कान्फरेन्स में अनेक व्याख्यान हुए। जो प्रस्ताव यहाँ स्वीकृत हुए, उनमें यह कहा गया था, कि "शुद्धि धर्मशास्त्र के अनुकूल है और हिन्दू-जाति के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है," और "हिन्दुओं की सब जातीय और धार्मिक संस्थाओं से प्रार्थना है, कि वे अपनी-अपनी सभाओं के अन्दर शुद्धि-सभा की शाखा खोलकर बिछड़े हुए भाइयों को मिलाने का कार्य प्रारम्भ करें।"

(६) जातपाँत-तोड़क मण्डल—२० फरवरी को दोपहर बाद बम्बई के डॉक्टर कल्याणदास देसाई की अध्यक्षता में इस मण्डल का अधिवेशन हुआ। जातपाँत-तोड़क मण्डल नाम की एक संस्था की स्थापना सन् १९२१ में लाहौर में हुई थी। उसके पाँच सौ के लगभग सदस्य थे, और उसके प्रचार से प्रभावित होकर कितने ही विवाह जन्म-मूलक जात-पाँत को तोड़कर किये जा चुके थे। इसी मण्डल का यह तीसरा अधिवेशन था और स्वामी श्रद्धानन्द, पण्डित घासीराम, स्वामी मुनीश्वरानन्द और स्वामी सत्यदेव आदि अनेक प्रमुख आर्य नेताओं ने इसमें सम्मिलित होकर जात-पाँत तोड़ने के पक्ष में भाषण दिये थे। मण्डल द्वारा स्वीकृत किये गये प्रस्तावों में मुख्य निम्नलिखित था—"इस मण्डल की सम्मति में आजकल जो वर्णव्यवस्था प्रचलित है वह बुरी है, इसलिए आवश्यक है कि खानपान और विवाह-विषयक प्रचलित जात-पाँत को जानबूझकर तोड़ा जाय। यह भी आवश्यक है कि खानपान और विवाह-विषयक बन्धनों को उठा दिया जाय। इसलिए यह मण्डल प्रत्येक आर्ययुवक और युवती को प्रेरणा देता है कि विवाह आदि के कार्यों में जो मौजूदा बन्धन हैं उन्हें जान-बूझकर तोड़ें और जात-पाँत के बाहर विवाह करें।"

(७) कवि सम्मेलन—२० फरवरी को दूसरे पण्डाल में यह सम्मेलन बड़ी धूम-

धाम के साथ हुआ था। पण्डित नाथूराम शंकर इसके अध्यक्ष थे। सौ के लगभग कवियों की कविताएँ सम्मेलन के लिए प्राप्त हुई थीं, और जिन्होंने स्वयं उपस्थित होकर कविता पढ़ी थीं, उनकी संख्या चालीस थी। पण्डित रामनारायण मिश्र, मराल, पण्डित चमूपति, पण्डित वंशीधर विद्यालंकार, श्रीमती सुशीलादेवी और कवि चातक की कविताएँ जनता ने बहुत पसन्द कीं।

(८) **महिला सम्मेलन**—शताब्दी-महोत्सव में महिला सम्मेलन की बैठकें १४ फरवरी से शुरू हो गयी थीं, और २१ फरवरी तक निरन्तर भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती रहीं। श्रीमती ठाकुरदेवी सम्मेलन की अध्यक्षा थीं। इस अवसर पर बहुत-सी महिलाओं ने यज्ञोपवीत धारण किये, और वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपने जीवन को समर्पित करने का संकल्प किया।

इन सम्मेलनों के अतिरिक्त जन्म-शताब्दी महोत्सव के अवसर पर अन्य भी अनेक सम्मेलन दयानन्द नगर के परिसर में हुए, जिनमें गोरक्षा सम्मेलन, क्षेत्रीय कान्फ्रेन्स और आर्योपदेशक सम्मेलन उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः यह महोत्सव एक बहुत बड़े मेले के समान था, जिसमें धर्म तथा देश की उन्नति के लिए विविध विद्वान्, प्रचारक एवं नेता अपने-अपने ढंग से दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील थे।

२१ फरवरी जन्म-शताब्दी महोत्सव का अन्तिम दिन था। इस दिन महोत्सव के लिए मथुरा में एकत्र हुए आर्य-नर-नारियों ने सम्मिलित रूप से एक प्रार्थना की, जिसे शताब्दी-सभा द्वारा १९ फरवरी को एक प्रपत्र के रूप में प्रकाशित व प्रचारित कर दिया गया था। प्रार्थना निम्नलिखित थी—"आज अर्वाचीन आर्यावर्त के सबसे बड़े सुधारक ऋषि दयानन्द का जन्म-दिवस है। प्रभो! आप ही की प्रेरणा से देश में दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ था। आर्य जाति की दुरवस्था, अनाथों की पुकार, विधवाओं का विलाप, वैदिक धर्म की दुर्दशा, वैदिक सभ्यता का मरणोन्मुख होना, सदाचार का मूल्य घटना, देश का विदेशियों द्वारा पददलित होना आदि ऐसी बातें नहीं थीं जो दयानन्द के जन्म की प्रेरणा का कारण न बनतीं। प्रभो! दयानन्द ने जन्म लेकर आपकी प्रेरणा का उद्देश्य समझा। मुनि विरजानन्द उस उद्देश्य को समझाने का निमित्त बने। दयानन्द ने इसी उद्देश्य की पूर्तिरूप यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दी। यज्ञ से सुगन्धि निकली—कहीं वह अनाथालयों के रूप में दिखायी दी, कहीं स्कूल और कॉलिज, कहीं संस्कृत पाठशाला और गुरुकुल, कहीं दलितोद्धार सभा और शुद्धि सभा, कहीं मुफ्त चिकित्सा और दरिद्रालयों, कहीं कुरीति-निवारणी और स्वराज्य सभाओं, कहीं मद्य-निवारिणी और व्यायाम-प्रचारिणी सभाओं आदि के रूपों में प्रकट हुई। प्रभो! आज जो हम यह शताब्दी जन्म-महोत्सव मना रहे हैं, यह भी उसी आहुति की एक तुच्छ सुगन्धि है। ऐसे पवित्र अवसर पर, प्रभो! यहाँ एकत्रित हुए हम लाखों नर-नारी इस सारे चमत्कार को आपकी अपार दया की एक विभूति समझते हुए कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के साथ आपके सम्मुख अपने सिरों को झुकाते हैं, और प्राणिमात्र के उपकार के लिए, जो आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, आपके दिये हुए वेदों के शब्दों में ही आपसे प्रार्थना करते हैं—

आ ब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी

महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वा नाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

हे प्रभो ! इस बृहद् राष्ट्र में तेजस्वी वेदविद् ब्राह्मण उत्पन्न हों। शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण, दुष्टों का दमन करनेवाले, महाबलवान्, निर्भय और वीर क्षत्रिय उत्पन्न हों। दूध देनेवाली गायें, भार ले-जानेवाले बैल, शीघ्रगामी घोड़े, व्यवहारकुशल स्त्रियाँ, महारथी शत्रुओं के विजेता पुरुष उत्पन्न हों, यजमान का घर वीरपुत्रों से भरा हो, आवश्यकता होने पर वर्षा हुआ करे, हमारे लिए उत्तम फलों को देनेवाली ओषधियाँ पकें और हमारा योगक्षेम हो। शमित्योम् !"

ऋषि दयानन्द जन्म-शताब्दी-महोत्सव जो इतनी सफलता से सम्पन्न हुआ, उसका प्रधान श्रेय महात्मा नारायण स्वामी जी को ही था। इसीलिए उत्सव के अन्तिम दिन २१ फरवरी को उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जनता द्वारा एक मानपत्र महात्मा जी की सेवा में अर्पित किया गया, जिसे शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह ने पढ़ा था। इस अवसर पर अन्य भी कितने ही महानुभावों ने महात्मा जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।

शताब्दी-महोत्सव का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह उत्सव केवल एक मेला ही नहीं था। इसमें एकत्र हुए आर्य नर-नारियों ने जहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति श्रद्धा व सम्मान अभिव्यक्त करते हुए उनके मिशन को पूरा करने के लिए प्रेरणा प्राप्त की, वहाँ साथ ही आर्यसमाज को शक्तिशाली बनाने तथा उसके भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में भी अनेक निश्चय किये। धर्मार्य सभा, विद्यार्य सभा और राजार्य सभा की स्थापना के लिए जन्म-शताब्दी द्वारा जो सुनिश्चित पग उठाया गया, वह वस्तुतः 'संसार का उपकार करने' के आर्यसमाज के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता था। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग किस प्रकार हुआ करें, यह भी इस उत्सव में स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था। इसी प्रकार आर्य लोग अपने पर्व व त्यौहार किस प्रकार मनाया करें, इसके लिए भी शताब्दी-सभा द्वारा 'आर्य पर्व पद्धति' नामक पुस्तक प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पण्डित भवानी-प्रसाद से लिखवाकर प्रकाशित कर दी गयी थी। ओ३म् का ध्वज किस रंग का और कैसा बनाया जाये, यह सभी अब निर्धारित कर दिया गया था। देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर में वैदिक धर्म का प्रचार करने तथा व्यापक रूप से वैदिक व आर्य साहित्य विश्व की प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित करने की योजना भी इस अवसर पर तैयार कर ली गयी थी। दलितोद्धार, शुद्धि, धर्म की शिक्षा, गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था, विधवा-विवाह और स्वतन्त्र भारत में आर्य सभ्यता की रक्षा आदि के विषय में जो प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, वे सब आर्यसमाज को स्पष्ट दिशा-निर्देश करनेवाले थे। इस महोत्सव द्वारा आर्य जनता में नवीन उत्साह और भविष्य के लिए आशा का संचार हुआ, और साथ ही उसे अपनी शक्ति का बोध भी हुआ।

(४) टंकारा में जन्म-शताब्दी महोत्सव

महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी फरवरी, १९२५ में मथुरा में मनायी

गयी थी। पर महर्षि का जन्म मथुरा में न होकर काठियावाड़ में हुआ था। अतः बहुत-से आर्य यह अनुभव करते थे, कि महर्षि के जन्म-स्थान पर भी उनकी जन्म-शताब्दी मनायी जानी चाहिए। कठिनाई यह थी, कि महर्षि का जन्म-स्थान सुनिश्चित रूप से अभी निर्धारित नहीं हुआ था। पण्डित लेखराम के अनुसार महर्षि का जन्म मौरवी (काठियावाड़) में हुआ था, और श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार टंकारा (मौरवी रियासत में)। मथुरा शताब्दी सभा ने इस विषय का निर्णय करने के लिए स्वामी सत्यानन्द और आचार्य रामदेव को नियुक्त किया। स्वामी जी तो काठियावाड़ न जा सके, पर आचार्य रामदेव वहाँ गये और भलीभाँति छानबीन करके जो रिपोर्ट उन्होंने तैयार की, उसमें श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के मत का समर्थन किया गया था। बम्बई और काठियावाड़ के अनेक सज्जनों ने भी स्वतन्त्र अन्वेषण द्वारा टंकारा को ही महर्षि का जन्म-स्थान प्रतिपादित किया। यह रिपोर्ट प्राप्त होने पर सार्वदेशिक सभा ने निश्चय किया, कि टंकारा में भी महर्षि की जन्म-शताब्दी का उत्सव मनाया जाए, ताकि श्रद्धालु नर-नारियों को उनके जन्म-स्थान तथा बचपन के घर को देखने का अवसर प्राप्त हो सके। इस निर्णय के अनुसार ७ से ११ फरवरी, १९२६ तक टंकारा में पुनः जन्म-शताब्दी मनायी गयी। इसकी अध्यक्षता मौरवी रियासत के राजा श्री लखधीरसिंह ने की थी, और काठियावाड़ के अनेक राजा एवं श्रीमन्त (वीरपुर के राजा हमीरसिंह, मोगढ़ के ठाकुर केसरीसिंह, दीवान रणछोड़ और श्रीमान मनुभा साहब आदि) इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। आर्य विद्वान्, संन्यासी, उपदेशक तथा ऋषि-भक्त भारत के सब भागों से बहुत बड़ी संख्या में इस अवसर पर टंकारा गये, और वहाँ उन्होंने महर्षि के जन्म-स्थान तथा उस शिव-मन्दिर के, जहाँ उन्हें सच्चे शिव के सम्बन्ध में बोध हुआ, दर्शन किये। टंकारा जाने-आने की सुविधा का तब अभाव था, पर यात्रा की कठिनाई तथा निवास आदि की असुविधा का कोई खयाल न कर हजारों नर-नारी महर्षि के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा को प्रकट करने के लिए वहाँ एकत्र हो गये थे।

टंकारा में जन्म-शताब्दी महोत्सव का प्रारम्भ यज्ञ से हुआ। उसके पश्चात् मौरवी-नरेश का भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने कहा, कि "पूज्य संन्यासी महात्माओ, स्नेही ठाकुर साहब, श्रीयुत मनुभा, सुज्ञ विद्वानो, सद्गृहस्थो तथा सब नारियो! प्रातःस्मरणीय महर्षि दयानन्द सरस्वती, कि जिनका जन्म हमारे संस्थान के इस टंकारा ग्राम में हुआ है उस महापुरुष की जन्म-शताब्दी मनाने के लिए आप सब आज यहाँ प्रेम, श्रद्धा और उत्साह के साथ एकत्रित हुए हैं। यह देखकर हमको बहुत आनन्द होता है तथा हम अपने अन्तःकरण से आप सबका स्वागत करते हैं। गत दिसम्बर मास में हमारे मित्र वीरपुर के ठाकुर साहब ने हमें बताया कि आप लोग यहाँ इस महोत्सव का आयोजन करना चाहते हैं। तब उस महापुरुष की जन्मभूमि के प्रति आप सबका अगाध प्रेम देखकर हमें बहुत प्रसन्नता हुई, क्योंकि जिस महापुरुष की विशाल बुद्धि, अटल धैर्य और शुद्ध चरित्र ने समस्त भारत-भूमि की जनता पर गहरी छाप डालकर लोगों में स्वधर्म-प्रेम और स्वदेश-भावना के गहरे बीज डालकर जागृति उत्पन्न की है, ऐसे महान् पुरुष का जन्म हमारे राज्य में होने का हमें भी यथार्थ रूप से अभिमान है।"

टंकारा में पांच दिन व्याख्यानों, भजनों और उपदेशों की धूम रही। प्रतिदिन का कार्य यज्ञ द्वारा प्रारम्भ होता था, और उत्सव का कार्यक्रम दिनभर चलता था।

बम्बई और गुजरात-काठियावाड़ से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग इस अवसर पर टंकारा आये थे, और महोत्सव का सब प्रबन्ध भी उन्हीं द्वारा किया गया था। उस समय टंकारा में आर्यसमाज नहीं था, पर इस उत्सव के परिणामस्वरूप वहाँ समाज की स्थापना हो गयी थी।...

महोत्सव का प्रधान आकर्षण उन व्यक्तियों का परिचय था जो महर्षि के निकट सम्बन्धी थे या बचपन व किशोरावस्था का समय जिनके साथ महर्षि ने व्यतीत किया था। ११ फरवरी, १९२६ को दोपहर के बाद इन व्यक्तियों से आर्य जनता का परिचय कराया गया। सबसे पहले महाशय पोपटलाल स्टेज पर आये। वह महर्षि की सगी बहिन की तीसरी पीढ़ी की सन्तान थे। उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं बीसवीं सदी के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष भगवान् दयानन्द का निकट सम्बन्धी हूँ—यह सोचकर मेरा हृदय अभिमान से भर उठता है। मैं अपने जीवन को कृतकृत्य तथा सफल मानता हूँ।...ऋषि दयानन्द के पितृ महोदय ने बड़ी भक्तिपूर्वक जिस शिवमन्दिर की स्थापना की थी तथा जिसमें आसीन होकर मूलजी दयाराम ने महाशिवरात्रि के पुण्य-पर्व में संसार के कल्याण के लिए एक दिव्य प्रतिमा-विरोधी संदेश प्राप्त किया था, वह मन्दिर आज तक हमारे वंश में परम्परा से चला आ रहा है।"

श्री पोपटलाल के पश्चात् एक अत्यन्त वृद्ध किसान शनैः-शनैः लाठी टेकता हुआ स्टेज पर आया। यह महर्षि का बालसखा इब्राहीम था। इस समय उसकी आयु १०३ साल की थी। उसने बताया—"जिन्हें आप लोग ऋषि दयानन्द कहते हैं तथा आज समस्त भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत सारा संसार जिनकी विद्वत्ता और महत्ता पर मुग्ध है, उन भगवान् के साथ मैं इसी टंकारा ग्राम की भूमि में, इसी डेमी नदी के रेतीले मैदानों पर, इन्हीं खेतों के अन्दर, इन्हीं वनमालाओं में कई साल तक बचपन में खेलता रहा हूँ। मुझे आज भी उनकी वह बचपन की मुग्ध सूरत स्मरण है। उनकी आँखों में मुग्धता और तेज, उनके शरीर में सौन्दर्य और बल, उनके चेहरे पर सरलता और आग्रह, उनकी वाणी में मृदुता और ओज कूट-कूटकर भरा हुआ था। कितनी ही बार इसी स्थान पर जहाँ आज यह पण्डाल सुशोभित है, मैंने उनके साथ बाल-क्रीड़ाएँ की थीं। कितनी ही बार इस डेमी नदी की धारा में मैं और वह हँसते-खेलते तैरे हैं। कितनी ही बार उनके उस बाल-शरीर के साथ मैंने कुश्ती और मारपीट की है। यद्यपि मूलशंकर आयु में मुझसे दो साल छोटे थे, तथापि उनके गौर शरीर में बड़ा बल था। वह अकेले ही मुझे और मेरे साथियों को बाल्य संग्राम में पराजित कर दिया करते थे। सच पूछिए, तो मूलजी बड़े उपद्रवी और हठी थे। परन्तु निर्बलों के साथ उनकी बड़ी सहानुभूति रहती थी। उनके पिताजी का नाम कर्सन जी त्रिवेदी था। करीब २३ साल की उम्र में हमने सुना था कि वह अपनी सारी सम्पत्ति को ठुकराकर घर से भाग गया है और कहीं जाकर संन्यासी हो गया है। घर छोड़ देने के बाद मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। मेरी बड़ी इच्छा थी, कि मैं उनके फिर दर्शन करता। परन्तु उसके बाद वह कभी इस ग्राम में लौटे ही नहीं और मेरी वह ख्वाहिश अधूरी ही रह गयी।...जिस मकान में इस समय महाशय पोपटलाल जी के भाई प्राणशंकर रहते हैं, वही स्वामी दयानन्द का जन्मगृह है। तथा यह मन्दिर भी वही मन्दिर है जिसमें दयानन्द जी के पिता कर्सन जी लम्बी-चौड़ी उपासनाएँ किया करते थे। वह मूल जी को भी कभी-कभी इस मन्दिर में अपने साथ ले-जाया करते थे।" इब्राहीम

के इस कथन को सुनकर पण्डाल में एकत्र हजारों व्यक्ति पुलकित हो उठे थे, और सब नर-नारियों के हृदय गद्गद और आँखें अश्रुपूर्ण हो गयी थीं।

टंकारा के जन्म-शताब्दी महोत्सव की एक घटना उल्लेखनीय है। एक वृद्धा जो अपने को महर्षि की दूर की रिश्तेदार बताती थी, महर्षि का एक चित्र लेकर सड़क पर बैठ गयी। भक्त लोग चित्र देखते और श्रद्धावश कुछ-न-कुछ भेंट चढ़ा देते। जब यह समाचार महोत्सव के संचालकों को ज्ञात हुआ, तो स्वामी श्रद्धानन्द स्वयं उस वृद्धा के पास गये और उसे समझाया कि जिस महात्मा के चित्र को रखकर तुम भेंट ले रही हो, वह मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। तुम्हें जितना धन चाहिए हमसे ले लो, पर इस प्रकार पाखण्ड न करो। वृद्धा ने स्वामी जी की बात मान ली, और चित्रपूजा का अड्डा बन्द कर दिया।

टंकारा में इस महोत्सव का एक बड़ा लाभ यह हुआ, कि काठियावाड़ में वैदिक धर्म के प्रचार और आर्यसमाज के प्रसार का मार्ग प्रशस्त हो गया।

इक्कीसवाँ अध्याय

शुद्धि और हिन्दू संगठन के आन्दोलन

(१) नये आन्दोलनों की पृष्ठभूमि

सन् १९१४ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का प्रारम्भ हुआ था। इसमें ब्रिटेन, फ्रांस और रूस एक ओर थे, और जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की दूसरी ओर। ब्रिटेन के पक्ष को 'मित्र राष्ट्र' कहा जाता था, और जर्मनी के पक्ष को 'केन्द्रीय राज्य'। धीरे-धीरे संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली और जापान आदि अन्य देश भी इस युद्ध में सम्मिलित होते गये, और यह विश्वव्यापी महायुद्ध बन गया। भारत का जर्मनी व उसके साथी राज्यों से कोई विरोध नहीं था, पर क्योंकि वह ब्रिटेन के अधीन था, अतः उसे भी ब्रिटेन के पक्ष में सम्मिलित कर लिया गया। इस युद्ध में सर्वसाधारण भारतीय जनता की अंग्रेजों से कोई सहानुभूति नहीं थी; जर्मनी की विजय के समाचार से उसे प्रसन्नता भी अनुभव होती थी, पर उस समय देश में ऐसे नेताओं का अभाव था जो महायुद्ध की परिस्थिति से लाभ उठाकर जनता को विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रेरित करते। कांग्रेस के नेता तो उस समय अपना यह कर्तव्य समझते थे कि देश की धन व जन-शक्ति का उपयोग ब्रिटेन की सहायता के लिए कराएँ। महात्मा गांधी जी-जान से युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने में तत्पर थे। उन्होंने अंग्रेजी सेना के लिए रंगरूट भरती करने का भी कार्य किया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से घोषित किया, कि युद्ध में उनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद का समर्थन करना है और जर्मनी की पराजय संसार में लोकतन्त्रवाद की रक्षा के लिए आवश्यक है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा, कि भारत में ब्रिटिश शासन का लक्ष्य वहाँ स्वशासन की स्थापना करना है। ब्रिटेन की सरकार ने महायुद्ध के दौरान ऐसे पग भी उठाए, जिनका प्रयोजन युद्ध की समाप्ति हो जाने पर भारत को स्वशासन के मार्ग पर अग्रसर करना था। इसीलिए भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड चेम्सफोर्ड और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के भारत-मंत्री मि० माण्टेग्यू ने सम्मिलित रूप से शासन सुधारों की एक योजना भी प्रस्तुत की, जिस द्वारा प्रान्तों के शासन में आंशिक उत्तरदायित्व का प्राविधान किया गया था (जून, १९१८)। पर भारतीय जनता को इस योजना से सन्तोष नहीं हुआ। उसे पूर्ण आशा थी, कि युद्ध की समाप्ति पर भारत का शासन भारतीयों के हाथों में दे दिया जायेगा। अंग्रेजों ने इसके वायदे भी किए थे, पर ये वायदे पूरे नहीं किये गये। महायुद्ध के समय भारत में अनेक ऐसे दल भी विद्यमान थे, जो क्रान्तिकारी साधनों का प्रयोग कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष में तत्पर थे। इनके दमन के लिए सरकार ने 'भारत रक्षा कानून' नामक एक कानून बनाया था,

जिसके अनुसार न्यायालय के सम्मुख पेश किये बिना ही किसी भी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता था। सरकार चाहती थी, कि इस कानून को स्थायी रूप दे दिया जाय। इसीलिए भारत की केन्द्रीय विधानसभा में दो बिल पेश किये गये, जिन द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि जिस व्यक्ति पर राजद्रोही होने का सन्देह हो, उससे जमानत माँगी जा सके व उसकी गतिविधि पर नियन्त्रण रखा जा सके। जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में सरकार यह समझे कि उसके कार्य द्वारा शान्ति व व्यवस्था में बाधा पड़ने की सम्भावना है, उसे वह नजरबन्द या गिरफ्तार कर सकती थी। ये कानून 'रॉलट एक्ट' कहाते थे। इन्हें ६ फरवरी, १६१६ को विधानसभा में पेश किया गया। इनके प्रकाशित होते ही सारे देश में उत्तेजना फैल गयी। इनके विरोध में स्थान-स्थान पर जुलूस निकाले गये, सभाएँ हुईं और हड़तालें की गयीं। महायुद्ध की समाप्ति पर जनता को आशा तो यह थी, कि देश के शासन में ऐसे सुधार किये जाएँगे, जिनके कारण वह स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर होगा, पर रॉलट एक्ट के रूप में उसे ऐसे कानून प्रदान किये गये जिनसे लोगों की रही-सही स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती थी। जनता ने इसे अपने प्रति विश्वासघात माना, और वह इनका प्रतिरोध करने तथा स्वराज्य के लिए संघर्ष करने को उद्यत हो गयी। इस संघर्ष के नेता महात्मा गांधी थे। उन्होंने निश्चय किया कि ६ एप्रिल, सन् १६१६ को सारे देश में रॉलट एक्ट के विरोध में हड़ताल की जाय, और सार्वजनिक सभाएँ करके उसके प्रति विरोध प्रकट किया जाए।

रॉलट एक्ट के विरोध में जनता द्वारा जो प्रदर्शन किये गये, उनका दमन करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने क्रूर हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। जलियाँवाला बाग (अमृतसर) का हत्याकाण्ड इसीका परिणाम था। हजारों निःशस्त्र नर-नारी वहाँ गोरे सैनिकों की गोलियों से भून दिये गये, सारे पंजाब में मार्शल लॉ जारी कर दिया गया, और लोगों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये।

१६१४-१८ के महायुद्ध में तुर्की अंग्रेजों के विरोध में था। उस समय सीरिया, ईराक, पैलेस्टाइन आदि अरब देश तुर्की के सुलतान के अधीन थे। सुलतान एक विशाल साम्राज्य का सम्राट् होने के साथ-साथ मुसलिम संसार का खलीफा भी होता था। महायुद्ध की समाप्ति पर तुर्क साम्राज्य की जो नयी व्यवस्था की गयी, उसके अनुसार ईराक, सीरिया आदि सुलतान की अधीनता से मुक्त कर दिये गये, और तुर्की एक छोटा-सा राज्य रह गया। भारत के मुसलमानों को यह बात पसन्द नहीं आयी। वे खलीफा (तुर्की के सुलतान) की सम्मानास्पद व शक्तिशाली स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने खिलाफत-आन्दोलन का प्रारम्भ किया; और मुसलिम जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध भावना प्रचण्ड रूप धारण करने लगी। इस भावना का प्रधान प्रेरक हेतु स्वराज्य की आकांक्षा या रॉलट एक्ट का विरोध न होकर खिलाफत का प्रश्न था। महात्मा गांधी ने इस भावना का उपयोग हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए करने का प्रयत्न किया। इसीलिए उन्होंने नवम्बर, १६१६ में दिल्ली में एक 'खिलाफत कान्फरेन्स' के आयोजन में सहयोग किया, और यह निश्चय किया कि हिन्दुओं को भी खिलाफत-आन्दोलन में सहायता देनी चाहिए। अब स्थिति यह थी, कि अंग्रेजी शासन का विरोध करने में हिन्दू और मुसलमान एक होने लग गये थे, यद्यपि इस विरोध के उनके कारण भिन्न थे। हिन्दू स्वराज्य के लिए संघर्ष कर रहे थे, और मुसलमान तुर्क सुलतान (खलीफा) को कायम रखने के लिए।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में आर्यसमाज के नेताओं में महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) की स्थिति सर्वोच्च थी। पहले वह देश की राजनीति से सर्वथा पृथक् रहे। पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब स्वराज्य के लिए संघर्ष शुरू हुआ, तो वह उससे पृथक् नहीं रह सके। रॉलट एक्ट के विरोध में दिल्ली में जो प्रदर्शन हुए, हड़ताल हुई, जुलूस निकले और सभाएँ हुईं, उन सबके प्रधान नेता स्वामी श्रद्धानन्द ही थे। दिसम्बर, १९१९ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में हुआ। पण्डित मोतीलाल नेहरू उसके सभापति थे, और स्वामी श्रद्धानन्द स्वागतकरिणी समिति के अध्यक्ष। स्वामी जी ने कांग्रेस में अपना भाषण हिन्दी में दिया था, जो इस राजनैतिक संस्था के लिए एक नयी बात थी। साथ ही, उन्होंने अछूतोद्धार पर विशेष जोर देते हुए कहा था, कि "मैं आप सब भाई-बहिनों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेमजल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि आज से वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे, बल्कि हमारे भाई और बहिन हैं। उनकी पुत्रियाँ और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे।" रॉलट एक्ट के विरोध में आन्दोलन के समय पंजाब तथा अन्यत्र जो नृशंस अत्याचार सरकार द्वारा किये गये थे, अमृतसर कांग्रेस ने उनकी निन्दा की और "स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए" ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से अनुरोध किया। यद्यपि इस समय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया था, पर उन्हें अब भी अंग्रेजों पर विश्वास था, और वे वह समझते थे कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की न्याय्य माँगों की उपेक्षा नहीं करेगी।

सन् १९२० में गांधी जी की नीति में परिवर्तन आया। इसका प्रधान कारण खिलाफत के सम्बन्ध में मुसलमानों का रुख था। १९ जनवरी, १९२० को मुसलमानों का एक डेपुटेशन वायसराय से मिला। डॉक्टर अन्सारी इसके नेता थे। उन्होंने वायसराय से निवेदन किया, कि तुर्की के साम्राज्य को अक्षुण्ण रखना और खलीफा की स्थिति व सत्ता को कायम रखना मुसलमानों की दृष्टि में बहुत आवश्यक है। मार्च, १९२० में मौलाना मुहम्मद अली के नेतृत्व में मुसलमानों का एक डेपुटेशन इंग्लैण्ड गया, और वहाँ उस द्वारा तुर्क सुलतान (खलीफा) के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमानों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। पर ये प्रयत्न सफल नहीं हुए। मई, १९२० में तुर्की के साथ जो सन्धि (सेव्र की सन्धि) हुई, उसमें तुर्क साम्राज्य का विघटन कर दिया गया था। इससे भारत के मुसलमानों को बहुत क्षोभ हुआ, और खिलाफत-आन्दोलन ने और अधिक जोर पकड़ लिया। इस दशा में गांधी जी ने घोषणा की, कि सेव्र की सन्धि में परिवर्तन कराने के लिए वह असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ करेंगे। सितम्बर, १९२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे। असहयोग का जो प्रस्ताव इस अधिवेशन में उपस्थित किया गया; उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर सरकार मुसलमानों के प्रति अपने फर्ज को अदा करने में असफल रही है, और (२) क्योंकि १९१९ में हुई घटनाओं में सरकार ने पंजाब की बेकुसूर जनता की रक्षा करने और जनता के प्रति असभ्य व नृशंस व्यवहार करनेवाले अफसरों को दण्ड देने में लापरवाही की है, (३) अतः कांग्रेस की यह सम्मति है कि जब तक उक्त दोनों भूलों का सुधार और स्वराज्य की स्थापना न हो जाय, देश के सम्मुख सिवाय

इसके अन्य कोई उपाय नहीं है कि गांधी जी द्वारा संचालित असहयोग की नीति को स्वीकार करे।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन की जो प्रगति हुई, किस प्रकार बारदोली में सत्याग्रह का निश्चय किया गया और चौरीचौरा-काण्ड के कारण कैसे महात्मा जी ने असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलनों को रोक दिया, इन सब बातों का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है और न उसकी आवश्यकता ही है। मार्च, १९२२ में महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिये गये थे, और असहयोग-आन्दोलन का अन्त हो गया था। इसी समय ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, जिसमें खिलाफत-आन्दोलन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता था। तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में 'तरुण तुर्क दल' की स्थापना हो गयी थी, जो सुलतान के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन का अन्त कर तुर्की में 'लोकतन्त्र रिपब्लिक' को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील था। सन् १९२२ का अन्त होने से पहले ही सुलतान तुर्की को छोड़कर अन्यत्र चला गया था, और वहाँ का शासन 'तरुण तुर्क दल' के हाथों में आ गया था। जब तुर्की की जनता ही सुलतान के शासन में नहीं रहना चाहती थी, तो भारत के मुसलमानों के लिए उसके पक्ष में आन्दोलन करना सर्वथा निरर्थक था।

खिलाफत-आन्दोलन द्वारा भारत के मुसलमानों की साम्प्रदायिक व जातिगत भावनाओं को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उभारने का प्रबल प्रयत्न किया गया था। स्थान-स्थान पर खिलाफत-कमेटियाँ संगठित कर ली गयी थीं, और मुसलिम स्वयंसेवक अरब पोशाक पहनकर कांग्रेस की सभाओं में शामिल हुआ करते थे। गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन का जो रूप था, उसने भारत में दो प्रकार की राष्ट्रीयताओं का प्रादुर्भाव किया—हिन्दू राष्ट्रीयता और मुसलिम राष्ट्रीयता। असहयोग-आन्दोलन के कारण सरकारी कॉलिजों का बहिष्कार कर जो राष्ट्रीय शिक्षणालय स्थापित हुए, उनमें काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ में हिन्दू राष्ट्रीयता का वातावरण था, और दिल्ली की जामिया मिल्लिया इस्लामिया में मुसलिम राष्ट्रीयता का। ये तीनों राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएँ थीं—पर उनकी भाषा, संस्कृति एवं वातावरण में बहुत अधिक अन्तर था। खिलाफत-आन्दोलन के कारण मुसलिम जनता में अंग्रेजों के प्रति विरोध-भाव अवश्य उत्पन्न हुआ, पर उनका संघर्ष स्वराज्य के लिए न होकर खलीफा की स्थिति को कायम रखने के लिए—अपनी धार्मिक माँग को मनवाने के लिए था। वह राष्ट्रीय आन्दोलन न होकर साम्प्रदायिक संघर्ष था। जब साम्प्रदायिक भावनाएँ एक बार उभर जाती हैं तो उनको काबू में रख सकना सुगम नहीं रहता और उनका दुरुपयोग किया जाने लगता है। खिलाफत-आन्दोलन के परिणामस्वरूप मुसलमानों में जो साम्प्रदायिक भवना प्रादुर्भूत हो गई थी, वह तुर्की में खलीफा की सत्ता कोक ायम रखने में तो असमर्थ रही, पर भारत में वह हिन्दुओं के विरोध तथा साम्प्रदायिक दंगों के रूप में फूटने लग गयी। सन् १९२१ में मलाबार के मोपला मुसलमानों ने 'जिहाद' का झण्डा खड़ा कर दिया। जिहाद उस खिलाफत-आन्दोलन का परिणाम था, जिसने मुसलमानों की साम्प्रदायिकता को उभार दिया था। यह जिहाद अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध उतना प्रकट नहीं हुआ, जितना कि हिन्दुओं के। सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के प्रधान श्री देवधर ने मलाबार केन्द्रीय सहायता समिति की रिपोर्ट में इस जिहाद का वर्णन करते हुए

लिखा था —

"लूट, सम्पत्ति तथा मन्दिरों का विनाश, मनुष्यों पर वर्णनानीत प्रकार के अत्याचार, पुरुषों, स्त्रियों और बालकों का बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाना—बहुत शीघ्र यह उन दिनों का सामान्य व्यवहार-सा हो गया।" मौलाना हसरत मोहानी और मौलाना आजाद सुबहानी सदृश मुसलिम नेताओं ने मोपलों के इस व्यवहार का समर्थन किया। मौलाना सुबहानी का कथन था—"धर्म-परिवर्तन की सभी घटनाएँ हिन्दुओं के इच्छापूर्वक इस्लाम को स्वीकार करने का परिणाम हैं। इस्लामी युद्ध-नियमों के अनुसार उन (हिन्दुओं) के सामने दो विकल्प थे—या तो उनके वध की आज्ञा दी जानी थी, और या एक मुसलिम-भिन्न शत्रु की हैसियत से वे एक ही विधि का अनुसरण कर सकते थे–वह यह कि वे कलमा पढ़ लें और दण्ड से मुक्त हो जाएँ।" साम्प्रदायिक उन्माद के वशीभूत होकर मोपलों ने हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार किये। सितम्बर, १९२२ में मुलतान में हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया। इस दंगे के सम्बद्ध में हकीम अजमल खाँ ने लिखा था—"मुसलमान गुण्डों के दयाशून्य अत्याचार केवल मन्दिरों तथा अन्य इमारतों के विनाश तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने हिन्दुओं के घरों को आग लगा दी और उनकी सम्पत्ति लूट ली। दयनीय असहाय हिन्दू स्त्रियों पर किये गये वहशियाना अत्याचार…और भी अधिक घृणास्पद और निन्दनीय हैं। मुलतान के हिन्दू हमारी सहानुभूति के अधिकारी हैं। उनसे हमें क्षमा माँगनी चाहिए। उनका अपना व्यवहार प्रशंसनीय है। उन्होंने न किसी मुसलमान स्त्री पर आक्रमण किया और न कोई मसजिद गिरायी।" अन्य भी अनेक स्थानों पर दंगे हुए। कोहाट का साम्प्रदायिक दंगा इतना भयंकर था, कि वहाँ के सब हिन्दू और सिक्ख निवासी कोहाट को छोड़कर रावलपिण्डी चले आने के लिए विवश हो गये थे। इसमें सन्देह नहीं, कि सन् १९२१-२२ में हिन्दू-मुसलिम विद्वेष ने भारत में उग्ररूप धारण कर लिया था। मुसलमानों की जिस साम्प्रदायिक भावना का उपयोग महात्मा गांधी और कांग्रेस ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध करना चाहा था, वही बाद में साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण बन गयी।

खिलाफत-आन्दोलन द्वारा प्रादुर्भूत साम्प्रदायिक भावना का ही यह परिणाम था, कि सन् १९२३ में कोकोनाडा कांग्रेस के सभापतिपद से दिये गये भाषण में मौलाना मुहम्मद अली ने यह सुझाव पेश किया था कि देश-भर के अछूतों को दो बराबर-बराबर भागों में बाँट दिया जाय। एक भाग में हिन्दू प्रचारक काम करें और दूसरे में मुसलमान मौलवी। अछूतोद्धार का यह नया तरीका था, जो कांग्रेस के सभापति द्वारा सुझाया गया था। इससे सवा तीन करोड़ अछूत मुसलमान बन जाते। कांग्रेस के किसी भी मूर्धन्य नेता ने मौलाना के इस विचार का विरोध नहीं किया, जिससे हिन्दुओं का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही था। उन्हें यह भली-भाँति समझ में आ गया, कि ईसाइयों के समान मुसलमानों की आँखें भी अछूत समझी जानेवाली हिन्दू जातियों पर हैं।

महात्मा गांधी और कांग्रेस के नेतृत्व में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन जो रूप प्राप्त कर रहा था, उससे अनेक हिन्दू नेताओं ने अछूतोद्धार और हिन्दू संगठन की आवश्यकता को प्रबल रूप से अनुभव किया। उन्हें यह प्रत्यक्ष हो गया कि संगठन की कमी के कारण ही साम्प्रदायिक दंगों में हिन्दुओं की दुर्दशा हो रही है, और अवसर मिलने पर जहाँ मुसलमान बलपूर्वक हिन्दुओं को अपने धर्म का अनुयायी बना रहे हैं, वहाँ साथ

ही वे करोड़ों अछूत हिन्दुओं को मुसलमान बना लेने का स्वप्न भी देखने लग गये हैं। साम्प्रदायिक दंगों में हिन्दुओं ने डटकर मुसलमानों का मुकाबला किया, और सब कोई अपने को संगठित करने की आवश्यकता स्वीकार करने लगे। आर्यसमाज ने इसमें हिन्दुओं का नेतृत्व किया। हिन्दू संगठन के आन्दोलन के साथ ही शुद्धि की ओर भी हिन्दुओं का ध्यान जाने लगा। वे भी यह अनुभव करने लगे, कि विधर्मियों के लिए हिन्दू समाज का द्वार खोल देना चाहिए, विशेषतया उन जातियों के लिए जो मुसलिम शासन के काल में किन्हीं कारणों से मुसलिम हो गयी थीं, पर जिनका रहन-सहन व रीति-रिवाज आदि अब तक भी हिन्दुओं के सदृश थे। आर्यसमाज और विशेषतया स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में कांग्रेस से पृथक् व स्वतन्त्र रूप में तीन आन्दोलन सन् १९२२ के लगभग प्रारम्भ हुए—दलितोद्धार, शुद्धि और हिन्दू संगठन। इनमें अपनी सब शक्ति और समय लगाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया।

(२) दिल्ली की दलितोद्धार सभा

अमृतसर कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्षपद से स्वामी जी ने जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने अछूतोद्धार पर बहुत बल दिया था, और उनके जोर देने के कारण ही कांग्रेस ने भी अछूतोद्धार को अपने प्रोग्राम में शामिल कर लिया था। पर कांग्रेस द्वारा इसके लिये जो प्रयत्न किया जा रहा था, स्वामी जी को उससे संतोष नहीं था। जब उनके बार-बार अनुरोध करने पर भी कांग्रेस ने इस समस्या की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया, तो उन्होंने उससे अपने को पृथक् कर लिया। सन् १९२३ के प्रारम्भ में वह कांग्रेस से पृथक् हो गये थे, और उन्होंने दलितोद्धार, शुद्धि तथा हिन्दू संगठन में अपनी सब शक्ति लगा दी थी।

आर्यसमाज के लिए अछूतों या दलितों के उद्धार का कार्य नया नहीं था। उत्तर-प्रदेश, पंजाब व अन्य प्रान्तों में आर्यसमाज द्वारा अछूत समझे जानेवाले लोगों के साथ समता का व्यवहार करने और छुआछूत के भेदभाव को मिटाने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे थे, उनका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। सन् १९१७ में संन्यासी बनकर जब स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल काँगड़ी से विदा ले सार्वजनिक जीवन के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया, तो उन्होंने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया। खिलाफत-आन्दोलन द्वारा मुसलमानों में जो संकीर्ण साम्प्रदायिकता प्रादुर्भूत हो गयी थी, और देश में स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुसलिम दंगे प्रारम्भ हो गये थे, और ईसाइयों के समान मुसलमान भी अछूत समझे जानेवाले करोड़ों हिन्दुओं को आत्मसात् करने के लिए प्रयत्न करने लग गये थे, उसे दृष्टि में रखकर स्वामी जी ने अछूतों की समस्या पर विशेष ध्यान दिया, और इसी प्रयोजन से सन् १९२१ में उन्होंने विधिपूर्वक दलितोद्धार सभा की स्थापना कर दी। दिल्ली में अछूत जातियों के लोगों का बड़ी संख्या में निवास था। उनमें बहुसंख्यक चमार थे। आर्यसमाज द्वारा उनमें पहले भी कार्य किया जा रहा था। पर स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा दलितोद्धार सभा की स्थापना कर दिये जाने पर इस कार्य को बहुत बल मिला। सन् १९२१ में स्थापित इस सभा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(१) भारत की दलित जातियों में सदाचार का प्रचार करना। (२) दलित समुदाय को उनके प्राचीन धर्म से पतित करने वाले आक्रमणों से बचाना और उनको अपने पूर्वजों के धर्म पर दृढ़ रखना। (३) दलित

समुदाय से अन्य श्रेणियों के अनुचित वंशीय घृणा के मिथ्या संस्कारों को दूर करके उनके खोये हुए मानवीय अधिकारों को दिलाना। (४) समय तथा सामर्थ्यानुसार दलितों के लिए ऐसी शालाओं को खोलना, जिनके द्वारा वे अन्य देशवासियों के साथ शिक्षा ग्रहण करके सभ्य समाज में उचित स्थान पा सकें।

दलितोद्धार सभा के प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द और मन्त्री डॉक्टर सुखदेव निर्वाचित हुए। डॉक्टर सुखदेव स्वामीजी के जामाता थे, और चिरकाल तक गुरुकुल काँगड़ी में उन्होंने पूर्णतया निष्काम भाव से चिकित्सक के रूप में कार्य किया था। वह सच्चे आर्य-सेवक थे। अछूतोद्धार की उन्हें शुरू से ही धुन थी। गुरुकुल काँगड़ी के चिकित्सालय में कम्पाउण्डर का कार्य करने के लिए उन्होंने अछूत वर्ग के एक युवक को प्रशिक्षित किया था, और वहाँ वही चिकित्सा-कार्य में डॉक्टर सुखदेव का प्रधान सहायक था। जब वह गुरुकुल काँगड़ी छोड़कर दिल्ली चले आए, तो यहाँ भी उन्होंने अछूतोद्धार के कार्य को जारी रखा। उन्हें धन कमाने की जरा भी चिन्ता नहीं थी। दिल्ली में वह चिकित्सा का कार्य अवश्य करते थे, पर धन कमाने के लिए नहीं। उसमें उनका प्रयोजन जनता—विशेषतया अछूत वर्ग—की सेवा करना ही था। दलितोद्धार सभा का उनसे बढ़कर उपयुक्त मन्त्री और कौन हो सकता था! सभा में जिन अन्य व्यक्तियों ने स्वामी श्रद्धानन्द को सहयोग दिया, उनमें लाला नारायणदत्त और लाला ज्ञानचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ठेकदारी का धन्धा करते थे, और कर्मठ आर्यसमाजी थे। दिल्ली के चमारों को शिकायत थी, कि जूते के दुकानदार उनसे दुर्व्यवहार करते हैं। उस समय दिल्ली में हिन्दुओं की कोई भी जूते की दुकान नहीं थी। जूतों का व्यवसाय मुसलमानों के हाथों में था, जो हिन्दू चमारों से समुचित व्यवहार नहीं करते थे। लाला नारायणदत्त ने चमार भाइयों की शिकायत को दूर करने के लिए "नारायण शू कम्पनी" नाम से जूतों की एक दुकान खोल दी। दिल्ली में यह हिन्दुओं की पहली जूतों की दुकान थी। अन्य हिन्दुओं ने उनका अनुसरण किया, और पाँच साल के स्वल्प काल में हिन्दुओं की बीस जूतों की दुकानें खुल गईं, जिससे चमारों की शिकायत बहुत-कुछ दूर हो गयी। लाला नारायणदत्त की दुकान तो देर तक नहीं चली, क्योंकि उनका अपना धन्धा ठेकेदारी का था। उसमें उन्हें घाटा हुआ, और कुछ वर्षों बाद उसे उन्होंने बेच दिया। पर जिस प्रयोजन से उन्होंने 'नारायण शू कम्पनी' स्थापित की थी, वह पूरा हो गया और हिन्दू लोग जूतों की दुकान-दारी को हीन न समझकर इस कारोबार को अपनाने लग गये। लाला नारायणदत्त स्वामी श्रद्धानन्द के परम भक्त थे, और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर दलितोद्धार के लिए उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया था। यही दशा लाला ज्ञानचन्द की भी थी। वह भी दलितोद्धार के कार्य में जी-जान से जुट गये थे। सन् १९२४ में जब स्वामी श्रद्धानन्द अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण दलितोद्धार सभा के कार्य पर अधिक ध्यान देने की स्थिति में नहीं रह गये, तो लाला ज्ञानचन्द उनके स्थान पर सभा के प्रधान चुने गये, और उन्होंने बड़ी लगन तथा योग्यता से सभा का संचालन किया।

दलितोद्धार सभा दिल्ली के एक अन्य कर्मठ कार्यकर्ता स्वामी रामानन्द थे। वह पहले सभा के 'अधिष्ठाता' या केन्द्रीय कार्यालय के व्यवस्थापक थे, और सन् १९२५ में जब अन्य कार्यों में व्यस्तता के कारण डॉक्टर सुखदेव ने सभा के मन्त्री-पद से त्यागपत्र दे दिया, तो स्वामी रामानन्द उसके मन्त्री चुन लिये गये। अनेक वर्षों तक रामानन्द

जी ही दलितोद्धार सभा के प्रमुख कार्यकर्ता रहे और अपना सारा समय उसी के लिए लगाते रहे। दिल्ली में जो अनेक कार्य दलितोद्धार सभा द्वारा किये गये, उनमें कुछ का उल्लेख उपयोगी है। अन्य नगरों और गाँवों के समान दिल्ली में भी अछूत लोग कुओं से पानी नहीं भर सकते थे। दलितोद्धार सभा ने प्रयत्न किया कि अछूतों को कुओं से पानी भरने का अधिकार प्राप्त हो। उसे अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई, और कुछ कुओं पर बिना विशेष विरोध व कठिनाई के अछूतों को यह अधिकार प्राप्त हो गया। पर कुछ स्थानों पर सभा को सवर्ण व कट्टर सनातनी लोगों के प्रचण्ड विरोध का सामना भी करना पड़ा। सबसे प्रबल विरोध अजमेरी गेट के बाहर अँगूरीवाले कुएँ पर हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में कार्यकर्ताओं की एक मण्डली, जिसमें आर्यसमाजिओं के साथ कुछ सनातनी भी थे, अछूतों को साथ लेकर जब कुएँ पर पहुँची, तो कतिपय हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ मिलकर उसपर हमला कर दिया, जिससे बहुत-से कार्यकर्ताओं को चोटें लगीं। बाद में दलितोद्धार के विरोध में कमी आयी, और अँगूरीवाले कुएँ पर भी अछूतों को पानी भरने का अधिकार प्राप्त हो गया। हिन्दुओं के मन्दिरों में भी अछूत लोग देव-दर्शन के लिए प्रवेश नहीं पा सकते थे। दलितोद्धार सभा ने इसके लिए भी आन्दोलन किया, और उसके प्रयत्न से अछूतों के लिए अनेक हिन्दू मन्दिरों के द्वार खोल दिये गये। सभा ने बेगार की समस्या की ओर भी ध्यान दिया। देहातों में जमींदार लोग तथा सरकारी कर्मचारी पिछड़े हुए गरीब लोगों से बेगार लिया करते थे, और स्वाभाविक रूप से उनमें अछूतों की संख्या सबसे अधिक होती थी। सभा ने इस प्रथा के विरुद्ध प्रबल रूप से प्रचार प्रारम्भ किया। यद्यपि उसे इस प्रथा का अन्त कर सकने में तो सफलता प्राप्त नहीं हुई, पर उनके प्रयत्न का यह परिणाम अवश्य हुआ कि बेगार में गरीबों पर जो सख्तियाँ की जाती थीं, उनमें कुछ कमी अवश्य हुई।

दलितोद्धार सभा के कार्यकलाप के कारण अछूत लोगों में जो जागृति उत्पन्न हुई, उसके परिणामस्वरूप उन्होंने यज्ञोपवीत धारण करने शुरू किये और नित्य सन्ध्या कर सदाचारमय व धर्मानुकूल जीवन बिताना प्रारम्भ किया। ऐसे अछूतों की संख्या हजारों में थी। उनमें शिक्षा का भी प्रचार हुआ, और अछूत समझे जानेवाली जातियों के अनेक व्यक्ति धर्मशास्त्रों का समुचित ज्ञान प्राप्त कर पण्डित कहाने लगे, और उन्होंने अपने सजातीय लोगों में उपदेशक का कार्य शुरू कर दिया। शुरू में दलितोद्धार सभा का कार्यक्षेत्र दिल्ली तथा समीपवर्ती जिलों तक ही सीमित था। इसीलिये जब जनवरी, सन् १९२४ में दिल्ली में एक दलितोद्धार सम्मेलन का आयोजन किया गया, तो उसका स्वरूप अखिल भारतीय न होकर क्षेत्रीय ही था। उसमें दिल्ली के अतिरिक्त समीप के जिलों के भी बहुत-से लोग उपस्थित हुए थे। इस अवसर पर एक विशाल सहभोज का आयोजन किया गया था, जिसमें दिल्ली के बहुत-से प्रतिष्ठित एवं उच्च स्थिति के सज्जनों (रायसाहब लाला केदारनाथ, सेठ लक्ष्मीनारायण गाडोदिया, स्वामी सत्यानन्द, लाला देशबन्धुगुप्त आदि) ने भंगी, चमार, जाटव आदि अछूत वर्गों के लोगों के साथ और उन्हीं के हाथ का बना हुआ भोजन खाया था। उस युग में दिल्ली के लिए यह अत्यन्त क्रान्तिकारी बात थी।

धीरे-धीरे दलितोद्धार सभा के कार्यक्षेत्र का देश के अनेक प्रदेशों में विस्तार होने लगा, और अनेक स्थानों पर इसकी शाखाएँ स्थापित हुईं। स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान

के पश्चात् इस सभा का नाम 'अखिल भारतीय श्रद्धानन्द दलितोद्धार सभा' कर दिया गया। सन् १९३२ में इसे सेठ जुगलकिशोर बिड़ला का संरक्षण प्राप्त हुआ, और उनकी दानशीलता से यह तेजी के साथ उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगी। सन् १९४० में ११ प्रचारक इस सभा के तत्त्वावधान में दलितोद्धार के कार्य में तत्पर थे।

(३) शुद्धि आन्दोलन

आधुनिक युग में विधर्मियों को शुद्ध कर हिन्दू (आर्य) समाज में सम्मिलित करने का कार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही प्रारम्भ कर दिया गया था। महर्षि का अनुसरण कर आर्यसमाज शुरू से ही शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहा, और उस द्वारा अमृतसर तथा राजकोट आदि में बहुत-से ईसाइयों व मुसलमानों को आर्य बनाया भी गया। पर व्यापक रूप से शुद्धि का कार्य उस समय शुरू हुआ, जबकि मुसलिम राजवंशों के शासन में मुसलमान बने मलकाने राजपूतों और मूले जाटों आदि को फिर से हिन्दू बनाना प्रारम्भ किया गया। ये लोग "नौमुसलिम" कहाते थे, और आचार-विचार तथा व्यवहार में हिन्दुओं से अधिक भिन्न नहीं थे। परिस्थितियों वश ये मुसलमान तो बन गये थे, पर इनके रीति-रिवाज व खान-पान आदि हिन्दुओं के समान ही रहे। उनके विवाह-संस्कारों में ब्राह्मणों को बुलाया जाता था, और अपने मुर्दों को गाड़ने के बजाय वे जलाया करते थे। गौमांस को वे अभक्ष्य मानते थे। देश के बदले हुए धार्मिक व राजनैतिक वातावरण में उनके लिए यह सोचना स्वाभाविक ही था, कि उन्हें फिर से अपनी राजपूत, अहीर व जाट आदि बिरादरियों में सम्मिलित कर लिया जाय, और सजातीय हिन्दुओं के साथ उनका रोटी-बेटी का सम्बन्ध फिर से स्थापित हो जाय। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही राजपूत महासभा, क्षत्रिय महासभा, जाट महासभा आदि अनेक जातीय संगठनों का निर्माण हो चुका था। भारत की प्राचीन लोकतान्त्रिक परम्पराएँ बिरादरियों के रूप में इस युग में भी सुरक्षित थीं, और उनके नियमों व निर्णयों का सभी पालन किया करते थे। इस दशा में नौमुसलिमों ने अपनी बिरादरियों की जातीय महासभाओं के समक्ष यह इच्छा प्रकट करनी प्रारम्भ की, कि उन्हें शुद्ध कर अपनी बिरादरी में शामिल कर लिया जाय। यह दशा थी, जब आगरा के पण्डित भोजदत्त ने सन् १९०९ में "राजपूत शुद्धि सभा" की स्थापना की, और उस द्वारा राजपूत नौमुसलिमों को शुद्ध कर हिन्दू धर्म में वापस लाना प्रारम्भ किया। पर राजपूत शुद्धि सभा का कार्य सुगम नहीं था। हिन्दुओं में जो संकीर्णता चिरकाल से चली आ रही थी, उसे दूर कर मुसलमान माने जानेवाले लोगों को आत्मसात् कर सकना राजपूतों के लिए बहुत कठिन सिद्ध हुआ, और पण्डित भोजदत्त के प्रयत्न से जो एक हजार के लगभग नौमुसलिम शुद्ध होकर हिन्दू बन गये थे, उन्हें भी हिन्दू धर्म में स्थिर रख सकने में कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। नौमुसलिम राजपूत तभी स्थायी रूप से हिन्दू रह सकते थे, जबकि हिन्दू राजपूत उन्हें अपनी बिरादरी में शामिल करने तथा उनके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध करने के लिए सहमत हो जाते। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर ३० अगस्त, १९२२ को क्षत्रिय उपकारिणी सभा के अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"शाही जमाने में जो राजपूत भाई हिन्दू धर्म और हिन्दू-जाति से अलग हो गये या अलग कर दिये गये थे और अब पुनः अपने धर्म तथा हिन्दू

बिरादरी में आना चाहते हैं, उन्हें पुनः शुद्ध करके राजपूत बिरादरी में शामिल कर लिया जाय।" इस सभा के अध्यक्ष महाराजा सर रामपाल सिंह थे। इसके बाद दिसम्बर, १९२२ को क्षत्रिय महासभा की कान्फरेन्स शाहपुराधीश महाराजा श्री नाहर सिंह के सभापतित्व में हुई, जिसमें नौमुसलिम राजपूतों को हिन्दू बिरादरी में शामिल करने की बात की पुष्टि की गयी। यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्व का था, क्योंकि पण्डित भोजदत्त ने जिस राजपूत शुद्धि सभा की स्थापना की थी, वह १९१० तक ही कायम रह सकी थी। पर अपने जीवन की स्वल्प अवधि में ही उस द्वारा मैनपुरी, हरदोई तथा शाहजहाँपुर जिलों के हजार से ऊपर नौमुसलिमों को शुद्ध कर लिया गया था। पर इस सभा के टूट जाने से शुद्ध हुए लोगों के हितों की रक्षा करनेवाली तथा बिरादरी में उन्हें सम्मिलित करने के लिए प्रेरणा देनेवाली कोई संस्था नहीं रह गयी थी। क्षत्रिय उपकारिणी सभा के प्रस्ताव से उन्हें कुछ सहारा अवश्य प्राप्त हुआ, पर उसका एक उलटा परिणाम भी हुआ। जब ये प्रस्ताव समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए, तो मुसलिम क्षेत्रों में विक्षोभ उत्पन्न हो गया। मुसलिम मौलवी बड़ी संख्या में उन स्थानों पर जाने लगे, जहाँ नौमुसलिमों की बस्तियाँ थीं। उनका प्रयत्न था, कि ये लोग न केवल इस्लाम का परित्याग न करें, अपितु पूर्णतया मुसलमान बन जायें। मुसलिम समाचारपत्रों में नौमुसलिमों को आर्यसमाज के 'आक्रमण' से बचाने के लिए आन्दोलन शुरू हो गया। दिल्ली के ख्वाजा हसन निजामी ने इस अवसर से लाभ उठाया, और मुसलमानों को 'धर्म की रक्षा' के लिए उकसाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें इस्लाम के प्रचार के लिए नानाविध उपाय प्रतिपादित किये गये थे। यह पुस्तक स्वामी श्रद्धानन्द के हाथ लग गयी, और उन्होंने 'मुहम्मदी साजिश का इन्किशाफ' नाम की एक पुस्तिका उर्दू में प्रकाशित की, जिसमें हिन्दुओं को उन उपायों व हथकण्डों से सावधान किया, जो तबलीग के लिए प्रयुक्त किये जा रहे थे।

जब हिन्दुओं को ज्ञात हुआ कि क्षत्रिय उपकारिणी सभा के प्रस्तावों से सचेत होकर मौलवी नौमुसलिमों को पक्के मुसलमान बनाने के लिए जी-जान से मैदान में उतर आये हैं, तो उन्होंने भी इस मामले में कुछ करने का विचार किया। इसी प्रयोजन से १३ फरवरी, १९२३ को विविध प्रदेशों से ८५ हिन्दू प्रतिनिधि आगरा में एकत्र हुए, और उन्होंने 'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' नाम से एक संगठन बनाने का निश्चय किया। इस सभा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये—(१) हिन्दू-समाज से बिछुड़े हुए तथा अन्य मतावलम्बी भाइयों को पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित करना, (२) शुद्धि-क्षेत्र में प्रेम तथा धर्म का प्रचार करना, (३) पाठशालाओं तथा अन्य शिक्षाप्रद संस्थाओं द्वारा शुद्धि-क्षेत्र में विद्यादि का प्रचार करना, (४) अनाथ तथा विधवाओं के धर्म की रक्षा करना, (५) आवश्यकतानुसार शुद्धि-क्षेत्र में चिकित्सालय खोलना, (६) सभा के उद्देश्यों की पूर्त्यर्थ अन्य आवश्यक साधनों को काम में लाना।

सभा के प्रथम पदाधिकारी इस प्रकार निर्वाचित किये गये : प्रधान—स्वामी श्रद्धानन्द। उपप्रधान—महात्मा हंसराज, बाबू रामप्रसाद आगरा और कुँवर हनुमन्तसिंह आगरा। महामन्त्री—कुँवर माधवसिंह आगरा। मन्त्री—बाबू नाथमल आगरा, श्री देवप्रकाश अमृतसर और चौबे विश्वेश्वर दयाल। कोषाध्यक्ष—बाबू चाँदमल। अन्तरंग सदस्य—बाबू श्रीराम आगरा, राजा नरेन्द्रनाथ लाहौर, प्रोफेसर गुलशनराय लाहौर,

पण्डित रामगोपाल शास्त्री लाहौर, पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा लाहौर, महाशय खुशहालचन्द लाहौर, महाशय कृष्ण लाहौर, महात्मा नारायण स्वामी, श्री हरगोविन्द गुप्त कलकत्ता, कुँवर चाँदकरण शारदा अजमेर, बाबू शालिग्राम आगरा और डॉक्टर गोकुलचन्द नारंग लाहौर। ४ दिसम्बर, १९२४ को भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा की विधिवत् रजिस्ट्री करा ली गयी और आगरा में उसका मुख्य कार्यालय स्थापित कर दिया गया। नौमुसलिम वर्ग के लोगों का निवास प्रधानतया आगरा तथा उसके समीपवर्ती जिलों में था, अतः शुद्धि सभा के कार्यालय को आगरा में रखना उचित समझा गया। मार्च, १९२५ तक यह कार्यालय आगरा में रहा, फिर उसे लखनऊ में राजा साहब महवा की कोठी में ले-जाया गया। एक साल बाद मार्च, १९२६ में उसे दिल्ली में स्थानान्तरित कर दिया गया।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के प्रायः सभी पदाधिकारी आर्यसमाजी थे। उत्तरप्रदेश और पंजाब के प्रमुख आर्य नेताओं ने सहर्ष उसका पदाधिकारी होना स्वीकृत किया था, और वे पूर्ण उत्साह के साथ शुद्धि के कार्य में तत्पर हो गये थे। सनातन धर्म के अनेक विद्वानों और नेताओं का समर्थन भी शुद्धि सभा को प्राप्त हुआ, और उन द्वारा विधर्मियों को हिन्दू बनाने के पक्ष में सम्मतियाँ या व्यवस्थाएँ प्रदान की गयीं। ऐसी एक व्यवस्था लाहौर के प्राच्य महाविद्यालय के प्रधानाचार्य महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त शर्मा द्वारा दी गई थी, जिसमें स्मृति-ग्रन्थों तथा पुराणों से अनेक प्रमाण देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था, कि जब किसी अनार्य में आर्य बनने की इच्छा उत्पन्न हो, तो सबसे पूर्व उसके मन में आर्यत्व के त्याग का पश्चात्ताप होना चाहिए, फिर म्लेच्छत्व के प्रति ममत्त्व को उसे छोड़ देना चाहिए। फिर श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के कथन में विश्वास रखते हुए प्रायश्चित्त के लिए विद्वानों के पास आना चाहिए और फिर उनके उपदेशों को मानकर उपवास, गंगा-स्नान आदि कर्म तथा शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार राम, कृष्ण तथा शिव के मन्त्रों की दीक्षा लेनी चाहिए। इस प्रकार अनार्यत्व दूर होकर आर्यत्व की प्राप्ति की जाती है। इस ढंग की जो व्यवस्थाएँ पौराणिक पण्डितों द्वारा दी जा रही थीं, उनसे शुद्धि-आन्दोलन को बहुत बल मिला। सर्वसाधारण जनता में इससे शुद्धि के पक्ष में लोकमत उत्पन्न हो गया, और पौराणिक लोग भी आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं के साथ शुद्धि के कार्य में सहयोग करने लग गये।

भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा ने अपनी स्थापना से मार्च, १९३१ तक के आठ वर्षों में जो कार्य किया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(१) एक लाख तिरासी हजार तीन सौ बयालीस (१,८३,३४२) नौमुसलिमों को शुद्ध कर हिन्दू समाज में सम्मिलित किया। (२) साठ हजार के लगभग अछूतों को विधर्मी होने से बचाया। (३) १,४५१ महिलाओं और ३,१५५ अनाथों की रक्षा की। (४) १२७ शुद्धि सम्मेलन किये गये। (५) राजपूत, अहीर, जाट आदि बिरादरियों की १५३ पंचायतें करायी गयीं, जिनमें नौमुसलिमों को अपनी बिरादरी में सम्मिलित करने के लिए प्रेरित किया गया। (६) ८१ बड़े-बड़े सहभोज किये गये। (७) शुद्धि के क्षेत्र में अनेक पाठशालाओं तथा औषधालयों की स्थापना की गयी, और दर्जनों कुओं तथा मन्दिरों का निर्माण किया गया। (८) 'शुद्धि समाचार' नाम का एक पत्र हिन्दी में प्रकाशित करना शुरू किया गया (फरवरी, सन् १९२५), जिससे शुद्धि-आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में बहुत सहायता मिली। एक

समय इसकी ग्राहक-संख्या १४,००० तक पहुँच गयी थी, जो उस युग में एक असाधारण बात थी। बाद में कलकत्ता से बंगला भाषा में और सूरत से गुजराती भाषा में भी 'शुद्धि-समाचार' निकाला गया। शुद्धि-सम्बन्धी अन्य साहित्य भी वड़ी मात्रा में प्रकाशित किया गया।

भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा का कार्य कितनी तेजी के साथ वढ़ रहा था, यह इस बात से स्पष्ट हो जायेगा, कि सन् १९२७ तक भारत के विभिन्न भागों में उसकी ३५ शाखाएँ स्थापित हो गयी थीं, और उसके तत्त्वावधान में ८० वैतनिक तथा ४५ अवैतनिक प्रचारक कार्य में तत्पर थे। अब इस सभा का कार्यक्षेत्र गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, राजस्थान, मध्यप्रान्त और काश्मीर आदि में भी विस्तृत हो गया था। गुजरात में शुद्धि के कार्य का प्रधान श्रेय राजरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी को प्राप्त है। उन्होंने कुँवर चाँदकरण शारदा के सहयोग से बड़ौदा में शुद्धि-सभा की स्थापना की, और उन लोगों को शुद्ध कर हिन्दू बनाना शुरू किया जो आगाखानी प्रचारकों के प्रयत्न से मुसलमान हो गये थे। सेठ जुगलकिशोर विड़ला और राजा नारायणलाल पित्ती ने इस सभा की धन से सहायता की। महाराष्ट्र में जगद्गुरु शंकराचार्य (डॉक्टर कुर्तकोटि) का समर्थन शुद्धि आन्दोलन को प्राप्त हुआ, और वहाँ के पौराणिक पण्डितों ने शुद्धि के पक्ष में व्यवस्था प्रदान की। वहाँ भी हजारों विधर्मियों को हिन्दू बनाया गया। मद्रास प्रान्त में हिन्दुओं के क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम को अपना लेने की समस्या बड़ी विकट थी। मलाबार के क्षेत्र में इड़वा, थिया, चसा आदि अनेक ऐसी हिन्दू जातियों का निवास था, जिनके लिए सार्वजनिक सड़कों का प्रयोग भी निषिद्ध था। ये लोग हिन्दू धर्म का परित्याग कर ईसाई या मुसलमान वन जाने के लिए तैयार थे। आर्य-प्रचारक पण्डित ऋषिराम, महाशय मणिकजी बेचरजी शर्मा, पण्डित वेदवन्धु और पण्डित आनन्दप्रिय आदि ने इस दशा में वहाँ जाकर प्रचार शुरू किया, और न केवल हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाया ही, अपितु वहुत-से लोगों को शुद्ध कर हिन्दू भी वनाया। इसी प्रकार का कार्य राजस्थान, सिन्ध, मध्य प्रान्त आदि अन्य प्रदेशों में भी किया गया, जिसके कारण लोगों में अपने धर्म की रक्षा तथा विधर्मियों को शुद्ध कर अपने समाज में सम्मिलित कर लेने के लिए उत्साह का प्रादुर्भाव हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज के नेतृत्व में शुद्धि-आन्दोलन जिस ढंग से जोर पकड़ रहा था, उससे ईसाइयों और मुसलमानों का विक्षुब्ध होना सर्वथा स्वाभाविक था। मध्य काल में हिन्दू लोग इतने संकीर्ण हो गये थे, कि किसी विधर्मी को अपने धर्म में दीक्षित करने का तो स्वप्न भी नहीं ले सकते थे, और परिस्थितिवश भय, लालच या क्षणिक आवेश के कारण जिस किसी ने इस्लाम को ग्रहण कर लिया हो, उसे भी अपने धर्म में वापस लेना उनकी दृष्टि में सर्वथा अनुचित व अकल्पनीय था। पर भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति में जो परिवर्तन ला रही थी, और आर्यसमाज द्वारा जिस ढंग से उसका नेतृत्व किया जा रहा था, मुसलमान उसे नहीं सह सके। वे हर संभव उपाय से आर्यसमाज का विरोध करने और साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रादुर्भाव करने के लिए प्रयत्नशील हो गये।

(४) हिन्दू संगठन

खिलाफत-आन्दोलन के कारण मुसलमानों में जिस उग्र साम्प्रदायिक भावना का विकास हुआ था, और मौलाना मुहम्मद अली सदृश कांग्रेसी नेता जिस ढंग से अछूतों को मुसलमान बनाकर अपनी संख्या तथा शक्ति की वृद्धि करने के स्वप्न लेने लगे थे, उससे स्वामी श्रद्धानन्द ने यह आवश्यक समझा, कि अछूतों के उद्धार के साथ-साथ हिन्दू जाति को संगठित करने का भी प्रयत्न किया जाए। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में भारत की राजनीति ने साम्प्रदायिक रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९०६ में 'इण्डियन मुसलिम लीग' की स्थापना हुई थी, जिसका उद्देश्य भारत के मुसलमानों के राजनैतिक व अन्य अधिकारों की रक्षा करना था। उसके अनुकरण में हिन्दू हितों की रक्षा के प्रयोजन से 'हिन्दू महासभा' स्थापित हुई, और ये दोनों संगठन अपने समुदायों के राजनैतिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो गये। भारत में मुसलमान अल्प-संख्या में थे। अतः उनके लिए राजनैतिक हितों की रक्षा का प्रश्न अर्थ रखता था। पर बहुसंख्यक हिन्दू जाति के लिए राजनैतिक हितों की रक्षा का प्रश्न उतने महत्त्व का नहीं था, जितना कि आन्तरिक सुधारों द्वारा अपने में शक्ति का संचार करने का था। हिन्दू लोग बहुत-सी जातियों और उपजातियों में विभक्त थे, और उनमें ऊँच-नीच का भाव प्रबल रूप से विद्यमान था। हिन्दुओं का बहुत बड़ा भाग उन अछूतों का था, जिन्हें मानवता के प्राथमिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्य-समाज का यही प्रयत्न था, कि हिन्दुओं की इन बुराइयों को दूर किया जाए, और उन्हें संगठित कर उनमें शक्ति का संचार किया जाए। खिलाफत-आन्दोलन के कारण मुसलिम साम्प्रदायिकता का जो उग्र रूप प्रकट होने लगा था और हिन्दू जिस प्रकार के नृशंस अत्याचारों से पीड़ित होने लग गये थे, स्वामी श्रद्धानन्द को उससे हिन्दू संगठन की आवश्यकता अनुभव हुई। स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान हिन्दू-सभा की ओर गया। उन्हें आशा थी, कि हिन्दुओं के इस अखिल भारतीय संगठन का उपयोग इस जाति में नव-चेतना उत्पन्न करने के लिए किया जा सकेगा। वह हिन्दू महासभा में सम्मिलित हो गये, और उसे आधार बनाकर हिन्दू संगठन का कार्य शुरू कर दिया। ११ जुलाई, सन् १९२३ को उन्होंने अपना दौरा शुरू किया और उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल और पंजाब के ३२ स्थानों पर स्वयं गये, और जहाँ स्वयं नहीं जा सके, वहाँ पण्डित नेकीराम शर्मा और स्वामी रामानन्द को भेजा। अगस्त मास में वाराणसी में हिन्दू महासभा का वार्षिक अधि-वेशन था। उसमें सम्मिलित होने के लिए उन्होंने सब स्थानों से प्रतिनिधियों को तैयार किया। इस अधिवेशन की सफलता का अधिकांश श्रेय स्वामीजी को ही था। वह चाहते थे, कि महासभा हिन्दुओं में बद्धमूल कुरीतियों के निवारण तथा सुधार के लिए ऐसा क्रान्तिकारी व प्रगतिशील कार्यक्रम निर्धारित करे, जिससे इस जाति में नवजीवन एवं शक्ति का संचार हो जाय। पर उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। वाराणसी से लौटकर स्वामी जी ने लिखा था—"मेरी इच्छा थी कि हिन्दू महासभा के गत अधिवेशन में और अधिक पूर्ण सफलता प्राप्त होती। यदि अस्पृश्यता का पाप धुल जाता और विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावट एकदम उठा दी जाती, तो मुझको अधिक संतोष होता। यदि आग्रह किया जाता, तो दोनों प्रस्ताव बहुत अधिक सम्मति से अवश्य स्वीकृत हो जाते, परन्तु

आदरणीय सभापति पण्डित मालवीयजी की सम्मति को मानते हुए मैंने काशी के ब्राह्मण-पण्डितों को एक और अवसर देना उचित समझा, जिससे वे स्वयं जनता का हित करते हुए हिन्दू जाति का सम्मान प्राप्त कर सकें। मुझको यह जानकर बड़ा दुःख और निराशा हुई कि दलित भाइयों को महासभा के मंच पर से भाषण नहीं करने दिया गया।" पर हिन्दू महासभा ने न केवल मलकाना राजपूतों को ही अपितु ब्राह्मण, वैश्य, गूजर, जाट आदि सभी को, जो रीति-रिवाज तथा संस्कारों से तो हिन्दू थे, पर नाम को मुसलमान थे, अपनी-अपनी बिरादरियों में सम्मिलित करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया था। स्वामी जी की यह महान् विजय थी। जिस प्रयोजन से वह हिन्दू महासभा में सम्मिलित हुए थे, वह आंशिक रूप से सफल हो गया था। सन् १९२४ में हिन्दू महासभा का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे। उसमें दलितोद्धार के पक्ष में एक प्रस्ताव स्वीकृत कराने में स्वामी जी को सफलता प्राप्त हुई थी। पर वह इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। वह चाहते थे, कि छुआछूत सदृश बुराई हिन्दुओं से समूल नष्ट हो जाय। इसके लिए वह अत्यन्त प्रगतिशील उपायों के अवलम्बन के पक्षपाती थे। इसीलिए उन्होंने 'अर्जुन' और 'तेज' नाम से दो दैनिक पत्रों का हिन्दी और उर्दू में प्रकाशन प्रारम्भ कराया (सन् १९२३ में), और बाद में (एप्रिल, १९२६) 'लिबरेटर' नाम से एक अंग्रेजी साप्ताहिक भी निकाला। इन पत्रों द्वारा स्वामीजी हिन्दू संगठन के लिए सशक्त आन्दोलन करने में तत्पर थे।

स्वामी श्रद्धानन्द देर तक हिन्दू महासभा में सम्मिलित नहीं रह सके। वह जिस ढंग से दलितोद्धार सदृश क्रान्तिकारी सुधार-कार्यों के लिए आन्दोलन कर रहे थे, पुराने ढंग के कट्टर सनातनी हिन्दुओं को वह पसन्द नहीं था। उसमें उन्हें आर्यसमाज की 'बू' आती थी। स्वामी जी के कार्यकलाप के सम्बन्ध में उनकी मनोवृत्ति जगद्गुरु शंकराचार्य भारतीकृष्ण तीर्थ के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाती है—"सनातन धर्म के नाम पर आर्यसमाज का काम होता है। लोगों को शुद्ध करके यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण बनाया जाता है। हमें धोखा देकर ऐसा काम किया जाता है।" सनातन धर्म के अनेक प्रमुख व्यक्ति 'हिन्दू शुद्धि सभा' के कार्य को भी आशंका की दृष्टि से देखते थे। उसे भी वे आर्यसमाज के प्रचार का साधन समझते थे। इसीलिए उन्होंने 'हिन्दू पुनःसंस्कार सम्मेलन' के नाम से एक पृथक् संगठन का निर्माण किया। हिन्दू महासभा के प्रधान नेता उस समय पण्डित मदनमोहन मालवीय और दरभंगा के महाराजा श्री रामेश्वर सिंह थे। अछूतोद्धार और विधवा-विवाह का जिस रूप में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा समर्थन किया जा रहा था, वे उससे सहमत नहीं थे। यही कारण है, कि हरयाणा प्रान्तीय हिन्दू कान्फरेन्स (१९२५) में जब विधवा-विवाह के सम्बन्ध में प्रस्ताव प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया, तो मालवीय जी ने धमकी दी कि यदि इस प्रस्ताव के लिए आग्रह किया गया तो वह अपने साथियों के साथ कान्फरेन्स से चले जाएँगे। उसी वर्ष जब दिल्ली में हिन्दू महासभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ, तो उसमें भी मालवीय जी ने विधवा-विवाह के समर्थन में प्रस्ताव को पेश नहीं होने दिया। शीघ्र ही, स्वामी श्रद्धानन्द ने अनुभव कर लिया, कि महासभा के साथ रहकर व उसके माध्यम से हिन्दू संगठन एवं समाज-सुधार का कार्य नहीं कर सकते। उन्होंने यही उचित समझा कि हिन्दू महासभा से पृथक् होकर कार्य करें। त्याग-पत्र देकर वह उससे पृथक् हो गये, और उन्होंने हिन्दुओं के सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक

सुधार का कार्य पूर्ण उत्साह से प्रारम्भ कर दिया। हिन्दू जाति जात-पाँत के भेदभाव और छुआछूत की भावना से ग्रस्त एक बिखरी हुई निर्बल जाति थी। उनमें अपने 'एक' होने की अनुभूति का अभाव था। स्वामी श्रद्धानन्द उसे संगठित करना चाहते थे। हिन्दू संगठन के जिस आन्दोलन को अब उन्होंने प्रारम्भ किया, उसके प्रयोजन को 'अर्जुन' के एक लेख में उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया था—"पाँच हजार वर्षों से दीन अवस्था को प्राप्त होते-होते गत एक हजार वर्षों में तो गिरते-गिरते यह देश दासता की पराकाष्ठा को पहुँच गया था। उस गुलाम की हालत बहुत दर्दनाक है, जो अपनी दासता को अनुभव करता हुआ भी गुलामी की जंजीरों में जकड़ा जा रहा हो। यह हालत आर्य-हिन्दू समाज की मुसलमानों के शासनकाल में थी। परन्तु जो अभागा दास अपनी अवस्था में ऐसा सन्तुष्ट हो जाय कि उसी को जीवन का स्वाभाविक आदर्श समझने लग जाय, उसकी अवस्था को जाहिर करने के लिए कोई शब्द ढूँढ़ेन हीं मिलते।...अंग्रेजों ने जहाँ भाई-भाई को लड़ाकर सारा देश काबू कर लिया, वहाँ कुछ काल के अनुभव से ही सन् १८५७ ईसवी के विप्लव के पीछे, महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र के रूप में हिन्दियों को सोने की जंजीरें पहना दीं। साथ ही अपनी शिक्षा-विधि द्वारा ऐसा क्लोरोफार्म सुँघाया कि गुलाम जंजीरों को आभूषण समझने लगे। फिर अपनी हालत में ऐसे मस्त हुए कि हिलने-जुलने की जरूरत ही नहीं समझी। हिन्दियों में से मुसलमानों ने तो फिर भी अपनी हस्ती कायम रखी, परन्तु हिन्दुओं ने अपने अस्तित्व को ही भुला दिया। पचपन वर्ष हुए कि बाल ब्रह्मचारी ने मूर्च्छित आर्य जाति को जगाने का यत्न किया। कुछ हलचल भी हुई, परन्तु मुट्ठीभर व्यक्तियों के सिवाय बाकी सब खर्राटे ही भरते रहे। उसी नशे में चूर हिन्दू समाज की आँखें जब महात्मा गांधी ने खोलीं, तो अपनी विवशता को भूलकर उन्होंने पहले स्वयं साधन सम्पन्न बनने के स्थान में अपने मुसलमान भाइयों की रहनुमाई का दावा कर दिया। स्वार्थ इस प्रतिज्ञा की जड़ में था। इसलिए महात्मा गांधी के जेल जाते ही हिन्दुओं ने मुँह की खाई। तब परमात्मा के अटल नियम ने उनकी आँखें खोलीं, जिसका परिणाम गत सवा वर्ष का धर्मयुद्ध है। वह दिन दूर नहीं है जब आर्य-हिन्दू समाज संघशक्ति से सुसज्जित होकर व्यक्ति और समष्टि दोनों को बलवान् बनाकर सारे संसार के अन्य समाजों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ायेगा।" स्वामी जी ने यहाँ जिस धर्मयुद्ध का उल्लेख किया है, उससे हिन्दुओं का वह संघर्ष अभिप्रेत था, जो वे मलाबार, मुलतान, गुलबर्गा, अमेठी, सहारनपुर, कोहाट आदि के साम्प्रदायिक दंगों में मुसलमानों के अत्याचारों से आत्मरक्षा के लिए कर रहे थे। संगठन द्वारा स्वामी जी हिन्दुओं को शक्तिशाली अवश्य बनाना चाहते थे, पर मुसलमानों या किसी भी अन्य धर्म के अनुयायियों का विरोध करना उनका उद्देश्य नहीं था। मुसलमानों को उनका यह कहना था—"मुसलमान-समाज को मैं सिर्फ एक सलाह देना चाहता हूँ। याद रखो—संगठित और शक्ति-सम्पन्न समाज का असंगठित और कमजोर समाज पर अत्याचार करना वैसा ही पाप है, जैसा कि कमजोर और कायर होना पाप है। इसलिये हिन्दुओं के संगठन और शक्ति-सम्पन्न होने में विघ्न न डालो। यदि तुम हिन्दू-समाज के अस्तित्व को इस भूमि पर से मिटा सकते, तो मैं कुछ भी नहीं कहता, क्योंकि मनुष्य-समाज का यह दुर्भाग्य है कि इस वसुन्धरा का भोग वीर लोग ही कर सकते हैं। साथ ही तुमको यह भी मालूम होना चाहिए कि जो समाज पाँच हजार वर्ष के निरन्तर

पतन के बाद भी नष्ट नहीं हुआ उसको भगवान् ने किसी भावी हेतु से ही कायम रखा हुआ है। यदि हिन्दू समाज के अस्तित्व को नष्ट नहीं किया जा सकता, तो उसको संगठित तथा दृढ़ होने दो, जिससे यह भारतीय राष्ट्र के राजनैतिक अभ्युदय में मुसलमानों के गले का भार न होकर शक्ति का पुंज साबित हो सके।"

हिन्दू संगठन और शुद्धि के आन्दोलन का संचालन करते हुए भी स्वामी श्रद्धानन्द मुसलमानों के प्रति भ्रातृभाव रखते थे और साम्प्रदायिक मेल-जोल के प्रबल समर्थक थे। वह नहीं चाहते थे, कि ईद के अवसर पर गाय की कुर्बानी से हिन्दू लोग उद्वेग अनुभव करें और मुसलमानों का विरोध करने को उतारू हो जाएँ। इसीलिए सन् १९२५ में ईद के अवसर पर दिल्ली के निवासियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा था—"परमात्मा सारे संसार का पिता है। यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है, तो प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये, और मनुष्यमात्र को तो भाई समझना चाहिए।··· आज मुसलमान स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा नये कपड़े पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या यह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गयी है ? यदि ऐसा होगा, तो वे अपने त्यौहार पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे। मेरे हिन्दू भाइयो ! आज तुम्हें भी अपने भ्रातृभाव का स्पष्ट प्रमाण देना है। परमात्मा की उपासना में अपने मुसलमान भाइयों को निमग्न देखकर प्रसन्नता से उनको आशीर्वाद दो। यदि तुम्हारी आँखों के आगे से कुर्बानी के लिए गौमाता जाती हो, तो क्रोध और द्वेष का लेश भी अपने अन्दर न आने दो, प्रत्युत परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करो कि वह परमपिता उनकी बुद्धियों को प्रेरणा करे, जिससे स्वयं गौरक्षा का भाव उनमें उत्पन्न हो।"

जून, १९२५ में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू महासभा से त्यागपत्र दे दिया था, और वह स्वतन्त्र रूप से दलितोद्धार, शुद्धि तथा हिन्दू संगठन के कार्यों में लग गये थे। इससे हिन्दू जनता में असाधारण चेतना उत्पन्न होने लगी, और ऐसे लोगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, जो हिन्दू जाति की दुर्दशा और निर्बलता को अनुभव करते थे और साथ ही उसे सशक्त बनाने के लिए स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित उपायों को स्वीकार करने के लिए उद्यत थे। कट्टर व संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले मुसलमानों का इससे क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। सन् १९२२-२५ के काल में भारत के विविध प्रदेशों में जो अनेक हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए, वे इसी क्षोभ के परिणाम थे। मुसलमानों को यह सहन नहीं हुआ, कि हिन्दू लोग केवल अछूतों को ही नहीं, अपितु नौमुसलिमों को भी अपने समाज में सम्मिलित कर लें, और जात-पाँत के संकीर्ण भेदभावों को भुलाकर एक संगठन में संगठित हो जाएँ। यदि ईसाइयों और मुसलमानों को यह अधिकार था, कि अन्य लोगों को अपने धर्म में दीक्षित कर सकें, तो हिन्दुओं को यह अधिकार क्यों नहीं था ? यदि निर्बलता, प्रमाद या संकीर्णतावश गत समय में हिन्दुओं ने अपने इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया, तो भविष्य में इसे प्रयुक्त करने से उन्हें कैसे रोका जा सकता था ?

साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण भारत के सार्वजनिक जीवन में जो वातावरण उत्पन्न हो गया था, महात्मा गांधी उससे बहुत चिन्तित थे। १८ मई, १९२४ को उन्होंने 'यंग इण्डिया' में एक लेख लिखा, जिसमें साम्प्रदायिक विद्वेषभाव के कारणों का विवेचन करते हुए आर्यसमाज को उसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी ठहराया। सत्यार्थप्रकाश

और महर्षि दयानन्द पर भी इस लेख में अनेक आक्षेप किये गये—"मैंने आर्यसमाजियों की बाइबल सत्यार्थप्रकाश को पढ़ा है।...मैंने इतने बड़े सुधारक का ऐसा निराशाजनक ग्रन्थ आज तक नहीं पढ़ा। स्वामी दयानन्द ने सत्य और केवल सत्य पर खड़े होने का दावा किया है, परन्तु उन्होंने अनजाने में जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाइयत और स्वयं हिन्दू धर्म को अशुद्ध रूप से प्रकट किया है। उन्होंने पृथिवीतल पर अत्यन्त सहिष्णु और स्वतन्त्र सम्प्रदायों में से एक (हिन्दू सम्प्रदाय) को संकुचित बनाने का प्रयत्न किया है।...आप जहाँ कहीं भी आर्यसमाजियों को पाएँगे, वहाँ जीवन और जागृति मिलेगी। परन्तु संकुचित विचार और लड़ाई-झगड़े की आदत से वे अन्य सम्प्रदायवालों से लड़ते रहते हैं, और जहाँ ऐसा नहीं वहाँ स्वयं आपस में लड़ते रहते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी को भी इसका अधिकांश भाग मिला हुआ है, परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी मैं उन्हें ऐसा नहीं समझता जिसके लिए (सुधार की) प्रार्थना न की जा सके।" महात्मा गांधी के इस लेख से मुसलमानों को बहुत बल मिला। जनता की गांधी जी में अगाध श्रद्धा थी। सब कोई यह समझने लगे, कि देश में जो साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न हो गयी है, उसके लिए आर्यसमाज और उसके नेता प्रधानतया उत्तरदायी हैं। आर्यसमाज की ओर से गांधी जी द्वारा किये गये आक्षेपों के उत्तर में अनेक लेख लिखे गये और आर्य विद्वानों के एक डेपुटेशन ने उनसे भेंट भी की। इसपर महात्मा गांधी ने आंशिक रूप से उस भ्रम के निराकरण का कुछ प्रयत्न भी किया, जो उनके लेख से उत्पन्न हो गया था। पर जो तीर छूट चुका था, उसे वापस ले सकना सम्भव नहीं था। स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज द्वारा जो कार्य शुद्धि और हिन्दू संगठन के लिए किया जा रहा था, मुसलमान उससे उनके प्रति उग्र विरोधभाव पहले ही रख रहे थे, अब गांधी जी का आश्रय पाकर उसमें और अधिक वृद्धि हो गयी।

(५) स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान

स्वामी श्रद्धानन्द का अन्य धर्मों के लोगों से कोई विरोध नहीं था। अन्य धर्मों के प्रति उनका क्या रुख था, इसे उन्होंने स्वयं इस प्रकार स्पष्ट किया था—"अपने विषय में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। गुरुकुल में रहते हुए मैंने सब विचारों के सभ्य पुरुषों का उदारता के साथ स्वागत किया। तीर्थ जी (शंकराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ) स्वयं मानते हैं कि गुरुकुल में वह अपनी पूजा करते रहे। मुसलमान भाइयों ने गुरुकुल में अपनी पाँच वक्ता नमाज आनन्द से अदा की। ईसाई पादरियों को अपने धर्म के अनुसार उपासना की खुली छुट्टी थी। वह सब हमारे उपासना-मन्दिर में आकर सम्मिलित होते थे। मैं जिस सम्प्रदाय के धर्म-मन्दिर में जाता हूँ, उनकी मर्यादा से भी बढ़कर उन मन्दिरों का मान करता हूँ। पुरानी मुसलमानी मजारों में, जहाँ मुसलमान स्वयं जूता पहिने चले जाते है, मैं वहाँ नंगे पैर जाता हूँ। मुसलमान और ईसाई जब भौतिक शरीर को गाड़ने को जा रहे हों, तब सवारी खड़ी कर उतर जाता हूँ।" जिस महापुरुष का अन्य धर्मों के प्रति यह व्यवहार हो, उसे कौन साम्प्रदायिक, अनुदार या असहिष्णु कह सकता है! गुरुकुल काँगड़ी से विदा लेकर जब स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली को केन्द्र बनाकर व्यापक सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया, तो हिन्दुओं के समान मुसलमान भी उन्हें अपना नेता मानने लगे थे, और उनके हृदयों में भी स्वामी जी के प्रति असाधारण सम्मान का भाव उत्पन्न

हो गया था। यही कारण है, कि दिल्ली की शाही जामा मसजिद में उन्हें उपदेश के लिए आमन्त्रित किया गया था, और ४ मार्च, १९१९ को मसजिद के मिम्बर पर से उन्होंने 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बूभूविथ, अधाते सुम्नमीमहे" के वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर के माता और पिता के रूप का वर्णन कर 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ अपना भाषण समाप्त किया था। पर अब सन् १९२५-२६ में स्थिति वदल चुकी थी। अब मुसलमानों की दृष्टि में स्वामी जी पीर या औलिया नहीं रहे थे। अब वह ऐसे 'काफिर' थे, जिन्होंने हजारों मुसलमानों को 'मुर्तद्द' (अपने धर्म का परित्याग कर देनेवाला) बना दिया था। इस्लाम में जब मुर्तद्द के लिए भी वध का विधान है, तो मुर्तद्द बनानेवाले का अपराध तो उससे कई गुणा अधिक है। इस दशा में यदि कुछ कट्टर उग्रवादी मुसलमान उनकी हत्या का षड्यन्त्र करने के लिए उद्यत हो गये हों, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है!

असगरी बेगम नाम की एक मुसलिम महिला अपने दो बच्चों और भतीजे के साथ कराची से दिल्ली आयी थी, और वहाँ उसने हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की। शुद्धि-संस्कार द्वारा उसे हिन्दू बना लिया गया, और उसका नाम शान्ति देवी रख दिया गया। तीन मास बाद उसके पिता मौलवी ताज मुहम्मद खाँ और पति सलीम उसे खोजते हुए दिल्ली आये, और उसे पुनः मुसलमान बन जाने तथा कराची वापस जाने के लिए प्रेरित किया, पर वह तैयार नहीं हुई। इसपर उसके पति ने शान्ति देवी, स्वामी श्रद्धानन्द, डॉक्टर सुखदेव, पण्डित इन्द्र, श्री देशबन्धु गुप्त, लाला गणपतराय और कराची आर्यसमाज के मन्त्री पर मुकदमा दायर कर दिया। स्थानीय मुसलिम संगठनों ने इस मुकदमे को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। ४ दिसम्बर, सन् १९२६ को मुकदमे का फैसला सुनाया गया जिसमें सब अभियुक्त वरी कर दिये गये थे। पर इससे झगड़े का अन्त नहीं हो गया। खून करने की धमकियों के गुमनाम पत्र स्वामी जी के पास आने लगे, और इस सम्बन्ध में कुछ पेम्पलेट भी निकाले गये। ख्वाजा हसन निजामी के पत्र 'दरवेश' में भी कुछ इसी प्रकार के संकेत दिये गये थे। पर स्वामी जी ने इनकी कोई परवाह नहीं की, और धमकी के पत्रों से पुलिस को सूचित तक नहीं किया। और-तो-और, यदि उनके निवासस्थान पर स्वयंसेवकों का पहरा लगाया जाता, तो उसे भी वह हटा देते थे।

सन् १९२६ का दिसम्बर का महीना था। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। उन्हें ब्रोंको-निमोनिया हो गया था। डॉक्टर अन्सारी स्वामी जी के घनिष्ठ मित्रों में थे। उनके इलाज से उनकी दशा धीरे-धीरे सुधर रही थी, और सबको आशा थी कि वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे। पर ईश्वर को यह मंजूर नहीं था। २६ दिसम्बर को एक मुसलमान उनसे मिलने के लिए आया। उसने स्वामी जी से कहा—मैं आपसे इस्लाम के मुतल्लिक कुछ गुफ्तगू करना चाहता हूँ। पर वह इस्लाम के विषय में बात करने के लिए नहीं आया था। प्यास के बहाने उसने स्वामी जी से पीने के लिए पानी माँगा, और जब सेवक पानी लेने के लिए गया तो उसने मसनद के सहारे बैठे हुए स्वामी जी पर पिस्तौल दाग दी। क्षण-भर में दो फायर हो गये। सेवक धर्मसिंह ने हत्यारे को पीछे से पकड़ा, इतने में उसने तीसरा फायर कर दिया। रोग-शय्या पर पड़े हुए स्वामी श्रद्धानन्द तीन गोलियाँ अपने सीने में लिये हुए उसी मार्ग पर चल दिये, जिस पर पण्डित लेखराम गये थे।

स्वामी जी के शव का जैसा जुलूस दिल्ली में निकला, उससे बड़े-बड़े सम्राटों को भी ईर्ष्या होती। नया बाजार से शुरू होकर खारी बावड़ी और चाँदनी चौक होता हुआ जुलूस सीसगंज पहुँचा और वहाँ से यमुना के तट पर। दो-ढाई मील तक सिर-ही-सिर दिखायी देते थे। जिसके लिए भी सम्भव था, स्वामी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए दिल्ली आ गया। जुलूस में सम्मिलित नर-नारी जो गीत गा रहे थे, उसकी एक पंक्ति थी—'किया कत्ल है जिसने स्वामी हमारा, उसे भी गले से लगाना पड़ेगा।' स्वामी जी जिस पवित्र-भावना से शुद्धि और संगठन के आन्दोलन का संचालन कर रहे थे, वह इस गीत में परिलक्षित थी। स्वामी जी के कातिल का नाम अब्दुल रशीद था। उसे घटना-स्थल पर ही स्वामी जी के निजी सचिव पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार ने पकड़ लिया था। कुछ दिन मुकदमा चलने के बाद उसे फाँसी की सजा हुई। पर अब्दुल रशीद तो किन्हीं धर्मान्ध व्यक्तियों द्वारा उकसाया हुआ स्वामी जी की हत्या के लिए आया था। वह नहीं जानता था, कि इस कृत्य से वह इस्लाम की चादर पर ऐसा धब्बा लगा रहा है, जिसे कभी मिटाया नहीं जा सकेगा और जो स्वामी जी को सदा-सदा के लिए अमर कर जायेगा।

स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान से यह स्पष्ट हो गया, कि हिन्दू-मुसलिम विद्वेष के लिए कौन उत्तरदायी है। दिसम्बर, १९२६ के अन्तिम सप्ताह में गोहाटी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन था। उसके लिए स्वामी जी ने यह संदेश भेजा था—"In Hindu-Muslim unity lies the hope of salvation of India." भारत की मुक्ति की आशा हिन्दू-मुसलिम एकता पर आधारित है। महात्मा गांधी को भी अब यह विश्वास हो गया था, कि स्वामी जी मुसलमानों से घृणा नहीं करते थे। ७ जनवरी, १९२७ के 'यंग इण्डिया' में उन्होंने यह बात स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की थी। जहाँ तक हिन्दू जाति का सम्बन्ध है, स्वामी जी के बलिदान ने उसे आमूल-चूल हिला दिया था। इसके कारण हिन्दू शुद्धि-सभा, दलितोद्धार सभा और हिन्दू-महासभा सदृश हिन्दू-संस्थाओं के कार्यकलाप तथा गतिविधि में तेजी आ गयी थी। लाला लाजपतराय और पण्डित मदनमोहन मालवीय सदृश हिन्दू-नेता अब यह भली-भाँति अनुभव करने लगे कि हिन्दू-जाति में शक्ति का संचार करने के लिए स्वामी जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। स्वामी जी का प्रधान कार्यक्षेत्र आर्यसमाज था। उनके बलिदान से उसमें नई स्फूर्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज के कार्यकर्ता अब नौमुसलिमों की शुद्धि के लिए विशेष उत्साह से कार्य करने लगे, और उन्होंने यह आवश्यकता अनुभव की कि आत्मरक्षा के प्रयोजन से आर्यसमाज को आर्यरक्षा-समिति और आर्यवीर दल की स्थापना करनी चाहिए। स्वामी जी के बलिदान के कारण उत्पन्न हुई परिस्थिति पर विचार करने तथा भावी कार्यक्रम के निर्धारण के लिए सन् १९२७ में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से दिल्ली में सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन के कार्यकलाप तथा निर्णयों पर उन्नीसवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

(६) महाशय राजपाल का बलिदान

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना ने जो उग्र व धर्मान्ध रूप धारण कर लिया था, महाशय राजपाल भी उसी के शिकार हुए। महाशय जी सौम्य और शान्त प्रकृति के धार्मिक व्यक्ति थे, और साहित्य-प्रकाशन द्वारा आर्यसमाज

की सेवा में रत थे। 'सद्धर्म प्रचारक' और 'प्रकाश' पत्रों में कुछ वर्ष कार्य कर उन्होंने लाहौर में 'सरस्वती आश्रम' और 'आर्य पुस्तकालय' नाम से अपनी प्रकाशन-संस्था कायम कर ली थी, जिस द्वारा वैदिक धर्म सम्बन्धी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं।

मुसलमानों से आर्यसमाज के जहाँ शास्त्रार्थ होते रहते थे, वहाँ दोनों पक्षों की ओर से ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित की जाया करती थीं, जिनमें एक-दूसरे के धार्मिक मन्तव्यों तथा आचार्यों के जीवन की आलोचना की जाती थी। कभी-कभी इस आलोचना में औचित्य की सीमा का उल्लंघन भी हो जाया करता था, पर इससे कोई बुरा नहीं मानता था, और दोनों पक्षों द्वारा यह यत्न किया जाता था कि एक-दूसरे के आक्षेपों का सशक्त रूप से उत्तर दिया जाय। सन् १९२४ में कादियानी सम्प्रदाय के प्रकाशनगृह से 'उन्नीसवीं सदी का महर्षि' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन पर अनुचित व निराधार आक्षेप किये गये थे। इसके पश्चात् मई, १९२४ में महाशय राजपाल के आर्य पुस्तकालय से 'रंगीला रसूल' नाम से एक पुस्तक उर्दू में प्रकाशित हुई। इस ढंग की पुस्तकें हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा प्रकाशित होती ही रहती थीं, अतः सरकार ने उसपर कोई नोटिस नहीं लिया, और न मुसलमानों ने उसके विरुद्ध कोई आवाज उठायी। इसी बीच किसी मुसलमान ने 'रंगीला रसूल' की एक प्रति महात्मा गांधी के पास भेज दी। उन्होंने अपनी सम्मति इस पुस्तक के प्रतिकूल प्रकाशित कर दी। उसे पढ़कर मुसलमानों ने भी उसका विरोध करना शुरू कर दिया। इसपर पंजाब सरकार का ध्यान इस पुस्तक की ओर गया, और उसने महाशय राजपाल पर मुकदमा दायर कर दिया, और पुस्तक को जब्त कर लिया। तीन वर्ष तक मुकदमा चला। छोटी अदालत ने तो राजपाल जी को अपराधी पाया, पर हाईकोर्ट से वह बरी हो गये। महाशय राजपाल यदि चाहते, तो 'रंगीला रसूल' का नया संस्करण प्रकाशित कर सकते थे। उसकी खूब बिक्री होती और उससे वह अच्छा धन कमा लेते। पर वह शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने घोषणा कर दी, कि मुसलमानों की भावनाओं का आदर कर वह इस पुस्तक को पुनः प्रकाशित नहीं करेंगे। पर धर्मान्ध मुसलमानों को इससे संतोष नहीं हुआ। गत वर्षों में उनके खिलाफ जो विद्वेषपूर्ण प्रचार किया गया था, और कुफ्र का फतवा देकर कत्ल करने की जो धमकियाँ उन्हें दी गयी थीं, उनके परिणामस्वरूप उनकी हत्या के प्रयत्न किये जाने लगे। २६ सितम्बर, १९२४ को स्वामी स्वतन्त्रानन्द और स्वामी वेदानन्द महाशय जी की दुकान पर बैठे हुए थे। खुदाबख्श नाम का एक व्यक्ति आया, और उसने महाशय जी पर प्रहार कर दिया। उन्हें अनेक चोटें आयीं, और एक मास हॉस्पिटल में रहना पड़ा। इसके बाद ९ अक्टूबर को स्वामी सत्यानन्द किसी कार्य से महाशय जी की दुकान पर बैठे हुए थे। अब्दुल अजीज नाम का एक व्यक्ति आया और उसने उनके छुरी भोंक दी। उसने स्वामी जी को ही राजपाल समझ लिया था। स्वामी जी को पर्याप्त समय तक हॉस्पिटल रहना पड़ा। इसके एक दिन बाद एक मिठाई बेचने-वाले हिन्दू की गर्दन में पीछे से छुरी भोंक दी गयी। उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। कचहरी में घातक ने स्वीकार किया, कि उसने मिठाईवाले को राजपाल समझा था, और इसी कारण उसपर हमला किया था। इसी बीच महाशय जी को निरन्तर धमकियाँ मिलती रहीं, कि मुसलमान हो जाओ, अन्यथा तुम्हें कत्ल कर दिया जायगा। पर उन्होंने धमकियों की कोई परवाह नहीं की। ६ एप्रिल, १९२९ को जब राजपाल जी अपनी दुकान पर बैठे

हुए हिसाब मिला रहे थे, इल्मुद्दीन नामक एक युवक आया। झपटकर उसने उनपर आक्रमण कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी। इल्मुद्दीन पर मुकदमा चला, और उसे मियाँवाली जेल में फाँसी हुई। उसकी लाश को लाहौर लाया गया और वहाँ उसका शानदार जुलूस निकाला गया। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि किसी मुसलमान द्वारा महाशय राजपाल की हत्या की निन्दा नहीं की गयी। इसकी चर्चा करते हुए कादियानियों के पत्र 'लाइट' ने लिखा था—"प्रत्येक हिन्दू राजपाल है, इसलिए प्रत्येक मुसलमान को इल्मुद्दीन बन जाना चाहिए।"

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है, कि 'रंगीला रसूल' के लेखक पण्डित चमूपति थे। उनका नाम पुस्तक पर प्रकाशित नहीं था। मुकदमों के दौरान महाशय राजपाल से पुस्तक के लेखक का नाम प्रकट करने के लिए जोर दिया गया, पर वह इसके लिए उद्यत नहीं हुए। वह नहीं चाहते थे, कि पण्डित चमूपति भी मुसलमानों के कोप के भाजन बनें। सम्भवतः, राजपाल जी को भी मुसलमानों की धर्मान्धता का शिकार न होना पड़ता, यदि महात्मा गांधी 'यंग इण्डिया' में 'रंगीला रसूल' की प्रतिकूल आलोचना कर मुसलमानों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट न करते। इसमें सन्देह नहीं, कि महात्मा जी की आलोचना से महाशय राजपाल के विरुद्ध मुसलमानों के धार्मिक जोश के उभड़ने में बहुत सहायता मिली थी।

बाईसवाँ अध्याय

हैदराबाद का धर्म-युद्ध

(१९३२-३९)

(१) धर्म-युद्ध की विशेषताएँ

हैदराबाद रियासत में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का वृत्तान्त सत्रहवें अध्याय में दिया जा चुका है। वहाँ के मुसलिम शासकों के लिए आर्यसमाज की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतः शासन द्वारा रियासत में वैदिक धर्म-प्रचार पर अनेकविध प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे, जिनका प्रतिरोध करने के लिएं आर्यसमाज को विवश होना पड़ा। इसीलिये समाज द्वारा सत्याग्रह के रूप में धर्म-युद्ध किया गया, जिसमें अन्ततोगत्वा समाज की विजय हुई।

१९३९ में सार्वदेशिक सभा द्वारा हैदराबाद राज्य में धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आठ मास तक चलाया जानेवाला शान्तिपूर्ण सत्याग्रह-संग्राम अपनी कई विशेषताओं के कारण आर्यसमाज के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। इसकी पहली विशेषता यह थी कि अबतक आर्यसमाज ने इतने बड़े पैमाने पर शासन-सत्ता के साथ कोई संघर्ष नहीं किया था। पटियाला में सन् १९०९ में तथा धौलपुर में सन् १९१८ में भी आर्यसमाज को स्थानीय शासकों के साथ संघर्ष करने पड़े थे, किन्तु वे इसकी तुलना में बहुत छोटे थे। यह संघर्ष उस समय भारत की सबसे बड़ी मुसलिम रियासत के साथ किया गया था और जब यह शुरू किया गया था तो इसकी सफलता की बहुत ही कम सम्भावना समझी जाती थी। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त जब शिमला में इस सत्याग्रह के बारे में २०-७-३९ को ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि सर बट्रेण्ड-ग्लेन्स से मिले थे तो उसने श्री गुप्त को कहा था—"आप विश्व के सबसे बड़े मुसलिम राज्य के साथ लड़ रहे हैं। आप इसमें किस प्रकार सफलता की आशा कर सकते हैं?" आर्यसमाज ने धार्मिक अधिकारों के लिए निजाम जैसी कट्टर मुसलिम शासन-सत्ता से लोहा लिया। दस हजार से अधिक व्यक्तियों को सत्याग्रह में जेल में भेजकर एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया। इससे पहले वर्तमान भारत में इतने बड़े पैमाने पर धार्मिक अधिकारों के लिए कोई संघर्ष नहीं किया गया था।

दूसरी विशेषता इस धर्मयुद्ध के क्षेत्र की विशालता थी। यद्यपि इसे आर्यसमाज ने शुरू किया था, किन्तु इसमें भारत के सभी सम्प्रदायों और वर्गों तथा प्रान्तों ने सहयोग दिया। इसमें भाग लेनेवाले न केवल आर्यसमाजी थे, अपितु सारा हिन्दू-समाज इसे सहायता दे रहा था। जैन, सिक्ख, सनातनी, निष्पक्ष धर्मप्रेमी मुसलमान और ईसाई तक भी इस सत्याग्रह-संग्राम में आर्यसमाज के साथ थे और उन्होंने इस सत्याग्रह में भाग

भी लिया था। इस सत्याग्रह में भाग लेनेवाले व्यक्ति न केवल भारत के सभी प्रान्तों से आये थे, अपितु समुद्र-पार के सुदूर अफ्रीका महाद्वीप और बर्मा के भारतीयों ने भी इसमें भाग लिया था।

तीसरी विशेषता बलिदानों की है। इस अहिंसक सत्याग्रह में जेल में बलिदान होनेवाले आर्यवीरों की संख्या तीस से भी अधिक है। अनेक आर्यवीर जेल के बन्दी-जीवन की यातनाओं के कारण इतने अधिक अशक्त और रोगजर्जर हो गये थे कि जेल से मुक्त होने के बाद शीघ्र ही उनका स्वर्गवास हो गया। यदि इनकी भी सत्याग्रही हुतात्मा वीरों में गणना की जाय तो शहीदों की संख्या ४० से अधिक होगी। इस सत्याग्रह के संचालन में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जानेवाला व्यय आठ लाख रुपये से अधिक था, और इतना ही व्यय सम्भवतः अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा किया गया था। इस दृष्टि से यह सत्याग्रह न केवल आर्यसमाज के इतिहास में अपितु आधुनिक भारतीय इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है। इस सत्याग्रह के यथार्थस्वरूप को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि और कारणों को समझना आवश्यक है।

(२) सत्याग्रह की पृष्ठभूमि तथा कारण

जनवरी, १९३९ में आर्यसमाज ने हैदराबाद में धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए जो सत्याग्रह-संग्राम शुरू किया था, उसकी बड़ी लम्बी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। आर्यसमाज को विवश होकर आत्मरक्षा और वैदिक धर्म के प्रचार पर हैदराबाद की मुसलिम सरकार द्वारा लगायी गयी अनेक पाबन्दियों और प्रतिबन्धों का निवारण करने के लिए एवं मुसलमानों द्वारा किये जानेवाले प्रचार और तबलीग के प्रयासों को रोकने के लिए यह सत्याग्रह करना आवश्यक हो गया था। पहले हैदराबाद के आर्यसमाजों ने तथा उसके बाद सार्वदेशिक सभा ने कानूनी एवं शान्तिपूर्ण उपायों से आर्यसमाज पर लगाये गये प्रतिबन्धों को हटाने का प्रयास किया। इसमें सफलता न मिलने पर ही विवशतावश सत्याग्रह के उपाय का अवलम्बन किया। शान्तिपूर्ण उपायों से संघर्ष टालने के प्रयास सन् १९३२-३३ से आरम्भ हुए और अगले छह वर्ष तक चलते रहे। आर्य-समाज को अपना प्रचार-कार्य मुसलिम प्रचारकों के दूषित, हिन्दू-विरोधी प्रचार का प्रतिवाद करने के लिए करना पड़ा।

सन् १९२९ से हैदराबाद रियासत के एक मौलाना सिद्दीक दीनदार ने अपने को लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक चन्न बसवेश्वर और श्रीकृष्ण का पूर्णावतार होने का दावा किया। लिंगायत सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों में भविष्य में होनेवाले एक ऐसे अवतार का वर्णन किया गया है जिसके शरीर पर शंख, चक्र, गदा, त्रिशूल, सर्प, शिवलिंग, धनुष-बाण आदि के चिह्न अंकित होंगे। सिद्दीक दीनदार ने अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर इस प्रकार के चिह्न गुदवा लिये और भोलेभाले लिंगायतों को इस बात का भ्रान्तिपूर्ण विश्वास दिला दिया कि वही लिंगायत सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उल्लिखित बसवेश्वर का अवतार है। जब हजारों हिन्दू इसपर विश्वास करने लगे तो उसने मुसलिम नवाबों, जागीरदारों और धनपतियों से इस आधार पर रुपया ऐंठना शुरू किया कि वह लाखों हिन्दुओं को मुसलमान बना देगा, और मन्दिरों को गिराकर मस्जिदें खड़ी कर देगा। उसने यह भी प्रचार किया कि दक्षिण में हिन्दुओं के दो बड़े खजाने हैं—एक तो हुम्मी

(विजयनगर साम्राज्य की राजधानी हाम्पी) के मन्दिर में ८५ करोड़ का और दूसरा तिरुपति के मन्दिर में ३ पद्म का ! यह धन राम ने रावण और वालि से छीनकर और दक्षिण के राक्षसों को मारकर यहाँ जमा किया था। वह इन दोनों खजानों को पठानों की सहायता से प्राप्त करेगा। उसने सरवरे-आलम नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें राम-कृष्णादि हिन्दू देवी-देवताओं की घोर निन्दा की गयी थी। वह अपने व्याख्यानों में यह घोषणा करता था कि चन्न बसवेश्वर नबी के नाम का ढोल पीटेगा; दिसम्बर में हाम्पी में एक सभा होगी, इसके बाद वे राम के मन्दिर पर धावा बोलेंगे और ८० करोड़ का खजाना निकालेंगे। उस दिन से पत्थरपूजा का अन्त हो जायेगा; मूर्तियाँ निकालकर फेंक दी जायेंगी। २५-१२-३१ को उसने अपने एक भाषण में कहा था—"दुनिया में जितने भी काफिर हैं, सब मुसलमानों के दुश्मन हैं। जबतक वे मुसलमान न बन जायें, तबतक वे हमारे मित्र हरगिज नहीं बन सकते हैं।" अगले ही दिन २६-१२-३१ को सिद्दीक ने साम्प्रदायिक विद्वेष भड़कानेवाले अपने एक अन्य भाषण में कहा—"हमारे कुरान में ५०० ऐसी आयतें हैं, जो दुश्मन पर विजय प्राप्त करने और उन्हें कत्ल करने का वर्णन करती हैं। तुम उनसे क्यों डरते हो?"

इस प्रकार के साम्प्रदायिक विद्वेष की ज्वाला भड़कानेवाले भाषणों पर जब हैदराबाद की सरकार ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया तो आर्यसमाज को इसका उत्तर देने के लिए विवश होना पड़ा। आर्यसमाज ने राज्य से बाहर के विद्वानों को इस कार्य के लिए आमन्त्रित किया। सर्वश्री मंगलदेव और चन्द्रभानु इस प्रकार के प्रचारक थे। श्री चन्द्रभानु हैदराबाद राज्य में अगस्त १९३२ ई० में गये और १६ सितम्बर तक बड़ी लगन और निष्ठा के साथ आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार और मुसलिम मत का खण्डन करते रहे। यह राज्य के अधिकारियों को सहन नहीं हुआ। उन्होंने पं० चन्द्रभानु को राज्य से बाहर चले जाने की आज्ञा दी। हैदराबाद की आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस निष्कासन की आज्ञा रद्द करवाने के लिए सम्बद्ध उच्चाधिकारी—पोलिटिकल मेम्बर को लिखा, किन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई। इसपर २० अक्टूबर, १९३२ को सार्वदेशिक सभा ने दिल्ली में केन्द्रीय सरकार के पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट के सेक्रेटरी को पत्र लिखा। इसपर सार्वदेशिक सभा को यह सूचित किया गया कि पं० चन्द्रभानु के राज्य से निष्कासन का आदेश देने का निश्चय हैदराबाद सरकार द्वारा किया गया है और इस विषय में उसी को लिखा जाना चाहिए। सार्वदेशिक सभा ने पुनः निजाम सरकार को लिखा तो उत्तर मिला कि निजाम सरकार इस मामले पर पुनर्विचार नहीं करना चाहती है।

१९३३ में मुसलमानों के दूषित प्रचार का हैदराबाद में समुचित प्रतिकार करने के लिए अरबी-फारसी के प्रकाण्ड पण्डित, मुसलिम धर्म-ग्रन्थों का गहरा ज्ञान रखनेवाले श्री पण्डित रामचन्द्र देहलवी को आर्यसमाज हल्लीखेड (जिला बीदर) के वार्षिकोत्सव में पं० बंसीलाल ने बुलाया। यहाँ के वार्षिकोत्सव में पण्डित जी ने एक भाषण दिया। इसके बाद मई, १९३४ में हैदराबाद आर्यसमाज के एक उत्सव में पण्डितजी का वैदिक धर्म की महिमा पर एक व्याख्यान हुआ। इसमें उन्होंने वैदिक धर्म के साथ इस्लाम आदि अन्य धर्मों की तुलना की थी। यह हैदराबाद के मुसलिम शासकों को सह्य नहीं थी। 'रहबरे-दक्खन' नामक एक उर्दू पत्र ने २८ मई के अंक में पण्डित जी के व्याख्यानों के कुछ अंश उद्धृत करते हुए उन्हें नसीहत दी थी कि वे भविष्य में ऐसे व्याख्यान न दिया करें।

इस पत्र में यह टिप्पणी प्रकाशित होने के बाद निजाम सरकार ने अगले ही दिन २९ मई को नारायण स्वामी प्रधान सार्वदेशिक सभा को तार द्वारा सूचित किया कि पण्डित जी पर इस्लाम की निन्दा करने के लिए मामला चला जायेगा। आर्यसमाज की ओर से वैदिक आदर्श नामक उर्दू पत्र में 'रहवरे-दक्खन' के नोट का जवाब देते हुए कहा गया था कि पण्डित जी पर यह मिथ्या आरोप लगाया गया है। इसका कारण पण्डित जी के प्रचार से मुसलमानों का असन्तोष है। इसी बीच में बीदर की पुलिस ने पण्डित जी पर यह अभियोग चला दिया कि हल्लीखेड आर्यसमाज को जलसा करने की इजाजत इसी शर्त पर दी गयी थी कि वे अपने जलसे में कोई ऐसे व्याख्यान न करायें जिससे अन्य सम्प्रदायों के लोगों के दिलों को चोट पहुँचे, किन्तु पण्डित जी ने इस शर्त को तोड़ते हुए सनातनधर्मियों व मुसलमानों के दिलों को दुखानेवाली बातें कही हैं। पण्डित रामचन्द्र जी ने पुलिस की रिपोर्ट के अनुसार यह कहा था कि 'वेद कुरान, इन्जील व दीगर आसमानी कुतुब का बाप है। सिवाय वेद के दीगर कुतुब नाकाबिले अमल हैं और इनसान के बनाये हुए हैं। कुरान रात को उतरा है; रात को कौन उतरता है, मालूम है ? (सब हँसे) वेद सूरज है, बाकी मजहब लैम्प और चिराग हैं।"

पुलिस की सम्मति में इन बातों से अन्य धर्मों का अपमान हुआ था। अतः उसने पण्डित जी पर अभियोग चलाया। ३० मई को इस मामले की पहली पेशी हुई। पण्डित जी से ५०० रुपये की जमानत और ५०० के मुचलके लिये गये। पण्डित जी का कहना था कि पुलिस की रिपोर्ट के अनुसार जो व्याख्यान अदालत में उनपर अभियोग चलाने के लिए पेश किया गया था, उसे पढ़कर उन्हें यह प्रतीत हुआ कि यह व्याख्यान उनका नहीं, अपितु किसी और का है। सरकारी रिपोर्टरों ने पण्डित जी के व्याख्यान में अपनी ओर से परिवर्तन करके उसे बिल्कुल बदल दिया था।

पण्डित जी ने इस मालले को हाईकोर्ट में ले-जाने का निश्चय किया। सार्वदेशिक सभा के प्रधान नारायण स्वामी ने निजाम सरकार को तार दिया कि वे इस अभियोग को वापस लें या विशेष ट्रिब्यूनल बनाकर इस मामले पर विचार करवाएँ। सार्वदेशिक सभा के मंत्री श्री सुधाकर ने भारत सरकार के पोलिटिकल सेक्रेटरी को पत्र लिखकर इस मामले में हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। समूचे भारत में इस विषय में एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा हो गया। इसके परिणामस्वरूप निजाम सरकार ने पण्डित रामचन्द्र के विरुद्ध चलाया जानेवाला अभियोग वापिस ले लिया, किन्तु राज्य में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह आर्यसमाज और लोकमत की एक उल्लेखनीय विजय थी। किन्तु इस समय शासन ने आर्यसमाज के प्रचार पर अनेक प्रकार के जो प्रतिबन्ध लगा रखे थे, उन्हें अब और कड़ा करना शुरू कर दिया। इस प्रकार के आठ प्रमुख प्रतिबन्ध निम्नलिखित थे—

(१) आर्यसमाज-मन्दिरों के निर्माण पर प्रतिबन्ध—हैदराबाद राज्य में धार्मिक विषयों की देखभाल करने और इस्लाम को प्रोत्साहन देने के लिए एक पृथक् धर्म-विभाग महकमा अमूरे-मजहबी के नाम से था। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में तेजी आने पर सरकार की ओर से यह आदेश दिया गया कि नये मन्दिरों का निर्माण और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने के लिए महकमा अमूरे-मजहबी की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।

मन्दिर के शिखर की ऊँचाई मस्जिद की मीनार से अधिक नहीं हो सकती थी। यदि कोई मन्दिर धर्म-विभाग की अनुमति के बिना बनाया या मरम्मत कराया जाता है तो यह गैर-कानूनी होगा और इसे गिरा दिया जायेगा। अमूरे-मजहवी हिन्दुओं के किसी भी मन्दिर के निर्माण के लिए आज्ञा देने को तैयार नहीं था। अतः नये मन्दिर बनाना बन्द हो गये और पुराने मन्दिर खण्डहरों में परिणत होने लगे, क्योंकि इनकी मरम्मत की अनुमति धर्म-विभाग द्वारा नहीं दी जाती थी।

इस विषय में निलंगा की घटना उल्लेखनीय है। जून १९३५ में पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट की रिपोर्ट के आधार पर बीदर जिले के अव्वल ताल्लुकदार ने निलंगा के समाज-मन्दिर को इस कारण तुड़वा दिया कि इस समाज-मन्दिर को बनाने की आज्ञा विधिवत् धर्म-विभाग से नहीं ली गयी थी। इसके साथ बना हुआ अखाड़ा और हवनकुण्ड भी तोड़ दिया गया और समाज का सामान जब्त कर लिया गया। इससे यह स्पष्ट था कि हैदराबाद का शासन अपने प्रदेश में आर्यसमाज का पूर्णरूप से उन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध था। पण्डित वंशीलाल ने इसकी अवहेलना करते हुए वहाँ हवन और प्रचार का कार्य जोर-शोर से चलाया और बीदर के ताल्लुकदार के उपर्युक्त जघन्य कृत्य की निन्दा के लिए देशव्यापी प्रचण्ड आन्दोलन चलाया। इसके परिणामस्वरूप हैदराबाद के तत्कालीन गृह-सचिव नवाब जुल्कदर जंग को यह निर्णय करना पड़ा कि ताल्लुकदार का कार्य अन्यायपूर्ण था, अतः उसे अपने निजी धन से आर्यसमाज के मन्दिर को बनाना चाहिए। इस आदेश का तुरन्त पालन किया गया। इस मामले में असफलता का कारण यह था कि इसके विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन शुरू हो गया था, किन्तु जिन मामलों में ऐसा आन्दोलन नहीं हुआ था, वहाँ हवनकुण्ड बनानेवालों को दण्डित किया गया। मुखेड़ कस्बे में रहनेवाले चौधरी रामसिंह को हवनकुण्ड बनाने के लिए कारावास का दण्ड दिया गया था।

हवनकुण्ड के निर्माण पर पाबन्दी लगाने के लिए निजाम सरकार ने १३३७ के फसली साल में अपना निम्नलिखित आदेश प्रचारित किया था—"(१) पूजा के धार्मिक स्थानों के बारे में जो आदेश हैं, वे सभी धर्मों और जातियों के पूजा-स्थानों पर लागू होंगे, (२) हवनकुण्ड पूजा का स्थान माना जायगा, (३) यह सूचना मिली है कि जिला उस्मानाबाद में लातूर तथा तुलजापुर में बिना अनुमति के हवनकुण्ड बनाए गये हैं, अतः स्थानीय अधिकारियों को यह आदेश दिया जाता है कि वे धर्मस्थानों के स्थापित करने के नियमों के अनुसार इस विषय में रिपोर्ट दें और यह भी वतायें कि क्या अन्य धर्मों के पूजा-स्थान हवनकुण्ड के निकट हैं और इनके समीप होने से क्या दंगा होने का डर है?"

(२) **विवाहों पर प्रतिबन्ध**—हैदराबाद शिया राज्य है। वहाँ इस संप्रदाय से सम्बद्ध मुहर्रम का त्यौहार बड़ी निष्ठा से मनाया जाता है। इस अवसर पर शिया अपने पहले खलीफा हजरत अली और उनके साथियों के निधन पर शोक मनाते हैं। अतः हैदराबाद शासन की ओर से यह आदेश दिया गया कि मुहर्रम के महीने में प्रसन्नता के प्रतीक हिन्दू विवाहों का कोई आयोजन न किया जाय। इस विषय में होमिनाबाद के थानेदार का मानक नगर के सचिव को भेजा गया यह आदेश उल्लेखनीय है—"मुझे नकेदर के पुलिस पटेल से यह सूचना मिली है कि आपके क्षेत्र में सरकारी आदेशों तथा परिपत्रों का उल्लंघन करते हुए इशराशरीफ (मुहर्रम) के महीने में एक विवाह सम्पन्न हुआ है। यदि

यह सच है तो आपने इसे रोकने की कार्यवाही क्यों नहीं की है? आप विवाह करनेवाले व्यक्ति का नाम और पता मालूम करें ताकि उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही हो सके।"

इस विषय में श्री घनश्यामसिंह गुप्त की निम्नलिखित टिप्पणी उल्लेखनीय है—"हिन्दुओं के अति पवित्र विवाह-संस्कार में अनुचित दखल करना साम्प्रदायिकता की पराकाष्ठा है। मुहर्रम में मुसलमानों का ही तो रोना-पीटना होता है; और उस महीने को मुसलमान ही अशुभ मास मानते हैं, अतः उस माह में वे निकाह कदाचित् नहीं करते हैं। हिन्दुओं के लिए तो मुहर्रम अशुभ मास नहीं है, अतः उस मास में हिन्दुओं का विवाह क्योंकर वर्जित होना चाहिए? सूर्यग्रहण के दिन अथवा अन्य किसी अशुभ दिन में हिन्दू लोग विवाह-संस्कार नहीं करते तो क्या तत्कालीन हैदराबाद शासन, वैसे दिनों में मुसलमानों के निकाह को भी वर्जित करेगा? यदि ऐसा नहीं है तो इससे स्पष्ट दिखता है कि हैदराबाद के शासक हिन्दुओं को अर्ध-मुसलमान बनाना चाहते हैं।"

(३) अखाड़ों पर प्रतिबन्ध—व्यायामशालाएँ शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के उद्देश्य से खोली जाती हैं। किन्तु निजाम सरकार को आर्यसमाज द्वारा खोले जानेवाले अखाड़े इसलिए अनुचित प्रतीत होते थे कि इनसे हिन्दू आत्मरक्षा करने में समर्थ होते हैं। निजाम सरकार की ओर से प्रकाशित एक अंग्रेजी पुस्तक में हिन्दू अखाड़ों के बारे में यह आक्षेप उठाया गया है कि "इन अखाड़ों का उद्देश्य व्यायाम करना नहीं, अपितु साम्प्रदायिक युद्ध करने या अपनी रक्षा के लिए सदस्यों को समर्थ बनाना है।" अखाड़ों पर निजाम सरकार का प्रतिबन्ध इतना कड़ा था कि यदि किसी सरकारी अधिकारी द्वारा इसके लिए कभी आज्ञा दी जाती थी तो बाद में उसे वापिस ले लिया जाता था, जैसे बीदर जिले के प्रथम ताल्लुकेदार ने बीदर पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट को यह आदेश दिया था—"तुम्हें सूचित किया जाता है कि कसर सिरसी में व्यायामशाला की स्थापना के लिए आर्यसमाज के भीमशंकर को जो आज्ञा दी गयी थी, वह राज्य की आज्ञा से रद्द कर दी गयी है, पुलिस सब-इन्स्पेक्टर को हुक्म दिया जाता है कि वह निगरानी रखे।"

इसी प्रकार की आज्ञा मुधौल बुजुर्ग के मन्त्री आर्यसमाज तथा नलगीर आर्यसमाज के मन्त्री मास्टर गंगाराम आर्य तथा भगवानराव आर्य को भी दी गयी थी। श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने उस निषेधाज्ञा के मूल प्रेरक उद्देश्य की विवेचना करते हुए यह ठीक ही लिखा है—"आर्यों द्वारा संचालित व्यायामशाला की प्राप्त अनुमति को रद्द करने का एकमात्र यही उद्देश्य था कि आर्ययुवक बलिष्ठ न हो सकें और रजाकार (मुसलिम स्वयंसेवक) बलिष्ठ हों और यदि कोई झगड़े का प्रसंग आये तो हिन्दू जनता की रक्षा करनेवाला कोई न हो और रजाकार गुण्डे आम जनता को लूट सकें।"

(४) धार्मिक कार्यों पर प्रतिबन्ध—धार्मिक कार्यों के नियन्त्रण के लिए एक विशेष कानून बनाया गया। उसके अनुसार नये-पुराने सभी धार्मिक त्यौहारों तथा जुलूसों के लिए तहसीलदार से १५ दिन पहले अनुमति लेना आवश्यक था। यदि १५ दिन तक भी आज्ञा न मिले तो उस धार्मिक कार्य को रोक देना चाहिए। यदि धार्मिक कार्य नया नहीं है तो पुलिस को सूचना देना पर्याप्त है। यदि धार्मिक कार्य नया हो तथा पारस्परिक विवाद की सम्भावना हो तो लिखित आज्ञा प्राप्त किये बिना यह कार्य नहीं किया जाना चाहिये। नये-पुराने की व्याख्या अधिकारी बड़ी लचकीली किया करते थे। आर्यसमाज का उत्सव किसी स्थान पर भले ही ८-१० वर्ष से हो रहा हो, उसमें आयोजित

किसी एक नये विशेष कार्यक्रम से या नये स्थान में करने से उसे नया मानकर रोका जा सकता था। इसके लिए नयी लिखित आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। हैदराबाद शहर में गणपति उत्सव का जुलूस २० वर्षों से निकल रहा था, किन्तु यदि उसे लातूर या उस्मानाबाद में निकाला जाय तो उसे नया जुलूस कहकर रोका जा सकता था। सुलतान-बाजार हैदराबाद के मन्त्री ने आर्यसमाज के उत्सव पर नगर-कीर्तन की आज्ञा माँगी, किन्तु पुलिस कमिश्नर ने यह आज्ञा इसलिए नहीं दी कि नगर-कीर्तन नयी बात थी, हल्लीखेड के मणिक राव आदि ने दशहरे के जुलूस की आज्ञा माँगी, किन्तु नया धार्मिक जुलूस होने के कारण इसे अनुमति नहीं दी गयी। उदगीर में दशहरे का उत्सव मनाने के अपराध के लिए १६ हिन्दुओं को कारावास का दण्ड दिया गया।

दशहरा मुहर्रम के साथ पड़ने पर एक परिपत्र (गश्ती) नं० ३ में दशहरा मनाने के बारे में हिन्दुओं पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये—(१) हैदराबाद जिला और नगर के हिन्दू अपनी पूजा बिना बाजे-गाजे के करें, (२) सीमोल्लंघन की पूजा भी बिना बाजे के की जाय, (३) परकम्मादेवी का जुलूस न निकले, हिन्दू घरों में भी बाजा न बजायें (क्योंकि बाजा हर्षोल्लास का प्रतीक है और मुहर्रम मातम का त्यौहार है), (४) सादे बाजे के साथ मन्दिरों में पूजा की जा सकती है, बशर्ते कि मन्दिरों की चारदीवारी ऊँची हो, परन्तु छोटे घरों व मन्दिरों में बाजे न बजायें क्योंकि इनकी आवाज बाहर जा सकती थी और मुहर्रम मनानेवाले मुसलमानों के धार्मिक कार्य में बाधा पहुँच सकती थी, (५) दशहरा, उसका झण्डा, बलि आदि सब कार्य १५ मुहर्रम को ही कर लें। दशहरे के बारे में हिन्दुओं पर ऐसे प्रतिबन्ध सम्भवतः औरंगजेब के शासन में भी नहीं लगाये गये थे।

(५) आर्यसमाज के सत्संगों तथा घर में धार्मिक भाषणों पर प्रतिबन्ध—आर्य-समाज के सत्संग विशुद्ध धार्मिक कृत्य हैं, वे प्रायः आर्यसमाज-मन्दिर के भीतर किये जाते हैं, इनसे शान्ति-भंग की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है। ये आर्यों के लिए मुसलमानों की नमाज की तरह आवश्यक धार्मिक कृत्य हैं, किन्तु निजाम की सरकार ने इनपर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये। नायब कोतवाल सी० आई० डी० हैदराबाद ने सुल्तान बाजार आर्यसमाज के मन्त्री को अपने अर्ध-सरकारी पत्र १२४७ फसली में लिखा—"आप अपने समाज में आज साप्ताहिक हवन तथा प्रार्थनायें करनेवाले हैं, वर्तमान परिस्थिति में यह उचित नहीं है कि बाहरवाले सभा में भाषण दें। पण्डित देवेन्द्रनाथ बाहर के व्यक्ति हैं। उन्हें लेक्चर की आज्ञा न दी जाय। यदि आपने ऐसा न किया तो पण्डित जी के कार्य के लिए आपको उत्तरदायी ठहराया जायेगा।"

इससे भी अधिक कड़ी नादिरशाही आज्ञा एक थानेदार ने दिनांक २ अगुर सन् १३१२ फसली को श्री रामचन्द्रराव आर्य राजेश्वर को दी थी। इसमें उन्हें अपने घर पर पण्डित बंसीलाल का व्याख्यान न कराने का आदेश देते हुए कहा गया था, "आज दीवाली के दिन हल्लीखेड से बंसीलाल आपके पास आये हैं और यह पता लगा है कि वह आपके घर में एक व्याख्यान देनेवाले हैं। अतः आपको यह आदेश दिया जाता है कि आप इस भाषण को रोक दें। यदि ऐसा न हुआ तो आपके विरुद्ध कार्यवाही की जायगी।" किसी निजी घर में भाषण पर प्रतिबन्ध हैदराबाद सरकार की निराली सूझ और अद्वितीय विशेषता थी। इससे पहले कहीं ऐसी पाबन्दी लगाने की बात नहीं सुनी गयी थी।

(६) निजी स्कूलों पर प्रतिबन्ध—हैदराबाद राज्य में ४०० से अधिक निजी स्कूल चल रहे थे। मुसलिम शासकों को यह आशंका थी कि इनके माध्यम से हिन्दू-धर्म का प्रचार और पोषण किया जा रहा है। इसे बंद करने के लिए शासकों ने इस प्रकार के नियम बनाये कि निजी स्कूल बिलकुल बन्द हो जायें। ये नियम निम्नलिखित थे—(१) भविष्य में कोई ऐसा प्राइवेट स्कूल न खोला जाय जिसके लिए शासन के सम्बद्ध अधिकारी से आज्ञा न प्राप्त कर ली जाय, (२) यदि कोई व्यक्ति इस आज्ञा के प्रसारित करने के बाद स्कूल खोलने की अनुमति नहीं लेगा या प्रतिवर्ष अमुक अनुमति के नवीकरण को नहीं प्राप्त करेगा तो शिक्षा-विभाग के संचालक, डिविजनल इन्स्पेक्टर, ताल्लुकेदार या पुलिस-कमिश्नर ऐसे स्कूलों को बन्द कर देगा, (३) आज्ञा देनेवाले अधिकारी नये स्कूलों की अनुमति रोक सकते हैं और पुराने स्कूल बन्द कर सकते हैं।

इस प्रसंग में पण्डित बंसीलाल वकील हल्लीखेड को थानेदार द्वारा दिये गये दिनांक २९ अमरदार १३४२ फसली संख्या ११२६ का यह नोटिस उल्लेखनीय है—"नाजिर सदर कोतवाली ने सूचित किया है कि तुम गुलबर्गा प्रान्त के स्कूलों के इन्स्पेक्टर की आज्ञा के बिना प्राइवेट स्कूल नहीं खोल सकते हो। आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो १६४ धारा के अनुसार तुम्हारे विरुद्ध कार्यवाही की जायगी। एक सप्ताह के भीतर आज्ञा प्राप्त करो, अथवा अपना स्कूल बन्द कर दो।" हैदराबाद रियासत में उपर्युक्त नियमों के कारण ३०० से अधिक प्राइवेट स्कूल बन्द हो गये।

(७) झण्डों पर प्रतिबन्ध—प्रत्येक धर्म की ध्वजा उसकी सर्वोत्तम उदात्त भावनाओं की प्रतीक होती है। आर्यसमाज के ध्वज पर उसका सर्वोत्तम नाम ओ३म् अंकित होता है। इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना नहीं है। किन्तु हैदराबाद रियासत के अधिकारियों ने भगवान् के नाम को व्यक्त करनेवाले इस झण्डे पर प्रतिबन्ध लगाया। ६-४-३८ को कल्याण आर्यसमाज-मन्दिर का ओ३म् का झण्डा बलपूर्वक इस आधार पर हटवा दिया गया कि राज्य-धर्म-विभाग (महकमा मजहबी) की आज्ञा से इस मन्दिर की पहले से विधिवत् रजिस्ट्री नहीं हुई थी। इसके विरोध में जब राज्य के उच्च अधिकारियों को तार भेजे गये तो संचालक सामान्य पुलिस ने इस घटना की जाँच की। उसकी रिपोर्ट के अनुसार ताल्लुकेदार द्वारा ओ३म् के झण्डे का उतारा जाना अन्यायपूर्ण था, फिर भी ओ३म् की ध्वजा को दुबारा लगाने की स्वीकृति नहीं दी गयी।

(८) जुलूसों तथा सभाओं पर प्रतिबन्ध—हैदराबाद राज्य में १९२० तथा ३० में राजनैतिक आन्दोलनों का दमन करने की दृष्टि से दो फरमान निकाले गये थे। इनमें जिला अधिकारियों को आदेश दिया गया था कि वे अपने क्षेत्र में राजनैतिक आन्दोलन के प्रसार को रोकने के लिए जुलूसों और सभाओं को न होने दें। यद्यपि ये आदेश राजनैतिक आन्दोलन को रोकने के लिए प्रसारित किये गये थे, फिर भी इनमें इस बात पर बल दिया गया था कि धार्मिक सभाओं, पुस्तकालयों, प्राइवेट स्कूलों, अखाड़ों, क्लबों पर खूब कड़ी निगरानी रखी जाय। इस फरमान के अनुसार राज्य की न केवल राजनैतिक, अपितु धार्मिक संस्थाओं के कार्यकलापों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

इसके साथ ही निजाम सरकार ने एक सार्वजनिक रक्षा-कानून (पब्लिक सेफ्टी एक्ट) बनाया। इसमें राज्य से बाहर के अवांछनीय व्यक्तियों को बन्दी बनाने, रियासत से बाहर निर्वासित करने, उनको आश्रय देनेवाले रियासत के व्यक्तियों को कठोर दण्ड

देने, रियासत की शासन-नीति में हस्तक्षेप करनेवाली सभाओं तथा संगठनों के विरुद्ध कार्यवाही करने के व्यापक अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दिये गये थे। इनके अनुसार सरकार किसी भी ऐसे संगठन या सभा को गैर-कानूनी घोषित कर सकती थी जो अधिकारियों की दृष्टि में शासन में हस्तक्षेप करती हो या जिसकी प्रगति एवं कार्यकलापों से शान्ति भंग होने की सम्भावना हो या जो विभिन्न सम्प्रदायों में द्वेष या घृणा पैदा करती हो। ऐसी सभा का सदस्य होने पर छः मास के कठोर कारावास के दण्ड की व्यवस्था की गयी थी और इस प्रकार के संगठन को सहायता देनेवाले व्यक्ति को कम-से-कम तीन वर्ष कैद की कड़ी सजा दी जा सकती थी। ऐसी सभा के मकान, धन, सम्पत्ति को सरकार द्वारा जब्त किया जा सकता था।

इस कानून का प्रयोग आर्यसमाज के अनेक प्रचारकों को राज्य से बाहर निकालने के लिए किया गया। आर्यरक्षा समिति के दो उत्साही कार्यकर्ताओं सर्वश्री शिवचन्द्र और व्यासदेव शास्त्री को निजाम के अधिकारियों की ओर से हैदराबाद रियासत में प्रवेश करने के लिए प्रस्थान करने से पूर्व दिल्ली में ही राज्य से निर्वासन की आज्ञा दी गयी। इस कानून के अनुसार राज्य में कोई भी सभा सरकारी अधिकारियों से पूछे बिना नहीं हो सकती थी। श्री बंसीलाल वकील ने जब हैदराबाद में आर्य महासम्मेलन का अधिवेशन करने की अनुमति माँगी और हैदराबाद के पुलिस कमिश्नर को आश्वासन दिया कि इसमें कोई राजनैतिक चर्चा नहीं होगी और विशुद्ध धार्मिक प्रश्नों पर विचार किया जायेगा, तो उन्हें उत्तर मिला कि "आपके २७ अव्वल १३४३ फसली के प्रार्थनापत्र के उत्तर में सूचित किया जाता है कि आर्य सम्मेलन करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती है। आपको लिखा जाता है कि आप सरकारी आज्ञाओं का पालन करें।"

सभाओं पर यह पाबन्दी इतनी जबर्दस्त थी कि श्री गोपालकृष्ण गोखले द्वारा स्थापित सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के श्री जी० के० देवधर और दिल्ली के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता डॉक्टर अन्सारी के तथा वर्तमान तुर्की के जन्मदाता कमाल अतातुर्क के निधन के अवसर पर की जानेवाली शोक-सभाओं को भी करने की स्वीकृति नहीं दी गयी। महात्मा गांधी द्वारा खादीभण्डार के उद्घाटन की अनुमति भी रोक दी गयी।

हैदराबाद की सरकार ने प्रेस और समाचार-पत्रों पर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगाया। हैदराबाद में लोगों को पत्र निकालने की आज्ञा नहीं दी जाती थी। हाईकोर्ट के जज स्वर्गीय श्री केशवराव जी के सुपुत्र श्री विनायकराव विद्यालंकार बार-एट-लॉ को तथा प्रतिनिधि सभा को आर्यसमाज की ओर से पत्र निकालने की अनुमति नहीं दी गयी। रियासत से बाहर प्रकाशित होनेवाले ५० से अधिक पत्रों का रियासत में प्रवेश रोक दिया गया।

(९) पाठशालाओं तथा कारागारों में तबलीग—इस समय सरकार ने स्कूलों तथा जेलों को धर्म-परिवर्तन का केन्द्र बनाया। करीम नगर शिक्षा-विभाग के सुपरिण्टेण्डेण्ट मुश्ताक अहमद ने अध्यापकों के निरीक्षक को ६-९-१३४० फसली के पत्र संख्या १०३/२ में लिखा था—"अछूत पाठशाला के आधे से अधिक विद्यार्थी मुसलमान बन गये हैं। इसलिए आवश्यक है कि उन्हें मजहबी तालीम दी जाये। उन्हें किसी मुसलमान अध्यापक का नाम बता दिया जाय, तो इस कार्य के लिए चन्द्र का (जो इस कार्य के लिए एक हिन्दू अध्यापक था) के स्थान पर रखा जाय।" शिक्षा-विभाग के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने आदेश

दिया कि मुसलमान होने पर छात्रों से फीस न ली जाय। इससे यह स्पष्ट था कि निजाम सरकार की नीति स्कूल के छात्रों को आर्थिक प्रलोभन देकर मुसलमान बनाने की थी।

इसी प्रकार जेलों में भी मुसलिम अधिकारियों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने या तबलीग का काम शुरू किया। १८-८-३८ को निजाम साहब के जन्म-दिन पर एक कैदी को हिन्दू से मुसलमान बनाया गया। उस समय गुलबर्गा जेल में श्री लालसिंह आर्य वन्दी थे। उन्होंने जेल में दरोगा की देखरेख में हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का कड़ा विरोध किया। जब इस प्रकार से जेलों में सरकार द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के विरुद्ध प्रचार-आन्दोलन चलाया गया तो हैदराबाद सरकार ने इसका खण्डन करते हुए अपने एक प्रकाशन में यह लिखा कि जहाँ तक सरकार को पता चला है—"राज्य की किसी भी जेल में कभी भी कोई कैदी मुसलमान नहीं बनाया गया; दूसरे धर्मवाले किसी भी कैदी को इस्लाम की शिक्षा देने की आज्ञा नहीं है।"

किन्तु इस पुस्तक के छपने के थोड़े ही दिन बाद हैदराबाद सरकार को अपने एक विज्ञापन में यह स्वीकार करना पड़ा—"हमें केवल ऐसे चार कैदियों की सूचना मिली है, जिन्होंने मुसलमान बनने की इच्छा प्रकट की है। इसपर यह आज्ञा प्रसारित की गयी है कि भविष्य में किसी भी कैदी को जब तक वह जेल में रहे, जेल में प्रवेश के समय जो उसका धर्म था, उससे भिन्न अन्य धर्म स्वीकार करने की अनुमति नहीं दी जाय।" इस विज्ञप्ति से यह स्पष्ट है कि जेल में धर्म-परिवर्तन का कार्य किया जा रहा था। इस्लाम के प्रचार में अत्यधिक उत्साह और जोश रखनेवाले कर्मचारी जेलों में कैदियों को यातनायें देकर अथवा धर्म-परिवर्तन करने पर अधिक सुविधाओं का प्रलोभन देकर हिन्दू बन्दियों को मुसलमान बनाने का प्रयास कर रहे थे।

(३) आतंक का राज्य और उसके विरुद्ध आर्यसमाज की प्रतिक्रिया

इस समय निजाम राज्य में हिन्दुओं पर अत्याचारों की घटनायें बढ़ने लगीं। धर्मान्ध मुसलमान आर्यसमाजी हिन्दुओं पर घातक हमले करने लगे। उन्हें पुलिस की शह प्राप्त थी; अतः उनकी हिम्मत बढ़ती चली गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी। हिन्दुओं को बलपूर्वक इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाधित किया जा रहा था। चारों ओर आतंक का राज्य था। हिन्दुओं पर आक्रमण, लूटपाट, रक्तपात तथा हत्या की घटनायें सामान्य बात हो गयी थी। यहाँ इस प्रकार की कुछ घटनाओं का उल्लेख उस समय के हैदराबाद राज्य के वातावरण को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

रक्तपात की घटनायें : श्री वेदप्रकाश का बलिदान—हैदराबाद राज्य में पहले शहीद का गौरव प्राप्त करनेवाले श्री वेदप्रकाश की हत्या उस समय की अराजक स्थिति को भली-भाँति प्रमाणित करती है। गुञ्जोटी कस्बे के निवासी दासप्पा बचपन से ही महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए तथा वैदिक धर्म के अनन्य भक्त बने। वे आर्यसमाज के सत्संगों में जाने लगे। आर्यसमाजी बनने के बाद उनका नया नाम वेदप्रकाश रखा गया। उनमें आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का अत्यधिक उत्साह था। उन्हीं के प्रयासों से गुञ्जोटी में आर्यसमाज की स्थापना हुई। वे लाठी और तलवार चलाने में

बड़े निपुण थे। कई बार उन्होंने अपने पर हुए घातक आक्रमणों से सफलतापूर्वक अपनी रक्षा की थी। जब उन्होंने अपने कस्बे में रहनेवाले छोटू नाम के एक पठान से कहा कि वह हिन्दू स्त्रियों को बुरी दृष्टि से न देखे तो मुसलमान उसके शत्रु बन गये। एक बार जब मुसलमानों ने गुञ्जोटी आर्यसमाज के मन्त्री के घर पर हमला किया तो श्री वेदप्रकाश उनकी रक्षा के लिए निहत्थे ही दौड़ पड़े। किन्तु मन्त्री के घर के पास ही रास्ते में एकत्र दो-ढाई सौ मुसलमानों ने उन्हें पकड़ लिया और जान बचाने के लिए इस्लाम स्वीकार करने को कहा। जब इस प्रस्ताव को उन्होंने बड़ी वीरता के साथ ठुकरा दिया तो तलवार से उनकी गर्दन धड़ से पृथक् कर दी गयी। जिस समय यह हमला हुआ था उस समय स्थानीय पुलिस के अफसर ने नगर के प्रतिष्ठित हिन्दुओं को थाने पर बुलाकर बिठा लिया था ताकि वेदप्रकाश की कोई सहायता न कर सकें। इनके हत्यारों को पहचान लिया गया, किन्तु अदालत द्वारा अभियुक्त निर्दोष घोषित करके छोड़ दिये गये। हैदराबाद में आर्यसमाज के ये प्रथम हुतात्मा है। इनकी निर्मम एवं निष्ठुर हत्या पर सम्पूर्ण आर्यजगत् में रोष तथा विरोध प्रकट किया गया।

दूसरा बलिदान श्री धर्मप्रकाश का था। ये कल्याणी के रहनेवाले थे। यह स्थान कभी प्रतापी चालुक्यवंशी राजाओं की राजधानी था और हिन्दू कानून के एक प्रमुख आधारभूत ग्रन्थ 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की सुप्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा' विज्ञानेश्वर ने यहीं बैठकर लिखी थी किन्तु इस समय यह प्रदेश एक मुसलमान नवाब की जागीर थी, और उसके शासन में रहनेवाली हिन्दू जनता को अनेक भीषण कष्टों तथा अत्याचारों का सामना करना पड़ता था। इस शोचनीय स्थिति से एक नवयुवक श्री नागप्पा बड़े खिन्न थे। उन्हें आर्यसमाज के कार्यक्रम में इस दुरवस्था से उद्धार की आशा की किरण दिखायी दी। उन्होंने आर्यसमाज में प्रविष्ट होकर नागप्पा से धर्मप्रकाश का नया नाम धारण किया। मुसलमानों के अत्याचारों का समुचित प्रतिरोध करने के लिए हिन्दू नौजवानों को संगठित किया, उन्हें आत्मरक्षा करने के लिए लाठी, तलवार आदि चलाना-सिखाना प्रारम्भ किया। यह स्थानीय मुसलमानों को सह्य नहीं था। उन्होंने श्री धर्मप्रकाश पर कई हमले किये, किन्तु वे वीरता से सदा अपनी प्राण-रक्षा करते रहे। अन्त में खाकसार-पार्टी उनकी हत्या पर तुल गयी और २७ जून, १९३८ की रात्रि में ८ बजे जब वे आर्यसमाज के सत्संग से लौट रहे थे तो खाकसारों ने अन्धेरे में एक गली में घेरकर भालों से उनका निष्ठुरतापूर्वक वध कर दिया। पुलिस ने अपनी कार्यवाही पूरी करने के लिए तथाकथित घातकों पर अभियोग चलाया, किन्तु अदालत द्वारा वे बरी कर दिये गये।

इस समय हैदराबाद में इस प्रकार की घटनाएँ निरन्तर बढ़ती ही जा रही थीं। राज्यभर के जिलों, ताल्लुकों, ग्रामों में मुसलिम शरारती तत्त्वों ने लूटपाट और रक्तपात का बाजार गर्म कर दिया था। आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद इन अत्याचारों और अपने धार्मिक अधिकारों की ओर शासन का ध्यान निरन्तर आकृष्ट कर रही थी। १९३४ से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इसमें दिलचस्पी लेनी शुरू की और इसके लिए एक आर्यरक्षा-समिति का निर्माण किया।

आर्यरक्षा-समिति—सार्वदेशिक सभा देश-भर की आर्यसमाजों की शिरोमणि प्रतिनिधि सभा है। उसके पास विभिन्न प्रान्तों की सरकारों तथा देशी राजाओं द्वारा आर्यसमाज के प्रचार, वार्षिकोत्सव, नगर-कीर्तन के जुलूसों आदि पर लगाये जानेवाले

प्रतिवन्धों तथा पाबन्दियों के समाचार आते रहते थे। इनको हटाने के लिए प्रयास करना सार्वदेशिक सभा का कर्तव्य था। अतः सभा ने इन शिकायतों पर विचार करने और इनके निवारण के समुचित प्रयास करने के लिए आर्यरक्षा समिति का निर्माण किया। इस समिति के सदस्य निम्नलिखित थे—(१)श्री महात्मा नारायण स्वामी,(२)श्री घनश्याम-सिंह गुप्त, (३)स्वर्गीय स्वा० स्वतन्त्रानन्द, (४) श्री कृष्ण, (५) चाँदकरण शारदा,(६) श्री राम, (७) वावू पूर्णचन्द एडवोकेट, (८) लाला नारायणदत्त, (९) लाला ज्ञानचन्द, (१०) प्रोफेसर सुधाकर, (११) लाला देशवन्धु गुप्त।

इस समिति का एक शिष्टमण्डल १२ अक्टूबर, १९३२ को हैदराबाद में नवाब मेंहदीयार जंगवहादुर की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने अपने एक आवेदन-पत्र द्वारा हैदरावाद राज्य में आर्यसमाज के कार्य में आनेवाली सभी कठिनाइयों को तथा वाधाओं को प्रस्तुत करते हुए इन्हें दूर करने की प्रार्थना की; सिद्दीक दीनदार के विषैले प्रचार को रोकने के लिए कहा। इसके उत्तर में नवाब साहव ने शिष्टमण्डल को आश्वासन दिया—"हैदराबाद सरकार धर्म के मामले में सर्वथा निष्पक्ष है। मुसलमान, ईसाई, हिन्दू-धर्मों में कोई भेदभाव नहीं रखती है। सरकार का अपना कोई धर्म नहीं होता है। सिद्दीक दीनदार से सरकार नाराज है, इसीलिये उसे मासिक सहायता देना बन्द कर दिया है। यदि फिर भी उसने रवैया न बदला तो उसे रियासत से निकाल दिया जायेगा। विभिन्न जिलों में आर्यसमाज को जो शिकायतें हैं, उनको दूर करने के लिए अदालती कार्यवाही की जानी चाहिए। यदि इससे सन्तोष न हो तो हैदराबाद की सरकार आपकी शिकायतें सुनकर न्याय करने को तैयार है।"

किन्तु नवाव साहव का उपर्युक्त आश्वासन मौखिक सहानुभूति मात्र था। सरकार की मुसलिम-पक्षपाती नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी वर्ष आर्यसमाज के प्रचारक पण्डित चन्द्रभानु को हैदराबाद जाने पर राज्य से निर्वासित करने की आज्ञा दी गयी। अगले ही वर्ष २१ मई, १९३३ को हल्लीखेड में आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, यद्यपि यहाँ १९२१ से आर्यसमाज का उत्सव निरन्तर हो रहा था और नगर-कीर्तन का जुलूस भी निकलता था। सार्वदेशिक सभा ने इस विषय को हैदराबाद के प्रधानमन्त्री के सम्मुख रखा, इसका यह परिणाम हुआ कि वार्षिको-त्सव करने की आज्ञा तो मिल गयी, किन्तु नगर-कीर्तन का जुलूस निकालने की अनु-मति नहीं मिली।

इसपर जून, १९३४ के अन्तिम सप्ताह में सार्वदेशिक सभा के मन्त्री हैदराबाद जाकर निजाम सरकार के पोलिटिकल मेम्बर तथा पुलिस के उच्चाधिकारियों से मिले। पोलिटिकल मेम्बर ने इन सब प्रतिबन्धों का कारण छोटे सरकारी कर्मचारियों के अत्य-धिक उत्साह और जोश को बताया और प्रतिबन्धों को जल्दी उठा लेने का आश्वासन दिया। किन्तु ये प्रतिबन्ध पूर्ववत् बने रहे और हिन्दू प्रजा पर कट्टर मुसलिम अधिकारी अधिकाधिक कड़े प्रतिबन्ध लगाने लगे। इसपर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान नारायण स्वामी ने आर्यसमाज की शिकायतों को दूर करने के लिए एक आवे-दन-पत्र निजाम सरकार को भेजा और इसमें निम्नलिखित छः माँगें प्रस्तुत की गयी थीं—(१) आर्य प्रचारकों के प्रवेश पर पाबन्दी न लगायी जाय, (२) जुलूसों की समान रूप से आज्ञा हो, (३) धार्मिक साहित्य विना जाँच के जब्त न हो, (४) सार्वजनिक

सभाओं और शास्त्रार्थों की आज्ञा पर विषम व्यवहार न हो, (५) आर्यसमाज-मन्दिर मस्जिद के समान पवित्र समझे जाएँ, (६) अभी तक निकली निर्वासन-आज्ञाओं पर न्यायालय विचार करे।

इसके साथ ही इस बार सार्वदेशिक सभा ने उपर्युक्त माँगें पूरी करने के लिए निजाम सरकार को आवश्यक आदेश निकालने के लिए एक मास की अवधि दी। निजाम-सरकार को पहली बार १३ अगस्त, १९३४ को और इसके एक मास बाद इस विषय में एक और पत्र भेजा गया। दूसरे पत्र का उत्तर ठीक एक महीने बाद यह मिला कि "निजाम सरकार का प्रजा के प्रति व्यवहार सर्वथा निष्पक्ष है, चाहे वह प्रजा किसी सम्प्रदाय की क्यों न हो, विशेष रूप से आर्यसमाजियों पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार कभी नहीं रहा है।"

इसके बाद सार्वदेशिक सभा की ओर से हैदराबाद की परिस्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन करने के लिए एक प्रतिनिधि-मण्डल राज्य में भेजा गया। इसके अध्यक्ष महात्मा नारायण स्वामी और अन्य सदस्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द और आचार्य रामदेव थे। इन आर्य-नेताओं ने सभाओं के करने पर लगे प्रतिबन्धों की परवाह न करते हुए राज्य में अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिये और प्रचार किया। कहीं भी पुलिस ने इन व्याख्यानों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया।

इससे आर्य-जगत् को यह सन्तोष हुआ कि हैदराबाद में आर्यसमाज की गतिविधियों पर अब प्रतिबन्ध हटा लिये गये हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि आर्य-नेताओं के हैदराबाद से दिल्ली रवाना होते ही पुलिस ने आर्यसमाजियों पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिये और उनके साथ पुराना दुर्व्यवहार और अत्याचार शुरू कर दिया। चिटगोपा और महाराजगंज में पुलिस ने समाज के उत्सव बन्द कर दिये। जून, १९३५ में निलंगा (जिला बीदर) के अव्वल ताल्लुकेदार की आज्ञा से हवनकुंड का विध्वंस किया गया। आर्यसमाज द्वारा निकाले जानेवाले उर्दू साप्ताहिक पत्र "वैदिक आदर्श" का प्रकाशन १९३५ के अन्त में प्रशासन द्वारा बन्द कर दिया गया। खामगाँव में तीन आर्यसमाजियों के यज्ञोपवीत तोड़े गये। खण्डेली ताल्लुका के मुसलमान पटेल और उसके भाई ने अहमदपुर के आर्यसमाजियों को उद्गीर आर्यसमाज के उत्सव में भाग लेने के कारण बुरी तरह पीटा। विभिन्न स्थानों में आर्यसमाजियों को मुसलमानों तथा पुलिस द्वारा धमकी दी गयी कि यदि उन्होंने आर्यसमाज को न छोड़ा तो उन्हें परेशान किया जायेगा और उनपर मुकदमे दायर किये जायेंगे।

हैदराबाद दिवस—इन सब अत्याचारों को देखते हुए सारे देश का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए सार्वदेशिक सभा ने २ सितम्बर, १९३४ को देश-भर में हैदराबाद-दिवस मनाने का निर्णय किया। यह भारत की प्रत्येक आर्यसमाज में मनाया जानेवाला पहला हैदराबाद दिवस था। इस दिवस पर भारतभर की आर्यसमाजों के अधिवेशनों में सर्वसम्मति से निजाम सरकार की आज्ञाओं के विरोध में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया—

"आर्यसमाज की यह विशेष बैठक आर्यसमाज के कार्यों पर हैदराबाद रियासत में लगाये गये कठोर प्रतिबन्धों का घोर विरोध करती है और सार्वदेशिक सभा द्वारा निजाम को भेजे गये आवेदन-पत्र में पेश की गयी समस्त माँगों से पूर्णतया सहमत है और विनम्रतापूर्वक प्रतिबन्धों को वापिस लेने की प्रार्थना करती है।"

अगले चार वर्षों तक शान्तिपूर्ण रीति से प्रतिबन्धों को हटाने के लिए सार्वदेशिक सभा ने पूरा प्रयास किया, किन्तु जब सब प्रयत्न विफल हुए तो सम्पूर्ण परिस्थिति पर विचार करने के लिए ३०-४-३८ को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की एक बैठक बुलायी। इसमें हैदराबाद रियासत में आर्यसमाजियों पर किये जानेवाले अत्याचारों की निन्दा की गयी। इस बात पर खेद प्रकट किया गया कि रियासत के अधिकारियों ने बार-बार न्यायपूर्ण व्यवहार का आश्वासन देकर भी इसका पालन नहीं किया। इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही करने के लिए श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति का निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया गया—"यह सभा हैदराबाद रियासत में आर्यसमाज और आर्यसमाजियों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनकी घोर निन्दा करती हुई रियासत के आर्य-निवासियों के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है। इस सभा को इस बात का विशेष दुःख है कि रियासत के उच्चाधिकारियों ने सभा के प्रतिनिधियों को बार-बार आश्वासन दिये कि रियासत में आर्यसमाज के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जायेगा, परन्तु सदा उन आश्वासनों को तोड़ा गया है और स्थिति को अधिक भयंकर होने दिया गया है। यह सभा समझती है कि अब दशा बहुत बिगड़ गयी है और उसकी उपेक्षा करना असम्भव है।

"श्रीमती सार्वदेशिक सभा ने हैदराबाद रियासत से निम्न माँगें की थीं—(१) कवायद मज़हबी (धार्मिक नियम) मनसूख कर दिये जायँ, (२) गश्ती निशान ५४ को मनसूख कर दिया जाय। (३) कानून अखाड़ा मनसूख कर दिये जायँ, (४) खानगी मदरसों (निजी स्कूलों) की गश्ती (परिपत्र) मनसूख कर दी जाय। (५) फ़िर्केदारी दंगों (साम्प्रदायिक उपद्रवों) के मुकदमों की तहकीकात निष्पक्ष कमीशन द्वारा करायी जाय। (६) बाहर के उपदेशकों पर इजाजत लेने की पाबन्दी न लगायी जाय; कोई खिलाफ कानून काम करें तो मुकदमा चलाया जाय, जिसका (राज्य में) दाखिला बन्द है, खोल दिया जाए, (७) पुस्तकें बिना जाँच जब्त न की जायँ, (८) समाचार-पत्रों के निकालने की आज्ञा दी जाय, (९) मुसलमान, हिन्दू और आर्यों के त्यौहार (एक साथ) मिलकर आने पर उनके मनाने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए, (१०) आर्यसमाज व हवन-कुण्ड के स्थापित करने के लिए इजाजत की जरूरत न रखी जाय, (११) जेलखानों में कैदियों को मुसलमान न बनाया जाय, और हमको उनमें प्रचार की आज्ञा हो, (१२) सरकारी नौकर जो आर्य हैं, उनपर आर्य होने के कारण सख्ती न की जाय, (१३) आर्यों के घरों पर और आर्यसमाज पर झण्डा लगाने की स्वतन्त्रता दी जाय, (१४) गुलबर्गा, निजामाबाद, हैदराबाद के मुकदमों की तहकीकात निष्पक्ष कमीशन द्वारा की जाय, (१५) क्योंकि सभा को दिये गये आश्वासनों की रियासत के अधिकारियों ने कोई परवाह नहीं की, अतः सभा यह भी आवश्यक समझती है कि सम्पूर्ण आर्य जनता को इस आवश्यक प्रश्न के सम्बन्ध में साथ लेना आवश्यक है। पाँच मास के अन्दर-अन्दर मध्यप्रदेश अथवा महाराष्ट्र के किसी ऐसे केन्द्र में जो हैदराबाद रियासत के समीप हो, एक आर्य महासम्मेलन किया जाय, जिसमें विशेषतया हैदराबाद की समस्या पर विचार हो। सभा की सम्मति है कि यदि रियासत के अधिकारी शीघ्र ही अपनी नीति में परिवर्तन करने को तैयार न हों तो सम्पूर्ण आर्यसमाजों को सब उचित उपायों से, जिसमें सत्याग्रह भी शामिल है, अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। यह सभा "आर्यरक्षा समिति"

को आदेश देती है कि वह इस प्रस्ताव के अनुसार 'आर्य महासम्मेलन' के संगठन तथा अन्य सब आवश्यक उपायों को काम में लाकर हैदराबाद में आर्यसमाज के अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करे।"

इस प्रस्ताव के पास होने के बाद श्री घनश्यामसिंह गुप्त हैदराबाद के अधिकारियों से बातचीत करने के लिए विशेष रूप से भेजे गये। उन्होंने २९-६-३८ को श्री धर्मप्रकाश की हत्या के दो दिन बाद निजाम राज्य के अधिकारियों से मिलकर उन्हें बताया कि राज्य की पुलिस पर आर्यों को कोई भरोसा नहीं रह गया है। न्याय-विभाग से भी उनका विश्वास उठ गया है। सरकार ने यदि अपनी साम्प्रदायिक नीति नहीं बदली तो आर्यसमाज को जो कार्यवाही करनी पड़ेगी, उसकी पूरी जिम्मेवारी निजाम सरकार पर होगी। अतः सरकार को इस विषय में अवांछनीय स्थिति उत्पन्न होने से पहले ही अपनी नीति में परिवर्तन कर लेना चाहिए और आर्यसमाज पर लगाये गये प्रतिबन्धों को वापस ले लेना चाहिए, किन्तु निजाम सरकार पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और स्थिति निरन्तर बिगड़ती चली गयी।

इस स्थिति में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने ९-१०-६६ की अन्तरंग सभा में हैदराबाद की समस्या पर विचार करने के बाद यह निश्चय किया कि हैदराबाद-राज्य में आर्यसमाज के अधिकारों की रक्षा करने की उचित कार्यवाही करने का पूर्ण-अधिकार महात्मा नारायण स्वामी को सौंप दिया जाय।

(४) आर्य महासम्मेलन, शोलापुर

सर्वाधिकार प्राप्त करते ही महात्मा नारायण स्वामी ने सर्वप्रथम बम्बई प्रान्त के शोलापुर नगर में २५, २६, २७ दिसम्बर, १९३८ को अखिल भारतवर्षीय आर्य महासम्मेलन करने का निर्णय किया ताकि इसमें आर्य-जगत् के सभी प्रान्तों और प्रदेशों से आये प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करके हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज पर लगे प्रतिबन्धों को हटाने की कार्यवाही और सत्याग्रह का निर्णय किया जा सके ताकि इसे सम्पूर्ण आर्य-जगत् का पूरा समर्थन प्राप्त हो। ३० अक्टूबर को नारायण स्वामी शोलापुर पहुँच गये। अगले दो महीने तक वे इस सम्मेलन को सफल बनाने की तैयारियों में लगे रहे।

२५ दिसम्बर को सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का कार्य सुप्रसिद्ध नेता लोकनायक माधव श्री हरि अणे की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम और निराली शान के साथ शुरू हुआ। इसमें ९० के लगभग विभिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा आर्यसमाजी संगठनों के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। कोई भी आर्यसमाजी प्रदेश या प्रान्त ऐसा नहीं था जिसके प्रतिनिधि इसमें न आये हों। सम्मेलन में आर्यसमाज की माँगों और उनकी पूर्ति के लिए प्रस्ताव-संख्या ४-५ पारित किये गये। सत्याग्रह को उपयोगी और अनिवार्य मानते हुए अपने धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह शुरू करने की घोषणा की गयी और असंदिग्ध शब्दों में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया कि इस सत्याग्रह का उद्देश्य न तो निजाम सरकार को समाप्त करना है, न उनकी सरकार को हैरान करना है, और न सत्य और अहिंसा के पवित्र सिद्धान्तों को तोड़ना है। किन्तु इसका केवल यही उद्देश्य है कि निजाम सरकार ने धार्मिक स्वतन्त्रता में जो बाधाएँ डाली हैं और जो प्रतिबन्ध लगाये हैं, उनको हटा दिया जाय। इस सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव-संख्या

४ और ५ में आर्यसमाज ने अपनी माँगों को स्पष्ट रूप से पुनः घोषित किया। इन महत्त्व-पूर्ण प्रस्तावों का अविकल रूप निम्नलिखित है—

प्रस्ताव-संख्या ४ : "भारतवर्ष की आर्यसमाजें निजाम राज्य के अपने सहधर्मियों की सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। हैदराबाद में साधारणतया सभी हिन्दू और विशेषतया आर्य भाई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वर्णनातीत कष्ट सहन कर रहे हैं। यह आर्य सम्मेलन हैदराबाद के अपने सहधर्मियों के निम्नलिखित आवश्यक अधिकारों की पुनः घोषणा करता है—(१) धार्मिक कृत्य व उत्सव के करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (२) धार्मिक प्रचार, उपदेश, कथा-प्रवचन, व्याख्यान व भजन कहने, कीर्तन व जुलूस निकालने, आर्य-मन्दिरों का निर्माण करने, यज्ञशाला व हवनकुण्डों के बनाने, ओ३म् की ध्वजा लगाने, नये समाजों की स्थापना करने और वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृति सम्बन्धी पुस्तकों व पत्रों के प्रकाशन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (३) राज्य अथवा राजकर्मचारियों को न तो तबलीग (शुद्धि) में भाग लेना चाहिए, न उसे प्रोत्साहित करना चाहिए, न जेलों में हिन्दू कैदियों तथा स्कूलों में हिन्दू बच्चों को मुसलमान बनाया जाना चाहिए और न हिन्दू-अनाथ मुसलमानों को सुपुर्द किये जाने चाहिएँ। (४) राज्य के धर्म-विभाग (अमूरे मजहबी) को बन्द कर देना चाहिए अथवा हिन्दुओं और आर्यों की धार्मिक बातों तथा मन्दिरों पर इस का कोई प्रभुत्व नहीं रहने देना चाहिए। (५) हिन्दुओं और आर्यों के मुकाबले में धर्मान्ध व साम्प्रदायिक मुसलिम समाचार-पत्रों एवं साहित्य को जो पक्षपातपूर्ण संरक्षण दिया जाता है, उसे बन्द कर देना चाहिए (६) बिना किसी मुकदमे के चलाये अथवा अपराध के लिए उपदेशकों पर रियासत में जाने के बारे में जो प्रतिबन्ध लगाए हैं, वे हटा दिये जायें। (७) पुलिस तथा राज्य के दूसरे कर्मचारियों और आर्यों के मुकाबले में मुसलमानों की जो तरफदारी दी जाती है, वह बन्द होनी चाहिए। (८) आर्य व हिन्दू बच्चों के लिए कम-से-कम प्रारम्भिक (प्राइमरी) और माध्यमिक (सेकण्डरी) शिक्षालयों और वाचनालयों की स्थापना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।"

प्रस्ताव-संख्या ५ में सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निर्णय करते हुए कहा था—"यतः सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य प्रतिनिधि सभा निजाम राज्य द्वारा गत छः वर्षों में प्रथम प्रस्ताव में वर्णित विविध अधिकार-सम्बन्धी शिकायतों के निराकरण की सभी प्रार्थनाएँ और प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं और क्योंकि निजाम राज्य के तथा समस्त भारतवर्ष के आर्यों में इस संदर्भ में घोर असन्तोष फैल रहा है, इस सम्मेलन की सम्मति में अब अपनी शिकायतों के निराकरण के लिए उन्मुक्त त्याग और दुःख-सहिष्णुतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा है, (आ) अतः यह सम्मेलन अहिंसात्मक सत्याग्रह के आन्दोलन के संचालन के लिए एक सत्याग्रह समिति नियत करता है, जिसके प्रथम डिक्टेटर महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज होंगे और समस्त भारत की आर्य व हिन्दू जनता को आदेश करता है कि वे इस आन्दोलन को पूर्ण सहायता दें। (इ) यह सम्मेलन महात्मा नारायण स्वामीजी को अधिकार देता है कि वे इस समिति के सदस्यों की संख्या व नामावलि नियत कर लें। (ई) यह सम्मेलन अपने उपर्युक्त अधिकारों की तुरन्त प्राप्ति के लिए इस समय सत्याग्रह को निम्नलिखित मार्गों पर केन्द्रित करता है—(१) अन्य मतावलम्बियों के भावों का उचित सम्मान करते हुए वैदिक

धर्म और संस्कृति के प्रचार एवं अनुष्ठान की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (२) नये आर्यसमाजों की स्थापना, नये आर्य-मन्दिरों व हवन-कुण्डों के निर्माण या पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने के लिए धर्म-विभाग (अमूरे-मजहबी) अथवा राज्य के किसी अन्य विभाग से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। यह भी निश्चय हुआ कि सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित करने का अन्तिम अधिकार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को होगा।"

इस सम्मेलन में कुल बीस प्रस्ताव पास किये गये थे। उपर्युक्त प्रस्तावों के अतिरिक्त प्रस्ताव-संख्या ६ में आर्य प्रतिनिधि सभा निजाम राज्य के उप-प्रधान धर्मवीर पण्डित श्यामलाल के जेल में निधन का कारण उनके साथ जेल-अधिकारियों के दुर्व्यवहार को ठहराते हुए इस मामले की खुली जाँच हैदराबाद से बाहर के कानून के प्रसिद्ध पण्डितों द्वारा की जाने की माँग की गयी थी। हैदराबाद में अपने प्राणों की आहुति देनेवाले नर-नारियों की सराहना की गयी। (प्रस्ताव-संख्या १०) उस्मानिया विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा वन्देमातरम् गीत गाये जाने पर निष्कासन का दण्ड सहर्ष स्वीकार करने पर बधाई दी गयी। (प्रस्ताव-संख्या ११)। एक अन्य प्रस्ताव-संख्या (१२) में हैदराबाद के सत्याग्रह आन्दोलन में भारत के अन्य सभी दलों तथा वर्गों का सहयोग माँगा गया। राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा कराची में पास किये गये नागरिक अधिकार-सम्बन्धी प्रस्ताव का उल्लेख करते हुए अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को यह स्मरण कराया गया कि "इस समय आर्यसमाजी हैदराबाद रियासत में अपने आवश्यक धार्मिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए एक गम्भीर अहिंसक आन्दोलन में संलग्न हैं, अतः आर्य-सम्मेलन आशा करता है कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस को हैदराबाद रियासत के हमारे इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त रहेगी।" इसके साथ ही धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का समर्थन करनेवाली समस्त सार्वजनिक संस्थाओं—हिन्दू महासभा, सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, देशी राज्य परिषद्, डेमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी, लिबरल पार्टी फेडरेशन, सिविल लिबर्टीज यूनियन, कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी से भी सहायता माँगी गयी थी। श्री पण्डित नरेन्द्र को कालापानी की सजा देने की निन्दा की गयी थी। हैदराबाद के शहीद धर्मवीर को श्रद्धांजलि देते हुए उनकी स्मृति में शोलापुर में एक आर्यमन्दिर के निर्माण का निर्णय किया गया। (प्रस्ताव संख्या १३)।

एक अन्य प्रस्ताव में हैदराबाद-दिवस मनाने का निर्णय करते हुए कहा गया था—भारत तथा भारत के बाहर की सभी आर्यसमाजों को आदेश दिया जाता है कि वे रविवार २२ जून, १९३९ को हैदराबाद-दिवस मनायें जिसमें जनता को निमन्त्रित कर सार्वजनिक सभाओं में हैदराबाद-सम्बन्धी सम्पूर्ण घटना को बताकर इस सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव-संख्या ४ व ५ को स्वीकार कराके जनता का सहयोग प्राप्त करें और इस आन्दोलन को सफल बनाने में पूर्ण सहायता दें। (प्रस्ताव संख्या १५)।

शोलापुर के आर्य महासम्मेलन के प्रस्तावों ने हैदराबाद में आर्यसमाज के धार्मिक संघर्ष की ओर सम्पूर्ण भारत का ध्यान आकृष्ट किया और सभी धार्मिक और राजनैतिक दलों से इसमें सहयोग देने का अनुरोध किया। इससे सत्याग्रह-आन्दोलन को बड़ा बल मिला। आर्यसमाज को सहयोग देने के लिए अन्य दल आगे आये। इनमें हिन्दू-

महासभा तथा कांग्रेस उल्लेखनीय थे। इसके साथ ही हैदराबाद राज्य की आर्यरक्षा-समिति ने भी राज्य में इसी समय सत्याग्रह शुरू किया। शोलापुर के आर्य महासम्मेलन के प्रस्तावों के अनुसार विधिवत् सत्याग्रह शुरू होने से पहले तीन विभिन्न पक्षों—हिन्दू-महासभा, स्टेट कांग्रेस तथा राज्य की आर्यरक्षा-समिति द्वारा सत्याग्रह शुरू हो चुका था।

(५) सत्याग्रह का सूत्रपात

हिन्दू महासभा १९३३ से हैदराबाद की स्थिति पर चिन्ता प्रकट कर रही थी और अनेक प्रस्ताव पास कर चुकी थी। उसने स्थानीय परिस्थिति को जानने के लिए अपने कार्यकर्ता राज्य में भेजे, उनके द्वारा प्राप्त अत्याचारों के विवरण प्रकाशित किए; समाचारपत्रों ने आन्दोलन किया और ब्रिटिश सरकार को भी अनेक पत्र भेजे। प्रतिवर्ष निजाम राज्य की हिन्दू प्रजा पर अत्याचारों की निन्दा के प्रस्ताव हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशनों में पास किये जाते रहे। हिन्दू महासभा के अहमदाबाद-अधिवेशन में डॉक्टर मुञ्जे और भाई परमानन्द जैसे प्रतिष्ठित नेताओं का एक शिष्टमण्डल निजाम सरकार की सेवा में भेजने का निर्णय किया गया, किन्तु इसे निजाम राज्य में प्रवेश की आज्ञा नहीं मिली। जब हैदराबाद राज्य में दंगों, हमलों, लूटपाट की घटनाओं, हिन्दू-नेताओं के कारावास, स्त्रियों के अपहरण आदि की घटनायें बढ़ने लगीं तो हिन्दू सभा ने भी सत्याग्रह करने का निश्चय किया। अक्टूबर, १९३८ में हिन्दू महासभा ने हिन्दू सत्याग्रह मण्डल बनाया। शोलापुर में जिन दिनों आर्य महासम्मेलन द्वारा अखिल भारतीय सत्याग्रह-संग्राम का महत्त्वपूर्ण निश्चय किया गया, उन्हीं दिनों नागपुर में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का अधिवेशन हुआ और उसमें हैदराबाद में हिन्दू महासभा की ओर से सत्याग्रह करने का निर्णय किया गया और सत्याग्रह-संचालन के उपायों पर विचार करने के लिए एक समिति बनायी गयी। सर गोकुल चन्द नारंग, भाई परमानन्द और डॉक्टर मुञ्जे इस समिति के सदस्य थे और हिन्दू महासभा की ओर से महाराष्ट्र-दल ने अपने जत्थे हैदराबाद में सत्याग्रह के लिए भेजने शुरू कर दिये।

हैदराबाद राज्य की स्टेट कांग्रेस काफी समय से राजनैतिक सुधारों की माँग कर रही थी। इस विषय में आन्दोलन करने के लिए १९२१ में हैदराबाद स्टेट रिफॉर्म एसोसियेशन बनी थी, किन्तु सरकार ने इसे सम्मेलन या अधिवेशन करने की आज्ञा नहीं दी। १९२३ में इस एसोसियेशन ने सुधारों की एक योजना तैयार करके सरकार की सेवा में विचारार्थ प्रस्तुत की। इनसे निजाम सरकार इतनी चिन्तित और भयभीत हुई कि उसने अपना एक काला परिपत्र (गश्ती) निकाला, जिसके द्वारा सब प्रकार की सभाओं, संस्थाओं और जुलूसों पर कड़ी पाबन्दी लगा दी गयी। १९३१-३२ में ब्रिटिश भारत में हुए 'कांग्रेस सत्याग्रह आन्दोलन' का प्रभाव निजाम राज्य पर भी पड़ा। यहाँ विदेशी कपड़े का बहिष्कार हुआ, खादी आन्दोलन चला, जनता में अपने अधिकारों के प्रति इतनी प्रबल चेतना और जागृति उत्पन्न हुई कि निजाम सरकार को २२ सितम्बर, १९३७ को दीवान बहादुर आयंगर की अध्यक्षता में शासन-विषयक सुधारों के बारे में एक समिति बनाने की घोषणा करनी पड़ी।

हरिपुरा-कांग्रेस के बाद इस अवसर पर हुए निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए

हैदराबाद राज्य में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने के उद्देश्य से स्टेट कांग्रेस का निर्माण किया गया। जुलाई, १९३८ में इस कांग्रेस के १२०० सदस्य बन गये और इसने अपनी साधारण सभा बुलाने के लिए आवश्यक कार्यवाही शुरू कर दी। निजाम सरकार के अधिकारियों ने स्टेट कांग्रेस को यह कहकर बदनाम करना शुरू किया कि हिन्दू लोग उत्तरदायी शासन की माँग करके निजाम राज्य को समाप्त करना चाहते हैं। ७ सितम्बर, १९३८ को निजाम सरकार ने स्टेट कांग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और इसके अधिवेशनों पर पाबन्दी लगा दी। अतः अब स्टेट कांग्रेस को भी सत्याग्रह करने का निश्चय करना पड़ा। कांग्रेस की ओर से थोड़े ही समय में कई सौ सत्याग्रही जेलों में पहुँच गये। किन्तु इसी समय कुछ मुसलिम पक्षपाती कांग्रेसी नेताओं ने हिन्दू महासभा और आर्यसमाज के सत्याग्रह को असामयिक और साम्प्रदायिक कहकर बदनाम करना शुरू किया और हिन्दू महासभा द्वारा सत्याग्रह शुरू किये जाने पर इसे साम्प्रदायिक कहे जाने की आशंका से महात्मा गांधी आदि कांग्रेसी नेताओं ने स्टेट कांग्रेस के सत्याग्रह-संचालकों को अपना सत्याग्रह बन्द करने का परामर्श दिया और स्टेट कांग्रेस ने शोलापुर आर्य-महासम्मेलन से दो दिन पहले १३ दिसम्बर, १९३८ को अपना सत्याग्रह बन्द करने की घोषणा की।

तीसरा सत्याग्रह निजाम राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा के अधीन आर्यरक्षा-समिति की ओर से हैदराबाद रियासत में किया जा रहा था। इस समिति ने अपना प्रधान कार्यालय शोलापुर के नवीन पेठ में स्थापित किया था। बाद में यहीं सार्वदेशिक सभा के सत्याग्रह-संग्राम का कार्यालय भी स्थापित हुआ। आर्यरक्षा-समिति की ओर से हैदराबाद में सत्याग्रह के लिए सर्वाधिकारी नियुक्त किये जाने लगे और ये विधिवत् सत्याग्रह करके जेल में जाने लगे। हैदराबाद-पुलिस सत्याग्रह को रोकने के लिए भीषण आतंक स्थापित करने की दृष्टि से मनमानी गिरफ्तारियाँ करने लगी। न्यायालय ऐसे व्यक्तियों को कड़े दण्ड देने लगे। आर्यरक्षा समिति को निजाम सरकार ने गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इस आज्ञा का उल्लंघन करते हुए २७ अक्टूबर को आर्यरक्षा समिति के अधिवेशन की घोषणा की गयी और पुलिस ने राज्य के प्रथम सत्याग्रही जत्थे के नेता श्री देवीलाल को आर्य सत्याग्रहियों के साथ गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। मुखेड़ के मन्त्री श्री राम चौधरी पर बिना आज्ञा हवनकुण्ड बनाने का अपराध लगाकर मुकदमा चलाया गया। किन्तु उन्होंने निर्भीक भाव से घोषणा की, "प्रतिदिन प्रातः-सायं यज्ञ करना मेरा धार्मिक कर्तृत्त्व है। इसके लिए सरकार से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है। संसार में किसी भी राज्य में अपने धार्मिक कार्य प्रत्येक मनुष्य बिना रोक-टोक के कर सकता है। यदि निजाम सरकार मुझे इस अपराध में जेल भेजना चाहती है तो मैं प्रसन्नतापूर्वक जेल जाऊँगा।" इस समय पण्डित नरेन्द्र, श्री माधवराव आदि समाज के अनेक उपदेशकों को पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया गया। विभिन्न अभियोगों में उन्हें कड़े दण्ड दिये गये। दिसम्बर के अन्त तक हैदराबाद की आर्यरक्षा-समिति की ओर से १२ सत्याग्रही जत्थे गिरफ्तार किये जा चुके थे।

(६) हैदराबाद का धर्म-युद्ध

सार्वदेशिक सभा द्वारा आयोजित आर्य महासम्मेलन द्वारा सत्याग्रह करने का

प्रस्ताव पास करने के बाद एक महीने तक इस विषय में समस्त सम्बद्ध सरकारी अधिकारियों को आवश्यक सूचनाएँ भेजी जाती रहीं और महात्मा नारायण स्वामी ने तथा आर्य महासम्मेलन शोलापुर के अध्यक्ष लोकनायक माधव श्री हरि अणे ने रियासत के प्रधानमन्त्री सर अकबर हैदरी को पत्र भेजकर सम्मेलन के चौथे-पाँचवें प्रस्तावों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। नारायण स्वामी का पत्र एक अल्टीमेटम के रूप में था और इसमें सरकार को १४ दिन की अवधि में प्रतिबन्ध हटाने की कार्यवाही करने के लिए कहा गया था। श्री नारायण स्वामी ने अपने पत्र में लिखा था—"मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि २५ से २७ दिसम्बर तक श्रीयुत लोकनायक अणे के सभापतित्व में जो आर्यन कांग्रेस हुई है उसके निश्चयों का आपकी सरकार को अवश्य पता लग गया होगा, तो भी आपकी सेवा में उन निश्चयों की एक कापी भेजना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। ऐसा करते हुए बड़े विनम्र भाव से निम्न बातें आपके हृदय-पटल पर अंकित कर देना चाहता हूँ—

(१) हैदराबाद राज्य के हमारे धर्मभाइयों की माँगें, जैसाकि प्रस्ताव-संख्या ४ में वर्णित है, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एवं मौलिक अधिकारों तक सीमित हैं, जो समस्त सभ्य राज्यों की प्रजा को प्राप्त हैं। (२) आर्यन कांग्रेस को इस बात से पूर्ण सन्तोष था कि वे माँगें अकारण ही नहीं की गयी हैं। (३) उन अधिकारों की प्राप्ति के लिए गत ६ वर्षों में जो यत्न हुए हैं, उनका कोई फल नहीं निकला है। इन कारणों से आर्यन कांग्रेस आत्मत्याग, और कष्ट-सहिष्णुता के मार्ग का अवलम्बन करने के लिए बाधित हो गयी थी। आप देखेंगे कि कांग्रेस के निश्चयों को कार्य में परिणत करने के लिए सत्याग्रह-समिति के निर्माण की प्रस्ताव-संख्या ५ द्वारा मुझे अधिकार दिया गया है परन्तु ऐसा करने से पूर्व मेरी परम इच्छा है कि संघर्ष को बचाने के लिए कोई मार्ग निकल आवे। इसी उद्देश्य से मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप स्वयं इस मामले पर विचार करें और धार्मिक और सांस्कृतिक एवं मौलिक अधिकारों को स्वीकार करायें। मुझे प्रसन्नता होगी यदि चौदह दिन के भीतर-भीतर आपका उत्तर मुझे प्राप्त हो जाय।"

इस अल्टीमेटम का जब कोई उत्तर निजाम सरकार से प्राप्त नहीं हुआ तो सत्याग्रह शुरू करने से पहले अखिल भारतीय स्तर पर हैदराबाद-दिवस २१ जनवरी, १९३९ को मनाने का सार्वदेशिक सभा ने निर्णय किया और इस दिवस के लिए निम्नलिखित पंचसूत्रीय कार्यक्रम निर्धारित किया—(१) इस दिन सब नगरों, कस्बों, गाँवों में आर्यों व हिन्दुओं के बड़े जुलूस निकाले जायें। (२) ओ३म् का झण्डा फहराया जाय, आर्यध्वज-गीत गाया जाय। (३) सार्वजनिक सभायें की जायें जिनमें अधिक-से-अधिक आर्यों व हिन्दुओं को सम्मिलित किया जाय। (४) हैदराबाद के सत्याग्रह के निमित्त धन व जन की अपील की जाय। (५) आर्य महासम्मेलन के प्रस्ताव-संख्या ४-५ पास किये जायें और उनकी प्रतिलिपि वायसराय महोदय और निजाम सरकार के पास भेजी जाय। यह दिवस समूचे भारत में आर्यसमाजों द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। इस समय बड़ी मात्रा में धन एकत्र हुआ और हजारों व्यक्तियों ने सत्याग्रह करने के लिए अपने नाम प्रस्तुत किये। महात्मा नारायण स्वामी ने आर्य सत्याग्रह समिति का निर्माण किया। अब तक हैदराबाद में सत्याग्रह राज्य की आर्यरक्षा समिति की ओर से किया जा रहा था, अतः यह राज्य का स्थानीय सत्याग्रह था। अब इसका स्वरूप अखिल भारतीय हो गया।

सत्याग्रह-संचालन के लिए केन्द्रीय समिति बनायी गयी। इसमें स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के अतिरिक्त २५ सदस्य नियुक्त हुए। सत्याग्रह के लिए हैदराबाद राज्य की सीमा के निकटवर्ती ब्रिटिश प्रदेश में स्थित शोलापुर और बारसी में दो केन्द्र बनाये गये। इन दोनों केंद्रों से अनेक स्थानों पर हैदराबाद राज्य में सत्याग्रही भेजने का निर्णय किया गया।

प्रथम सत्याग्रह—महात्मा नारायण स्वामी सत्याग्रह के प्रथम डिक्टेटर (सर्वाधिकारी) नियत हुए और उन्होंने अपने बाद राजस्थान के सुप्रसिद्ध नेता श्री कुँवर चाँदकरण शारदा को दूसरा सर्वाधिकारी नियत किया। स्वामी जी २२ जनवरी को हैदराबाद-दिवस वाले दिन ही सत्याग्रह करने के लिए उत्सुक थे, किन्तु आपकी हार्दिक इच्छा थी कि अखिल भारतीय आर्य सत्याग्रह का श्रीगणेश गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वीर ब्रह्मचारियों के जत्थे से आरम्भ हो। यह जत्था गुरुकुल से सब अध्यापकों का आशीर्वाद लेकर दिल्ली होता हुआ २८ जनवरी, १६३६ तक ही शोलापुर पहुँचा, अतः सत्याग्रह की तिथि २२ के स्थान पर ३० जनवरी निश्चित करनी पड़ी। किन्तु उस दिन महात्मा नारायण स्वामी दिल्ली से हैदराबाद नहीं आ सके, अतः अगले दिन उनके वहाँ पहुँचने पर ३१ जनवरी को सत्याग्रह का श्रीगणेश करने का निर्णय किया गया। उन्होंने हैदराबाद नगर में शासन को पूर्वसूचना देकर ३१ जनवरी को सत्याग्रह का शुभारम्भ किया। पुलिस ने इस समय उनके साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार किया और उन्हें निजाम राज्य से तत्काल बाहर जाने का आदेश दिया, क्योंकि अधिकारियों की दृष्टि में आपकी उपस्थिति से राज्य में साम्प्रदायिकता की भावना प्रबल होने की बड़ी आशंका थी। इसपर स्वामी जी ने निजाम सरकार की आज्ञा का सविनय भंग करने का निश्चय प्रकट किया और पुलिस ने स्वामी जी को गिरफ्तार करके मोटर से राज्य से बाहर शोलापुर पहुँचा दिया। स्वामी जी सत्याग्रह के लिए कटिबद्ध थे और उन्होंने दूसरी बार २० सत्याग्रहियों के साथ गुलबर्गा में सत्याग्रह करने के लिए शोलापुर से मोटर द्वारा प्रस्थान किया। ४ फरवरी को प्रातःकाल स्वामी जी अपने सत्याग्रही साथियों के साथ भजन गाते हुए गुलबर्गा स्टेशन से हाथों में ओ३म् का झण्डा लिये हुए बाहर निकले। पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया और ७ फरवरी को सब सत्याग्रहियों को एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया।

श्री नारायण स्वामी की गिरफ्तारी पर सारे देश में बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया हुई। इससे आर्य-जगत् में सत्याग्रह के लिए उत्साह की प्रबल लहर दौड़ गयी। श्री सावरकर ने इस गिरफ्तारी पर टिप्पणी करते हुए कहा—"अगर निजाम सरकार यह समझती है कि महात्मा नारायण स्वामी की गिरफ्तारी और सजा से हिन्दू डर जायेंगे तो यह उनकी भूल है। इससे यह सत्याग्रह समाप्त नहीं होगा बल्कि और भी जोर-शोर से चलेगा। आपकी गिरफ्तारी से इस आन्दोलन को इतना बल मिलेगा, जितना अभी तक नहीं मिला है।" उनकी यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई और इसके बाद अगले आठ मास तक भारत के सभी प्रान्तों और प्रदेशों के सत्याग्रही इस सत्याग्रह में पूरे उत्साह से भाग लेते रहे।

सत्याग्रह करने की विधि सार्वदेशिक सभा द्वारा निश्चित की गयी थी। उसके अनुसार आर्य-सत्याग्रही पहले हैदराबाद रियासत की सीमा के साथ लगे शोलापुर और बार्सी के केन्द्रों में एकत्र होते थे। बाद में सत्याग्रह करनेवालों की संख्या बढ़ जाने

पर अनेक नवीन केन्द्र मनमाड, वसीम, पुसद, अहमदनगर आदि में स्थापित किये गये। यहाँ से सत्याग्रही पृथक्-पृथक् जत्थों में हैदराबाद राज्य में प्रवेश करते समय सरकार द्वारा निषिद्ध ओ३म् की ध्वजा लेकर चलते थे। वेदमन्त्र पढ़ते थे, भजन गाते थे, निषिद्ध वाक्यों और नारों को लगाते थे, जब्त साहित्य के छपे पर्चे बाँटते थें। सीमा पार करने पर राज्य की पुलिस सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करके जेलों में भेज देती थी। उनपर मुकदमे चलाकर कठोर दण्ड दिया जाता था और जेलों में बड़ी कड़ी यातनायें दी जाती थीं। उनके कारण बलिदान होनेवाले सत्याग्रहियों का आगे (पृ० ६०७-१४) उल्लेख किया जायेगा।

महात्मा नारायण स्वामी के गिरफ्तार होने के बाद ५ फरवरी को अखिल भारतीय आर्य-सत्याग्रह के संचालन का भार दूसरे डिक्टेटर (सर्वाधिकारी) कुँवर चाँदकरण शारदा ने सम्भाला। बन्दी बनाये जाने से पहले ही प्रथम सर्वाधिकारी महात्मा नारायण स्वामी ने आपको अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया था, आप राजस्थान के प्रमुख आर्य-समाजी नेता थे। ऋषि-निर्वाण-अर्द्धशताब्दी और आर्य प्रतिनिधि सभा राजपूताना की जयन्ती पर आपने धन-संचय आदि का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया था। आप बाल-विवाह का निषेध करनेवाले शारदा-कानून को बनानेवाले दीवान बहादुर हरविलास शारदा के वंश से सम्बद्ध थे और आर्य-सत्याग्रह को सफल बनाने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने अपने प्रथम सर्वाधिकारी की गिरफ्तारी की सूचना पाते ही अजमेर से शोलापुर के लिए प्रस्थान किया और यह घोषणा की—"हैदराबाद में हिन्दू तथा आर्य प्रजा द्वारा चलाया गया आन्दोलन विशुद्ध धार्मिक तथा सांस्कृतिक है। मुझे दृढ़ निश्चय है कि मजहबी जोश में अन्धी निजाम सरकार का आर्य सभ्यता तथा वैदिक धर्म को मिटाने का प्रयास पूर्णरूप से असफल सिद्ध होगा।" इसके बाद उन्होंने आर्य-जनता को सत्याग्रह के लिए आह्वान करते हुए कहा—"आर्य वीरो! पूर्वज ऋषि-मुनियों के पदचिह्नों पर चलकर तुम भी सत्याग्रह में नाम लिखते हुए इस संग्राम में तन-मन-धन से सहायता करो।" शोलापुर पहुँचकर श्री शारदा ने आर्यसमाज और सार्वदेशिक सभा के प्रचार-विभाग को सबल बनाने का सफल प्रयास किया। हैदराबाद-सम्बन्धी सभी समाचार उस समय तक केवल निजाम राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा के मुखपत्र अंगद में छपते थे। अधिकांश पत्र कांग्रेसी होने के कारण हैदराबाद आर्य-सत्याग्रह के समाचारों को साम्प्रदायिक समझने के कारण नहीं छापते थे। अतः उत्तर भारत की आर्य-जनता को और समाचार-पत्रों को सत्याग्रह के कोई समाचार नहीं मिलते थे। इन्हें समाचार पहुँचाने के लिए श्री शारदा ने सत्याग्रह-समिति की ओर से समाचारों की दैनिक विज्ञप्तियाँ निकालना शुरू किया और तारों द्वारा उत्तर भारत के समाचार-पत्रों और प्रतिनिधि सभाओं को समाचार भेजने का क्रम आरम्भ किया। इन समाचारों के आधार पर विभिन्न आर्य प्रतिनिधि-सभाओं की सत्याग्रह-समितियाँ अपने केन्द्रों से इन विज्ञप्तियों को जनता में प्रचारित करने लगीं और अपने मुखपत्रों में भी छापने लगीं। एक महीने तक श्री शारदा भारत के विभिन्न प्रदेशों में अपने तूफानी दौरे करते हुए सत्याग्रह के लिए धन एवं जन का संग्रह करते रहे और उन्होंने इसके लिए आर्य जनता में प्रचण्ड उत्साह उत्पन्न किया। उन्होंने यह घोषणा की—"वे ऐसे अखिल भारतीय जत्थे के साथ सत्याग्रह करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक आर्यसमाज के सत्याग्रही भाग लें।" ऋषि-बोधोत्सव पर आपने अपने एक सन्देश

में जनता को हैदराबाद की सच्ची स्थिति बतायी। इस समय निजाम सरकार रियासत में न केवल सत्याग्रहियों पर अत्याचार कर रही थी अपितु उसने हैदराबाद में ऐसा आतंक-राज्य स्थापित करने का प्रयास किया कि लोग सत्याग्रह करने की हिम्मत ही न कर सकें। किन्तु सत्याग्रहियों के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी। २८ फरवरी तक २००० सत्याग्रही जेल में पहुँच चुके थे। श्री शारदा ने अपना उत्तराधिकारी पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला खुशहालचन्द खुर्संन्द (आनन्द स्वामी) को नियुक्त किया और वे शोलापुर की स्थिति और कार्य का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए शारदा जी द्वारा सत्याग्रह करने से एक सप्ताह पहले ही २५ फरवरी को शोलापुर पहुँच गये। १५ मार्च को प्रातःकाल बृहद् यज्ञ के बाद ६४ सत्याग्रहियों के साथ श्री चाँदकरण शारदा ट्रेन से गुलबर्गा पहुँच गये। स्टेशन पर गाड़ी से उतरते ही पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने उनसे पूछा—"आप यहाँ क्यों आये हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"हैदराबाद राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता न होने के कारण हम यहाँ सत्याग्रह करने आये हैं।" इसपर पुलिस ने उन्हें सब सत्याग्रहियों के साथ गिरफ्तार कर लिया। उन्हें तथा उनके सभी साथी सत्याग्रहियों को १३ मास के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया।

तीसरे सर्वाधिकारी (६ मार्च से २२ मार्च) लाला खुशहालचन्द खुर्संन्द थे। वह आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब-बिलोचिस्तान के प्रधान और सुप्रसिद्ध पत्रकार थे। प्रतिनिधि सभा के मुखपत्र 'आर्य गजट' का उन्होंने ३२ वर्ष तक सम्पादन किया था। १० वर्ष तक सभा के प्रधान मन्त्री रहे थे। दैनिक उर्दू 'मिलाप' को सफलतापूर्वक चलाने के बाद उन्होंने हिन्दी के लिए ऊसर क्षेत्र समझे जानेवाले पंचनद प्रदेश की राजधानी लाहौर से दैनिक पत्र हिन्दी मिलाप निकाला। उनका सारा जीवन आर्यसमाज की सेवा में समर्पित था। उन्होंने सर्वाधिकारी बनते ही सत्याग्रह के लिए बम्बई प्रान्त में दौरा करके बड़ा जनजागरण पैदा किया। ज्योतिर्मठ बद्रीनाथ के जगद्गुरु शंकराचार्य से सत्याग्रह के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया। उनकी प्रचार-यात्राओं से हिन्दू जनता को सत्याग्रह करने के लिए बड़ी प्रेरणा मिली। उनका विचार था कि सौ-सौ सत्याग्रहियों के जत्थों को एक-एक स्थान पर सत्याग्रह करना चाहिए। उन्होंने २२ मार्च को तृतीय हैदराबाद दिवस जनता को मनाने का आदेश दिया और इसी शुभ दिन सत्याग्रह करने के लिए शोलापुर से प्रस्थान किया। उनके साथ दो सौ सत्याग्रही थे। इस समय उन्होंने एक विशाल सभा में घोषणा की—"मैं इस पूर्ण विश्वास के साथ हैदराबाद प्रस्थान कर रहा हूँ कि हम पूर्ण विजयी होकर लौटेंगे। आज हम अकेले ही इस धार्मिक स्वतन्त्रता के युद्ध पर डटे हुए हैं। अन्य रियासतों में कहीं तो यह आन्दोलन बन्द कर दिये गये हैं और कहीं स्थगित कर दिये गये हैं। हमारा मुसलमानों या रियासत के मुसलिम शासकों से कोई झगड़ा नहीं है। हमारी लड़ाई तो आर्यों और हिन्दुओं को कुचलनेवाली अधिकारियों की नीति के विरुद्ध है। ३५०० सत्याग्रही इस समय जेलों में हैं। भारतीय पंचांग के अनुसार नये वर्ष के उपलक्ष्य में उनका साथ देने के लिए मैं २०० सत्याग्रहियों के साथ जा रहा हूँ।" सत्याग्रहियों के साथ रेल द्वारा हैदराबाद जाते हुए उन्हें गुलबर्गा स्टेशन पर उतारकर पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। उनपर तीन अभियोग लगाये गये कि, उन्होंने हैदराबाद राज्य से बाहर चले जाने के सरकारी आदेश की अवहेलना की है, सार्वजनिक शान्ति को भंग किया है, और बिना इजाजत जुलूस निकाला है। उन्हें तथा उनके साथी

सत्याग्रहियों को डेढ़ साल के कठोर कारावास का दण्ड दिया और जेल में उन्हें पत्थर फोड़ने का काम दिया गया।

श्री खुशहालचन्द के कार्यकाल में उनकी प्रचार-यात्राओं से सत्याग्रह-आन्दोलन में बड़ी तेजी आ गयी। विभिन्न प्रान्तों से आनेवाले सत्याग्रहियों की संख्या में इतनी वृद्धि हुई कि आर्य सत्याग्रह-समिति की ओर से यवतमाल जिले में पुसद का नया केन्द्र खोलना पड़ा। शोलापुर से लगभग २००० मील की दूरी पर उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के कोहाट, बन्नू जैसे सुदूरवर्ती नगरों से सत्याग्रही आने लगे। पंजाब के नामधारी सिक्खों ने इस सत्याग्रह में सहयोग देने की बात कही। ज्योतिर्मठ बद्रीनाथ के श्री शंकराचार्य ने श्री खुशहालचन्द को वचन दिया कि समय आने पर वे सत्रह लाख साधुओं के साथ सत्याग्रह करेंगे। लिंगायत सम्प्रदाय की वीर शैव सभा ने आर्य-सत्याग्रह का समर्थन किया। सन्तनगर के सरदार हरभजन सिंह ने ४० लाख सिक्खों के सहयोग की बात अपने भाषण में कही।

चौथे सर्वाधिकारी आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के तत्कालीन प्रधान राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री थे। वह स्वामी सर्वदानन्द महाराज के शिष्य थे। उनका जन्म-स्थान मथुरा जिले में था। जयपुर में वैदिक साहित्य एवं दर्शनों का गम्भीर अनुशीलन करने के बाद वह वैदिक धर्म की सेवा में लग गये। १९२३ में उन्होंने मलकानों की शुद्धि का कार्य महात्मा हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द के निरीक्षण में सफलतापूर्वक किया; कांग्रेस के स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया। उन्हें इस बात का श्रेय प्राप्त है कि कालाकाँकर-नरेश स्वर्गीय अवधेशसिंह को उन्होंने आर्यसमाज में दीक्षित किया था। १९३७ में वह शाहपुराधीश के युवराजों के धर्म-शिक्षक बने और राजगुरु की पदवी से सम्मानित हुए।

उन्होंने सर्वाधिकारी बनते ही उत्तरप्रदेश का दौरा आरम्भ किया और सब आर्यसमाजों से थैलियाँ और सत्याग्रही प्राप्त करते हुए ३० मार्च, १९३९ को शोलापुर पहुँचे। मार्ग के सभी रेलवे स्टेशनों पर और बम्बई में अपने भाषणों से उन्होंने सत्याग्रह के लिए जनता में बड़ा उत्साह उत्पन्न किया। हैदराबाद राज्य के साथ लगे बार्सी, अहमदनगर आदि केन्द्रों का दौरा करते हुए यह घोषणा की कि "मैं २२ एप्रिल को जेल चला जाऊँगा। मेरे से पूर्व २००० सत्याग्रही और जेल में चले जायेंगे। इस समय ४००० वीर जेल-कष्ट भोग रहे हैं। मैं अपील करता हूँ कि मेरे साथ प्रत्येक समाज का एक-एक प्रतिनिधि हो। जो समाज अपने प्रतिनिधि भेजना चाहें वे तार द्वारा सूचना दें।"

सत्याग्रह के नियम—इनके कार्यकाल में सत्याग्रह के नियमों को अधिक स्पष्ट रीति से प्रतिपादित किया गया; क्योंकि कुछ सत्याग्रही बिना जाँच या परख के शोलापुर आदि केन्द्रों में पहुँच जाते थे और सत्याग्रह के नियमों से विपरीत ऐसे आपत्तिजनक नारे लगाते थे और कार्य करते थे कि निजाम राज्य के अधिकारियों को सत्याग्रहियों पर अत्याचार करने के बहाने मिल जाते थे, अतः सत्याग्रहियों के लिए २९ मार्च को निम्नलिखित नियम घोषित किये गये—(१) प्रत्येक सत्याग्रही जत्थे में सम्मिलित होकर आनेवाले व्यक्ति के पास समाज के प्रधान व मन्त्री का प्रमाण-पत्र होना चाहिए। (२) प्रत्येक जत्था जत्थेदार के अधीन है, सब उसकी आज्ञापालन करें। (३) १५ नारे जो निर्धारित हैं, वे ही लगाये जावें, इनमें वैदिक धर्म, दयानन्द, आर्य-सत्याग्रह और सर्वाधिकारियों की

जय और शहीदों के अमर होने तथा निजामशाही के अत्याचारों का नाश के नारे थे। (४) समाजों के सत्याग्रही जत्थे चलने से पूर्व शोलापुर से आज्ञा लें और जिस केन्द्र में भेजे जायें, वहीं पहुँचें।

इसी प्रकार शिविर से प्रस्थान व गिरफ्तारी के नियम तथा पुलिस से भेंट करते समय के नियम बनाये गये, जैसे उनके पूछने पर अपना उद्देश्य धर्म-प्रचार बतावें, आर्य-समाज-मन्दिर में यज्ञ करने, जुलूस निकालने और पकड़े जाने पर हवालात में जाते समय जयघोष करना आदि। अदालत में न्याय की आशा न होने से बयान न दें। जेल में जेल के नियमों का पालन करें, नियमानुसार दो कार्ड प्रतिमास लिखने को लें, बहकावे में न आवें, कागजों पर हस्ताक्षर न करें, जेल के लोगों पर विश्वास न करें।

इस घोषणा से भविष्य में आनेवाले सत्याग्रहियों को खूब सतर्क कर दिया गया ताकि उनपर निजाम सरकार की धमकी और फुसलाहट का कोई बुरा प्रभाव देखने में न आवे। इसी प्रकार जत्था भेजनेवाली समाजों को भी सूचित किया गया कि सत्याग्रहियों को प्रति सप्ताह भेजें, जत्थों के फोटो भेजें, बिना प्रमाण-पत्र धन वसूल न करें, जिन व्यक्तियों को धन दें उनकी सूचना प्रधान कार्यालय को दें, मार्ग में प्रचार करनेवाले जत्थे अपना प्रोग्राम पहले बना लेवें। इन नियमों को दृढ़तापूर्वक लागू करने से सत्याग्रह का कार्य सुव्यवस्थित रूप से चलने लगा। भारत के विभिन्न नगरों, प्रान्तों तथा क्षेत्रों से आनेवाले सत्याग्रही प्रतिदिन सत्याग्रह करते रहे। इस समय पहली बार मध्य प्रान्त और बरार के जत्थों ने अमरावती, बुरहानपुर, खण्डवा, खामगाँव और बिलासपुर से आकर सत्याग्रह किया और इन जत्थों का कार्यक्रम सत्याग्रह की समाप्ति तक चलता रहा। उत्तर भारत से सत्याग्रहियों को भेजने के लिए एक विशेष गाड़ी सत्याग्रह-स्पेशल को अजमेर से भेजने का प्रबन्ध किया गया। राजपूताना और संयुक्त प्रान्त के तथा अन्य प्रदेशों के २५६ सत्याग्रहियों के साथ राजगुरु स्पेशल १३ एप्रिल को अजमेर से रवाना हुई। इसमें अजमेर, बरेली, अमृतसर, ग्वालियर, जोधपुर, इन्दौर, अहमदाबाद आदि के अनेक सत्याग्रही थे। मार्ग में अहमदाबाद, आनन्द, सूरत, बम्बई के स्टेशनों पर इस गाड़ी का भव्य स्वागत किया गया और २० तारीख को पहली स्पेशल गाड़ी शोलापुर पहुँची।

२२ एप्रिल को राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री ने ५३१ सत्याग्रहियों के साथ शोलापुर से गुलबर्गा के लिए प्रस्थान किया। इस समय शास्त्री जी ने उपस्थित जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा, "या तो मैं विजयश्री लेकर लौटूंगा अन्यथा हैदराबाद के अत्याचार की भट्ठी में भस्म हो जाऊँगा।" गाड़ी के गुलबर्गा पहुँचने पर जयघोष और भजन-गान के साथ सत्याग्रह किया गया और पुलिस-अधिकारियों ने इन्हें गिरफ्तार करके जेल में भेज दिया। इस समय सत्याग्रहियों से हैदराबाद राज्य की सभी जेलें भर गयीं थीं। न केवल हैदराबाद से बाहर के प्रदेशों से सत्याग्रही आ रहे थे, अपितु हैदराबाद-राज्य के निवासी भी बड़ी संख्या में सत्याग्रह कर रहे थे। राज्य की आर्य सत्याग्रह-समिति ने कोपबल में जब तीसरा जत्था भेजा और स्टेशन से बाहर निकलते हुए सत्याग्रहियों को पुलिस मिली तो पुलिस अफसर ने कहा—"यहाँ क्यों आये हो? जेलें भर गयी हैं। घर वापिस जाओ।" पुलिस ने इन सत्याग्रहियों को गिरफ्तार नहीं किया और उन्हें शहर में घुसने भी नहीं दिया। पुलिस ने इस समय बन्दियों की संख्या कम करने के लिए सत्याग्रहियों को माफी माँगने के लिए धमकी और प्रलोभन भी दिये, किन्तु उन्हें केवल

एक ही उत्तर मिला—"हम धार्मिक अधिकार पाये बिना वापस नहीं जायेंगे।" पुलिस ने अपना आतंक फैलाने के लिए इस अवधि में भीषण दमनचक्र बड़ी तेजी से चलाया और उसका मौन समर्थन पाकर मुसलिम शरारती तत्त्व सत्याग्रहियों पर खुल्लम-खुल्ला हमले करने लगे। तुलजापुर में ३ एप्रिल, को जब सत्याग्रहियों के दो दलों को पुलिस जेल में ले जा रही थी तो दिन के २ बजे ठीक पुलिस चौकी के सामने २०० मुसलमानों ने सत्याग्रहियों पर लाठियों और चाकुओं से हमला कर दिया। इसमें १३ सत्याग्रहियों को बड़ी चोटें आयीं। किन्तु तुलजापुर के इस लोमहर्षक काण्ड ने सत्याग्रह करनेवालों की संख्या को घटाने के स्थान पर बढ़ा दिया और अब हैदराबाद सरकार इस सत्याग्रह को समाप्त करने के लिए कुछ सन्धि-चर्चा के लिए तैयार हो गयी।

सन्धि-चर्चा की विफल वार्ता—२७ मार्च को हैदराबाद राज्य के पुलिस व जेल-विभाग के महानिदेशक श्री एस० टी० हालिन्स नवाब श्री यारजंग बहादुर कमिश्नर गुलबर्गा जिला के साथ गुलबर्गा जेल में महात्मा नारायण स्वामी, श्री चाँदकरण शारदा, लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द आदि नेताओं से मिले और उनसे बातचीत में इस बात को स्वीकार किया कि ओ३म् का झण्डा फहराने, यज्ञशालायें और हवनकुण्ड बनाने, समाज-मन्दिरों को वैध स्वीकार करने में निजाम सरकार को कोई आपत्ति नहीं है। नये समाज-मन्दिर यदि ऐसे स्थान पर बनाये जाएँ जहाँ साम्प्रदायिक संघर्ष होने की कोई आशंका न हो तो ऐसे मन्दिरों को बनाने में भी शासन द्वारा कोई बाधा नहीं डाली जायेगी। धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता देने को निजाम सरकार तैयार है। अतः आर्य-सत्याग्रह को स्थगित कर दिया जाना चाहिए।

निजाम सरकार के प्रस्ताव पर महात्मा नारायण स्वामी ने स्वामी स्वतन्त्रानन्द को जेल में परामर्श के लिए बुलाया और अपना यह विचार प्रकट किया कि यदि हमारी सब माँगें स्वीकार कर ली जाती हैं तो सार्वदेशिक सभा सत्याग्रह स्थगित कर सकती है। मिस्टर हालिन्स ने यह आशा प्रकट की कि सरकार और जनता के प्रतिनिधि शीघ्र ही एकत्र होकर इस योजना पर विचार करेंगे। ३ एप्रिल को स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा मन्त्री सत्याग्रह-समिति को गुलबर्गा जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक पत्र में समझौते की शर्तों पर विचार करने के लिए आर्य प्रतिनिधियों को भेजने के लिए निमन्त्रण दिया। इस पत्र के आधार पर तार द्वारा निमन्त्रित नेता ६ एप्रिल को गुलबर्गा में एकत्र हुए। इनमें हिन्दू-महासभा के सभापति श्री विनायक दामोदर सावरकर और लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे भी थे। किन्तु इसी समय निजाम सरकार की एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि आर्य नेताओं से समझौते की कोई बातचीत नहीं हो रही है। वस्तुतः सन्धि-वार्ता भंग होने का यह कारण था कि इस समय हैदराबाद में मुसलमानों की एक कट्टर साम्प्रदायिक संस्था मजलिसे-इत्तिहादुलमुसल्मीन सन्धि-चर्चा भंग करने पर तुली हुई थी। उसने सरकार पर यह दबाव डाला कि आर्यसमाज के साथ कोई समझौता न किया जाय। इस कारण शासन ने सन्धि-चर्चा बन्द कर दी और सत्याग्रह पूरे वेग के साथ पुनः चल पड़ा।

पंचम सर्वाधिकारी (२२ एप्रिल से ४ मई तक)—राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द) के बाद पंचम सर्वाधिकारी बिहार प्रान्त के सुप्रसिद्ध लोकसेवक और नेता पण्डित वेदव्रत वानप्रस्थी (स्वामी अभेदानन्द) पाँचवें सर्वाधिकारी नियुक्त हुए। आपका जन्म यद्यपि संयुक्त प्रान्त के बस्ती जिले में हुआ था, किन्तु आपने अपना कार्य-

क्षेत्र बिहार प्रान्त को बनाया। १९१३ में आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने और संस्कृत का अध्ययन करने के बाद वह आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। पहले वह कट्टर सनातन-धर्मी थे। किन्तु धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद उनकी प्रवृत्ति आर्यसमाज की ओर हुई। १९१३ में वह आर्यसमाज के नियमानुसार सदस्य बने और १९१५ से आप बिहार में लेखनी और वाणी द्वारा आर्यसमाज का प्रचार करने लगे। उन्होंने बिहार में एक गुरुकुल की स्थापना करने में योगदान दिया। आर्यसमाज के साथ-साथ वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भी भाग लेते रहे और कांग्रेस-आन्दोलन में जेल गये। १९३४ में बिहार के भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए बनायी गयी 'अखिल भारतीय आर्यसमाज रिलीफ सोसायटी' के प्रधानमन्त्री का कार्य आपने बड़ी योग्यतापूर्वक सम्पन्न किया। १९३५-३६ में वह बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान चुने गये। बिहार के सामाजिक जीवन और आर्यसमाज के क्षेत्र में उनका बड़ा नाम था। वह बिहार के बड़े लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित नेता थे। उनके सर्वाधिकारी बनने से बिहार प्रान्त को अपूर्व गौरव का अनुभव हुआ और उन्होंने सर्वाधिकारी बनते ही बिहार तथा संयुक्त प्रान्त के नगरों में दौरा करके सत्याग्रह के लिए धन-संग्रह का और सत्याग्रहियों को प्राप्त करने का वड़ा प्रयास किया। मध्य प्रान्त में उनके दौरे से विशेष जागृति उत्पन्न हुई। अपने सत्याग्रह के लिए उन्होंने पाँच मई का दिन निश्चित किया और पुसद के केन्द्र से सत्याग्रह करने का निश्चय किया।

१९२० में लोकनायक माधव श्री हरि अणे ने जंगल-सत्याग्रह इसी स्थान से आरम्भ किया था। यह स्थान वैन गंगा नदी पर था, और यह हैदरावाद और मध्य प्रान्त की सीमा थी। यहाँ एक मन्दिर में सत्याग्रही शिविर की स्थापना की गयी। लाहौर, कराची, सहारनपुर, कोटद्वार, धामपुर, लखनऊ, बाँदा आदि हैदरावाद राज्य से बाहर के स्थानों से तथा मोमिनाबाद, तुलजापुर, गुलबर्गा, तिलौनी, उस्मानाबाद, हैदरावाद, बीदर, रायपुर आदि रियासत के विभिन्न स्थानों से जत्थे यहाँ आने लगे। एक जत्थे में शाहपुरा के एक मुसलमान भाई श्री फय्याज़ और पाँच सिक्ख भी थे। मद्रास प्रान्त के बेजवाड़ा से भी सत्याग्रही यहाँ पहुँचे। वानप्रस्थी जी के साथ ५०० सत्याग्रहियों ने सत्याग्रह किया। ३०० सत्याग्रही तो स्पेशल गाड़ी से आये थे और २०० बिहार प्रान्त से आये थे। नदी पार करने के बाद पुलिस ने सत्याग्रहियों को हदगाँव में गिरफ्तार किया और जिला मजिस्ट्रेट ने वानप्रस्थी जी को दो वर्ष तथा अन्य सत्याग्रहियों को डेढ़ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया।

षष्ठ सर्वाधिकारी (५ मई से ५ जून)—छठे सर्वाधिकारी पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता महाशय कृष्ण बनाये गये। उन्होंने ५ मई से ५ जून तक सत्याग्रह का संचालन किया। वह अखिल भारतीय सत्याग्रह के लिए पंजाब प्रान्त से चुने गये दूसरे डिक्टेटर थे। उस समय आर्य नेताओं का यह प्रयत्न था कि निजाम सरकार की जेलों को भर दिया जाय। महाशय कृष्ण को पंजाब का सर्वमान्य नेता होने के कारण अपने प्रान्त का पूरा सहयोग प्राप्त था और सर्वाधिकारी बनने के बाद उन्होंने पंजाव में दौरा करके सत्याग्रह के लिए अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की। तीन सप्ताह बाद जब २७ मई को उन्होंने लाहौर से हैदराबाद के लिए प्रस्थान किया, तबतक वह ७५ हजार रुपये और १००० सत्याग्रही एकत्र करने का संकल्प पूरा कर चुके थे। महाशय कृष्ण पंजाव के

पुराने आर्यसमाजी नेता और प्रसिद्ध पत्रकार थे । वर्षों तक आप आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे थे । आर्यसमाज के विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने प्रकाश नामक साप्ताहिक पत्र उर्दू में प्रकाशित किया । इसके साथ ही उनका दैनिक उर्दू पत्र प्रताप भी आर्य-जगत् में बहुत लोकप्रिय था । उनकी ओजस्वी वाणी और लेखनी ने पंजाब में सत्याग्रह के लिए अद्वितीय जनजागरण उत्पन्न किया । उन्होंने सत्याग्रह शुरू करने से पहले बहुत-सी भ्रान्तियों का निवारण करना उचित समझा, और एक घोषणा में इस बात पर बल दिया कि "हमारा युद्ध निजाम से नहीं, अपितु पक्षपातपूर्ण निजामशाही से है जिसके कारण लाखों हिन्दुओं के अधिकार खतरे में पड़े हुए हैं ।" आपने यह भी कहा कि वैसे तो निजाम-शाही से हमें कई शिकायतें हैं किन्तु सर्वप्रथम इन दो माँगों को पूरा किया जाना चाहिए—(१) हमें वैदिक धर्म का प्रचार करने की पूरी स्वाधीनता हो और हम तदनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकें, (२) नये आर्यसमाज स्थापित करने, नये आर्यसमाज-मन्दिर और यज्ञशालायें बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने की पूर्ण स्वाधीनता हो ।" महाशय जी को इस सत्याग्रह-संग्राम की विजय में अटल विश्वास था । उन्होंने गुजरात के श्री ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण तथा हैदराबाद के श्री विनायकराव विद्यालंकार बार-एट-लॉ को क्रमशः सातवाँ और आठवाँ सर्वाधिकारी नियुक्त किया ।

उनकी यह योजना थी कि मई मास में पाँच हजार व्यक्तियों द्वारा सत्याग्रह किया जाय । इस समय मद्रास प्रान्त में पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा पंजाब में श्री बुद्धदेव विद्यालंकार ने अपने दौरों से सत्याग्रह के लिए जनता में बड़ी जागृति उत्पन्न की । होशियारपुर, लाहौर, लखनऊ, वृन्दावन, कराची, सिन्ध, अजमेर आदि विभिन्न नगरों के जत्थे सत्याग्रह के लिए हैदराबाद की सीमा पर पहुँचने लगे । इनमें आर्य स्वराज्य सभा लाहौर का जत्था इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसका नेतृत्व सिक्ख नेता श्री मदनसिंह गागा कर रहे थे । ये १९१४-१५ वाले लाहौर-षड्यन्त्र में २० वर्ष का कारावास भोग चुके थे । आपका श्री सावरकर से अच्छा परिचय था । उन्होंने लाहौर में अपनी विदाई-सभा में कहा था—"यह समझना भूल है कि यह आन्दोलन साम्प्रदायिक है । यदि मैं मस्जिद बनवाने के लिए गाँव में चन्दा एकत्र कर सकता हूँ तो हैदराबाद में हिन्दुओं के स्वत्वों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी भी लगा सकता हूँ । हम किसी भी संस्कृति को गिराने के लिए नहीं तुले हुए हैं । किन्तु अपने अधिकारों के लिए हम अवश्य लड़ेंगे ।"

४ जून को सर्वाधिकारी महाशय कृष्ण ने सत्याग्रह के लिए मनमाड से प्रस्थान किया । प्रस्थान से पहले एक विराट् सभा में विशाल जनसमूह को सम्बोधित करते हुए महाशय कृष्ण ने एक अत्यन्त ओजस्वी भाषण में कहा—"जेलों के रोमांचकारी समाचार सत्याग्रहियों को भयभीत नहीं कर सके । हाँ, उनसे हमें प्रोत्साहन अवश्य मिला है । हमारी दृढ़ता ने वस्तुतः निजाम सरकार के सारे शासन-यन्त्र को ढीला कर दिया है । यह तो झूठा प्रचार किया जा रहा है कि सत्याग्रह बन्द होनेवाला है । इसका उत्तर मैं यही दूँगा कि मेरे साथ विभिन्न केन्द्रों से १२०० सत्याग्रही इस संग्राम में कूदेंगे ।" ५ मई को दोपहर तीन बजे छठे सर्वाधिकारी महाशय कृष्ण कृष्ण स्पेशल गाड़ी में मनमाड से औरंगाबाद के लिए रवाना हुए । ५ बजे औरंगाबाद पहुँचने पर जब उन्हें पुलिस इन्स्पेक्टर ने नगर में प्रवेश न करने का जिलाधीश का आज्ञापत्र दिखाया तो महाशय कृष्ण ने इस आज्ञा को मानने से इन्कार किया और दर्शकों की विशाल भीड़ को सम्बोधित करके भाषण देना आरम्भ

किया। पुलिस ने उन्हें तथा उनके साथी सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया। महाशय कृष्ण को दो वर्ष का कठोर तथा एक मास का सादा कारावास का दण्ड दिया गया।

सातवें सर्वाधिकारी गुजरात के श्री पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण थे। उन्होंने ६ जून से अपना कार्य-भार सम्भाला। उनका जन्म गुजरात के सुप्रसिद्ध नगर बड़ौदा में सन् १६१० में हुआ था। बचपन में उनको माता-पिता के दुःसह वियोग का दुःख सहन करना पड़ा। बड़ी कठिनाई से उन्होंने विद्याभ्यास किया। हाईस्कूल में ईसाई शिक्षक से धर्म-विषयक विवाद होने पर उनकी प्रवृत्ति धार्मिक अध्ययन की ओर हो गयी। उन्होंने तीन वर्ष तक दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर में गम्भीर अध्ययन किया। इसे सम्पन्न करने के वाद वह एक वर्ष तक पंजाब में धर्म-प्रचार का कार्य करते रहे, और बाद में गुजरात चले आये। गुरुकुल सूपा में कुछ समय तक अध्ययन करने के वाद उन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रचार आरम्भ कर दिया। उनके ओजस्वी भाषणों और गम्भीर लेखों का बम्बई तथा गुजरात की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सर्वाधिकारी बनने के वाद उन्होंने गुजरात और राजस्थान का दौरा करते हुए आनन्द, पूना, भावनगर, पोरवन्दर, राजकोट, सूरत और बड़ौदा में व्याख्यान दिये और सत्याग्रह के लिए धन-संग्रह किया। इस समय तक विभिन्न प्रान्तों से लगभग १० हजार सत्याग्रही जेल जा चुके थे। वर्मा और अफ्रीका जैसे दूरवर्ती प्रदेशों से भी सत्याग्रही जत्थे निरन्तर हैदराबाद आ रहे थे। वर्षा शुरू हो जाने से रास्ता खराव हो जाने के कारण पुसद-केन्द्र वन्द कर दिया गया और इसके स्थान पर अकोला रेलवे स्टेशन के निकट वाशिम में नया केन्द्र स्थापित किया गया। यहाँ से १५ मील दूर कन्हेर गाँव में सत्याग्रह करने की बड़ी सुविधा थी। इसी समय संयुक्त प्रान्त में श्री शिवदयालु के प्रयत्न से सौ-सौ सत्याग्रहियों के आठ दल तैयार हुए। विभिन्न गुरुकुलों, आर्यसमाजों तथा संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने प्रतिदिन बड़ी संख्या में सत्याग्रह किया। २१ जून, की रात को सातवें सर्वाधिकारी श्री ज्ञानेन्द्र शोलापुर पहुँचे और अगले दिन प्रातःकाल गुलवर्गा पहुँचकर उन्होंने अपने साथियों के साथ सत्याग्रह किया। उन्हें १८ महीने के कठोर कारावास का दण्ड हुआ।

आठवें सर्वाधिकारी श्री विनायकराव विद्यालंकार बार-एट-लॉ थे। सर्वाधिकारी होने के समय वह हैदराबाद के सबसे बड़े सुलतान बाजार आर्यसमाज के तथा निजाम-राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे। वह हैदराबाद हाईकोर्ट के जज पण्डित केशवराव के सुपुत्र एवं हैदराबाद आर्यसमाज के प्रमुख आधार-स्तम्भ थे। उनका सारा जीवन आर्यसमाज और समाज-सुधार के लिए समर्पित था। उनकी गणना हैदराबाद के प्रमुख वकीलों में की जाती थी। उन्होंने निजाम राज्य द्वारा आर्यसमाज के बारे में प्रसारित अनेक प्रकार की मिथ्या भ्रान्तियों का सफलतापूर्वक निराकरण किया। उन्होंने स्वयमेव २२ जुलाई का दिन अपने सत्याग्रह के लिए निर्धारित किया और एक हजार सत्याग्रहियों के साथ सत्याग्रह करने का निर्णय किया। इससे पहले उन्होंने सारे भारत में दौरा करके अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा सत्याग्रह के लिए प्रबल उत्साह का वातावरण उत्पन्न किया। उनका यह लक्ष्य था कि हैदराबाद राज्य से अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को सत्याग्रह के लिए तैयार किया जाए। इनके द्वारा निर्धारित तिथि २२ जुलाई से पहले ही इनके साथ सत्याग्रह करने के लिए सत्याग्रही बहुत बड़ी संख्या में हैदराबाद के सीमावर्ती नगरों में पहुँचने लगे। अजमेर की सत्याग्रह-समिति ने पण्डित

जियालाल के प्रयास से सिकन्दराबाद गुरुकुल के आचार्य श्री पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री की अध्यक्षता में सत्याग्रहियों की एक स्पेशल गाड़ी १६ जुलाई को मनमाड भेजी और प्रतिमास अजमेर से एक विशेष गाड़ी भिजवाने की घोषणा की। २२ जुलाई को श्री विनायकराव विद्यालंकार ने सत्याग्रह करना था। इससे पहले हिन्दू-महासभा के नेता श्री भोपटकर की गिरफ्तारी के बाद हिन्दू महासभा द्वारा भेजे जानेवाले सत्याग्रही जत्थों की संख्या बढ़ने लगी। २६ जून को कर्नल वेजवुड वेन ने पार्लियामेण्ट में हैदराबाद की जेलों में बन्द सत्याग्रहियों के बारे में प्रश्न उठाया। आर्यसत्याग्रह-समिति ने भारत-मन्त्री तथा वायसराय को मेमोरेंडम भेजकर हैदराबाद-सत्याग्रह की ओर तथा निजाम सरकार की जेलों में किये जानेवाले नृशंस व्यवहार की ओर उच्चाधिकारियों का ध्यान आकृष्ट किया। वायसराय ने निजाम सरकार से इस आन्दोलन के बारे में काफी पूछताछ की और इस समस्या को संतोषजनक रीति से सुलझाने के लिए बल दिया।

(७) सत्याग्रह की समाप्ति और आर्यसमाज की विजय

सुधारों की घोषणा—इन सब बातों का निजाम सरकार पर प्रभाव पड़ा और उसने १९ जुलाई को राज्य में नवीन सुधारों की घोषणा की। निजाम सरकार सम्भवतः यह नहीं चाहती थी कि हैदराबाद के सुप्रतिष्ठित वकील श्री विनायकराव विद्यालंकार हैदराबाद के सत्याग्रहियों की विशाल संख्या के साथ सत्याग्रह करें और राज्य में इससे संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो। अतः सुधारों की घोषणा श्री विनायक राव विद्यालंकार के सत्याग्रह की घोषित तिथि से ३ दिन पूर्व ही कर दी गयी थी।

इस घोषणा के बाद सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने नागपुर में सम्पन्न हुई अपनी २४-२५ जुलाई की बैठक में सत्याग्रह को एक सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया और सर्वसम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—"सभा ने 1 जुलाई का फरमान और १९ जुलाई का घोषणापत्र पढ़ा। जिस प्रकरण में नागरिक स्वाधीनता की चर्चा है, आर्यसमाज की माँगों के साथ केवल वही सम्बन्धित है। उसमें घोषित किया गया है कि कुछ अन्य राज्यों के समान निजाम राज्य में संस्थाओं के बनाने पर कोई पाबन्दी नहीं है। सार्वजनिक सभाओं के विषय में भी उदारता से काम लिया है और कौंसिल की यह सिफारिश स्वीकार की गयी है कि अधिक-से-अधिक स्वाधीनता दी जाय। अधिकारी सार्वजनिक शान्ति भंग होने की सम्भावना होने पर ही सभा को रोक सकेंगे। सभा यह समझती है कि इस घोषणा द्वारा आर्यसमाजियों को भी सभा करने, संस्था बनाने, आर्यसमाजों का उद्घाटन और सत्संग करने का अबाधित अधिकार दिया गया है। इस सम्बन्ध में अबतक के सब प्रतिबन्ध रद्द कर दिये जायेंगे, किन्तु उन नियमों को जिनके कारण धार्मिक अनुष्ठानों पर भी प्रतिबन्ध लगते हैं, इस घोषणा द्वारा रद्द समझे जायेंगे या नहीं, इस विषय में सन्देह रह जाता है; इसलिए इस प्रश्न का स्पष्टीकरण आवश्यक है। परामर्शदात्री समिति के विषय में सभा की सम्मति है कि जिस प्रकार के धार्मिक, सांस्कृतिक और मौलिक अधिकारों के लिए आर्यसमाज लड़ रहा है, वे तहकीकात के विषय नहीं बनाये जाने चाहिएँ, विशेषकर एक ऐसी समिति द्वारा जिसका सम्बन्ध एक सरकारी विभाग (अमूरे मजहबी) से हो और जिसको केवल गुप्त रिपोर्ट देने का अधिकार हो। अतः यह सभा प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त से निवेदन करती है कि वे

स्थिति स्पष्ट करने के लिए तत्काल कार्यवाही करें। सभा सत्याग्रह-समिति को आदेश देती है कि दूसरे आदेश तक सत्याग्रही जत्थों को वहीं रुकने की आज्ञा दे दी जाय, जहाँ वे रुके हुए हैं।" एक अन्य प्रस्ताव द्वारा हैदराबाद के धर्म-युद्ध में सहायता के लिए आर्य तथा हिन्दू जनता के प्रति आभार प्रकट किया गया तथा समाचार-पत्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी जिन्होंने अपनी सहानुभूति से संग्राम के उचित ध्येय को प्राप्त करने में सहायता पहुँचायी थी।

सार्वदेशिक सभा के उपर्युक्त निर्णय के अनुसार प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त हैदराबाद के उच्च अधिकारियों से मिले और सुधार-योजना के नागरिक और धार्मिक स्वाधीनता से सम्बद्ध अंशों के बारे में स्पष्टीकरण की माँग की। शुरू में निजाम सरकार ने ऐसा स्पष्टीकरण देने से इन्कार किया। जब सार्वदेशिक सभा इस स्पष्टीकरण पर अड़ गयी तो निजाम सरकार ने सभा को अपना एक प्रतिनिधि भेजने के लिए कहा। इसके लिए श्री देशबन्धु गुप्त सभा की ओर से हैदराबाद भेजे गये।

निजाम की सुधार-योजना बड़ी व्यापक थी और उसमें राज्य की भावी शासन-पद्धति के सभी अंगों—विधानसभा के स्वरूप, कार्यकारिणी की रचना, निर्वाचन-नियम, धारा सभा में विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों की संख्या आदि पर प्रकाश डाला गया था। आर्यसमाज इसमें केवल अपने से सम्बद्ध दो अंशों का स्पष्टीकरण प्राप्त करना चाहता था। इनके बारे में सुधार-योजना में निम्नलिखित घोषणा की गयी थी—

नागरिक स्वाधीनता—सार्वजनिक सभा करने के लिए प्रथम आज्ञा लेनी आवश्यक न होगी, सूचना अवश्य देनी होगी। सभा में यदि उनके कारण राजद्रोह अथवा साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न होने की सम्भावना होगी तो रोकी जा सकेंगी। किन्तु सभा के संयोजक को अधिकार होगा कि वह विशेषाज्ञा के विरुद्ध अपील कर सके। समाचारपत्र आदि के विषय में ब्रिटिश भारत के अनुरूप ही नियम बनाये जायेंगे। जहाँ तक संस्थाओं का सम्बन्ध है, ये स्वतन्त्र रूप से भी बन सकेंगी।

धार्मिक स्वाधीनता—सुधार-कमेटी ने धार्मिक शिकायतों की जाँच के लिए जाँच-कमेटी बिठाने का निर्णय किया, जिसमें हिन्दू-मुसलमानों का तथा इन दोनों जातियों के प्रतिनिधियों में सरकारी तथा गैर-सरकारी व्यक्तियों का समान अनुपात रखा गया। निजाम ने घोषणा की कि उनकी सदैव यह इच्छा रही है कि व्यक्तिगत प्रबन्ध की अपेक्षा एक सभा का होना, जो धार्मिक झगड़ों का निर्णय करे, अधिक लाभदायक होगा। उन्होंने आशा प्रकट की कि यह सभा आसफिया राज्य के पुरातन गौरव को स्थिर रखेगी।

आर्यसमाज द्वारा माँग किये जाने पर उपर्युक्त प्रश्नों के बारे में निजाम सरकार ने ३ अगस्त, १९३९ को एक स्पष्टीकरण प्रकाशित किया। इसमें सभाओं और संस्थाओं की स्थापना के बारे में यह कहा गया था कि—"सुधार-योजना का यह अंश कि इसकी व्यवस्था के लिए कोई कानून नहीं है, समस्त सभाओं और सोसायटियों पर लागू होता है, चाहे वे धार्मिक हों या अन्य प्रकार की। धार्मिक मामलों के लिए परामर्श-समिति की व्याख्या करते हुए कहा गया कि इसका सम्बन्ध उस रीति-नीति से होगा जिसके अनुसार कानून और व्यवस्था की दृष्टि से धार्मिक अधिकारों से सम्बन्धित कोई कायदा-कानून बनाया तथा प्रचलित किया जायगा। यह कमेटी उन तरीकों को बतलायेगी जिनके द्वारा कानून और व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए धार्मिक अधिकारों का उचित उपयोग हो

सके। सरकारी नीति सार्वजनिक शान्ति को दृष्टि में रखते हुए जनता को अधिक-से-अधिक सुविधायें देने की है। सार्वजनिक और धार्मिक सभाओं के लिए अधिक उदार नियम होंगे। जो धार्मिक कृत्य या सभायें निजी मकानों में होंगी, उनके लिए सूचना देना आवश्यक नहीं होगा। किसी मकान का घिरा हुआ अहाता भी मकान की परिभाषा में आ जाता है। धार्मिक जुलूसों के बारे में इसमें यह कहा गया था कि इनके लिए पहली बार ही आज्ञा लेने की आवश्यकता होगी। सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस आज्ञा में मार्ग आदि का निर्धारण हो, जिसका भविष्य में भी अनुसरण होगा।

धार्मिक मन्दिरों और सार्वजनिक उपासनागृहों के लिए इस वक्तव्य में कहा गया था—"वर्तमान नियम केवल उन्हीं भवनों को स्वीकार करते थे, जो सदैव पूजन आदि में प्रयुक्त होते हैं। अब यह स्वीकार किया जाता है कि जातियों के रिवाज भिन्न-भिन्न होते हैं। आर्यसमाज का रिवाज इस बात में भिन्न है कि उसकी धार्मिक सभायें हवन, यज्ञ और सम्मिलित प्रार्थनायें किराये के प्राइवेट मकानों में भी लगती हैं और मकानों की कोई स्थायी पवित्रता नहीं होती है। इनमें किसी समय भी साप्ताहिक सत्संगों का होना बन्द हो सकता है। साथ ही यह मकान कालान्तर में सार्वजनिक उपासना-मन्दिरों का रूप ले सकते हैं। जबतक मकान स्थायी रूप से धार्मिक सत्संगों के लिए प्रयुक्त होंगे, किसी प्रकार की आज्ञा लेनें की आवश्यकता न होगी। किन्तु जो इमारतें उपासना के लिए नयी बनायी जायेंगी अथवा खरीदी जायेंगी, उनपर सार्वजनिक उपासना-मन्दिरों पर लागू होनेवाले साधारण नियम प्रयुक्त होंगे। इन नियमों को सरल बनाने पर विचार किया जा रहा है। प्राइवेट पाठशालाओं और स्कूलों के बारे में सरकार को यह सुझाव मिला है कि आज्ञा लेने के स्थान पर केवल सूचना देना ही पर्याप्त होगा। सरकार इस सम्बन्ध के नियमों की जाँच-पड़ताल करेगी और इसपर विचार किया जायगा।"

सत्याग्रह की समाप्ति—निजाम सरकार के स्पष्टीकरण की उपर्युक्त विज्ञप्ति के बाद नागपुर में सार्वदेशिक सभा की अंतरंग सभा का एक विशेष अधिवेशन हुआ और इसमें इस विज्ञप्ति पर सन्तोष प्रकट करते हुए एक प्रस्ताव द्वारा सत्याग्रह समाप्त करने की घोषणा की गयी। इसमें कहा गया था—"निजाम सरकार की ८ अगस्त की विज्ञप्ति पर, जिसमें सार्वदेशिक सभा की शंकाओं का समाधान किया गया है, विचार करके तथा उसमें निहित समझौते की भावना को देखकर सभा सत्याग्रह को जारी रखना अनावश्यक समझती है तथा सत्याग्रह-कमेटी को आदेश देती है कि जत्थों को भंग कर दे। सभा की सम्मति में उपर्युक्त स्पष्टीकरण से आर्यसमाज की माँगें पूरी करने का प्रयत्न किया गया है।" इस प्रस्ताव के अनुसार सार्वदेशिक सभा ने सत्याग्रह बन्द कर दिया। १७ अगस्त को निजाम के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशित एक विशेष फरमान द्वारा सत्याग्रह के सभी बन्दियों को निजाम सरकार ने मुक्त करने की आज्ञा प्रसारित की। इस प्रकार यह सत्याग्रह सफलतापूर्वक समाप्त हुआ।

१९ अगस्त को कारागार से मुक्त होने पर सभी सर्वाधिकारी बम्बई आये और उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य दिया—"सत्याग्रह-आन्दोलन के इतिहास में आर्य-सत्याग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत्यधिक उत्तेजित किये जाने पर भी सत्याग्रही सर्वथा अहिंसक और शान्त बने रहे। सत्याग्रह की सफलता का श्रेय कष्ट उठानेवाले सत्याग्रहियों और शहीदों को है। सन्तोष का विषय है कि निजाम हैदराबाद ने हमारी माँगें स्वीकार कर

ली हैं।" दिल्ली में सर्वाधिकारियों का अभिनन्दन करते हुए श्री गुप्त ने यह सत्य ही कहा था—"हमारे सैनिकों ने आपके नेतृत्व में सत्य और पवित्रता का जो आदर्श उपस्थित किया है उससे सारे देश का मस्तक ऊँचा हुआ है। आपने सहस्रों आर्यों को प्रेरणा तथा स्फूर्ति दी है।" महाशय कृष्ण ने इस अवसर पर कहा कि "कोई यह न समझे कि निर्बलता के कारण हमने समझौता किया है। देशपूज्य महात्मा गांधी, पण्डित नेहरू तथा डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद तक ने हमारी सफलता को स्वीकार किया है। अब हमें अपनी शक्ति का आभास हो गया है। हमारा समाज मरने के नहीं, जीने और उठने के लिए अपना अस्तित्व रखता है। हैदराबाद जैसी शक्तिशाली रियासत से भी हम अपनी न्यायपूर्ण माँगें मनवाने में सफल हुए हैं।"

द्वितीय सर्वाधिकारी श्री चाँदकरण शारदा ने इस अवसर पर अपने अत्यन्त संक्षिप्त भाषण में एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही थी कि "हैदराबाद रियासत पर खर्चे-समेत जो डिग्री हुई है, उसे वसूल करने की हमें तैयारी तुरन्त कर देनी चाहिए। अब व्याख्यान देने का समय नहीं रहा है।" इससे उनका यह आशय था कि हैदराबाद के सत्याग्रह में सार्वदेशिक सभा और आर्य जनता का जो लाखों रुपया व्यय हुआ है, वह हैदराबाद रियासत से वसूल किया जाना चाहिए।

श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने इस कार्य को महात्मा गांधी की सहायता से सम्पन्न किया। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि वे इस बारे में निजाम शासन के मुख्य-मन्त्री सर अकबर हैदरी से खुद बातें करना नहीं चाहते थे, उन्होंने अपने एक मित्र एडवोकेट वैद्य द्वारा शासन से हरजाने की रकम की माँग की। किन्तु शासन ने कुछ भी रकम देना अस्वीकार कर दिया। इसके बाद वे महात्मा गांधी से मिले। उनको सारी स्थिति स्पष्ट की और जब वे पूर्णरूप से सन्तुष्ट हो गये तो उन्हें श्री गुप्त ने सर अकबर-हैदरी को इस विषय में पत्र लिखकर और टेलीफोन से बात करके १५ लाख रुपये आर्य-समाज को देने के लिए कहा। गांधीजी का विश्वास था कि हैदराबाद राज्य इस राशि को देने से कुछ गरीब नहीं हो जायगा और आर्यसमाज के लिए यह बहुत बड़ी राशि है। उन्होंने अपने पत्र में इस बात को पर्याप्त कड़े शब्दों में लिखा और हैदराबाद शासन को उनकी बात माननी पड़ी। श्री गुप्त के शब्दों में "उन्होंने (निजाम सरकार ने) १५ लाख रुपये हम आर्यसमाज वालों को दिया जिससे न केवल सत्याग्रहियों के आने-जाने का खर्च ही पूरा हुआ, अपितु उनके अपने धन्धों में जो हानि हुई थी, उसका भी आंशिक हरजाना मिला।"

सत्याग्रहियों की संख्या—हैदराबाद के धर्म-युद्ध की सफलता का बहुत बड़ा कारण विभिन्न प्रान्तों की आर्य जनता का इसमें पूरा सहयोग देना था। भारत के सभी प्रान्तों ने इसमें सत्याग्रही भेजे। निम्नलिखित तालिका में यह बताया गया है कि किस प्रदेश से कितने व्यक्ति सत्याग्रह करके जेल गये। यह सूची सत्याग्रह-केन्द्रों से प्राप्त सूचना के आधार पर सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित की गयी है।

क्रम-संख्या	प्रान्त	संख्या
१.	पंजाब, सीमा प्रान्त, कश्मीर तथा दिल्ली	३,१५७
२.	संयुक्त प्रान्त	२,०८५
३.	राजस्थान, मालवा	४४७

क्रम-संख्या	प्रान्त	संख्या
४.	विहार	३३१
५.	बंगाल	२०२
६.	मध्य प्रान्त तथा बरार	५७५
७.	वम्बई प्रान्त	२४१
८.	सिन्ध	१९४
९.	मद्रास	६६
१०.	बर्मा	१५
११.	असम	७
१२.	निजाम राज्य	३,२४९
		१०,५६९

इससे यह स्पष्ट है कि सबसे अधिक सत्याग्रही हैदराबाद राज्य और इसके बाद पंजाब, सीमा प्रान्त, दिल्ली तथा कश्मीर से आये थे। इन दोनों की संख्या आधे से अधिक थी। बर्मा तथा असम जैसे सुदूरवर्ती प्रान्तों ने भी सत्याग्रही भेजे थे। जिस समय सत्याग्रह की समाप्ति की घोषणा की गयी थी, उस समय ८-८-३९ से पहले २००० सत्याग्रही विभिन्न केन्द्रों में केन्द्रीय-समिति द्वारा सत्याग्रह के आदेशों की प्रतीक्षा में थे। इस प्रकार इस धर्मयुद्ध में भाग लेनेवालों की कुल संख्या १२,५६९ थी।

(८) हैदराबाद-सत्याग्रह के हुतात्मा

हैदराबाद के धर्म-युद्ध की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय उन व्यक्तियों को है जिन्होंने इस सत्याग्रह-संग्राम में निजाम सरकार की जेलों में भीषण अत्याचार को सहते हुए अपने प्राणों का बलिदान किया। इन हुतात्माओं के पवित्र रक्त से सिंचित होकर ही हैदराबाद राज्य में वैदिक धर्म का उद्यान पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। हैदराबाद में आर्यसमाज के शहीद दो प्रकार के थे—सत्याग्रह से पहले और बाद में धर्म-प्रचार के लिए शहीद होनेवाले व्यक्ति और सत्याग्रह शुरू होने के बाद जेलों में जाकर स्वर्गवासी होनेवाले अथवा कारावास से मुक्ति पाने के कुछ समय बाद दिवंगत होनेवाले शहीद। पिछले पृष्ठों में श्री वेदप्रकाश, श्री धर्मप्रकाश और पण्डित श्यामलाल के हुतात्मा होने का परिचय दिया गया है। यहाँ सत्याग्रह-संग्राम में शहीद होनेवाले कतिपय व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(१) श्री परमानन्द—आप हरिद्वार के रहनेवाले थे और बचपन से आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ता थे। ३० वर्ष की आयु में आप हैदराबाद-सत्याग्रह में सम्मिलित हुए। राजूर में सत्याग्रह करके वन्दी हुए। पहले ये गुलबर्गा जेल में और बाद में चंचलगुडा जेल में रहे। यहाँ १-४-३९ को उनका जेल में देहान्त हो गया। आपके शव को देने में निजाम सरकार ने बड़ी बाधा प्रस्तुत की। अन्त में राज्य सरकार की पुलिस के उच्चतम अधिकारी एच० हालिन्स के हस्तक्षेप से ही शव प्राप्त हो सका। शव की डॉक्टरी परीक्षा से विदित हुआ कि उनकी दायीं भुजा पर तीन इंच लम्बा तिरछा घाव था। दायीं कोहनी और छाती पर भी घाव थे। कान के पास चोट लगी थी। नाक और मुंह से खून

निकला था। सम्भवत: जेल में बैंतों की निर्मम मार से आप दिवंगत हुए। आपको इस सत्याग्रह के पहले शहीद होने का गौरव प्राप्त है।

(२) **श्री विष्णु भगवान तांडूरकर**— आपका स्वर्गवास हैदराबाद जेल में २-५-३९ को हुआ था। तांडूर गुलबर्गा जिले में है। इन्होंने गुलबर्गा में सत्याग्रह किया और इन्हें कारावास का दण्ड दिया गया। आपको गुलबर्गा से औरंगाबाद और फिर हैदराबाद जेल में रखा गया और यहाँ दूसरे सत्याग्रहियों के साथ इतना पीटा गया कि आपका तीस वर्ष की अल्पायु में स्वर्गवास हो गया।

(३) **श्री सुनहरासिंह**—आप बुटाना जिला रोहतक पंजाब के रहनेवाले थे। औरंगाबाद जेल में ८-६-३९ को आपका स्वर्गवास हुआ। आपका जन्म एक सम्पन्न जाट-परिवार में हुआ था। सत्याग्रह प्रारम्भ होने पर इनके गौने का दिन निश्चित हो चुका था। किन्तु ये उससे पहले ही सत्याग्रह-जत्थे में भर्ती होकर हैदराबाद चले गये। परिवारवालों ने इन्हें बहुत रोका, किन्तु ये अपने सत्याग्रह के संकल्प पर अडिग बने रहे। महाशय कृष्णजी के साथ ५ जून को आपने औरंगाबाद में सत्याग्रह किया और गिरफ्तार हो गये। औरंगाबाद जेल में ये पुलिस के भीषण लाठी-चार्ज का शिकार हुए। इनके शव पर चोटों के अनेक निशान थे। औरंगाबाद में शहीद सुनहरासिंह के देहावसान का समाचार मिलने पर शहर के अनेक सम्भ्रान्त नागरिक इस शव को शहर में जुलूस के साथ श्मशान-भूमि तक लाना चाहते थे, किन्तु अधिकारी इससे सहमत नहीं हुए और उन्होंने नगरवासियों को केवल अन्तिम दर्शन के लिए श्मशान-भूमि आने की अनुमति दी। नागरिकों ने इस वीरात्मा की अन्त्येष्टि में उपस्थित होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

(४) **श्री स्वामी कल्याणानन्द**—आप उत्तरप्रदेश में मुजफ्फरनगर जिले के रहनेवाले थे। आपकी आयु सत्याग्रह शुरू होने के समय ७५ वर्ष की थी। समाचार-पत्रों में सत्याग्रह के समाचार पढ़कर आपके मन में इस वृद्धावस्था में भी सत्याग्रह के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई और गुलबर्गा में सत्याग्रह करते हुए आप बन्दी बनाये गये। जेल के भोजन से आपका स्वास्थ्य गिर गया। आप पेचिश के रोग से पीड़ित हो गये। उचित भोजन और चिकित्सा तथा पथ्य न मिलने से आपका रोग बढ़ता चला गया और ८ जुलाई को जेल के हस्पताल में आपकी मृत्यु हो गयी। कुछ समय तक आपके देहावसान का समाचार गुप्त रखा गया। दो दिन बाद इसकी सरकारी रूप से घोषणा की गयी, किन्तु निधन का कोई कारण नहीं बताया गया।

(५) **श्री माधवराव सदाशिवराव**—आप हैदराबाद के उस्मानाबाद जिले के लातूर-निवासी ३० वर्षीय नवयुवक थे। आर्य-सत्याग्रह में भाग लेने के बाद आप गुलबर्गा-जेल में बन्दी बनाकर रखे गये। २६ मई, १९३९ के दिन कड़ी धूप में नंगे पैर काम करने के कारण उन्हें लू लग गयी। किन्तु जेल-अधिकारियों ने उनकी चिकित्सा की कोई व्यवस्था नहीं की। उनकी हालत बिगड़ती चली गयी। अगले दिन प्रातःकाल वे बेहोश हो गये। काफी देर बाद उन्हें हस्पताल ले-जाया गया और २८ मई को प्रातःकाल उनका देहावसान हो गया। जेल के अधिकारियों ने उनका शव जनता को देने से इनकार किया और कुछ सत्याग्रहियों की उपस्थिति में जेलवालों ने ही उनका दाह-संस्कार किया।

(६) **श्री चौधरी ताराचन्द**—आप जिला मेरठ के निवासी थे। सत्याग्रह-संग्राम से कुछ समय पूर्व ही आपका विवाह हुआ था। आप आर्य महाविद्यालय किरठल

(जिला मेरठ) से सत्याग्रह के लिए चौधरी जगदेवसिंह सिद्धान्ती की अध्यक्षता में जाने-वाले दल में सम्मिलित हो गये और १७ एप्रिल को शोलापुर के शिविर में पहुँचे। सत्याग्रह का आदेश मिलते ही आप १९ एप्रिल को वार्सी-केन्द्र के लिए रवाना हो गये। आपने २७ एप्रिल को तुलजापुर में सत्याग्रह किया। यहाँ आपको जेल में वड़ी यातनायें दी गयीं और इनसे इनका शरीर निरन्तर जर्जर होता चला गया। सत्याग्रह बन्द होने पर वे १८ अगस्त को जेल से मुक्त कर दिये गये, किन्तु घर नहीं पहुँच सके। नागपुर पहुँचने तक उनकी हालत इतनी खराब हो गयी कि उन्हें वहाँ गाड़ी से उतार लेना पड़ा। २ सितम्बर, १९३९ को उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी स्मृति चिर-स्थायी बनाने के लिए आर्य-महाविद्यालय किरठल में **वीर ताराचन्द बलिदान भवन** का निर्माण किया गया है।

(७) **श्री अशर्फीलाल**—आप बिहार प्रान्त के चम्पारण जिले के नरकटियागंज-निवासी थे। सत्याग्रह के समय आपकी आयु केवल १८ वर्ष की थी, किन्तु आपमें धर्म का उत्साह इतना अधिक था कि आपको वृद्ध माता-पिता का मोह और नव-परिणीता पत्नी का प्रेम कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सका और आप सत्याग्रह के लिए हैदराबाद पहुँचे; २२ मार्च को आपने सत्याग्रह किया और बन्दी बनाये गये। जेल में दी जानेवाली कठोर यातनाओं के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। वे बीमार रहने लगे। जेल के अधिकारियों ने उनपर माफी माँगकर मुक्त होने के लिए बड़ा दवाव डाला, किन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुए। सत्याग्रह की समाप्ति पर १५ अगस्त को उन्हें कारागार से मुक्त किया गया और घर पहुँचकर २६ अगस्त को आपका स्वर्गवास हो गया।

(८) **श्री पुरुषोत्तम ज्ञानी**—आप मध्य प्रान्त के कर्मठ आर्यसमाजी कार्यकर्ता थे और ७२ वर्ष की आयु वाले मध्य प्रान्त के पहले सत्याग्रही थे। ११ मार्च, १९३९ को इन्दौर से आये सत्याग्रही दल के साथ आर्यसमाज बुरहानपुर ने अपने वयोवृद्ध तपस्वी आर्य को सत्याग्रह के लिए विदाई दी। शोलापुर-शिविर में कुछ दिनों तक रहने के बाद आपने गुलबर्गा में सत्याग्रह किया। यहाँ कारागार में दो मास बाद आपको संग्रहणी हो गयी। जेल के अधिकारियों ने इन्हें बार-बार घर लौटने के लिए कहा, किन्तु ये ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हुए। एक दिन इनके पुत्र प्राध्यापक शिवदत्त ज्ञानी इनसे मिलने जेल के फाटक पर आये, वहाँ जेल के अधिकारियों द्वारा इन्हें अपने पुत्र से मिलने के लिए बुलाया गया और दुवारा जेल में अन्दर वापिस नहीं जाने दिया। इन्हें विवश होकर घर लौटना पड़ा। हैदराबाद के उर्दू अखबारों ने यह खबर छापी कि पुरुषोत्तम ज्ञानी ने माफी माँग ली है। जब इन्हें इस बात का पता लगा तो इन्होंने बीमारी की दशा में भी दूसरी बार सत्याग्रह किया। ये बन्दी बना लिये गये। किन्तु जेलवालों ने इन्हें वृद्ध कहकर छोड़ दिया। कुछ समय बाद २६ अगस्त, १९३९ को आपका देहावसान हुआ।

(९) **श्री सदाशिवराव पाठक**—ये शोलापुर के तदोला ग्राम के निवासी और अपने पिता की इकलौती सन्तान थे। इन्होंने हिन्दू महासभा की ओर से हैदराबाद राज्य में सत्याग्रह किया। जेल में इनसे पत्थर ढोने का काम लिया जाता था। इससे ये बीमार पड़ गये और उचित इलाज न होने पर १३-८-३९ को इनका जेल में ही स्वर्गवास हो गया।

(१०) **श्री स्वामी सत्यानन्द**—सत्याग्रह-संग्राम में भाग लेने के समय आपकी आयु ७८ वर्ष की थी। ये सम्भवतः सबसे अधिक वृद्ध सत्याग्रही थे। आपकी जन्मभूमि शाहजहाँपुर

जिला थी, किन्तु वैदिक धर्म के प्रचार लिए आपने दक्षिण भारत को अपना प्रधान कार्यक्षेत्र बनाया था, बंगलौर आर्यसमाज के नूतन भवन के निर्माण के लिए भगीरथ प्रयास किया था। जब आपने १९३९ के हैदराबाद-सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय किया तो उनके हितैषियों और प्रेमियों ने उन्हें इस बड़ी आयु में सत्याग्रह करने से मना किया और यह कहा कि आप कर्नाटक में सत्याग्रह की वास्तविक स्थिति लोगों को बतायें, निजाम के अत्याचारों पर प्रकाश डालें और आर्यसमाज की माँगों का औचित्य साधारण जनता को समझायें। कुछ समय तक वे ऐसा प्रचार करते रहे।

किन्तु इनके मन में सत्याग्रह में भाग लेने की अदम्य इच्छा थी। ये पुनः सत्याग्रह के लिए शोलापुर आये। उस समय सत्याग्रह-समिति इन्हें इसके लिए अनुमति देने को तैयार नहीं थी। इन्हें कहा गया—"आप वृद्ध हैं, आपको जेल में कष्ट होगा।" इन्होंने उत्तर दिया—"आर्यसमाज के लिए यदि मेरा देहान्त भी हो जाय तो मुझे प्रसन्नता होगी, इस समय आर्यसमाज ने सब आर्यों को सत्याग्रह के लिए आह्वान किया है। मेरा कर्तव्य है कि मैं सत्याग्रह करूँ।"

वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर के जत्थे के साथ उन्होंने गुलबर्गा में सत्याग्रह किया और इन्हें ९ महीने के कारावास का दण्ड मिला। वे पहले गुलबर्गा जेल में रहे और वहाँ से चंचलगुड़ा जेल में बदल दिये गये। नारायण स्वामी जी के कारण गुलबर्गा में नित्य हवन होता था, किन्तु यहाँ के जेलवाले हवन के लिए अनुमति देने को तैयार नहीं थे। अतः हवन के प्रश्न पर स्वामी जी ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। १२ दिन की भूख हड़ताल के बाद हवन की अनुमति मिल गयी, किन्तु उपवास से इनका शरीर बिल्कुल क्षीण हो गया।

जेल के कष्टों और खराब भोजन के कारण इनका २७ एप्रिल, १९३९ को स्वर्गवास हो गया। जेल के कर्मचारी इनके निधन के समाचार को छिपाना चाहते थे, किन्तु हैदराबाद के आर्यसमाजियों को जब इसका पता लगा तो उन्होंने जेल के अधिकारियों से इनका शव देने की याचना की। आर्यसमाज हैदराबाद ने अम्बरपेठ की श्मशान भूमि में नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों की उपस्थिति में वैदिक पद्धति से इस तपस्वी आर्य संन्यासी की अन्त्येष्टि की।

(११) **ब्रह्मचारी रामनाथ**—इनका जन्म-स्थान अहमदाबाद के निकट असारबा नामक कस्बा है। इनके पिता ने अपने सुधारक विचारों के कारण अपने पुत्र को गुजरात के सूपा गुरुकुल में शिक्षा के लिए प्रविष्ट कराया। बचपन से ही उनमें सेवा की प्रबल भावना थी। १९३५ की गरमी की छुट्टियों में जब वे अपने घर आये थे, तो उन्हें बोरसद ताल्लुके में प्लेग की महामारी फैलने की सूचना मिली। वह अपनी बहिन के साथ वहाँ जाकर रुग्ण व्यक्तियों की बहुत दिनों तक सेवा करते रहे। गुरुकुल सूपा से १० वर्ष की शिक्षा सम्पन्न करने के बाद वह उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए।

इसी बीच में हैदराबाद-सत्याग्रह शुरू होने पर महात्मा नारायण स्वामी ने गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों को जब सत्याग्रह के लिए आमन्त्रित किया तो ब्रह्मचारी रामनाथ ने तुरन्त इसके लिए अपना नाम लिखवाया और हैदराबाद में सत्याग्रह करने पर इन्हें हैदराबाद तथा वारंगल के कारागारों में रखा गया। यहाँ दी जानेवाली सभी

यन्त्रणाओं और मारपीट को उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सहन किया। किन्तु इससे इनका शरीर पूरी तरह जर्जर हो गया। जेल से मुक्त होने पर घर आकर वह ज्वरग्रस्त हो गये और इसी बीमारी में दो महीने बाद ३ सितम्बर, १९३९ को उनका स्वर्गवास हो गया।

(१२) **श्री छोटेलाल**—आप अलालपुर गाँव जिला मैनपुरी (उत्तरप्रदेश) निवासी थे। आपको बचपन से साधु-संन्यासियों की सेवा, भजन-पूजन और रामायण के पाठ में अत्यधिक अभिरुचि थी। एक आर्य सज्जन कुँवर हरिभजनसिंह के प्रभाव से आप आर्य-समाजी बने और आपने 'सत्यार्थप्रकाश' का नियमित स्वाध्याय आरम्भ किया। इससे आपको वैदिक संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान प्राप्त हुआ। आपने अपने गाँव के तथा पड़ोसी गाँवों के जाटव परिवारों को ईसाई होने से बचाया और ईसाई बने जाटवों को शुद्ध किया।

हैदराबाद-सत्याग्रह शुरू होने पर आप राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री की स्पेशल ट्रेन में सत्याग्रह के लिए हैदराबाद गये। २२-४-३९ को सत्याग्रह करके वन्दी हुए। २ मई को आप जेल में बीमार पड़े। बीमारी की दशा में कड़ी धूप में काम करने से आपको लू लग गयी और बेहोश होकर गिर पड़े। इसके बाद आपकी हालत बिगड़ती चली गयी और ३ मई को प्रातः साढ़े सात बजे आपका स्वर्गवास हो गया। जेलवालों ने सत्याग्रहियों की सहायता से आपका अन्त्येष्टि संस्कार किया। निजाम सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाल-कर इनकी मृत्यु के बारे में अपने को निर्दोष सिद्ध करने का यत्न किया, किन्तु वह यह अस्वीकार नहीं कर सकी कि इनकी उचित चिकित्सा नहीं हुई थी, सत्याग्रहियों को इनकी सेवा करने की आज्ञा नहीं दी गयी और बीमारी में भी इनसे कड़ी धूप में काम लिया गया।

सत्याग्रह समाप्त होने के बाद पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री इनकी माता से मिलने गाँव में गये। उन्हें देखकर जब माता रुदन करने लगीं और पण्डित जी ने उन्हें धीरज बँधाया तो वह कहने लगीं—"मैं इसलिए नहीं रोती हूँ कि मेरा पुत्र धर्म-युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ है। मैं इसलिए रो रही हूँ कि मेरा और कोई पुत्र नहीं है, यदि पुनः सत्याग्रह हुआ तब मैं अपना कौन-सा पुत्र भेजूँगी? यही मेरे रोने का कारण है।" सार्वदेशिक सभा ने इनकी वृद्धा माता और बहिन को निर्वाह के लिए कई वर्ष तक पेंशन की व्यवस्था की।

(१३) **श्री बदनसिंह**—आपका जन्म मुजफ्फराबाद जिला सहारनपुर में जुलाई १९२१ में हुआ था। आपका परिवार पौराणिक और मूर्तिपूजक था। जब आप स्थानीय सरकारी स्कूल में विद्याभ्यास के लिए प्रविष्ट हुए तो वहाँ के शिक्षक श्री शेरसिंह के सम्पर्क में आकर आर्यसमाजी बने। १९३९ में जब हैदराबाद में आर्य सत्याग्रह के लिए धर्म पर प्राण देने वाले वीरों का आह्वान किया गया तो आप उसके लिए झट तैयार हो गये। इनके पिता यद्यपि रुग्ण थे, फिर भी उन्होंने अपने १८ वर्षीय इकलौते बेटे को सहर्ष सत्याग्रह में जाने की अनुमति दी। १७ जून, १९३९ को इन्होंने बेजवाड़ा में सत्याग्रह किया। बन्दी बनाकर उन्हें वारंगल जेल में रखा गया, यहाँ वह आन्त्रज्वर से पीड़ित हुए और इसी रोग से २४ अगस्त, १९३९ को उनकी मृत्यु हो गयी।

(१४) **ठाकुर मलखानसिंह**—आप रुड़की जिला सहारनपुर के निकट रामपुर ग्राम के प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न हुए थे। बचपन से आपको आर्यसमाज के कार्य में अभि-रुचि थी। हैदराबाद का सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ होते ही आप उसे सफल बनाने में पूर्णरूप से जुट गये। यह आपके पुरुषार्थ का परिणाम था कि संयुक्त प्रान्त में सहारनपुर

जिले से सबसे अधिक सत्याग्रही भेजे गये। रुड़की से जानेवाले पहले सत्याग्रही जत्थे में आप सम्मिलित हुए। इस समय आपकी आयु लगभग ३० वर्ष थी। आपने पाँचवें सर्वाधिकारी वेदव्रत वानप्रस्थी के जत्थे में शामिल होकर पुसद केन्द्र से सत्याग्रह किया, नांदेड़ में उनपर मुकदमा चला और एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड मिला। यहाँ से उन्हें चंचलगुड़ा जेल में भेजा गया। कारागार की भीषण यातनाओं से इनका शरीर क्षीण हो गया और १ जुलाई, १९३९ को जेल में ही निधन हो गया। जेल के अधिकारियों ने उनकी मृत्यु के समाचार को वहुत समय तक छिपाकर रखा और जेल की श्मशानभूमि में ही उनका दाह-संस्कार कर दिया।

(१५) **ब्रह्मचारी दयानन्द**—आपका जन्म-स्थान हरदोई जिले का सुरसा ग्राम है। गाँव की पाठशाला में पढ़ने के बाद आर्य गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रविष्ट हुए और यहाँ से मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद २ वर्ष तक नित्यानन्द वेद विद्यालय काशी में न्यायदर्शन का अध्ययन करते रहे। हैदराबाद-सत्याग्रह शुरू होने पर ये ज्वालापुर महाविद्यालय के तीसरे जत्थे में सम्मिलित हुए। २ जून, १९३९ को सत्याग्रह करने के बाद बन्दी बना लिये गये। आपको २ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड मिला। ब्रह्मचारी दयानन्द यद्यपि बड़े हट्टे-कट्टे और वलिष्ठ थे, किन्तु जेल की यन्त्रणाओं और बुरे भोजन के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। सत्याग्रह की समाप्ति पर वे अतिसार से इतने कृश हो गये थे कि उनको पहचानना भी कठिन था। इसी बीमारी से ९ मार्च, १९४० को उनका स्वर्गवास हो गया।

(१६) **श्री नन्नूसिंह**—आप बुन्देलखण्ड के निवासी थे। अमरावती में मजदूरी करके निर्वाह करते थे। हैदराबाद-सत्याग्रह-आन्दोलन के समाचार सुनकर इन्होंने अमरावती से नाना सांहब भट्ट वकील के साथ सत्याग्रह किया और बन्दी होने पर चंचलगुड़ा जेल में रखे गये। यहाँ बीमार होने पर २९-५-३९ को उनकी मृत्यु हो गयी। उनका शव जेल के अधिकारियों ने छिपाकर जला दिया। यह बताया जाता है कि जब ये जेल में नल पर नहा रहे थे तो नहाते-नहाते किसी जेल-कर्मचारी ने नल बन्द कर दिया। जब इन्होंने नल खोलने को कहा तो उसने इनके सिर पर जोर से एक लाठी मार दी, जिससे वे अचेत हो गये। यहाँ से उठाकर उन्हें चिकित्सालय भेज दिया गया। लाठी का घातक प्रहार उनके स्वर्गवास का कारण बना।

(१७) **श्री फकीरचन्द**—इनका जन्म सेरधा गाँव तहसील कैथल, जिला करनाल में हुआ था। आप चर्मकार जाति के कट्टर वैदिक धर्मी थे। आर्य-भाषा का आपने बचपन से ही अच्छा अभ्यास किया था। २२ वर्ष की आयु में आपने छठे सर्वाधिकारी महाशय कृष्ण के साथ ५ जून को औरंगाबाद में सत्याग्रह किया और बन्दी हुए। जेल में आपको भीषण उदरशूल हुआ। इसकी चिकित्सा के लिए सिविल हस्पताल में जब ३० जून को इनका ऑपरेशन किया गया तो उसके बाद समुचित देखभाल न होने से १ जुलाई को इनका स्वर्गवास हो गया। सार्वदेशिक सभा ने इनके परिवार के लिए पेंशन की व्यवस्था की।

(१८) **श्री बैजनाथ**—आप चम्पारण जिले के नरकटियागंज के निवासी थे। इनमें बचपन से ही धार्मिक-संस्कार बड़े प्रबल थे। १९ वर्ष की आयु में ही आप नवविवाहिता पत्नी तथा घरवालों की परवाह न करते हुए सत्याग्रह में सम्मिलित हुए। जेल

में ही बीमार पड़ गये। जेल से मुक्त होने के बाद बिहार के बेतिया अस्पताल में आपका २५ जून, १९३९ को स्वर्गवास हो गया। आपके पिता ने अपने बलिदानी पुत्र की स्मृति में नरकटियागंज में एक धर्मशाला का निर्माण कराया है।

(१९) पाण्डुरंग—आप उस्मानाबाद के निवासी थे। आपने २२ वर्ष की आयु में धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह किया। गुलबर्गा जेल में उन्हें इन्फ्लुएन्जा हुआ। उचित चिकित्सा न होने के कारण उनकी हालत बिगड़ती चली गयी और २७ मई, १९३९ को उनका स्वर्गवास हो गया।

(२०) लक्ष्मणराव—हैदराबाद जेल में २ अगस्त, १९२९ को आपका देहावसान हुआ।

(२१) महादेव—ये तिवाड़ा के रहनेवाले थे। गुलबर्गा में सत्याग्रह के कारण बन्दी बनाये गये थे। जेल के अत्याचारों से १९३९ ईसवी में दिवंगत हुए।

(२२) श्री गोविन्दराव—आप निरंजा जिला बीदर के रहने वाले थे, सत्याग्रह के कारण जेल गये, किन्तु वहाँ के अत्याचारों के कारण आपका देहावसान हो गया।

(२३) शान्तिप्रकाश—आप कलानौर जिला गुरुदासपुर (पंजाब) के रहनेवाले थे। आपकी शिक्षा पिताजी की दिल्ली बदली होने पर दयानन्द हाई स्कूल दिल्ली में हुई। यहाँ आपको आर्यसमाज के उत्सवों, सत्संगों में भाग लेने और भजन गाने का शौक हुआ। आठवीं पास करने के बाद आप बिजली का काम सीखने के लिए बम्बई चले गये। वहाँ जब समाचार-पत्रों में आपने हैदराबाद में हिन्दुओं पर अत्याचार और सत्याग्रह की खबरें पढ़ीं तो आर्यसमाज बम्बई के जत्थे में सम्मिलित होकर शोलापुर पहुँच गये। आपने गुञ्जौटी में सत्याग्रह किया और आपको उस्मानाबाद जेल में भेजा गया। इनपर माफी माँगने के लिए काफी दबाव डाला गया। जब इन्होंने ऐसा करने से इन्कार किया तो इन्हें भीषण यातनायें दी गयीं। कड़ी धूप में सख्त काम करते हुए ये बेहोश हो गये। होश आने पर इन्हें पुनः माफी माँगने के लिए कहा गया, किन्तु ये इसके लिए तैयार नहीं हुए और जेल में ही इनकी मृत्यु हो गयी। जब इनके पिता से पुत्र की मृत्यु पर सहानुभूति प्रकट करने के लिए कुछ व्यक्ति मिले तो उन्होंने उत्तर दिया—"शान्ति की मृत्यु शोक प्रकट करने के लिए नहीं है। उसका शरीर धर्म पर बलिदान हुआ है, अतः मुझे अपने पुत्र की मृत्यु पर गर्व है।"

(२४) चौधरी भानुराम—आप १८८९ ईसवी में ग्राम मालिकपुर जिला हिसार के सम्पन्न परिवार में उत्पन्न हुए थे। आप बचपन से दृढ़ आर्यसमाजी विचार रखते थे। १९३४ में आपने अपने गाँव में दलितोद्धार का तथा अछूतों को कुओं पर चढ़ाने का सराहनीय कार्य किया। हैदराबाद-सत्याग्रह शुरू होते ही आपने सत्याग्रह के लिए सबसे पहले अपना नाम दिया; अपने गाँव से सत्याग्रही जत्था तैयार किया और छठे सर्वाधिकारी महाशय कृष्ण के साथ औरंगाबाद में सत्याग्रह किया। जेल की यातनाओं से आप बीमार पड़े। समुचित चिकित्सा न होने से रोग बढ़ता गया। आप जेल से बाहर नहीं आना चाहते थे, किन्तु जेल के अधिकारियों ने आपकी दशा अधिक गम्भीर होने पर आपको जेल के फाटक से बाहर कर दिया। मनमाड पहुँचकर २८-७-३९ को आप स्वर्गवासी हुए।

(२५) भक्त अरूड़ामल—आप सरगोधा (पश्चिमी पाकिस्तान) के निवासी थे। आपको बचपन से सबकी सेवा करने का शौक था। इसीलिए जनता ने आपको भक्त-

जी का नाम दिया था। १६२० में कुँवर सुखलाल के भजन सुनकर इनमें आर्यसमाज तथा देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई। हैदराबाद में सत्याग्रह शुरू होने पर आपने तीसरे सर्वाधिकारी महाशय खुशहालचन्द खुर्सन्द के साथ २२ मार्च को गुलबर्गा में सत्याग्रह किया और जेल गये। जेल के कुपथ्य और यातनाओं से आप अतीव रुग्ण हो गये थे। कुछ समय तक इलाज करने पर भी जब ये ठीक नहीं हुए तो जेल के अधिकारियों ने इनकी इच्छा के विरुद्ध इन्हें जबर्दस्ती जेल से रिहा कर दिया। बाहर आने पर इन्होंने स्वामी ओमानन्द से कहा—"मैं धर्म की वेदी पर प्राणों का उपहार प्रस्तुत करना चाहता हूँ। पता नहीं मुझमें क्या कमी है कि ईश्वर मेरी भेंट नहीं स्वीकार करता है! निजाम-सरकार ने मुझे बलात् जेल से बाहर कर दिया है। रुग्ण होने के कारण आप पुनः जेल जाने की आज्ञा नहीं देते हैं। समझ में नहीं आता है कि मैं क्या करूँ!" इन्हें जब सत्याग्रह-समिति ने समझा-बुझाकर मातृभूमि लौटने के लिए विवश किया तो घर पहुँचने से पहले लाहौर में १ अगस्त, १६३६ को ये स्वर्गवासी हुए।

(२६) श्री रतिराम—आप गाँव साँपला जिला रोहतक के रहनेवाले थे। बचपन से बड़े साधु प्रकृति के पुरुष थे। आर्यसमाज और कांग्रेस में आपकी गहरी निष्ठा और भक्ति थी। १६३० में आप सविनय अवज्ञा-आन्दोलन में जेल गये थे और हैदराबाद-सत्याग्रह शुरू होने पर आपने इसमें भी बड़े उत्साह से भाग लिया। जेल में आप बीमार पड़ गये और आपकी हालत निरन्तर बिगड़ती चली गयी। सत्याग्रह समाप्त होने पर आप छोड़ दिये गये, किन्तु जेल में लगी बीमारी से आपका २५-८-३६ को स्वर्गवास हो गया।

(२७-२८) श्री गोविन्दराव लक्ष्मणराव नलगीर तथा श्री गोविन्दराव नलन्ना, आप दोनों ने सत्याग्रह-संग्राम में भाग लिया और इसी में अपने प्राणों की आहुति दे दी। इनका कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त धर्मवीरों के बलिदान, सत्याग्रही व्यक्तियों की जेल-यात्रा और तपस्या तथा आर्यजनता के सहयोग ने हैदराबाद के धर्मयुद्ध को सफल बनाया। आर्यबन्धु हैदराबाद में धार्मिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सदा इनके आभारी रहेंगे। सत्याग्रह के समय सत्याग्रहियों ने बड़े धैर्य से काम लिया; सहिष्णुता, शान्ति अहिंसावृत्ति का पूरा पालन किया। राज्य की पुलिस तथा धर्मान्ध मुसलमानों की ओर से उत्तेजित किये जाने पर भी अपने संयम को बनाये रखा। इसी नैतिक महत्ता और श्रेष्ठता के कारण आर्यसमाज को सफलता मिली और उसने अहिंसात्मक सत्याग्रह के इतिहास में एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया। आर्यसमाज के इतिहास में एक नूतन स्वर्णिम अध्याय की वृद्धि की। यह अगले सत्याग्रहों और संघर्षों के लिए अजस्र प्रेरणा का स्रोत बन गया। इसने आर्यसमाज में नूतन प्राणसंचार किया। हैदराबाद में आर्यसमाज के कार्य को स्थायी बनाने के लिए विस्तृत योजनायें बनायी गयीं। इनका आगे यथास्थान परिचय दिया जायेगा।

तेईसवाँ अध्याय

सत्यार्थप्रकाश पर आक्रमण

(१) सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध आन्दोलन

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में विविध मतों तथा सम्प्रदायों के असत्य मन्तव्यों तथा अन्धविश्वासों का जो खण्डन किया गया था, उससे उनके अनुयायियों का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही था। यही कारण है, कि उन द्वारा इस ग्रन्थ के विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप किये जाने लगे। सन् १६०२ में स्वामी आलाराम ने एक पुस्तिका लिखकर यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया, कि महर्षि दयानन्द राजद्रोही थे, और उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में जिस ढंग से राजधर्म का निरूपण किया है, वह स्पष्ट रूप से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह है। आर्यसमाज भी उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चल रहा है, और वह भी एक राजद्रोही संस्था है। स्वामी आलाराम पहले आर्यसमाज के उपदेशक थे। पौराणिकों के विरुद्ध उन्होंने अनेक पुस्तिकाएँ लिखी थीं, और पंजाब में कुछ आर्यसमाजों की स्थापना भी की थी। पर वह देर तक आर्यसमाज में नहीं रहे, और सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी वन गये। वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के विरुद्ध प्रचार करने लगे, और आर्यसमाज पर अनेकविध आक्षेप करने में प्रवृत्त हो गये। महर्षि तथा आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए स्वामी आलाराम ने जो पुस्तिका लिखी थी, उसे उन्होंने राजपदाधिकारियों के पास भेज दिया। इस पर आर्यसमाज की ओर से उस पुस्तिका की स्थापनाओं को असत्य व निराधार सिद्ध करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, और अन्त में यह मामला इलाहावाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर हैरीसन के कोर्ट में पेश किया गया। दोनों ओर से वहुत-से साक्षी व तर्क प्रस्तुत किये गये, और सत्यार्थप्रकाश से उन उद्धरणों को पेश किया गया, जिनके आधार पर महर्षि तथा आर्यसमाज पर राजद्रोह का अभियोग लगाया जाता था। मजिस्ट्रेट ने इन उद्धरणों पर विचार कर जो फैसला दिया, वह इस प्रकार था—"इन उद्धरणों में कहीं भी विद्रोह की उत्तेजना के कोई चिह्न नहीं मिलते···दयानन्द की शिक्षाओं का मुख्य लक्ष्य मुझे यह प्रतीत होता है, कि ऐसे सुधारों के लिए प्रेरणा दी जाय जिनसे कि अन्ततोगत्वा देश का शासन देश के वासी स्वयं करने के योग्य हो जाएँ।··· इनके व्याख्यानों और प्रार्थनाओं का यह आशय नहीं था, कि विदेशी सरकार को तत्काल उखाड़कर फेंक दिया जाय, अपितु यह था कि हिन्दुओं में ऐसे सुधार किये जाएँ जो उन्हें भविष्य में स्वशासन के योग्य बना सकें।···दयानन्द के लेखों में न हथियार उठाने की प्रेरणा है और न युद्ध का बिगुल बजाया गया है। गोरक्षा की ओर संकेत भी मुझे अपने-आप में राजद्रोह के उत्तेजक प्रतीत नहीं होते।" मिस्टर हैरीसन ने अपने

फैसले में स्वामी आलाराम के आक्षेपों को न केवल सर्वथा निर्मूल ही बताया, अपितु उनसे एक वर्ष के लिए नेकचलनी की जमानत लिए जाने का भी आदेश दिया।

'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' (लाहौर) के १६ जून, १९०७ के अंक में किसी व्यक्ति ने 'एक भारतीय' के नाम से एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें सत्यार्थप्रकाश के उद्धरणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि आर्यसमाज की स्थापना विदेशी शासन का अन्त कर देने के प्रयोजन से ही की गयी थी, और इस संस्था द्वारा अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न की जाती है। लेखक ने इस बात का भी संकेत किया था, कि उस समय जो उग्र राजनैतिक आन्दोलन चल रहे थे, उनके लिए स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज ही उत्तरदायी है। यह सही है, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में अनेक उग्र व क्रान्तिकारी आन्दोलनों का प्रारम्भ हो गया था। सन् १९०५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिष्य पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लण्डन में 'इण्डिया होमरूल सोसायटी' की स्थापना की थी, और पंजाब में जिन व्यक्तियों द्वारा उग्र आन्दोलनों का संचालन किया जा रहा था, वे सब प्रायः आर्यसमाजी थे। सन् १९०७ में लाला लाजपतराय को राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तार कर माण्डले (बरमा) में नजरबन्द कर दिया गया था, और दो वर्ष पश्चात् सन् १९०९ में पटियाला में बहुत-से आर्यसमाजियों को गिरफ्तार कर उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया था। आर्यसमाज के विरोधियों का कहना था कि अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध देश में जो भावना है, उसकी प्रेरणा महर्षि दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों द्वारा प्रदान की जाती है। ये ग्रन्थ राजद्रोह के विचारों से भरे हुए हैं। यही कारण है, जो प्रत्येक आर्यसमाजी को स्वतःसिद्ध राजद्रोही माना जा सकता है। 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' के लेख के विरोध में महात्मा मुंशीराम और श्री गोकुलचन्द द्वारा लेख लिखे गये, जिनमें युक्तिपूर्वक उन आक्षेपों का उत्तर दिया गया, जो 'एक भारतीय' ने अपने लेख में आर्यसमाज पर लगाये थे। सत्यार्थप्रकाश का एक उद्धरण देते हुए 'एक भारतीय' ने लिखा था, कि इसमें राज्य करने का अधिकार केवल क्षत्रियों का है यह प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि क्षत्रिय भारत में ही हैं, इंग्लैण्ड में नहीं, अतः अंग्रेज भारत में कैसे राज्य कर सकते हैं? इसका उत्तर महात्मा मुंशीराम ने यह दिया था, कि दयानन्द ने जिन क्षत्रियों को राज्य-शासन का अधिकारी माना है, वे पंजाब के 'खत्री' या राजस्थान के राजपूत क्षत्रिय न होकर वे व्यक्ति हैं जिनमें क्षात्रधर्म के गुण-कर्म हों। ऐसे व्यक्ति किसी भी देश में हो सकते हैं। क्षत्रियत्व का आधार क्षात्र धर्म है। इस प्रकार के लेखों के कारण 'एक भारतीय' द्वारा महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के विरुद्ध जो आवाज उठायी गयी थी, उसका प्रभाव बहुत-कुछ कम हो गया।

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में शुद्धि-आन्दोलन जिस प्रकार जोर पकड़ने लगा था, उससे क्षुब्ध होकर कतिपय मुसलमानों ने सत्यार्थ-प्रकाश और आर्यसमाज पर साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने का आरोप लगाना प्रारम्भ कर दिया। उनका कहना था, कि सत्यार्थप्रकाश के अनेक अंश इस प्रकार के हैं जिनसे अन्य मतों व सम्प्रदायों के अनुयायियों के हृदयों पर आघात पहुँचता है। अतः सरकार को उसपर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। कांग्रेस और खिलाफत के प्रसिद्ध नेता मौलाना मुहम्मद अली का ध्यान मुसलमानों के इस आन्दोलन की ओर गया, और उन्होंने अपने

दैनिक पत्र 'हमदर्द' में इस आशय का एक लेख प्रकाशित किया, कि सत्यार्थप्रकाश आर्यों के गुरु स्वामी दयानन्द की मुख्य कृति है। आर्यों की इस ग्रन्थ के प्रति असाधारण भक्ति है। सत्यार्थप्रकाश के प्रचार पर प्रतिवन्ध लगा देने से जो भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी, उसपर नियन्त्रण पा सकना किसी भी सरकार के लिए सुगम नहीं होगा। फिर विना किसी न्याय्य कारण के आर्यसमाज जैसी सशक्त संस्था को सरकार अपना विरोधी वनाये भी क्यों? मुसलिम समाचारपत्रों में सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध जो आन्दोलन किया जा रहा है, उससे एक बहुत वड़ी हानि यह हुई है कि हिन्दू समाचारपत्र यह आरोप लगाने लगे हैं कि झगड़े की जड़ वस्तुतः कुरान है, अतः उसके प्रचार पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। हिन्दुओं में जो जागृति इस समय उत्पन्न हो गयी थी, उसे दृष्टि में रखकर मुहम्मदअली सदृश मुसलिम नेता भी यह वांछनीय नहीं समझते थे कि सत्यार्थप्रकाश पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाय। क्योंकि इस प्रश्न पर सब मुसलमान भी एकमत नहीं थे, अतः शुद्धि और हिन्दू संगठन के प्रवल आन्दोलन के दिनों में सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। मुसलमानों द्वारा ऐसा न कर सकने का एक कारण यह था, कि आर्यसमाज भी इस विषय में सजग हो गया था। ५ सितम्वर, १९२६ को सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने यह निश्चय किया था, कि निम्नलिखित प्रतिज्ञापत्र पर आर्य नर-नारियों के हस्ताक्षर कराये जाएँ—"सत्यार्थप्रकाश की जब्ती कराने तथा आर्यों के अन्य अधिकारों को छीनने का जो प्रयत्न हो रहा है, उसे दृष्टि में रखते हुए मैं अपने इस हार्दिक संकल्प की घोषणा करता हूँ, कि मैं सदा सत्यार्थप्रकाश को अपने पास रखूँगा और दूसरों में भी उसका प्रचार करूँगा और यदि कोई शक्ति मुझसे उसे या किसी धार्मिक अधिकार को छीनना चाहेगी, हर प्रकार के कष्ट सहन करके भी उनकी रक्षा करूँगा और जव रक्षा के कार्य के लिए मुझे सार्वदेशिक सभा का सन्देश पहुँचेगा, तव विना विलम्व के उपस्थित हो जाऊँगा।" इस प्रतिज्ञा-पत्र पर हजारों नर-नारियों ने हस्ताक्षर किये, और उन्हें सार्वदेशिक सभा को प्रेषित किया।

हैदरावाद-सत्याग्रह के समय अनेक मुसलिम समाचारपत्रों द्वारा यह प्रश्न फिर उठाया गया, कि सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। पर उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली, क्योंकि सत्याग्रह में हैदराबाद रियासत को नीचा देखना पड़ा था और आर्यसमाज की विजय हुई थी।

(२) सिन्ध सरकार का सत्यार्थप्रकाश पर आक्रमण

सन् १९३५ में भारत के शासन में जो सुधार किये गये थे, उनके परिणामस्वरूप प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हो गयी थी। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रान्त आदि जिन प्रान्तों की विधानसभाओं में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ था, उनमें कांग्रेस-पार्टी के मन्त्रिमण्डल कायम हो गये थे। सिन्ध प्रान्त की विधानसभा के ६० सदस्यों में केवल ७ कांग्रेस के थे। वहाँ मुसलिम लीग का बहुमत था। अतः उसी ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लिया था। सिन्ध की लीगी सरकार का ध्यान सत्यार्थप्रकाश की ओर गया, और २३ जून, १९४३ को यह समाचार प्रकाशित हुआ कि, "नयी मिनिस्टरी के पास इस आशय के अनेक प्रतिवाद-पत्र पहुँचे हैं कि सत्यार्थप्रकाश नाम की किताब के विरुद्ध कार्यवाही की जाय। सरकार इस मामले पर गम्भीर रूप से विचार कर रही है। शीघ्र

ही किसी निश्चय की घोषणा की जायेगी।" इस समाचार से आर्य-जगत् में सनसनी और बेचैनी उत्पन्न हो गयी। २९ जून को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से सिन्ध के चीफ मिनिस्टर के नाम निम्नलिखित तार भेजा गया—"यह जानकर बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ कि आपका मन्त्रिमण्डल आर्यों के सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है। यदि ऐसा कोई निश्चय किया गया, तो सब आर्य हैदराबाद रियासत की भाँति स्वाधीनता के लिए हर प्रकार की कुर्बानी करने को तैयार होंगे। कृपया ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण कदम न उठाइये। अन्यथा प्रबल संघर्ष का सामना करना पड़ेगा।" सार्वदेशिक सभा के समान प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं तथा बहुत-से आर्यसमाजों की ओर से भी इसी प्रकार की चेतावनी सिन्ध-सरकार को दे दी गयी। इसका यह परिणाम हुआ, कि सिन्ध सरकार सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कार्यवाही करने का साहस नहीं कर सकी, और ८ जुलाई, १९४३ को उसकी ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया था, कि सरकार का सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कार्यवाही करने का कोई इरादा नहीं है। आर्य-जगत् को इस विज्ञप्ति से सन्तोष हुआ, और सार्वदेशिक सभा ने यह तार भेजा—"सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कार्यवाही न करने के आपके बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।"

पर मामला यहाँ समाप्त नहीं हो गया। दिसम्बर, १९४३ में ऑल इण्डिया मुसलिम लीग का वार्षिक अधिवेशन कराची में हुआ, जिसमें सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—"ऑल इण्डिया मुसलिम लीग का यह अधिवेशन केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता है कि स्वामी दयानन्द की सत्यार्थप्रकाश नाम की पुस्तक के कुछ अध्याय हजरत मुहम्मद तथा अन्य धर्म-संस्थापकों के विरुद्ध आपत्तिपूर्ण, अपमानजनक तथा भड़कानेवाले आक्षेप से पूर्ण हैं। यह अधिवेशन उक्त सरकारों से माँग करता है, कि वे सत्यार्थप्रकाश के उन अध्यायों को गैर-कानूनी घोषित करें। साथ ही, उसकी यह भी माँग है कि उन अध्यायों के प्रकाशकों पर इण्डियन पीनल कोड की सम्बद्ध धाराओं के अनुसार मुकदमे चलाये जाएँ, ताकि इस प्रकार के साहित्य का प्रकाशन भविष्य में बन्द हो जाय।" मुसलिम-लीग के इस प्रस्ताव से आर्य-जगत् में बहुत तीव्र प्रतिक्रिया हुई। सिन्ध की आर्य प्रतिनिधि-सभा द्वारा तुरन्त 'सिन्ध सत्यार्थप्रकाश कमेटी' नाम की एक समिति का निर्माण कर दिया गया, जिसने मुसलिम लीग का क्रियात्मक उत्तर देने के लिए यह निश्चय किया कि सिन्धी भाषा के सत्यार्थप्रकाश का नया संस्करण शीघ्र प्रकाशित किया जाय, ताकि सिन्ध के प्रत्येक हिन्दू के पास उसकी एक-एक प्रति अवश्य रहे। अन्य प्रान्तों की प्रतिनिधि-सभाओं और आर्यसभाओं द्वारा इस कार्य के लिए उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की गयी, और सत्यार्थप्रकाश के सिन्धी अनुवाद का पुनः मुद्रण प्रारम्भ हो गया। इस ग्रन्थ के विरुद्ध मुसलिम लीग द्वारा स्वीकृत किये गये प्रस्ताव के कारण सरकार की सम्भावित कार्यवाही का प्रतिरोध करने के लिए जनता में इतना जोश पैदा हो गया था, कि बहुत-से लोग सत्यार्थप्रकाश को हर समय अपने साथ रखने लगे थे, और जब वे घर से बाहर जाते, तब भी थैले में डालकर उसे साथ ले जाते थे।

मुसलिम लीग के प्रस्ताव के कारण सिन्ध में जो स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, सार्वदेशिक सभा के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। उस द्वारा तुरन्त

पण्डित शिवचन्द को सिन्ध भेजा गया ताकि वहाँ जाकर वह स्थिति का अध्ययन करें और सिन्ध सरकार को भी इस बात की चेतावनी दे दें कि वह जल्दबाजी में कोई गलत पग न उठा ले। साथ ही, लीग के प्रस्ताव के उत्तर में सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया—"सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा को आश्चर्य है कि मुसलिम लीग ने, जिसमें मुसलमानों का केवल एक भाग सम्मिलित है और जो एक राजनैतिक संस्था होने का दावा करती है, अपने कार्य-क्षेत्र से बाहर जाकर यह प्रस्ताव पास करना उचित समझा कि भारत सरकार सत्यार्थप्रकाश के कुछ भागों को जब्त कर ले क्योंकि उनमें अन्य धर्म-संस्थापकों, विशेषतः इस्लाम के संस्थापक के विरुद्ध आक्षेप-योग्य और अपमानजनक बातें लिखी हुई हैं। सत्यार्थप्रकाश लाखों आर्यों की धर्म-पुस्तक है और उसने करोड़ों हिन्दुओं के लिए ही नहीं, वरन् भारत तथा विदेशों के निवासियों के लिए भी प्रकाश के स्रोत का कार्य किया है। लगभग ६० वर्ष से सत्यार्थप्रकाश संसार के सामने है और भारत की समस्त भाषाओं और यूरोप की कई मुख्य-मुख्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और कहीं से भी कभी इसके किसी भाग की जब्ती का प्रश्न गम्भीरतापूर्वक उपस्थित नहीं किया गया। जिन आर्यों और अन्य व्यक्तियों ने सत्यार्थ-प्रकाश से प्रकाश ग्रहण किया है, वे सब मतान्ध मुसलमानों द्वारा उत्तेजित होने पर भी इस लम्बे समय में अहिंसात्मक रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के मान्य लेखक जिस उदात्त भावना से प्रेरित थे और जो उनके अनुयायियों को प्रेरित करती रहती है वह यह है कि संसार में शान्तिपूर्वक धार्मिक और सामाजिक सुधार का कार्य किया जाय। सत्यार्थप्रकाश के मान्य लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ग्रन्थ की भूमिका में और अन्य मतों की आलोचना-विषयक समुल्लासों की अनुभूमिकाओं में स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि उनका उद्देश्य न उन मतों के संस्थापकों का अपमान करना है और न उनके अनु-यायियों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना है, अपितु उनका उद्देश्य सत्य की खोज करना-कराना है, जो मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। सभा का यह भी विश्वास है कि इस्लाम और अन्य मतों के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश में प्रकट की हुई सम्मति उचित आलोचना की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती। इसके विपरीत कुरान और हदीसों में कई ऐसे वाक्य हैं जो काफिरों अथवा गैर-मुसलिमों के विरुद्ध हिंसा का स्पष्ट रूप से प्रचार करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज के कई प्रसिद्ध नेता मुसलमानों की मतान्धता की बलि चढ़ चुके हैं। इसपर भी आर्यसमाज ने कुरान और हदीसों के ऊपर वर्णित वाक्यों के निकाले जाने की माँग करने का कभी विचार तक नहीं किया। सभा का पूर्ण विश्वास है कि मुसलिम लीग कौंसिल के प्रस्ताव में जिस अनुचित और सर्वथा अनावश्यक कार्यवाही का निर्देश किया गया है, भारत सरकार उस कार्यवाही को करने की भूल नहीं करेगी। अन्त में यह सभा अपनी पूर्व-घोषणा को बलपूर्वक पुनः दोहराना चाहती है कि यदि दुर्भाग्यवश भारत सरकार ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कोई निश्चय किया, तो आर्य और करोड़ों हिन्दू, जिनमें सेना की सेवा में लगे हुए जाट व अन्य भी सम्मिलित हैं, अपने इस पवित्र धर्मग्रन्थये के प्रत्क शब्द की रक्षा के लिए सब प्रकार के त्याग और बलिदानपूर्वक उसका विरोध करने में विवश होंगे।" इस प्रस्ताव के साथ सार्वदेशिक सभा ने यह भी निश्चय किया, कि इस प्रसंग में सार्वदेशिक आर्य महा-सम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन दिल्ली में आयोजित किया जाय।

(३) आर्य महासम्मेलन, दिल्ली

सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा के निश्चय के अनुसार दिल्ली में आर्य महासम्मेलन के विशेष अधिवेशन की तैयारी प्रारम्भ कर दी गयी। दिल्ली के प्रायः सब आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों ने एकत्र होकर यह निश्चय किया कि शिवरात्रि के अवसर पर २०,२१, २२ फरवरी (सन् १९४४) को आर्य महासम्मेलन किया जाय और उसके लिए स्वागत-समिति का विधिपूर्वक निर्माण कर लिया जाय। आर्य जनता में इस सम्मेलन के लिए इतना अधिक उत्साह था, कि बिना किसी विशेष प्रयत्न के १४०० के लगभग व्यक्ति स्वागत-समिति के सदस्य बन गये। २१ दिसम्बर, सन् १९४३ को स्वागत-समिति की प्रथम बैठक हुई जिसमें लाला नारायणदत्त को स्वागताध्यक्ष (स्वागत-समिति का प्रधान) चुना गया, और प्रोफेसर सुधाकर को मन्त्री। महासम्मेलन की समुचित व्यवस्था तथा प्रबन्ध के लिए अनेक उपसमितियाँ बना दी गयीं। रुग्ण होने के कारण प्रोफेसर सुधाकर देर तक समिति के महामन्त्री का कार्य नहीं कर सके। उन्होंने त्यागपत्र दे दिया, और श्री देशराज चौधरी को उनके स्थान पर स्वागत-मन्त्री चुन लिया गया। सम्मेलन के प्रतिनिधियों के निवास तथा पण्डाल के निर्माण के कार्य बावा मिलखासिंह के सुपुर्द किये गये थे, जिन्होंने इनके सम्पादन में अनुपम उत्साह तथा क्षमता प्रदर्शित की। पण्डाल में बीस हजार व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था की गयी थी।

महासम्मेलन के अध्यक्ष डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी थे। २० फरवरी को उनका जुलूस बड़ी धूमधाम से निकाला गया। उल्लेखनीय बात यह थी, कि आर्यसमाजियों के अतिरिक्त प्रायः सभी हिन्दू सभाओं और संस्थाओं ने इस जुलूस में भाग लिया था। डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी हिन्दू मात्र के मान्य नेता थे, और हिन्दुओं में नवजीवन का संचार करने तथा उन्हें संगठित करने के लिए वह विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। जुलूस की समाप्ति पर 'ओ३म्' की ध्वजा को फहराते हुए उन्होंने कहा था—"यह पताका कपड़े का निरा टुकड़ा नहीं है, अपितु देश, जाति और धर्म का प्रतीक है। हमारा जुलूस निकालना और इतनी भारी संख्या में यहाँ इकट्ठा होना तभी सार्थक होगा यदि सब हिन्दू इस एक पताका के नीचे सब भेदों को भुलाकर कार्य करने को उद्यत हों। इस अधिवेशन में हमें अपनी सब समस्याओं पर विचार करके यह सिद्ध करना है कि हम सब एक हैं।"

महासम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए लाला नारायण दत्त ने अपने प्रारम्भिक भाषण में मुसलिम लीग द्वारा सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध उठाये गये आन्दोलन की विशेष रूप से चर्चा की और यह विश्वास प्रकट किया कि यदि परीक्षा का अवसर आ ही गया, तो आर्य जाति उसमें पूर्णरूप से उत्तीर्ण होगी। महासम्मेलन के अध्यक्ष-पद से डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने जो भाषण दिया, उसमें सत्यार्थप्रकाश-विषयक मुसलिम लीग के आन्दोलन के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार अभिव्यक्त किये गये थे—"आर्यसमाज के अनुयायियों के दृढ़ संगठन को जानते हुए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यदि हमारे धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने का कोई भी दुष्प्रयत्न किया गया, तो उसे परिणाम की चिन्ता किये बिना साहस और संगठन के बल से छिन्न-भिन्न कर दिया जायेगा। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सम्पूर्ण हिन्दू जाति और उसके

सम्प्रदाय, कुछ छोटे-मोटे अवान्तर भेदों के होते हुए भी सत्यार्थप्रकाश पर किये गये आक्रमण को अपने लिए चुनौती समझेंगे और उसका मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए उद्यत हो जायेंगे।"

महासम्मेलन में अनेक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। पर मुख्य प्रस्ताव सत्यार्थ-प्रकाश के सम्बन्ध में था—"अखिल भारतीय आर्य महासम्मेलन का यह अधिवेशन बड़ी गम्भीरता से अनुभव करता है कि मुसलिम लीग की ओर से (जो कि अपने को राज-नैतिक संस्था कहती है) हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का संगठित प्रयत्न किया जा रहा है और सत्यार्थप्रकाश का विरोध इस आन्दोलन का प्रारम्भ मात्र है। सत्यार्थप्रकाश में लाखों मनुष्य वैसी ही श्रद्धा और भक्तिभाव रखते हैं जैसी किसी अन्य धर्मग्रन्थ के प्रति उसके अनुयायियों की होती है। यह ग्रन्थ ७० वर्ष से जनता के समक्ष है। इसका भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद और प्रकाशन हो चुका है और डंके की चोट पर इसका देशभर में प्रचार होता रहा है। बहुसंख्यक आर्यसमाजों के मंच से यह व्याख्यानों का विषय रहा है और सत्संगों में इसका नित्य पाठ होता रहा है, परन्तु देशवासियों के किसी भी भाग की ओर से उसपर कभी आपत्ति नहीं उठायी गयी। यह सम्मेलन घोषणा करता है, कि सत्यार्थप्रकाश में दूसरे मतों या सम्प्रदायों की समा-लोचना के रूप में कोई ऐसी बात नहीं कही गयी, जो अन्य मतावलम्बियों के धर्म-ग्रन्थों में विद्यमान न हो। कहा जाता है कि सत्यार्थप्रकाश का यह विरोध इसलिए है कि इससे मुसलमानों की धार्मिक भावना को आघात पहुँचा है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। इसके पीछे तो राजनैतिक चाल स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। आर्यसमाज सत्यासत्य का निर्णय शास्त्रार्थ द्वारा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहा है, परन्तु आर्यसमाज किसी भी प्रकार यह सहन नहीं कर सकता कि किसी को भी बलात् काट-छाँट करने के प्रयोजन से सत्यार्थप्रकाश की जाँच करने का अधिकार हो। ऐसी जाँच का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि अत्यन्त भीषण आन्तरिक झगड़े उत्पन्न हो जायेंगे और अन्य मतावलम्बियों के धर्म-ग्रन्थों की इसी प्रकार की समीक्षा के लिए भी द्वार खुल जायेगा। इस सम्मेलन को आशा है कि न केवल सभी हिन्दू अपितु अन्य मतावलम्बी भी मुसलिम लीग के इस आन्दोलन के गम्भीर तथा भयावह परिणाम पर पूर्णरूपेण विचार करेंगे। सत्यार्थ-प्रकाश का वर्तमान विरोध केवल आरम्भ मात्र है और हिन्दुओं के तथा अन्य मताव-लम्बियों के धर्म-ग्रन्थों में हस्तक्षेप करने की ओर पहला पग है। सभी पुरुषों का, चाहे वे किसी भी मत, धर्म, सम्प्रदाय या जाति के क्यों न हों, कर्तव्य है कि इस आन्दोलन का दृढ़तापूर्वक एवं संगठित रूपेण तत्काल विरोध किया जाय। यह सम्मेलन स्पष्ट घोषणा करता है, कि सामान्यतः समस्त हिन्दू-जगत् और विशेषतः आर्यसमाज अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए कोई कसर उठा न रखेगा और अपना सर्वस्व त्याग करने के लिए उद्यत रहेगा। इस सम्मेलन की धारणा है कि मुसलिम लीग की माँग का मुख्य उद्देश्य यह है कि सरकार और आर्यसमाज तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य में गहरा विरोध उत्पन्न हो जाय। इस सम्मेलन का विचार है कि मुसलिम लीग अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य विफल होगी। इस सम्मेलन को पूर्ण आशा है कि ब्रिटिश सरकार, जिसकी आरम्भ से ही धार्मिक तटस्थता की निश्चित नीति रही है, मुसलिम लीग के जाल में फँसकर आर्यसमाज के धार्मिक अधिकारों में पक्षपातपूर्ण हस्तक्षेप करना कदापि

स्वीकार न करेगी।"

यह प्रस्ताव पण्डित गंगाप्रसाद एम० ए० ने पेश किया था, और पण्डित इन्द्र-विद्यावाचस्पति द्वारा इसका अनुमोदन किया गया था। पण्डित विजयशंकर, कुँवर चाँद-करण शारदा, श्रीमती अक्षयकुमारी, पण्डित रामचन्द्र देहलवी, पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा, पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री और पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार आदि विद्वानों के अतिरिक्त सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा लाहौर के प्रधानमन्त्री गोस्वामी पं० गणेशदत्त ने भी इस प्रस्ताव के समर्थन में भाषण दिया था। इस प्रस्ताव के पश्चात् महात्मा नारायण स्वामी ने एक अन्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें 'सत्यार्थप्रकाश रक्षा निधि' की स्थापना किये जाने तथा उस के लिए दो लाख रुपये एकत्र करने का निश्चय किया गया था। इस प्रस्ताव का जनता ने अत्यन्त उत्साह के साथ समर्थन किया, और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और अनेक आर्यसमाजों के पदाधिकारियों ने इस निधि के लिए राशियाँ प्रदान करने की प्रतिज्ञा की। उत्तरप्रदेश और पंजाब की प्रतिनिधि सभाओं की ओर से पचास-पचास हजार, राजस्थान तथा बंगाल-असम की प्रतिनिधि सभाओं की ओर से पन्द्रह-पन्द्रह हजार, आर्यकुमार सभा बड़ौदा की ओर से दस हजार और आर्यसमाज अजमेर की ओर से पाँच हजार रुपये दिये जाने की उसी समय घोषणा कर दी गयी थी।

(४) सन्धि सरकार से संघर्ष और आर्यसमाज की विजय

आर्यसमाज को आशा थी, कि आर्य महासम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव को दृष्टि में रखते हुए सरकार सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिवन्ध लगाने का कोई प्रयत्न नहीं करेगी। पर उसकी यह आशा पूरी नहीं हुई। २६ अक्टूबर, १९४४ को सिन्ध प्रान्त की मुसलिम लीगी सरकार द्वारा निम्नलिखित आदेश जारी किया गया—

"सिन्ध सरकार
गृह-विभाग (विशेष)
सिन्ध सचिवालय, कराची, २६ अक्टूबर, १९४४
आर्डर नम्बर एस० डी० ३२१

क्योंकि सिन्ध सरकार सार्वजनिक सुरक्षा के प्रयोजन से और सार्वजनिक सुव्यवस्था की स्थापना के लिए निम्नलिखित आदेश जारी करना आवश्यक समझती है, अतः भारत रक्षा कानून की धारा ४१ की उपधारा १ द्वारा जो अधिकार उसे प्रदत्त हैं, उनके अनुसार वह यह आदेश देती है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित सत्यार्थ-प्रकाश नाम की पुस्तक की कोई भी प्रति तबतक छापी व प्रकाशित नहीं की जा सकेगी जबतक कि उसमें से चौदहवाँ समुल्लास निकाल न दिया गया हो।"

सिन्ध सरकार द्वारा इस आदेश के जारी किये जाने की बात ज्यों ही समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई, आर्यजगत् में सनसनी फैल गयी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से निम्नलिखित तार सिन्ध के गवर्नर के पास भेजा गया—"एसोशिएटेड प्रेस के समाचारों से यह जानकर कि आपकी सरकार ने आर्यों की अत्यधिक सर्वप्रिय पवित्र पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर प्रतिवन्ध लगा देने की घोषणा कर दी है, इस सभा को बहुत क्षोभ हुआ। आप हस्तक्षेप करने की कृपा करें और प्रतिवन्ध के आदेश को वापस करवायें। अन्यथा हैदराबाद रियासत के समान धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए

सिन्ध में भी आर्यों को कटु संघर्ष करना पड़ेगा, जिसके लिए आपकी सरकार ही उत्तरदायी होगी। मामला बड़ा गम्भीर है, और उसमें आपका तत्काल हस्तक्षेप अपेक्षित है।" इसी आशय के अन्य भी बहुत-से तार सिन्ध के गवर्नर तथा चीफ मिनिस्टर के पास भेजे गये, और सम्पूर्ण आर्यजगत् में सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के विरुद्ध आक्रोश का प्रादुर्भाव हो गया। नवम्बर, १९४४ के अन्तिम सप्ताह में इसी समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध आर्य नेता श्री घनश्यामसिंह गुप्त सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। अपने प्रारम्भिक भाषण में श्री गुप्त जी ने कहा—"आप सबको विदित है कि यह सम्मेलन सिन्ध सरकार द्वारा ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश नामक पवित्र ग्रन्थ पर लगाये गये प्रतिबन्ध पर विचार करने के लिए बुलाया गया है। सिन्ध सरकार के इस कार्य का इतिहास निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है, कि उसके इस आदेश का असली कारण राजनैतिक है। सत्यार्थप्रकाश लगभग ७० साल से संसार के सामने है। देश और विदेश की भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। उसके कारण अब तक कहीं भी किसी भी प्रकार का उत्पात या उपद्रव नहीं हुआ। मुसलिम लीग, जो एक राजनैतिक संस्था है, ने अभी हाल में यह आन्दोलन खड़ा किया है। उसके आदेश के अनुसार ही सिन्ध सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया है। इस प्रतिबन्ध के विशुद्ध राजनैतिक होने में इससे अधिक किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।" श्री गुप्त जी कानून के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपने भाषण में सत्यार्थप्रकाश पर लगाये गये प्रतिबन्ध को कानूनी दृष्टि से आपत्तिजनक प्रतिपादित किया, और अन्त में यह घोषणा की, कि "जबतक उनके धर्म पर किया गया यह आक्रमण वापस न ले लिया जायेगा, तबतक वह आराम से नहीं बैठेंगे।" सम्मेलन में सिन्ध सरकार के आदेश के विरोध में प्रस्ताव भी स्वीकृत किये गये।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री प्रोफेसर सुधाकर ने मुसलिम लीग के अध्यक्ष श्री मुहम्मद अली जिन्ना के नाम एक लम्बा पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि वह सिन्ध सरकार को ऐसा अनुचित कार्य करने से रोकें। इसी समय सार्वदेशिक सभा की ओर से पण्डित शिवचन्द आर्य को कराची भेजा गया, ताकि वह सिन्ध के प्रमुख व्यक्तियों से भेंट करें, और इस समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न करें। पर इन सब बातों का कोई परिणाम नहीं निकला। ८ फरवरी, १९४५ को सत्यार्थप्रकाश रक्षा समिति की बैठक दिल्ली में बुलायी गयी। विचार-विमर्श के पश्चात् समिति ने निर्णय किया कि यदि वैधानिक उपायों से सत्यार्थप्रकाश पर से प्रतिबन्ध हटाने में सफलता प्राप्त न हो, तो आर्यों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार रहना चाहिए। समिति द्वारा प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजों को यह सन्देश भी भेज दिया गया, कि वे अन्तिम पग उठाने के लिए तैयारी शुरू कर दें। सिन्ध के मन्त्रिमण्डल में कुछ सदस्य हिन्दू भी थे। ऐसे एक सदस्य श्री निचलदास वजीरानी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रति सरकार की नीति से असन्तोष प्रकट करते हुए यह धमकी दी कि यदि सरकार ने इस नीति में परिवर्तन न किया, तो मन्त्रिमण्डल के हिन्दू सदस्य त्यागपत्र दे देंगे। इस दशा में सिन्ध सरकार के लिए सत्यार्थप्रकाश पर से प्रतिबन्ध हटा देने के आन्दोलन की सर्वथा उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा, और ११ अगस्त, १९४५ को उस द्वारा एक नया आदेश जारी किया गया, जिसके अनुसार सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें

समुल्लास के सिन्धी, अरबी, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी भाषाओं में अनुवाद को सिन्ध में छापना व प्रकाशित करना तथा इन भाषाओं में अन्यत्र छपे हुए व प्रकाशित हुए अनुवादों को सिन्ध में बेचना व बाँटना अपराध घोषित किया गया था। ११ अगस्त, १९४५ का यह आदेश २६ अक्टूबर, १९४४ के आदेश से इस अंश में भिन्न था, कि इस द्वारा सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास के केवल उन पाँच भाषाओं के अनुवाद को सिन्ध में प्रचारित करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया था, मुसलमानों में जिनके पढ़ने-लिखने का अधिक प्रचार था। हिन्दी सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास पर इस आदेश से कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता था और हिन्दी जाननेवाले लोग उसे पढ़ सकते थे। पर आर्य जगत् को सिन्ध-सरकार का यह परिवर्तित आदेश भी स्वीकार्य नहीं हुआ। आर्यों का विश्वास था, कि सत्यार्थप्रकाश के किसी भी भाग में कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे अन्य मतों व सम्प्रदायों के प्रति घृणा व विरोध का भाव उत्पन्न होता हो। इस दशा में चौदहवें समुल्लास को सार्वजनिक सुरक्षा व शान्ति की दृष्टि से आपत्तिजनक समझना सर्वथा अनुचित है। सिन्ध के बहुसंख्यक हिन्दू भी उर्दू और सिन्धी भाषाएँ पढ़ते-लिखते थे। हिन्दी जाननेवाले वहाँ अधिक नहीं थे। अतः सत्यार्थप्रकाश के सिन्धी और उर्दू भाषाओं में अनुवादों पर प्रतिबन्ध लगे रहने की दशा में सिन्ध के हिन्दुओं और आर्यों के लिए भी अपने इस पवित्र धर्मग्रन्थ का पठन-पाठन कर सकना सम्भव नहीं रह जाता था। उस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री घनश्यामसिंह गुप्त थे। उन्होंने लाला देशबन्धु गुप्त को अपना प्रतिनिधि बनाकर इस प्रयोजन से कराची भेजा कि वहाँ वह सिन्ध के गवर्नर तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों से मिलें और इस झगड़े को शान्तिमय ढंग से निबटाने का प्रयत्न करें। पर वह भी असफल होकर दिल्ली लौट आये।

जब सार्वदेशिक सभा ने देखा, कि बातचीत व प्रेरणा से सत्यार्थप्रकाश पर से प्रतिबन्ध को हटवा सकना सम्भव नहीं है, तो ९ दिसम्बर, १९४५ को सत्यार्थप्रकाश-रक्षा समिति की बैठक दिल्ली में आयोजित की गयी, और उस द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि परिस्थिति में कोई सुधार न हो, तो सत्याग्रह प्रारम्भ करके सिन्ध सरकार का प्रतिरोध किया जाय।

सन् १९४५ में महायुद्ध की समाप्ति हो गयी थी, और युद्ध की परिस्थितियों के कारण जो भारतरक्षा-कानून (डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट) लागू किया गया था, उसकी आवश्यकता नहीं रही थी। इसीलिए ३० सितम्बर, १९४६ के दिन इस कानून की समाप्ति कर दी गयी, और क्योंकि सिन्ध सरकार ने इसी कानून के अधीन सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया था, अतः उसका भी स्वतः ही अन्त हो गया था। सिन्ध सरकार के लिए समस्या के समाधान का यह अच्छा अवसर था। यदि अब वह कोई नया पग न उठाती, तो सब झगड़ा समाप्त ही था। पर सरकार तो उत्पात के लिए तुली हुई थी। १० अक्टूबर, १९४६ को उस द्वारा निम्नलिखित आदेश जारी किया गया—"क्योंकि सिन्ध सरकार को यह प्रतीत होता है कि सिन्धी भाषा के सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास से हिज़ मैजेस्टी की प्रजा के विभिन्न वर्गों में द्वेष व घृणा का प्रादुर्भाव होता है, इस कारण अब क्रिमिनल प्रोसीजर कोड १८९८ की दफ़ा ९९ ए के अनुसार सिन्ध की सरकार घोषित करती है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित और सिन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा कराची की ओर से प्रोफ़ेसर ताराचन्द डी० गाजरा एम० ए०

द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश की सब प्रतियाँ, वे चाहे कहीं भी पायी जाएँ जब्त की जाती हैं, और साथ ही वे सब अन्य डाकुमेण्ट भी जिनमें कि उक्त पुस्तक के चौदहवें समुल्लास की प्रतिलिपि, पुनर्मुद्रण, अनुवाद एवं उद्धरण विद्यमान हों। इस आदेश का कारण यह है कि उक्त समुल्लास में ग्रंथकार ने (१) मुसलमानों के कतिपय धार्मिक विश्वासों का मजाक उड़ाया है, (२) कुरान की शिक्षाओं को गलत तरीके से पेश किया है और उनकी निन्दा की है, (३) कुरान की प्रामाणिकता और स्वरूप पर आक्रमण किये हैं और उनका मजाक उड़ाया है, (४) हजरत मुहम्मद की सर्वोच्च स्थिति पर आक्रमण किये हैं और उनकी महत्ता को तुच्छ बताया है, (५) इस समुल्लास की सामग्री मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचानेवाली है और आघात पहुँचाती है।"

सिन्ध सरकार के इस आदेश से आर्य जगत् में विक्षोभ का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यसमाज ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। १३ नवम्बर, १९४६ को 'सत्यार्थप्रकाश रक्षा समिति' की एक आवश्यक बैठक दिल्ली में बुलायी गयी। सिन्ध-सरकार के अनुचित एवं अन्याय्य आदेश की आलोचना करते हुए समिति ने घोषणा की, कि "इस समिति की सम्मति में ऐसी परिस्थिति आ गयी है जबकि अपनी धार्मिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए ऐसे प्रभावयुक्त कदम उठाये जाएँ, जिनसे कि सरकार को यह अन्याय्य आदेश वापस लेना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समिति निश्चय करती है कि व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया जाय और आर्यजनों को आदेश देती है कि वे सत्याग्रहियों में अपने नाम भरती कराएँ। यह समिति यह भी निश्चय करती है, कि महात्मा नारायण स्वामी सत्याग्रह के सर्वाधिकारी होंगे, वही इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय करते रहेंगे।" सिन्ध में सत्याग्रह के लिए जब श्री नारायण स्वामी जी सर्वाधिकारी चुने गये, तो उनकी आयु ८० वर्ष से ऊपर थी। उनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। हैदराबाद सत्याग्रह में असह्य यातनाओं के कारण उनका शरीर जर्जर हो गया था। पर आर्यसमाज के इन महान् सेनानी और सर्वमान्य नेता ने अपने शरीर और स्वास्थ्य की जरा भी परवाह न कर सत्याग्रह का नेतृत्व करने के लिए दिल्ली से कराची के लिए प्रस्थान कर दिया। स्वामी जी का साथ देने के लिए पण्डित घुरेन्द्र शास्त्री, लाला खुशहालचन्द आदि आर्य नेता भी कराची पहुँच गये।

महात्मा नारायण स्वामी ने सिन्ध के चीफ मिनिस्टर के नाम एक पत्र लिखकर सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। पत्र निम्नलिखित था—"यह सबको विदित है कि सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज का धर्मग्रन्थ है। ईसाइयों के लिए जैसे बाइबल और मुसलमानों के लिए कुरान पवित्र है, वैसे ही सत्यार्थप्रकाश हमारे लिए पवित्र है। सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश की जब्ती का हुक्म हमारे धार्मिक अधिकार और स्वाधीनता पर भयंकर आक्रमण है। हम यह सूचना देना चाहते हैं कि हमारे पास सिन्धी भाषा में सत्यार्थप्रकाश है। हम किसी का अधिकार नहीं समझते कि वह उसे हमसे छीने। हम एक सप्ताह भर कराची में रहेंगे।" यह पत्र चीफ मिनिस्टर को भेजकर सत्याग्रहियों ने सिन्धी सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ लेकर कराची में घूमना शुरू कर दिया। इस बीच में सिन्ध के सैकड़ों आर्यसमाजी सत्यार्थप्रकाश को गले में लटकाकर विविध नगरों में घूमने लग गये थे। डी० ए० वी० हाई स्कूल कराची के प्रिंसिपल श्री रामसहाय ने अक्टूबर, १९४६ में ही डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को पत्र द्वारा यह सूचित कर दिया था कि सत्यार्थप्रकाश पर लगाया

गया प्रतिबन्ध अन्यायपूर्ण है, अतः उन्होंने उसके इस आदेश को तोड़ने का निश्चय कर लिया है। वस्तुतः इस समय सारे देश में सिन्ध सरकार के आदेश के विरुद्ध उग्र आक्रोश उत्पन्न हो गया था, और दूर-दूर से आर्य सत्याग्रही कराची तथा सिन्ध के अन्य नगरों में पहुँचने लग गये थे। सरकार के सम्मुख एक विकट समस्या थी। आर्य लोग उसके आदेश का उल्लंघन करने के लिए तुले हुए थे, और देश के राष्ट्रीय नेता भी सरकार के इस आदेश को अनुचित घोषित कर रहे थे। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने इसे विचार और लेख की स्वाधीनता पर आघात बताते हुए इसकी निन्दा की थी, और महात्मा गांधी ने इसे विवेकहीन और शरारतभरी आज्ञा की संज्ञा दी थी। बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा था कि सत्तर साल से प्रचलित एक धर्मपुस्तक पर प्रतिबन्ध लगानेवाला यह आदेश कहीं उस व्यवहार का पूर्व-रूप तो नहीं है जो लीग के शासन में मुसलमानों से भिन्न लोगों के साथ किया जायेगा? मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खाँ और डॉक्टर खान साहब सदृश राष्ट्रीय मुसलिम नेताओं ने भी सिन्ध सरकार के इस आदेश का विरोध किया। इस दशा में सरकार को झुकना पड़ा और सत्याग्रह शुरू होने के पाँचवें दिन ही सिन्ध सरकार ने यह आज्ञा जारी कर दी—'सत्यार्थप्रकाश को जब्त न किया जाय, और जिसके पास यह ग्रन्थ हो उसे गिरफ्तार भी न किया जाय।' यह आर्यसमाज की शानदार विजय थी। सिन्ध सरकार की आशा के विरुद्ध देश में जो तूफान खड़ा हो गया था और उसका प्रतिरोध करने के लिए आर्य नर-नारी हजारों की संख्या में सत्याग्रह-संग्राम में जूझ पड़ने के लिए तैयार हो गये थे, सिन्ध सरकार को उसका सामना कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं हुआ।

चौबीसवाँ अध्याय

मारीशस में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार

(१) भारतीयों का बड़ी संख्या में विदेशों में प्रवास

मारीशस, फीजी, केनिया, दक्षिणी अफ्रीका, सुरीनाम, गुयाना आदि विदेशी राज्यों में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं और उनमें बहुत-से वैदिक धर्म के अनुयायी हैं। वहाँ स्थान-स्थान पर आर्यसमाज स्थापित हैं, और आर्य प्रतिनिधि सभा के रूप में उनके केन्द्रीय संगठन भी विद्यमान हैं। ये सभाएँ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि-सभा के साथ सम्बद्ध हैं, और आर्यसमाज के विश्वव्यापी सार्वभौम संगठन का अंग हैं। विदेशों में आर्यसमाज का यह प्रचार-प्रसार किस प्रकार हुआ, इसे भलीभाँति समझने के लिए यह जान लेना उपयोगी है, कि भारत के कौन लोग किस समय में इन देशों में जाकर बसे और वे कौन-से कारण थे और क्या परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने इतनी बड़ी संख्या में भारतीयों को अपनी मातृभूमि तथा बन्धु-बान्धवों से सदा के लिए विदा लेकर सुदूरवर्ती देशों व द्वीपों में जा बसने के लिए प्रेरित किया।

मध्यकाल में यूरोप की प्रायः वही दशा थी, जो भारत, ईरान आदि प्राच्य देशों की थी। वहाँ के लोगों का बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र में जो जहाज चलते थे, वे चप्पुओं से खेये जाते थे। दिग्दर्शक यन्त्र का प्रवेश भी तब तक यूरोप में नहीं हुआ था। इस दशा में जहाजों से महासमुद्रों को पार कर सकना कठिन था, जिसके कारण अफ्रीका और अमेरिका के महाद्वीपों से यूरोप के लोगों को कोई भी परिचय नहीं था। पन्द्रहवीं सदी में इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। यूरोप में नवजागरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, और वहाँ के निवासी नये आविष्कार कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगे। दिग्दर्शक यन्त्र और पाल से चलनेवाले जहाजों से यूरोप के नाविक महा-समुद्रों में दूर-दूर तक जाने-आने लगे। वास्को-दी-गामा नामक पोर्तुगीज नाविक अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर काटकर भारत पहुँचने में समर्थ हुआ (सन् १४९८), और कोलम्बस नाम के एक इटालियन नाविक ने अटलाण्टिक महासागर को पार कर उस महाद्वीप का पता किया (सन् १४९२), जो अमेरिका नाम से प्रसिद्ध है। अमेरिका महाद्वीप अत्यन्त विशाल है। उसके अधिकांश प्रदेश में उस समय असभ्य व जंगली जातियों का निवास था। केवल मेक्सिको और पेरू ही दो ऐसे प्रदेश थे, जिनमें अच्छे उन्नत व सभ्य लोग बसते थे। कोलम्बस स्पेन के राजा की सहायता से समुद्र-यात्रा के लिए निकला था, अतः स्वाभाविक रूप से अमेरिका पर स्पेन का प्रभुत्व स्थापित हुआ। स्पेन के लोग बड़ी संख्या में अमेरिका गये, और वहाँ के मूल निवासियों को नष्ट कर उन्होंने वहाँ अपनी बस्तियाँ बसानी प्रारम्भ कर दीं। उस समय तक यूरोप के लोग बारूद का प्रयोग जान

चुके थे। अमेरिका के निवासी इससे सर्वथा अपरिचित थे। बन्दूक की मार के सम्मुख अमेरिकन लोग टिक नहीं सके, और विशाल भूखण्ड पर स्पेन के उपनिवेश बसने शुरू हो गये। स्पेन की होड़ में पोर्तुगाल, फ्रांस, हालैण्ड, ब्रिटेन आदि अन्य यूरोपियन देशों के लोग भी अमेरिका के सुविस्तृत महाद्वीप में जा बसने के लिए प्रयत्नशील हुए, और वहाँ अधिक-से-अधिक भूमि को अपने अधिकार व स्वत्व में ले आने के लिए उनमें संघर्ष का भी सूत्रपात हुआ।

वास्को-दी-गामा ने अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत, मलय, कम्बोदिया आदि प्राच्य देशों को जाने-आने के जिस नये सामुद्रिक मार्ग का पता लगाया था, यूरोप के लोग उस द्वारा भी बड़ी संख्या में एशिया के विविध देशों में जाने लगे। हिन्द महासागर तथा पैसिफिक महासागर में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, फीजी, मारीशस, मैडागास्कर आदि कितने ही ऐसे द्वीप थे, जो या तो प्रायः गैर-आबाद थे और या जिनके निवासी सभ्यता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। यूरोप के लोगों ने इनपर अपना स्वत्व स्थापित करना प्रारम्भ किया, और वहाँ अपने उपनिवेश बसाने शुरू कर दिये। इन प्रदेशों व द्वीपों की भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी, और खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी ये अत्यन्त समृद्ध थे। यूरोप से जो लोग इन प्रदेशों में जाकर बसे थे, वहाँ उन्होंने बड़े पैमाने पर खेती करना शुरू किया। भूमि की वहाँ कोई कमी थी ही नहीं। अतः एक-एक परिवार ने सैकड़ों एकड़ जमीन पर कब्जा कर लिया। उस समय तक यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले खेती के नये वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार नहीं हुआ था। खेती के उपकरण फावड़े, कुदाल, दराँती आदि ही थे, जिनके प्रयोग के लिए मानव-श्रम की आवश्यकता होती थी। इस श्रम की प्राप्ति के लिए यूरोपियन किसानों ने गुलामों का आश्रय लिया। उस समय दासप्रथा को अनैतिक व अनुचित नहीं माना जाता था। अफ्रीका महाद्वीप में बहुत-सी ऐसी जातियों का निवास था, जो अभी असभ्य व जंगली दशा में थीं। उनके लोगों को पकड़कर दास के रूप में यूरोप, अमेरिका और पैसिफिक व हिन्द महासागरों के द्वीपों में बेचा जाना प्रारम्भ किया गया। शीघ्र ही यह एक महत्त्वपूर्ण व्यापार बन गया, और बहुत-से लोग गुलामों का क्रय-विक्रय कर धनी होने लगे। हालैण्ड, ब्रिटेन, फ्रांस आदि विविध देशों ने इस घृणित व्यापार के लिए बहुत-से अड्डे अफ्रीका में कायम किये, और यूरोपियन लोग अनेकविध उपायों से हब्शियों को पकड़कर उन्हें अपने नये उपनिवेशों में विक्रय के लिए भेजने लगे। अमेरिका, मारीशस, फीजी आदि में यूरोपियन लोगों को खेती तथा खानों की खुदाई के लिए जिस मानवश्रम की आवश्यकता थी, उसके लिए इन हब्शी गुलामों को प्रयुक्त किया जाने लगा। गुलामों का यह व्यापार कितने बड़े पैमाने पर होता था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि सन् १७९१ में अकेले ब्रिटेन के १९२ जहाज इस व्यापार में लगे हुए थे और वे एक बार में ४७,००० गुलामों को ढो सकते थे।

यूरोप में जिस ढंग से नवजागरण हो रहा था और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति (सन् १७८९) द्वारा स्वाधीनता, समानता तथा भ्रातृभाव की जिन प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, उनके कारण यूरोप के विचारशील लोगों का ध्यान दासप्रथा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस आदि विविध यूरोपियन राज्यों में इस प्रथा के विरुद्ध कानून बनाये जाने लगे। उत्तरी अमेरिका में तो इसी प्रथा

की समस्या को लेकर गृह-युद्ध भी हुआ। उन्नीसवीं सदी के द्वितीय चरण तक प्रायः सभी देशों ने दासप्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया, और दासों को स्वतन्त्र कर दिया गया। दासप्रथा का अन्त हो जाने पर यूरोपियन लोगों के नये उपनिवेशों में खेती आदि के लिए मानव-श्रम की समस्या ने उग्ररूप धारण कर लिया, और यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि कौन-सा अन्य ऐसा साधन है जिससे इन उपनिवेशों के खेतों तथा खानों के लिए सस्ते मूल्य पर मानव-श्रम प्राप्त किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के बड़े भाग पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, और वे इस देश का उपयोग अपनी समृद्धि व धन-वैभव के लिए करने में तत्पर थे। उनकी आर्थिक नीति के कारण भारत के व्यवसाय और शिल्प नष्ट हो गये थे, और लाखों कारीगर बेरोजगार होकर गरीबी का जीवन बिताने के लिए विवश हो गये थे। अंग्रेज शासकों ने जिस ढंग की जमींदारी प्रथा को भारत में प्रयुक्त किया था, उसके कारण किसानों की हालत भी बहुत खराब हो गयी थी। इस देश की बहुसंख्यक जनता बेरोजगारी और गरीबी से त्रस्त थी। मजदूरी का लालच देकर उसे कहीं भी जाने के लिए प्रेरित किया जा सकता था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक ब्रिटेन का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका था। हालैण्ड, फ्रांस, पोर्तुगाल आदि अपने प्रतिद्वन्द्वी देशों को परास्त कर ब्रिटेन उन बहुत-से प्रदेशों व द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो गया था, जिनका यूरोप के लोगों ने सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में पता किया था। अमेरिका और अफ्रीका के महाद्वीपों के बहुत-से प्रदेश तथा हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप अबतक ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ चुके थे और उनमें अंग्रेज लोग बड़े पैमाने पर गन्ने, चाय आदि की खेती करने में संलग्न थे। इनके खेतों पर मजदूरी का काम अबतक हब्शी गुलामों द्वारा होता आया था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के कारण यूरोप में जिन नयी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनके परिणामस्वरूप ब्रिटेन में भी दासप्रथा का अन्त करने के लिए कानून स्वीकृत किये जाने लगे। सन् १८०७ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने गुलामों के व्यापार के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किया, और उसके बाद धीरे-धीरे विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में गुलामों को स्वतन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १८३८ तक ब्रिटिश साम्राज्य के सब गुलाम स्वतन्त्र कर दिये गये थे। दासप्रथा का अन्त हो जाने पर ब्रिटिश उपनिवेशों में मानव-श्रम की समस्या का समाधान करने के लिए अंग्रेजों का ध्यान भारत के असहाय व निर्धन लोगों की ओर गया, और उन्होंने अपने उपनिवेशों के लिए मानव-श्रम की प्राप्ति के प्रयोजन से एक नयी प्रथा का प्रारम्भ किया, जिसे प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा (Indentured system) कहा जाता है। इस प्रथा के अनुसार जिन स्त्री-पुरुषों को विदेश जाकर मजदूरी करने के लिए तैयार किया जाता था, उनसे पाँच साल की गुलामी लिखवा ली जाती थी। एक करार (Agreement) पर, जिसे कुली-मजदूरों की बोलचाल में 'गिरमिट' कहा जाता था, उनके अंगूठे लगवा लिये जाते थे, जिसके परिणामस्वरूप वे पाँच साल की अवधि के लिए ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते थे। ऐसे प्रतिज्ञाबद्ध मजदूरों की भरती के लिए पूर्वी तथा दक्षिणी भारत में स्थान-स्थान पर डिपो बने हुए थे, जिनके कर्मचारी व एजेण्ट अशिक्षित, असहाय व गरीब स्त्री-पुरुषों को तरह-तरह के लालच देकर, अनेक प्रकार से फुसलाकर, सब्ज़ बाग दिखाकर और धोखा देकर विदेश जाने के लिए तैयार कर लेते थे और करार या गिरमिट पर उनसे

अंगूठे लगवा लेते थे। जब कोई व्यक्ति एक बार इन एजेण्टों के जाल में फँस जाता था, उससे निकल सकना उसके लिए सम्भव नहीं रहता था। पाल से चलनेवाले जहाजों पर भेड़-बकरियों की तरह से लादकर इन मजदूरों को विदेश ले-जाया जाता था। मार्ग में उन्हें असह्य कष्ट उठाने पड़ते थे। जहाज की गन्दगी व अन्य कष्टों को न सह सकने के कारण कुछ लोग आत्महत्या तक कर लेते थे। भरती के डिपों में पहुँचते ही मजदूरों का न कोई धर्म रह जाता था, न कोई जाति। अंग्रेज मालिकों की दृष्टि में वे पशुओं के सदृश होते थे, जिनके विचारों, विश्वासों व खानपान-विषयक मान्यताओं को कोई भी महत्त्व देना सर्वथा निरर्थक था। प्रतिज्ञावद्ध मजदूरों के सम्मुख केवल यही मार्ग था, कि वे नियति के सामने सिर झुका दें। प्रतिज्ञावद्ध मजदूरों को लेकर जब जहाज ब्रिटिश उपनिवेश के बन्दरगाह पर पहुँचता था, तो खेतों के मालिकों को सूचना दे दी जाती थी। मजदूरों को एक स्थान पर एकत्र कर उनकी नीलामी शुरू की जाती थी। अंग्रेज मालिक जिस मजदूर को पसन्द करते, ऊँची बोली बोलकर उसे पाँच वर्ष के लिए खरीद लेते। मजदूर को अपने मालिक के खेत पर रहकर काम करना पड़ता था। दिन-भर में उसे कितना और क्या काम करना है, यह उसे बता दिया जाता था। यदि काम पूरा न हो, तो उसे कोड़ों से पीटा जाता था। रहने के लिए उन्हें फूस की गन्दी झोपड़ियाँ दी जाती थीं, और भोजन के लिए दाल, चावल और तेल। यदि महीने-भर वे दिया हुआ काम पूरा करते रहें, तो उन्हें साढ़े सात रुपये वेतन के भी दे दिये जाते थे। पाँच साल की अवधि में मजदूर न कहीं आ-जा सकते थे, और न काम करने से इन्कार कर सकते थे। इस अवधि के पूरा हो जाने पर ही उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त हो पाती थी।

प्रतिज्ञावद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीय मजदूर सबसे पहले सन् १८३५ में मारीशस भेजे गये, और फिर सन् १८४४ में ब्रिटिश गुयाना और त्रिनीदाद में। इसके बाद यह क्रम निरन्तर चलता रहा और फीजी, दक्षिणी अफ्रीका और जमैका आदि सर्वत्र भारतीय मजदूर अच्छी बड़ी संख्या में भेजे जाते रहे। कुछ मजदूर हालैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों के लिए भी ब्रिटेन की अनुमति से भारत से भरती किये गये। इस प्रथा के अधीन कुल मिलाकर जो मजदूर विविध यूरोपियन उपनिवेशों में भारत से भेजे गये, उनकी संख्या उन्नीस लाख के लगभग थी। सबसे अधिक मजदूर (३,५१,४०१) मारीशस को भेजे गये थे, और उसके बाद दक्षिणी अफ्रीका का नम्बर आता था, जहाँ भेजे गये मजदूरों की संख्या १,४६,७६१ थी। ब्रिटिश गुयाना में १,२६,१८१, मलय-स्टेट्स में १,७२,२६५, फीजी में ४८,६१४, त्रिनीदाद में ४२,५१६ और जमैका में १५,१६९ मजदूर इस प्रथा के अधीन प्रतिज्ञाबद्ध कर भेजे गये थे। अन्यत्र भी जहाँ कहीं यूरोपियन (विशेषतया ब्रिटिश) लोगों के उपनिवेश स्थापित थे, प्रायः सर्वत्र गरीब व असहाय भारतीयों को मजदूरी के लिए पाँच साल का पट्टा लिखवाकर अच्छी बड़ी संख्या में भेजा गया था। मारीशस, फीजी, वेस्ट इण्डीज, मलय आदि में भारतीय लोगों का प्रवेश इसी ढंग से शुरू हुआ, और प्रारम्भ में प्रधानतया वही स्त्री-पुरुष वहाँ जाकर बसे जिन्हें प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन वहाँ ले-जाया गया था। बाद में बहुत-से व्यापारी, शिल्पी व अन्य काम-धन्धा करनेवाले लोग भी भारत से इन देशों में गये, और वहाँ भारतीयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। पाँच साल की अवधि के समाप्त हो जाने पर इन मजदूरों के सम्मुख दो मार्ग थे, या तो वे भारत लौट आयें और या वहीं

स्थायी रूप से बस जायें। बहुसंख्यक नर-नारियों ने भारत वापस आना पसन्द नहीं किया, क्योंकि यहाँ लौटने पर उन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता था। उस युग में हिन्दू-समाज में समुद्र-यात्रा को पाप माना जाता था, और खानपान आदि के सम्बन्ध में जात-बिरादरी के नियम अत्यन्त कठोर होते थे। पाँच साल तक समुद्र-पार के देश में रहकर सामाजिक मान्यता के विपरीत आचरण करनेवाले व्यक्तियों के लिए यह आशंका स्वाभाविक ही थी, कि उन्हें भारत में अपनी पुरानी बिरादरी में वापस नहीं लिया जाएगा। इस दशा में बहुत-से प्रतिज्ञाबद्ध मजदूरों ने उसी उपनिवेश में बस जाने का निश्चय किया, जहाँ उन्हें पाँच साल के पट्टे पर ले-जाया गया था। जो थोड़ा-बहुत रुपया उन्होंने मजदूरी करते हुए एकत्र कर लिया था, उससे उन्होंने जमीनें खरीद लीं और अनेकविध स्वतन्त्र कारोबार शुरू कर दिये। मारीशस, फीजी, ब्रिटिश गुयाना आदि में जो लाखों भारतीय आज बसे हुए हैं, और जिनमें से कुछ अच्छे समृद्ध भी हैं, उनके पुरखे प्रायः प्रतिज्ञाबद्ध मजदूर होकर ही इन देशों में गये थे, और उन्होंने अत्यन्त दुर्दशा-ग्रस्त दशा में वहाँ जीवन-संघर्ष का प्रारम्भ किया था।

प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो लोग भारत से विदेशों में गये थे, उनमें बहु-संख्या बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु तथा आन्ध्रप्रदेश के निवासियों की थी। बिहार तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी लोग इनमें सबसे अधिक थे। धर्म की दृष्टि से ये सब प्रायः हिन्दू थे, यद्यपि कुछ मुसलमान भी सुदूर दक्षिण के प्रदेशों से मलय आदि में मजदूरी के लिए गये थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में धार्मिक सुधार के आन्दोलनों का भारत में प्रारम्भ ही हुआ था, और अशिक्षित व निर्धन ग्रामीण जनता उनके प्रभाव से पूर्णतया वंचित थी। ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज के क्षेत्र बंगाल और महाराष्ट्र थे, जहाँ के लोग मजदूरी के लिए विदेशी उपनिवेशों में नहीं गये थे। बिहार और उत्तर-प्रदेश में धार्मिक सुधार का कार्य आर्यसमाज द्वारा प्रारम्भ किया गया था। इस समाज की स्थापना सन् १८७५ में हुई थी, और बहुत-से भारतीय मजदूर उस काल में मारीशस, फीजी, ब्रिटिश गुयाना आदि चले गये थे जबकि बिहार एवं उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के कार्य का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जो लोग मारीशस, फीजी आदि में मजदूरी के लिए गये और फिर वहीं स्थायी रूप से बस गये, वे उन्हीं संकीर्ण व रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताओं को अपने साथ ले गये हों, जो चिरकाल से उनमें बद्धमूल थीं और जो हिन्दू जाति के पतन का प्रधान कारण थीं। क्रिश्चियन मिशनरियों ने इस दशा से लाभ उठाया और भारत से गये अशिक्षित अन्धविश्वासी मजदूरवर्ग में अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। क्रिश्चियन मिशनरी गौरांग थे और उपनिवेशों के शासकों तथा भूमिपतियों के साथ उनका भाईचारा था। वे सुगमता से भारतीय नर-नारियों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने में सफल हो जाते, यदि आर्यसमाज का संदेश उन तक न पहुँच जाता। उपनिवेशों में बसे हुए भारतीय लोग किस प्रकार आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और कैसे उनमें सत्य-सनातन वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का प्रचार हुआ, इसी विषय पर अब हमें प्रकाश डालना है।

(२) मारीशस में आर्यसमाज का बीजारोपण

वर्तमान समय में मारीशस एक स्वतन्त्र राज्य है, पर मार्च, १९६८ तक यह

ब्रिटेन का एक उपनिवेश था और उसी के शासन में था। मारीशस सन् १८१० में अंग्रेजों के अधीन हुआ था। उससे पहले वहाँ फ्रेंच लोगों का प्रभुत्व था, और उन्होंने ही वहाँ हब्शी गुलामों के श्रम से गन्ने आदि की खेती का बड़े पैमाने पर विकास किया था। ब्रिटेन की अधीनता में आ जाने पर भी मारीशस में फ्रेंच भूमिपतियों का वर्चस्व कायम रहा और उनकी भाषा तथा संस्कृति भी इस उपनिवेश के निवासियों को प्रभावित करती रही। मारीशस एक छोटा-सा द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल केवल ७२० वर्गमील है। इसकी स्थिति हिन्द महासागर में अफ्रीका महाद्वीप के पूर्व में तथा भारत के दक्षिण में है। बम्बई से इसकी दूरी २,५३० मील है। ७२० वर्गमील के इस द्वीप में आठ लाख के लगभग व्यक्ति निवास करते हैं, जिनमें ६७ प्रतिशत भारतीय मूल के लोग हैं। इनमें ७० प्रतिशत के लगभग हिन्दू और शेष इस्लाम के अनुयायी हैं। हिन्दुओं में बहुसंख्या ऐसे लोगों की है, जो या तो आर्यसमाजी हैं और या महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा मन्तव्यों से प्रभावित हैं।

सन् १८९७ में भारत की सेना की बंगाल बैटेलियन के कुछ दस्ते मारीशस भेजे गये थे। उस समय बंगाल बैटेलियन में बिहार और उत्तरप्रदेश के सिपाही अच्छी बड़ी संख्या में हुआ करते थे। जो सैनिक इस समय मारीशस भेजे गये थे, उनमें एक श्री भोलानाथ तिवारी भी थे। यह महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं से परिचित थे और आर्यसमाज के अनुयायी भी थे। वह सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि की प्रतियाँ भी अपने साथ मारीशस ले गये थे। १९०२ में जब वह भारत वापस गये, तो इन प्रतियों को मारीशस में ही छोड़ गये। उन दिनों मारीशस में क्रिश्चियन मिशनरियों का बहुत जोर था। वे राम, कृष्ण आदि पर उग्ररूप से आक्षेप किया करते थे, और रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की कथाओं की हँसी उड़ाया करते थे। मारीशस के हिन्दू निवासियों में कुछ ऐसे विचारशील व धर्मप्रेमी व्यक्ति थे, जिन्हें मिशनरियों के प्रचार का यह ढंग अच्छा नहीं लगता था। इनमें श्री खेमलाल लाला, पण्डित रामप्रसाद ओझा, पण्डित मेघवर्ण और श्री गुरुप्रसाद दलजीतलाल मुख्य थे। भाग्यवश, सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि की प्रतियाँ इनके हाथ लग गयीं, और इन्होंने बड़े ध्यान के साथ उनका अध्ययन किया। महर्षि के इन ग्रन्थों से उनकी आँखें खुल गयीं। उनका ध्यान उन बुराइयों की ओर आकृष्ट हुआ, जो हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हो गयी थीं, और सनातन वैदिक धर्म के वास्तविक रूप का उन्हें बोध हुआ। ईसाई मत में जो असंगतियाँ और विज्ञान-विरुद्ध बातें हैं, सत्यार्थप्रकाश से उन्हें वे भी ज्ञात हुईं और वे मिशनरियों के प्रचार का प्रतिरोध करने में समर्थ हो गये। ये सज्जन सत्यार्थप्रकाश से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों का प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रचार के परिणामस्वरूप सन् १९०३ में मारीशस में प्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई। श्री खेमलाल लाला इस समाज के प्रधान, श्री दलजीतलाल मन्त्री और श्री जगमोहन गोपाल कोषाध्यक्ष चुने गये। रविवार को साप्ताहिक सत्संग होने लगा, जिसमें उपस्थिति ५०-६० के लगभग रहा करती थी। पर यह समाज देर तक कायम नहीं रह सका। इसका कारण यह था, कि उस समय समाज के पास न कोई पुरोहित व उपदेशक था, और न कोई ऐसा विद्वान् जो महर्षि के मन्तव्यों को युक्तिसंगत रूप से श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। परिणाम यह हुआ, कि समाज तो बन्द हो गया, पर श्री खेमलाल लाला और श्री दलजीतलाल ने अपने काम को जारी

रखा। इसी समय श्री रामशरण मोती भी वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने लाहौर से पुस्तकों का एक पार्सल मँगाया था। इस पार्सल को लपेटने के लिए अखबार के जिस कागज को प्रयुक्त किया गया था, वह लाहौर से प्रकाशित होनेवाली 'आर्य पत्रिका' का था। उसे पढ़कर रामशरण जी का आर्यसमाज के परिचय हुआ, और वह उसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। वह आर्य पत्रिका के ग्राहक बन गये और लाहौर से आर्यसमाज तथा वैदिक धर्मविषयक अन्य पुस्तकें भी मँगवाने लगे। लाला खेमलाल तथा श्री दलजीतलाल ने भी भारत से आर्यसमाजी साहित्य मँगाया, और उसका वितरण कर जनता में वैदिक धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रचार करने में वे तत्पर रहे। उनके प्रयत्न से मारीशस के हिन्दुओं में जागृति के कुछ चिह्न प्रकट होने लग गये थे, और उन्होंने सन् १९०६ में वहाँ एक बार फिर आर्यसमाज की स्थापना कर दी थी। यह स्थिति थी, जब सन् १९०७ में डॉक्टर मणिलाल मारीशस आये। उन्हें महात्मा गांधी ने वहाँ जाने की प्रेरणा दी थी। मारीशस आकर डॉक्टर मणिराम ने देखा कि वहाँ की भारतीय जनता की दशा अत्यन्त दयनीय है। गौरांग शासक और भूमिपति उनपर मनमाने अत्याचार करते हैं, और संगठन के अभाव में भारतीय लोग उनका सामना कर सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। साथ ही, ये लोग अन्धविश्वासों और कुरीतियों से ग्रस्त हैं, और धर्म के वास्तविक स्वरूप तथा नये युग की प्रवृत्तियों से ये पूर्णतया अपरिचित हैं। डॉक्टर मणिराम श्री खेमलाल लाला आदि आर्य-सज्जनों के सम्पर्क में आये और उन्हें यह जानकर सन्तोष हुआ कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित कुछ व्यक्ति मारीशस की भारतीय जनता में नवजीवन का संचार करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी, कि आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है, जिस द्वारा मारीशस की भारतीय जनता को न केवल अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों से मुक्त ही किया जा सकता है, अपितु उसे संगठित कर सकना भी सम्भव है। पर उनका कार्य सुगम नहीं था। लाला खेमलाल आदि जो सज्जन उस समय आर्यसमाज का कार्य कर रहे थे, पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त सनातनी लोग उनके विरोध के लिए उग्ररूप से प्रयत्नशील थे। उनपर सड़े हुए टमाटर फेंके जाते थे। उन्हें गालियाँ दी जाती थीं, और उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। शुरू में डॉक्टर मणिलाल के प्रति भी यही बरताव किया गया, पर वह इससे घबराये नहीं। इसीलिये उन्होंने आर्यसमाज के कार्य में उत्साहपूर्वक सहयोग दिया। इस प्रकार डॉक्टर मणिलाल के सहयोग तथा श्री खेमलाल लाला और श्री दलजीतलाल के प्रयत्न से ९ एप्रिल, सन् १९१० को मारीशस के अन्यतम नगर केरपिप में भी आर्यसमाज स्थापित हुआ, जिससे वहाँ की हिन्दू जनता में अपने धर्म व संस्कृति के लिए उत्साह उत्पन्न होने में बहुत सहायता मिली। केरपिप का समाज जिस ढंग से उत्साहपूर्वक कार्य करने में तत्पर था, उसकी चर्चा शीघ्र ही मारीशस की राजधानी पोर्ट लुई में पहुँच गयी और वहाँ के लोग भी अपने नगर में आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो गये। इसी के परिणामस्वरूप ८ मई, १९११ को पोर्ट-लुई में भी आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस अवसर पर डॉक्टर मणिलाल भी उपस्थित थे। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना पर हर्ष प्रकट करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया कि समाज को एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित करना चाहिए, ताकि उन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सहायता मिल सके। इस प्रकार मारीशस में 'मारीशस आर्य-

पत्रिका' नाम से एक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में निकलता था, और इसका सम्पादन श्री खेमलाल लाला किया करते थे। जब वह अस्वस्थ हो गये तो इसका सम्पादन स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती ने सँभाल लिया। अब मारीशस में अनेक आर्यसमाज कायम हो गये थे। यह उपयोगी समझ गया, कि ये परस्पर विचार-विमर्श तथा सहयोग से काम करें। अतः उन्हें एक संगठन का अंग बनाने के प्रयोजन से आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण कर दिया गया, जिसके प्रधान लाला खेमलाल तथा मन्त्री श्री दलजीतलाल नियुक्त हुए। सभा ने अपने कार्य को आगे बढ़ाने के लिए एक उपदेशक की भी नियुक्ति कर दी।

(३) आर्य प्रतिनिधि (परोपकारिणी) सभा की स्थापना और आर्यसमाज की प्रगति

मारीशस में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से सन् १९११ का बहुत अधिक महत्त्व है। इस वर्ष में वहाँ न केवल आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना ही हुई, अपितु डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज के आगमन से वहाँ के आर्यों में नये उत्साह का संचार भी हुआ। डॉक्टर भारद्वाज उच्चकोटि के चिकित्सक थे। इंग्लैण्ड में अध्ययन कर उन्होंने चिकित्साशास्त्र की उच्चतम डिग्रियाँ प्राप्त की थीं। वैदिक धर्म पर उनका अगाध विश्वास था, और आर्यसमाज के कार्यों में उनकी अत्यधिक रुचि थी। उन्होंने रंगून (बरमा) को अपना कार्यक्षेत्र चुना था। उस समय बरमा भारत का ही अन्यतम प्रान्त था। डॉक्टर मणिलाल किसी कार्य से रंगून गये थे, वहाँ उनका डॉक्टर भारद्वाज से परिचय हुआ। मणिलाल जी ने उन्हें बताया कि मारीशस में आर्यसमाज के लिए बहुत अच्छा क्षेत्र विद्यमान है। उचित यह होगा, कि वह उसी को अपना कार्यक्षेत्र बनायें, वहीं चिकित्सा का कार्य करें, और साथ ही वहीं रहकर आर्यसमाज की सेवा करें। डॉक्टर भारद्वाज इसके लिये उद्यत हो गये, और १५ दिसम्बर, १९११ को सपरिवार मारीशस पहुँचे गये। उन्होंने पोर्ट लुई को अपना केन्द्र बनाया। चिकित्सक के रूप में उन्हें वहाँ अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और उनके प्रयत्न से आर्यसमाज में अनुपम उत्साह का संचार हुआ। डॉक्टर भारद्वाज हिन्दी और संस्कृत के भी विद्वान् थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का बड़े युक्तिसंगत रूप से प्रतिपादन करते थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुमंगिली देवी भी विदुषी थीं, और व्याख्यान देने में भी पटु थीं। एक हिन्दू महिला को सार्वजनिक सभाओं में व्याख्यान देते देखना मारीशस की जनता के लिए नयी बात थी। इससे उन्हें ज्ञात होता था, कि विद्याध्ययन का अधिकार स्त्रियों को भी है, और पढ़-लिखकर वे भी समाज-सुधार तथा जन-कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। अपने पति डॉक्टर भारद्वाज के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सुमंगिली देवी जी वैदिक धर्म के प्रचार के लिए मीलों पैदल चलकर गाँव-गाँव पहुँचती थीं। इन पति-पत्नी के प्रयत्न से वास्कोस, त्रिओलेन, रिविएर द आँग्वीय, पाम्पलमूसस आदि अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों तथा स्त्री-समाजों की स्थापना हुई। डॉक्टर भारद्वाज ने प्रयत्न किया, कि आर्य प्रतिनिधि सभा की विधिवत् रजिस्ट्री करा दी जाय, पर मारीशस की सरकार को 'प्रतिनिधि' शब्द पर एतराज था। अतः डॉक्टर भारद्वाज ने 'आर्य परोपकारिणी सभा' नाम से आर्यसमाज की केन्द्रीय सभा का पंजीकरण कराया (१७ नवम्बर, १९१३)। इस

सभा के लिए स्थायी भवन बनाने के प्रयोजन से पोर्ट लुई में एक भूमिखण्ड क्रय कर लिया गया, जिसपर समयान्तर में 'आर्य भवन' का निर्माण किया गया। मारीशस में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। डॉक्टर भारद्वाज की प्रेरणा से काशीनाथ नामक एक युवक को इस प्रयोजन से भारत भेजा गया, ताकि वहाँ जाकर वह वैदिक धर्म की शिक्षा भलीभाँति प्राप्त कर ले और फिर अपने देश में वापस लौटकर आर्यसमाज के कार्यकलाप को आगे वढ़ाने में अपनी सब शक्ति लगाये। डॉक्टर भारद्वाज ढाई साल के लगभग मारीशस में रहे। इस स्वल्प काल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो कार्य उन्होंने किया, उसके महत्त्व को कभी भुलाया नहीं जा सकता। यद्यपि मारीशस में आर्यसमाज की स्थापना उनके आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी, पर उसे सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने का प्रधान श्रेय डॉक्टर भारद्वाज को ही दिया जाना चाहिए। वह भली-भाँति समझते थे कि मारीशस में आर्यसमाज का काम अभी नया-नया है; समर्थ नेता के विना उसे आगे वढ़ा सकना कठिन होगा। अतः अपने भारत वापस आने से पूर्व उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाव को लिखा, कि किसी सुयोग्य आर्य संन्यासी को मारीशस भिजवाने की व्यवस्था की जाय, ताकि जिस कार्य का उन्होंने यहाँ प्रारम्भ किया है वह और अधिक आगे वढ़ सके। डॉक्टर भारद्वाज की प्रेरणा से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज को मारीशस भेजने का निश्चय किया, और वह सन् १९१४ में वहाँ पहुँच गये। स्वामी जी के आने के छह मास पश्चात् डॉक्टर भारद्वाज सपरिवार भारत वापस चले गये।

मारीशस के लोगों के लिए स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी का आगमन एक वरदान के समान था। स्वामीजी न केवल विद्वान् और सुवक्ता ही थे, अपितु महान् तपस्वी, त्यागी और योगी भी थे। वह एक आदर्श संन्यासी थे, जिनकी दृष्टि में सांसारिक सुखों का कोई महत्त्व नहीं था। जो भी उनके सम्पर्क में आता, प्रभावित हुए बिना न रहता। मारीशस में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो आर्यसमाज के विरोधी थे। वहाँ ऐसे पौराणिक पण्डित भी विद्यमान थे, जो आर्यसमाज पर आक्षेप करने के लिए सदा उद्यत रहते थे। पर स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के त्यागमय आदर्श जीवन, सादगी, सरल स्वभाव और सबके प्रति समदृष्टि से प्रभावित हुए विना वे भी नहीं रहे और उन्होंने भी यह अनुभव कर लिया कि आर्यसमाज वस्तुतः एक उपयोगी संस्था है और इस द्वारा पाखण्ड-खण्डन तथा समाज-सुधार का जो कार्य किया जा रहा है, वह जनता के हितकल्याण के लिए है। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी गाँव-गाँव पैदल घूमकर वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। उनकी प्रेरणा से अनेक युवकों ने आर्यसमाज की सेवा का व्रत ग्रहण किया, जिनमें पण्डित शंकर शर्मा, पण्डित वासुदेव और पण्डित जगनन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९१६ में पण्डित काशीनाथ वैदिक धर्म का अध्ययन कर भारत से वापस आ गये थे। वह भी स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के साथ प्रचारकार्य में तत्पर हो गये। इस काल में अनेक स्थानों पर नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और अनेक समाजों में हिन्दी-भाषा के अध्यापन की भी व्यवस्था की गयी। वाक्वा नगर में आर्यसमाज द्वारा 'आर्य वैदिक विद्यालय' नाम से एक शिक्षण-संस्था भी स्थापित की गयी, और इस प्रकार आर्यसमाज के कार्यकलाप का समुचित विस्तार हुआ। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी देर तक मारीशस नहीं रह सके। नेत्र-रोग के कारण उन्हें भारत वापस लौट जाना पड़ा। पर उनके कर्तृत्व

के कारण आर्यसमाज का कार्य मारीशस में जिस प्रकार सुसंगठित व सुव्यवस्थित हो गया था, वह उनके लौट जाने (२० नवम्बर, १९१६) के बाद भी सुचारु रूप से जारी रहा, और भारत से वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त कर वापस आये पण्डित काशीनाथ जी द्वारा उसका भली-भाँति संचालन किया जाता रहा। मारीशस के अनेक आर्य सज्जन उन्हें सक्रिय रूप से सहयोग देते रहे। अन्य प्रदेशों के समान मारीशस में भी आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसमें स्थानीय आर्यों का कर्तृत्त्व भी अत्यन्त महत्त्व का था। वस्तुतः आर्यसमाज द्वारा धार्मिक सुधार के जिस आन्दोलन का संचालन किया जा रहा था, उसके लिये यह संस्था केवल उपदेशकों व प्रचारकों पर ही निर्भर नहीं रहती थी। सभी आर्य अपने-अपने परिचय-क्षेत्रों में प्रचार के लिए तत्पर रहते थे। आर्यसमाज को सर्वत्र जो अनुपम सफलता प्राप्त हुई, उसका यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

पण्डित काशीनाथ ने आर्यसमाज का प्रचार करते हुए अनुभव किया, कि नवयुवक तभी वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हो सकते हैं, जबकि वे आर्य-साहित्य का सुचारु रूप से अध्ययन कर सकें। इसके लिए यह आवश्यक है, कि उन्हें हिन्दी भाषा का ज्ञान हो, क्योंकि आर्य साहित्य प्रधानतया हिन्दी में ही उपलब्ध था। उन्होंने हिन्दी की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया, और वाक्वा में स्थापित आर्य वैदिक विद्यालय को उसके लिये विशेष रूप से प्रयुक्त किया। पण्डित काशीनाथ और उनकी पत्नी इस विद्यालय में अवैतनिक रूप से हिन्दी का अध्यापन किया करते थे। वाक्वा के विद्यालय के समान अन्यत्र भी अनेक शिक्षण-संस्थाएँ आर्यसमाजों द्वारा स्थापित की गयीं, और पोर्ट लुई में डी० ए० वी० कॉलिज का भी शुभारम्भ किया गया। इन सब शिक्षणालयों में हिन्दी की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सन् १९२४ तक मारीशस में आर्यसमाज का प्रचार इतने व्यापक रूप से हो गया था, कि वहाँ के आर्यसमाजियों ने दयानन्द जन्म-शताब्दी को समारोहपूर्वक मनाने का निश्चय किया। इस उत्सव की योजना बनाते हुए यह विचार प्रस्तुत किया गया कि इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर भारत से किसी प्रसिद्ध विद्वान् को मारीशस निमन्त्रित किया जाना चाहिए। सबने इस विचार का स्वागत किया और इस सम्बन्ध में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साथ पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर दिया गया। सभा ने श्री मेहता जैमिनी को मारीशस भेजने का निश्चय किया। मेहता जी हिन्दी और अंग्रेजी के विद्वान् थे, और वेदशास्त्रों का उन्हें समुचित ज्ञान था, महर्षि के मन्तव्यों पर उन्हें अगाध-आस्था थी, और आर्यसमाज के कार्यकलाप के लिए अनुपम उत्साह था। वह उत्कृष्ट वक्ता और सुयोग्य लेखक भी थे। मारीशस की आर्य जनता ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। पोर्ट लुई में रंग-दे-मास के समीप आर्यसमाज के विशाल दयानन्द-भवन में फरवरी, १९२४ में शताब्दी बड़ी धूमधाम के साथ मनायी गयी। इस महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए मारीशस के सभी प्रदेशों से नर-नारी बड़ी संख्या में आये थे। केवल आर्य ही नहीं, अपितु सनातन धर्म के अनुयायी भी इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है, कि इससे बड़ा धार्मिक समारोह इससे पहले मारीशस में कभी नहीं हुआ था। मेहता जैमिनी जी के व्याख्यानों ने जनता को बहुत प्रभावित किया था, और उसपर वैदिक धर्म, महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज की धाक जम गयी थी। शताब्दी-समारोह में जो बहुत-से प्रतिष्ठित व गण्यमान्य सज्जन सम्मिलित हुए थे, उनमें श्री राजकुमार गजाधर का नाम उल्लेखनीय

है। वह मारीशस के प्रमुख धनपति थे, और उन्हें वहाँ के सार्वजनिक जीवन में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उन्होंने इस समारोह के मुख्य अधिवेशन की अध्यक्षता भी की थी। शताब्दी-समारोह के लिए एक स्वागत-समिति भी संगठित की गयी थी, जिसके अध्यक्ष पण्डित गयासिंह थे।

मेहता जैमिनी अंग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् थे। वह अंग्रेजी में भी व्याख्यान देते थे। मारीशस के अनेक सुशिक्षित युवक उनके अंग्रेजी भाषणों को सुनकर वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए, और उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाकर धर्म तथा समाज की सेवा करने का निश्चय किया। इनमें श्री विष्णुदयाल बन्धु और श्री तिलक कालीचरण प्रमुख थे। मेहता जी की प्रेरणा से इन्होंने पोर्ट लुई में आर्यकुमार सभा की स्थापना की। बहुत-से हिन्दू युवकों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की, और इस द्वारा मारीशस के सुशिक्षित वर्ग में आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को बहुत सहायता प्राप्त हुई।

सन् १९२४ के बाद मारीशस में आर्यसमाज ने बहुत उन्नति की। दयानन्द जन्म-शताब्दी के कारण वहाँ के आर्यों में नवीन उत्साह का संचार हो गया था। मारीशस के कतिपय युवक जो कुछ समय पूर्व वैदिक धर्म तथा आर्य-संस्कृति का विशेष अध्ययन करने के लिए भारत गये थे, वे अब अपने देश लौट आये थे और आर्यसमाज के कार्य में लग गये थे। डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज की प्रेरणा से पण्डित काशीनाथ ने लाहौर के डी० ए० वी० कॉलिज में विद्याध्ययन किया था, और सन् १९१६ में मारीशस आकर उन्होंने आर्यसमाज का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके बाद पण्डित रामलखन और पण्डित वेणी-माधव वेदशास्त्रों की समुचित शिक्षा के लिए भारत गये थे। पण्डित रामलखन सन् १९२२ में मारीशस वापस आये और पण्डित वेणीमाधव सन् १९२५ में। ये दोनों भी आर्यसमाज के कार्य में तत्पर हो गये। इस प्रकार अब मारीशस में ऐसे विद्वान् उपदेशकों की कोई कमी नहीं रह गयी, जिन्हें वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का समुचित ज्ञान था। पण्डित काशीनाथ, पण्डित रामलखन और वेणीमाधव के रूप में अब मारीशस के आर्यसमाज को तीन ऐसे विद्वान् प्राप्त हो गये थे जो उसी देश के निवासी थे और जिनमें न केवल धर्म-प्रचार की योग्यता ही थी, अपितु जो प्रचारक के रूप में ईसाई मिशनरियों तथा पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त करने की भी क्षमता रखते थे। क्रिश्चियन मिशनरियों और पौराणिक पण्डितों से उनके अनेक शास्त्रार्थ हुए, जिनके कारण महर्षि के मन्तव्यों की सचाई तथा युक्तियुक्तता प्रमाणित होने में बहुत सहायता मिली। भारत में भी यह शास्त्रार्थों का युग था, और धर्म-प्रचार के लिए उन्हें सशक्त साधन के रूप में स्वीकार किया जाता था।

भारत से आर्य विद्वानों और प्रचारकों के मारीशस जाने का जो सिलसिला डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज द्वारा प्रारम्भ किया गया था, सन् १९२४ में दयानन्द जन्म-शताब्दी के पश्चात् भी वह जारी रहा। सन् १९२५ में स्वामी विज्ञानानन्द जी भारत से मारीशस आये, और उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए अनेक नये साधनों का प्रयोग प्रारम्भ किया। उन्होंने नगर-कीर्तन की परम्परा का सूत्रपात किया, जिसके प्रति लोग बहुत आकृष्ट होते थे। वह विविध नगरों में जाते और सप्ताहों तक परिश्रम करके नगर-कीर्तन का प्रबन्ध किया करते। दूर-दूर के नर-नारी इस अवसर पर भजन-कीर्तन सुनने और शोभायात्रा का अवलोकन करने के लिए आया करते। विधर्मियों को शुद्ध करके आर्य-

धर्म में दीक्षित करने की परम्परा को भी स्वामी विज्ञानानन्द ने मारीशस में प्रारम्भ किया, और उनके प्रयत्न से अनेक विधर्मियों ने वैदिक धर्म की दीक्षा ग्रहण की। अनेक नये आर्यसमाज भी उन्होंने मारीशस में स्थापित किये। वह सन् १९३१ तक वहाँ रहे, और इस काल में इस देश में आर्यसमाज के कार्य का जो विस्तार हुआ, उसका प्रधान श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। सन् १९३० में पण्डित नारायणदत्त सिद्धान्तभूषण वैदिक धर्म के प्रचार के लिये भारत से मारीशस गये थे। वह वहाँ दो वर्ष तक रहे। उनके पश्चात् पण्डित कन्हैयालाल मिश्र सन् १९३३ में वहाँ गये, और छह मास तक वहाँ उन्होंने भजनों द्वारा धर्म-प्रचार किया।

(४) आर्यों में मतभेद और पृथक् प्रतिनिधि सभाओं के संगठन

दयानन्द जन्म शताब्दी समारोह और स्वामी विज्ञानानन्द जी आदि के प्रचार-कार्य के कारण मारीशस में आर्यसमाजों की शक्ति और उनकी सदस्य-संख्या भी बहुत बढ़ गयी थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि आर्यसमाजियों में मतभेद उत्पन्न होने लगें और दलबन्दी की भावना भी प्रादुर्भूत हो जाय। अबतक मारीशस में आर्यसमाजों का एक केन्द्रीय संगठन था, जो 'आर्य परोपकारिणी सभा' के नाम से रजिस्टर्ड था। शताब्दी समारोह का आयोजन इसी सभा द्वारा किया गया था। सन् १९२७ में मारीशस के कुछ आर्यसमाजों ने 'आर्य प्रतिनिधि सभा' नाम से अपना पृथक् संगठन बना लिया। श्री गोपीचन्द छत्तर इसके प्रधान चुने गये, और लाला गुरुप्रसाद दलजीत लाल मन्त्री। श्री दलजीत लाल मारीशस में आर्यसमाज के प्रथम संस्थापकों में थे, और आर्य-जनता पर उनका अच्छा प्रभाव था। श्री मोहनलाल मोहित, पण्डित गयासिंह, श्री महेश सरदार, श्री रामधन पूरण, श्री हनुमान और डॉक्टर शिवगोविन्द सदृश अन्य अनेक सम्भ्रान्त व प्रभावशाली आर्य सज्जन इस नये संगठन में सम्मिलित हो गये, जिससे इसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। दिल्ली की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इसे मान्यता प्रदान कर दी, जिसके कारण इसे ही मारीशस के आर्यसमाजों का मूर्धन्य केन्द्रीय संगठन माना जाने लगा, और बहुत-से आर्यसमाज इसके साथ सम्बद्ध हो गये। इसी सभा द्वारा अक्टूबर, १९३३ में दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी का महोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। इसका आयोजन मारीशस की राजधानी पोर्ट लुई की जाकोव स्ट्रीट में किया गया था, और उसकी अध्यक्षता सेठ श्री भीमजी भाई काला ने की थी। इस अवसर पर श्रद्धानन्द-भवन का उद्‌घाटन डॉक्टर शिवगोविन्द द्वारा किया गया। आर्य-प्रतिनिधि सभा का प्रधान कार्यालय इसी भवन में स्थित था, और सभा द्वारा ही इस विशाल भवन का निर्माण कराया गया था।

आर्य परोकारिणी सभा ने भी पृथक् रूप से दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी का आयोजन किया था, जिसके लिये उसके पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं ने बहुत उत्साह के साथ तैयारी की थी। शताब्दी-समारोह का प्रारम्भ नगर-कीर्तन से हुआ जिसमें दस हजार से भी अधिक नर-नारी सम्मिलित हुए थे। श्री रामखेलावन बुधन बार-एट-लॉ ने इस समारोह की अध्यक्षता की थी। खेद है, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की निर्वाण-अर्धशताब्दी के अवसर पर भी मारीशस के आर्य बन्धु एक नहीं हो सके थे, और उनके दो केन्द्रीय संगठनों ने इस महोत्सव को पृथक् रूप से मनाया था। पर यह स्वीकार करना

होगा, कि आर्यसमाजियों की इस दलवन्दी के बावजूद अर्ध-शताब्दी के दोनों महोत्सव जिस धूमधाम के साथ मनाये गये, उसका जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उससे लोगों में आर्यसमाज के लिए नवीन उत्साह का संचार हुआ।

मारीशस के आर्यसमाजियों में जो मतभेद व विरोध विकसित हो रहे थे, उनके कारण सन् १९३४ में कतिपय आर्य-सज्जनों ने आर्य परोपकारिणी सभा से पृथक् होकर 'आर्य रवि वेदप्रचारिणी सभा' नाम से एक नयी सभा का निर्माण कर लिया। परिणाम यह हुआ, कि आर्य परोपकारिणी सभा के प्रभाव व शक्ति में कमी आने लगी, और आर्य प्रतिनिधि सभा की तुलना में उसका महत्त्व बहुत कम रह गया। यद्यपि अब (सन् १९३४ में) मारीशस में आर्यसमाजों के तीन संगठन बन गये थे, और उनमें परस्पर विरोध भी होता रहता था, पर इससे आर्यसमाज के कार्यकलाप पर अधिक प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक सज्जन यह प्रयत्न भी करते रहे कि तीनों सभाओं के पारस्परिक विरोध का अन्त कर उन्हें फिर से एक कर दिया जाए।

सन् १९४४ में आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य परोपकारिणी सभा के चार-चार सदस्यों की एक समिति का निर्माण किया गया और दोनों सभाओं में परस्पर सहयोग स्थापित करने तथा एक होकर कार्य करने के विषय में विचार-विनिमय होने लगा। समिति द्वारा यह प्रयत्न भी किया गया, कि स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी एक बार फिर मारीशस आकर वहाँ आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करें। इस सम्बन्ध में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नयी दिल्ली से पत्र-व्यवहार किया गया, जिसके परिणामस्वरूप जनवरी, १९५० में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी मारीशस आ गये। उन्होंने आर्यसमाज के विविध नेताओं के साथ सम्पर्क कर उनके मतभेदों को दूर करने और उन्हें एक संगठन के अधीन रहकर समाज का कार्य करने के लिए प्रेरित किया। स्वामीजी का प्रयत्न सफल हुआ, और आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य परोपकारिणी सभा के पदाधिकारी व नेता उनकी बात को मानने के लिए तैयार हो गये। दोनों सभाओं का सम्मिलित अधिवेशन हुआ, जिसमें एकीकरण का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। स्वामी जी के सुझाव के अनुसार यह निश्चय किया गया कि मारीशस के आर्यसमाजों के केन्द्रीय संगठन का नाम न 'आर्य प्रतिनिधि सभा' रहे और न 'आर्य परोपकारिणी सभा'। उसका नाम 'आर्य सभा' रखा जाय। आर्य सभा का विधिवत् पंजीकरण करा लिया गया, और जो आर्यसमाज पहले प्रतिनिधि सभा तथा परोपकारिणी सभा के साथ सम्बद्ध थे, वे अब आर्य सभा के साथ सम्बद्ध हो गये। स्वामीजी का प्रयत्न था, कि आर्य रवि वेद-प्रचारिणी सभा भी आर्य सभा में विलीन हो जाय। पर इसमें उन्हें सफलता नहीं हुई, क्योंकि वह अधिक समय मारीशस नहीं रह सके और शीघ्र भारत लौट गये। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी के पश्चात् दो अन्य आर्य विद्वान् मारीशस में धर्म-प्रचार के लिए गये—स्वामी नारायणानन्द (सन् १९५२) और महात्मा आनन्द भिक्षु (सन् १९५४)। इनके प्रचार-कार्य से भी मारीशस में आर्यसमाज को अच्छा बल मिला।

(५) आर्य सभा का सुदृढ़ संगठन

स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी के मारीशस से चले जाने पर वहाँ के आर्यसमाजियों में पारस्परिक मतभेद व विरोध ने फिर से सिर उठाना शुरू कर दिया, और आर्य सभा के

कार्य में बाधाएँ उपस्थित होने लगीं। आर्य सभा के पदाधिकारियों तथा अन्तरंग सभा के सदस्यों के चुनाव में यह विरोध उग्ररूप से प्रकट हुआ। एक भी ऐसा व्यक्ति इस चुनाव में सफल नहीं हो सका, जिसका सम्बन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ था। आर्य-सभा पर पूर्ण रूप से उन व्यक्तियों का कब्जा हो गया, जो आर्य परोपकारिणी सभा के सदस्य थे। इससे दूसरे पक्ष का उद्विग्न होना स्वाभाविक था। उन्होंने एक बार फिर आर्य-प्रतिनिधि सभा को पृथक् रूप से संगठित किया और सन् १९५४ में उसका विधिवत् पंजीकरण भी करा लिया। जो महानुभाव इस समय आर्य सभा से पृथक् हुए, उनमें श्री मोहनलाल मोहित, श्री गोपीचन्द छत्तर, पण्डित गयासिंह, श्री महेश सरदार, पण्डित अनुरुद्ध शर्मा और पण्डित धुरन्धर के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब मारीशस आर्यसमाज के सक्रिय कार्यकर्ता व नेता थे। इनके पृथक् हो जाने से आर्य सभा के प्रभाव में कमी का आ जाना और मारीशस में आर्यसमाज के कार्यकलाप को क्षति पहुँचना स्वाभाविक था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पुनः मारीशस के आर्य संगठनों की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया गया, और स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती को इस प्रयोजन से वहाँ भेजा गया। ध्रुवानन्दजी सार्वदेशिक सभा के प्रधान रह चुके थे, और आर्यसमाज के अत्यन्त प्रतिष्ठित नेता थे। जनवरी, १९५७ में वह मारीशस आ गये और उन्होंने वहाँ के आर्यसमाजियों के मतभेदों के कारणों का पता लगाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। उनकी प्रेरणा से आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी पृथक् सत्ता का अन्त कर आर्य-सभा में विलीन हो जाने की बात स्वीकार कर ली, और सन् १९५८ में एक बार फिर मारीशस के आर्यसमाजी नेता व कार्यकर्ता परस्पर सहयोग से कार्य करने के लिए प्रवृत्त हो गये। स्वामी ध्रुवानन्दजी के सुझावों को स्वीकार कर आर्य सभा के संविधान तथा नियमावली में अनेक ऐसे संशोधन भी कर लिये गये, जिनके कारण परस्पर सहयोग से कार्य कर सकना सुगम हो गया। आर्य सभा का जो नया चुनाव हुआ, उसमें श्री सत्यकाम बुलेल प्रधान निर्वाचित हुए। श्री बुलेल मारीशस सरकार के कृषि-मन्त्री थे, और स्थानीय जनता पर उनका बहुत प्रभाव था। उनके प्रधान-पद पर आरूढ़ हो जाने के कारण आर्य-सभा को नयी शक्ति प्राप्त हुई, और उसका कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। स्वामी ध्रुवानन्दजी सन् १९६१ तक मारीशस में रहे, और उनके पथ-प्रदर्शन में वहाँ आर्य-समाज के कार्यकलाप में बहुत उन्नति हुई। सन् १९६० में मारीशस में आर्यसमाज की स्थापना हुए ५० वर्ष हो चुके थे। अतः उसकी स्वर्णजयन्ती मनाने का निश्चय किया गया। इस प्रयोजन से जो स्वागत-समिति बनायी गयी, उसके अध्यक्ष श्री मोहनलाल मोहित थे। इस समय तक मारीशस के आर्यसमाजियों में ऐक्य स्थापित हो चुका था, अतः सब आर्यों ने इस जयन्ती महोत्सव को बड़े उत्साह तथा धूमधाम के साथ मनाया। १० मई, १९६० को ब्रह्म पारायण यज्ञ के साथ उत्सव का प्रारम्भ किया गया। यज्ञ के ब्रह्मा-पद पर स्वामी ध्रुवानन्दजी सरस्वती विराजमान थे। १६ मई तक पूरे एक सप्ताह तक यह उत्सव चला, जिसमें अनेक विद्वानों के व्याख्यान हुए। डॉक्टर शिवगोविन्द, श्री मनन भरत, श्री शिवसागर रामगुलाम, श्री जयनारायण राय और श्री सत्यकाम बुलेल सदृश प्रतिष्ठित व सम्भ्रान्त आर्य-सज्जनों ने विविध दिनों के उत्सव के प्रधान-पद को सुशोभितकिया। इस महोत्सव की सफलता से मारीशस में आर्यसमाज के कार्यकलाप की वृद्धि में बहुत सहायता प्राप्त हुई। यद्यपि आर्य रवि वेद प्रचारिणी सभा के रूप में

अबतक भी आर्यसमाज का एक पृथक् संगठन मारीशस में विद्यमान था, पर स्वामी ध्रुवानन्दजी सरस्वती के प्रयत्न से इस समय आर्य सभा इतनी शक्तिशाली हो गयी थी, कि इस देश में आर्यसमाज की उन्नति के मार्ग की सब बाधाएँ दूर हो गयी थीं।

(६) मारीशस में आर्यसमाज का कार्यकलाप और प्रगति

१६ जनवरी, सन् १९६१ को स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती भारत वापस चले गये, क्योंकि सार्वदेशिक सभा उनसे शीघ्र स्वदेश लौट आने के लिए आग्रह कर रही थी। पर उन्होंने मारीशस में कार्य करने के लिए स्वामी अभेदानन्द सरस्वती को बुला लिया था, और उन्हें वहाँ का सब काम समझाकर ही उन्होंने भारत के लिए प्रस्थान किया था। स्वामी अभेदानन्द ने बड़ी लगन के साथ धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। पर कुछ समय बाद ही वह रोगग्रस्त हो गये, और मारीशस में ही उनका निधन हो गया। स्वामी अभेदानन्द के देहावसान से मारीशस के आर्यजगत् को जो अपार क्षति हुई थी, वह महात्मा आनन्द स्वामी के आगमन से शीघ्र पूरी हो गयी। भारत के आर्यसामाजिक संसार में आनन्द स्वामी जी का प्रतिष्ठित स्थान था, और वह सुयोग्य लेखक तथा प्रभावशाली वक्ता थे। वह १६ नवम्बर, १९६२ को मारीशस पहुँचे, और तीन मास वहाँ रहे, इस अवधि में वह सारे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रचार के कार्य में व्यस्त रहे। और उनके सत्संग से आर्य नर-नारियों ने अनुपम लाभ उठाया। यद्यपि आनन्द स्वामी जी देर तक मारीशस नहीं ठहर सके, पर भारत के आर्य विद्वानों व संन्यासियों का धर्म-प्रचार के प्रयोजन से मारीशस जाने का सिलसिला उनके बाद भी जारी रहा। २६ अक्टूबर, सन् १९६३ को स्वामी अखिलानन्द मारीशस आये, और उनके पश्चात् डॉक्टर उषर्बुध और डॉक्टर सत्यप्रकाश (अगस्त, सन् १९६९)। स्वामी अखिलानन्द सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधि के रूप में मारीशस गये थे, और पोर्ट लुई में आर्य जनता ने बड़ी धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया था। उनके स्वागत में हुई सभा की अध्यक्षता मारीशस के कृषिमन्त्री श्री सत्यकाम बुलेल ने की थी। डॉक्टर उषर्बुध और डॉक्टर सत्यप्रकाश (स्वामी सत्यप्रकाश) थोड़े ही समय मारीशस रहे, पर स्वल्प काल में ही उन्होंने जो व्याख्यान दिये, जनता उनसे बहुत प्रभावित हुई।

सन् १९७० में मारीशस में आर्यसमाज की स्थापना हुए ६० वर्ष हो गये थे। अतः वहाँ आर्यसमाज हीरक जयन्ती को धूमधाम के साथ मनाने का निश्चय किया गया। स्वामी विद्यानन्द विदेह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से इस महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए मारीशस आये थे। एप्रिल, १९७० में हीरक जयन्ती उत्सव बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। मारीशस के सभी आर्यसमाजियों ने इसकी सफलता के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न किया था। आर्य सभा के अतिरिक्त आर्य रवि वेद प्रचारिणी सभा नाम से आर्यों का जो एक अन्य संगठन मारीशस में विद्यमान था, उसने भी हीरक जयन्ती में पूर्ण सहयोग दिया था। वस्तुतः यह महोत्सव दोनों सभाओं ने सम्मिलित रूप से ही मनाया था। स्वामी विद्यानन्दजी विदेह ने मारीशस में आकर जिस प्रकार धर्म-प्रचार शुरू किया था, उससे आर्यजन इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने मतभेदों व विरोध-भाव भुलाकर परस्पर सहयोग से आर्यसमाज का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके व्याख्यानों में केवल आर्यसमाजी ही नहीं, अपितु पौराणिक लोग भी उपस्थित हुआ

करते थे। सनातन धर्म के अनेक मन्दिरों में भी उनके व्याख्यानों व प्रवचनों का आयोजन किया गया था। उनके प्रचार का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। पोर्ट लुई की मुसलिम सभा के संचालकों ने एक विशेष सभा का आयोजन किया, जिसमें स्वामी जी को प्रवचन के लिए निमन्त्रित किया गया। इस सभा में मारीशस के बहुत-से मौलवी और राजनैतिक नेता भी उपस्थित थे। वे सब उनके प्रवचन से बहुत प्रभावित हुए। हीरक जयन्ती महोत्सव में जो नर-नारी सम्मिलित हुए थे, उनकी संख्या पचास हजार से कम नहीं थी। मारीशस के आर्य जगत् में जो यह नवजीवन का संचार हुआ, उसका बहुत-कुछ श्रेय स्वामी विद्यानन्दजी को प्राप्त है।

मारीशस में आर्यसमाज एक जीवित-जागृत सक्रिय संस्था है। ७२० वर्गमील के क्षेत्रफल और आठ लाख के लगभग आबादी के इस देश में तीन सौ के लगभग आर्यसमाजें हैं। इनमें से बहुसंख्यक समाजों के अपने भवन हैं, और सभी में नियमपूर्वक साप्ताहिक सत्संग होते हैं। आर्य सभा के अधीन वहाँ जो उपदेशक कार्य कर रहे हैं, उनकी संख्या ३२ के लगभग है। अनेक समाजों के अपने पृथक् पुरोहित भी हैं। वहाँ के आर्य नर-नारियों की स्वाध्याय के प्रति भी रुचि है। यही कारण है, जो वहाँ ऐसे आर्य सज्जन पर्याप्त संख्या में हैं, जो न केवल साप्ताहिक सत्संगों में प्रवचन ही कर सकते हैं, अपितु आवश्यकता पड़ने पर अन्य मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करने की भी क्षमता रखते हैं। प्रचार-कार्य में भी वे उत्साहपूर्वक हाथ बटाते हैं। लाला खेमलाल, लाला गुरुप्रसादजी दलजीतलाल, श्री गोपीचन्द छत्तर और श्री मोहनलाल मोहित इसी प्रकार के आर्य सज्जन थे। मारीशस के बहुसंख्यक हिन्दू निवासी आर्यसमाज के प्रभाव में हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति आस्था रखते हैं। मार्च, १९७२ में जब यह देश ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त होकर स्वतन्त्र हुआ, तो स्वराज्य सरकार के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री शिवसागर रामगुलाम बने थे। वह आर्यसमाजी थे और गर्व के साथ कहा करते थे कि 'मारीशस को स्वाधीनता प्राप्त कराने में आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।' आर्य संसार में मारीशस का महत्त्व इतना अधिक है, कि बारहवाँ सार्वभौम आर्य महासम्मेलन उसकी राजधानी पोर्ट लुई में आयोजित किया गया (अगस्त, १९७३)। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, आचार्य कृष्ण और पण्डित नरेन्द्र आदि अनेक आर्य नेता महासम्मेलन से तीन सप्ताह पूर्व ही मारीशस पहुँच गये थे, और सार्वदेशिक सभा के मन्त्री पण्डित ओमप्रकाश त्यागी भी एक सप्ताह पूर्व वहाँ आ गये थे। इन महानुभावों के आ जाने से मारीशस के आर्यजनों को महासम्मेलन की तैयारी में बहुत सहायता प्राप्त हुई। दक्षिणी अफ्रीका से एक सौ से भी अधिक आर्य नर-नारी श्री सुखराज छोटई और पण्डित नरदेव वेदालंकार के नेतृत्व में इस अवसर पर मारीशस आये। भारत से जो प्रतिनिधि-मण्डल इस महासम्मेलन में सम्मिलित हुआ, महात्मा आनन्द स्वामी, स्वामी सत्यप्रकाश और स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी आदि अनेक आर्य विद्वान् व संन्यासी उसके सदस्य थे। महासम्मेलन की अध्यक्षता सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास ने की थी, जो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डॉक्टर दुखनराम के साथ मारीशस गये थे। केनिया, तंजानिया, फीजी आदि अन्य देशों से भी बहुत-से आर्य लोग इस महासम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए मारीशस गये थे। मारीशस के लिए यह बड़े गौरव की बात थी, कि विश्व भर के आर्य संन्यासी, विद्वान्, नेता और कार्यकर्ता इस अवसर

पर वहाँ पधारे थे। उनके प्रवचनों को सुनकर मारीशस के आर्यसमाज में नवजीवन का संचार हो गया था, और वैदिक धर्म के लिए जनता के उत्साह में अनुपम वृद्धि हो गयी थी। हीरक जयन्ती के अवसर पर पोर्ट लुई के आर्यभवन में एक सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना की गयी, और वहाँ के डी० ए० वी० कॉलिज के लिए नये भवनों का निर्माण कराया गया। यह भी विचार किया गया कि कैसे यह व्यवस्था की जा सकती है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक वैदिक विद्वान् सदा मारीशस में रहा करे, जिससे कि स्थानीय व्यक्तियों को वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तैयार किया जा सके। मारीशस को 'लघु भारत' कहा जाता है। यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि भारत के हरयाणा प्रदेश के समान मारीशस भी एक आर्य प्रदेश है।

सामाजिक कुरीतियों के निवारण, अन्धविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के खण्डन और सत्य सनातन वैदिक धर्म के वास्तविक स्वरूप के प्रचार के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कार्य हैं, जिनके लिए मारीशस का समाज विशेष रूप से प्रयत्नशील रहा है। शिक्षा और हिन्दी-भाषा के प्रचार के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण कार्य उस द्वारा किये गये हैं, उनपर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विशदरूप से प्रकाश डाला गया है। निरक्षरता को दूर करने का आर्यसमाज ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है। आज मारीशस में भारतीय मूल के प्रायः सभी व्यक्ति पढ़-लिख सकते हैं। इसका प्रधान श्रेय आर्यसमाज को ही दिया जाना चाहिए। आर्यसमाज द्वारा जहाँ बहुत-से स्कूल मारीशस में स्थापित किये गये, वहाँ नर-नारियों को साक्षर बनाने तथा हिन्दी पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए सायंकालीन कक्षाओं की भी व्यवस्था की गयी। प्रायः सभी आर्यसमाजों में इस प्रकार की कक्षाएँ विद्यमान रही हैं। भारत के अतिरिक्त विश्व में मारीशस ही एकमात्र अन्य ऐसा देश है, जिसे हिन्दी भाषा-भाषी कहा जा सकता है। इस देश की यह स्थिति आर्य-समाज के प्रयास का ही परिणाम है। हिन्दी के लिए जो प्रयत्न आर्यसमाज ने मारीशस में किया, उसका परिचय इसी बात से प्राप्त किया जा सकता है कि सन् १९२० में वहाँ ७५ हिन्दी विद्यालय आर्यसमाज द्वारा चलाये जा रहे थे, और वर्तमान समय में इन शिक्षणालयों की संख्या ३०० से भी अधिक है। सरकारी पाठ्यक्रम में भी हिन्दी को सम्मिलित कराने के लिए आर्यसमाज द्वारा प्रयत्न किया गया, और इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। पोर्ट लुई के डी० ए० वी० कॉलिज के रूप में उच्च शिक्षा का भी एक ऐसा केन्द्र मारीशस में है, जिसका संचालन वहाँ की आर्य सभा द्वारा किया जा रहा है।

स्त्री-शिक्षा और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए मारीशस में आर्यसमाज ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आर्यसमाज के प्रचार से पहले वहाँ स्त्रियाँ प्रायः निरक्षर थीं। सनातनी हिन्दू स्त्रियों को शिक्षा देना सर्वथा अनुचित समझते थे। सन् १९१२ में डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज की पत्नी श्रीमती सुमंगली देवी ने स्त्री-शिक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ किया, और स्त्रियों की शिक्षा के लिए एक सायंकालीन कक्षा खोलकर उसका कार्य अपने हाथों में ले लिया। इसके पश्चात् जो बहुत-सी कन्या-पाठशालाएँ एवं महिला विद्यालय आर्यसमाज द्वारा मारीशस में स्थापित किये गये, इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में उनका उल्लेख है। पर स्त्रियों के सम्बन्ध में आर्यसमाज का कार्य उन्हें साक्षर बनाने तक ही सीमित नहीं रहा। आर्यसमाज ने प्रयत्न किया, कि उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची हो और वे पुरुषों के साथ मिलकर देश तथा समाज की

उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों। उन्हें आर्यसमाज का सदस्य बनाया गया, और यज्ञोपवीत धारण कर वे भी याज्ञिक अनुष्ठानों और संस्कारों में भाग लेने लगीं। समाज के साप्ताहिक सत्संगों, उत्सवों तथा विविध समारोहों में उन्हें भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया जाने लगा, और अनेक सम्मेलनों में उन्हें अध्यक्ष का आसन भी प्रदान किया गया। सन् १९२९ में जब पोर्ट लुई में श्रद्धानन्द बलिदान दिवस मनाया गया तो उसकी अध्यक्षता श्रीमती कमला बहन ने की थी। अनेक महिलाएँ भी इस समय मारीशस में वैदिक धर्म की प्रचारिकाओं का कार्य करने लगी थीं। इनमें श्रीमती पार्वतीदेवी और श्रीमती द्रौपदी माताबदल जी के नाम उल्लेखनीय हैं। महिला प्रचारिकाओं के प्रयत्न से मारीशस की स्त्रियों में जागृति उत्पन्न होने लगी, और वहाँ के सामाजिक जीवन में उन्हें भी समुचित स्थान प्राप्त होना शुरू हो गया। सन् १९३१ में पोर्ट लुई के श्रद्धानन्द आश्रम में महिला-मण्डल की स्थापना हुई। श्रीमती भगवतीदेवी इसकी प्रधान नियुक्त हुईं, और श्रीमती बखोरीलाल मन्त्री। इस मण्डल की स्थापना में आर्य प्रतिनिधि सभा मारीशस का विशेष कर्तृत्व था। सन् १९३३ तक मारीशस की महिलाओं में इतनी जागृति उत्पन्न हो गयी थी कि साँपियेर के आर्यसमाज द्वारा एक बृहत् महिला सम्मेलन का आयोजन किया जा सका। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए मारीशस के दूर-दूर के प्रदेशों से महिलाएँ साँपियेर आयी थीं। हिन्दी-भाषी महिलाओं के अतिरिक्त तमिल, तेलुगू तथा मराठी भाषाएँ बोलनेवाली स्त्रियाँ भी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुई थीं, और इसके कारण मारीशस की महिलाओं में जागृति उत्पन्न होने में बहुत सहायता मिली थी।

सन् १९३३ के महिला सम्मेलन द्वारा मारीशस की महिलाओं में जिस नव-जीवन का संचार हुआ था, समयान्तर में उसमें शिथिलता आने लगी थी। पर सन् १९६५ में आर्य सभा के प्रयत्न से महिला-आन्दोलन को नया बल मिला, और पोर्ट लुई के आर्य भवन में एक बृहत् महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें सम्मिलित होने के लिए जो स्त्रियाँ मारीशस के विभिन्न प्रदेशों से पोर्ट लुई आयी थीं, उनकी संख्या ८०० के लगभग थी। सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती सुदेवी ज़ी भीमा ने की थी, और मन्त्री का पद श्रीमती द्रौपदी मातावदल ने ग्रहण किया था। सम्मेलन में भाषण करते हुए आर्य सभा के प्रधान श्री मोहनलाल मोहित ने स्त्री-शिक्षा और महिलाओं की दशा को उन्नत करने के लिए जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया था, उसपर विशद रूप से प्रकाश डाला। अन्य सब भाषण प्रायः महिलाओं द्वारा ही दिये गये थे, क्योंकि इस समय तक मारीशस में सुशिक्षित महिलाओं की विशेष कमी नहीं रह गयी थी।

सन् १९७० में पोर्ट लुई में मारीशस आर्यसमाज की जो हीरक जयन्ती मनायी गयी थी, उसमें भी एक महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसमें पाँच हजार के लगभग महिलायें सम्मिलित हुई थीं। इस सम्मेलन की अध्यक्षता भी श्रीमती सुदेवी भीमा ने की थी, और मन्त्री की उत्तरदायिता श्रीमती लखावती हरगोविन्द के ऊपर थी। यह सम्मेलन भी उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ, और अनेक विदुषी महिलाओं के उसमें व्याख्यान हुए। भारत के समान मारीशस में भी स्त्री-आर्यसमाज पृथक् रूप से विद्यमान हैं। वहाँ उनकी संख्या पचास के लगभग है, जो उस छोटे-से देश के लिए कम नहीं है। इन स्त्री-समाजों द्वारा जहाँ साप्ताहिक सत्संग किये जाते हैं, वहाँ यज्ञों का अनुष्ठान व पाठशालाओं का संचालन आदि भी इनके कार्यकलाप के अंग हैं।

सन् १९७७ में आर्य सभा द्वारा आर्य युवक संघ की स्थापना की गयी थी। इसका उद्देश्य नयी पीढ़ी के सुशिक्षित युवकों को वैदिक धर्म और आर्यसमाज की ओर आकृष्ट करना था। मारीशस के बहुत-से युवक कॉलिजों में अंग्रेजी और फ्रेंच आदि की शिक्षा प्राप्त कर अपनी परम्परागत संस्कृति तथा धर्म से विमुख होते जा रहे थे। आर्य सभा ने आवश्यक समझा कि उन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती की अत्यन्त प्रगतिशील व लोक-हितकारी शिक्षाओं से परिचित कराया जाए, ताकि वे पाश्चात्य भौतिकवाद के शिकार न होकर अपने देश तथा समाज की सेवा में तत्पर हो सकें। आर्य युवक संघ जहाँ युवकों को आर्य संस्कृति तथा वैदिक धर्म से परिचित कराके उनके चरित्र-निर्माण तथा नैतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करता था, वहाँ उनमें त्याग और सेवा की भावना को भी उत्पन्न करता था। अठारह वर्ष से अधिक आयु के युवक इस संघ के सदस्य हो सकते थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्य युवक संघ द्वारा अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया गया। ऐसा एक सम्मेलन ६ सितम्बर, १९६९ को क्यूर्पिप के आर्यभवन में हुआ। प्रसिद्ध आर्य विद्वान् डॉक्टर उपर्बुध उस समय मारीशस आये हुए थे। उनके व्याख्यानों से युवकों को बहुत प्रेरणा मिली और उनमें वैदिक धर्म के लिए उत्साह का संचार हुआ। हीरक जयन्ती के अवसर पर पोर्ट लुई में एक अन्य युवक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसके अध्यक्ष डॉक्टर धूरा थे। श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया था। मारीशस के युवक वर्ग में वैदिक धर्म के लिए इस समय इतना उत्साह उत्पन्न हो चुका था, कि इस सम्मेलन में उपस्थिति दस हजार से भी अधिक थी।

मारीशस में आर्यसमाज द्वारा असहायों को सहायता, अनाथों का पालन और दलितों के उद्धार के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। वहाँ एक अनाथालय भी विद्यमान है, जो उसके संस्थापक पण्डित गयासिंह के नाम पर 'गयासिंह अनाथालय' कहाता है। पण्डित गयासिंह मारीशस की पुलिस-सर्विस में थे। वह वैदिक धर्म के अनुयायी और आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। पुलिस की सेवा से निवृत्त होकर उन्होंने अपना जीवन पूर्णतया आर्यसमाज के लिए अर्पित कर दिया था। पण्डित जी के कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने अनाथ बच्चों के पालन के लिए अनाथालय स्थापित करने का निश्चय किया, और अपनी दो-तिहाई सम्पत्ति इसके लिए आर्य प्रतिनिधि सभा को प्रदान कर दी। जब तक वह जीवित रहे, अनाथालय का संचालन करते रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी श्रीमती भगवतीदेवी इसकी देखरेख करती रहीं। धीरे-धीरे इस संस्था ने बहुत उन्नति कर ली। इसकी इमारत पक्की बन गयी, और इसमें १५० बच्चों के निवास व पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था हो गयी।

मारीशस में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में समाचारपत्रों द्वारा बहुत सहायता मिली है। पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का प्रकाशन प्रचार का सशक्त साधन है। इस बात को दृष्टि में रखकर मारीशस में आर्यसमाज ने प्रारम्भ से ही इस दिशा में समुचित प्रयत्न किया। वहाँ आर्यसमाज की स्थापना सन् १९१० में हुई थी। केवल दो वर्ष बाद सन् १९१२ में उस द्वारा 'आर्य पत्रिका' नाम से एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया गया। तब समाज के पास अपना कोई मुद्रणालय नहीं था। डॉक्टर मणिलाल ने मारीशस में 'हिन्दुस्तान प्रेस' नाम से एक मुद्रणालय खोला हुआ था। आर्य पत्रिका वहीं छपा करती थी। डॉक्टर मणिलाल के मारीशस से चले जाने के बाद प्रेस की समुचित

सुविधा नहीं रह गयी, जिससे 'आर्य पत्रिका' के प्रकाशन को बन्द कर देना पड़ा। सन् १९२४ में आर्य परोपकारिणी सभा ने इस पत्रिका का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ किया, और इसके लिए अपना मुद्रणालय भी स्थापित कर लिया। आर्य परोपकारिणी सभा के पदाधिकारियों से मतभेद व विरोध के परिणामस्वरूप जब मारीशस में आर्यसमाजों का एक अन्य संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा नाम से गठित हुआ, तो उस द्वारा भी 'आर्यवीर' नाम से एक अन्य साप्ताहिक समाचारपत्र का प्रकाशन शुरू किया गया। प्रतिनिधि सभा ने स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की स्मृति में श्रद्धानन्द प्रेस भी कायम किया और आर्यवीर का मुद्रण इसी प्रेस में होने लगा। इस प्रकार अब मारीशस में आर्यसमाज के दो साप्ताहिक पत्र हो गये—आर्य पत्रिका और आर्यवीर। यह क्रम सन् १९५० तक जारी रहा। मारीशस में पत्र-प्रकाशन आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं था। ये समाचारपत्र घाटे पर चला करते थे। पर धर्म-प्रचार तथा समाज-सुधार के कार्य में इनसे बहुत सहायता मिलती थी। अतः हजारों रुपयों का घाटा उठाकर भी आर्य परोपकारिणी सभा और आर्य प्रतिनिधि-सभा इन पत्रों का प्रकाशन करती रही। जब इन दोनों सभाओं का विलय होकर आर्यसभा नाम से एक केन्द्रीय सभा मारीशस में स्थापित हो गयी, तो आर्य पत्रिका और आर्य-वीर के स्थान पर एक नया पत्र इस सभा द्वारा प्रकाशित किया जाना शुरू हुआ, जिसका नाम 'आर्योदय' रखा गया।

'आर्योदय' के अतिरिक्त एक अन्य पत्र का प्रकाशन भी सन् १९७१ में मारीशस में शुरू किया गया। इसका नाम 'वैदिक जर्नल' है। यह पत्र त्रैमासिक है, और इसमें अंग्रेजी, फ्रेंच तथा हिन्दी—तीनों भाषाओं में लेख रहते हैं। इसके प्रकाशन का प्रारम्भ आर्य युवक संघ द्वारा किया गया था। मारीशस के आर्य नर-नारियों ने हिन्दी साहित्य के सृजन तथा प्रकाशन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पण्डित आत्माराम, पण्डित काशीनाथ, डॉक्टर शिवगोविन्द, पण्डित गयासिंह, श्रीमती भगवती गयासिंह, श्री मोहनलाल मोहित और श्री प्रह्लाद रामशरण आदि कितने ही आर्य लेखकों ने वहाँ साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इन द्वारा रचित अनेक पुस्तकों का सम्बन्ध वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों के साथ भी है।

मारीशस में जो ३०० के लगभग आर्यसमाज तथा ५० के लगभग स्त्री-आर्यसमाज हैं, उन सबका परिचय दे सकना न इस ग्रन्थ में सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। इस देश का क्षेत्रफल भारत की बहुत-सी तहसीलों से भी कम है, और यही बात इसकी जनसंख्या के सम्बन्ध में भी सही है। इस छोटे-से देश में बड़े नगरों की सत्ता सम्भव ही नहीं है। इसका सबसे बड़ा नगर पोर्ट लुई है, जिसकी आबादी डेढ़ लाख के लगभग है। अन्य नगर भारत के कस्बों के समान हैं। बहुत-सी बस्तियों को बड़े गाँवों के सदृश समझा जा सकता है। पर यह बात अत्यन्त महत्त्व की है, कि प्रायः इन सबमें आर्यसमाज विद्यमान हैं। बहुत-से आर्यसमाजों के अपने भवन भी हैं, जिन्हें वहाँ की आर्यजनता ने प्रभूत धन लगाकर बनवाया है। प्रायः सभी आर्यसमाज शिक्षा के केन्द्र हैं। बहुतों में पाठशालाएँ व विद्यालय चलते हैं, और बहुतों में हिन्दी की सायंकालीन कक्षाएँ लगती हैं। साप्ताहिक सत्संग तथा सन्ध्या-हवन प्रायः सभी में नियमपूर्वक होते हैं। प्रमुख आर्य पर्व भी उनमें उत्साह तथा श्रद्धापूर्वक मनाये जाते हैं। वस्तुतः, मारीशस में आर्यसमाज एक जीवित-जागृत आन्दोलन का रूप लिये हुए है।

वहाँ के आर्यसमाजों में क्युर्पिप (स्थापना-वर्ष १९१०), पोर्ट लुई (१९११), लावनीर (१९२०), पेचित रोजालो (१९२२), शामुनी (१९१७), शेमे ग्रेन्ये सावान (१६३७), हेर मोताज (१९६०), माहेवर्ग ग्राँ पोर (१९२५), रिव्येर-द-जांगी (१९२१), वारनी त्रियोले (१९३२), वाक्वा (१९११) आदि के समाज अधिक प्रसिद्ध हैं। निर्देशन के लिए इनमें से एक आर्यसमाज का संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा। लावनीर आर्य-समाज की स्थापना दिसम्वर, १९२० में हुई थी। प्रारम्भ में इसके वारह सदस्य थे। वाद में यह संख्या बढ़कर तीस हो गयी। समाज से सम्वद्ध आर्य परिवारों की जनसंख्या १५० है। इस समाज का निजी पुस्तकालय है। आर्यस्त्री-समाज भी वहाँ विद्यमान है। साप्ताहिक सत्संग नियमपूर्वक होते हैं। सायंकाल हिन्दी की शिक्षा की भी व्यवस्था है। प्रतिवर्ष तीन दिन वार्षिकोत्सव समारोह होता है, जिसमें यज्ञ तथा विद्वानों के प्रवचन होते हैं। समाज का अपना विशाल भव्य मन्दिर है।

मारीशस आर्य सभा ने अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए ग्यारह समितियाँ वनायी हुई हैं—अनाथालय समिति, जायदाद समिति, प्रेस समिति, विद्या समिति, डी० ए० वी० कॉलिज समिति, वेदवाणी समिति, सरकारी स्कूल सहायक समिति, पुस्तकालय-समिति, प्रचार समिति, शिक्षा वोर्ड समिति और युवक संघ समिति।

मारीशस में आर्यसमाज के अनुयायियों की संख्या सवा लाख के लगभग है।

पच्चीसवाँ अध्याय

फीजी में आर्यसमाज

(१) आर्यसमाज का बीजारोपण

प्रशान्त महासागर के दक्षिण-पश्चिमी भाग में भारत से लगभग सात हजार मील दूर फीजी द्वीप-समूह की स्थिति है। इस द्वीप-समूह के अन्तर्गत छोटे-बड़े द्वीपों की संख्या ३०० से भी अधिक है, पर वे सब मनुष्यों के निवास के योग्य नहीं हैं। ऐसे द्वीप केवल १०० के लगभग हैं, जिनमें आबादी हो सकती है। सबसे बड़े द्वीप वीनी लेवू और वानुआ लेवू हैं, जिनका क्षेत्रफल क्रमशः ४,०१० और २,१३७ वर्गमील है। फीजी द्वीप-समूह की राजधानी सूवा है, जो वीनी लेवू द्वीप में स्थित है। सन् १८७५ तक ये द्वीप स्वतन्त्र थे, और वहाँ महाराजा दाकम्बाऊ का शासन था। फीजी के निवासी तब उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़े हुए थे, और नये ज्ञान-विज्ञान का इन द्वीपों में प्रवेश नहीं था। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड आदि पाश्चात्य देश उन दिनों अफ्रीका और एशिया के पिछड़े हुए देशों को अधीन कर अपने-अपने साम्राज्यों के निर्माण में तत्पर थे, और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित होना प्रारम्भ हो गया था। इस दशा में फीजी द्वीप-समूह के लिए भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा, और वहाँ के महाराजा दाकम्बाऊ ने १० अक्टूबर, १८७५ के दिन अपने शासनाधिकार ग्रेट ब्रिटेन के सुपुर्द कर दिये। इस प्रकार फीजी द्वीप-समूह पर ब्रिटेन का प्रभुत्व स्थापित हुआ। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड इससे पहले ही ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ चुके थे, और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिये थे। अब अंग्रेजों ने फीजी द्वीप-समूह में भी अपने उपनिवेश बसाना और खेती आदि द्वारा उसका आर्थिक विकास करना शुरू कर दिया। फीजी द्वीप की भूमि खेती के लिए बहुत उपयुक्त थी, पर आर्थिक दृष्टि से उसका विकास करने के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी। प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन भारत से मजदूरों की भरती करना और एक निश्चित अवधि के लिए उन्हें ब्रिटिश उपनिवेशों में ले-जाना उस समय प्रारम्भ हो चुका था। फीजी के लिए भी भारत से मजदूरों की भरती की गयी और ५ मई, सन् १८७९ को ४६८ भारतीय स्त्री-पुरुष प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन 'लियोनिडास' नामक जहाज से फीजी पहुँचाये गये। इसके पश्चात् प्रतिवर्ष भारतीय मजदूरों को फीजी ले-जाये जाने का सिलसिला जारी रहा, और इस प्रकार वहाँ भारतीयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। जो भारतीय मजदूर प्रतिज्ञाबद्ध होकर फीजी जाते थे, उनमें से कुछ प्रतिज्ञा की अवधि समाप्त होने पर भारत लौट भी आते थे, पर बहुसंख्यक स्थायी रूप से वहीं बस जाते थे। सन् १९२१ में फीजी द्वीप-समूह में निवास करनेवाले भारतीयों की संख्या ६८,००० तक पहुँच गयी थी, जिनमें ५८,९०३ हिन्दू,

६२० मुसलमान और शेष क्रिश्चियन थे। ये भारतीय प्रायः उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों तथा विहार के रहनेवाले थे, और इनकी भाषा हिन्दी थी।

प्रतिज्ञावद्ध कुलीप्रथा के अधीन फीजी में गये भारतीयों के जीवन के सम्बन्ध में अधिक लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यह निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि क्रिश्चियन मिशनरी उन्हें ईसाई बनाने के लिए जी-जान से प्रयत्नशील थे। भारत से सम्पर्क न रहने के कारण उनके लिए अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा कर सकना सुगम नहीं रह गया था। क्रिश्चियन मिशनरी इस दशा से लाभ उठा रहे थे, और ९,००० के लगभग हिन्दुओं को ईसाई बनाने में वे सफलता भी प्राप्त कर चुके थे। पर प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन जो व्यक्ति फीजी गये, उनमें कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें अपने धर्म का कुछ ज्ञान था। उनमें कुछ कबीरपन्थी और रामानन्दी साधु भी थे, जो यदाकदा धर्म-सम्बन्धी चर्चा करते रहते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में आर्यसमाज का भारत में विस्तार प्रारम्भ हो चुका था, और उत्तरप्रदेश तथा विहार में भी अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। इन प्रदेशों से जो वहुत-से व्यक्ति प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन फीजी जा रहे थे, उनमें कुछ ऐसे भी थे जिन्हें आर्यसमाज के कार्यकलाप तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से परिचय था। फीजी में मजदूरों के रूप में कार्य करते हुए ये कभी-कभी इन शिक्षाओं की चर्चा करते रहते थे, और जब प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि पूरी हो जाने पर ये वहाँ स्वतन्त्र रूप से आबाद हो गये, तो इन्होंने अधिक खुलकर अपने देश-भाइयों की उन्नति तथा सुधार पर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में फीजी में गये हुए व्यक्तियों में जो आर्यसमाज से कुछ परिचय रखते थे, उनमें एक श्री मंगलसिंह थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त हो जाने पर वह फीजी में ही वस गये थे, और सामाबूला (सूवा) में कुटी बनाकर रहने लगे थे। श्री मंगलसिंह का यह निवासस्थान भारतीयों के लिए एक धर्मशाला के समान था, जहाँ वे वहुधा एकत्र होते रहते थे और जहाँ विविध धर्मों व सम्प्रदायों के प्रवचन भी हुआ करते थे। ईसाई पादरी भी वहाँ अपने धर्म के प्रचार के लिए आते रहते थे। फीजी में रहनेवाले भारतीयों में एक श्री विहारीलाल जी थे, जो प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में उस देश में नहीं गये थे। उन्होंने दक्षिणी अमेरिका जाने के लिए भारत से प्रस्थान किया था, पर गलती से वह सिडनी (आस्ट्रेलिया) जानेवाले जहाज पर सवार हो गये थे, और वहाँ से सूवा (फीजी) आ गये थे (सन् १८९६)। वहाँ आकर उन्होंने नौकरी कर ली, और स्वतन्त्र रूप से जीवन-यापन प्रारम्भ कर दिया था। विहारीलाल जी पढ़े-लिखे थे और उर्दू अच्छी जानते थे। वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी थे, और उर्दू सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति उनके पास थी। सामाबूला (सूवा) में वह श्री मंगलसिंह की कुटी पर ही रहते थे। वहाँ रहते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की कथा करना शुरू कर दिया, जिसे सुनकर लोगों में आर्यसमाज के लिए उत्साह उत्पन्न होने लगा। फीजी में प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जाकर बसे हुए एक सज्जन श्री गाजी प्रतापसिंह थे, जो मूलतः इलाहाबाद जिले के एक गाँव के निवासी थे, और सन् १८८६ में तेईस वर्ष की आयु में फीजी चले गये थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त होने पर उन्होंने अपना स्वतन्त्र कारोबार शुरू कर दिया था, और एक डेयरी फार्म भी खोल लिया था। बाबू मंगलसिंह से इनका घनिष्ठ सम्पर्क था। वावू विहारीलाल की कथाएँ और प्रवचन सुनकर वह महर्षि दयानन्द

सरस्वती के अनुयायी हो गये। इसी प्रकार के एक अन्य सज्जन श्री ननकू सुनार(काठियावाड़ी) थे। वह भी सत्यार्थप्रकाश की कथा से बहुत प्रभावित हुए। इन सब सज्जनों (बाबू मंगलसिंह, बाबू बिहारीलाल, श्री गाजी प्रतापसिंह और श्री ननकू सुनार) ने मिलकर निश्चय किया, कि फीजी में आर्यसमाज के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से प्रारम्भ कर दिया जाए। बाबू मंगलसिंह की कुटी में अब लोग अधिक संख्या में आने लग गये, और वह भारतीयों के धार्मिक व सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गयी। सत्यार्थप्रकाश की कथा के अतिरिक्त वहाँ कबीर और मीरा आदि के भजन भी गाये जाने लगे। भारत से हजारों मील दूर एक छोटे-से द्वीप में बसे हुए जो हिन्दू अपने धर्म तथा संस्कृति को भूलने लग गये थे, बाबू मंगलसिंह की कुटी में होनेवाली सत्यार्थप्रकाश की कथा तथा भक्ति के गीतों से वे न केवल अपने धर्म और संस्कृति से परिचित ही होने लगे, अपितु उनके प्रति उनके हृदयों में उत्साह भी उत्पन्न हो गया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि २७ दिसम्बर सन् १९०४ को सामाबूला (सूवा) में श्री मंगलसिंह की कुटी पर आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी। समाज के अधिकारियों का चुनाव इस प्रकार हुआ—प्रधान श्री मंगलसिंह, मन्त्री—श्री बिहारीलाल, और कोषाध्यक्ष—श्री गाजी प्रतापसिंह। समाज की स्थापना के समय जो अन्य सज्जन उपस्थित थे, उनमें श्री ननकू सुनार, श्री वासुदेवराय और श्री इनायत हुसैन के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री इनायत हुसैन सत्यार्थप्रकाश की शिक्षाओं से इतने प्रभावित हुए थे, कि वह आर्यसमाज के सदस्य बन गये थे और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बटाते रहते थे।

शिक्षा का प्रसार आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण अंग है। फीजी के प्रथम आर्यसमाज द्वारा भी इस ओर ध्यान दिया गया, और श्री मंगलसिंह की कुटी में ही प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए एक रात्रि-पाठशाला खोल दी गई। हिन्दी पढ़ाने की उसमें विशेष रूप से व्यवस्था की गयी। फीजी में यह प्रथम सुव्यवस्थित हिन्दी पाठशाला थी, जिसे आर्यसमाज ने अपनी स्थापना के साथ ही प्रारम्भ कर दिया था। इसके कुछ समय पश्चात् बच्चों के लिए दिन की पाठशाला भी खोल दी गयी। उस युग में भारतीय माता-पिता अपनी कन्याओं को स्कूल में भेजना पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि उनका वातावरण भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं होता था और उनका संचालन प्रायः ईसाइयों के हाथों में था। पर आर्यसमाज ने जिस पाठशाला की स्थापना की थी, उसका वातावरण आर्यधर्म और भारतीय संस्कृति के अनुरूप था। अतः हिन्दू कन्याएँ भी इस पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने लगीं, और फीजी में स्त्री-शिक्षा का प्रसार होने लग गया। आर्यसमाज-मन्दिर पर 'ओ३म्' की पताका भी फहरा दी गयी, और रविवार को साप्ताहिक सत्संग समारोह के साथ होने लगे। जो भी व्यक्ति आर्यसमाज में प्रविष्ट होता था, उसे गायत्री मन्त्र की शिक्षा दी जाया करती थी और यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था। फीजी में आर्यसमाज का बीज अब भली-भाँति अंकुरित हो गया था।

(२) फीजी में आर्यसमाज का विस्तार

सन् १९०४ (आर्यसमाज के फीजी में स्थापना-वर्ष) में कतिपय अन्य ऐसे व्यक्ति भारत से फीजी गये थे, जिन्हें आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से परिचय था। ऐसे एक सज्जन पण्डित शिवदत्त थे। पाँच वर्ष प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में

कार्य करने के पश्चात् जब वह स्वतन्त्र हुए, तो सूवा आ गये और वहाँ आते ही आर्य-समाज की पाठशाला का कार्यभार संभाल लिया। शिवदत्त जी आर्यसमाज के सफल एवं प्रभावशाली प्रचारक थे। सन् १९०४ में जब वह कलकत्ता से फीजी आ रहे थे, तब जहाज पर भी अपने साथी यात्रियों (प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों) से महर्षि के मन्तव्यों के विषय में चर्चा करते रहते थे, और फीजी पहुँचकर जब वह नाबुआ में मजदूरी करने लगे, तब भी प्रचार-कार्य में व्यापृत रहे। उन दिनों नाबुआ में एक मौलवी ने इस्लाम का प्रचार शुरू किया हुआ था, और एक छोटी-सी मसजिद बनाकर वह हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में प्रयत्नशील था। भागवत नाम के एक ब्राह्मण को मुसलमान बनाने में वह सफल भी हो गया था। पण्डित शिवदत्त ने इसका विरोध किया, और हिन्दू-धर्म की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने मौलवी साहब के उन तर्कों का खण्डन शुरू कर दिया, जिन्हें वह इस्लाम के प्रचार के लिए प्रयुक्त किया करते थे। शिवदत्त जी की युक्तियों के सम्मुख मौलवी साहब निरुत्तर हो गये, और नाबुआ को छोड़कर वह लबुआ चले गये, जहाँ से वह फिर वापस नहीं लौटे। नाबुआ में इस्लाम के प्रचार का जो प्रयत्न उन्होंने शुरू किया था, वह असफल हो गया और वहाँ की जनता वैदिक धर्म के प्रभाव में आने लग गयी। क्रिश्चियन मिशनरियों से भी शिवदत्त जी ने अनेक शास्त्रार्थ किये। एक शास्त्रार्थ मेथोडिस्ट चर्च के पादरी रेवेरेण्ड ईश्वरीप्रसाद से हुआ था, जिसका विषय 'मुक्ति' था। इसके लिए मौलवी नासिर अली, बाबा पिंगलदास कबीरपन्थी, पण्डित जगन्नाथप्रसाद महाराज, बाबू बलवन्तसिंह और बाबू रामसिंह मध्यस्थ चुने गये थे। इस शास्त्रार्थ का विवरण देते हुए 'पैसिफ़िक एज' नामक अंग्रेजी पत्र ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया था, कि रेवरेण्ड ईश्वरीप्रसाद पण्डित शिवदत्त के सिद्धान्तों का खण्डन नहीं कर सके और उनके प्रश्नों का उत्तर देने में भी वह असमर्थ रहे। इसमें सन्देह नहीं कि सन् १९०४ में आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर जिन महानुभावों ने फीजी में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष रूप से कार्य किया, पण्डित शिवदत्त का उनमें महत्त्वपूर्ण स्थान था।

मई, सन् १९०४ में जो अन्य अनेक भारतीय पण्डित शिवदत्त के साथ फीजी पहुँचे थे, उनमें श्री इन्द्रनारायण और जगन्नाथप्रसाद महाराज भी थे। इनमें श्री इन्द्र-नारायण शुरू से ही आर्यसमाज के कार्यकलाप में हाथ बटाने लगे थे, और श्री जगन्नाथ-प्रसाद ने बाद में आर्यसमाज में प्रवेश कर उसमें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। वह मथुरा के निवासी थे, और परिवार की आर्थिक अवस्था ठीक न होने के कारण प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन फीजी चले गये थे। बाद में उन्होंने स्वतन्त्र कारोबार शुरू कर दिया था, और शीघ्र ही वह फीजी के एक अच्छे सम्पन्न व्यापारी बन गये थे। आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जाने पर वह न केवल सूवा के आर्यसमाज के ही, अपितु फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा के भी प्रधान निर्वाचित हो गये थे। अनेक ऐसे महानुभाव भी अब आर्यसमाज के कार्य में रुचि लेने लग गये थे, जो अभी समाज के विधिवत् सभासद् नहीं बने थे। पण्डित भगवती और पण्डित तोताराम सनाढ्य इसी प्रकार के व्यक्ति थे। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में ही आर्यसमाज के आन्दोलन ने फीजी में ऐसा रूप प्राप्त कर लिया था, कि सभी हिन्दू उसे अपने लिए हितकर मानने लग गये थे, और अपनी जाति के उज्ज्वल भविष्य के लिए उनकी आँखें उसी में केन्द्रित होने लग गयी थीं। आर्य-

समाज के कारण अब न केवल ईसाइयों और मुसलमानों के लिए किसी हिन्दू को अपने धर्म का अनुयायी बना सकना ही सम्भव रह गया था, अपितु कितने ही ईसाइयों व मुसलमानों को शुद्ध कर हिन्दू बनाना भी शुरू कर दिया गया था। गुरुदीन पाठक नाम के एक ब्राह्मण ईसाई हो गये थे, और उनका नया नाम पीटर ग्राण्ट रख दिया गया था। आर्य-समाज के प्रभाव से वह पुनः सपरिवार हिन्दू हो गये। उनका शुद्धि-संस्कार धूमधाम के साथ किया गया, जिससे ईसाइयों में खलबली मच गयी। उन्होंने अनुभव कर लिया कि अब फीजी में हिन्दुओं को क्रिश्चियन बना सकना कठिन हो गया है। तब उन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध सरकार के कान भरने शुरू कर दिये। उनका कहना था, कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है, जो धर्म की आड़ में जनता में राष्ट्रीयता की भावना को उद्बुद्ध कर रही है। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहे थे, आर्यसमाज को भी उनके लिए उत्तरदायी समझा गया था। इसीलिए लाला लाजपतराय को गिरफ्तार कर मांडले में नजरबन्द कर दिया गया था, और पटियाला में बहुत-से आर्यसमाजियों के विरुद्ध राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया था। इस दशा में क्रिश्चियन मिशनरियों ने फीजी में आर्यसमाज के विरुद्ध जो शिकायतें करनी शुरू कीं, सरकार ने उन्हें महत्त्व दिया, और इसका परिणाम यह हुआ कि समाज द्वारा शिक्षा-प्रसार आदि के लिए जो यत्न किये जा रहे थे, उनमें बाधाएँ उपस्थित होने लग गयीं। यह सही है कि भारत के समान फीजी में भी आर्यसमाज द्वारा समाज-सुधार, देशभक्ति, स्वदेशी तथा अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम का प्रचार किया जा रहा था। ईसाई पादरियों ने इसे निमित्त बनाकर सरकार के सम्मुख यह पक्ष रखना शुरू किया, कि आर्यसमाज एक राजद्रोही संस्था है। पादरियों से प्रभावित होकर सन् १९१३ में फीजी की सरकार ने आर्यसमाज के प्रति अपना रुख कड़ा कर लिया था, और आर्यों के घरों पर अचानक छापे मारकर वहाँ से कागजात तथा पुस्तकें उठा ली थीं। पर उनमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं पायी गयी। इसी बीच भारत से अंग्रेजी में प्रकाशित कुछ आर्यसमाजी साहित्य मंगाकर फीजी के गवर्नर को भेज दिया गया, जिससे आर्यसमाज के वास्तविक उद्देश्य सरकार के सामने स्पष्ट हो गये।

पर १९१२ तक फीजी में आर्यसमाज के आन्दोलन ने अच्छा जोर पकड़ लिया था। सन् १९०४ में सामाबूला में स्थापित प्रथम आर्यसमाज के बाद सन् १९०६ में लम्बासा में समाज की स्थापना हो गयी थी। इस समाज की स्थापना में पण्डित द्वारिका-दत्त का प्रधान कर्तृत्व था। लम्बासा फीजी द्वीप-समूह के वानुआ लेवू द्वीप में है। प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में द्वारिकादत्त जी इस द्वीप में ले-जाये गये थे, और प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा हो जाने पर वहीं बस गये थे। आर्यसमाज से वह भारत में ही परिचय प्राप्त कर चुके थे। स्वतन्त्र कारोबार शुरू करने पर वह वैदिक धर्म के प्रचार के लिए भी समय निकालने लगे, और श्री मंगल काछी, श्री हरिकृष्ण शर्मा, श्री नरोत्तमचन्द्र तथा श्री रामबख्श आदि के सहयोग से लम्बासा में आर्यसमाज स्थापित किया। वीती-लेवू द्वीप में राकाराकी नामक स्थान पर पण्डित बद्रीदत्त ने धर्म की ज्योति जगायी। वह प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में सन् १८८९ में फीजी गये थे, और प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा हो जाने पर राकाराकी में बस गये थे। सन् १८९६ में उन्होंने वहाँ एक हिन्दी पाठशाला खोल दी थी, और उसे केन्द्र बनाकर वैदिक धर्म के मन्तव्यों का प्रचार भी

शुरू कर दिया था। बाद में वहाँ आर्यसमाज की भी स्थापना हो गयी। फीजी के अन्य नगरों व बस्तियों में भी प्रचार का कार्य उत्साहपूर्वक किया जा रहा था। ड्रासा में चौधरी रणधीरसिंह और लौटाका में पण्डित अवधराम प्रचार में तत्पर थे। नाँदी में प्रचार का कार्य पण्डित हरदयाल शर्मा ने सम्भाला हुआ था और नदरोंगा, नसूरी, नाबुआ आदि स्थानों पर भी अनेक सज्जन आर्यसमाज का कार्य करने में लगे थे। ये सब प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों के रूप में ही फीजी आये थे। न ये सुशिक्षित प्रचारक थे, और न इन्होंने वैदिक सिद्धान्तों का भली-भाँति अध्ययन ही किया था। पर ये सब महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से परिचित व प्रभावित थे, और सत्यार्थप्रकाश द्वारा इन्होंने वैदिक धर्म के वास्तविक रूप का परिज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। ये अपने ढंग से भजन गाकर, कथाएँ कहकर या भाषण देकर धर्म का प्रचार करते थे, और जनता में इन द्वारा आर्य-समाज के कार्यकलाप के लिए उत्साह उत्पन्न होता था। इन्हीं सबके प्रचार का यह परिणाम था, कि क्रिश्चियन मिशनरी फीजी के हिन्दुओं को ईसाई बनाने में असमर्थ रहे थे, और उनकी संख्या अधिक नहीं बढ़ पायी थी।

सन् १९१३ से पहले आर्यसमाज का कोई प्रचारक भारत से धर्म-प्रचार के लिए फीजी नहीं गया था। वहाँ समाज का जो भी कार्य हो रहा था, उसका संचालन वहीं के उन महानुभावों द्वारा किया जा रहा था, जो प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि को पूरा कर स्थायी रूप से वहाँ बस गये थे। सन् १९१३ में इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ, और भारत से आर्यसमाज के प्रचारक फीजी पहुँचने लगे। सबसे पहले स्वामी राममनोहरानन्द वहाँ गये। सन् १९१० में पण्डित अवधराम ने लौटाका में प्रचार-कार्य करना प्रारम्भ किया था। वह उसी साल प्रतिज्ञाबद्धता से मुक्त हुए थे। उन्होंने देखा कि अनेक क्रिश्चियन पादरी और मुसलमान मौलवी बाहर से आकर फीजी में काम कर रहे हैं, यदि आर्यसमाज का भी कोई सुयोग्य उपदेशक भारत से आ जाए, तो प्रचार-कार्य में बहुत सहायता मिल सकती है। उन्होंने एक विज्ञापन भारत के समाचारपत्रों में छपवा दिया, जिसके उत्तर में स्वामी राममनोहरानन्द ने फीजी आने की इच्छा प्रकट की। जनवरी, १९१३ में स्वामीजी फीजी पहुँच गये। सूवा में उनका धूमधाम से स्वागत किया गया, और उनके निवास की व्यवस्था महन्त पिंगलदास की कुटी 'फ्रण्डीचर' पर की गयी। पिंगलदासजी कबीरपन्थी साधु थे, और प्रतिज्ञाबद्ध कुली के रूप में फीजी गये थे। प्रतिज्ञा-बद्धता की अवधि के पूरा हो जाने पर वह फीजी में धर्म-प्रचार के काम में लग गये, और सूवा तथा नसूरी में उन्होंने दो आश्रमों की स्थापना की। यद्यपि वह कबीरपन्थी थे, पर आर्यसमाज से उन्हें बहुत प्रेम था और उसके कार्यों में वह सहायता भी करते रहते थे। इन्हीं की कुटी या आश्रम में रहकर स्वामी राममनोहरानन्द ने प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया, जिसके कारण वह वैदिक धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। बाद में स्वामी जी फीजी के अन्य नगरों—नसूरी, लौटाका आदि—में प्रचार के लिए गये और सर्वत्र जनता उनके भाषणों से बहुत प्रभावित हुई। स्वामी जी चाहते थे, कि फीजी में एक ऐसी शिक्षण-संस्था की स्थापना की जाए, जिसमें शिक्षा का ढंग भारतीय हो और जहाँ आर्य-धर्म और भारतीय संस्कृति के वातावरण में बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सकें। इस समय तक भारत में अनेक गुरुकुल स्थापित हो चुके थे। स्वामी जी फीजी में भी एक गुरुकुल ही स्थापित करना चाहते थे। आर्य जनता ने उनके विचार का हार्दिक स्वागत किया, और इसे

क्रियान्वित करने के लिए ३०० पौंड (५००० रुपये के लगभग) तुरन्त एकत्र कर लिये गये। अक्टूबर, सन् १९१६ में ड्रासा में एक आर्य सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें श्री हीरालाल सेठ, पण्डित बद्रीदत्त, पण्डित हरदयाल शर्मा, चौधरी रणधीरसिंह, पण्डित रामनारायण मिश्र आदि सभी प्रमुख आर्य नेता उपस्थित हुए। आर्य-शिक्षण-संस्था (गुरुकुल) की स्थापना के लिए सम्मेलन में ही ११०० पौण्ड इकट्ठे हो गये, और लौटाका के निकट सवेनी में गुरुकुल की स्थापना का निश्चय कर लिया गया। फीजी के आर्यसमाजियों में अपने इस शिक्षणालय के लिए इतना अधिक उत्साह था, कि अनेक व्यक्ति उसके लिये अपना तन, मन, धन अर्पित करने को तैयार हो गये। १६ नवम्बर, १९१९ को सवेनी में गुरुकुल की विधिवत् स्थापना हो गयी। उसके संचालक स्वामी राममनोहरानन्द नियुक्त हुए, और उन द्वारा इस संस्था की सब व्यवस्था सुचारु रूप से सम्भाल ली गयी।

(३) फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना और गतिविधि

ड्रासा के जिस सम्मेलन (सन् १९१६) में गुरुकुल के लिए ११०० पौण्ड एकत्र हुए थे, उसी में यह भी निश्चय किया गया था, कि फीजी में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना कर दी जाय, ताकि उस द्वीप-समूह के सब आर्यसमाज एक केन्द्रीय संगठन में संगठित होकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को अधिक सशक्त रूप से पूरा कर सकें। सन् १९१८ में फीजी में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना कर दी गयी। शुरू में इसका कार्यालय ड्रासा में रखा गया, और स्वामी राममनोहरानन्द उसके प्रधान निर्वाचित हुए। गुरुकुल के समान प्रतिनिधि सभा की स्थापना की प्रेरणा भी इन्हीं द्वारा प्रदान की गयी थी। सभा को औपचारिक रूप से रजिस्टर्ड कराने में डॉक्टर मणिलाल का साहाय्य भी फीजी के आर्यसमाजियों को प्राप्त हुआ था। महात्मा गांधी की प्रेरणा से डॉक्टर मणिलाल सन् १९१२ में फीजी गये थे, और वहाँ भारतीयों की सहायता करने तथा उनकी समस्याओं का समाधान करने में तत्पर थे। प्रारम्भ के वर्षों में फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा की क्या नियमावली थी, और उसका क्या कार्यकलाप था, इसका रिकॉर्ड अब उपलब्ध नहीं है। पर १९३० से पूर्व दस आर्यसमाज उसके साथ सम्वद्ध हो चुके थे— रा, तावुआ, बा, नाँदी, लोटोका, नावुआ, लम्बासा, नन्दरोगा, नोसोरी और सूवा। उस समय तक सभा का कार्यालय लोटाका में स्थानान्तरित हो चुका था, और २८ मार्च सन् १९२८ को फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के साथ सम्वद्ध भी हो गयी थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्माण के कारण फीजी में आर्यसमाज की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी, पर शीघ्र ही उसे कतिपय समस्याओं का सामना करना पड़ गया। सन् १९२० में वसिष्ठ मुनि नामक एक साधु फीजी आये थे। उनके विचार समाजवादी थे, अतः उन्होंने किसानों और मजदूरों को संगठित करना प्रारम्भ किया, और उनमें वह बहुत लोकप्रिय हो गये। पर आर्यसमाज ने उनका साथ नहीं दिया। आर्यसमाज एक धार्मिक व सामाजिक संस्था थी, और वसिष्ठ मुनि का कार्यक्षेत्र राजनैतिक था। पर साधु इस बात से बहुत क्षुब्ध हुए कि आर्यसमाज उनके कार्यकलाप का समर्थन क्यों नहीं करता। उन्होंने आर्यसमाज पर अनेकविध आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये, और

फीजी की जनता को उसके विरुद्ध भड़काना शुरू कर दिया। वसिष्ठ मुनि के इस विरोधी आन्दोलन से विधर्मियों को बहुत बल मिला, और क्रिश्चियन पादरी आर्यसमाज के मन्तव्यों के खण्डन तथा जनता में उसके प्रभाव को दूर करने में दुगुने उत्साह से तत्पर हो गये। पर आर्यसमाज को वे क्षति नहीं पहुँचा सके, क्योंकि पण्डित शिवदत्त आदि आर्य उनका मुकाबला करने के लिए पूर्णरूप से समर्थ थे।

फीजी में आर्यसमाज का आन्दोलन जो सुव्यवस्थित व सशक्त रूप प्राप्त कर सका, उसमें स्वामी राममनोहरानन्द का कर्तृत्व प्रधान था। वहाँ के सब आर्य उनके प्रति श्रद्धा व आदर का भाव रखते थे। पर सन् १९२६ में उनके जीवन में महान् परिवर्तन आया, और उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का निश्चय कर लिया। एक प्रतिष्ठित परिवार की कुमारी कन्या श्रीमती सुमित्रा देवी से विधिवत् विवाह कर वह बा चले गये, और वहाँ गृहस्थ-जीवन विताने लगे। संन्यास आश्रम का परित्याग करते ही उन्होंने गुरुकुल नसेनी से भी विदा ले ली थी। एक संन्यासी का गृहस्थाश्रम में प्रवेश आर्य आश्रम-मर्यादा के अनुरूप नहीं था। अतः आर्यसमाज के क्षेत्र में जहाँ उससे क्षोभ का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ विरोधियों व विधर्मियों ने इस विवाह को लेकर आर्यसमाज पर आक्षेप भी शुरू कर दिये। इस दशा में पण्डित शिवदत्त सदृश आर्य नेताओं ने यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा, कि यह विवाह राममनोहरानन्द जी का व्यक्तिगत मामला है, और आर्यसमाज इसका समर्थन नहीं करता।

स्वामी राममनोहरानन्द के गृहस्थ होकर गुरुकुल नसेनी से चले जाने पर पण्डित हरदयाल शर्मा ने उसका संचालन अपने हाथों में ले लिया, और पण्डित शिवदत्त भी अध्यापन-कार्य के लिए वहाँ आ गये। पर यह आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जाती रही और राममनोहरानन्द जी के गुरुकुल में रहते समय भी अनुभव की जाती रही थी कि किन्हीं सुयोग्य व अनुभवी सज्जन को गुरुकुल का संचालन करने के लिए बुलाया जाना चाहिए। इसीलिये इस सम्बन्ध में गुरुकुल कांगड़ी से पत्र-व्यवहार किया गया था, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला था। डॉक्टर मणिलाल के माध्यम से फीजी के आर्यसमाजियों का दक्षिणी अफ्रीका के आर्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। अतः श्री भवानीदयाल संन्यासी को भी इस विषय में लिखा गया। फरवरी, १९२५ में मथुरा में महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी का महोत्सव था। भवानीदयाल जी भी उसमें सम्मिलित होने के लिए मथुरा आये थे। वहाँ उनकी भेंट पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक से हुई, जो उन दिनों गुरुकुल वृन्दावन में कार्यरत थे। भवानीदयाल जी ने उन्हें फीजी जाने के लिए तैयार कर लिया, और जून, १९२५ में वह वहाँ पहुँच गये। उन्हें गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का अच्छा अनुभव था। उनके प्रयत्न से गुरुकुल सवेनी की सन्तोषजनक उन्नति हुई। उस समय पण्डित शिवदत्त भी गुरुकुल में कार्यरत थे। बाद में वह टूबू सिंगालोका चले गये, और वहाँ उन्होंने एक नये शिक्षणालय की स्थापना की।

पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक से फीजी के आर्यसमाज के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। गुरुकुल सवेनी के अतिरिक्त आर्यसमाज के अन्य कार्यकलाप का संचालन भी अब उन द्वारा किया जाने लगा। वह अत्यन्त निपुण कार्यकर्ता और सुयोग्य वक्ता थे। फीजी के आर्यसमाजी क्षेत्र में शीघ्र ही वह लोकप्रिय हो गये, और सब कोई उन्हें अपना आत्मीय समझने लगे। उन द्वारा फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा में नवजीवन

का संचार हुआ, और इस द्वीपसमूह के पुराने आर्यजन पूर्ण उत्साह के साथ समाज के कार्य में व्यापृत हो गये। इस काल के कर्मठ आर्यसमाजियों में पण्डित बद्रीदत्त, पण्डित राघवानन्द (बद्रीदत्त जी के सुपुत्र), पण्डित रामनारायण मिश्र, पण्डित हरदयाल शर्मा, सेठ हीरालाल, श्री हीरालाल और चौधरी रणधीरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। ये और अन्य बहुत-से आर्य पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक को वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में समुचित सहयोग देने में तत्पर थे। पथिक जी ने अनुभव किया, कि फीजी में उच्च शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है, विशेषतया ऐसी शिक्षा की जो वैदिक धर्म के अनुरूप हो। इस बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने फीजी के विद्यार्थियों को भारत भेजने की योजना बनायी। सबसे पहले आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री पण्डित रामनारायण मिश्र अपने पुत्रों को शिक्षा के लिए भारत भेजने को तैयार हुए। पथिक जी चाहते थे कि ये विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सकें। इसके लिए उन्होंने पत्र भी लिखे। पर वहाँ से उत्तर न मिलने पर उन्होंने गुरुकुल वृन्दावन से पत्र-व्यवहार शुरू किया। इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई, और फीजी के विद्यार्थियों का पहला दल सन् १९२७ के प्रारम्भ में भारत भेजा गया, जिसने गुरुकुल वृन्दावन में विधिवत् प्रविष्ट होकर वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के वातावरण में विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। कन्याओं की शिक्षा पर भी पथिक जी का ध्यान गया, और उसके लिए उन्होंने जालन्धर के कन्या महाविद्यालय के साथ पत्र-व्यवहार किया। सन् १९३४ तक फीजी से छात्र और छात्राओं को शिक्षा के लिए भारत भेजे जाने का सिलसिला जारी रहा। जो विद्यार्थी भारत से शिक्षा प्राप्त कर फीजी वापस आये, वे न केवल आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सहायक ही हुए, अपितु वहाँ के जीवन में प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त करने में भी समर्थ हुए।

पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक ने फीजी में स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने जहाँ कुछ छात्राओं को भारत भिजवाया था, वहाँ साथ ही सूवा में एक कन्या महाविद्यालय की स्थापना के लिए भी प्रेरणा प्रदान की थी। पर कन्या महाविद्यालय तभी चल सकता था, जबकि उसके संचालन के लिए कोई सुयोग्य अध्यापिका उपलब्ध हो। उनके प्रयत्न से ठाकुर सरदार सिंह ने अपनी सुशिक्षिता पत्नी श्रीमती दयावती देवी के साथ भारत से फीजी आना स्वीकार कर लिया, और वे अगस्त, १९२७ को सूवा पहुँच गये। दयावती जी ने वहाँ कन्या पाठशाला की मुख्याध्यापिका के रूप में कार्य प्रारम्भ किया और ठाकुर सरदार सिंह ने वैदिक धर्म के प्रचार में अपनी सब शक्ति लगा दी। वह प्रभावशाली वक्ता थे, और सूवा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में आर्यसमाज का कार्य उन्होंने भलीभाँति सँभाल लिया था।

ठाकुर सरदार सिंह से कुछ मास पहले (२३ जनवरी, १९२७) पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा भी भारत से फीजी पहुँच गये थे। उन्हें भी पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक ने आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए फीजी आमन्त्रित किया था। श्रीकृष्ण जी प्रभावशाली वक्ता थे। आर्य सिद्धान्तों का उन्हें समुचित ज्ञान था, और विधर्मियों के साथ वाद-विवाद करने तथा उनके आक्षेपों का प्रत्याख्यान करने की भी उनमें क्षमता थी। फीजी में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में उनका कर्तृत्व भी अत्यन्त महत्त्व का था। उनके प्रचार के कारण अनेक ईसाई और मुसलमान शुद्ध होकर आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए, और एक बार जब फीजी में गोमांस के भक्षण के सम्बन्ध में विवाद हुआ और कतिपय

क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा यह प्रतिपादित किया जाने लगा कि वेदों में भी गोमांस के भक्षण का विधान है, तो पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा ने युक्तियों और प्रमाणों से उनका खण्डन करने में अच्छी सफलता प्राप्त की।

सन् १९२७ का अन्त होने से पूर्व ही (२२ दिसम्बर, १९२७) पण्डित अमीचन्द विद्यालंकार भी सूवा पहुँच गये थे। यद्यपि पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक, पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा और ठाकुर सरदारसिंह इस समय फीजी में आर्यसमाज के प्रसार तथा आर्य शिक्षण-संस्थाओं के संचालन में तत्पर थे, पर यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, कि एक ऐसे विद्वान् को भारत से फीजी बुलाया जाय जो शिक्षाशास्त्री होने के साथ-साथ वेद-शास्त्रों का भी प्रकाण्ड पण्डित हो और जो प्रशान्त महासागर के इस द्वीपसमूह में वैदिक धर्म तथा आर्य-संस्कृति के विशुद्ध रूप को स्थापित कर सके। इस सम्बन्ध में स्वामी श्रद्धानन्द से पत्र-व्यवहार किया गया, और उन्हीं के सुझाव पर फीजी आर्य-प्रतिनिधि सभा ने पण्डित अमीचन्द को वहाँ निमन्त्रित किया। अमीचन्द जी गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक थे। वेदशास्त्रों का उन्हें समुचित ज्ञान था। वह एक सदाचारी तथा प्रभावशाली पुरुष थे, और उनमें वे सब गुण विद्यमान थे, जो एक आदर्श शिक्षा-शास्त्री और प्रचारक में होने चाहिएँ। कुछ दिन सूवा में रहने के पश्चात् आर्य प्रतिनिधि-सभा की व्यवस्था के अनुसार अमीचन्द जी गुरुकुल सवेनी चले गये। उस समय पथिक जी गुरुकुल के मुख्याध्यापक तथा मुख्याधिष्ठाता के पदों पर कार्य कर रहे थे। अमीचन्द जी ने उन्हें पूर्ण सहयोग प्रदान किया, और इन दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से गुरुकुल सवेनी फीजी का एक महत्त्वपूर्ण व आदर्श शिक्षणालय बन गया। कुछ समय पश्चात् पण्डित गोपेन्द्रनारायण पथिक भारत चले गये, और गुरुकुल का सब कार्य पण्डित अमीचन्द ने सँभाल लिया। गुरुकुल के संचालन के साथ-साथ पण्डित अमीचन्द विद्यालंकार वैदिक धर्म का प्रचार भी करते रहे। इसी समय पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा के प्रयत्न से गुरुकुल के परिसर में एक अनाथालय खोला गया, जो कुछ समय तक गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के लिए छात्रावास के रूप में भी प्रयुक्त होता रहा। अमीचन्द जी जिस उत्साह व योग्यता के साथ शिक्षा तथा धर्म-प्रचार का कार्य कर रहे थे, उसे देखकर आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारियों को विश्वास हो गया, कि उन द्वारा एक उच्चकोटि के कन्या-शिक्षणालय का भी संचालन किया जा सकता है। इसीलिए सन् १९३० में सामाबूला (सूवा) में एक कन्या पाठशाला स्थापित की गयी, जो शीघ्र ही फीजी में स्त्री-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गयी। इस शिक्षण-संस्था का संचालन भी मुख्यतया अमीचन्द जी के ही हाथों में था। गुरुकुल तथा कन्या पाठशाला—दोनों में हिन्दी की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस काल में पण्डित अयोध्याप्रसाद गुरुकुल में अमीचन्द जी के सहयोगी थे। उन्होंने न केवल गुरुकुल में ही अपितु फीजी में सर्वत्र 'नमस्ते' के प्रचार का प्रयत्न किया। शीघ्र ही अभिवादन के लिए फीजी में सब कोई जो 'नमस्ते' का प्रयोग करने लगे, उसका प्रधान श्रेय अयोध्याप्रसाद जी को ही प्राप्त है। बाद में वह फीजी के प्रमुख किसान-नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए।

सन् १९३५ में पण्डित अमीचन्द भारत चले गये। दो वर्ष के लगभग वहाँ रहकर सन् १९३७ में जब वह फीजी वापस आये, तो उन्होंने बा के एक बियावान स्थान पर कन्या-पाठशाला की स्थापना की। इसकी उन्नति तथा इसे एक आदर्श शिक्षण-संस्था बनाने के

लिए अमीचन्द जी ने बहुत परिश्रम किया। सन् १९५१ तक वह उसके प्रधान व्यवस्थापक रहे। उनके कर्तृत्त्व का ही यह परिणाम हुआ, कि बा कन्या पाठशाला स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में फीजी की सर्वोच्च शिक्षा-संस्था बन गयी। सामाबूला (सूवा) में जिस कन्या पाठशाला का संचालन अमीचन्दजी ने किया था, वह भी उन्नति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर हो रही थी। सूवा फीजी की राजधानी है, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वहाँ अपनी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा उन्नति पर फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा विशेष ध्यान दे। उस द्वारा वहाँ डी० ए० वी० स्कूल तथा कॉलिज की स्थापना का निश्चय किया गया, और यह कार्य पण्डित अमीचन्द विद्यालंकार को सौंपा गया। प्रतिनिधि सभा के निमन्त्रण पर पण्डित जी बा से सूवा चले आये, और वहाँ उन्होंने सन् १९५२ में बालकों और बालिकाओं के लिए दो पृथक् डी० ए० वी० स्कूल स्थापित किये। पर फीजी के आर्यसमाजी केवल डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गये। उन्होंने अपनी इस शिक्षण-संस्था को कॉलिज स्तर तक पहुँचा देने का निश्चय किया। सन् १९५६ में जब फीजी आर्यसमाज का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया, तो डी० ए० वी० कॉलिज भी सूवा में स्थापित कर दिया गया। यद्यपि फीजी में डी० ए० वी० संस्थाओं की स्थापना में पण्डित अमीचन्द विद्यालंकार का प्रमुख कर्तृत्त्व था, और उन्हें ही इस कॉलिज का भी कार्यभार सँभालना था, पर दुर्भाग्यवश १३ मार्च, १९५४ को फीजी से लण्डन जाते हुए विमान-दुर्घटना में सिंगापुर में उनकी मृत्यु हो गयी, और फीजी में आर्य-शिक्षा के प्रसार का जो महान् कार्य उन्होंने प्रारम्भ किया था और जिसमें उन्हें अनुपम सफलता भी प्राप्त हुई थी, डी० ए० वी० कॉलिज के रूप में उसके चरम उत्कर्ष को वह अपनी आँखों से नहीं देख सके। पर इसमें सन्देह नहीं, कि फीजी में वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के वातावरण में शिक्षा के प्रसार, और आर्य कन्या पाठशालाओं तथा डी० ए० वी० स्कूलों की स्थापना के सम्बन्ध में जो कार्य पण्डित जी ने किया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके इस कार्य में उनकी सहधर्मिणी श्रीमती सर्ववती देवी ने जो सहयोग दिया, वह भी अत्यन्त महत्त्व का था। आर्यसमाज के सब कार्यों में सर्ववतीजी का सहयोग अमीचन्द जी को प्राप्त रहता था। उन द्वारा कुछ स्त्री-आर्यसमाजों की स्थापना भी की गयी थी।

सन् १९२७ के अन्त में पण्डित अमीचन्द फीजी पहुँचे थे। वहाँ जाकर शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने विशेष रूप से कार्य किया, और शिक्षण-संस्थाओं द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पर इस काल में आर्यसमाज का कार्यकलाप केवल शिक्षा तक ही सीमित नहीं था। अनाथालय खोलने, नये आर्यसमाजों को स्थापित करने और विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाने पर भी उस द्वारा ध्यान दिया जा रहा था। पण्डित गोपेन्द्रनारायण की प्रेरणा और आर्य प्रतिनिधि सभा के निमन्त्रण पर १७ एप्रिल, १९२८ को मेहता जैमिनी फीजी पहुँच गये थे। मेहताजी वेद-शास्त्रों के विद्वान् तथा आर्यसमाज के प्रभावशाली प्रचारक थे। अंग्रेजी का भी उन्हें समुचित ज्ञान था। छह मास तक वह फीजी में रहे, और वहाँ के विविध नगरों में घूम-घूमकर उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में व्याख्यान दिये। फीजी की शिक्षित जनता जो अंग्रेजी भाषा के कारण क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रभाव में आती जा रही थी, मेहता जी के व्याख्यानों द्वारा वैदिक धर्म के सिद्धान्तों से परिचित हुई और ईसाइयत की ओर झुकने से बच

गयी। आर्यसमाजों के साथ-साथ स्त्री-आर्यसमाजों, महिला-मण्डलों और युवक-समाजों की भी फीजी में स्थापना हुई, और इन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार में सहायता प्राप्त हुई। भारत के समान फीजी में भी आर्यसमाज प्राकृतिक विपत्तियों के समय जनता की सहायता के लिए प्रयत्नशील रहा करता था। सन् १९३१ के फरवरी मास में नौसोटी में भयंकर बाढ़ आयी थी। बाढ़-पीड़ितों के निवास के लिए सामाबूला के समाज-मन्दिर में व्यवस्था की गयी, और भोजन तथा वस्त्रों से भी उनकी सहायता की गयी। आर्यसमाज का इसमें हजारों रुपया खर्च हुआ। सामाबूला आर्य कन्या पाठशाला के पारितोषिक-वितरण समारोह में फीजी के गवर्नर सरफ्लैचर ने आर्यसमाज के इस लोकोपकारी कार्य का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया था—"इस अवसर पर मैं उस सहायता के लिए, जो गत फरवरी मास की प्रलयकारी बाढ़ के समय आप द्वारा प्रदान की गयी थी, आपके प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूँ।"

आर्यसमाज द्वारा केवल ईसाइयों और मुसलमानों को ही शुद्ध कर हिन्दू-(आर्य) समाज में सम्मिलित नहीं किया गया, अपितु फीजी के मूल निवासियों को भी वैदिक धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न किया गया। फीजी के मूल निवासी काईबीती कहाते हैं। श्री के० बी० सिंह ने उनमें विशेष रूप से कार्य किया और तोस्व तथा विरिया में वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। कतिपय काईबीतियों को वैदिक धर्म का अनुयायी बनाने में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। उन्होंने आर्यसमाज के नियमों तथा वैदिक प्रार्थनाओं को काईबीतियों की अपनी भाषा में अनूदित कर प्रकाशित करने का भी प्रयत्न किया था।

फीजी में आर्यसमाज के कार्यकलाप की प्रगति के लिए सन् १९२८ में पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा द्वारा 'वैदिक सन्देश' नामक एक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। पण्डित विष्णुदेव उसके सम्पादक थे। पत्र के लिए एक छोटा-सा प्रेस भी कायम कर लिया गया। वैदिक सन्देश द्वारा फीजी में वैदिक धर्म की जड़ को सुदृढ़ करने में अच्छी सहायता प्राप्त हुई।

फीजी में आर्यसमाज का बीजारोपण सन् १९०४ में हुआ था। सन् १९२८ के अन्तिम सप्ताह में आर्यसमाज का रजत-जयन्ती महोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ सूवा में मनाया गया। इस अवसर पर एक सर्वधर्म-सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था, जिसका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों के समान फीजी में भी प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा देर तक कायम नहीं रह सकी थी। सन् १९२० में उसका अन्त हो गया था। इसके परिणामस्वरूप बाद में बहुत-से ऐसे भारतीय भी फीजी जाकर आबाद हुए, जो प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों के रूप में वहाँ नहीं गये थे। पर बीसवीं सदी के प्रथम चरण में वहाँ के भारतीय प्रायः उन्हीं लोगों में से थे, जो या तो वहाँ प्रतिज्ञाबद्ध कुली रूप के में स्वयं गये थे, या ऐसे व्यक्तियों की सन्तान थे। इस काल में स्वामी राममनोहरानन्द के अतिरिक्त कोई अन्य आर्य प्रचारक भी फीजी नहीं आया था। इस दशा में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार वहाँ हुआ, वह उन्हीं व्यक्तियों के कर्तृत्व का परिणाम था, जो अत्यन्त निर्धन होते हुए भी वैदिक धर्म के संस्कार अपने साथ लेकर फीजी गये थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि समाप्त कर जब उन्होंने वहाँ स्वतन्त्र रूप से काम-धन्धा शुरू किया,

तो अपने धन का उपयोग आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में किया। उन्हीं ने अनेक आर्य विद्वानों व प्रचारकों को भारत से फीजी आमन्त्रित किया, और वहाँ बहुत-से आर्य शिक्षणालयों की स्थापना की। फीजी के इन कर्मठ आर्यों में श्री मंगलसिंह, श्री बिहारीलाल, श्री इन्द्रनारायण, श्री शिवदत्त, श्री ननकू, श्री गाजी प्रतापसिंह, श्री जगन्नाथप्रसाद महाराज, श्री बद्रीप्रसाद, श्री वासुदेवराय, श्री अवधराम, सेठ हीरालाल, म० सुच्चाराम, श्री राधाकृष्ण, श्री रामनारायण मिश्र, श्री शिवनन्दन तिवारी, श्री महादेव, श्री हरदयाल, श्री बालेश्वर पाण्डे, श्री रणधीर सिंह, श्री रामगरीब सिंह, श्री बलदेवसिंह, श्री रामसिंह, श्री द्वारिकादत्त, पण्डित वासवानन्द, श्री शंकर प्रताप, श्री रामजतन, श्री जयनारायण सिंह, श्री विवेकप्रसाद, श्री रामराज, श्री जगबहादुर सिंह, श्री सन्तोषसिंह, चौधरी कुन्दनसिंह, श्री बालगोविन्द, श्री रामलखन, श्री बेचू जी, श्री आर० परमेश्वर, श्री जयराम, श्री नानकप्रसाद, ठाकुर रघुवर सिंह, श्री परमानन्द सिंह आदि कितने ही नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज द्वारा फीजी में स्त्री-शिक्षा के लिए जो प्रयत्न किया गया, उसके कारण वहाँ स्त्रियों में भी जागृति हुई, और कितने ही आर्य सज्जनों की धर्मपत्नियों ने भी फीजी में आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक हाथ बटाया।

फीजी आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यक्षेत्र प्रधानतया वीती लेतू द्वीप तक ही सीमित है। बानुआ लेवू द्वीप में तीस के लगभग आर्यसमाज हैं, पर इनमें से केवल एक ही प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध है। प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध समाजों की कुल संख्या १७ है। फीजी के अनेक सम्भ्रान्त व उच्च शिक्षित व्यक्ति आर्यसमाज के सदस्य हैं, और वहाँ के भारतीय मूल के निवासियों में वैदिक धर्म का पर्याप्त प्रचार है। आर्यसमाज के कारण ही फीजी में हिन्दी-भाषा को भी समुचित स्थान प्राप्त है।

छब्बीसवाँ अध्याय

दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज का कार्यकलाप

(१) दक्षिणी अफ्रीका और उसके भारतीय निवासी

अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिण क्षेत्र में 'रिपब्लिक ऑफ साउथ अफ्रीका' की स्थिति है। इसका क्षेत्रफल ४,७१,४५५ वर्गमील है, और इसकी जनसंख्या दो करोड़ से कुछ अधिक है। इनमें चालीस लाख के लगभग यूरोपियन मूल के श्वेतांग लोग हैं, आठ लाख के लगभग एशियन मूल के व्यक्ति हैं, २५ लाख के करीब कलर्ड (मिश्र) प्रजा है, और शेष सब अफ्रीका के मूल निवासियों की विविध जातियों के लोग हैं। एशियन मूल के लोग मुख्यतया भारतीय हैं। इनमें ६८ प्रतिशत के लगभग हिन्दू और शेष मुसलमान व ईसाई हैं। भारतीयों में ५१ प्रतिशत दक्षिण भारत के हिन्दू हैं, ३२ प्रतिशत हिन्दी प्रान्तों से जाकर बसे हुए हैं और ३ प्रतिशत लोग गुजराती हैं। आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र प्रायः हिन्दुओं में ही है। दक्षिणी अफ्रीका के गौरांग लोग दो वर्गों में विभक्त हैं—ब्रिटिश और डच। यह राज्य चार प्रान्तों में विभक्त है—केप ऑफ गुड होप, नाताल, ट्रांसवाल और आरेंज फ्री स्टेट। पिछले दो प्रान्तों के गौरांगों में डच निवासियों की और पहले दो में ब्रिटिश लोगों की बहुसंख्या है।

अफ्रीका महाद्वीप का सबसे दक्षिणी सिरा केप आफ़ गुड होप (सदाशा का अन्तरीप) कहाता है। इसपर सबसे पहले डच लोगों ने अपना अधिकार किया था, और वे ही वहाँ आबाद हुए थे। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् हालैण्ड फ्रांस के अधीन हो गया था और नैपोलियन बोनापार्ट के फ्रेंच सम्राट् बन जाने पर देश उसके साम्राज्य का अंग बन गया था। क्योंकि हालैण्ड नैपोलियन के अधीन था, अतः अफ्रीका के इस अन्तरीप पर भी उसी का प्रभुत्व था। नैपोलियन की शक्ति को नष्ट करने के लिए जब ब्रिटेन ने संघर्ष प्रारम्भ किया, तब उसकी सामुद्रिक शक्ति के कारण यूरोप से हजारों मील की दूरी पर स्थित इस अन्तरीप पर नैपोलियन का अधिकार कायम नहीं रह सका और वह ब्रिटेन के कब्जे में आ गया। वीएना की कांग्रेस (१८१४) में केप आफ गुड होप या केप कॉलोनी पर ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया। तब से यह प्रदेश ब्रिटेन के ही अधीन रहा। जब यह प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में आया, तो वहाँ की आबादी में २७,००० गौरांग लोग थे, जो सब प्रायः डच थे। ये हब्शी गुलामों के श्रम से वहाँ खेती किया करते थे, और इन गुलामों की संख्या २०,००० के लगभग थी। इनके अतिरिक्त १७ लाख के लगभग उस प्रदेश के मूल निवासी थे जो सभ्यता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। केप कॉलोनी

पर प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर अंग्रेज लोग भी वहाँ बसने शुरू हुए, और उन्होंने प्रयत्न किया कि इस प्रदेश में अंग्रेजी भाषा का ही प्रयोग हो, जिसके लिए डच लोग तैयार नहीं हुए। सन् १८३३ में ब्रिटिश सरकार ने दास-प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया, जिसे डच किसानों ने अपने लिए अत्यन्त हानिकारक समझा, क्योंकि खेती के लिए वे उन्हीं के श्रम पर निर्भर थे। ब्रिटिश शासकों की नीति से तंग आकर डच किसानों, जो बोअर कहाते थे, ने निश्चय किया कि केप कॉलोनी का सदा के लिए परित्याग कर उसके उत्तर के प्रदेश में अपनी नयी बस्तियाँ बसा लें, जहाँ वे ब्रिटिश शासन से मुक्त रहकर अपना शासन स्वयं कर सकें और गुलामों का श्रम भी उन्हें पूर्ववत् प्राप्त होता रहे। इसी निश्चय के अनुसार उन्होंने सन् १८३६ में केप कॉलोनी से महाप्रस्थान कर दिया, और उसके उत्तर में उन प्रदेशों में बसना प्रारम्भ कर दिया, जो वर्तमान समय में उत्तर-नाताल और ओरेंज फ्री स्टेट कहाते हैं। पर अंग्रेजों ने वहाँ भी उन्हें शान्ति से नहीं रहने दिया। १८४२ में उन्होंने नाताल पर आक्रमण किया और १८४८ में ओरेंज पर। इन प्रदेशों में परास्त होकर डच या बोअर लोग और अधिक उत्तर की ओर बढ़े, और उन्होंने उस प्रदेश में अपनी नयी वस्तियाँ बसायीं, जिसे वर्तमान समय में ट्रांसवाल कहते हैं। सन् १८५२ में अंग्रेजों और बोअरों में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार ट्रांसवाल में डच लोगों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत कर लिया गया। दो वर्ष पश्चात् १८५४ में ओरेंज-उपनिवेश की स्वाधीन सत्ता भी स्वीकार कर ली गयी। इस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में चार उपनिवेश हो गये, जिनमें दो—केप कॉलोनी और नाताल अंग्रेजों के अधीन थे, और शेष दो—ट्रांसवाल और ओरेंज बोअर या डच लोगों के। पर यह दशा देर तक कायम नहीं रह सकी। सन् १८८४ में ब्रिटिश सेनाओं ने ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया। डच लोग उनका सामना नहीं कर सके, और ऐसी सन्धि करने के लिए विवश हुए, जिस द्वारा ब्रिटिश लोगों को भी ट्रांसवाल में बसने की अनुमति दे दी गयी। इसी समय यह पता चला, कि ट्रांसवाल में सोने की वहुत-सी खानें हैं। सोने द्वारा धनी होने के लालच से वहुत-से विदेशी ट्रांसवाल आने लग गये। इनमें ब्रिटिश लोगों की संख्या सवसे अधिक थी। परिणाम यह हुआ, कि कुछ ही समय में उस देश में अंग्रेजों की संख्या डचों की तुलना में अधिक हो गयी। पर डच शासक ट्रांसवाल में विदेशियों को शासन के कोई भी अधिकार नहीं देना चाहते थे। अंग्रेजों के लिए इसे स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं था। डच और ब्रिटिश लोगों के इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप सन् १८९९ में बोअर युद्ध प्रारम्भ हुआ। ओरेंज फ्री स्टेट ने इस युद्ध में ट्रांसवाल का साथ दिया। युद्ध में ब्रिटिश सेनाओं की विजय हुई, और ट्रांसवाल तथा ओरेंज फ्री स्टेट अव ब्रिटेन की अधीनता में आ गये, जिन्हें पृथक् औपनिवेशिक राज्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। बाद में दक्षिणी अफ्रीका के चारों राज्यों के शासन में जो परिवर्तन होते रहे, और जिस प्रकार ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत उनका एक संवर्ग राज्य संगठित हुआ, इसपर यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। अनेक मतभेदों के कारण, जिनमें रंगद्वेष सर्वप्रधान है, सन् १९६१ में दक्षिणी अफ्रीका ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से बाहर हो गया और अब वह रिपब्लिक ऑफ साउथ अफ्रीका नाम से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया है। इस राज्य के सम्बन्ध में महत्त्व की बात यह है, कि इसके बहुसंख्यक गौरांग लोग डच मूल के हैं, जिनका अब अपने मूल देश नीदरलैण्ड के साथ कोई सम्वन्ध नहीं है। वे अपने को डच न कहकर

'आफ्रीका नेर' कहते हैं, और उन्होंने अपनी एक पृथक् भाषा 'आफ्रिकान्स' विकसित कर ली है, जो डच, जर्मन, इंगलिश तथा पोर्तुगीज भाषाओं का मिश्रण है। यह भाषा दक्षिणी अफ्रीका के अतिरिक्त अन्य किसी देश में नहीं बोली जाती। यह अब अत्यन्त विकसित भाषा बन गयी है और अंग्रेजी के साथ-साथ यह भी इस देश की राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इस राज्य के शासन में गौरांग लोगों के अतिरिक्त अन्य निवासियों को अधिकार प्राप्त नहीं हैं, और एशियन तथा अफ्रीकन लोगों के प्रति भेदभाव बरता जाता है। इस राज्य के इतिहास पर जो कुछ प्रकाश ऊपर डाला गया है, उसका कारण यह है कि उससे उन अनेक घटनाओं को समझने में सहायता मिलेगी, जिनका सम्बन्ध आर्यसमाज के साथ है। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह के साधन का उपयोग पहले-पहल दक्षिणी अफ्रीका में ही किया था, और वहाँ उनके साथियों में आर्यसमाजियों की संख्या बहुत अधिक थी। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की जो विकट समस्या है, उसके कारण भारतीयों को नागरिकता के समुचित अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इस दशा के विरुद्ध संघर्ष में आर्यसमाजियों का भी परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से भाग रहता है। साथ ही, अपनी भाषा तथा संस्कृति को वहाँ के सब निवासियों पर लादने की जो नीति ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनायी जाती रही है, उसका प्रतिरोध भी आर्यसमाज करता रहा है।

सन् १८३३ में जब ब्रिटिश सरकार ने दक्षिणी अफ्रीका से दासप्रथा का अन्त कर दिया, तो वहाँ के गौरांग किसानों के सम्मुख श्रमिकों की समस्या उत्पन्न हुई। उस समय तक भारत का बड़ा भाग अंग्रेजी प्रभुत्व में आ चुका था। वहाँ ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी, जो गरीबी के शिकार थे, और रोजगार की तलाश में रहते थे। प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा का अनुसरण कर उन्हें विदेशों में किस प्रकार ले-जाया जाना शुरू किया गया था, इसपर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सन् १८६० में ट्रूरो नाम का पहला जहाज भारतीय कुलियों को लेकर डरबन पहुँचा था। तब से दक्षिणी अफ्रीका में भी प्रतिज्ञावद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीयों को भेजा जाना शुरू हुआ, और वहाँ भारतीय मजदूरों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सन् १९१३ तक डेढ़ लाख के लगभग भारतीय मजदूर इस देश में जाकर बस चुके थे। उनके साथ गुलामों के सदृश जो बरताव गौरांग मालिकों द्वारा किया जाता था, उसका उल्लेख करना व्यर्थ है। ये भारतीय मजदूर मुख्यतया मद्रास, आंध्रप्रदेश, संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) और बिहार के होते थे, क्योंकि उनमें गरीबी बहुत अधिक थी। पाँच साल के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर ये विदेश जाया करते थे, और उस अवधि के समाप्त हो जाने पर प्रायः वहीं बस जाते थे। बाद में अनेक भारतीय व्यापार व अन्य कारोबार के लिए भी दक्षिणी अफ्रीका जाने लगे। इस प्रकार वहाँ जाने-वाले भारतीयों में गुजराती सबसे अधिक थे। सन् १९१७ तक प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीयों का दक्षिणी अफ्रीका जाने का सिलसिला जारी रहा। भारत में उसके विरुद्ध जो आवाज उठायी जा रही थी, उससे विवश होकर बाद में अंग्रेजों को इसे समाप्त कर देना पड़ा।

प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो भारतीय दक्षिणी अफ्रीका के विविध उपनिवेशों में मजदूर के रूप में गये थे, और जिनमें से बहुत-से प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त हो जाने पर वहीं स्वतन्त्र रूप से बस गये थे, वे प्रायः अशिक्षित थे। अपना

घर-गाँव छोड़ते ही जिन परिस्थितियों में उनको रहना पड़ा था, उनमें उनके लिए अपनी धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक मर्यादाओं का पालन कर सकना सम्भव नहीं रहा था। उन्होंने अपने को धर्मभ्रष्ट समझ लिया था। हिन्दुओं ने चोटियाँ कटा दी थीं, और यज्ञोपवीत उतारकर फेंक दिये थे। फिर भी उनमें अपने वंशक्रमानुगत धार्मिक विश्वासों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। पर उनके धार्मिक संस्कार प्राय: रूढ़िवाद और अन्धविश्वास पर आधारित थे। पशुबलि उनकी पूजा का महत्त्वपूर्ण अंग थी। आर्य-समाज द्वारा धार्मिक सुधार के जिस आन्दोलन का सूत्रपात भारत में उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण में किया जा रहा था, वे उसके प्रभाव से वंचित थे। इसीलिए उनमें अनेक-विध कुरीतियाँ प्रचलित थीं, और प्राय: अशिक्षित होने के कारण उनके लिए क्रिश्चिएनिटी से प्रभावित हो जाना भी कठिन नहीं था। ईसाई मिशनरी दक्षिणी अफ्रीका में भी सक्रिय थे, और वहाँ के बहुत-से मूल निवासियों को उन्होंने अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भारतीयों में भी उनका प्रचार-कार्य चल रहा था। यह दशा थी, जब आर्य-समाज के प्रचारकों ने दक्षिणी अफ्रीका जाना प्रारम्भ किया, और वहाँ बसे हुए भारतीयों में सत्य सनातन वैदिक धर्म के प्रचार तथा समाज-सुधार के कार्य का सूत्रपात किया।

(२) दक्षिणी अफ्रीका के हिन्दुओं में जागृति का प्रारम्भ

दक्षिणी अफ्रीका के नाताल प्रान्त में भारतीयों की आबादी सबसे अधिक थी। प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीयों का आगमन भी सबसे पहले (सन् १८६०) वहीं हुआ था। बाद में अनेक भारतीय वहाँ भी स्वतन्त्र रूप से बस गये थे, और उन्होंने व्यापार-व्यवसाय द्वारा धन कमाना शुरू कर दिया था। इनमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जो आर्यसमाज से परिचित थे। ऐसे एक सज्जन लाला मोहकमचन्द वर्मन थे। उन्होंने डी०ए०वी० कॉलिज, लाहौर के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज से किसी प्रचारक को नाताल भेजने की प्रार्थना की। महात्माजी ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर भाई परमानन्द को अफ्रीका भेजा, और वह ५ अगस्त, १९०५ को वहाँ पहुँच गये। नाताल की हिन्दू जनता ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। भाई जी ने सर्वप्रथम 'हिन्दू सुधार सभा' की वहाँ स्थापना की, जिसका उद्देश्य सामाजिक सुधार करना तथा अपने धर्म और जाति-सम्मान की भावना को उत्पन्न करना था। युवकों में जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने 'हिन्दू यंगमेन्स एसोशियेशन' का संगठन शुरू किया। भाई जी ने अपने कार्य का श्रीगणेश डरबन (Durban) से किया था, जो नाताल प्रान्त का प्रसिद्ध बन्दरगाह है। इसके पश्चात् वह नाताल की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग गये। वहाँ उन द्वारा स्थापित 'हिन्दू यंगमेन्स एसोसियेशन' में तमिल युवक भी उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए, और भारतीयों के सभी वर्गों पर भाई जी के सुधारवादी व प्रगतिशील विचारों का अच्छा प्रभाव पड़ा। नाताल के पश्चात् उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के अन्य प्रान्तों की भी यात्रा की। जोहानीसबर्ग में उनके स्वागत के लिए जिस समिति का गठन किया गया था, उसके अध्यक्ष मोहनदास-कर्मचन्द गांधी थे, जो उन दिनों वहाँ वकालत कर रहे थे। भाई परमानन्द दक्षिणी अफ्रीका में पाँच मास से भी कम रहे। दिसम्बर, १९०५ में वह इंगलैण्ड के लिए रवाना हो गये। पर इस स्वल्प काल में जो कार्य उन्होंने किया, उसका महत्त्व कम नहीं है। भारत में जो नवजागरण हो रहा था, समाज-सुधार के जो प्रबल आन्दोलन चल रहे थे

और प्रकाश की जो उज्ज्वल किरणें वहाँ प्रादुर्भूत हो रही थीं, भाई जी द्वारा दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों को उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला, और वे भी अपने धर्म तथा संस्कृति के विशुद्ध व उज्ज्वल रूप से परिचय प्राप्त करने लगे।

भाई परमानन्द दक्षिणी अफ्रीका में आर्य-धर्म का जो बीज वो गये थे, उसे अंकुरित और पल्लवित करने का कार्य स्वामी शंकरानन्द जी महाराज ने किया। स्वामी जी सन् १९०८ के अक्टूबर मास में डरवन पहुँचे, जहाँ जनता ने उनका धूमधाम के साथ स्वागत किया। उनका व्यक्तित्व बहुत तेजस्वी था, और व्याख्यान देने की शैली प्रभावशाली थी। डरवन तथा समीप के अन्य नगरों में उनके प्रवचनों की व्यवस्था की गयी। स्वामी जी के व्याख्यान हिन्दू-धर्म के महत्त्व, हिन्दुओं के परम्परागत संस्कारों तथा नैतिक मान्यताओं के समर्थन और हिन्दी भाषा की शिक्षा की आवश्यकता के विषय में हुआ करते थे। उन्हें अफ्रीका में वसे हुए हिन्दुओं की दशा को देखकर वहुत दुःख हुआ। वे अपने संस्कारों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा त्यौहारों को भूल चुके थे, और क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम के प्रति आकृष्ट होने लग गये थे। वहाँ दीपावली तक नहीं मनायी जाती थी। हिन्दुओं का मुख्य त्यौहार मुहर्रम बन गया था। वे भी ताजिया निकालते और मर्सिया गाया करते। स्वामी शंकरानन्द ने हिन्दुओं का ध्यान इस दुर्दशा की ओर आकृष्ट किया, और उनकी प्रेरणा से सन् १९०८ में उन्होंने धूमधाम से दीपावली मनायी। दक्षिणी अफ्रीका के हिन्दुओं को मुहर्रम पर ताजिये निकालने की जो आदत पड़ गयी थी, उसका निराकरण करने के लिए स्वामी शंकरानन्द ने उन्हें 'रामरथ' निकालने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रयोजन से उन्होंने डरवन में एक रामरथ कमेटी गठित की, जिसकी ओर से सन् १९१० में रामनवमी के पर्व पर रामरथ का जुलूस निकाला गया। मुसलमानों में इससे वहुत उद्वेग हुआ। उन्होंने इसे रोकने का प्रयत्न किया, और दंगा करने को भी उद्यत हो गये। जव रामरथ का जुलूस डरवन की मसजिद के सामने पहुँचा, तो मुसलमानों की एक भीड़ उसे रोकने के लिए तैयार खड़ी थी। पर स्वामी शंकरानन्द रामरथ के जुलूस के आगे-आगे चल रहे थे। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा तेजस्वी था, कि किसी को उन्हें रोकने का साहस नहीं हुआ, और बाजा वजाते हुए तथा भजन गाते हुए मसजिद के सामने से होकर हिन्दू आगे बढ़ गये। रामरथ के जुलूस की सफलता से डरवन के हिन्दुओं में अनुपम उत्साह का संचार हुआ, और उनमें अपने धर्म के प्रति आस्था में वृद्धि हुई। अब स्थान-स्थान पर स्वामी जी के व्याख्यान होने लगे। वे अंग्रेजी में भी भाषण दिया करते थे, जिन्हें सुनने के लिए गौरांग लोग भी आया करते थे और उनसे वहुत प्रभावित होते थे। अपने प्रचार-कार्य को सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने के लिए स्वामी शंकरानन्द ने विविध नगरों में 'वेद धर्म सभा' नाम से सभाएँ स्थापित करना प्रारम्भ किया। इनके उद्देश्य तथा नियम आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप थे। इसीलिये बाद में अनेक वेद-धर्म-सभाएँ आर्यसमाज में विलीन हो गयीं। पर नाताल की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग में १० एप्रिल, १९०९ के दिन स्वामी जी ने जिस वेद-धर्म-सभा की स्थापना की थी, उसकी पृथक् रूप से सत्ता आज तक कायम है, और उस द्वारा अनेकविध धर्म व समाज-सुधार के कार्य किये जाते रहे हैं। युवकों में धर्म की भावना को जागृत करने के लिए स्वामी शंकरानन्द ने हिन्दू यंगमेन्स सोसायटी एवं 'यंगमेन्स वैदिक सोसायटी' की भी स्थापना की, जिनमें मुख्यतया तमिलभाषी लोग सम्मिलित हुए।

सन् १९११ के प्रारम्भ में स्वामी शंकरानन्द भारत वापस चले गये, क्योंकि अपने गुरु स्वामी आत्मानन्द सरस्वती के रोगी होने का समाचार सुनकर वह उनके दर्शन तथा सेवा के लिए उत्सुक थे। अपने गुरु के स्वस्थ हो जाने पर वह पुनः अफ्रीका वापस आ गये और उन्होंने धर्म-प्रचार के कार्य को फिर प्रारम्भ कर दिया। इस वार दक्षिणी अफ्रीका आकर स्वामी जी ने हिन्दू संगठन पर विशेष ध्यान दिया। भारत में इस समय हिन्दुओं को संगठित करने के लिए आन्दोलन शुरू हो चुके थे। स्वामी शंकरानन्द ने ३१ मई, १९१२ को डरवन में 'साउथ अफ्रीकन हिन्दू कान्फरेन्स' का आयोजन किया, जिसमें दक्षिणी अफ्रीका के विविध स्थानों से तीन सौ के लगभग प्रतिनिधि एकत्र हुए, और वहाँ हिन्दू महासभा की स्थापना कर दी गयी। नाताल में हिन्दू-धर्म में नव-जागरण उत्पन्न कर स्वामी शंकरानन्द ट्रांसवाल की राजधानी जोहानीसवर्ग गये। वहाँ के मेसानिक हॉल में उनके अंग्रेजी में व्याख्यान हुए। गौरांग लोग वड़ी संख्या में उन्हें सुनने के लिए आये, और वैदिक धर्म से प्रभावित हुए। ट्रांसवाल के अन्य नगरों में भी उन्होंने वहुत-से व्याख्यान दिये। वहाँ की जनता उनसे कितनी अधिक प्रभावित हुई थी, यह इस बात से समझा जा सकता है, कि जव वे ट्रांसवाल से विदा होने लगे तो उनके सम्मान में यूरोपियन और भारतीय लोगों द्वारा सम्मिलित रूप से प्रीतिभोज दिया गया, और उसमें सबने एकसाथ बैठकर भोजन किया। ट्रांसवाल से विदा होकर स्वामी शंकरानन्द केप कॉलोनी गये, और वहाँ प्रचार कर १७ मई, १९१३ को उन्होंने भारत के लिए प्रस्थान कर दिया।

दक्षिणी अफ्रीका में धर्म-प्रचार करते हुए स्वामी शंकरानन्द श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी के सम्पर्क में आये। गांधी जी वहाँ वकालत कर रहे थे और वहाँ के भारतीयों की समस्याओं के प्रति भी उनका ध्यान था। अभी उन्होंने वहाँ सत्याग्रह के मार्ग को नहीं अपनाया था, और वह उन साधनों पर विचार कर रहे थे, जिन्हें अपनाकर दक्षिणी अफ्रीका में बसे हुए भारतीयों की दशा को उन्नत किया जा सकता था और वे उस देश में सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त कर सकते थे। स्वामी जी द्वारा उन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का परिचय प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि, स्वामी शंकरानन्द द्वारा किये गये व्यापक प्रचार के कारण हिन्दुओं में जो आत्मगौरव तथा नवचेतना उत्पन्न हो गयी थी, उसने गांधी जी के कार्य में बहुत सहायता पहुँचाई और उन्होंने भारतीयों के प्रति किये जानेवाले अत्याचारों और भेदभावों के विरुद्ध जिस सत्याग्रह का प्रारम्भ किया था, उनमें बहुत-से आर्यसमाजी तथा अन्य ऐसे व्यक्तियों ने भाग लिया था, स्वमी शंकराचन्द के प्रचार-कार्य के कारण जिनमें अपने धर्म व संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव विकसित हो गया था। ऐसे एक सज्जन श्री भवानीदयाल थे, जिन्होंने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती जगरानी के साथ गांधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह में कारागार में निवास किया था।

दक्षिणी अफ्रीका में स्वामी शंकरानन्द जी के महत्त्वपूर्ण कार्य का अनुमान श्री भवानीदयाल के इन शब्दों से किया जा सकता है—"जो हिन्दू लावारिस माल की तरह इधर-उधर भटक रहे थे, उनमें वैदिक धर्म पर भक्ति, आर्य-संस्कृति पर श्रद्धा, सन्ध्याहवन में अनुराग, त्यौहारों पर अभिमान, परस्पर नमस्ते का व्यवहार, मातृभाषा की ओर रुचि, सभा-समितियों के संचालन का ज्ञान, कुरूढ़ियों से घृणा, स्वदेश के प्रति सम्मान और

आर्य-जाति के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास उत्पन्न कर देना किसी साधारण व्यक्ति का काम नहीं हो सकता।" यह काम स्वामी शंकरानन्द सरस्वती का ही था। गौरांग लोग भी स्वामी जी के गम्भीर ज्ञान, विद्वत्ता तथा उत्कृष्ट व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए थे। अनेक यूरोपियन तो उनके भक्त भी बन गये थे। उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर मिस्टर विलियम होसकेन ने लिखा था—"यह तो सिद्ध हो चुका है, कि पूर्व ही धर्म, दर्शन और आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार है, और आज उसी पूर्वी देश के साधु (स्वामी शंकरानन्द) के दर्शन से हम कृतकृत्य हैं।"

स्वामी शंकरानन्द ने दक्षिणी अफ्रीका के हिन्दुओं को संगठित कर वहाँ हिन्दू-महासभा की स्थापना की, और उनमें अपने धर्म व संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न की। धर्म के जिस स्वरूप का वह प्रचार करते थे, वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुरूप था। उन्होंने वहाँ आर्यसमाज की स्थापना नहीं की, क्योंकि वह हिन्दुओं को अधिक व्यापक आधार पर संगठित करना चाहते थे, और उस समय ऐसे हिन्दुओं की कमी नहीं थी जो अपनी रूढ़िवादी परम्पराओं के कारण आर्यसमाज के विरोधी थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि स्वामी शंकरानन्द ने दक्षिणी अफ्रीका को आर्य-समाज के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त क्षेत्र बना दिया। उनका यह कार्य कम महत्त्व का नहीं है।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में दक्षिणी अफ्रीका में भाई परमानन्द और स्वामी शंकरानन्द ने जो कार्य किया, उसका उद्देश्य हिन्दू लोगों में नवजीवन का संचार करना और उनमें अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न करना था। पर इस काल में भी इस देश में कतिपय ऐसे व्यक्ति विद्यमान थे, जिनका आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति जिनकी अगाध आस्था थी। ऐसे कुछ सज्जन श्री शाहीसिंह, श्री मक्खन सिंह और श्री भिखारी महाराज आदि थे, जो भारत से आकर नाताल प्रान्त की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग में बस गये थे। वहाँ उन्होंने सन् १९०८ में आर्यसमाज की स्थापना की। यह इस शहर का प्रथम आर्यसमाज था। पर वहाँ के हिन्दू अधिक संख्या में इस आर्यसमाज की ओर आकृष्ट नहीं हुए, क्योंकि पौराणिक विचारों के लोग मूर्तिपूजा का खण्डन करने वाले समाज में सम्मिलित होने को उद्यत नहीं थे। सन् १९०८ में ही जब स्वामी शंकरानन्द पीटर-मेरित्सबर्ग गये, तो उन्होंने आर्यसमाज के संचालकों को यह सुझाव दिया, कि वे उसका नाम बदलकर 'वेद धर्म सभा' रख दें। इस सुझाव को उन्होंने स्वीकार कर लिया, जिसके कारण सनातनी हिन्दुओं के लिए भी आर्यसमाजियों के साथ सहयोग करना सम्भव हो गया, और इससे हिन्दू संगठन में बहुत सहायता मिली। धीमे-धीमे मेरित्सबर्ग क्षेत्र में अनेक आर्य संस्थाएँ स्थापित हो गयीं और यह क्षेत्र आज आर्यसमाज के कार्यों का गढ़ बन गया है।

(३) आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का प्रारम्भिक युग

भाई परमानन्द और स्वामी शंकरानन्द के कार्य से दक्षिणी अफ्रीका आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त क्षेत्र बन गया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इन महानुभावों ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था, श्री भवानीदयाल ने उसे आगे बढ़ाया,

और उसे इस दशा तक पहुँचा दिया, कि वहाँ आर्यसमाजों की स्थापना तथा वैदिक धर्म के प्रचार का मार्ग भलीभाँति प्रशस्त हो गया। दक्षिणी अफ्रीका के आर्यसमाज के इतिहास में श्री भवानीदयालजी के कर्तृत्व का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म दक्षिणी अफ्रीका में हुआ था, और उनके माता-पिता प्रतिज्ञावद्ध कुली-प्रथा के अधीन उस देश में ले-जाये गये थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त होने पर वे वहीं वस गये, और उन्होंने व्यापार द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक कर ली। मातृभूमि का आकर्षण उन्हें भारत ले गया, और वहाँ उन्होंने अपने गाँव, जो विहार में था, के समीप काफी जमीन क्रय कर ली। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया, कि ठाकुर-बिरादरी उन्हें अपना सदस्य स्वीकार कर ले। उनका जन्म राजपूत-कुल में हुआ था, पर समुद्रपार रह आने के कारण उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया था। अनेकविध प्रायश्चित्त कराके उन्हें (श्री जयरामसिंह को) बिरादरी में शामिल कर लिया गया, पर उनके पुत्र भवानी-दयाल को ठाकुर-बिरादरी किसी भी तरह स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुई, क्योंकि विदेश जाते समय कलकत्ता के डिपो में जिस महिला को जयराम सिंह जी की पत्नी मान लिया गया था, वह विधवा थी। भवानी दयाल की आयु उस समय बारह वर्ष की थी। इस अपमान को वह नहीं सह सके, और हिन्दू समाज की संकीर्णता के प्रति उनके हृदय में उद्वेग उत्पन्न होने लगा। वह सन् १९०५ का साल था। वंग-भंग के प्रश्न को लेकर भारत में क्रान्ति की चिनगारियाँ प्रकट होने लग गयी थीं। किशोरवय के भवानी-दयाल जी के मन ने केवल हिन्दू-समाज की संकीर्णता और रूढ़िवाद के विरुद्ध ही विद्रोह नहीं किया, अपितु जनता की गरीबी, किसानों की गुलामी और देश की पराधीनता भी उन्हें उद्विग्न करने लगी। उन्होंने हिन्दी भाषा पढ़ ली थी, और समाचारपत्रों द्वारा उन्हें देश की दुर्दशा का बोध होता रहता था। हिन्दू धर्म से उनकी आस्था उठती जाती थी, क्योंकि इस धर्म के जिस स्वरूप के वह सम्पर्क में आये थे, वह अत्यन्त विकृत था। इसी समय 'वीर भारत' नाम के समाचारपत्र की एक प्रति उनके हाथ लग गयी जिसके एक लेख में यह कहा गया था, कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश लिखकर भारत का सत्यानाश कर डाला है। भवानीदयाल जी को यह जानने की उत्सुकता हुई, कि दयानन्द कौन थे और उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में क्या लिखा है? मेरठ के पण्डित तुलसीराम स्वामी से उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि महर्षिकृत ग्रन्थ मंगवा लिये, और उन्हें पढ़ना शुरू कर दिया। सत्यार्थप्रकाश का उनपर क्या प्रभाव पड़ा, इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, कि "मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस दिन मैंने सत्यार्थप्रकाश पढ़ना शुरू किया था, उस दिन खाना-पीना और सोना सब भूल गया था। मेरी आत्मा धार्मिक क्षुधा से छटपटा रही थी। उसको स्वादिष्ट और पुष्टि-कर भोजन मिल गया। इस ग्रन्थ के पाठ से मेरे अन्तर्पट खुल गये, मेरे सामने नवजीवन की ज्योति जगमगा उठी।" अब वह कट्टर आर्यसमाजी बन गये। स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ प्रेम की भावना उत्पन्न हो गयी, और वह महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के अनुसार धर्म-प्रचार और समाज सुधार के लिए प्रवृत्त हो गये। उन्होंने बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा में अवैतनिक उपदेशक के रूप में काम करना प्रारम्भ कर दिया। जिस समय वह आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए, वह समाज का सुवर्णिम युग था। आर्यों में परस्पर सौहार्द था, और थी समाज-सेवा की उत्कट

अभिलाषा। भवानीदयाल जी के शब्दों में "आर्यसमाजी और सत्यवादी दोनों पर्यायवाची शब्द थे। अतएव आर्यसमाजी होने का मुझे अभिमान था और आर्यसमाज की गोद में बैठकर ही मैंने जनसेवा का सवक सीखा।" आठ वर्ष भारत में रहकर और वहाँ सर्वात्मना आर्यसमाज में दीक्षित होकर बीस वर्ष की आयु में भवानीदयाल जी दिसम्बर, १९१२ में दक्षिणी अफ्रीका वापस चले गये। उस समय गांधी जी दक्षिणी अफ्रीका के गौरांग शासकों के अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह का झण्डा खड़ा कर रहे थे। स्वधर्म और देशप्रेम की जो भावनाएँ आर्यसमाज के सम्पर्क के कारण भवानी दयाल जी के मन में उत्पन्न हो गयी थीं उन्होंने उन्हें सत्याग्रह-संग्राम में जूझ पड़ने के लिए प्रेरित किया। अपनी पत्नी श्रीमती जगरानी देवी के साथ उन्होंने सत्याग्रह में भाग लिया, और उन्हें कारागार में वन्द कर दिया गया। जनवरी, १९१४ में उन्हें जेल से छुटकारा मिला। अब सत्याग्रह की समाप्ति हो चुकी थी, और गांधी जी की अनेक शर्तों को गोरी सरकार ने स्वीकार कर लिया था। जेल से छूटने के पश्चात् भवानीदयाल जी ने अपनी शक्ति को तीन कामों में लगाया, हिन्दी भाषा की शिक्षा, आर्यसमाज का प्रचार और राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव। भवानीदयाल जी जहाँ वैदिक धर्म और हिन्दी भाषा के प्रचारक थे, वहाँ दक्षिणी अफ्रीका के राष्ट्रीय नेताओं में भी उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उन्होंने नाताल और ट्रांसवाल में घूम-घूमकर धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। साथ-साथ वह हिन्दी के प्रचार का भी कार्य करने लगे। उन्होंने स्थान-स्थान पर हिन्दी प्रचारिणी सभाएँ तथा पाठशालाएँ स्थापित कीं। क्लेरेस्टेट में उन्होंने एक हिन्दी आश्रम की भी स्थापना की। इसमें हिन्दी विद्यालय और पुस्तकालय भी खोले गये। उनके प्रयत्न से अनेक हिन्दी-साहित्य सम्मेलनों का भी वहाँ आयोजन हुआ। पहला हिन्दी साहित्य सम्मेलन सन् १९१६ में लेडीस्मिथ नगर में हुआ, और दूसरा सम्मेलन अगले वर्ष १९१७ में पीटर-मेरित्सबर्ग में। 'हिन्दी' नाम से उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया, जिससे दक्षिणी अफ्रीका के उपनिवेशों में हिन्दी भाषा के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

हिन्दी के प्रचार का प्रयत्न करते हुए भवानीदयाल जी ने वैदिक धर्म के प्रचार की उपेक्षा नहीं कर दी थी। उनकी हिन्दी प्रचारिणी सभाएँ आर्यसमाज के अन्यतम उद्देश्य की ही पूर्ति कर रही थीं। उन द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार भी किया जाता था। पण्डित भवानीदयाल जी की प्रेरणा से दक्षिणी अफ्रीका के हिन्दुओं ने वैदिक रीति से उपनयन, विवाह आदि संस्कार करने प्रारम्भ किये। वहाँ के हिन्दू अपने धर्म की मान्यताओं को इस अंश तक भुला चुके थे, कि वे अपने मुर्दों को दबाने लग गये थे। उन्होंने विशेष प्रयत्न कर शवों को जलाने और वैदिक रीति से अन्त्येष्टि संस्कार की प्रथा को प्रचलित किया। सन् १९१६ में उन्होंने दो जन्मजात मुसलमानों की शुद्धि भी करवायी। उन्हीं के प्रचार-कार्य का यह परिणाम हुआ, कि सन् १९२५ में दक्षिणी अफ्रीका में भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी बड़ी धूमधाम के साथ मनायी जा सकी। उन्होंने इस महोत्सव की सफलता के लिए अनथक परिश्रम किया, और इसके लिए जिस समिति का गठन किया गया था, भवानीदयाल जी ही उसके अध्यक्ष थे।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में जब श्री भवानीदयाल जी दक्षिणी अफ्रीका में हिन्दी तथा वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे, अन्य भी अनेक प्रचारक भारत से वहाँ गये।

सन् १९१३ में स्वामी मंगलानन्द पुरी नाताल गये। वह हिन्दी के अच्छे वक्ता थे। उनके व्याख्यानों से अनेक युवक प्रभावित हुए और उन्होंने वैदिक धर्म को स्वीकार किया। सन् १९२१ में पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार ट्रांसवाल आये। वह पूर्वी अफ्रीका के एक आर्य-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए सन् १९२० में वहाँ गये हुए थे। ट्रांसवाल की आर्य युवक सभा का निमन्त्रण स्वीकार कर वह वहाँ आये, और उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। पण्डित जी के व्याख्यान विद्वत्तापूर्ण, रोचक और प्रभावशाली हुआ करते थे। उन्हें सुनने के लिए केवल हिन्दू ही नहीं, अपितु मुसलमान, ईसाई और पारसी भी आया करते थे। ईश्वरदत्त जी प्राणायाम, योग और धनुर्विद्या में भी निपुण थे। प्राणायाम के बल पर वह मनों बोझ के पत्थर को छाती पर रखकर तुड़वा सकते थे, और चलती मोटर-कार को रोक सकते थे। जनता इन्हें देखकर वहुत प्रभावित होती थी। धनुर्विद्या के उनके प्रदर्शन को देखकर लोग चमत्कृत रह जाते थे। दो मास के लगभग वह दक्षिणी अफ्रीका में रहे, और इस स्वल्पकाल में ही उन्होंने वहाँ वैदिक धर्म का सिक्का जमा दिया।

फरवरी, १९२२ में ठाकुर प्रवीण सिंह दक्षिणी अफ्रीका आये। वह आर्यसमाज के प्रसिद्ध भजनोपदेशक थे, और संगीत विद्या में प्रवीण थे। उनके भजनों तथा उपदेशों को जनता रुचिपूर्वक सुनती थी। छह मास के लगभग प्रचार-कार्य कर वह भारत वापस चले गये।

(४) महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी, आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना और आर्य प्रचारक

फरवरी, १९२५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी बड़ी धूमधाम के साथ मथुरा में मनायी गयी थी। उस समय विदेशों के आर्यसमाजियों ने भी इस उत्सव को मनाने की योजनाएँ बनायीं। तब दक्षिणी अफ्रीका में वैदिक धर्म के प्रचार के सबसे सशक्त संगठन आर्य युवक सभाओं के रूप में थे। डरवन की आर्य युवकसभा के श्री सत्यदेव ने सर्वप्रथम यह आवाज उठाई, कि नाताल में वैदिक धर्म के जो अनुयायी हैं उन्हें भी महर्षि की जन्म शताब्दी मनानी चाहिये। इसी प्रयोजन से २ नवम्बर, १९२४ को डरवन में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें नाताल प्रान्त की आर्य संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। उन्होंने श्री सत्यदेव के प्रस्ताव का उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और शताब्दी-महोत्सव के लिए एक समिति गठित कर ली गयी, जिसके अध्यक्ष पण्डित भवानी-दयाल नियुक्त हुए, और मन्त्री श्री सत्यदेव। इस समिति के प्रयत्न से डरवन में महर्षि की जन्म-शताब्दी का उत्सव १६ फरवरी से २२ फरवरी, १९२५ तक बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। उत्सव का प्रारम्भ एक महायज्ञ से हुआ, जिसमें सम्पूर्ण यजुर्वेद के मन्त्रों से आहुतियाँ दी गयीं। दक्षिणी अफ्रीका में ऐसा यज्ञ इससे पहले कभी नहीं हुआ था। लोग उससे वहुत प्रभावित हुए। शताब्दी महोत्सव में प्रतिदिन सायंकाल ६ बजे से रात के ९ बजे तक महर्षि की जीवनी तथा वैदिक धर्म के सिद्धान्तों पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में व्याख्यान होते थे। पण्डित भवानीदयाल ने इस उत्सव के अध्यक्ष-पद को बड़ी योग्यता के साथ निभाया और उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों का जनता पर वहुत प्रभाव पड़ा। उनके अतिरिक्त श्री पी० आर० अत्तर, श्री सत्यदेव, श्री मोहकमचन्द, श्री आर० एम० नायडू, श्री भगवानदीन और श्री एच० एन० रिचर्ड आदि के भी व्याख्यान इस उत्सव

में हुए। २१ फरवरी को शताब्दी-महोत्सव के उपलक्ष्य में एक बड़ा जुलूस निकाला गया, जिसमें आर्य नर-नारियों का उत्साह देखने योग्य था। वैदिक धर्म की जय-जयकार और भजन-कीर्तन से आकाश गूंज उठा था, और सर्वत्र ओ३म् की पताकाएँ-ही-पताकाएँ नजर आ रही थीं।

शताब्दी-महोत्सव के साथ अन्य भी अनेक आयोजन हुए। आर्य विद्यार्थियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें हिन्दी पाठशालाओं के विद्यार्थियों के भाषण-प्रतियोगिता, संगीत, व्याख्यान आदि के कार्यक्रम हुए। पर महोत्सव का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वैदिक परिषद् का आयोजन था। इसमें नाताल प्रान्त की आर्य संस्थाओं के १३६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, और उपस्थिति एक हजार से भी अधिक थी, जो समय और देश को देखते हुए बहुत सन्तोषजनक थी। मुसलमान और ईसाई भी उसके व्याख्यानों को सुनने के लिए आये थे। इस परिषद् में नाताल प्रान्त की जिन संस्थाओं के प्रतिनिधि उपस्थित हुए थे, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—आर्ययुवक सभा, सत्य धर्म जिज्ञासु सभा, हिन्दी प्रचारिणी सभा, हिन्दी आर्य आश्रम, हिन्दू यंगमेन्स ऐसोसियेशन, विद्या प्रचारिणी सभा, वेद धर्म-सभा, यंगमेन्स सोसायटी, आर्य युवक मण्डल, आर्यसमाज, नागरी प्रचारिणी सभा, वैदिक सन्मार्ग सोसायटी और नागरी हितैषिणी सभा। ये सब सभाएँ व संस्थाएँ भाई परमानन्द और स्वामी शंकरानन्द आदि आर्य प्रचारकों की प्रेरणा व प्रयत्न से स्थापित हुई थीं, और आर्यसमाज के उद्देश्यों की पूर्ति में ही तत्पर थीं। वैदिक परिषद् में प्रतिनिधि भेजनेवाली संस्थाओं में ऊपर जिस आर्यसमाज का उल्लेख किया है, वह लेडीस्मिथ नामक नगर में सन् १९१६ में नागरी प्रचारिणी सभा के नाम से स्थापित हुई थी। पर बाद में (१९१९) श्री भवानीदयाल के परामर्श से उसका नाम बदलकर आर्यसमाज कर दिया गया था। वस्तुतः इस काल में दक्षिणी अफ्रीका में वेद धर्म सभा, हिन्दी प्रचारिणी सभा और नागरी प्रचारिणी सभा आदि विभिन्न नामों से आर्यसमाज का ही कार्य किया जा रहा था।

दयानन्द जन्म-शताब्दी महोत्सव तथा वैदिक परिषद् में सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के सम्बन्ध में किया गया। स्वामी शंकरानन्द, पण्डित भवानीदयाल और अन्य आर्य प्रचारकों के प्रयत्न से इस प्रदेश में आर्यसमाज के विचारों का अच्छा प्रचार हो गया था, और अनेक आर्य संस्थाएँ भी स्थापित हो चुकी थीं। पर अभी इनका कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। अतः वैदिक परिषद् के अधिवेशन में पण्डित भवानीदयाल द्वारा प्रस्तुत किया गया यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया, कि "ऋषि दयानन्द जन्म-शताब्दी पर इस सम्मेलन में पधारे हुए लोग निश्चय करते हैं, कि एक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो तथा उसके द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में वैदिक धर्म का प्रचार हो।" आर्य प्रतिनिधि सभा का केन्द्रीय कार्यालय डरबन में रखने का निश्चय किया गया, और उसके प्रथम प्रधान पण्डित भवानीदयाल निर्वाचित हुए। मन्त्री के पद पर श्री मेघराज नियुक्त हुए, पर उन्होंने शीघ्र त्यागपत्र दे दिया। बाद में श्री सत्यदेव को मन्त्री बनाया गया, जो चिरकाल तक बड़ी योग्यता व लगन से इस पद पर कार्य करते रहे। २३ अक्टूबर, १९२७ को प्रतिनिधि सभा को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के साथ सम्बद्ध कर दिया गया।

३ फरवरी, सन् १९२९ को डॉक्टर भगतराम सहगल दक्षिणी अफ्रीका आये। धर्म-प्रचार के लिए वह पूर्वी अफ्रीका आये हुए थे। उनकी धर्मपत्नी भी साथ थीं।

दक्षिणी अफ्रीका पधारने के लिए उन्हें डरबन की आर्य प्रतिनिधि सभा ने निमन्त्रित किया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। डरबन पहुँचकर उन्होंने नाताल प्रान्त के विभिन्न नगरों के भ्रमण का कार्यक्रम बनाया। उस समय तक नाताल में आर्यसमाज का अच्छा प्रसार हो चुका था, और अनेक आर्य संस्थाएँ भी वहाँ स्थापित हो चुकी थीं। पर ये 'आर्यसमाज' नाम से नहीं बनी थीं। डॉक्टर भगतराम जहाँ जाते, वहाँ आर्यों को इस बात के लिए प्रेरित करते कि अपनी संस्था का नाम बदलकर 'आर्यसमाज' कर लें। उनकी प्रेरणा से अनेक नगरों की 'नागरी हितैषिणी सभा' और 'सत्य वैदिक जिज्ञासु सभा' सदृश संस्थाओं ने अपने नाम बदलकर आर्यसमाज रख लिये। अनेक नगरों में डॉक्टर भगतराम ने आर्यसमाज नाम से नये संगठन भी स्थापित किये। इसमें सन्देह नहीं कि छह मास के स्वल्प काल में दक्षिणी अफ्रीका में जितने आर्यसमाज डॉक्टर भगतराम ने स्थापित किये उतने किसी अन्य ने वहाँ नहीं किये। वह जहाँ भी जाते, यज्ञ और संस्कार भी करवाते और शुद्धि के लिए भी प्रयत्न करते। उनकी धर्मपत्नी भी विदुषी थीं। उन्होंने स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार किया और उन्हीं के प्रयत्न से २५ मई, १९२९ को दक्षिणी अफ्रीका में प्रथम स्त्री-आर्यसमाज की स्थापना हुई। छह मास के लगभग दक्षिणी अफ्रीका में धर्म-प्रचार कर और अनेक आर्यसमाजों की स्थापना कर डॉक्टर भगतराम सहगल ने ७ जुलाई, १९२९ को दक्षिणी अफ्रीका से इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान कर दिया।

सन् १९२५ में दक्षिणी अफ्रीका में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो गयी थी और उस द्वारा वहाँ की आर्य संस्थाओं को एक केन्द्र में संगठित करने तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप का विस्तार करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया गया था। इससे पूर्व कि इस सभा के विकास एवं कार्यकलाप का विवरण दिया जाय, यह उपयोगी होगा कि उन विद्वानों तथा संन्यासियों का उल्लेख कर दिया जाय, जो बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में दक्षिणी अफ्रीका में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से सक्रिय रहे, क्योंकि इन्हीं के प्रयत्न से आर्य प्रतिनिधि सभा अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकी थी।

प्रसिद्ध आर्य भजनोपदेशक ठाकुर प्रवीण सिंह कुछ मास दक्षिणी अफ्रीका में धर्म-प्रचार कर सन् १९२२ में भारत लौट गये थे। पाँच वर्ष पश्चात् सन् १९२७ में वह पुनः दक्षिणी अफ्रीका आये, और ओवरपोर्ट की हिन्दी पाठशाला में अध्यापन का कार्य करने लगे। उन्होंने कन्याओं को हिन्दी की शिक्षा देने पर विशेष ध्यान दिया, और संस्कृत पढ़ाने के लिए एक रात्रि-पाठशाला भी खोली। अध्यापन के साथ-साथ वह प्रचार का कार्य भी करते रहते थे। डॉक्टर भगतराम सहगल के साथ रहकर भी उन्होंने अपने भजनों द्वारा प्रचार किया। आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से भी वह अवैतनिक रूप से कुछ मास तक धर्म-प्रचार में व्यापृत रहे।

वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए पण्डित भवानीदयाल द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य दक्षिणी अफ्रीका में किया गया, उसपर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। सन् १९२२ में उनकी पत्नी श्रीमती जगरानी देवी का स्वर्गवास हो गया था। पण्डित जी ने पुनर्विवाह न कर धर्म तथा देश की सेवा में जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। भारत जाकर उन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण की, और स्वामी भवानीदयाल संन्यासी बन गये (१० एप्रिल, सन् १९२७)। दक्षिणी अफ्रीका के वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने संन्यास आश्रम में प्रवेश लिया था। संन्यासी बनकर वह १९२७ में ही सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

द्वारा धर्म-प्रचार के लिए दक्षिणी अफ्रीका भेज दिये गये, और उन्होंने इस देश का दौरा प्रारम्भ कर दिया। सन् १९२७ के पश्चात् दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसमें स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था। पर दस साल पश्चात् उनका झुकाव राजनीति की ओर अधिक हो गया, और सन् १९३८ में उन्हें नाताल इण्डियन कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया।

सन् १९३१ में प्रोफ़ेसर रलाराम एम० ए० दक्षिणी अफ्रीका आये। वह श्री मोहकमचन्द वर्मन के निमन्त्रण पर वहाँ आये थे, और डरवन के आर्यसमाज को उन्होंने प्रचार-कार्य का केन्द्र बनाया था। नाताल प्रान्त के अतिरिक्त ट्रांसवाल और केप कॉलोनी में भी वह प्रचारार्थ गये थे।

सन् १९३४ में श्री मेहता जैमिनी लाला मोहकमचन्द वर्मन के प्रयत्न और प्रेरणा से दक्षिणी अफ्रीका आये। मेहता जी आर्यसमाज के सुयोग्य प्रचारक थे, और विदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने बहुत श्रम किया था। कितने ही विदेशी राज्यों में वह प्रचार-कार्य कर चुके थे। दक्षिणी अफ्रीका में उनके व्याख्यान बहुत लोकप्रिय हुए और वहाँ की प्रायः सभी आर्य व हिन्दू संस्थाओं ने उन्हें व्याख्यान के लिए निमन्त्रित किया।

सन् १९३४ में ही आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा की छात्राएँ पण्डित आनन्दप्रिय जी की अध्यक्षता में दक्षिणी अफ्रीका आयीं। १४ जुलाई को जब उनका जहाज बन्दरगाह पर पहुँचा, तो जनता ने उनका धूमधाम के साथ स्वागत किया। उनके निवास, भोजन और प्रचार-यात्रा आदि के आयोजन में आर्य प्रतिनिधि सभा ने पूरा सहयोग दिया। दक्षिणी अफ्रीका के सभी प्रान्तों और बहुत-से नगरों में उनका कार्यक्रम रखा गया। संगीत और प्रवचन के साथ-साथ वे व्यायाम और प्राणायाम आदि का भी प्रदर्शन करतीं, जिसका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता था। डरवन के यूरोपियन गर्ल्स हाई स्कूल में उन्हें विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया जहाँ गौरांग महिलाएँ और छात्राएँ उनके कार्यक्रम को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुईं। १० नवम्बर, १९३४ को उनके व्यायाम और खेलों आदि का एक सार्वजनिक प्रोग्राम रखा गया था, जिसे देखने के लिए दस हजार के लगभग नर-नारी एकत्र हुए थे। दक्षिणी अफ्रीका के विभिन्न नगरों में ये कन्याएँ जहाँ भी गयीं, संगीत और खेलों के साथ-साथ वैदिक धर्म का प्रचार भी करती रहीं। धनुष-बाण और बन्दूक से निशाना मारने, लाठी और छुरे के दाँव लगाने, घुड़सवारी और सामूहिक व्यायाम करने तथा गरबा नृत्य के उनके प्रदर्शन को देखकर सब कोई चमत्कृत रह जाते थे। बड़ौदा कन्या महाविद्यालय के लिए कन्याओं की यह मण्डली ५,००० पौंड (एक लाख रुपये के लगभग) की धनराशि एकत्र करने में भी सफल हुई। पर दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज के कार्यकलाप को आगे बढ़ाने में इससे जो सहायता मिली, उसे शब्दों में प्रकट कर सकना सम्भव नहीं है। वहाँ की जनता को भारतीय बालिकाओं को इस रूप में देखने की कल्पना भी नहीं थी। वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृति से प्रभावित होकर नारियाँ कितनी प्रगतिशील हो सकती हैं, इसका स्पष्ट चित्र आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा की छात्राओं ने वहाँ प्रस्तुत कर दिया था। नवम्बर, सन् १९३४ में ये छात्राएँ अपने देश को वापिस चली गयीं।

जून, १९३७ में प्रोफ़ेसर यशपाल धर्म-प्रचार के लिए दक्षिणी अफ्रीका आये। वह

योग तथा धनुर्विद्या में प्रवीण थे। उन्होंने योग और धनुर्विद्या के प्रदर्शनों द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया। उनके कार्यक्रम का निर्धारण आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा ही किया जाता था।

सन् १९३७ में ही पण्डित ऋषिराम धर्म-प्रचार के लिए दक्षिणी अफ्रीका आये। उन्हें भी लाला मोहकमचन्द वर्मन द्वारा निमन्त्रित किया गया था। ऋषिराम जी वेद, उपनिषद् और गीता के विद्वान् थे, और अंग्रेजी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार था। थियोसोफिकल सोसायटी की ओर से भी उनके व्याख्यानों का आयोजन किया गया, और अंग्रेजी भाषा में दिये गये उनके व्याख्यानों का शिक्षित वर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ा। दक्षिणी अफ्रीका में प्रचार-कार्य करते हुए पण्डित ऋषिराम ने विचार किया कि एक ऐसा ट्रस्ट इस देश में कायम कर देना चाहिए, जो अपनी आमदनी से किसी-न-किसी विद्वान् को व्याख्यानों के लिए निमन्त्रित करता रहे। महात्मा गांधी और महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में पण्डित जी का अच्छा अध्ययन था, और वह इनके प्रशंसक भी थे। उन्होंने अपने प्रस्तावित ट्रस्ट का 'गांधी टैगोर लेक्चरशिप ट्रस्ट' नाम रखा, और उसके लिए धन एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३७ की दक्षिणी अफ्रीका की पहली यात्रा में तो वह इस सम्बन्ध में अधिक कार्य नहीं कर सके, पर १९४५ में जब वह दोबारा दक्षिणी अफ्रीका आए, तो उन्होंने इस ट्रस्ट के लिए छह हजार पौण्ड एकत्रित कर लिये। यह व्यवस्था की गयी कि इस राशि के सूद से उन विद्वानों को मार्ग-व्यय तथा खर्च दिया जाया करे, जिन्हें कि दक्षिणी अफ्रीका में व्याख्यानों के लिए निमन्त्रित किया जाए। जून, १९४५ में दूसरी बार नाताल आकर पण्डित ऋषिराम ने आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य युवक सभा, थियोसोफिकल सोसायटी आदि संस्थाओं के तत्त्वावधान में अनेक व्याख्यान दिये। नाताल प्रान्त के विविध नगरों में प्रचार कर वह ट्रांसवाल और केप कॉलोनी गये और उसके पश्चात् पुर्तगीज ईस्ट अफ्रीका (मोजाम्बिक) चले गये। पण्डित ऋषिराम वैदिक धर्म के उन प्रचारकों में थे, जिन्होंने अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका और पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों में जाकर आर्य-संस्कृति का प्रचार किया था। दक्षिणी अफ्रीका के लोग भी उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुए थे।

सन् १९४५ के पश्चात् भी अनेक विद्वान् धर्म-प्रचार के लिए भारत से दक्षिणी अफ्रीका जाते रहे। उस देश में आर्यसमाज के कार्यकलाप की वर्तमान दशा पर प्रकाश डालते हुए इनका भी उल्लेख किया जायगा।

(५) आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप की प्रगति

गत चालीस वर्षों में दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप की जो प्रगति हुई है, उसमें पण्डित नरदेव वेदालंकार का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का है। वस्तुतः उन्हीं के प्रयत्न से इस देश में आर्यसमाज ने सुव्यवस्थित रूप प्राप्त किया। अतः पहले यह उपयोगी होगा कि दक्षिणी अफ्रीका में उनके आगमन का परिचय दे दिया जाय। पण्डित नरदेव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक हैं। उनकी मातृभाषा गुजराती है, पर गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त करने के कारण हिन्दी पर भी उनका समान रूप से अधिकार है। संस्कृत के वह प्रकाण्ड पण्डित हैं, और अंग्रेजी भी वह भली-भाँति जानते हैं। सन् १९३८ में गुरुकुल से वेदालंकार परीक्षा उत्तीर्ण कर वह गुजरात गये,

और वहाँ सूरत में उन्होंने अध्यापन का कार्य किया। डरबन की गुजराती संस्था 'सूरत हिन्दू एजूकेशनल सोसायटी' के निमन्त्रण पर सन् १९४७ में उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के लिए प्रस्थान किया, और २४ नवम्बर को वह डरबन पहुँच गये। वहाँ उन्होंने हिन्दी तथा गुजराती भाषाओं के अध्यापक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। पर उनका कार्य केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं रहा। आर्यसमाज की विविध गतिविधियों में भी उन्होंने रुचि प्रदर्शित की और बड़ी लगन तथा उत्साह के साथ आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेने लगे। आर्य प्रतिनिधि सभा के साहाय्य और सहयोग से उन्होंने 'हिन्दी शिक्षा संघ' की स्थापना की, और २५ वर्ष तक संघ के प्रधान रहकर उसका संचालन किया। वेद-निकेतन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का जो महत्त्वपूर्ण कार्य दक्षिणी अफ्रीका में व अन्यत्र किया जा रहा है, उसके पथप्रदर्शक व संचालक पण्डित नरदेव वेदालंकार ही हैं। उन्होंने एक वैदिक पुरोहित-मण्डल भी स्थापित किया है, जिस द्वारा आर्य पुरोहितों तथा प्रचारकों को प्रशिक्षण दिया जाता है। भारत से जो अन्य विद्वान् व प्रचारक वैदिक धर्म के प्रचार के लिए दक्षिणी अफ्रीका जाते रहे, वे अधिक समय वहाँ नहीं ठहरे, पर पण्डित नरदेव सन् १९४७ में वहाँ गये थे, और अब तक वहीं कार्यरत हैं।

दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—वेद-प्रचार, हिन्दी भाषा का प्रचार, हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न करना तथा उनमें अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति गौरव की भावना को उत्पन्न करना, समाज-सेवा और युवकों में कार्य। इन सबपर क्रमशः प्रकाश डालना उपयोगी है।

वेद-प्रचार के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा समय-समय पर वेद-परिषदों का आयोजन किया जाता रहा है। पहली वेद-परिषद् दयानन्द जन्म-शताब्दी के समय फरवरी, १९२५ में हुई थी। इसमें लोगों से अनुरोध किया गया था, कि वे मादक द्रव्यों का सेवन न किया करें, प्रतिदिन सन्ध्या किया करें, किसी को अछूत न समझें, जात-पाँत के भेद-भाव को न मानें, मातृभाषा हिन्दी का प्रयोग किया करें और स्त्री-शिक्षा को महत्त्व दें। निस्सन्देह, ये सब बातें वैदिक धर्म के मन्तव्यों के अनुरूप थीं। दूसरी वैदिक परिषद् नाताल प्रान्त के अन्यतम नगर लेडीस्मिथ में अक्टूबर, १९२५ में हुई थी। नाताल की प्रायः सभी आर्य संस्थाओं के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने प्रतिनिधि सभा के नियमों व उपनियमों का निर्धारण किया था। तीसरी वैदिक परिषद् नाताल प्रान्त की राजधानी पीटरमेरित्सवर्ग में जुलाई, १९२६ में आयोजित की गयी थी। इसमें एक महत्त्व-पूर्ण प्रस्ताव यह स्वीकार किया गया, कि एक ऐसा सम्मेलन आयोजित किया जाय, जिसमें सभी हिन्दू सभाओं, संगठनों तथा संस्थाओं के प्रतिनिधि एकसाथ बैठकर हिन्दुओं को संगठित करने के प्रश्न पर विचार-विमर्श करें। स्वामी शंकरानन्द का यह विचार था, कि दक्षिणी अफ्रीका जैसे सुदूर देश में बसे हुए सब हिन्दुओं को परस्पर मिलकर रहना चाहिए, और एक संगठन में संगठित होकर अपने हितों की रक्षा तथा जातीय उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसीलिये उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में हिन्दू-महासभा की स्थापना की थी। १९२६ की वैदिक परिषद् में भी इसी विचार की पुष्टि की गयी। पर उस समय सनातन धर्म के प्रचारक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी दक्षिणी अफ्रीका आये हुए थे, और वहाँ वह सनातन धर्म-महामण्डल की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे। उनके प्रभाव व प्रेरणा के कारण अनेक हिन्दू संस्थाएँ आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सहयोग करने को

उद्यत नहीं हुई, और वैदिक परिषद् के इस प्रस्ताव को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा वैदिक परिषद् में यह निश्चय किया गया, कि आर्य प्रतिनिधि सभा और उससे सम्बद्ध संस्थाएँ अपना सब कार्य हिन्दी भाषा में किया करें। इस प्रस्ताव के अनुसार सभा का सब कार्य अबतक भी हिन्दी में ही किया जाता है। चौथी वैदिक परिषद् मार्च, १९३९ में डरबन में हुई। अनेक विद्वानों ने इसमें वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति पर निबन्ध पढ़े। इसमें एक प्रस्ताव इस आशय का स्वीकार किया गया, कि मातृभाषा हिन्दी में शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय। पाँचवीं वैदिक परिषद् का आयोजन शिवरात्रि के शुभ अवसर पर फरवरी, सन् १९४२ में डरबन में किया गया। इसमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए, उन द्वारा स्त्रियों की शिक्षा तथा उन्हें पुरुषों के समान अधिकार देने की बात पर जोर दिया गया था। जुलाई, १९४७ में छठी वैदिक परिषद् आर्य प्रतिनिधि सभा, डरबन के भवन में हुई। इस समय भारत में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे, और पाकिस्तान के निर्माण के कारण वहाँ का वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया था। एक प्रस्ताव द्वारा इस परिषद् ने भारत के हिन्दू-मुसलिम दंगों की निन्दा की। इन वैदिक परिषदों द्वारा दक्षिणी अफ्रीका के निवासियों को वैदिक धर्म की उदात्त शिक्षाओं से परिचय प्राप्त करने में बहुत सहायता मिली, और वहाँ की विविध आर्य संस्थाओं में परस्पर सहयोग की भावना भी उत्पन्न हुई।

वैदिक परिषदों के अतिरिक्त वेद-प्रचार के प्रयोजन से आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा अनेक महोत्सवों तथा सम्मेलनों का भी आयोजन किया जाता रहा। शिवरात्रि के पर्व पर ऋषिबोधोत्सव मनाने की परम्परा दक्षिणी अफ्रीका में सभा द्वारा प्रारम्भ की गयी। सन् १९३२ में इस अवसर पर एक आर्य महासम्मेलन का भी आयोजन किया गया, जिसमें आर्यों को सन्ध्या-हवन आदि नित्यकर्म करने की प्रेरणा दी गयी, और यह निश्चय किया गया, कि एक वेद-मन्दिर का निर्माण किया जाय।

सन् १९३३ में दयानन्द-निर्वाण-अर्ध-शताब्दी अजमेर में मनायी गयी थी। इस उत्सव को दक्षिणी अफ्रीका में भी धूमधाम के साथ मनाया गया (१६ से २३ अक्टूबर, १९३३)। स्वामी भवानीदयाल जी ने इसकी अध्यक्षता की थी। इस अवसर पर एक हिन्दू परिषद् का भी आयोजन किया गया था। दक्षिणी अफ्रीका के सब हिन्दुओं को संगठित होकर परस्पर सहयोग से काम करना चाहिए, इसी विचार को लेकर यह परिषद् निर्वाण-अर्ध-शताब्दी के अवसर पर आयोजित की गयी थी। इसमें ८० हिन्दू संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, और एक प्रस्ताव इस आशय का स्वीकृत किया गया था कि हिन्दू महासभा में नवजीवन का संचार किया जाय, ताकि उस द्वारा हिन्दुओं के सब वर्गों के हितों की रक्षा के लिए सम्मिलित रूप से प्रयत्न किया जा सके।

वेद-प्रचार को दृष्टि में रखकर आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा एक पुरोहित-सम्मेलन का आयोजन जुलाई, १९४४ में किया गया। इस समय तक दक्षिणी अफ्रीका में विवाह आदि संस्कारों को वैदिक विधि से सम्पादित करने का रिवाज बहुत बढ़ गया था। पर इन संस्कारों की कोई ऐसी सुस्पष्ट विधि नहीं थी, जिसका अविकल रूप से अनुसरण किया जाता हो। महर्षिकृत संस्कार विधि में संस्कारों की जिस विधि का प्रतिपादन किया गया है, पुरोहित लोग उसमें कुछ घटा-बढ़ा दिया करते थे। पुरोहित-सम्मेलन इसी प्रयोजन से किया गया था, कि इस अव्यवस्था को दूर कर संस्कारों की एक सुनिश्चित विधि निर्धारित

कर दी जाय। पण्डित अवधविहारी ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की, पर वैदिक संस्कारों को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कराने में पण्डित सुधीर कुमार विद्यालंकार का कर्तृत्व विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण था। सुधीर कुमार जी गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक थे, और जोहानीसवर्ग में अध्यापन-कार्य के लिए रह रहे थे। उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में इस पुरोहित-सम्मेलन के निर्णय हुए। विशद रूप से विविध संस्कारों की विधि सुनिर्धारित कर देने के अतिरिक्त पुरोहितों की पोशाक भी सम्मेलन द्वारा निश्चित कर दी गयी।

नवम्बर, १९४५ में आर्य प्रतिनिधि सभा का एक आवश्यक महाधिवेशन हुआ, जिसमें सभा से सम्बद्ध संस्थाओं तथा आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संगों के लिए सामान्य क्रम निर्धारित किया गया, और साथ ही हिन्दी की शिक्षा के लिए आठवीं कक्षा तक की पाठ-विधि तय की गयी।

धर्म-प्रचार के लिए केवल उपदेशों और व्याख्यानों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता। साहित्य उसके लिए वहुत उपयोगी होता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा 'वेद निकेतन' की स्थापना की गयी। इस संस्था का कार्य वैदिक धर्म के सम्वन्ध में पुस्तकें तैयार कराना और उन्हें प्रकाशित करना है। पण्डित नरदेव वेदालंकार, जो नवम्बर, १९४७ में दक्षिणी अफ्रीका आ गये थे, ने हिन्दी और अंग्रेजी में वहुत-सी पुस्तकें वैदिक धर्म के विविध सिद्धान्तों व मान्यताओं के सम्वन्ध में लिखीं, जिन्हें 'वेद निकेतन' द्वारा प्रकाशित किया गया। ये पुस्तिकाएँ प्रधानतया अंग्रेजी भाषा में हैं, जिन्हें पढ़कर इस देश के सुशिक्षित व्यक्ति वैदिक धर्म और आर्यसमाज के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। पाठकों पर साहित्य का प्रभाव स्थायी होता है, और यह प्रचार का सशक्त साधन है। पण्डित नरदेव ने जिन विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं, उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—गायत्री मन्त्र, कर्मयोग, महर्षि दयानन्द सरस्वती, योग और प्राणायाम, आध्यात्मिक जीवन, दैनिक प्रार्थना, आर्यसमाज के उद्देश्य और कार्यकलाप, विवाह का आदर्श, वैदिक दर्शन और धर्म की भावना आदि। 'वेद निकेतन' द्वारा प्रकाशित इन पुस्तिकाओं का केवल दक्षिणी अफ्रीका में ही नहीं, अपितु पूर्वी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड और इंगलैण्ड में भी खूब प्रचार हुआ है। उनकी हजारों प्रतियाँ निकेतन द्वारा मुफ्त भी वितरित की गयी हैं। इन पुस्तिकाओं द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में जो सहायता मिली है, उसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। युवकों को वैदिक धर्म की शिक्षा देने के लिए 'वेद निकेतन' द्वारा धर्मशिक्षा की अनेक परीक्षाओं की भी व्यवस्था की जाती है। ये परीक्षाएँ धर्मप्रथमा, धर्मप्रवेश, धर्मप्रकाश, धर्मप्रवीण और धर्मप्रभाकर हैं। इनका पाठ्यक्रम 'वेद निकेतन' द्वारा तैयार किया गया है, और इनके लिए पुस्तकें पण्डित नरदेव वेदालंकार ने लिखी हैं। धर्मशिक्षा की ये परीक्षाएँ साल में दो बार ली जाती हैं, और इनके परीक्षा-केन्द्र दक्षिणी अफ्रीका के अतिरिक्त फीजी, मारीशस, रहोडेशिया और अन्य भी कई देशों में विद्यमान हैं। युवक अच्छी वड़ी संख्या में इन परीक्षाओं में बैठते हैं, और इनके पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाई कर वैदिक धर्म के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करते हैं।

दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा ने जेलों तथा अस्पतालों में भी धर्म-प्रचार के कार्य पर ध्यान दिया है। जेल में वन्द कैदियों को क्रिश्चियन मिशनरी धर्मोपदेश दिया करते थे। सभा ने सरकार से अनुरोध किया कि नाताल प्रान्त के जेलखानों में जो

भारतीय कैदी रह रहे हैं, रविवार के दिन उन्हें धर्मोपदेश देने की सुविधा सभा के प्रचारकों को दी जाय। सरकार ने यह स्वीकार कर लिया। हिन्दुओं में आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है, जिसे यह सुविधा दी गयी है। श्री सत्यदेव, पण्डित जगमोहन और पण्डित रामसुन्दर पाठक आदि आर्य विद्वान् जेलों में जाकर प्रवचन करने लगे, जिसका कैदियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार अस्पतालों में रोगियों के पास जाकर उन्हें सान्त्वना देने तथा उनके रोगमुक्त होने के लिए प्रार्थना करने के कार्य की दिशा में भी सभा द्वारा प्रयत्न किया गया। इस समय पण्डित आर० एम० सिंह, पण्डित एस० ए० नायडू, पण्डित बनवारी महाराज, पण्डित बी० भूखन और पण्डित रामदत्त जी इस कार्य को सुचारु रूप से निभा रहे हैं।

हिन्दी भाषा का प्रचार दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। संस्कृति और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अपनी भाषा की रक्षा करके ही कोई जाति या देश अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकता है। सुदूर दक्षिणी अफ्रीका में जो भारतीय बसे हुए थे, उनमें बहुसंख्यकों की मातृभाषा हिन्दी थी। पर अंग्रेजी और डच के सरकारी भाषाएँ होने के कारण हिन्दी सर्वथा उपेक्षित थी। इस दशा में हिन्दी के प्रचार के लिए सर्वप्रथम प्रयास स्वामी शंकरानन्द द्वारा किया गया था, और उनकी प्रेरणा से दक्षिणी अफ्रीका में अनेक हिन्दी पाठशालाएँ कायम हुई थीं। बाद में पण्डित भवानीदयाल ने हिन्दी-प्रचार के लिए अनथक परिश्रम किया। उन्होंने स्थान-स्थान पर हिन्दी के लिए व्याख्यान दिये, और अनेक हिन्दी प्रचारिणी सभाओं की स्थापना की। एक हिन्दी आश्रम भी उन द्वारा स्थापित किया गया। सन् १९१६ में उनके प्रयत्न से लेडीस्मिथ नगर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन हुआ। अगले वर्ष १९१७ में भी एक हिन्दी सम्मेलन पीटर मेरित्सबर्ग में किया गया, जिस द्वारा जनता में हिन्दी के लिए प्रेम तथा उत्साह उत्पन्न होने में बहुत सहायता मिली। हिन्दी के लिए किये गये इन सब प्रयासों को आर्यसमाज का पूर्ण सहयोग व समर्थन प्राप्त था। सन् १९२५ में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो जाने के पश्चात् आर्यसमाज की शक्ति हिन्दी के प्रचार के लिए और भी अधिक प्रयुक्त होने लगी। इस सभा द्वारा जो भी परिषदें, सम्मेलन व उत्सव आयोजित किये गये, प्रायः सबमें हिन्दी के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत हुए, और सभा ने निश्चय किया कि उसका सब कार्य हिन्दी भाषा में ही किया जाया करे। उसने अपने साथ सम्बद्ध सभी समाजों तथा संस्थाओं से भी अपना सब कार्य हिन्दी में ही करने का आग्रह किया। दक्षिणी अफ्रीका में जो हिन्दी पाठशालाएँ हैं, उनमें बहुसंख्यक ऐसी हैं जिनका संचालन आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, सन् १९४५ में सभा ने हिन्दी पाठशालाओं के लिए पाठविधि का भी निर्धारण कर दिया था, ताकि इन सब शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी की एकसमान पढ़ाई हो सके। सन् १९४७ में पण्डित नरदेव वेदालंकार के दक्षिणी अफ्रीका आ जाने के पश्चात् उस देश में हिन्दी-प्रचार के कार्य में बहुत उन्नति हुई। पण्डितजी के परामर्श के अनुसार आर्य प्रतिनिधि सभा ने एप्रिल, १९४८ में एक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें हिन्दी की शिक्षा तथा प्रचार में संलग्न सभी संस्थाओं को निमन्त्रित किया गया। सम्मेलन में हुए विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप हिन्दी के प्रचार के लिए 'हिन्दी शिक्षा संघ, नाताल' के नाम से एक नयी

संस्था की स्थापना की गयी, जिसमें मतमतान्तरों के भेदभाव की उपेक्षा कर सबका सहयोग प्राप्त किया गया। सम्मेलन में संघ के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्वीकृत की गयीं—(१) नाताल की सब हिन्दी पाठशालाओं को संघ में सम्मिलित किया जाय, (२) सब हिन्दी पाठशालाओं में एक सदृश पाठ्यक्रम हो, और सबमें एक सदृश ही परीक्षाएँ दिलायी जायें, (३) हिन्दी भाषा की शिक्षा के साथ-साथ भारत का इतिहास, भूगोल, धर्मशिक्षा तथा सामान्य गणित की शिक्षा की व्यवस्था भी हिन्दी के माध्यम से इन पाठशालाओं में की जाय। संघ के अध्यक्ष पण्डित नरदेव नियुक्त हुए, और मन्त्री श्री सुखराज छोटई तथा श्री पे० वी० जे० महाराज। श्री छोटई आर्य प्रतिनिधि सभा के भी सहायक मन्त्री थे। वस्तुतः, हिन्दी-प्रचार का सब काम प्रधानतया आर्यसमाज द्वारा ही किया गया, यद्यपि उसके लिए एक पृथक् संघ स्थापित कर दिया गया था, क्योंकि इससे सब वर्गों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। हिन्दी की शिक्षा को सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने के प्रयोजन से डरबन तथा पीटर मेरित्सबर्ग में 'राष्ट्रभाषा अध्यापन मन्दिर' भी खोले गये, जिनमें हिन्दी के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था की गयी। हिन्दी के लिए जो कार्य दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज द्वारा किया गया है, उसपर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में भी प्रकाश डाला गया है।

हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न करने तथा उनमें अपने धर्म व संस्कृति के प्रति आस्था एवं गौरव की भावना को प्रादुर्भूत करने में भी दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा अनेकविध कार्य किये गये हैं। त्यौहार और धार्मिक उत्सव भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में बसे हुए हिन्दू अपने त्यौहारों और धार्मिक उत्सवों को भूल गये थे। होली के सिवा कोई अन्य हिन्दू त्यौहार वे नहीं मनाते थे। वे दीपावली तक नहीं मनाते थे। मुहर्रम के अवसर पर वे भी ताजिया निकाला करते थे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, स्वामी शंकरानन्द ने दीपावली मनाने की परम्परा का पुनः प्रारम्भ कराया और रामरथ निकालने की नयी परम्परा शुरू की, ताकि हिन्दू मुहर्रम में ताजिये न निकाला करें। आर्यसमाज के प्रयत्न से रामनवमी और कृष्णजन्माष्टमी के त्यौहार भी हिन्दुओं ने मनाने प्रारम्भ किये और आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से शिवरात्रि (ऋषिबोधोत्सव) का त्यौहार भी मनाया जाने लगा। आर्यसमाज ने १५ अगस्त (भारत के स्वाधीनता-दिवस) को भी एक त्यौहार के रूप में मनाने की परिपाटी शुरू की है, जिसमें अन्य मतों के भारतीय भी सम्मिलित होते हैं। विवाह, मुण्डन आदि संस्कारों को हिन्दू लोग वैदिक रीति से करने लगें, इसके लिए भी आर्य प्रतिनिधि सभा ने समुचित प्रयत्न किया है। अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए दक्षिणी अफ्रीका में जो कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया है, उसके सम्बन्ध में श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज के निम्नलिखित वाक्य उद्धरण के योग्य हैं—"विदेशों में प्रवासी भारतीयों के कल्याण के लिए आर्यसमाज जो कुछ कर रहा है, उससे मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है, जो मातृभूमि या भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और पुरातन आर्य संस्कृति की रक्षा का विशेष ध्यान रखती है।...भारत के जो समाज प्रवासी भारतीयों की सेवा कर सकते हैं, उनमें आर्यसमाज से बढ़कर शक्तिशाली और उत्साही दूसरा कोई नहीं है।"

युवक वर्ग को धर्म और आर्य संस्कृति की ओर आकृष्ट करने के सम्बन्ध में जो कार्य दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज ने किया है, वह भी अत्यन्त महत्त्व का है। इसी

प्रयोजन से वहाँ आर्य युवक सभाओं की स्थापना की गयी। युवकों में कार्य का प्रारम्भभी स्वामी शंकरानन्द द्वारा किया गया था, और उन्होंने उन्हें सन्ध्या-हवन करना सिखाया था। उन द्वारा हिन्दू युवकों में जो जागृति उत्पन्न की गयी थी, उससे प्रभावित होकर एप्रिल, १९१२ में श्री सत्यदेव, जो नाताल के एक उत्साही व कर्मठ युवक थे, ने 'आर्य बाल मित्रमण्डल' की स्थापना की जिसका नाम बाद में स्वामी शंकरानन्द के परामर्श से 'आर्य युवक सभा' कर दिया गया। इस सभा ने बहुत उन्नति की। पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार इसी सभा से निमन्त्रण प्राप्त कर नाताल में धर्म-प्रचार के लिए आये थे। बाद में युवकों की अन्य भी अनेक सभाएँ व संगठन दक्षिणी अफ्रीका के विविध नगरों में कायम हुए, जिसमें युवक आर्यसमाज (स्थापना-वर्ष १९३२) क्लेरवुड, आर्य युवक मण्डल सीकाउलेक (१९२९), और आर्य नवयुवक सभा रेइसतीर्प, वैदिक युवक सभा बिलोफोण्टीन (१९४३) उल्लेखनीय हैं। युवकों की ये सभाएँ आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध हैं, और युवक वर्ग में वैदिक धर्म के लिए उत्साह उत्पन्न करने में तत्पर हैं। इन द्वारा युवकों को हवन-सन्ध्या का अनुष्ठान करने तथा सदाचारमय जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया जाता है।

समाज-सेवा के भी अनेकविध कार्य दक्षिणी अफ्रीका में आर्य प्रतिनिधि सभा तथा उससे सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा किये गये हैं। ऐसा एक महत्त्वपूर्ण कार्य डरबन में 'आर्य अनाथाश्रम' की स्थापना व संचालन है। इसे डरबन की आर्य युवक सभा ने स्थापित किया था। भूमि और भवन क्रय कर इस आश्रम का निर्माण किया गया, और १ मई, सन् १९२१ को पण्डित भवानीदयाल ने इसका उद्घाटन किया। अनाथाश्रम खोलने का विचार आर्य युवक सभा के अध्यक्ष श्री सत्यदेव के मन में उत्पन्न हुआ था, और उन्होंने असहाय व अनाथ व्यक्तियों के निवास व निर्वाह के लिए इसे स्थापित किया था। प्रारम्भ में इस आश्रम में केवल प्रौढ़ असहाय व्यक्तियों को ही लिया जाता था, पर धीरे-धीरे इसके साधनों में वृद्धि होने लगी, जनता का विश्वास जमने लगा और सरकार द्वारा भी इसे सहायता दी जाने लगी। परिणाम यह हुआ, कि अनाथ बच्चे भी इसमें प्रविष्ट किये जाने लगे। शीघ्र ही, इस आश्रम ने बहुत उन्नति कर ली, और दक्षिणी अफ्रीका के प्रायः सभी प्रदेशों से अनाथ बच्चे इसमें भेजे जाने लगे। अनाथों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ मकानों की माँग भी बढ़ती गयी, और जनता की सहायता से आश्रम के कलेवर में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उसके लिए आवश्यक भूमि और भवन क्रय करके तथा किराये पर लेकर प्राप्त कर लिये गये, और अनाथ बच्चों तथा असहाय वृद्धों के निवास की व्यवस्था पृथक् रूप से कर दी गयी।

आश्रम की व्यवस्था आर्य युवक सभा डरबन की एक उपसमिति के अधीन है। वहाँ रहनेवाले बच्चों तथा प्रौढ़ों को दिन में तीन बार भोजन दिया जाता है, और वस्त्र तथा औषधि भी आश्रम की ओर से ही दी जाती है। बच्चों की शिक्षा की भी वहाँ व्यवस्था है। पढ़ने-लिखने के साथ-साथ उन्हें काम-धन्धों की भी शिक्षा दी जाती है। अठारह साल की आयु तक वे आश्रम में रहते हैं, और बाद में किसी काम-धन्धे या नौकरी में लग जाते हैं, जिसके लिए आश्रम भी उनकी सहायता करता है। अनाथ बालिकाओं के विवाह की व्यवस्था भी आश्रम द्वारा की जाती है। अनाथाश्रम में प्रवेश के लिए धर्म, जाति, नस्ल आदि का कोई भेदभाव नहीं किया जाता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, एशियन, अफ्रीकन,

सब उसमें प्रवेश पा सकते हैं। सन् १९७५ में इस आश्रम में अनाथ बच्चों की संख्या ८७ थी, और असहाय वृद्धों की १३४। वृद्धावस्था में वहुत-से स्त्री-पुरुष असहाय हो जाते हैं, वे स्वयं काम करने में समर्थ नहीं रहते और अपनी सन्तान के परिवारों में रह सकना भी उनके लिए सम्भव नहीं रहता। ऐसे व्यक्तियों के निवास, भोजन, चिकित्सा तथा देखभाल की डरवन के अनाथाश्रम में समुचित व्यवस्था है। उनमें कतिपय ऐसे भी हैं, जो अपना सब खर्च या खर्च का कुछ अंश आश्रम को प्रदान करते हैं। आर्य अनाथाश्रम कितनी बड़ी संस्था के रूप में विकसित हो गया है, इसका अनुमान इसी वात से किया जा सकता है, कि सन् १९७५ में उसमें ५८ कर्मचारी कार्य कर रहे थे।

हिन्दू जाति से जात-पाँत तथा ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने के लिए भी दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उसके प्रचार का यह परिणाम हुआ है, कि वहाँ अब जात-पाँत तोड़कर विवाह होने लग गये हैं, और खानपान के विषय में जाति या छूत-अछूत का कोई विचार नहीं किया जाता। मद्य-सेवन के विरुद्ध प्रचार कर तथा स्त्री-शिक्षा पर अत्यधिक बल देकर भी आर्यसमाज ने वहाँ सामाजिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

जिस आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में इतने महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हों और दर्जनों संस्थाएँ जिसके साथ सम्बद्ध हों, उसके लिए एक केन्द्रीय कार्यालय तथा भवन की आवश्यकता शुरू (सन् १९२५) से ही अनुभव की जा रही थी। इसीलिये १ एप्रिल, सन् १९३६ को डरवन की कार्लाइल स्ट्रीट में दो हजार पौण्ड(तीस हजार रुपये के लगभग) से एक भूमिखण्ड सभा के लिए क्रय किया गया, और वहाँ वेद-मन्दिर के निर्माण की योजना वनायी गयी। भूमिखण्ड को क्रय करने के लिए कुछ धनराशि सभा को ऋण लेनी पड़ी थी, अतः उसपर अच्छा विशाल भवन अभी नहीं वनाया जा सकता था। काम चलाने के लिए अस्थायी रूप से एक भवन का निर्माण कर लिया गया। ४ फरवरी, सन् १९४३ को भवन-प्रवेश-यज्ञ का भी अनुष्ठान सम्पन्न कर लिया गया, पर वेद-मन्दिर के निर्माण के लिए तैयारी को जारी रखा गया। अनेक आर्य सज्जनों ने इसके लिए धन एकत्र करने में अनुपम उत्साह प्रदर्शित किया, जिनमें श्री एस० एल० सिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह कई वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे, और उन्होंने वेद-मन्दिर की योजना को क्रियान्वित करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखी। दान में धन एकत्र करने के अतिरिक्त विना सूद के ऋण प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया गया। इस प्रकार आर्य नर-नारियों के सम्मिलित पुरुषार्थ से सन् १९७५ तक वेद-मन्दिर का शानदार भवन बनकर तैयार हो गया था, और आचार्य कृष्ण (स्वामी दीक्षानन्द) द्वारा एक यज्ञ के साथ उसका उद्घाटन भी कर दिया गया था। वेद-मन्दिर एक अत्यन्त विशाल, भव्य तथा शानदार इमारत है। सभा-कार्यालय के लिए उपयुक्त स्थान के अतिरिक्त उसमें अनेक फ्लैट भी हैं, जिनसे भरपूर किराया भी प्राप्त होता है।

दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा एक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित संस्था है, जिसके साथ सन् १९७५ में ३६ सभाएँ, आर्यसमाज एवं संस्थाएँ सम्बद्ध थीं। इन सबको प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में सात-सात प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। आर्य-समाज के सब प्रचारक व पुरोहित तथा दानी (जिन्होंने सभा को १५००रु० या अधिक

दान में दिये हों) प्रतिनिधि सभा के आजीवन सदस्य होते हैं। प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के छह पदाधिकारी तथा दस सदस्य सभा द्वारा चुने जाते हैं, और उससे सम्बद्ध सब संस्थाओं के तीन-तीन प्रतिनिधि उसमें लिये जाते हैं।

सन् १९५० में आर्य प्रतिनिधि सभा को स्थापित हुए २५ वर्ष पूरे हो गये थे। अतः फरवरी, सन् १९५० में उसकी रजत-जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय इसी के लिए भारत से दक्षिणी अफ्रीका आये थे। उनके सत्संग तथा व्याख्यानों से दक्षिणी अफ्रीका के आर्यों में अनुपम उत्साह का संचार हुआ। पण्डित गंगाप्रसाद जी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् थे, और उन्होंने वेद तथा दर्शन-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी में लिखे थे। रजत जयन्ती का प्रारम्भ महायज्ञ के साथ हुआ, और उसमें अनेक सम्मेलनों तथा व्याख्यानों का आयोजन किया गया।

सन् १९७३ में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में तेरहवाँ सार्वभौम आर्य महासम्मेलन मारीशस में आयोजित हुआ था। दक्षिणी अफ्रीका की आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से जो मण्डली इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए मारीशस गयी थी, उसकी सदस्य-संख्या एक सौ थी, और उसका नेतृत्व सभा के प्रधान श्री सुखराज छोटई ने किया था। सन् १९७५ में दिल्ली में आयोजित आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी-समारोह तथा सन् १९८० के लण्डन में हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में भी दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधि अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए थे। सन् १९७५ में आर्य प्रतिनिधि सभा की सुवर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम के साथ डरबन में मनायी गयी। इसके लिए भारत से आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री और आचार्य कृष्ण को विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया था। सुवर्ण जयन्ती महोत्सव का प्रारम्भ ५ अक्टूबर को यजुर्वेद पारायण महायज्ञ के साथ हुआ। आचार्य कृष्ण इसके ब्रह्मा थे। इसी अवसर पर वेद-मन्दिर का भी उद्घाटन किया गया। दोपहर बाद नगर-कीर्तन निकाला गया, जिसमें हजारों नर-नारियों के अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका के २५ हिन्दी विद्यालयों के छात्रों ने भी भाग लिया। यह पहला अवसर था, जबकि डरबन में इतना विशाल और शानदार जुलूस निकला था। जयन्ती-समारोह की सार्वजनिक सभा श्री सुखराज छोटई की अध्यक्षता में हुई, और उसमें सबसे पहले आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री का भाषण हुआ। अनेक विद्वानों के व्याख्यानों के अतिरिक्त संगीत, नाट्य आदि के कतिपय सांस्कृतिक कार्यक्रमों को भी जयन्ती-समारोह में स्थान दिया गया था। इस अवसर पर एक हजार के लगभग व्यक्तियों ने यज्ञोपवीत धारण किया था, और पन्द्रह पुरोहितों को पौरोहित्य की दीक्षा दी गयी थी।

इसमें सन्देह नहीं कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक में दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज के जिस बीज को बोया गया था, वह अब एक अच्छे बड़े वृक्ष का रूप प्राप्त कर चुका है, जिसकी शाखाएँ उस देश में सर्वत्र फैली हुई हैं। दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज मुख्यतया नाताल प्रान्त में केन्द्रित है। डरबन इसी प्रान्त का मुख्य नगर है। नाताल की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग और डरबन दोनों में ही आर्यसमाज का अच्छा काम है। पर एक अन्य प्रान्त ट्रांसवाल में भी अनेक संस्थाएँ विद्यमान हैं, और उन द्वारा भी अनेक विद्वानों को वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बुलाया जाता रहा है। ट्रांसवाल में गुजराती

लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं, और उनपर आर्यसमाज का अच्छा प्रभाव है। उनके निमन्त्रण पर जो विद्वान् भारत से ट्रांसवाल आए, उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। पण्डित हरिशंकर विद्यार्थी गुजरात से ट्रांसवाल आये थे। भारत में वह आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई के साप्ताहिक पत्र 'आर्यप्रकाश' के सम्पादक रह चुके थे। उन्होंने ट्रांसवाल के गुजराती लोगों में आर्यसमाज का प्रचार किया, और बाद में वह अफ्रीका के अन्य प्रदेश र्‌होडेशिया भी गये। पण्डित सुधीरकुमार विद्यालंकार का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। उनका कार्यक्षेत्र भी प्रधानतया ट्रांसवाल ही था। पण्डित हरिश्चन्द्र आर्य को सूपा (गुजरात) के गुरुकुल में विद्याध्ययन करने के लिए उनके पिता, जो ट्रांसवाल के निवासी थे, ने भेजा था। ट्रांसवाल लौटकर उन्होंने हिन्दी के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया, और वहाँ के राष्ट्रभाषा विद्या-मन्दिर का संचालन किया। इसी प्रकार पण्डित अरुणकुमार विद्यालंकार और श्री विनयचन्द पटेल ने भी ट्रांसवाल में आर्यसमाज के कार्यकलाप को आगे बढ़ाने में अच्छा योगदान दिया।

(६) दक्षिणी अफ्रीका की प्रमुख आर्य संस्थाएँ

आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ ३६ के लगभग जो सभाएँ, समाज व संस्थाएँ सम्बद्ध हैं, उन सबका इस 'इतिहास' में परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। उनमें डरबन की आर्य युवक सभा के सम्बन्ध में पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है। नाताल प्रान्त की आर्य संस्थाओं में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। डरबन के साथ लगी हुई क्लेरवुड बस्ती है, जिसमें कई हजार भारतीय बसे हुए हैं। उनमें वैदिक धर्म के प्रचार के प्रयोजन से श्री आर० बी० भूषण ने एप्रिल, १९३४ में युवक आर्यसमाज की स्थापना की थी। इस समाज द्वारा न केवल साप्ताहिक सत्संग ही किये जाते हैं, अपितु आर्य त्यौहार तथा उत्सव भी मनाये जाते हैं। प्रचार के लिए समाज का संगीत-दल तथा भजन-मण्डली भी है। हिन्दी शिक्षा की भी व्यवस्था समाज द्वारा की गयी है, और उस द्वारा एक व्यायामशाला का भी संचालन किया जाता रहा है। डरबन में आर्य स्त्री-समाज की स्थापना एप्रिल, १९४२ में हुई थी, और इसकी स्थापना में दक्षिणी अफ्रीका के कर्मठ आर्य नेता श्री एस० एल० सिह की धर्मपत्नी का विशेष कर्तृत्व था। सत्संग आदि कार्यों के अतिरिक्त इस समाज द्वारा दीपावली के अवसर पर अनाथों को भोजन तथा कपड़े भी बाँटे जाते हैं, और आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक सहयोग प्रदान किया जाता है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त डरबन में आर्यसमाज, आर्य युवक मण्डल, आर्य संगीत मण्डल और आर्य भजन मण्डल नाम की अन्य आर्य संस्थाएँ भी विद्यमान हैं, जो आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध हैं। संगीत जहाँ संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग होता है, वहाँ प्रचार का भी वह सशक्त साधन है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर श्री पी० एच० नरसिंह और श्री जे० रामलखन आदि आर्य सज्जनों ने सन् १९३० में डरबन में आर्य संगीत मण्डल की स्थापना की थी। इससे पहले दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय संगीत सर्वथा उपेक्षित था, और वहाँ के भारतीय भी पाश्चात्य संगीत को अपनाने लग गये थे। आर्य संगीत-मण्डल के प्रयत्न से इस देश में भारतीय गान-विद्या का व्यापक रूप से प्रचार हुआ, और वहाँ के अन्य नगरों में भी आर्य संगीत मण्डल स्थापित हुए। नाताल आदि में आयोजित धार्मिक उत्सवों तथा त्यौहारों में ये मण्डल उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं,

और इनसे प्रचार-कार्य में भी सहायता मिलती है।

नाताल प्रान्त की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग में दस हजार से भी अधिक भारतीयों का निवास है। यहाँ भी अनेक आर्य-संस्थाएँ विद्यमान हैं जिनमें 'वेदधर्म सभा' प्रधान है। दक्षिणी अफ्रीका का सर्वप्रथम आर्यसमाज सन् १९०८ में पीटर मेरित्सबर्ग में स्थापित हुआ था। स्वामी शंकरानन्द जब प्रचार करते हुए इस नगर में आए, तो हिन्दू संगठन की दृष्टि से उन्होंने इसका नाम बदलकर वेदधर्म-सभा रख दिया था। यह सभा आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रही है, और इस द्वारा आर्य अनाथाश्रम तथा हिन्दी प्रचारिणी सभा की स्थापना की गयी थी। सन् १९२९ में डॉक्टर भगतराम सहगल दक्षिणी अफ्रीका में धर्म-प्रचार के लिए आए थे। उन्होंने बहुत-सी आर्य संस्थाओं का नाम बदलकर उन्हें आर्यसमाज नाम दे दिया था। उनकी इच्छा थी, कि वेदधर्म-सभा का नाम भी आर्यसमाज कर दिया जाय, पर उसके सदस्य इससे सहमत नहीं हुए। इसपर डॉक्टर सहगल के प्रयत्न से श्री एफ० सत्यपाल के घर पर आर्यसमाज पीटर मेरित्सबर्ग की स्थापना की गयी, पर इसकी पृथक् सत्ता देर तक कायम नहीं रही। सन् १९४१ में यह वेदधर्म-सभा में विलीन हो गयी। यही गति एक अन्य आर्य संस्था की भी हुई, जो 'सत्यवर्द्धक सभा' नाम से पीटर मेरित्सबर्ग में विद्यमान थी। नाम का भेद होते हुए भी वेद धर्म सभा सब दृष्टि से आर्यसमाज ही है। उसमें साप्ताहिक सत्संग होता है, उस द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया जाता है, और वह एक हिन्दी पाठशाला भी चला रही है। इस पाठशाला की उन्नति में पण्डित जगमोहन का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। वैदिक धर्म का उच्च अध्ययन करने के लिए वह भारत गये थे, और लाहौर में रहकर उन्होंने शिक्षा ग्रहण की और धर्म-प्रचार का अनुभव भी प्राप्त किया। नाताल वापस आकर उन्होंने हिन्दी पाठशाला का मुख्याध्यापक-पद ग्रहण किया और अध्यापन के साथ-साथ वैदिक धर्म के प्रचार में भी वह व्यापृत रहे। वेदधर्म-सभा का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ होता है। सन् १९३४ में उसकी रजत-जयन्ती भी मनायी गयी थी और १९६९ में सुवर्ण-जयन्ती का भी आयोजन किया गया था। इस अवसर पर डॉक्टर सत्यप्रकाश (स्वामी सत्यप्रकाश) को विशेष रूप से भारत से आमन्त्रित किया गया था। सभा का अपना विशाल भवन है, जिसका उद्घाटन सन् १९३९ में डॉक्टर राधाकृष्णन द्वारा किया गया था। स्त्रियों में वैदिक धर्म के प्रचार के प्रयोजन से वेदधर्म-सभा के प्रयत्न से १९४३ में पीटर मेरित्सबर्ग में हिन्दू स्त्री-समाज की भी स्थापना हुई थी। इस द्वारा भी साप्ताहिक सत्संग किये जाते हैं, आर्य त्यौहार तथा उत्सव मनाये जाते हैं, और स्त्रियों को स्वाध्याय के लिए प्रेरित किया जाता है। इस समाज का एक मुख्य कार्य असहाय तथा दुःखी अबलाओं को सहायता पहुँचाना है। अनाथ बच्चों के पालन की व्यवस्था भी इस द्वारा की जा रही है। वेदधर्म-सभा के समान हिन्दू स्त्री-समाज भी आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध है। १९४३ में स्थापना के समय इसका उद्घाटन महात्मा गांधी की पुत्रवधू श्रीमती सुशीला बहन मणिलाल गांधी द्वारा किया गया था।

पीटर मेरित्सबर्ग से लगे हुए व उसके समीप अनेक उपनगर हैं, जिनमें अनेक आर्य संस्थाएँ विद्यमान हैं। ऐसा एक उपनगर प्लेसिसलेयर है, जिसमें भारतीय अच्छी संख्या में निवास करते हैं। ईसाई मिशनरी यहाँ बहुत सक्रिय थे। उनकी ओर से यहाँ

एक विद्यालय भी चल रहा था, जिसमें भारतीय बच्चे शिक्षा प्राप्त किया करते थे। हिन्दुओं की वहाँ कोई संस्था नहीं थी। श्री एफ० सत्यपाल का ध्यान इस ओर गया, और उनके प्रयत्न से सन् १९२४ में वहाँ नागरी-हितैषी सभा नाम से एक संस्था स्थापित की गयी। बाद में डॉक्टर भगतराम सहगल की प्रेरणा से इसका नाम बदलकर आर्यसमाज कर दिया गया (१९२९)। सन् १९४९ में समाज का अपना भवन भी बना लिया गया, जिसके लिए धन एकत्र करने में श्री सत्यपाल का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। समाज द्वारा प्लेसिसलेयर में एक हिन्दी पाठशाला की भी स्थापना की गयी। पण्डित जगमोहन तथा पण्डित नरदेव वेदालंकार के सहयोग से इस समाज ने अच्छी उन्नति की, और वहाँ प्रचारकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी। प्लेसिसलेयर में आर्यसमाज द्वारा अपने नगर में सन् १९४२ में आर्य-स्त्रीसमाज भी स्थापित की गयी। इसकी स्थापना का प्रधान श्रेय पण्डित जगमोहन को है। जो महिलाएँ इस समाज की सदस्या बनीं, उन्होंने हिन्दी के साथ-साथ सन्ध्या-हवन करना भी सीखा, और अन्य स्त्रियों में उनका प्रचार किया। इस समाज में भी नियमपूर्वक साप्ताहिक सत्संग होते हैं, और त्यौहार, उत्सव आदि भी इस द्वारा मनाये जाते हैं। पीटर मेरित्सबर्ग के समीपवर्ती क्षेत्र में अन्य भी अनेक आर्य-समाज तथा आर्यसंस्थाएँ हैं। माउण्ट पाट्रिज नामक बस्ती में दिसम्बर, १९३४ में डर-बन-निवासी श्री रामलगन द्वारा वहाँ आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी, और कुछ मास पश्चात् एक हिन्दी पाठशाला भी वहाँ खोल दी गयी थी। पाठशाला का उद्घाटन एक झोंपड़ी में हुआ था, पर स्थानीय लोगों की सहायता से कुछ ही वर्षों में उसका पक्का भवन बन गया, और सौ से ऊपर बच्चे उसमें शिक्षा प्राप्त करने लगे। यह समाज बहुत सक्रिय रहा है। कितने ही हिन्दू परिवारों को इसने ईसाई होने से बचाया है, और लोगों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पीटर मेरित्सबर्ग से तीन मील की दूरी पर रेड्सतार्प नाम की एक अन्य बस्ती है, जहाँ बहुत-से भारतीय निवास करते हैं। सन् १९३५ में वहाँ वैदिक सभा नाम से एक आर्य-संस्था की स्थापना हुई थी, जिसका नाम बदलकर बाद में आर्यसमाज कर दिया गया। इस द्वारा एक विद्यालय का भी संचालन किया जा रहा है। इसके लिए श्री डी० बैजू महाराज ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की थी, अतः उन्हीं के नाम से यह शिक्षण-संस्था 'श्री बैजू इण्डियन स्कूल' कहाती है। इस स्कूल में हिन्दी और तमिल की पढ़ाई का भी समुचित प्रवन्ध है।

डरबन और पीटर मेरित्सबर्ग के अतिरिक्त नाताल के अन्य नगरों में भी आर्य-संस्थाएँ विद्यमान हैं। उत्तरी नाताल का एक बड़ा नगर लेडीस्मिथ है। वहाँ भी भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। सन् १९१६ में वहाँ नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी, जिसके संस्थापक बाबू रघुनाथसिंह थे। इसी सभा द्वारा सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन आयोजित किया गया था। पण्डित भवानीदयाल तथा कतिपय अन्य सज्जनों के परामर्श से सन् १९१९ में इस सभा का नाम बदलकर आर्यसमाज कर दिया गया था। स्थानीय आर्य परिवारों के पुरुषार्थ से इस समाज ने बहुत उन्नति की। उस द्वारा सन् १९२१ में एक हिन्दी-गुजराती पाठशाला स्थापित की गयी, जो अब तक भी सन्तोषजनक रूप से कार्य कर रही है। सन् १९२५ में लेडीस्मिथ में ही आर्य-प्रतिनिधि सभा द्वारा द्वितीय वैदिक परिषद् का आयोजन किया गया था। बाबू रघुनाथ-

सिंह सदृश स्थानीय आर्य सज्जनों के प्रयत्न से यह परिषद् बहुत सफल हुई थी। सन् १९६९ में इस समाज को स्थापित हुए ५० वर्ष हो गये थे, अतः १९ अक्टूबर को इसकी भी स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम के साथ मनाई गयी। डॉक्टर सत्यप्रकाश उस समय भारत से दक्षिणी अफ्रीका आये हुए थे। जयन्ती-समारोह का उद्घाटन उन्हीं द्वारा किया गया था। इसी अवसर पर लेडीस्मिथ में स्त्री-आर्यसमाज की भी स्थापना की गयी। भारत से जो भी आर्य विद्वान् व प्रचारक दक्षिणी अफ्रीका आते हैं, लेडीस्मिथ के ये समाज उनका हार्दिक स्वागत करते हैं, और वहाँ के आर्य नर-नारी उनके सत्संग तथा प्रवचनों से लाभ उठाते हैं।

दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ जो आर्यसमाज तथा आर्य-संस्थाएँ सम्बद्ध हैं, उनमें कैण्डाल्ला एस्टेट हिन्दू संगठन का विशिष्ट स्थान है। केण्डाल्ला के हिन्दुओं को संगठित करने तथा उनमें शिक्षा तथा धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से जनवरी, १९३१ में इस संगठन की स्थापना हुई थी, जिसके लिए श्री लौटन महाराज, श्री शिवप्रसाद और श्री बी० एम० चैतू ने बहुत प्रयत्न किया था। सन् १९३५ में इस संगठन की ओर से एक कन्या विद्यालय खोला गया जिसके लिये धन एकत्र करने के प्रयोजन से 'मित्र नाटक मण्डल' बनाया गया था, और इस मण्डल ने नाटक अभिनीत कर चन्दा एकत्र करने में अच्छी सफलता प्राप्त की थी। कन्या विद्यालय में शुरू में केवल २२ छात्राएँ प्रविष्ट हुई थीं, क्योंकि उस एस्टेट के हिन्दू कन्याओं की शिक्षा को कोई महत्त्व नहीं देते थे। पर धीरे-धीरे कन्याओं की संख्या में वृद्धि होती गयी। वीस वर्ष के लगभग समय में वह २०० तक पहुँच गयी। सन् १९४३ में संगठन द्वारा महिला-समाज भी स्थापित किया गया। यह समाज स्त्रियों में धर्म तथा शिक्षा के प्रसार के लिए महत्त्व-पूर्ण कार्य करता रहा है। साप्ताहिक सत्संग भी इस संगठन तथा समाज में नियमित रूप से होते हैं।

डरबन की केटोमेनर वस्ती में सितम्बर, १९२१ में 'श्री सत्य वैदिक जिज्ञासु सभा' नाम से एक संस्था स्थापित की गयी थी, जिसका उद्देश्य वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करना था। डॉक्टर भगतराम सहगल की प्रेरणा से सन् १९२९ में इसका नाम बदलकर आर्यसमाज कर दिया गया। इस समाज द्वारा एक हिन्दी पाठशाला भी चलायी जाती है, और इसके तत्त्वावधान में एक 'आर्य हितैषी भजन-मण्डल' भी गठित है, जिस द्वारा संगीत का कार्यक्रम रखा जाता है। इसकी आमदनी से हिन्दी पाठशाला को आर्थिक सहायता दी जाती है, और अनाथ व असहाय व्यक्तियों को भी सहारा दिया जाता है।

वेस्टवील में आर्यसमाज तथा स्त्री-आर्यसमाज दोनों की सत्ता है। सन् १९३१ में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, जिसकी ओर से दो वर्ष पश्चात् एक हिन्दी पाठ-शाला खोल दी गयी थी। समाज के तत्त्वावधान में 'नवजीवन विद्यामण्डल' नाम से एक अन्य संस्था भी विद्यमान है, जिस द्वारा नाटक खेलकर चन्दा एकत्र किया गया और उसका उपयोग पाठशाला के लिए हुआ है। वेस्टवील के आर्य परिवारों ने सन् १९४२ में स्त्री-आर्यसमाज की भी स्थापना की। इन दो समाजों के कर्तृत्व के कारण वेस्टवील में वैदिक धर्म का प्रचार सन्तोषजनक है।

स्प्रिंगफील्ड में सन् १९१७ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हिन्दी के

प्रचार तथा धार्मिक जागृति के उद्देश्यों को सम्मुख रखकर की गयी थी। इस सभा द्वारा एक हिन्दी पाठशाला खोली गयी, और उसके लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से 'सत्य दीपक नाटक-मण्डल' और 'विद्या उन्नति नाटक-मण्डल' गठित किये गये। नाटकों के अभिनय द्वारा जो धन ये मण्डल प्राप्त करते थे, उसे हिन्दी पाठशाला पर खर्च किया जाता था। सन् १९४१ में स्प्रिंगफील्ड में आर्यसमाज की भी स्थापना हो गयी, और उसके कारण हिन्दी तथा वैदिक धर्म के प्रचार के उस कार्य को बहुत बल मिला, जो वहाँ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया जा रहा था। इनके कर्तृत्व के कारण स्प्रिंगफील्ड में आर्य-समाज का अच्छा प्रचार है।

पीटर मेरित्सबर्ग के समीप विल्गेफोण्टीन नामक एक बस्ती है, जिसमें भारतीय भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं। अक्टूबर, १९४१ में वहाँ 'वैदिक युवक सभा' नाम से एक संस्था की स्थापना हुई थी, जिसके प्रयत्न से वहाँ हिन्दी पाठशाला भी चालू की गयी। यह सभा आर्य प्रतिनिधि के साथ सम्बद्ध है। नाताल प्रान्त के उत्तरी क्षेत्र में डेन-हाउजर नामक एक कस्बा है। यहाँ के भारतीय निवासी रूढ़िवादी विचारों के थे, और उनमें नवयुग की रोशनी का जरा भी प्रकाश नहीं हुआ था। धर्म-प्रचार करते हुए डॉक्टर भगतराम सहगल डेनहाउजर भी गये, और वहाँ उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की (१९२९)। प्रारम्भ में पौराणिकों ने समाज का बहुत विरोध किया, पर कुछ ही समय में लोग वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे और वहाँ आर्यसमाज की जड़ें भलीभाँति जम गयीं। इस समाज द्वारा एक हिन्दी पाठशाला भी चलायी जा रही है।

दक्षिणी अफ्रीका में जो अन्य अनेक आर्यसमाज व आर्य संस्थाएँ हैं, उन सबका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। इस देश के चार प्रान्तों में नाताल में आर्यसमाज का सबसे अधिक जोर है। ट्रांसवाल की बारी उसके बाद आती है। केप कॉलोनी तथा ओरंज में आर्यसमाज का कार्य अधिक नहीं है। डरबन आर्यसमाज के कार्यकलाप का प्रधान केन्द्र है। हिन्दू (आर्य) त्यौहारों व उत्सवों को मनाने और हिन्दी-भाषा के प्रचार पर इस देश के आर्यसमाज ने विशेष ध्यान दिया है। वेद की उदात्त शिक्षाओं के प्रचार के सम्बन्ध में जो कार्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में वेद-निकेतन द्वारा किया जा रहा है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है।

(७) दक्षिणी अफ्रीका के आर्य नेता

जिन नर-नारियों के प्रयत्न व पुरुषार्थ से दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार हुआ है, उनमें से कतिपय का यहाँ संक्षेप के साथ परिचय देना उपयोगी होगा। भारत से जो आर्य विद्वान्, संन्यासी व प्रचारक समय-समय पर इस देश में जाते रहे, वैदिक धर्म के प्रचार में इनका कर्तृत्व अवश्य महत्त्वपूर्ण है। पर ये महानुभाव स्वल्प समय तक ही वहाँ प्रचार कार्य कर सके। उस देश में आर्यसमाज की जड़ जमाने और आर्य संस्थाओं को विकसित करने में अनेक स्थानीय नर-नारियों ने जो कार्य किया है, उसका महत्त्व बहुत अधिक है। भारत से प्रचार के लिए विद्वानों को बुलाना उन्हीं का कार्य था। साथ ही वे स्वयं भी आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों, वार्षिकोत्सवों, सम्मेलनों तथा अन्य समारोहों में आवश्यकतानुसार भाषण देने के लिए उद्यत रहा करते थे।

ऐसे आर्य सज्जनों में लाला मोहकमचन्द वर्मन का नाम सर्वप्रथम हमारे ध्यान

में आता है। वह आर्यसमाज के परम भक्त थे, और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। भाई परमानन्द से शुरू कर जो अनेक प्रचारक भारत से दक्षिणी अफ्रीका आए, उनमें से बहुतों को निमन्त्रित करने में श्री वर्मन का प्रमुख कर्तृत्व था। इसके लिए उन्होंने स्वयं धन दिया, और चन्दा भी एकत्र किया। वैदिक साहित्य की पुस्तकों के प्रचार में भी इन्होंने बहुत उत्साह प्रदर्शित किया।

दक्षिणी अफ्रीका के सम्पन्न भारतीय परिवारों के जिन व्यक्तियों ने आर्यसमाज के कार्यकलाप में विशेष दिलचस्पी ली, और दान द्वारा उसे आगे बढ़ाया, उनमें श्री आर० बोधासिंह तथा उनके पारिवारिक जनों के नाम उल्लेखनीय हैं। नाताल का प्रमुख व्यवसाय गन्ने की खेती है। यह व्यवसाय प्रधानतया गौरांग भूमिपतियों के हाथ में रहा है, पर कतिपय भारतीय परिवार भी वहाँ ऐसे हैं, जिन्होंने इस व्यवसाय में बहुत उन्नति की है। इनमें श्री बोधासिंह का परिवार मुख्य है। इस परिवार की अभिरुचि सदा आर्यसमाज के प्रति रही है, और इसने आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यों में सहयोग किया है। इस परिवार के श्री आर० बोधासिंह सन् १९४० में आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए, और सन् १९५२ तक इस पद पर रहे। सन् १९४२ की वैदिक परिषद् के भी वह ही अध्यक्ष थे, और हिन्दी-साहित्य सम्मेलन एवं आर्ययुवक परिषद् की भी अध्यक्षता उन्होंने की थी। डरबन के वेद-मन्दिर के निर्माण के लिए उन्होंने दस हजार पौंड दान में दिये थे। बोधासिंह-परिवार के अन्य व्यक्ति श्री वासुदेवसिंह और श्री लक्ष्मणसिंह भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे हैं, और आर्य-प्रतिनिधि सभा का प्रधान पद भी उन्होंने सुशोभित किया है।

दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज के उन्नायकों में श्री डी० जी० सत्यदेव का विशिष्ट स्थान है। जब वह दस वर्ष के थे, स्वामी शंकरानन्द नाताल में धर्म-प्रचार के लिए आये हुए थे। सत्यदेवजी स्वामीजी के सत्संग और प्रवचनों से बहुत प्रभावित हुए, और वैदिक धर्म, हिन्दी तथा समाज-सेवा के लिए उत्साहपूर्वक कार्य करने को प्रवृत्त हो गये। सन् १९१० में उन्होंने अपने घर पर ही रात्रि-पाठशाला खोल दी, और उसके विद्यार्थियों को पुस्तकें आदि भी अपनी ओर से प्रदान करने लगे। सन् १९१२ में उन्होंने आर्य युवक-सभा की स्थापना की। उनके पथ-प्रदर्शन में इस सभा ने बहुत उन्नति की। जैसाकि इसी अध्याय में पहले लिखा जा चुका है, डरबन का आर्य अनाथाश्रम उन्हीं के पुरुषार्थ से स्थापित हुआ था, और उसका संचालन आर्य युवक सभा के ही हाथों में था। सत्यदेव जी २७ वर्ष तक इस सभा के प्रधान रहे। डरबन में महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी मनाने का प्रस्ताव भी सत्यदेव जी द्वारा ही रखा गया था। शताब्दी-महोत्सव जो सफलतापूर्वक मनाया जा सका, उसका बहुत-कुछ श्रेय भी सत्यदेव जी को ही प्राप्त है। इस महोत्सव के अवसर पर ही दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई थी (१९२५), और अगले वर्ष १९२६ में ही सत्यदेव जी उसके मन्त्री चुन लिये गये थे। कुछ वर्षों के व्यवधान के पश्चात् सन् १९३० में वह पुन: सभा के मन्त्री निर्वाचित हुए और अपनी मृत्यु (१९६१) तक इस पद पर रहे। ३१ वर्ष तक लगातार सभा के मन्त्री-पद पर रहना ही यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज को प्रगति देने के कार्य में सत्यदेवजी का योगदान कितने महत्त्व का था।

श्री एस० एल० सिंह का भी दक्षिणी अफ्रीका के आर्य नेताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान

है। सन् १९१६ में उन्होंने आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेना शुरू किया था, और दो वर्ष पश्चात् वह डरबन की आर्य युवक सभा के मन्त्री चुन लिये गये थे। सभा द्वारा आर्य अनाथाश्रम की स्थापना किये जाने पर उसके लिए भी श्री सिंह ने बहुत काम किया। आश्रम की प्रगति में उनका उल्लेखनीय कर्तृत्त्व रहा है। सन् १९२६ से १९२९ तक और फिर १९५९-६० में वह आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान भी रहे। वह अत्यन्त उत्साही व कर्मठ कार्यकर्ता थे, और दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज की उन्नति के लिए उन्होंने जी-जान से प्रयत्न किया।

दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज के उन्नायकों में श्री सुखराज छोटई का एक विशिष्ट स्थान था। अंग्रेजी भाषा पर उनका पूर्ण आधिपत्य था। अतः आर्य प्रतिनिधि-सभा का अंग्रेजी का सब कार्य प्रायः उन्हीं द्वारा किया जाता था। उनका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था, पर अपने परिश्रम से वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हुए थे, और उन्नति करते-करते एक हाई स्कूल के प्रधानाचार्य-पद पर नियुक्त हो गये थे। वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति उनकी अगाध आस्था थी, और वह उत्साह-पूर्वक प्रचार-कार्य में तत्पर रहते थे। सन् १९६८ में वह आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए, और मृत्युपर्यन्त (१९८२) इस पद पर रहकर आर्यसमाज के कार्यकलाप का संचालन करते रहे। इससे पूर्व तीन वर्ष वह सभा के मन्त्री भी रहे थे। नाताल के हिन्दी शिक्षा संघ का भी उन्होंने चिरकाल तक संचालन किया था।

नाताल प्रान्त की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग के आर्य कार्यकर्ताओं में श्री एफ० सत्यपाल का नाम उल्लेखनीय है। किशोरावस्था में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेने लग गये थे। हिन्दी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था, और वह हिन्दी में गीत और नाटक भी लिखा करते थे। अनेक आर्य संस्थाओं ने उनके लिखे नाटकों को खेलकर धन उपार्जन किया, और उसका उपयोग आर्यसमाज के कार्यों के लिए किया। मेरित्स-बर्ग की विविध आर्य संस्थाओं के संचालन में वह उत्साहपूर्वक तत्पर रहे, और वहाँ की 'वेदधर्म-सभा' के प्रधान के रूप में भी उन्होंने कार्य किया। एक साल (सन् १९२९-३०) वह आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधानमन्त्री भी रहे। उनके भाई श्री एफ० रामलगन भी आर्य-समाज के विविध कार्यकलाप में भाग लेते रहे हैं और यह सारा ही परिवार कट्टर आर्यसमाजी है।

पीटर मेरित्सबर्ग के आर्य कार्यकर्ताओं में पण्डित जगमोहन का नाम भी उल्लेख-नीय है। उनका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था, अतः उनकी शिक्षा नियमित रूप से नहीं हो सकी। स्वयमेव अध्ययन कर उन्होंने योग्यता प्राप्त की। आर्य प्रचारकों के व्याख्यान सुनकर उनकी इच्छा आर्य धर्म और संस्कृति का समुचित ज्ञान प्राप्त करने की हुई, और इस प्रयोजन से वह भारत आये। लाहौर के ब्राह्म महाविद्यालय में प्रविष्ट होकर उन्होंने पाँच वर्ष तक वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त की और 'विद्यारत्न' की उपाधि से विभूषित हो वह दक्षिणी अफ्रीका वापस आ गये (१९४०)। पीटर मेरित्सबर्ग की वेदधर्म-सभा की हिन्दी पाठशाला के प्रधानाध्यापक के रूप में उन्होंने कार्य शुरू किया, और अध्यापन के साथ-साथ आर्यसमाज के प्रचारक व पुरोहित का कार्य भी वह करते रहे। दक्षिणी अफ्रीका के हिन्दी शिक्षकों तथा धर्म-प्रचारकों में उनका विशिष्ट स्थान है, और सार्वजनिक जीवन में उन्हें अत्यन्त सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त है। पीटर मेरित्सबर्ग

क्षेत्र में कार्य करनेवालों में निम्नलिखित सज्जनों के नाम भी सदा स्मरणीय रहेंगे—पण्डित आर० बी महाराज, श्री गुरुदीप, पण्डित शिवरतन, पण्डित बनपाल महाराज, पण्डित एस० दुखहरन तथा श्री दशरथ बन्धु।

दक्षिणी अफ्रीका के एक अन्य आर्यप्रचारक श्री नैनाराज थे। अंग्रेजी, हिन्दी, तमिल और तेलुगू भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। स्वामी शंकरानन्द के सम्पर्क में आकर उन्होंने सन्ध्या-हवन सीखा था, और वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त की थी। आर्य युवक सभा के वह संस्थापकों में थे, और उसके पुरोहित की स्थिति में वैदिक संस्कार तथा शुद्धियाँ भी करवाते थे। दयानन्द जन्म-शताब्दी महोत्सव के अवसर पर जो महायज्ञ हुआ था, उसका पौरोहित्य नैनाराज जी ने ही किया था। डरबन की जेल में कैदियों को धर्मोपदेश देने का कार्य भी उन्होंने चिरकाल तक किया था।

नाताल के आर्य कार्यकर्ताओं में पण्डित रामसुन्दर पाठक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आर्यसमाज डेनहाउजर के वह प्रधान थे, और उत्तरी नाताल में धर्मप्रचार के कार्य में व्यापृत रहते थे। लेडीस्मिथ नगर के कारागार में कैदियों को धर्म का उपदेश भी वह दिया करते थे। उस नगर में जो वैदिक परिषद् स्थापित हुई थी, पाठक जी उसके स्वागताध्यक्ष थे। लेडीस्मिथ में श्री रघुनाथसिंह तथा श्री विट्ठलभाई महता ने भी अच्छा कार्य किया है। श्री मेहताजी ने ४० वर्ष तक निःशुल्क हिन्दी पाठशाला चलायी है। श्री आर० के० केपिटन नवसारी (गुजरात) से व्यापार के लिए नाताल आये थे, और वहीं बस गये थे। आर्यसमाज में उनकी अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी भेजा था, और पुत्रियों को कन्या महाविद्यालय जालंधर में। दक्षिणी अफ्रीका में व्यापार द्वारा धन कमाते हुए वह आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। श्री जी० मेढई भी दक्षिणी अफ्रीका के एक पुराने आर्य कार्यकर्ता थे। हिन्दी आश्रम की स्थापना में वह पण्डित भवानीदयाल के प्रधान सहायक थे। उन्होंने अपने पुत्र हरिशंकर को गुरुकुल कांगड़ी में विद्याध्ययन के लिए भेजा था, जहाँ से 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधि प्राप्त कर वह दक्षिणी अफ्रीका वापस आये, और समाज के कार्य में सहायक हुए।

दक्षिणी अफ्रीका के सबसे पुराने आर्य कार्यकर्ता बाबू पद्मसिंह थे, जो सन् १९०३ में भारत से जाकर पीटर मेरित्सबर्ग में बस गये थे। सार्वजनिक जीवन में उनकी बहुत रुचि थी, और उन्होंने गुलजार सभा नाम से एक संस्था की स्थापना की थी। सन् १९०४ में इसका नाम बदलकर आर्यसमाज रख दिया गया था। दक्षिणी अफ्रीका का यह प्रथम आर्यसमाज था। बाद में स्वामी शंकरानन्द के परामर्श से इस संस्था को 'वेद-धर्म-सभा' का रूप दे दिया गया। आज तक भी यह पीटर मेरित्सबर्ग की प्रमुख आर्य-संस्था है।

दक्षिणी अफ्रीका में ऐसे भी अनेक सम्भ्रान्त व धनी सज्जन हैं, जिनकी वैदिक धर्म व आर्यसमाज के प्रति आस्था थी, और जिन्होंने उसके कार्यकलाप के लिए उदारतापूर्वक धन प्रदान किया। इनमें श्री बी० परमेश्वर, श्री सुखदेवानन्द परमेश्वर, श्री बी० गंगाराम, श्री के० लालू, श्री किशन दुर्गा, श्री डी० बादल और श्री जी० बैजनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दक्षिणी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य गत साठ वर्षों से निरन्तर प्रगति कर रहा है, जिसका प्रधान श्रेय वहाँ के निःस्वार्थ तथा उत्साही आर्य कार्यकर्ताओं

को है। जैसे-जैसे समय वीतता गया, पुराने कार्यकर्ताओं का स्थान नये युवक लेते गये, और आज वहाँ के नये आर्य नेताओं में श्री शिशुपाल रामभरोसे तथा श्री आनन्द सत्यदेव के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री शिशुपाल उच्च शिक्षा प्राप्त कर एक हाई स्कूल के प्रिंसिपल बने और साथ ही आर्यसमाज के कार्यकलाप में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। श्री डी० जी० सत्यदेव के निधन के पश्चात् आर्य अनाथाश्रम का कार्यभार उन्होंने ही अपने कन्धों पर ले लिया था। अनेक उच्च पदों पर रहकर आर्य प्रतिनिधि सभा का भी उन द्वारा संचालन किया जाता रहा है। श्री आनन्द सत्यदेव पर उनके तपस्वी पिता श्री डी० जी० सत्यदेव का बहुत प्रभाव है। अपने पिता के पद-चिह्नों पर चलते हुए वह भी आर्यसमाज की पूर्ण निष्ठा के साथ सेवा में तत्पर हैं। उनका अपना प्रिंटिंग प्रेस है, और साथ ही पुस्तकों की दुकान भी। आर्य-साहित्य के प्रकाशन में सदा उनकी सहायता प्राप्त रहती है। हजारों की संख्या में पेम्फलेट, ट्रैक्ट तथा प्रार्थना-कार्ड आदि का मुद्रण वह विना कोई व्यय लिये अपने खर्च से कर देते हैं। आर्य अनाथाश्रम के वह कर्मठ मन्त्री हैं। अन्य भी अनेक आर्य नर-नारी दक्षिणी अफ्रीका में आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह व लगन के साथ योगदान दे रहे हैं। इनमें श्री पी० सीबरन, श्री आर० जीवन, श्री एस० गंगादयाल, श्री जी० बैजनाथ, श्री भगवानदीन, पण्डित आर० एम० सिंह, पण्डित एस० ए० नायडू, पण्डित रामदत्त तथा श्रीमती प्रभावती नानकचन्द आदि मुख्य हैं।

सत्ताईसवाँ अध्याय

पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार

(१) पूर्वी अफ्रीका और उसके भारतीय मूल के निवासी

वर्तमान समय में अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग में चार राज्यों की सत्ता है—केनिया, तंजानिया, युगाण्डा और मोजाम्बीक। इनमें से पहले तीन ग्रेट ब्रिटेन के प्रभुत्व में थे, पर अब स्वतन्त्र हैं। युगाण्डा ४ अक्टूबर, १९६२ के दिन स्वतन्त्र हुआ, केनिया १२ दिसम्बर, १९६३ को और तंजानिया २६ एप्रिल, १९६४ को। मोजाम्बीक पुर्तगाल के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और वह पूर्णरूप से जून, १९७५ में स्वतन्त्र हुआ। केनिया का क्षेत्रफल २,२४,९६० वर्गमील है। उसकी कुल आबादी एक करोड़ के लगभग है, जिसमें सन् १९६९ में दो लाख के लगभग एशियन और बयालीस हजार के लगभग यूरोपियन थे। दो लाख एशियन लोगों में चालीस हजार के लगभग अरब, और शेष प्रधानतया भारतीय मूल के थे। केनिया की राजनैतिक परिस्थिति के कारण बाद में भारतीय मूल के लोगों के लिए वहाँ रह सकने में कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से स्थायी रूप से ब्रिटेन में जाकर बस गये, और कुछ भारत चले आये। इसी का यह परिणाम है कि अब वहाँ भारतीय मूल के लोगों की आबादी पचास हजार से भी कम रह गयी है। केनिया की राजधानी नैरोबी है। तंजानिया का क्षेत्रफल ३,६३,३२८ वर्गमील है। वह एक संयुक्त राज्य है, जिसमें तांगनीका और जंजीबार सम्मिलित हैं। सन् १९६८ में इस राज्य की कुल जनसंख्या १,२२,३१,३४२ थी, जिसमें अठारह हजार के लगभग यूरोपियन थे, और भारतीय तथा पाकिस्तानी मूल के लोगों की संख्या अस्सी हजार के लगभग थी। तंजानिया की राजनैतिक परिस्थिति के कारण बाद में बहुत-से भारतीय मूल के लोग वहाँ से अन्यत्र चले गये, और अब वहाँ उनकी आबादी बीस हजार के लगभग रह गयी है। इस राज्य की राजधानी दारुस्सलाम है। युगाण्डा का क्षेत्रफल ९१,१३४ वर्गमील है, और सन् १९६८ में वहाँ की कुल आबादी ७८ लाख के लगभग थी, जिनमें ८८ हजार के लगभग एशियन थे। इनमें भारतीय मूल के लोग सबसे अधिक थे। पर बाद में वहाँ की राजनैतिक परिस्थिति के कारण भारतीयों के लिए वहाँ रह सकना सम्भव नहीं रह गया, और वे अपनी सम्पत्ति तथा काम-धन्धों को वहीं छोड़कर अन्यत्र चले जाने के लिए विवश हो गये। वर्तमान समय में भारतीयों के कुछ ही परिवार वहाँ रह गये हैं। युगाण्डा की राजधानी कम्पाला है। इस प्रकार अब पूर्वी अफ्रीका के तीनों राज्यों में, जो पहले ब्रिटेन के अधीन थे, भारतीय मूल के लोगों की जनसंख्या केवल साठ हजार के लगभग रह गयी है, जबकि पहले यह संख्या दो-ढाई लाख से कम नहीं थी। भारतीयों की आबादी में असाधारण रूप

से कमी हो जाने के कारण अब इन राज्यों में आर्यसमाज का कार्यकलाप भी पहले की तुलना में कम हो गया है।

पूर्वी अफ्रीका का एक अन्य राज्य मोजाम्बीक है। उसका क्षेत्रफल ३,०२,२,२४० वर्गमील है, और वहाँ की आबादी ७० लाख के लगभग है। इसमें कुछ हजार भारतीय मूल के लोग भी हैं। चिरकाल से यह प्रदेश पुर्तगाल के अधीन रहा है, और पुर्तगीज लोग वहाँ अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं।

पूर्वी अफ्रीका के विविध प्रदेशों को जब यूरोपियन लोगों ने अपने अधिकार में लिया, तो प्रारम्भ में उन्होंने हब्शी गुलामों के श्रम से वहाँ खेती आदि शुरू की। पर सन् १८३३ में जब ब्रिटेन ने दास-प्रथा का अन्त कर गुलामों को स्वतन्त्र कर दिया, तो मानव-श्रम की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए उन्होंने प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा का सूत्रपात किया, और उसके अधीन निर्धन व असहाय भारतीयों को इन प्रदेशों में ले-जाना शुरू किया। मारीशस और दक्षिणी अफ्रीका में जिस ढंग से इस प्रथा के अधीन भारतीयों को ले-जाया गया था, उसका विवरण पिछले तीन अध्यायों में दिया जा चुका है। सन् १९१३ तक पूर्वी अफ्रीका के युगाण्डा प्रदेश में ३११०, जंजीवार (जो अब तंजानिया में सम्मिलित है) में १०,००० और केनिया में ८,३७१ भारतीय प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन ले जाये जा चुके थे, और उनमें से बहुसंख्यक प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त हो जानेपर वहीं स्थायी रूप से बस गये थे। जिस प्रकार भारत पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में था, और १८५८ में उसपर ब्रिटिश क्राउन के शासन का प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार पूर्वी अफ्रीका के केनिया आदि राज्य पहले ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कम्पनी के अधीन थे, और सन् १८७८ में उनका शासन ब्रिटिश क्राउन के हाथों में आया। उस समय तक अफ्रीका का यह भूभाग सघन जंगलों से आच्छादित था। शेर, हाथी, चीते, भेड़िये आदि हिंस्र पशुओं का वहाँ निवास था, और इस भूखण्ड के हब्शी लोग सभ्यता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। वे अभी प्रायः जंगली दशा में थे। अंग्रेजों ने इन्हें अपनी अधीनता में लाकर जंगलों को साफ कर खेती का विकास करना और वहाँ के भूगर्भ में विद्यमान खनिज सम्पत्ति को निकालना शुरू किया। इसके लिए आवश्यकता थी, कि इस भूखण्ड में सड़कें बनायी जायें, नगर बसाये जायें और उन्हें रेलवे लाइनों से जोड़ा जाय। यह सब कार्य मानव-श्रम से ही सम्भव था। अफ्रीकन नीग्रो या हब्शी लोग उस ढंग के श्रम के सर्वथा अयोग्य थे, जिसकी भवन बनाने, रेलवे लाइनें निकालने और रेलगाड़ी चलाने के लिए आवश्यकता थी। इन कामों को कुशल कारीगर एवं प्रशिक्षित कर्मचारी ही कर सकते थे। ग्रेट ब्रिटेन से जो व्यक्ति पूर्वी अफ्रीका में आये थे, वे शासक और अफसर थे। मजदूरी तथा शिल्प के कार्य उनके बस के नहीं थे। केनिया आदि के आर्थिक विकास के लिए जिन कारीगरों, शिल्पियों, बाबुओं और कर्मचारियों की आवश्यकता थी, उन्हें अंग्रेजों ने भारतीयों द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से भारतीय कारीगर, मजदूर और बाबू के काम करने के लिए पूर्वी अफ्रीका जाने लगे। इनमें गुजरातियों और पंजाबियों की संख्या अधिक थी। प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो बहुत-से भारतीय मारीशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, त्रिनिदाद, गुयाना आदि गये थे, वे प्रधानतया बिहार, संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) और मद्रास (तमिलनाडु और आन्ध्र) के निवासी थे। ऐसे लोग पूर्वी अफ्रीका में अधिक नहीं गये थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम

चरण और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जो बहुत-से गुजराती और पंजाबी केनिया आदि गये, उनकी दशा प्रतिज्ञाबद्ध मजदूरों की तुलना में पर्याप्त रूप से अच्छी थी, और वे प्रायशः कारीगर, बाबू और व्यापारी के रूप में ही वहाँ गये थे। पर इनके लिए वहाँ जीवनयापन करना सुगम नहीं था। ये प्रदेश न केवल हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण थे, अपितु जहरीले मच्छरों तथा मक्खियों का भी वहाँ बाहुल्य था। न वहाँ सड़कें थीं, और न अच्छे मकान। जंगलों के बीच कारीगरों, मजदूरों और बाबुओं के लिए जो डेरे बनाये गये थे, उनमें शेर आदि घुस आते थे और सोते हुए लोगों को उठा ले जाते थे। कितने ही लोग जहरीली मक्खियों और साँपों के शिकार हो जाते थे। पर भारतीय इन संकटों से घबराये नहीं। बड़ी वीरता के साथ उन्होंने इनका मुकाबला किया। पूर्वी अफ्रीका में जो रेलवे-लाइनें बनीं, जो नगर बसे, जो अनेकविध उद्योग प्रारम्भ हुए, जिस प्रकार वहाँ का आर्थिक विकास हुआ, और व्यापार की जो वृद्धि हुई, उस सबमें भारतीयों का कर्तृत्व सबसे अधिक था। नये विकसित हो रहे देशों में धन कमाना सुगम होता है। अफ्रीका पूर्णतया अविकसित था। आर्थिक दृष्टि से उसे विकसित कर धन कमाना बहुत कठिन नहीं था। मजदूरी की दरें भी वहाँ ऊँची थीं। इस दशा में जो भारतीय वहाँ गये, उन्होंने पर्याप्त धन कमाया और शीघ्र ही वह अच्छे सम्पन्न हो गये। अफ्रीका जाकर भारतीय लोग अपने समाज से बहुत दूर हो गये थे। अपनी बिरादरी के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। इस नये देश में न कोई मन्दिर थे, न कोई गुरुद्वारे। धर्म का उपदेश देनेवाले पण्डितों का वहाँ अभाव था, और नैतिक शिक्षा देनेवाला भी वहाँ कोई नहीं था। इस दशा में यदि बहुत-से भारतीय धर्मविरुद्ध आचरण करने लगे और अनैतिक जीवन बिताने लगे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है! बीसवीं सदी के प्रारम्भ-काल तक पूर्वी अफ्रीका में बसे हुए भारतीयों को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करनेवाली कोई भी ऐसी सभा-सोसायटी नहीं थी, जो उन्हें हिन्दू (आर्य) धर्म तथा संस्कृति के पाठ पढ़ा सके। पर इस काल में भी क्रिश्चियन मिशनरी इस भूभाग में सक्रिय थे, और भारतीय भी उनके प्रभाव में आने लग गये थे।

(२) नैरोबी में आर्यसमाज की स्थापना

इस समय तक भारत में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी, और पंजाब में महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी भी अच्छी बड़ी संख्या में हो गये थे। इनमें अपने धर्म के प्रति श्रद्धा थी। जो लोग पंजाब से पूर्वी अफ्रीका आये थे, उनमें कुछ आर्यसमाज के उद्देश्यों तथा कार्यकलाप से भली-भाँति परिचित थे और उनकी वैदिक धर्म में अगाध आस्था भी थी। केनिया आदि में आये हुए भारतीय जिस ढंग से अपनी नैतिक मान्यताओं तथा धार्मिक आदर्शों से विमुख होते जा रहे थे, उससे इन्होंने चिन्ता अनुभव की और यह विचार किया कि इस देश में भी आर्यसमाज की स्थापना की जानी चाहिए, ताकि यहाँ के भारतीय अपने धर्म में स्थिर रह सकें। इसीलिये ५ जुलाई, सन् १९०३ को कुछ सज्जन नैरोबी में श्री जयगोपाल के घर पर एकत्र हुए, और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। ये सज्जन संख्या में ४५ थे। इनमें से ३९ आर्यसमाज के सभासद् बनने के लिए उद्यत हो गये, और इस प्रकार पूर्वी अफ्रीका का प्रथम आर्य-समाज नैरोबी में स्थापित हुआ। नैरोबी पूर्वी अफ्रीका का मुख्य नगर है। वर्तमान समय

में वह केनिया की राजधानी है, और सन् १९०३ में भी सम्पूर्ण पूर्वी अफ्रीका के शासन का संचालन वहीं से हुआ करता था। सन् १९०३ में नैरोवी में स्थापित आर्यसमाज के जो महानुभाव सदस्य बने, उनमें श्री बद्रीनाथ, लाला मथुरादास, पण्डित वैशाखीराम, श्री विहारीलाल, श्री वजीरचन्द और श्री गणेशीलाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आजतक भी आर्यसमाज के क्षेत्र में इनका नाम श्रद्धा व सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। इनके वंशज एवं पारिवारिक जन अवतक भी आर्यसमाज से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। शुरू में नैरोवी आर्यसमाज का अपना कोई भवन नहीं था, अतः समाज के साप्ताहिक सत्संग आर्य सभासदों के घरों पर ही हुआ करते थे। आर्यसमाज के इतिहास में वह सुवर्णिम काल था। यह वही समय था, जब महात्मा मुंशीराम महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से गुरुकुल कांगड़ी को स्थायी नींव पर स्थापित करने के लिए अनथक परिश्रम कर रहे थे। उत्तरी भारत के आर्यसमाजियों में तव अनुपम उत्साह था। यही दशा पूर्वी अफ्रीका के आर्यों की भी थी। प्रत्येक आर्य सभासद् अपने को वैदिक धर्म का प्रचारक समझता था, और आर्यसमाज के लिए मर-मिटने को तैयार रहता था। यद्यपि नैरोवी के आर्यों में उत्साह की कोई कमी नहीं थी, पर जिन कठिनाइयों का सामना उन्हें करना पड़ रहा था, वे भी कम नहीं थीं। नैरोबी में अञ्जुमने-इस्लाम नाम से एक मुसलिम संस्था पहले ही स्थापित हो चुकी थी। पूर्वी अफ्रीका में जो मुसलमान निवास करते थे, वे सब भारतीय मूल के नहीं थे। वहुत-से अरव वहाँ चिरकाल से बसे हुए थे, और जंजीबार पर तो पहले उनका शासन भी रह चुका था। नैरोवी में मुसलमानों की न केवल संख्या ही वहुत थी, अपितु वहाँ उनका प्रभाव भी वहुत था। अञ्जुमने-इस्लाम आर्यसमाज की स्थापना को सहन नहीं कर सकी, और उस द्वारा वैदिक धर्म तथा हिन्दू-समाज पर विष-वमन किया जाने लगा। उसके सदस्य सार्वजनिक सभायें कर आर्यसमाज पर कटु आक्षेप करने लगे। इस दशा में आर्यसमाज भी चुप नहीं रहा। उसकी ओर से श्री शालिग्राम शर्मा और श्री बिहारीलाल ने मुसलमानों के आक्षेपों के मुँहतोड़ उत्तर दिये जिसके कारण अञ्जुमने-इस्लाम के प्रचार का कोई परिणाम नहीं निकला, और आर्यसमाज के प्रभाव तथा शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गयी। नैरोवी में आर्यसमाज की स्थापना के बाद के कुछ वर्षों में अनेक आर्य विद्वान् तथा प्रचारक भारत से वहाँ गये, और उनके प्रचार-कार्य से आर्यसमाज की शक्ति की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। इन विद्वानों में सर्वप्रथम भाई परमानन्द सन् १९०५ में वहाँ आये थे, और उनके बाद सन् १९०८ में पण्डित पूर्णानन्द और श्री महारानी शंकर शर्मा तथा सन् १९०९ में स्वामी मंगलानन्द पुरी ने वहाँ आकर वैदिक धर्म का प्रचार किया। सन् १९०३ में स्थापित नैरोबी आर्यसमाज के प्रथम प्रधान श्री इन्द्रसिंह और मन्त्री श्री बद्रीदास थे। दिसम्बर, १९०४ में आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव बाबू वजीरचन्द ठेकेदार के स्थान पर हुआ। उसमें निश्चय किया गया, कि समाज का अपना मन्दिर वनवाया जाय। जब मन्दिर के लिए धन की अपील की गयी, तो अनेक आर्य सज्जनों ने अपना आधे मास का वेतन इस कार्य के लिए प्रदान करने का वचन दिया। इस प्रकार रुपये की व्यवस्था हो जाने पर मन्दिर के लिए भूमि प्राप्त कर ली गयी, और शीघ्र ही उसपर टिन की चादरों का भवन तैयार करा लिया गया। यह भवन ५६ फीट लम्बा और ५४ फीट चौड़ा था। छह साल तक आर्यसमाज का सब कार्य इसी भवन में

होता रहा। पर इस बीच स्थायी रूप से पक्की इमारत के निर्माण के लिए प्रयत्न जारी रखा गया, और उसके लिए कई हजार रुपये एकत्र कर लिये गये। सन् १९१२ तक यह स्थिति आ गयी थी, कि पक्के भवन की नींव रखवायी जा सकती थी। यह कार्य बड़ौदा महाराज के भाई श्री सम्पतराव के कर-कमलों द्वारा करवाया गया। वह उस समय पूर्वी अफ्रीका आये हुए थे। सन् १९१८ तक आर्यसमाज का विशाल भवन बनकर तैयार हो गया। इसमें छह सौ से भी अधिक व्यक्ति आराम से बैठ सकते थे, और यात्रियों के निवास के लिए तेरह कमरे पृथक् रूप से बनवाये गये थे, साथ में पुस्तकालय और वाचनालय भी खोल दिये गये थे, जिनमें वैदिक साहित्य का उत्तम संग्रह था और प्रायः सभी आर्यसामाजिक पत्र-पत्रिकाओं को मँगवाया जाता था। सन् १९२० तक नैरोबी आर्यसमाज के कार्यकलाप में समुचित वृद्धि हो गयी थी। सन् १९१० में उस द्वारा आर्य-पुत्री पाठशाला की स्थापना कर दी गयी थी, जो इस देश में स्त्री-शिक्षा के लिए हिन्दुओं द्वारा स्थापित प्रथम शिक्षण-संस्था थी। मुसलिम बालिकाओं ने भी इस पाठशाला में दाखिला लिया था। कुछ समय पश्चात् नैरोबी आर्यसमाज ने हिन्दी पढ़ाने के लिए एक रात्रि-पाठशाला भी स्थापित कर दी, और इस प्रकार हिन्दी की शिक्षा की भी वहाँ व्यवस्था हो गयी। आर्यवीर दल भी वहाँ गठित किया गया, जिसमें हिन्दू युवक उत्साह के साथ सम्मिलित हुए। हिन्दू त्यौहारों और उत्सवों को सामूहिक रूप से मनाने की ओर भी आर्यसमाज ने ध्यान दिया, जिसके कारण वहाँ के हिन्दुओं में नवचेतना उत्पन्न होने में बहुत सहायता मिली। अनेक विधर्मी भी समाज के प्रचार के कारण वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए, और अनेक शुद्धियाँ भी वहाँ की गयीं। पर पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज का कार्य केवल नैरोबी तक ही सीमित नहीं रहा; अन्य नगरों में भी शीघ्र ही समाज स्थापित होने शुरू हो गये।

(३) पूर्वी अफ्रीका में अन्यत्र आर्यसमाजों की स्थापना

पूर्वी अफ्रीका के नगरों में मोम्बासा का अपना विशेष महत्त्व है। वह समुद्रतट पर स्थित है, और उसे पूर्वी अफ्रीका का प्रवेशद्वार कहा जाता है। समुद्र-मार्ग से आने-जाने तथा व्यापार के लिए यही वहाँ का मुख्य बन्दरगाह है। पूर्वी अफ्रीका के राज्यों में यह केनिया के अन्तर्गत है, और वहाँ से नैरोबी तक रेलवे लाइन भी बन चुकी है। मोम्बासा में भी भारतीय अच्छी बड़ी संख्या में निवास कर रहे थे, और उनमें कुछ ऐसे भी थे जो महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित थे। ऐसे कुछ व्यक्ति १० मार्च, सन् १९०५ के दिन श्री काशीराम बौरी की प्रेरणा से उनके घर पर एकत्र हुए, और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया। इन व्यक्तियों में श्री वंशीलाल, श्री गोकुलदास सावले, श्री बी० डी० नायर, श्री लछमनदास, डॉक्टर मुरारीलाल, श्री हरिकृष्ण दयाल तथा श्री पुरुषोत्तम वेलजी के नाम उल्लेखनीय हैं। शुरू में आर्यसमाज का अपना कोई भवन न होने और औपचारिक रूप से उसका गठन भी न होने के कारण आर्य लोग बारी-बारी से किसी आर्य के घर पर एकत्र होकर सत्संग कर लिया करते थे, जिसमें सन्ध्या-हवन, भजन-कीर्तन तथा सत्यार्थप्रकाश की कथा का प्रोग्राम रखा जाया करता था। कुछ वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हो गये, पर इस काल में मोम्बासा के भारतीय आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने लगे और सन् १९०८ में शिवरात्रि पर वहाँ समाज की

विधिवत् स्थापना कर दी गयी। समाज के प्रथम प्रधान श्री काशीराम और मन्त्री श्री वंशीलाल निर्वाचित हुए। उस समय सभासदों की कुल संख्या १८ थी। विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर एक कच्चा मकान चार सौ रुपये में खरीद लिया गया, और मरम्मत कर उसे ही आर्यसमाज-मन्दिर का रूप दे दिया गया। प्रति रविवार वहाँ सन्ध्या-हवन तथा सत्संग होने लगा। पर यह इमारत आर्यसमाज के लिए उपयुक्त नहीं थी। अतः चन्दे द्वारा पर्याप्त धन एकत्र कर पक्का मकान बनवाया गया, और समाज के सत्संग के लिए एक बड़ा भवन भी बनवा लिया गया, जिसके साथ बरामदा भी था। अब मोम्बासा में आर्यसमाज का काम बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगा। उस द्वारा सन् १९१३ में शिवरात्रि के शुभ अवसर पर आर्य पुत्री पाठशाला भी खोल दी गयी, जिसमें अन्य विषयों के साथ वैदिक धर्म की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। सन् १९१३ में ही मोम्बासा आर्यसमाज की ओर से पण्डित महारानी शंकर शर्मा को धर्म-प्रचार के लिए निमन्त्रित किया गया। पण्डित जी जहाँ वेद-शास्त्रों के गम्भीर विद्वान् थे, वहाँ ओजस्वी वक्ता भी थे। जनता पर उनके व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा।

सन् १९१४ में बीसवीं सदी का प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था। उसका क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों के बहुत-से प्रदेश भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उस समय पूर्वी अफ्रीका ब्रिटेन के प्रभुत्व व शासन में था, और उसके साथ लगा हुआ प्रदेश, जिसे अब तांगनीका कहते हैं और वर्तमान समय में जो तंजानिया के अन्तर्गत है, जर्मनी के अधीन था। अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग में जो प्रदेश जर्मनी के शासन में थे, वे जर्मन ईस्ट अफ्रीका कहाते थे। तांगनीका इन्हीं प्रदेशों में एक था। महायुद्ध में जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन एक-दूसरे से युद्ध में व्यापृत थे। अतः स्वाभाविक रूप से पूर्वी अफ्रीका भी इस महायुद्ध का अन्यतम रणक्षेत्र बन गया और ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका का शासन सैनिक दृष्टि से किया जाने लगा। युद्धों के समय मानव श्रम की माँग बहुत बढ़ जाती है और आर्थिक उत्पादन तथा व्यापार में भी वृद्धि होती है। युद्ध की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर बहुत-से भारतीय इस समय पूर्वी अफ्रीका आने लगे। वे मोम्बासा के बन्दरगाह से अफ्रीका में प्रवेश करते थे, जिससे इस नगर में भारतीयों की आबादी में तेजी के साथ वृद्धि होने लगी थी। इन भारतीयों में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। आर्यसमाज के लिए यह स्वाभाविक था, कि एक नये देश में आ रहे इन हिन्दुओं के आचार-विचार को धर्मानुकूल बनाये रखने के लिए प्रयत्न करे, और उन्हें नैतिक मान्यताओं के प्रतिकूल आचरण न करने दे। इसी प्रयोजन से मोम्बासा में 'आचार-सुधार सभा' नाम से एक संस्था का निर्माण किया गया। इस सभा के संचालक, पदाधिकारी और कार्यकर्ता प्रायः आर्यसमाजी ही थे, और इसका कार्यालय भी आर्य-समाज-मन्दिर में ही रखा गया था। भारतीयों पर आर्यसमाज के बढ़ते हुए प्रभाव से ईसाई मिशनरियों का चिन्तित व उद्विग्न होना स्वाभाविक था। इस समय तक भारत में भी ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज की गतिविधि को आशंका की दृष्टि से देखने लगी थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में स्वराज्य और स्वदेशी का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उसके आधार पर आर्यसमाज के विरोधी यह कहने लग गये थे कि इस संस्था का उद्देश्य अंग्रेजी शासन का अन्त कर हिन्दू राज्य स्थापित करना है। इस काल में ब्रिटिश सरकार का आर्यसमाज के प्रति जो विरोधी रुख था, उसका उल्लेख

इस इतिहास में पहले किया जा चुका है। महायुद्ध के समय आर्यसमाज के सम्बन्ध में आशंका और विरोध की भावना में और भी अधिक वृद्धि हुई, और उसका प्रभाव पूर्वी अफ्रीका पर भी पड़ा। वहाँ की सैनिक सरकार आर्यसमाज की गतिविधि को सन्देह की दृष्टि से देखने लगी, और उसने समझा कि आचार-सुधार-सभा की आड़ में आर्यसमाज ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करने और भारतीयों में बगावत उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील है। परिणाम यह हुआ, कि १७ अगस्त, सन् १९१५ के दिन जब मोम्बासा के आर्यसमाजी समाज-मन्दिर में एकत्र होकर सन्ध्या, हवन तथा भजन-कीर्तन में संलग्न थे, अचानक ही सेना द्वारा मन्दिर को घेर लिया गया और चारों ओर सशस्त्र सैनिक तैनात कर दिये गये। समाज-मन्दिर में ताला डाल दिया गया, और बहुत-से आर्यसमाजी गिरफ्तार कर लिये गये। उस समय मोम्बासा आर्यसमाज के प्रधान श्री वंशीलाल और मन्त्री श्री बिशनदास रलाराम शर्मा थे। जो अनेक आर्यसमाजी इस समय पूर्वी अफ्रीका की सैनिक सरकार द्वारा गिरफ्तार किये गये, उनपर फौजी अदालत में मुकदमे चलाये गये। इनमें श्री बी० आर० शर्मा और श्री लालचन्द शर्मा सदृश कतिपय आर्य सज्जनों को प्राणदण्ड दिया गया। बहुतों को आजन्म व लम्बे समय के कारावास की सजा दी गयी और बहुतों को देश से निर्वासित करने की आज्ञा सुनायी गयी। बाद में श्री बी० आर० शर्मा और पण्डित लालचन्द शर्मा के मृत्युदण्ड को क्रमशः आजन्म कारावास और दस वर्ष के कारावास में परिवर्तित कर दिया गया, और महायुद्ध की समाप्ति पर सरकार द्वारा नियुक्त एक कमीशन ने इनको निरपराध पाकर जेलखाने से मुक्त किया। मोम्बासा आर्यसमाज के संकट के इस काल में नैरोबी के आर्यसमाज ने अपने कर्तव्य का पालन किया, और मोम्बासा के आर्य-बन्धुओं की सहायता करने तथा सैनिक न्यायालय से दण्डित व्यक्तियों को बन्धनमुक्त कराने के प्रयत्न में कोई कसर नहीं उठा रखी। सन् १९१८ में महायुद्ध का अन्त हो गया था, और आर्यसज्जनों को भी जेल से रिहा कर दिया गया था। सेना द्वारा आर्यसमाज में जो ताले डाल दिये गये थे, उन्हें भी अब खोल दिया गया था। समाज-मन्दिर के द्वार खुलते ही आर्यसमाजी वहाँ एकत्र हुए, और उन्होंने आर्यसमाज के कार्यकलाप को पुनः उत्साहपूर्वक प्रारम्भ कर देने के लिए आवश्यक कार्यवाही शुरू कर दी। समाज का नया चुनाव किया गया, जिसमें श्री नरसीभाई पटेल प्रधान और श्री एच०बी० शर्मा मन्त्री निर्वाचित हुए। इस प्रकार अब मोम्बासा आर्यसमाज का कार्य नये उत्साह के साथ प्रारम्भ हुआ, और उसके सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। कुछ समय पश्चात् अनेक विद्वान्, संन्यासी तथा प्रचारक धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी अफ्रीका में आने लगे, और उनके प्रचार-कार्य से न केवल मोम्बासा में ही, अपितु नैरोबी आदि अन्य नगरों में भी आर्यसमाज की शक्ति में वृद्धि हुई और वहाँ की जनता वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट होने लगी। पण्डित पूर्णानन्द सन् १९२० में वहाँ आये। उनके साथ श्री मथुराप्रसाद भजनोपदेशक भी थे। पण्डित महारानी शंकर शर्मा भी पुनः पूर्वी अफ्रीका आये, और मोम्बासा में उनके व्याख्यानों की धूम मच गयी। इसी समय के लगभग पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार, ठाकुर प्रवीणसिंह और स्वामी स्वतन्त्रानन्द मोम्बासा आये और भारत से आर्य विद्वानों का धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी अफ्रीका आने का यह सिलसिला बाद में भी जारी रहा। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतीय प्रचारकों का पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में महान् योगदान है। वहाँ जो आर्यसमाज के विशाल भवनों का निर्माण

हुआ, उनके लिए प्रेरणा भी इन प्रचारकों द्वारा ही दी गयी थी।

केनिया के अन्य बड़े नगर नकुरु, किसिमु और एल्डोरेट हैं। इनमें से किसिमु में भी बीसवीं सदी के द्वितीय चरण तक आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। पूर्वी अफ्रीका के भूभाग में केनिया के समान युगाण्डा का प्रदेश भी ब्रिटेन के अधीन था, और अंग्रेज लोग उसके भी आर्थिक विकास में प्रयत्नशील थे। अतः वहाँ भी बहुत-से भारतीय कारीगर, बाबू और व्यापारी आदि के रूप में बस गये थे। युगाण्डा की राजधानी कम्पाला है। वहाँ भारतीयों की अच्छी आबादी थी, और वहाँ भी कतिपय भारतीयों में आर्यसमाज की स्थापना का विचार प्रादुर्भूत होने लगा था। सन् १९०८-९ में जब पण्डित पूर्णानन्द वैदिक धर्म के प्रचार के लिए पूर्वी अफ्रीका आये, तो वह कम्पाला भी गये और उनके व्याख्यानों से आर्यसमाज की स्थापना के लिए जनता के उत्साह में बहुत वृद्धि हुई। इसी प्रकार जब सन् १९१३ में मोम्बासा आर्यसमाज के निमन्त्रण पर पण्डित महारानी शंकर शर्मा बम्बई से पूर्वी अफ्रीका आये, तो उन्होंने युगाण्डा की भी यात्रा की, और कम्पाला के भारतीयों में वैदिक धर्म के लिए प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न की। पर कुछ समय पश्चात् सन् १९१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण वहाँ विधिवत् समाज की स्थापना नहीं की जा सकी। सन् १९१८ में महायुद्ध की समाप्ति पर आर्यसमाज को स्थापित करने के विचार को क्रियान्वित किया गया। कम्पाला-निवासी डॉक्टर ईश्वरदास तथा श्री नाहर-सिंह ने इसके लिए विशेष प्रयत्न किया, और नैरोबी के अनेक आर्यसज्जनों ने इस कार्य में उनकी सहायता की। इनमें श्री बद्रीनाथ, श्री मथुरादास और पण्डित वैशाखीराम के नाम उल्लेखनीय हैं। परिणाम यह हुआ कि कम्पाला में भी आर्यसमाज स्थापित हो गया और सन् १९२०-२१ में पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार और स्वामी स्वतन्त्रानन्द आदि जो अनेक वैदिक विद्वान् धर्म-प्रचार के लिए भारत से पूर्वी अफ्रीका आये, वे कम्पाला भी गये जिससे वहाँ आर्यसमाज की नींव सुदृढ़ हो गयी।

पूर्वी अफ्रीका के समुद्र-तट के समीप जंजीबार द्वीप है, जहाँ उन्नीसवीं सदी में अरब सुलतानों का शासन था। सन् १८९० में वहाँ के सुलतान ने अपने राज्य को ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में दे दिया था, और उसका शासन भी अंग्रेजों के हाथों में आ गया था। व्यापार की दृष्टि से इस द्वीप और इसके मुख्य नगर, जिसका नाम भी जंजीबार था, का बहुत महत्त्व था। अरब व्यापारी वहाँ बड़ी संख्या में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। अफ्रीका महाद्वीप के मूल निवासियों के साथ व्यापार के लिए यह एक महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था, जिसके कारण वहाँ के निवासी अच्छे समृद्ध हो गये थे। भारत के साथ भी इस द्वीप का व्यापार था, और गुजरात के भी बहुत-से व्यक्ति व्यापार के लिए वहाँ बस गये थे। प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन भी भारतीयों को वहाँ ले-जाया गया था और सन् १९१३ तक इस प्रकार ले-जाये गये भारतीयों की संख्या वहाँ दस हजार के लगभग हो गयी थी। इस प्रकार जंजीबार में भी भारतीयों की अच्छी आबादी थी। धार्मिक सुधार का जो महान् आन्दोलन आर्यसमाज द्वारा भारत में प्रारम्भ हुआ, जंजीबार के भारतीय भी उससे प्रभावित हुए, और बीसवीं सदी के प्रथम चरण में वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। जंजीबार के भारतीयों में गुजराती बहुत समृद्ध थे। व्यापार द्वारा उन्होंने प्रभूत मात्रा में धन का उपार्जन किया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक बम्बई तथा गुजरात में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार हो गया था, अतः जंजीबार में बसे हुए

गुजराती व्यापारी भी आर्यसमाज से प्रभावित थे और उनकी सहायता से वहाँ के आर्य-समाज ने अच्छी उन्नति की। उस द्वारा भी एक आर्यपुत्री पाठशाला की स्थापना की गयी, जिसके कारण वहाँ के भारतीयों में स्त्रीशिक्षा के लिए रुचि उत्पन्न हुई।

जंजीवार में आर्यसमाज की स्थापना सन् १९०८ में हुई थी। वहाँ जिस प्रकार आर्यसमाज स्थापित हुआ, इसका वृत्तान्त न केवल शिक्षाप्रद है अपितु मनोरंजक भी है। जंजीबार के कस्टम-विभाग में नाथूराम नामक एक पंजावी सज्जन काम करते थे। वह आर्यसमाजी थे, और सत्यार्थप्रकाश उनके पास था। उनके एक परिचित गुजराती सज्जन श्री रघुभाई थे जो कट्टर वैष्णव थे। एक दिन श्री नाथूराम ने सत्यार्थप्रकाश की प्रति उन्हें भेंट कर दी। उसे देखते ही रघुभाई आगबबूला हो गये। कहने लगे, यह सत्यार्थ-प्रकाश मुझे नहीं चाहिए। पर भेंट दी गयी चीज को वह लौटा भी नहीं सकते थे। सत्यार्थप्रकाश उनके घर पर पड़ा रहा, और उसपर धूल जमती रही। एक दिन जिज्ञासा-वश उन्होंने उसे खोलकर देखा, और उसके पन्ने पलटने शुरू कर दिये। उसके कुछ अंश पढ़ते ही उनकी अन्तरात्मा जाग उठी और उन्हें सचाई का ज्ञान हुआ। वह अनुभव करने लगे कि अबतक वह अज्ञानान्धकार में डूबे हुए थे। सत्यार्थप्रकाश से उन्हें सच्चे धर्म का प्रकाश प्राप्त हुआ। वह उसका अनुशीलन करने लगे, और अपने मित्रों के साथ उन्होंने उसकी चर्चा शुरू कर दी। उन्होंने अपने घर पर साप्ताहिक सत्संग का प्रारम्भ किया, और अनेक सज्जन उसमें सम्मिलित होने लगे। शीघ्र ही इन सत्संगों ने आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन का रूप प्राप्त कर लिया, और जंजीवार में आर्यसमाज का वीजा-रोपण हो गया। अव समस्या यह थी, कि कोई उपयुक्त स्थान प्राप्त कर वहाँ औपचारिक रूप से आर्यसमाज की स्थापना कर दी जाये। जो सज्जन श्री रघुभाई के घर पर आकर सत्संग में शामिल हुआ करते थे, उनमें एक श्री गोकुलदास हंसराज भाटिया भी थे, जो जंजीबार के अत्यन्त प्रतिष्ठित व सम्भ्रान्त वर्ग के थे। उन्होंने एक नीलामघर पचास वर्ष के पट्टे पर सरकार से लियां हुआ था। जिस समय में जंजीबार में गुलामों का क्रय-विक्रय हुआ करता था, यह नीलामघर उनके नीलाम के लिए प्रयुक्त होता था। पर दास-प्रथा का अन्त हो जाने के कारण अब यह खाली पड़ा था, और इसे श्री भाटिया ने पट्टे पर ले लिया था। इसमें एक बड़ा हॉल था, जिसपर टिन की छत थी और साथ में कुछ दुकानें भी थीं। श्री भाटिया ने अपनी दिवंगत धर्मपत्नी श्रीमती गौरीबाई के स्मारक रूप में इस नीलामघर को आर्यसमाज के लिए प्रदान करना स्वीकार कर लिया, और दुकानों से जो किराया उन्हें वसूल होता था, उसे भी समाज के खर्च को चलाने के लिए देना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार श्री भाटिया के धर्म-प्रेम तथा दानशीलता के कारण आर्य-समाज के अपने मन्दिर की समस्या का समाधान हो गया, और जंजीबार के आर्यबन्धु इस मन्दिर को पक्का, भव्य तथा विशाल बनाने में जी-जान से जुट गये। इस कार्य के लिए जो धन अपेक्षित था, उसे जुटाने में श्री भाणजी दाह्याभाई ने वहुत सहायता दी। वह जंजी-बार की सरकारी सर्विस में थे, और वहाँ के हिन्दुओं में उनका स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित था। जंजीबार में हिन्दुओं को श्मशान बनवाने के लिए उन्होंने अपना बगीचा प्रदान कर दिया था। वह भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त थे। उनके तथा उनके छोटे भाई श्री लक्ष्मण भाई के प्रयत्न से आर्यसमाज का नया विशाल व भव्य भवन वनकर तैयार हो गया। सन् १९१३ में पण्डित महारानी शंकर शर्मा धर्म-प्रचार के लिए बम्बई

से पूर्वी अफ्रीका आये हुए थे। उन्हीं से दीपावली के शुभ पर्व पर आर्यसमाज के नये भवन का उद्घाटन कराया गया। शर्मा जी के व्याख्यानों से जंजीवार के लोगों में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव तथा आर्यसमाज के लिए उत्साह उत्पन्न हुआ, और वहाँ के निवासी अच्छी बड़ी संख्या में समाज के कार्यों में हाथ बटाने लगे। धीरे-धीरे अनेक नवयुवकों ने भी आर्यसमाज में सम्मिलित होना प्रारम्भ कर दिया, और उसके संचालन में वे पुरानी पीढ़ी के आर्यों का स्थान लेने लग गये। नयी पीढ़ी के इन आर्यसमाजियों में श्री कर्षणपाल गडवी और श्री गोविन्दभाई नानजी पटेल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री कर्षण-पाल जी शाक्त धर्म के अनुयायी थे। पण्डित महारानी शंकर जी के व्याख्यान सुनकर उनका हृदय-परिवर्तन हुआ, और वह आर्यसमाज के सभासद् बन गये। सरकारी सर्विस से निवृत्त होकर जब श्री भाणजी दाह्याभाई भारत वापस चले गये, तो जंजीवार में आर्यसमाज का उनका कार्य श्री कर्षण जी ने सँभाल लिया और बड़े त्याग तथा सेवाभाव से वह उसमें लग गये। उन्हीं के प्रयत्न से जंजीवार में आर्यपुत्री पाठशाला की सन् १९१७ में स्थापना हुई थी, जो उस क्षेत्र में हिन्दुओं की प्रथम स्त्री-शिक्षण-संस्था थी। जिस नीलामघर की पुरानी इमारत के स्थान पर आर्यसमाज के नये विशाल भवन का निर्माण किया गया था, वह सरकार की सम्पत्ति था, और श्री गोकुलदास हंसराज भाटिया के नाम वह पचास साल के पट्टे पर था। इस अवधि के समाप्त हो जाने पर यह सब सम्पत्ति सरकार के स्वत्व में चली जानी थी। आर्यसमाज के सम्मुख यह विकट समस्या थी, जिसका समाधान श्री गोविन्दभाई नानजी पटेल ने किया। उन्होंने पुराने नीलामघर की इस भूमि को सरकार से खरीदकर आर्यसमाज के अर्पण कर दिया, और इस प्रकार आर्यसमाज का अपने भवन पर स्थायी स्वत्व स्थापित हुआ। केवल ७५ वर्ष पूर्व जिस स्थान पर गुलामों का नीलाम हुआ करता था और जहाँ गुलाम स्त्री-पुरुषों और बच्चों का करुण रुदन सुनायी देता रहता था, वहाँ अब वेदमन्त्रों का पाठ होने लगा और यज्ञ की सुगन्धि से वह परिपूरित रहने लगा। जंजीवार के सार्वजनिक जीवन में श्री पटेल को अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। उनके त्याग, सेवाभाव और सदाचारमय जीवन की न केवल हिन्दू ही, अपितु यूरोपियन और अरब लोग भी प्रशंसा किया करते थे। जंजीवार के आर्यसमाज की ओर से जहाँ आर्यपुत्री पाठशाला का संचालन किया जा रहा था, वहाँ उस द्वारा पुस्तकालय तथा व्यायामशाला भी स्थापित की गयी थी। 'मधुकरी' नाम से एक मासिक पत्रिका भी उस द्वारा प्रकाशित की जाती थी। शुद्धि और अछूतोद्धार के सम्बन्ध में भी वहाँ के आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे।

पूर्वी अफ्रीका के तंजानिया राज्य की राजधानी दारुस्सलाम है, जो समुद्रतट पर स्थित एक बन्दरगाह है। तंजानिया (तांगनीका) पहले जर्मनी के अधीन था। महायुद्ध (१९१४-१८) के समय ब्रिटेन ने उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, और राज्यसंघ द्वारा उसे ब्रिटेन के शासनाधिकार में दे दिया गया। जब यह प्रदेश जर्मनी के अधीन था, तब भी बहुत-से भारतीय व्यापारी व्यापार द्वारा धन कमाने के लिए दारुस्सलाम जाते-आते रहते थे, और बहुत-से वहाँ स्थायी रूप से भी बस गये थे। ये भारतीय प्रधानतया गुजरात-काठियावाड़ के निवासी थे। तांगनीका के अंग्रेजों के शासन में आ जाने के पश्चात् केनिया के समान रेलवे लाइन आदि के निर्माण के लिए भारतीय लोग वहाँ भी अच्छी बड़ी संख्या में जाने लगे, और वहाँ भारतीयों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने लगी।

दारुस्सलाम में भी भारत के विविध प्रदेशों के लोग व्यापार, शिल्प तथा अन्य काम-धन्धों के लिए बड़ी संख्या में बसने शुरू हो गये। इस नगर में आर्यसमाज की स्थापना उस समय (सन् १९१२) में हो गयी थी, जब वह जर्मनी के प्रभुत्व में था। पर अंग्रेजी शासन में आ जाने के पश्चात् जब वहाँ भारतीयों की आबादी बढ़ने लगी, तो आर्यसमाज के कार्यकलाप में वृद्धि होना स्वाभाविक था। उसके तत्त्वावधान में 'आर्य विद्या सभा' की स्थापना हुई, जिस द्वारा आर्य कन्याशाला सदृश शिक्षण-संस्थाओं का संचालन प्रारम्भ किया गया। कालान्तर में दारुस्सलाम के आर्यसमाज की ओर से 'श्री हनुमान फिजिकल कल्चर इन्स्टिट्यूट' और 'आर्यन सोशल सर्विस लीग' सदृश संस्थाएँ भी स्थापित की गयीं, जिन्होंने उस क्षेत्र में समाज-सेवा के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी काम किया।

(४) आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना और पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज का विस्तार

बीसवीं सदी के द्वितीय दशक तक पूर्वी अफ्रीका के छह नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी—नैरोबी, मोम्बासा, जंजीबार, दारुस्सलाम, कम्पाला और किसिमु पर इन समाजों का कोई केन्द्रीय संगठन वहाँ नहीं था। नैरोबी तथा मोम्बासा के आर्य-समाज आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साथ सम्बद्ध थे, और जंजीबार का समाज बम्बई की आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध था। महायुद्ध (१९१४-१८) के समय मोम्बासा के आर्यसमाज को जिस अत्यन्त विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा था, उसमें नैरोबी के आर्य बन्धुओं ने उसकी मुक्तहस्त हो सहायता की थी। इससे इन समाजों में पारस्परिक सम्बन्ध में वृद्धि हुई थी, और उनमें एकता की भावना विकसित होने लग गयी थी। भारत के विविध प्रान्तों में भी इस समय तक पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभाओं का गठन प्रारम्भ हो चुका था। इस दशा में पूर्वी अफ्रीका के आर्य सज्जनों ने भी अपने देश में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना पर विचार किया। १० एप्रिल, १९१८ के दिन नैरोबी आर्यसमाज की अन्तरंग सभा की बैठक हुई, जिसमें आर्य प्रतिनिधि सभा की योजना तैयार करने का निश्चय किया गया। यह योजना तैयार हो जाने पर नैरोबी आर्यसमाज की साधारण सभा के अधिवेशन (३० मई, सन् १९२०) में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया, कि नैरोबी समाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर १ अगस्त, १९२० को एक आर्य सम्मेलन आयोजित किया जाए, जिसमें कि आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना को क्रियात्मक रूप देने के प्रश्न पर पूर्वी अफ्रीका के आर्यसमाजी विचार-विमर्श कर सकें। इस सम्मेलन के लिए पूरी तैयारी की गयी। सरकार की सर्विस के जो व्यक्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए आना चाहें, उन्हें तीन दिन के अवकाश की सुविधा सरकार द्वारा दिला दी गयी और रेलवे ने भी उनके आने-जाने का समुचित प्रबन्ध कर दिया। उस समय गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी अफ्रीका आये हुए थे। सर्वसम्मति से उन्हें सम्मेलन का सभापति चुना गया। पूर्वी अफ्रीका के प्रायः सभी प्रदेशों के आर्यसमाजी इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए नैरोबी आये थे, और इस देश का कोई समाज या आर्य संस्था ऐसी नहीं थी, जिसके प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित न हुए हों। सम्मेलन का कार्य बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ, और उसमें आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन कर लिया गया। श्री लाहौरीराम उसके प्रधान चुने गये, और श्री डी० डी० पुरी मन्त्री।

आर्य सम्मेलन द्वारा विधिवत् गठित कर दिये जाने के पश्चात् शीघ्र ही आर्य प्रतिनिधि-सभा ने उत्साह के साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया। १० अगस्त, १९२० को उसकी अन्तरंग सभा की बैठक हुई, जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। एक प्रस्ताव के अनुसार यह निश्चय किया गया कि पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाजियों का पूरा रिकॉर्ड रखने के लिए प्रत्येक आर्यसमाज से यह अनुरोध किया जाये, कि आर्य परिवारों में जो भी जन्म व मृत्यु हो, उसकी सूचना सभा के कार्यालय में भेज दी जाया करे। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा सन् १९०२ के विवाह-कानून में ऐसे संशोधनों की आवश्यकता प्रदर्शित की गयी, जिनसे कि हिन्दू विवाह-पद्धति के अनुसार जो विवाह हों उन्हें वैध रूप से स्वीकृत होने में कोई बाधा न रह जाय। साथ ही, यह निश्चय किया गया, कि हिन्दू जाति के विविध वर्गों की एक सम्मिलित बैठक इस प्रयोजन से आयोजित की जाय, ताकि सब वर्गों की ओर से सरकार पर विवाह-कानून में संशोधन के लिए सामूहिक रूप से जोर डाला जा सके। सन् १९२२ में हुई प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा की बैठक में यह निर्णय किया गया, कि सभा की ओर से आर्यभाषा (हिन्दी) में एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाए, जिसमें कम-से-कम आठ पृष्ठ अवश्य हों। इस पत्र का सम्पादक श्री डी० डी० पुरी को नियत किया गया। कतिपय कठिनाइयों के कारण यह पत्र हिन्दी भाषा में नहीं निकाला जा सका। कुछ समय तक यह उर्दू में प्रकाशित हुआ, पर बाद में उसे बन्द कर देना पड़ा। पर सभा के अपने पत्र की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जाती रही।

सन् १९२८ में आर्यसमाज नैरोबी का रजत-जयन्ती-महोत्सव समारोहपूर्वक मनाया गया। उस अवसर पर आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में एक आर्य सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता राजरत्न सेठ नानजी कालिदास मेहता ने की थी। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से अनुरोध किया गया, कि सरकारी स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई की भी व्यवस्था की जाय। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया, कि उपयुक्त स्थानों पर धर्मार्थ औषधालयों की स्थापना की जाय, जिनमें जाति, धर्म व रंग आदि का कोई भेद-भाव किये बिना निःशुल्क चिकित्सा का प्रबन्ध हो। एक अन्य प्रस्ताव के अनुसार पूर्वी अफ्रीका में एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी की स्थापना का निर्णय किया गया, जिसका कार्य एक ऐसे मुद्रणालय को स्थापित करना व संचालन करना हो, जिसमें आर्य-साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था हो। इस प्रस्ताव के अनुसार लिमिटेड कम्पनी का मेमोरेण्डम ऑफ एसोशियेशन तथा नियम तैयार कर लिये गये, और आर्य प्रतिनिधि सभा के वार्षिक अधिवेशन (५ अगस्त, १९३३) में उन्हें स्वीकृत कर प्रकाशित भी कर दिया गया।

पूर्वी अफ्रीका में पृथक् रूप से आर्य प्रतिनिधि सभा के गठित हो जाने के पश्चात् इस देश में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य नये उत्साह के साथ प्रारम्भ हुआ, और अनेक नये आर्यसमाज स्थापित होने शुरू हो गये। सन् १९२० में वहाँ आर्यसमाजों की कुल संख्या ६ थी, जो १९३६ तक १७ और १९५९ तक २६ हो गयी थी। कतिपय अन्य आर्य-संस्थाएँ भी आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध थीं। उन्हें मिलाकर यह संख्या ३३ तक पहुँच जाती थी। पर अब यह संख्या बहुत कम रह गयी है।

सन् १९२३ में जिन्जा (युगाण्डा) में आर्यसमाज की स्थापना हुई। श्री डी० बी० देसाई और श्री मोहनलाल ने इसके लिए अनथक परिश्रम किया। ये सज्जन इस समाज

के कर्मठ सदस्य थें। सेठ रामजी लड्ढा की दानशीलता से जिञ्जा में आर्यसमाज के लिए भूमि प्राप्त हो गयी, और कुछ समय पश्चात् वहाँ समाज-मन्दिर का निर्माण कर लिया गया। पूर्वी अफ्रीका के केनिया प्रदेश में मचाचकोस नामक नगरी में सन् १९२५ में आर्य-समाज स्थापित हुआ। इसकी स्थापना में मैसर्स एम० डी० पुरी एण्ड सन्स का कर्तृत्व विशेष महत्त्व का था। उन्होंने समाज के लिए न केवल उदारतापूर्वक धन ही दिया अपितु उत्साह के साथ उसके कार्यकलाप को भी आगे बढ़ाया। पर यह समाज उचित रूप से विकसित नहीं हो सका। जो भू-सम्पत्ति इस समाज के स्वत्व में है, उसका मूल्य अब बहुत बढ़ गया है। यह भी प्रतिनिधि सभा की अधीनता में है। केनिया में ही एक अन्य नगर एल्डोरेट है। वहाँ सन् १९२६ में आर्यसमाज का बीजारोपण किया गया, जो धीरे-धीरे अंकुरित होकर सन् १९३० तक भली-भाँति पल्लवित व पुष्पित हो गया। शुरू में वहाँ आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। अत: श्री संजीवन राय के कार्यालय में साप्ताहिक सत्संग हुआ करते थे। उस समय श्री देवधर चानम एल्डोरेट की कचहरी में कर्मचारी थे। उनके प्रयत्न से सरकार द्वारा दो भूमिखण्ड आर्यसमाज को प्रदान कर दिये गये और स्थानीय आर्य जनता ने समाज-मन्दिर के लिए धन एकत्र करना शुरू कर दिया। सन् १९३३ में श्री मेहता जैमिनी धर्म-प्रचार के लिए भारत से पूर्वी अफ्रीका आये हुए थे। वहाँ के विविध नगरों में प्रचार करते हुए वह एल्डोरेट भी गये, और वहाँ उनके अनेक व्याख्यान हुए। १४ मई को उन्होंने आर्यसमाज-मन्दिर की आधारशिला भी रखी, जिसके पश्चात् भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। एक वर्ष के लगभग समय में समाज-मन्दिर बनकर तैयार हो गया और २२ सितम्बर, सन् १९३४ के दिन श्रीमती प्रीतम द्वारा उसका विधिवत् उद्घाटन कर दिया गया। समाज-मन्दिर का निर्माण पूरा हो जाने के वाद यज्ञशाला की नींव रखी गयी। उसका आधा खर्च आर्यसमाज ने दिया, और आधा श्री लालजी भाई सुन्दरजी लखानी ने अपनी दिवंगत धर्म पत्नी श्रीमती राम-कुँवर की पुण्य स्मृति में प्रदान किया। यज्ञशाला का निर्माण पूरा हो जाने पर आर्यसमाज के साथ एक धर्मशाला की योजना वनायी गयी। श्री लेखराज अग्रवाल ने इसके लिए उदारतापूर्वक धनराशि प्रदान की। इस प्रकार एल्डोरेट आर्यसमाज के परिसर में वे सब भवन बनकर तैयार हो गये, जो किसी धार्मिक समाज के कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। सन् १९३३ में समाज के अधिकारियों का विधिवत् चुनाव हुआ, जिसमें श्री संजीवन-राय प्रधान और श्री रामजीदास पाठक मन्त्री निर्वाचित हुए। इन्हीं द्वारा समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव सन् १९३४ में कराया गया, और उसके पश्चात् समाज-मन्दिर में दैनिक सन्ध्या-हवन की परिपाटी प्रारम्भ की गयी, जो कुछ वर्षों तक नियमित रूप से जारी रही। श्री हंसराज शर्मा केनिया की पुलिस की सर्विस में इन्स्पेक्टर के पद पर थे। सन् १९४१ में उनकी बदली एल्डोरेट हो गयी। वह कर्मठ व उत्साह-सम्पन्न आर्यसमाजी थे। उनके प्रयत्न से तथा अन्य उत्साही आर्य-बन्धुओं की सहायता से वहाँ के आर्यसमाज की बहुत उन्नति हुई, और उसकी सदस्य-संख्या ७० से ऊपर हो गयी। इसी समय आर्य-समाज के तत्त्वावधान में एल्डोरेट में कन्या पाठशाला की स्थापना हुई, जिसके उपयोग के लिए आर्यसमाज के भवन का हॉल बिना किराये के प्रदान कर दिया गया। कुछ समय पश्चात् वहाँ स्त्री-आर्यसमाज भी स्थापित हो गया, और एल्डोरेट नगरी आर्यसमाज के कार्यकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गयी। केनिया का एक अन्य नगर नकुरु है। वहाँ

भी सन् १९२६ में ही आर्यसमाज की स्थापना हुई। श्री डी० डी० पुरी और श्री नाहरसिंह के प्रयत्न से आर्यसमाज के लिए सरकार से भूमि प्राप्त कर ली गयी और आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारियों तथा कर्मठ सदस्यों के प्रयास से उस भूमि पर भवन बनना भी प्रारम्भ हो गया। नकुरु के स्थानीय आर्यसमाजियों में श्री नाथूराम जोशी ने इस काम में विशेष रुचि ली। यह उन्हीं के अनथक परिश्रम का परिणाम था कि जुलाई, १९३१ में नकुरु का समाज-मन्दिर बनकर तैयार हो गया, और अगले वर्ष नवम्बर मास में सेठ नानजी कालिदास मेहता से उसका उद्‌घाटन भी करवा दिया गया। सेठ जी उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे। मई, १९३३ में नकुरु आर्यसमाज का जो वार्षिकोत्सव हुआ, उसमें श्री मेहता जैमिनी के भी अनेक व्याख्यान हुए थे, और जनता पर उनका उत्तम प्रभाव पड़ा था। पर इस नगर में आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसका मुख्य श्रेय पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार को है। पण्डित जी गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक थे, और पूर्वी अफ्रीका में धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। वह पहले १९३१ में नकुरु गये, और फिर १९३३ में। उनके प्रचार के कारण वहाँ के आर्यसमाज में नवजीवन का संचार हुआ, और सन् १९३३ में वहाँ आर्य कन्या विद्यालय की भी स्थापना हो गयी। समयान्तर में वहाँ स्त्री-आर्यसमाज भी स्थापित हुआ, और यह नगर आर्यसमाज का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। पूर्वी अफ्रीका के तांगनीका प्रदेश में तबोरा नगरी है। वहाँ आर्यसमाज की स्थापना सन् १९२७ में हुई, और तभी म्वासे तथा तोरोरो में भी। सन् १९३६ तक लुगात्री (युगाण्डा), लुम्बवा, किताले तथा नन्यूकी में भी आर्यसमाज स्थापित हो गये थे, और पूर्वी अफ्रीका में समाजों की कुल संख्या १७ हो गयी थी। बाद में जो नये आर्यसमाज स्थापित हुए, वे नसिन्दी (युगाण्डा), अरुशा (तांगनीका), म्वांजा (तांगनीका) और ताम्गा (तांगनीका) में थे। अनेक नगरों में स्त्री-आर्यसमाज भी स्थापित हो गये थे, यथा नैरोबी, नकुरु, मोम्बासा, किसुमु, एल्डोरेट, कम्पाला, दारुस्सलाम अरुशा और जंजीबार में। इस प्रकार सन् १९५९ तक पूर्वी अफ्रीका के विविध नगरों में आर्यसमाजों का जाल-सा बिछ गया था, और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार भलीभाँति होने लग गया था। इस प्रसंग में पण्डित सत्यदेव वेदालंकार के कार्य का उल्लेख करना भी आवश्यक है। सन् १९३४-३५ में उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा ईस्ट अफ्रीका के स्थायी उपदेशक के रूप में केनिया आदि सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार किया, और सब प्रकार के कष्ट सहते हुए भी पूर्वी अफ्रीका के प्रायः सभी आर्यसमाजों में जाकर उन्होंने अपने प्रवचनों द्वारा जनता के हृदय में वैदिक धर्म के प्रति उत्साह का प्रादुर्भाव किया। इससे वहाँ आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ व शक्तिशाली बनाने में बहुत सहायता मिली। उस समय श्री प्रभुदयाल प्रतिनिधि सभा के मन्त्री थे। उन्होंने सभा के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी थी।

पर इसी समय पूर्वी अफ्रीका की राजनैतिक दशा में भारी उथल-पुथल का प्रादुर्भाव होने लग गया था। इस देश के मूल निवासी अफ्रीकन लोग ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होकर स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने में व्यापृत हो गये थे। यद्यपि अफ्रीकन देशों में स्वातन्त्र्य-आन्दोलनों का सूत्रपात द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद ही हो गया था, पर १९५५ के पश्चात् उन्होंने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया था। इन देशों में बसे हुए भारतीयों की सहानुभूति अफ्रीकन लोगों के साथ थी। उनका सक्रिय सहयोग

भी स्वाधीनता-आन्दोलनों को प्राप्त था। पर सन् १९६२-६४ में पूर्वी अफ्रीका के विविध प्रदेश जब ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त होकर स्वाधीन हो गये, और वहाँ की राजशक्ति अफ्रीकन लोगों के हाथों में आ गयी, तो भारतीयों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई, कि वे केनिया, युगाण्डा और तंजानिया के नाम से नये स्थापित हुए स्वतन्त्र राज्यों की नागरिकता स्वीकार करें या नहीं। इन राज्यों में अफ्रीकन (नीग्रो) लोग बहुत बड़ी संख्या में थे, और लोकतन्त्रवाद पर आधारित इनके शासन में राजशक्ति इन्हीं के हाथों में रहती थी। साथ ही अफ्रीकन लोगों में यह विचार भी विकसित होने लग गया था, कि यूरोपियन लोगों के समान भारतीय भी विदेशी हैं, और वे भी उनके देश का आर्थिक शोषण करने में तत्पर हैं। यह विचार धीरे-धीरे विरोध के रूप में प्रकट होना भी प्रारम्भ हो गया था। इस दशा में भारतीयों के सम्मुख तीन विकल्प थे—या तो वे अफ्रीकन राज्यों की नागरिकता स्वीकार कर लें, या ब्रिटिश नागरिकता (अब तक उनकी स्थिति ब्रिटिश प्रजा की थी) प्राप्त कर ब्रिटेन चले जायें और या भारत वापस चले जायें। इन राज्यों के राजनैतिक भविष्य को दृष्टि में रखकर सन् १९६० के पश्चात् बहुत-से भारतीय पूर्वी अफ्रीका से ब्रिटेन जाकर बसने शुरू हो गये और कुछ भारत लौट आए। इस दशा में वहाँ भारतीयों की आबादी में निरन्तर कमी होती गयी, जिसका प्रभाव आर्यसमाज पर भी पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। युगाण्डा में मुहम्मद आमीन ने भारतीयों के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया, उसके कारण उनका वहाँ रह सकना सम्भव ही नहीं रह गया, और उस राज्य में भारतीयों के कुछ ही परिवार रह गये। इस दशा में वहाँ तो आर्यसमाज का कार्यकलाप पूर्णतया समाप्त हो गया, और जो पाँच आर्यसमाज युगाण्डा में थे उनमें ताले पड़ गये। केनिया और तंजानिया में भी समाज के कार्यकलाप पर विपरीत प्रभाव पड़ा। पर श्री सत्यदेव वेदालंकार के पुरुषार्थ से अब तंजानिया में आर्यसमाज में पुनः नवजीवन का संचार प्रारम्भ हो गया है। उन्होंने वहाँ के अरुशा नगर में लाखों रुपये लगाकर आर्यसमाज के लिए 'सूर्य ज्योति भवन' का निर्माण कराया है। तंजानिया के अन्य अनेक सम्भ्रान्त आर्य-सज्जनों के पुरुषार्थ व दान से अरुशा आर्यसमाज के पास लाखों रुपयों का स्थायी कोष भी जमा हो गया, जिसका उपयोग कर तंजानिया में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का उद्योग किया जा रहा है।

(५) मोम्बासा आर्यसमाज

यद्यपि इस समय पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के कार्यकलाप में शिथिलता आ गयी है, पर इसमें सन्देह नहीं कि गत ७५ वर्षों में वहाँ समाज ने बहुत उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। केनिया में मोम्बासा और नैरोबी के आर्यसमाज प्रधान हैं। इनकी प्रगति पर दृष्टिपात करने पर पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज द्वारा किये गये कार्यों का समुचित परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध की सन् १९१८ में समाप्ति हो गयी थी। महायुद्ध के समय मोवाम्सा के आर्यसमाजियों को राजद्रोह के अपराध में किस प्रकार कैद कर लिया गया था, और बाद में वे किस प्रकार बन्धनमुक्त हुए, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सन् १९२० से मोम्बासा आर्यसमाज का कार्य पुनः नियमित रूप से होने लगा, और उसके सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि होनी प्रारम्भ हो गयी। यही समय था,

जब पण्डित पूर्णानन्द, पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार और ठाकुर प्रवीण सिंह भारत से केनिया आए, और धर्म-प्रचार करने के प्रयोजन से वे मोम्बासा भी गये। इनके प्रचार के कारण मोम्बासा के आर्यसमाजियों में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हुई, और वहाँ के आर्यसमाज में नवजीवन का संचार हुआ। सन् १९२१ में स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती मोम्बासा आए, और २५ दिन रहकर उन्होंने वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया। उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार की, और उसकी शक्ति में बहुत वृद्धि हुई। सन् १९२१ में आर्य कन्या पाठशाला को पुनः प्रारम्भ किया गया। शीघ्र ही पाठशाला में छात्राओं की संख्या १४० तक पहुँच गयी। पर कुछ समय पश्चात् मोम्बासा आर्यसमाज के कार्यों में फिर शिथिलता आने लगी। उसके अनेक कर्मठ सदस्य सरकार तथा रेलवे की सर्विस में थे। उनकी मोम्बासा से अन्यत्र तवदीली हो जाने के कारण समाज के पास सुयोग्य कार्यकर्ताओं का अभाव हो गया। समाज की दशा इतनी विगड़ गयी कि सन् १९२५ में कन्या पाठशाला को भी बन्द कर देना पड़ा। पर १९२८ में स्थिति ने फिर पलटा खाया। मोम्बासा में कतिपय ऐसे उत्साही तथा कर्मठ आर्य-सज्जनों का आगमन हुआ, जिन्होंने आर्यसमाज की डाँवा-डोल दशा को भलीभाँति सम्भाल लिया, और उसका कार्य पुनः सुचारु रूप से चलने लगा। इन सज्जनों में श्री काशीराम बौरी, पण्डित आत्माराम और श्री बद्रीदास प्रिंजा के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज के पुराने कार्यकर्ता श्री नाथराम प्रिंजा के साथ मिलकर इन सज्जनों ने आर्यसमाज के पुनरुद्धार के लिए जो कार्य किया, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। सेठ नानजी कालिदास मेहता का एक कार्यालय मोम्बासा में भी था। अपने व्यापार की देख-रेख के लिए वह वहाँ भी आते रहते थे। ऐसे एक अवसर पर श्री नाथराम प्रिंजा आदि अनेक आर्य सज्जन उनसे जाकर मिले, और उन्हें समाज में आने के लिए निमन्त्रित किया। सेठ जी के सहयोग और सात्विक दान से आर्यसमाज के नये विशाल भव्य भवन का निर्माण किया गया, और उसके साथ यात्रियों के लिए एक विश्रामगृह भी बनवाया गया। मोम्बासा के आर्यसमाजियों ने नये समाज-मन्दिर तथा विश्रामगृह के निर्माण के लिए अनुपम उत्साह प्रदर्शित किया। उन्होंने स्वयं दिल खोलकर धन दिया, और पूर्वी अफ्रीका के विविध नगरों में घूम-घूमकर धन एकत्र किया। सन् १९३३ तक मोम्बासा के आर्यसमाज के नये भवन बनकर तैयार हो गये थे, और समुद्रतट पर स्थित उस नगरी में ये भी आकर्षण के केन्द्र बन गये थे। इस समय से कुछ वर्ष पूर्व अनेक आर्य विद्वान् व प्रचारक वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए पूर्वी अफ्रीका आये, और क्योंकि वहाँ आने का प्रवेशद्वार उस समय मोम्बासा ही था, अतः उन्होंने कुछ समय वहाँ भी रहकर धर्म-प्रचार किया। सन् १९२७ में गुरुकुल कांगड़ी के तपस्वी व सुयोग्य स्नातक पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार वहाँ आये थे, और उनके व्याख्यानों से वहाँ के आर्यसमाजियों में नवस्फूर्ति उत्पन्न हुई थी। सन् १९२४ में गंगा में बाढ़ के कारण गुरुकुल कांगड़ी की बहुत-सी इमारतें गिर गयी थीं, और उसका सारा परिसर जल से भर गया था। उस स्थान को असुरक्षित समझकर गुरुकुल के संचालकों ने उसे गंगा के दायें तट के समीप कनखल-ज्वालापुर मार्ग के दक्षिण में स्थानान्तरित करने का निर्णय किया, और उसके लिए भूमि क्रय कर ली। इस भूमि पर नये भवन बनाने के लिए धन एकत्र करने के लिए गुरुकुल के आचार्य श्री रामदेव और पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार अफ्रीका गये। उन्होंने

पूर्वी अफ्रीका के विविध नगरों से गुरुकुल के लिए धन एकत्र करने के साथ-साथ वहाँ बहुत-से व्याख्यान भी दिये। इसी सिलसिले में उन्होंने कुछ समय मोम्बासा में भी व्यतीत किया। गुरुकुल के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से इसी समय पण्डित चमूपति भी पूर्वी अफ्रीका गये थे, और मोम्बासा भी उनके अनेक व्याख्यान हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि सन् १९२७-२८ से मोम्बासा में आर्यसमाज ने जिस ढंग से प्रगति के पथ पर पग बढ़ाने शुरू किये थे, वे फिर कहीं रुके नहीं, अपितु निरन्तर आगे बढ़ते ही गये। सन् १९३९ से उसकी प्रगति और भी अधिक तेजी से होने लगी। आर्य कन्या पाठशाला को अब नये आर्यसमाज-भवन में ले-आया गया। वहाँ पाठशाला के लिए पर्याप्त स्थान था। कार्यकर्ताओं के परिश्रम तथा समुचित स्थान के कारण शीघ्र ही पाठशाला में छात्राओं की संख्या २५० तक पहुँच गयी। बाद में इस शिक्षण-संस्था के लिए अपने भवन के निर्माण का निश्चय किया गया, और सन् १९४७ में यह निश्चय क्रियान्वित भी हो गया। सन् १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया था। पर आर्यसमाज के कार्यकलाप पर उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा, और मोम्बासा के आर्य अपने समाज की उन्नति के लिए पूर्ण उत्साह से प्रयत्नशील रहे। उसके कार्यक्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता रहा, और अनेक नयी योजनाएँ बनायी गयीं। सन् १९४४ में मोम्बासा आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया, और युवकों तथा युवतियों को हिन्दी पढ़ाने के लिए निःशुल्क कक्षाओं की व्यवस्था की गयी। अगस्त, १९४८ में श्री अनन्त शास्त्री भारत से मोम्बासा आये थे, और आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हो गये थे। उन्होंने हिन्दी के प्रचार में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया। इसी समय मोम्बासा में 'आर्य वीरांगना दल' की स्थापना हुई। सन् १९४८ में आर्य कन्या महाविद्यालय की छात्राएँ पण्डित आनन्दप्रिय की अध्यक्षता में पूर्वी अफ्रीका आयी थीं। मोम्बासा में भी उन्होंने प्रचार कार्य किया था, और साथ ही व्यायाम, योग, धनुर्विद्या आदि का भी प्रदर्शन किया था। इस प्रदर्शन को देखकर मोम्बासा की आर्य युवतियों में अनुपम उत्साह का संचार हुआ, और उन्होंने 'वीरांगना दल' की स्थापना की। इस दल की प्रथम संचालिका एवं नेत्री कुमारी ओम्वती शर्मा थीं। किशोर तथा युवा लोगों के स्वास्थ्य के लिए विविध प्रकार के खेलकूद का बहुत उपयोग होता है। मोम्बासा आर्यसमाज ने इस ओर भी ध्यान दिया, और सन् १९३५ में स्पोर्ट्स क्लब का सूत्रपात किया। क्लब के लिए सरकार से भूमि किराये पर ले ली गयी, और धन एकत्र कर उसे खेलों के योग्य बना लिया गया। इस सब कार्य में समय अवश्य लगा, पर सन् १९५१-५२ तक आर्यसमाज का स्पोर्ट्स क्लब सुव्यवस्थित दशा में आ गया था।

मोम्बासा आर्यसमाज का परिचय देते हुए वहाँ के स्त्री-आर्यसमाज का भी संक्षेप के साथ उल्लेख करना आवश्यक है। मोम्बासा में इस समाज की स्थापना सन् १९२४ में हुई थी, और उसके लिए श्रीमती भागवन्ती बौरी, श्रीमती शामदेवी सेठी और श्रीमती विद्यादेवी शर्मा ने विशेष श्रम किया था। श्रीमती भागवन्ती बौरी कई वर्ष तक स्त्री-समाज की प्रधान रहीं, और उन्होंने उसके सफलतापूर्वक संचालन में कोई कसर उठा नहीं रखी। आर्य-कन्या पाठशाला, आर्यसमाज-मन्दिर तथा विश्रामगृह आदि सभी के लिए स्त्री-आर्यसमाज ने धन एकत्र करने में उत्साहपूर्वक सहयोग प्रदान किया। आर्यसमाज के सभी उत्सवों, समारोहों तथा कार्यकलाप में स्त्री-आर्यसमाज का सहयोग व साहाय्य प्राप्त

रहता है। उसकी ओर से एक शिशुशाला (नर्सरी होम) भी चलायी जा रही है, और एक बालसभा भी गठित है।

समय-समय पर जो विद्वान्, उपदेशक एवं संन्यासी धर्म-प्रचार या किसी संस्था के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से भारत से पूर्वी अफ्रीका गये, प्रायः उन सबने मोम्बासा की यात्रा को भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया। सन् १९३० तक जो ऐसे महानुभाव मोम्बासा गये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बाद में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, डॉक्टर भगतराम सहगल, पण्डित हरिशंकर विद्यार्थी, श्री मेहता जैमिनी, पण्डित ऋषिराम, पण्डित आनन्दप्रिय, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, श्री आनन्दभिक्षु, स्वामी विद्यानन्द विदेह, स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती, महात्मा आनन्द स्वामी, आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, डॉक्टर उषर्बुध आदि कितने ही आर्य विद्वान् वहाँ गये और उनके व्याख्यानों व प्रवचनों से आर्यसमाज के कार्यकलाप को बहुत बल प्राप्त हुआ। जिन अनेक विद्वानों ने भारत से जाकर अधिक स्थायी रूप से पूर्वी अफ्रीका में वैदिक धर्म का प्रचार किया, उनमें पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार, पण्डित सत्यदेव वेदालंकार, पण्डित धर्मेन्द्रनाथ वेदालंकार, पण्डित विनयकुमार आयुर्वेदालंकार, पण्डित देवनाथ विद्यालंकार, पण्डित आर्यमुनि, पण्डित मदनमोहन विद्यासागर, और पण्डित श्यामसुन्दर स्नातक के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी प्रचारक व विद्वान् पूर्वी अफ्रीका में धर्म-प्रचार करते हुए केनिया की राजधानी नैरोबी भी गये थे, अतः वहाँ के आर्यसमाज का विवरण देते हुए इनके कार्य पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डाला जा सकेगा।

(६) नैरोबी आर्यसमाज

केनिया राज्य की राजधानी नैरोबी पूर्वी अफ्रीका का प्रधान नगर है। अफ्रीका महाद्वीप में इस नगर का विशिष्ट स्थान है, और उस भूखण्ड की अन्तर्राष्टीय राजनीति का इसे केन्द्रस्थल कहा जाता है। आर्यसमाज की दृष्टि से भी नैरोबी का विशेष महत्त्व है। कहा जाता है, कि नैरोबी का आर्यसमाज विश्व का सबसे समृद्ध एवं वैभवपूर्ण समाज है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्थायी आमदनी और अचल सम्पत्ति की दृष्टि से नैरोबी आर्यसमाज एक अत्यन्त समृद्ध आर्य संस्था है। सन् १९०३ में वहाँ किस प्रकार आर्यसमाज की स्थापना हुई, और प्रारम्भ के वर्षों में उसकी किस ढंग से प्रगति हुई इस विषय पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। सन् १९१४ में जब बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, नैरोबी में आर्यसमाज को स्थापित हुए ग्यारह वर्ष हो चुके थे। इन वर्षों में नैरोबी आर्यसमाज की जो प्रगति हुई, उसके सम्बन्ध में कतिपय बातें उल्लेखनीय हैं। इस समय आर्यसमाज के पास न कोई उपदेशक थे और न कोई पुरोहित। कोई आर्य विद्वान् भी भारत से स्थायी रूप से प्रचार के लिए वहाँ नहीं आये हुए थे। पर नैरोबी आर्यसमाज के सदस्य आर्यसिद्धान्तों का अनुशीलन करना अपना कर्तव्य समझते थे, और अपने धर्म के लिए उनमें अनुपम उत्साह था। इसीलिए सन्ध्या-हवन, प्रार्थना-उपासना, धार्मिक प्रवचन आदि वे स्वयं ही कर लिया करते थे, और अपने विरोधियों द्वारा किये गये आक्षेपों का भी स्वयं ही उत्तर दे दिया करते थे। नैरोबी की जनता में आर्यसमाज के लिए कितना उत्साह था, इसे सूचित करने के लिए यही पर्याप्त है, कि सन् १९०५ में उसके सदस्यों की संख्या एक सौ से अधिक हो

गयी थी। इन सदस्यों में भ्रातृभाव भी विद्यमान था, और ये अपने को एक आर्य-परिवार का अंग मानते थे। आपस के मतभेदों व झगड़ों को स्वयं ही निवटा लिया जाया करे, इस प्रयोजन से सन् १९१० में वहाँ एक न्यायोपसभा भी बना ली गयी थी। आर्यों के आपसी झगड़ों के निवारण के लिए यह उपसभा महत्त्वपूर्ण कार्य किया करती थी। पंजाब के आर्यसमाज में जिन विवादों ने इस काल में उग्ररूप धारण कर लिया था, यह स्वाभाविक था कि नैरोबी आर्यसमाज पर भी उनका प्रभाव पड़े, क्योंकि उसके बहुसंख्यक सदस्य पंजाबी ही थे। मांस-भक्षण के प्रश्न पर नैरोबी आर्यसमाज में भी विवाद व विरोध का सूत्रपात हुआ, और अक्टूबर, १९०५ में १३ आर्यों को मांसाहारी होने के कारण समाज की सदस्यता से पृथक् कर दिया गया।

महायुद्ध (१९१४-१८) के समय पूर्वी अफ्रीका की ब्रिटिश सरकार किस प्रकार आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझने लगी थी, और मोम्बासा के आर्य-नेताओं को गिरफ्तार कर जिस ढंग से कठोर दण्ड दिये गये थे, इसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। नैरोबी का आर्यसमाज भी इस समय सरकार की कोप-दृष्टि से बचा नहीं रह सका। सन १९१५ में आर्यसमाज के सब रजिस्टर व अन्य रिकॉर्ड पुलिस उठा-कर ले गयी, और उसके मन्त्री श्री देवीदास पुरी को धमकियाँ देकर आर्यसमाज से त्याग-पत्र देने के लिए कहा गया। पर आर्यसमाजियों ने इस संकट का वीरतापूर्वक सामना किया, और न केवल अपने समाज को ही अस्तव्यस्त होने से बचा लिया, अपितु मोम्बासा आर्यसमाज की सहायता करने में भी कोई कसर उठा नहीं रखी। नैरोबी आर्यसमाज के पदाधिकारियों के अनथक परिश्रम का ही यह परिणाम था, कि मोम्बासा के आर्य-बन्धु निरपराध सिद्ध होकर बन्धनागार से मुक्त हुए, और जिन आर्य-नेताओं को मृत्युदण्ड दिया गया था, उन्हें भी सम्मानपूर्वक रिहा कर दिया गया। महायुद्ध के समय पूर्वी अफ्रीका में भी मार्शल-लॉ की घोषणा हुई थी, और वहाँ का शासन सैनिक कानून के अधीन था। इस फौजी शासन में नैरोबी आर्यसमाज ने जिस परिश्रम एवं बुद्धिमत्ता से अपने तथा मोम्बासा के आर्यबन्धुओं की संकट से रक्षा की, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है।

कुछ समय पश्चात् नैरोबी आर्यसमाज को एक अन्य संकट का सामना करना पड़ा। महायुद्ध के समय तक तांगनीका का प्रदेश (जो अब तंजानिया राज्य के अन्तर्गत है) जर्मनी के अधीन था, और 'जर्मन पूर्वी अफ्रीका' कहाता था, युद्ध के दौरान ब्रिटेन ने इसे अपने कब्जे में कर लिया था। महायुद्ध की समाप्ति पर शान्ति की स्थापना के लिए वर्साय में जो शान्ति-परिषद् हुई, उसमें तांगनीका के भविष्य पर भी विचार किया जाना था। इसलिये वहाँ के अनेक समाचारपत्रों में इस प्रकार के संवाद व पत्र प्रकाशित होने शुरू हुए, जिनमें उस प्रदेश की विविध संस्थाओं व आन्दोलनों आदि के सम्बन्ध में अनेकविध विचार प्रकट किये गये थे। इनमें अनेक पत्र जंजीबार के विशप के थे, जिनमें आर्यसमाज को एक राजनैतिक संस्था प्रतिपादित करते हुए सत्यार्थप्रकाश पर अनेकविध आक्षेप किये गये थे। नैरोबी आर्यसमाज ने इन आक्षेपों का तर्कसंगत तथा मुँहतोड़ उत्तर देते हुए आर्यसमाज के वास्तविक स्वरूप एवं स्थिति को स्पष्ट रूप से निरूपित किया, जिसके कारण जंजीबार के विशप के लेखों का वर्साय की शान्ति-परिषद् के निर्णयों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महायुद्ध की समाप्ति पर जब पूर्वी अफ्रीका की दशा सामान्य हो

गयी, तो नैरोवी आर्यसमाज ने वड़ी तेजी के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९१२ में आर्यसमाज के जिस भवन की आधारशिला वड़ौदा के श्रीमन्त राजा सम्पतराव गायकवाड़ ने रखी थी, सन् १९१८ तक वह बनकर तैयार हो गया था। उसके समीप ही आठ कमरों के एक भव्य विश्रामालय का निर्माण कराया गया, जिसकी आधारशिला श्रीमती ईश्वरकौर द्वारा रखी गयी थी। समाज के अन्य भवनों में 'यज्ञ-शाला' का निर्माण श्री मूलजी जेठा के दान द्वारा हुआ था। सन् १९२० के प्रारम्भ में पण्डित ईश्वरदत्त विद्यालंकार वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अफ्रीका आये, और नौ मास के लगभग उन्होंने नैरोवी को केन्द्र बनाकर प्रचार किया। पण्डित ईश्वरदत्त व्याख्यानों के साथ-साथ शारीरिक व्यायाम और योगाभ्यास का प्रदर्शन भी किया करते थे, जिसका जनता पर विशेष प्रभाव पड़ता था। अगले वर्ष सन् १९२१ में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ने केनिया की यात्रा की, और उनके प्रवचनों से वहाँ की आर्य जनता में नवीन उत्साह का संचार हुआ। अन्य भी अनेक प्रचारक इस काल में नैरोबी आये, जिनमें ठाकुर प्रवीणसिंह का नाम उल्लेखनीय है। नैरोवी आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र केवल भारतीय मूल के लोगों तक ही सीमित नहीं था। अफ्रीका के मूल निवासियों की ओर भी उसका ध्यान गया, और सन् १९२२ में अफ्रीकन बच्चों के लिए भी आर्यसमाज द्वारा एक स्कूल की स्थापना कर दी गयी। शीघ्र ही इस स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या तीन सौ तक पहुँच गयी। नीग्रो बच्चे जब इस स्कूल में अंग्रेजी भाषा में अनूदित सन्ध्या के मन्त्रों का पाठ करते थे, तो एक दर्शनीय दृश्य उपस्थित हो जाता था। अफ्रीका में निवास करते हुए कतिपय भारतीय पुरुषों ने नीग्रो महिलाओं से भी सम्बन्ध कर लिये थे। उनसे उत्पन्न इण्डो-अफ्रीकन बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा की समस्या के प्रति भी आर्यसमाज का ध्यान गया था, और ऐसे बालक आर्यसमाज द्वारा फीरोजपुर (पंजाब) के आर्य अनाथालय में पहुँचा दिये जाते थे।

भारत की आर्य शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करने में नैरोवी तथा पूर्वी अफ्रीका के अन्य आर्यसमाज कभी पीछे नहीं रहे। सन् १९२४ में जब गुरुकुल-कांगड़ी की पुरानी इमारतें गंगा की बाढ़ के कारण नष्ट हो गयी, और नये स्थान पर गुरुकुल को स्थानान्तरित करने के लिए धन की आवश्यकता हुई, तो आचार्य रामदेव के नेतृत्व में एक डेपुटेशन धन एकत्र के प्रयोजन से नैरोवी गया, जहाँ उसे यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई (सन् १९२५)। कुछ समय पश्चात् पण्डित मणिशंकर तथा पण्डित बालकृष्ण गुरुकुल अन्धेरी के लिए धन-संग्रह के प्रयोजन से नैरोबी आये, और वहाँ के आर्यों ने उनकी भी उदारतापूर्वक सहायता की। सन् १९२९ में आर्य कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की आचार्या श्रीमती शन्नोदेवी केनिया धन एकत्र करने के लिए आयीं। आर्य महिलाओं ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और उनके सहयोग से शन्नोदेवी जी केनिया से अच्छी धनराशि एकत्र कर स्वदेश ले-जाने में समर्थ हुईं। पाँच वर्ष बाद सन् १९३४ में कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, वड़ौदा का डेपुटेशन पण्डित आनन्दप्रिय की अध्यक्षता में नैरोवी आया, और वह पूर्वी अफ्रीका से कई लाख शिलिंग एकत्र करने में समर्थ हुआ। बाद में भी अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं के डेपुटेशन नैरोबी जाते रहे, और वहाँ के आर्य-समाज ने उनकी यथाशक्ति सहायता की। भारत में आर्यसमाज के जो भी आन्दोलन चले, पूर्वी अफ्रीका के आर्यसमाजों—विशेषतया नैरोवी आर्यसमाज का साहाय्य उन्हें सदा

प्राप्त होता रहा। सन् १९३८ में हैदराबाद-सत्याग्रह के लिए नैरोबी आर्यसमाज द्वारा भरपूर आर्थिक सहायता की गयी। सन् १९४३ में जब बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा, तो दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए 'बंगाल दुर्भिक्ष निधि' की स्थापना वहाँ की गयी, और सन् १९४६ में बंगाल के हिन्दू-मुसलिम दंगों से हिन्दुओं की सहायतार्थ 'बंगाल हिन्दू सहायता निधि' की। सन् १९४७ में भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप जो भीषण उपद्रव हुए, और उनमें पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा सिन्ध में हिन्दुओं और सिक्खों को जो अपार क्षति उठानी पड़ी, उसके लिए नैरोबी आर्यसमाज ने 'पंजाब हिन्दू-सिक्ख सहायता निधि' स्थापित की। इसी प्रचार सन् १९४९ में जब असम राज्य में भूकम्प के कारण धन-जन का भीषण विनाश हुआ, तो उससे क्षतिग्रस्त लोगों की सहायता के लिए भी केनिया के आर्यसमाजियों ने 'असम भूकम्प सहायता निधि' की स्थापना कर धन एकत्र किया। इन विविध निधियों के लिए जो धनराशियाँ नैरोबी आर्यसमाज द्वारा एकत्र की गयीं, वे वहाँ के आर्य नर-नारियों के धर्म तथा स्वदेश-प्रेम की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

सन् १९२५ के फरवरी मास में दयानन्द-जन्म-शताब्दी मथुरा में मनायी गयी थी। नैरोबी आर्यसमाज द्वारा भी अपने छह प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित होने के लिए भेजे गये थे। यही नहीं, नैरोबी में भी यह उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। पूर्वी अफ्रीका के सभी आर्यसमाजों के प्रतिनिधि इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। अफ्रीका महाद्वीप के इस भाग में आर्यसमाज द्वारा वैदिक धर्म के लिए जनता में जो उत्साह उत्पन्न किया जा रहा था, और उसके प्रयत्न से आर्य (हिन्दू) जाति में जो जागृति प्रादुर्भूत हो रही थी, उसी के परिणामस्वरूप सन् १९२८ में नैरोबी में एक आर्य सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें सम्पूर्ण पूर्वी अफ्रीका के आर्य नर-नारी भारी संख्या में एकत्र हुए थे। डॉक्टर भगतराम सहगल ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की थी।

सन् १९२७ में भारत की सनातन धर्म महासभा के प्रचारक पण्डित माधवाचार्य नैरोबी आये। पूर्वी अफ्रीका में जिस ढंग से आर्यसमाज का प्रचार हो रहा था और वहाँ के निवासी जिस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होते जा रहे थे, उससे अनेक सनातनी पौराणिक लोग बहुत उद्वेग अनुभव करने लगे थे। उन्हीं के निमन्त्रण पर पण्डित माधवाचार्य नैरोबी आये थे। आर्य विद्वान् पण्डित बालकृष्ण और पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी से उनके अनेक शास्त्रार्थ हुए, जिनका परिणाम आर्यसमाज के बहुत अनुकूल हुआ। उनसे महर्षि के मन्तव्यों की सचाई का सही-सही परिचय प्राप्त करने का लोगों को अवसर मिला, और आर्यसमाज के प्रति उनकी आस्था में और भी अधिक वृद्धि हो गयी। सन् १९२८ में पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार धर्म-प्रचार के लिए पूर्वी अफ्रीका आये। सन् १९३१ तक केनिया आदि के विविध नगरों व बस्तियों में घूम-घूमकर उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार किया। सत्यपाल जी केवल व्याख्यान ही नहीं देते थे, अपितु जनता की सेवा में भी सदा तत्पर रहते थे। अफ्रीकन लोगों के घरों में भी वह जाया करते थे, और अनेक प्रकार से उनकी सेवा कर तथा उनकी समस्याओं का समाधान कर उनमें आर्य धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न किया करते थे। उनका सेवा का ढंग बड़ा अद्भुत था। वह किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे। वह सच्चे अर्थों में परिव्राजक थे। जनता की सेवा का उन्होंने व्रत लिया हुआ था। घरों और हॉस्पिटलों में जाकर वह रोगियों की परिचर्या किया करते थे, और

नैरोबी की सेण्ट्रल जेल में कैदियों को धर्म का उपदेश दिया करते थे। बहुधा वह अफ्रीकन बस्तियों में जाकर रहने लगते थे, और केवल उबली हुई सब्जियों का भोजन कर वहाँ के नीग्रो निवासियों को हिन्दी-भाषा की शिक्षा देते तथा वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों का उपदेश देने में समय व्यतीत किया करते थे। अफ्रीकन लोगों में अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए जो आन्दोलन चल रहे थे, उनके भी वह पक्षपोषक थे, और केनिया के स्वाधीनता-संग्राम के अनेक नेताओं ने उनसे प्रेरणा प्राप्त की थी। सन् १९३०-३१ में भारत में जो सत्याग्रह चला, उसमें भाग लेने के लिए सत्यपाल जी स्वदेश वापस आ गये और उन्हें पंजाब के सत्याग्रह-आन्दोलन का डिक्टेटर नियत कर दिया गया। सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया, और पाँच वर्ष के सश्रम कारावास का दण्ड दिया। जेल से छूटने पर सन् १९३६ में वह पुनः केनिया आ गये, और नैरोबी आर्यसमाज के तत्त्वावधान में धर्म-प्रचार का कार्य करने लगे। पूर्वी अफ्रीका में हिन्दी भाषा तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो कार्य पण्डित सत्यपाल सिद्धान्तालंकार ने किया, उसे केवल आर्यसमाजी ही नहीं अपितु अन्य लोग भी बड़े सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। केनिया में वह 'आर्यसमाज के पण्डित जी' के नाम से प्रसिद्ध थे, पर क्या सनातनी पौराणिक और क्या ईसाई व मुसलमान सब उनका आदर करते थे। अफ्रीकन लोगों के हृदय में भी उन्होंने अपने लिये स्थान बना लिया था।

नैरोबी आर्यसमाज के कार्यकलाप में आर्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा संचालन और हिन्दी-प्रचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्र में वहाँ के आर्यसमाज ने जो कार्य किया, उसका विवरण इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में दिया गया है। यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है, कि सन् १९१० में नैरोबी आर्यसमाज द्वारा आर्य-कन्या पाठशाला की स्थापना की गयी थी, और १९१७ में उसकी ओर से एक गुरुकुल खोलने के प्रश्न पर विचार प्रारम्भ किया गया था, जो बाद में 'श्रद्धानन्द ब्रह्मचर्य-आश्रम' के रूप में क्रियान्वित हुआ। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज ने जो प्रयास प्रारम्भ किया था, वह निरन्तर उन्नति करता गया और केनिया के शिक्षा जगत् में आर्य शिक्षण-संस्थाओं ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

नैरोबी आर्यसमाज के कार्यकलाप के सम्बन्ध में कतिपय अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। विधर्मियों की शुद्धि के लिए भी यह समाज सदा प्रयत्नशील रहा। अनेक गौरांग महिलाओं की शुद्धि कर उन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित किया गया और वैदिक विधि से उनके विवाह भी कराये गये। आर्यों (हिन्दुओं) के संस्कार वैदिक पद्धति से हों, इसपर भी नैरोबी आर्यसमाज ने ध्यान दिया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि नैरोबी में आर्य-पद्धति से किये जानेवाले नामकरण, विवाह आदि संस्कारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, और ऐसे संस्कारों की संख्या प्रतिवर्ष सौ से भी अधिक हो गयी। वैदिक संस्कारों के प्रति गौरांग लोग भी आकृष्ट हुए, और कितने ही यूरोपियनों ने अपनी वसीयतों में यह इच्छा प्रकट की, कि उनकी अन्त्येष्टि वैदिक विधि से की जाय।

सन् १९२८ में नैरोबी में 'आर्य वीर दल' का भी संगठन किया गया। आर्यसमाज के सम्पूर्ण कार्यकलाप में 'आर्य वीर दल' के सदस्य उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नैरोबी से प्रेरणा प्राप्त कर पूर्वी अफ्रीका के अन्य स्थानों पर भी आर्य वीर दल की शाखाएँ स्थापित हुईं। आर्य वीरों को शारीरिक और बौद्धिक प्रशिक्षण देने के लिए 'दल' की ओर से अनेक

प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन किया गया। सन् १९४२ में नैरोबी आर्यसमाज की ओर से 'आर्य क्रीड़ा समिति' गठित की गयी। इस समिति द्वारा पूर्वी अफ्रीका में अनेक क्रीड़ा-संघों का निर्माण किया गया, जिनसे युवकों में शारीरिक व्यायाम तथा विभिन्न खेल-कूदों के लिए रुचि उत्पन्न होने में बहुत सहायता मिली। इन क्रीड़ा-संघों द्वारा न केवल विविध क्रीड़ाओं की व्यवस्था ही की जाती है, अपितु उनमें साम्मुख्यों एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन भी किया जाता है। विजेताओं को विजयोपहार तथा पुरस्कार देने की भी आर्य-क्रीड़ा समिति ने व्यवस्था की हुई है, जिनके कारण आर्य युवकों में व्यायाम आदि के लिए अपूर्व उत्साह उत्पन्न होता है। सन् १९७० में आर्यसमाज द्वारा एक धर्मार्थ चिकित्सालय स्थापित किया गया, जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, जाति, रंग आदि का कोई भी भेदभाव न कर सबकी चिकित्सा की निःशुल्क व्यवस्था है। इस चिकित्सालय पर जो खर्च आर्यसमाज कर रहा है, उसकी मात्रा साठ हजार रुपये वार्षिक के लगभग है। डॉक्टर सुखदेव भारद्वाज का इस चिकित्सालय के संचालन में मुख्य कर्तृत्त्व है, और उन्होंने विना कोई पारिश्रमिक लिये अपनी सेवा इसके लिए समर्पित की हुई है। नैरोबी आर्यसमाज ने जो असाधारण उन्नति की है, उसमें स्थानीय आर्य नर-नारियों के अतिरिक्त उन संन्यासियों, विद्वानों तथा प्रचारकों के कर्तृत्त्व का भी बहुत योगदान है, जो समय-समय पर वहाँ आकर वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे, और जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्थानीय आर्यों में समाज के लिए उत्साह का संचार हुआ। वस्तुतः, नैरोबी आर्यसमाज सच्चे अर्थों में सार्वभौम संस्था कहाने के योग्य है।

नैरोबी आर्यसमाज के साथ-साथ वहाँ के आर्य स्त्री-समाज का उल्लेख करना भी आवश्यक है। नैरोबी के आर्य संसार में इस स्त्री-समाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, और कार्यकलाप, उत्साह एवं लगन की दृष्टि से यह किसी भी संस्था की तुलना में कम नहीं है। इसकी स्थापना सन् १९१९ में श्रीमती चमनदेवी, श्रीमती मथुरादेवी, श्रीमती ईश्वरकौर, श्रीमती दुर्गादेवी और श्रीमती परमेश्वरीदेवी आदि के प्रयास से हुई थी। प्रारम्भ में इसकी सदस्य-संख्या अधिक नहीं थी, पर आर्य महिलाओं के प्रयत्न से प्रति-वर्ष सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी, और कुछ ही वर्षों में वह सुदृढ़ नींव पर स्थापित संस्था बन गयी। साप्ताहिक सत्संग के अतिरिक्त अन्य कार्यकलाप पर भी स्त्री-समाज ने ध्यान दिया, और उसकी ओर से आर्य शिक्षा-संस्थाओं का भी संचालन किया जाने लगा। छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए उस द्वारा नर्सरी स्कूल भी खोला गया, और हिन्दी-भाषा के प्रचार पर इस समाज ने विशेष जोर दिया। उसका सब कार्य हिन्दी में किया जाता है, और अन्य संस्थाओं से पत्र-व्यवहार आदि में भी हिन्दी भाषा ही प्रयुक्त की जाती है। आर्य स्त्री-समाज, नैरोबी के तत्त्वावधान में 'आर्य वीरांगना दल' और 'वाग्वर्धिनी सभा' नाम से दो अन्य संस्थाएँ भी विद्यमान हैं। (वाग्वर्धिनी सभा की स्थापना पण्डित सत्यदेव वेदालंकार और पण्डित आर्यमुनि द्वारा की गयी थी, और इसका यह नाम उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की वाग्वर्धिनी सभा को दृष्टि में रखकर निर्धारित किया था।) सन् १९४६ में स्त्री-समाज की ओर से स्त्रियों व बालिकाओं को जिमनास्टिक व अन्य व्यायाम की शिक्षा देने के लिए कक्षाएँ शुरू की गयी थीं, जो सप्ताह में दो बार लगा करती थीं। इनमें प्रशिक्षण प्राप्त कर किशोरवय की युवतियों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया, जिससे अगले साल सन् १९४७ में 'आर्य वीरांगना दल' की स्थापना की जा सकी। इस दल

द्वारा जहाँ बालिकाओं व युवतियों को शारीरिक व्यायाम की शिक्षा दी जाती है, वहाँ उनके मानसिक विकास के लिए व्याख्यानों तथा धर्मोपदेश का भी आयोजन किया जाता है। प्राथमिक चिकित्सा (फर्स्ट एड) के प्रशिक्षण की भी दल द्वारा व्यवस्था की गयी है। दल का प्रयत्न रहता है, कि बालिकाएँ व युवतियाँ इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त कर लें, जिससे कि वे समाज की सेवा के लिए कार्य कर सकें। वाग्वर्धिनी सभा की स्थापना भी सन् १९४६ में की गयी थी। इस सभा में आर्य महिलाएँ विविध विषयों पर वाद-विवाद करने तथा भाषण देने का अभ्यास करती थीं, जिससे कि वे आर्यसमाज के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलाप में पुरुषों के साथ सक्षम रूप से सहयोग कर सकें। बाद में इस सभा ने 'आर्यन यंग वीमेन्स एसोसियेशन' का रूप प्राप्त कर लिया और इसी नाम से उसका कार्य सम्पादित किया जाने लगा। सिलाई, कसीदाकारी, पाक-कला, शिशुओं की सँभाल, स्वास्थ्य-रक्षा और पुष्प-सज्जा आदि अन्य अनेक विषयों पर भी इस संस्था में चर्चा व विचार-विमर्श किया गया, जिससे सर्वसाधारण स्त्रियाँ भी अनेक उपयोगी बातों को सीखने का अवसर प्राप्त कर लेती थीं। इसकी ओर से प्रतिवर्ष खेलों का भी आयोजन किया जाता है, जिनमें छह वर्ष से साठ वर्ष की आयु तक की बालिकाएँ व स्त्रियाँ भाग लेती हैं। सन् १९६२ में आर्य स्त्री-समाज द्वारा संगीत की कक्षाएँ भी प्रारम्भ की गयीं, और दो वर्ष बाद जब नैरोबी में अनाथों व असहायों के लिए 'दयानन्द होम' की स्थापना हुई, तो उसके संचालन में आर्य स्त्री-समाज ने भी विशेष दिलचस्पी लेनी शुरू की। अनाथ बच्चों की पढ़ाई का काम तो पूर्णतया स्त्री-समाज द्वारा ही सँभाल लिया गया। स्त्री-समाज का एक पुस्तकालय भी है, जिसमें संस्कृत और हिन्दी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। इस पुस्तकालय की स्थापना सन् १९४७ में की गयी थी। दीपावली, विजयदशमी आदि त्यौहार भी स्त्री-समाज द्वारा उत्साहपूर्वक मनाये जाते हैं, और प्रतिवर्ष उसका वार्षिकोत्सव भी होता है। इसमें सन्देह नहीं, कि नैरोबी का स्त्री-आर्यसमाज एक जीवित, जागृत और कर्मठ संस्था है, और उस द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार तथा समाज-सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।

नैरोबी के आर्य नर-नारियों ने आर्यसमाज के लिए जो कार्य किया है, उसका विवरण तबतक पूर्ण नहीं होगा, जबतक कि उसके विशाल व भव्य भवनों का उल्लेख न कर दिया जाये। आर्यसमाज की भू-भवन-सम्पत्ति में सबसे प्रधान 'वैदिक हाउस' है, जो नैरोबी के शानदार क्षेत्र में स्थित है। इसमें कितनी ही दुकानें व बड़ी-बड़ी कम्पनियों के कार्यालय हैं, जिनसे समाज को किराये के रूप में अच्छी आमदनी प्राप्त होती है। आर्यसमाज तथा आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय इसी 'हाउस' में विद्यमान हैं, और पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के कार्यकलाप का संचालन इसी स्थान से होता है। सस्ते जमाने में इस 'हाउस' के निर्माण पर १७ लाख के लगभग रुपये खर्च हुए थे, जिन्हें एकत्र करने के लिए नैरोबी के आर्य नर-नारियों ने बहुत पुरुषार्थ किया था। इस स्थान पर जो पुराना आर्यसमाज-मन्दिर था, उसे तथा उसके साथ बनी हुई यज्ञशाला तथा अतिथि-शाला को गिराकर वहाँ जो विशाल 'वैदिक हाउस' बनाया गया, वह एक धर्मस्थान या धर्म-मन्दिर न होकर एक विशाल व्यापार-केन्द्र के रूप में है, जिससे आर्यसमाज को प्रचुर आमदनी किराये के रूप में प्राप्त होती है। इसीलिये आर्यसमाज के सत्संग आदि के लिए पृथक् मन्दिर का निर्माण किया गया, जो 'वैदिक हाउस' से पृथक् है, और वह

'साउथ-सी' में स्थित है। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग तथा अन्य आयोजन इसी मन्दिर में सम्पन्न होते हैं। विशाल भवन के अतिरिक्त यहाँ अच्छा बड़ा खुला मैदान भी है, और पुरोहित के निवास के लिए पृथक् फ्लैट की भी सत्ता है। जिस स्थान पर पहले 'श्रद्धानन्द ब्रह्मचर्य आश्रम' था, उसके परिसर में अब 'महेन्द्रपाल हॉल' नाम से एक सुविशाल हाल विद्यमान है, जिसमें बड़े-बड़े उत्सवों व समारोहों का आयोजन किया जाता है। उसके समीप अब अत्यन्त विशाल 'महर्षि दयानन्द भवन' का निर्माण किया गया है, जो नैरोबी के आर्यसमाज-विषयक कार्यकलाप, समाज-सेवा व सार्वजनिक जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जायेगा, और आर्यसमाज-विषयक जो गतिविधियाँ व प्रवृत्तियाँ वैदिक हाउस में केन्द्रित हैं, उन सबको भी इसी भवन में स्थानान्तरित कर दिया जायेगा। इसमें लाखों रुपये लग चुके हैं। अब यह भवन बनकर तैयार हो गया है और इसका उद्घाटन भी हो चुका है। इसमें इतना स्थान है कि उसे न केवल नैरोबी या पूर्वी अफ्रीका का ही, अपितु आर्यसमाज के सार्वभौम संगठन का भी केन्द्र बनाया जा सकता है। इन भवनों के अतिरिक्त नैरोबी में आर्यसमाज की जो अनेक शिक्षण-संस्थाएँ हैं, उनकी भी अपनी इमारतें हैं। आर्य स्त्री-समाज के परिसर में सत्संग भवन, यज्ञशाला, पुस्तकालय, संगीत कक्ष, आर्य शिशुशाला और अतिथि-भवन सब विद्यमान हैं, जिनके निर्माण में आर्य महिलाओं ने लाखों रुपये खर्च किये हैं।

नैरोबी आर्यसमाज का विवरण समाप्त करने से पूर्व एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख कर देना उपयोगी है। सन् १९३४-३५ में वहाँ आर्यसमाज ने एक नियम बनाया हुआ था, जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक सहायक व सभासद् को यज्ञ के पश्चात् अग्नि को साक्षी बनाकर निम्नलिखित प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने होते थे—"मैं, जोकि आर्यसमाज नैरोबी का सभासद् हूँ, सर्वव्यापक परमात्मा को साक्षी रखकर इस यज्ञ की अग्नि के सम्मुख आप सब सज्जनों की उपस्थिति में आर्यसमाज की उपनियमावली में लिखित सदाचार-सम्बन्धी उपनियम संख्या ४ को ध्यान में रखते हुए प्रतिज्ञा करता हूँ, कि (क) व्यभिचार, मांस-मदिरा का सेवन, जुआ, चोरी, छल-कपट और रिश्वत आदि से धन पैदा करना जो असत्याचरण है उसका सदैव परित्याग करूँगा। (ख) यदि किसी कारणवश मैं असत्याचरण करूँगा, तो मैं आर्यसमाज नैरोबी को इससे सूचित कर दूँगा, और इस अवस्था में सभासद् से सहायक बनना मेरा कर्तव्य होगा।" नैरोबी आर्यसमाज जो इतनी प्रगति कर सका, उसका एक कारण यह भी था, कि केवल सदाचारी व्यक्ति ही उसके सभासद् हो सकते थे। अन्य लोग सहायक के रूप में तो समाज से सम्बद्ध रह सकते थे, पर उन्हें सभासद् की स्थिति प्राप्त नहीं होती थी।

सन् १९७८ में नैरोबी आर्यसमाज को स्थापित हुए ७५ वर्ष हो गये थे। अतः २१ से २४ सितम्बर (१९७८) में उसकी हीरक-जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। इसी अवसर पर सार्वभौम आर्य महासम्मेलन के बारहवें अधिवेशन का भी नैरोबी में आयोजन किया गया, जिसमें विश्वभर के आर्यसमाजियों ने भाग लिया।

(७) मोजाम्बीक में वैदिक धर्म का प्रचार

अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग में एक अन्य राज्य मोजाम्बीक है, जिसे पहले पोर्तुगीज ईस्ट अफ्रीका कहा जाता था। इसका क्षेत्रफल ३,०२,२४० वर्गमील है, और

यह दक्षिणी अफ्रीका के उत्तर में स्थित है। इसकी उत्तरी सीमा तंजानिया के साथ लगती है। अफ्रीका के इस भाग का यूरोपियन लोगों को परिज्ञान वास्को डी गामा द्वारा हुआ था (१४९८), और पोर्तुगीज लोगों ने पहले-पहल वहाँ अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये थे। वहाँ की गौरांग आबादी में अब भी पोर्तुगीज लोग बहुत बड़ी संख्या में हैं। मोजाम्बीक की राजधानी लॉरेन्सो मार्क्विस है, जो समुद्रतट पर स्थित है। बीसवीं सदी के मध्य भाग में हिन्दुओं ने भी इस देश में जाकर बसना प्रारम्भ कर दिया था। वे वहाँ प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन नहीं गये थे। उनका वहाँ जाने का उद्देश्य व्यापार द्वारा धन कमाना था। वे उस देश में स्थायी रूप से नहीं बसना चाहते थे, इसीलिए अपने परिवारों को साथ नहीं ले जाते थे। पर चिरकाल तक वहाँ रहते हुए उन्होंने अफ्रीकन स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने शुरू कर दिये, और उनसे सन्तान भी उत्पन्न होने लगी। अफ्रीकन माताओं से उत्पन्न हुए बच्चों को हिन्दू समाज अपने में आत्मसात् करने के लिए तैयार नहीं था। उन्हें मुसलमानों के सुपुर्द कर दिया जाता था, और वे उन्हें मुसलमान बना लेते थे। उनके मुसलिम नाम रख दिये जाते थे, पर वहाँ की प्रथा के अनुसार पिता का नाम भी साथ लगा दिया जाता था, यथा इस्माईल पन्नाचन्द, हुसैन दुर्लभ भाई, गफ्फार रणछोड़दास आदि। इस प्रकार के वर्णसंकर मुसलमानों की संख्या मोजाम्बीक में निरन्तर बढ़ती गयी, और बीसवीं सदी के चतुर्थ दशक में दस हजार तक पहुँच गयी। हिन्दू पिताओं की ये मुसलमान सन्तानें हिन्दू-जाति और धर्म के प्रति उत्कट घृणा का भाव रखती थीं। इनके अतिरिक्त जो भारतीय इस देश में व्यापार व अन्य काम-धन्धों के लिए रह रहे थे, उनकी संख्या भी हजारों में थी। लॉरेन्सो मार्क्विस में ही ये लोग एक हजार से कम न थे। ये प्रधानतया गुजरात और काठियावाड़ के हिन्दू थे। इस समय (सन् १९३१) तक भारत के हिन्दू-समाज में नवचेतना उत्पन्न होनी शुरू हो चुकी थी, और आर्यसमाज के प्रचार ने उसमें अनुपम जागृति प्रादुर्भूत कर दी थी। मोजाम्बीक के हिन्दुओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा, और लोरेन्सो मार्क्विस में 'भारत समाज' नाम से एक संस्था की स्थापना हुई। आर्यसमाज के मन्तव्यों को मानना और उसके नियमों पर चलना ही इस समाज का लक्ष्य था। प्रारम्भ में ही इसके दो सौ सदस्य बन गये, और इसने मोजाम्बीक के हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न करने तथा उन्हें संगठित करने का कार्य शुरू कर दिया। समाज को स्थापित हुए एक वर्ष हो जाने पर उसका प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया, और उसमें सम्मिलित होने के लिए स्वामी भवानीदयाल संन्यासी को विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया। उन्होंने वैदिक धर्म के सत्यस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए मोजाम्बीक के हिन्दुओं को अपनी वर्णसंकर सन्तान को अपनाने तथा हिन्दू-समाज में सम्मिलित करने के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा से मुसलमानों की शुद्धि का सिलसिला प्रारम्भ हो गया, और कुछ समय बाद वहाँ शुद्धि की आवश्यकता ही नहीं रह गयी, क्योंकि हिन्दुओं ने अफ्रीकन स्त्रियों से उत्पन्न बच्चों को अपने परिवार का अंग मानना और हिन्दू के रूप में ही उनका पालन करना शुरू कर दिया। लॉरेन्सो मार्क्विस में भारत-समाज के लिए भूमि खरीदकर वेद-मन्दिर का निर्माण शुरू कर दिया गया, और सन् १९३७ में दीपावली के शुभ पर्व पर उसकी आधारशिला भी रख दी गयी। १९३८ में यह मन्दिर बनकर तैयार हो गया, और उसमें नियमित रूप से साप्ताहिक सत्संग भी होने लग गये। वहाँ एक पुस्तकालय भी खोल दिया गया, और एक पाठशाला भी शुरू

कर दी गयी। धर्म, जाति, रंग आदि का कोई भी भेदभाव किये बिना बच्चे पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने लगे। वहाँ सबके साथ एक-समान व्यवहार किया जाता था। एक व्यायामशाला भी वहाँ स्थापित कर दी गयी, और वेद-मन्दिर लॉरेन्सो मार्क्विस नगर में हिन्दुओं के सार्वजनिक जीवन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। भारतीयों के हितकल्याण के लिए भारत-समाज द्वारा अन्य भी अनेक कार्य किये गये। अबतक लॉरेन्सो मार्क्विस में कोई भी ऐसा हॉस्पिटल नहीं था, जिसमें भारतीयों की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था हो। समाज के प्रयत्न से वहाँ के स्विस मिशन हॉस्पिटल में एक पृथक् भारतीय विभाग का निर्माण हुआ, जिसका सब खर्च समाज के सदस्यों द्वारा ही प्रदान किया गया।

मोजाम्बीक में भारत-समाज नाम से जिस संस्था की स्थापना हुई थी, वह नाम के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से आर्यसमाज ही थी। उसका कार्यकलाप वही था, जो आर्यसमाज का होता है। इस देश में वही एक ऐसी संस्था थी, जो वहाँ निवास करनेवाले हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना और धार्मिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रही थी। भारत समाज द्वारा मोजाम्बीक में धर्म तथा शिक्षा के प्रचार के लिए भारत के अनेक आर्य विद्वानों की सेवाएँ भी प्राप्त की गयीं। इनमें पण्डित रविशंकर विद्यालंकार, पण्डित सुमन्तराय विद्यालंकार और पण्डित मतिमान् वेदालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक थे।

सन् १९६२ में गोआ के प्रश्न पर भारत और पुर्तगाल के राजनयिक सम्बन्धों में कटुता आ गयी थी। इस दशा में मोजाम्बीक में निवास करनेवाले भारतीयों के प्रति वहाँ की पुर्तगीज सरकार दुर्व्यवहार करने लगी, और उनके लिए वहाँ रह सकना सम्भव नहीं रह गया। हजारों भारतीय इस समय मोजाम्बीक को छोड़कर अन्यत्र चले गये, और भारत-समाज का कार्य प्रायः ठप हो गया। पर यह स्वीकार करना होगा, कि हिन्दुओं की वर्णसंकर सन्तान को हिन्दू-समाज में सम्मिलित करने का कार्य आर्यसमाज ही कर सकता था, और मोजाम्बीक में एक आर्य संन्यासी द्वारा ही इसे सम्पन्न किया गया।

अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग में जाम्बिया और र्‌होडेशिया दो अन्य राज्य हैं जो पहले ग्रेट ब्रिटेन के प्रभुत्व में थे। इनमें भी भारतीयों का निवास है। इनमें बसे हुए भारतीय भी वहाँ व्यापार के लिए ही गये थे। वैदिक धर्म के जो बहुत-से प्रचारक समय-समय पर ब्रिटिश अफ्रीका में प्रचार के लिए आते रहे, उनमें से कुछ इन राज्यों में भी गये और वहाँ के भारतीयों तक आर्यसमाज का सन्देश पहुँचाया। र्‌होडेशिया के अन्यतम नगर बुलावादो में भारतीयों द्वारा अपनी शिक्षण-संस्था भी स्थापित की गयी थी, जिसमें गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक पण्डित हरिदेव वेदालंकार अध्यापन के लिए नियुक्त किये गये। इसमें हिन्दी के साथ-साथ वैदिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

अमेरिका महाद्वीप में आर्यसमाज

(१) सुरीनाम

दक्षिणी अमेरिका में दो ऐसे देश हैं, जिनमें आर्यसमाज का अच्छा प्रचार है—सुरीनाम और गुयाना। ये दोनों देश दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी क्षेत्र में समुद्र के तट पर स्थित हैं। सुरीनाम का क्षेत्रफल १,४२,८२२ वर्ग किलोमीटर है, और उसकी जन-संख्या ४ लाख के लगभग है। इनमें से १,४२,००० के लगभग भारतीय मूल के हैं, जो प्रधानतया बिहार तथा उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों से वहाँ जाकर बसे थे। सुरीनाम में डच लोगों ने बहुत बड़े परिमाण में ईख, कॉफी और कोको की खेती प्रारम्भ की थी, और उसके लिए उन्हें जिन श्रमिकों की आवश्यकता होती थी, उन्हें नीग्रो गुलामों द्वारा प्राप्त किया जाता था। सुरीनाम के बाजारों में गुलामों का क्रय-विक्रय उसी प्रकार होता था, जैसे कि पशुओं का। दासप्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ होने पर वहाँ भी नीग्रो गुलामों को स्वतन्त्र करना शुरू कर दिया गया, और सन् १८६२ तक वहाँ से इस प्रथा का पूर्णरूप से अन्त हो गया। डच जमींदारों को खेती के लिए जिस मानव श्रम की आवश्यकता थी, उसे प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन एशिया के निर्धन देशों से प्राप्त करना प्रारम्भ किया गया। सबसे पहले सन् १८५३ में चीन से कुछ मजदूर सुरीनाम लाये गये। पर उस देश से अधिक संख्या में मजदूरों का ला सकना सम्भव नहीं हुआ। अफ्रीका और अमेरिका के जिन यूरोपियन उपनिवेशों में दास-प्रथा का अन्त हो जाने के कारण श्रमिकों की समस्या उत्पन्न हो गयी थी, उनमें बहुसंख्यक अंग्रेजों के अधीन थे, और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत पर भी अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। भारत से प्रतिज्ञावद्ध कुली-प्रथा के अधीन मजदूर प्राप्त कर सकना कठिन नहीं था, अतः बहुत वड़ी संख्या में भारतीय मजदूर ब्रिटिश उपनिवेशों में ले-जाये जाने लगे। डच और फ्रेंच उपनिवेशों ने भी इस स्थिति से लाभ उठाया, और उन्होंने भी भारत से मजदूरों को भरती करके अपने खेतों में कार्य करने के लिए ले-जाना प्रारम्भ कर दिया। सबसे पहले जून, सन् १८७३ में 'लालारुख' नामक जहाज से ४१० भारतीय सुरीनाम ले-जाये गये, और उसके बाद उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। मई, १९१६ तक प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन भारतीयों को सुरीनाम ले-जाने का सिलसिला जारी रहा। सन् १८७३ से सन् १९१६ तक ४३ वर्षों में जिन भारतीय मजदूरों को सुरीनाम ले-जाया गया, उनकी कुल संख्या ४४,३०४ थी। इन मजदूरों को ५ साल की नौकरी की शर्त पर ले-जाया जाता था, और उन्हें यह अनुमति थी कि ५ साल पूरे हो जाने पर वे भारत वापस जा सकेंगे। पर साथ ही उन्हें यह भी अनुमति थी, कि यदि वे भारत

वापस न जाकर सुरीनाम में ही बस जाना चाहें, तो वहाँ स्थायी रूप से बस सकेंगे। इस दशा में उन्हें १०० रुपये नकद और ५ एकड़ भूमि बिना मूल्य प्रदान कर दी जाती थी। ५ साल की अवधि के पूरा हो जाने पर जो भारतीय स्वदेश लौट गये, उनकी संख्या ११,५१२ थी। शेष २२,७९२ भारतीय स्थायी रूप से सुरीनाम में बस गये, और उन्हें वहीं का नागरिक माना जाने लगा। सुरीनाम में भारतीय मूल के लोगों की जो आबादी है, वह प्रधानतया इन्हीं २२,७९२ व्यक्तियों की सन्तान हैं। यहाँ यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो भारतीय मजदूरी के लिए विदेशों में भेजे जाते थे, उनमें स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही होते थे। यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि मजदूरी के लिए विदेश जानेवाले भारतीय स्त्री-पुरुषों में पढ़े-लिखे लोग बहुत कम होते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय सदृश उच्च जातियों के व्यक्तियों को मजदूरी के लिए विदेश ले-जाना पसन्द नहीं किया जाता था, क्योंकि वे खान-पान आदि की जातीय मर्यादाओं को बहुत महत्त्व देते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि सुरीनाम में जाकर स्थायी रूप से बस जानेवाले व्यक्ति न केवल अशिक्षित ही थे, अपितु अपने धर्म व संस्कृति का भी उन्हें समुचित ज्ञान नहीं था। उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वे ईसाइयों के प्रभाव में आकर क्रिश्चिएनिटी को अपनाने लगें। एक रिपोर्ट से ज्ञात होता है, कि सन् १९३० में सुरीनाम में बसे हुए ३६,००० के लगभग भारतीयों में से १४,००० ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके थे। सम्भव है, कि वहाँ के सभी भारतीय ईसाई हो जाते, यदि आर्यसमाज अपने धर्म के उदात्त मन्तव्यों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न करता। आर्यसमाज के प्रचार के कारण सुरीनाम के उन बहुत-से भारतीयों ने भी क्रिश्चिएनिटी का परित्याग कर पुनः आर्य (वैदिक) धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली, जो पहले ईसाई हो गये थे। इसीका यह परिणाम है, कि इस देश के १,४०,००० के लगभग भारतीयों में ईसाइयों की संख्या अब केवल दो हजार के लगभग रह गयी है। सुरीनाम में बसे भारतीय मूल के लोगों में जो आज वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति सुरक्षित है, उसका प्रधान श्रेय आर्यसमाज को ही प्राप्त है।

सुरीनाम की पश्चिमी सीमा के साथ लगा हुआ देश गुयाना है, जो पहले ग्रेट-ब्रिटेन का उपनिवेश था। उसे ब्रिटिश गुयाना कहा जाता था। वस्तुतः, दक्षिणी अमेरिका का गुयाना प्रदेश तीन यूरोपियन साम्राज्यवादी देशों (ब्रिटेन, हालैण्ड और फ्रांस) में बँटा हुआ था, और सुरीनाम को भी पहले डच गुयाना कहा जाता था। वेस्ट इण्डीज के विविध द्वीप भी उस समय अंग्रेजों की अधीनता में थे, और उनमें भी भारतीय लोग मजदूरी आदि के लिए अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए थे। ब्रिटिश उपनिवेशों के साथ भारत के पर्याप्त सम्बन्ध थे, और वहाँ से अनेक व्यक्ति व्यापार आदि के लिए इन उपनिवेशों में जाते-आते रहते थे। कतिपय प्रचारकों ने भी धर्म-प्रचार के लिए वहाँ जाना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९११ में डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर के भाई परमानन्द ने वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए वेस्ट इण्डीज और ब्रिटिश गुयाना की यात्रा की। यही समय था, जबकि सुरीनाम के भारतीयों को भी वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के साथ सम्पर्क का अवसर प्राप्त हुआ। सुरीनाम का एक पश्चिमी प्रदेश निकेरी है, जो ब्रिटिश गुयाना की सीमा पर स्थित है। स्वाभाविक रूप से वहाँ के निवासियों का ब्रिटिश गुयाना के साथ सम्बन्ध रहा

करता था। निकेरी के पण्डित कुंजविहारी त्रिपाठी का गुयाना में भाई परमानन्द के साथ सम्पर्क हुआ, और उनके प्रवचनों को सुनकर वह वैदिक धर्म के अनुयायी बन गये। इन्होंने ही सन् १९१२ में सुरीनाम में सबसे पहले वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का सूत्रपात किया। सन् १९१८ तक निकेरी में आर्यसमाज का प्रचार भली-भाँति प्रारम्भ हो गया, यद्यपि वहाँ अभी विधिवत् समाज की स्थापना नहीं हुई थी। सुरीनाम के एक अन्य प्रदेश सरमक्का के निवासी श्री दार्लसिगार और श्री कालिका प्रसाद भी ब्रिटिश गुयाना में भाई परमानन्द के सम्पर्क में आये थे। वे भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से बहुत प्रभावित हुए थे, और उन्होंने भी सरमक्का आकर वहाँ आर्यसमाज का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे वैदिक साहित्य वहाँ मँगाया जाने लगा और सन् १९२० में सत्यार्थप्रकाश का भी सुरीनाम में प्रवेश हुआ। आर्यसमाज की पुस्तकों, ट्रैक्टों तथा पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर सुरीनाम के भारत-मूल के लोग बहुत प्रभावित हुए और वे वैदिक धर्म की ओर झुकने लगे। इसी बीच पारामारिवो और उसके सीमावर्ती प्रदेश में श्री जगमोहनसिंह और श्री बहावलसिंह ने आर्यसमाज के कार्य का सूत्रपात कर दिया, और सुरीनाम में सर्वत्र महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार प्रारम्भ हो गया।

८ नवम्बर, सन् १९२२ को श्री जगमोहनसिंह ने अपने निवास-स्थान पर वैदिक विधि से एक यज्ञ का आयोजन किया, जिसका जनता पर उत्तम प्रभाव पड़ा। फिर १८ मार्च, १९२३ को पण्डित मथुराप्रसाद ने अपने घर पर यज्ञ किया, जिसमें एक ईसाई को शुद्ध कर वैदिक धर्म की दीक्षा दी गयी थी। सुरीनाम में यह पहला शुद्धि-संस्कार था, जिससे वहाँ के निवासियों को यह स्पष्ट हो गया, कि आर्यसमाज के कारण हिन्दू-धर्म के द्वार अब सबके लिए खुल गये हैं। इससे भारतीय मूल के अन्य भी बहुत-से ईसाइयों को अपने पुरखाओं के धर्म में लौट आने की प्रेरणा प्राप्त हुई। ये दोनों यज्ञ सुरीनाम के मुख्य नगर पारामोरिवो में हुए थे, और इनके कारण वहाँ ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि होने लग गयी थी, जो आर्यसमाज के नियमों और मन्तव्यों में विश्वास रखते थे। सन् १९२४ में शिवरात्रि (ऋषिबोधोत्सव) का पर्व पारामोरिवो में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। इस अवसर पर वैदिक धर्म की शिक्षाओं तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के महान् कार्य पर अनेक विद्वानों के व्याख्यान हुए, जिनसे लोग बहुत प्रभावित हुए। इस समारोह का आयोजन भी श्री जगमोहनसिंह द्वारा किया गया था। इस समारोह का एक बड़ा आकर्षण वह यज्ञ था, जिसके अनुष्ठान में पूर्ण वैदिक विधि प्रयुक्त की गयी थी। इसी प्रकार का एक समारोह दिसम्बर, सन् १९२५ के अन्तिम सप्ताह में श्री शिवराजसिंह द्वारा अपने निवास-स्थान पर आयोजित किया गया, जिसमें भाग लेने के लिए कतिपय विद्वान् ब्रिटिश गुयाना से भी आये थे। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित चन्द्रशेखर शर्मा तथा पण्डित गणेशदत्त शर्मा ने इस समारोह में अनेक व्याख्यान व उप-देश दिये थे, और विधिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान कराया था। इस प्रकार सुरीनाम में आर्यसमाज के प्रचार में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी, और सन् १९२७ तक यह स्थिति आ गयी थी, कि आर्यसमाजियों के एक सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जाने लगी थी। इसीका यह परिणाम हुआ, कि ४ अगस्त, सन् १९२७ को सुरीनाम के विविध स्थानों के आर्यसमाजियों को एकत्र कर उनकी एक सम्मिलित बैठक

की गयी, जिसमें आर्यसमाज के एक स्थायी संगठन के निर्माण का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर जिस संगठन का निर्माण हुआ, उसके प्रधान पण्डित मथुराप्रसाद दुबे तथा मन्त्री श्री जगमोहनसिंह थे। कोषाध्यक्ष का पद श्री शिवराजसिंह को दिया गया था, और पण्डित रामप्रसाद शुक्ल प्रचार-मन्त्री नियुक्त किये गये थे। इस समय तक सुरीनाम के पारामोरिवो, निकेरी, सरमक्का, लैंदीन, पानफान वानिका, फ्रेडलान्न, मेरसोर्ख, मरियम वर्ग, अलखमार और कर्मभोग नामक नगरों व प्रदेशों में आर्यसमाज का भली-भाँति बीजारोपण हो चुका था, और वहाँ सक्रिय आर्यों की संख्या ६०० से भी ऊपर पहुँच चुकी थी। सन् १९२७ का अन्त होने से पूर्व ही पारामोरिवो के कोनेंग स्त्रात (मार्ग) पर एक भवन का निर्माण कर लिया गया, जिसमें रविवार को सन्ध्या, हवन, प्रार्थना और उपदेश नियमपूर्वक होने लगे। अगस्त, १९२७ में आर्यसमाज के जिस स्थायी संगठन का निर्माण किया गया था, उस द्वारा सम्पूर्ण सुरीनाम में वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया गया। इस प्रयोजन से एक भजन-मण्डली का गठन किया गया, जिसका कार्य पण्डित सूर्यप्रसाद कौलेशर और श्री काशीप्रसाद प्यारेलाल के हाथों में था। जनता इस मण्डली के भजनों तथा उनके साथ के व्याख्यानों को अत्यन्त रुचिपूर्वक सुनती थी, और लोगों पर उनके प्रचार का बहुत उत्तम प्रभाव पड़ता था।

सन् १९२९ में अमेरिका में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए श्री मेहता जैमिनी ब्रिटिश गुयाना भी गये थे। जून मास में वहाँ से वह सुरीनाम भी गये, और उनके प्रचार के कारण इस देश में आर्यसमाज की जड़ें और भी अधिक सुदृढ़ हो गयीं। स्थान-स्थान पर आर्यसमाज स्थापित होने लगे, और लोग बड़ी संख्या में उनके सदस्य बनने लगे। इस दशा में यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, कि एक ऐसी केन्द्रीय सभा की स्थापना की जाय, जो सम्पूर्ण सुरीनाम में आर्यसमाज के कार्यकलाप का संचालन करे और जो सब समाजों पर अपना नियन्त्रण भी रख सके। इसी प्रयोजन से २९ सितम्बर, १९२९ को 'आर्य दिवाकर महासभा' नाम से एक सभा का गठन किया गया, और फरवरी, १९३० में उसकी औपचारिक रूप से रजिस्ट्री करा दी गयी। बाबू हीरासिंह इस सभा के प्रधान निर्वाचित हुए और श्री जगमोहनसिंह मन्त्री। कोषाध्यक्ष के पद पर पण्डित मथुराप्रसाद दुबे नियुक्त किये गये। इसी वर्ष पारामोरिवो के वानिका स्त्रात पर ४५,००० वर्गगज का एक भूमिखण्ड महासभा के प्रधान कार्यालय तथा समाज-मन्दिर आदि के लिए क्रय कर लिया गया। इसके लिए धन जुटाने में बाबू बलराजसिंह, पण्डित मथुराप्रसाद और श्री शिवराजसिंह का प्रमुख कर्तृत्व था। इन्होंने स्वयं भी उदारतापूर्वक धन प्रदान किया था, और जनता से धन एकत्र करने में भी उत्साह प्रदर्शित किया था।

(२) आर्य दिवाकर महासभा और आर्य प्रतिनिधि सभा, सुरीनाम

पारामोरिवो में 'आर्य दिवाकर महासभा' नाम से आर्यों के जिस केन्द्रीय संगठन का निर्माण हुआ था, वह केवल धर्म-प्रचार के लिए ही प्रयत्नशील नहीं था, अपितु उस के सम्मुख भारतीय मूल के उन व्यक्तियों को पुनः हिन्दू-समाज में सम्मिलित करने की समस्या भी विद्यमान थी, जिन्होंने कि गत वर्षों में ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया था। इस समय तक ऐसे ईसाइयों की संख्या १४,००० के लगभग हो चुकी थी। सुरीनाम के

भारतीयों में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार के दो मुख्य कारण थे—(१) देश में सर्वत्र क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा स्थापित स्कूलों की सत्ता, और (२) ईसाई अनाथालय, जो भारतीय बच्चे मिशनरी स्कूलों में पढ़ते थे, और जिन अनाथ बच्चों का पालन-पोषण ईसाई अनाथालयों में होता था, वे स्वाभाविक रूप से क्रिश्चिएनिटी के प्रभाव में आते जाते थे। इस दशा में पण्डित रामप्रसाद शुक्ल आदि आर्य कार्यकर्ताओं ने यह आन्दोलन चलाया, कि सरकार द्वारा भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल स्थापित किये जाएँ, जिससे कि उन्हें क्रिश्चियन स्कूलों में पढ़ाने की आवश्यकता न रहे। यह आन्दोलन सफल हुआ, और भारतीय बच्चे ऐसे सरकारी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने लगे, जिनका वातावरण क्रिश्चियन नहीं था। दूसरी समस्या अनाथों की थी। उसके समाधान का भी निश्चय किया गया। इसके लिए उपयुक्त भवन का निर्माण कर लिया गया, और १८ अक्टूबर, १९३३ को दयानन्द निर्वाण अर्ध-शताब्दी के अवसर पर अनाथालय का औपचारिक रूप से उद्घाटन भी कर दिया गया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम पर इसका नाम 'स्वामी दयानन्द अनाथालय' रखा गया। शुरू में इसमें १४ बच्चे दाखिल हुए, पर बाद में उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी और शीघ्र ही वह ४४ तक पहुँच गयी।

मार्च, १९३४ में सुरीनाम में एक ऐसी घटना हुई, जिससे कि वहाँ आर्यसमाज को बहुत बल मिला। ८ मार्च के दिन बकरा-ईद के त्यौहार पर मुसलमानों ने कुर्बानी के लिए एक गाय का जुलूस निकाला, और यह नारा लगाया, कि 'यह हिन्दुओं की माता है।' इससे हिन्दू लोग भड़क गये, और सर्वत्र विक्षोभ उत्पन्न हो गया। अबतक पौराणिक हिन्दू आर्यसमाजियों का प्रायः विरोध करते रहते थे, पर इस घटना के कारण वे भी आर्यों के साथ हो गये और सबने मिलकर मुसलमानों के बहिष्कार का निश्चय किया। १३ मार्च, १९३४ को आर्य दिवाकर महासभा के मैदान में एक विशाल सभा की गयी, जिसमें १४,००० के लगभग हिन्दू उपस्थित थे। कुर्बानी की गाय का जुलूस निकालकर और उसमें अपमानजनक नारे लगाकर मुसलमानों ने जो अत्यन्त अनुचित व घृणास्पद कार्य किया था, सभा में उसका तीव्र रूप से विरोध किया गया। इस आन्दोलन का नेतृत्व आर्य दिवाकर द्वारा किया जा रहा था। अतः स्वाभाविक रूप से सुरीनाम के हिन्दुओं में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया, और उसे न केवल आर्यसमाजियों का ही, अपितु समस्त हिन्दुओं का सशक्त संगठन माना जाने लगा। इसी समय (१ मई, सन् १९३४) अमेरिका महाद्वीप में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए पण्डित अयोध्याप्रसाद सुरीनाम गये, और छह मास के लगभग वहाँ उन्होंने प्रचार-कार्य किया। उनके प्रचार की व्यवस्था आर्य दिवाकर महासभा द्वारा ही की गयी थी। पण्डित जी महासभा के कार्य-कलाप से बहुत प्रभावित हुए। उसकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने यह सुझाव दिया, कि आर्य दिवाकर महासभा को सुरीनाम की आर्य प्रतिनिधि सभा के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली से उसका सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय। पण्डित अयोध्याप्रसाद जी का यह सुझाव सर्वथा उचित था, और इसे स्वीकार कर लेने में आर्य दिवाकर महासभा को क्या विप्रतिपत्ति हो सकती थी। पर सार्वजनिक जीवन में जो मतभेद व विरोध उत्पन्न होते रहते हैं, सुरीनाम भी उनसे मुक्त नहीं था। पण्डित रामप्रसाद शुक्ल सुरीनाम के एक प्रतिष्ठित व सुयोग्य आर्य नेता थे। सन् १९२७ में आर्य दिवाकर का निर्माण होने पर वह उसके प्रचार-व्यवस्थापक भी

नियुक्त हुए थे। उन्होंने यह संकल्प किया था, कि पारामोरिबो में आर्य दिवाकर की भूमि पर अपने खर्च से समाज-मन्दिर का निर्माण करायेंगे। उनका देहावसान हो जाने पर उनकी पत्नी श्रीमती महादेवी द्वारा यह कार्य किया जाना था। पर उनके सम्मुख कठिनाई यह उपस्थित हुई, कि आर्य दिवाकर महासभा उस समय ऋणग्रस्त थी। उसकी भूमि पर जो मन्दिर बनवाया जाता, वह भी ऋण के बोझ से ग्रस्त हो सकता था। अतः महादेवी जी की ओर से यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि आर्य दिवाकर की भूमि के जितने खण्ड पर मन्दिर बने, उसे उन्हीं (श्रीमती महादेवी) के नाम पर लिख दिया जाय, ताकि आर्य दिवाकर सभा की ऋणग्रस्तता का समाज-मन्दिर पर कोई प्रभाव न पड़े। पर यह प्रस्ताव आर्य दिवाकर को स्वीकार्य नहीं हुआ। इसपर श्रीमती महादेवी ने अन्यत्र भूमि प्राप्त कर वहाँ मन्दिर बनवाने का निश्चय किया, और इसके लिए कार्य भी प्रारम्भ कर दिया।

सुरीनाम के आर्यसमाजियों में जिस मतभेद व विरोध का इस बात से सूत्रपात हुआ, उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी। आर्य दिवाकर महासभा के संचालन व व्यवस्था के सम्बन्ध में भी आर्य नेताओं व कार्यकर्ताओं में मतभेद विकसित होने लगे। १९३५ में प्रोफेसर सत्यचरण शास्त्री वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए त्रिनिदाद आये थे, और जुलाई मास के मध्य में सुरीनाम में भी उनका आगमन हुआ था। उन्होंने श्रीमती महादेवी के घर पर निवास किया था, और अपने आगमन की सूचना तक भी आर्य दिवाकर सभा को नहीं दी थी। कारण यह था, कि सुरीनाम के आर्यों के पारस्परिक विरोध की जानकारी उन्हें त्रिनिदाद में ही प्राप्त हो गयी थी, और पण्डित अयोध्याप्रसाद का झुकाव भी उन लोगों के प्रति होने लग गया था जो आर्य दिवाकर के विरोधी थे। सन् १९३५ के उत्तरार्ध में यह दशा हो गयी थी, कि सुरीनाम के सब आर्यसमाजियों के लिए एक-साथ कार्य कर सकना सम्भव ही नहीं रह गया था। आर्य दिवाकर सभा के विरोधियों ने अपने आर्यसमाजों का पृथक् रूप से निर्माण प्रारम्भ कर दिया था, और इन समाजों ने अपने को 'आर्य प्रतिनिधि सभा' के रूप में गठित भी कर लिया था। जिन आर्यसमाजों ने इस प्रतिनिधि सभा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया, उनकी संख्या बारह थी, और ये पारामोरिबो, मरवेन्ना, वकारखन सापे, फौरदन वैरख, लाना सुलेस, झोलवे-राखसेई, क्वाटा वख, वकौसा, कर्मभोग मरापम वख, अलखभार और लीफोर्मो में विद्यमान थीं। पारामोरिबो में समाज-मन्दिर के लिए भूमि प्राप्त कर ली गयी थी, और श्रीमती महादेवी ने अपने स्वर्गीय पतिदेव के संकल्प को पूरा करने के लिए अठारह हजार रुपये से उस पर मन्दिर का निर्माण भी प्रारम्भ करा दिया था। सार्वदेशिक सभा ने पण्डित अयोध्याप्रसाद की संस्तुति को स्वीकार कर आर्य प्रतिनिधि सभा को सुरीनाम के आर्यसमाजों का केन्द्रीय संगठन स्वीकृत कर लिया था, और उसका विश्व की सार्व-भौम सभा के साथ औपचारिक रूप से सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इस प्रकार सुरीनाम में आर्यसमाज के दो केन्द्रीय संगठन हो गये—आर्य दिवाकर महासभा और आर्य-प्रतिनिधि सभा। विरोधी केन्द्रीय संगठन के स्थापित हो जाने के कारण आर्य दिवाकर को बहुत धक्का लगा, और उसके कार्यकलाप में शिथिलता आने लग गयी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि सन् १९३९ में स्वामी दयानन्द अनाथालय को अनिश्चित काल के लिए बन्द कर देना पड़ा। सन् १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो

गया था। हालैण्ड और उसके साम्राज्य के विविध देश व उपनिवेश इस महायुद्ध के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके थे। युद्ध के कारण सुरीनाम में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसका प्रभाव आर्यसमाज की गतिविधि पर भी पड़ा और आर्य दिवाकर में शिथिलता आने लग गयी। पर यह दशा देर तक कायम नहीं रही। सन् १९४४ में महायुद्ध में जर्मन-पक्ष निर्बल होना शुरू हो चुका था, और अमेरिका महाद्वीप में युद्ध के प्रसार की कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी। इस दशा में ७ जनवरी, १९४५ को आर्य दिवाकर द्वारा एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें आर्यसमाज के आन्दोलन में नयी स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित निर्णय किये गये—(१) स्वामी दयानन्द अनाथालय को पुनः खोल दिया जाय, (२) वैदिक धर्म के प्रचार की समुचित व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् प्रचारक-मण्डल का निर्माण किया जाए, जिसके सदस्य केवल विद्वान् व्यक्ति ही हों, (३) जिन आर्यसमाजों का कार्य शिथिल हो गया है, उनमें नवजीवन का संचार किया जाय और नये समाजों की स्थापना की जाय, (४) जो हिन्दी-पाठशालाएँ पिछले दिनों बन्द हो गयी थीं, उन्हें अब खोल दिया जाय और हिन्दी की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय। (५) आर्य दिवाकर की भूमि पर एक नये समाज-मन्दिर का निर्माण किया जाय। इस सम्मेलन के पश्चात् आर्य दिवाकर महासभा ने पूर्ण उत्साह के साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया। पण्डित आर० शिवरत्न शास्त्री की अध्यक्षता में एक प्रचारक-मण्डल का गठन किया गया, जिसने नये प्रचारकों के प्रशिक्षण के लिए पाठ्यक्रम नियत कर उसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की। इस द्वारा एक वर्ष के स्वल्प काल में २२ नये प्रचारकों को प्रशिक्षण दिया गया, जिससे सुरीनाम के विविध नगरों व प्रदेशों में धर्म-प्रचार के कार्य में बहुत सहायता प्राप्त हुई। जिन आर्यसमाजों में शिथिलता आ गयी थी, नये प्रचारकों ने उनमें नवजीवन का संचार किया और कितने ही नये समाज स्थापित किये। सन् १९४६ में स्वामी दयानन्द अनाथालय को फिर से चालू कर दिया गया और आर्य दिवाकर पर जो कर्ज था उसे भी अदा कर दिया गया। साथ ही, नये समाज-मन्दिर के लिए धन एकत्र कर उसके निर्माण के कार्य को हाथ में ले लिया गया। सन् १९४८ में इस नये समाज-मन्दिर का विधिवत् उद्घाटन भी कर दिया गया था।

सन् १९४८ में सुरीनाम में 'आर्य महिला समाज' की भी स्थापना हुई। शुरू में इस समाज के सदस्यों की संख्या केवल बीस थी। पर इस समाज की महिलाओं में धर्म-प्रचार और समाज-सेवा के लिए अनुपम उत्साह विद्यमान था। इसीलिये दयानन्द अनाथालय का संचालन व प्रबन्ध आर्य दिवाकर द्वारा इसी समाज को दे दिया गया था। महिला-समाज की स्थापना तथा संचालन में श्रीमती देवराजी मंगल का कर्तृत्व सर्वाधिक था। वह एक विदुषी महिला थीं, आर्य सिद्धान्तों का उन्हें समुचित ज्ञान था और धर्मोपदेश तथा प्रवचन में भी वह अत्यन्त निपुण थीं। उनके अनथक परिश्रम से आर्य महिला-समाज की निरन्तर उन्नति होती गयी। सन् १९६० में श्रीमती मंगल सुरीनाम से हालैण्ड चली गयी थीं। उनके पश्चात् महिला-समाज का संचालन श्रीमती रुक्मिणी अभिलाख ने अपने हाथों में ले लिया, और उन्होंने उसके कार्य में शिथिलता नहीं आने दी।

इसमें सन्देह नहीं, कि महायुद्ध के पश्चात् सुरीनाम में आर्य दिवाकर का कार्य सुव्यवस्थित रूप से प्रारम्भ हो गया था, और उस द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार, हिन्दी

की शिक्षा और अनाथों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त रूप से प्रयत्न किया जा रहा था। बहुत-से आर्यसमाज भी उसके साथ सम्बद्ध थे। पर उसके समानान्तर रूप में आर्यसमाजों का एक अन्य संगठन भी सुरीनाम में विद्यमान था, जिसे 'आर्य प्रतिनिधि सभा' कहते थे, और जिसे सार्वदेशिक सभा से मान्यता प्राप्त थी। इन दो आर्य संगठनों में मौलिक भेद क्या था, इस प्रश्न पर सार्वदेशिक सभा के सत्ताईस-वर्षीय कार्य-विवरण के निम्नलिखित वाक्यों से कुछ प्रकाश पड़ता है—"आर्य प्रतिनिधि सभा सुरीनाम की स्थापना के पूर्व वहाँ आर्य दिवाकर नामक एक संस्था थी, जिसके द्वारा कभी-कभी यत्रतत्र आर्यसमाज के प्रचार का कार्य किया जाता था, परन्तु इस संस्था के अधिकारियों में अधिकांश ऐसे लोग थे, जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा उसके संगठन के पोषक नहीं थे, वल्कि उनका उद्देश्य एकमात्र यह था कि भोली-भाली जनता को धोखे में डालकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करें। इस प्रकार इस संस्था की गतिविधि के प्रति वहाँ की आर्य-जनता में अविश्वास उत्पन्न हो गया। तब श्री पण्डित अयोध्याप्रसाद जी ने उचित समझा कि यहाँ के आर्यसमाजों का संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमानुकूल किया जाय।" यह स्वीकार कर सकना तो सम्भव नहीं है, कि आर्य दिवाकर का एकमात्र उद्देश्य भोली-भाली जनता को धोखे में डालकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना था। उस द्वारा वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए जो कार्य किया जा रहा था, उसके महत्त्व को स्वीकार न करना उसके प्रति अन्याय करना है। पर इस संस्था के कार्य-कलाप में कुछ वातें ऐसी अवश्य थीं, जिन्हें अविकल रूप से आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुरूप नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए आर्य दिवाकर में पहले केवल वही पण्डित माने जाते थे और केवल उन्हीं को यज्ञ व संस्कार कराने का अधिकार था, जो जन्म से ब्राह्मण हों, यद्यपि धर्म-प्रचार सभी जातियों के विद्वान् कर सकते थे। सन् १९४५ के प्रारम्भ में आर्य दिवाकर ने इस व्यवस्था में सुधार किया, और आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुसार पौरोहित्य के कार्य को ब्राह्मणेतर विद्वानों द्वारा भी कराया जाने लगा। सन् १९३५ में 'आर्य प्रतिनिधि सभा' नाम से सुरीनाम में आर्यों का जो अन्य एक संगठन कायम हुआ, और ३१ जनवरी, १९३७ को जिसका सार्वदेशिक सभा के साथ विधिवत् सम्बन्ध स्थापित हो गया, उसके पृथक् रूप से निर्माण में जहाँ आर्य नेताओं के व्यक्तिगत विरोध कारण थे, वहाँ साथ ही कतिपय आर्य सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों के सम्बन्ध में उनमें मतभेदों की सत्ता का भी उसमें हाथ था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर यह भी सही है, कि आर्य दिवाकर द्वारा यह प्रयत्न किया जाता रहा, कि उसके कार्यकलाप महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुरूप हों और वह कोई ऐसा कार्य न करे, आर्यसमाज की दृष्टि से जिसपर विप्रतिपत्ति की जा सके। इसीलिये जनवरी, १९४५ में उस द्वारा यह निर्णय कर लिया गया था, कि यज्ञ-संस्कार आदि पौरोहित्य कार्य वे सब लोग करा सकें, जो वस्तुतः विद्वान् हों। दक्षिणी अमेरिका के विविध देशों में वैदिक संस्कारों के अनुष्ठान की पद्धति में जो कतिपय भिन्नताएँ विद्यमान थीं, उन्हें दूर करने के लिए अक्टूबर, १९४९ में आर्य दिवाकर ने एक सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसमें सुरीनाम, ब्रिटिश गुयाना तथा त्रिनिदाद के अनेक विद्वानों ने भाग लिया था। वैदिक संस्कारों और याज्ञिक अनुष्ठान की विधि के सम्बन्ध में गम्भीर विचार-विमर्श के अनन्तर सम्मेलन इस निश्चय पर पहुँचा था, कि संस्कारों और

याज्ञिक अनुष्ठान के लिए उसी पद्धति को प्रयुक्त करना चाहिए, जिसका विधान महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'संस्कारविधि' में किया है।

यद्यपि सुरीनाम में आर्य प्रतिनिधि सभा विद्यमान है, और अनेक आर्यसमाज उसके साथ सम्बद्ध हैं, पर इससे आर्य दिवाकर महासभा के कार्यकलाप व महत्त्व में कमी नहीं आयी है। वर्तमान समय में जो आर्यसमाज उसके साथ सम्बद्ध हैं, उनकी संख्या २४ है। इनमें से १० आर्यसमाजों के अपने मन्दिर भी हैं। आर्य दिवाकर के साथ सम्बद्ध आर्यसमाजों के १७,००० के लगभग सदस्य हैं। उस द्वारा स्थापित स्वामी दयानन्द अनाथालय का कार्य भली-भाँति चल रहा है। उसकी अब अपनी पृथक् विशाल इमारत है, जिसमें २०० अनाथ बच्चों के लिए उपयुक्त स्थान विद्यमान है। आर्य दिवाकर का वार्षिक बजट ९६,८७,२०० रुपये का है, जिससे उसके कार्यकलाप की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। उसकी अधीनता में ३२ विद्वान् प्रचार के कार्य में तत्पर हैं। इनमें २ महिला-प्रचारिकाएँ भी हैं। इस संस्था के लिए अब एक नये भवन का निर्माण भी प्रारम्भ कर दिया गया है, जिसपर चालीस लाख रुपये के लगभग खर्च होने का अनुमान है। हिन्दी भाषा की शिक्षा के लिए आर्य दिवाकर द्वारा सुरीनाम में विशेष रूप से प्रयत्न किया जा रहा है। वहाँ पण्डित शिवरत्न शास्त्री द्वारा एक ऐसा मुद्रणालय भी स्थापित है, जिसमें हिन्दी-भाषा में भी पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं का मुद्रण होता है।

सुरीनाम के निकेरी प्रान्त में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वहाँ समाज के प्रमुख उन्नायक श्री उदयराजसिंह वर्मा थे। वहाँ आर्यसमाज की जड़ इतनी सुदृढ़ थी, कि सन् १९३१ में वहाँ समाज-मन्दिर का भी निर्माण हो गया था, और उसके साथ एक पुस्तकालय का भी। निकेरी प्रान्त में पाँच आर्यसमाज थे—निवु निकेरी, फान ट्रेमलन पोल्डर, हास्टम कोर्ट पोल्डर, ख्रोत हैनार पोल्डर और सबमलक्रेइक पोल्डर। ये सब आर्य दिवाकर के साथ सम्बद्ध थे। पर सुरीनाम के आर्यसमाजों के इस केन्द्रीय संगठन के लिए निकेरी के समाजों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने में एक बाधा यह थी, कि वहाँ जाने के लिए समुद्र के लम्बे मार्ग को प्रयुक्त करना पड़ता था। पर श्री उदयराजसिंह वर्मा सदृश कर्मठ आर्य नेता के कारण निकेरी प्रान्त में समाज का कार्य भली-भाँति चलता रहा। परन्तु सन् १९४८ में जब वर्मा जी पारामारिवो चले आये, तो निकेरी में समाज के कार्य में शिथिलता आने लगी, और वहाँ के आर्य कार्यकर्ताओं में अनेकविध विरोध भी उत्पन्न हो गये। इस दशा में आर्य दिवाकर महासभा ने नवम्बर, १९५१ में पण्डित शिवरत्न शास्त्री को अपना प्रतिनिधि बनाकर निकेरी भेजा। वहाँ जाकर पण्डित जी ने आर्यसमाज में नवजीवन का संचार किया, और एक प्रचारक-मण्डल का गठन कर धर्म-प्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित किया। सन् १९५३ में आर्य दिवाकर द्वारा एक अन्य शिष्टमण्डल निकेरी भेजा गया, जिसे वहाँ हिन्दी-भाषा के प्रचार आदि की योजनाएँ बनाकर समाज के कार्य को आगे बढ़ाने में अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

आर्य दिवाकर महासभा के समानान्तर रूप से सुरीनाम के आर्यसमाजों का जो एक अन्य संगठन 'आर्य प्रतिनिधि सभा' नाम से सन् १९३५ में स्थापित हुआ था, वह भी सुरीनाम में सुचारु रूप से सक्रिय है। उसका प्रधान कार्यालय भी पारामोरिवो में है, और उसे केन्द्र बनाकर आर्य प्रतिनिधि सभा सुरीनाम द्वारा सारे देश में वैदिक धर्म के

प्रचार के लिए प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत के कितने ही विद्वान्, संन्यासी तथा प्रचारक समय-समय पर सुरीनाम में धर्म-प्रचार के लिए जाते रहे हैं, जिनमें पण्डित मेहता जैमिनी (सन् १९२९), पण्डित हरिप्रसाद (१९३२), पण्डित अयोध्याप्रसाद (१९३४), पण्डित सत्याचरण शास्त्री (१९३५), पण्डित भास्करानन्द (१९३६), पण्डित श्रुतिकान्त (१९३६), पण्डित नारायणदत्त (१९३८), प्रोफेसर रामसहाय (१९४४), पण्डित प्रेमानन्द (१९४८), पण्डित ऋषिराम (१९५४) पण्डिय उषर्बुध (१९५७) महात्मा आनन्द स्वामी (१९६९), पण्डित श्रुतिशील शर्मा (१९७२), स्वामी जगदीश्वरानन्द (१९७५), पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री (१९७६) और पण्डित श्यामसुन्दर स्नातक (१९७९) के नाम उल्लेखनीय हैं। इतने आर्य विद्वानों का इस सुदूर देश में धर्म-प्रचार के लिए जाना ही यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि वहाँ आर्यसमाज का कितना अधिक प्रचार है।

इस प्रसंग में यह लिख देना भी आवश्यक है, कि भारत से बाहर सुरीनाम ही एक ऐसा देश है, जहाँ कि सर्व-साधारण जनता की भाषा हिन्दी है, और जहाँ इस भाषा की पढ़ाई की पर्याप्त रूप से समुचित व्यवस्था है। वहाँ आर्यसमाज का एक प्रधान कार्य हिन्दी-भाषा का प्रचार भी रहा है।

(३) ब्रिटिश गुयाना

दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी क्षेत्र में ब्रिटिश गुयाना एक अन्य देश है, जहाँ भारतीय मूल के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। सन् १९७४ में इन लोगों की संख्या ३,९०,००० के लगभग थी। गुयाना के भारतीय मूल के निवासी कुल जन-संख्या के ५२ प्रतिशत हैं। क्योंकि यह देश पहले ब्रिटेन के अधीन था, अतः वहाँ की सरकारी भाषा अंग्रेजी थी, और भारत के साथ उसके सम्पर्क को कायम रखना अधिक सुगम था। वहाँ भारतीयों का प्रवेश प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन सन् १८४४ में शुरू हुआ था। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा हो जाने पर कुली या मजदूरों के रूप में गये हुए बहुत-से भारतीय वहाँ स्थायी रूप से बस जाते थे, और खेती, शिल्प आदि द्वारा अपना निर्वाह करने लगते थे। भारत से हजारों मील की दूरी पर विद्यमान इस देश में रहनेवाले भारतीयों के लिए अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा कर सकना सुगम नहीं था। वे गरीब और अशिक्षित थे। क्रिश्चियन मिशनरी उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करने लगे थे, और गुयाना के भारतीय बड़ी संख्या में ईसाई होते जा रहे थे। पर वहाँ के भारतीय निवासियों में भी कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो आर्य-समाज से परिचित थे और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं में जिनकी आस्था थी। इनमें पण्डित रामनारायण, श्री भजनदेवी, श्री लक्ष्मणप्रसाद, श्री घरबरण दुबे, श्री गणेश-प्रसाद और पण्डित चन्द्रशेखर शर्मा प्रमुख थे। ये महानुभाव न केवल स्वयं वैदिक धर्म की शिक्षाओं के अनुसार जीवन-यापन करने का प्रयत्न करते थे, अपितु अन्य लोगों में भी उनका प्रचार करते रहते थे। पर गुयाना में उनके विरोधियों की कमी नहीं थी। पुराने सनातनी लोग जहाँ उनके विरोध में तत्पर रहते थे, वहाँ क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार तथा अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित लोगों का भी उन्हें सामना करना पड़ता था। यह दशा थी, जब सन् १९१०-११ में भाई परमानन्द अमेरिका में धर्म-प्रचार करते हुए गुयाना

पहुँचे। वहाँ के विभिन्न नगरों में उनके अनेक व्याख्यान हुए, जिनका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। गुयाना में आर्यसमाज की जड़ जमाने में भाई परमानन्द के प्रचार-कार्य से बहुत सहायता मिली, और आर्य विचारों के गुयाना निवासियों के लिए कार्य कर सकना सुगम हो गया। परिणाम यह हुआ, कि गुयाना में आर्यसमाजों की स्थापना प्रारम्भ हो गयी। वहाँ पहला आर्यसमाज सन् १९२१ में 'ट्रायम्फ' नामक वस्ती में स्थापित हुआ, जिसके लिए पण्डित रामनाथ, श्री सत्यनारायण; श्री रामखेलावन और श्री वालगंगाधर ने विशेष प्रयत्न किया था। इसके वाद गुयाना के डेमेरारा और वरवीस प्रान्तों में अन्य भी अनेक समाज स्थापित हुए, और उस देश में आर्यसमाज का प्रसार-प्रचार भली-भाँति प्रारम्भ हो गया।

सन् १९२९ में पण्डित मेहता जैमिनी भारत से गुयाना गये। उनके व्याख्यानों से वहाँ आर्यसमाज को वहुत बल मिला, और अनेक नये समाजों की स्थापना हुई। अब गुयाना में आर्यसमाज के आन्दोलन ने इतना व्यापक रूप व बल प्राप्त कर लिया था, कि वहाँ के समाजों को एक केन्द्रीय संगठन में गठित करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसे क्रियान्वित रूप प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगा। पण्डित अयोध्याप्रसाद अमेरिका (शिकागो)के विश्व धर्म सम्मेलन में आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व करने के पश्चात् धर्मप्रचार करते हुए सन् १९३५ में जब गुयाना गये, तो उन्होंने वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के लिए मैदान तैयार कर दिया। पण्डित जी ने नौ मास के लगभग रहकर वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया; अनेक नये समाज स्थापित किये, संस्कृत और हिन्दी की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खोलने की योजना बनाई, और आर्यसमाजियों को प्रचार-कार्य के लिए स्थायी रूप से एक उपदेशक नियुक्त करने को प्रेरित किया। गुयाना में अयोध्याप्रसाद जी के प्रधान सहायक श्री मातावदल थे। उन्हें वैदिक धर्म में अगाध आस्था थी, और उन्होंने धन द्वारा पण्डित अयोध्याप्रसाद की उदारतापूर्वक सहायता की थी।

पर ब्रिटिश गुयाना में आर्यसमाज के प्रसार-प्रचार का मुख्य श्रेय पण्डित भास्करानन्द को प्राप्त है। वह सन् १९३६ में गुयाना गये थे, और नौ वर्ष तक वहाँ निवास कर वड़ी लगन व उत्साह से वैदिक धर्म का प्रचार किया था। उन्होंने अनेक नये समाज स्थापित किये और सन् १९३७ में 'अमेरिकन आर्यन लीग' नाम से आर्यसमाजों के एक केन्द्रीय संगठन का निर्माण किया। सन् १९३८ में इस लीग की सरकार द्वारा औपचारिक रूप से रजिस्ट्री भी करा ली गयी थी। इस लीग का केन्द्रीय कार्यालय गुयाना की राजधानी जार्जटाउन में स्थित है। पण्डित भास्करानन्द के प्रयत्न से एक समुचित स्थान पर आर्यसमाज के इस केन्द्रीय संगठन के भवन के लिए भूमि प्राप्त कर ली गयी, और उसपर एक विशाल व भव्य वैदिक मन्दिर का निर्माण भी कर लिया गया। नौ वर्ष तक गुयाना में आर्यसमाज का कार्य कर पण्डित भास्करानन्द सन् १९४५ में भारत लौट आये थे। उसके वाद भी वह दो बार (१९६१ और १९६६ में) गुयाना गये, पर अधिक समय वहाँ नहीं ठहरे। जो महान् कार्य उन्होंने सन् १९३६ से १९६५ तक गुयाना में किया था, उसके कारण आर्यसमाज के इतिहास में उन्हें सदा सम्मान के साथ स्मरण किया जायेगा।

सुरीनाम में भारत से गये जिन प्रचारकों व संन्यासियों का ऊपर उल्लेख किया

गया है, प्राय: वे सभी ब्रिटिश गुयाना में भी प्रचार के लिए गये थे, और उन द्वारा वहाँ भी समाज का कार्य किया गया था। पर गुयाना के इन प्रचारकों में पण्डित उषर्बुध का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैदिक धर्म पर जो विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान उन्होंने वहाँ दिये, उनसे केवल सर्वसाधारण लोग ही नहीं, अपितु सुशिक्षित व्यक्ति भी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने गुयाना में आर्यवीर दल का संगठन किया, जिसमें बहुत-से युवक समाज-सेवा तथा धर्म-प्रचार का व्रत लेकर सम्मिलित हुए। पण्डित उषर्बुध सन् १९५५ में गुयाना गये थे। सन् १९६२ तक वह प्रधानतया वहीं रहे, और उनके प्रयत्न से वहाँ आर्यसमाज के कार्य में संतोषजनक वृद्धि हुई।

गुयाना में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार है। सन् १९७३ में वहाँ के ३५ समाज अमेरिकन आर्यन लीग के साथ सम्बद्ध थे, और उनके सदस्यों व अनुयायियों की संख्या ४० हजार के लगभग थी। उस समय अमेरिकन आर्यन लीग के प्रधान श्री चुन्नीलाल और मन्त्री श्री प्रतापसिंह थे। इस लीग के अतिरिक्त गुयाना में एक 'आर्य प्रचारक-मण्डल' भी विद्यमान है। मण्डल का कार्य इस बात के लिए प्रयत्न करना है, कि विविध आर्यसमाजों में सब कार्य वेदशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित विधि से सम्पन्न किये जाया करें। विविध समाजों के पण्डित इस मण्डल के सदस्य होते हैं, और परस्पर सहयोग द्वारा समाजों में धार्मिक वातावरण कायम करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। गुयाना में 'आर्यन यूथ लीग' (आर्य युवक संघ) भी गठित है, जिसका कार्य आर्यसमाज की गति-विधि में युवकों को सम्मिलित करना है। गुयाना में आर्यसमाज द्वारा अनेक शिक्षण-संस्थाओं की भी स्थापना की गयी है, और संस्कृत, हिन्दी तथा वैदिक धर्म की परीक्षाएँ भी ली जाती हैं। आर्यसमाज के शिक्षा विषयक इस कार्यकलाप का विवरण इस 'इतिहास' के तीसरे भाग में दिया गया है।

(४) त्रिनिदाद

सुरीनाम और गुयाना के उत्तर-पूर्व में उन द्वीपों की स्थिति है, जिन्हें सामूहिक रूप से वेस्ट इण्डीज कहा जाता है। पहले ये द्वीप भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। जब अंग्रेजों का इनपर स्वामित्व स्थापित हुआ, तो उनके आर्थिक विकास के लिए उन्हें मानव-श्रम की आवश्यकता हुई। शुरू में यह श्रम हब्शी गुलामों द्वारा प्राप्त किया जाता था, पर दास-प्रथा का अन्त हो जाने पर भारत-सदृश देशों के गरीब लोगों को प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन बड़ी संख्या में वहाँ ले-जाया जाने लगा। यही कारण है, कि इन द्वीपों में भारतीय मूल के लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है। वेस्ट इण्डीज के इन द्वीपों में एक त्रिनिदाद है। सन् १८४५ से १९१७ तक जो भारतीय प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन इस द्वीप में मजदूरी के लिए गये, उनकी संख्या १,४३,००० से भी अधिक थी। ये लोग प्रधानतया उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार से गये थे। इनकी भाषा हिन्दी थी, और वे हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के समाप्त हो जाने पर इनमें से बहुत-से स्थायी रूप से त्रिनिदाद में बस गये, और खेती तथा व्यवसाय आदि द्वारा अपना निर्वाह करने लगे। सन् १८९१ की जनगणना की रिपोर्ट से ज्ञात होता है, कि त्रिनिदाद के भारतीय मूल के निवासियों में ८६ प्रतिशत के लगभग हिन्दू थे। क्योंकि ये भारत के हिन्दी क्षेत्र से त्रिनिदाद में आये थे, अत: इनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जो

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों तथा आर्यसमाज से परिचित थे। इसीलिये जब आर्य प्रचारकों ने त्रिनिदाद जाना प्रारम्भ किया, तो इन्होंने उनका स्वागत किया। प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो भारतीय त्रिनिदाद में आकर बस गये थे, उनमें पण्डित हरिप्रसाद भी एक थे। प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा हो जाने पर वह मरावीला में स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। उन्हें महर्षि के मन्तव्यों में आस्था थी, अतः अपने रोजगार के साथ-साथ वह आर्यसमाज का प्रचार भी करते रहते थे। ईसाइयों और पौराणिकों ने उनका विरोध किया, पर उन्होंने धर्म-प्रचार के कार्य को जारी रखा। अमेरिका महाद्वीप में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए सन् १९२९ में जब श्री मेहता जैमिनी त्रिनिदाद गये, तो पण्डित हरिप्रसाद ने उनका स्वागत किया। मेहताजी १७ दिसम्बर, १९२८ को पोर्ट ऑफ स्पेन (त्रिनिदाद की राजधानी) पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने अनेक व्याख्यान किये। त्रिनिदाद के लिए किसी हिन्दू-प्रचारक का आना एक नयी बात थी। वहाँ के भारतीय मूल के सभी लोगों ने उनके प्रचार-कार्य में रुचि ली, और ईसाई तथा मुसलमान भी उनके भाषणों को सुनने के लिए आते रहे। मेहता जैमिनी जी के प्रयत्न से त्रिनिदाद में तीन रात्रि-पाठशालाओं, एक स्कूल तथा दो आर्यसमाजों की स्थापना हुई। उन द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी-शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी। इस द्वीप के लंगवा नामक नगर में आर्यसमाज पहले से ही विद्यमान था। मेहताजी के प्रयत्न से अब वहाँ तीन समाज हो गये थे, और वैदिक धर्म का भली-भाँति प्रचार होने लग गया था।

सन् १९३३ में शिकागो (संयुक्त राज्य अमेरिका) में एक विश्वधर्म-महासम्मेलन का आयोजन हुआ था। वैदिक धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए इस सम्मेलन में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से पण्डित अयोध्याप्रसाद सम्मिलित हुए थे। वहाँ से भारत वापस आने से पूर्व वह सुरीनाम और गुयाना के समान त्रिनिदाद भी गये। आर्यसमाज से प्रभावित अनेक महानुभावों ने उनका हार्दिक स्वागत किया, और उनके प्रचार-कार्य की व्यवस्था की। इसमें श्री रामदास गोस्वामी, श्री बुधवीरसिंह, श्री पन्नालाल सेठ और श्री सीरीराम (श्रीराम) महाराज के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित अयोध्याप्रसाद ने भी त्रिनिदाद में बहुत-से व्याख्यान दिये, जिनसे प्रभावित होकर अनेक मुसलमानों ने भी वैदिक धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। शुरू-शुरू में जो मुसलमान शुद्ध होकर आर्य बने, वे श्री सोहराब खाँ और वाहिद अली थे। कम्बरबख्त नामक एक नीग्रो जाति के मुसलमान ने भी पण्डित जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया था। सन् १९३४ के दीपावली पर्व के शुभ दिन पण्डितजी ने चगुआनास में आर्यसमाज-मन्दिर की आधारशिला रखी, जिसका उद्घाटन मई, १९३५ में पण्डित सत्याचरण शास्त्री द्वारा किया गया। त्रिनिदाद का यह पहला आर्यसमाज-मन्दिर था, यद्यपि इससे पूर्व वहाँ अनेक समाज स्थापित हो चुके थे। बाद में इस समाज-मन्दिर में एक विद्यालय खोला गया, और जब त्रिनिदाद में आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन हो गया, तो उसका कार्यालय भी इसी में स्थापित किया गया। वर्तमान समय में यह 'श्रीराम-मैमोरियल मन्दिर' कहाता है, और त्रिनिदाद में आर्यसमाज की गतिविधि व कार्यकलाप का प्रधान केन्द्र है।

सन् १९३३ के बाद त्रिनिदाद में आर्यसमाज का बहुत प्रचार-प्रसार हुआ।

सान जुआन, तुनापुना, क्युरेप, वीशे, प्रिंसेस टाउन, बैरकपुर, पेनाल, अवोकाट और देवे के आर्यसमाजों ने अपने-अपने मन्दिरों का निर्माण किया। अब त्रिनिदाद में दस आर्यसमाज सुव्यवस्थित रूप से स्थापित हो चुके थे, और उनके मन्दिरों का भी निर्माण हो गया था। अतः वहाँ आर्यसमाजियों ने अपने देश की पृथक् आर्य प्रतिनिधि सभा बनाने का निश्चय किया। चगुआनास आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर प्रतिनिधि सभा का गठन कर लिया गया, और सन् १९४३ में उसकी रजिस्ट्री भी करा ली गयी। त्रिनिदाद में आर्यसमाज ने शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया, और हिन्दू संस्कृति के वातावरण में शिक्षा देने के प्रयोजन से अनेक स्कूलों की स्थापना की।

(५) संयुक्त राज्य अमेरिका

वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक नगरों में आर्यसमाज स्थापित हो चुके हैं, और न केवल भारतीय मूल के लोग ही, अपितु गौरांग अमेरिकन भी वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति की ओर आकृष्ट होने लग गये हैं। पर इस देश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का प्रारम्भ हुए अधिक समय नहीं हुआ।

सन् १८९३ में शिकागो में एक विश्वधर्म-महासम्मेलन हुआ था। उसमें सम्मिलित होने के लिए विश्व के सभी धर्मों के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया गया था। स्वामी विवेकानन्द ने इसमें हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व किया था, और उनके वेदान्तपरक भाषणों से लोग बहुत प्रभावित हुए थे। आर्यसमाज का कोई प्रतिनिधि इस अवसर पर शिकागो नहीं गया था, पर दो आर्य युवक निजी तौर पर इस समय अमेरिका पहुँच गये थे, और उन द्वारा वहाँ के लोगों को महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज का परिचय देना शुरू कर दिया गया था। ये युवक लाला जींदाराम और श्री सिद्धूराम थे। ये अपने साथ आर्यसमाज का कुछ साहित्य भी ले गये थे। उन्होंने पण्डित गुरुदत्त की पुस्तकों का अमेरिका में प्रचार किया, और उनके आधार पर वे व्याख्यान भी देने लगे। सन् १९०९ में अमेरिका में पुनः सर्वधर्म-महासम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से डॉक्टर केशवदेव शास्त्री सम्मिलित हुए थे। वेदविषयक उनके व्याख्यानों को श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया। अमेरिका में शास्त्री जी कई वर्षों तक रहे, और वहाँ रहकर उन्होंने चिकित्साशास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त की। पर पढ़ाई के साथ-साथ वह वैदिक धर्म का प्रचार भी करते रहे। सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद को गौरांग लोगों तक पहुँचाने के सम्बन्ध में उनका कार्य विशेष महत्त्व का था। शास्त्री जी के कर्तृत्व के परिणामस्वरूप अमेरिका में स्थान-स्थान पर वैदिक धर्म की चर्चा होने लगी।

सन् १९६० से पहले संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीय मूल के लोगों की संख्या बहुत कम थी। एशियन लोगों के वहाँ बस सकने में उस समय बहुत बाधाएँ थीं। बाद में इन बाधाओं में कुछ शिथिलता आ गयी, और भारतीय भी वहाँ बसने शुरू हुए। इन द्वारा उस देश में भी आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हुआ, और अब वहाँ न्यूयॉर्क, न्यू जर्सी, वेस्ट चेस्टर तथा लॉस एञ्जेल्स सदृश अनेक नगरों में आर्यसमाज स्थापित हो चुके हैं। त्रिनिदाद, गुयाना, सुरीनाम आदि में भारतीय मूल के जो बहुत-से लोग प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन बस गये थे, उनमें से भी कुछ अमेरिका चले गये थे। इनमें वैदिक धर्म का

अच्छा प्रचार था। अतः इनके कारण भी उस देश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सहायता मिली है। पर १९६० से पूर्व भी, जब भारतीयों के लिए अमेरिका में जाकर बस सकना अत्यन्त कठिन था, अनेक भारतीय विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए वहाँ जाया करते थे, और पढ़ाई के साथ-साथ धर्म-प्रचार पर भी ध्यान देते थे। डॉक्टर केशवदेव शास्त्री भी शिक्षा के लिए ही अमेरिका गये थे। इसी प्रकार शिक्षा के लिए अमेरिका गये एक युवक श्री सुखदयाल थे, जो बाद में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के नाम से प्रसिद्ध हुए। डॉक्टर खानचन्द देव ने भी अमेरिका में रहकर चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भारतीय व्यक्ति अमेरिका में जहाँ विद्यार्थी थे, वहाँ साथ ही धर्म-प्रचारक भी थे।

समय-समय पर अनेक आर्य विद्वान् व उपदेशक भी अमेरिका में प्रचार के लिए गये। सन् १९२९ में श्री मेहता जैमिनी वहाँ गये। न्यूयॉर्क में उनके अनेक व्याख्यान हुए, जिनसे वहाँ के निवासियों को आर्यसमाज से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९३५ में पण्डित अयोध्याप्रसाद शिकागो के 'विश्वधर्म-महासम्मेलन' में आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों ने अमेरिकन लोगों को बहुत प्रभावित किया था। कुछ समय पश्चात् पण्डित भास्करानन्द ने अमेरिका की यात्रा की। यद्यपि उनका कार्य प्रधान रूप से गुयाना में था, पर जो समय वह अमेरिका में लगा सके, उसका भी आर्यसमाज के लिए कम महत्त्व नहीं था।

यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि आर्यसमाज के इन विद्वानों से अमेरिका के गौरांग लोग भी प्रभावित हों। इसी के परिणामस्वरूप वहाँ 'वैदिक सोसायटी ऑफ अमेरिका' की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में डॉक्टर मार्क्स और डॉक्टर मेसी प्रधान थे। इस सोसायटी का कार्यालय तथा सत्संग का स्थान न्यूयॉर्क मैनहैटन की ईस्ट ६२वीं गली में था। वहाँ नियमित रूप से यज्ञ किया जाता था, और वैदिक धर्म के मन्तव्यों की चर्चा की जाया करती थी। डॉक्टर मार्क्स तथा डॉक्टर मेसी की आर्यसमाज के प्रति इतनी अधिक आस्था हो गयी थी कि वे भारत आये और विभिन्न आर्य-संस्थाओं के साथ उन्होंने सम्पर्क किया। डॉक्टर मेसी का पुत्र भी उनके साथ भारत आया था। उसे उन्होंने संस्कृत पढ़ने के लिए गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट करा दिया, जहाँ वह एक वर्ष के लगभग ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर विद्याध्ययन करता रहा। खेद है, कि यह अमेरिकन बालक देर तक गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका। भारत में आर्य-संस्थाओं के निकट सम्पर्क में रहते हुए डॉक्टर मार्क्स और डॉक्टर मेसी ने अनुभव किया कि यहाँ आर्यसमाजियों में अपने दैनिक धार्मिक कृत्यों के प्रति समुचित निष्ठा नहीं है। उन्हें यहाँ वैदिक धर्म के उच्च आदर्शों को क्रियान्वित होते हुए देखने की आशा थी, जो पूरी नहीं हो सकी। अमेरिकन लोगों में वैदिक धर्म के प्रचार को आगे बढ़ाने का जो स्वर्णिम अवसर वैदिक सोसायटी ऑफ अमेरिका की स्थापना से उपस्थित हुआ था, आर्यसमाज उसका उपयोग नहीं कर सका।

पण्डित अयोध्याप्रसाद के पश्चात् जो अनेक आर्य विद्वान् व प्रचारक संयुक्त-राज्य अमेरिका में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए गये, उनमें पण्डित ऋषिराम, पण्डित धर्मेन्द्र शील, पण्डित धर्मजित् जिज्ञासु और पण्डित उषर्बुध आर्य के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके प्रयत्न से इस देश में आर्यसमाज का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ, और वहाँ अनेक

आर्यसमाजों की स्थापना हुई। पर अमेरिका में आर्यसमाज के कार्य का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। भारत के उच्च नैतिक आदर्शों, अध्यात्मवाद और योग के प्रति अमेरिकन लोगों की जिस ढंग से रुचि बढ़ रही है, उससे यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में इस देश में भी आर्यसमाज का समुचित रूप से विस्तार हो सकेगा।

(६) कनाडा

संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तर में कनाडा की स्थिति है। यह पहले ग्रेट ब्रिटेन का उपनिवेश था, और अब ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य है। कनाडा के पश्चिमी भाग में ब्रिटिश कोलम्बिया में भारतीय मूल के लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है। बीसवीं सदी के शुरू में इन्होंने भारत से जाकर वहाँ रहना शुरू किया था। इनमें बहुसंख्या पंजाबी सिक्खों की है, जिन्होंने कृषि आदि के अध्यवसाय से बहुत धन उपार्जित कर लिया है और वहाँ अनेक गुरुद्वारों का निर्माण किया है। इस देश में सिक्ख बहुत समृद्ध एवं प्रभावशाली हैं, और वहाँ के हिन्दू भी उनसे प्रभावित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान कनाडा में आर्य विद्वानों ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष तत्परता प्रदर्शित नहीं की। इसी कारण वहाँ आर्यसमाज का समुचित प्रचार-प्रसार नहीं हुआ। पर अब इस स्थिति में परिवर्तन आ रहा है। कनाडा में गये हुए भारतीयों में ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं, जिन्हें वैदिक धर्म का अच्छा ज्ञान है और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के प्रति जिनकी अगाध आस्था है। इनमें पण्डित ज्ञानचन्द शास्त्री, डॉक्टर एस० सी० सूद, श्री बी० आर० सुन्दर और डॉक्टर गुरुदास भण्डारी के नाम उल्लेखनीय हैं। गत वर्षों में इन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए पर्याप्त कार्य किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ अनेक आर्यसमाजों की स्थापना भी हो गयी है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में क्योंकि आर्यसमाज का कार्य अभी प्रारम्भिक दशा में ही है, और वह प्रधानतया सन् १९४७ के बाद ही हुआ है, अतः उसपर इस 'इतिहास' के अन्य भाग में यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा।

उनतीसवाँ अध्याय

यूरोप में आर्यसमाज का सूत्रपात

(१) इंग्लैण्ड में आर्यसमाज की स्थापना के प्रारम्भिक प्रयास

महर्षि दयानन्द सरस्वती का अनेक विदेशी विद्वानों के साथ भी सम्पर्क था। वे पाश्चात्य जगत् में भी वेदों का सन्देश पहुँचाना चाहते थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में यूरोप के अनेक विद्वान् संस्कृत भाषा तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन व अनुशीलन में तत्पर थे। पर वेद-मन्त्रों के अर्थ के लिए वे प्रधानतया सायणाचार्य के वेदभाष्य पर ही निर्भर रहा करते थे। वैदिक शब्दों के अर्थ की प्राचीन नैरुक्त प्रणाली की उन्हें समुचित जानकारी नहीं थी। महर्षि के शिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा उन्हीं की प्रेरणा से इंग्लैण्ड गये थे, और वहाँ की ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में वह कुछ समय संस्कृत के अध्यापक भी रहे थे। महर्षि की इच्छा थी, कि श्यामजी कृष्ण वर्मा इंग्लैण्ड में निवास करते हुए वेद-मन्त्रों के वास्तविक अर्थों से पाश्चात्य वैदिक विद्वानों को अवगत करायें, और आर्य धर्म व संस्कृति के प्रचार पर भी ध्यान दें। महर्षि 'स्वराज्य' के भी प्रबल पक्षपाती थे, और भारत पर विदेशियों का शासन उन्हें सह्य नहीं था। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इंग्लैण्ड में रहते हुए राजनीति पर जो अधिक ध्यान दिया, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए जो अनेकविध कार्य किये, उनके लिए मूलतः उन्होंने महर्षि से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। श्री वर्मा ने राजनैतिक क्षेत्र में जो कार्य किया, उसका कुछ परिचय तो इस समय उपलब्ध है, पर वेदों तथा आर्य धर्म के सम्बन्ध में उन द्वारा किये गये कार्य का विवरण अभी ज्ञात नहीं हो सका है। पर यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि महर्षि के इस विश्वस्त शिष्य ने धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ-न-कुछ काम किया होगा।

महर्षि के देहावसान के समय (सन् १८८३) पंजाब में आर्यसमाज का कार्य भली-भाँति शुरू हो चुका था, और वहाँ अनेक समाज भी स्थापित हो गये थे। पंजाब के सुशिक्षित लोग निरन्तर वैदिक धर्म के प्रभाव में आते जा रहे थे। नवयुवकों में महर्षि दयानन्द के मिशन के लिए अपूर्व उत्साह था। वे जहाँ भी जाते, आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार पर भी ध्यान दिया करते। सन् १८८५ के लगभग पंजाब के लाला लक्ष्मीनारायण बैरिस्टरी पास करने के लिए लण्डन गये थे। उन्हें आर्यसमाज की धुन थी। उनके प्रयत्न से लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी, और १८ एप्रिल, १८८६ को लण्डन आर्य-समाज का पहला अधिवेशन हुआ। लाला लक्ष्मीनारायण के समान अन्य भी अनेक भारतीय युवक तब लण्डन में उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए रह रहे थे। लाला भगतराम उनमें एक थे। उन्हीं के निवास-स्थान पर आर्यसमाज का पहला अधिवेशन हुआ, जिसमें छह सज्जन उपस्थित थे। ये छह ही लण्डन-आर्यसमाज के प्रारम्भिक सभासद् बने। इनमें

लाला रोशनलाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह लाहौर के निवासी थे, और आर्यसमाज के साथ उनका सम्बन्ध अनेक वर्ष पुराना था। वह भी बैरिस्टरी के लिए लण्डन गये हुए थे, और बाद में पंजाब के आर्यसमाजियों में उन्होंने बहुत सम्मानित स्थान प्राप्त किया। लण्डन-आर्यसमाज के सभासदों में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। यही कारण है, कि उसके छठे अधिवेशन में (६ जून, १८८६) जो महानुभाव उपस्थित हुए थे, उनमें से ग्यारह के नाम देकर हाजरी के रजिस्टर में आगे इत्यादि-इत्यादि लिख दिया गया था। इस अधिवेशन की रिपोर्ट 'आर्य पत्रिका' के २५ जून, १८८६ के अंक में प्रकाशित हुई थी, जिससे लण्डन-आर्यसमाज के कार्यकलाप व गतिविधि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस रिपोर्ट के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर-प्रार्थना और भजन हुए, फिर आर्यसमाज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में लाला उमाशंकर द्वारा एक निबन्ध पढ़ा गया। उसके बाद वैंकटरमन नायडू ने एक अंग्रेजी कविता गाकर सुनायी। इसका शीर्षक 'ओड टु इण्डिया' था। इसके पश्चात् लाला रोशनलाल ने आर्यसमाज के तीसरे नियम पर व्याख्यान दिया, और फिर मिस्टर एफ० पिन्काट ने वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'—आर्यसमाज के इस तीसरे नियम के प्रतिपादन में लाला रोशनलाल ने जो व्याख्यान दिया था, मिस्टर पिन्काट ने उसका अविकल व निःसंकोच रूप से समर्थन किया, और यह स्वीकार किया कि वेदों में जो कुछ है सब सत्य है। अन्त में सरदार किशनसिंह का भाषण हुआ, और आर्यसमाज के नियमों की प्रतियाँ बाँटी गयीं। भजनों तथा शान्ति-पाठ के साथ समाज के साप्ताहिक अधिवेशन की समाप्ति हुई। इसी प्रकार बाद में भी लण्डन-आर्यसमाज के अधिवेशन प्रति सप्ताह नियमपूर्वक होते रहे, और उनकी उपस्थिति में भी निरन्तर वृद्धि होती गयी। उच्च-शिक्षा के प्रयोजन से अथवा अन्य कार्यवश जो भारतीय उस समय लण्डन में निवास कर रहे थे, आर्यसमाज में उनकी रुचि बढ़ती गयी। पण्डित विशननारायण दर और मिस्टर दादाभाई नौरोजी व अनेक सज्जन, जिन्होंने बाद में भारत के सार्वजनिक जीवन में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया, उस समय लण्डन-आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में उपस्थित हुआ करते थे, और कभी-कभी वहाँ भाषण भी दिया करते थे। कूच-विहार रियासत की महारानी भी लण्डन में आर्यसमाज के सम्पर्क में आयीं, और उन्होंने उसकी संरक्षिका होना स्वीकार किया। लण्डन-आर्यसमाज द्वारा प्रोफेसर मैक्समूलर को भी साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण दिया गया था। प्रोफेसर साहब संस्कृत के विद्वान् थे, और उन्होंने वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। आर्यसमाज के निमन्त्रण-पत्र के उत्तर में १४ मई, १८८७ को जो पत्र उन्होंने भेजा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धरण के योग्य हैं—"लण्डन आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होने से मुझे बहुत प्रसन्नता होती। मुझे ज्ञात है, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज के उद्देश्य बहुत श्रेष्ठ तथा उत्तम थे। उन्होंने अपने देशवासियों का बहुत हित किया है।...जो कुछ वह करना चाहते थे, उसे अब आर्यों को करना चाहिए।...मैं सब प्रकार से इस कार्य में आप लोगों से सहयोग करने के लिए सहमत हूँ।...परीक्षा-कार्य में लगे रहने के कारण मैं अभी समय नहीं दे सकता, पर किसी दूसरे समय में आर्यसमाज के सभासदों से परिचय का लाभ प्राप्त करूँगा।" इसमें सन्देह नहीं कि सन् १८८७ तक लण्डन-आर्यसमाज का कार्य

सुचारु रूप से होने लग गया था, और भारतीयों में उसने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उस समय लण्डन में वही एक ऐसी संस्था थी, जिसमें एकत्र होकर भारतीय लोग परस्पर परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ अपने धर्म तथा संस्कृति की जानकारी भी प्राप्त सकते थे।

लण्डन-आर्यसमाज का कार्य केवल साप्ताहिक अधिवेशन तक ही सीमित नहीं था। भारतीयों की अनेकविध आवश्यकताएँ भी उस द्वारा पूरी की जाया करती थीं। चन्दर्नसिंह नाम का एक निर्धन भारतीय लण्डन में रहता था। हॉस्पिटल में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका कोई पारिवारिक जन व सम्बन्धी वहाँ नहीं था। ऐसी दशा में हॉस्पिटल के अधिकारियों ने शव को लावारिस समझकर ईसाई ढंग से उसे दफ़ना देने का निश्चय किया। पर ज्योंही यह बात लाला लक्ष्मीनारायण को ज्ञात हुई, वह हॉस्पिटल गये, और वहाँ जाकर उन्होंने अधिकारियों से अनुरोध किया, कि श्री चन्दर्नसिंह का हिन्दू पद्धति से अन्त्येष्टि संस्कार करने के लिए उनके शव को आर्यसमाज के सुपुर्द कर दिया जाय। उनका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया गया और श्री चन्दर्नसिंह के शव की अर्थी हिन्दू ढंग से दाह के लिए जुलूस में ले-जायी गयी। बहुत-से भारतीय इस अर्थी के साथ गये, और कुछ अंग्रेज नर-नारियों ने भी अर्थी के साथ जाकर दिवंगत व्यक्ति तथा अन्त्येष्टि की हिन्दू पद्धति के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। यह पहला अवसर था, जबकि लण्डन में शव का दाह कर वैदिक रीति से अन्त्येष्टि संस्कार किया गया था। इसका सम्पूर्ण श्रेय वहाँ के आर्यसमाज को ही प्राप्त है।

सन् १८८७ में ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया के सिंहासनारूढ़ होने की जुबिली बड़े समारोह के साथ मनायी गयी थी। उस अवसर पर विविध देशों तथा संस्थाओं के प्रतिनिधियों द्वारा महारानी के प्रति सम्मान प्रकट किया गया था। इन संस्थाओं में लण्डन का आर्यसमाज भी था, और उसकी ओर से लाला लक्ष्मीनारायण आदि अनेक आर्य सज्जन जुबिली के उत्सव में सम्मिलित हुए थे। उस समय तक भारत में स्वाधीनता-संघर्ष प्रारम्भ नहीं हुआ था, और यहाँ के सभी संगठन, संस्थाएँ व समाज ब्रिटिश क्राउन के प्रति अपनी 'भक्ति' प्रकट किया करते थे। भारत में भी जुबिली के उपलक्ष्य में महारानी विक्टोरिया की दीर्घायु के लिए आर्यसमाजों में प्रार्थनाएँ की गयी थीं। लण्डन-समाज द्वारा जुबिली उत्सव में सम्मिलित होकर विक्टोरिया के प्रति सम्मान प्रदर्शित किये जाने का उल्लेख यहाँ केवल इस प्रयोजन से किया गया है, ताकि यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाये, कि सन् १८८७ में आर्यसमाज ने लण्डन की सार्वजनिक संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। पर लण्डन में आर्यसमाज देर तक कायम नहीं रह सका। उस समय ब्रिटेन में भारतीयों की आबादी बहुत कम थी, और स्थायी रूप से वहाँ रहनेवाले भारतीयों की संख्या तो नगण्य ही थी। इस दशा में जब लाला लक्ष्मीनारायण, लाला रोशनलाल आदि आर्य अपनी शिक्षा पूरी कर भारत लौट आये, तो लण्डन में आर्यसमाज का जारी रहना सम्भव नहीं रहा।

पर उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले व अन्य प्रयोजनों से भारतीयों का इंगलैण्ड में जाना बाद में भी जारी रहा। इनमें जो महानुभाव महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी थे, वे लण्डन आदि में वैदिक धर्म के प्रचार में भी तत्पर रहे। ऐसे एक सज्जन डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज थे, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में इंगलैण्ड गये थे। उन्होंने लण्डन

में निवास करते हुए सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी में अनुवाद करने का प्रयत्न किया और इस कार्य में उन्होंने वहाँ के अन्य व्यक्तियों से भी सहायता प्राप्त की। इंग्लैण्ड में रहते हुए डॉक्टर भारद्वाज अनुवाद-कार्य को पूरा नहीं कर सके थे। भारत लौटने पर उन्होंने श्री० रामदेव की सहायता से उसे पूरा किया, और सन् १९०६ में अंग्रेजी सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित भी हो गया। इंग्लैण्ड में रहते हुए डॉक्टर भारद्वाज ने वैदिक मन्तव्यों का प्रचार करने में भी समय लगाया, पर वह आर्यसमाज की स्थापना नहीं कर सके। डॉक्टर भारद्वाज के पश्चात् जिन सज्जनों ने लण्डन में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न किया उनमें लाला टेकचन्द का नाम उल्लेखनीय है। वह बीसवीं सदी के तृतीय व चतुर्थ शतक में व्यापार के लिए लण्डन में रह रहे थे। आर्यसमाज के कार्य की उन्हें धुन थी। उन्होंने अपने निवास-स्थान पर आर्यसमाज के सत्संग प्रारम्भ कर दिये थे, और लण्डन में निवास करनेवाले भारतीयों को इन सत्संगों में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करते रहते थे। यह कह सकना तो सम्भव नहीं है, कि लाला टेकचन्द ने लण्डन में व्यवस्थित रूप से आर्यसमाज की स्थापना कर दी थी, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उनके प्रयत्न से इंग्लैण्ड में वैदिक धर्म का दीपक टिमटिमाने अवश्य लगा था।

यही समय था, जबकि स्थायी रूप से लण्डन में निवास करनेवाले कतिपय प्रतिष्ठित हिन्दुओं ने 'हिन्दू एसोसियेशन ऑफ यूरोप' नाम से एक संस्था की स्थापना कर ली थी। हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति इसमें सम्मिलित थे। गीता के अध्ययन में सबकी समान रूप से रुचि है, अतः यह एसोसियेशन हिन्दू धर्म के प्रवचनों का अच्छा केन्द्र बन गया। सन् १९३७ में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से पण्डित ऋषिराम वैदिक धर्म के प्रचार के लिए इंग्लैण्ड गये, और उन्होंने हिन्दू एसोसियेशन के सहयोग से ही वहाँ प्रचार का कार्य किया। उन द्वारा नियमपूर्वक साप्ताहिक सत्संग लगाने का प्रयत्न किया जाता था, और हिन्दू लोग उनमें उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुआ करते थे। इस युग के जिन सज्जनों ने इंग्लैण्ड में वैदिक धर्म के प्रचार में सहयोग दिया, डॉक्टर धर्मशील चौधरी उनमें प्रमुख थे। डॉक्टर चौधरी का जन्म मुलतान के एक प्रतिष्ठित आर्य-परिवार में हुआ था, और उनके पिता श्री काशीराम चिरकाल तक गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक रहे थे। धर्मशील जी की स्कूली शिक्षा भी गुरुकुल में ही हुई थी। बाद में वह इंग्लैण्ड चले गये थे, और वहाँ एलोपैथी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर लण्डन के अन्यतम उपनगर लैण्डन में बस गये थे और वहीं चिकित्सा का कार्य करने लगे थे। पर चिकित्सक का कार्य करते हुए वह वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में भी तत्पर रहे, और आर्यसमाज की गतिविधि का जब वहाँ प्रसार होने लगा तब वह उसमें पूर्ण सहयोग देते रहे। इस प्रकार बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व ही, जब लण्डन में भारतीयों की आबादी बहुत कम थी, वहाँ आर्यसमाज की स्थापना के लिए मैदान तैयार होने लग गया था।

(२) हिन्दू सैण्टर और वैदिक मिशन

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब भारत स्वतन्त्र हो गया तो बहुत-से भारतीय व्यापार आदि के लिए इंग्लैण्ड तथा अन्य विदेशी राज्यों में जाकर बसने लग गये। भारत ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का सदस्य है, और उस समय भारतीयों के इंग्लैण्ड में व्यापार-व्यवसाय आदि के लिए निवास करने तथा बस जाने में कोई विशेष बाधा नहीं थी। सन्

१९६० के पश्चात् जब अफ्रीका के विविध देशों ने स्वाधीनता प्राप्त की, तो केनिया, तंजानिया, युगाण्डा आदि में बसे हुए भारतीयों के सम्मुख तीन विकल्प थे—या तो अफ्रीकन (केनिया, तंजानिया आदि की) नागरिकता प्राप्त कर लें, या भारत अथवा ब्रिटेन की अपनी नागरिकता को कायम रखें। स्वाधीनता से पूर्व ब्रिटेन के अधीन अफ्रीकन राज्यों के सब निवासियों की नागरिकता ब्रिटिश ही थी। केनिया, युगाण्डा आदि की राजनैतिक दशा को दृष्टि में रखकर वहाँ बसे हुए बहुत-से भारतीयों ने अपनी ब्रिटिश नागरिकता को कायम रखने का निश्चय किया। क्योंकि वे ब्रिटिश नागरिक थे, अतः उन्हें ग्रेट ब्रिटेन में आने तथा स्थायी रूप से वहीं बस जाने से रोका नहीं जा सकता था। इस स्थिति से लाभ उठाकर हजारों भारतीय ब्रिटेन चले गये, और वहाँ के लण्डन आदि नगरों में बस गये। इनमें बहुत-से वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और केनिया, तंजानिया आदि के आर्य-समाजों के सभासद् तथा कार्यकर्ता भी थे। इनके बड़ी संख्या में इंग्लैण्ड आ जाने के कारण वहाँ वैदिक धर्म के प्रसार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप को व्यवस्थित रूप प्राप्त करने में बहुत सहायता मिली।

आर्य विचारों के बहुत-से व्यक्तियों के आ जाने के कारण सन् १९६२ में 'हिन्दू सेण्टर' के नाम से लण्डन में एक संस्था की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में श्री फकीर-चन्द सोंधी, डॉक्टर के० डी० कुमरिया, श्री एस० रामचन्द्र, डॉक्टर आर० एन० भास्कर, श्री पी० एस बनारसी, श्री एल० जुत्शी और श्री के० के० सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दू सेण्टर की स्थापना से पूर्व सन् १९५२ में पण्डित उषर्बुध और श्री धीरेन्द्र शील उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड आ चुके थे। अध्ययन से जो समय उन्हें मिलता था, उसका उपयोग वे वैदिक धर्म के प्रचार के लिए किया करते थे। उन द्वारा संस्कृत, हिन्दी तथा योग की कक्षाएँ भी चलायी गयीं, और पारिवारिक सत्संगों का आयोजन भी किया जाता रहा। वे विविध स्कूलों व संस्थाओं में व्याख्यान भी दिया करते थे, और समय-समय पर वैदिक पद्धति से विविध संस्कार भी कराते थे। इन सब कार्यों के लिए वे लण्डन से बाहर इंग्लैण्ड के अन्य नगरों में भी जाया करते थे। पण्डित उषर्बुध और धीरेन्द्र शील ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो उद्योग किया था, उसके प्रभाव से हिन्दू सेण्टर पर्याप्त रूप से आर्यसमाज के सदृश हो गया था, और वहाँ धार्मिक अनुष्ठान व प्रवचन आदि प्रायः वैदिक ढंग से ही होने लग गये थे। पण्डित उषर्बुध का सक्रिय सहयोग इस सेण्टर को प्राप्त था। लण्डन के गोल्डर्स ग्रीन क्षेत्र में एक हॉल साप्ताहिक सत्संग के लिए किराये पर ले लिया गया था, और वहाँ सेण्टर के अधिवेशन हुआ करते थे। हॉल का पहले छह महीनों का किराया श्री बनारसी द्वारा प्रदान किया गया था। श्री फकीरचन्द सोंधी हिन्दू-सेण्टर के प्रथम प्रधान थे। उनके बाद सन् १९६६ में प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज उसके प्रधान चुने गये, जो सन् १९७८ तक इस पद पर रहे। प्रोफेसर भारद्वाज हिन्दी, संस्कृत और इतिहास आदि के गम्भीर विद्वान् थे, और अनेक वर्षों तक डी० ए० वी० कॉलिज, होशियारपुर में प्रोफेसर रह चुके थे। आर्यसमाज के कार्यकलाप में उनका अत्यधिक उत्साह था, और वैदिक धर्म में उनकी अगाध आस्था थी। उन्होंने लण्डन तथा अन्य नगरों से शुद्ध वैदिक रीति से यज्ञ, हवन और संस्कार कराने शुरू किये। इनसे जो भी दक्षिणा उन्हें प्राप्त होती थी, सब हिन्दू सेण्टर को प्रदान कर देते थे। रेल तथा बस का किराया तक उन्होंने कभी वसूल नहीं किया। वह पूर्ण निःस्वार्थ भाव से आर्यसमाज तथा वैदिक

धर्म की सेवा में तत्पर रहे। लण्डन में आर्यसमाज के कार्यकलाप के विस्तार का मुख्य श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। हिन्दू सेण्टर के प्रधान के रूप में भी वह वस्तुतः आर्यसमाज का ही कार्य करते रहे।

सन् १९६५ में पण्डित ओम्प्रकाश त्यागी लण्डन गये। पण्डित जी आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। हिन्दू सेण्टर में वैदिक धर्म पर उनके अनेक व्याख्यान हुए और न्यू-कासल, बरमिंघम आदि अन्य अनेक नगरों में भी वह प्रचार के लिए गये। उन्होंने लण्डन के भारतीयों को अपने नगर में आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रेरणा प्रदान की, और इस प्रयोजन से वह कितने ही लोगों के घरों में जाकर मिले भी। उनकी प्रेरणा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य विचारों के व्यक्ति लण्डन में आर्यसमाज की आवश्यकता अनुभव करने लग गये। सन् १९६८ में हिन्दू सेण्टर ने एक भवन क्रय कर लिया, जो धर्म-कार्य के लिए बहुत उपयुक्त था। इसे खरीदने के लिए मिस्टर चनराय ने पाँच हजार पौंड (९० हजार रुपये के लगभग) दान दिये थे, और उनकी इच्छा के अनुसार इसका नाम 'केवलराम हॉल' रख दिया गया था। इस हॉल में सामने की ओर एक प्रमुख स्थान पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का एक विशाल चित्र चित्रित किया गया, जिसका सब खर्च श्री रघानी द्वारा प्रदान किया गया था। वैदिक धर्म के जो विद्वान्, संन्यासी व प्रचारक लण्डन जाते रहे, हिन्दू सेण्टर द्वारा उनका स्वागत किया गया और उनके व्याख्यानों की भी समुचित व्यवस्था की गयी। इसमें सन्देह नहीं, कि व्यवस्थित रूप से आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व वैदिक धर्म के प्रचार का यह हिन्दू सेण्टर प्रधान केन्द्र था, और प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज जैसे निष्ठावान् आर्य के प्रधानत्व में उस द्वारा आर्यसमाज का ही कार्य किया जाता रहा।

यद्यपि हिन्दू सेण्टर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तत्पर था, फिर भी यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, कि लण्डन में आर्यसमाज की भी पृथक् व व्यवस्थित रूप से स्थापना की जानी चाहिए। इसीलिए ८ फरवरी, १९७० को आर्यसमाजी विचारों के अनेक व्यक्ति श्री के० डी० कपिला के निवासस्थान पर एकत्र हुए और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया। गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक प्रोफेसर दिलीप वेदालंकार भी इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने सुझाव दिया, कि नयी संस्था को आर्यसमाज के बजाय 'वैदिक मिशन, लण्डन' नाम दिया जाय, जिसे श्री कपिला तथा अन्य उपस्थित आर्य सज्जनों ने स्वीकार कर लिया। कुछ मास पश्चात् श्री कपिला के उद्योग से एक अन्य बैठक वैदिक मिशन की स्थापना के सम्बन्ध में विचार-विमर्श के लिए बुलायी गयी, जिसमें श्री कपिला के अतिरिक्त श्री कर्मचन्द चोपड़ा, श्रीमती सावित्री छाबड़ा, श्री वेदप्रकाश मरवाहा, श्रीमती दुलारी मरवाहा, श्री डी० सी० मेयर, श्री हरवंशलाल मोद्गिल, श्रीमती शान्ता मेयर, श्री सुरेन्द्रमोहन आर्य, श्री प्रेम दोसाझ, श्रीमती शारदा बेन पटेल, श्री मंगतराम गम्भीर, श्री युद्धवीर पुरी और प्रोफ़ेसर दिलीप वेदालंकार आदि बहुत-से आर्य नर-नारी उपस्थित थे। इस बैठक में वैदिक मिशन की औपचारिक रूप से स्थापना कर दी गयी, और श्री कपिला को उसका प्रधान निर्वाचित किया गया। श्री कपिला नैरोबी (केनिया) से आकर लण्डन में बसे थे। नैरोबी में उन्होंने आर्यसमाज का बहुत काम किया था, और वैदिक धर्म में उनकी अगाध आस्था थी। लण्डन में वैदिक मिशन की स्थापना में उनका प्रमुख कर्तृत्त्व था। जनता में इस मिशन के लिए

इतना अधिक उत्साह था, कि इसके पहले अधिवेशन में ही दो सौ के लगभग नर-नारियों की उपस्थिति हो गयी थी। हान्स्लॉ की कम्युनिटी रिलेशन्स कौंसिल के श्री वर्न का सहयोग भी इस मिशन को प्राप्त था, और उन्हीं के प्रयत्न से अलेग्जेण्ड्रा रोड स्कूल का एक हॉल वैदिक मिशन को अपने अधिवेशनों के लिए प्राप्त हो गया था। मिशन के अधिवेशन प्रत्येक मास के अन्तिम रविवार को नियमपूर्वक हुआ करते थे। ३१ मई, १९७५ को वैदिक मिशन द्वारा आर्यसमाज-स्थापना-दिवस बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया था। भारत के लण्डन-स्थित हाई कमिश्नर श्री अप्पा बी० पन्त भी समारोह में सम्मिलित हुए थे। कुल उपस्थिति ५०० के लगभग थी। श्री कपिला तथा प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज के व्याख्यानों से श्रोता बहुत प्रभावित हुए थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के महान् मिशन का उन्हें बोध हुआ था। सन् १९७३ के वार्षिक चुनाव में प्रोफेसर भारद्वाज मिशन के प्रधान निर्वाचित हो गये थे। उनके सुयोग्य नेतृत्व में इस संस्था ने बहुत उन्नति की। उनसे पहले डेढ़ वर्ष तक श्री फकीरचन्द मायर मिशन के प्रधान रहे थे। वह अत्यन्त कुशल व्यक्ति थे। उन्हीं के प्रधानत्व में वैदिक मिशन को लण्डन के चैरिटी कमीशन में रजिस्टर्ड भी करवा लिया गया था। मिशन का प्रधान पद ग्रहण करने के पश्चात् प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ-भारद्वाज ने इंग्लैण्ड में वैदिक धर्म के प्रचार में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। उन्होंने संस्कारों के वैदिक विधि से अनुष्ठान को आर्यसमाज के प्रचार का सशक्त साधन समझा और लोगों को इस बात के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ किया, कि वे नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि सब संस्कार वैदिक पद्धति से करवाया करें। साथ ही, उन्होंने यज्ञ-हवन के लिए भी लोगों को प्रेरणा देनी प्रारम्भ कर दी। परिणाम यह हुआ, कि वैदिक संस्कारों तथा यज्ञ-हवन की माँग बहुत बढ़ गयी। प्रोफेसर भारद्वाज इनका अनुष्ठान स्वयं कराया करते थे, और उनसे जो सैकड़ों पौण्ड (हजारों रुपये) प्रतिमास दक्षिणा व दान के रूप में प्राप्त होते थे, उन सबको वह वैदिक मिशन के फण्ड में प्रदान कर देते थे। प्रोफेसर भारद्वाज संस्कारों की पद्धति और वेदमन्त्रों के अर्थ की अंग्रेजी में भी व्याख्या किया करते थे, जिसका प्रभाव यूरोपियन लोगों पर भी पड़ा करता था। वे भी यज्ञ-हवन तथा वैदिक-संस्कारों में सम्मिलित होने लगे, जिससे वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के प्रचार में बहुत सहायता मिली। श्रीमती सावित्री छाबड़ा आदि अनेक महिलाएँ भी इस कार्य में प्रोफेसर भारद्वाज की सहायिका रहीं। लण्डन में व्यवस्थित रूप से आर्यसमाज की स्थापना की जानी चाहिए, और उसका अपना मन्दिर व भवन भी होना चाहिए, यह विचार इस काल में निरन्तर जोर पकड़ता गया, और अनेक आर्य नर-नारियों ने इसके लिए पूर्ण मनोयोग के साथ प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। जिन व्यक्तियों ने आर्यसमाज के लिए धन-संग्रह करने में विशेष तत्परता प्रदर्शित की, उनमें श्री कर्मचन्द चोपड़ा, श्री धर्मवीर पुरी और श्रीमती सावित्री छाबड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं। लण्डन में अब ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और जिनकी महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। इनके प्रयत्न से वैदिक मिशन उन्नति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता गया, और उस द्वारा इंग्लैण्ड में वही कार्य किया जाता रहा जो आर्यसमाजों द्वारा किया जाता है।

(३) लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना व प्रगति

सन् १९७७ में श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती तथा पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री लण्डन में सांस्कृतिक यात्रा के लिए आये थे, और उसी समय के लगभग नैरोबी से पण्डित सत्यदेव भारद्वाज भी लण्डन आ गये थे। लण्डन में ये आर्यनेता वैदिक मिशन के पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं से मिले, और उनके सम्मुख यह विचार प्रकट किया, कि मिशन का नाम बदलकर आर्यसमाज कर देना उचित होगा, क्योंकि आर्यसमाज एक सार्वभौम आन्दोलन व संगठन है। उनका सुझाव वैदिक मिशन के सदस्यों को स्वीकार्य प्रतीत हुआ। इसीलिए मिशन का साधारण अधिवेशन बुलाकर नाम परिवर्तित करने का प्रस्ताव विधिवत् स्वीकृत करा लिया गया। कुछ समय पश्चात् जब लण्डन में ऋषि-निर्वाण-दिवस (दीपावली का पर्व) मनाया गया, तो उस अवसर पर एक हजार से भी अधिक की उपस्थिति में पण्डित सत्यदेव वेदालंकार ने अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती पार्वतीदेवी जी की पुण्य स्मृति में लण्डन-आर्यसमाज के नये भवन के लिए ५,००० पौण्ड दान देने की घोषणा की। अन्य आर्य नर-नारियों ने भी इसके लिए उदारतापूर्वक धनराशियाँ प्रदान कीं। इनमें श्री सतपाल चड्ढा द्वारा प्रदत्त ५,००० पौण्ड और श्रीमती भागवन्ती आर्य (श्रीमती सावित्री छाबड़ा की माता) के २,५०० पौण्ड उल्लेखनीय हैं। बाद में अन्य महानुभावों द्वारा भी आर्यसमाज-भवन के लिए दान प्राप्त होता रहा। इस प्रकार जो धनराशि एकत्र हो गयी, उससे आर्गाइल रोड पर एक भवन सन् १९७७ में २९,३८१ पौण्ड में क्रय कर लिया गया। यह भवन पहले एक क्रिश्चियन चर्च था। उसकी मरम्मत आदि पर जो खर्च हुआ, उसे मिलाकर चालीस हजार पौण्ड से भी अधिक राशि लण्डन-आर्यसमाज के भवन पर व्यय की जा चुकी है। जिस भवन पर पहले क्रॉस लगा रहता था, वहाँ अब ओ३म् का झण्डा फहरा रहा है, और चर्च में जहाँ पहले क्राइस्ट और मेरी की प्रतिमाएँ थीं, वहाँ आज महर्षि दयानन्द सरस्वती, महात्मा हंसराज और स्वामी श्रद्धानन्द के तैल चित्र लगे हुए हैं। यह परिवर्तन कितना महान् व क्रान्तिकारी है! आर्यसमाज-मन्दिर (पण्डित सत्यदेव वेदालंकार की इच्छा का सम्मान कर जिसे 'वन्देमातरम् भवन' नाम दे दिया गया है) में अब प्रति सप्ताह नियमपूर्वक सत्संग होता है, जिसमें सैकड़ों की उपस्थिति होती है। लण्डन की जनता में आर्यसमाज के लिए अपूर्व उत्साह है, और आर्गाइल रोड का समाज-मन्दिर वहाँ के हिन्दुओं के सार्वजनिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है। एक पुरोहित व प्रचारक भी समाज द्वारा वहाँ नियुक्त हैं, जो वैदिक धर्म प्रचार के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

सन् १९७८ में नैरोबी (केनिया) में जो सार्वभौम आर्य महासम्मेलन हुआ था, उसमें लण्डन आर्यसमाज के प्रधान प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज को भी निमन्त्रित किया गया था। अनेक अन्य आर्य व्यक्ति भी इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए लण्डन से नैरोबी गये थे। नैरोबी में ही यह निश्चय कर लिया गया था, कि सन् १९८० का सार्वभौम आर्य महासम्मेलन लण्डन में हो। पर इस सम्मेलन के लिए धन की समस्या प्रधान थी। उसका समाधान भी पण्डित सत्यदेव वेदालंकार द्वारा कर दिया गया। उन्होंने दस हजार पौण्ड अपने परिवार की ओर से प्रदान कर धन की समस्या हल कर दी। अगस्त,

१९८० में सार्वभौम आर्य महासम्मेलन का अधिवेशन बड़ी धूमधाम के साथ लण्डन में हुआ। जो आर्य नर-नारी भारत, फीजी, मारीशस, दक्षिणी अफ्रीका, नीदरलैण्ड, थाईलैण्ड, केनिया, तंजानिया, सुरीनाम, अमेरिका आदि से इस महासम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए लण्डन आये थे, उनकी संख्या एक हजार से भी अधिक थी। सर्वसम्मति से पण्डित सत्यदेव वेदालंकार को महासम्मेलन का प्रधान चुना गया था, और उनकी अध्यक्षता में सम्मेलन की सब कार्यवाही बहुत उत्तम ढंग से सम्पन्न हुई। लण्डन के निवासियों के लिए यह सम्मेलन एक नयी संस्कृति के सन्देशवाहक के रूप में था। इस द्वारा उन्हें वैदिक धर्म के उदात्त सिद्धान्तों और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। महासम्मेलन का प्रारम्भ २० अगस्त के दिन राष्ट्र-मेध यज्ञ (पृथिवी सूक्त) से हुआ। यज्ञ के ब्रह्मा पण्डित सत्यपाल शर्मा वेद-शिरोमणि थे। इस यज्ञ की पूर्णाहुति २३ अगस्त को हुई। महासम्मेलन में उपस्थित बहुत-से नर-नारियों ने यजमान के रूप में इस यज्ञ में आहुतियाँ प्रदान कीं, जिन द्वारा ९,००० के लगभग पौण्ड (डेढ़ लाख के लगभग रुपये) प्राप्त हुए। महासम्मेलन के अन्तर्गत शिक्षा-सम्मेलन, योग-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन और सर्वधर्म-सम्मेलन आदि अनेक सम्मेलन हुए जिनमें हजारों की उपस्थिति रहती थी। सर्वधर्म-सम्मेलन में यहूदी, ईसाई, सिक्ख, मुस्लिम, बौद्ध, बहाई और पारसी धर्मों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था, और लोगों को विविध धर्मों व सम्प्रदायों के मन्तव्यों का तुलनात्मक अनुशीलन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। महासम्मेलन के अध्यक्ष पण्डित सत्यदेव वेदालंकार का भाषण बहुत उत्कृष्ट व विचारोत्तेजक था। लण्डन-आर्यसमाज के प्रधान प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज और उनके सहयोगी जिस उत्साह तथा तत्परता से इस समारोह को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, वह वस्तुतः सराहनीय था। एशिया, अफ्रीका, यूरोप और अमेरिका के विविध देशों से आये हुए हजारों नर-नारी इस अवसर पर अपने को एक परिवार का सदस्य समझते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज के प्रति तन, मन और धन समर्पित कर देने की प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे।

लण्डन-आर्यसमाज इस समय ग्रेट ब्रिटेन में वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के प्रसार का सशक्त केन्द्र बन गया है। उसके साप्ताहिक सत्संग नियमपूर्वक होते हैं, जिनमें उपस्थिति १५० के लगभग रहती है। विशेष अवसरों पर उपस्थित नर-नारियों की संख्या ४०० तक भी पहुँच जाती है। सत्संग का कार्यक्रम सन्ध्या तथा यज्ञ से प्रारम्भ होता है, और फिर राष्ट्रगान, भजन, कीर्तन तथा संगठन सूक्त के गायन के पश्चात् किसी विद्वान् द्वारा वेदमन्त्रों की व्याख्या की जाती है। फिर किसी विशिष्ट व्यक्ति या सुयोग्य विद्वान् का प्रवचन होता है। अन्त में भजन और संकीर्तन के पश्चात् प्रसाद-वितरण तथा जलपान की व्यवस्था की जाती है। सामूहिक सहभोज लण्डन-आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके कारण आर्य-परिवारों को एक-दूसरे से परिचित होने और परस्पर बन्धुत्व की भावना के विकसित होने में बहुत सहायता मिलती है।

लण्डन-आर्यसमाज के विशाल भवन में ३५० व्यक्तियों के बैठने के लिए उपयुक्त स्थान है। बैठने के लिए कुर्सियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। भवन के अतिरिक्त वहाँ एक सुन्दर मंच तथा यज्ञ-वेदी भी है। प्रचार-प्रसार के सब आधुनिक साधन (वायरलैस

माइक, वीडियो रिकॉर्डर, कैमरा आदि) समाज के पास हैं। उसका कार्यालय विविध आधुनिक उपकरणों (हिन्दी, अंग्रेजी के टाइपराइटर, फोटोटाइप-मशीन, पते छापने की मशीन, टेलीफोन आदि) से सुसज्जित है। उस द्वारा एक न्यूजलैटर भी मासिक रूप से प्रकाशित होता है। सत्संग-भवन के साथ एक बड़ा हॉल भोजन के लिए है, जिसके साथ एक आधुनिक ढंग का रसोईघर भी है। साप्ताहिक सत्संगों के अतिरिक्त लण्डन-आर्य-समाज द्वारा हिन्दी, योग तथा वैदिक धर्म की कक्षाएँ भी लगायी जाती हैं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है, वैदिक विधि से संस्कार कराये जाते हैं, सप्ताह में दो बार टेबल टैनिस व बैडमिण्टन सदृश खेलों की व्यवस्था की जाती है, और समय-समय पर विधर्मी लोगों को शुद्धकर आर्यसमाज में प्रविष्ट भी किया जाता है। वस्तुतः, लण्डन-आर्यसमाज ग्रेट ब्रिटेन में भारतीय संस्कृति व सामूहिक जीवन का एक ऐसा केन्द्र बन गया है, जिससे भारत-मूल के व्यक्तियों तथा वैदिक धर्म के अनुयायियों को परस्पर सम्पर्क में आने तथा अपने सामाजिक जीवन को विकसित करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त होता रहता है।

लण्डन-आर्यसमाज के प्रधान प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज का कार्यक्षेत्र केवल लण्डन या इंग्लैण्ड तक ही सीमित नहीं है। वह यूनाइटेड किंगडम के सभी प्रदेशों (स्कॉट-लैण्ड, वेल्स और आयरलैण्ड) में धर्मप्रचार के लिए जाते रहते हैं। विवाह आदि संस्कार कराने के लिए उन्हें दूर-दूर से बुलाया जाता है, और दक्षिणा के रूप में उन्हें जो कुछ भी प्राप्त होता है, सब आर्यसमाज को अर्पित कर देते हैं। वह संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के गम्भीर विद्वान् हैं। वेदमन्त्रों, याज्ञिक कर्मकाण्ड और संस्कारों की विधि की वह अंग्रेजी भाषा में अत्यन्त युक्तिसंगत व प्रभावोत्पादक रूप में व्याख्या करते हैं। अमेरिका महाद्वीप के सुरीनाम और गुयाना आदि देशों में भी वह प्रचार-यात्राएँ कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य जगत् में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के इतिहास में उनका नाम सुवर्णाक्षरों में लिखा जायेगा।

लण्डन-आर्यसमाज के अन्य सक्रिय व उत्साही कार्यकर्ताओं में श्री धर्मवीर पुरी, श्री कपिलदेव प्रिंजा, श्रीमती शकुन्त कोछड़, श्री मोहनलाल कोछड़, श्री फकीरचन्द सुमरा और श्री जगदीश शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। लण्डन में आर्य स्त्री-समाज की पृथक् रूप से सत्ता नहीं है, पर अनेक आर्य-महिलाएँ वहाँ अत्यन्त कर्मठ रूप से आर्यसमाज के कार्यकलाप में हाथ बँटाती हैं। इन महिलाओं में श्रीमती सावित्री छावड़ा, श्रीमती लाज चावला, श्रीमती शकुन्त कोछड़ और श्रीमती कैलाश भसीन प्रधान हैं। लण्डन-आर्यसमाज में किशोरवय बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों की भी कमी नहीं है। कुमारी एंजिला कोछड़ और अरुण कोछड़ अभी किशोर आयु के हैं, पर अभी से उन्हें वेद-प्रचार की धुन है और वे अपने संगीत, प्रवचन व अभिनय आदि द्वारा महर्षि के मन्तव्यों के प्रचार में तत्पर रहते हैं। उनके उदाहरण को सम्मुख रखकर अन्य भी कितने ही किशोरवय व्यक्ति आर्यसमाज की गतिविधि में उत्साहपूर्वक भाग लेने लग गये हैं। लण्डन आर्यसमाज के पुरोहित या धर्माचार्य (Minister of Religion) श्री गिरीशचन्द्र खोसला न केवल अत्यन्त योग्य व विद्वान् ही हैं, अपितु अत्यधिक कर्मठ व उत्साह-सम्पन्न भी हैं। उन जैसे सक्रिय व नैष्ठिक व्यक्ति के पौरोहित्य में इस समाज की निरन्तर उन्नति होती रहेगी, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

(४) हालैण्ड में आर्यसमाज

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (सन् १९३९-४५) के समय तक यूरोप के जिन देशों ने संसार के विविध क्षेत्रों में अपने साम्राज्य स्थापित किये हुए थे, उनमें हालैण्ड भी एक था। एशिया में इण्डोनेशिया उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था, और अमेरिका में डच गुयाना। गुयाना या सुरीनाम में डच लोगों के प्रभुत्व का प्रायः वही रूप था, जो मारीशस और फीजी में अंग्रेजों के प्रभुत्व का था। वहाँ खेती करने तथा अन्य कार्यों के लिए पहले हब्शी गुलामों को प्रयुक्त किया जाता था, पर दास-प्रथा का अन्त हो जाने पर वहाँ भारत से गरीब लोगों को प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन मजदूरी के लिए ले-जाया जाने लगा, और इस प्रकार वहाँ भारतीयों की अच्छी आबादी हो गयी। सबसे पहले सन् १८६९ में भारतीय लोग लालारुख नामक जहाज से डच गुयाना गये थे, और बीसवीं सदी का प्रारम्भ होने तक मजदूरों व कुलियों के रूप में भारतीय वहाँ अच्छी बड़ी संख्या में आबाद हो गये थे। जैसे कि मारीशस, फीजी, दक्षिणी अफ्रीका आदि में हुआ था, वैसे ही दक्षिणी अमेरिका के यूरोपियन (डच, ब्रिटिश और फ्रेंच) उपनिवेशों में भी भारतीयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, और प्रतिज्ञाबद्धता या शर्तबन्दी की अवधि के समाप्त हो जाने पर उनमें से बहुत-से स्वदेश न लौटकर स्थायी रूप से वहीं बस गये और उन्होंने खेती, शिल्प, व्यापार व सरकारी सर्विस आदि से अपना निर्वाह प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतीय मूल के जो व्यक्ति डच गुयाना में आबाद थे, उनकी संख्या लाखों में थी, पर वे हालैण्ड के अधीन थे और देश के शासन में उनका कोई स्थान नहीं था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जब साम्राज्यवाद का अन्त हुआ, और पाश्चात्य देशों की अधीनता में विद्यमान विविध देश स्वतन्त्र होने लगे, तो हालैण्ड के लिए भी अपने साम्राज्य को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा और सन् १९७५ में डच गुयाना (सुरीनाम) ने भी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब वहाँ बसे हुए भारतीय मूल के व्यक्तियों के सामने यह विकल्प था, कि या तो वे स्वतन्त्र सुरीनाम की नागरिकता ग्रहण कर लें, या हालैण्ड की अपनी नागरिकता को कायम रखें। हालैण्ड की नागरिकता स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों को यह अधिकार था, कि यदि वे चाहें तो हालैण्ड में आकर बस जाएँ, और वहाँ नागरिक के रूप में उनकी वही स्थिति हो जो डच लोगों की है। भारतीय मूल के ९० हजार के लगभग व्यक्तियों ने डच नागरिकता स्वीकार कर हालैण्ड में जाकर बस जाना पसन्द किया, और इस प्रकार इस यूरोपियन राज्य में भारतीयों की अच्छी बड़ी संख्या हो गयी। इन ९० हजार व्यक्तियों में ५५ प्रतिशत के लगभग हिन्दू थे, और उनमें भी ४० प्रतिशत के लगभग आर्यसमाजी थे। इस प्रकार सन् १९७५ में व उसके बाद जो भारतीय हालैण्ड में जाकर बस गये, उनमें बीस हजार के लगभग महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी व आर्यसमाजी हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अधीन जो लोग भारत से डच गुयाना गये थे, उनमें बहुसंख्या बिहार और उत्तरप्रदेश के निवासियों की थी, और उनकी भाषा हिन्दी थी। उन्होंने अपने धर्म, भाषा तथा संस्कृति को उसी प्रकार कायम रखा था, जैसे कि मारीशस और फीजी में गये भारतीयों ने। जब ये लोग हालैण्ड जाकर बस गये, तो वहाँ भी वे अपने धर्म आदि पर दृढ़ रहे। उनमें जो पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, उन्होंने शिव-मन्दिर, राम-मन्दिर, कृष्ण-मन्दिर

और रामायण-मन्दिर आदि कायम किये, और आर्यसमाजियों ने विविध आर्यसमाजों की स्थापना की। भारतीय मूल के जो लोग सुरीनाम से हालैण्ड आये, वे सब किसी एक ही स्थान पर नहीं बसे। वे उस देश के विविध नगरों व बस्तियों में बस गये, और जहाँ कहीं उनकी अच्छी बड़ी जनसंख्या थी, वहाँ उन्होंने अपने धर्म-मन्दिर या आर्यसमाज स्थापित कर लिये। इसीका यह परिणाम है, कि हालैण्ड के राटरडम, हेग, आमस्टरडम, युट्रेख्ट, ब्रेइडा, एण्डोफन, इयूडम, बैल्मरमेर, अम्स्तलफेन, ओदफेरक, लेयलीस्टाट, लाइडन और सुतरमेर में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी है। यद्यपि इस समय हालैण्ड में आर्यसमाजों की संख्या इतनी हो गयी है, कि वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन किया जा सकता है, पर सन् १९८३ तक वहाँ के समाज किसी केन्द्रीय संगठन में गठित नहीं हुए थे। हालैण्ड के कुछ नगरों में एक से अधिक भी आर्यसमाज विद्यमान हैं, यथा राटरडम और हेग में। युट्रेख्ट में आर्यसमाज तो एक है, पर 'वैदिक धर्म समाज' नाम से एक अन्य संस्था विद्यमान है, जो यथार्थ में आर्यसमाज ही है। हालैण्ड में आर्यसमाज की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि वहाँ कुछ समाजों की सदस्य-संख्या चार-पाँच सौ तक भी है। हेग का समाज इसी प्रकार का है। यूरोप के इस देश के प्रायः सभी आर्यसमाजों में साप्ताहिक सत्संग नियमपूर्वक होते हैं, जिनमें सन्ध्या-हवन, वेदकथा, प्रवचन आदि की विधिवत् व्यवस्था की जाती है। वैदिक विधि से विवाह आदि संस्कार इन समाजों द्वारा कराये जाते हैं, और विजयादशमी, दीपावली आदि पर्व भी आर्यसामाजिक ढंग से मनाये जाते हैं। हालैण्ड की भाषा डच है, और वहाँ बसे हुए भारतीय मूल के लोग भी अपने देश की इस भाषा को भली-भाँति जानते हैं, और सार्वजनिक व्यवहार में उसी का उपयोग भी करते हैं। पर क्योंकि वहाँ के भारतीय मूल के बहुसंख्यक नागरिकों की अपनी मातृभाषा हिन्दी है, अतः आर्यसमाज द्वारा उनके बच्चों को हिन्दी की शिक्षा देने की भी व्यवस्था की गयी है, जिसके कारण उन्हें अपनी मातृभाषा को सीखने तथा धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक क्षेत्रों में उसे प्रयुक्त करते रहने का अवसर मिलता है। क्योंकि भारतीय मूल के नागरिकों के कारण हालैण्ड में हिन्दी एक जीवित भाषा है, अतः वहाँ हिन्दी-साहित्य की माँग है और वहाँ से लालारुख नामक एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है, जो हिन्दी तथा डच दोनों भाषाओं में है। इस पत्र का 'लालारुख' नाम उस जहाज के नाम पर रखा गया है, जिस द्वारा सन् १८६९ में भारतीय लोग पहलेपहल डच गुयाना (सुरीनाम) ले-जाये गये थे। जिस भारतीय ने सबसे पहले सुरीनाम की धरती पर पैर रखा था, उसका नाम 'मथुरा' था। उसकी स्मृति में हेग (हालैण्ड) में 'मथुरा भवन' बनाया गया है, जो वहाँ भारतीयों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

यद्यपि हालैण्ड में १९७५ के बाद आर्यसमाज का विशेष रूप से प्रचार-प्रसार हुआ, और वहाँ के अनेक नगरों में समाज स्थापित हुए, पर इस यूरोपियन राज्य में आर्यसमाज का श्रीगणेश उससे पूर्व ही हो गया था। क्योंकि सुरीनाम डच साम्राज्य के अन्तर्गत था, अतः वहाँ के लोगों को हालैण्ड जाकर रहने की उसी ढंग से सीमित सुविधा प्राप्त थी, जैसे कि भारत के निवासियों को ग्रेट ब्रिटेन में थी। इसीलिए भारतीय मूल के अनेक परिवार सन् १९७५ से पहले भी हालैण्ड में जाने लग गये थे, और वहाँ उन्होंने शिल्प, व्यापार व सर्विस आदि द्वारा आजीविका की भी व्यवस्था कर ली थी। ऐसा एक परिवार श्री बंसीमंगल का था, जिनकी पत्नी श्रीमती देवराजी मंगल अपने सात बच्चों के साथ

सन् १९६० में हेग जा बसी थीं। सन् १९६१ में उन्होंने वहाँ दिवाली का पर्व मनाया, जिसमें हेग में रहनेवाले अन्य अनेक भारतीय भी सम्मिलित हुए। इस अवसर पर सन्ध्या, हवन, भजन, संगीत तथा प्रवचन की भी व्यवस्था की गयी थी। हालैण्ड में आर्यसमाज का यहीं से श्रीगणेश हुआ, और कुछ समय पश्चात् श्रीमती मंगल ने अपने घर पर समाज के सत्संग प्रारम्भ कर दिये। पर हेग में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना ११ एप्रिल, १९६४ को हुई। शुरू में इसके चार सदस्य थे—श्रीमती मंगल, एक डच महिला श्रीमती वरला व्रिजा, श्री रामेश्वर और श्री स्वामीप्रसाद विहारी। सन् १९६७ में पण्डित रामरूप आर्य सुरीनाम से हेग (हालैण्ड) आये और उन्होंने वहाँ आर्यसमाज के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। इस समय से हेग का समाज तेजी से उन्नति करने लगा और १९७५ में भारतीय मूल के हजारों व्यक्तियों के सुरीनाम से हालैण्ड आ जाने के पश्चात् इस आर्यसमाज की सदस्य-संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी।

पहले हेग-आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। पर सन् १९८२ में उसका अपना भवन बनवा लिया गया, जिस पर दस लाख के लगभग रुपये व्यय हुए। वर्तमान समय में हेग का आर्यसमाज सुव्यवस्थित व सुचारु रूप से कार्यरत है, और उसके प्रधान श्री रामरूप रंगू तथा मन्त्री श्री बलदेव हैं। हेग आर्यसमाज की स्थापना तथा प्रगति का प्रधान श्रेय श्रीमती देवराजी मंगल को प्राप्त है, जो अब (सन् १९८४) वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर 'मंगला यती' के नाम से आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म की सराहनीय सेवा कर रही हैं।

भारत से अनेक विद्वान् व प्रचारक समय-समय पर हालैण्ड में धर्म-प्रचार के लिए जाते रहे हैं, जिनमें पण्डित उषर्बुध, श्री योगेश्वरानन्द, श्री चेतनानन्द, श्री श्यामसुन्दर स्नातक और श्री अगस्त्य मुनि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ समय हुआ, प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, स्वामी इन्द्रवेश और स्वामी अग्निवेश भी हालैण्ड गये, और उनके प्रवचनों से आर्यसमाज को बहुत बल मिला। स्वामी अग्निवेश ने वहाँ 'नवयुवक-परिषद्' की भी स्थापना की।

इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय यूरोप में आर्यसमाज का सबसे अधिक प्रचार हालैण्ड में है, जहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों की संख्या बीस हजार के लगभग है। ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों से भी भारतीय मूल के हजारों व्यक्ति इस समय ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त कर ग्रेट ब्रिटेन में स्थायी रूप से बस गये हैं। पर उनमें आर्यसमाज की जड़ वैसी सुदृढ़ नहीं है, जैसी कि हालैण्ड के भारतीय मूल के लोगों में है।

तीसवाँ अध्याय

दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी एशिया में आर्यसमाज

(१) बरमा

ब्रिटिश शासन में सन् १६३७ तक बरमा भारत के अन्तर्गत था, और अंग्रेजों की अधीनता में उसकी वही स्थिति थी, जो बंगाल, बिहार आदि प्रान्तों की थी। सन् १६३७ में उसे भारत से पृथक् कर दिया गया। वरमा पर अंग्रेजों का शासन सन् १८८६ में स्थापित हुआ था, जबकि वहाँ के स्वतन्त्र राजा को जीतकर उन्होंने उस देश को अपने भारतीय साम्राज्य का अन्यतम प्रान्त बना दिया था। यद्यपि इससे पहले भी भारत और बरमा में व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध विद्यमान थे, पर शासन की दृष्टि से उसके भारत का अंग बन जाने पर बहुत-से भारतीय वहाँ व्यापार तथा सरकारी सर्विस आदि के लिए जाने लगे, और उसके नगरों में भारतीयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। बरमा में जाकर इस प्रकार बसनेवाले लोगों में बहुत-से आर्यसमाजी भी थे। स्वाभाविक रूप से उनकी इच्छा थी, कि बरमा में भी वैदिक धर्म का प्रचार हो और वहाँ भी आर्यसमाज स्थापित किये जायें। इसी प्रयोजन से वे समय-समय पर आर्य विद्वानों और प्रचारकों को बरमा में निमन्त्रित भी करते रहते थे। अनेक आर्य-संन्यासी तथा प्रचारक स्वयं भी वहाँ धर्म-प्रचार के लिए गये। इस सबका परिणाम यह हुआ, कि भारत के अन्य प्रान्तों के समान बरमा में भी आर्यसमाजों की स्थापना शुरू हो गयी।

बरमा की राजधानी रंगून में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रारम्भ स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा किया गया था। वह एक बंगाली संन्यासी थे, और रंगून में बसे हुए बंगालियों में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार करने में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। इसीलिए वहाँ जो आर्यसमाज स्थापित हुआ (७ जुलाई, १८६६), उसके प्रधान श्री कुंजबिहारी बैनर्जी तथा मन्त्री श्री बसु थे। बाद में तमिलनाडु और आन्ध्र के अनेक व्यक्ति भी आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए, और वैदिक धर्म के प्रचार में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। ऐसे एक सज्जन श्री ब्रह्मैय्या थे, जो आर्यसमाज-रंगून के कर्मठ कार्यकर्ता थे। रंगून में बसे हुए भारतीयों में बहुत-से गुजरात और उत्तरप्रदेश के भी थे। इनमें आर्यसमाज अधिक लोकप्रिय था। श्री देवज़ी शर्मा नामक एक सम्पन्न गुजराती व्यापारी अनेक वर्षों तक गुजरात समाज के प्रधान रहे, और उनके प्रधानत्वकाल में वहाँ आर्यसमाज की बहुत उन्नति हुई। सन् १६०४ में डॉक्टर गुरुदत्त सरिया बरमा की मेडिकल सर्विस में नियुक्त होकर रंगून गये थे। वह कट्टर आर्यसमाजी थे। सन् १६६४ में बरमा

में ही उनकी मृत्यु हुई। ६० वर्ष के सुदीर्घ काल में उन्होंने वरमा में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की उन्नति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। रंगून आर्यसमाज के तो वह सर्वेसर्वा थे। सन् १९३३ में रंगून-आर्यसमाज का जो भव्य विशाल मन्दिर वनकर तैयार हुआ, उसके लिए धन एकत्र करने में सरिया जी का ही प्रमुख कर्तृत्व था। रंगून-आर्यसमाज के अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं में श्री हलकर और श्री रामप्रसाद सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री हलकर महाराष्ट्र के निवासी थे, और अनेक वर्षों तक रंगून-आर्यसमाज के प्रधान रहे थे। श्री रामप्रसाद सिंह द्वारा सन् १९३४ में आर्यसमाज-मन्दिर की रजिस्ट्री करवायी गयी थी। रंगून-आर्यसमाज के साथ आर्यकुमार सभा और आर्य स्त्री-समाज की भी सत्ता थी। वहाँ आर्यकुमार सभा वहुत सक्रिय थी। उस द्वारा सात आर्यकुमार रात्रि-पाठशालाओं का संचालन किया जा रहा था। रंगून में डी. ए. वी. कॉलिज की भी स्थापना कर दी गयी थी। वरमा की शिक्षण-संस्थाओं में उसे सम्मानास्पद स्थान प्राप्त था। सन् १९३९-४५ के महायुद्ध के समय वरमा में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उसके कारण वहाँ आर्यसमाज के कार्य को जारी रख सकना सम्भव नहीं रहा था। सन् १९४२ के प्रारम्भ तक सम्पूर्ण वरमा पर जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। उस समय रंगून-आर्यसमाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी। पर श्री निजानन्द, श्री भोलाराम, श्री गौतम भारद्वाज और श्री एल० बी० लठिया आदि सज्जनों ने उस अवसर पर आर्यसमाज-रंगून की सम्पत्ति की रक्षा के लिए सराहनीय कार्य किया। युद्ध की समाप्ति पर जिन महानुभावों ने वहाँ आर्यसमाज को पुनर्गठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें श्री विशनदास, श्री के० वी० शर्मा, डॉक्टर ओम्प्रकाश, श्री रामराज सिंह, डा० एस० एल० लाम्बा, श्री के० एन० राय, श्री आर० एस० डी० जोशी, श्री एल० बी० लठिया, श्री श्यामलाल भारती और श्री गोविन्द भाई पटेल प्रमुख थे। शिक्षण-संस्थाओं के संचालन के अतिरिक्त समाज-सुधार तथा पीड़ितों की सहायता पर भी रंगून-समाज द्वारा ध्यान दिया जाता था, और इनके लिए भी उसकी ओर से अनेक कार्य किये गये थे।

उत्तरी वरमा का प्रधान नगर मांडले है। ब्रिटिश सरकार उसे रेलवे द्वारा रंगून के साथ जोड़ने के लिए प्रयत्नशील थी, और इसी प्रयोजन से उसने वहाँ रेलवे लाइन का निर्माण शुरू किया था। वहुत-से भारतीय सन् १८९० में रेलवे तथा नहरों आदि के निर्माण के लिए सरकारी सर्विस में मांडले जाने लगे। इनमें अधिक संख्या पंजावियों की थी। ये प्राय: आर्यसमाजी विचारों के थे। इसलिए उन्होंने माण्डले में समाज का कार्य प्रारम्भ कर दिया। शुरू में वे रेलवे के क्वार्टरों में सत्संग करने लगे, और सन् १९०९ में उन्होंने एक मकान समाज के लिए किराये पर ले लिया। आर्यसमाज का श्रीगणेश वहाँ इससे पहले ही हो चुका था, और प्रारम्भ-युग के उसके कार्यकर्ताओं में श्री ईश्वरदास, श्री मोहनसिंह ठेकेदार और श्री रामदेव मेहता प्रमुख थे। सन् १९१४ में श्री मोहनसिंह ने एक इमारत आर्यसमाज को दान में दे दी। इससे किराये की जो आमदनी प्राप्त होती थी, उसका उपयोग माण्डले में एक अनाथालय के संचालन के लिए किया गया। अनाथों की शिक्षा की भी इस संस्था में व्यवस्था की गयी थी। समाज-सेवा के अन्य कार्यों पर भी माण्डले-आर्यसमाज ने ध्यान दिया, जिसके कारण उसकी लोकप्रियता में वृद्धि होती गयी। सन् १९२९ में समाज के भवन के लिए २५,००० रुपये एकत्र कर लिये गये। इसमें ५,००० रुपयों का दान श्री ईश्वरसिंह का था। उस

समय रुपये की कीमत बहुत अधिक थी, अतः २५,००० की राशि एक भव्य भवन के लिए पर्याप्त थी। उस द्वारा एक भव्य दुमंजिली इमारत समाज-मन्दिर के लिए तैयार कर ली गयी। इस भवन में पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थापित किये गये, और आर्य-बाल (कुमार) सभा के लिए भी इसमें स्थान प्रदान कर दिया गया। सन् १९३९-४५ के महायुद्ध में जब जापानियों द्वारा माण्डले पर बम्ब-वर्षा की गयी, तो उससे आर्यसमाज-मन्दिर भी नष्ट हो गया। पर महायुद्ध की समाप्ति पर वहाँ के आर्य-सज्जनों ने न केवल समाज-मन्दिर का ही पुनर्निर्माण किया, अपितु आर्यसमाज के कार्यकलाप को भी नये उत्साह से प्रारम्भ कर दिया। शिक्षा के प्रसार पर माण्डले-आर्यसमाज का शुरू से ध्यान था। इसलिए उस द्वारा अनेक प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की गयी थी, जिनमें भारतीय मूल के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। एक डी० ए० वी० हाई स्कूल भी माण्डले में स्थापित किया गया था, जिसके साथ छात्रावास भी था। समीप की वस्तियों के बालक इसमें रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। बालिकाओं की शिक्षा के लिए भी माण्डले में एक आर्य कन्या विद्यालय खोल दिया गया था।

सन् १९३५ में 'आर्यसमाज सेण्ट्रल' नाम से माण्डले में एक अन्य समाज की स्थापना की गयी। इसके उन्नायकों में श्री रामलाल, श्री गणेशदास और श्री रामदेव मेहरा प्रमुख थे। इन सज्जनों में इतना उत्साह था कि इन्होंने समाज के लिए एक तिमंजिले भवन का निर्माण कर लिया था। महायुद्ध के समय 'आर्यसमाज सेण्ट्रल' को भी अपार क्षति उठानी पड़ी, पर युद्ध के समाप्त होते ही मांडले में समाज का कार्य दुगुने उत्साह से शुरू कर दिया गया। वैदिक धर्म के प्रचार के कार्य को अधिक सफलता के साथ सम्पन्न कर सकने के प्रयोजन से मांडले के दोनों आर्यसमाजों ने परस्पर सम्बद्ध हो जाने का निर्णय कर लिया, जिससे समाज के कार्य में अच्छी प्रगति हुई। आर्यस्त्री-समाज, आर्यकुमार सभा और आर्य कुमारिका सभा का कार्य भी मांडले में प्रगति करने लगा। एक अनाथालय भी वहाँ स्थापित किया गया, जिसमें मांडले के अतिरिक्त अन्य स्थानों के अनाथों को भी आश्रय प्रदान किया जाता था। अनाथों के भोजन, वस्त्र, पालन-पोषण तथा शिक्षा की सब व्यवस्था आर्यसमाज द्वारा ही की जाती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि मांडले में आर्यसमाज का प्रभाव बहुत अधिक था, और उस द्वारा लोक-कल्याण तथा समाज-सेवा के अनेक कार्य किये जा रहे थे।

बरमा के पुराने आर्यसमाजों में मचीना, मेम्यो, म्यित्किना, काम्बलू, मोन्यवा और अक्याब के समाज मुख्य थे। मचीना समाज की स्थापना सन् १८८९ में हुई थी। उसके साथ भी आर्य स्त्री-समाज और आर्यकुमार सभा की सत्ता थी। एक डी० ए० वी० स्कूल भी उस द्वारा चलाया जा रहा था। मेम्यो का समाज सन् १९०५ में स्थापित हुआ था। स्त्री-शिक्षा के लिए इस समाज के तत्त्वावधान में डी० ए० वी० आर्य कन्या स्कूल का संचालन किया जा रहा था। सन् १९१४ में स्थापित काम्बलू समाज के अधीन भी एक डी० ए० वी० स्कूल विद्यमान था। म्यित्किना नगर बरमा के उत्तरी क्षेत्र में स्थित है। सन् १९०५ में रेलवे द्वारा इसका सम्बन्ध रंगून के साथ स्थापित कर दिया गया था। रेलवे के निर्माण तथा संचालन के लिए बहुत-से भारतीय सरकारी सर्विस में वहाँ आ गये थे। सैनिक छावनी भी वहाँ स्थापित थी, जिसमें भारतीय सिपाहियों की अच्छी बड़ी संख्या थी। इस दशा में वहाँ आर्यसमाज के कार्यकलाप का प्रारम्भ होना स्वाभाविक ही

था। सन् १९१२ में वहाँ समाज की स्थापना हो गयी। प्रारम्भ-काल में श्री बालकृष्ण कपिल, श्री इन्द्र सिंह, श्री भाई सिंह, श्री पृथ्वी सिंह, श्री रूप राय और श्री रामेश्वर-दयाल इस समाज के प्रमुख कार्यकर्ता थे। शीघ्र ही म्यित्किना में समाज-मन्दिर का निर्माण कर लिया गया और उसके साथ एक डी० ए० वी० स्कूल भी खोल दिया गया। सन् १९१९ तक इस स्कूल की दुमंजिली इमारत भी बनकर तैयार हो गयी थी। महायुद्ध (१९३९-४५) में इस नगर का आर्यसमाज-मन्दिर और डी० ए० वी० स्कूल दोनों ही बम्ब-वर्षा से नष्ट हो गये। पर युद्ध की समाप्ति पर श्री भारूमल कपूर, श्री हरद्वारी-लाल और श्री नरदेव सिंह के पुरुषार्थ से इन दोनों का पुनर्निर्माण किया गया। म्यित्किना में हिन्दू निवासियों की संख्या हजारों में थी। अतः वहाँ आर्यसमाज के कार्य-कलाप का खूब विस्तार हुआ। समाज के सत्संग नियमपूर्वक वहाँ हुआ करते थे, और हिन्दू पर्वों व त्यौहारों को भी धूमधाम के साथ मनाया जाता था। मोन्यवा समाज की स्थापना सन् १९१७ में हुई थी। इस समाज द्वारा एक स्कूल (हिन्दू स्कूल) चलाया जा रहा था, जो उत्तरी बरमा का पहला हिन्दू शिक्षणालय था। अक्याब समाज सन् १९२२ में स्थापित हुआ था। इस समाज का अपना भवन था, और इस द्वारा अछूतवर्ग के बच्चों के लिए एक स्कूल भी स्थापित था। एक वैतनिक प्रचारक भी इसकी ओर से धर्म-प्रचार के लिए नियुक्त था। हैदराबाद-सत्याग्रह में इस समाज ने सत्याग्रहियों का जत्था भी भेजा था।

बरमा के पुराने आर्यसमाजों में ताथेगोन, मोगोक, बसीन, नामतू और चूक के समाज भी उल्लेखनीय हैं। ताथेगोन में श्री हीरालाल के प्रयत्न से सन् १९२५ में आर्य-समाज की स्थापना हुई थी। समाज की स्थापना तथा संचालन में उनके मुख्य सहयोगी श्री शेर सिंह, श्री मूनोलाल और श्री सीताराम थे। श्री कन्हैयालाल मिश्र की सेवाओं से लाभ उठाकर इस समाज ने वैदिक धर्म के प्रचार में अच्छी सफलता प्राप्त की थी। मोगोक में आर्यसमाज का बीजारोपण तो सन् १९१२ में ही हो गया था, पर वहाँ विधिवत् समाज का कार्य सन् १९२८ में प्रारम्भ हुआ था। मोगोक के जंगलात के महकमे में श्री कालू-राम शर्मा चीफ क्लर्क थे। वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते थे। उन्होंने सन् १९१२ में मोगोक में अपने घर पर बच्चों का एक स्कूल खोल दिया था, जिसमें हिन्दी के साथ-साथ धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। जनता में भी श्री शर्मा प्रचार करते रहते थे। सन् १९२८ में श्री मेहता जैमिनी वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए मोगोक गये थे। वहाँ के लोग उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुए, और श्री द्वारका-नाथ ने वैदिक धर्म की उत्कृष्टता को अनुभव कर अपने मकान में आर्यसमाज का कार्य किये जाने की अनुमति प्रदान कर दी। दस साल तक वहीं से वैदिक धर्म का कार्य किया जाता रहा। बाद में समाज के लिए एक मकान किराये पर ले लिया गया। सन् १९४३ में श्री नरसिंह दास ग्रोवर ने एक इमारत आर्यसमाज के लिए दान में दे दी थी, और कुछ समय पश्चात् श्री हरवंशलाल गांधी ने। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् व प्रचारक पण्डित मदनमोहन विद्यासागर बरमा में धर्म-प्रचार करते हुए सन् १९५५ में मोगोक गये थे। जनता उनके व्याख्यानों से इतनी अधिक प्रभावित हुई, कि समाज के लिए एक भव्य व विशाल मन्दिर के निर्माण हेतु प्रचुर धनराशि को एकत्र कर सकना सम्भव हो गया। नामतू-समाज सन् १९३४ में स्थापित हुआ था। महायुद्ध के अवसर पर इसका भवन नष्ट

हो गया था, और वहाँ समाज का कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा था। सन् १९५२ में नामतू-समाज को पुनरुज्जीवित किया गया। येनान ग्यांग आर्यसमाज की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी और बसीन-समाज की १९३७ में। येनान ग्यांग बरमा के माग्वे जिले में है। वहाँ समाज का अपना दुमंजिला भवन था, और उस द्वारा एक हिन्दू स्कूल का भी संचालन किया जा रहा था। महायुद्ध के समय इस नगरी के बहुत-से भारतीय स्वदेश लौट गये थे, जिसके कारण वहाँ समाज के कार्य में शिथिलता आ गयी थी। पर युद्ध की समाप्ति पर इस समाज में फिर नव-जीवन का संचार हुआ। सन् १९३५ में स्थापित चूक के आर्यसमाज का न केवल अपना मन्दिर ही था, अपितु अन्य भू-सम्पत्ति भी उसके स्वत्व में थी। उसकी ओर से एक डी० ए० वी० पाठशाला का भी संचालन किया जाता था। वैदिक धर्म के प्रचार का यह समाज भी सशक्त केन्द्र था, और इस द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों के लिए विशेष प्रयत्न किया गया था।

महायुद्ध (१९३९-४५) से पहले स्थापित हुए बरमा के आर्यसमाजों में प्रोम और इन्सिन के समाज भी उल्लेखनीय हैं। प्रोम का समाज सन् १९३६ में स्थापित हुआ था, और इन्सिन का सन् १९३९ में। सन् १९४० में जब कि बरमा महायुद्ध की चपेट में नहीं आया था, श्याटम्बो में भी समाज की स्थापना हो गयी थी। यह समाज भी सुचारु रूप से वैदिक धर्म के प्रचार के कार्य में तत्पर था। इसके लिए उस द्वारा एक प्रचारक की भी नियुक्ति की गयी थी। इनके अतिरिक्त हेन्जादा, क्लौ ये-उन, लाशिओ और ताविन्यी में भी इस काल तक आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। बरमा में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार प्रायः उसी ढंग से हुआ था, जैसाकि उत्तरी भारत के प्रान्तों में।

सन् १९३० तक बरमा में आर्यसमाजों की कुल संख्या ३० तक पहुँच गयी थी, और वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा का भी संगठन कर लिया गया था। सभा का प्रधान कार्यालय रंगून में था, और उसे केन्द्र बनाकर बरमा के विविध क्षेत्रों में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा था। वैसे तो सन् १९३७ तक बरमी लोग भी 'भारतीय' ही थे, पर पंजाब, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मद्रास, बंगाल आदि के जो लोग वहाँ जाकर बस गये थे, उनकी संख्या भी दस लाख के लगभग थी। आर्यसमाज का प्रचार प्रधानतया इन्हीं लोगों में था। सन् १९३७ में जब बरमा भारत से पृथक् हो गया, तब भी वहाँ आर्य-समाज का कार्य पूर्ववत् जारी रहा, और नये-नये समाजों की स्थापना होती गयी। वहाँ की आर्य प्रतिनिधि सभा भी पूर्ववत् कायम रही। पर उसके कार्य में बाधा तब उपस्थित हुई, जब द्वितीय महायुद्ध (१९३४-४५) के समय जापान की सेनाओं ने रंगून पर कब्जा कर लिया (८ मार्च, १९४२)। बरमा में जापान द्वारा की गयी बम्ब-वर्षा से नगरों की अन्य इमारतों के साथ अनेक समाज-मन्दिर भी नष्ट हो गये, और बहुत-से भारतीय अपने घर-बार व व्यापार-व्यवसाय को छोड़कर भारत चले आने के लिए विवश हो गये। सन् १९४५ के प्रारम्भ तक बरमा जापान के प्रभुत्व में रहा, और महायुद्ध में मित्र-पक्ष (ब्रिटेन-अमेरिका-रूस-फ्रांस आदि) की विजय हो जाने के कुछ समय पश्चात् वहाँ स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य की स्थापना हुई। जनवरी, १९४८ से यह देश पूर्णतया स्वतन्त्र है। महायुद्ध और उसके बाद (१९४२-१९४७) की परिस्थितियों में बरमा में आर्यसमाज का कार्य अस्त-व्यस्त हो गया था। जब वहाँ शान्ति और व्यवस्था कायम हो गयी, तो उसे पुनः सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी

प्रयोजन से सन् १९५२ में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय बरमा गये। उनकी प्रेरणा से १४ एप्रिल को माण्डले में एक वैदिक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया। उस समय बरमा में २४ आर्यसमाज सक्रिय रूप से विद्यमान थे। उनमें से १४ के प्रतिनिधि इस कान्फ़रेन्स में सम्मिलित हुए, और उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा की पुनःस्थापना तथा आर्यसमाज के कार्य को नये उत्साह के साथ प्रारम्भ करने का निश्चय किया। श्री रामशरणदास जोशी सभा के प्रधान निर्वाचित हुए, और डॉक्टर ओम्प्रकाश मन्त्री। श्री रामदास क्षेत्रपाल को कोषाध्यक्ष नियत किया गया। इसी समय के लगभग आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् एवं सुयोग्य प्रचारक पण्डित मदनमोहन विद्यासागर बरमा गये, और उन्होंने उस देश में समाज के कार्य को सुव्यवस्थित करने के सम्बन्ध में अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। बाद में महात्मा आनन्द स्वामी आदि अन्य आर्य नेता भी बरमा गये। इन सबके प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि, वहाँ आर्यसमाज पुनः सुव्यवस्थित एवं सक्रिय हो गया।

(२) थाईलैण्ड

बरमा के पूर्व में थाईलैण्ड (सियाम) की स्थिति है। प्राचीन समय में इस देश में जिस धर्म का प्रचार था, वह वैदिक धर्म से प्रभावित था। वहाँ की संस्कृति भी आर्य थी। वर्तमान समय में भी वहाँ के धर्म, भाषा तथा संस्कृति पर भारत का बहुत प्रभाव है। जो लोग आधुनिक समय में भारत से जाकर थाईलैण्ड में बसे हैं, उनकी संख्या १८,००० के लगभग है। इनमें बहुसंख्या हिन्दी भाषा-भाषियों की है, जो उत्तरप्रदेश से वहाँ गये हैं। थाईलैण्ड की राजधानी बैंगकाक है, जिसके लिए विदेशी यात्रियों में बहुत आकर्षण है। बैंगकाक में आर्यसमाज की स्थापना एक विचित्र ढंग से हुई। वहाँ के एक सज्जन श्री गजहर भुज थे, जिन्हें अपने किसी मित्र के घर पर सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति प्राप्त हो गयी। उन्होंने इस ग्रन्थ को पढ़ा, और इससे वह बहुत प्रभावित हुए। उनके साथ-साथ श्री पालकधारी सिंह और श्री रामदेवसिंह ने भी सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का उनपर भी बहुत प्रभाव पड़ा। सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में इन सज्जनों से जानकारी प्राप्त कर बैंगकाक के कितने ही अन्य लोगों में भी इस ग्रन्थ को पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई, और शीघ्र ही सर्वत्र उसकी चर्चा होने लगी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि २३ मई, सन् १९२० को बैंगकाक में 'वैदिक धर्म-प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। इस सभा के वही उद्देश्य थे, जो आर्यसमाज के हैं। सभा द्वारा वैदिक धर्म की शिक्षाओं के प्रचार के लिए साप्ताहिक सत्संगों का आयोजन किया जाने लगा। ये सत्संग सभा के विविध सदस्यों के घरों पर आयोजित किये जाते थे, और बैंगकाक में बसे हुए भारतीय नर-नारी उनमें उपस्थित होकर बड़ी आस्था के साथ महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का अनुशीलन करते थे। वैदिक धर्म-प्रचारिणी सभा के प्रथम पदाधिकारी श्री रामदेवसिंह(प्रधान), श्री इन्द्रदेवसिंह(उपप्रधान) और श्री पालकधारीसिंह (मन्त्री) थे। सभा की ओर से पाँच प्रचारकों की इस प्रयोजन से नियुक्ति की गयी, ताकि व्यापक रूप से वैदिक धर्म का प्रचार किया जा सके।

वैदिक धर्म-प्रचारिणी सभा के सदस्य स्थान की कमी को शुरू से ही अनुभव कर रहे थे। पर ज्यों-ज्यों उसकी लोकप्रियता में वृद्धि होती गयी, तेजी के साथ यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि सभा का अपना भवन होना चाहिए। इस प्रयोजन से एक 'वेद-

मन्दिर' के निर्माण का निश्चय किया गया, और उसके लिए धन एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया गया। वेदमन्दिर के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश तथा उसपर मन्दिर के निर्माण की सब उत्तरदायिता श्री सूरजप्रसाद को सौंप दी गयी। उन्होंने यह कार्य बड़ी लगन के साथ सम्पन्न किया, और बैंगकाक में बसे हुए भारतीयों ने भी इसमें खूब दिलचस्पी प्रदर्शित की। परिणाम यह हुआ, कि नगर के एक उपयुक्त स्थान पर दो एकड़ भूमि प्राप्त कर ली गयी, और उसपर एक भव्य व विशाल भवन का निर्माण कर लिया गया। एक पुस्तकालय भी यहाँ स्थापित कर दिया गया।

सन् १९२२ में वैदिक धर्म-प्रचारिणी सभा का नाम बदलकर 'आर्यसमाज' रख दिया गया। वस्तुतः, यह सभा पहले भी आर्यसमाज ही थी, केवल नाम का ही भेद था। अब यथार्थ में बैंगकाक में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। पर क्योंकि थाईलैण्ड में यह अकेला ही समाज था, अतः वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना का तो प्रश्न ही नहीं था। २३ मार्च, १९२३ को इस समाज को उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। बैंगकाक का यह आर्यसमाज थाइलैण्ड में वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के प्रचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। प्रारम्भ से ही उसके वार्षिकोत्सव नियमित रूप से मनाये जाते रहे हैं। साप्ताहिक सत्संग के अतिरिक्त आर्य पर्वों व त्यौहारों को भी वहाँ उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। क्योंकि वैंगकाक-आर्यसमाज उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि-सभा के साथ सम्बद्ध था, अतः उस सभा के कार्यकलाप तथा भारत के विभिन्न आर्य-आन्दोलनों व संघर्षों में भी उसका योगदान रहा।

सन् १९२५ में श्री मेहता जैमिनी और ठाकुर प्रवीणसिंह वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए वैंगकाक भी गये थे। वहाँ उनके प्रचार का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। बाद में अन्य भी अनेक आर्य विद्वान् व प्रचारक वैंगकाक गये, और वहाँ के आर्यसमाज में नयी स्फूर्ति का संचार करते रहे। भारत से गये इन विद्वान् प्रचारकों में डॉक्टर भगतराम-सहगल, श्री रमेश स्वामी, स्वामी सर्वदानन्द और स्वामी ध्रुवानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद में महात्मा आनन्द स्वामी भी वहाँ प्रचार के लिए गये थे। वैंगकाक-आर्यसमाज के सभासदों की संख्या कभी अधिक नहीं हुई, पर वहाँ के हिन्दुओं की सहानुभूति व सहायता उसे सदा प्राप्त रही। जब कभी आर्यसमाज द्वारा धन की अपील की गयी, हिन्दुओं के सभी वर्गों ने उसके लिए यथाशक्ति धनराशियाँ प्रदान कीं। थाईलैण्ड की सियामी जनता भी आर्यसमाज के कार्यकलाप को सहानुभूति की दृष्टि से देखती रही, क्योंकि उस द्वारा जिन नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों का प्रचार किया जाता था, वे उस देश की परम्पराओं के अनुकूल थे।

(३) सिंगापुर और मलयेसिया

वर्तमान समय में थाईलैण्ड की खाड़ी के दक्षिण-पूर्व में मलयेसिया और सिंगापुर नाम के दो पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति है। इनका वर्तमान रूप में निर्माण महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति के पश्चात् बीसवीं सदी के सातवें दशक में हुआ था। महायुद्ध से पहले इनके अन्तर्गत प्रदेश ब्रिटेन के अधीन थे। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विविध उपनिवेशों के समान इनमें भी भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में जाकर बसे। मलय या मलाया (जो मलयेसिया का एक भाग है) में अंग्रेज लोग बड़े पैमाने पर रबड़ का

उत्पादन करते थे, और वहाँ टिन की अनेक खानें भी थीं। इनमें मजदूरी के लिए बहुत-से भारतीयों को मलय ले-जाया गया, और कालान्तर में बहुत-से व्यापारी, शिल्पी तथा चिकित्सक आदि भी भारत से वहाँ जाकर बसने लगे। परिणाम यह हुआ, कि इनमें भारतीयों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। सन् १९७४ में मलयेसिया में ९,५०,००० और सिंगापुर में १,३०,००० के लगभग भारतीयों का निवास था। इनमें हिन्दी और पंजाबी भाषाएँ बोलनेवाले लोग भी पर्याप्त संख्या में थे। अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज इनमें बसे हुए भारतीयों के लिए अपरिचित नहीं थे। इन्हीं लोगों द्वारा कुआलालम्पूर (मलयेसिया) और सिंगापुर में आर्यसमाजों की स्थापना की गयी थी। सन् १९२६ में डॉक्टर भगतराम सहगल सपरिवार सिंगापुर गये थे, और वहाँ के सिक्ख-गुरुद्वारा में उन्होंने निवास किया था। उन्होंने सिंगापुर में अनेक व्याख्यान दिये, जिनकी वहाँ के हिन्दुओं में बहुत चर्चा हुई। इन व्याख्यानों से प्रभावित होकर श्री धर्मदेव राय तथा श्री कान्ताराय (जो मूलतः उत्तरप्रदेश के आजमगढ़ जिले के निवासी थे) ने ८ अक्टूबर, सन् १९२७ में एक मकान किराये पर लेकर आर्यसमाज की स्थापना कर दी। सन् १९३३ तक श्री धर्मदेवराय, श्री कान्ताराय तथा श्री मंगलाप्रसाद चौबे क्रमशः आर्यसमाज के प्रधान रहे, और श्री रामबरनराय, श्री सकलदेवराय और श्री सिधारीराय मन्त्री। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक सिंगापुर का आर्यसमाज निरन्तर उन्नति करता रहा। पण्डित वीरेन्द्र कुमार और श्री मंगलानन्द पुरी आदि अनेक प्रचारक भारत से वेद-प्रचार के लिए सिंगापुर जाते रहे, जिनसे वहाँ के आर्यों में समाज के लिए उत्साह का संचार होता रहा। हैदराबाद-सत्याग्रह के लिए इस आर्यसमाज ने आर्थिक सहायता भिजवाने की व्यवस्था की थी। इसके कारण सरकार का प्रकोप भी इस समाज को सहना पड़ा था। शुरू में केवल २० व्यक्ति समाज के सभासद् बने थे, पर बाद में उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी, और केवल पाँच वर्षों में यह संख्या २०० तक पहुँच गयी। सिंगापुर का आर्यसमाज निरन्तर उन्नति करता जा रहा था। पण्डित वासुदेव शर्मा के प्रयत्न से आर्यसमाज ने एक इमारत भी खरीद ली थी, जिसे समाज-मन्दिर का रूप प्रदान कर दिया गया था। समाज में नियमित रूप से साप्ताहिक सत्संग हुआ करते थे, और शुद्धि तथा दलितोद्धार पर भी समाज द्वारा ध्यान दिया जाता था। पर महायुद्ध (१९३९-४५) में उसके कार्य में गम्भीर बाधा उपस्थित हो गयी। ३१ जनवरी, सन् १९४२ को जापानी सेनाएँ सिंगापुर पहुँच गयी थीं, और उनके सम्मुख अंग्रेजों ने घुटने टेक देने में ही अपना हित समझा था। महायुद्ध के दौरान और उसके बाद के वर्षों में सिंगापुर की जो परिस्थितियाँ थीं, उनमें आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाना सम्भव नहीं था, यद्यपि तब भी वहाँ आर्यसमाज की सत्ता कायम रही थी। पर जब वहाँ पूर्णरूप से शान्ति स्थापित हो गयी, तो आर्यसमाज का पुनरुद्धार किया गया। आर्यसमाज के नये व विशाल भवन की आधारशिला १८ मार्च, सन् १९६१ को सिंगापुर में स्थित भारत के हाई कमिश्नर श्री योगेन्द्र कृष्ण पुरी द्वारा रखी गयी। सिंगापुर के आर्यसमाजियों तथा अन्य भारतीयों ने समाज-मन्दिर के लिए उदारतापूर्वक धन प्रदान किया। दो वर्ष में समाज की शानदार तिमंजिली इमारत बनकर तैयार हो गयी थी, और २६ जनवरी, १९६३ को श्री मूलामल सचदेव द्वारा उसका विधिवत् उद्घाटन किया गया था। उस समय से यह समाज सिंगापुर में वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है,

और स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती, महात्मा आनन्द स्वामी, पण्डित नन्दलाल वानप्रस्थी और पण्डित श्यामसुन्दर स्नातक आदि अनेक आर्य विद्वान् वहाँ धर्म-प्रचार के लिए जा चुके हैं। आर्य संस्कृति व धर्म के वातावरण में शिक्षा देने के लिए डी० ए० वी० स्कूल भी वहाँ विद्यमान है, जिसमें हिन्दी की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह कहना असंगत नहीं होगा, कि सिंगापुर का आर्यसमाज-मन्दिर दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा सुदूर पूर्वी क्षेत्र के आर्यसमाजियों के लिए गर्व का विषय है। महायुद्ध के पश्चात् सिंगापुर-समाज की प्रगति में श्री दुर्गादास सचदेव, श्री श्रीधर त्रिपाठी, श्री हनुमानराय, श्री धर्मपाल कुमरा, श्री ओम्प्रकाश राय और श्री मदनमोहन भारद्वाज का विशेष कर्तृत्व रहा है।

मलयेसिया के महत्त्वपूर्ण नगर कुआलालम्पूर में भी बीसवीं सदी के तृतीय दशक में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। इस क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय पण्डित कन्हैयालाल को प्राप्त है। वह आर्य विद्या सभा वाराणसी के उपदेशक थे। उन्होंने न केवल मलय में ही, अपितु जावा और सुमात्रा (इण्डोनेशिया) में भी धर्म-प्रचार किया था। उनके प्रचार के परिणामस्वरूप मेडन(सुमात्रा) में आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसके लिए हकीम भक्तराम ने बहुत परिश्रम किया था। पर ये समाज देर तक कायम नहीं रह सके। महायुद्ध और उसके बाद की उथल-पुथल के कारण इनके लिए कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा।

(४) ईराक

बीसवीं सदी के प्रथम (१९१४-१८) और द्वितीय (१९३९-४५) महायुद्धों के कारण पश्चिमी एशिया के अरब देशों की राजनैतिक दशा में बहुत परिवर्तन आ गया है। इस सदी के प्रारम्भकाल में इस क्षेत्र के बहुसंख्यक देश तुर्की के सुलतान की अधीनता में थे। प्रथम महायुद्ध में तुर्की मित्र-राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि) के विरुद्ध जर्मनी के पक्ष में था। तुर्की से युद्ध करते हुए मित्र-राष्ट्रों ने भारत के सैनिकों तथा अन्य साधनों का बहुत उपयोग किया था। इस क्षेत्र में जर्मन-पक्ष की जो पराजय हुई, उसमें भारतीय सेनाओं का कर्तृत्व सबसे महत्त्वपूर्ण था। वहाँ युद्ध के लिए जिस सामग्री (वस्त्र, भोजन, वाहन, अस्त्र-शस्त्र आदि) का प्रयोग हुआ, वह भी मुख्यतया भारत से ले-जायी जाती थी। यही कारण है, कि महायुद्ध के दौरान इस क्षेत्र के इराक आदि देशों में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में जाने लग गये थे। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत इस क्षेत्र के देशों की जो व्यवस्था की गयी, उसके अनुसार ईराक को एक पृथक् राज्य बना दिया गया, और उसके शासन पर ग्रेट ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्व कायम किया गया। यथार्थ में इस काल में ईराक ब्रिटिश साम्राज्य के ही अन्तर्गत था, जिससे लाभ उठाकर बहुत-से भारतीय वहाँ व्यापार आदि के लिए बसने लग गये थे। महायुद्ध के दौरान जो भारतीय सेना के दफ्तरों तथा रेलवे व सार्वजनिक निर्माण-विभाग में कार्य करने के लिए ले-जाये गये थे, उनमें से भी बहुत-से वहीं बस गये थे। इसका परिणाम यह था, कि सन् १९२१ के लगभग ईराक में भारतीयों की आबादी तीन हजार के लगभग हो गयी थी। इनमें ऐसे भी बहुत-से थे, जो वहाँ पंजाब से गये थे और जिनमें आर्यसमाजी विचार बद्धमूल थे। इनकी आबादी मुख्यतया बसरा और बगदाद में थी। बसरा ईराक का

बन्दरगाह है, और बगदाद राजधानी है। पंजाबियों ने वहाँ खेल का सामान, कपड़े आदि का व्यापार कर अपनी आर्थिक दशा बहुत अच्छी बना ली थी। इन्हीं द्वारा सन् १९१९ में बगदाद में आर्यसमाज की स्थापना की गयी। सन् १९२२ में सरकार से उसकी विधिवत् रजिस्ट्री भी करा ली गयी। प्रारम्भ के वर्षों में इस समाज् के सभासदों की संख्या २५० के लगभग थी। उस समय बगदाद में हिन्दुओं की अन्य कोई सभा या संस्था नहीं थी, अतः वहाँ के सभी हिन्दुओं की सहानुभूति इस समाज के साथ थी, और यही उनके सामूहिक जीवन का केन्द्र था। वसन्त पंचमी, शिवरात्रि, विजयदशमी, दिवाली, जन्माष्टमी आदि सभी हिन्दू त्यौहार इस समाज द्वारा धूमधाम के साथ मनाये जाते थे, जिनमें सब हिन्दू सम्मिलित होते थे। साप्ताहिक सत्संग समाज में नियमपूर्वक होते थे, और आर्यसमाज का स्थापना-दिवस भी वहाँ उत्साहपूर्वक मनाया जाता था। बगदाद-आर्यसमाज द्वारा अनेक मुसलमान स्त्रियों की शुद्धि कर हिन्दुओं से उनके विवाह कराये गये, और विधर्मियों में भी वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया गया। इस समाज का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दुओं के अन्त्येष्टि-संस्कार के लिए शवदाह की व्यवस्था करना था। पहले बगदाद में दाह-कर्म का कोई भी प्रबन्ध नहीं था। आर्यसमाज ने इसकी समुचित व्यवस्था कर हिन्दू मात्र में बहुत लोकप्रियता प्राप्त की, और बंगाल, गुजरात तथा मद्रास आदि सभी प्रान्तों के हिन्दू उसकी सहायता के लिए प्रवृत्त हुए। बगदाद-आर्यसमाज के प्रारम्भकाल के कार्यकर्ताओं में श्री अमरनाथ महेन्द्रा, महाशय मानिकचन्द्र गुलशन, श्री जयदेव शर्मा, लाला जगन्नाथ गुलाटी और श्री श्यामलाल कोहली के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सबका बगदाद में आर्यसमाज के कार्यकलाप को आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। वहाँ आर्यसमाज ने इतनी उन्नति कर ली थी, कि उसका अपना भवन भी बना लिया गया था।

बगदाद के समान बसरा में भी आर्यसमाज स्थापित था, और वहाँ के एक अन्य नगर हव्वानिया में भी। इस नगर की स्थिति बगदाद के समीप ही थी। पर ईराक में प्रधान आर्यसमाज बगदाद का ही था, और वह सीधा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के साथ सम्बद्ध था। १४ मार्च, सन् १९३० को सार्वदेशिक सभा के साथ उसका विधिवत् सम्बन्ध स्थापित हो गया था। पर ईराक के ये आर्यसमाज देर तक कायम नहीं रह सके। ईराक पर ब्रिटेन का जो आधिपत्य था, वहाँ के निवासी उसके विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे। पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए वहाँ निरन्तर सशस्त्र आन्दोलन चलते रहते थे। यह दशा थी, जब सन् १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया। ईराक के राष्ट्रवादी लोगों ने इस युद्ध को ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होने का स्वर्णिम अवसर समझा, और उनकी सहानुभूति ब्रिटेन के विरोधी पक्ष से होने लगी। सन् १९४१ में उग्र राष्ट्रवादियों के दबाव के कारण ईराक की सरकार के ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध कटु होते गये, और यह देश भी युद्ध की चपेट में आ गया। महायुद्ध के दौरान और उसके बाद पश्चिमी एशिया के अरब राज्यों की जो दशा थी, उसमें भारतीयों के लिए उनमें शान्ति-पूर्वक रह सकना सुगम नहीं रहा, और धीरे-धीरे बगदाद व बसरा आदि में उनके लिए व्यापार आदि कर सकने में अनेक बाधाएँ आने लगीं। परिणाम यह हुआ, कि आर्यसमाज के कार्य में भी शिथिलता आ गयी, और समयान्तर में वह प्रायः समाप्त ही हो गया।

(५) अरब में वैदिक धर्म का प्रचार

ईराक के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी आर्यसमाज की स्थापना और वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया गया था जिसके लिए पण्डित रुचिराम जी ने असाधारण पुरुषार्थ किया था। उन्होंने सात साल के लगभग अरब तथा ईरान की खाड़ी के देशों में पर्यटन किया, और न केवल वहाँ निवास करनेवाले भारतीयों को ही, अपितु अरब लोगों को भी वैदिक धर्म के मन्तव्यों से परिचित कराया। आर्यसमाज के इतिहास में पण्डित रुचिराम की इस प्रचार-यात्रा का बहुत महत्त्व है। इस्लाम के इस सुदृढ़ गढ़ में उन्हीं द्वारा वेदों का सन्देश पहुँचाने का प्रयत्न किया गया था।

श्री रुचिराम का जन्म मियाँवाली (पाकिस्तान) जिले के जण्डांवाला गाँव में १ जनवरी, सन् १९०५ को हुआ था। उनके पिता श्री शामदास कट्टर देशभक्त तथा वैदिक धर्म के प्रेमी थे। 'इण्डिया' नाम के एक उर्दू पत्र में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एक लेख लिखने के कारण सन् १९०७ में उन्हें पाँच साल की जेल भी काटनी पड़ी थी। रुचिराम जी की शिक्षा लाहौर में हुई। डी० ए० वी० स्कूल से उन्होंने मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा पास की, और फिर दयानन्द उपदेशक विद्यालय, गुरुदत्त भवन में वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त की। वहाँ उनके गुरु स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती थे, जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अरब में वैदिक धर्म के प्रचार का निश्चय किया। सन् १९२९ में उन्होंने लाहौर से कराची के लिए प्रस्थान किया, और २९ अगस्त को वह स्थल-मार्ग से अरब के लिए चल पड़े। कितनी कठिनाइयों का सामना करते हुए और कैसे-कैसे कष्ट उठाते हुए वह अपने गन्तव्य देश में पहुँचे, इसका वृत्तान्त एक साहसिक यात्राविषयक उपन्यास से भी अधिक रोचक है। मार्ग में उन्होंने न डाकुओं की परवाह की और न खूँखार जानवरों की। भूख, प्यास, रोग सबका सामना करते हुए वह ईरान की खाड़ी पहुँच गये। अरबी भाषा का उन्हें समुचित ज्ञान था। उन्होंने अरबों की पोशाक पहन ली थी, और दाढ़ी भी रख ली थीं। ईरान की खाड़ी में जो अनेक बन्दरगाह हैं, उनमें बहुत-से हिन्दू व्यापारी भी चिरकाल से रहते आये हैं। ये प्रायः सिन्धी तथा गुजराती हैं। इनके पूर्वपुरुष सदियों पहले व्यापार के लिए इन बन्दरगाहों पर गये थे, और वहीं निवास करने लगे थे। अपने धर्म पर ये दृढ़ रहे। जिस बन्दरगाह पर पण्डित रुचिराम सबसे पहले पहुँचे, उसका नाम पसनी था। वहाँ कुछ दूकानें हिन्दुओं की भी थीं, और देवी का एक मन्दिर भी था। पसनी में उनकी भेंट सेठ गिरिधारीलाल सिन्धी तथा सेठ देवामल से हुई। रुचिराम जी ने वैदिक धर्म के सम्बन्ध में उन्हें परिचय दिया, और आर्यसमाजी साहित्य मँगवाने के लिए प्रेरित किया। पसनी से वह गदावर गये। वहाँ भी सिन्धियों और गुजरातियों की आठ-दस दूकानें थीं। भगत तुलसीदास, सेठ मूलचन्द और सेठ लोकूमल से रुचिराम जी मिले, और उन्हें वैदिक धर्म का उपदेश दिया। इसके बाद उन्होंने मसकत के लिए प्रस्थान किया। ईरान की खाड़ी पर यह एक बड़ा बन्दरगाह है, और सामुद्रिक व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। यहाँ से अरबी इलाका प्रारम्भ हो जाता है। मसकत में गुजराती और सिन्धी हिन्दुओं का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। ये सब व्यापारी थे। वहाँ एक शिवालय भी बना हुआ था, और एक गौशाला भी थी। पर हिन्दुओं के लिए अपने धर्म की शिक्षा प्राप्त करने का वहाँ कोई साधन नहीं था। क्रिश्चियन मिशनरियों ने वहाँ चर्च

के साथ एक स्कूल भी खोल रखा था। हिन्दुओं के बच्चे उसी में पढ़ने के लिए जाया करते थे। मिशन ने पुस्तकों की दुकान भी वहीं खोली हुई थी। आगाखानी मुसलमानों का भी वहाँ एक प्रचार-केन्द्र विद्यमान था। रुचिराम जी मसकत के हिन्दू व्यापारियों से मिले। इनमें कतिपय आर्यसमाज से परिचित थे। रुचिराम जी ने इन्हें आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रेरित किया, और वे इसके लिए उद्यत भी हो गये। श्री विश्राम भाई पटेल को मन्त्री वनाकर मसकत में आर्यसमाज का वीजारोपण कर दिया गया। वहाँ सत्संग भी शुरू करा दिये गये, और सेठ रतन जी, सेठ दामोदरलाल, सेठ गोकुलदास और श्री खीम-जी रामदास आदि सज्जन उनमें सम्मिलित होने लगे। आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए वहाँ वैदिक पुस्तकालय की स्थापना की भी प्रेरणा दी गयी। जिन दिनों पण्डित रुचिराम मसकत में थे, आगाखानी मिशन का वार्षिकोत्सव भी तब वहाँ हुआ। उसमें उन्हें भी व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। पण्डित जी के व्याख्यान का विषय 'एक ईश्वर की उपासना' था, जिससे अरब के लोग बहुत प्रभावित हुए। इस समय से पण्डित जी ने 'हिजबुल्लाह' नाम से अरबों में आर्यसमाज का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। हिजबुल्लाह का अर्थ श्रेष्ठ लोगों का समाज है। आर्यसमाज का भी यही अर्थ है। पण्डित जी ने मसकत के सुलतान से भी भेंट की, और उसे हिजबुल्लाह का अभिप्राय बताया।

पण्डित रुचिराम मसकत से दुबई गये। वहाँ वह आठ दिन ठहरे। मसकत के श्री विश्रामभाई पटेल के भाई श्री लालभाई पटेल का वहाँ व्यापार था। वहाँ के अन्य हिन्दू व्यापारियों में श्री जेठाभाई और श्री ईश्वरदास मुख्य थे। इन सबने आर्यसमाज की स्थापना के विचार का स्वागत किया। दुबई से कतार होते हुए पण्डित जी बहरीन पहुँचे। यह भी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और बहुत-से हिन्दू व्यापारी वहाँ बसे हुए थे। पण्डित जी को यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ, कि बहरीन में हिन्दुओं की ईमानदारी व सचाई की बहुत साख थी। वहाँ रात में किसी को घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं थी। पर हिन्दू इसके अपवाद थे। वे लालटेन लेकर रात को भी बाहर जा-आ सकते थे। रुचिराम जी ने इनमें वैदिक धर्म का प्रचार किया, और बहरीन में भी आर्यसमाज की स्थापना कर दी। दीवान गोविन्दराम उसके प्रधान बनाये गये, और सेठ विष्णुदास, सेठ हरिदास और श्री पुरुषोत्तमदास अन्य पदाधिकारी।

बहरीन से लखबर और उपलहसा होते हुए रुचिराम जी रियाज़ पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट अरेबिया के स्वतन्त्र व प्रतापी शासक इब्न सऊद से हुई। उसने उन्हें अपने दरबार में बुलाया, तथा उनके विचारों को सुनकर प्रसन्नता प्रकट की। उनके प्रभाव से उसने कतिपय ऐसे आदेश (यथा तम्बाकू न पीना) भी जारी किये, जो आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुसार थे। दो महीने के लगभग रियाज़ में रहकर रुचिराम जी मक्का गये। उन दिनों हज के यात्री बहुत बड़ी संख्या में एकत्र थे। हिजबुल्लाह के सिद्धान्तों की उनसे चर्चा करते हुए उन्होंने अरब के पवित्र स्थानों का पर्यटन किया। अरब लोग उनके विचारों का ध्यानपूर्वक श्रवण करते थे। मक्का-मदीना के प्रदेश में हिजबुल्लाह का प्रचार करते हुए रुचिराम जी ने ईजिप्ट के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ कैरो (काहिरा) और ऐलेग्जेण्ड्रिया (सिकन्दरिया) में हिन्दू व्यापारियों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। रुचिराम जी ने उनमें वैदिक धर्म का प्रचार किया, और उन्हें आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा से कैरो में आर्यसमाज स्थापित भी हो गया। रुचिराम

जी की यह नीति थी, कि वैदिक धर्म के मन्तव्यों का प्रचार हिन्दुओं में आर्यसमाज के नाम से किया जाय, और मुसलमानों में हिजबुल्लाह नाम से। यह उचित भी था, क्योंकि अरबी भाषा में आर्यसमाज के लिए हिजबुल्लाह शब्द ही प्रयुक्त होगा। ईजिप्ट में धर्म-प्रचार करने के पश्चात् वह पुनः अरब प्रायद्वीप के विविध देशों में गये, और लेबनान, फिलिस्तीन आदि का पर्यटन करते हुए अदन पहुँच गये। अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी भाग में स्थित अदन पर तब अंग्रेजों का शासन था, और वहाँ का बन्दरगाह ब्रिटिश नौ-शक्ति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। अदन में भारतीयों की अच्छी आबादी थी। उसमें हिन्दू व्यापारी अधिक संख्या में थे। दो हजार के लगभग हिन्दुओं का वहाँ निवास था। उनमें आर्यसमाज का प्रचार करने में कठिनाई नहीं हुई। अदन शहर समाज के मन्त्री श्री अमृत-लाल जसराज गागलानी बनाये गये और अदन बन्दरगाह (स्टीमर पायण्ट) के श्री प्रभा-शंकर। अदन आते हुए पण्डित जी ईराक भी गये थे। वहाँ आर्यसमाज पहले ही स्थापित थे। बगदाद का समाज तब सक्रिय था।

२६ अगस्त, १६२६ को पण्डित रुचिराम ने अरब के लिए कराची से प्रस्थान किया था। १५ फरवरी, १६३६ को वह भारत लौट आये। उन्होंने साढ़े छह साल के लगभग पश्चिमी एशिया के विविध देशों की यात्रा की, और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया। स्वामी स्वतन्त्रानन्द ने यह आदेश दिया था, कि अरब जाकर यह पता लगाएँ कि वहाँ आर्यसमाज का प्रचार किस प्रकार किया जा सकता है, पर किसी एक स्थान पर अधिक दिन न रहें। कहीं आर्यसमाज स्थापित कर लोगों को सन्ध्या-हवन सिखाने तथा वैदिक धर्म के मन्तव्यों का सुचारु रूप से ज्ञान कराने के लिए बहुत समय लगता है। यह काम तो स्थायी रूप से नियुक्त उपदेशक ही कर सकता है। स्वामी जी का विचार था, कि रुचिराम जी द्वारा अरब में वैदिक धर्म के प्रचार की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में यथोचित जानकारी प्राप्त कर वहाँ स्थायी प्रचार की व्यवस्था की जा सकेगी। इसीलिए रुचिराम जी ने सर्वत्र पर्यटन कर पश्चिमी एशिया के नगरों में बसे हुए हिन्दुओं से सम्पर्क किया, और उनमें आर्यसमाज का बीजारोपण भी किया। साथ ही, उन्होंने हिजबुल्लाह नाम से अरबों में भी वैदिक मन्तव्यों का प्रचार किया। पर रुचिराम जी द्वारा आर्य-समाजों के जो पौदे अरब के नगरों में लगाये गये थे, वे पल्लवित व पुष्पित नहीं हो सके। एक तो इन समाजों के लिए स्थायी रूप से काम करनेवाले उपदेशकों को वहाँ भेजने की व्यवस्था नहीं की गयी, और दूसरे पश्चिमी एशिया की राजनैतिक परिस्थिति में असाधारण रूप से परिवर्तन आ जाने के कारण वहाँ भारतीयों के लिए व्यापार आदि की पूर्ववत् सुविधाएँ नहीं रह गयीं। द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) ने वहाँ की राजनैतिक दशा में असाधारण परिवर्तन ला दिया था। पर गत चौथाई सदी में वहाँ की परिस्थितियों ने ऐसा मोड़ लिया है, जिसके कारण भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में अरब तथा खाड़ी के राज्यों में रहने लग गये हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि अब पुनः वहाँ वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ किया जाय।

परिशिष्ट-३

आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार पर एक दृष्टि

सन् १८८३ से सन् १९४७ तक आर्यसमाज का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में भारत में पुनर्जागरण के जो आन्दोलन शुरू हुए थे, सन् १८८३ से १९१९ तक उनका नेतृत्व प्रधानतया आर्यसमाज द्वारा किया जा रहा था। इस काल में समाज सुधार, स्वदेशी और स्वकीय संस्कृति से प्रेम, विदेशी शासन के प्रति असन्तोष व विरोध की भावना, अपनी भाषा और धर्म के प्रति आस्था और अछूतों की दशा में सुधार कर उनके प्रति समानता का व्यवहार आदि जो भी प्रयत्न भारत में किये जा रहे थे, उनका केन्द्र आर्यसमाज ही था। यद्यपि कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में हो गयी थी, पर १९१९ तक उसने जन-आन्दोलन का रूप प्राप्त नहीं किया था। वह अंग्रेजी पढ़े-लिखे सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों की संस्था थी, जो ब्रिटेन के भारत पर शासन और अंग्रेजी शिक्षा को भारत के लिए वरदान समझते थे। ऐसी संस्था जनता में जागृति उत्पन्न नहीं कर सकती थी। यही कारण है, कि तब कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों के प्रति सर्वसाधारण लोगों के लिए कोई आकर्षण नहीं था। इसके विपरीत आर्यसमाजों तथा उसकी शिक्षण-संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों पर हजारों नर-नारी एकत्र हुआ करते थे, और देश, धर्म तथा संस्कृति की रक्षा व उन्नति के लिए प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। आर्यसमाज के ये वार्षिकोत्सव तथा मेलों पर प्रचार के आयोजन तब जनता के लिए अत्यधिक आकर्षण रखते थे। उस समय देश में सुधार, जागृति, उन्नति व स्वराज्य के लिए जो भी प्रयत्न किये जा रहे थे, आर्यसमाज उनका केन्द्र था। इसी का यह परिणाम था, कि जब सन् १९१९ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण करना शुरू किया, तो उसने राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी, दलितोद्धार आदि के उसी कार्यक्रम को अपनाया, जिसके लिए आर्यसमाज द्वारा अनेक दशाब्दियों से प्रयत्न किया जा रहा था।

(२) सन् १८८३ से १९३१ तक के काल में आर्यसमाज के कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग दलितों व अछूतों को समाज में समता के उन अधिकारों को प्राप्त कराना था, जिनसे वे सदियों से वंचित थे। इसीलिये पंजाब में मेघ, रहतिये और ढेढ सदृश जातियों और उत्तरप्रदेश में डूम (शिल्पकार) तथा चमार आदि अछूत वर्ग के लोगों को शुद्ध कर उन्हें यज्ञोपवीत देने, उनके साथ समानता का व्यवहार करने और उनके बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था कर उन्हें उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने का जो प्रयत्न आर्यसमाज द्वारा किया गया, उसके कारण वह एक लोकप्रिय जन-आन्दोलन बन गया, और आर्यसमाज के सभासदों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। अकेले गढ़वाल जिले में १०० से ऊपर आर्यसमाजों की स्थापना समाज की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। पर ज्यों-ज्यों कांग्रेस की शक्ति बढ़ती गयी, और महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भी अछूतोद्धार को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया, इस दिशा में आर्यसमाज के कार्य के महत्त्व में कमी आती गयी, और स्वराज्य की प्राप्ति (१९४७) से पहले ही एक ऐसा समय आ गया, जब 'हरिजन' नाम से अछूत जातियों को एक ऐसे वर्ग के रूप में परिणत कर दिया गया, जिसे विशिष्ट राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं, और जो हरिजन के रूप

में अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखने में ही अपना कल्याण मानता है। यह स्वाभाविक ही था, कि इसके कारण अछूतोद्धार के लिए आर्यसमाज द्वारा किये जाने वाले कार्य में बाधाएँ उपस्थित हों, और अछूत लोग अपने हित-कल्याण के लिए आर्यसमाज के बजाय कांग्रेस और सरकार की नीतियों पर अधिकाधिक निर्भर होते जाएँ।

(३) बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक आर्यसमाज जहाँ सत्य सनातन वैदिक धर्म का मण्डन किया करता था, वहाँ साथ ही असत्य मत-मतान्तरों के खण्डन पर भी उसका विशेष ध्यान रहता था। इसीलिये उस समय पौराणिकों, मुसलमानों और ईसाइयों से निरन्तर शास्त्रार्थ होते रहते थे। न केवल बड़े शहरों में ही, अपितु देहातों में भी शास्त्रार्थों का बड़े धूमधाम के साथ आयोजन किया जाता था। पर इनके कारण साम्प्रदायिक विद्वेष कभी उत्पन्न नहीं होता था। महर्षि दयानन्द सरस्वती के समान आर्यसमाज का विरोध भी केवल 'असत्य' से था, और केवल ऐसे मन्तव्यों का ही उस द्वारा खण्डन किया जाता था, जो 'सत्य' न हों। भारत में जो साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रादुर्भाव होने लगा, उसके कारण राजनीतिक थे, आर्यसमाज का प्रचार या उस द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ नहीं। इन शास्त्रार्थों के कारण आर्यसमाज के प्रचार-कार्य के लिए जनता में तब विशेष आकर्षण था।

(४) स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह के समर्थन, बाल विवाह के विरोध, परदा-प्रथा तथा दहेज सदृश सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रचार, छुआछूत व सामाजिक ऊँच-नीच के विरोध और पाखण्ड व अन्धविश्वासों के खण्डन आदि के लिए आर्यसमाज द्वारा सशक्त रूप से जो कार्य किये जा रहे थे, उनके कारण वह एक प्रबल जन-आन्दोलन बन गया था। पर बाद में ये सब कार्य अन्य अनेक संगठनों द्वारा भी किये जाने लगे और इनके सम्बन्ध में अर्यसमाज के कर्तृत्त्व में कोई अनुपम विशेषता नहीं रह गयी।

(५) विदेशों में आर्यसमाज ने जो कार्य किया, उसका विशेष महत्त्व है। यह सही है कि मारीशस, केनिया, फीजी, सुरीनाम आदि विदेशी राज्यों में जो आर्यसमाज हैं, उनके सदस्य प्रायः भारतीय मूल के नर-नारी ही हैं। वहाँ के गौरांग या कृष्णांग लोगों में वैदिक धर्म का प्रचार अभी नाममात्र को ही है। पर प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के अधीन जो हजारों नर-नारी अपने देश से हजारों मील की दूरी पर जा बसे थे, अपने धर्म, भाषा व संस्कृति से वे बहुत दूर हो गये थे। क्रिश्चियन मिशनरी उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए जी-जान से प्रयत्न कर रहे थे। यदि आर्यसमाज उनमें काम न करता, तो वे सब प्रायः ईसाई हो जाते। ऐसी ही एक परिस्थिति बहुत प्राचीनकाल में उन आर्य जातियों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई थी, जो भारत से बहुत दूर जा बसी थीं। मनुस्मृति के अनुसार ये आर्य जातियाँ वृषलत्व (अनार्यत्व) को प्राप्त हो गयी थीं, क्योंकि ब्राह्मण-प्रचारकों से इनका सम्बन्ध नहीं रहा था। यही दशा अब मारीशस आदि में बसे आर्यों की होती, यदि आर्यसमाज उन्हें स्वधर्म में स्थिर रखने के लिए प्रयत्न न करता।

(६) आर्यसमाज द्वारा लोगों को देशप्रेम तथा स्वराज्य के लिए प्रयत्न की प्रेरणा दी जाती थी। इसीलिये जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष प्रारम्भ किया, तो आर्यसमाजी बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल हो गये। भारत जो स्वतन्त्र हुआ, उसमें उन आर्यसमाजियों का कर्तृत्त्व महत्त्व का था, जिन्होंने स्वदेशी और स्वराज्य की शिक्षा महर्षि दयानन्द सरस्वती से प्राप्त की थी। वस्तुतः, आर्यसमाज द्वारा ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न की गयी थीं, जिनका उपयोग कर महात्मा गांधी और श्री सुभाषचन्द्र बोस सदृश नेताओं ने भारत के स्वाधीनता-संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन किया।

इतिहास की सहायक-सामग्री के विषय में टिप्पणी

आर्यसमाज के इतिहास पर कोई ऐसे ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हुए हैं, जिनमें उसके प्रचार-प्रसार का विशद रूप से निरूपण किया गया हो। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-वृत्त तथा आर्यसमाज के इतिहास व कार्यकलाप के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, उनकी सूची इस 'इतिहास' के प्रथम तथा तृतीय भागों में दी गयी है। उसका यहाँ पुनः उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। विश्व में इस समय जो हजारों आर्यसमाज विद्यमान हैं, उनकी स्थापना कब और किस प्रकार हुई, उनके संस्थापक कौन थे, किन साधु-संन्यासियों एवं प्रचारकों द्वारा उनकी स्थापना के लिए प्रेरणा प्रदान की गयी, किन नर-नारियों का इन समाजों की उन्नति में विशेष कर्तृत्व रहा, और किन विघ्न-बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए ये समाज निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होते गये—ये और इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रश्नों की एक प्रश्नावली हमने प्रायः सभी आर्यसमाजों की सेवा में भेजी थी। सात सौ के लगभग आर्यसमाजों ने हमारी प्रश्नावली के अनुसार अपने विवरण भेजे। ये विवरण इस ग्रन्थ के प्रणयन की आधार-सामग्री हैं, जिसका इसमें यथास्थान उपयोग किया गया है। पर जिन आर्यसमाजों के विवरण हमें प्राप्त हुए हैं, उनमें बहुसंख्यक ऐसे हैं जिनकी स्थापना हुए अभी आधी सदी भी नहीं बीती है। अतः उनका उपयोग 'इतिहास' के इस भाग में नहीं किया जा सका है।

कतिपय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजों ने अपने इतिहास भी प्रकाशित किये हैं, और बहुत-से आर्यसमाजों ने अपनी हीरक जयन्ती, स्वर्ण जयन्ती तथा रजत-जयन्ती के अवसरों पर स्मारिकाएँ भी प्रकाशित की हैं, जिनका उल्लेख इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में किया गया है। सार्वदेशिक सभा तथा अनेक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के साप्ताहिक या मासिक पत्र भी प्रकाशित होते हैं, जिनकी पुरानी फाइलों में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ विविध आर्य विद्वानों व आर्यसमाजों द्वारा स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाशित की जाती रही हैं। इनका भी इस 'इतिहास' में उपयोग किया गया है।

आर्यसमाज-विषयक साहित्य प्रचुर परिमाण में विद्यमान है, और उसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इस 'इतिहास' के एक भाग में इस सम्पूर्ण साहित्य का विशद रूप से परिचय दिया जाएगा, क्योंकि साहित्य के क्षेत्र में भी आर्यसमाज का योगदान अत्यन्त महत्त्व का है। यह साहित्य हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में है, और इसका प्रकाशन अनेक विदेशी राज्यों से भी हुआ है।

शब्दानुक्रमणिका

हमारे संरक्षक-सदस्य तथा प्रतिष्ठित सदस्य

सात-सात सौ के लगभग पृष्ठों के सात भागों में प्रकाशित किया जा रहा यह इतिहास आर्यसमाज के विश्वकोश के समान है, जिसे तैयार करना न केवल श्रमसाध्य ही है, अपितु व्ययसाध्य भी है। इतिहास की आवश्यक सामग्री का संग्रह करने, उसका उपयोग कर इतिहास लिखने तथा उसे प्रकाशित करने में बहुत परिश्रम तो करना ही होगा, पर इस सबके लिए धन की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से इस प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन व प्रकाशन सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अनेक नर-नारियों ने इसके संरक्षक-सदस्य (पाँच हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) और प्रतिष्ठित सदस्य (एक हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) बनकर इस कार्य में हमें सहायता प्रदान की है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने तथा उनके पुण्यदान की स्मृति को चिरस्थायी रखने के प्रयोजन से उनके सचित्र परिचय यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

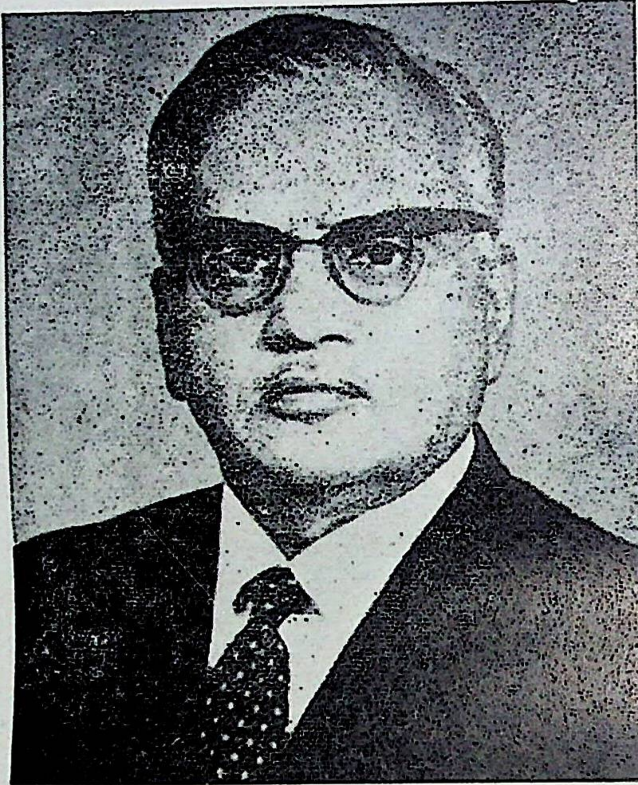
संरक्षक-सदस्य



श्री गोविन्दरामजी भूटानी

भारत के विभाजन के कारण पाकिस्तान से विस्थापित हुए श्री भूटानीजी ने स्वल्प समय में ही दिल्ली में अपने कारोबार को पुनः स्थापित कर लिया और परमपिता परमात्मा की कृपा से शीघ्र ही वह पुनः सम्पन्न व समृद्ध हो गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में भूटानीजी की अगाध श्रद्धा है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। आत्मज्ञापन से दूर रहते हुए वह सभी धार्मिक व उपयोगी कार्यों के लिए सहायता देने में सदैव तत्पर रहते हैं।

संरक्षक-सदस्य



पं० सत्यदेवजी भारद्वाज वेदालंकार

२६ दिसम्बर, १९०८ को नैरोबी (पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। पिता श्री वैशाखीरामजी केनिया में रेलवे की सर्विस में थे, और वहाँ आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। गुरुकुल कुरुक्षेत्र और गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में विद्यालय विभाग की शिक्षा पूरी कर श्री सत्यदेव उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और १९३२ में वहाँ से स्नातक होकर वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। १९३४ में वह नैरोबी चले गये, और कुछ वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा, पूर्वी अफ्रीका के तत्त्वावधान में केनिया, युगाण्डा, टाङ्गानिका आदि अफ्रीकन प्रदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार किया। सन् १९४९ में उन्होंने अपने स्वतन्त्र व्यवसाय का प्रारम्भ किया, और सनफ्लैग निटिंग वर्क्स नाम से कारखाने की स्थापना की। इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की, और कुछ ही वर्षों में 'सनफ्लैग' नाम से केनिया, तँजानिया, नाइजीरिया, कैमरून, इंग्लैण्ड और भारत में अनेक फैक्टरियों और मिलों की उन्होंने स्थापना की। इनसे जो अपार सम्पत्ति पण्डित सत्यदेवजी ने अर्जित की, उसका अच्छा बड़ा भाग वह परोपकार तथा दान में लगाते हैं। इसके लिए वह कई धर्मार्थ ट्रस्ट बना चुके हैं। नैरोबी, ग्रेटर कैलाश (नयी दिल्ली), अरुषा (तंजानिया), पोर्ट लुई (मारीशस) और लण्डन के आर्यसमाजों को सत्यदेवजी ने लाखों रुपये दान में दिये हैं, और डी०ए०वी कॉलिज कमेटी, नयी दिल्ली तथा गुरुकुल कुरुक्षेत्र को भी। नैरोबी और लण्डन में हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों को उन्होंने भरपूर आर्थिक सहायता दी थी, और उनकी सफलता के लिए अपना तन, मन, धन लगा दिया था। पण्डित सत्यदेवजी पर सरस्वती और लक्ष्मी की समान रूप से कृपा है। बहुत बड़े उद्योगपति होते हुए भी वह सर्वथा निरभिमान हैं, और धर्मप्रचार तथा विद्या के अध्ययन में संलग्न रहते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने जेलयात्रा भी की थी। सत्याग्रह के सैनिकों का नेतृत्व करने के कारण वह 'दलपति' नाम से भी प्रसिद्ध हुए थे। अब वह आर्यसमाज के दलपति हैं।

संरक्षक-सदस्य

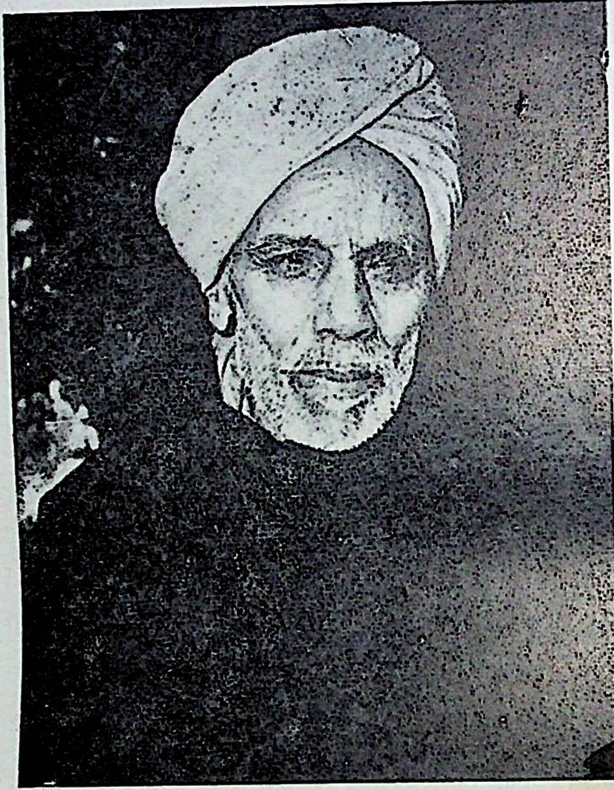


श्रीमती गायत्रीदेवीजी भारद्वाज

१५ फरवरी, सन् १९१७ को नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। उस समय उनके पिता श्री पण्डित दौलतरामजी शर्मा केनिया में रेलवे की सर्विस में थे। बाद में वह भारत वापस आ गये और अमृतसर में टाइप फाउण्डरी तथा प्रिंटिंग प्रेस का निजी कारोबार शुरू किया। पण्डित दौलतरामजी का आर्यसमाज के साथ सम्पर्क था, और वह महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री गायत्रीदेवी को कन्या गुरुकुल, देहरादून में पढ़ने के लिए भेजा। कुछ समय कन्या गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर वह अमृतसर आ गयीं, और वहाँ आर्य कन्या पाठशाला में अपनी पढ़ाई को जारी रखा। गायत्रीदेवी जी अपने शिक्षा-काल में सदा प्रथम रहने वाली छात्रा रहीं। अद्भुत स्मरणशक्ति का वरदान उन्हें प्राप्त है। हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत की शिक्षा भी उन्होंने प्राप्त की, और पंजाब यूनीवर्सिटी से हिन्दी में भूषण और प्रभाकर तथा संस्कृत में विशारद की परीक्षाएँ प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण कीं। अंग्रेजी का भी उन्हें समुचित ज्ञान है।

नवम्बर, १९३३ में गायत्रीजी का विवाह पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार के साथ अमृतसर में हुआ। विवाह के पश्चात् गायत्रीदेवीजी अपने पतिदेव के साथ केनिया चली गयीं, और वहाँ के अन्यतम नगर किसुमु की आर्य कन्या पाठशाला में सहायक मुख्याध्यापिका का कार्य किया। श्रीमती गायत्रीदेवीजी एक आदर्श आर्य महिला हैं। अपने पति पण्डित सत्यदेवजी के बड़े उद्योगपतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने पर भी उनमें अभिमान का सर्वथा अभाव है। उनमें वे मानवोचित गुण अक्षुण्ण रूप से विद्यमान हैं, जो प्रायः धन की अतिशयता हो जाने पर कायम नहीं रह पाते। उनका रहन-सहन बहुत सादा है, और स्वभाव अत्यन्त सरल व मृदु है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं, और उनका जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए समर्पित है।

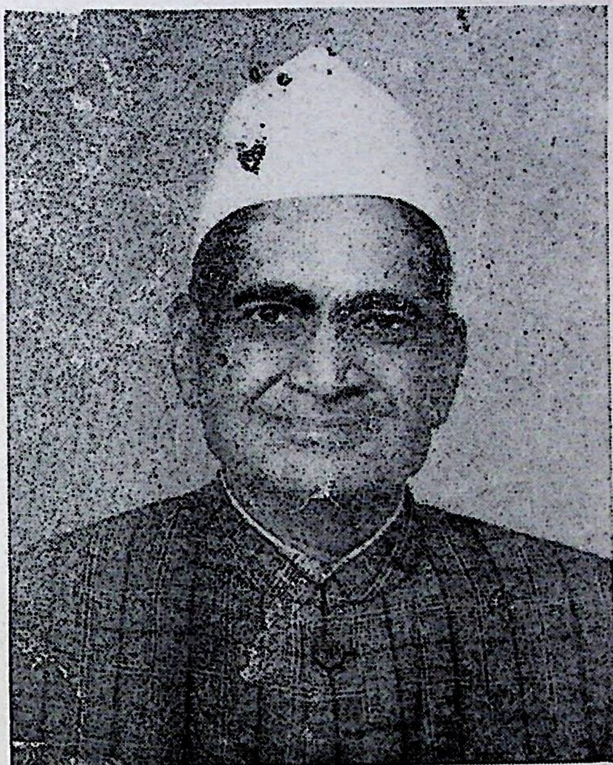
संरक्षक-सदस्य



श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज

हरयाणा प्रदेश के ग्राम सासरोली (तहसील झज्झर, जिला रोहतक) में सन् १९०९ में जन्म। ग्राम के प्राइमरी स्कूल तथा नेशनल जाट स्कूल, रोहतक में हाईस्कूल तक शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने ज्योति संस्कृत पाठशाला, दिल्ली में संस्कृत का अध्ययन किया, और उसके पश्चात् दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर में पाँच वर्ष तक संस्कृत, वेद-वेदाङ्गों, धर्मशास्त्रों तथा आर्य-सामाजिक साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की। आठ वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के उपदेशक रहे, और दो वर्ष उपदेशक विद्यालय लाहौर में अध्यापन का कार्य किया। पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज की आज्ञा से सन् १९४१ में वह दीनानगर चले गये, और चिरकाल तक अध्यापक, वैद्य तथा प्रबन्धक के रूप में वहाँ के दयानन्द मठ की सेवा की। प्रथम जून, सन् १९५५ को उन्होंने संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर ली, और दयानन्द मठ, दीनानगर के अध्यक्ष के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुए। सन् १९७३ में पंजाब-हरयाणा हाईकोर्ट द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के रिसीवर नियत किये गये। गोरक्षा आन्दोलन में स्वामीजी दो बार जेलयात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज में उनकी जो उच्च एवं प्रतिष्ठित स्थिति है, उसके कारण उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली का प्रतिष्ठित सदस्य बनाया गया है, और शान्तिदेवी कन्या कॉलिज तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्द मेमोरियल कॉलिज, दीनानगर के भी वह प्रधान हैं। स्वामी सर्वानन्दजी सच्चे अर्थों में आर्य संन्यासी हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में निष्ठापूर्वक संलग्न रहते हैं। आर्य यती मण्डल के भी वह अध्यक्ष हैं।

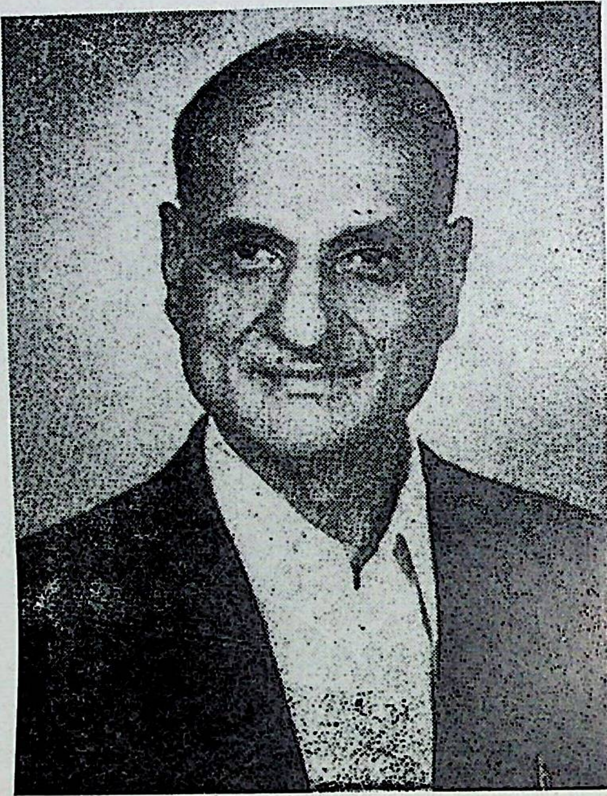
संरक्षक-सदस्य



श्री सेठ भगवतीप्रसाद जी खेतान

झुन्झनू (राजस्थान) में 'सेठ रामकरणदास-रामविलास राय खेतान' नाम से प्रसिद्ध एक प्रतिष्ठित अग्रवाल परिवार है। श्री भगवतीप्रसादजी का जन्म इसी परिवार में २४ सितम्बर, सन् १९११ के दिन हुआ था। ४० वर्ष की आयु तक अपने पिता, मामा तथा ससुराल वालों के विभिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों में उच्च पदों पर रहकर कार्य करते हुए उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा व कार्यकुशलता का परिचय दिया, और फिर सन् १९५१ से अपने स्वयं के विस्तृत व्यवसाय का संचालन प्रारम्भ किया। आयात और निर्यात का उनका बहुत बड़ा व्यापार है, और अनेक उद्योगों (आर्ट सिल्क, स्टील, कपड़े की रंगाई व प्रिंटिंग, माइनिंग आदि) के उनके विशाल कारखाने स्थापित हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है। धनिकों की तो भारत में कमी नहीं है, पर श्री भगवतीप्रसादजी खेतान समाजसेवा तथा लोकोपकार के कार्यों में जिस उदारता से अपने धन का व्यय करते हैं, वह वस्तुतः अनुपम है। उन्होंने कितने ही चेरिटेबल (धर्मार्थ) ट्रस्ट स्थापित किये हैं, जिन द्वारा अनेक शिक्षण-संस्थाओं, पुस्तकालयों और औषधालयों का संचालन और जीर्ण मन्दिरों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में श्री भगवती-प्रसादजी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। इसी कारण वह चौदह से भी अधिक ट्रस्टों के ट्रस्टी हैं, और कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं के अध्यक्ष व आजीवन सदस्य हैं। सांस्कृतिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक कार्यकलाप में श्री खेतानजी निष्ठा तथा उत्साह के साथ भाग लेते हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति भी उनकी आस्था है। उनका जीवन बहुत सरल तथा सात्त्विक है। सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के प्राप्त होते हुए भी वह उनसे असंपृक्त रहने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वह स्वयं विद्याव्यसनी हैं, और विद्वानों का यथोचित सम्मान करते हैं। वह अत्यन्त सरल प्रकृति, मृदु स्वभाव तथा सात्त्विक वृत्ति के पुरुष हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्री तिलकराजजी अग्रवाल

श्री तिलकराजजी अग्रवाल का जन्म २२ नवम्बर, सन् १६२२ को ढसका (जिला सियालकोट, पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके दादा श्री कर्मचन्द्र अग्रवाल जिले के एक प्रसिद्ध वकील थे, और विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाने में सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। उनके पिता श्री हेमराज अग्रवाल द्वारा प्रतिवर्ष आर्यसमाज में एक प्रीतिभोज की आयोजन किया जाता था, जिसमें ऊंची जातियों के लोगों के साथ हरिजन भी शामिल होते थे, और भोजन हरिजनों द्वारा ही परोसा जाता था। तिलकराजजी ने धर्म, समाज तथा देश की सेवा की भावना विरासत में प्राप्त की, और वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में पूर्ण उत्साह से योगदान करते रहे। कांग्रेस द्वारा संचालित विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा हैदराबाद-सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, और पंजाब व्यापार मण्डल के आन्दोलन में हाथ बटाने के लिए उन्हें जेलयात्रा भी करनी पड़ी। सियालकोट में उन्होंने आर्यकुमार सभा और आर्य वीर दल की स्थापना की, और उनकी कार्यकारिणी सभाओं के सदस्य रहे।

भारत विभाजन के पश्चात् वह दिल्ली आ गये, और वहाँ 'अग्रवाल मेटल कम्पनी' के नाम से अलौह धातुओं का व्यापार प्रारम्भ किया। इसमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई, और शीघ्र ही वह 'नान-फैरस मेटल' के प्रमुख व्यापारी माने जाने लगे। दिल्ली और बम्बई रहते हुए तिलकराजजी का ध्यान अग्रवाल जाति में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों की ओर गया, और उसमें सुधार तथा जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने 'अग्रवाल समाचार' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। अपनी जन्म-जाति को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये उन्होंने अनेक अग्रवाल-संगठनों का संचालन अपने हाथों में लिया, और अनेक धर्मार्थ ट्रस्टों की स्थापना की। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में तिलकराजजी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साह के साथ भाग लेते रहते हैं। धर्म और समाज के कार्य में उदारतापूर्वक दान देकर वह अपने धन का सदुपयोग करने में गौरव अनुभव करते हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्री पी० डी० अग्रवाल

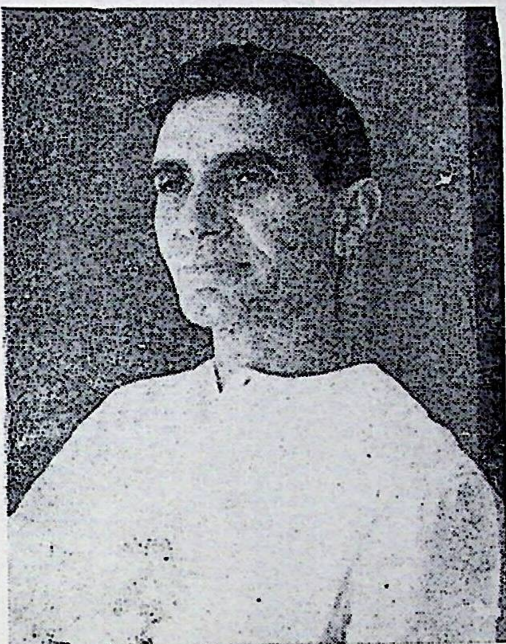
चूरू जिले (राजस्थान) के एक छोटे से गाँव नांगल में श्री पी० डी० अग्रवाल का जन्म हुआ था। वह अपने पिता-माता (श्री भोरूराम और श्रीमती सिंगारीदेवी) के सबसे छोटे पुत्र थे। उनकी शिक्षा गाँव में हुई, और उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। पर उनमे विलक्षण कार्यशक्ति और उच्च महत्त्वाकांक्षा विद्यमान थी। जीवन में कुछ कर दिखाने की धुन में वह छोटी आयु में ही काम में लग गये, और साइकल पर जाकर गाँव से कई-कई मील दूर कपड़ा बेचने लगे। १७ वर्ष की आयु में वह गाँव छोड़कर वानरहाट चले गये, और वहाँ एक दूकान पर नोकरी कर ली। पर वह इतने परिश्रमी थे और व्यापार में उनकी इतनी क्षमता थी, कि शीघ्र ही उन्होंने उस दूकान को खरीद लिया, जिस पर उन्होंने आठ रुपये मासिक की नौकरी की थी। तीन वर्ष बाद वह कलकत्ता चले गये, और वहाँ 'जसवन्तराय एण्ड ब्रादर्स' के नाम से कपड़े का व्यवसाय शुरू किया। इसमें उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई, पर वह एक ही कार्य से कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे। सन् १९५८ में उन्होंने ट्रांसपोर्ट का कारोबार शुरू किया, और 'ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया' नाम से अपना पहला ऑफिस कलकत्ता में खोला। आज यह भारतवर्ष में सबसे बड़ी ट्रांसपोर्ट कम्पनी है, और इसकी सैकड़ों शाखाएँ सर्वत्र विद्यमान हैं। ट्रांसपोर्ट के व्यवसाय में श्री पी० डी० अग्रवाल को मूर्धन्य स्थान प्राप्त था। वह ऑल इण्डिया मोटर ट्रांसपोर्ट कांग्रेस तथा कलकत्ता गुड्स ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन के वर्षों तक प्रधान रहे, और साथ ही भारत सरकार की ट्रांसपोर्ट डेवेलेपमेन्ट कौंसिल के सदस्य भी। सन् १९६९ में उन्होंने बैंगलोर में मिनी स्टील प्लान्ट भी स्थापित किया था। व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र में श्री पी० डी० अग्रवाल ने जो असाधारण उन्नति की, उसका कारण उनका अनथक परिश्रम ही था। वह दिन में अठारह-अठारह घण्टे काम करते थे। अपने कर्मचारियों के साथ उनके सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। उन्होंने अपार धन कमाया, और उसका सदुपयोग किया। दान देने में वह कभी पीछे नहीं हटते थे। अपनी आमदनी का बड़ा भाग वह धर्म तथा समाज के कार्यों में व्यय करते थे। उनका विवाह श्रीमती धनवन्ती देवी जी से हुआ था, जो जीवन पर्यन्त अपने पतिदेव के लिए शक्ति स्तम्भ बनी रहीं। १७ सितम्बर, १९८२ को श्री पी० डी० अग्रवाल का असमय में ही अमेरिका में देहान्त हो गया।



श्री मोहनलालजी मोहित और श्रीमती यशवन्ती देवी जी

मॉरीशस के मूर्धन्य आर्य नेता श्री मोहनलाल मोहित का जन्म २२ सितम्बर, सन् १६०२ को लादनीर (मॉरीशस) में हुआ था। उनके पूर्वज प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन सन् १८६८ में मॉरीशस गये थे, और प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा होने पर वहीं बस गये थे। शीघ्र ही, उन्होने स्वतन्त्र रूप से खेती प्रारम्भ कर एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित किसान की स्थिति प्राप्त कर ली थी। मोहनलालजी को नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नही मिला। पर वह अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि और परिश्रमी थे। ज्ञान के उपार्जन के लिए उन्हें बहुत उत्साह था। अतः उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेञ्च भाषाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया, और वह हिन्दी के सुलेखक भी बन गये। सन् १६२७ में उन्होंने पण्डित काशीनाथजी का एक भाषण सुना, जिससे वह वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। मॉरीशस की आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य परोपकारिणी सभा के वह सक्रिय कार्यकर्ता रहे, और सन् १६५० में जब इन दोनों सभाओं का एकीकरण होकर "आर्यसभा मॉरीशस" का निर्माण हुआ, तो उसके प्रमुख कर्णधार व मूर्धन्य की स्थिति में वह देश-विदेश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये। श्री मोहितजी मॉरीशस के प्रतिष्ठित उद्योगपति व सम्पन्न किसान हैं। वह अपने धन का उपयोग देश, धर्म और समाज की सेवा में करते हैं, और लाखों रुपये विविध संस्थाओं, विद्यालयों, गुरुकुलों और आर्यसमाजों को दान दे चुके हैं। विश्व भर में वैदिक धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से वह अब एक करोड़ के लगभग धनराशि से एक ट्रस्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिसके लिए वह स्वयं दस लाख रुपयों की व्यवस्था करने के लिए कृत संकल्प हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है, पर उनका अपना जीवन अत्यन्त सरल, सात्त्विक, सदाचारमय एवं धार्मिक है। वह धोती और पगड़ी पहन कर रहते हैं, और अभिमान उन्हें छुआ तक नहीं है। सन् १६२६ में कुमारी यशवन्ती जी से उनका विवाह हुआ था। मोहितजी का सारा परिवार उन्हीं के समान धार्मिक है।

संरक्षक-सदस्य



पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार

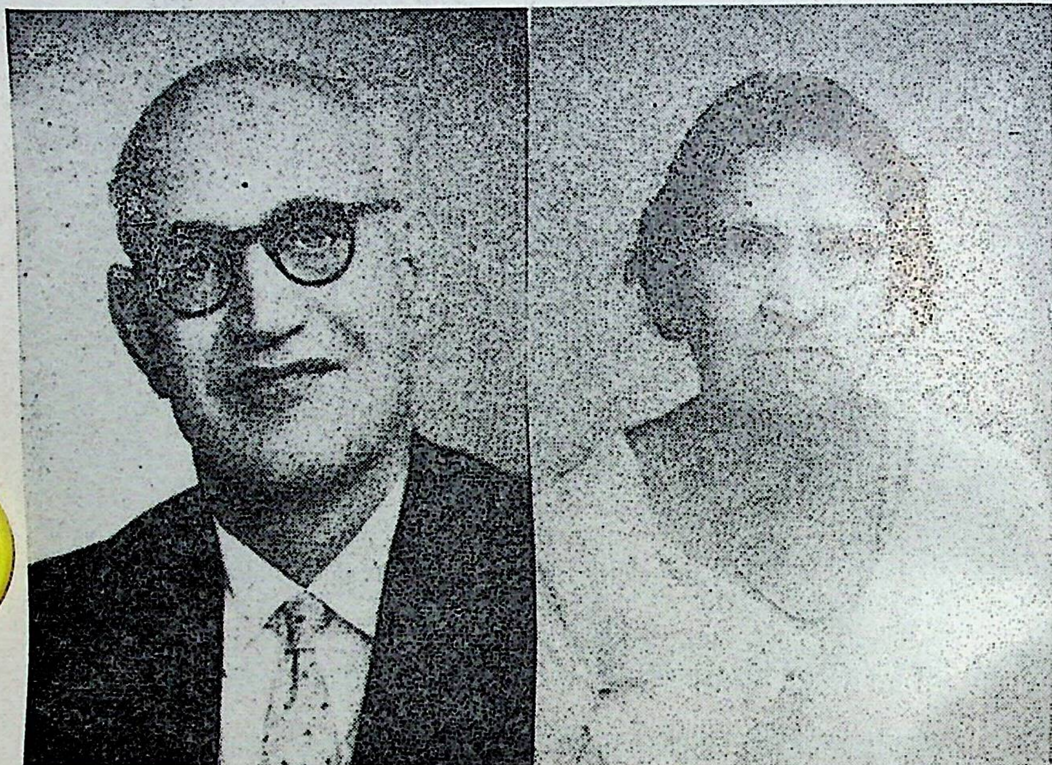


श्रीमती सावित्रीदेवी शर्मा

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार का जन्म २ अक्तूबर, सन् १९१० को अमृतसर में हुआ था। उनके पिता श्री शंकरदास शर्मा लाहौर में लोहे तथा मशीनरी के बहुत बड़े व्यापारी थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं एवं आर्यसमाज में उनकी अगाध आस्था थी। इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए गुरुकुल काँगड़ी भेज दिया, जहाँ से वह सन् १९३२ में स्नातक हुए। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी तथा इतिहास विषयों का विशेष रूप से अध्ययन किया। स्नातक होने के पश्चात् सत्यदेवजी भी लाहौर में अपने पारिवारिक व्यवसाय में कार्यरत हो गये। भारत के विभाजन के बाद सन् १९४७ में वह दिल्ली आ गये, और अपने व्यवसाय को पुनः स्थापित किया। वह एस० डी० शर्मा एण्ड कम्पनी के स्वत्वाधिकारी हैं, और मशीनरी के व्यवसाय में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है। पर एक सफल व्यवसायी होने के साथ-साथ सत्यदेवजी आर्यसमाज के उत्साही व कर्मठ कार्यकर्त्ता भी हैं। आर्यसमाज के सार्वजनिक जीवन में उनका अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। वह चिरकाल तक पंजाब और दिल्ली की आर्य प्रतिनिधि सभाओं की अन्तरंग सभाओं के सदस्य रहे हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा तथा सीनेट और गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी के व्यवसाय-पटल के वर्षों तक सदस्य रहकर उन्होंने इनके प्रबन्ध, नीति-निर्धारण तथा संचालन में महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया है। वह अत्यन्त मिलनसार तथा मृदुभाषी हैं। सबके प्रति सौहार्द्र रखते हैं, और सबके हितसाधन में तत्पर रहते हैं। वह सच्चे अर्थों में 'अजातशत्रु' हैं।

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार की धर्मपत्नी श्रीमती सावित्री देवी शर्मा का जन्म सन् १९१६ में जम्मू के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में हुआ था। पर पतिगृह में आकर वह पूर्णतः आर्यसमाज की अनुयायी हो गयी थीं। शिक्षा का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। उन्होंने स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और हिन्दी तथा अंग्रेजी पर उनका पूरा अधिकार था। उन्होंने अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाने पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। एक पुत्री को उन्होंने कन्या गुरुकुल देहरादून में प्रविष्ट कराया, जहाँ से स्नातिका होने पर उसका विवाह नैरोबी के सम्भ्रान्त उद्योगपति पण्डित सत्यदेव भारद्वाज के सुपुत्र के साथ हुआ। सावित्री जी परम धार्मिक तथा राष्ट्रभक्त थीं। अपने सब आभूषण उन्होंने राष्ट्रीय कोश में दान दे दिये थे। अपने पति के सामाजिक जीवन में उनका पूरा सहयोग रहता था। वह हंसमुख तथा अतिथि सत्कार में प्रवीण थीं। अगस्त, सन् १९८३ में वह दिवंगत हुईं। उनकी सुयोग्य सन्तान ने अपनी पूज्य माताजी की पुण्यस्मृति मे आर्यसमाज के इस इतिहास के लिए ५,००० रुपये की धनराशि प्रदान की हैं।

संरक्षक-सदस्य

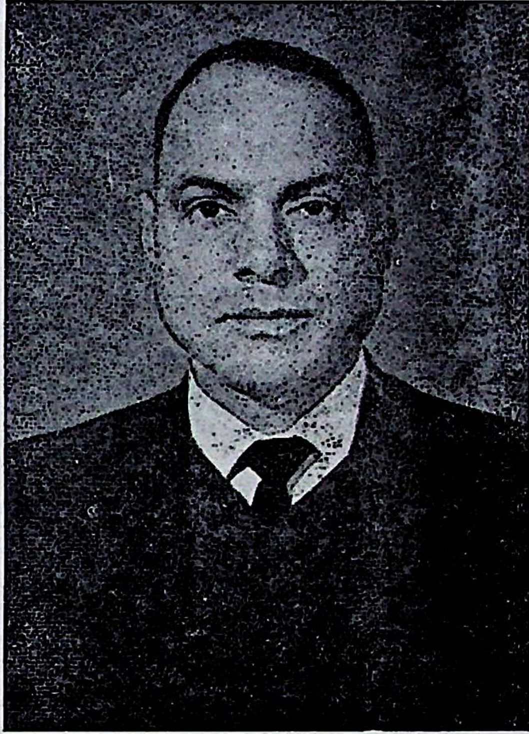


श्री बंसीलालजी सोफत और श्रीमती वेदवतीजी सोफत

स्वर्गीय श्री बंसीलालजी सोफत अपने परिवार सहित नितान्त निःस्वार्थ रूप से आर्यसमाज नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) की सेवा करते रहे। वर्षों तक नैरोबी आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष रहकर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो कार्य उन्होंने किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। श्री सोफत नैरोबी के एक बैंक में पदाधिकारी थे, और अपने सत्याचरण तथा सद्-व्यवहार के कारण बैंक के विशिष्टतम व्यक्तियों में गिने जाते थे। सन् १९६५ में उनका निधन हो गया। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती वेदवती जी सोफत अपने पतिदेव के चरणचिह्नों पर चलती हुई आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग ले रही हैं, और आर्य स्त्रीसमाज, नैरोबी के कार्य-कलाप के सफलतापूर्वक संचालन में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। सोफत परिवार अत्यन्त समृद्ध है। उनके सुपुत्र नैरोबी तथा लण्डन में सफलतापूर्वक अपना स्वतन्त्र व्यापार चला रहे हैं। भारत में इस परिवार का विशेष सम्बन्ध लुधियाना (पंजाब) के साथ है।

श्री बंसीलालजी सोफत की धर्मपत्नी श्रीमती वेदवतीजी का जन्म मार्च, सन् १९११ में लुधियाना के एक प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री लब्भूरामजी व माता श्रीमती हुक्मदेवी जी की महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति अगाध आस्था थी। वेदवती जी की शिक्षा लुधियाना की आर्य पुत्री पाठशाला में हुई, और बचपन से ही उन्होंने माता-पिता के धार्मिक संस्कार प्राप्त किये और साथ ही वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति अटूट श्रद्धा व प्रेम भी। अक्टूबर, १९२७ में उनका श्री बंसीलाल जी सोफत से विवाह हुआ, और वह अपने पति के साथ नैरोबी (केनिया) चली गयीं। वहाँ पहुँचते ही वह पूर्ण उत्साह तथा लगन से आर्यसमाज के कार्य में जुट गयीं। वर्षों तक मन्त्री, प्रधान आदि पदों पर रहकर उन्होंने तन, मन, धन से आर्यसमाज की सेवा की। वह सरल स्वभाव की आदर्श आर्य महिला हैं, और धर्म के कार्य में सदा अग्रसर रहती हैं। उन्होंने ही अपने दिवंगत पति श्री बंसीलालजी सोफत की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए पाँच सहस्र रुपये प्रदान किये, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र की संरक्षक-सदस्यता स्वीकार की।

संरक्षक-सदस्य



प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज

प्रोफेसर भारद्वाज का जन्म अमृतसर में हुआ था, और वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। हिन्दू कॉलिज, अमृतसर से उन्होंने संस्कृत में बी०ए०(ऑनर्स) की परीक्षा उत्तीर्ण की, और फिर पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर से फिलोसोफी में एम० ए० की। बाद में उन्होंने इतिहास और हिन्दी विषयों में भी एम० ए० किया। पण्डित परशुराम तथा पण्डित धर्मभानुजी शास्त्री सदृश विद्वानों का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त था, जिनकी कृपा तथा सान्निध्य से वह वैदिक धर्म तथा संस्कृत साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने में समर्थ हुए। पाँच वर्ष अमृतसर में प्राध्यापक का कार्य कर वह होशियारपुर के डी० ए० वी० कॉलिज में प्रोफेसर नियुक्त हुए, जिस स्थिति में उन्होंने सन् १९६३ तक कार्य किया। अमृतसर तथा होशियारपुर में प्रोफेसर का कार्य करते हुए श्री सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज का आर्यसमाज के कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान रहा। मार्च, १९६३ में वह इंगलैण्ड गये, और वहाँ प्राध्यापक के रूप में उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया। लण्डन में रहते हुए उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के लिए जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्त्व का है। १९६६ से १९७८ तक बारह साल वह हिन्दू सेण्टर, लण्डन के प्रधान रहे। इसी बीच जब लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी, तो वह उसके भी प्रधान निर्वाचित हुए, जिस स्थिति में कार्य करते हुए उन्हें बारह साल हो चुके हैं। वस्तुतः, प्रोफेसर भारद्वाज ही लण्डन आर्यसमाज के प्राण हैं, और उनके प्रयत्न से ग्रेट ब्रिटेन में अन्यत्र भी आर्यसमाजों की स्थापना हो रही है। सन् १९८० में लण्डन में जो सार्वभौम आर्य महासम्मेलन हुआ था, उसमें प्रो० भारद्वाज का अनुपम कर्तृत्त्व था। नैरोबी, सुरीनाम, गुयाना और त्रिनिदाद आदि में भी वह वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए जाते रहे हैं। प्रो० भारद्वाज का तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए समर्पित है। वैदिक धर्म तथा समाजसेवा की उन्हें सच्ची लगन है।

संरक्षक-सदस्य

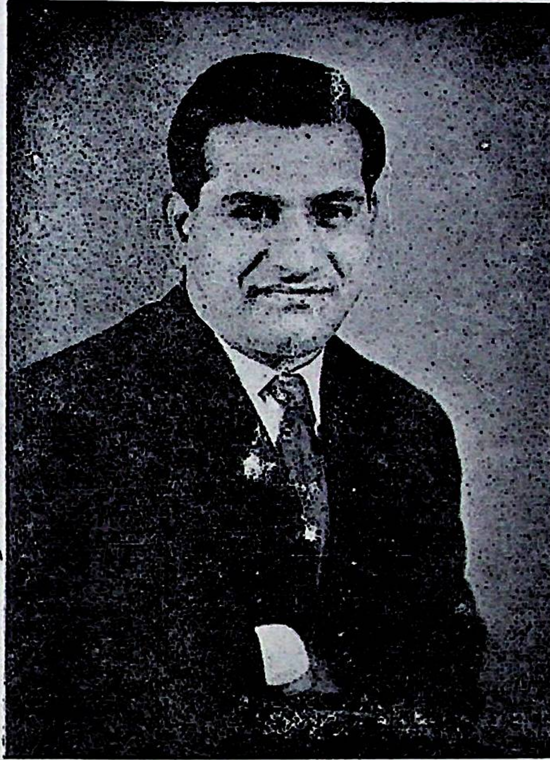


श्री रामलालजी बहल

३ जनवरी, सन् १८६६ को मियानी, जिला शाहपुरा (पाकिस्तान) में जन्म। २१ वर्ष की आयु में वह नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) चले गये, और केनिया-युगाण्डा रेलवे में सर्विस कर ली। श्री बहल को प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा थी, और वह वेदों तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते रहते थे। अपने घर पर उन्होंने एक पुस्तकालय स्थापित किया हुआ था, जिसमें वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ तथा आर्यसमाज के साहित्य का उत्तम संग्रह था। अन्य धर्मों के ग्रन्थ भी इस पुस्तकालय में थे। श्री बहल प्रतिदिन धार्मिक पुस्तकों का नियम-पूर्वक स्वाध्याय किया करते थे, और उनका जीवन शान्त, सात्विक, धार्मिक और सुखी था। नैरोबी आर्यसमाज के साथ उनका निकट सम्पर्क था, और वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए उनका सक्रिय सहयोग सदा प्राप्त रहता था। पर उन्होंने समाज में कोई पद प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं की, और पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से कार्य करते रहे। श्री बहल के तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। तीनों पुत्र डाक्टर हैं। दो अमेरिका में और एक लण्डन में। दो पुत्रियाँ केनिया में हैं, और एक नार्वे में है, सब सुखी व सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं।

सन् १९६२ में श्री बहल का देहावसान हो गया था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती बहल अपने पतिदेव के चरणचिह्नों पर चलती हुई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्य-समाज की सेवा में संलग्न रहती हैं, और आर्य स्त्रीसमाज, नैरोबी के संचालन में उनका महत्त्व-पूर्ण कर्तृत्व है। अपने पतिदेव की पुण्यस्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए श्रीमती विद्यावती बहल ने 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए ५००० रुपये प्रदान किये हैं, और आर्य स्वध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया है।

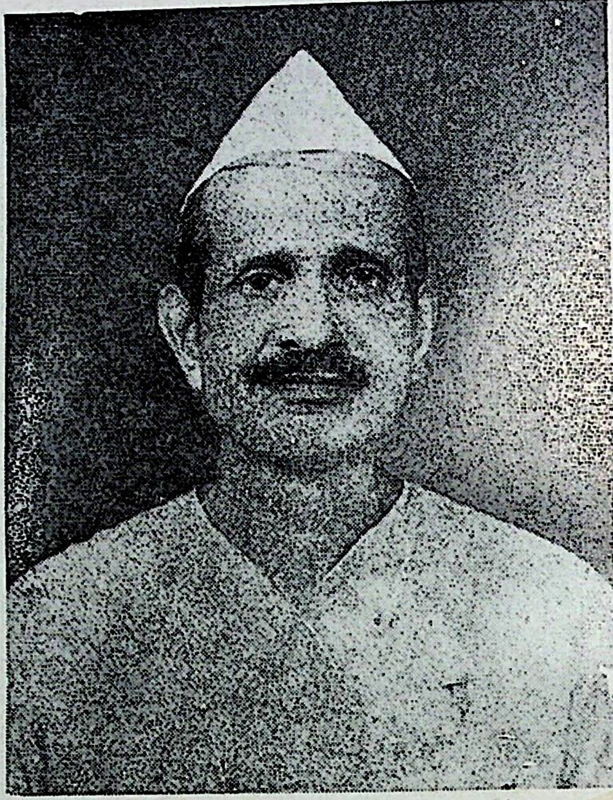
संरक्षक-सदस्य



श्री जयदेवराज जी मल्होत्रा

श्री जयदेवराज जी मल्होत्रा का जन्म ११ अक्तूबर, १९२९ को भेरा (पाकिस्तान) में हुआ था। उनके पिता श्री बालकराम मल्होत्रा भेरा के सम्पन्न व प्रतिष्ठित नागरिक थे, और पश्चिमी पंजाब के उस क्षेत्र में उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। गुजरावाला और लाहौर में शिक्षा प्राप्त कर श्री राज मल्होत्रा ने नार्दर्न रेलवे में सर्विस कर ली। सन् १९५९ में श्री बालकराम मल्होत्रा का देहावसान हो जाने पर वह लण्डन चले गये, और वहाँ रहकर उन्होंने मैकेनिकल इन्जीनियरिंग का अध्ययन किया। पर वहाँ कोई सर्विस न कर उन्होंने आयात-निर्यात (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट) का कारोबार शुरू कर दिया, जिसमें उन्होंने शीघ्र ही बहुत उन्नति कर ली। लण्डन के खाद्य पदार्थों के भारतीय व्यापारियों में उन्हें इस समय मूर्धन्य स्थान प्राप्त है, जो उनके परिश्रम, मधुर स्वभाव तथा सद्व्यवहार का परिणाम है। व्यापार में रत रहते हुए भी मल्होत्राजी को साहित्य, ललित कला और सांस्कृतिक कार्यों में अत्यधिक रुचि है। वह सुकवि तथा सुलेखक भी हैं, और साहित्यिकों तथा कवियों का सम्मान करने में सदा तत्पर रहते हैं। सार्वजनिक जीवन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, और इण्डिया इण्टरनेशनल क्लब, लण्डन के अध्यक्ष हैं। उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण वह सबको अपना बना लेते हैं, और उनके सम्पर्क में आकर सब प्रसन्नता अनुभव करने लगते हैं।

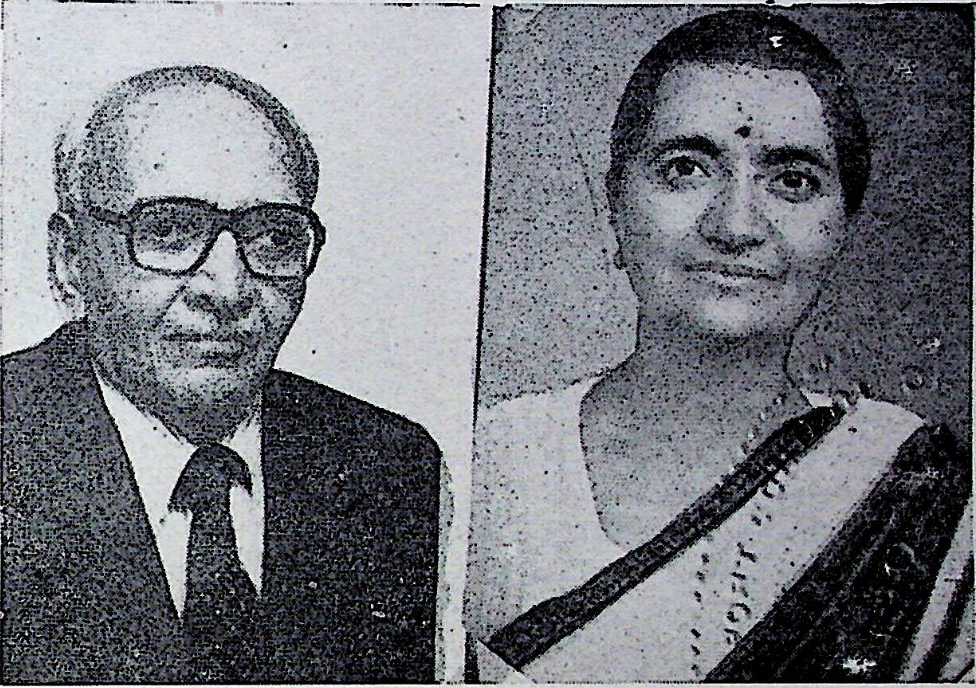
संरक्षक-सदस्य



श्री पूरनचन्दजी आर्य

श्रावण सुदी तृतीया, सम्वत् १९७८ (सन् १९२१) को आगरा में जन्म। पिता श्री धनीरामजी आगरा के एक प्रतिष्ठित व्यवसायी। दाल मिल एवं रोलिंग मिल द्वारा श्री पूरनचन्द ने आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत उन्नति की। उनके सदाचरण तथा सद्व्यवहार के कारण आगरा के व्यापार तथा व्यवसाय के क्षेत्रों में उन्हें अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। श्री पूरनचन्द अत्यन्त मृदुभाषी, परिश्रमी, धार्मिक तथा सादगीप्रिय आर्य सज्जन हैं। उनके परिवार के अन्य व्यक्ति भी उन्हीं के समान धार्मिक प्रकृति के हैं। वैदिक धर्म में श्री पूरनचन्द की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह निष्ठापूर्वक लगे रहते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज, आगरा (हींग की मण्डी) के वह प्रधान हैं, और 'आर्य परिवार' नामक आर्यों के पारिवारिक संगठन के कोषाध्यक्ष हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के महत्त्व व उपयोगिता को वह स्वीकार करते हैं, और इसीलिए अपने क्षेत्र के गुरुकुलों की व्यवस्था तथा संचालन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की कार्यकारिणी सभा के वह सदस्य रहे हैं, और इस समय गुरुकुल गंगीरी (जिला अलीगढ़) के मन्त्री हैं। आर्य उपप्रतिनिधि सभा, आगरा के भी वह उच्च पदाधिकारी हैं। आर्यसमाज से उनका वास्तविक हित है, और उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित है।

संरक्षक-सदस्य

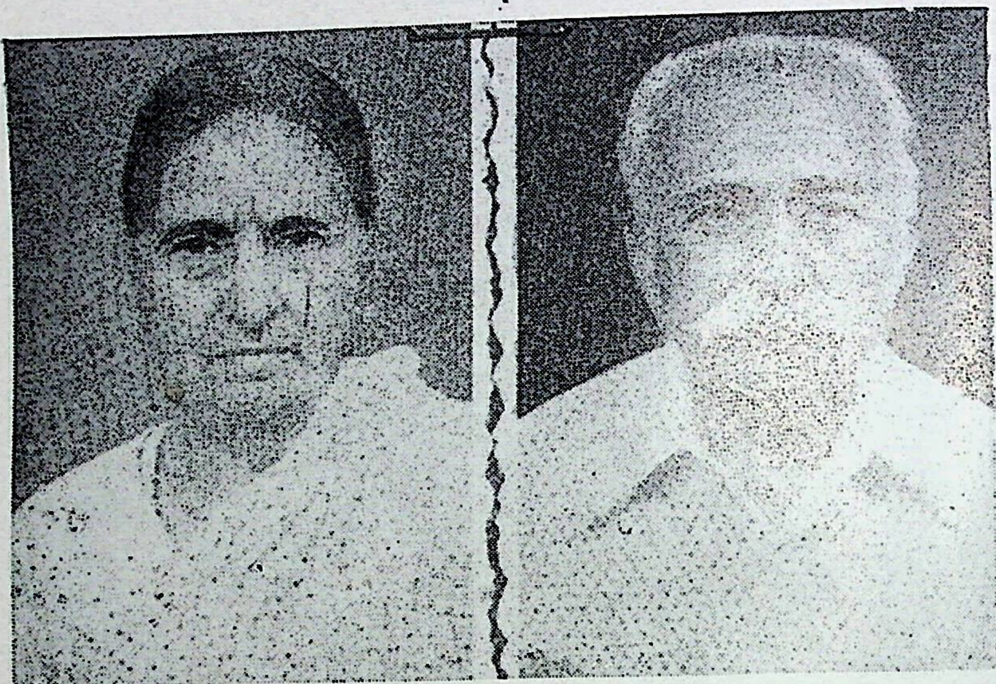


डा० सुखदेवजी भारद्वाज   श्रीमती सत्यवतीजी भारद्वाज

डा० सुखदेव जी भारद्वाज का जन्म ३० मई, सन् १९०७ को नैरोबी (केनिया) में हुआ था। वह स्वर्गीय पण्डित वैशाखीरामजी के तृतीय पुत्र हैं। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य हाईस्कूल में हुई, और बाद में उन्होंने इन्दौर मैडिकल स्कूल से चिकित्साविज्ञान में डिग्री प्राप्त की। सन् १९२९ में श्रीमती सत्यवती (सुपुत्री डा० जीवाराम) के साथ उनका विवाह हुआ, और वह केनिया वापस चले गये। केनिया की मेडिमल सर्विस में वह ४० वर्ष के लगभग रहे, और सन् १९६९ में सरकारी सेवा से निवृत्त हुए। सन् १९७२ में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। मरने से पूर्व उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी, कि डा० भारद्वाज अपना शेष जीवन धर्म और समाज की सेवा में लगाएँ और इसके लिए कोई पारिश्रमिक न लें। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी डा० भारद्वाज आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहते थे, पर बाद में तो उन्होंने अपना तन, मन, धन—सब समाज की सेवा में अर्पित कर दिया। अपना सब समय वह केनिया में आर्यसमाज के संगठन एवं प्रचार में लगाने लगे। सन् १९७२ में वह नैरोबी आर्यसमाज के प्रधान चुने गये। यह आर्यसमाज जो आज अत्यन्त व्यवस्थित व समृद्ध रूप में है, उसका बहुत कुछ श्रेय डा० भारद्वाज की लगन और निष्काम भाव से सेवा को ही प्राप्त है। उन्हीं द्वारा नैरोबी में धर्मार्थ औषधालय की स्थापना की गयी, जिसमें रंग, वर्ण, जाति, मत आदि का कोई भी भेद किये बिना मनुष्यमात्र की चिकित्सा की जाती है।

अपने पतिदेव के समान श्रीमती सत्यवती जी भारद्वाज भी धर्मपरायण महिला थीं, और समाज तथा धर्म की सेवा में डा० भारद्वाज का हाथ बटाया करती थीं। भारत की संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं पर उनकी अगाध आस्था थी। अपनी सन्तान की उच्च शिक्षा पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। इसी का यह परिणाम है, कि उनके दोनों पुत्र तथा तीनों पुत्रियाँ समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर विविध देशों में बसे हुए हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्रीमती कीर्तिदेवीजी भारद्वाज   श्री पण्डित ब्रह्मदेव जी भारद्वाज

श्री ब्रह्मदेव जी भारद्वाज का जन्म २४ फरवरी, १९०५ को नैरोबी (केनिया) में हुआ था। उनके पिता पण्डित बैशाखीरामजी सन् १८९८ में भारत से केनिया गये थे, और सन् १९२८ तक वह वहाँ सरकार तथा रेलवे विभाग की सेवा में कार्यरत रहे। १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में केनिया में आर्यसमाज को सरकार द्वारा विद्रोही संस्था घोषित कर दिया गया था। उस समय नैरोबी का आर्यसमाज मन्दिर निर्माणाधीन था। श्री वैशाखीरामजी ने इस बात की परवाह नहीं की, कि आर्यसमाज को राजद्रोही घोषित कर दिया गया है। वह आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराते रहे, और युद्ध के दिनों में ही उसे पूरा भी करा दिया। निःसन्देह यह उनकी निर्भीकता, साहस तथा धर्मप्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्री वैसाखीरामजी की सभी सन्तानों ने अपने पिता के जीवन व विचारों से प्रभावित होकर अपनी सेवाएँ आर्यसमाज को प्रदान की हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री ब्रह्मदेव भारद्वाज किशोर आयु से ही आर्य वीर दल तथा हिन्दू संगठन के कर्मठ कार्यकर्ता हैं रहे। लुधियाना तथा नैरोबी में आर्यसमाज को शक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने में उनका कर्तृत्त्व अनुकरणीय है। शुद्धि तथा हिन्दू कन्याओं के संरक्षण के लिए भी उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कीर्तिदेवीजी धर्म तथा समाज की सेवा के अपने पति के कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं। श्री ब्रह्मदेव तथा श्रीमती कीर्तिदेवीजी के सुपुत्र पण्डित सत्यभूषण तथा पण्डित ब्रजभूषण अपने परिवार की परम्परा का अनुसरण करते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। वस्तुतः, श्री ब्रह्मदेवजी के सम्पूर्ण परिवार ने ही अपने को आर्यसमाज के लिए अर्पित किया हुआ है। श्री सत्यभूषणजी चिरकाल से नैरोबी आर्यसमाज के उच्च पदाधिकारी के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में तत्पर हैं, और अनेक वर्षों तक उसके प्रधान रहे हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्रीमती सुशीलादेवी

२६ सितम्बर, सन् १९१० के दिन हलदौर (जिला बिजनौर, उत्तरप्रदेश) में जन्म। पिता श्री भवानीप्रसादजी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, पर्शियन तथा अंग्रेजी के विद्वान् थे, और आर्य-समाज के प्रतिष्ठित नेता थे। आर्यसमाज में पर्वों को कैसे मनाया जाए, इस विषय पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा द्वारा उन्हीं से 'आर्य पर्वपद्धति' नामक पुस्तक लिखवाई गयी थी। सुशीलाजी ने घर पर रहकर संस्कृत और हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की, और १८ वर्ष की आयु में काशी तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण की। अंग्रेजी की शिक्षा उन्होंने फोरमन क्रिश्चियन कॉलिज, लाहौर में पढ़कर ग्रहण की। सन् १९३० में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के साथ उनका विवाह हुआ, और अपने पति के साहित्यिक कार्यों में वह निरन्तर सहयोग देती रहीं। सन् १९३६ में वह पेरिस गयीं, और वहाँ रहकर फ्रेञ्च भाषा तथा साहित्य का अध्ययन किया। आन्द्र जीद के एक प्रसिद्ध उपन्यास का उन्होंने मूल फ्रेञ्च से हिन्दी में 'संकरा द्वार' नाम के अनुवाद किया, जिस पर भारत सरकार द्वारा उन्हें एक हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया। सुशीलाजी की सार्वजनिक जीवन में रुचि है। मसूरी नगरपालिका की वह सदस्य रह चुकी हैं, और सन् १९६३ में वह विश्व महिला सम्मेलन, मास्को (रूस) में भारत के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुई थीं। वह तीन बार यूरोप की यात्रा कर चुकी हैं। भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों, नैतिक मूल्यों तथा सदाचरण के नियमों में सुशीलाजी को पूर्ण विश्वास है, और वह उनके अनुसार अपना जीवन बिताने के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्री लालमनजी आर्य

श्री लालमन जी का जन्म सन् १९११ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल परिवार में हुआ था। युवावस्था में ही उन्हें आर्यसमाज के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने अपने घर से सामाजिक सुधारों का प्रारम्भ किया, और मृतक भोज, श्राद्ध, छुआछूत, परदा प्रथा, दहेज और बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के वह कट्टर विरोधी हो गये। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित होकर आर्यसमाज की धारा में सम्मिलित होता गया। उनका जीवन आर्य मन्तव्यों के पूर्णतया अनुरूप था। वह स्वयं प्रतिदिन सन्ध्या-हवन किया करते थे, और उनकी प्रेरणा से अनेक परिवारों में दैनिक व साप्ताहिक यज्ञ की परिपाटी शुरू हो गयी थी। वह सरल भाषा में कविताएँ लिख कर उन द्वारा दूसरों को कुप्रथाओं व अन्धविश्वासों से सचेत करते रहते थे। ६१ वर्ष की आयु में उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लिया था। युवावस्था से मृत्युपर्यन्त वह आर्यसमाज तथा देश की विविध संस्थाओं को रचनात्मक व आर्थिक सहयोग देते रहे। वह दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार; गुरु विरजानन्द वैदिक साधना आश्रम, मथुरा; बाल सेवासदन, भिवानी; वैश्य विधवा हितकारिणी सभा; आर्यसमाज बड़ा बाजार ट्रस्ट कलकत्ता; आर्य प्रादेशिक उपप्रतिनिधि सभा, हरयाणा आदि संस्थाओं के माध्यम से धर्म तथा समाज की सेवा में संलग्न रहे। अपने जन्म-स्थान शेरड़ा में उनके निर्देशन से बने स्कूल, औषधालय, कूप, सरोवर और विश्रामालय आदि उनकी दानशीलता के परिचायक हैं। उनका परिवार अत्यन्त समृद्ध है, और उनके सुपुत्र भी उनके आदर्श के अनुसार धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर हैं।

संरक्षक-सदस्य

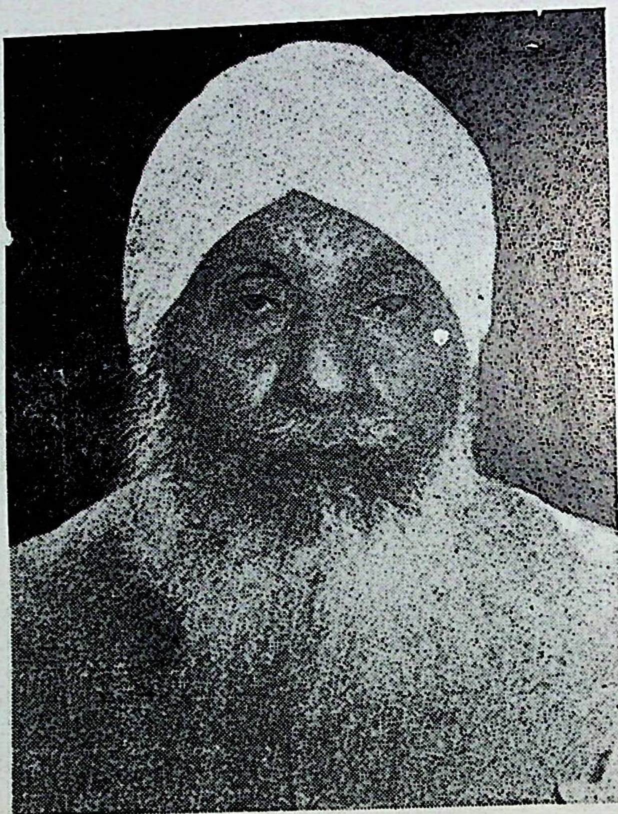


श्री संजीव वर्मा

श्री वीरेन्द्र कुमार जी वर्मा और श्रीमती शकुन्तला जी वर्मा का यह सुपुत्र बचपन से ही बहुत कुशाग्र बुद्धि था। एक बार जो बात पढ़ लेता या सुन लेता, वह उसे कभी भूलता न था। छोटी आयु में ही वह बोलना सीख गया था और ज्ञान की ऐसी बातें करता था कि सुननेवाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। प्रथम से दसवीं कक्षा तक की परीक्षाओं में वह सदा ९५ प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करता रहा। उसकी शिक्षा बड़ौदा और नैरोबी (केनिया) में हुई थी, और दोनों ही जगह उसने अपने शिक्षकों से भरपूर प्यार और प्रशंसा पाई थी। खेलकूद में भी वह सबसे आगे था। वह संगीत में भी प्रवीण था। फ्रेञ्च भाषा भी उसने सीख ली थी। उसे संस्कृत के भी बहुत से श्लोक याद थे। पढ़ाई, खेलकूद, संगीत आदि में उसने कितने ही पुरस्कार प्राप्त किये थे। वस्तुतः, वह एक संस्कारी बालक था। तेजस्वी और प्रतिभाशाली बच्चे सम्भवतः प्रभु को भी प्यारे होते हैं। इसीलिए चौदह वर्ष की छोटी-सी आयु में ही प्रभु ने इस होनहार बालक को अपनी गोद में ले लिया। १८ फरवरी, सन् १९६१ को संजीव का जन्म हुआ, और ६ सितम्बर, १९७५ को वह अपने माता-पिता को रोता-बिलखता छोड़कर परम-पिता की शरण में चला गया। सर्वशक्तिमान् परमात्मा उसकी पवित्र आत्मा को सद्गति तथा अमर शान्ति प्रदान करें।

श्री वीरेन्द्रकुमार जी वर्मा इन्जीनियर हैं, और केनिया में सेवारत हैं। श्रीमती शकुन्तला वर्मा आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा की स्नातिका हैं। पति-पत्नी दोनों वैदिक धर्म के सच्चे अनुयायी और आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता हैं। अपने दिवंगत पुत्र की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के प्रयोजन से उन्होंने 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए पाँच हजार रुपये का सात्विक दान प्रदान किया।

संरक्षक-सदस्य



श्री सरदार इन्दरसिंहजी गिल

श्री सरदार इन्दरसिंह जी गिल का जन्म ९ मई, १९०१ को लुधियाना जिले के जंडियाली ग्राम में हुआ था। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य स्कूल में हुई। सन् १९२२ में वह केनिया चले गये। वहाँ उन्होंने चार साल रेलवे की सर्विस की। फिर उनकी बदली युगाण्डा में हो गयी, और सन् १९३६ तक वह न्सिन्जी के स्टेशन मास्टर रहे। इसके पश्चात् उन्होने रेलवे की सर्विस छोड़कर अपना कारोबार शुरू कर दिया। उन्होंने युगाण्डा और तंजानिया में आरा मशीन और जिनिंग मिल के उद्योग स्थापित किये, जिनमें उन्हें अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्रों में वह उन्नति और समृद्धि के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होते गये, और सन् १९५९ में जिन्जा (युगाण्डा) और सन् १९६३ में टाँगा (तंजानिया) में उन्होंने प्लाईवुड की फैक्टरियाँ भी कायम कर दीं। पूर्वी अफ्रीका में इस उद्योग की पहल उन्हीं द्वारा की गयी। साथ ही, गन्ने और चाय की खेती के लिए उन्होंने बड़े-बड़े फार्म भी कायम किये। श्री ईदी अमीन की नीति के कारण अन्य भारतीयों के समान जब वह युगाण्डा से चले आये, तो वहाँ जो सम्पत्ति वह छोड़ आये थे, उसका मूल्य सात करोड़ रुपये के लगभग था। सरदार इन्दरसिंह गिल अत्यन्त मृदु स्वभाव के सज्जन हैं। वह परम धार्मिक हैं, और आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा अन्य समारोहों में सम्मिलित होते रहते हैं। सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि है। जिन्जा के इण्डियन एसोसियेशन के वह दो साल अध्यक्ष रहे थे, और वहाँ के हिन्दू मन्दिर के प्रधान पद को उन्होंने पाँच साल सुशोभित किया था। जिन्जा में उन्होंने अपने खर्च से एक नर्सरी स्कूल भी स्थापित किया था, जिसमें ३०० बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे। नैरोबी के आर्यसमाज नर्सरी स्कूल को भी उन्होंने उदारतापूर्वक दान दिया था, और आर्यसमाज के अन्य कार्यकलाप के लिए भी वह सदा आर्थिक सहायता करते रहते हैं। साहनेवाल (पंजाव) में उन्होंने आँखों के एक हॉस्पिटल की भी स्थापना की है, और युगाण्डा के तीन विद्यार्थियों को अपने खर्च से भारत में उच्च शिक्षा भी दिलायी है।

संरक्षक-सदस्य



श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा



श्रीमती सुशीला देवीजी शर्मा

श्री शर्मा का जन्म पंजाब के एक धनी व सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। सन् १९२२ में वह केनिया गये, और कुछ समय अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करने के बाद उन्होंने रेलवे की सर्विस स्वीकार कर ली। सन् १९५४ में वह केनिया रेलवे के कमर्शियल आफिसर के पद से सेवानिवृत्त हुए, और भारत वापस लौटकर चंडीगढ़ में बस गये। जब तक वह केनिया में रहे, आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नकुरू और किसुमु में आर्यसमाजों की स्थापना में उनका कर्तृत्त्व विशेष महत्त्व का था। चंडीगढ़ में भी श्री शर्माजी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। चंडीगढ़ की डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं तथा सेक्टर ७ और सेक्टर २२ के आर्यसमाजों की स्थापना में उनका योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। सन् १९७२ में उनका निधन हुआ।

पण्डित लब्भूराम शर्मा की पत्नी श्रीमती सुशीलादेवी सच्चे अर्थों में अपने पति की सह-धर्मिणी थीं। उनके पिता श्री पण्डित धनीराम शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपनी पुत्री को को उच्च शिक्षा दी थी। सुशीलाजी सन् १९२४ में केनिया गयीं, और वहाँ जाकर उन्होंने किसुमु में आर्य गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। यह किसुमु का प्रथम आर्य शिक्षणालय था, और सुशीलाजी स्वयं इसमें अवैतनिक रूप से अध्यापन का कार्य किया करती थीं। किसुमु, नकुरू और नैरोबी में आर्य स्त्री-समाजों की स्थापना तथा संचालन में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का था, और चंडीगढ़ आकर भी वह आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार तथा स्त्रीशिक्षा के कार्यों में निरन्तर उत्साहपूर्वक भाग लेती रहीं। सन् १९८० में नैरोबी में उनका देहावसान हुआ।

श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा के दो सुपुत्र हैं—पण्डित ब्रह्मदत्त शर्मा और पण्डित देवदत्त शर्मा। ये दोनों ही महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। पण्डित देवदत्त शर्मा सन् १९८१ और सन् १९८२ में नैरोबी आर्यसमाज के मन्त्री रहे हैं। उनका पुत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में मेडिकल आफिसर है, और वह उसके माध्यम से उस देश के विविध नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना कर वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा के संगठन का प्रयत्न करने में लगे हुए हैं।

संरक्षक-सदस्य



श्री महेन्द्रकुमारजी भल्ला

श्री महेन्द्रकुमार जी भल्ला का जन्म ६ मार्च, सन् १९३१ को जालन्धर में हुआ था। उनके पिता डा० हुकुमचन्द भल्ला जालन्धर के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। वह किल्ला आर्यसमाज के अनेक वर्षों तक प्रधान रहे थे, और डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा विस्तार में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। नकोदर के डी० ए० वी० कॉलिज के तो वह संस्थापक ही थे। महात्मा हंसराजजी के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। श्री महेन्द्र कुमार भल्ला की शिक्षा जालन्धर के साईंदास एंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल और डी० ए० वी० कॉलिज में हुई। सन् १९५२ में श्रीमती शकुन्तला भल्ला से उनका विवाह हुआ, और उसी वर्ष वह केनिया चले गये। केनिया जाकर उन्होंने वहाँ शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और नैरोबी में केनियन कॉलिज तथा किताल में किताल हाईस्कूल की स्थापना की। साथ ही, उन्होंने ओषधियों के निर्माण का उद्योग भी शुरू किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में श्री भल्ला का योगदान सराहनीय है। वह चिरकाल तक नैरोबी आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा मन्त्री रहे हैं, और सन् १९८३ में उसके प्रधान चुने गये। नैरोबी में आर्यसमाज की जो अनेक शिक्षण-संस्थाएँ हैं, भल्लाजी का उनकी व्यवस्था व संचालन में प्रमुख हाथ है। वह अनेक स्कूलों के मन्त्री व प्रबन्धकर्ता के रूप में भी कार्य करते रहे हैं। वह अत्यन्त कर्मठ और मिलनसार आर्य सज्जन हैं। लण्डन भी उनका कार्यक्षेत्र है, और वहाँ के आर्यसमाज के भी वह संरक्षक-सदस्य हैं।

संरक्षक-सदस्य



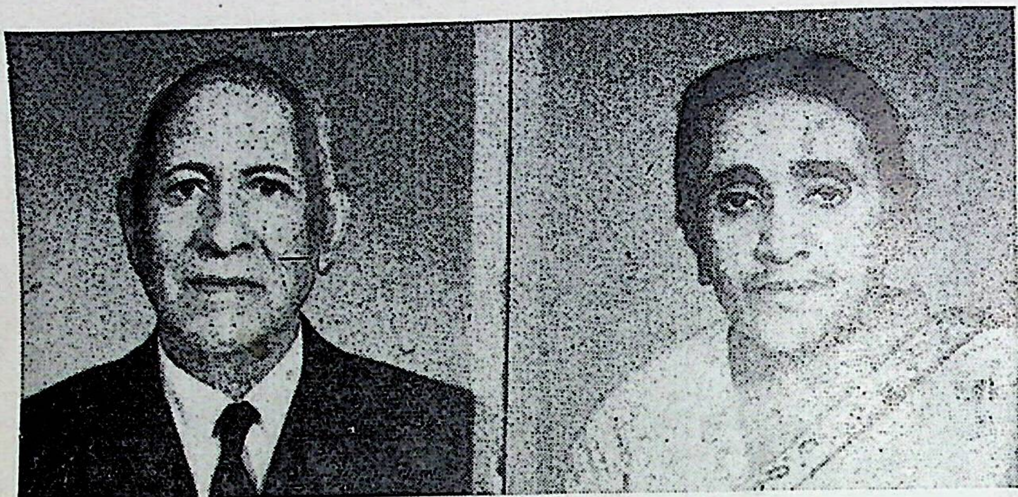
श्री जयदेवजी शर्मा भारद्वाज — श्रीमती सोमवतीजी भारद्वाज

श्री जयदेव जी शर्मा भारद्वाज का जन्म १६ मार्च, सन् १९०६ को नैरोबी में हुआ था। उनके पिता श्री वैशाखीरामजी सन् १८९४ में केनिया गये थे। वह वहाँ की रेलवे में पदाधिकारी थे, और रेलवे की सर्विस में रहते हुए उत्साहपूर्वक आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर रहा करते थे। नैरोबी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका प्रमुख कर्तृत्त्व था। वह अनेक वर्षों तक वहाँ के आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष, मन्त्री और प्रधान रहे। सन् १९२१ में रेलवे की सेवा से निवृत्त होकर वह लुधियाना आ गये, और वहाँ आर्यसमाज के कार्यकलाप में हाथ बटाने लगे। वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था है, और उनका जीवन सदाचारमय तथा वैदिक धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप है।

श्री जयदेव शर्मा अपने योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। सन् १९२४ में वह भी केनिया गये, और सन् १९५२ तक केनिया-युगाण्डा रेलवे की सर्विस में रहे। उसके बाद उन्होंने जे० डी० शर्मा एण्ड सन्स नाम से अपना निजी कारोबार शुरू किया और होज़री की फैक्टरी स्थापित की। अपने पिता के समान जयदेवजी भी धार्मिक वृत्ति के निष्ठावान् सज्जन हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में उत्साह तथा लगन के साथ संलग्न रहते हैं। पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के वह वर्षों तक पदाधिकारी रहे हैं। व्यायाम तथा स्पोर्ट्स में उनकी अत्यधिक रुचि है। आर्य युवकों की शारीरिक उन्नति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

जयदेवजी की पत्नी श्रीमती सोमवतीजी भारद्वाज का नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी सन्तान उच्च शिक्षित हैं। यह सारा परिवार समृद्ध, प्रतिष्ठित और सुसंस्कृत है।

संरक्षक-सदस्य



पण्डित लालचन्द जवाहरलालजी शर्मा   श्रीमती शान्तिदेवीजी शर्मा

पण्डित लालचन्दजी पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के एक प्रमुख उन्नायक थे। उनका जन्म सन् १८९५ में गोदपुर (जिला होशियारपुर) के एक पुञ्ज कृषक परिवार में हुआ था। सन् १९१३ में वह केनिया चले गये और वहाँ ठेकेदारी का काम प्रारम्भ किया। उस समय केनिया में बसे हुए भारतीयों द्वारा यह आन्दोलन किया जा रहा था, कि उन्हें भी वहाँ अंग्रेजों के समान अधिकार प्राप्त हों। सन् १९१४ में विश्व महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर केनिया में बसे हुए अंग्रेजों को यह अवसर प्राप्त हो गया कि वे केनिया के भारतीयों के विषय में यह कहने लगें, कि उनमें भी गदर की प्रवृत्ति शुरू हो गयी है। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से भारतीय गिरफ्तार कर लिये गये। शर्माजी भी उनमें थे। राजद्रोह के आरोप में शर्माजी को मौत की सजा दी गयी, जो बाद में दस साल के कठोर कारावास में बदल दी गयी। महायुद्ध की समाप्ति पर एक न्यायिक जाँच कमीशन ने शर्माजी को निर्दोष घोषित करते हुए कारावास से मुक्त कर दिया। अब उन्होंने अपना स्वतन्त्र कारोबार शुरू किया, जिसमें उन्होंने बहुत उन्नति की। पर व्यवसाय-व्यापार में संलग्न रहते हुए भी वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नैरोबी के आर्य गर्ल्स सेकेण्डरी स्कूल की स्थापना व उत्कर्ष में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। पण्डित लालचन्द शर्मा का विवाह केनिया के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता पण्डित वैशाखीराम जी की सुपुत्री श्रीमती शान्तिदेवीजी के साथ हुआ था। शान्तिदेवीजी अपने पति तथा भाइयों के समान धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहती हैं, और नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज के संचालन में उनका कर्तृत्व सराहनीय है। वह एक आदर्श आर्य महिला हैं, और सभी हिन्दू परिवारों के सुख-दुःख में सहृदयता से सहायक होना उनका स्वभाव है।

संरक्षक-सदस्य

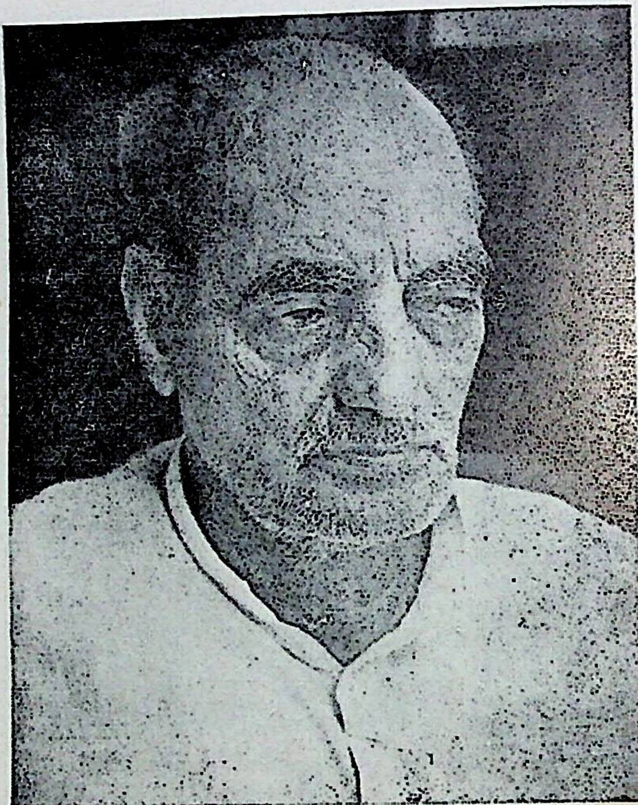


लाला राधाकृष्णजी लम्ब

लाला राधाकृष्णजी लम्ब का जन्म सन् १८८६ में पटियाला (पंजाब) में हुआ था। उनके पिता लाला माधोराम लम्ब पटियाला रियासत के खजानची थे। राधाकृष्णजी की शिक्षा पटियाला और लाहौर में हुई। आर्यसमाज और कांग्रेस के कार्यकलाप में वह सक्रिय रूप से भाग लिया करते थे। इसीलिए सन् १९१९ में उन्हें पटियाला के रेजिडेण्ट ने जेल में डाल दिया था। अपने पिताजी के प्रभाव से जब वह जेल से मुक्त हुए, तो खन्ना (पंजाब) चले गये और वहाँ ए० एस० हाईस्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने खन्ना के आर्यसमाज के कार्य को सँभाल लिया, और उसके कोषाध्यक्ष, मन्त्री तथा प्रधान के पदों पर रहकर समाज की सेवा में तत्पर रहे। खन्ना की पहली सार्वजनिक लायब्रेरी (डा० नौरातारामलायब्रेरी) उन्होंने ही आर्यसमाज की ओर से स्थापित की थी। सन् १९४६ में उन्होंने आर्य पुत्री पाठशाला की स्थापना की, जो अब हायर सेकेण्डरी स्कूल की स्थिति प्राप्त कर चुकी है। खन्ना और उसके चारों ओर के ग्रामों में उन्होंने घर-घर जाकर हवन-यज्ञ कराये, बीसियों मुसलमानों की शुद्धि की और वैदिक रीति से उनके विवाह कराये। सन् १९७१ में उनका निधन हुआ।

श्री राधाकृष्णजी के सुपुत्र श्री प्रकाश वर्मा ने अपने दिवंगत पिता की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए ५००० रुपये की धनराशि प्रदान की, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक सदस्य बनना स्वीकार किया।

संरक्षक-सदस्य



डा० हरिप्रकाशजी आयुर्वेदालंकार

कमालिया (पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री लक्ष्मणदासजी की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था थी, और आर्यसमाज के वह उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता थे। उन्होंने अपने सभी पुत्रों को गुरुकुल में शिक्षा के लिए भेजा, और सभी ने आर्यसमाज के क्षेत्र में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किया। श्री हरिप्रकाश गुरुकुल में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३७ में स्नातक हुए और उन्होंने 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधि प्राप्त की। चिकित्सा में उनकी योग्यता को दृष्टि में रखकर १९३९ में उन्हें गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का चिकित्सक नियत किया गया, और १९४० में गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी का सहायक व्यवसायाध्यक्ष। सन् १९४४ में अम्बाला छावनी को उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और उस क्षेत्र के लिए गुरुकुल फार्मेसी की चीफ एजेन्सी लेकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में (सन् १९७२ में) वह गुरुकुल फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष नियत हुए, जिस पद पर वह अब तक कार्यरत हैं।

डा० हरिप्रकाशजी की सार्वजनिक जीवन के प्रति विद्यार्थी अवस्था से ही रुचि रही है। स्नातक होने से पूर्व ही सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होंने जेलयात्रा की थी, और रुड़की क्षेत्र के राजनीतिक जीवन में सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त कर ली थी। वर्षों तक वह आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मन्त्री रहे, और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट, विद्यासभा, शिक्षा-पटल, चयन समिति तथा व्यवसाय पटल आदि के सदस्य। भारत का विभाजन होने पर उन्होंने शरणार्थियों की लगन से सेवा की, और शरणार्थी सेवा शिविर, रुड़की के वह संचालक रहे। अम्बाला की आर्य गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज आदि अनेक संस्थाओं के वह प्रबन्धक तथा सार्वदेशिक सभा के प्रतिष्ठित सदस्य हैं, और हरयाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान रह चुके हैं। आर्यसमाज के सार्वजनिक क्षेत्र में उनका ऊँचा स्थान है।

प्रतिष्ठित सदस्य



कुमारी एन्जेला कोछड़



श्री अरुण कोछड़

कुमारी एन्जेला कोछड़ की आयु केवल सोलह वर्ष की है, और उनके भाई अरुण कोछड़ की आयु उनसे एक वर्ष के लगभग कम है। पर ये दोनों बहन-भाई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में अभी से अनुपम उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। लण्डन में आर्यसमाज का कोई भी अधिवेशन हो, छोटा या बड़ा कोई भी सम्मेलन या समारोह हो, एन्जेला और अरुण का उसमें सक्रिय रूप से योगदान रहता है। उनके मधुर संगीत तथा गीतों को सुनकर श्रोता भक्तिरस में मग्न हो जाते हैं। अभिनय और नाटक के माध्यम से भी वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के संदेश को जनता तक पहुँचाते हैं, और वैदिक धर्म पर व्याख्यान भी देते हैं। सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन में देश-देशान्तर से आये हुए आर्य नर-नारी आर्यसमाज के प्रति उनकी लगन और प्रतिभा को देखकर चमत्कृत रह गये थे। २४ नवम्बर, १९८० को लण्डन के हाउस ऑफ कामन्स में ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों की जो भाषण प्रतियोगिता हुई थी, उसमें अरुण ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था और एन्जेला ने तृतीय। इन भाई-बहन में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का अपूर्व मिश्रण है, और दोनों की अच्छाइयों को उन्होंने ग्रहण किया हुआ है। उनका जन्म एक दृढ़ आर्यसमाजी परिवार में हुआ है। उनके पिता श्री एम० एल० कोछड़ तथा माता श्रीमती शकुन्त कोछड़ की यही आकांक्षा है कि उनकी पुत्री और पुत्र वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में अपना जीवन लगा दें। हमें विश्वास है, कि एन्जेला और अरुण उनकी इस इच्छा को पूर्ण कर अपना तथा अपने माता-पिता का नाम उज्ज्वल करेंगे। भगवान् से प्रार्थना है कि ये भाई-बहन चिरायु हों, इनकी प्रतिभा का निरन्तर विकास होता रहे, ये सच्चे अर्थों में आर्य बनें और इन द्वारा मनुष्यमात्र का हित-कल्याण सम्पादित हो।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्रीमती सुदर्शनाजी कौशल

२२ जनवरी, सन् १६२६ के दिन नैरोबी (केनिया, ईस्ट अफ्रीका) के एक सम्भ्रान्त आर्य परिवार में सुदर्शनाजी का जन्म हुआ था। उनके पिता श्री बंसीलालजी सोफत और माता श्रीमती वेदवतीजी सोफत—दोनों की वैदिक धर्म में सुदृढ़ आस्था और आर्यसमाज के प्रति सच्चा प्रेम था। नैरोबी के आर्य स्कूल में सुदर्शनाजी की शिक्षा हुई, और दिसम्बर, '१६४५ में डाक्टर वेदप्रकाश जी कौशल से भारत में उनका विवाह हुआ। डाक्टर कौशल का सम्बन्ध लुधियाना के एक प्रसिद्ध आर्य परिवार से है, जिसके अन्यतम सदस्य डाक्टर बख्तावरसिंहजी कौशल ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत किया था।

श्रीमती सुदर्शना कौशल और उनके पति अब दस साल से लण्डन में हैं। वहाँ वे दोनों आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और उनके सारे परिवार की यही आकांक्षा है कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में सहायक हो सकें। उनका जीवन सरल, सात्विक और धार्मिक है।



डाक्टर (श्रीमती) शान्ताजी मल्होत्रा

सन् १६३६ में लाहौर में शान्ता जी का जन्म हुआ था। उनके पिता पण्डित भीमसेन विद्यालंकार अविभाजितपंजाब के प्रतिष्ठित आर्य नेता थे, जो वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महामन्त्री रहे थे। सन् १६५६ में पंजाब यूनिवर्सिटी से राजनीतिशास्त्र में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर शान्ता जी, उसी वर्ष आर्य गर्ल्स कॉलिज, अम्बाला छावनी में प्राध्यापिका नियुक्त हुईं और सन् १६६१ में इसी कॉलिज की आचार्या हो गयीं। गत तेईस वर्ष से उच्च शिक्षा की इस आर्य संस्था का यह सफलतापूर्वक संचालन कर रही हैं। १६६५ में श्री राजकुमार मल्होत्रा, (हरयाणा में एक्जीक्यूटिव इंजीनीयर) से उनका विवाह हुआ। श्री मल्होत्रा धार्मिक प्रकृति और आर्य विचारों के सज्जन हैं। माता-पिता के धार्मिक संस्कार उनके सुपुत्र राजीव पर भी पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १६७८ में 'पोलि टिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द' विषय पर डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के निदेशन में शोधकार्य किया, और गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय से पी-एच०डी० की डिग्री प्राप्त की।

प्रतिष्ठित सदस्य





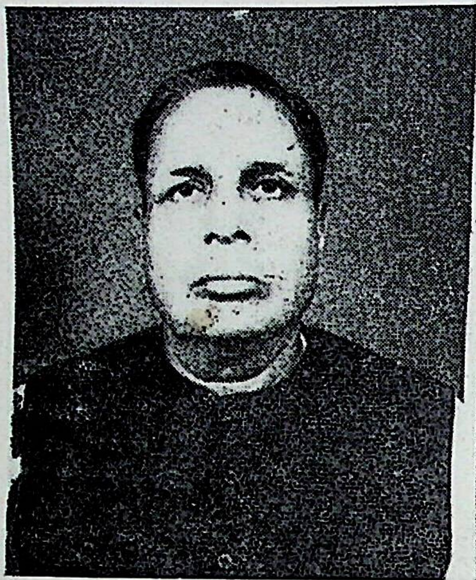
श्री पण्डित सुखदेवजी शर्मा

श्री गुरु गोविन्दसिंहजी के जन्म दिवस के शुभ पर्व पर २५ जनवरी, १९२१ को अमृतसर के सम्भ्रान्त आर्य व्यवसायी श्री शंकरदासजी शर्मा के घर सुखदेव जी का जन्म हुआ था। उनके बड़े भाई पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और बड़ी बहिन श्रीमती सत्यवती शर्मा कन्या गुरुकुल देहरादून की स्नातिका हैं। सारा परिवार धार्मिक व सुदृढ़ आर्यसमाजी है। सुखदेवजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर में हुई थी। भारत के विभाजन के पश्चात् वह कलकत्ता में बस गये। वह एक सफल उद्योगपति हैं, और एक व्यावसायिक संस्थान के प्रधान हैं। गत ३२ वर्षों से वह कलकत्ता आर्यसमाज के कार्यों में सच्ची लगन तथा उत्साह के साथ सेवा में तत्पर हैं। वह उसके अन्तरंग सदस्य, उपमन्त्री, उपप्रधान, मन्त्री और प्रधान भी रह चुके हैं। राउरकेला (उड़ीसा) के गुरुकुल वेदव्यास की प्रबन्ध समिति के वह सदस्य हैं, और अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं के मन्त्री तथा सदस्य हैं। सन् १९६६ में वह सपत्नीक फ्रांस, इंग्लैण्ड, कनाडा, अमेरिका आदि विदेशों की यात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज के वह सच्चे सेवक हैं, और उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु है।

श्रीमती सुनीतिदेवीजी शर्मा

श्रीमती सुनीतिदेवीजी का जन्म २८ जून, १९३१ को नयी दिल्ली में हुआ था। उनके पिता पण्डित शालिग्रामजी शर्मा हनुमान रोड (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मन्त्री, पहाड़गंज और जवाहरनगर के आर्यसमाजों के संस्थापक एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आजीवन सदस्य थे। सुनीतिजी की शिक्षा इन्द्रप्रस्थ कॉलिज, दिल्ली में हुई, जहाँ उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। संगीत के प्रति उनकी बचपन से ही रुचि थी, और वह आर्यसमाजों के उत्सवों में भजन-गायन भी किया करती थीं। सुनीतिजी उत्कृष्ट कोटि की कवयित्री तथा सुलेखिका भी हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है, और उनकी रचनाएँ विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। वह यूरोप तथा अमेरिका का भ्रमण कर चुकी हैं, और सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, नैरोबी में उन्हें संगीत सम्मेलन के लिए विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया था। संगीत, कविता तथा साहित्य के लिए वह अनेक पुरस्कारों द्वारा सम्मानित की जा चुकी हैं। कलकत्ता के आर्य जगत् में उनका स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित है। वह आर्य स्त्री-समाज, मल्लिक बाजार (कलकत्ता) की संस्थापिका हैं, तथा कलकत्ता की स्त्री-आर्यसमाजों की सर्वमान्य नेता हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य

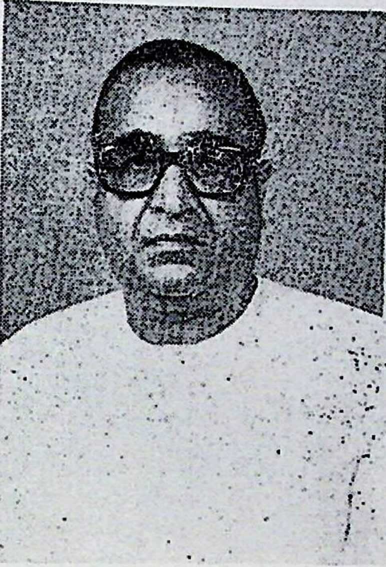


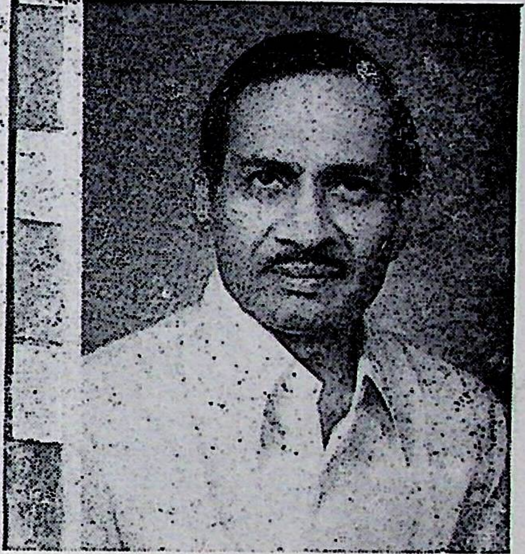

श्री पूनमचन्दजी आर्य और श्रीमती मेवादेवीजी आर्या

श्री पूनमचन्द आर्य का जन्म २१ जुलाई, सन् १९२१ को भिवानी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित व सम्पन्न परिवार (भोरुका परिवार) में हुआ था। बचपन से ही उनके विचार पवित्र थे और उनका पालन-पोषण धार्मिक व सदाचारमय वातावरण में हुआ था। इसी कारण छोटी आयु में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये थे। सन् १९३४ में अपनी शिक्षा को अधूरा छोड़कर व्यापार के लिए वह भावनगर (काठियावाड़) चले गये, और सन् १९३७ में कलकत्ता आ गये। वहाँ उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की, और शीघ्र ही एक सम्पन्न व्यापारी बन गये। पर आर्यसमाज के कार्य में वह पूर्ववत् उत्साह के साथ लगे रहे। वर्षों तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के मन्त्री, उपप्रधान और प्रधान रहे। परोपकारिणी सभा के वह उपप्रधान हैं, और महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी महोत्सव की सफलता के लिए उन्होंने दिन-रात एक करके घोर परिश्रम किया। वह अत्यन्त मृदुभाषी व कर्मठ आर्य सज्जन हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप के लिए धन जुटाने में विशेष उत्साह प्रदर्शित करते हैं। उनके सत्प्रयत्न से कलकत्ता और बम्बई के कितने ही सम्पन्न लोगों ने धर्म और समाज के कार्यों के लिए दान देने की प्रेरणा प्राप्त की है। उनके तीन पुत्र और चार पुत्रियाँ हैं, जो सब जहाँ समृद्ध हैं वहाँ साथ ही महर्षि के मन्तव्यों में दृढ़ आस्था रखते हैं। श्री पूनमचन्दजी का आदर्श आर्य जीवन हैं, धर्मपत्नी के वियोग के पश्चात् जो आर्यसमाज के प्रति और भी अधिक प्रखर रूप से समर्पित हो गया है। वानप्रस्थ न लेकर भी वह वानप्रस्थी हैं, और अपना सारा समय वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए समर्पित कर रहे हैं।

मेवादेवी जी का जन्म सन् १९२३ में ग्राम बढ़वा (जिला भिवानी, हरयाणा) के एक सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता दार्जिलिंग में कपड़े के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। मेवादेवी जी का पालन-पोषण सदाचार और धर्म के वातावरण में हुआ, जिसका उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। सन् १९३७ में श्री पूनमचन्द आर्य से उनका विवाह हुआ। विवाह के समय मेवादेवी जी पौराणिक विचारों की थीं, पर विवाह के बाद वह पति के रंग में रंगती गयीं, और शीघ्र ही आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित हो गयीं। उन्होंने वैदिक साहित्य का अध्ययन किया, और समाज के सत्संगों में नियमित रूप से सम्मिलित होने लगीं। वह अत्यन्त सरल व धार्मिक प्रकृति की आर्य महिला थीं, और अपने परिवार तथा समाज के प्रति कर्तव्यों के पालन में सदा तत्पर रहती थीं। उनमें धैर्य, उदारता, दानशीलता, गम्भीरता, दूरदर्शिता, मिष्टभाषिता आदि सब गुण विद्यमान थे।

प्रतिष्ठित सदस्य





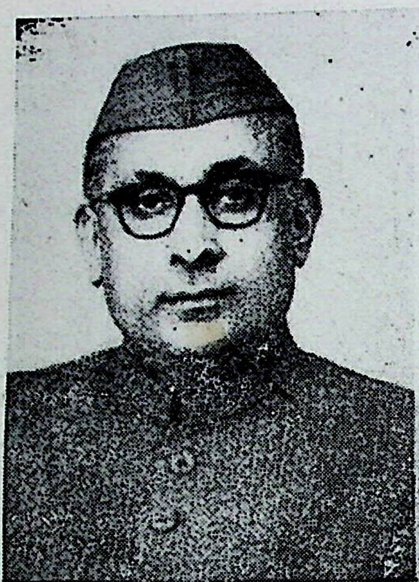
श्री बजरंगलाल जी गोयल

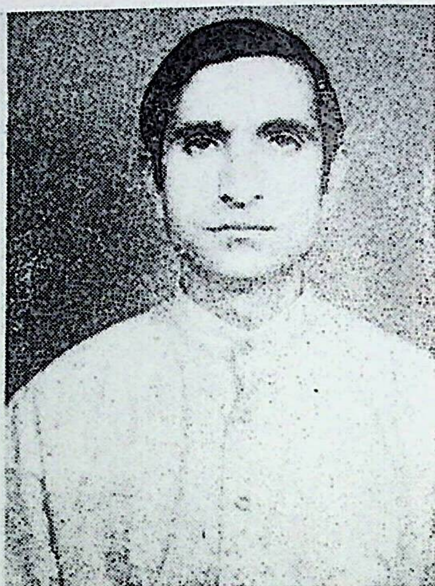
श्री बजरंगलाल गोयल का जन्म सन् १९१७ में हरयाणा के प्रसिद्ध नगर भिवानी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। बचपन में ही माता-पिता का साया उन पर से उठ गया, और बड़े भाई तथा भाभी ने उनका पालन किया। उनके परिवार के लोग कट्टर सनातनी विचारों के थे, पर बजरंगलालजी शिक्षाकाल में आर्यसमाज के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में आस्था रखने लगे। पढ़ाई पूरी कर वह कलकत्ता चले गये, और वहाँ व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त की। कलकत्ता में रहते हुए उन्होंने आर्य-समाज बड़ा बाजार के कार्यकलाप में उत्साह-पूर्वक भाग लेना शुरू किया, और वर्षों तक समाज के मन्त्री रहे। सन् १९६१ में वह बम्बई चले गये, और वहाँ भी अपना व्यवसाय शुरू किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता हुई। बम्बई फोर्ट आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा कोषाध्यक्ष के पद पर रहकर उन्होंने चिरकाल तक समाज की सेवा की, और अब उसके महामन्त्री के रूप में आर्यसमाज के कार्य में रत हैं। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से बम्बई प्रदेश में जो अर्थसमिति संगठित की गयी थी, उसके मन्त्री बजरंगलालजी ही थे। वह अत्यन्त उत्साही और धर्मप्रेमी आर्य सज्जन हैं।

श्री रामसरन राधावल्लभ जी अग्रवाल

श्री रामसरन राधावल्लभ अग्रवाल का जन्म सन् १९२९ में गोवर्धन (जिला मथुरा) में हुआ था। उन्होंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में व्यापार प्रारम्भ किया, और शीघ्र ही वहाँ के प्रतिष्ठित व्यापारियों व धनपतियों में उन्होंने स्थान प्राप्त कर लिया। उनका अलौह धातुओं (नान-फैरस मेटल्स) का कारोबार है, और वह बोम्बे नान-फैरस मेटल्स एण्ड स्क्रेप मर्चेन्ट्स एसोसियेशन के वाइस-प्रेजिडेण्ट हैं। बाम्बे मेटल एक्सचेन्ज लिमिटेड के वह निदेशक (डाइरेक्टर) भी रह चुके हैं। बम्बई के सार्वजनिक जीवन में उन्हें इतना सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है, कि सन् १९८०-८२ में वह उस महानगरी के विशेष कार्यकारी दण्डाधिकारी रहे। सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों (सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक) में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। बम्बई हिन्दी विद्यापीठ और अग्रसेन शिक्षा एवं सहायता ट्रस्ट सदृश महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के वह ट्रस्टी हैं, और अग्रवाल सेवा समाज, बम्बई के मन्त्री हैं। उनका जीवन देश, समाज तथा धर्म की सेवा के लिए समर्पित है। वैदिक धर्म की उदात्त शिक्षाओं के प्रति उनकी आस्था है, और उनका जीवन धार्मिक तथा सदाचारमय है।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्री परमेश्वरसिंह जी सूद

श्री परमेश्वरसिंह सूद का जन्म आगरा के एक सम्भ्रान्त व सुशिक्षित परिवार में १४ नवम्बर, १९०९ के दिन हुआ था। उनके पिता श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। श्री सूद का पालन-पोषण वैदिक धर्म के पवित्र वातावरण में हुआ, और उन्होंने अपने माता-पिता से सदाचार, धर्मप्रेम तथा सबसे सहयोग की शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा-काल में उन्होंने आगरा की आर्य मित्र सभा में सम्मिलित होकर उत्साहपूर्वक समाज की सेवा की। इस सभा के वह प्रधान भी रहे। सन् १९३२ में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया, और इलैक्ट्रिक लैम्प इन्डस्ट्री के विकास में अनुपम सफलता प्राप्त की। शिकोहाबाद की हिन्द लैम्प्स लिमिटेड के वह चिरकाल तक मैनेजर और सेक्रेटरी रहे। सन् १९६९ में कम्पनी से अवकाश प्राप्त करने के बाद भी इलैक्ट्रिक लैम्प इन्डस्ट्री के विकास में उनकी रुचि बनी रही। आर्यसमाज के सम्पर्क से समाज सेवा की जो भावना उनमें प्रादुर्भूत हो गयी थी, उसी के कारण वह अब तक रोटरी इन्टरनेशनल के माध्यम से समाज की सेवा में तत्पर रहते हैं। श्री सूद का विवाह आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् व नेता आचार्य रामदेव जी की सुपुत्री डा० सुशीला से हुआ था। उनकी सब सन्तान सुशिक्षित, योग्य व सम्पन्न हैं।

श्री पण्डित बृजपाल जी शास्त्री

मेरठ जिले के जोहड़ी ग्राम में श्री बृजपाल जी का जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार और वैदिक साधना आश्रम यमुनानगर में हुई। आर्यसमाज की इन प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन कर उन्होंने वेदशास्त्रों का समुचित ज्ञान प्राप्त किया, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्य रत्न' की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। संस्कृत और हिन्दी के वह गम्भीर विद्वान् हैं, और वैदिक सिद्धान्तों में उनकी अबाध गति है। लगभग दस वर्ष उन्होंने आर्यसमाज विक्रमपुरा जालन्धर तथा आर्यसमाज थापरनगर, मेरठ में पौराहित्य कार्य किया, और लगभग इतना ही समय पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में महोपदेशक रहकर वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। शास्त्री जी निपुण संगीतज्ञ भी हैं, और उनके गीतों से आर्यसमाज के सत्संगों में उच्च कोटि के सात्विक रस का संचार हो जाता है। सम्प्रति वह आर्यसमाज बम्बई फोर्ट के पुरोहित व प्रचारक हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती बालारानी बड़े ही उदार विचारों की आदर्श आर्य महिला हैं। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर शास्त्रीजी ने इस 'इतिहास' के लिए एक हजार रुपये का सात्विक दान दिया है।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्री गणपतराय जी आर्य

श्रीमती सुशीलादेवी जी आर्य

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में बम्बई में सर्वप्रथम जिस आर्यसमाज की स्थापना की थी, श्री गणपतराय जी उसी बम्बई (काकड़वाडी) समाज के प्रधान हैं। श्री गणपतराय जी का जन्म २७ दिसम्बर, १९०४ को पलवल (हरयाणा) में हुआ था। उनके पिता श्री कृपाराम जी आर्य एक सच्चे व कर्मठ समाज-सुधारक तथा महर्षि के अनन्य भक्त थे। अछूतों की बस्तियों में जाकर वे उनके बच्चों को स्वयं नहलाते-धुलाते और पढ़ाते-लिखाते थे। इस पर कृपाराम जी को बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया। पर उनकी दृढ़ता, सत्यप्रियता तथा निष्ठा के सम्मुख बिरादरी को झुकना पड़ा और जाति से बहिष्कृत किये जाने के आदेश को वापस ले लेना पड़ा। गणपतराय जी ने आर्यसमाज के प्रति सुदृढ़ आस्था अपने पिताजी से विरासत में प्राप्त की और वर्षों तक गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा पाने के कारण धर्म तथा समाज की सेवा की उनकी भावना और भी प्रबल हो गयी। १९ वर्ष की आयु में श्री गणपतराय जी बम्बई आ गये और वहाँ उन्होंने 'प्रेस प्रिन्टरी' के नाम से मुद्रण का व्यवसाय शुरू किया। श्री गणपतराय जी स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे और हैदराबाद सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के संघर्षों में वे सदा प्रमुख रहे।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी जी 'यथा नाम तथा गुण' सुशील स्वभाव, सौम्य प्रकृति, सेवाव्रती और दृढ़ निश्चयी आर्य महिला हैं वह सच्चे अर्थों में अपने पति की 'सह-धर्मिणी' हैं, और धर्म, देश व समाज की सेवा के सब कार्यों में उत्साहपूर्वक अपने पतिदेव का हाथ बटाती हैं। श्री गणपतराय जी का सारा ही परिवार समाजसेवी व धार्मिक है। उनकी बहन श्रीमती भाग्यवती देवी का विवाह आर्यसमाज के महान् नेता एवं हिन्दू महासभा के प्रधान प्रोफ़ेसर रामसिंह जी के साथ हुआ था।

प्रतिष्ठित सदस्य



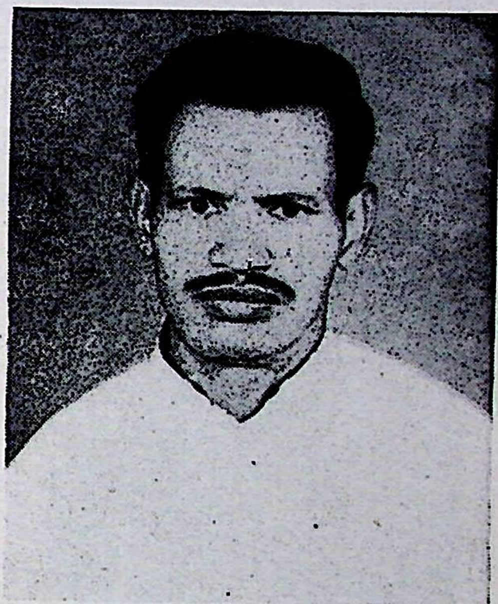
श्री राधेलाल जी अग्रवाल श्रीमती प्रेमवती जी अग्रवाल

श्री राधेलाल जी अग्रवाल की गिनती ऐसे इने-गिने व्यक्तियों में है, जो बम्बई जैसी महानगरी के एक अत्यन्त सफल व सम्पन्न व्यवसायी होते हुए भी ग्रामीण क्षेत्र के जनसाधारण के लिए अपनी सेवाएं देने को सदा उद्यत रहते हैं। मूलतः वह मण्डी धनौरा (जिला मुरादाबाद, उत्तरप्रदेश) के निवासी हैं और वहाँ की स्थानीय स्वशासन-संस्था के १८ वर्ष तक चेयरमैन रहे हैं। मण्डी धनौरा के राष्ट्रीय इन्टर कॉलिज की स्थापना श्री राधेलाल जी द्वारा ही की गई है। सन् १९३५ में वह बम्बई चले गये और वहाँ अपने चाचा श्री पूरनमल जी के व्यवसाय में सहयोग देने लगे। श्री पूरनमल जी ने सन् १९२० में 'पूरनमल दिल्ली वाला' के नाम से मिष्ठान्न की दुकान प्रारम्भ की थी, जो इस समय शुद्धता तथा विश्वसनीयता के लिए बम्बई में सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्री राधेलाल जी के प्रयत्न से इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की। महाराष्ट्र के राज्यपाल महोदय ने इस प्रतिष्ठान को राजभवन में मिष्ठान्न-पूर्ति के लिये 'अपाइन्टमेण्ट' देकर सम्मानित किया और इसके उत्पादन सिंगापुर, मस्कत, दुबई और विदेशों में भी निर्यात किये जाने लगे।

श्री राधेलाल जी बम्बई की सामाजिक व धार्मिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। पिछले १६ वर्षों से जे० पी० और अब एस० ई० एम० की उपाधि उन्हें महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदान की गई है। आर्यसमाज के साथ श्री राधेलाल जी तथा उनके परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलाप में श्री राधेलाल जी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं तथा तन, मन, धन द्वारा उसकी सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। श्रीमती प्रेमवती जी आदर्श आर्य महिला हैं जो सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी हैं। उनके सुयोग्य पुत्र श्री विजयकुमार, श्री अजयकुमार एवं श्री संजयकुमार जहाँ अपने व्यवसाय में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, वहाँ साथ ही अपने परिवार की परम्परा के अनुरूप धर्म, समाज तथा देश सेवा के कार्यों में भी उत्सापूर्वक भाग लेते हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्री सुरेशकुमार जी अग्रवाल

श्री सुरेशकुमार जी का जन्म ५ जुलाई, सन् १९६० को लोहारू के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य परिवार (तायल गोत्र) में हुआ था। उनके पिताजी का नाम श्री बाबूलाल अग्रवाल है। कलकत्ता में उनका बालटियाँ बनाने और उनका निर्यात करने का सफल व्यवसाय है। अपने व्यापार-व्यवसाय के साथ-साथ श्री सुरेश कुमार देश, धर्म तथा समाज की सेवा में पर्याप्त समय लगाते हैं। सन् १९७८ में वह कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्य बने, और उसी वर्ष राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शिक्षण शिविर में उन्होंने शिक्षण प्राप्त किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। सन् १९८१-८२ में वह समाज के उपपुस्तकाध्यक्ष चुने गये थे, जिसके कर्तव्यों का वह कुशलता के साथ निष्पादन करने में तत्पर हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ओर भी उनका ध्यान है। सन् १९८३ में उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी० काम० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। श्री सुरेश कुमार एक अत्यन्त कर्मठ व उत्साही युवक हैं। देश, धर्म और समाज को उनसे बहुत आशाएँ हैं।

श्री हजारी लाल जी आर्य

श्री हजारी लाल जी का जन्म श्रावण सुदी १५, संवत् १९९५ (सन् १९३८) को मासलपुर गाँव (तहसील करौली, राजस्थान) में हुआ था। वह श्री किंदूरीलाल (वर्तमान नाम आर्यमुनि वानप्रस्थी) के ज्येष्ठ पुत्र हैं। बचपन से ही उनकी रुचि सत्संग तथा स्वाध्याय में रही है। वह सात्विक प्रकृति के मननशील व्यक्ति हैं, और समाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। हिन्डौन आर्यसमाज के मन्त्री के रूप में वह राजस्थान में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तन-मन-धन से पूर्ण योगदान दे रहे हैं। फरवरी, सन् १९६० में उनका विवाह श्रीमती रमाकुमारी से हुआ था, जो सुसंस्कृत व धार्मिक आर्य महिला हैं, और जिन्होंने आर्य महिला विद्यापीठ भुसावर (भरतपुर) में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उनके दो पुत्र धर्मप्रिय एवं सत्यप्रिय हैं, और दो पुत्रियाँ ज्ञानवती एवं सन्ध्यावती हैं। सारे परिवार का वातावरण सदाचारमय व सुसंस्कृत है। श्री हजारीलाल जी के पिताजी भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में सर्वात्मना संलग्न रहते हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्रीमती राजरानीजी

श्रीमती राजरानीजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक, वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् और दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यवसायी पण्डित मनोहरजी विद्यालंकार की सहधर्मिणी हैं। अपने पतिदेव के समान वह भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर अगाध आस्था रखती हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती रहती हैं। श्री मनोहरजी के समान राजरानीजी को भी देश-विदेश के भ्रमण का शौक है। उत्तराखण्ड में वह बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और जमनोत्री का पर्यटन कर चुकी हैं। सन् १९५३ में साम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यारोहण के अवसर पर उन्होंने इंगलैण्ड तथा यूरोप के विभिन्न देशों की यात्रा की थी, और वहाँ के विश्वविद्यालयों के संस्कृत के प्रोफेसरों से वैदिक विषयों पर बातचीत भी की थी। सन् १९५७ में मास्को में आयोजित युवक समारोह में वह अपने पतिदेव के साथ सम्मिलित हुई थीं। राजरानीजी को वेदों में असीम श्रद्धा है। वह अपने घर पर पाँच बार चतुर्वेदपारायण यज्ञ का अनुष्ठान कर चुकी हैं।

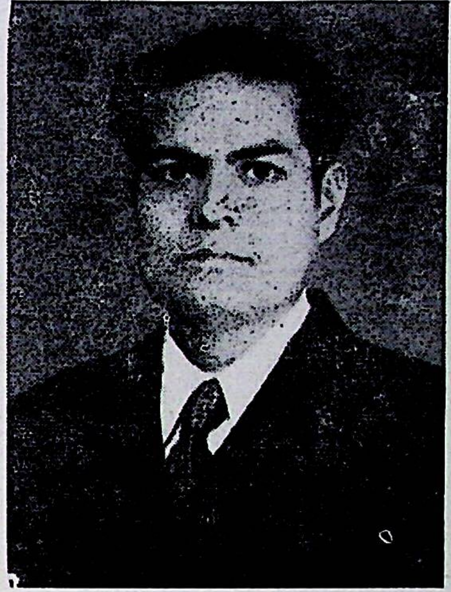
महाशय धर्मपाल जी

१३ एप्रिल, १९२४ को सियालकोट में जन्म। पिता—श्री चुन्नीलालजी, माता—श्रीमती चन्ननदेवी जी। दोनों आदर्श पिता-माता। भारत-विभाजन के बाद मसालों के पुराने व्यापार को उन्होंने दिल्ली में पुनः स्थापित किया। उनका व्यापार-संस्थान 'महाशयां दी हट्टी' देश-विदेश में विख्यात है। "अर्थ (धन) मात्र साधन है, ध्येय नहीं" यह महाशयजी का जीवनदर्शन है। उन्होंने बहुत धन कमाया है, पर वह उसे उदारतापूर्वक लोकहित के लिए खर्च भी करते हैं। पिता के नाम पर उन्होंने चुन्नीलाल ट्रस्ट स्थापित किया है, जिसके अधीन श्रीमती चन्ननदेवी निःशुल्क नेत्र चिकित्सालय, माता-पिता के नाम पर दो विद्यालय तथा महाशय धर्मपाल विद्यामन्दिर चल रहे हैं। तीस से भी अधिक अन्य शिक्षणालयों को भी महाशयजी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। दिल्ली राज्य की आर्य केन्द्रीय सभा के वह प्रधान हैं, और आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलाप से वह उत्साहपूर्वक हाथ बटाते हैं। उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है। वैदिक धर्म में उनकी सच्ची श्रद्धा है, और आर्यसमाज के लिए सच्ची लगन।



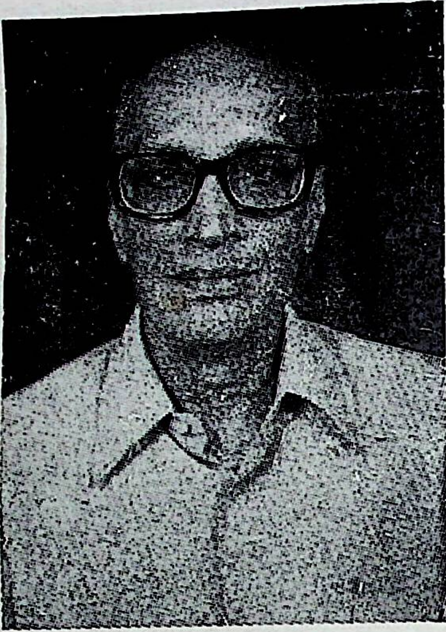
श्री नारायणदास जी जुनेजा

श्री नारायणदास जी का जन्म सन् १९१३ में लायलपुर में हुआ था। उनके पिता लाला गुरुदत्तमल लायलपुर के प्रतिष्ठित आर्य सज्जन थे। नारायणदासजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर में हुई, और विद्यार्थी जीवन में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। भारत का विभाजन होने पर सन् १९४७ में वह सपरिवार बम्बई आ गये। वहाँ आकर उन्होंने सान्ताक्रुज आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेना शुरू किया, और शीघ्र ही उसके सर्वमान्य नेता बन गये। वर्षों तक वह सान्ताक्रुज समाज के प्रधान रहे। उनके नेतृत्व में यह समाज उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गया। वह बम्बई में आर्य जगत् के सर्वमान्य नेता थे, और सान्ताक्रुज समाज के तो प्राण ही थे। श्री जुनेजा जी वैदिक संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। उनमें अदम्य उत्साह था, और उनकी कर्तव्य परायणता अनुपम थी। उनमें वे सब गुण विद्यमान थे, जो एक आर्य में होने चाहिए। हैदराबाद के सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के अनेक संघर्षों में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था। ऐसे कर्मयोगी आर्य ४ जून, १९८१ को इस असार संसार को छोड़कर परमपिता परमात्मा की शरण में चले गये। उनके सुयोग्य पुत्र श्री कुलदीप, शोभा आदि पाँच पुत्रियाँ तथा धर्मपत्नी श्रीमती राजरानी जी उनके चरणचिह्नों पर चलकर अब वैदिक धर्म की सेवा में संलग्न हैं।



श्री योगेन्द्रनाथ जी अवस्थी

श्री योगेन्द्रनाथ अवस्थी का जन्म २१ सितम्बर, १९१४ को गुरुदासपुर में हुआ था। उनके पिता पण्डित विश्वम्भरनाथ जी आर्यसमाज के अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे। सन् १९१७-१८ में वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे, और १९२० से १९२७ तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता। उनकी माता श्रीमती दयावती जी पंजाब के एक सम्भ्रान्त कुलीन परिवार में उत्पन्न हुई थीं, और उनके पूर्वज नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली तथा अनेक सिक्ख राजाओं के शासन में उच्च सैनिक व प्रशासकीय पदों पर रहे थे। वह सोधरा (पंजाब) के प्रतिष्ठित दीवान परिवार के उन्नायक श्री धियानतराय के वंशज श्री झण्डामल की सुपुत्री थीं। श्री योगेन्द्रनाथ का पालन-पोषण सात्त्विक व सदाचारमय वातावरण में हुआ, और अपने माता-पिता से उन्होंने देश तथा धर्म की सेवा विरासत में प्राप्त की। बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त कर कुछ वर्ष उन्होंने वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में कार्य किया, और फिर चिरकाल तक पंजाब नेशनल बैंक में सेवारत रहे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती डाक्टर सावित्री अवस्थी उच्च शिक्षित आर्य महिला हैं, और वर्षों तक कमला नेहरू कॉलिज में प्राध्यापिका रह चुकी हैं। अवस्थी दम्पती की साहित्य और विद्या में बहुत रुचि है। उनका निजी पुस्तकालय बहुत विशाल है, जिसमें वैदिक धर्म, आर्यसमाज तथा आधुनिक इतिहास की उच्चकोटि की पुस्तकों का उत्तम संग्रह है।





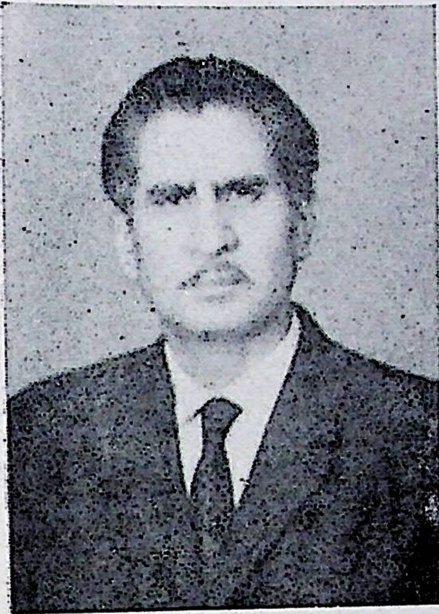
श्री प्रकाशचन्द जी मूना

बम्बई के आर्य जगत् में श्री प्रकाशचन्द्र जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह सान्ताक्रुज आर्यसमाज के प्रधान हैं, और बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के कोषाध्यक्ष हैं। उनका जन्म अजमेर के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय श्री ज्वाला-प्रसाद जी मूना वर्षों तक आदर्शनगर, आर्य-समाज के प्रधान रहे, और अपने क्षेत्र में धर्म तथा समाज की उत्साहपूर्वक सेवा करते रहे। जिन श्री लक्ष्मीनारायण जी ने सन् १८८३ में लण्डन में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की थी, वह श्री प्रकाशचन्द्र जी मूना के चाचा थे। सन् १९३३ में अजमेर में मनायी गयी महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी में प्रति-निधियों के आवास की सब व्यवस्था भी उन्हीं द्वारा की गयी थी। श्री प्रकाशचन्द्र जी ने आर्यसमाज की सेवा की भावना अपने पूज्य पिताजी व चाचाजी से प्राप्त की, और उन्हीं के पदचिह्नो पर चलते हुए वह पूर्ण निष्ठा के साथ वैदिक धर्म के प्रचार में सब शक्ति लगा रहे हैं। बम्बई में उनके अनेक व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं, उन सबकी व्यवस्था अपने सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार मूना के सुपुर्द कर प्रकाशचन्द्र जी ने अब अपने को समाज की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है। मूना जी की धर्मपत्नी श्रीमती प्रकाशवती जो भी अपने पतिदेव के समान आर्यसमाज के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखती हैं, और उसके कार्यकलाप में लगन के साथ हाथ बटाती रहती हैं।

श्री ओंकारनाथ जी आर्य

श्री ओंकारनाथ जी आर्य बम्बई के कर्मठ तथा सुप्रसिद्ध समाज सेवक हैं। वह बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, सान्ताक्रुज आर्यसमाज के उपप्रधान, श्री महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा के मैनेजिंग ट्रस्टी तथा रामाश्रम ट्रस्ट पवई, बम्बई के मन्त्री हैं। धर्म, देश तथा समाज की सेवा की भावना उन्होंने अपने पूज्य पिता श्री रामरतन जी मानकटाला से विरासत में प्राप्त की है। श्री रामरतन जी लाहौर के एक अत्यन्त सफल वकील थे। वकालत से वह जो धन कमाते, उसका अच्छा बड़ा भाग वह निर्धन विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियाँ देने, विधवाओं और अनाथों की सहायता तथा अन्य धर्म-कार्यों में प्रयुक्त किया करते थे। इसीलिए वह जन-साधारण में अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। वह संस्कृत के भी विद्वान् थे, और धर्म प्रचार की उन्हें धुन थी। श्री ओमप्रकाश जी आर्य उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर पूर्ण लगन से धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर रहते हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवराजवती जी भी अपने पतिदेव के समान आर्यसमाज के कार्य में संलग्न रहती हैं। वह आर्य महिला समाज, सान्ताक्रुज की संयोजिका हैं। संगीत कला में वह अत्यन्त प्रवीण हैं, और भक्तिरस से पूर्ण उनके गीत आर्य जगत् में बहुत लोक-प्रिय हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री इन्द्रमोहनजी मेहता

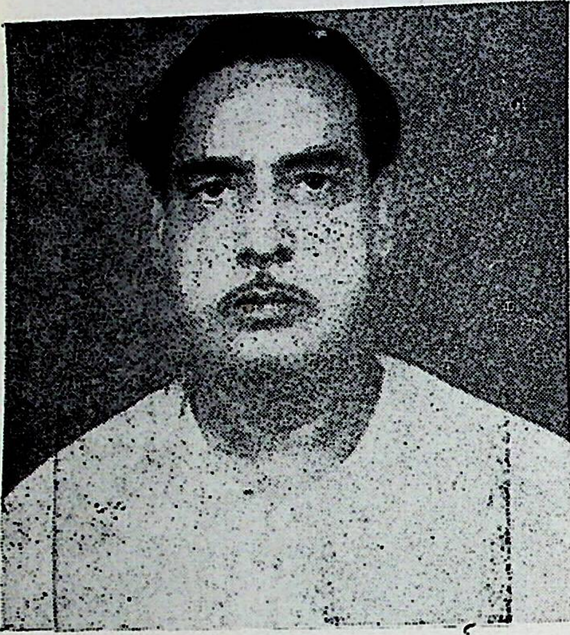


डाक्टर सत्यपालजी नागरथ

श्री मेहता आगरा के प्रतिष्ठित उद्योगपति तथा कुशल इन्जीनियर हैं। वह अमेरिकन सोसायटी ऑफ् मैकेनिकल इन्जीनियर्स के सदस्य और अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ् इलैक्ट्रिकल इन्जीनियर्स के एसोसियेट सदस्य रहे हैं। पिस्टन, रिम तथा डीजल इंजन पाट्र्स की इण्डस्ट्री का उन्होंने आगरा में सूत्रपात किया और भारत में इलैक्ट्रिक लैम्प इण्डस्ट्री के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व रहा। वैदिक धर्म के प्रति श्री मेहता जी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज व उसकी विविध संस्थाओं की व्यवस्था तथा संचालन में वह सदा तत्पर रहते हैं। आर्यसमाज नामनेर के प्रधान, आगरा जिला आर्यसमाज शताब्दी समारोह के स्वागताध्यक्ष और आर्यसमाज बाढ़पीड़ित सहायता समिति के अध्यक्ष के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार तथा जनसेवा में उनका महत्त्व-पूर्ण योगदान रहा है। अनेक आर्य महासम्मेलनों और मारीशस सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित हुए। आगरा के प्रसिद्ध आर्य संगठन 'आर्य परिवार' के वह संस्थापक-अध्यक्ष हैं।

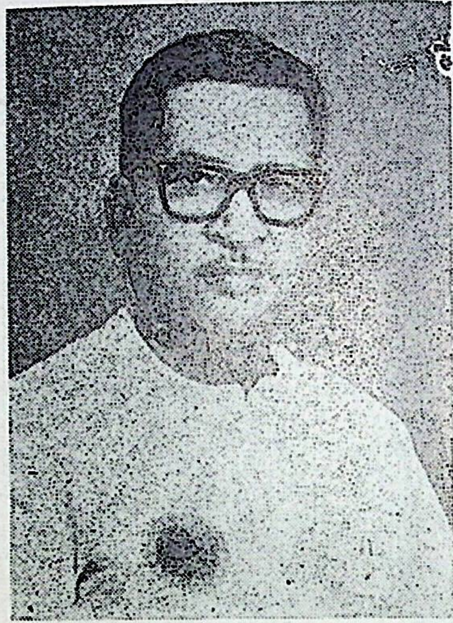
पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान में) के एक सुप्रतिष्ठित आर्य परिवार में १४ जून, १९१५ को श्री नागरथ का जन्म हुआ था। लाहौर के फारमैन क्रिश्चियन कॉलिज और के० ई० मेडिकल कॉलिज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद चिकित्सा की उच्चतम शिक्षा के लिए वह इंगलैण्ड और अमेरिका गये। सन् १९४२-४६ में सेना में सर्विस। भारत के विभाजन के पश्चात् उत्तर-प्रदेश की सरकारी मेडिकल सर्विस स्वीकार कर ली, और आगरा के एस०एन०मेडिकल कॉलिज में प्रोफेसर हो गये। छाती के रोगों, विशेषतया राजयक्ष्मा की चिकित्सा के विख्यात विशेषज्ञ हैं। १९७४ में सरकारी सर्विस से अवकाश प्राप्त कर आगरा में ही चिकित्सा-कार्य में रत हैं। अमेरिकन कॉलिज आफ चेस्ट फिजीशियन्स, इण्टरनेशनल यूनियन अगेन्स्ट ट्यूबरक्लोसिस, और कैन्सर फाउण्डेशन, नयी दिल्ली आदि कितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय व भारतीय मेडिकल सोसायटियों के वह सदस्य हैं। समाजसेवा में उनकी विशेष रुचि है, और वैदिक धर्म के प्रति आस्था है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साह-पूर्वक भाग लेते हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री अलगूरामजी वर्मा

सुलतानपुर (उत्तरप्रदेश) जिले के कैथी जलालपुर गाँव में २६ सितम्बर, सन् १९२५ को श्री अलगूराम वर्मा का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम श्री भगवतीदीन वर्मा और माता का नाम श्रीमती रुक्मिणी देवी था। इण्टरमीडियेट तक की शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता चले गये, और अपने चचेरे भाई श्री हलकम्पीराम वर्मा की सहायता से उन्होंने वहाँ लोहे का व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। इसमें उन्होंने बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही उनकी गिनती कलकत्ता के लोहे के प्रतिष्ठित व्यापारियों में की जाने लगी। कलकत्ता रहते हुए श्री अलगूराम श्री सीताराम आर्य के सम्पर्क में आये, और आर्यसमाज के सत्संगों में सम्मिलित होने लगे। वहाँ पण्डित रमाकान्त शास्त्री के उपदेशों से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य बन गये, और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। सन् १९७६ में उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा की, और १९७८ में वह नैरोबी के तथा सन् १९८० में लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में सम्मिलित हुए। इन अवसरों पर यूरोप और अफ्रीका आदि के विविध देशों का परिभ्रमण करते हुए उन्होंने उनमें वैदिक धर्म का प्रचार भी किया।



श्री सीतारामजी आर्य

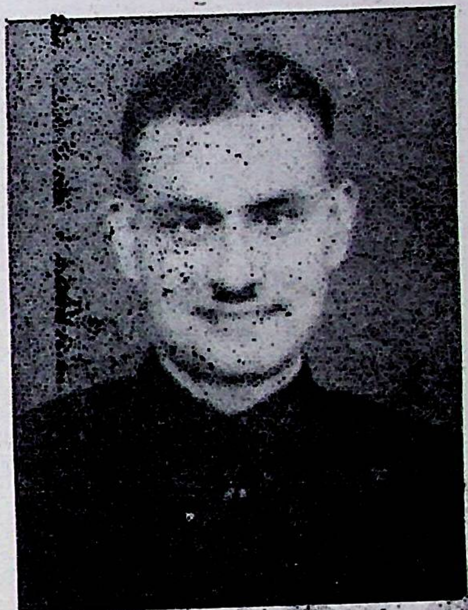
श्री सीताराम का जन्म फैजाबाद जिले के फूलपुर ग्राम (टाण्डा) में सन् १९२२ में हुआ था। उनका परिवार कट्टर पौराणिक था, और ग्राम का वातावरण अत्यन्त दूषित था। पर वहाँ रहते हुए सीतारामजी टाण्डा आर्यसमाज के सम्पर्क में आते रहते थे, और वहाँ के पवित्र विचारों का उनपर बहुत प्रभाव पड़ता था। पन्द्रह वर्ष की आयु में वह कलकत्ता गये, और वहाँ आर्थिक संघर्ष में लग गये। इसमें उन्हें समुचित सफलता प्राप्त हुई, और व्यापार-व्यवसाय में उन्होंने अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर लिया। कलकत्ता में रहते हुए वह आर्यसमाज के निकट सम्पर्क में आये, जिसके कारण उनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ। व्यापार के साथ-साथ समाज तथा देश की उन्नति के लिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न में तत्पर हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में निष्ठा के साथ भाग लेने लगे। उनका पूरा परिवार वैदिक विचारधारा से ओत-प्रोत है, और सीतारामजी ने अपना सर्वस्व आर्यसमाज के लिए समर्पित किया हुआ है। सन् १९६१ में उन्होंने अपने ग्राम में रामनारायण हाईस्कूल की स्थापना की थी, और अनेक शिक्षण-संस्थाओं का वह संचालन कर रहे हैं। चिरकाल तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के प्रधान रहे हैं। आर्यसमाज के प्रचार के प्रयोजन से वह अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण भी कर चुके हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



राय साहिब चौधरी प्रतापसिहजी

९ जनवरी, १९०४ को शुजाबाद (जिला मुलतान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। शुरू से ही सार्वजनिक जीवन तथा आर्यसमाज के कार्यों में रुचि। दस साल के लगभग शुजाबाद की नगरपालिका के सदस्य रहे और छह साल प्रधान। १९२७ से १९४७ तक मुलतान डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य। भारत के विभाजन के पश्चात् करनाल (हरयाणा) में आ गये, और वहाँ रहकर वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हो गये। धन द्वारा भी वह देश तथा धर्म की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। इसी प्रयोजन से करनाल में रा० सा० चौधरी प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास तथा रा० ब० चौधरी नारायणसिंह न्यास की स्थापना। करनाल में प्रताप पब्लिक लायब्रेरी तथा प्रताप पब्लिक स्कूल की स्थापना। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, हरयाणा के प्रधान, परोपकारिणी सभा अजमेर के ट्रस्टी तथा अनेक सार्वजनिक आर्य संस्थाओं के पदाधिकारी। विद्वानों के सम्मान और वेद-सम्बन्धी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने में सदा तत्पर।



श्री कृष्णलालजी आर्य

एवटाबाद (पाकिस्तान) में सन् १९१८ में जन्म। शिक्षा एम०ए०, बी०कॉम०, कॉस्ट एकाउण्टेण्ट। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। भारत के विभाजन के बाद आर्यसमाज, लोदी रोड, नयी दिल्ली में महत्त्वपूर्ण कार्य। १९५६-६० में नया नांगल (पंजाब) में रहे और वहाँ के भव्य आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में विशेष भूमिका अदा की। १९६२-६६ में विशाखापटनम् (आन्ध्र) में हिन्दुस्तान शिप यार्ड के वित्तीय सलाहकार रहे, और वहाँ एक विशाल आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराया। १९६६-६९ में कामरूप (असम) रहे, और वहाँ भी समाज-मन्दिर का निर्माण कराया। १९७६-७७ में ट्रिपोली (लिबिया—अफ्रीका) रहे, और वहाँ भारतीयों में आर्यसमाज के सत्संगों का प्रारम्भ किया। १९७८-८१ में निजामुद्दीन (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मन्त्री, और सम्प्रति आर्य प्रतिनिधि सभा, हिमाचलप्रदेश के महामन्त्री। श्री आर्यजी का संकल्प है, कि शेष सारा जीवन हिमाचलप्रदेश में आर्यसमाज के विस्तार के लिए समर्पित कर दिया जाये।

प्रतिष्ठित सदस्य



महाशय प्रेमप्रकाशजी

आश्विन शुक्ला द्वितीया, संवत् १९८५ (सन् १९२८) को धुरी (पंजाब) के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता महाशय कुन्दनलालजी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। १९४९ में उन्होंने आर्य हाईस्कूल स्थापित करने तथा उसके संचालन के लिए आर्यसमाज को बीस हजार रुपये का दान दिया था। उन्हीं से महाशय प्रेमप्रकाशजी को आर्यसमाज की लगन लगी। उनका सारा परिवार आर्य है। उनका दैनिक सन्ध्या-हवन व वेदमन्त्रों की ध्वनि सारे नगर में लाउड स्पीकर से सुनायी देती है। प्रेमप्रकाशजी अनेक आर्य संस्थाओं के प्राण हैं। युवकों के लिए चरित्र निर्माण शिविरों के संयोजक, धुरी स्टेशन पर महर्षि के चित्र के स्थापक, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के समारोह में धुरी में 'ओ३म्' के झण्डे पर वायुयान द्वारा पुष्पों की वर्षा के व्यवस्थापक। अनेक पुस्तकों के लेखक। आर्यसमाज की इतनी धुन कि गत तीस वर्षों में ८०० संस्कार करवाये, जिनकी सब दान-दक्षिणा आर्यसमाज को दे दी। समाज के कार्य के सम्मुख निजी कार्य को कोई महत्त्व नहीं देते। उनका तन, मन, धन— सब आर्यसमाज के लिये समर्पित है।



पण्डित अमरनाथजी विद्यालंकार

८ दिसम्बर, १९०२ को भेरा (पंजाब) में जन्म। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में शिक्षा। लाला लाजपतराय की प्रेरणा से १९२६ में स्वाधीनता संग्राम में जुट जाने का व्रत ग्रहण किया। २० वर्ष तक देश की स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्ष—अनेक बार जेलयात्रा। १९५६ से १९६१ तक पंजाब के शिक्षामन्त्री। १९५२-५६, १९६३-६७ और १९७१-७७ तीन बार लोकसभा के सदस्य। भारत के प्रतिनिधिमण्डल के नेता के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के वार्षिक अधिवेशन (१९५७) में जेनेवा गये और भारतीय सद्भावना मिशन के नेता के रूप में अफगानिस्तान की यात्रा की (१९६१)। क्योरवेल (इण्डिया) लिमिटेड कम्पनी के १५ वर्ष मैनेजिंग डायरेक्टर रहे। राजनीतिक जीवन बिताते हुए भी साहित्यिक कार्य में संलग्न। हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू में अनेक पुस्तकों की रचना। तीन साल 'पंजाब-केसरी' पत्र के प्रधान सम्पादक भी रहे। संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों के गम्भीर विद्वान् और प्रभावशाली व्याख्यानदाता हैं। अमरनाथजी का जीवन अत्यन्त सात्त्विक व सदाचारमय है।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्रीमती यमुनादेवीजी

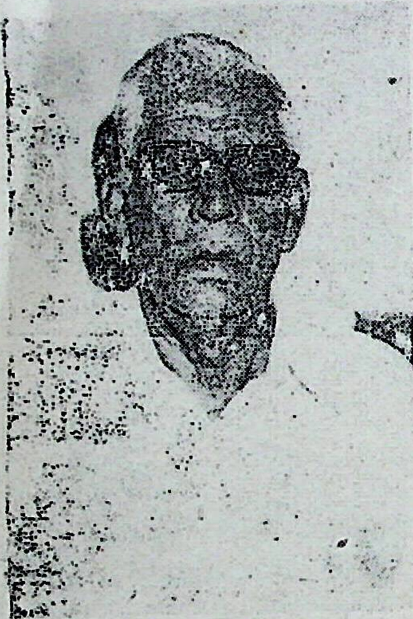
सन् १८९२ की शिवरात्रि के पुण्य पर्व के दिन केलकीकलां गाँव (जिला सहारनपुर) में श्री शिवसिंह के घर यमुनादेवीजी का जन्म हुआ था। उनके पिता परम धार्मिक एवं श्रद्धालु थे। सन् १९०८ में यमुनादेवीजी का विवाह बाबू रामसिंहजी के साथ हुआ, जिनके पिता श्री दिलीपसिंह ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन किये थे, जिससे वैदिक धर्म और आर्य-समाज के प्रति उनकी अगाध आस्था हो गयी थी, और उन्होंने अपने सुपुत्र को डी०ए०वी० स्कूल अजमेर में पढ़ाया था। यमुनादेवीजी के पिता, श्वसुर, पति एवं अन्य कुटुम्बीजन सभी धार्मिक प्रवृत्ति के थे, जिनका प्रभाव उन पर भी पडा था। उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु और दयालु था, अतिथियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती थीं। उनका जीवन सादा तथा तपोमय था। कम आमदनी में भी वह इतनी मितव्ययिता से घर का सब खर्च चलाती थीं, कि बच्चों की शिक्षा तथा विवाह आदि के लिए धन की कमी नहीं पड़ती थी। परिवार के सब सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्य के पालन का उन्हें सदा ध्यान रहता था, और सास तथा श्वसुर की सेवा करना वह अपना धर्म मानती थीं।

श्री सूरजकुमारजी

मुजफ्फरपुर (बिहार) की प्रसिद्ध प्रभात जर्दा फैक्टरी के श्री सूरजकुमार भी अन्यतम हिस्सेदार हैं, और उस व्यापारिक संस्थान की उन्नति तथा समृद्धि में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का है। पर श्री सूरजकुमार केवल व्यापारी ही नहीं हैं, वह उच्च कोटि के साहित्यिक भी हैं। वह एक सुकवि तथा सफल साहित्यकार हैं। उनकी रचनाएँ 'सूरज मुजफ्फरपुरी' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'कहानी के करीब' 'कविताञ्जलि' और 'ग्यारह देशों की छब्बीस दिवसीय यात्रा' उल्लेखनीय हैं। भारतीय लोक-कल्याण केन्द्र, मुजफ्फरपुर द्वारा श्री सूरज-कुमार को उनकी पुस्तकों पर दो बार पुरस्कार देकर सम्मानित किया जा चुका है। श्री सूरज-कुमार का सिद्धान्त है—"मनुष्य आजीवन विद्यार्थी है।" इसीलिए सम्पन्न व्यापारी होते हुए भी वह विद्या के उपार्जन में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, और यूनिवर्सिटी की अनेक उच्च डिग्रियाँ प्राप्त कर चुके हैं।

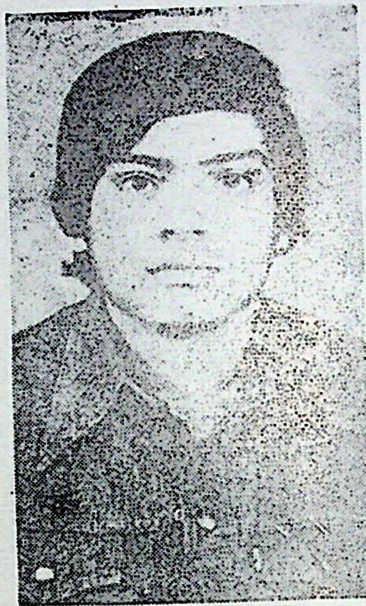
पता—सूरजनगर, रमना, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री चुन्नीलालजी तनेजा

श्री चुन्नीलाल जी तनेजा का जन्म सन् १९११ में सरगोधा (अब पाकिस्तान में) जिले के हडाली ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री भोलारामजी सिन्ध में ठेकेदारी का काम करते थे। श्री तनेजा भी उनके काम में हाथ बटाने लगे थे। उस समय हडाली में केवल एक गुरुद्वारा ही था। अतः हिन्दू पूजा-पाठ के लिए वहीं जाया करते थे। श्री तनेजा ने वहाँ आर्य-समाज के मन्दिर का निर्माण कराया, जिससे जनता में उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हो गई। वह छुआछूत नहीं मानते थे। सिन्ध में उन्होंने एक हरिजन को रसोइया रखा हुआ था। शुद्धि के कार्य में भी उनकी सेवाएँ प्रशंसनीय रही हैं। पाकिस्तान बनने के पश्चात् वह दिल्ली में आ बसे। करौलबाग आर्यसमाज के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, और समाज के कार्य में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनकी दान की प्रवृत्ति प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।



श्री हर्षवर्धन भार्गव

श्री हर्षवर्धन भार्गव का जन्म २ एप्रिल, सन् १९५७ को एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। उनके पिता श्री जगदीश भार्गव विख्यात विधि-विशेषज्ञ, समाजसुधारक एवं कांग्रेस के नेता श्री ठाकुरदास भार्गव के सुपुत्र थे, और माता श्रीमती कमला भार्गव आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता और गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व मुख्याधिष्ठाता पण्डित विश्वम्भरनाथजी की सुपुत्री थीं। हर्षवर्धन ने अपने पिता और माता—दोनों के कुलों के गुण विरासत में प्राप्त किये थे। बचपन से ही वह हँसमुख तथा सेवा-वृत्ति का बालक था। माडर्न स्कूल नयी दिल्ली में शिक्षा प्राप्त करते हुए रोटरी क्लब के सदस्य-रूप में वह सदा असहायों और निर्धनों की सहायता करने में तत्पर रहता था। विद्यार्थी-जीवन में उसे अभिनय तथा टेबल टेनिस आदि खेलों में बहुत रुचि थी। बंगलोर में इन्जीनियरिंग की शिक्षा को वह पूर्ण ही करने वाला था, कि २१ मई, सन् १९७७ के दिन वह एक भयंकर दुर्घटना का शिकार हो गया। बहुत कष्ट होते हुए भी वह हास्पिटल में अपनी माताजी को धीरज बँधाता रहा। पर ईश्वर की इच्छा के सम्मुख किसी का क्या वश है! अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों तथा साथियों से सदा के लिए विदा होकर असमय में ही वह दिवंगत हो गया।

प्रतिष्ठित सदस्य





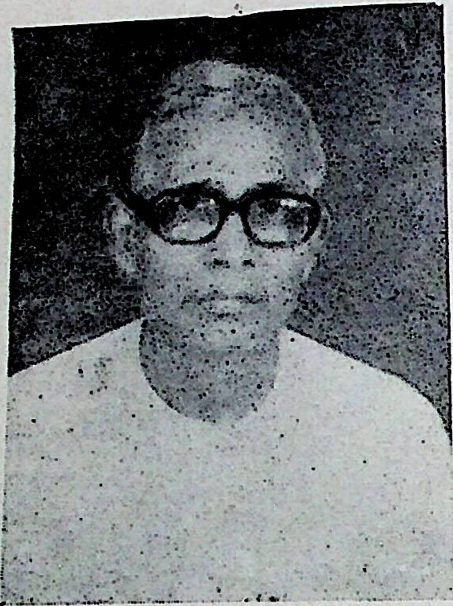
श्री यशपालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य

श्री यशपालजी का जन्म ५ दिसम्बर, सन् १९४९ को ग्राम हुमायूँपुर (रोहतक) के एक प्रतिष्ठित किसान परिवार में हुआ था। आर्यसमाज में अगाध आस्था होने के कारण उनके पिता श्री भगत दरयावसिंहजी ने शिक्षा के लिए अपने पुत्र को गुरुकुल झज्झर (हरयाणा) में प्रविष्ट कराया, जहाँ ब्रह्मचर्य-पूर्वक तपस्या का जीवन बिताते हुए उन्होंने वेद-वेदांगों का अध्ययन किया और व्याकरणाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपनी शिक्षा को उन्होंने बाद में भी जारी रखा, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' तथा आयुर्वेद विद्यापीठ दिल्ली से 'आयुर्वेद विशारद' की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। दो वर्ष उन्होंने गुरुकुल झज्झर में अध्यापन का कार्य किया, और फिर गुरुकुल-ततारपुर (गाजियाबाद) के आचार्य रहे। बाद में वह आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता के पदों पर नियुक्त होकर गुरुकुल मटिण्डू चले गये, और सन् १९७५ में उन्होंने कन्या गुरुकुल खरखोदा (सोनीपत) की स्थापना की। वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की विद्यापरिषद् तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य रह चुके हैं। गोरक्षा आन्दोलन में वह जेल भी गये थे। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, प्रभावशाली वक्ता हैं, और उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है।

श्री बख्तावरलाल जी

अब से लगभग ८९ वर्ष पूर्व सन् १८९५ में हापुड़ (उत्तरप्रदेश) के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में श्री बख्तावरलाल का जन्म हुआ था। सनातनी वातावरण में पालन-पोषण होते हुए भी वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से प्रभावित हुए, और उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया। हापुड़ के प्रमुख आर्य परिवारों में उनके परिवार की गणना की जाती है। वह कई वर्षों तक हापुड़ आर्यसमाज के प्रधान रहे, और उसके कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। अनेक प्रमुख आर्य शिक्षण-संस्थाओं की उन्होंने स्थापना की, और तन-मन-धन से उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किया। धर्म, शिक्षा और समाज-सेवा के कार्यों में वह मुक्तहस्त हो दान दिया करते थे। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में भी उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। सन् १९३० से १९४२ तक के काल में उन्होंने चार बार लम्बी-लम्बी अवधि के लिए जेल यात्रा की, और इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि इसके कारण उनके परिवार तथा व्यापार को कितनी क्षति उठानी पड़ रही है। उनकी धर्मपत्नी भी सच्चे अर्थों में उनकी सह-धर्मिणी थीं। वह भी अनेक वर्षों तक हापुड़ की स्त्री-आर्यसमाज की प्रधान रही थीं। चार फरवरी, १९८३ को श्री बख्तावरलालजी दिवंगत हुए।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री रुलियारामजी गुप्त

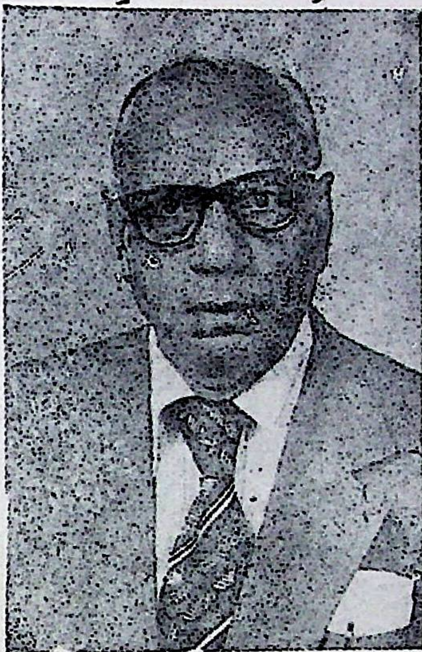
श्री रुलियाराम गुप्त का जन्म सन् १९१५ में खरक कलाँ (हरयाणा) में श्री साँवलदास जी के घर हुआ था। वैश्य हाईस्कूल रोहतक में शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता में आ गये, और वहाँ कागज तथा मुद्रण के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। वह कलकत्ता पेपर ट्रेडर्स एसोसियेशन और हरयाणा चैरीटेबल सोसायटी के सदस्य हैं, और मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के वित्तमन्त्री रह चुके हैं। खरक-कलाँ में अपने पिता की स्मृति में उन्होंने 'साँवलदास समाज कल्याण केन्द्र' की स्थापना की है। गत ५० वर्ष से वह कलकत्ता आर्य-समाज के सदस्य हैं, और अब उसके प्रधान हैं। वह अत्यन्त श्रद्धालु तथा धर्मपरायण सज्जन हैं। आर्यसमाज के लिए उनमें बहुत उत्साह है और पूर्ण आस्था से वह उसके कार्यकलाप में लगे रहते हैं।



श्री रामकुमारजी गुप्ता

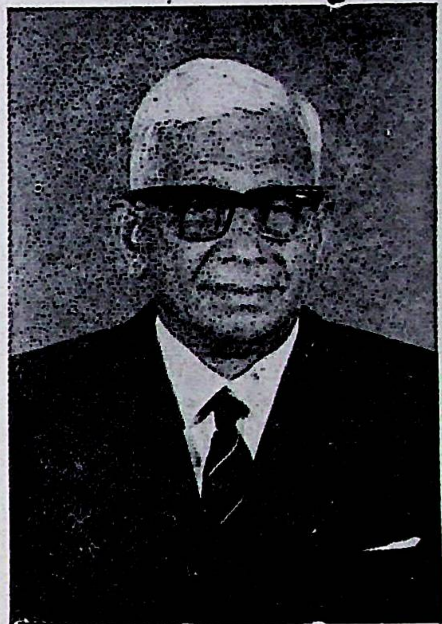
श्री रामकुमार गुप्ता का जन्म श्रावण सुदी ४, विक्रम संवत् १९८८ (सन् १९३१) को जिला भिवानी के मित्ताथल ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री नेकीराम अग्रवाल अपने क्षेत्र के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे। किशोरा-वस्था में ही व्यापार में संलग्न हो जाने के कारण उनकी शिक्षा सामान्य ही हो पायी। पर विद्यार्थी जीवन में ही वह वैदिक धर्म की शिक्षाओं के सम्पर्क में आये, और उनका रुझान आर्यसमाज की ओर हो गया। विवाह के पश्चात् सन् १९४८ में वह कलकत्ता आ गये, और वहाँ कागज का स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता में उन्होंने स्वाध्याय पर बहुत ध्यान दिया, और आर्यसमाज बड़ा बाजार तथा आर्यवीर दल के सदस्य रूप से आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। गुप्ता जी महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त हैं। आर्यसमाज के मन्तव्यों पर उनकी अगाध आस्था है, और उनके अनुसार आचरण करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं। उनका यह भी यत्न रहता है, कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में दूसरों का सहयोग भी निरन्तर प्राप्त करते रहें।

प्रतिष्ठित सदस्य



पण्डित हरवंशलालजी मोद्गिल

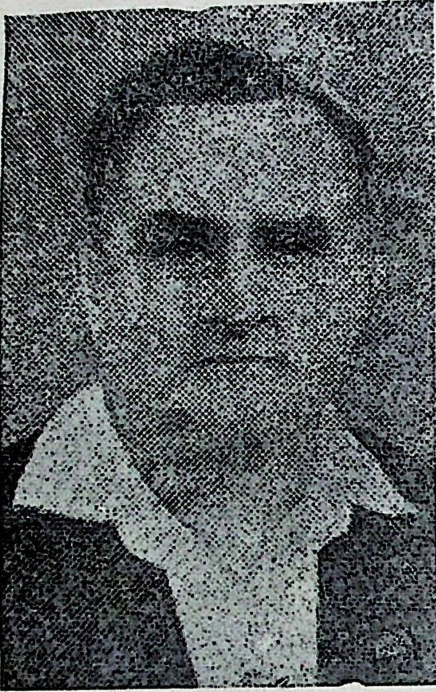
जन्मतिथि—१९ सितम्बर, १९१२। जन्मस्थान गुजरवाल (लुधियाना)। शिक्षा—बी०ए० तक। लाहौर में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी से सम्पर्क, और उन द्वारा आर्यसमाज का कार्य करने की प्रेरणा। १९३७ से १९७० तक अफ्रीका के विविध स्थानों (कम्पाला, नकोरी, नैरोबी, मोम्बासा, दारुस्सलाम आदि) पर सरकारी सेवा में कार्य। जहाँ भी रहे, आर्यसमाज के कार्य में उत्साहपूर्वक योगदान। सर्वत्र समाज की मैनेजिंग कमेटी के सदस्य। मोम्बासा आर्यसमाज के मुख्य मन्त्री (१९५४, ५५, ५६)। दारुस्सलाम आर्यसमाज के मुख्य मन्त्री (१९६७, ६८, ६९)। १९७० में लण्डन आगमन। वहाँ वैदिक मिशन की स्थापना में विशेष कर्तृत्व। उसकी कार्यकारिणी के सदस्य तथा लण्डन आर्यसमाज के संस्थापक-सदस्य। ग्रेट ब्रिटेन की हिन्दू संस्थाओं में उत्साहपूर्वक कार्य तथा उनके माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार। परिवार के सब सदस्य आर्यसमाज में आस्था रखते हैं, और धार्मिक जीवन बिताते हैं।



श्रीहरिकृष्णजी माथुर
आई० ए० एस० (रिटायर्ड)

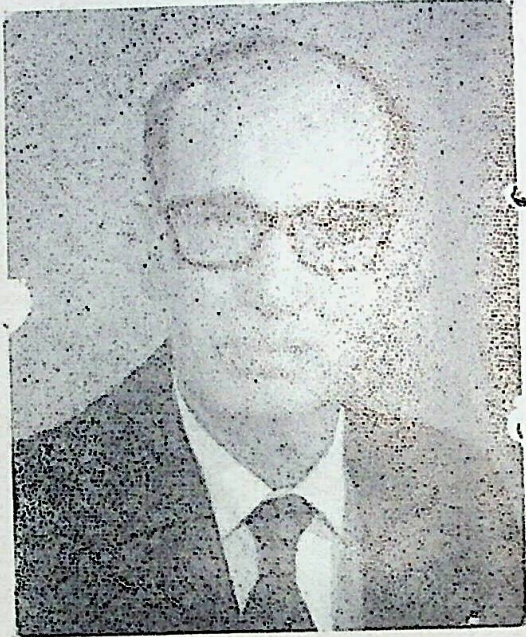
जन्मतिथि—१८ अगस्त, १९०२। शिक्षा मेयो सेण्ट्रल कॉलिज, इलाहाबाद में। १९२६ में उत्तरप्रदेश सिविल सर्विस में निर्वाचित। सुलतानपुर तथा अनेक जिलों में डिप्टी-कमिश्नर के पद पर कई वर्षों तक कार्य। सन् १९४९ में भारत की एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (आई० ए० एस०) में ले लिये गये, और केन्द्रीय सरकार के अनेक उच्च प्रशासनिक पदों पर कार्य किया। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा उर्दू का समुचित ज्ञान। धर्म, दर्शन, इतिहास तथा राजनीति में विशेष रुचि, और सार्वजनिक कार्यों में उत्साहपूर्वक योगदान। मसूरी की तिलक लायब्रेरी, गांधी निवास सोसायटी तथा नेहरू नेत्र चिकित्सालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान एवं संरक्षण। अत्यन्त सक्रिय, सजीव व धार्मिक जीवन। परिवार के सब सदस्य सुशिक्षित, सुसंस्कृत व धार्मिक प्रकृति के हैं, और उच्च राजकीय पदों पर कार्यरत हैं। सन् १९८३ में नयी दिल्ली में निधन हुआ।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री देवनाथजी विद्यालंकार

१५ जुलाई, १९०८ को रांदेर (सूरत, गुजरात) में जन्म। पिता श्री नरोत्तम भाई माधव भाई पटेल की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३० में स्नातक हुए, और विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। दो वर्ष तक आचार्य देवशर्माजी के व्यक्तिगत सचिव रहे, और फिर गुरुकुल की सेवा में अध्यापक (१९३२-४७)। १९४८ में नैरोबी (ईस्ट अफ्रीका) चले गये, और १९७६ तक वहाँ अध्यापन का कार्य दिया। श्री देवनाथ के सुपुत्रों ने व्यापार-व्यवसाय में बहुत सफलता प्राप्त की है, और अमेरिका तथा ब्रिटेन उनके व्यापार के क्षेत्र हैं। श्री देवनाथ भी उन्हीं के साथ निवास कर रहे हैं और अमेरिका तथा लण्डन में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेते रहते हैं। वह अत्यन्त सहृदय आर्य सज्जन हैं, और उनका जीवन वेद की शिक्षाओं के अनुसार है। उनका सारा परिवार ही आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेता रहता है।



श्री नवनीतलालजी आर्य

१ सितम्बर, सन् १९११ के दिन सिन्ध नदी के तट पर स्थित ईसाखेल में जन्म। स्कूल और कॉलिज की शिक्षा पूरी कर सन् १९३४ में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के शिक्षा विभाग के उच्च पदाधिकारी श्री आत्मप्रकाशजी की सुपुत्री श्रीमती सत्यप्रिया देवी के साथ सन् १९३५ में विवाह। कुछ वर्ष लाहौर में वकालत की। फिर सन् १९३९ मे भारत के सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) में वकालत कर रहे हैं, और दिल्ली के अत्यन्त सफल व प्रसिद्ध वकील हैं। बचपन से ही आर्यसमाज में विशेष रुचि है। उनके फूफा श्री जसारामजी दृढ़ आर्यसमाजी थे। उन्हीं की प्रेरणा से वैदिक धर्म के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न हुई, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। अनेक आर्य संस्थाओं तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सदृश शिक्षणालयों के साथ पदाधिकारी के रूप में सम्बद्ध तथा उनकी गतिविधि के निदेशन में तत्पर। अत्यन्त सरल, मृदु स्वभाव के आर्य सज्जन हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री कुञ्जबिहारी लालजी

जन्मतिथि—३१ जुलाई, सन् १९१४। रिटायर्ड आफिसर, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया। वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों के लिए सदा उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील रहे। पूर्व-पदाधिकारी आर्यसमाज मसूरी तथा आर्य-समाज, लक्ष्मण चौक, देहरादून। संवत् २०२० विक्रमी (सन् १९६३) की भाद्रपद पूर्णिमा के दिन देहरादून (३/८ काँवली रोड) में श्रीमद् दयानन्द आश्रम स्थापित किया, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं—(१) आर्यों का एक विशाल संगठन बनाना, (२) एक विशाल भारत का निर्माण करना, और (३) एक विशाल वैदिक पाठशाला का निर्माण करना। भाद्रपद पूर्णिमा को प्रतिवर्ष आश्रम में महाराष्ट्रयज्ञ होता है, और महर्षि दयानन्द जन्मोत्सव मनाया जाता है। श्री कुञ्जबिहारीलाल अब अपनी सब शक्ति तथा समय इस आश्रम द्वारा आर्यसमाज की सेवा में लगा रहे हैं।

पता—९३, शिवाजी मार्ग, देहरादून।



डा० तुहीरामजी गुप्त

१५ एप्रिल, सन् १९१२ को भिवानी (हरयाणा) के दीनोद ग्राम में जन्म। पिता श्री शिवदयालुजी आर्यसमाज के कर्मठ नेता थे, और श्रीगंगानगर आर्यसमाज के बीसियों वर्ष प्रधान रहे थे। डा० तुहीराम में अपने पिताजी के आर्य संस्कार पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १९४१ में लाहौर में चिकित्साविज्ञान की उच्च शिक्षा पूर्ण की, और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करते हुए आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। लगभग चालीस वर्ष से डा० गुप्त आर्यसमाज श्रीगंगानगर के विविध पदों पर रहकर समाज की सेवा कर रहे हैं, और अब जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा के प्रधान हैं। श्रीगंगानगर में सरस्वती शिशुमन्दिर नाम के उच्च माध्यमिक विद्यालय का संचालन डा० गुप्त की अध्यक्षता में हो रहा है। वह राजस्थान के सुप्रतिष्ठित आर्य सज्जन हैं, और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उनका तन, मन, धन समर्पित है।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री रतीरामजी शर्मा

हरयाणा प्रदेश के देवराला गाँव (जिला-भिवानी) में सन् १९२८ में जन्म। गाँव में ही आर्यसमाज के भजनोपदेशकों से सम्पर्क और उनके प्रभाव से सामाजिक रूढ़िवाद और अन्ध-विश्वासों के प्रति विद्रोह की भावना। युवा होने पर दार्जिलिंग (बंगाल) जाकर सफल आर्थिक संघर्ष। जीवन में प्रगति और सफलता प्राप्त करने में आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द की महती भूमिका। सारी उपलब्धि का मूल आर्यसमाज। उसके ऋण से उऋण होने का प्रयत्न शर्माजी अपना नैतिक दायित्व मानते हैं। इसी भावना से सिलीगुड़ी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान रहा। निकटवर्ती नगरों और नेपाल के पूर्वी अंचल में आर्यसमाजों की स्थापना में उन्होंने सक्रिय सहयोग दिया। आर्यसमाज के कार्यों में उनकी विशेष रुचि है। साधारण वार्षिकोत्सवों से लेकर मॉरीशस, दिल्ली और लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में वे सम्मिलित हुए। महर्षि के महान् मिशन की पूर्ति हेतु उनका तन, मन, धन व सर्वस्व समर्पित है।



श्री अमृतलालजी गर्ग

९ दिसम्बर, सन् १९२३ को जगाधरी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री बनारसीदासजी गर्ग अपने क्षेत्र के मूर्धन्य वकील। विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त कर श्री अमृतलाल ने कानपुर में रासायनिक द्रव्यों के निर्माण के लिए एक फैक्टरी स्थापित की, जो माल की शुद्धता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। उनके सच्चे व्यवहार का सर्वत्र आदर किया जाता है। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उनकी रुचि रही है और महर्षि के मन्तव्यों में उनका अटूट विश्वास है। सन्तान के विवाह उन्होंने बिना आडम्बर के किये। दहेज न लिया, न दिया। कन्या का विवाह अपनी जाति से बाहर किया। समाजसेवा के कार्यों में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं; यथा नेत्रशिविरों की उत्साहपूर्वक व्यवस्था में। आर्यसमाज के प्रमुख समारोहों; यथा मथुरा महर्षि जन्म-शताब्दी, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१९७५) सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन (१९८१) आदि में वह सम्मिलित होते रहे हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य





श्री डालचन्दजी

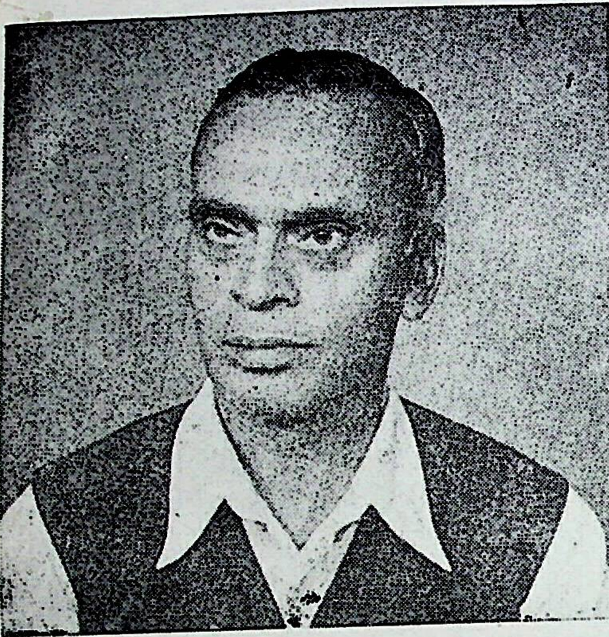
हलदौर (जिला बिजनौर) के एक प्रतिष्ठित जमींदार परिवार में सन् १८८८ में जन्म। किशोर आयु में ही आर्यसमाज के साथ सम्पर्क, जिसके परिणामस्वरूप देश की उन्नति और स्वतन्त्रता तथा समाजसुधार के लिए उत्कट अभिलाषा। स्त्री-शिक्षा, दलितोद्धार तथा विधवा-विवाह के कार्यों में सक्रिय योगदान। हलदौर में बालिका विद्यालय, देवनागरी पाठशाला और चन्द्रमणि इण्टर कॉलिज सदृश शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, संचालन और व्यवस्था में उत्साहपूर्वक योगदान। हलदौर में आर्यसमाज तथा दो धर्मशालाओं के निर्माण में उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता। सन्तानों के विवाहों में जात-पाँत के बन्धनों की उपेक्षा। अछूतों के साथ खानपान के कारण बिरादरी से बहिष्कार। कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्ता।

श्री डालचन्द के सुपुत्र श्री विधुशेखर, श्री शशिशेखर तथा श्री सोमशेखर ने श्री शशिशेखर द्वारा अपने पिता की पुण्यस्मृति में प्रतिष्ठित सदस्यता के लिए धनराशि प्रदान की।

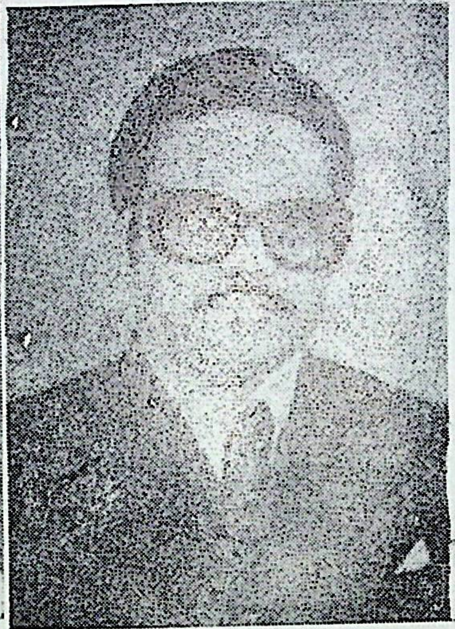
श्री ठाकुर रामाज्ञाजी वैरागी

फरवरी, १९२५ में रक्सौल, जिला पूर्वी चम्पारन (बिहार) में जन्म। बाल्यावस्था से ही वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के विविध कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया, जिसके कारण बिहार के स्वतन्त्रता-सेनानियों में प्रतिष्ठित स्थान। वर्षों तक आर्यसमाज के मन्त्री, प्रधान तथा आर्य वीर दल के संचालक रहे। नेपाल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से कार्य किया। केनिया, इटली युगोस्लाविया, हंगरी, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि की यात्रा। ३१ मई, १९८२ को समाज-सेवा के लिए जीवन को समर्पण कर और सब धन-सम्पत्ति का त्याग कर 'वैरागी' का विरुद धारण किया। श्री रामाज्ञा ठाकुर अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा समय वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में लगा रहे हैं, और गृहस्थ जीवन का त्याग कर तपस्वी जीवन बिता रहे हैं। उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के लिए समर्पित है।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री पन्नालालजी आर्य



श्री सत्यप्रकाशजी आर्य

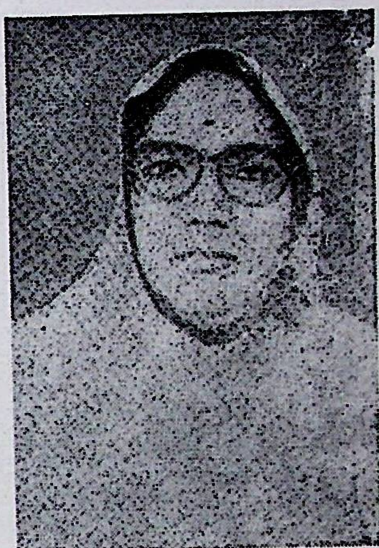
श्री पन्नालाल आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी तथा रत्ना जर्दा सप्लाई कम्पनी, मुजफ्फरपुर के सीनियर पार्टनर हैं। इन कम्पनियों की उन्नति तथा समृद्धि का मुख्य श्रेय श्री पन्नालालजी की कर्मठता, तन्मयता तथा सचाई को ही है। इनकी कार्यकुशलता के कारण ही यह व्यवसाय देश-विदेश में सर्वत्र फैलता जा रहा है। श्री पन्नालाल आर्य आर्यसमाज के उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता हैं। वह आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार के उपमन्त्री, उत्तर बिहार आर्यसभा तथा आर्यकुमार सभा के प्रधान, आर्यसमाज मुजफ्फरपुर के उपप्रधान और प्रान्तीय आर्य वीर दल के उपसंचालक हैं। अन्य भी अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के साथ वह घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। सन् १९८० के लण्डन सार्वभौम आर्य सम्मेलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था, और ११ यूरोपीय देशों का भ्रमण किया था।

श्री सत्यप्रकाश आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी मुजफ्फरपुर (बिहार) के हिस्सेदार हैं, और जर्दा जाफरानी व्यवसाय की उन्नति के लिए तत्पर रहते हैं। आर्यसमाज के सुधारवादी तथा प्रगतिशील कार्यों में उनकी रुचि है, और धर्म तथा समाज सेवा के कार्यों में उनका सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहते है। लण्डन के सार्वभौम आर्य सम्मेलन में श्री सत्यप्रकाश सम्मिलित हुए थे, और उस अवसर पर उन्होंने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण भी किया था। लण्डन महासम्मेलन में आर्यसमाज के इतिहास की चर्चा होने पर श्री सत्यप्रकाशजी ने ही सबसे पूर्व उसका प्रतिष्ठित सदस्य होने की घोषणा की थी। आर्यसमाज और उसके इतिहास के प्रति उनके प्रेम का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह एक सरल स्वभाव के आर्य सज्जन हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री जवाहरलालजी आर्य



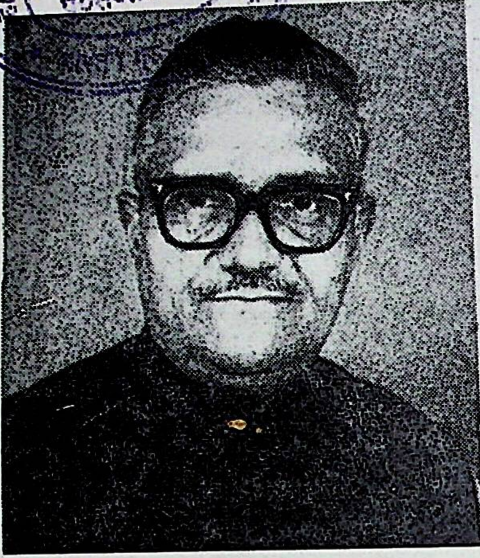
श्रीमती दुर्गादेवीजी आर्य

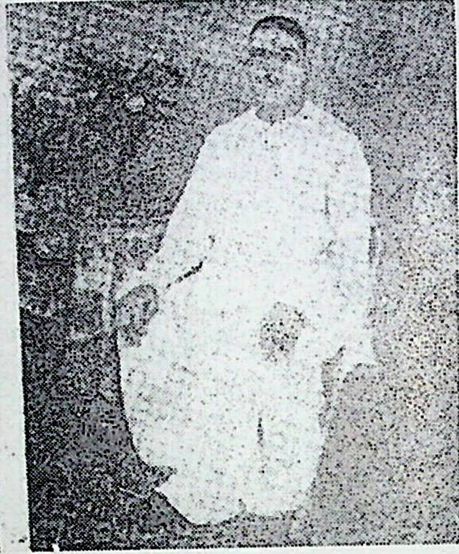
हरयाणा के देवराला ग्राम के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में सन् १९२४ में श्री जवाहरलालजी का जन्म हुआ था। उनके परिवार के सब सदस्य, विशेषतया उनके दोनों बड़े भाई महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते थे। बचपन से ही श्री जवाहरलाल को आर्यसमाज के वातावरण में पलने और बड़ा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसके कारण वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गयी। देवराला, भिवानी तथा पिलानी में शिक्षा प्राप्त कर वह व्यवसाय-व्यापार के लिए पश्चिमी बंगाल चले गये, और सिलीगुड़ी तथा कलकत्ता में किराना एवं चाय के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। सिलीगुड़ी आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान था, और कोषाध्यक्ष, लेखा निरीक्षक, संरक्षक तथा प्रधान आदि पदों पर रहकर वह उस आर्यसमाज की उन्नति में निरन्तर प्रयत्नशील रहे। वर्तमान समय में भी वही सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्रधान हैं। आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने तथा निर्धन छात्रों को मासिक वृत्तियाँ प्रदान करने में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनके घर में प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होता है, और उनका जीवन आर्य मान्यताओं के अनुरूप धार्मिक एवं सदाचारमय है। महर्षि दीक्षा शताब्दी मथुरा (१९६०), आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१९७५) और आर्य महासम्मेलन कलकत्ता आदि समारोहों में वह उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते रहे हैं।

उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गादेवीजी अपने पतिदेव के समान ही वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति अगाध आस्था रखती हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके परिवार का वातावरण पूर्णतया धार्मिक बना हुआ है।



प्रतिष्ठित सदस्य





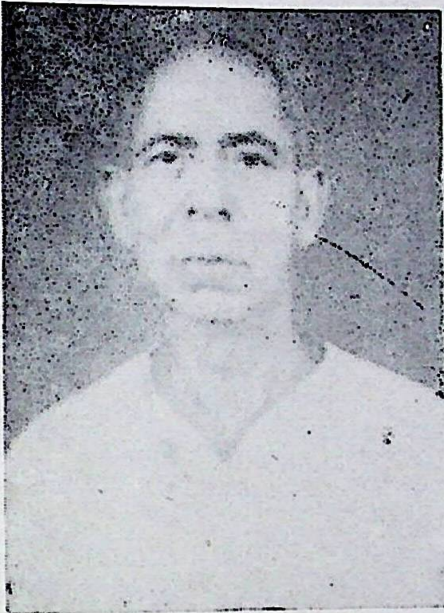
श्री लक्ष्मणसिंहजी

श्री लक्ष्मणसिंह जी का जन्म सन् १९२० में बलिया (उत्तरप्रदेश) के गोविन्दपुर गाँव में हुआ था। वह बचपन से ही आर्यसमाज के प्रभाव में रहे, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने कलकत्ता आकर लोहे का व्यापार शुरू किया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। वह कलकत्ता आयरन एण्ड स्टील एसोसियेशन के अध्यक्ष हैं, और व्यापारिक संसार में उनका प्रतिष्ठित स्थान है। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और आर्य-समाज, १९ विधान सरणी (कलकत्ता) के वर्षों तक मन्त्री, उपप्रधान तथा हिसाब-निरीक्षक रहे हैं। शिक्षा के कार्य में भी उनकी रुचि है। वह रघुमल आर्य विद्यालय के प्राथमिक विभाग के मन्त्री हैं। आर्यसमाज के हित के लिए वह सदा सचेष्ट रहते हैं, और अपने विचारों को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त करते हैं। उनके पुत्र श्री अशोक कुमार सिंह को भी उन्हीं के समान आर्यसमाज की लगन है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था है। दहेज प्रथा के वह प्रबल विरोधी हैं। वैदिक धर्म की शिक्षाओं और आर्यसमाज के मन्तव्यों को उन्होंने क्रियात्मक रूप से अपनाया हुआ है।

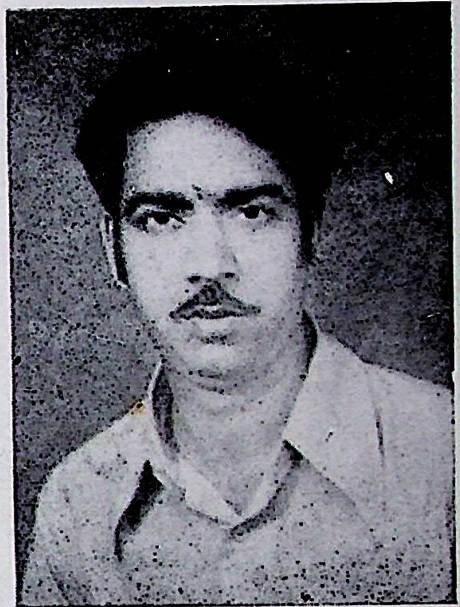
श्री जगदीशजी तिवारी

श्री जगदीश तिवारी का जन्म जिला भोजपुर (बिहार) के धमवलि ग्राम में २० अगस्त, सन् १९१९ के दिन हुआ था। सन् १९३६ में वह कलकत्ता गये। उस समय वह पौराणिक धर्म के अनुयायी थे और मन्दिर में जाकर मूर्ति पर जल चढ़ाया करते थे। पर उससे उन्हें सन्तोष नहीं होता था। उनके मन में यह शंका बनी रहती थी, कि क्या यह मूर्ति ही वस्तुतः भगवान् का रूप है। एक दिन उनके मित्र श्री सीतारामसिंह उन्हें घूमने के बहाने बड़ा बाजार (कलकत्ता) आर्यसमाज के सत्संग में ले गये। वहाँ प्रवचन सुनकर वह इतने प्रभावित हुए, कि उनके जीवन तथा विचारों में भारी परिवर्तन आ गया। एक सज्जन ने उन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने को दिया। उसे पढ़कर वह आश्चर्यचकित रह गये, और यह सोचने लगे कि एक ऐसी भी पुस्तक संसार में है! इस प्रकार श्री तिवारीजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के आस्थावान् अनुयायी हो गये, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अब उन्हें धर्म तथा ईश्वर के वास्तविक रूप का ज्ञान हो गया है, और वह धार्मिक भजन बना कर धर्मप्रचार में तत्पर रहते हैं, और अपनी जन्मभूमि में उन्होंने एक यज्ञशाला का भी निर्माण कराया है।

प्रतिष्ठित सदस्य

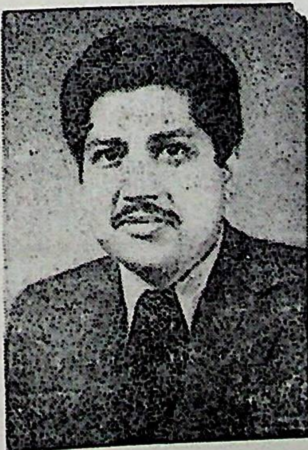


श्री जमनाप्रसादजी



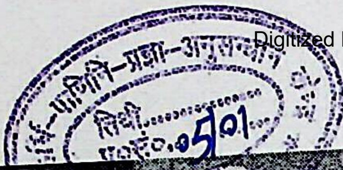
श्री वेदप्रकाशजी

श्री जमनाप्रसाद का जन्म १४ फरवरी, सन् १९१५ को हाजीपुर, जिला वैशाली (बिहार) के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री नन्दनप्रसाद धार्मिक प्रकृति के सज्जन थे, और समाजसेवा के कार्यों में रुचि रखते थे। श्री जमनाप्रसाद किशोर आयु से ही आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता हैं, और उसके कार्यकलाप में उत्साह व लगन के साथ भाग लेते हैं। श्री वेदप्रकाश उनके सुपुत्र हैं, और अपने पिता के समान ही उनकी वैदिक धर्म में पूर्ण आस्था है। आर्यसमाज के लिए इन दोनों पिता-पुत्र में अनुपम उत्साह है। इसीलिए वे सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन (१९८०) में बिहार आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, और अन्यत्र भी आर्यसमाज के विशाल समारोहों में भाग लेते रहते हैं। मुजफ्फरपुर (बिहार) में जमुनाप्रसाद एण्ड सन्स तथा वेद एण्ड कम्पनी नाम से दो व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं, जिनमें वे शीशा, प्लाईवुड और सनमाइका आदि का बड़े पैमाने पर कारोबार करते हैं।



श्री हर्षवर्धन

आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि श्री पण्डित योगेन्द्रपाल जी शास्त्री के सुयोग्य पुत्र श्री हर्षवर्धन अपने यशस्वी पिताजी के चरण चिह्नों पर चल कर देश, धर्म तथा समाज की सेवा के लिये प्रयत्नशील हैं। वह कुशल चिकित्सक भी हैं, और उनके शक्ति आश्रम तथा आरोग्य मन्दिर का हरद्वार में विशिष्ट स्थान है।



प्रतिष्ठित सदस्य



श्री गोविन्दरामजी आर्य　　　　　　　　श्रीमती मेवादेवीजी आर्य

हरयाणा के देवराला ग्राम में सावन सुदी ६, सम्वत् १९६३ (सन् १९०६) के दिन एक पौराणिक अग्रवाल परिवार में श्री गोविन्दराम का जन्म हुआ था। आर्यसमाज के उपदेशक तथा कुशल वैद्य पण्डित दीनानाथजी के सम्पर्क में आने पर उनके विचारों में परिवर्तन हुआ, और वह सुदृढ़ आर्यसमाजी बन गये। अपने गाँव में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की, और आर्य प्रचारकों को निमन्त्रित कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस पर कट्टर पौराणिकों के प्रभाव के कारण उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, और उनके पारिवारिक जन भी उनका विरोध करने लगे। पर उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की। उनके प्रयत्न से गाँव के बहुत-से परिवार आर्यसमाजी बन गये, जिससे उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। उन्होंने गाँव में एक हाईस्कूल तथा एक आर्य कन्या पाठशाला खुलवायी, जहाँ प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होने लगा और गाँव की स्त्रियाँ भी उनमें सम्मिलित होने लगीं। शीघ्र ही, उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया, और सारे इलाके में वैदिक धर्म की धूम मच गयी। श्री गोविन्दराम जी हिन्दी रक्षा आन्दोलन और गौरक्षा आन्दोलन में जेल भी गये। उन्होंने बहुत-सी विधवाओं का उद्धार किया है, और अपने पुत्र जयदेव तथा पौत्र देशबन्धु का विवाह भी बाल-विधवाओं से सम्पन्न कर समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया है। परदा, दहेज आदि कुरीतियों के वह घोर विरोधी हैं। गोविन्दरामजी का सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित है।

श्री गोविन्दरामजी आर्य की धर्मपत्नी मेवादेवीजी का जन्म भी हरयाणा के ग्राम लालावास में हुआ था। अपने पतिदेव के सम्पर्क से उन पर भी आर्यसमाज का प्रभाव पड़ा, और वह भी प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जाप करने लगीं। वह अत्यन्त मिलनसार, सहृदय, चतुर गृहिणी हैं, और आदर्श आर्य महिला हैं। अतिथियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती हैं। घर की सब व्यवस्था उन्होंने सुचारु रूप से की हुई है, जिसके कारण श्री गोविन्दरामजी घर से निश्चिन्त होकर अपना सब समय समाज-सेवा में लगा सकते हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री अमृतपालजी वेदालंकार

सुप्रसिद्ध एवं कर्मठ आर्य परिवार में १४ मार्च, १९१६ के दिन लाहौर में जन्म। चौदह वर्ष गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३७ में स्नातक हुए। वेदशास्त्रों और इतिहास में विशेष रुचि। दस वर्ष प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं०जयचन्द्र विद्यालंकार के सान्निध्य में शोधकार्य। जालन्धर के 'आकाशवाणी' पत्र का तीन वर्ष सम्पादन। १९५७ में केनिया (पूर्वी अफ्रीका) गये, और सरकारी सर्विस करते हुए भी वहाँ के 'अमर भारती' पत्र का सम्पादन किया। १९७१में ग्रेट ब्रिटेन गये, और वहाँ आर्य धर्म के प्रचार-प्रसार में जुट गये। कुछ वर्ष लीड्स को केन्द्र बनाकर धर्मप्रचार किया, और अब लण्डन में कार्यरत हैं। श्री अमृतपाल का मन्तव्य है, कि ओंकार, वेद और गायत्री के आधार पर हिन्दुओं के सब सम्प्रदायों में ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान समय में वह इसी में अपनी शक्ति लगा रहे हैं। वेदों में 'अमृत' का जो अर्थ है, उसे अपने जीवन में क्रियान्वित करना ही अमृतपालजी का ध्येय है। वह अत्यन्त धार्मिक, सदाचारी, मिलनसार तथा सात्विक पुरुष हैं।



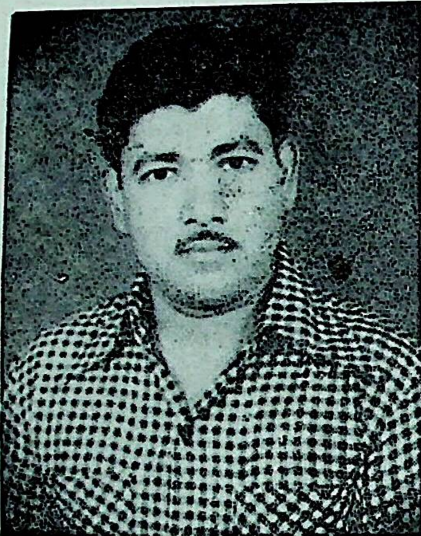
श्री मुन्नीलालजी आर्य

पंजाब के ऐतिहासिक बलिदानी नगर सरहिन्द के विख्यात सर्वस्वदानी टोडरमल के मोहल्ले के निवासी लाला शिब्बूमलजी के कट्टर पौराणिक परिवार में लाला सुलेखचन्द के यहाँ सन् १८९४ में जन्म। अल्पशिक्षित किन्तु विलक्षण प्रतिभासम्पन्न एवं पूर्वजन्म के संस्कारों से अभिशक्त।

पं० रामचन्द्र देहलवी तथा पं० शान्तिप्रकाश आदि आर्य नेताओं के निकट सम्पर्क से आर्यसमाजमें दीक्षित होकर परम्परा से विद्रोह तथा सपरिवार गृहत्याग। परिणामतः, अनुज नौराताराम और बनारसीदास द्वारा अनुकरण तथा सरहिन्द में आर्यसमाज की स्थापना।

सम्पूर्ण सन्तति परआर्यसमाज की अमित छाप। उनके पुत्र डॉ० विश्वबन्धु 'व्यथित' (अध्यक्ष हिन्दी विभाग डी०ए०वी० कॉलिज, अबोहर) आर्यसमाज के यशस्वी लेखक, वक्ता, कार्यकर्ता तथा रससिद्ध कवि हैं। अन्य सुपुत्र श्री सत्यप्रकाश, श्री देशबन्धु व श्रीनरेन्द्रकुमार तथा सुपुत्री श्रीमती सुशीलादेवी क्रमशः सरहिन्द, भटिण्डा, खन्ना तथा नयी दिल्ली में कार्यरत होकर आर्यसमाज को गति प्रदान करने में संलग्न हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य



श्री राजेन्द्रप्रसादजी

१७ जुलाई, सन् १९४८ को ग्राम चनपरीया (विहार) के एक प्रतिष्ठित ग्रार्य परिवार में जन्म। प्रारम्भ से ही ग्रार्य विद्वानों तथा संन्यासियों के साथ सम्पर्क, जिसके परिणाम-स्वरूप वैदिक धर्म में ग्रगाध श्रद्धा ग्रौर ग्रार्य-समाज के कार्यकलाप में रुचि। बेतिया नगर में ग्रोषधियों का व्यवसाय, पर उसके साथ-साथ वैदिक साहित्य व ग्रार्यसमाज विषयक पुस्तकों का भी प्रचार। लोग ग्रपने सब संस्कार वैदिक रीति से कराया करें, इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील। समीपवर्ती ग्रामों ग्रौर नगरों में वैदिक धर्म के प्रचार में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। लण्डन के ग्रार्य महासम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, ग्रौर ग्रार्यसमाज के सभी समारोहों में उनका उत्साहपूर्वक योगदान रहता है। बेतिया में एक दयानन्द बाल विद्यामन्दिर स्कूल की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। ग्रपनी सन्तान की शिक्षा श्री राजेन्द्रप्रसाद ने गुरुकुलों व ग्रार्य शिक्षणालयों में करायी है। वह इस समय सार्वदेशिक ग्रार्य प्रतिनिधि सभा में बिहार के प्रतिनिधि भी हैं। राजेन्द्र प्रसाद जी ग्रभी युवक हैं, पर ग्रार्यसमाज के कार्यकलाप में उन्होने ग्रपने को पूर्ण रूप से समर्पित किया हुग्रा है।



कविराज श्री योगेन्द्रपालजी शास्त्री

ग्राम बहादुरपुर (विजनौर) में सन् १९१७ में जन्म। पिता ग्रार्यसमाज के प्रसिद्ध नेता कर्मवीर ठाकुर संसारसिंहजी। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में। तिब्बिया कॉलिज, दिल्ली में ग्रायुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर ग्रायुर्वेदाचार्य, धन्वन्तरी सदृश उच्च-तम परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। मस्तिष्क ग्रौर हृदय रोगों के विख्यात चिकित्सक थे। कनखल (हरिद्वार) में विशुद्ध ग्रायुर्वेदिक चिकित्सा के लिए सुविशाल ग्रारोग्य-भवन स्थापित किया। कन्याग्रों को ग्रायुर्वेद की शिक्षा देने के लिए कन्या गुरुकुल कनखल (हरिद्वार) में कन्या ग्रायुर्वेद महाविद्यालय तथा मातृमन्दिर की स्थापना की। सन् १९४१ से कन्या गुरुकुल, कनखल के मुख्याधिष्ठाता व संचालक रहे। 'प्राचीन राजवंश' तथा 'क्षत्रिय जातियों का उत्थान ग्रौर पतन' नामक दो ग्रन्थों के प्रणेता तथा 'शक्तिसंदेश' साप्ताहिक पत्र के संचालक थे। ग्रायुर्वेद चिकित्सा के लिए न केवल भारत में ही, ग्रपितु विदेशों में भी सुप्रसिद्ध थे। सन् १९८३ में उनका ग्रसमय में ही देहावसान हो गया।


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी
पु०सं० 15101
भारती पुस्तकालय



